उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 1

## हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका

इकाई 1
साहित्य और इतिहास का अंत: संबंध 7

इकाई 2
कालविभाजन और नामकरण की समस्या 21

इकाई 3
हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि 38

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति


प्रो. (डॉ.) भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

प्रो. (डॉ.) राम सिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. (डॉ.) भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. (डॉ.) वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय


## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

**पाठ लेखन**
प्रो. गणपति चन्द्र गुप्त
प्रो. सत्यकाम

**संयोजन एवं संपादन**
**इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय**
डॉ. सत्यकाम (खंड संयोजक)
डॉ. पूरन चन्द टण्डन (पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक)

**संकाय सदस्य**
डॉ. जवरीमल पारख
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारूकी
श्रीमती मिनता चतर्वेदी

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय


फरवरी, 1991



© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991



ISBN-81-7091-417-5



*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन में नहीं*

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित -२०२४



मुद्रक :चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.



PEPE-062

UGHI-103/2

# पाठ्यक्रम परिचय

किसी भी देश, समाज या भाषा का साहित्य उसकी जनता की चित्तवृत्तियों का ऐसा प्रतिबिंब होता है जो चित्तवृत्तियों के बदलने से परिवर्तित तो होता ही है उन्हें बदलने में भी सहायक या प्रेरक बनता है। स्पष्टत: कहें तो साहित्य मनुष्य के परिष्कृत भावों-विचारों को अभिव्यक्ति देने में सक्रिय भूमिका निभाता है और सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं आर्थिक आदि स्थितियों, घटनाओं, समस्याओं एवं संघर्षों से प्रेरित-प्रभावित होकर अतीत से वर्तमान तक का स्पष्ट चित्र भी प्रस्तुत करता है। अत: आदि से वर्तमान तक की चित्तवृत्तियों एवं स्थितियों-परिस्थितियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के रूप में प्रस्तुत करने वाला "साहित्य का इतिहास" मूलत: भविष्योन्मुख होता है। यही इसकी गत्यात्मकता का परिचायक है।

हिन्दी साहित्य के प्रारंभ से अब तक विविध आयामी-विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों, रचनाओं, साहित्यधाराओं तथा विशेषताओं को विस्तृत एवं गहन परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही "ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03" "हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय" आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

"हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय" संबंधी विवेचन प्रस्तुत करने वाले इस पाठ्यक्रम में कुल 10 खंड हैं जिनमें 38 इकाइयाँ प्रस्तुत की गई हैं। किसी समय-विशेष के कारण जन सामान्य में हो रहे रुचि-विशेष के संचार और पोषण का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए उसके कारण एवं स्रोतों की समीक्षात्मक विवेचना करने वाले लगभग 1000 वर्षों के इस इतिहास को चार प्रमुख कालों में विभक्त किया गया है। इनकी चर्चा आगे हम सम्बद्ध इकाइयों में करते चलेंगे। यहाँ केवल इतना स्पष्ट रहे कि इस पाठ्यक्रम में साहित्य-इतिहास एवं साहित्य-परिचय के अध्ययन से आप इतिहास संबंधी अवधारणाओं को जानते हुए समय और प्रवृत्ति आदि के आधार पर हुए विभाजन तथा उनकी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझा सकेंगे। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की इस पूरी यात्रा में आप युग-चेतना का, नैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक मूल्यों के बदलाव का, बदलती परिस्थितियों का, प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का तथा प्रवर्तक कवियों एवं काव्यधाराओं का परिचय तो पाएंगे ही, साहित्य के स्वरूप, प्रयोजन तथा रस, शब्दशक्ति, बिंब, प्रतीक, कल्पना, छंद एवं अलंकार आदि अंगों का गहन अध्ययन भी कर सकेंगे।

दस खंडों में विभक्त इस पाठ्यक्रम में गत्यात्मक विकास और तारतम्यता को पूरी तरह ध्यान में रखा गया है। काव्य एवं गद्य की विविध धाराओं एवं प्रवृत्तियों का प्रामाणिक, तार्किक एवं सोदाहरण विवेचन करने वाले इस पाठ्यक्रम का पहला खंड है– "हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका"। इसके अंतर्गत "साहित्य और इतिहास का अंत: संबंध," "काल विभाजन और नामकरण की समस्या" तथा "हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि" ये तीन इकाइयाँ रखी गई हैं। तीनों ही इकाइयाँ आदि काल से आधुनिक काल तक के इन सभी संदर्भों को ध्यान में रखकर अपना मंतव्य स्पष्ट करती हैं।

खंड 2 "आदिकालीन साहित्य" है, जिसके अंतर्गत आदिकाल की परिस्थितियों, विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का विवेचन करने वाली तीन इकाइयों का अध्ययन आप करेंगे।

खंड 3 "भक्तिकालीन काव्य" के अंतर्गत भक्तिकालीन परिस्थितियों, काव्य प्रवृत्तियों तथा समग्र समय भक्ति काव्य के दार्शनिक आधार की समीक्षा तीन इकाइयों में प्रस्तुत की गई है।

खंड 4 "प्रमुख भक्त कवि" भी इसी परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाल की निर्गुण (संत काव्य एवं सूफी काव्य) तथा सगुण (रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य) काव्यधाराओं के चारों प्रवर्तक कवियों एवं काव्य धाराओं की परंपरा एवं विकास की समीक्षा चार इकाइयों में प्रस्तुत करता है।

खंड 5 "रीतिकालीन काव्य" है। इनकी चार इकाइयों में रीतिकाल की परिस्थितियाँ, प्रमुख प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य विशेषताएँ, रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य और रीतिमुक्त काव्य एवं अन्य प्रवृत्तियाँ--विवेचन का विषय रही हैं।

खंड 6-7 एवं 8 में क्रमश: "आधुनिक हिन्दी साहित्य", "आधुनिक हिन्दी काव्य" तथा आधुनिक हिन्दी गद्य" को लिया गया है। इसमें आधुनिक युग का पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियों के साथ युग के वैचारिक आधार तथा साहित्यास्म की समीक्षा की

तदोपरांत भारतेन्दु युगीन, द्विवेदी युगीन, छायावादी, प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी तथा समकालीन हिंदी कविता का विवेचन किया गया है। आठवे खंड में "हिन्दी गद्य" की समीक्षा के अंतर्गत कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध तथा अन्य गद्य विधाआं के साथ हिन्दी आलोचना के विकास पर भी चर्चा की गई है। इन तीन खंडों में क्रमशः पाँच, चार तथा चार इकाइयाँ रखी गई हैं।

खंड 9-10 "साहित्य-परिचय" से सम्बद्ध हैं। इनके अंतर्गत साहित्य की परिभाषा एवं उसके प्रयोजन की चर्चा करते हुए साहित्य के रस, शब्द-शक्ति, बिंब, प्रतीक कल्पना, छंद एवं अलंकार जैसे महत्वपूर्ण अंगों का भेद एवं प्रकार सहित विवेचन किया गया है। "साहित्य एवं उसके अंग" तथा "छंद एवं अलंकार" शीर्षक के अंतर्गत यह विवेचन क्रमशः चार-चार इकाइयों में प्रस्तुत है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं साहित्य-परिचय को पर्याप्त विस्तार एवं गहराई से तार्किक तथा प्रामाणिक बनाकर आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। हमें विश्वास है कि पाठ्यक्रम की यह प्रस्तुति आपके लिए एक स्पष्ट, सहज तथा गंभीर स्वरूप प्रस्तुत करेगी। प्रत्येक इकाई अथवा खंड के साथ कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची भी प्रस्तुत है। विषय संबंधी अतिरिक्त गहनता एवं व्यापकता के लिए आप इनका अध्ययन भी करें।

पाठ्यक्रम संबंधी कुछ ऑडियो-वीडियो भी तैयार किए जा रहे हैं। विषय संबंधी शेष अपेक्षा उनसे भी पूरी हो सकेगी। अतः विश्वविद्यालय के अध्ययन केन्द्रों से प्राप्त कर आप इन्हें भी अवश्य सुनें-देखें।

# खंड परिचय

आपके सामने हिन्दी साहित्य के इतिहास (ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03) का पहला खंड उपस्थित है। इस खंड में आप हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं पढ़ने जा रहे हैं, बल्कि उन आधारों को स्पष्ट रूप से जानने जा रहे हैं, जिनके सहारे इतिहास और हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझना और पहचानना आसान हो जाएगा। वस्तुतः यही इस खंड की पहली इकाई का शीर्षक भी (साहित्य और इतिहास का अंतः संबंध) है। इतिहास अतीत की घटनाओं का विवरण नहीं है, बल्कि अतीत का मूल्यांकन है। इतिहास अतीत, वर्तमान और भविष्य का मिला-जुला रूप है। इस इतिहास की प्रस्तुति के अनेक ढंग हो सकते हैं, जैसे वर्णक्रमानुसार, कालक्रमानुसार, विधेयवादी, समाजशास्त्रीय आदि। इनमें से कौन-सी विधि वैज्ञानिक है? क्या कोई एक प्रणाली अपने आप में पूर्ण है? ऐसे कई सवालों के जवाब आप पहली इकाई से प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस इकाई में हमने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न प्रयासों की भी संक्षिप्त चर्चा की है। गार्सा-द-तासी से लेकर रामविलास शर्मा तक की समृद्ध इतिहास लेखन परम्परा की एक झलक आप यहाँ पा सकेंगे। अंत में, इस इकाई में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की प्रमुख समस्याओं का भी जिक्र किया गया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के समय प्रत्येक इतिहासकार के सामने यह समस्या आती है कि हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, अपभ्रंश को हिन्दी साहित्य का एक अंग माना जाए या पूर्वपीठिका के रूप में उसकी चर्चा हो? मध्यकाल को दो हिस्सों में बाँटा जाए या नहीं? आधुनिक काल का आरंभ कब से मान्य जाए? इन कालों का सही नाम क्या होना चाहिए? ऐसे ही कुछ सवाल हैं जिनका हल हम इकाई दो में ढूँढने की कोशिश करेंगे। इस इकाई का शीर्षक "कालविभाजन और नामकरण की समस्या है"। इकाई तीन में हम बतौर पूर्वपीठिका अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता को स्वीकार करते हुए हमने हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ दसवीं शताब्दी से किया है। यही सर्वमान्य धारणा भी है। इसलिए हमने अपभ्रंश साहित्य की चर्चा पहले खंड की तीसरी इकाई "हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि" में पूर्वपीठिका के रूप में की है।

आप इस खंड को ध्यान से पढ़ें। यह खंड आपके लिए उस आधार की तरह काम करेगा जिसके सहारे आप लंबी कूद लगा सकते हैं, आगे की ओर तेजी से दौड़ सकते हैं। वस्तुतः यह खंड इस पूरे पाठ्यक्रम का "स्टेपिंग स्टोन" है, ऐसी आरम्भिक सीढ़ी, जिस पर बिना कदम रखे हुए आप बढ़ ही नहीं सकते। अतः आपको एक बार फिर से सलाह दी जाती है कि आप इस खंड को खूब लगन से और ध्यानपूर्वक पढ़ें।

# इकाई 1 साहित्य और इतिहास का अंतः संबंध

**इकाई की रूपरेखा**


1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 इतिहास और साहित्य का इतिहास
  1.2.1 इतिहास
  1.2.2 साहित्य का इतिहास
1.3 साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्ष
  1.3.1 सामग्री संकलन
  1.3.2 कालविभाजन और नामकरण
  1.3.3 मूल्यांकन
1.4 साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ
  1.4.1 वर्णानुक्रमी पद्धति
  1.4.2 कालानुक्रमी पद्धति
  1.4.3 वैज्ञानिक पद्धति
  1.4.4 विधेयवादी पद्धति
  1.4.5 समाजशास्त्रीय पद्धति
1.5 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा
  1.5.1 इतिहास-लेखन के आरंभिक प्रयत्न
  1.5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल और इतिहास-लेखन
  1.5.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और इतिहास-लेखन
  1.5.4 परवर्ती इतिहासकार और इतिहास-लेखन
1.6 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की समस्याएँ
  1.6.1 रचनाओं और रचनाकारों का समावेश
  1.6.2 हिंदी साहित्य का आरंभ
  1.6.3 अन्य समस्याएँ
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 उपयोगी पुस्तकें
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 1.0 उद्देश्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास पाठ्यक्रम के प्रथम खंड की यह पहली इकाई है। इस इकाई में साहित्य और इतिहास के संबंध पर प्रकाश डाला गया है और हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन पर विचार किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- इतिहास और हिन्दी साहित्य के इतिहास का स्वरूप स्पष्ट कर सकेंगे,
- साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्षों को रेखांकित कर सकेंगे,
- साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियों का मूल्यांकन कर सकेंगे,
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न समस्याओं को समझा सकेंगे।

## 1.1 प्रस्तावना

हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के अंतर्गत यह पहली इकाई है। इसमें साहित्य और इतिहास के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट किया गया है।

किसी भी साहित्य के सम्यक मूल्यांकन में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में, इतिहास की जानकारी के बिना साहित्य के क्रमिक विकास को समझा ही नहीं जा सकता है। इतिहास की मदद से साहित्य की विभिन्न रचनाओं, परंपराओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण होता है। मसलन, हिन्दी साहित्य की सम्यक जानकारी के लिए हिन्दी साहित्य की प्रेरक शक्ति और बदलती हुई प्रवृत्तियों को समझने में भी इतिहास की सहायता लेनी पड़ती है।

एक सवाल आपके मन में उठ सकता है कि इतिहास क्या है? हम किस इतिहास की बात कर रहे हैं? एक इतिहास वह होता है, जिसमें देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति की बात की जाती है और एक इतिहास वह होता है जिसका सीधा संबंध साहित्य से होता है। मोटे तौर पर इसे हम सामान्य इतिहास और साहित्य का इतिहास कह सकते हैं। सामान्य इतिहास में जहाँ अतीत में घटित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का विश्लेषण करते हैं, वहीं साहित्य के इतिहास में साहित्य विशेष का क्रमिक विकास दिखाते हैं। पर साहित्य विशेष का इतिहास प्रस्तुत करते समय हम सामान्य इतिहास की भी मदद लेते हैं, क्योंकि साहित्य समाज से निरपेक्ष नहीं होता है।

इतिहास न केवल अतीत से हमें परिचित कराता है, बल्कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन भी करता है। इतिहास घटनाओं का पुंज नहीं है; साहित्य का इतिहास रचनाओं या रचनाकारों की विवरणिका नहीं है, यह पूरी परंपरा और प्रवृत्ति को समझने का एक माध्यम है। इस बात को समझने के लिए विभिन्न इतिहास लेखन पद्धतियों पर इस इकाई में विस्तार से विचार किया गया है।

हिन्दी साहित्य में साहित्येतिहास लेखन की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है, पर गार्सा-द-तासी से लेकर रामविलास शर्मा तक इसका निरंतर विकास हुआ है। "हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा" में इसी पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार सामग्री का संकलन करता है, समग्र इतिहास को विभिन्न काल खंडों में बाँटता है और उसका नामकरण करता है। अन्त में वह विभिन्न प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी करता है। इस क्रम में उसके सामने कई कठिनाइयाँ आती हैं, मसलन किस साहित्य और साहित्यकारों को आधार के रूप में ग्रहण किया जाए, हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए, हिन्दी से क्या तात्पर्य है, गौण साहित्यकारों का साहित्य में क्या महत्व है आदि। इन सब सवालों पर भी, इस इकाई में संक्षेप में, विचार किया जाएगा।

## 1.2 इतिहास और साहित्य का इतिहास

### 1.2.1 इतिहास

इतिहास का संबंध अतीत की वास्तविक और यथार्थ घटनाओं से है। इसमें किसी भी तथ्य, तत्व और प्रवृत्ति का वर्णन, विवेचन और विश्लेषण कालक्रम की दृष्टि से किया जाता है। इतिहास में घटनाएँ होती हैं, तथ्य होते हैं, पर यह अपने आप में इतिहास नहीं है। यह इतिहास का साधन मात्र है। इतिहास में इन तथ्यों और घटनाओं के आधार पर युग विशेष का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास हमें कुछ घटनाओं से परिचित अवश्य कराता है, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि हम उन घटनाओं की व्याख्या किस ढंग से करते हैं, हम कौन सी दृष्टि अपनाते हैं। वस्तुतः इतिहास तथ्य और दृष्टिकोण, अनुसंधान और व्याख्या का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। इतिहासकार तथ्यों का संकलन करता है और अपने तथा अपने युग के दृष्टिकोण के अनुरूप उनकी व्याख्या करता है। वह नये-नये तथ्यों की खोज करता है, पुराने तथ्यों की व्याख्या करता है और इस प्रकार शोध और व्याख्या में क्रिया-प्रतिक्रिया संबंध बराबर बना रहता है।

इतिहास न केवल अतीत के बारे में हमें बताता है बल्कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में उसका पुर्नमूल्यांकन करता है और इसके साथ ही साथ भविष्य की कल्पना करता है। इस प्रकार इतिहास, वर्तमान और भविष्य में एक संबंध स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में इतिहास अतीत और वर्तमान का संवाद है और इस रूप में इतिहास मात्र बीते हुए दिन की वस्तु न बनकर आज के लिए भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता है।

## 1.2.2 साहित्य का इतिहास

साहित्य के इतिहास में साहित्य की विकासमान परंपरा, उसके उद्‌भव से आज तक की स्थिति का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास संबंधी दृष्टिकोण का उल्लेख उपयोगी होगा: "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चय है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परपंरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"

साहित्य का इतिहास अतीत में लिखे गये साहित्य या साहित्यकार का ब्यौरा मात्र नहीं है। जिस प्रकार इतिहास आज राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं का संकलन मात्र नहीं है, उसी प्रकार साहित्य का इतिहास मात्र रचनाओं और रचयिताओं का परिचय-ग्रंथ नहीं है। किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन-विश्लेषण जरूरी है। इसका कारण यह है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वातावरण को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब होती हैं। साहित्य का इतिहास व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियों के साथ-साथ इन प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण करता है।

साहित्य का इतिहास क्या है और इसे कैसा होना चाहिए, इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत प्रस्तुत है। "साहित्य का इतिहास ग्रंथों और ग्रंथकारों के उद्‌भव और विलय की कहानी नहीं। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवंत समाज की विकास कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा करते हैं। वे ही मुख्य नहीं है। मुख्य है वह प्राणधारा, जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने-आपको प्रकाशित कर रही हैं। "साहित्य के इतिहास में हम अपने-आपको पढ़ने का सूत्र पाते हैं।"[1]

वस्तुतः साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास को पहचानना ही साहित्य के इतिहास का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त यह परिवर्तन और निरंतरता को भी व्याख्यायित करता है। साहित्येतिहास साहित्य की विकासशील प्रक्रिया का उद्‌घाटन करता है और इस क्रम में नये और पुराने के संघर्ष को भी रेखांकित करता चलता है। इसके अतिरिक्त इसमें विभिन्न आंदोलनों, परिवर्तनों और नवीन प्रयोगों के संबंध का भी विवेचन होता है।

साहित्येतिहास के संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें भी अन्य इतिहासों की तरह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास के बारे में पढ़ते हुए आप जान चुके हैं कि यह मूलतः मूलयांकनपरक होता है। यह मूल्यांकन ही उसे वर्तमान के लिए उपयोगी और प्रासंगिक बनाता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। अतः साहित्य के इतिहास-लेखन में अतीत को ठीक से परखने और समझने के लिए वर्तमान की सही समझ जरूरी है। वर्तमान से कटी हुई इतिहास चेतना न तो अतीत को समझ पाती है न ही वर्तमान को।

साहित्य के इतिहास में कृतियों का मूल्याकन भी किया जाता है। उसके विचार पक्ष और कला पक्ष पर विचार किया जाता है। पर साहित्य का इतिहास केवल रूप और वस्तु का इतिहास नहीं होता, वह रचना में व्यक्त रचनाकार की सृजनशील चेतना का भी इतिहास होता है।

साहित्येतिहास में विचार प्रक्रिया और सुसंगत दृष्टिकोण का विशेष महत्व है। ऐसी विचार प्रक्रिया, जिसमें प्रत्येक परिवर्तन की व्याख्या हो, किसी भी साहित्येतिहास को समग्रता में प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। समग्र साहित्य के इतिहास में एक ओर जनता की चित्तवृत्ति, प्ररम्परा, नये-पुराने के संघर्ष का मूल्यांकन होता है तो दूसरी ओर रचना और रचनाकार की सृजनात्मक क्षमता को भी वर्तमान की कसौटी पर कसा जाता है।

इस प्रकार साहित्य के इतिहास में समाज की विकास-कथा तो होती ही है, साथ ही साथ



1 इतिहास का सत्य (हमारी साहित्यिक समस्याएं), पृ. 206

उसमें कला-पक्ष का भी मूल्यांकन होता है। वह मानव-चिंताधारा के विकास-क्रम को निरूपित करने के साथ-साथ अभिव्यंजना शिल्प के क्रमिक विकास को भी दर्शाता है। उसमें युग विशेष के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन होता है। उसमें जहाँ एक ओर जातीय जीवन की प्रामाणिक झांकी देखने को मिलती है, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक मूल्यों का मूल्यांकन भी होता है। यह एक मिली-जुली विधा है जिसमें शोध, इतिहास, समीक्षा सबके तत्व सम्मिलित होते हैं।

### बोध प्रश्न

1 "इतिहास" से आप क्या समझते हैं?
(सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) इतिहास अतीत की परम्परा और प्रवृत्ति का वर्तमान के संदर्भ में मूल्यांकन करता है ( )

ख) इतिहास में घटनाओं का सबसे ज्यादा महत्व है ( )

ग) इतिहास को वर्तमान से जोड़ना ठीक नहीं है। ( )

घ) इतिहास अतीत का ब्यौरा मात्र प्रस्तुत करता है। ( )

2) निम्नलिखित कथनों में से कौन-से कथन सही और कौन-से गलत हैं?
(सही कथन के आगे (✓) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगायें)

क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इतिहास लेखन में परंपरा पर विशेष बल देते हैं। ( )

ख) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इतिहास लेखन में परम्परा को विशेष महत्व प्रदान किया है। ( )

ग) आचार्य शुक्ल साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब मानते हैं ( )

3) साहित्य के इतिहास का प्रयोजन क्या है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

.....

.....

## 1.3 साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न पक्ष

आप जान चुके हैं कि साहित्य का इतिहास साहित्य की विकासमान परम्परा को उद्‌घाटित करता है। वह साहित्य के विकास को रेखांकित करने के साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी करता चलता है। किसी भी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को कई चरणों से गुजरना पड़ता है। पहले वह स्रोत-सामग्री का संकलन करता है। इस क्रम में वह विशिष्ट रचनाकारों और रचनाओं की पहचान करता है। परम्परा के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए वह काल विभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार करता है। इसके लिए वह विभिन्न प्रवृत्तियों की खोज और विश्लेषण करता है। इसके बाद वह युग-विशेष और प्रवृत्ति के अंतः संबंध का विश्लेषण करता हुआ वर्तमान संदर्भ में उनका मूल्यांकन भी करता है। इस प्रयास में उसे कई प्रयत्न करने पड़ते हैं। वह इतिहास लिखते समय कई चरणों से गुजरता है। इस संबंध में हम आगे विचार करने जा रहे हैं।

### 1.3.1 सामग्री संकलन

सामग्री संकलन इतिहास लेखन की पूर्वपीठिका के रूप में काम करता है। यह सही है कि तथ्य अपने आप में इतिहास नहीं होता, पर तथ्य आधारभूत स्रोत का काम तो करते ही हैं। इतिहासकार के सामने तथ्य जटाने के साथ-साथ तथ्यों के चुनाव की समस्या भी रहती

है। तथ्यों की खोज के क्रम में वह पुराने साहित्य और साहित्यकार संबंधी अनुसंधानों, कृतियों के प्रामाणिक और सुसंगठित संस्करणों, आकर ग्रन्थ सूची, उपलब्ध पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों, शिष्ट और लोक साहित्य की समुचित विवरणी और सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों से गुजरता है। इस आधारभूत सामग्री के अभाव में ऐतिहासिक बोध के बावजूद इतिहास त्रुटिपूर्ण हो सकता है। अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण सामग्री के आधार पर निर्दोष इतिहास लेखन सम्भव नहीं है।

### 1.3.2 कालविभाजन और नामकरण

सामग्री संकलन के बाद इतिहासकार पूरे इतिहास को विभिन्न कालों और युगों में विभाजित करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि काल का प्रवाह अविच्छिन्न है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य परस्पर एक दूसरे में अनुस्यूत रहते हैं, पर अध्ययन की सुविधा के लिए काल विभाजन और नामकरण आवश्यक होता है। यह सही है कि काल-प्रवाह अविच्छिन्न होता है, पर यह सतत परिवर्तनशील भी होता है। इसलिए साहित्य इतिहास में ही नहीं, अन्य प्रकार के इतिहासों में भी युग-विभाजन को अनिवार्य माना जाता है। काल विभाजन का लक्ष्य अंततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्येतिहास पर भी यह बात लागू होती है। साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के कालक्रम को स्पष्ट करना ही कालविभाजन का लक्ष्य होता है।

साहित्येतिहास का कालविभाजन जहाँ तक संभव हो साहित्यिक आधार पर किया जाना चाहिए। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का कथन इस दृष्टि से उल्लेखनीय है: "यदि हम मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक या भाषा-वैज्ञानिक विकास से संपृक्त रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है और दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिंब नहीं है, तो हम अनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदंड के सहारे निर्धारित होने चाहिएं।"[1] अतः कालविभाजन और नामकरण यथासाध्य साहित्यिक आधार पर किया जाना चाहिए, हालाँकि यह साहित्यिक आधार परिवेशगत परिस्थितियों से पूर्णतया असंपृक्त नहीं हो सकता।

### 1.3.3 मूल्यांकन

आप जानते हैं कि अतीत का पुनर्मूल्यांकन इतिहासकार का चरम लक्ष्य है। इतिहास मूलतः मूल्यांकनपरक होता है। सवाल यह है कि अतीत की रचनाओं का मूल्यांकन अतीत के अनुभव के रूप में करना चाहिए या नए अनुभव के आधार पर? रचना का मूल्यांकन उसके रचना-काल के संदर्भ में किया जाए या वर्तमान के संदर्भ में? वस्तुतः इतिहास में रचना के अतीत और वर्तमान को एक दूसरे से अलग करके नहीं रखा जा सकता है। एक तरफ जहाँ रचना के अतीत की मीमांसा गलत इतिहास दृष्टि है, वहीं उसे केवल वर्तमान के आलोक में रखकर देखना भी सही दृष्टि नहीं है। दरअसल रचना के अतीत और उसकी आज के संदर्भ में सार्थकता दोनों पक्षों पर इतिहासकार को विचार करना चाहिए। डॉ. मैनेजर पांडेय के शब्दों में " साहित्य का इतिहास वर्तमान की चेतना के परिप्रेक्ष्य में ही अतीत की सार्थकता की व्याख्या करके वर्तमान के लिए उसे उपयोगी और प्रासंगिक बनाता है।[2] वस्तुतः मूल्यांकन का आधार इतिहासकार को अपने युग से प्राप्त होता है। अतः उसके लिए अतीत के सम्यक ज्ञान के साथ-साथ वर्तमान का सही बोध भी आवश्यक है।

**बोध प्रश्न**

4) साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को किन-किन चरणों से गुजरना पडता है?



1 *साहित्य का इतिहास-दर्शन, लेखक-आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृष्ठ-57*
2. साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पांडेय, पृष्ठ-1-2

क) .....

ख) .....

ग) .....

5 साहित्येतिहास के कालविभाजन का आधार क्या होना चाहिए?
(सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) राजनीतिक ( )

ख) भौगोलिक ( )

ग) साहित्यिक ( )

घ) वैचारिक ( )

6 कोष्ठक में दिए गए विकल्पों में से सही का चुनाव कर रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

क) ..... इतिहास का चरम लक्ष्य है।
(इतिहास का ब्योरा प्रस्तुत करना/इतिहास का पुनर्मूल्यांकन,

ख) इतिहासकार को मूल्यांकन का आधार ..... से प्राप्त होता है।
(अतीत/वर्तमान)

ग) साहित्य का इतिहास साहित्य की ..... को प्रदर्शित करता है।
(अवरुद्ध चेतना/ विकासमान परंपरा)

घ) सामग्री संकलन इतिहास लेखन की ..... है।
(मूल चेतना/पूर्वपीठिका)

## 1.4 साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियाँ

साहित्येतिहास सतत विकासशील विधा है। इसलिए साहित्य के इतिहास की अनेक प्रणालियाँ समय-समय पर अपनाई गयीं। कभी वर्णमाला को आधार बनाया गया तो कभी कालानुक्रम को आधार बनाया गया। किसी इतिहासकार ने इतिहास-लेखन में विधेयवादी पद्धति अपनायी और किसी ने वैज्ञानिक प्रणाली का सहारा लिया। पर यह बात बिना हिचक के कही जा सकती है कि इनमें से कोई भी प्रणाली अंतिम और सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसका कारण यह है कि इतिहास लेखन का कोई बना बनाया फार्मूला संभव नहीं है, सबसे महत्वपूर्ण बात यह है इतिहासकार में सही ऐतिहासिक बोध, अंतर्दृष्टि और विवेक का होना आवश्यक है। इसी स्थिति में सही और व्यवस्थित इतिहास लेखन हो सकता है। आइए, साहित्येतिहास लेखन की विभिन्न प्रणालियों का अवलोकन करें।

### 1.4.1 वर्णानुक्रमी पद्धति

यह इतिहास-लेखन की सबसे अविकसित और भोंड़ी प्रणाली है। इसमें कृतिकारों का परिचय वर्णमाला के अक्षरक्रम से दिया जाता है। गार्सा-द-तासी और शिव सिंह सेंगर ने इसी पद्धति को अपनाया है। वस्तुतः इस प्रकार का इतिहास लिखने का मुख्य कारण है—अपेक्षित सूचनाओं का अभाव। वे अनेक कवियों और रचनाकारों के समय के बारे में निश्चित नहीं थे। अतः वे कालक्रम के अनुसार कृतिकारों को प्रस्तुत करने का प्रयास न कर सके। गार्सा-द-तासी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में यह बात स्वीकार भी की है। बाद में ज्यों-ज्यों तथ्य सामने आते गये, कवियों के संबंध में जानकारी बढ़ी और उनके काल का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे यह प्रणाली अपने आप समाप्त होती गयी। आज इस प्रणाली का उपयोग कोई इतिहासकार नहीं करता है।

वस्तुतः वर्णानुक्रम से लिखे गये जीवन परिचय को साहित्य का इतिहास कहना ही नहीं

चाहिए, क्योंकि इतिहास में जिस काल प्रवाह का बोध वर्तमान होता है, उसका इस प्रणाली में कहीं नामोनिशान तक नहीं है। ऐसे ग्रन्थों को ज्यादा से ज्यादा "साहित्यकार-कोश" की संज्ञा दी जा सकती है।

### 1.4.2 कालानुक्रमी पद्धति

इस पद्धात के इतिहास में रचनाकारों का उल्लेख उनके नामों के प्रथमाक्षर या महत्व के आधार पर न कर ऐतिहासिक तिथिक्रम के आधार पर किया जाता है। इसमें सबसे पहली समस्या तो जन्म और रचना को लेकर शुरू हो जाती है। ऐतिहासिक कालक्रम का निर्धारण करते समय रचनाकार की जन्म तिथि को आधार बनाया जाए या उसकी रचना तिथि को। अगर किसी रचनाकार का उल्लेख ऐतिहासिक कालक्रम से करना भी पड़े तो रचना तिथि को ही आधार बनाना अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में डॉ. गियर्सन और मिश्रबंधुओं ने यही पद्धति अपनायी है। उर्दू साहित्य में मुहम्मद हुसैन आजाद और अँग्रेजी में डॉ. जॉनसन ने भी इसी प्रणाली का निर्वाह किया है।

यहाँ भी फिर वही सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या कवियों और लेखकों का विवरण प्रस्तुत करना ही इतिहास का उद्देश्य है? ऐसा बिल्कुल नहीं है। साहित्य सृष्टि में व्यक्ति का योगदान होता है पर वह उस परिवेश की भी अभिव्यक्ति है, जिसमें वह रचा जा रहा है। इसलिए साहित्येतिहास का उद्देश्य कुछ प्रमुख रचनाकारों और उसके कृतित्व का परिचय प्रदान करना नहीं है बल्कि उस व्यापक पृष्ठभूमि का आभास कराना है, जिसमें साहित्य रचा गया है। जब तक युग की पृष्ठभूमि की जानकारी नहीं होगी, तब तक कवि विशेष या उसकी रचना का मूल्यांकन संभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास का उद्देश्य रचनाकारों के जन्म-मृत्यु और उनकी रचनाओं के गुण दोषों से परिचित कराना ही नहीं है, बल्कि वह मानव चिंताधार के विकासक्रम का दस्तावेज भी है। वृत्तसंग्रहमूलक प्रणाली, चाहे वह ऐतिहासिक तिथिक्रम से ही क्यों न नियोजित हो, साहित्य के इतिहास के इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ नहीं हो सकती। अतः यह प्रणाली भी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए विशेष उपयोगी नहीं है।

### 1.4.3 वैज्ञानिक पद्धति

कालक्रमिक पद्धति में जहाँ ऐतिहासिक कालानुक्रम से रचनाकारों और रचनाओं की तालिका प्रस्तुत कर दी जाती है, वहीं वैज्ञानिक पद्धति में तथ्यों को प्रस्तुत भर कर देना पर्याप्त माना जाता है। यह प्रणाली मुख्यतः शोध पर आधारित है। इसमें शोध द्वारा तथ्यों को वैज्ञानिक और क्रमबद्ध तरीके से प्रस्तुत भर कर दिया जाता है। वस्तुतः इसमें इतिहासकार निरपेक्ष बने रहने का प्रयत्न करता है। पर तथ्यों का संकलन इतिहास नहीं है। इतिहास तथ्य और व्याख्या का मिला जुला रूप है। इस संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह की टिप्पणी उल्लेखनीय है, "मानव इतिहास की प्रवहमणं धारा में धारा और किनारा सब कुछ मनुष्य ही है, तटस्थ कोई नहीं। जो विरोधी धाराओं के संघर्ष से घबराकर निष्पक्षता में विश्राम करना चाहता है, वह प्रवाह-पतित अनजाने ही इतिहास-विरोधी धारा में जा पड़ता है। यद्यपि इन विद्वानों के तथ्य-संग्रह नये इतिहास के लिए उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी आज ऐसे नकारात्मक दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।"[1]

### 1.4.4 विधेयवादी पद्धति

"विधेयवाद" अँग्रेजी के पॉजिटिविज्म का शब्दानुवाद है। इस प्रणाली में असंबद्ध तथ्य एकत्रित किए जाते हैं। इसके अनुसार साहित्य की व्याख्या भौतिक विज्ञान की प्रणालियों से, कार्य-कारण मीमांसा के आधार पर करनी चाहिए। इस पद्धति के जन्मदाता तॉय (Taine) ने इस प्रणाली को जाति, वातावरण और क्षण—इन तीन शब्दों में सूत्रबद्ध किया हैं। उन्होंने यह विचार सामने रखा है कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन-विश्लेषण आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने



1 इतिहास और आलोचना, पृ. 178-79

साहित्येतिहास में इसी पद्धति को अपनाया है।

विधेयवादी इतिहासकार साहित्य संबंधी आँकड़े एकत्र करने के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है और फिर समाज और साहित्य में कार्य-कारण-संबंध स्थापित करता है।

यह प्रणाली साहित्य इतिहास के लेखन के लिए उपयोगी तो है, पर यह भी एकांगी इतिहास-दृष्टि है। निश्चित रूप से साहित्य पर समाज का प्रभाव पड़ता है और एक सीमा तक सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य के स्वरूप निर्धारण में सहायक भी होती हैं, पर साहित्य-निर्माण में परम्परा का भी योगदान होता है। विधेयवादी पद्धति परम्परा का मूल्यांकन नहीं कर पाती है। इसलिए विधेयवादी पद्धति से सामाजिक परिस्थितियों और साहित्य में संबंध स्थापित करते समय यह ध्यान देना चाहिए कि साहित्य का कितना अंश सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित है और कितना अंश परम्परा से प्रेरित है।

### 1.4.5 समाजशास्त्रीय पद्धति

इतिहास-लेखन की समाजशास्त्रीय पद्धति मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित है। हमारे समाज में यह द्वंद्व शोषक और शोषित के संघर्ष के रूप में प्रतिबिंबित होता है। चूँकि साहित्य भी सामाजिक सृष्टि है, इसलिए इसमें दोनों प्रकार की भावनाएँ देखने को मिलती हैं। इतिहासकार का कर्त्तव्य साहित्य के अंतर्निहित तत्वों का उद्‌घाटन कर उसकी मूल प्रेरणा का विश्लेषण और जनहित की कसौटी पर उसका मूल्यांकन करता है। द्वंद्वात्मक प्रणाली समाज और व्यक्ति की असंगतियों एवं अंतर्विरोधों को पहचानने का प्रयत्न करती है। इसके अनुसार ये असंगतियाँ और अंतर्विरोध साहित्य में भी वर्तमान हैं।

मार्क्स ने समाज-रचना और उसकी विकास प्रक्रिया को बड़ी गहराई से विवेचित किया है और यह साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि से उपादेय भी है।

**निष्कर्ष**

साहित्य के इतिहास-लेखन में विधेयवादी और समाजशास्त्रीय पद्धति का साथ-साथ उपयोग किया जाना चाहिए। इसके साथ-साथ परंपरा का मूल्यांकन भी किया जाना चाहिए। वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन का कोई फार्मूला नहीं बनाया जा सकता। साहित्येतिहास के समग्र और संतुलित होने में इतिहासकार के इतिहास-बोध और दृष्टकोण का विशेष महत्व है। साहित्य के इतिहास में साहित्य और समाज के संबंध, परम्परा और रचनाकार के संबंध पर विचार करना आवश्यक है। साहित्य का इतिहास लिखते समय ऐतिहासिक शोध और समाजशास्त्रीय सिद्धांत के साथ-साथ सौंदर्यशास्त्रीय नियमों की जानकारी भी आवश्यक है। लेकिन सबसे जरूरी चीज है इतिहासकार की अंतर्दृष्टि, विवेक और उसका इतिहास-बोध।

**बोध प्रश्न**

7 इतिहास-लेखन की सबसे अविकसित प्रणाली कौन-सी है? (सही उत्तर के सामने (✓) का निशान लगाएँ)

क) विधेयवादी प्रणाली ( )

ख) वर्णानुक्रम पद्धति ( )

ग) कालानुक्रमी पद्धति ( )

घ) सामाजशास्त्रीय पद्धति ( )

8 निम्नलिखित में से किन-किन पद्धतियों में मूल्यांकन का अभाव होता है? (सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) विधेयवादी पद्धति ( )

ख) वर्णानुक्रमी पद्धति ( )

ग) समाजशास्त्रीय पद्धति ( )

घ) कालानुक्रमी पद्धति ( )

ड.) वैज्ञानिक पद्धति ( )

च) ख, घ और ड. ( )

9 विधेयवादी पद्धति से आप क्या समझते हैं? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

10 कालम 'क' और 'ख' का सही मिलान करें।

| कालम 'क' | कालम 'ख' |
|---|---|
| i) वर्णानुक्रमी पद्धति | i) तथ्यों की प्रस्तुति |
| ii) कालानुक्रमी पद्धति | ii) जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय सामाजिक वातावरण का विश्लेषण |
| iii) वैज्ञानिक पद्धति | iii) वर्णमाला के अक्षरक्रम से कृतिकारों का परिचय |
| iv) विधेयवादी पद्धति | iv) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत पर आधारित |
| v) समाजशास्त्रीय पद्धति | v) काल के अनुसार कृतिकारों का परिचय |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |
| ..... | ..... |

## 1.5 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा

हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन उन्नीसवीं शताब्दी से आरंभ हुआ है। हालाँकि इसके पूर्व विभिन्न लेखकों ने ऐसे ग्रन्थों की रचना की थी, जिसमें हिन्दी के विभिन्न रचनाकारों के जीवन-वृत्त और कृतित्व का परिचय दिया गया था, पर इन्हें इतिहास की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। ये ग्रंथ मूलतः इतिवृत्तात्मक हैं और इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् का भी अभाव है। मूल्यांकन का तत्व तो इन ग्रंथों में दूर-दूर तक दृष्टिगोचर नहीं होता है। चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तभाल, कविमाला, कालिदास-हजारा आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं।

### 1.5.1 इतिहास-लेखन के आरंभिक प्रयत्न

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का पहला प्रयास एक फ्रांसीसी विद्वान गार्सा-द-तासी ने किया। उन्होंने फ्रांसीसी भाषा में "इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी" नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का परिचय वर्णक्रमानुसार दिया गया है। पर इसमें लेखक ने अपने को रचनाकार के जीवनवृत्त और रचनाओं के परिचय तक ही सीमित रखा है। इसमें काल-विभाजन, युगीन-प्रवृत्तियों और परंपरा के विवेचन का कोई प्रयास नहीं किया गया है। इसलिए इस ग्रंथ को "इतिहास" की अपेक्षा "वृत्त संग्रह" मानना अधिक उपयुक्त है।

ताँसी के बाद शिव सिंह सेंगर ने हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपने ग्रंथ "शिव सिंह सरोज" में लगभग एक हजार कवियों की जीवनी और

उनकी कविताओं के उदाहरण संकलित किए हैं। मूलतः यह काव्य संग्रह है। वस्तुतः इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का महत्व नहीं है पर इस ग्रंथ ने अधिक से अधिक कवियों और कविताओं को एक साथ इकट्ठा करने का महत्वपूर्ण काम किया। बाद के इतिहासकारों के लिए यह ग्रंथ स्रोत के रूप में लाभकारी सिद्ध हुआ।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने पहली बार "द मार्डन वर्नेक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान" में कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया और साथ ही साथ उनकी प्रवृत्तियों को उद्घाटित करने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने विभिन्न युगों की काव्य प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित सांस्कृतिक परिस्थियों और प्रेरणा-स्रोतों के उद्घाटन का भी प्रयास किया। वस्तुतः इसे हिंदी साहित्य का पहला इतिहास ग्रंथ कहा जा सकता है। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद ग्रियर्सन ने हिंदी भाषा और साहित्य के स्वरूप एवं निकास के संबंध में एक दृष्टिकोण सामने रखा, जो परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ प्रदर्शक सिद्ध हुआ।

मिश्रबंधुओं ने "मिश्रबंधु विनोद" नाम से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए उन्होंने इस ग्रन्थ को आठ काल-खंडों में विभक्त किया। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने लगभग पाँच हजार कवियों का उल्लेख किया है। यह ग्रंथ भी इतिहास न होकर "साहित्यकार कोश" है। यह ग्रंथ सूचनाओं का अपार भंडार है, जो बाद के इतिहासकारों के लिए कच्चे माल के रूप में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ।

### 1.5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल और इतिहास-लेखन

हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित इतिहास लिखने का प्रथम श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। इस बात का उल्लेख इस इकाई के आरंभ में ही कर दिया गया है कि रामचंद्र शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। इसकी पुष्टि के लिए आप उपभाग 1.2.2 में उद्धृत आचार्य शुक्ल के इतिहास संबंधी कथन को फिर से पढ़ सकते हैं। उनकी साहित्येतिहास संबंधी अवधारणा में निम्नलिखित बातें शामिल हैं।

1 प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।

2 जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता चला जाता है।

3 जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के चलते राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का अवलोकन भी आवश्यक है।

इस प्रकार शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्ति के साथ साहित्य का संबंध जोड़ते हुए उसके क्रमिक विकास और परिवर्तन का आलेख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके साथ ही साथ उन्होंने प्रेरक परिस्थितियों का भी सम्यक विवेचन किया है।

### 1.5.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और इतिहास-लेखन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय जहाँ युगीन परिस्थितियों पर बल दिया वहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परंपरा को इतिहासलेखन का आधार बनाया। उन्होंने रामचंद्र शुक्ल के युग रुचिवादी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परम्परापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके हिंदी साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक और संतुलित इतिहास-दर्शन की भूमिका तैयार की। दरअसल परंपरा और युगीन परिस्थितियों के सम्यक मूल्यांकन से संतुलित इतिहास का निर्माण हो सकता है, अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के मत एक दूसरे के पूरक हैं।

### 1.5.4 परवर्ती इतिहासकार और इतिहास-लेखन

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद अनेक साहित्येतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इनमें रामकुमार वर्मा, धीरेंद्र वर्मा, नगेन्द्र, राम विलास शर्मा आदि प्रमुख हैं। रामविलास शर्मा को छोड़कर अन्य इतिहासकारों ने कामोबेश आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी की मान्यताओं की ही पुनः प्रस्तुति की। अतः यहाँ केवल राम विलास शर्मा

की इतिहास दृष्ट की अलग से संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

राम विलास शर्मा हिन्दी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक और इतिहास लेखक हैं, इसलिए उनकी इतिहास दृष्टि मार्क्सवादी सिद्धांतों से प्रभावित है। उन्होंने भारतेंदु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल के संकेतों तथा सूत्रों को आगे बढ़ाते हुए हिन्दी भाषा के गठन, निर्माण और विकास का प्रामाणिक विवेचन किया है। हिन्दी भाषा और साहित्य के जातीय स्वरूप की पहचान, खोज और रक्षा उनके लेखन का प्रमुख लक्ष्य है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य के जातीय रूप और विशेषताओं के विकास का प्रश्न उनके इतिहा लेखन में प्रमुख रूप से उभरकर सामने आया है। इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को नयी जमीन और नयी दिशा प्रदान की है।

**निष्कर्ष**

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर रामविलास शर्मा तक इतिहास लेखन की एक विकासशील परंपरा देखने को मिलती है। आप जानते हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जहाँ युगीन परिस्थितियों पर बल दिया है, वहीं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने परंपरा पर अपना मूल्यांकन आधारित किया है। पर आचार्य द्विवेदी की इतिहास दृष्टि आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण की विरोधी नहीं बल्कि पूरक है। भविष्य के इतिहासकार दोनों इतिहास दृष्टियों का एक साथ उपयोग कर संतुलित इतिहास लिख सकते हैं और साहित्य की विकासशील परंपरा और प्रवृत्ति का पुनर्मूल्यांकन कर सकते हैं। रामविलास शर्मा ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के संकेत सूत्रों को अपनी दृष्टि से पल्लवित और सुनियोजित किया है। उनकी इतिहास दृष्टिपूर्व के दोनों इतिहासकारों से भिन्न अवश्य है, पर दूसरी तरफ वह पूर्व इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि का विकास भी है।

## 1.6 हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की समस्याएँ

अभी हमने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के विभिन्न प्रयासों की चर्चा की। इसी से जुड़ा एक सवाल यह है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय किन-किन साहित्यकारों और साहित्य पर विचार किया जाए। दूसरा सवाल अपभ्रंश और हिंदी के संबंध से जुड़ा हुआ है। हिंदी साहित्य का कालविभाजन पर भी पुनर्विचार किया जा सकता है।

### 1.6.1 रचनाओं और रचनाकारों का समावेश

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार के सामने सबसे पहला सवाल यह उठ खड़ा होता है कि इसमें किस प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। कुछ विद्वान रसात्मक और ललित साहित्य का ही विवेचन और मूल्यांकन करना चाहते हैं, तो कुछ विद्वान ज्ञानात्मक साहित्य, जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र की भी चर्चा करने के पक्ष में हैं।

साहित्य के इतिहास में रसात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का समावेश किया जाए या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि साहित्य के इतिहास लेखन का प्रयोजन क्या है? वस्तुतः साहित्य के विकास को निरूपित करने के क्रम में दोनों प्रकार के साहित्य की सहायता ली जानी चाहिए। निश्चित रूप से उसमें प्रधानता ललित साहित्य की होगी, पर इसके अतिरिक्त उन कृतियों को भी स्थान दिया जाना चाहिए जो अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य और भाषा शैली के विकास के निरूपण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आदिकाल की नाथपंथी रचनाएँ या मध्ययुगीन वार्ताग्रन्थ शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आते। फिर भी साहित्य के इतिहास में उनका उल्लेख इसलिए किया जाता है क्योंकि उनके माध्यम से भाषा के विकास की अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। अतः भाषा और साहित्य के विकास को निरूपित करने वाले सभी साहित्य-ग्रंथों की सहायता इतिहास-लेखन के क्रम में लेनी चाहिए।

### 1.6.2 हिन्दी साहित्य का आरंभ

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के समय प्रत्येक इतिहासकार को "हिन्दी साहित्य के आरंभ" के सवाल से जूझना पड़ता है। उसके सामने यह प्रश्न बार-बार आता है कि हिंदी साहित्य में अपभ्रंश साहित्य को शामिल किया जाए या नहीं। अगर अपभ्रंश को हिंदी के अंतर्गत मानते हैं, तो हिंदी साहित्येतिहास का आरंभ 7वीं-8वीं शताब्दी से माना जाएगा और यदि अपभ्रंश की परवर्ती परंपरा को ही हिंदी मानते हैं, तो दसवीं शताब्दी हिंदी साहित्य की प्रस्थान-बिंदु होगी। चंद्रधर शर्मा गुलेरी और पं. राहुल सांकृत्यायन जहाँ अपभ्रंश साहित्य को "पुरानी हिन्दी" स्वीकार करते हुए हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं, वहीं आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य का आरंभ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत आज विद्वानों के बीच अधिक मान्य है। इस समस्या पर हम अगली इकाई में विस्तार से बातचीत करेंगे।

### 1.6.3 अन्य समस्याएँ

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय इतिहासकार को हिंदी शब्द की व्यापकता हिंदी साहित्य के इतिहास में गौण रचनाकारों के योगदान और कालविभाजन और नामकरण जैसी समस्याओं से भी जूझना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर हम अगली इकाई में विस्तार से विचार करेंगे। जहाँ तक "हिन्दी" शब्द का प्रश्न है, उसके बारे में यह उचित प्रतीत होता है कि "हिन्दी" के अंतर्गत राजस्थान से बिहार तक की उन सभी बोलियों या उपभाषाओं को शामिल करना चाहिए जिनमें मूल शब्द भंडार, सांस्कृतिक-साहित्यिक आदर्श, लिपि और एक सीमा तक व्याकरण की समानता है। गौण रचनाकारों को शामिल किए जाने के संबंध में यह मत उचित प्रतीत होता है कि विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों को परखने के लिए केवल प्रमुख साहित्यकारों पर ही नहीं, गौण रचनाकारों पर भी ध्यान देना जरूरी है। इसके साथ ही साथ लोक साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में शामिल किया जाना चाहिए।

**बोध प्रश्न**

11 हिन्दी साहित्य का इतिहास सबसे पहले किसने लिखा? (सही उत्तर के सामने (✓) का चिह्न लगाएँ)

क) ग्रियर्सन ( )

ख) रामचंद्र शुक्ल ( )

ग) गार्सा-द-तासी ( )

घ) हजारी प्रसाद द्विवेदी ( )

12 निम्नलिखित कॉलमों का सही मिलान करें।

| "क" | "ख" |
|---|---|
| i) गार्सा-द-तासी | i) द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान |
| ii) ग्रियर्सन | ii) इस्तार द ला लितरेत्युर ऐन्दुस्तानी |
| iii) मिश्रबंधु | iii) शिव सिंह सरोज |
| vi) शिव सिंह सेंगर | vi) मिश्रबंधु विनोद |

.....

.....

.....

.....

.....

13 हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख करें।

क) .....

ख) .....

ग) .....

## 1.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद इतिहास और साहित्य के इतिहास संबंधी अवधारणा से आप परिचित हो गये होंगे। अब आप समझ चुके होंगे कि इतिहास मात्र अतीत का ब्यौरा नहीं है, बल्कि वह परंपरा और प्रवृत्ति को समझने का एक आलोचनात्मक प्रयास है।

इतिहास लिखने के क्रम में इतिहासकार आधारभूत सामग्री का संकलन करता है, और उसका युग की प्रवृत्तियों और परंपरा के आधार पर वर्तमान संदर्भ में मूल्यांकन करता है। इस क्रम में वह साहित्य के इतिहास को विभिन्न काल खंडों में बाँटता है और उनका नामकरण करने का प्रयास करता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की कई पद्धतियाँ अपनायी गयी है, मसलन वर्णानुक्रमी पद्धति, कलानुक्रमी पद्धति, वैज्ञानिक पद्धति, विधेयवादी पद्धति और समाजशास्त्रीय पद्धति। गार्सा-द-तासी से लेकर रामविलास शर्मा तक के साहित्येतिहास लेखन में सतत विकास के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में इतिहासकारों के सामने कुछ समस्याएँ आती हैं, जैसे रचनाकारों और उनकी रचनाओं के समावेश का प्रश्न, हिन्दी साहित्य के आरंभ का प्रश्न, गौण साहित्यकारों को शामिल करने का प्रश्न आदि।

## 1.8 शब्दावली

**अध्येता**: अध्ययन करने वाला

**अभिव्यंजना शिल्प**: अभिव्यक्ति का तरीका

**अविच्छिन्न**: अविभक्त, जो लगातार हो।

**आकर ग्रंथ**: ऐसे ग्रंथ जिनमें शब्दों, देशों, व्यक्तियों, घटनाओं आदि का विवरण दिया रहता है।

**इतिवृत्तात्मक**: घटना प्रधान

**चित्तवृत्ति**: मन का भाव

**दृष्टिकोण**: देखने विचारने का पहलू

**द्वंद्वात्मक भौतिकवाद**: यह शब्द अंग्रेजी के "डायलेक्टिल मैटीरियलिज्म" का हिन्दी रूपांतर है। इस शब्द का पारिभाषिक प्रयोग सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने किया था। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद केवल भौतिकवादी दर्शन ही नहीं है, बल्कि उसकी एक विशिष्ट प्रणाली भी है, जिसके अनुसार वह सृष्टि और समाज का भौतिकवादी अध्ययन करता है।

**युग-रुचिवाद**: युग की प्रवृत्ति पर आधारित

**रसात्मक साहित्य**: कहानी, कविता, नाटक आदि सृजनात्मक साहित्य

**संयुक्त**: संबद्ध

**सम्यक**: उपयुक्त

## 1.9 उपयोगी पुस्तकें

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य उद्भव और विकास*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

नगेन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

पाण्डेय, मैनेजर, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली।

शर्मा, आनन्द नारायण, अनुपम प्रकाशन, पटना।

शर्मा, नलिन विलोचन, *साहित्य का इतिहास-दर्शन*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

शुल्क, रामचंद्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

## 1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1 क)

2 क) × ख) ✓ ग) ✓

3 साहित्य के विकास को पहचानना, नये पुराने के संघर्ष को रेखांकित करना, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत का मूल्यांकन, रचना और रचनाकार की सृजनशील चेतना का मूल्यांकन आदि (देखें, उपभाग 1.2.2)

4 क) सामग्री संकलन ख) कालविभाजन और नामकरण ग) मूल्यांकन

5 ग)

6 क) अतीत का पुनर्मूल्यांकन ख) वर्तमान ग) विकासमान परंपरा घ) पूर्वपीठिका।

7 ख)

8 ख, घ, ङ; च

9 असंबद्ध तथ्य एकत्र किए जाते हैं। साहित्य की व्याख्या कार्य-कारण संबंध पर आधारित (देखें उपभाग 1.4.4)

10

| "क" | "ख" |
|---|---|
| (i) | (iii) |
| (ii) | (v) |
| (iii) | (i) |
| (iv) | (ii) |
| (v) | (iv) |

11 ग)

12

| "क" | "ख" |
|---|---|
| (i) | (ii) |
| (ii) | (i) |
| (iii) | (iv) |
| (iv) | (iii) |

13 क) रचनाकारों और रचनाओं का चयन
ख) हिन्दी साहित्य का आरंभ
ग) कालविभाजन और नामकरण

# इकाई 2 कालविभाजन और नामकरण की समस्या

## इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता
2.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार
2.4 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन की समस्या
  2.4.1 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास
2.5 नामकरण सम्बन्धी विवाद
  2.5.1 आदिकाल
  2.5.2 भक्तिकाल
  2.5.3 रीतिकाल
  2.5.4 आधुनिक काल
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 उपयोगी पुस्तकें
2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 2.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'कालविभाजन और नामकरण' की समस्या पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- इतिहास में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- कालविभाजन और नामकरण के आधारों को पहचान सकेंगे,
- हिन्दी साहित्येतिहास के कालविभाजन की समस्या को रेखांकित कर सकेंगे, और
- हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कर सकेंगे।

## 2.1 प्रस्तावना

अब आप हिंदी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम -03 में हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उसकी दूसरी इकाई का अध्ययन आरंभ कर रहे हैं, जिसमें हम कालविभाजन और नामकरण की समस्या पर विचार करेंगे। प्रत्येक इतिहास में अतीत काल का अध्ययन किया जाता है किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए अतीत काल को कई काल खण्डों या युगों में बाँट लिया जाता है। साथ ही प्रत्येक काल को किसी न किसी नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रक्रिया को "कालविभाजन" और "नामकरण की प्रक्रिया" कहा जाता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए भी उसका कालविभाजन और उसके काल खण्डों का नामकरण किया गया है। पर यह कालविभाजन और नामकरण किस आधार पर किया जाता है? इसके करने की आवश्यकता क्या है? अब तक अलग-अलग विद्वानों ने जो काल-विभाजन किया है, वह कहाँ तक उचित है? इन प्रश्नों पर इस पाठ में विचार किया जाएगा, जिससे कालविभाजन और नामकरण की समस्या को भली भाँति समझा जा सके कालविभाजन पर विचार करते समय हमें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि कालविभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किया जाता है। जैसे हम एक राज्य की शासन व्यवस्था के लिए उसे कई जिलों में बाँट लेते हैं और जिलों को भी तहसीलों में बाँट

लेते हैं, उसी प्रकार इतिहास में भी अतीत काल को भली भाँति समझने के लिए कई खण्डो और युगों में बाँट लेते हैं। फिर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हर एक विद्वान काल-विभाजन अपनी-अपनी दृष्टि से करता है। ऐसी स्थिति में यह भी संभव है कि अलग-अलग साहित्येतिहास लेखकों के द्वारा किया गया कालविभाजन आपस में मेल न खाए। अस्तु, इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही हमें कालविभाजन की समस्या पर विचार करना है।

## 2.2 कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता

इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए कालविभाजन और नामकरण आवश्यक है। साहित्येतिहास भी इसका अपवाद नहीं है। कालविभाजन और नामकरण करने से इतिहास में एक प्रकार की व्यवस्था भी आती है। रेनवेलेक का कहना ठीक है कि कालविभाजन के बिना साहित्य का इतिहास घटनाओं की अर्धव्यवस्था का समूह, मनमाना नामकरण और साहित्य का दिशाहीन प्रवाह हो जाता है। वस्तुत: कालविभाजन से साहित्य के विकास की दिशा, विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों, विभिन्न परिवर्तनों और मोड़ों का पता चलता है। इसके जरिये हम साहित्य विशेष की बदली प्रवृत्तियों को समझ पाते हैं और उनका मूल्यांकन कर पाते हैं।

समय बदलने के साथ-साथ युग की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं। इतिहास का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक युग की परिस्थितियां और प्रवृत्तियां पर भी विचार किया जाता है। सभी युगों की परिस्थितियां और प्रवृत्तियां एक जैसी नहीं होती, इसीलिए इतिहास को उसकी परिस्थितियों के बदलाव के अनुसार अलग-अलग कालों में बाँटना पड़ता है; फिर उन कालों या युगों की पहचान के लिए कोई न कोई नाम देना पड़ता है। इसीलिए इतिहास के अध्ययन में कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता पड़ती है।

## 2.3 कालविभाजन और नामकरण का आधार

अब आपके सामने यह स्पष्ट है कि कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकासक्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्य की अन्तर्निहित चेतना के क्रमिक विकास, परंपराओं के उत्थान-पतन और विभिन्न प्रवृत्तियों के उदय को स्पष्ट करना ही कालविभाजन और नामकरण का उद्देश्य है।

साहित्य का विकास समाज के बीच होता है। समाज में जब कोई बड़ा परिवर्तन आता है, तो साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। इस स्थिति में साहित्येतिहास का कालविभाजन सामाजिक या राजनीतिक इतिहास से अप्रभावित नहीं रह सकता। पर साहित्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और वह राजनीति की अनुचर नहीं है। अत: राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास का सहारा वहीं तक लिया जाना चाहिए, जहाँ तक वह साहित्य की मूल चेतना को प्रभावित करती हो। वस्तुत: साहित्य के इतिहास का युग विभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और चेतना ही होनी चाहिए।

कालविभाजन और नामकरण के लिए कभी ऐतिहासिक कालक्रम को आधार बनाया जाता है, तो कभी शासक और शासनकाल को आधार बनाया जाता है। कभी किसी साहित्यकार, राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रवृत्ति और साहित्यिक प्रवृत्ति को कालविभाजन और नामकरण का आधार बनाया जाता है। नीचे दी गयी तालिका से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी।

1 ऐतिहासिक कालक्रम → आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल

| | | |
|---|---|---|
| 2 | शासक और शासन काल | एलिजाबेथ युग<br>विक्टोरिया युग<br>मराठा युग |
| 3 | साहित्यकार | भारतेन्दु युग<br>द्विवेदी युग<br>प्रसाद युग |
| 4 | राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक | भक्तिकाल<br>पुनर्जागरण काल<br>स्वातंत्र्योत्तर काल |
| 5 | साहित्यिक प्रवृत्ति | रीतिकाल<br>छायावाद युग<br>प्रगतिवाद |
| 6 | राजनीतिक नेता | गांधी युग<br>स्तालिन युग<br>नेहरू युग |

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्येतिहास के कालविभाजन और नामकरण के लिए कई प्रकार के आधार ग्रहण किए जाते हैं। कभी किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण किया जाता है, तो कभी सांस्कृतिक प्रवृत्ति के आधार पर अथवा कभी किसी साहित्यिक या राजनीतिक व्यक्ति के नाम के आधार पर।

वस्तुतः कालविभाजन और नामकरण का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति और मूल साहित्यिक चेतना ही होनी चाहिए। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ नामकरण के सम्बन्ध में कोई दिक्कत पेश नहीं आती। पर यह जरूरी नहीं है कि किसी कालखंड विशेष में एक साहित्यिक प्रवृत्ति की ही प्रधानता हो। इस स्थिति में हमें दूसरे आधारों की ओर बढ़ना पड़ता है। कभी किसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव पूरे कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे भक्ति, पुनर्जागरण), कभी किसी व्यक्ति (साहित्यिक या राजनीतिक) का प्रभाव उस कालखंड के साहित्य पर पड़ता है (जैसे युग, द्विवेदी युग आदि)।

अतः कालविभाजन और नामकरण करते समय अनेक आधारों का सहारा लेना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण में एकरूपता का आग्रह ठीक नहीं है। कालविभाजन और नामकरण विवेक सम्मत होना चाहिए। सही कालविभाजन और नामकरण वही है, जो साहित्य की परम्परा को सही रूप में व्यक्त करने में सहायक हो। इसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है:

1 कालविभाजन का आधार साहित्यिक प्रवृत्ति होना चाहिए।

2 नामकरण भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; ऐसा संभव न होने की स्थिति में राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है।

3 युगों की सीमा का निर्धारण मूल प्रवृत्तियों के शुरू होने और अस्त होने पर आधारित होना चाहिए। जहाँ से साहित्य की मूल चेतना में परिवर्तन दीख पड़े, वहीं से नये काल की शुरुआत मानी जानी चाहिए।

**बोध प्रश्न**

1 निम्नलिखित कथनों में से सही उत्तर चुनकर ✓ का निशान लगाएँ:
इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

क) अध्ययन की सुविधा के लिए ( )

ख) इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए ( )

ग) कालविभाजन और नामकरण की कोई आवश्यकता नहीं है ( )

घ) क और ख दोनों सही हैं ( )

2 कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार क्या होता है? (दो पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

3 कालविभाजन और नामकरण करते समय इतिहासकार किन-किन बातों को ध्यान में रखता है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

.....

.....

## 2.4 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन की समस्या

जब हम हिंदी साहित्य के इतिहास का कालविभाजन करने की चेष्टा करते हैं तो हमारे सामने कई समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

सबसे पहले तो इस बात का निर्णय करना कठिन है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास कब से आरंभ होता है; क्योंकि इसके बारे में भी विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथ में हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही माना है। परन्तु दूसरे इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि पुरानी हिंदी का जन्म तो सातवीं के आस पास हो गया था तथा उसमें सिद्धों, जैनियों एवं नाथ पंथियों ने काव्य भी लिखा था, पर उनके काव्य में अपने-अपने धर्म-संप्रदाय की शिक्षाएँ दी गई हैं। इसीलिए उनमें काव्य के गुण कम मिलते हैं। इसलिए आचार्य शुक्ल इन कवियों के द्वारा रचे हुए काव्य को कोरी "सांप्रदायिक शिक्षा" मानकर काव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका विचार था कि हिन्दी का वास्तविक काव्य वह है जो कि विक्रमी सम्वत 1050 (993 ई.) के बाद से लिखा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शुक्ल के मतानसार हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरंभ सम्वत 1050 या 993 ई. से ही मानना चाहिए। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी से मानते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा और डॉ. नगेंद्र इसका आरंभ सातवीं शताब्दी से मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से माना जाए; इसके बारे में एक समस्या और भी है। वह है हिंदी भाषा और अपभ्रंश भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध की। भाषा विज्ञान के विद्वान कहते हैं कि प्राकृत भाषा से अपभ्रंश भाषा का और अपभ्रंश भाषा से आधुनिक भारतीय भाषाओं जिनमें हिंदी भी एक है, का विकास हुआ। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा हिंदी की जननी है। परन्तु कुछ विद्वान अपभ्रंश को हिन्दी से अलग न मानकर हिंदी का ही एक रूप मानते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश को "प्राकृताभास हिंदी" (ऐसी हिन्दी जिसमें प्राकृत का आभास हो) माना है, तो राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश को "पुरानी हिन्दी" की संज्ञा देते हुए अपभ्रंश के सारे कवियों को हिन्दी के कवियों के रूप में स्वीकार किया है। अगर राहुल सांकृत्यायन के मत को स्वीकार कर लेते हैं तो हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से ही सिद्ध हो जाता है और उस स्थिति में अपभ्रंश के सबसे पहले कवि सरहपाद ही हिन्दी के पहले कवि सिद्ध होते हैं। इधर कुछ वर्षों पहले डॉ. नगेन्द्र के द्वारा सम्पादित इतिहास में भी सरहपाद को हिन्दी का पहला कवि माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के विद्वानों के मुख्यतः दो वर्ग हैं:

1 एक वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो हिन्दी और अपभ्रंश को एक मानते हुए हिन्दी का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार करते हैं।

2 दूसरे वर्ग में वे विद्वान आते हैं जो कि अपभ्रंश को हिन्दी से अलग मानते हुए दसवीं

शताब्दी के बाद से हिन्दी साहित्य का आरंभ मानते हैं।
परन्तु अब इस बात का निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिंदी दोनों एक भाषा नहीं है। निश्चय ही अपभ्रंश हिन्दी की जननी है। उससे ने केवल हिन्दी, अपितु उत्तर भारत की और भी कई भाषाएँ जैसे पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि विकसित हुई हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इस मत का दृढ़ता से खण्डन किया है कि हिन्दी और अपभ्रंश एक हैं, अस्तु अब भाषा विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र के प्रायः सभी विद्वानों ने यह मत स्वीकार कर लिया है कि अपभ्रंश और हिन्दी एक नहीं है, अपितु अलग-अलग भाषाएँ हैं। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस मत को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दी भाषा और साहित्य का आरम्भ दसवीं शताब्दी से हुआ है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य अपभ्रंश से भिन्न भाषा का साहित्य है। वस्तुतः इसमें हिन्दी की आधुनिक बोलियों के पूर्वरूप की झलक मिल जाती है। इसी कारण हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक दसवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का आरम्भ स्वीकार करते हैं।

## 2.4.1 हिन्दी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयास

हिन्दी साहित्येतिहास के कालविभाजन का प्रथम श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को जाता है। इसके बाद मिश्रबंधुओं, रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन का प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित) और डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने भी कालविभाजन का प्रयत्न किया है। आइए, विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गये कालविभाजन पर एक नजर डालें।

**जार्ज ग्रियर्सन द्वारा किया गया कालविभाजन**

(क) चारण काल (700 ई. से 1300 ई. तक) (ख) पन्द्रहवीं शती का धर्मिक पुनर्जागरण (ग) जायसी की प्रेम कविता (घ) कृष्ण सम्प्रदाय (ङ) मुगल दरबार (च) तुलसीदास (छ) प्रेमकाव्य (ज) तुलसीदास के अन्य परवर्ती (झ) अठारहवीं शताब्दी (ञ) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान (ट) विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान।

जार्ज ग्रियर्सन के कालविभाजन में व्यवस्था का अभाव दिखलायी पड़ता है। सबसे पहली बात तो यह है कि इसमें साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। मुगल दरबार, अठारहवीं शताब्दी, कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान आदि के आधार पर किया गया विभाजन किसी साहित्यिक परिवर्तन का संकेत नहीं देते।

निश्चय ही, हिंदी साहित्य के कालविभाजन के प्रथम प्रयास के रूप में इसका अपना महत्व है, पर इस कालविभाजन को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

**मिश्रबंधुओं द्वारा किया गया कालविभाजन**

| | | |
|---|---|---|
| 1 | आरम्भिक काल | क पूर्व आरंभिक काल–सं. 700 से 1343 (643 ई. से 1286 ई.)<br>ख उत्तर आरम्भिक काल–सं. 1343 से 1444 (1287 ई. से 1387 ई.) |
| 2 | माध्यमिक काल | क पूर्व माध्यमिक काल–सं. 1445 से 1560 (1388 ई. से 1503 ई.)<br>ख प्रौढ़ माध्यमिक काल–सं. 1561 से 1680 (1504 ई. 1624 ई.) |
| 3 | अलंकृत काल | क पूर्व अलंकृत काल–सं. 1681 से 1790 (1624–1733 ई.)<br>ख उत्तर अलंकृतकाल–सं. 1791 से 1889 (1734 ई. से 1832 ई.) |
| 4 | परिवर्तन काल | सं. 1890 से 1925 |

| | | |
|---|---|---|
| | | (1833 ई. से 1868 ई.) |
| 5 | वर्तमान काल | सं. 1926 से आगे<br>(1869 ई. से आगे) |

मिश्रबंधुओं ने "मिश्रबंधु विनोद" में कालविभाजन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। मिश्रबंधुओं ने व्यवस्था के नाम पर हिंदी के कालखंडों को उपकाल खंडों में विभक्त किया है। इससे स्पष्टता आने के बजाय एक भ्रम पैदा हो गया है। सभी कालों को उन्होंने दो उपखंडों में विभक्त किया, जिसका कोई ठोस आधार दिखाई नहीं पड़ता। माध्यमिक काल को दो हिस्सों में बाँटने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि इस काल में एक ही साहित्यिक प्रवृत्ति (भक्ति भावना) की प्रधानता रही। यही बात अलंकृतकाल के लिए भी कही जा सकती है।

इस विभाजन को भी विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।

**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया कालविभाजन**

| | | |
|---|---|---|
| १ | वीरगाथा काल | सं. 1050 से 1375<br>(993 ई. से 1318 ई.) |
| 2 | भक्तिकाल | 1375 ई. से 1700<br>सं. (1318 से 1643 ई.) |
| 3 | रीतिकाल | सं. 1700 से 1900<br>(1643 ई. से 1843 ई.) |
| 4 | आधुनिक काल | सं. 1900 से अब तक<br>(1843 ई. से अब तक) |

**हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया कालविभाजन**

| | | |
|---|---|---|
| 1 | आदिकाल | सन् 1000 ई. से 1400 ई. |
| 2 | पूर्व मध्यकाल | सन् 1400 ई. से 1700 ई. |
| ३ | उत्तर मध्यकाल | 1700 ई. से 1900 ई. |
| 4 | आधुनिक काल | सन् 1900 से अब तक |

**परवर्ती इतिहासकारों द्वारा किया गया कालविभाजन**

| | | |
|---|---|---|
| 1 | आदिकाल | 1000 ई. से 1400 ई. |
| 2 | मध्यकाल | 1400 ई. से 1900 ई. |
| 3 | आधुनिक काल | 1900 ई. से अब तक |

कालविभाजन के इन सभी प्रयत्नों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत सर्वाधिक मान्य है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रवृत्तियों को आधार बनाकर कालों का सुव्यवस्थित विभाजन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रामचंद्र शुक्ल के विभाजन को ही स्वीकार किया है पर संवत् के स्थान पर ईसवी सन् का प्रयोग कर उन्होंने काल विभाजन को और व्यवस्थित कर दिया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने पूरी शताब्दी को हिंदी साहित्य के कालविभाजन का आधार बनाया है।

डॉ. धीरेंद्र वर्मा तथा अन्य सहयोगियो द्वारा सपादित भारतीय हिंदी परिषद के इतिहास में केवल तीन युगों की कल्पना की गयी है—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने भी इसी विभाजन को स्वीकार किया है। उनका मानना है कि मध्यकालीन चेतना कमोबेश एक-ही रही है। सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य

कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, रीतिकाव्य की धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं। पर यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। यह ठीक है कि संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य आदि धाराएँ पूरे मध्यकाल में प्रवाहित होती रहीं, पर सत्रहवीं शताब्दी के आते-आते मुख्य प्रवृत्ति बदल गयी थी। भक्ति के स्थान पर अलंकरण और शृंगार विलास की प्रधानता हो गयी। काव्य लिखने का ढंग बदल गया था। इससे काव्य की चेतना और काव्य के रूप में भी स्पष्ट अन्तर आ गया। अतः मध्यकाल को प्रवृत्तियों के आधार पर दो कालों में विभाजित करना जरूरी हो गया।

आधुनिक काल का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है। 1857 की क्रांति भारतीय इतिहास की एक बड़ी घटना है। वस्तुतः यह क्रांति मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरम्भ का उद्घोष है। पश्चिमी ज्ञान विज्ञान से भारतीय जनता का सम्पर्क और संघर्ष हुआ, फलतः आधुनिक युग का जन्म हुआ। नयी तकनीकों के वैज्ञानिक आगमन के कारण गद्य साहित्य का तेजी से विकास हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन अपने नये तेवर के साथ सामने आया। इससे हिंदी साहित्य प्रभावित हुआ। 1900 से 1920 तक के साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वर उभर कर सामने आया, 1920 से 1936 तक गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। एक आदर्शवाद और रोमानीयत का प्रस्फुटन काव्य के माध्यम से हुआ, जिसे छायावाद के नाम से जाना जाता है। 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद प्रगतिवाद का जोर साहित्य में बढ़ा। इसमें कवियों का समाजवादी रुझान सामने आया। इसके बाद तरसप्तक का प्रकाशन (सन् 1943) हिंदी साहित्य में एक नये मोड़ के रूप में आया, जिसे प्रयोगवाद के नाम से भी जाना जाता है। इसके बाद साहित्यकाल कई बार युग परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, पर उस विस्तार में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है।

हिंदी साहित्य के कालविभाजन को नीचे एक तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

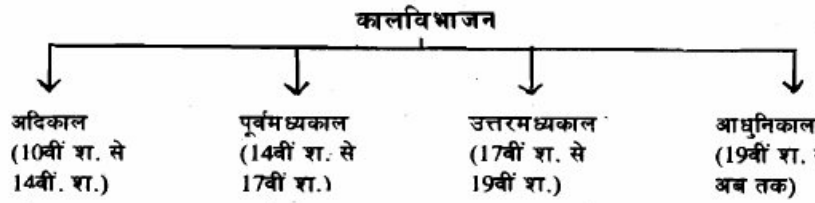


यही कालविभाजन हिंदी साहित्य के इतिहासकारों के बीच मान्य है।

## 2.5 नामकरण संबंधी विवाद

कालविभाजन के समान कालों के प्रथम नामकरण का श्रेय ग्रियर्सन को है। इसके बाद मिश्रबंधुओं ने कालों का नामकरण किया, तत्पश्चात् रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने। हम अलग-अलग कालों के नामकरण पर अलग-अलग विचार करेंगे।

### 2.5.1 आदिकाल

सबसे पहले 10वीं श. से 14वीं श. के कालखंड को लें, जिसमें हिंदी का प्रारंभिक साहित्य लिखा गया। विभिन्न विद्वानों ने इसका नामकरण इस प्रकार किया है–

| | इतिहासकार | नामकरण |
|---|---|---|
| 1 | ग्रियर्सन | चारणकाल |
| 2 | मिश्रबंधु | प्रारम्भिक काल |
| 3 | रामचंद्र शुक्ल | आदिकाल |

| | | |
|---|---|---|
| 4 | राहुल सांकृत्यायन | सिद्ध सामन्त युग |
| 5 | महावीर प्रसाद द्विवेदी | बीजवपन काल |
| 6 | विश्वनाथ प्रसाद मिश्र | वीर काल |
| 7 | हजारी प्रसाद द्विवेदी | आदिकाल |
| 8 | रामकुमार वर्मा | संधिकाल एवं चारणकाल |

हिंदी साहित्येतिहास के विभिन्न कालों का नामकरण करने का प्रथम श्रेय ग्रियर्सन को जाता है। उन्होंने हिंदी साहित्येतिहास के आरंभिक काल का चारण काल के रूप में नामकरण किया; पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं उपस्थित कर पाए। वे हिंदी साहित्य के इतिहास की शुरुआत 643 ई. से करते हैं, पर उस समय किसी चारण रचना या चारण प्रवृत्ति का उल्लेख वे नहीं कर सके हैं। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई. तक मिलती ही नहीं हैं अतः ग्रियर्सन द्वारा किया गया नामकरण अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

ग्रियर्सन के बाद मिश्रबंधुओं ने 643 इ. से 1387 ई. तक के काल को प्रारम्भिक काल कहा। यह एक सामान्य संज्ञा है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। उन्होंने अपने ग्रंथ **मिश्रबंधु विनोद** में हिंदी भाषा को आधार बनाते हुए इस काल खंड विशेष को 'पूर्व प्रारम्भिक हिंदी', (643 ई. से 1290 ई.), 'चंद्रपूर्व की हिंदी' (643 ई. से 1143 ई.), 'रासो काल' (1143 ई. से 1290 ई.) 'उत्तर आरम्भिक हिंदी' (1291 ई. से 1387 ई.) आदि नाम दिए हैं। पर इनमें से कोई भी नाम इस सम्पूर्ण काल खंड का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

मिश्रबंधुओं के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्येतिहास के इस काल खंड का नाम वीरगाथा काल रखा। वीरगाथा काल नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं:

"....आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परम्परा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है।"[1] आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का विवेचन तथा नामकरण किया, वे इस प्रकार है:

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | विजयपाल रासो | 2 | हम्मीर रासो |
| 3 | कीर्तिलता | 4 | कीर्तिपताका |
| 5 | खुमान रासो | 6 | बीसलदेव रासो |
| 7 | पृथ्वीराज रासो | 8 | जयचन्द्र प्रकाश |
| 9 | जयमयंक जसचंद्रिका | 10 | परमाल रासो |
| 11 | खुसरो की पहेलियाँ और | 12. | विद्यापति पदावली |

वे लिखते हैं कि "इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक हैं। अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों के आधार पर इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन और नामकरण किया है उनमें कई बाद की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं



1. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 4-5

और कई पुस्तकों के बारे में यह कहना मुश्किल है कि उनका मूलरूप क्या था। मसलन नये शोधों के आधार पर 'खुमान रासो' और 'बीसलदेव रासो' को 16वीं शताब्दी में रचित माना गया है। 'हम्मीर रासो' को नोटिस मात्र समझा सकता है; अर्थात् यह ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, इसकी सूचना दूसरे ग्रथों में मिलती है। इसी प्रकार प्रसिद्ध महाकाव्य पृथ्वीराज रासो को अर्धप्रमाणिक रचना मान लिया गया है। अतः केवल इन पुस्तकों के आधार पर वीरगाथा काल नाम दे देना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस काल में वीरकाव्य ही नहीं लिखे गये, बल्कि धार्मिक शृंगारिक और लौकिक साहित्य की रचना हुई। 'वीरगाथा काल' नामकरण के कारण इन प्रवृत्तियों की उपेक्षा हो जाती है।

राहुल सांकृत्यायन ने विवेच्य काल को 'सिद्ध सामन्त काल' कहा है। यह नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है: सिद्ध और सामन्त। सिद्ध जहाँ रचनाकार थे.वहीं सामन्त रचना प्रेरक। राहुल जी ने जो यह संयोग बनाया है, वह भी तर्कसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यह कई प्रवृत्तियों को नजरअंदाज कर देता है। नाथपंथी और हठयोगी कवियों तथा खुसरों आदि की काव्य प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। इसलिए यह नाम भी मान्य नहीं है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया नाम वीरकाल शुक्ल जी के नामकरण का रूपान्तर हैं। इसमें कोई मौलिकता नहीं है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक काल खंड को आदिकाल कहना पसन्द करते हैं। उन्होंने आदिकाल के अन्तर्गत धार्मिक रचनाओं का भी समावेश किया है। उनका तर्क है कि यदि इस काल की धार्मिक रचनाओं को साहित्य का अंग न माना गया तो भक्तिकाल की सम्पूर्ण सम्पदा से हमें हाथ धोना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस समय और भी कई प्रवृत्तियों का जन्म और विकास हो रहा था, जैसे शृंगार काव्य, लौकिक काव्य आदि। वीरगाथात्मक काव्य स अलग काव्य प्रवृत्तियाँ भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है, अतः आदिकाल का नामकरण करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को दो खंडों में विभाजित कर दिया है -संधिकाल और चारणकाल। संधिकाल भाषा की ओर संकेत करता है और चारणकाल से एक वर्ग विशेष का बोध होता है। इस नामकरण की कमजोरी यह है कि इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। अतः यह नामकरण भी विद्वानों के बीच मान्य नहीं है।

वस्तुतः आदिकाल' ही ऐसा नाम है, जिसपर इतिहासकार किसी न किसी रूप में सहमत हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिसपर आगे आने वाले साहित्य का विशाल स्वरूप आधारित है। भाषा की दृष्टि से हम इस काल में हिन्दी के आदिरूप की झलक पाते हैं, इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज की खोज इस काल में की जा सकती है। परवर्ती साहित्य की विभिन्न शैलियों और काव्य रूपों का आदि रूप भी इस काल के साहित्य में प्राप्त हो जाता है। इस काल की आध्यात्मिक शृंगारिक तथा वीरता आदि प्रवृत्तियों का विकास परवर्ती साहित्य में हुआ। अतः आदिकाल सर्वाधिक उपयुक्त और व्यापक नाम है।

## 2.5.2 भक्तिकाल

चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक के कालखंड को हिन्दी साहित्य के इतिहास में "भक्तिकाल" के नाम से जाना जाता है। हिंदी साहित्य के इस काल खंड का नामकरण का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। कुछ विद्वान इस कालखंड को "पूर्व मध्यकाल" कहने के पक्ष में भी हैं। हिंदी साहित्येतिहास लेखन में ये दोनों नाम एक साथ चलते हैं, पर "भक्तिकाल" नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है; जो इस काल में सर्वाधिक प्रबल थी। "पूर्व मध्यकाल" कहने से यह पता नहीं चलता है कि उस कालविशेष में किस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा था उस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति क्या थी अगर आदिकाल के समान इस काल में भी कोई प्रवत्ति प्रमुख न होती, तो "पूर्व मध्यकाल" नाम से काम चलाया जा सकता था। पर इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति "भक्ति" बिलकुल स्पष्ट है।

## 2.5.3 रीतिकाल

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल का समय लगभग सन् 1643 ई. से सन 1843 ई. तक फैला हुआ है। इस काल के नामकरण पर भी विद्वानों के बीच मतभेद है। मिश्रबंधुओं ने इसे अलंकृत काल कहा है, रामचंद्र शुक्ल ने "रीतिकाल", रमाशंकर शुक्ल "रसाल" ने "कला काल" और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "श्रृंगार काल" की संज्ञा दी है।

डॉ. ग्रियर्सन ने सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी की रचनाओं को "दि आर्स पोयटिका" की सँज्ञा दी है। लैटिन भाषा में इस शब्द का अर्थ "काव्य कला" होता है। ग्रियर्सन ने हिन्दी रीति परम्परा की समस्त रचनाओं में व्याप्त जिस विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है, उससे लगता है कि उन्होंने इस युग की शृंगारिक एवं काव्य कला से संपृक्त रचनाओं के आधार पर ही इसे 'काव्य-कला युग' कहना सही समझा होगा; पर काव्य कला के युग के नामकरण का स्पष्ट विश्लेषण उन्होंने कहीं नहीं किया।

मिश्रबंधुओं का विवेच्य काल को "अलंकृत काल" कहा जाता है। पर 'अलंकृत काल' नाम को स्वीकार कर लेने से इस युग की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार और शास्त्रीयता की पूर्ण उपेक्षा हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवियों की प्रवृत्ति केवल अलंकार युक्त रचनाएँ करने की नहीं थी, उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कहते हैं कि मिश्रबंधुओं ने यहां "अंलकार" शब्द का प्रयोग काव्य निरूपण प्रवृत्ति के लिए किया है। पर मिश्रबंधुओं ने "अलंकृत" शब्द का प्रयोग काव्य के लिए किया है न कि रीति के लिए और दूसरी बात यह है कि इस काल तक आते- आते अलंकार एक काव्यांग विशेष के लिए रूढ़ हो चुका था।

हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को "रीतिकाल" कहा है। इस नाम को सभी विद्वानों ने लगभग एकमत से स्वीकार किया है। रामचंद्र शुक्ल की "रीति" वामन की "रीति" से भिन्न है। वामन ने जहाँ इसे "विशिष्ट पद रचना शैली" कहा, आचार्य शुक्ल ने इसका प्रयोग तत्कालीन लिखित लक्षण ग्रंथों के लिए किया। आचार्य शुक्ल ने वामन की "रीति" के कुछ अंशों को ग्रहण करते हुए भी रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। इसलिए उनके अनुसार जिसने लक्षण ग्रंथों की रचना की हो, वही रीति कवि नहीं है, बल्कि जिस कवि का दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो उसे भी रीति काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

आपने ऐच्छिक पाठ्यक्रम-2 के अंतर्गत यह पढ़ा होगा कि इस काल में लक्षण ग्रंथ लिखने की होड़ सी मच गयी थी। सभी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इसी ढर्रे पर रचना की है। लगभग सभी कवियों की रचना रीतिबद्ध थी, कुछ भक्त कवियों (घनानन्द आदि) को छोड़कर।

अतः आचार्य शुक्ल को "रीतिकाल" नामकरण करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल "रसाल" ने रीतिकाल को "कला काल" का नाम दिया। रसाल जी द्वारा दिए गये इस नाम से स्पष्ट है कि वे ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं द्वारा दिए गये नामों की सीमा से आगे नहीं बढ़ सके। वस्तुत "कला काल" से रीतिकाल के काव्य के बहिरंग पक्ष का ही स्वरूप स्थिर हो पाता है और उससे उस युग की व्यापक शृंगारिक चेतना की प्रायः अवमानना हो जाती है।

पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को "शृंगार काल" कहना अधिक उपयुक्त समझा। उनके विचार से "रीति" शब्द काव्य के बहिरंग का बोधक है; रीतिकाव्य की आत्मा शृंगार है जिसका प्रवाह 17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी तक होता रहा रीतिकाल में अन्य प्रवृत्तियाँ भी सामने आयीं पर शृंगार के समक्ष टिक न सकीं। बोलबाला शृंगार का ही रहा।

वस्तुतः हिंदी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में रीतिग्रंथों का ही बोलबाला रहा। इस काल की रचनाओं में यदि शृंगारिक छंदों का समावेश हुआ, तो उसका मुख्य कारण इसकी शृंगारिक प्रवृत्ति के स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस रूढ़ विषय को सरस बनाने का प्रयत्न ही कहना चाहिए। यदि कवि शृंगार वर्णन को ही उद्देश्य समझते, तो लक्षण के बन्धनों में अपनी रचनाओं को उलझाकर कहीं-कहीं दूषित अथवा कवित्वहीन न कर बैठते।

विवेच्य काल के लिए दो ही नाम उपयुक्त जँचते हैं। (रीतिकाल 2) श्रृंगारकाल प्रवृत्ति की दृष्टि से रीतिकाल और विषय की दृष्टि से श्रृंगार काल। आचार्य शुक्ल ने भी "श्रृंगार काल" नामकरण के संदर्भ में विशेष आपत्ति नहीं उठाई है। पर समग्रता की दृष्टि से "रीतिकाल" "श्रृंगारकाल" की अपेक्षा अधिक सटीक लगता है और विद्वानों के बीच यह मान्य भी हुआ है।

## 2.5.4 आधुनिक काल

हिंदी साहित्येतिहास का अंतिम कालखंड आधुनिक काल से जाना जाता है। आधुनिक शब्द दो अर्थों को अपने में लपेटे हुए है। एक है मध्यकाल से भिन्नता और दूसरा है इहलौकिक दृष्टिकोण। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और रूढ़ हो चुका था। 1857 का विद्रोह मध्ययुग की जड़ता की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का उद्घोष था। सामन्तवादी शक्तियाँ अपनी सारी शक्ति लगाकर समाप्त हो गयीं और देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नये सिरे से सोचना आरंभ किया। इसी प्रकार रीतिकाल में साहित्य अपने कथ्य और शैली की दृष्टि से रूढ़ हो चुका था। आधुनिक काल ने इस जड़ता को खंडित किया और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के सुख-दुख के साथ जुड़ गया।

आधुनिक युग में सोचने विचारने का दृष्टिकोण सांसारिक हो गया और धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि के प्रति नया दृष्टिकोण सामने आया। इस काल में सुधार, परिष्कार और अतीत की व्याख्या नये ढ़ंग से की गयी। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में साहित्य की भाषा भी बदली और ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य और काव्य को दो खंडों में बाँट दिया। दोनों खंडों को पुनः दो प्रकरणों में बाँटा गया। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा और खड़ी बोली गद्य का विवेचन किया गया है और दूसरे खंड में गद्य साहित्य का उद्भव निरूपित किया गया है। इसे फिर तीन उत्थानों प्रथम, द्वितीय और तृतीय में विभाजित किया गया है। काव्य खंड में भी दो प्रकरण हैं—पुरानी और नयी काव्यधारा। गद्यखंड की तरह इसमें भी नयी काव्यधारा के तीन उत्थान हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस विभाजन में एकरूपता और समानता का अभाव है। ये खंड एक दूसरे में अलग प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ काव्य खंड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (छायावाद) तथा गद्यखंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान (छायावाद) तथा गद्यखंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में एकरूपता नहीं है। इससे इतिहास का नैरन्तैर्य बाधित हुआ है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कालखंड को "गद्यखंड" कहा है। यह सही है कि आधुनिक तकनीकों के कारण इस युग में गद्य साहित्य तेजी से विकसित हुआ और खासकर प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया। समाचार पत्र, उपन्यास, आधुनिक ढंग के निबंध, कहानियाँ, प्रेस के प्रचार के बाद ही तेजी से आगे बढ़ीं। पर इस युग का नाम अगर 'गद्य काल' रख दिया जाए, तो वह काव्य प्रवृत्ति बिल्कुल छूट जाएगी, जो आधुनिक विचारों से ओत-प्रोत है। इसलिए हमें इस काल का आधुनिक काल नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है। आधुनिक काल को भी कई कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे—

| | | |
|---|---|---|
| 1 | पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल) | 1857-1900 ई. |
| 2 | जागरण सुधार काल (द्विवेदी काल) | 1900-1918 ई. |
| 3 | छायावाद काल | 1918-1936 ई. |
| 4 | छायावादोत्तर काल | |
| | (क) प्रगात-प्रयोग काल | 1936-1950 ई. |
| | (ख) नवलेखन काल | 1950 ई. से अब तक |

### पुनर्जागरण काल/भारतेन्दु काल

1857 से 1900 तक के काल को पुनर्जागरण काल या भारतेन्दु काल के नाम से जाना जाता है। दोनों ही नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रयुक्त होते हैं। यह काल

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का समय है। राजा राममोहन राय, केशव चंद्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि के कारण एक नयी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का जन्म हुआ। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। साहित्य नये दृष्टिकोण से संपृक्त हुआ और मध्यकालीन जड़ता को उसने पूरी तरह तोड़ दिया। इस दृष्टि से इस काल खंड को पुनर्जागरण काल कहा जाता है।

आप जानते हैं कि नामकरण करते समय ऐसे व्यक्ति को आधार बनाया जा सकता है, जिससे उस कालखंड का इतिहास प्रभावित हो। इस कालखंड में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पूरे हिन्दी साहित्य पर छाये रहे। उन्होंने हिन्दी गद्य को भाषा और विधा की दृष्टि से एक नयी दिशा दी। मध्ययुगीन वातावरण से जीवन और साहित्य को निकालकर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करने की उन्होंने सतत चेष्टा की। भाषा, भाव, साहित्यिक रूप आदि की दृष्टि से उन्होंने गद्य और काव्य क्षेत्रों में हिन्दी भाषियों का नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब अन्य कवियों और लेखकों की रचनाओं में बराबर मिलता है। अतः इस काल का नामकरण "भारतेन्दु काल" उपयुक्त है।

**जागरण सुधार काल/द्विवेदी काल (1900-1918)**

हिन्दी कविता को राष्ट्रीयता, प्रगति और स्वच्छन्दता में जोड़ने का प्रमुख कार्य इस काल में हुआ। इस युग का नामकरण महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर "द्विवेदी काल" किया गया है। 1903 में "सरस्वती" का सम्पादकत्व ग्रहण करने के बाद उन्होंने खड़ी बोली का परिष्कार आरंभ किया। उन्होंने अनेक कवियों और लेखकों का मार्ग निर्देशन किया। समकालीन कवियों और लेखकों पर उनकी अमिट छाप पड़ी। खुद द्विवेदी जी एक कुशल लेखक, समालोचक और सफल सम्पादक थे। जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द ने हिन्दी भाषा और साहित्य को एक दिशा दिखायी, उसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा का परिष्कार कर उसे एक मानक रूप दिया। इन्ही कारणों से इस काल को 'द्विवेदी युग' कहा जाता है।

राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधार पर इस काल को जागरण सुधार काल भी कहा जाता है। इस काल में साहित्य के कथ्य और भाषा में सुधार और परिष्कार हुआ। इसके अतिरिक्त इस काल में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्तर पर भी जागरण सुधार की दिशा में प्रगति हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज और संस्कृति को पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया आरंभ हुई थी, उसे आलोच्य काल में बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय आदि नेताओं ने आगे बढ़ाया और अपनी परम्परा और संस्कृति को गौरव प्रदान करने की चेष्टा की। इसका भी असर साहित्य पर पड़ा। इस दृष्टि से इस काल को "जागरण सुधार काल" कहा जाता है।

**छायावादी काल (1918-1936)**

द्विवेदी युग के बाद का समय छायावाद काल के नाम से जाना जाता है। छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की उस धारा का नाम है, जो 1918 ई. के बाद प्रस्फुटित हुई। नामवर सिंह के अनुसार "छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के "रोमांटिक" उत्थान की वह काव्यधारा है जो लगभग ई. सन् 1918 से 1936 (उच्छवास से युगान्त) तक की प्रमुख युगवाणी रही, जिसमें प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, प्रभृति मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से भावोच्छवास-प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना-प्रवृत्ति की वह "स्वच्छंद" प्रवृत्ति है जो देश-काल-गत-वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा-आकांक्षा में निरंतर व्यक्त होती जा रही है। स्वच्छंदता की उस सामान्य भाव-धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिन्दी साहित्य में छायावाद पड़ा।"[1]

छायावाद का नामकरण कैसे हुआ, इस संबंध में विद्वान एकमत नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विचार था कि बंगला में आध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाओं को छायावाद कहा जाता था, जिसके अनुकरण में हिन्दी में यह नाम चल पड़ा। लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि बंगला में "छायावाद" नाम कभी प्रचलित नहीं था। सन 1920 में जबलपुर से प्रकाशित "श्री शारदा" नामक पत्रिका के जुलाई, सितम्बर, अक्टूबर, और



1 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, प्र. 2

नवम्बर, 1920 के अकों में "हिन्दी में छायावाद" शीर्षक से पं. मुकुटधर पांडेय के चार लेख प्रकाशित हुए। इससे यह स्पष्ट है कि 1920 से पूर्व "छायावाद" का नाम चल पड़ा था। इन लेखों से यह स्पष्ट है कि पांडेय जी छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिए "छायावाद" नाम का प्रयोग किया था; यह नाम आगे चलकर सबने अपना लिया।

**प्रगति-प्रयोग काल (1936-1953)**

छायावाद युग के बाद 1936 के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्यधारा का जन्म हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। प्रगतिशील साहित्य प्रोग्रेसिव लिटरेचर का हिन्दी अनुवाद है। अँग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार 1935 ई. के आसपास हुआ, जब ई.एम. फार्स्टर के नेतृत्व में पेरिस में "प्रोग्रेसिव राइटर्स ऐसोसिऐशन" की स्थापना हुई। 1936 ई. में भारत में इसी तर्ज पर डॉ. मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर के उद्योग से "प्रगतिशील" लेखक संघ की स्थापना हुई। इसके प्रथम अधिवेशन में प्रगतिशील साहित्य पर विचार-विमर्श हुआ। कालक्रम से सही प्रगतिवाद हो गया।

प्रयोगवाद का समय तारसप्तक कविता संग्रह के प्रकाशन काल (सन् 43) से माना जाता है। "प्रयोगवाद" नाम चलने के कारण "तारसप्तक" का संपादकीय है, जिसमें "प्रयोग" और "प्रयोगशीलता" की बार-बार चर्चा की गयी है। प्रयोग-प्रयोग की इसी रट के कारण इस संग्रह की कविताओं को "प्रयोगवाद" कह दिया गया। पर इस नाम से तारसप्तक के संपादक अज्ञेय सहमत नहीं है। बल्कि उन्होंने दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका में इसका विरोध भी किया है। परन्तु जिस प्रकार छायावादियों के न चाहने पर भी, छायावाद की संज्ञा चल पड़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद भी चल पड़ा। अब इससे एक निश्चित काव्य प्रवृत्ति का बोध होता है और प्रवचन से इसमें पर्याप्त अर्थवत्ता आ गयी है।

**नवलेखन काल (1953 से आगे)**

प्रयोगवाद या प्रयोग युग के बाद हिंदी साहित्य में कई प्रवृत्तियाँ उभरीं, यथार्थ के कई पहलू सामने आये। इसके अतिरिक्त यह साहित्य प्रवाह इतनी तेजी से प्रभावित हो रहा है कि यह सवाल बार-बार सामने आता है कि इसे किसी एक नाम में बांधा जाय या नहीं। स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी कविताओं को "नयी कविता" कहा गया, जिनमें नये मूल्यों और नये शिल्प विधान का अन्वेषण किया गया।

"नयी कविता" नाम पर आपत्ति यह उठायी जाती है कि नयापन किसी साहित्य की विकासशील परंपरा पर द्योतक होता है। अतः इस काल की कविता को नयी कविता कहने का क्या औचित्य है? फिर भी नयी कविता नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया जो अपने विषय और शिल्प में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट हैं। इस नयी कविता के अनेक स्रोत फूटे और कई काव्यान्दोलन सामने आये, जैसे अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता आदि-आदि। इसी प्रकार कहानी में भी नयी कहानी का जोर चल पड़ा। साहित्य के नये-नये रूप और आयाम सामने आये। इन सभी प्रवृत्तियों को एक साथ समेटना विवादास्पद हो सकता है, पर सुविधा की दृष्टि से इसे नवलेखन काल कहा जा सकता है।

**बोध प्रश्न**

4 हिंदी साहित्य का आरंभ कब से माना जाता है?
(सही उत्तर के सामने ✓ का चिह्न लगाएँ)

क) सातवीं शताब्दी ( )
ख) आठवीं शताब्दी ( )
ग) दसवीं शताब्दी ( )
घ) ग्यारहवीं शताब्दी ( )

5 हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाले तीन विद्वानों के नाम लिखिए:

क) .....
ख) .....
ग) .....

6 हिंदी साहित्येतिहास कालविभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किसने किया?

.....

.....

7 "आदिकाल" का नामकरण विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग किया है। सही नाम और विद्वान का मिलान करें।

| | विद्वान | नामकरण |
|---|---|---|
| क) | जार्ज ग्रियर्सन | सिद्ध सामंतकाल |
| ख) | विश्वनाथ प्रसाद मिश्र | चारणकाल |
| ग) | हजारी प्रसाद द्विवेदी | वीरगाथा काल |
| घ) | रामचंद्र शुक्ल | वीर काल |
| ङ) | राहुल सांकृत्यायन | आदिकाल |
| क) | ..... | ..... |
| ख) | ..... | ..... |
| ग) | ..... | ..... |
| घ) | ..... | ..... |
| ङ) | ..... | ..... |

8 "रीतिकाल" के नामकरण विषयक विवाद पर विचार कीजिए
(उत्तर पाँच पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

**अभ्यास**

1 हिंदी साहित्य के कालविभाजन पर टिप्पणी कीजिए
(उत्तर पन्द्रह पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2 हिंदी साहित्य के कालों के नामकरण के विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए। (उत्तर पंद्रह पंक्तियों में दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 2.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने कालविभाजन और नामकरण की समस्या के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त की है।

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप बता सकते हैं कि इतिहास के कालविभाजन और नामकरण की आवश्यकता अध्ययन की सुविधा के लिए तो है ही; इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए भी यह जरूरी है।

कालविभाजन और नामकरण करते समय प्रायः साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है। किसी सामान्य प्रवृत्ति के अभाव की स्थिति में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और व्यक्ति परक आधारों को भी अपनाया जा सकता है। इन आधारों को अपनाकर हिंदी साहित्य के इतिहास को मुख्यतः चार कालों में विभक्त किया गया है—आदिकाल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल। इनका नामकरण किया गया— आदिकाल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल।

## 2.7 शब्दावली

**चौसर युग:** चौसर (1340-1400) अंग्रेजी साहित्य का जन्मदाता माना जाता है। इसके नाम पर अंग्रेजी साहित्येतिहास में चौसर युग की कल्पना की गयी है।

**जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन:** जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन (1851-1941) को हिन्दी से अतिशय प्रेम था। उनकी पुस्तक का नाम "माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिन्दुस्तान" है। हिंदी साहित्य पर काम करने के साथ-साथ ग्रियर्सन ने इसमें भारतीय भाषाओं और बोलियों का उदाहरण भी दिया है।

## 2.8 उपयोगी पुस्तकें

गुप्त, गणपतिचंद्र, *हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास*, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नयी दिल्ली।

नगेन्द्र *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।

शुक्ल, रामचंद्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

## 2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1 क, ख और घ।

2 कालविभाजन और नामकरण का मुख्य आधार काल विशेष की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति होती है।

3 कालविभाजन करते समय इतिहासकार बदलती हुई परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखता है। उन कालों का नामकरण वह इस प्रकार करना चाहता है कि काल विशेष की मूल साहित्यिक चेतना प्रतिबिम्बित हो सके।

4 ग

5 क) ग्रियर्सन
ख) रामचंद्र शुक्ल
ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी

6 जार्ज ग्रियर्सन

7

| विद्वान | नामकरण |
|---|---|
| क) जार्ज ग्रियर्सन | चारणकाल |
| ख) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र | वीरकाल |
| ग) हजारी प्रसाद द्विवेदी | आदिकाल |
| घ) रामचंद्र शुक्ल | वीरगाथा |
| ङ) राहुल सांकृत्यायन | सिद्ध सामंतकाल |

8 "उत्तर मध्यकाल" को रीतिकाल कहा जाता है। कुछ विद्वान इसे विषय के आधार पर शृंगार काल भी कहते हैं। पर "रीतिकाल" अधिक मान्य नाम हैं, क्योंकि इस काल में प्रत्येक विषय का प्रतिपादन एक "रीति" से अर्थात् एक ढंग से किया जाता था। अतः "रीतिकाल" नाम ही उपयुक्त है।

**अभ्यास**

इस उत्तर में निम्नलिखित तथ्य शामिल किए जाने चाहिए।

1
- हिंदी साहित्य के कालविभाजन के विभिन्न प्रयासों का जिक्र
- कालविभाजन का आधार
- पहला वैज्ञानिक कालविभाजन
- मान्य कालविभाजन

(देखें उपभाग 2.4.1)

- हिंदी के प्रमुख कालों के नामकरण पर अलग से चर्चा।
- हिंदी साहित्य के आरम्भिक काल और उत्तर मध्यकाल के नामकरण पर विवाद।
- सही नामकरण का उल्लेख।

(देखें भाग 2.5)

# इकाई 3 हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि

## इकाई की रूपरेखा


3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 अपभ्रंश का उद्भव और विकास
  3.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा
  3.2.2 अपभ्रंश,अवहट्ठ और पुरानी हिंदी
  3.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
3.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन
  3.3.1 स्वयंभू का काव्य
  3.3.2 पुष्पदंत का काव्य
  3.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य
  3.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य
  3.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य
  3.3.6 वीर और शृंगार काव्य
3.4 अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य का संबंध
  3.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य
  3.4.2 अपभ्रंश और हिंदी का भक्ति काव्य
  3.4.3 अपभ्रंश और हिंदी का शृंगार काव्य
3.5 अभिव्यंजना शिल्प
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 उपयोगी पुस्तकें
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 3.0 उद्देश्य

हिंदी साहित्य के इतिहास के इस पाठ्यक्रम में आपने साहित्य और इतिहास के अंत:संबंध और कालविभाजन तथा नामकरण की समस्या की जानकारी प्राप्त कर ली है। प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- अपभ्रंश का अर्थ और उसके विकास को समझ सकेंगे,
- हिंदी साहित्य के ठीक पहले लिखे जा रहे अपभ्रंश साहित्य पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- और अपभ्रंश साहित्य और हिंदी साहित्य का संबंध स्थापित कर सकेंगे।

## 3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ने से पहले जिस प्रकार साहित्य और इतिहास के अंत:संबंध हिंदी साहित्येतिहास लेखक, कालविभाजन और नामकरण की समस्या आदि पर विचार करना जरूरी है, उसी प्रकार यह भी जानना जरूरी है कि हिंदी साहित्य की शुरुआत होने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था।

हिंदी साहित्य और उसके इतिहास का आरंभ 10वीं शताब्दी से माना जाता है। पर हिंदी के कुछ विद्वान, खासकर चंद्रधर शर्मा गुलेरी और राहुल सांस्कृत्यायन इसका समय और भी पीछे खींच कर ले जाते हैं और इसका आरंभ सातवीं-आठवीं शताब्दी से मानते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपभ्रंश साहित्य की गणना भी हिन्दी साहित्य के अंतर्गत ही करना चाहते हैं और अपभ्रंश के कवि स्वयंभू तथा पुष्पदंत को हिंदी का आरंभिक कवि मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का आरंभ और कालविभाजन का संबंध इस बात पर काफी कुछ निर्भर है कि अपभ्रंश साहित्य से हिंदी साहित्य की शुरुआत मानी जाए या नहीं। हमने इस प्रश्न पर कालविभाजन और नामकरण संबंधी इकाई में भी विचार किया है और यह स्थापित तथ्य आपके सामने रखा है कि अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए न कि हिंदी साहित्य के अंग के रूप में।

हिन्दी साहित्य और उसके इतिहास के क्रम में अपभ्रंश साहित्य की बार-बार चर्चा होती है। अतः हमने यह जरूरी समझा कि आप अपभ्रंश साहित्य का सामान्य परिचय प्राप्त कर लें। इस इकाई में अपभ्रंश के साहित्य का अवलोकन करने के साथ-साथ हमने यह भी बताने की कोशिश की है कि किस प्रकार और किस हद तक अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य से जुड़ा हुआ है।

## 3.2 अपभ्रंश का उद्‌भव और विकास

अपभ्रंश का अर्थ है—भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। इस नाम का प्रयोग पहले पहल उस शब्द के लिए होता था, जो भाषा के सामान्य मानदंड से गिरा होता था। आरंभ में संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए भर्तृहरि, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने "अपभ्रंश" का प्रयोग किया। धीरे-धीरे इस नाम का अर्थ-विस्तार हुआ और यह भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास मिलता है। भारतीय आर्यभाषा के विकास में अपभ्रंश प्राकृत के बाद की अवस्था है। इस भाषा में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच साहित्य का सृजन हुआ।

अपभ्रंश भाषा को समझने के लिए भारतीय आर्यभाषा के विकास को जानना जरूरी है। प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और इसके समानान्तर अनेक जन भाषाएँ बोली के रूप में जीवित रहती हैं। वेदों की भाषा छन्दस् ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप लिया। इसी प्रकार पालि, प्राकृत और अपभ्रंश अवस्था का जन्म हुआ। इसे आप एक चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं:

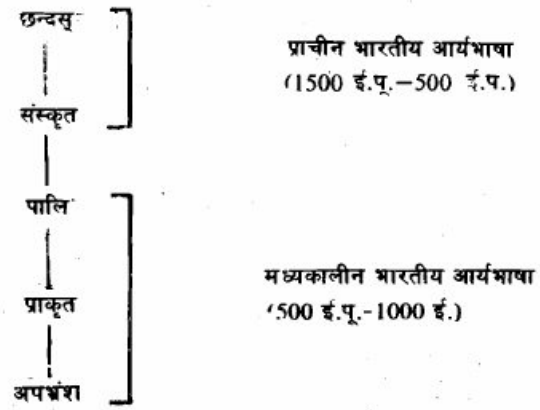


आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (सिंधी, गुजराती, पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि) 1000 ई. से वर्तमान समय तक।

**अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिंदी भी उनमें से एक है। इसीलिए हिंदी साहित्य को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य को समझना जरूरी है।**

### 3.2.1 अपभ्रंश और देशभाषा

**संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा कहा है। महान अपभ्रंश**

कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को "ग्रामीण भाषा" अथवा "देशी भाषा" कहा है। वस्तुतः प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोक भाषाएँ होती हैं। इन्हीं लोक भाषाओं से साहित्यिक भाषा जीवन का रस प्राप्त करती है और इस प्रकार यह जीवंत बनी रहती है। जब साहित्यिक भाषा जनता से दूर हटती है और केवल पंडितों की भाषा रह जाती है, तब वह भाषा मृत हो जाती है और उसका स्थान कोई लोकभाषा ले लेती है। कालान्तर में यही लोकभाषा साहित्यिक भाषा बन [illegible] और भाषा के विकास का यह क्रम लगातार चलता रहता है। वैदिक काल में छन्दस् साहित्यिक भाषा थी और संस्कृत लोकभाषा। बाद में छन्दस् ने लोकभाषा से शक्ति अर्जित की और संस्कृत के रूप में नई साहित्यिक भाषा सामने आई। जब संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी, उस समय प्राकृत लोकभाषा के रूप में इसके समानान्तर चल रही थी। जब संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई और जनता से उसका सम्पर्क टूट गया, तब प्राकृत ने धीरे-धीरे साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। इसी प्रकार, जब प्राकृत रूढ़ और बद्ध हो गई तब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई। आगे चलकर अपभ्रंश का युग भी समाप्त हुआ और आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना की जाने लगी।

पर अपभ्रंश को देशभाषा कहा जाए या नहीं, इस पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी आदि अपभ्रंश को "देशभाषा" मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूल बलाख आदि विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते हैं। पर जो लोग यह नहीं मानते कि अपभ्रंश देशभाषा थी; वे भी इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशभाषा के अनिवार्य तत्व मौजूद थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्राकृत का देशी भाषाओं के साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था की शुरुआत हुई। इस सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत दृष्टव्य है: "जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"

### 3.2.2 अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी

अपभ्रंश को हिंदी साहित्य में शामिल किया जाए या नहीं, इस संबंध में विद्वानों के बीच बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पं. राहुल सांस्कृत्यायन और चंद्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश को हिंदी में शामिल करना चाहते हैं। उनका कहना है कि अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी है। हिंदी साहित्य के आरंभ का विवाद इसी प्रश्न से सम्बद्ध है। इसलिए इस भाग में हम अपभ्रंश, अवहट्ठ और पुरानी हिंदी का अंतर स्पष्ट कर रहे हैं।

आप इतना तो समझ गए होंगे कि अपभ्रंश पर प्राकृत का प्रभाव काफी स्पष्ट था; उसी प्रकार जैसे संस्कृत पर छन्दस् का प्रभाव। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपभ्रंश को "प्राकृताभास हिंदी" कहते हैं, "पुरानी हिंदी" नहीं। "पुरानी हिंदी" के रूप में वे सिद्धों के उस भाषा रूप को स्वीकार करते हैं, जिसमें देशभाषा का पुट था। वे देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश को—"पुरानी हिंदी" कहते हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं: "विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई। इसमें देशी की प्रधानता है।" इसी प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश को "पुरानी हिंदी" कहा है। इस काल में (10वीं शताब्दी के आसपास) लोकभाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा। इस काल के गद्य साहित्य इस बात के प्रमाण हैं, जिनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। वस्तुतः "पुरानी हिंदी" "अपभ्रंश" का ही आगे बढ़ा हुआ रूप है, जिसमें तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता रही। नवीं-दसवीं शताब्दी तक उस अपभ्रंश भाषा की प्रधानता रही, जिसपर प्राकृत शब्दों का स्पष्ट प्रभाव था, इसे अपभ्रंश कहा गया। नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद प्राकृत शब्दों से मुक्त होने की प्रवृत्ति बढ़ी और तत्सम शब्दों को ग्रहण किया जाने लगा। यही "पुरानी हिंदी" है।

अब सवाल यह है कि "अवहट्ठ" क्या है? प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों में अपभ्रंश के कई नाम मिलते हैं, जैसे अवहट्ठ, अवहठ, अवहट, अवहंस, अवहत्थ आदि। इस अर्थ में "अवहट्ठ" "अपभ्रंश" का पर्याय है। पर ऐसी बात है नहीं। विद्यापति ने अपनी रचना

"कीर्तिलता" और "कीर्तिपताका" को "अवहट्ठ" कहा है:

"देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैंसन, "जंपओ अवहट्ठा।" अर्थात देशीभाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है। अतः मैं वैसे ही "अवहट्ठ" में अपनी कविता कहता हूं। स्पष्ट है कि विद्यापति ने देशीभाषा मिश्रित परवर्ती अपभ्रंश को "अवहट्ठ" कहा है, जिसे "परवर्ती अपभ्रंश" या "पुरानी हिंदी" कहा जाता है। एक बात ध्यान देने की है कि परवर्ती अपभ्रंश के लेखकों जैसे अद्दहमाण, ज्योतिरीश्वर आदि ने "अवहट्ठ" का प्रयोग किया। लगता है कि इन कवियों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर और पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया है। अतः "अवहट्ठ" और "पुरानी हिंदी" में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही "देशी भाषा मिश्रित अपभ्रंश" अथवा "परवर्ती अपभ्रंश" के पर्याय हैं।

### 3.2.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

कुछ विद्वान छन्दस् से अपभ्रंश तक की विकास प्रक्रिया को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, यह प्रदेश विशेष की बोली थी, जिसका अस्तित्व प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के युग में भी था। हम इस विवाद में पड़े बिना उन ऐतिहासिक कारणों की खोज करेंगे जिनके कारण अपभ्रंश व्यापक साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आया।

जिस समय (आठवीं-नवीं शताब्दी) अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आ रही थी, उस समय बंगाल के पालों और मान्यखेट के राष्ट्रकूटों की शक्ति मजबूत थी। पाल और राष्ट्रकूट राजाओं ने अपभ्रंश के कवियों को संरक्षण दिया। सरह, कण्ह आदि चौरासी सिद्ध कवि पालों के शासन काल में हुए। पुष्पदंत और स्वयंभू जैसे अपभ्रंश कवि राष्ट्रकूटों की छत्रछाया में काव्य रचना प्रस्तुत कर रहे थे। दसवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी और गुजरात में सोलंकी चालुक्यों का प्रभाव पढ़ने लगा। सोलंकी चालुक्यों ने भी अपभ्रंश काव्य को प्रोत्साहित किया।

इन कारणों से अपभ्रंश साहित्य का निर्माण विस्तृत भूभाग में शुरू हुआ। एक ओर बंगाल में सरह और कण्ह इसी भाषा में दोहों का निर्माण कर रहे थे और मिथिला में ज्योतिरीश्वर और विद्यापति अपनी रचना प्रस्तुत कर रहे थे; दूसरी ओर मुल्तान में अद्दहमाण ने इसी भाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया था। पुष्पदंत और स्वयंभू ने इसी भाषा को काव्य के लिए चुना। पर इन सभी कवियों की भाषा में भेद था। इसका कारण था स्थानीय बोली का प्रभाव। कवि जिस प्रदेश में रचना कर्म कर रहा था, वहीं की स्थानीय बोली का प्रभाव उसकी रचना पर था। इस प्रकार अपभ्रंश के कई रूप स्थान के भेद के कारण सामने आते हैं। स्थान भेद के आधार पर अपभ्रंश को पश्चिमी और पूर्वी, दो भागों में बाँटा जा सकता है। पश्चिमी अपभ्रंश के अंतर्गत जैन कवियों की रचनाएँ और पूर्वी अपभ्रंश के अंतर्गत नाथ-सिद्धों की रचनाओं को रखा जा सकता है।

काल भेद के आधार पर भी अपभ्रंश के दो भेद किए जा सकते हैं—पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश। परवर्ती अपभ्रंश का काल दसवीं शताब्दी के बाद माना जाता है। परवर्ती अपभ्रंश को "अवहट्ठ" या "देश्य भाषा मिश्रित अपभ्रंश, भी [illegible]ते हैं। इसी परवर्ती अपभ्रंश से आधुनिक बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट हुआ। परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं में "संदेशरासक", दामोदर पंडित का "उक्ति व्यक्ति प्रकरण", ज्योतिरीश्वर ठाकुर का "वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की "कीर्तिलता" और "कीर्तिपताका" प्रमुख हैं।

**बोध प्रश्न**

1 निम्नलिखित कथन में से सही और गलत का चुनाव करें। (सही प्रश्न के आगे (✓) का और ग़लत प्रश्न के सामने (✗) का चिह्न लगाएँ:

क) प्रारंभ में अपभ्रंश संज्ञा का प्रयोग 'शब्द' मात्र के लिए होता था। ( )

ख) सुसंस्कृत भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा दी गई। ( )

ग) अपभ्रंश का प्राकृत से निकट का संबंध है। ( )

घ) परवर्ती अपभ्रंश ही अवहट्ठ है। ( )

2 पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में क्या अंतर है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

3 निम्नलिखित कथनों को पूरा करें:
(विकल्प नीचे दिए जा रहे हैं)

अपभ्रंश पर ..... का प्रभाव स्पष्ट था,
जबकि पुरानी हिंदी पर ..... का प्रभाव
था। अपभ्रंश में .....शब्दों की अधिकता
थी, जबकि पुरानी हिंदी में ..... शब्दों
का प्रचलन बढ़ा। ..... और .....
वस्तुतः एक ही भाषा के दो नाम हैं।

(प्राकृत, अवहट्ठ, तत्सम, पुरानी हिंदी, देशी भाषा)

## 3.3 अपभ्रंश साहित्य का अवलोकन

अब तक आप समझ गए होंगे कि आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक जो भाषा साहित्य जगत पर छाई रही, उसे हम अपभ्रंश के रूप में जानते हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुदूर दक्षिण को छोड़कर समस्त भारत में इस काल में अपभ्रंश काव्य की रचना हुई। जिन प्रमुख कवियों ने इस भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की उनमें स्वयंभू और पुष्पदंत प्रमुख हैं। स्वयंभू को अपभ्रंश का पहला कवि माना जाता है। स्वयंभू की "रामायण" और पुष्पदंत का "महापुराण" भारतीय साहित्य के अनुपम ग्रंथ हैं। अन्य कवियों में जोइन्दु, रामसिंह, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान (अद्दहमाण) सरह और कण्ह आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने चरित काव्य, गीति काव्य, विरह काव्य, रहस्य प्रधान कविता तथा कथा काव्य लिखे हैं।

इस भाग में हम अपभ्रश साहित्य का सामान्य परिचय देने जा रहे हैं। हमारा उद्देश्य आपको यह बताना भर है कि हिंदी के साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आने के ठीक पहले किस प्रकार का साहित्य किस प्रकार की भाषा में लिखा जा रहा था। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। जैन कवियों ने पौराणिक कथा प्रबंध, रहस्य और नीतिपरक रचनाएँ की हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य की भाँति ही बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। जैन-बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की एक लौकिक धारा भी है जिसमें शृंगार प्रधान प्रबंध एव मुक्तक, दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। आइए, हम इनका अवलोकन करें।

### 3.3.1 स्वयंभू का काव्य

पौराणिक कथानकों को लेकर जैन कवियों ने अपभ्रंश में काफी मात्रा में प्रबंधात्मक साहित्य लिखा है। इन रचनाओं में धर्म, उपदेश तथा साहित्यिकता, तीनों का मिश्रण मिलता है। इस धारा के प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू हैं। स्वयंभू ने राम और कृष्ण से संबंधित चरित काव्य परम्परा का विस्तार और विकास किया है। उन्होंने राम को लेकर "पउमचरिउ" (पद्मचरितम्) तथा कृष्ण को लेकर "रिट्ठणेमिचरिउ" (अरिष्टनेमिचरित) की रचना की है। स्वयंभू (अनुमानतः आठवीं शताब्दी) अपभ्रंश के पहले प्रमुख कवि हैं।

मूलत: स्वयंभू उत्तर के निवासी थे, परन्तु बाद में वे अपने संरक्षक रयडा धनंजय के साथ दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य में चले गए। स्वयंभू ने चार ग्रंथ लिखे:

1) पउमचरिउ (पद्मचरित अथवा रामचरित)

2) रिट्ठणेमिचरिउ (अरिष्टनेमि चरित या हरिवंश पुराण),

3) णाय कुमार चरिउ (नागकुमार चरित); और

4) स्वयंभू छंद।

पर स्वयंभू की प्रसिद्धि का आधार उनका रामकाव्य अर्थात पउमचरिउ है।

पउमचरिउ पाँच काण्ड और तिरासी संधियों (सर्गों) वाला एक विशाल महाकाव्य है। राम काव्य लिखने से पूर्व स्वयंभू अपना उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैं जनता की भाषा में जनता के लिए काव्य का निर्माण कर रहा हूँ। राम का चरित्रांकन करते समय न तो उन्होंने आदर्श का दामन पकड़ा है और न ही उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का समावेश किया है। उन्होंने अपने मुख्य चरित्र राम को एक साधारण मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आपदाओं के खिलाफ लड़ता है और जिसमें सहज मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। तुलसीदास के राम और स्वयंभू के राम में बड़ा फर्क है। तुलसी के राम भगवान के अवतार हैं, पूज्य हैं, स्वयंभू के राम साधारण मनुष्य हैं, जो सीता को पाने के लिए रोते हैं, रावण जैसे पराक्रमी राजा से संघर्ष कर उसे वापस प्राप्त करते हैं। वही राम सीता की प्राप्ति पर उसे संदेह की नज़र से देखते हैं और उसे अग्नि परीक्षा देने को विवश करते हैं।

पुक्क-विमाणे[1] चडिए अणुराएं[2]
परिमिय[3] विज्जाहर[4]-संघाएं[5]
कोशल ण्यरि[6] पराइय[7] जावहिं
दिणमणि[8] गउ अत्थ[9] वणहोतावहिं
जत्थहो[10] पिययमेण[11] णिटवासिय[12]

इस प्रसंग का बड़ा ही मार्मिक चित्रण स्वयंभू ने किया है, जो उस समाज में नारी और पुरुष की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। ऊपर दिए गए प्रसंग को पढ़ें और समझें–

सीता पुष्पक विमान पर चढ़कर बड़े अनुराग से आ जाती है: विद्वानों का समूह उन्हें घेरे हुए है। सीता को कोशल नगरी पराई लगने लगती है, क्योंकि सूर्य के अस्त होने के बाद भी उन्हें महल में जगह नहीं दी जाती है। पति आराम से महल में निवास कर रहा है और सीता पत्नी होकर भी उपवन में रात गुजारती है। सुबह होने पर राम सीता को देखते हैं।

कंतहि[13] तणिय कंति[14] पक्खाप्पिणु[15]
पभणइ पोम णाहु बिहसेप्पिण[16]
जेइ वि कुलग्गयाउ णिवज्जउ[17]
महिलउ होंति असुद्ध णिलज्जउ

सीता अग्नि परीक्षा के लिए वरासन पर बैठती हैं। इसी समय राम सीता को और सीता राम को देखती है। दोनों की आँखों में मिलन की आकांक्षा है, वैसे ही जैसे समुद्र शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन में चाँद को देखकर विचलित हो जाता है। पर इसी समय राम व्यंग्य से मुस्कुराते हैं और सोचते हैं कि ऐसी पत्नी को कैसे स्वीकार किया जाए जो बारह वर्षों तक

---

1 पुष्पक विमान 2 अनुराग 3 घेरना 4 विद्याधर (विद्वान) 5 समुदाय 6 नगरी 7 पराई 8 दिनमान (सूर्य)
9 अस्त 10 जहा 11 पिया 12 निवास करते हैं 13 काता (पत्नी) 14 कांति (शोभा) 15 देखना 16 विहँसना
17 निर्लज्ज

दूसरे पुरुष के अधीन थी। राम धिक्कारते हुए कहते हैं कि नारी अशुद्ध होती है, निर्लज्ज होती है और मलिनमति होती है। त्रिभुवन में अपने-अपने कुल को मलिन कर अयश फैलाती है।

इस भाग के आरंभ में आपको बताया गया है कि स्वयंभू के राम और सीता साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में आते हैं। स्वयंभू को इनका स्वाभाविक चित्र खींचने में अपूर्व सफलता मिली है। स्वयंभू के रामकाव्य में अनेक मार्मिक प्रसंग हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक भावुक हुए बिना नहीं रह पाता। इसमें आहत लक्ष्मण के लिए राम का विलाप और मृत रावण के लिए विभीषण का विलाप प्रमुख हैं।

"रिट्ठणेमिचरिउ" या हरिवंशपुराण में स्वयंभू ने जैन परम्परा के बाइसवें अवतार तीर्थंकर अरिष्टनेमि, कृष्ण और कौरव-पांडवों की कथा का वर्णन किया है। कथा कहने की शैली तथा कवित्व शक्ति "पउमचरिउ" में मिलती है। इन कृतियों में स्वयंभू संगीत, कला तथा काव्यशास्त्र के गहरे अध्ययन और चिंतन का संकेत देते हैं।

### 3.3.2 पुष्पदंत का काव्य

पुष्पदंत अप्रभंश के दूसरे बड़े कवि हैं। वे ब्राह्मण थे और उनका जन्म बरार में हुआ था। उनका काल 10वीं शताब्दी ई. है। उनका अधिकांश समय राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट में बीता। पुष्पदंत शुरू में शैव थे पर बाद में जैन हो गये।

पुष्पदंत की प्रसिद्धि का आधार उनकी प्रमुख रचना "महापुराण' है। इसमें उन्होंने राम-कथा, कृष्ण-कथा और जैन तीर्थंकरों की जीवन गाथाओं को शामिल किया है। कट्टर जैन धर्मावलंबी होने के कारण उन्होंने स्वभावतः राम और कृष्ण कथा की अपेक्षा ऋषभदेव को अधिक स्थान और महत्व दिया है। पुष्पदंत का काव्य कौशल रामकाव्य में प्रकट नहीं हो सका है। पर कृष्ण की बाललीला का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। पुष्पदंत के कृष्ण काफी नटखट हैं।

एक झांकी देखिए:

धूलि धूसरेण[1] वर-मुक्क[2] सरेण तिणा मुरारिणा[3]
कीला[4] रस वसेण गोवालय-गोवी[5] हियय-हारिणा
रंगतेण[6] रमत रमंते
मंथउ[7] धरिउ भमंत अणंते
मंदीरउ[8] तोडिवि आ-वट्टिउँ
अद्ध-विरोलिउ[9] दहिउँ पलोट्टिउ[10]
कवि गोवि गोविंदहु लग्गी
एक महारी मंथणि भग्गी[11]

धूल से सना वह मुरारी ब्रज की गोपियों के हृदय को हरनेवाला है। वह क्रीड़ा करता है और गोपियाँ उसकी क्रीड़ा देख-देखकर मुग्ध होती हैं। आँगन में बाल-कृष्ण दौड़ा फिर रहा है; कभी मथनी को लेकर दौड़ता है, तो कभी दही की हाँडी तोड़ देता है, कभी आधा बिलोया हुआ दही पलट देता है। गोपियाँ कृष्ण की इस क्रीड़ा से नाराज नहीं होती, बल्कि उन्हें सुख मिलता है।

इस भाग के आरंभ में आपने पढ़ा है कि पुष्पदंत ने राम काव्य और कृष्ण काव्य की अपेक्षा तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा को अधिक महत्व दिया। आदिपुराण में ऋषभदेव के जन्म से लेकर महानिर्वाण तक की कथा वर्णित है। इसके अतिरिक्त ऋषभदेव के दो पुत्रों भरत और बाहुबलि की कथा का भी समावेश किया गया है।

स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। इन्होंने अपभ्रंश की भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में "इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश-साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत



1 धूल से सने हुए 2 मुक्त 3 कृष्ण 4 क्रीड़ा 5 गोपी 6 आँगन 7 मथनी 8 मथानी 9 आधा बिलोया हुआ 10 पलटना 11 तोडना

में बंकिम भंगिमा है; स्वयंभू की भाषा में प्रच्छन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झांकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण।''*

### 3.3.3 जैन कवियों के चरित काव्य और कथा काव्य

जैन कवियों ने पौराणिक पात्रों और लोकप्रिय व्यक्तियों को केंद्र में रखकर अनेक काव्य लिखे हैं। इसमें हरिभद्र सूरि (1159 ई.) का ''नेमिनाथ चरित'', विनयचन्द्र सूरि (1200 ई.) का ''नेमिनाथ चउपइ'' पुष्पदंत का ''नागकुमार चरित्र'' अथवा ''णायकुमार चरिउ'' और ''जसहर चरिउ'' प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में ऐसे चरित काव्य भी लिखे गये, जिसका मुख्य पात्र या तो कवि की कल्पना की उपज होता था या फिर चरित्र लोक कथाओं से लिया गया होता था। इस प्रकार के काव्य को ''कथाकाव्य'' कहने का भी प्रचलन था। इस दृष्टि से धनपाल (10वीं शताब्दी ई.) रचित 'भविस्सत कहा'' अथवा ''भविष्यदत्त कथा''उल्लेखनीय है।

''भविस्सत कहा'' लोकप्रचलित प्रेमकथा पर आधारित है, जिसमें वणिकपुत्र भविष्यदत्त की करुण गाथा है। वह अपने सौतेले भाई द्वारा बार-बार छला जाता है और अत में जैन धर्म को स्वीकार कर सुखी जीवन व्यतीत करता है।

इस काव्य में कई ऐसे मार्मिक स्थल है, जहाँ धनपाल की काव्य-प्रतिभा अपनी पूर्ण गरिमा के साथ सामने आती है। भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर जब उसका सौतेला भाई बंधुदत्त भाग जाता है, तो दुखी भविष्यदत्त अकेला पड़ा-पड़ा सोचता है–

*गयं णिफफलं[1] ताम सव्वं वणिज्जं[2]।*
*हुवं अम्ह गोतम्मि लज्जा-वणिज्जं।।*
*ण जत्ता[3] ण वित्त[4] मित्रं[5] ण गेहं[6]।*
*ण धम्मं ण कम्मं, ण जीयं, ण देहं।*
*ण पुतं कलतं ण इट्ठं ण दिट्ठे[7]।*
*गयं गयउरे दूर-देसे पइट्ठं।।*

व्यापार के उद्देश्य से घर से निकला था, पर सब निष्फल रहा। मैं व्यापार में तो असफल रहा ही; न यश मिला न धन की प्राप्ति हुई, न मित्र बनाया न ही कोई घर बनाया। न धर्म की प्राप्ति की, न कोई कर्म किया। शरीर और प्राण भी आहत हो चुके हैं। न पुत्र की प्राप्ति हुई। मैं न यहाँ का रह गया न वहाँ का रह गया। और तो और अपने घर से इतनी दूर आ गया हूँ जहाँ कोई रहता भी नहीं है।

कहना न होगा कि अपभ्रंश चरित काव्यधारा लम्बे समय तक गतिशील रही है। अपभ्रंश चरित काव्य की परम्परा को आधुनिक बोलियों के साहित्य ने पीछे धकेल कर ठप्प कर दिया लेकिन इस परम्परा के काव्यरूप, कथानक रूढ़ियाँ, छन्द-शैली आदि हिंदी साहित्य में गहरे प्रभाव के साथ प्रकट होते रहे हैं।

### 3.3.4 जैन कवियों का रहस्यवादी काव्य

जैन कवियों ने प्रबंधकाव्य तो लिखे ही साथ ही साथ उन्होंने दोहों के माध्यम से मुक्तक काव्य की रचना भी की। इस प्रकार के काव्य में रहस्यवादी साधना का स्वर सुनाई पड़ता है। पर इन कवियों का स्वर साम्प्रदायिक नहीं है। इन्होंने अपनी कविता के माध्यम से जैन और ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध किया है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से ये दोहे निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आते हैं।

अपभ्रंश में निर्गुण काव्य लिखने वाले कवियों में जोइन्दु (10वीं शताब्दी ईस्वी-परमात्मा प्रकाश और योगसार) और रामसिंह (1100 ई. के आसपास, पाहुड़दोहा) प्रमुख हैं।

* हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृ. 206

(1 निष्फल 2 व्यापार 3 यश 4 धन 5 मित्र 6 घर 7 न यहाँ के रहे न वहाँ के रहे

"पाहुड़दोहा" "परमात्मा प्रकाश" और "योगसार", से श्रेष्ठ रचना है। इसमें लोकजीवन की घटनाओं के माध्यम से तत्व ज्ञान की बात आसानी से रख दी गयी है। "पाहुड़दोहा" का शाब्दिक अर्थ है "दोहों का उपहार"। पाहुड़ का संस्कृत रूपांतर 'प्रभृत' है, जिसका अर्थ होता है उपहार।

"पाहुड़दोहा" में रामसिंह ने पुराण-पंथी रूढ़िवादी प्रवृत्ति का बिरोध किया है। उन्होंने उस "षड्दर्शन" का विरोध किया है, जो एक ही ईश्वर के छह भेद कर देता है:

छह-दसंण[1] धधइ पडिय, मणहँ[2] ण फिट्टिव भँति[3]।
एक्कु देउ[4] छह भेउ[5] किउ, तेणँ ण मोक्खहं[6] जांति।।

षट् दर्शन के धंधे में पड़कर मन की भ्रांति नहीं टूटी। एक देव के छह भेद किए, इसी कारण मोक्ष नहीं मिला।

यह शास्त्र विरोध वस्तुतः पुरोहितों और पंडितों पर सीधा प्रहार था। इन्होंने कोरे अक्षर ज्ञान का भी विरोध किया:

बहुयइँ[7] पढियइँ मूढ़, पर तालू सुक्कई[8] जेंण।
एक्कुजि[9] अक्खरू[10] तं पढ़ुहु, सिवपुरी गम्मई[11] जेण।।

मूर्ख, तूने बहुत पढ़ाई कर ली है, इसी से तुम्हारा तालु सूखता है। एक ही अक्षर पढ़ो जिससे शिवपुरी पहुँचा जा सकता है। तात्पर्य यह कि शास्त्रज्ञान से अनुभव ज्ञान बड़ा है।

रामसिंह अपने "पाहुड़दोहा" में धार्मिक बह्याडम्बरों का विरोध करते हुए लिखते हैं कि जो इनमें फँस गया वह मूल तक कभी नहीं पहुँच सकता है। मनुष्य पवित्र रहकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि को पकड़ना तो उसी प्रकार है, जैसे जड़ को छोड़कर डाल का पकड़ा जाए। इसी उद्देश्य से यह दोहा रामसिंह ने रचा है:

मूलु छंडि[12] जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभायसि[13]।
चीरूणु[14] वुणणहँ[15] जाइ बढ़, विणु उट्टिटई कपासि।।

जड़ को छोड़कर जो डाल पर जा बैठता है, उसके लिए योगभ्यास कहाँ? क्या रूई को ओटे बिना कपड़ा बुना जा सकता है? इस दोहे में रामसिंह ने स्पष्ट शब्दों में उन रूढ़ियों और आचरणों पर प्रहार किया है, जो वास्तविक ज्ञान तक लोगों को नहीं पहुँचने देते। अनुभव से प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जीवन से ही मनुष्य असली ज्ञान प्राप्त करता है। यह अनुभव शरीर के माध्यम से ही प्राप्त होता है। इसी कारण जैन मुनियों ने शरीर को मन्दिर भी कहा है। इस शरीर में ही परमात्मा का निवास होता है।

### 3.3.5 बौद्ध सिद्ध काव्य

जैन कवियों के समानान्तर पूर्वी प्रदेशों में सिद्ध कवि भी साहित्यिक अपभ्रंश में कविता लिख रहे थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मगध में रहने के कारण उनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग देखने को मिलता है। इसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश" अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा मानते हैं।

सिद्धों की संख्या 84 थी। पर इनमें सरहपा अथवा "सरोरूह बज्र"। (8वीं शताब्दी ई.) और कण्हपा या कृष्ण पाद आचार्य (10वीं शताब्दी ई.) उल्लेखनीय हैं।

इन सिद्ध कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सकारात्मक था। जैन कवियों के समान इन सिद्ध कवियों ने बाह्य आडम्बरों का विरोध किया और अन्तस्साधना पर बल दिया। अतंस्साधना पर जोर देते हुए और पंडितों का फटकारते हुए सरहपा लिखते हैं:

पंडिअ[16] सअल[17] सत्त[18] बक्खाणइ। देहहि बुद्ध[19] बसंत न जाणइ।
अमणागमण[20] ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडि.ा।।

1 दर्शन 2 मन 3 भ्रांति 4 देव 5 भेद 6 मोक्ष 7 बहुत 8 सूखना 9 एक ही 10 अक्षर 11 पहुँचना 12 छोड़कर 13 योगभ्यास 14 कपड़ा 15 बुनना 16 पंडित 17 सारे 18 सत्य 19 बुद्धि 20 आवागमन

पंडित लोग हमेशा सत्य ही बोलते हैं, जबकि उन्हें शरीर और बुद्धि का महत्व नहीं मालूम। वे आवागमन को तो समाप्त नहीं कर सकें, तो भी ये निर्लज्ज अपने को पंडित कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण अपने को विद्वान मानते हैं, पर इतना भी नहीं जानते कि अन्तस्साधना से परम सुख प्राप्त किया जा सकता है। वे जीवन में व्याप्त सुख-दुःख में ही फँसे हैं और फिर भी अपने को ज्ञानी मानते हैं।

सरहपाद के इस दोहे को देखने पर मालूम होता है कि इसकी वाणी जैन कवियों की वाणी से अधिक कठोर है। लेकिन इसका दृष्टिकोण नकारात्मक न होकर सकारात्मक है। सरहपा ने कुछ "रहस्यात्मक" शब्दों का इस्तेमाल बार-बार किया है, पर इनकी भाषा स्पष्ट है। सरहपा बड़ साधारण लहजे में कहते हैं:

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढं, चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

अर्थात् जहाँ मन और पवन भी नहीं पहुँच सकते, जहाँ सूर्य और चन्द्रमा का प्रवेश नहीं है, वहीं अपने मन को ले जाओ; सरह ने सही उपदेश दिया है।

सिद्ध परंपरा में गुरु-शिष्य संबंध को बहुत महत्व दिया जाता है। लेकिन सरहपा का कहना है कि शिष्य और गुरु दोनों को ही ज्ञानी होना चाहिए अगर एक अंधा कुँए में गिरा हो तो दोनों कुँए में गिर पड़ेंगे:

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ।
अन्धाँ अन्ध कढव तिम, वेणण वि कूप पडेइ।।

जब तक आप ठीक से न जान लें, तब तक किसी को शिष्य न बनाएँ। अंधा अगर दूसरे अन्धे को कुँए से निकालने का प्रयत्न करेगा, तो दोनों कुँए में गिर पड़ेंगे।

सिद्ध कवियों ने शास्त्र ज्ञान को उस सीमा तक ही महत्वपूर्ण माना है, जिससे शास्त्र का खंडन किया जा सके:

अक्खर बाढ़ा सअल जगु, णाहि निरक्खर कोइ।
ताव से अक्खर घोलिया, जाव निरक्खर होइ।।

सकल जग अक्षर (शास्त्र ज्ञान) से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए उतना ही अक्षर घोलो (उतना ही शास्त्र प्राप्त करो) जिससे निरक्षता प्राप्त हो (शास्त्र ज्ञान का खंडन किया जा सके)।

सरहपा की तरह कण्हपा भी वेद और पुराण के ज्ञान की आलोचना करते हैं

आगम-वेअ-पुणेहि, पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क-सिरीफले सलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति।।

आगम, वेद, पुराण को ही सब कुछ मानकर विद्वद्जन उन्हें ढोते फिरते हैं. उसी प्रकार जिस प्रकार श्री फल के बाहर ही भौंरे घूमते रहते हैं।

जाति-पाँति का खंडन, झूठे शास्त्र ज्ञान की निन्दा, सद्गुरु की महिमा का बखान इनके काव्य की विशेष प्रवृत्ति रही है। नाथ-पंथ के जोगियों ने नागर अपभ्रंश या ब्रज का ढाँचा लिया। इसमें खड़ी बोली और राजस्थानी मिश्रित भाषा की झलक मिलती है।

## 3.3.6 वीर और शृंगार काव्य

अब तक आपने अपभ्रंश काव्य के जिस हिस्से का परिचय प्राप्त किया, उस काव्य का केन्द्रीय विषय पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्र, घटना और धर्म आदि था। अब जिस काव्य का परिचय आप प्राप्त करने जा रहे हैं, उनमें वीर रस और शृंगार रस की कविताओं का वर्चस्व है। इस सिलसिले में हम दो ग्रंथों की चर्चा करेंगे। हेमचन्द्र का "प्राकृत व्याकरण" और अद्दहमाण का "सन्देश रासक"। सबसे पहले आइए, हम हेमचन्द्र रचित "प्राकृत-व्याकरण" में संकलित दोहों का मूल्यांकन करें।

### हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के दोहे

हेमचन्द्र ने 10 शताब्दी में "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानशासन" नामक एक व्याकरण ग्रंथ

लिखा। इसमें उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। किन्तु विशेष बात यह है कि अपभ्रंश का उदाहरण देते समय उन्होंने पूरा का पूरा दोहा उद्धृत किया है। उन्होंने अपभ्रंश के जिन दोहों को उद्धृत किया है उनके रचयिताओं के बारे में ठीक से कुछ मालूम नहीं हो सका है। विद्वानों का अनुमान है कि ये रचनाएँ हेमचन्द्र के व्याकरण से पहले की हैं।

हेमचन्द्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश दोहे संकलित हैं, उनमें अपभ्रंश के शृंगार और वीर काव्य का परिचय मिलता है। नायिका कभी यह नहीं चाहती कि उनका पति लड़ाई के मैदान से जान बचाकर भाग आए और उसे सखियों के सामने लज्जित होना पड़े। वह तो यह चाहती है कि इससे तो अच्छा है कि उनका पति युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो, ताकि वह समाज में गर्व से जी सके:

भल्ला हुआ जू मारिया बहिणि म्हारा कंतु[1]।
लज्जेजं तु वयंसिअहु[2] जइ भग्ग घरू एंतु[3]।।

अर्थात् भला हुआ जो मेरा पति युद्ध में मारा गया, हे बहिन! यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं के सम्मुख लज्जित होती।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश के उदाहरण इस प्रकार की लोक-भावनाओं से भरे पड़े हैं। नायिका वीर पति की कामना करती हैं; ऐसे वीर पति की, जो मतवालें हाथी से जूझने में भी न हिचके। देखिए एक दोहा:

आयहिं जम्महिं[4] उन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कंतु।
गय मत्तहँ चंतकुसंह[5] जो अब्भिडई[6] हसंतु।

नायिका पार्वती से प्रार्थना कर रही है कि हे गोरी, इस जन्म में और दूसरे जन्म में भी ऐसा पति दीजिए, जो मतवाले, निरंकुश हाथियों से हँसता हुआ जा भिड़े।

जिस समय अपभ्रंश काव्य लिखा जा रहा था, उस समय भारतीय रजवाड़े सामंतवाद की विकृतियों से ग्रस्त थे तथा देश बाहरी आक्रमणों को झेल रहा था। स्थिति में इतनी गिरावट आ गयी थी कि नायिका अपने प्रिय से कहती है कि उस देश में चलें जहाँ तलवार का व्यवसाय मिले, अगर हम यहाँ रहें तो हमारे अंग शिथिल पड़ जाएँगे, हम अस्वस्थ हो जाएँगे।

खग्ग[7]-बिसहिउ[8] जहिं लहहुँ पिय तहिंदेसहिं जाहुँ।
रण दुब्भिक्खें[9] भग्गाइं विणु जुज्झें न बलाहुँ।।

अर्थात् हे प्रिय, जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिलो उसी देश में चलें; रण-दुर्भिक्ष में हम भग्न (क्षीण) हो गये हैं। बिना युद्ध के नहीं सँभलेंगे (स्वस्थ होंगे)।

नायिकाएँ वीर पति की कामना करती हैं। युद्ध से उन्हें प्रेम है, पर प्रिय का वियोग उन्हें भी सताता है और वे प्रिय को आता देखकर खुशी से इतनी मोटी हो जाती हैं कि उनकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं। देखिए, ऐसी ही नायिका का एक चित्र:

वायसु[10] उडावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वल्ला[11] महिहि[12] गये अद्धा फुट तडत्ति।

नायिका कौआ उड़ा रही है, तभी प्रिय दीख पड़ता है। उसकी आधी चूड़ी तो ज़मीन पर गिर जाती है और आधी फूट जाती है।

प्रेमिका सोचती है कि जब प्रिय मुझसे मिलेंगे तब मैं उसमें उसी तरह समा जाउँगी, जिस तरह नये पुरवे (मिट्टी का बना पानी पीने का पात्र) में जल समा जाता है। इसमें प्रेमिका के पूर्ण आत्मसमर्पण की झलक मिलती है। आइए आप भी इसकी एक बानगी देखिए:

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिअ[13] कुड्डु[14] करीसु।
पाणिउ नवइ सराबि[15] जिवं सब्बंगें पइसीसु।।



1 पति 2 समवयस्क, सहेली 3 आता 4 जन्म में 5 व्यातांकुश (निरंकुश) 6 भिडना 7 खड्ग (तलवार) 8 व्यवसाय 9 दुर्भिक्ष (अकाल) 10 कौआ 11 चूड़ी 12 जमीन पर 13 अकृत (अपूर्व) 14 कौतुक 15 शराब का पुरवा

नायिका सोचती है कि यदि किसी प्रकार प्रिय को पा लूँगी तो अकृत (अपूर्व) कौतुक करूँगी। जिस प्रकार पानी नये पुरवा में समा जाता है, उसी प्रकार मैं भी प्रिय में सर्वांग प्रवेश कर जाऊँगी।

लेकिन जब प्रिय नहीं आता, तो प्रेमिका निराश हो जाती है और अपनी तुलना उस पपीहे से करती है, जो जल के वियोग में पी-पी की रट लगाता रहता है:

बप्पीहा[1] पिउ पिउ भणवि[2] कित्तउ रूअहि हयास[3]।
तुह जलि महु पुणु बल्लहइ[4] बिहुँ विन पूरिअ आस।।

हे पपीहा, पी-पी बोलकर हताश होकर कितना रोएगा। तेरी और मेरी स्थिति एक जैसी ही है। तू जल की रट लगा रहा है और मैं अपने प्रिय की रट लगा रही हूँ। पर हम दोनों में किसी की भी आशा पूरी नहीं होगी।

प्रिय बड़ा धोखेबाज है। वह कहकर गया कि मैं थोड़े दिनों में वापस आ जाऊँगा, पर वह अब तक आया नहीं। दिन गिनते-गिनते प्रेमिका की अंगुलियाँ घिस गयी हैं:

जे महु दिण्णा दिअहडा[5] दइएँ पवसन्तेण[6]।
ताण गणन्तिए[7] अंगुलिउ जज्जरिआउ[8] नहेण[9]।।

मुझे छोड़कर जाते समय प्रिय ने लौटने का जो दिन बताया था, उस दिन नहीं लौटा। उसके बाद दिन गिनते-गिनते नख से मेरी अंगुलियाँ जर्जरित हो गयी है।

ऊपर जिन दोहों को आपने पढ़ा, उनसे आप यह समझ गये होंगे कि अपभ्रंश भाषा में किस प्रकार का वीर काव्य और शृंगार काव्य लिखा जा रहा था। इसमें ऐसी नायिकाओं का वर्णन है, जो युद्ध में अपने प्रिय के वीरगति प्राप्त करने पर आँसू नहीं बहातीं, बल्कि इसे अपना सौभाग्य मानती हैं। उनका मन उस देश में नहीं रमता, जहाँ का वातावरण युद्ध विहीन हो। दूसरी तरफ ये प्रेमिकाएँ अपने प्रिय के वियोग में दुबली भी होती हैं, प्रिय के आने पर खुशी उन्हें भी होती है और उनमें सर्वांग समा जाने की बात करती हैं, पर प्रिय के न आने पर अपनी तुलना उस पपीहे से करती हैं, जो पी-पी की रट लगाता हुआ अन्ततः प्यासा ही रहता है। प्रिय के आने का दिन बीत जाता है, वह नहीं आता। प्रेमिका की अँगुलियाँ दिन गिनते-गिनते जर्जरित हो जाती हैं।

अभी आपने हेमचंद्र के "प्राकृत व्याकरण" में आए दोहों को पढ़ा और उनका अर्थ समझा। आइए, अब "संदेश रासक" को पढ़ें और समझने की कोशिश करें।

**संदेश रासक**

संदेश रासक एक संदेश काव्य है जिसके रचयिता अब्दुररहमान या अद्दहमाण (12वीं शताब्दी ईसवीं) हैं। इसमें विजय नगर की विरहिणी नायिका एक पथिक से पति को संदेश भेजती है। इसमें दो सौ तेईस छंद हैं। हालांकि कवि ने इसमें एक कथा कही है, पर इसका प्रत्येक छंद अपने आप में स्वतंत्र है। कवि का उद्देश्य कथा कहना नहीं है, उसका एक ही उद्देश्य है—नायिका का विरह वर्णन। नायिका एक पथिक को रोक कर अपने हृदय की व्यथा सुनाती है।

विरह परिग्गह[10] छावडइ[11] पहराविउ[12] निरवक्खि[13]।
तुट्टी देह ण हउ[14] हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि।।

विरह के परिग्रह (सैन्य ब आदि) ने छावड़ी (शरीर) पर निरपेक्ष भाव से (अनदेखे ही) प्रहार कर दिया, जिससे देह तो टूट गयी परंतु तुमसे सम्मानित (युक्त) देखकर हृदय घायल नहीं हुआ। तात्पर्य यह कि विरह के कारण नायिका का शरीर बहुत कमजोर हो गया है, पर प्रिय के प्रति उसका प्रेम इतना गहरा है कि उसके हृदय पर इस विरह का आक्रमण नहीं हो पाता है।

नायिका पथिक से कहती है कि मैं अपनी व्यथा सविस्तार नहीं सुना सकती। क्योंकि मैं

---

1 पपीहा 2 रटना 3 हताश 4 बल्लभ, पति, प्रिय 5 दिन 6 प्रवास करते समय 7 गिनती गिनते 8 जर्जरित 9 नख
10 परिग्रह 11 छाबड़ी (बेंत की बनी टोकरी: शरीर के लिए प्रयुक्त) 12 पहरा 13 निरपेक्ष
14 हत (घायल)

बहुत कमजोर हो गयी हूँ:

संदेसडउ[1] सवित्थरउ[2] पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि[3] मूँदडउ[4] तो बाहडी[5] समाइ।।

संदेशा विस्तार में है, अर्थात् मुझे प्रिय के पास अपनी व्यथा का पूरा ब्यौरा भेजना है, पर मुझमें इतनी ताकत नहीं कि विस्तार से पूरा वर्णन कर सकूँ। बस यही समझो कि जो कनगुरिया की अंगूठी थी, वह अब मेरी बांह में समा जाती है।

इस प्रकार पूरा संदेशरासक विरह-वर्णन से भरा पड़ा है। इसमें ऋतुओं का वर्णन विस्तार से हुआ है। इस कवि के सामने वस्तुओं के नाम गिनाने की कवि-परिपाटी थी। फलतः कवि ने वनस्पतियों की नामावली दी है। दीपावली, होली आदि उत्सवों का तन्मयता से वर्णन किया है। कृति में अनेक छन्दों का प्रयोग है पर सर्वाधिक रासक छंद का प्रयोग मिलता है। इसे पढ़ते समय कालिदास के "मेघदूत" का विरह वर्णन याद आ जाता है। हिंदी में भी इसी प्रकार का एक ग्रंथ लिखा गया है "बीसलदेव रासो", जिसकी चर्चा अगली इकाई में की जाएगी।

**बोध प्रश्न**

4 अपभ्रंश के सर्वप्रथम दो जैन कवियों का नामोल्लेख करें।

क) .....

ख) .....

5 नीचे दी गई तालिका में रचना और रचनाकार का सही मिलान कीजिए:

| | रचना | रचनाकार |
|---|---|---|
| क) | स्वयंभू | नेमिनाथ चरिउ |
| ख | पुष्पदंत | पाहुड़दोहा |
| ग) | हरिभद्र सूरि | भविस्सत कहा |
| घ) | धनपाल | णाय कुमार चरिउ |
| ङ) | रामसिंह | पडम चरिउ |

6 रिक्त स्थान की पूर्ति करें:

सिद्धों की संख्या ..... (84/88) थी।

इनमें ..... और .....

(रामसिंह और अद्दहमाण/सरहपा और कण्हपा) प्रमुख थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में ..... (जाति-पाति का समर्थन/खंडन) और ..... (सद्गुरु की महिमा/राजा की महिमा) का बखान किया है।

7 अपभ्रंश के दो श्रृंगारिक ग्रन्थों का उल्लेख करें। इनमें से कौन सा ग्रन्थ मेघदूत और बीसलदेव रासो के बीच की कड़ी है? (तीन पंक्तियों में उत्तर दें)

.....

.....

.....

## 3.4 अपभ्रंश और हिंदी साहित्य का संबंध

पिछले भाग में आपने अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त किया और उसकी विशेष प्रवृत्तियों



1 संदेश 2 सविस्तार 3 कनगरिया (कानी अंगुली) 4 मुंदरी (अंगूठी) 5 बांह में।

से अवगत हुए। अपभ्रंश काव्य का अध्ययन करते समय आपने पाया कि जिन विषयों को कवि ने अपनी कविता का माध्यम बनाया है उनमें पौराणिक कथाएँ (राम काव्य, कृष्ण काव्य, तीर्थकरों के जीवन पर आधारित काव्य), धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध, ऐतिहासिक या लोक नायक का चरित्र (चरित काव्य), शौर्य और शृंगार प्रमुख हैं। इस परम्परा को हिंदी काव्य परम्परा ने और आगे बढ़ाया। हिंदी में वीर गाथात्मक काव्य लिखे गए, जिनमें अप्रभंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार सिद्ध-नाथ कवियों की वाणी संत काव्य की पूर्वपीठिका मालूम पड़ती है। हिन्दी का काव्य "बीसलदेव रासो" और "ढोला मारू-रा-दूहा" "संदेश रासक" की परम्परा में ही आते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाव्य में जिन चमत्कार की प्रवृत्ति की तरफ विद्वानों ने इशारा किया है, वह प्रवृत्ति अपभ्रंश के शृंगारिक दोहों में मौजूद है।

### 3.4.1 अपभ्रंश और हिंदी का चरित काव्य

अपभ्रंश में चरित काव्यों की रचना हुई है। इन चरित काव्यों में पुष्पदंत का **णायकुमार चरित और जसहर चरिउ** प्रमुख हैं। इनमें प्रमुख पात्रों की वीरता और शौर्य का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है लेकिन इन पात्रों को ऐतिहासिक नहीं मान सकते, क्योंकि इतिहास में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है। ये मुख्यतः काल्पनिक पात्र हैं।

दूसरी तरफ, हिन्दी में भी चरित काव्य लिखे गये हैं, जो रासो-काव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, खुम्मान रासो; आदि। इनमें राजाओं के धन-वैभव, शौर्य, विवाह-शादी आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। पर अपभ्रंश में लिखे चरित काव्य और हिंदी में लिखे चरित काव्य में एक अन्तर यह है कि अपभ्रंश में जहाँ पौराणिक और अनैतिहासिक पात्रों की कीर्तिगाथा गायी गयी है, वहीं हिंदी में ऐतिहासिक पात्रों को केन्द्र में रखा गया है। लेकिन यह भी सच है कि हिन्दी के कवियों ने भी ऐतिहासिकता का ध्यान नहीं रखा है और अपनी कल्पना शक्ति का ज्यादा इस्तेमाल किया है। अपभ्रंश के चरित काव्य में भी कवि की कल्पना शक्ति ही प्रमुख है।

### 3.4.2 अपभ्रंश और हिन्दी का भक्ति काव्य

अपभ्रंश में एक तरफ जैन कवियों ने राम और कृष्ण काव्य लिखे तो दूसरी ओर सिद्ध-नाथ कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए **अंतस्साधना** पर जोर दिया है। जहाँ तक अपभ्रंश में लिखे राम काव्य और कृष्ण काव्य का सवाल है, उसके बारे में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के राम काव्य और कृष्ण काव्य पर उसका प्रभाव कम पड़ा। भक्तिकाल की मूल चेतना "भक्ति" थी, जिससे इस युग का राम काव्य और कृष्ण काव्य ओत-प्रोत है। राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार हैं। जैन काव्य में राम और कृष्ण साधारण पौराणिक पात्र के रूप में सामने आते हैं, इस काव्य में "भक्ति" नहीं है, राम और कृष्ण अवतार नहीं है।

पर कबीर आदि निर्गुण कवियों के काव्य सिद्ध-नाथ काव्य से प्रभावित है। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत द्रष्टव्य है: "यदि कबीर निर्गुण मतवादी सन्तों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा सम्बन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की थीं जो उक्त मत मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के प्रति भक्ति का उपदेश देते थे।

सरहपा का एक पद आपने पिछले भाग में पढ़ा है। वह इस प्रकार है:

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णांह पवेस।
तहि बढ! चित्त विसाम करू, सरहें कहिउ उएस।।

कबीर ने भी इसी प्रकार की एक साखी लिखी है:

जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़े नहि जाय।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ।।

यह सही है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से पद थोड़े फेर बदल के साथ स्वीकार कर लिए हैं, पर इसका मतलब यह नहीं है कि कबीर आदि साधकों ने नाथपंथियों की नकल की है। इनके काव्य में भक्ति का रस मिला हुआ है, जो सिद्ध-नाथ कवियों में उपस्थित नहीं है।

### 3.4.3 अपभ्रंश और हिन्दी का शृंगार काव्य

अपभ्रंश काव्य का परिचय प्राप्त करने के क्रम में हमने हेमचंद्र के व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश के कुछ दोहे पढ़े, साथ ही साथ हमने "संदेश रासक" का भी परिचय प्राप्त किया है। "संदेश रासक" के ढर्रे पर हिन्दी में भी दो विरह काव्य मिलते हैं। ये हैं: बीसलदेव रासो (14वीं शताब्दी ईसवी) और "ढोला-मारू-रा-दूहा" (15वीं शताब्दी ईसवी)।

"संदेश रासक" की तरह "बीसलदेव रासो" भी मूलत: विरह काव्य है और दोनों की मुख्य भावधारा एक है, लेकिन "बीसलदेव रासो" पर "संदेश रासक" की अपेक्षा लोक-जीवन का प्रभाव अधिक है। इसके छंद लोकगीत से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार से "बीसल देव रासो" शिल्प की दृष्टि से "संदेश रासक" का अनुकरण नहीं करता। "ढोला-मारू-रा दूहा" भी एक विरहगीत है। अन्तर केवल यह है कि इसे कथा-काव्य (जिसमें कथा की प्रधानता होती है) के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। ढोला-मारू-रा-दूहा- "संदेश रासक" और "बीसलदेव रासो" से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इसमें संदेश भेजने के लिए क्रौंच पक्षी को चुना गया है। "संदेश रासक" में नायिका एक पथिक को रोककर अपनी विरह व्यथा सुनाती है, और "बीसलदेव रासो" में राज्य के पंडित को संदेश वाहक बनाया गया है।
'ढोला-मारू-रा-दूहा' इस दृष्टि से थोड़ा भिन्न है। शैली की दृष्टि से 'ढोला-मारू रा-दूहा' लोक-गीत के निकट है।

"संदेश रासक" मुल्तान में लिखा गया, "बीसलदेव रासो" और 'ढोला-मारू-रा-दूहा' की रचना मारवाड़ प्रदेश में हुई। यह काव्य पश्चिमी भारत के लोक जीवन के प्रमाण हैं।

हेमचंद्र द्वारा उद्धृत दोहों में शृंगार काव्य के कुछ ऐसे नमूने मिल जाते हैं, जिनमें चमत्कार की प्रधानता है। चमत्कार की यह प्रवृत्ति रीति काल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची है। प्रिय के वियोग में नायिका इतनी दुबली हो गई है कि उसकी चूड़ी जमीन पर गिर जाती है और प्रिय को देखते ही वह इतनी मोटी हो जाती है कि उसकी चूड़ियाँ टूट जाती हैं।काव्य में इस प्रकार के चमत्कार का समावेश रीतिकाव्य की पंक्तियों की याद दिलाता है।

## 3.5 अभिव्यंजना शिल्प

अब आप समझ गये होंगे कि अपभ्रंश में लिखा जाने वाला काव्य हिन्दी में लिखे जाने वाले काव्य की पूर्व पीठिका है। हिन्दी भाषा को अपनाते हुए अपनी प्रकृति के अनुसार विकास किया गया है। यहाँ भाषागत गहराइयों में जाने का न तो अवसर है और न ही उसकी जरूरत। हम यहाँ केवल इतना जान लें कि दोनों भाषाओं में बहुत सी समानताओं-असमानताओं के बावजूद इन भाषाओं में लिखे गये साहित्य में काफी समानता है। इसकी चर्चा हम पिछले भागों में कर चुके हैं। लेकिन हिन्दी ने अपभ्रंश के जिस गुण का सबसे ज्यादा निर्वाह किया है वह है काव्य पद्धति या काव्य शिल्प। काव्य शिल्प कविता रचने की पद्धति को कहते हैं। काव्य शिल्प के अन्तर्गत हम उन छंदों और कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे, जिनका प्रयोग अपभ्रंशों के साथ-साथ हिंदी में भी हुआ है।

सबसे पहले हम छंद को लेते हैं। अपभ्रंश में सबसे ज्यादा जिस छंद का प्रयोग हुआ है वह है दोहा। इसके अतिरिक्त चौपाई का उपयोग भी अपभ्रंश के कवियों ने किया है। इसके

साथ ही साथ "काव्य" अथवा "रोला" "छप्पय" आदि छंदों का प्रयोग भी अपभ्रंश की कविता में हुआ है। इनमें से अधिकांश छंदों का प्रयोग हिंदी में हुआ है। जायसी के "पद्मावत" और तुलसीदास के "राम चरित मानस" में चौपाई और दोहे का प्रयोग अपभ्रंश के छंदों की स्मृति को ताजा कर देता है।

हिन्दी के समृद्ध गेय काव्य की जड़ें अपभ्रंश काव्य में निहित हैं। इस क्षेत्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जगनिक द्वारा रचित "परमाल रासो" या आल्हखण्ड है।

रास, फाग, चाँचर आदि अपभ्रंश भाषा के प्रमुख गेय काव्य हैं। "रास काव्य" गेय काव्य था जिसमें रासा या रास छंद प्रयुक्त होता था, पर एकरसता भंग करने के लिये बीच-बीच में दूसरे छंद भी दिये जाते थे। पर आगे चलकर "रास काव्य" उस काव्य रूप का नाम हो गया जिसमें गेय छंदों की प्रधानता हो। हिंदी का "बीसलदेव रासो" ऐसा ही "रासो काव्य है। यह काव्य रूप मूलत: कोमल भावों (प्रेम प्रसंग, शृंगार वर्णन आदि) का वाहक था, किन्तु वीर गाथाओं के लिए भी उस काव्य रूप का उपयोग होने लगा, जैसे "पृथ्वीराज रासो"।

"फाग" एक लोकगीत है जिसे बसंत में गाया जाता है। जैन कवियों के लिये फागों में धार्मिक विचारधारा साफ झलकती थी। जिनपद्म सूरि का लिखा एक फाग **थूलिभद्द** उपलब्ध है। हिन्दी में कबीरदास के नाम से कुछ "फाग" मिलते हैं। फाग गाने की यह परंपरा आज तक गाँवों में जीवित है। होली के अवसर पर गाँव के लोग अब भी "फाग" गाते हैं।

हिन्दी में गेय पद्यों की लम्बी परंपरा है। सूरदास का सम्पूर्ण "सूर सागर", तुलसी की "गीतावली" तथा "विनय पत्रिका" गेय पदों में ही रचित है संभवत: इस गेय परंपरा पर अपभ्रंश का प्रभाव है। अपभ्रंश में भी गेय पदों में कविता लिखी जाती थी। सिद्धों के "चर्यापद" वस्तुत: गेय पद ही हैं।

**कथानक रूढ़ियाँ**

अभी हमने उन छंदों और काव्य पद्धतियों की बात की, जो अपभ्रंश में भी मिलते हैं और हिंदी में भी। अब हम कुछ ऐसी ही कथानक रूढ़ियों की चर्चा करेंगे। काव्य में कथानक रूढ़ियाँ लोक-विश्वासों पर आधारित होती हैं, बार-बार प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ि बन जाती हैं। भारतीय साहित्य में कथानक रूढ़ियों की भरमार है। कथानक रूढ़ियों के अन्तर्गत काव्य-शिल्प और काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों की चर्चा की जाएगी। मसलन, प्रबन्ध काव्य लिखने का एक अनुशासन बना दिया गया। जैसे, आरम्भ, मंगलाचरण, आत्मनिवेदन, दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा आदि। अपभ्रंश में इस पद्धति पर प्रबन्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी और हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि तुलसीदास ने इस नियम का पालन किया। इसी प्रकार मुक्तक काव्य में कवि का नाम रखने की प्रथा थी। अपभ्रंश में तो केवल सरह की रचनाओं में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है, पर हिन्दी में अधिकांश मुक्तक कवियों (बिहारी को छोड़कर) ने इस परिपाटी का निर्वाह किया है। इसी प्रकार नख-शिख वर्णन, संध्या-ऊषा वर्णन तथा फूलों का वर्णन आदि भी बिल्कुल नियमानुसार होता है। नख-शिख वर्णन सम्बन्धी इन रूढ़ियों की स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्य में मिलती है। "पृथ्वीराज रासो" में इस परिपाटी का पूर्ण पालन हुआ है। अपभ्रंश के काव्यों में विशेष रूप से कथानक: रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं—1 उजाड़ नगर का मिलना, कुमारी दर्शन तथा उसके विवाह (भविसयत्तकहा) 2 प्रथम दर्शन गुण श्रवण या चित्र दर्शन से प्रेम (करकडूं चरिउ, णाय कुमार चरउ) 3 दीपान्तर, विशेष कर सिंहल देश की यात्रा और जहाज डूबना (भविस्सत्तकहा) काव्यों की बाह्य प्रबन्ध रूढ़ियाँ भी परवर्ती साहित्य में पाई जाती हैं।

क) अपभ्रंश के सभी प्रबन्ध काव्य सन्धियों में विभक्त हैं। स्वयंभू के दोनों महाकाव्य काण्डों में विभक्त है पर सन्धियों को भी स्थान मिला है। अपभ्रंश की शेष सभी प्रबन्ध कृतियाँ सन्धियों में विभक्त हैं। वस्तुत: 15 से 38 कडवकों की एक संधि होती है। कुछ छंदों के बाद धत्ता जोड़कर कडवक बनाये जाते हैं। वस्तुत: कडवक तो पदों (स्टेन्जाज) के समान होता है।

ख) अपभ्रंश के प्राय: सभी प्रबन्ध काव्य कडवक योजना के रूप में मिलते हैं। केवल "णेमिणाह चरिउ" "सुन्दसंण चरिउ" और "संदेश रासक" इसके अपवाद हैं। पुष्पदंत के

काव्यों में नाना छन्दों का प्रयोग हुआ है पर वे कडवक बद्ध हैं। यद्यपि अपभ्रंश का प्रिय छन्द दोहा है, पर प्रबन्ध काव्यों में अधिकतर पद्धाड़िया, अडिल्ल, रड्डा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इनमें प्रधानता पद्धड़िया की है जो चौपाई से मिलती है। हिंदी में यह पद्धति "परमाल रासो", पद्मावत" तथा "रामचरित मानस" में बार-बार अपनायी गयी है।

ग) अपभ्रंश में मंगलाचरण, काव्य लिखने का कारण, विषयवस्तु की महत्ता, कवि की विनम्रता-प्रदर्शन, पूर्व कवियों की प्रशस्ति, नायक के देश और नगर का वर्णन करने की प्रथा प्रचलित रही है। यह अपभ्रंश काव्यों की निजी विशेषता थी जिसे हिंदी काव्य परम्परा ने भी अपनाया है।

घ) अधिकांश अपभ्रंश काव्यों में कथा का आरंभ दो व्यक्तियों के प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। कथा शैली के लिए यह पद्धति अनुकूल भी थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश के सभी काव्य प्रश्नोत्तर या संवाद रूप में हैं। हिंदी में "पृथ्वीराज रासो" और "रामचरित मानस" इसी प्रश्नोत्तर शैली को अपनाते हैं।

**बोध प्रश्न**

8 निम्नलिखित हिन्दी के काव्यों में कौन अपभ्रंश काव्य से बिलकुल भिन्न हैं: (सही उत्तर के सामने (✓) का निशान लगाएँ:

क) रामकाव्य ( )

ख) संतकाव्य ( )

ग) चरित काव्य ( )

घ) शृंगार काव्य ( )

9 "संदेश रासक" से मिलती-जुलती, हिन्दी की दो रचनाओं का नाम बताएँ:

क) .....

ख .....

10 नीचे दिए गए विकल्पों में से चुनकर रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए:

हिंदी के रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्ति ..... के बीज ..... काव्य में मिल जाते हैं।

(हिन्दी, अपभ्रंश, चमत्कार, लौकिकता)

11 अपभ्रंश के कौन-कौन से छंद हिन्दी में प्रयुक्त हुए? किन्हीं दो के नाम लिखिए:

क) .....

ख) .....

## 3.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप समझ गए होंगे कि हिन्दी साहित्य के आरंभ होने से ठीक पहले विशाल अपभ्रंश साहित्य समृद्ध था। जहाँ एक ओर स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे जैन कवि अपभ्रंश भाषा में साहित्य की रचना कर रहे थे, वहीं सरहपा और कण्हपा जैसे सिद्ध कवि इस साहित्य की समृद्धि बढ़ा रहे थे। इसके अतिरिक्त धनपाल, रामसिंह, अद्दहमाण आदि इस भाषा को आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे।

अपभ्रंश साहित्य में चरित काव्य लिखे गए, धार्मिक साहित्य रचा गया और शृंगार की ललित रचनाएँ भी सामने आई। इस परम्परा को हिंदी साहित्य ने आगे बढ़ाया। हिंदी के चरित काव्यों में अपभ्रंश के चरित काव्यों की झलक मिलती है। इसी प्रकार, सिद्ध-नाथ कवियों की रचनाएँ संतकाव्य की पूर्वपीठिका का आभास देती हैं। अपभ्रंश के शृंगारिक दोहों को हिंदी के रीतिकालीन कवियों ने उत्कर्ष तक पहुँचाया। विषयवस्त् की दृष्टि से ही

नहीं, बल्कि, अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से भी हिंदी साहित्य अपभ्रंश साहित्य का ऋणी है। अपभ्रंश में चौपाई, का खूब उपयोग किया गया; हिंदी में भी चौपाई काव्यगत अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। इसके अतिरिक्त, अपभ्रंश में गेय काव्य भी लिखे गए, जिसे हिंदी के कवियों ने अपनाया। इसके अलावा, अपभ्रंश में प्रमुख कथानक रूढ़ियों को भी हिंदी कवियों ने ग्रहण किया। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य की पूर्वपीठिका है।

## 3.7 शब्दावली

**अंतस्साधना** : सिद्धों और नाथों द्वारा अपनाई गई साधना की पद्धति, जिसमें हृदय और मन द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की बात की जाती है

**अर्थगौरव** : अर्थ की गंभीरता

**आगम** : वेद

**ऋषभदेव** : जैनों के तीर्थंकर

**देशीभाषा** : लोकभाषा, जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा

**परिग्रह** : स्वीकार करना

**प्रच्छन्न प्रवाह** : छिपा हुआ प्रवाह

**पद्धड़िया** : एक प्रकार का छंद

**वरासन** : उत्तम आसन

**रेवा नदी** : पुराण कथाओं में मिलने वाली एक नदी

## 3.8 उपयोगी पुस्तकें

गुलेरी, चंद्रधर शर्मा, *पुरानी हिंदी*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, *हिंदी साहित्य की भूमिका*, राजकलम प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।

सिंह नामवर, *हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

## 3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1 क) ख) ग) घ)

2 पूर्ववर्ती अपभ्रंश में प्राकृत शब्दों का प्रभाव, परवर्ती अपभ्रंश पर तत्सम शब्दों और देशीभाषा के शब्दों का प्रभाव (देखें 3.2.3)।

3 क्रमशः प्राकृत, देशीभाषा, प्राकृत, तत्सम, पुरानी हिंदी, अवहट्ठ।

4 क) स्वयंभू
ख) पुष्पदंत

5

| रचना | रचनाकार |
|---|---|
| क) स्वयभू | पउमचरिउ |
| ख) पुष्पदंत | णायकुमार चरिउ |
| ग) हरिभद्र सूरि | नेमिनाथ चरिउ |
| घ) धनपाल | भविस्सत कहा |
| ङ) राम सिंह | पाहुड़दोहा |

6 84, सरहपा और कण्हपा, जाति-पाति का खंडन, सद्गुरु की महिमा

7 सिद्ध-हेमचन्द्र शब्दानुशासन, संदेश रासक; संदेश रासक (देखें 3.3)

8 रामकाव्य

9 क) ढोला-मारू-रा-दूहा
ख) संदेश रासक

10 चमत्कार, अपभ्रंश

11 दोहा, चौपाई

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड
2
**आदिकालीन साहित्य**

**इकाई 4**

आदिकालीन **परिस्थितियों का अध्ययन** 61

**इकाई 5**

**आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ** 79

**इकाई 6**

**रासो काव्य** 92

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति


प्रो. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

प्रो. राम सिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष
(हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

प्रो. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

प्रो. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रो. नलशीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. बी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय


## पाठ्यक्रम निर्माण समिति


**पाठ लेखक**

डॉ. पूरन चन्द टण्डन
व्याख्याता
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

**संकाय सदस्य एवं संपादन मंडल**

डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. जवरीमल पारिख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम
डॉ. नीलम फारूकी

**पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक**

श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी (सह संयोजिका)
डॉ. पूरन चन्द टण्डन


## सामग्री निर्माण


श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एम.पी. शर्मा
संयुक्त कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय



सितम्बर, 1992 (पुनमुद्रण)


© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991



ISBN-81-7091-701-8



सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।



UGHI-103/58

# खंड 2 का परिचय

यह पाठ्यक्रम हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं साहित्य परिचय पर आधारित है। इस पाठ्यक्रम के खंड एक में आप हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका को जान चुके हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया गया है—आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिक काल। यह खंड आदिकालीन साहित्य से संबद्ध है। इसमें कुल तीन इकाइयाँ हैं। खंड की पहली इकाई (संख्या 4) आदिकालीन परिस्थितियों से संबंधित है। इस इकाई के अन्तर्गत आदिकाल के नामकरण, काल-सीमा लयी प्रेरक बिन्दुओं पर विचार करते हुए युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों क विवेचन विस्तार से किया गया है। इसी इकाई के परिप्रेक्ष्य में आप आगे की दोनों इकाइयों में युगीन साहित्य के बारे में जान सकेंगे।

इकाई 5 में आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है। इन प्रवृत्तियों के अन्तर्गत धर्म संबंधी साहित्य, चारण साहित्य तथा लौकिक साहित्य की समीक्षा की गई है। हमारी यह कोशिश रही है कि आप उस युग के साहित्य की लगभग सभी प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त कर सकें। इकाई 6 में आदिकाल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति "रासो काव्य" का विश्लेषण किया गया है। इसमें वीरगाथात्मक, शृंगार परक तथा धार्मिक रासो काव्य की जानकारी दी गई है।

प्रत्येक इकाई के अन्त में उस विषय में संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। अतिरिक्त जानकारी एवं अध्ययन के लिए आप उन्हें पुस्तकालय से लेकर पढ़ सकते हैं।

# इकाई 4 आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन

## रूपरेखा


4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 आदिकाल : अर्थ एवं स्वरूप
  4.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  4.2.2 काल-सीमा और नामकरण
4.3 परिस्थितियाँ : अर्थ एवं महत्व
4.4 आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिन्दु
4.5 आदिकाल की परिस्थितियाँ
  4.5.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ
  4.5.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ
  4.5.3 सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ
  4.5.4 साहित्यिक परिस्थितियाँ
4.6 आदिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 उपयोगी पुस्तकें
4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 4.0 उद्देश्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकालीन साहित्य का, परस्पर विरोधी चिंतनधाराओंकी वैविध्यमयी अभिव्यक्ति के कारण अपार महत्व है। हिन्दी साहित्य के इस श्रीगणेश काल में परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, भाषाओं और विचारधाराओं का वैविध्य भी है और समन्वय भी। साहित्य इतिहास संबंधी इस पाठ्यक्रम का यह दूसरा खंड है जिसमें "आदिकालीन साहित्य" का तीन इकाइयों में विवेचन किया जा रहा है। आदिकालीन परिस्थितियों का गहन एवं विस्तृत विवेचन करने वाली इस प्रथम इकाई के अध्ययन से आप:

- आदिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बता सकेंगे,
- काल-सीमा तथा नामकरण का विवेचन करते हुए आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिन्दुओं को बता सकेंगे,
- परिस्थितियों के अर्थ एवं उनकी भूमिका का महत्व बता सकेंगे,
- आदिकाल की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की समीक्षा कर सकेंगे,
- आदिकालीन साहित्यिक परिस्थितियों की व्याख्या कर सकेंगे,
- आदिकालीन साहित्य की सामग्री और उसके स्वरूप को समझा सकेंगे, तथा
- आदिकालीन साहित्य पर इन विविध परिस्थितियों के प्रभाव को स्पष्ट कर सकेंगे।

## 4.1 प्रस्तावना

कवि अथवा लेखक साहित्य-सृजन से परिवेश एवं स्थितियों को निर्मित-परिवर्तित तो करता ही है साथ ही सामाजिक वातावरण और वैविध्यमयी परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है। समय, संदर्भ, घटना और परिवेश लेखक या साहित्यकार को दिशा-दृष्टि भी देते हैं और उसकी दृष्टि या विचारधारा से प्रभावित होते हुए अपने स्वरूप को परिवर्तित भी करते हैं। समग्र विश्व के साहित्य एवं परिस्थितियों में यह परस्पर प्रभावित होने या करने की प्रवृत्ति

सहज ही देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का श्रीगणेश जिस कालधारा से माना जाता है उसे विद्वत-बहुमत के आधार पर "आदिकाल" नाम से जाना जाता है। इस 'श्रीगणेश काल' अथवा 'आरंभ काल' के समय-सीमा-निर्धारण और नामकरण पर हम आगे भी संक्षिप्त चर्चा करेंगे किन्तु मूलतः इस इकाई में हम आदिकालीन साहित्य के निर्माण में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहने वाली महत्वपूर्ण परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे।

आदिकाल में साहित्य की शृंगार, भक्ति, वीर तथा ऐतिहासिक, लौकिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि कई प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं। इन सभी प्रवृत्तियों के निर्माण, विकास तथा परिवर्तन-संवर्द्धन में बहुत सी स्थितियों-परिस्थितियों ने तरह-तरह से अपना योगदान दिया है। साहित्य को प्रभावित करते हुए कभी ये परिस्थितियाँ उसकी विकास-दिशा को प्रशस्त करती रही हैं तो कभी साहित्यकार एवं साहित्य के मूल्यवान संदेश से प्रेरणा ग्रहण कर सजती-संवरती या निखरती रही हैं। इस इकाई में आदिकाल को प्रभावित करने वाली इन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों की प्रामाणिक समीक्षा करने का प्रयास किया गया है।

इससे पूर्व के खंड में आप साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंध को समझ चुके हैं। किसी भी साहित्य या साहित्यधारा के काल-विभाजन तथा नामकरण के आधारों को जान चुके हैं। साथ ही हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए अपभ्रंश-काव्य की गहन विवेचना भी कर चुके हैं। उसी खंड में आपने आदिकाल की काल-सीमा तथा नामकरण समस्या का भी विश्लेषण किया है। आगे के सभी खंडों में प्रथम खंड के परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल की विभिन्न विधाओं एवं साहित्यधाराओं का विश्लेषण किया जायेगा। यह दूसरा खंड "आदिकालीन साहित्य" से सम्बद्ध है। आदिकाल की परिस्थितियों को विश्लेषित करने वाली इस इकाई के अतिरिक्त आप शेष दो इकाइयों में आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का तथा रासोकाव्य का अध्ययन मनन करेंगे। अतः इस इकाई में एक तरह से आगे की दोनों इकाइयों की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट हो सकेगी। प्रथम खंड के परिप्रेक्ष्य में आप यह बता सकेंगे कि आदिकालीन साहित्य और ऐतिहासिक संदर्भों में क्या तालमेल है तथा परिस्थितियों के बदलाव किस तरह इस युग के साहित्य को अलग-अलग धाराओं या प्रवृत्तियों में ढालते रहे। अपभ्रंश साहित्य की आठवीं से चौदहवीं शताब्दी तक अविरल गति से बहती धारा कैसे आदिकालीन साहित्य की विविध प्रवृत्तियों में घुल-मिल गई तथा परिस्थितियों ने कैसे शृंगार, वीर या भक्ति आदि धाराओं को निर्मित या विकसित किया। रासो काव्यधारा या अन्य लौकिक-ऐतिहासिक और धार्मिक आदि साहित्य ग्रंथों के निर्माण में युगीन परिवेश और परिस्थितियों ने क्या-क्या भूमिका निभाई? ये परिस्थितियाँ साहित्य की उन प्रवृत्तियों में कहाँ-कहाँ और किस रूप में झाँकती दिखाई पड़ती है। इस मूल विषय के अतिरिक्त इकाई में आदिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, काल-सीमा, नामकरण, आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिन्दु तथा आदिकालीन साहित्य की सामग्री के स्वरूप आदि का भी विवेचन किया गया है। तो आइये सर्वप्रथम आदिकाल के अर्थ एवं स्वरूप की समीक्षा करें।

## 4.2 आदिकाल : अर्थ एवं स्वरूप

आदिकाल, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है किसी भी साहित्य धारा का वह प्रारंभिक या पहला काल-खंड जहाँ से उसकी शुरुआत होती है। यों आदिकाल के वास्तविक स्वरूप को जान लेना सहज नहीं है। किन्तु भारतीय चिंतन धारा के उस महत्वपूर्ण काल के रूप में इसे जाना जा सकता है जहाँ परस्पर विरोधी तत्वों को एक साथ साहित्य में देखा जाता है। राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी आक्रमण तथा दो-दो संस्कृतियों के मिलन का परिवेश वहाँ है। अशांति और बिखराव से छिन्न-भिन्न सामाजिक स्थिति, विविध धर्म सम्प्रदाय एवं दर्शनों का फैलता प्रभुत्व भी वहाँ है। जन-सामान्य को आकर्षित-भ्रमित करते टोने-टोटके, तंत्र-मंत्र तथा जादू-चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव, कापालिक, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक सम्प्रदायों की बहुत सी प्रवृत्तियाँ भी इस युग के समग्र साहित्य में देखी जाती हैं जिनमें अंतराल भी है और विरोध भी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है–"शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे

बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य-परम्परा की चरम-सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यंत सहज सरल-भाषा में, अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में, अपने मनोभाव प्रकट करते थे। फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ था और दूसरी ओर निरक्षर संतों के ज्ञान-प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।" (हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ।) यों तो हिन्दी साहित्य के विकास की शुरुआत भी यहीं से देखी जाती है किन्तु साथ ही परवर्ती हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य-शैलियों आदि का उद्गम-स्थल भी यही माना जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी साहित्य के इस प्रारंभिक काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है? उसे आदिकाल क्यों कहा जाता है तथा उसकी काल-सीमा क्या है? इन प्रश्नों पर हम प्रथम खंड में विस्तृत-विश्लेषण कर चुके हैं किन्तु यहाँ संक्षेप में पुनः चर्चा कर लेना अनुचित न होगा।

## 4.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जिन स्थितियों-परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य के उस काल का निर्माण किया या कराया जिसे आगे चलकर "आदिकाल" नाम से जाना गया, उनकी स्थिति अत्यंत चिंतनीय रही है। उस युग का भारत छिन्न-भिन्न हो रही सत्ता का भारत था। अंतिम हिन्दू सम्राट हर्ष का एकछत्र राज्य तब बिखरने लगा था। पूर्व में पालों, दक्षिण में राष्ट्रकूटों तथा पश्चिम में प्रतिहारों की राज्य-शक्ति को सुदृढ़ बनाने के प्रयास भी विफल होते गए। राजपूतों के उदय होते ही तोमर, राठौर, चौहान, गुर्जर, चालुक्य, चंदेल तथा परमार आदि राजवंश राज्य-सत्ता की दौड़ में शामिल होने लगे। परिणामतः केन्द्रीय शक्ति का अभाव ही अराजकता का कारण बन गया। परस्पर इन सत्ता-लोलुपों ने लड़ना प्रारंभ कर दिया। राजनीति युद्ध-लिप्सा से घिर गई।

ऐसे विघटन-भरे वातावरण में भी साहित्य को राज्याश्रय प्राप्त होने लगा। राजाओं ने देश-भाषा के प्रोत्साहन में योगदान दिया। भाषा और साहित्य विकसित होने लगे। आक्रमणों और युद्धों के अंचल में पलने वाला साहित्य भी परिस्थितियों से जूझने लगा। पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण और भीतर राजपूतों के पारस्परिक झगड़े—सब ने परिवेश को युद्ध—उन्माद और शौर्य-गायन से जीवन-निर्वाह की राह दिखाई। दरबारी कवियों ने स्वामियों और आश्रयदाताओं की प्रशस्ति प्रारंभ कर दी। इन्हें ही चारण भी कहा गया। वीर गाथाओं से सम्बद्ध अधिकांश साहित्य इन्हीं का रचा हुआ है।

अतः आदिकाल की इस युद्ध विघटन एवं सत्ता-मद की स्थितियों ने एक तरफ तो अपने प्रभाव से साहित्य को जकड़ा। दूसरी तरफ जैन, बौद्ध तथा सिद्ध-नाथ आदि हिन्दी क्षेत्र के मत इन राजनीतिक परिस्थितियों से दूर किन्तु सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर सामने आ रहे थे। तंत्र-मंत्र तथा टोने-टोटके धीरे-धीरे जन-जन को भयभीत कर रहे थे। ऐसे में गुर्जर, सम्राट सिद्धराज जयसिंह के जीवन-काल में जैन-साहित्य को प्रोत्साहन मिलने लगा था। प्राकृत-व्याकरण "सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन" के रचयिता हेमचन्द्र इन्हीं के दरबारी आश्रित थे। हेमचन्द्र ने भी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपना पूरा योगदान दिया। यही कारण है कि इस युग में पर्याप्त जैन प्रबंध-काव्य, पुराण तथा चरित काव्यों की रचना भी होती रही।

सम्राट हर्ष के समय तक तो बौद्ध धर्म राज्य के संरक्षण में फल-फूल ही रहा था किन्तु धीरे-धीरे इस पूजा में मूर्ति-पूजा, यक्ष-पूजा तथा तंत्र-मंत्र साधना भी समाहित होने लगी। वज्रयान के रूप में धीरे-धीरे समाहित हो रही यह हठयोग साधना बौद्ध धर्म से जुड़ती चली गई। बौद्ध धर्म के इसी विकृत रूप से धीरे-धीरे सिद्ध-परम्परा उभरी। समन्वयवादी इस देश की संस्कृति का प्रभाव इन मतों, दर्शनों और विचारों पर भी पड़ा। शैव तथा शाक्तों के मत प्रभाव भी इसमें समाहित होते चले गए। यों इन सभी विषयों पर आप आगे की दोनों इकाइयों में विस्तार से जानेंगे। इससे पूर्व के खंड में भी आप इनका संक्षिप्त परिचय पा चुके हैं। यहाँ संक्षेप में यही स्पष्ट करना हमारा उद्देश्य रहा है कि इस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या रही जिसमें इस युग के साहित्य का निर्माण हुआ। आगे परिस्थितियों की चर्चा करते हुए इसे और भी स्पष्ट किया जा सकेगा।

## 4.2.2 काल-सीमा और नामकरण

किसी भी साहित्य या साहित्य-धारा की काल-सीमा का निर्धारण तथा उसके नामकरण के प्रमुख आधारों का विश्लेषण आप खंड एक में विस्तार से कर चुके हैं। वहाँ आपने साहित्य

की या साहित्य धारा की प्रथम कृति अथवा प्रथम लेखक की स्थिति एवं महत्ता को भी जाना। किसी साहित्य की शुरुआत कहाँ से मानी जाए? उसका पूर्वापर संबंध क्या है? परवर्ती सीमा से उसे कैसे बांधा जाए? तथा दो धाराओं के बीच उसे किस रूप में देखा या समझा जाए? ऐसे कई प्रश्न एक साथ उठकर ही साहित्य या साहित्य धारा की काल-सीमा को निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार नामकरण के प्रमुख आधारों में प्रवृत्ति की प्रधानता, ग्रंथों की प्रसिद्धि, जाति विशेष के नाम, कवि या लेखक (व्यक्ति विशेष) के नाम, भाषा-विशेष, रचना-शैली, प्राचीनता या अर्वाचीनता, साहित्यिक रचनाओं के स्तर, शासकों या धार्मिक सम्प्रदायों, राजनैतिक घटनाओं, समय-खंड या गद्य-पद्यात्मकता की प्रधानता जैसे कई आधार स्वीकारे जाते रहे हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उपलब्ध नामों या काल-खंडों में इन्हें देखा भी जा सकता है। यहाँ हम प्रथम खंड में की गई इस चर्चा से सीधे अपने विषय पर आते हुए आदिकाल की काल-सीमा तथा नामकरण का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के संदर्भ में अगर देखें तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा विभिन्न विकास चरणों को दिए गए अधिकांश नाम तथा उनकी समय-सीमा यथावत् या कुछ घुमा-फिरा कर स्वीकार कर ली गई है। "आदिकाल" को शुक्ल जी ने "वीरगाथा" काल कहते हुए उसकी समय-सीमा 1050 विक्रमी संवत् से 1375 विक्रमी संवत् तक स्वीकारी है। पर साथ ही शुक्ल जी ने यह भी कहा है कि कोई इसे "आदिकाल" भी कहे तो कह सकता है। वास्तव में शुक्ल जी के समय तक जितना साहित्य उपलब्ध था उस आधार पर उन्होंने उसे "वीरगाथा काल" कहना उचित समझा। किन्तु बाद में सैकड़ों ग्रंथ ऐसे मिल गये जिनमें आध्यात्मिक और धार्मिक के साथ कुछ अन्य प्रकार के विषयों को भी काव्यबद्ध किया गया है। "वीरगाथा काल" कहने से वे कृतियाँ इसमें समाहित नहीं हो पातीं। उनमें वीरगाथाओं से इतर विषयों पर लिखी सामग्री भी है। अतः इस ठोस आधार पर इसे "आदिकाल" कहना ही उचित है।

कुछ विद्वान लोग बौद्ध साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्य को ध्यान में रखते हुए "आदिकाल" की शुरुआत संवत् 700 से या संवत् 943 से भी मानते हैं (यहाँ स्पष्ट रहे कि संवत् ईसवी सन् से 57 वर्ष बड़ा होता है)। किन्तु यह भी विवादास्पद है कि वहीं से हिन्दी साहित्य का प्रारंभ माना जाए या संवत् 1050 से। इस संदर्भ में कुछ अन्य विद्वानों के सीमा-निर्धारण एवं नामकरण पर भी दृष्टि डालें तो उचित होगा। डॉ. श्याम सुन्दर दास ने इस युग को "आदियुग" मानते हुए इसका समय संवत् 1050 से 1400 तक माना। राहुल सांकृत्यायन ने इसे "सिद्ध सामन्त काल" कहा। डॉ. राम कुमार वर्मा ने इसे "चारण काल" मानते हुए इसकी काल-सीमा संवत् 1000 से 1375 मानी। वर्मा जी चारण काल (संवत् 1000) से पूर्वकाल को शुक्ल जी की तरह ही "अपभ्रंश काल" कहते हुए उसे "सन्धि काल" नाम देते हैं। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 1000 से 1400 ईसवी सन् तक के इस काल-खंड को "आदिकाल" कहना ही उचित समझा। डॉ. नगेन्द्र ने "आदिकाल" नाम को स्वीकारते हुए इसकी काल-सीमा सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक स्वीकार की।

इस समग्र विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आदिकालीन साहित्य के लिए नामकरण तो भिन्न-भिन्न प्रस्तावित हुए किन्तु समय-सीमा में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता। यों कुल मिलाकर विवाद से रहित तथा सर्वाधिक स्वीकृत नाम अगर कोई रहा तो वह "आदिकाल" ही रहा है। हालांकि आदिकाल नाम भी इस काल की सम्पूर्ण साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा लोक-चित्तवृत्तियों को प्रतिबिंबित नहीं करता किन्तु उदार दृष्टि से देखने पर यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें "प्रारंभ काल" के नाम पर सभी कुछ समाहित हो जाता है। सभी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ तथा काव्य धाराएँ इसमें सहज ही समा जाती हैं। शुक्ल जी ने भी इसे "वीरगाथा काल" कहते हुए यह स्वीकारा कि कोई इसे "आदिकाल" कहना चाहे तो कह सकता है। यही नहीं वीरगाथा काल कहने से इस युग की शृंगार एवं भक्ति परक रचनाएँ भी छूट जाती हैं। 'विद्यापति' जैसा भक्त शृंगारी कवि बाहर हो जाता है। 'अमीर-खुसरों' जैसा लोक-कवि इस काल-सीमा में गौण हो जाता है। यही नहीं 'बीसलदेव रासो' जैसी प्रेम-कृति भी छूट जाती है। इसी प्रकार अन्य नामों के साथ भी कोई न कोई सीमा आ जुड़ती है। अतः समय-सीमा और नामकरण के इस समग्र विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विद्वत-साहित्य-समाज द्वारा स्वीकृत नाम "आदिकाल" ही प्रामाणिक एवं समर्थ नाम है तथा सन् 1000 से 1400 ई. के बीच ही इसकी काल-सीमा अधिक मान्य है। किसी साहित्यिक प्रवृत्ति तथा लोक चित्तवृत्ति को प्रतिबिंबित न करके भी यही नाम स्वीकृत किया जा सकता है।

## 4.3 परिस्थितियाँ : अर्थ एवं महत्व

यह तथ्यात्मक सत्य सर्वमान्य है कि लेखक या साहित्यकार तथा परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। अर्थात् समाज में जो भी कुछ है या घट रहा है उससे लेखक भी कहीं न कहीं प्रभावित अवश्य होता है। इसी घटनाचक्र के प्रभाव स्वरूप उसका सृजन भी प्रभावग्रस्त होता है। साहित्यकार जिस समाज में रहता-जीता है उसकी परंपराएँ, घटनाएँ, स्थितियाँ, परिवेश तथा परिवर्तन उसकी मानसिकता पर प्रभाव डालते हैं और इसी से उसका सृजन भी प्रभावित होता है। समाज की अनुभूति ही साहित्य की अभिव्यक्ति बनती है। उसमें कल्पना का मिश्रण अवश्य होता है किन्तु वह सदैव वायवी या आधारहीन नहीं होती। दूसरी तरफ यही स्थिति जनता की भी है। जन-सामान्य भी समाज में घटित घटनाचक्र या व्याप्त स्थितियों-परिस्थितियों से प्रभावित होता है। जन-सामान्य की चित्तवृत्ति या मनोवृत्ति भी देश या परिवेश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदि परिस्थितियों से परिवर्तित या संवर्द्धित होती रहती हैं। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने साहित्य का संबंध "जनता की चित्तवृत्तियों" से जोड़ते हुए कहा है कि जब-जब जनता की चित्तवृत्तियाँ बदलती हैं तब-तब साहित्य का स्वरूप भी बदलने लगता है। अतः परिवेश और परिस्थितियाँ साहित्य को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में जानी जाती हैं। इसीलिए साहित्य निर्माण में अपनी अप्रतिम तथा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली परिस्थितियों की चर्चा सदैव की जाती रही है। स्थितियाँ-परिस्थितियाँ चित्तवृत्तियों को प्रभावित करती हैं और चित्तवृत्तियाँ रुचि, परिप्रेक्ष्य तथा दिशा को निर्धारित करती हैं। यही कारण है कि कवि, लेखक या साहित्यकार परिस्थितियाँ बनाता भी है और परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है। इतिहास साक्षी है कि युग पुरुषों या साहित्यकारों का निर्माण भी परिस्थितियों ने किया और उन परिस्थितियों को बदलने का दायित्व भी इन्हीं लोगों ने निभाया। चित्तवृत्तियों का बदलाव ही साहित्यकार की दिशा बदलता है। यही कारण है कि आदिकाल में वीर रस परक वृत्ति प्रधान रही तो भक्ति-काल में भक्ति भावना और रीतिकाल में शृंगार प्रधान हो गया। इसकी विस्तृत व्याख्या आप आगे के खंडों में कर सकेंगे। अतः कह सकते हैं कि साहित्य एवं स्थितियों का तथा परिवेश एवं प्रस्तुति का प्रगाढ़ संबंध होता है। यह भी कहा जाता है कि महान् कवि परिस्थितियों से चालित नहीं होते किन्तु संभवतः इसे कोरे आदर्श की अभिव्यक्ति ही कहा जा सकता है। परिवर्तित-परिवेश सदैव ही नवीन साहित्य को प्रेरित प्रभावित करता रहा है। यही आदिकालीन साहित्य के साथ भी हुआ। सन् 1000 से 1400 तक के इस साहित्य की नियामक परिस्थितियाँ क्या और कैसी थीं, इसी की चर्चा अब हम विस्तार से करेंगे। किन्तु यहाँ संक्षेप में यह भी जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी-साहित्य के इस प्रारंभ काल में साहित्य को प्रेरित करने वाले बिन्दु कौन से थे? इसके विश्लेषण के बाद हम परिस्थितियों की व्याख्या करेंगे।

## 4.4 आदिकालीन साहित्य के प्रेरक बिन्दु

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आरंभिक वर्षों के रूप में जिस समय की चर्चा की गई है, उसमें मुख्यतः संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषाओं में रचित साहित्य ही मिलता है। इसमें भी संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में धार्मिक तथा लौकिक साहित्य अधिक मिलता है। हिन्दी (देशभाषा) में लिखित साहित्य का स्वरूप हमें "आदिकाल" में देखने को मिलता है।

इन भाषाओं का परस्पर एक अटूट तथा क्रमबद्ध संबंध भी रहा है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी साहित्य को कई तरह से प्रभावित किया तो संस्कृत भाषा और साहित्य ने अपभ्रंश और हिन्दी दोनों को। वास्तव में संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रभाव से तो हिन्दी भाषा और साहित्य इस रूप में ऋणी है कि वह कभी इससे मुक्त हो ही नहीं सकते। हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले अपभ्रंश-काल में भी संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अत्यंत व्यापक क्षेत्र में लेखन-प्रचलन चल रहा था। अतः विषय-वैविध्य तथा परंपरा बाहुल्य हिन्दी को संस्कृत से ही मिला। संस्कृत साहित्य की पूर्ववर्ती-परम्पराओं की छाया भी हिन्दी-साहित्य के लगभग सभी कालों में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। साथ ही अपभ्रंश साहित्य के सिद्ध और जैन साहित्य का प्रभाव भी यहाँ अत्यंत मुखर है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इस युग का संस्कृत साहित्य अगर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, नीति, दर्शन, जीवन, काव्यशास्त्र, काव्य सम्प्रदाय, इतिहास, पुराण, भूगोल, कथा, ज्योतिष, तन्त्र, जीवनी तथा काव्य एवं नाटक आदि अनेक विषय लेकर चिंतन-मनन कर रहा था तो अपभ्रंश साहित्य केवल धार्मिक धाराओं में सिमटा हुआ था। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से आधुनिक काल तक के पूरे साहित्य को देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत की इस व्यापक साहित्यधारा से कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने पर्याप्त ऊर्जा तथा प्रभाव भी ग्रहण किया है।

एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि युगीन परिस्थितियों के कारण संस्कृत साहित्य के विषय-वैविध्य से सम्पन्न अधिकांश ग्रंथ हिन्दी क्षेत्रों में नहीं लिखे गए। हिन्दी क्षेत्र तो पश्चिम दिशा से निरंतर होते रहने वाले आक्रमणों के कारण अधिकांशतः वीर तथा भक्ति साहित्य तक सीमित होकर रह गया। जबकि संस्कृत के महान् ग्रंथों का अधिकांश सृजन कश्मीर, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, महाराष्ट्र तथा गुजरात आदि में अधिक हुआ। अतः स्पष्ट है कि जहाँ अपभ्रंश साहित्य सिद्ध, नाथ और जैन संप्रदायों की संकीर्णता में विभक्त था वहाँ संस्कृत साहित्य किसी भी जाति, धर्म या सम्प्रदायों से मुक्त और सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनिक बन रहा था। यह भी विचारणीय है कि संस्कृत साहित्य की परम्परा को किसी न किसी रूप में आदिकाल से रीतिकाल तक स्वीकारा जाता रहा जबकि अपभ्रंश साहित्य के साथ ऐसा भी नहीं हुआ। अकबर, रहीम और शाहजहाँ जैसे शासकों ने संस्कृत विद्वानों का भरपूर सम्मान भी किया। संस्कृत का अन्तिम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ "रस गंगाधर" (रचयिता पंडितराज जगन्नाथ) भी शाहजहाँ के आश्रम में ही लिखा गया। "पंडितराज" की उपाधि भी शाहजहाँ प्रदत्त ही है। अतः कुल मिलाकर यह काल साहित्य समाज तथा साहित्यकार के बीच सौहार्द का काल रहा। संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं के इस युग में ही हिन्दी साहित्य के इतिहास का श्रीगणेश हो रहा था। इसी धारा से आदिकालीन साहित्य की वैविध्यमयी धाराएँ प्रस्फुटित हो रही थीं। यही साहित्यधारा हिन्दी के इस प्रारंभिक काल की प्रेरणा बन रही थी। अतः इस प्रेरक पृष्ठभूमि के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए।

**बोध प्रश्न 1**

1) नीचे दिए गए वाक्यों में कुछ सही हैं और कुछ गलत। प्रत्येक के सामने उपयुक्त चिह्न लगाइये–

   i) आदिकाल राजनैतिक उथल-पुथल, विदेशी-आक्रमण, अशांति और बिखराव तथा साम्प्रदायिक वैविध्य का युग था। ( )

   ii) महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव आदिकाल में न हो सका। ( )

   iii) अंतिम हिन्दू सम्राट हर्ष के समय तक बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा, यक्ष पूजा तथा तंत्र-मंत्र साधना भी समाहित होने लगी थी। ( )

   iv) आदिकालीन जैन साहित्य में प्रबंध-काव्य तथा चरित काव्यों का सृजन न हो सका। ( )

   v) इस युग की कविता में दरबारी आश्रयदाताओं की प्रशस्ति और उनके शौर्य-गान को महत्व नहीं दिया गया। ( )

2) निम्नलिखित प्रश्नों के पाँच-पाँच पंक्तियों में उत्तर लिखिए–

   i) आदिकालीन साहित्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट कीजिए।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

   ii) "आदिकाल" नामकरण की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

   .....

   .....

.....

.....

.....

iii) परिस्थितियों का अर्थ और महत्व क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) आदिकालीन साहित्य के प्रेरक-बिन्दु क्या थे? लगभग सात-आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 4.5 आदिकाल की परिस्थितियाँ

साहित्य का मूल उत्स जीवन है और विभिन्न प्रकार की सामयिक स्थितियाँ-परिस्थितियाँ तथा परिवेश के घटनाचक्र मिलकर जीवन के सद्-असद् रूपों का सृजन करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्य अगर लोक-चेतना का संवाहक है तो लोक-चेतना युग-विशेष की राजनीति, धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा वैचारिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होती है। यही परिस्थितियाँ सृजक कलाकार को साहित्य-रचना में प्रवृत्त करती हैं। साहित्य और साहित्यकार के शाश्वत-मानव-मूल्य इन्हीं परिस्थितियों से परिवर्तित, संवर्धित या प्रभावित भी होते रहते हैं। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अब हम चर्चित काल की राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करेंगे। इन्हीं परिस्थितियों के विवेचन के आधार पर आप अगली दो इकाइयों में विवेचित आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को व्याख्यायित कर सकेंगे। आप बता सकेंगे कि कैसे इन परिस्थितियों ने युगीन साहित्य को प्रभावित या नियंत्रित किया।

### 4.5.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य का यह प्रारंभिक काल भारतीय राजनीतिक जीवन के विशृंखल होने का काल है। सातवीं-आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के राजनीतिक घटना-चक्र ने हिन्दी साहित्य को भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित किया। राजनीतिक असंतुलन, विघटन तथा अव्यवस्था के इस युग की शुरुआत तब होती है जब भारत का सशक्त हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन सिंहासन पर बैठा था। सन् 606 ई. में सिंहासन सम्भालने वाले इस शासक ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया था। वास्तव में सम्राट हर्षवर्धन के समय में ही भारत के दो भाग हो गए थे। नर्मदा के उत्तर में हर्षवर्धन का साम्राज्य था तो दक्षिण में चालुक्य वंशीय पुलकेशन द्वितीय का शासन था। ये दोनों ही साम्राज्य वृद्धि की असफल चेष्टाएं भी समय-समय पर करते रहे हैं। 647 ई. में उत्तर के सम्राट हर्षवर्धन की जब मृत्यु हो गई तो उसके वंशजों ने भी काफी समय तक कन्नौज पर शासन किया। किन्तु बाद में पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतिहारों आदि के आक्रमण ने उनकी शक्ति को भी क्षीण कर दिया। परिणामतः नवीं शताब्दी में

प्रतिहारों ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। फिर लगभग दो सौ वर्षों तक भारत की केन्द्रीय शक्ति उन्हीं के हाथों में रही। हर्ष के समय का विप्लव और विद्रोह से रहित राज्य, धर्म और सामाजिक व्यवस्था का राज्य अब छिन्न-भिन्न हो गया। अनेक छोटे-छोटे राजवंश जिनमें गुर्जर, तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, चंदेल, परमार तथा गाहड़बार आदि सत्ता के लिए प्रयत्नशील होते चले गए। इन राजवंशों के पारस्परिक युद्ध, दिन-रात का कलह तथा बढ़ते हुए विघटन से सामन्तवादी प्रथा को प्रोत्साहन मिला। निरंकुश, एकतन्त्र शासन प्रणाली के स्थापित होने से राजनीतिक चेतना और विदेशी आक्रमणकारियों से मुकाबला करने की शक्ति भी नष्ट होती चली गई।

अब देश अनेक राज्यों में बंट गया। संगठन बिखरता चला गया। सामंतों के क्षुद्र-स्वार्थ और उनके पार्श्विक आतंक से जनता की दृष्टि अपनी सुरक्षा तथा जीविका तक ही सीमित होती चली गई। यही कारण है कि युग की चेतना और साहित्य के संदेश में राष्ट्रीयता तथा देश भक्ति की भावना का अभाव स्पष्टतः देखा जाता है। प्रान्तीयता और स्थानीयता की प्रबल भावना से विदेशी आक्रमणकारियों का शासन दीर्घ होता चला गया। राजा कृष्ण के समान बनते चले गए। राजभक्ति प्रमुख होने लगी। परिणामतः राजभक्ति का, शौर्य गान का, प्रशस्ति तथा अनुचित कार्यों के समर्थन का प्रचलन बढ़ता गया।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विकास भी इसी परिवेश तथा पृष्ठभूमि में हो रहा था। युद्धों के इस वातावरण में दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दुओं की सत्ता समाप्त होने और यवनों के सत्ता में आने की यात्रा को सहज ही देखा जा सकता है। हिन्दू शासकों की आपसी लड़ाइयाँ, मुगलों के आक्रमणों का सामना, एकता का अभाव और राज्यों का बिखराव, मान-अपमान के प्रश्न बने युद्ध तथा ज़र-ज़ोरू और ज़मीन या किसी सुंदरी राजकुमारी के स्वयंवर को लेकर हो रहे युद्ध—सभी ने इस देश को खोखला और जर्जर बना दिया था।

सन् 800 ई. से 1026 ई. तक के पाल शासकों में भीम, जयपाल, आनन्दपाल, आदि ने गज़नी के तुर्कों का सामना किया तो कश्मीर के ललितादित्य, जयादित्य आदि शासकों को भी मुस्लिम शासकों से लोहा लेना पड़ा। वास्तव में वीरता, शौर्य, आत्मबल और देश के हित में प्राणोत्सर्ग करने के व्यक्तिगत उदाहरण तो इस युग में भी कई मिल जाते हैं किन्तु संगठन या संघ-शक्ति के अभाव से इनके प्रभावी परिणाम दिखाई नहीं पड़ते। संगठन के रूप में भी सिंध के चाच वंश, प्रतिहार वंश, काबुल और पंजाब के शाही वंश, चौहान और कन्नौज वंश आदि ने समय-समय पर मुगलों की बढ़ती हुई सेनाओं का सफलतापूर्वक सामना किया किन्तु अधिकांशतः आपसी फूट और कलह तथा विलासिता के कारण भारतीय शक्ति ध्वस्त होती रही। ऐसे में इस्लाम ने भारत को समानता का मन्त्र देकर दलितों को ऊपर उठने का संकल्प भी दिया। रूढ़ियों और परम्पराओं की जड़ हिलने लगीं। इस्लाम के आगमन से लालसा जगी और आशा संचरित होने लगी। क्षुद्रता, अहंकार, संकीर्णता, मिथ्याचार तथा बाह्याडंबरों में डूबा भारत, विक्रमादित्य तथा चन्द्रगुप्त के आदर्शों से विचलित होता भारत मुगलों की बढ़ती शक्ति के आगे नतमस्तक होता गया। भारतीय समाज में कायरों और भीरूओं की संख्या बढ़ने लगी। जनसंपर्क के अभाव तथा दोषपूर्ण राजनीति से देश अपनी चेतना खो बैठा।

दसवीं शताब्दी के महमूद गज़नवी ने सन् 1000 से 1026 के बीच भारत पर सत्रह बार आक्रमण किया और यहाँ की अपार सम्पत्ति लूटकर ले गया। उसने पंजाब, कांगड़ा, कन्नौज, ग्वालियर ही नहीं सोमनाथ के मंदिर पर भी आक्रमण किया। महमूद गज़नवी की मृत्यु के बाद 1173 में मुहम्मद गोरी गज़नी ने शासन सम्भाला। उन दिनों भारत में अनेक शक्तिशाली राजपूत-राज्य भी थे। सन् 1170 ई. में कन्नौज की गद्दी पर जयचन्द आसीन हुआ। इस समय दिल्ली-अजमेर के शासक चौहानवंशी पृथ्वीराज थे। दुर्भाग्य कि इन दोनों में भी परस्पर वैर-भाव था। मोहम्मद गोरी अपने आक्रमण के समय जयचन्द के सहयोग से ही पृथ्वीराज को पकड़ने में समर्थ हो सका था। हालांकि बाद में उसने जयचन्द को भी पराजित कर दिया। मोहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत पर राज्य किया। उसने पूरे हिन्दी भाषी प्रदेश पर राज्य किया। इस प्रदेश में कन्नौज, काशी, अवध तथा पश्चिमी और उत्तरी बिहार आदि शामिल थे। तदोपरान्त भारत पर गुलाम वंश खिलज़ी के शासकों ने आधिपत्य जमाया। आदिकाल की काल-सीमा में शासन करने वाले तुर्क-अफ़गानी शासक थे। इसीलिए आदिकालीन अधिकांश साहित्य में हिन्दू शासकों के या तो पारस्परिक युद्ध वर्णित हैं और या तुर्कों-अफ़गानों से हुए युद्ध वर्णन वहाँ उपलब्ध है। अव्यवस्था लट-मार तथा विखराव के इस युग में कवियों ने दरबारी आश्रय भी ग्रहण

किया था और उनकी प्रशस्ति तथा शौर्य के गान भी लिखे थे। ऐसे परिवेश और राजनीतिक स्थिति में जन्मे आदिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति इसी कारण वीर और शृंगार बनी। यों इस युग में नीति, भक्ति या धर्म और लोक को भी साहित्य में अपनाया गया परन्तु प्रधानता युद्ध वर्णनों और शौर्य गानों की रही। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगामी इकाइयों में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही स्पष्ट करना अभीष्ट है कि राजनीतिक अवस्था की दृष्टि से उस युग का भारत कलह और विघटन के कारण एक विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क में आ रहा था। मुस्लिम शासकों के दरबार में हिन्दू कवि थे तो हिन्दू शासकों के दरबार में मुस्लिम विद्वान भी थे। परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी था। पर फिर भी भारत ने राजनीतिक पराजय के बावजूद अपनी सांस्कृतिक पहचान न खोने दी। आत्म-रक्षा के लिए किए गए संघर्ष का परिणाम हमें पूर्व मध्य युग की कविता में भी देखने को मिलता है।

अतः राजपूतों के उदय तथा उनके अद्भुत शौर्य भरे युद्ध-कारनामे अगर युगीन साहित्य में समाहित हुए तो पराजित हिन्दुओं के अहिंसक विश्वास को जैन-बौद्ध धर्म से सम्बद्ध साहित्य ने उजागर किया। चन्दवरदाई, विद्यापति, अमीर खुसरो तथा अन्य कवियों के साहित्य में इसे सहज ही देखा जा सकता है।

## 4.5.2 धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

हिन्दी साहित्य का आदिकाल धर्म एवं संस्कृति की दृष्टि से भी उथल-पुथल, लेन-देन एवं परस्पर प्रभावित करने-होने का काल था। ईसा की 8वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक तो भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांत लगभग अपरिवर्तित ही रहे किन्तु उनका बाह्य आकार काफी कुछ बदल चुका था। धर्म भारतीय संस्कृति का एक अपरिहार्य अंग है इसलिए इस युग में यह परिवर्तन धर्म के क्षेत्र में भी हुआ। धर्म की दृष्टि से तो इसे अराजकता का युग भी कहा जा सकता है। यहाँ हम आदिकाल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

### धार्मिक परिस्थितियाँ

ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी अर्थात् सम्राट हर्षवर्धन के समय में ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों का समान आदर था। यद्यपि हर्ष बौद्ध मतावलम्बी था और उसके समय में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार-प्रसार भी था, तो भी उसमें एक प्रकार की उदारता और धार्मिक सहिष्णुता थी। फलतः उसके समय में विभिन्न धर्मों में आपसी मेल-जोल था। इन धर्मों ने आपस में काफी आदान-प्रदान करते हुए समन्वय का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। किन्तु राजनीति की तरह हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद स्थिति बदली। किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में जब देश खंड राज्यों में विभक्त हो गया तो धीरे-धीरे धर्म के क्षेत्र में भी अराजकता फैल गयी। वेद-शास्त्रों के विधि-विधान और कर्म-काण्ड को लेकर चलने वाले ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म में भी संघर्ष होने लगे।

विभिन्न धार्मिक संप्रदाय अपने पवित्र रूप को सुरक्षित न रख पाये तो विकृत होकर नये-नये रूपों में जनता के सामने आने लगे। परिणामतः आम आदमी धर्म के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ था। उदाहरण के रूप में बौद्ध धर्म अपने वास्तविक आदर्श को भुलाकर जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में विश्वास करने लगा था।

आम जनता सिद्धियों की भूल-भुलैया द्वारा दिगभ्रमित हो रही थी। बौद्ध धर्म का विकास हीनयान, वज्रयान, मन्त्रयान, सहजयान आदि और शाखाओं में होने लगा था। बौद्ध धर्म की इन शाखाओं में तंत्र, मंत्र, हठयोग आदि के साथ पंच मकारों (मांस, मैथुन, मत्स्य, मद्य तथा मुद्रा) को भी विशेष स्थान प्राप्त होता जा रहा था। इनके बिना साधना अधूरी मानी जाती थी। स्पष्ट है कि अपने इस रूप में यह मत विकारों को प्रश्रय देने लगा था तथा वाममार्गी हो गया था। तंत्र-मंत्र, जादू-टोने तथा भोग-विलास को लेकर चलने वाले ये वाममार्गी ही बौद्ध-सिद्ध कहलाए तथा दूसरी तरफ धर्म-नियम, संयम और हठयोग के द्वारा साधना के कठिन मार्ग पर बढ़ने वाले नाथ सिद्ध के रूप में जाने गए। पर अपने मूल रूप में ये दोनों ही बौद्ध थे जो धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के विकृत या परिवर्तित रूप में ढलते चले गए।

दरअसल इस युग का धर्म-वैविध्य ही उसे सम्प्रदायों की दल-दल की ओर ले जा रहा था। एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति में लीन इन धर्मों के संदर्भ में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं—"इस काल के हिन्दी प्रदेश और उसकी सीमाओं के आसपास जैन धर्म,

बौद्ध धर्म के वज्रयानी रूप, तांत्रिक मत, रसेश्वर-साधना, उमा-महेश्वर-योग-साधना, सोम-सिद्धांत, वामाचार, सिद्ध और नाथ-पंथ, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्त मत आदि विभिन्न मत प्रचलित थे। जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास कर रही थी। भीतरी विद्वेष से जर्जर देश में इतिहास से टकराने वाला संकल्प न रह गया। दुर्भाग्यवश ये धर्म मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति के साधन बनने के स्थान पर विच्छेद-भाव उत्पन्न करने के साधन बने। (हिन्दी साहित्य का इतिहास: पृष्ठ 63)

बौद्धों के समान ही इस काल की धार्मिक पृष्ठभूमि के निर्माण में जैन धर्म का भी हाथ है। इस युग में जैन धर्म भी एक नये रूप में ढल रहा था। एक ओर तो बौद्धों की तांत्रिक-पद्धति जैन धर्म में प्रचलित हो रही थी और दूसरी ओर जैन मतावलंबी साहित्यकार अपनी रचनाओं में पौराणिक कथाओं का कुछ परिवर्तित रूप में समावेश कर रहे थे। इन रचनाओं में राम, कृष्ण आदि पौराणिक पात्रों को भी जैन धर्म में दीक्षित होते दिखाया जा रहा था।

इस काल की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करते समय यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इस समय के विभिन्न शासक न केवल अलग-अलग धर्मों के मानने वाले थे, वरन् वे उन धर्मों के प्रचार-प्रसार में भी सहायक थे। उदाहरण के लिए पश्चिमी बंगाल के पालवंशी गौड़ शासक बौद्ध थे, अतः उन्होंने सहजयानी बौद्धों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया। इसके विपरीत, पूर्वी बंगाल के सेन शासक वैदिक धर्मावलंबी थे, अतः उन्होंने ब्राहमण धर्म को प्रश्रय दिया। इसी प्रकार गुजरात के शासक सिद्धराज जयसिंह और कुमार पाल ने जैन धर्म को प्रोत्साहन दिया।

इस काल में वैदिक, बौद्ध एवं जैन धर्म साथ-साथ प्रचलित थे और वैदिक धर्म का कभी-कभी बौद्ध या जैन धर्म से संघर्ष भी हो जाता था, पर धीरे-धीरे वैदिक या ब्राहमण धर्म बल पकड़ता गया तथा बौद्ध एवं जैन धर्म कमजोर पड़ते गये। इसका प्रमुख कारण यह है कि युद्धों के उस काल में अहिंसा पर आधारित बौद्ध-जैन धर्म राजाओं की मनोवृत्ति के अनकूल नहीं हो सकते थे, इसलिए शैव मत का प्रभाव भी बढ़ता गया।

पूर्वी बंगाल के सेन शासक वैदिक मत को मानने वाले थे। उन्हीं के समान मालवा के शासक भी वैदिक मतानुयायी थे। मध्य प्रदेश गाहड़वार स्मार्त थे तथा कलचुरि वंश शैव मत का समर्थक था। वैदिक, स्मार्त, शैव आदि ब्राहमण धर्म के ही विभिन्न रूप हैं। अन्य अनेक राजपूत राजा भी किसी-न-किसी रूप में ब्राहमण धर्म को ही मानते थे। यहां यह भी स्पष्ट रहना चाहिए कि भारत में इस्लाम धर्म का प्रवेश तुर्कों-अफ़गानों के माध्यम से ही हुआ। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से, इस काल में दक्षिण में वैष्णव भक्ति का विकास तो हुआ, पर उसका विशेष प्रभाव उत्तर भारत पर इस समय न पड़ सका। रामानुज, निम्बार्क आदि वैष्णव आचार्यों का प्रभाव हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल पर स्पष्टतः देखा जा सकता है।

अतः इस युग में अनेक प्रकार के धार्मिक मत-मतान्तर, तंत्र-मंत्र, टोने-टोटके, प्रतिद्वन्द्वी धार्मिक दल, इस्लाम की बढ़ती शक्ति, ब्राहमण-विरोध, वेद-विरोध, वैदिक और बौद्ध धर्मावलंबियों के संघर्ष तथा सांप्रदायिक विद्वेष आदि कई स्वरूप एक साथ देखने को मिलते हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप किसी के सामने स्पष्ट न था और न ही उसे स्पष्ट करने वाला कोई सद्गुरू उपलब्ध था। सभी अपने-अपने मत-प्रचार में डूबे थे। इन विषम धार्मिक-स्थितियों ने साहित्य को भी प्रभावित किया। इनके कर्मकाण्ड और आडम्बर यहाँ भी प्रवेश कर गए। मिथ्या-विश्वास साहित्य में घर करने लगे। धर्म के इस स्वरूप का प्रभाव भी आदिकाल के अधिकांश साहित्य पर सहज ही देखा जा सकता है।

**सांस्कृतिक परिस्थितियाँ**

सम्राट हर्षवर्धन के समय तक भारत सांस्कृतिक दृष्टि से ही नहीं राष्ट्रीय दृष्टि से भी सम्पन्न तथा संगठित था। उस समय की सांस्कृतिक उन्नति एवं उत्कर्ष को संगीत, चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य आदि कलाओं में प्रस्तुत भावों द्वारा भी आंका जा सकता है। जातीय एवं राष्ट्रीय गौरव का यह भाव कई स्थानों पर देखने को मिलता है।



भारत संसार के अत्यधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत देशों में गिना जाता था तथा यहाँ की कलाएँ पर्याप्त विकसित एवं उन्नत मानी जाती थीं। यहाँ के लोगों का जीवन धर्म-भावना से ओतप्रोत, पवित्र एवं सुसंस्कृत था। इसकी झलक तत्कालीन स्थापत्य, मूर्ति एवं संगीत कला

में भी दिखलायी पड़ती है। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथ, बेलोर, कांची, तंजोर आदि के मंदिर इसी कथन का प्रमाण हैं।

डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा कहा गया है। यह सच है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारंभ जब होता है तब एक तरफ तो भारतीय संस्कृति अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर आरूढ़ थी और जब आदिकाल का समापन हो रहा था तब मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण शिखर सथापित होने लगे थे। कहा भी गया है कि "भारत में मुस्लिम संस्कृति के समय यहाँ की विभिन्न जातियों, मतों, आधार-विचारों आदि में दीर्घ काल से चली आती हुई समन्वय की एक व्यापक प्रक्रिया पूर्णता को पहुँच रही थी। हर्षवर्धन के विशाल साम्राज्य ने हिन्दू धर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास: संपादक: डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 73)

स्पष्ट है कि ईसा की ।।वीं सदी में यवनों के आक्रमणों और उनके बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप इस्लाम संस्कृति का प्रवेश जब इस देश में हुआ तो उससे दोनों संस्कृतियों (हिन्दू एवं इस्लाम संस्कृति) का एक दूसरे से प्रभावित होना सहज-स्वाभाविक था। प्रारंभ में ये दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सामने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में तन कर खड़ी होती हैं, पर जैसे-जैसे सत्ता में मुगलों का प्रभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे इस्लाम संस्कृति की छाप हिन्दू संस्कृति पर पड़ती गयी। तत्कालीन जन-जीवन तथा विभिन्न कलाओं पर यह छाप स्पष्ट रूप में देखी जा सकती है।

मूर्ति कला के संदर्भ में अगर देखें तो इस्लाम मूर्तिपूजा का विरोधी रहा है, अत: यवनों के शासन में इस कला का ह्रास हुआ। महमूद गज़नवी एवं मुहम्मद गोरी ने अपने आक्रमणों के दौरान सिर्फ लूटपाट ही नहीं की, मंदिरों में स्थित अनेक मूर्तियों को भी तोड़ा-फोड़ा। महमूद भारत के अनेक शिल्पकारों को अपने साथ गज़नी ले गया, फलत: इस काल के वहाँ के स्थापत्य पर भारतीय शिल्प का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। कहने का आशय इतना ही है कि आदिकाल में संस्कृतियों का संक्रमण दिखायी देता है। हिन्दू संस्कृति मुस्लिम संस्कृति से तथा मुस्लिम संस्कृति हिन्दू संस्कृति से किसी-न-किसी रूप में प्रभाव ग्रहण करती है। यों भारत में नाना देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी, जिन में शिव और शक्ति का महत्व बढ़ रहा था।

## 4.5.3 सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ

देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर पूर्व चर्चित राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था। इन्हीं स्थितियों का परिणाम था कि समाज विभिन्न वर्णों तथा जातियों में पूरी तरह बंटा हुआ था। संगठित सामाजिक व्यवस्था की आशा भी शेष न थी। धार्मिक अराजकता ने सामाजिक जीवन को आडम्बरयुक्त बना दिया था। ब्राहमणों की श्रेष्ठता धीरे-धीरे कम होने लगी थी। राजपूत और क्षत्रियों का प्रभाव समाज में बढ़ रहा था। उनकी शक्ति और शौर्य के चर्चे चारों तरफ थे। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि वे राष्ट्र और समाज के हित को भूलकर आपसी फूट और झगड़ों में डूबे थे। वैयक्तिक-स्पर्द्धाओं से अंधे हो चुके थे। हालांकि इस युग में भी बीसलदेव व राणा सांगा जैसे राष्ट्रीय भावना वाले क्षत्रिय थे किन्तु अधिकांश लोगों में इस भावना का अभाव था। जाति-पाति, ऊँच-नीच, गोत्र तथा वर्ण आदि के भाव ही प्रबल थे।

सामाजिक रीति-रिवाज और विधि-विधानों का कट्टर-प्रचलन सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न कर रहा था। जनता शासन और धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों में उन्हें बुरी तरह पीसा जा रहा था। ईश्वर का स्वरूप भी भ्रमित था। उच्च वर्ग और वर्ण के लोग भोग कर रहे थे तथा निर्धन व निम्न वर्ग के लोग पिस रहे थें। नारी भोग्या और स्वयंवरों की शोभा बनती जा रही थी। शिक्षा की व्यवस्था के अभाव में साम्प्रदायिक तनाव, सतीप्रथा तथा अन्धविश्वास जैसे अभिशाप मनुष्य को भ्रमित कर रहे थे। साधु-सन्यासियों के श्राप और वरदानों के बीच जन सामान्य आतंकित था। निर्धनता और महामारियाँ सामाजिक जीवन को विषम बना रही थीं। आदिकाल के कवियों ने ऐसे परिवेश और वातावरण में काव्य-रचना की सामग्री जुटायी। समाज में घटित चक्र साहित्य में जनता की रूचि के अनुकूल ही प्रतिबिम्बित होने लगा।

अत: जीवन के स्वाभाविक एवं आनन्दमय रूप का ह्रास इस युग में हो रहा था। ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक वर्णों में विभाजित भारत सामाजिक आदर्श खो बैठा था।

समाज की संकीर्णता अनेक प्रतिबंधों में अभिव्यक्ति पाने लगी थी। उस युग की विविध कलाओं से भी समाज के स्वरूप का प्रामाणिक परिचय मिलता है।' डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस ओर संकेत करते हुए कहा भी है "इस काल के समाज में विभिन्न वर्गों के विविध प्रकार के उत्सव और वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम प्रचलित था। आखेट, मल्ल-युद्ध, घुड़सवारी, द्यूत-क्रीड़ा, संगीत, नृत्य आदि मनोरंजन के साधन थे और कवियों का विशेष आदर था। भोजन और वस्त्रों की सफाई का ध्यान रखा जाता था। क्षत्रियों में मदिरा-पान, भांग और अफीम खाने का रिवाज था। शाक्तों और शैवों को छोड़कर शेष लोग खान-पान में सात्विकता बरतते थे।.... भारतवर्ष में कला और धर्म का वैसे भी घनिष्ठ संबंध रहा है। जैन मत में गिरिनार, सोमनाथ और आबू के जैन, वैष्णव तथा शाक्तों के खजुराहो, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मन्दिरों की अद्भुत कला के माध्यम द्वारा तत्कालीन जीवन की विविधतापूर्ण प्रेरणाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 69)।

इसी प्रकार आर्थिक स्थिति के उतार-चढ़ाव का अनुमान भी युगीन युद्धों से लगाया जा सकता है। विदेशी आक्रमणकारियों का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि भारत की संपत्ति को क्षति पहुँचाकर यहाँ का धन, सोना-चाँदी तथा हीरे-जवाहरात आदि लूट कर ले जाना। सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत इन की आँखों में खटकता था इसीलिए उन्होंने इसे लूट-लूट कर स्वर्णविहीन करने का बीड़ा उठाया। यही नहीं समय-समय पर यवन-आक्रमणकारियों ने हमारे देश में आकर तैयार खड़ी फसलों को रोंदा और जलाया भी। नगरों, गाँवों, मंदिरों तथा संग्रहालयों को तोड़-फोड़ कर लूटा भी।

स्वाभाविक है कि रोज-रोज के युद्धों-आक्रमणों का दुष्प्रभाव अर्थ-व्यवस्था तथा सामाजिक-व्यवस्था पर काफी पड़ रहा था। जनता निर्धनता और लूट-मार से आक्रान्त एवं त्रस्त हो चुकी थी। मनुष्य के लिए जीवन-यापन के साधन जुटाना भी दुर्लभ हो गया था। साहुकार तथा सामंतवादी लोग निर्धन जन-सामान्य को ऋणों तथा करों के जंजाल में उलझाते जा रहे थे। दूसरी तरफ अंधविश्वास, अपनी सीमा से बाहर जाकर निर्वाह किए जाने वाले रीति-रिवाज़ तथा तरह-तरह के विधि-विधान मनुष्य को खोखला कर रहे थे। शासक-वर्ग भोग-विलास में पैसा बहाता था और निर्धन को और अधिक सताता था। युद्धों पर अपार धन-राशि लुटाना उन्हें मंजूर था पर सामाजिक-कल्याण और आर्थिक उद्धार के लिए वे पूर्णतः निष्क्रीय थे।

अतः स्पष्ट है कि वह युग धर्म और संस्कृति की तरह सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी अराजकता का ही युग था। जमींदार, सेनानायक, शासक, भूस्वामी तथा राज्याधिकारियों के आधिपत्य का यह काल साहित्य में भी मुखर हुआ। भक्ति से शृंगार का मिश्रण, धर्म से अंधविश्वास और कुरीतियों का मिश्रण, जाति-पाति और जादू-टोनों तथा तंत्र-मंत्रों का मिश्रण, लूटमार और निर्धनता का मिश्रण, पूजा-पाठ और मानसिक अशांति का मिश्रण—सब के सब इसी तथ्य के साक्षी हैं। इन सभी को आदिकालीन साहित्य में सहज ही देखा जा सकता है।

### 4.5.4 साहित्यिक परिस्थितियाँ

आदिकालीन हिन्दी साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उस समय परम्परागत संस्कृत साहित्य की धारा, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की धारा तथा हिन्दी-भाषा-साहित्य धारा—ये तीन धाराएँ प्रचलन में थीं। इस दृष्टि से आदिकालीन साहित्यिक परिस्थितियों में साहित्य और भाषा के स्वरूप तथा स्थिति का विवेचन आवश्यक हो जाता है। जहाँ तक प्रश्न है साहित्य का, नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज और कश्मीर संस्कृत साहित्य के मुख्य केन्द्र रहे हैं। इस अवधि में संस्कृत साहित्य धारा के आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर तथा विश्वनाथ जैसे काव्यशास्त्रीय आचार्य, शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर एवं रामानुज जैसे दार्शनिक मनीषी तथा भवभूति, श्रीहर्ष और जयदेव जैसे कवि-नाटककार एक साथ देखने को मिलते हैं।

दूसरी तरफ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य पर दृष्टि डालें तो वहाँ भी उत्कृष्ट साहित्य की कमी नहीं जान पड़ती। जैन आचार्यों ने मध्य प्रदेश के पश्चिमी सीमांत क्षेत्र में रहकर संस्कृत के पुराणों को नये रूप में प्रस्तुत किया तो पूर्वी सीमांत पर सिद्धों ने भी उत्तम ग्रंथों का सृजन किया। स्वयम्भू, पुष्पदन्त तथा धनपाल जैसे जैन कवि अपनी रचनाओं में प्राकृत-अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी का मिश्रित रूप प्रस्तुत कर रहे थे तो

सरहपा, शबरपा, लुइपा, कण्हपा और गोरखनाथ तथा गोपीचन्द जैसे सिद्ध नाथ कवि अपभ्रंश के साथ लोक-भाषा हिन्दी को रचनाओं में प्रयुक्त कर रहे थे। राजशेखर की "कर्पूर-मंजरी", अमरूक का "अमरू शतक" तथा हाल की "आर्या सप्तशती" अपभ्रंश की उत्तम कृतियाँ बनीं। वास्तव में इस काल की तीन भाषाएँ तीन तरह की रचना-प्रवृत्तियों की सूचक बन जाती हैं। संस्कृत राज-प्रवृत्ति की सूचक है तो प्राकृत एवं अपभ्रंश धर्म ग्रंथों की भाषा है और हिन्दी जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं को प्रतिनिधित्व देने वाली भाषा है।

अतः स्पष्ट है कि इस चार सौ वर्षों के युग में एक तरफ तो संस्कृत के वे आचार्य, कवि तथा दार्शनिक उपलब्ध हुए जिनकी रचनाएँ, विचारधाराएँ तथा सिद्धांत आज भी अनुकरणीय बने हुए हैं। दूसरी तरफ मुख्यतः धार्मिक-साहित्य का माध्यम बनने वाली प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में लिखा गया साहित्य था। इस ग्रंथ में संस्कृत को भी अपनाया गया। इस युग की अपभ्रंश भाषा में मिलने वाली अन्य प्रसिद्ध कृतियों में "सन्देश-रासक", "भविसयत्तकहा", "पउमचरिउ" तथा "परमात्मप्रकाश" आदि भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है कि प्राकृत-अपभ्रंश भाषा के विभिन्न रूपों से ही आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म भी हुआ है। अपभ्रंश के परवर्ती विकास को तो "अवहट्ट" या "पुरानी हिन्दी" कहा भी जाता रहा है।

आदिकाल के वीरगाथात्मक काव्य में आश्रयदाताओं के शौर्य-गान और अतिरंजनापूर्ण प्रशस्ति गान को तो सहज ही देखा जा सकता है। विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, खुमान *रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो आदि रचनाओं से यह प्रमाणित* भी होता है। अगली इकाइयों में आप इसका विस्तृत विश्लेषण भी कर सकेंगे। यहाँ केवल यह जान लेना पर्याप्त है कि आदिकालीन विघटन भरी इन विविध परिस्थितियों में रहकर भी साहित्यकार सृजन से जुड़ा रहा। साहित्य और भाषा को इस वातावरण में भी पर्याप्त अवसर मिलते रहे। यही कारण है कि इस युग में वीर, भक्ति तथा शृंगार के साथ धार्मिक, लौकिक और नीतिपरक साहित्य भी लिखा जाता रहा। इस साहित्य-सृजन का माध्यम बनने वाली भाषाओं में वैदिक-संस्कृत, संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषाएँ अपना पूरा योगदान देती रहीं। यही नहीं, इस युग और परिवेश में हमें चन्दबरदाई, विद्यापति, अमीर खुसरो, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, सरहपा, गोरखनाथ, अब्दुर्रहमान, दलपति विजय, नरपति नाल्ह तथा जगनिक जैसे साहित्य-सृजक भी उपलब्ध होते हैं। अतः दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल साहित्य और भाषा की दृष्टि से विकास का काल था। विविध काव्य रूपों और शैलियों में वीरगाथाओं को प्रस्तुत करते हुए युद्धों के सजीव वर्णन किए गए, शृंगार रस की कुशल अभिव्यक्ति की गई, आश्रयदाताओं की प्रशंसा और शौर्य गान होते रहे, राष्ट्रीयता से दूर कवि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता रहा, ऐतिहासिक असंगतियाँ काव्य में पनपती रहीं, भक्ति, नीति और प्रकृति का भी वर्णन होता रहा। इन सभी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन आगामी दोनों इकाइयों में किया जायेगा। यहाँ आदिकालीन भाषा और साहित्य-सामग्री को स्पष्टतः समझने के लिए एक तालिका प्रस्तुत है। इससे आप स्थिति को आसानी से जान सकेंगे—

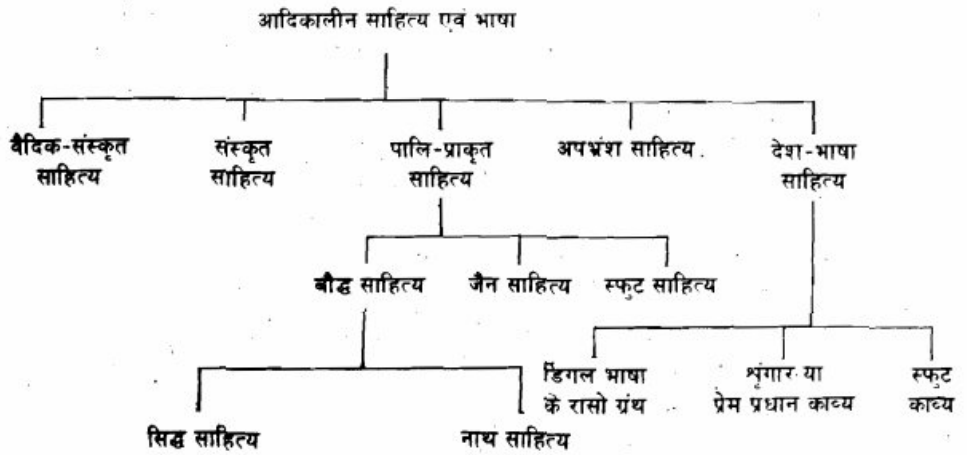

## 4.6 आदिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

इस समग्र विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि आदिकाल का युग राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक रूप से उथल-पुथल तथा बिखराव का युग था। इन सभी परिस्थितियों ने उस युग के साहित्य एवं साहित्यकारों को जो परिवेश और पृष्ठभूमि दी उसकी अभिव्यक्ति भी साहित्य में सहज ही दिखाई देती है। यों भी साहित्य को तो समाज का दर्पण कहा जाता रहा है। वास्तव में समय एवं स्थिति ने जैसा बीज-वपन किया परिवेश ने वैसा ही फल प्रदान किया। नेतृत्व प्रदान करने वाले ही जन-सामान्य को दिशा-दृष्टि भी देते हैं। इस युग के शासक और उनकी शासन-व्यवस्था की देन ने जन-मानस को ही नहीं सृजक-मनीषा को भी प्रभावित किया और परिणाम "साहित्य" के रूप में सामने आया। साहित्यिक सामग्री और साहित्यकारों की मानसिकता की द्योतक बनी साहित्य-प्रवृत्तियाँ उस युग की परिस्थितियों से प्रभावित और नियंत्रित होती रहीं। यह भी असंदिग्ध है कि ऐसी अव्यवस्था तथा अराजकता के युग में किसी एक भाषा और उसके साहित्य का विकसित होना भी सरल नहीं। इसलिए इस युग में एक साथ कई भाषाएँ और वैविध्य-सम्पन्न साहित्य के दर्शन होते हैं। वास्तव में शासक की रुचि, ज्ञान और मनोवृत्ति के आधार पर ही अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य और भाषा का विकास हो सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" में चित्तवृत्तियों को व्यक्तित्व और परिस्थितियों से प्रभावित होने की चर्चा करते हुए कहा भी है—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।" (पृष्ठ 1)

अतः यह स्पष्ट है कि जन-मानस की चित्तवृत्ति, शासक की रुचि तथा परिवेश का रूख ही आदिकाल में भी साहित्य धारा की दिशा निर्धारित करता है। चाहे वह वीरगाथा साहित्य हो या भक्ति, नीति और प्रकृति संबंधी हो, चाहे वह शृंगारपरक साहित्य हो या प्रशस्ति और शौर्य-गान संबंधी, सभी में युग का प्रतिबिंब झलकता है। शासकों के आश्रय में ही साहित्य पला और वहीं भाषा ने भी विकास पाया। एक शासक ने किसी विशेष भाषा और साहित्य-प्रवृत्ति को आश्रय दिया तो अन्य ने किसी और को। हर्षवर्धन के काल में राज्याश्रित भाषा संस्कृत थी तो गुजरात के राज्याश्रयों में अपभ्रंश सम्मानित हो रही थी। मालवा के परमारों तथा बुंदेलखण्ड के चन्देलों के दरबार में भाषा-कवियों द्वारा साहित्य को सजाया-संवारा जाता रहा। इसी प्रकार युद्धों के वातावरण ने वीरगाथात्मक काव्य को प्रोत्साहित किया तो अंधविश्वासों, नारी को उपभोग्य मानने वाली दृष्टियों तथा धर्म और समाज के अनाचारों-दुराचारों को सिद्ध-साहित्य की साधना-पद्धति में अभिव्यक्ति मिली।

अतः कह सकते हैं कि साहित्य और भाषा की दृष्टि से सम्पन्न हिन्दी साहित्य का यह प्रारंभ काल जिसे आदिकाल कहा गया, उसकी भाषा एवं साहित्य पर युगीन परिवेश तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता रहा और उसी से वह साहित्य नियमित एवं नियंत्रित भी होता रहा।

**बोध प्रश्न 2**

1) निम्नलिखित प्रश्नों के लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए:

   i) आदिकाल की राजनीतिक परिस्थितियाँ क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) आदिकालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) आदिकाल की साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iv) आदिकालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियां कैसी थीं? समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) आदिकालीन साहित्य को युगीन परिस्थितियों ने कैसे प्रभावित किया? लगभग पाँच-छः पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नीचे दिए गए कुछ वाक्य सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न से स्पष्ट कीजिए–

i) आदिकाल के विकास का समय ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से शांति का समय था। ( )

ii) आदिकाल में शासक और जनता की रुचि तथा मनोवृत्ति के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य एवं भाषा का विकास हुआ। ( )

iii) जनता की चित्तवृत्तियाँ युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अप्रभावित रहती हैं। ( )

iv) आदिकालीन साहित्य में युगीन परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित होते नहीं देखा गया। ( )

v) आदिकालीन साहित्य में संस्कृत साहित्य तथा प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य अत्यंत गौण है जबकि हिन्दी-भाषा साहित्य प्रमुख है। ( )

## 4.7 सारांश

आदिकालीन परिस्थितियों के अध्ययन संबंधी इस इकाई के विस्तृत विवेचन एवं गहन विश्लेषण से आप यह जान सके कि–

- युग के साहित्य को नियमित नियंत्रित करने वाली स्थितियों के कारण आदिकालीन साहित्य परस्पर विरोधी चिन्तनधाराओं की वैविध्यमयी-अभिव्यक्ति का साहित्य है।
- कवि या लेखक साहित्य-सृजन से परिवेश और स्थितियों को निर्मित-परिवर्तित करता है तो सामाजिक वातावरण और युगीन परिस्थितियों में शामिल संदर्भ, घटना, परिवेश और समय-चक्र भी लेखन को दिशा-दृष्टि देकर प्रभावित करते हैं।
- दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के उस हिन्दी साहित्य को आदिकाल कहा गया जिसमें राजनैतिक उथल पुथल, विदेशी आक्रमण, दो-दो संस्कृतियों के मिलन, अशांत, अव्यवस्थित तथा विघटन भरी सामाजिक स्थिति, धर्म एवं संप्रदाय वैविध्य, दर्शनों के बिगड़ते स्वरूप, जन-मानस को पथ-विचलित करते टाने-टोटके या तंत्र-मंत्र और जैन, वैष्णव, शैव, कापालिक, शाक्त तथा सिद्ध-नाथ आदि धार्मिक सम्प्रदायों के आधिपत्य का वर्णन किया गया है।
- युगीन परिवेश और युद्ध के वातावरण एवं उनके कारणों से वीर तथा शृंगार रस परक काव्य-सृजन की पृष्ठभूमि बनती रही और शासक की चित्तवृत्ति तथा जन-मानस की तात्कालिक रुचि के अनुरूप साहित्य ढलता गया।
- जिस युग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि युद्ध, विघटन, अराजकता तथा सत्ता-मद के कारण आदर्श-साहित्य-सृजन में सहायक न थी उसमें भी पर्याप्त साहित्य तथा कई भाषाओं का विकास संभव हो सका।
- आदिकालीन साहित्य का प्रेरणा-स्रोत बनने वाली संस्कृत, पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य ने उस युग के कवियों, शासकों और चिंतकों को प्रभावित भी किया। काव्यशास्त्र तथा काव्य के क्षेत्र में संस्कृत की इस परम्परा का अनुसरण रीतिकाल तक किया जाता रहा।
- आदिकालीन परिवेश, रुचि, स्थितियों और चित्तवृत्तियों ने भाषा एवं साहित्य को जनता तथा शासक की अपेक्षाओं के अनुकूल बनाने के लिए नियमित एवं नियंत्रित किया।

## 4.8 शब्दावली

**स्वतोव्याघात** : स्वयं उत्पन्न की गई बाधाएँ
**मनोभाव** : मन में स्थित भाव
**राज्याश्रय** : किसी राज्य अर्थात् शासक विशेष के राज में आश्रय
**वायवी** : निराधार, हवाई या अविश्वसनीय
**नियामक** : नियंत्रित करने वाला
**मतावलंबी** : किसी मत विशेष के समर्थक
**निराश्रित** : आश्रय रहित
**आक्रांत** : भयभीत या सहमा हुआ
**देशीभाषा** : लोकभाषा, जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा
**चरित काव्य** : ऐसा काव्य जिसमें किसी व्यक्ति का चरित्र-चित्रण प्रमुख हो
**अतिरंजनापूर्ण** : अत्यंत बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया

## 4.9 उपयोगी पुस्तकें

**हिंदी साहित्य का इतिहास**, संपादक, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

**आदिकाल की भूमिका**, पुरुषोत्तम प्रसाद असोपा, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर।

**हिंदी साहित्य का इतिहास**, डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

**हिन्दी साहित्य का इतिहास**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

**हिंदी साहित्य का आदिकाल**, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

**हिंदी साहित्य की भूमिका**, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

## 4.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) √
   ii) ×
   iii) √
   iv) ×
   v) ×
2) i) देखिए 4.2.1
   ii) देखिए 4.2.2
   iii) देखिए 4.3
3) देखिए 4.4

**बोध प्रश्न 2**

1) i) देखिए 4.5.1
   ii) देखिए 4.5.2
   iii) देखिए 4.5.4
   iv) देखिए 4.5.3

2) देखिए 4.6

3) i) ×
ii) √
iii) ×
iv) ×
v) ×

# इकाई 5 आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

## इकाई की रूपरेखा


5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 धर्म संबंधी साहित्य
  5.2.1 सिद्ध कवि
  5.2.2 नाथ कवि
  5.2.3 जैन कवि
5.3 चारण कवि
5.4 लौकिक साहित्य
  5.4.1 अमीर खुसरो
  5.4.2 विद्यापति
  5.4.3 भविसयत्त कहा
5.5 सारांश
5.6 उपयोगी पुस्तकें
5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 5.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आप आदिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन कर चुके हैं। यह इकाई आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- धर्म संबंधी साहित्य के अंतर्गत जैन, नाथ तथा सिद्ध साहित्य की विशेषताओं को समझा सकेंगे,
- चारण कवियों द्वारा रचित काव्य के विषय में बता सकेंगे, तथा
- लौकिक साहित्य के अंतर्गत अमीर खुसरो एवं विद्यापति के काव्य की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

## 5.1 प्रस्तावना

इकाई 4 में आपने आदिकालीन परिस्थितियों के विषय में जानकारी प्राप्त की। आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठ रहा होगा कि उन परिस्थितियों में किस प्रकार के साहित्य की रचना हुई। यह इकाई आपके उसी प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रस्तुत है। इस इकाई में हम आपको उस काल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी देंगे।

आदिकालीन साहित्य को हमने विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया है—धर्म संबंधी काव्य, चारण कवियों द्वारा रचित रासो काव्य तथा लौकिक साहित्य। "धर्म संबंधी काव्य" के अंतर्गत नाथ, सिद्ध तथा जैन साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः इन तीनों संप्रदायों के साहित्य का मुख्य विषय धर्म तथा साधना पक्ष का प्रचार प्रसार काव्य के माध्यम से करना है। यद्यपि जैन कवियों ने केवल धर्म संबंधी साहित्य की रचना ही नहीं की है अपितु उन्होंने "रासो" के नाम से भी काव्य रचना की तथा लौकिक साहित्य लेखन में भी योगदान दिया। परंतु इस वर्ग के अंतर्गत केवल उनके धर्मोपदेश संबंधी साहित्य की ही चर्चा की गई है। उनके द्वारा रचित रासो कृतियों की चर्चा हम इकाई 6 में करेंगे।

चारण कवियों द्वारा रचित "रासो काव्य" वर्ग के अंतर्गत उस काल में "रासो" के नाम से लिखे गए वीरगाथात्मक साहित्य का विवेचन किया गया है। वस्तुतः रासो काव्य लेखन उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति मानी जाती है। रासो साहित्य की मुख्य रूप से तीन प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं—वीरगाथात्मक रासो काव्य, शृंगार परक रासो काव्य, तथा धार्मिक रासो काव्य।

वस्तुतः रासो काव्य की विस्तारपूर्वक चर्चा अगली इकाई में की जाएगी। इस इकाई में केवल चारण कवियों द्वारा रचित वीरगाथात्मक साहित्य की चर्चा की गई है।

"लौकिक साहित्य" के अंतर्गत उन फुटकर कवियों तथा काव्य कृतियों का विश्लेषण किया गया है जिन्होंने लीक से हटकर काव्य लेखन के क्षेत्र में कुछ नवीन कार्य किया। इस वर्ग के कवियों में अमीर खुसरो तथा विद्यापति का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। काव्य-कृति के क्षेत्र में "धनपाल" की "भविसयत्त कहा" प्रमुख है। अमीर खुसरो ने ही सर्वप्रथम खड़ी बोली को काव्य लेखन का माध्यम बनाया तथा पहेलियों एवं मुकरियाँ लेखन की शुरुआत की। विद्यापति ने राधाकृष्ण को नायक-नायिका मानकर जिस शृंगारिक काव्य लेखन की प्रवृत्ति को अपनाया वह "रीतिकाल" में अपनी पूर्णता में द्रष्टव्य है। "भविसयत्त कहा" के कवि ने काव्य लेखन के पारंपरिक शास्त्रीय विधान से अलग हट कर अपने काव्य का नायक एक साधारण एवं सामान्य व्यक्ति को बनाया तथा उसके जीवन का चरित प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों की चर्चा इस इकाई में की गई है। जिससे परवर्ती साहित्य पर भी उस युग के साहित्य के प्रभाव की जानकारी आप को मिल सकेगी।

## 5.2 धर्म संबंधी साहित्य

धर्म संबंधी साहित्य के अंतर्गत उस साहित्य का उल्लेख किया जाता है जो किसी मत विशेष के प्रचार-प्रसार करने हेतु लिखा गया। इसमें जैन धर्म, सिद्ध संप्रदाय तथा नाथ संप्रदाय के कवियों की रचनाएँ समाहित हैं। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना था कि ये रचनाएँ विविध धर्मों के विषय में लिखी गई हैं, इसलिए इन्हें साहित्यिक रचनाएँ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये रचनाएँ केवल धर्म का प्रचार मात्र ही नहीं थीं अपितु इन्हें उत्तम काव्य की कोटि में भी रखा जा सकता है। इस संदर्भ में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि "इधर जैन, अपभ्रंश चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।..... अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्संदेह उत्तम काव्य हैं।..... यह बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।"

धर्म-संबंधी साहित्य के अंतर्गत हम उस काल के प्रमुख संप्रदायों एवं उनके प्रमुख कवियों द्वारा रचित साहित्य की विवेचना करेंगे। सबसे पहले सिद्ध संप्रदाय के साहित्य का विश्लेषण किया गया है।

### 5.2.1 सिद्ध कवि

सिद्ध संप्रदाय को बौद्ध धर्म की परम्परा का हिन्दू धर्म से प्रभावित एक धार्मिक आन्दोलन माना जाता है। तांत्रिक क्रियाओं में आस्था तथा मंत्र द्वारा सिद्धि चाहने के कारण इन्हें "सिद्ध" कहा जाने लगा। इन सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। राहुल सांकृत्यायन ने तथा आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इन 84 सिद्धों के नामों का भी उल्लेख किया है जिनमें सरहपा, शबरपा, कण्हपा, लुइपा, डोम्भिपा, कुक्कुरिपा आदि प्रमुख हैं। इन सभी सिद्धों के नाम के आगे लगा "पा" शब्द सम्मानसूचक शब्द "पाद" का विकृत रूप है। इनमें से केवल 14 सिद्धों की रचनाएँ ही अभी तक उपलब्ध हैं।

सिद्धों द्वारा जनभाषा में लिखित साहित्य को सिद्ध साहित्य कहा जाता है। यह साहित्य वस्तुतः बौद्ध धर्म के वज्रयान का प्रचार करने हेतु रचा गया। अनुमानतः इस साहित्य का रचनाकाल सातवीं से तेरहवीं शती के मध्य तक है। इन सिद्ध कवियों की रचनाएँ प्रमुखतः दो काव्य रूपों में मिलती हैं—"दोहा कोष" तथा "चर्यापद"। सिद्धाचार्यों द्वारा लिखित दोहों का संग्रह "दोहा कोष" के नाम से जाना जाता है तथा उनके द्वारा रचित पद "चर्यापद" या "चर्यागीत" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सिद्ध साहित्य में स्वाभाविक सुख भोगों को स्वीकार करने की बात की गई है तथा गृहस्थ जीवन पर बल दिया गया है। इन्होंने पाखंड तथा बाह्य अनुष्ठानों का विरोध कर अपने शरीर में ही परमात्मा का निवास माना है। सिद्धों के साहित्य में गुरु के विशेष महत्व को

प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार शरीर में स्थित ब्रह्म की प्राप्ति गुरु की कृपा के द्वारा ही संभव है। क्योंकि विविध तांत्रिक क्रियाओं एवं उनके प्रयोगों का विश्लेषण गुरु ही बता सकता है जिसके माध्यम से अभीष्ट की प्राप्ति की जा सकती है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार सिद्ध साहित्य की "रचनाओं में प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, काया योग, सहज शून्य की साधना और भिन्न प्रकार की समाधिजन्य अवस्थाओं का वर्णन हैं।"

सिद्ध साहित्य की भाषा को अर्धमागधी अपभ्रंश के निकट माना जाता है। चूंकि इस साहित्य की भाषा को अपभ्रंश तथा हिन्दी के सन्धि काल की भाषा माना जाता है, अतः इसे "संध्या या सन्ध्या भाषा" का नाम भी दिया गया है।

**प्रभाव**

वस्तुतः सिद्ध कवियों का अभीष्ट काव्य लेखन नहीं था। वे तो केवल अपने विचारों एवं सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए जनभाषा में साहित्य रचते थे। इनकी भाषा शैली में जो अक्खड़पन और प्रतीकात्मकता है उसका प्रभाव परवर्ती हिन्दी साहित्य पर पड़ा। इन कवियों ने अपनी बात सीधे-सादे ढंग से न कहकर तंत्र-मंत्र के अंतर्गत प्रयोग किये जाने वाले विशिष्ट शब्दों के माध्यम से की है। कबीर आदि सन्त कवियों में द्रष्टव्य यह विशिष्ट शैली तथा अक्खड़पन इन्हीं कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन परवर्ती हिन्दी कवियों पर इनके प्रभाव के संबंध में कहते हैं—"यही कवि हिन्दी काव्यधारा के प्रथम स्रष्टा थे। नए-नए छंदों की सृष्टि करना तो इनका अद्भुत कृतित्व था। इन्होंने दोहा; सोरठा, चौपाई, छप्पय, आदि कई सौ छंदों की सृष्टि की, जिन्हें हिन्दी कवियों ने बराबर अपनाया है।"

अभी तक जिन 14 सिद्धों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं उनमें सरहपा का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। सरहपा को सरहपाद, राहुलभद्र आदि कई नामों से जाना जाता है। इनका समय 769 ई. के लगभग स्वीकार किया जाता है। माना जाता है कि इन्होंने 32 ग्रंथों की रचना की। जिनमें 'कायाकोश', 'दोहाकोष', 'सरहपादगीतिका' तथा 'चर्यागीति-दोहाकोष' प्रमुख हैं। ये ग्रंथ वज्रयान की विवेचना से संबद्ध हैं।

दोहा कोष इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमें "दोहा" छंद का प्राधान्य है। इस कृति की मूल हिन्दी भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव माना जाता है। इसमें कवि ने गुरु की सेवा को प्रमुखता दी है तथा पाखण्ड का विरोध किया है। इस कृति में निहित विचारों तथा शिल्प का प्रभाव ही कबीरादि पर माना जाता है। कवि ने कृति में स्वीकार किया है कि शास्त्रों के वर्णन से ही ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह तो हमारे भीतर ही रहता है—

"पंडिअ सअल सत्य वक्खाणअ।
देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणअ।।"

(अर्थात् पंडित सभी शास्त्रों का बखान करते हैं, किन्तु देह में बसने वाले बुद्ध (अर्थात ब्रह्य) को नहीं जानते)।

सरहपा ने अपनी इस कृति में ब्राह्मण जैन आदि सम्प्रदायों में फैले व्यभिचार तथा पाखंड की निन्दा भी की है।

सरहपा के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय सिद्ध कवि शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कुक्कुरिपा कण्हपा तथा शान्तिपा हैं। शबरपा को सरहपा का शिष्य माना जाता है। अनुमानतः इन्होंने 16 ग्रंथों की रचना की जिनमें 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध कृति है। इन्होंने स्वाभाविक जीवन पर बल देते हुए माया मोह का विरोध किया है। चौरासी सिद्धों में लुइपा का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। ये शबरपा के शिष्य थे। इनके काव्य में दर्शन एवं रहस्य भावना का प्राधान्य हैं। डोम्भिपा ने 21 ग्रंथों की रचना की जिनमें "डोम्बि-गीतिका" प्रमुख है। कुक्कुरिपा ने लगभग 16 ग्रंथों का प्रणयन किया। इनके काव्य का मूल विषय भी साधना एवं गुरु का महत्व प्रतिपादन करना है। कण्हपा ने सर्वाधिक कृतियों की रचना की। इनकी रचनाएँ 74 मानी गई हैं जिनमें "कण्हपादगीतिका" तथा "दोहाकोश" प्रमुख हैं। इनके ग्रंथ दर्शन तथा तंत्र पर आधारित हैं। शान्तिपा अनेक विहारों का भ्रमण कर प्राचीन धर्म ग्रंथों का अध्ययन तथा धर्मप्रचार किया करते थे। उन्होंने मनुष्य के जीवन का मूल उद्देश्य सहजानंद की प्राप्ति को माना है। यह आनंद माया मोह का त्याग करने पर शरीर के भीतर ही प्राप्त होता है जिसका मार्गदर्शक गुरु है।

इन सभी सिद्ध कवियों की रचनाओं का मूल विषय साधना का निरूपण तथा अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करना था। अतः उन्होंने अलंकार या काव्य सौंदर्य पर बल नहीं दिया बल्कि ऐसी भाषा में धर्म प्रचार किये जो लोकभाषा थी। उन्होंने जिस प्रतीकात्मक शैली में बात की उसे साधना पक्ष की पारिभाषिक शब्दों को जानकर ही समझा जा सकता था।

### 5.2.2 नाथ कवि

नाथ संप्रदाय को सिद्धों की परम्परा का विकसित रूप माना जाता है। नाथ साहित्य का प्रवर्तक गोरखनाथ को स्वीकार किया जाता है। इस सम्प्रदाय के रचनाकारों ने सिद्ध साहित्य को और अधिक पल्लवित किया। इनकी साधना सिद्ध साधना से अलग है। इन्होंने सिद्धों द्वारा अपनाए गए योग प्रधान योगमार्ग के स्थान पर हठयोग-साधना का मार्ग अपनाया। इस संप्रदाय ने शैवमत के सिद्धांतों को स्वीकार किया तथा शिव को आदिनाथ माना। इनके योग मार्ग में मूलतः संयम तथा सदाचार पर बल दिया गया।

आइए, अब हम इन योगियों के साहित्य के मूल विषय तथा सिद्धांत की थोड़ी चर्चा करें। नाथ संप्रदाय को अनेक नामों से जाना जाता है जैसे–सिद्धमत, योगमार्ग, योग संप्रदाय, अवधूत मत, सिद्ध मार्ग आदि। नाथ संप्रदाय में ''नाथ'' शब्द का अर्थ ''मुक्ति देने वाला'' प्रचलित है। उन्होंने अपने साहित्य में स्पष्ट किया है कि यह मुक्ति सांसारिक आकर्षणों एवं भोग-विलास से है। इस प्रकार इस संप्रदाय के योगियों ने निवृत्ति के मार्ग पर जोर दिया तथा उन्होंने गुरु को ही इस मार्ग का मार्गदर्शक माना। उनके साहित्य में विविध साधना द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत कर परमानन्द आदि की क्रिया का विवरण मिलता है। उनके अनुसार गुरु से दीक्षा लेकर उसके उपदेश द्वारा वैराग्य प्राप्त किया जा सकता है। विरागी होने पर शिष्य प्राणसाधना के माध्यम से कुंडलिनी जाग्रत कर मन को अंतर्मुखी कर लेता है जिससे उसे अपने भीतर ही परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सम्प्रदाय में प्राण साधना से पहले इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया गया है। इन्द्रिय निग्रह के अंतर्गत नारी से दूर रहने की प्रवृत्ति प्रमुख है क्योंकि नारी ही चारित्रिक पतन का कारण है। गोरख के काव्य में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है। आगे चलकर भक्तिकाल में कबीर ने भी इसी प्रवृत्ति को अपनाया तथा नारी का विरोध स्पष्ट शब्दों में किया। उनके तथा अन्य सन्त कवियों के काव्य में द्रष्टव्य प्राण साधना, कुण्डलिनी जागरण एवं मनसाधना आदि की क्रियाओं का वर्णन भी नाथ योगी कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है।

नाथ योगियों का काव्य भी सिद्ध साहित्य की ही भांति सिद्धांत प्रतिपादन हेतु लिखा गया था। इसीलिए इनका साहित्य प्रतीकात्मक शैली में रचित है। इन्होंने अनेक प्रतीकों के माध्यम से अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनके साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक सूर्य, चन्द्र, गगन, कमल आदि हैं। इनके यहां सूर्य ''ह'' के तथा चन्द्र ''ठ'' के प्रतीक हैं। सूर्य तथा चन्द्र के मिलन को ही ''हठयोग'' कहा गया है। इनकी योग साधना का ज्ञान होने पर ही इन प्रतीकों को ठीक से समझा जा सकता है। इनकी रचनाओं की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित पुरानी हिन्दी है जिसमें पंजाबी, ब्रज, अवधी आदि के शब्दों का सम्मिलन हो गया है। आचार्य शुक्ल ने इन ग्रंथों की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी मानी है। ब्रज के जिन शब्दों का प्रयोग इस साहित्य में किया गया है उनमें–लषावे, पहणे, दीसे, तहा आदि प्रमुख हैं। अवधी के शब्दों में होइ, भैला, जाब, कहै बाजे आदि प्रयोग किए गए हैं।

नाथ योगियों की संख्या 9 मानी गई है। इनके नाम–नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पटनाथ, जलंधर और मलयार्जुन हैं। इस संप्रदाय का आचार्य गोरखनाथ को माना जाता है। तथा मत्स्येंद्रनाथ उनके गुरु थे। यहाँ हम नाथ संप्रदाय के आचार्य गोरखनाथ का संक्षिप्त परिचय देंगे जिससे आपको उनके द्वारा रचित माने गए प्रमुख नाथ साहित्य की जानकारी प्राप्त होगी।

**गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)**–गोरखनाथ को नाथ संप्रदाय का आचार्य तथा नाथ साहित्य का प्रवर्तक माना गया है। इनके आविर्भाव काल के संबंध में अनेक विद्वानों में मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय 845 ई. माना। आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी इन्हें नवीं शती का तथा आ. शुक्ल इन्हें 13वीं शती का मानते हैं। बाद में विद्वानों द्वारा की गई खोजों के बाद यह माना जाने लगा कि इनका रचनाकाल 13वीं शती ही है।

गोरखनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती है परंतु आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि उल्लेखनीय विद्वानों ने इनके क्षरा रचित जो ग्रंथ स्वीकार

किए हैं उनके नाम हैं—सबदी, पद, प्राण संकली, सिष्यादासन, आदि। इन ग्रंथों में संयम, साधना तथा ब्रहमचर्य पर जोर दिया गया है साथ ही गुरु की महत्ता का बखान भी किया गया है। तांत्रिक विधान की जानकारी भी इनके ग्रंथों में मिलती है। इन्होंने धार्मिक कर्मकाण्डों तथा अंधविश्वासों का खंडन भी किया है।

गोरखनाथ के अतिरिक्त नाथ संप्रदाय के अन्य प्रमुख कवियों में चर्पटनाथ का भी उल्लेख किया जाता है। ये गोरखनाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव तेरहवीं शती में माना जाता है। इनकी वाणियों में भी हठयोग साधना करने की बात कही गई है तथा जप-तप आदि का विरोध किया गया है। इनके अनुसार शिष्य होने में लाभ होता है क्योंकि उसे तो गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती रहती है जबकि गुरु बनने में लाभ नहीं हानि ही है—

"जाणि के अजाणि होय बात तूं ले पछाणि।
चेले हो इआं लाभ होइगा गुरु होइआं हाणि।।"

अर्थात् तू जानबूझ कर अनजान मत बन और यह बात पहचान (जान) ले कि शिष्य बनने में लाभ ही लाभ है और गुरु बनने में हानि है।

**विशेषताएं एवं महत्व**

नाथ योगियों ने आचरण की शुद्धि और चरित्रवानता पर बहुत जोर दिया। उनके योग में संयम और सदाचार का बहुत महत्व था। गोरखनाथ द्वारा अपने शिष्यों को दी गई नारी से दूर रहने की शिक्षा का कबीर के काव्य में स्पष्ट संकेत मिलता है। कबीर तथा अन्य भक्तिकालीन सन्त कवियों के साहित्य में प्राप्त कुंडलिनी जाग्रत करने की क्रिया का आधार भी नाथ योगियों का हठयोग है। नाथ साहित्य का महत्व बताते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं—"इसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।" परवर्ती हिन्दी साहित्य में चरित्रगत दृढ़ता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है, उसका श्रेय भी इसी साहित्य को ही है।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित रिक्त स्थानों की पूर्ति सही शब्द छाँटकर कीजिये—

क) सिद्धों के नाम के आगे लगा "पा" शब्द ..... का विकृत रूप है। (पाद, पाक, पान)

ख) "दोहाकोष" के रचयिता ..... हैं। (सरहपा, शबरपा, कण्हपा)

ग) ..... मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। (डोम्भिपा, नागार्जुन, गोरखनाथ)

घ) नाथ योगियों की संख्या ..... मानी जाती है। (सात, नौ, ग्यारह)

2) सिद्ध कवियों में से किसी एक कवि का परिचय चार पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 5.2.3 जैन कवि

सांसारिक विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त करने वाले को जैन कहा जाता है। जैन शब्द "जिन" से बना है जिसका अर्थ है—विजय पाने वाला। यह सांसारिक आकर्षणों पर होने वाली विजय है। जैन संप्रदाय को बौद्ध धर्म से भी पूर्व का स्वीकार किया जाता है। इसके धर्म के प्रवर्तक श्री महावीर स्वामी थे। जिनका आविर्भाव महात्मा बुद्ध से पहले हुआ था। इस संप्रदाय में दया, करुणा, त्याग तथा अहिंसा को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। यह त्याग केवल इंद्रियनिग्रह में ही नहीं अपितु सहिष्णुता में है। इसीलिए इन्होंने व्रत-उपवास पर अधिक बल दिया।

जैन मुनियों ने अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा में किया। यह अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी थी। इनकी अधिकांश रचनाएं धार्मिक हैं। जिनमें जैन संप्रदाय की नीतियों का प्रमुख रूप से उल्लेख है। इन कवियों की कृतियाँ रास, फाग् चरित आदि विविध काव्य रूपों में प्राप्त

होती हैं। इन कृतियों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति की प्रधानता है तथा घटनाओं की बहुलता का अभाव है। चरित काव्यों में प्रसिद्ध पुरुषों की कथा का वर्णन है, परंतु उनमें भी धार्मिक भावनाओं की प्रधानता है। प्रमुख रास काव्यों में प्रेम, विरह तथा युद्ध आदि का वर्णन है जिनकी चर्चा हम इकाई 6 में करेंगे। लौकिक काव्य होने पर भी इनमें कहीं-कहीं धार्मिक तत्वों का समावेश हो गया है। कुछ जैन कवियों ने हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं के प्रमुख एवं प्रसिद्ध चरित्रों जैसे राम तथा कृष्ण को अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप ढालकर प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त जैन कवियों ने रहस्यवादी काव्यों की भी सृष्टि की। वास्तव में इन कृतियों की भाषा ही अधिक शिष्ट एवं परिनिष्ठित है। इनमें योगीन्दु मुनि रचित 'परमात्म प्रकाश', 'दोहा पाहुड़' तथा मुनि राम सिंह द्वारा रचित 'पाहुड़दोहा' उल्लेखनीय हैं।

जैन कवियों में रासो काव्यकारों के अतिरिक्त जिन प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है वे स्वयंभू तथा पुष्पदन्त हैं। हम इन्हीं दो मुख्य जैन कवियों तथा उनकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख यहाँ करेंगे।

**स्वयम्भू**—इन्हें अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि माना जाता है। अनुमानतः इनका जन्म सातवीं शती में हुआ था। इनकी उल्लेखनीय कृतियां तीन हैं जिनके नाम—'रिट्ठणेमि चरिउ' (अरिष्ट नेमि चरित), 'पउम चरिउ' (पद्म चरित) तथा 'स्वयंभू-छंदस' हैं। ''पउम चरिउ'' इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह जैन रामायण है तथा इसमें 'राम' की कथा है। उन्होंने जैन धर्म की रीति-नीति के अनुसार राम कथा में परिवर्तन किया है। अपनी इस कृति में कवि ने कुछ नवीन प्रसंगों की संरचना भी की है। इन्होंने अपनी इस कृति को पांच काण्डों में विभक्त किया है। इस ग्रंथ में कवि ने प्रकृति-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि का विराट अंकन किया है। इस कृति के काव्य सौन्दर्य के आधार पर ही स्वयम्भू को अपभ्रंश का 'वाल्मीकि' कहा जाता है। राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू द्वारा रचित इस रामायण को हिन्दी का 'सबसे पुराना एवं उत्तम काव्य' माना है।

''पउम चरिउ'' में कवि ने अलंकारों का प्रसंगानुकूल एवं सशक्त प्रयोग किया है। कवि ने राम कथा के सौन्दर्य को बताने के लिए रूपक अलंकार का सुंदर प्रयोग करते हुए कहा है—

''दोह समाज पवाहावंकिय।
सक्कय पायय — पुलिणालंकिय।।

अर्थात् राम कथा में प्रयुक्त दीर्घ समास (राम कथा रूपी) नदी के प्रवाह के रूप में है। इस राम कथा रूपी नदी के संस्कृत और प्राकृत रूपी दो पुलिन हैं।

वस्तुतः कवि की शैली परंपरागत रूढ़ियों से ओत प्रोत है तथा भाषा में सहज प्रेषणीयता है।

रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्ट नेमि चरित) में महाभारत और कृष्ण की कथा है। यह कृति चार कांडों—यादवकांड, कुरुकांड, युद्धकांड तथा उत्तरकांड में विभक्त हैं। प्रत्येक कांड का विभाजन संधियों में हुआ है। यादवकांड में कृष्ण के जन्म, एवं उनके विवाह आदि की कथा है, कुरुकांड कौरवों तथा पांडवों के जन्म, उनमें हुए वैमनस्य तथा युधिष्ठर द्वारा जुए में सब कुछ हार कर अपने भाइयों सहित वन में प्रस्थान करने से संबद्ध है। युद्धकांड में कौरव-पांडवों का युद्ध तथा उत्तरकांड में उपसंहार है।

इस ग्रंथ में भी स्वयंभू ने जैन धर्म की रीति-नीति के अनुसार कृष्ण का चरित्र परिवर्तित कर उन्हें महामानव के रूप में चित्रित किया है। चूँकि यह कृति महाभारत के विस्तृत फलक पर आधारित है अतः इसका कथानक भी अत्यंत व्यापक है तथा इसमें वर्णनों का आधिक्य है। प्रकृति-वर्णन के अंतर्गत कवि ने अनेक ऋतुओं का प्रसंगानुकूल वर्णन किया है।

यह कृति अपभ्रंश भाषा में रचित है। कहीं कहीं तत्सम शब्दों का भी प्रयोग है। उनकी भाषा साहित्यिक है तथा उसमें प्रवाहमयता है।

**पुष्पदन्त**—पुष्पदन्त का आविर्भाव काल दसवीं शती के प्रारम्भ में माना जाता है। पहले ये शैव थे परंतु बाद में जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ 'तिसट्ठिमहापुरिस गुणलंकार महापुराण' तथा 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) हैं।

इनकी प्रथम कृति ''तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार महापुराव'' दो भागों में विभाजित है-आदि पुराण एवं उत्तर पुराण, ये दोनों भाग तीन खंडों में विभक्त हैं। आदि पुराण खंड

में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों एवं भरत के चरित का वर्णन है। उत्तरपुराण खंड में रामायण तथा महाभारत की कथा वर्णित है। ''रामायण'' की कथा वाले भाग को ''पउम चरिउ'' तथा महाभारत की कथा को ''हरिवंश पुराण'' कहा गया है। कवि ने स्वयं अपने इस ''महापुराण'' को महाकाव्य कहा है। यह ग्रंथ अपभ्रंश में रचित है तथा अनेक कथाओं से युक्त है। इसका कथा फलक अत्यंत विस्तृत है। कवि की रचना शैली अलंकृत एवं क्लिष्ट है। इस ग्रंथ में मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी यथानुकूल प्रयोग किया गया है।

''णायकुमार चरिउ'' नौ संधियों में विभक्त एक चरित काव्य है। इस कृति में नाग कुमार की कथा के माध्यम से श्रुत पंचमी के व्रत की महत्ता बताई गई है। पूर्व जन्म में नाग कुमार द्वारा इस व्रत का अनुष्ठान करने के कारण उसने 24 कामदेवों में से एक के रूप में जन्म लिया। यह कृति भी अपभ्रंश भाषा में रचित है तथा इसमें अलौकिक कार्यों एवं चमत्कारों का बहुत अधिक वर्णन है।

इन दोनों कवियों द्वारा रचित ग्रंथों के अतिरिक्त मेरुतुंग की ''प्रबंधचिन्तामणि'', मुनि रामसिंह की ''पाहुड़ दोहा'', धन पाल की ''भविसयत्त कहा'' (भविष्यदत्त का) आदि भी जैन साहित्य की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

**महत्व–** अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि तथा हिन्दी भाषा के विकास में जैन कवियों का उल्लेखनीय स्थान है। वस्तुतः अपभ्रंश ने हिन्दी भाषा की पूर्व-पीठिका के रूप में कार्य किया। हिन्दी के प्रारंभिक स्वरूप को प्रारंभ करने में इस साहित्य का सर्वाधिक योगदान रहा। जैन रहस्यवादी साहित्य की भाषा परिनिष्ठित तथा साहित्यिक अपभ्रंश थी। साथ ही अपभ्रंश के बाद की विकासशील लोकभाषा में भी जैन पुराण साहित्य तथा चरित काव्य की रचना हुई। जिसका प्रभाव परवर्ती साहित्य की भाषा पर पड़ा।

**बोध प्रश्न 2**

1) निम्नलिखित कथनों में से सही कथनों पर ($\surd$) का निशान लगाइए।
   - क) जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी थे।
   - ख) पुष्पदन्त ने रिटठ्णेमि चरिउ की रचना की।
   - ग) स्वयंभू को अपभ्रंश का प्रथम जैन कवि माना जाता है।

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।
   - क) नागकुमार चरिउ ..... संधियों में विभक्त है।
   - ख) पउम चरिउ में ..... कथा है तथा रिट्ठणेमि चरिउ में ..... कथा।
   - ग) जैन संप्रदायों में ''दया, करुणा, त्याग और .....'' पर अधिक बल दिया गया है।

3) पुष्पदंत द्वारा रचित ''तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार महापुराण'' का परिचय पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 5.3 चारण कवि

आश्रयदाता राजा के उन आश्रित कवियों को, जो उनकी प्रशस्ति एवं वीरता का गायन करते थे तथा युद्धों में उनके साथ रहते थे, चारण कहा जाता था। ये कवि दरबारी कवि होते थे तथा वीरगाथात्मक काव्य की रचना करते थे। उनके काव्य में आश्रयदाता के यश,

शौर्य, गुणों और वीरता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन होता था। चूंकि ये चारण कवि राजा के साथ युद्ध में भी जाते थे, अतः उनके काव्य में युद्ध का वर्णन अतीव मूर्तिमान एवं सजीव रूप में हुआ है। आचार्य ह.प्र. द्विवेदी के अनुसार–"निरंतर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग थे। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।" वास्तव में इन चारण कवियों ने ओजपूर्ण भाषा में अपने काव्य का सृजन किया जिसे सुनकर जनता उत्तेजित हो सके तथा उनमें उत्साह का संचार हो। जैसे "परमाल रासो" (आल्ह-खंड) इस कृति में कहा गया है कि क्षत्रिय का जीवन ही युद्ध करने के लिए हुआ है तथा उसका अभीष्ट वीरगति प्राप्त करना है–

"बारह बरस लै कूकर जिये, औ तेरह लै जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्री जीये, आगे जीवन को धिक्कार।।"

चारण कवियों ने अपने काव्य का प्रणयन अधिकतर डिंगल में ही किया। बोलचाल की राजस्थानी भाषा के साहित्यिक रूप को डिंगल कहते हैं तथा यह भाषा वीरगाथात्मक कविता के लिए उपयुक्त है। इन कवियों में महाकवि चन्दवरदाई, दलपति विजय, जगनिक, नरपति नाल्ह आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें से अधिकांश कवियों ने अपने ग्रंथ रासो के नाम से लिखे। इन कवियों तथा इनकी कृतियों के विषय में हम आपको इकाई 6 में वीरगाथात्मक रासो काव्य के अंतर्गत विस्तृत जानकारी देंगे। यहाँ हम इनकी संक्षिप्त चर्चा कर रहे हैं।

कवि चंदवरदाई ने "पृथ्वीराज रासो" की रचना की। उनके आश्रयदाता राजा पृथ्वीराज चौहान थे। कहा जाता है कि कवि चंद और पृथ्वीराज बचपन के मित्र थे तथा दोनों की मृत्यु भी साथ-साथ हुई। चंदवरदाई युद्धादि में सदैव पृथ्वीराज के साथ ही रहते थे। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रंथ में पृथ्वीराज द्वारा किए गए युद्धों का अत्यंत सजीव वर्णन एवं पृथ्वीराज के रण-कौशल का सशक्त चित्रण किया है।

नरपति नाल्ह ने "बीसलदेव रासो" का प्रणयन किया। इस ग्रंथ में विग्रहराज (बीसलदेव) की चरित कथा है। कवि जगनिक को "परमाल रासो" (आल्ह खंड) का रचयिता माना जाता है। जगनिक महोबा के शासक परमार्दिदेव के आश्रित कवि थे। इस कृति में पृथ्वीराज चौहान तथा परमार्दिदेव के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। दलपति विजय ने "खुमाण रासो" की रचना की। यह ग्रंथ अनुमानतः मेवाड़ के महाराज खुमाण के वंश के इतिहास का अंकन करने हेतु लिखा गया है।

चारण कवियों के अंतर्गत जिन दो अन्य कवियों की चर्चा की जाती है वे भट्ट केदार तथा मधुकर भट्ट हैं। भट्ट केदार की रचना "जयचंद प्रकाश" तथा मधुकर कवि की कृति "जयमयंक जस चंद्रिका" मानी जाती हैं। ये पुस्तकें अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। केवल दयाल दास द्वारा रचित "राठौड़ाँ री ख्यात" में इनका उल्लेख मात्र मिलता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि जयचंद प्रकाश में "महाराजा जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था।" इन पुस्तकों के अब तक उपलब्ध न होने के कारण इनके संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

## 5.4 लौकिक साहित्य

इससे पहले हमने जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की है वे विशेष विषयों से संबद्ध थे। जैसे नाथ, जैन तथा सिद्ध संप्रदाय का साहित्य धार्मिक विषय से तथा चारण कवि वीरगाथात्मक कविता लेखन से। इनके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति लौकिक साहित्य की भी थी जिसका साहित्य इन प्रवृत्तियों से इतर था। इस साहित्य के अन्तर्गत जनता के मनोरंजन हेतु अमीर खुसरो द्वारा मुकरियों तथा पहेलियों का सृजन किया गया। दूसरी ओर भक्ति एवं शृंगार की प्रकृति को लेकर विद्यापति ने साहित्य रचना की। धनपाल नामक जैन कवि ने सामान्य व्यक्ति को काव्य का नायक बनाकर नवीन प्रवृत्ति का प्रारम्भ भी किया। अब हम इन विशिष्ट कवियों की चर्चा करेंगे तथा उनके साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

### 5.4.1 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो का आविर्भाव 1255 ई. तथा अनुमानतः उनकी मृत्यु 1325 ई. में हुई। अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुल हसन था। आदिकाल में खड़ी बोली में काव्य की रचना करने वाले अमीर खुसरो ही सर्वप्रथम कवि थे। उन्हें उर्दू भाषा का भी प्रथम कवि माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अरबी फारसी, तुर्की आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। अनेक मसनवियों का प्रणयन इन्होंने फारसी में किया है।

ऐसा माना जाता है कि अमीर खुसरो ने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की थी जिनमें से बीस या बाईस ग्रंथ ही प्राप्त होते हैं। अनेक उपलब्ध ग्रंथों में पहेलियाँ, मुकरियाँ, खालिक बारी, दो सुखने, गज़ल आदि उल्लेखनीय हैं।

बाबू ब्रजरत्न दास ने नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से खुसरो की हिंदी कविताओं के संग्रह का प्रकाशन कराया, जिसमें पहेलियाँ, दो सुखने, मुकरियाँ ढकोसला आदि संगृहीत हैं। अमीर खुसरो द्वारा रचित तुर्की, फारसी, अरबी और हिन्दी का एक पर्यायकोश भी माना जाता है, इसका प्रकाशन डा. श्रीराम शर्मा ने कराया। इस कृति से उद्धृत एक उदाहरण देखिए जिसमें शब्दों के नाम देकर उनका पर्याय लिखा गया है–

"वालिद बाप बेटा फर्जन्द।
दुख्तर बेटी सिख है फन्द।।"

उन्होंने अपने साहित्य में खड़ी बोली को काव्य भाषा का रूप प्रदान करने का ऐतिहासिक कार्य किया। उनकी एक पहेली तो अत्यंत प्रसिद्ध है, उसका उत्तर आप भी अवश्य जानते होंगे–

"एक थाल मोती से भरा, सबके सिर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाल फिरे, मोती उससे एक न गिरे।।"
(उत्तर–आकाश)

एक अन्य पहेली देखिये–

"श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।
जो मनुष्य इस अरथ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले।"
(उत्तर–भौं)

एक और उदाहरण द्रष्टव्य है–

"बीसों का सिर काट दिया
ना मारा ना खून किया।"
(उत्तर–नाखून)

अमीर खुसरो ने मुकरियों की भी रचना की। उनकी मुकरी का एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है–

"मेरा मोसे सिंगार करावत,
आगे बैठ के मान बढ़ावत
वासे चिक्कन ना कोऊ दीसा
ऐ सखि साजन! ना सखि सीसा।।"

अमीर खुसरो ने हास्य एवं विनोद का सृजन करने के लिए चलती भाषा में रचना की। यह अत्यंत साधारण एवं जनजीवन की भाषा थी। किन्तु उनके साहित्य में केवल मनोरंजन या विनोद ही नहीं है अपितु जीवन पर गहरा व्यंग्य भी मिलता है।

### 5.4.2 विद्यापति

विद्यापति का जन्म 1368 ई. में माना जाता है। इनका निवास स्थान दरभंगा जिले का विसपी ग्राम था। विद्यापति को कृष्ण भक्ति काव्य की रचना करने वाला हिन्दी का प्रारंभिक कवि स्वीकार किया जाता है। इनके प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्ति सिंह थे तथा बाद में ये मिथिला के महाराजा शिव सिंह के आश्रित कवि हुए। रानी लखिमा देवी भी इनकी विशेष भक्त थीं।

विद्यापति ने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना संस्कृत में की। इनके द्वारा संस्कृत में रचित ग्रंथों की संख्या 11 मानी जाती है जिनके नाम हैं—शैव सर्वस्वसार, शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, भूपरिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, गंगा वाक्यावली, दान वाक्यावली, विभाग सार, गया पत्रलक, वर्ण कृत्य तथा दुर्गा भक्ति तरंगिणी।

हिन्दी साहित्य के अंतर्गत विद्यापति के तीन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है—कीर्तिलता, कीर्तिपताका तथा पदावली। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' चरितकाव्य तथा 'विद्यापति की पदावली' एक शृंगारिक तथा भक्तिपरक रचना है। यहाँ हम उनकी प्रमुख दो कृतियों—कीर्तिलता तथा पदावली की चर्चा करेंगे।

**कीर्तिलता**—यह कृति ऐतिहासिक चरित काव्य है जिसमें कवि ने राजा कीर्ति सिंह के चरित का वर्णन किया है। माना जाता है कि इस कृति की रचना कवि ने केवल 20 वर्ष की आयु में ही की थी। यह चार पल्लवों में विभक्त है। इसका प्रारम्भ राजा कीर्ति सिंह के दानवीर एवं स्वाभिमानी चरित के वर्णन से हुआ है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे पल्लव में चरित नायक के शौर्य तथा पराक्रम का विस्तृत वर्णन है।

यह कृति कवि की पहली रचना मानी जाती है। अतः इसका भावपक्ष एवं शिल्प सौन्दर्य पदावली की तरह परिमार्जित नहीं है। अपनी इस कृति को कवि ने ऐसी कहणी (कहानी) कहा है जिसके सुनने से पुण्य मिले। भृंग और भृंगी के संवाद द्वारा कहानी को आगे बढ़ाया गया है। यहाँ "पृथ्वीराज रासो" तथा "कीर्तिलता" में साम्य दीखता है। "पृथ्वीराज रासो" में भी शुक-शुकी संवाद द्वारा कथा बढ़ाई गई है।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा मैथिल से प्रभावित साहित्यिक अपभ्रंश है जिसे विद्यापति ने 'अवहट्ठ' कहा है। इसमें तत्सम एवं तद्भव शब्दों का बहुलता से प्रयोग है। एक उदाहरण देखिये—युद्ध से भागते हुए शत्रु असलान को छोड़ता हुआ कीर्ति सिंह कहता है—

"जै धके जीवसि जीव सञो जहि जहि असलान
तिहुअण जग्गई कित्ति नभ तुज्झ दिसउ जिवदान
जइ रण भग्गसि तइ तोञ कांअर।।"

(अर्थात् हे असलान, अपना जीवन लेकर जहाँ तक भाग सको, भाग जाओ, मेरी कीर्ति जग में बनी रहेगी, क्योंकि मैंने तुझे जीवनदान दिया है। परन्तु तू कायर है क्योंकि तू रण से भागा है)

इस कृति में कहीं-कहीं गद्य भी द्रष्टव्य है। जहाँ गद्य आया है वहां ग्रंथ की भाषा संस्कृत से प्रभावित मैथिल हो गई है तथा तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो गया है। पद्य भाग में मैथिल से प्रभावित अपभ्रंश का ही प्रयोग है। साथ ही, कृति में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

**विद्यापति की पदावली**—पदावली में विद्यापति के पदों का संग्रह है जो मैथिल भाषा में रचित है। वस्तुतः विद्यापति की पदावली के गीतों का सर्वाधिक प्रचार चैतन्य महाप्रभु ने किया था। वे एक भक्त थे तथा भक्ति की धुन में ही इन गीतों को भावविभोर होकर गाया करते थे। विद्यापति के पदों का संग्रह सर्वप्रथम शारदाचरण मित्र ने किया। उसके पश्चात् जार्ज ग्रियर्सन लोगों से सुनकर केवल 82 पद ही संगृहीत कर सके। बीसवीं शती में रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नगेन्द्र नाथ गुप्त आदि ने विद्यापति के पदों का संग्रह करने का सराहनीय कार्य किया। पदावली में विद्यापति ने राधाकृष्ण के प्रेम का शृंगारिक चित्रण किया है। इस ग्रंथ के भाव तथा शैली पर "जयदेव" के "गीत गोविन्द" का प्रभाव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है। अपने पदों में विद्यापति ने राधा के सौन्दर्य, नख-शिख वर्णन, अभिसार, मान तथा राधा कृष्ण की प्रणय लीला का सुन्दर अंकन किया है। राधा के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"लोल कपोल ललित मनि-कुंडल अधर बिम्ब अध जाई।।
भौंह भमर, नासापुट सुन्दर से देखि कीर लजाई।।"

अर्थात (राधा के) कपोल (गाल) अत्यधिक सुन्दर हैं। (उसके) मणि जड़ित कुण्डल हिल रहे हैं। होठों की रक्तिम आभा देखकर बिम्ब फल शरमा गया है। भौहों ने भ्रमर को नीचा दिखा दिया है तथा नाक के नुकीले सौन्दर्य को देखकर तोता भी लजा गया है। यहाँ अनेकों उपमानों द्वारा कवि ने राधा के सौन्दर्य का अंकन किया है। कवि ने शृंगार के संयोग तथा

वियोग दोनों पक्षों का ही सशक्त चित्रण किया है। परन्तु संयोग पक्ष का चित्रण करने में कवि का हृदय अधिक रमा है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत कवि ने राधा-कृष्ण के प्रेम, प्रथम मिलन, आदि के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।

यद्यपि विद्यापति के इस गीत काव्य के नायक राधा-कृष्ण हैं परन्तु यह केवल भक्ति रचना नहीं है। वास्तव में विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रणय लीला से सम्बद्ध पदों की रचना शृंगार चित्रण को ध्यान में रखकर की है। **डॉ. रामकुमार वर्मा** विद्यापति की पदावली के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं–"उन्होंने (विद्यापति) शृंगार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधा और कृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ नहीं रह गया है।"

वस्तुतः विद्यापति का ज्ञान अत्यन्त व्यापक तथा विस्तृत था। उस युग की प्रमुख प्रवृत्ति वीरगाथात्मक काव्य का प्रणयन तथा आश्रयदाता के चरित्र का अतिशयोक्तिपूर्ण अंकन करना था। कवि विद्यापति ने एक ओर जहाँ कीर्तिलता और कीर्तिपताका की रचना इस प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर की है वहीं दूसरी ओर आदिकालीन इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति से अलग हट कर शृंगारिक पदों का सृजन भी किया। उन्होंने परवर्ती कवियों के लिए कृष्ण भक्ति काव्यरचना का मार्ग प्रशस्त किया। नख शिख वर्णन की जो परम्परा उन्होंने प्रारम्भ की उसे रीति कालीन कवियों ने प्रश्रय दिया। विद्यापति ने अपने पदों को विविध राग रागनियों में भी बद्ध किया है। परवर्ती कृष्ण भक्त कवियों ने भी इस परम्परा का अनुसरण करते हुए राग बद्ध पदों की रचना की। मुक्तक काव्य परम्परा का प्रवर्तन भी विद्यापति ने ही किया था। उनके स्फुट पदों का संग्रह ही पदावली है।

### 5.4.3 भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा)

यह अपभ्रंश में रचित एक कथाकाव्य है। इसमें श्रुत पंचमी के व्रत के महात्म्य का वर्णन है। इस कृति के रचयिता धनपाल हैं। ये जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय में दीक्षित थे इनका समय 10वीं शताब्दी माना जाता है। कहा जाता है कि कवि धनपाल को सरस्वती का वरदान भी प्राप्त था।

धनपाल की केवल एक ही रचना प्राप्य है–"भविसयत्त कहा"। राहुल सांकृत्यायन ने इस कृति का रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना है। यह कृति बाईस संधियों में रचित है। इस रचना में हस्तिनापुर के एक दम्पत्ति धनपति तथा कमलश्री के पुत्र भविष्य दत्त की कथा है। इसमें भविष्यदत्त के सौतेले भाई बंधुदत्त द्वारा उसे धोखा देकर सारी सम्पत्ति हड़पने तथा बाद में भविष्यदत्त की सच्चरित्रता तथा वीरता के कारण गजपुर के राजा द्वारा बंधुदत्त को दंडित कर भविष्यदत्त से अपनी बेटी के विवाह की कथा है। यह कृति चौदह संधियों में विभक्त है। विवाह के पश्चात् भविष्यदत्त को मुनि, विमल बुद्धि उपदेश देते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से उसे अपने पूर्व जन्म की कथा का पता चलता है। अंत में भविष्य दत्त तपस्या करके निर्वाण की प्राप्ति करता है।

यह एक प्रबंध-काव्य है। इसकी विषय वस्तु अत्यंत व्यापक है। इसमें मुख्य कथा के साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं का समावेश भी किया गया है जिनका कहीं न कहीं मुख्य कथा के साथ तादात्म्य है। इस काव्य ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसका नायक कोई राजा या विशिष्ट व्यक्ति न होकर एक साधारण व्यक्ति है।

यह काव्य ग्रंथ कडवकबद्ध शैली में रचित है। इसमें प्रकृति वर्णन, रूप वर्णन, नख-शिख वर्णन आदि का सुन्दर अंकन हुआ है। नख-शिख वर्णन के अन्तर्गत भविष्यदत्त की पत्नी सुमित्रा के सौन्दर्य का चित्रण कवि ने किया है। इसमें वीर, शृंगार तथा शांत तीनों रसों का सुन्दर समावेश है। इस कृति में धनपाल ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है जो उनके भावों की अभिव्यक्ति करने में पूर्णरूप से सक्षम हैं।

इस कृति की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश मानी जाती है। राहुल सांकृत्यायन ने इसकी भाषा को 'पुरानी हिन्दी' भी कहा है।इसमें लोकभाषा के शब्दों का भी समावेश है। धनपाल ने मुहावरों एवं लाकोक्तियों का भी प्रयोग किया है जिससे इस कृति की भाषा एवं शैली में कसाव आ गया है।

कुल मिलाकर यह एक सशक्त चरित काव्य है। बंधे बंधाये शास्त्रीय विधान से हटकर इस कृति का नायक एक साधारण व्यक्ति को बनाने का सराहनीय कार्य कर एक नयी परम्परा का पवर्तन कवि ने किया है।

**बोध प्रश्न 3**

1) निम्नलिखित में से सही कथनों पर ($\surd$) का निशान लगाइये।

   क) अमीर खुसरो खड़ी बोली के प्रथम कवि थे। ( )

   ख) अमीर खुसरो ने धार्मिक साहित्य की रचना की। ( )

   ग) विद्यापति दिल्ली के निवासी थे। ( )

   घ) कीर्तिलता में राधा-कृष्ण की कथा है। ( )

2) दिए गए शब्दों में से सही शब्द लेकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये–

   क) अमीर खुसरो का आविर्भाव ..... ई. में हुआ था।
   (1215, 1235, 1255)

   ख) कीर्तिलता एक ..... है। (चरित काव्य, शृंगारी काव्य)

   ग) पदावली ..... भाषा में रचित है। (अवधी, ब्रज, मैथिल)

   घ) पदावली पर ..... का प्रभाव द्रष्टव्य है। (कबीर, गोरखनाथ, जयदेव)

3) "विद्यापति की पदावली" के विषय का विवेचन चार पंक्तियों में कीजिये।

.....

.....

.....

.....

4) अमीर खुसरो के भाषा ज्ञान की जानकारी तीन पंक्तियों में दीजिये।

.....

.....

.....

## 5.5 सारांश

इस इकाई में आपने आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, चारण कवियों द्वारा रचित साहित्य तथा लौकिक साहित्य के विषय में पढ़ा। इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति रासो काव्य के विषय में आप इकाई 6 में जानकारी प्राप्त करेंगे। जैन, नाथ तथा सिद्ध कवियों द्वारा रचित साहित्य धार्मिक साहित्य की कोटि में आता है। लौकिक साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो तथा विद्यापति की रचनाएं आती हैं। अमीर खुसरो की रचनाएँ हास्य एवं विनोद प्रधान हैं तथा विद्यापति का काव्य शृंगारी काव्य। साथ ही आप इन प्रवृत्तियों की विशेषताओं एवं महत्व को भी जान चुके हैं। अब आप–

- जैन साहित्य के प्रमुख कवियों एवं उनके काव्य की विशेषताएँ बता सकते हैं।
- सिद्ध कवियों एवं उनके साहित्य की चर्चा कर सकते हैं।
- नाथ योगियों के साहित्य का विवेचन कर सकते हैं।
- लौकिक साहित्य के अन्तर्गत अमीर खुसरो एवं विद्यापति काव्य की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकते हैं।
- भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त कथा) की विशेषता का वर्णन कर सकते हैं।

## 5.6 उपयोगी पुस्तकें

**हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली**–द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

## 5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) क) पाद ख) सरहपा ग) गोरखनाथ घ) नौ

2) सरहपा को सरहपाद तथा राहुलभद्र नामों से भी जाना जाता है। इनका काल 769 ई. माना गया है। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ कायाकोश, दोहाकोष तथा सरहपाद गीतिका हैं। इनके ग्रंथों की भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है।

**बोध प्रश्न 2**

1) क) √ ख) × घ) √

2) क) नौ ख) रांम, कृष्ण ग) अहिंसा

3) देखिए 5.2.3 में "पुष्पदन्त"

**बोध प्रश्न 3**

1) क) √ ख) × ग) × घ) ×

2) क) 1255 ख) चरितकाव्य ग) मैथिल घ) जयदेव

3) देखिए 5.4.2

4) देखिए 5.4.1

# इकाई 6 रासो काव्य

## इकाई की रूपरेखा


6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 रासो काव्य
  6.2.1 व्युत्पत्ति
  6.2.2 स्वरूप
6.3 प्रमुख रासो कृतियाँ
  6.3.1 वीरगाथात्मक रासो काव्य
  6.3.2 शृंगारपरक रासो काव्य
  6.3.3 धार्मिक एवं उपदेशमूलक रासो काव्य
6.4 रासो काव्य की प्रमुख विशेषताएँ
  6.4.1 ऐतिहासिकता और कल्पना का सम्मिश्रण
  6.4.2 प्रशस्ति काव्य
  6.4.3 युद्ध और प्रेम
  6.4.4 काव्य रूप
6.5 अभिव्यंजना पक्ष
  6.5.1 भाषागत विशेषताएँ
  6.5.2 अलंकार
  6.5.3 छंद
6.6 सारांश
6.7 उपयोगी पुस्तकें
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 6.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम आदिकालीन रासो काव्य का विस्तृत विश्लेषण करेंगे। कुछ प्रमुख रासो कवि तथा उनके काव्य की विशेषताओं का विवेचन भी करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- रासो काव्य के स्वरूप को समझा सकेंगे,
- आदिकालीन रासो काव्य परम्परा के अंतर्गत आने वाले प्रमुख कवि तथा उनकी कृतियों के संबंध में जानकारी दे सकेंगे,
- प्रमुख रासो कृतियों की प्रामाणिकता का विवेचन कर सकेंगे,
- रासो काव्य की विशेषताओं को समझा सकेंगे।

## 6.1 प्रस्तावना

इकाई 4 में आपने आदिकाल की परिस्थितियों के विषय में तथा 5 में आदिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों के विषय में पढ़ा। इस इकाई में हम आपको इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति "रासो काव्य" के विषय में विस्तृत जानकारी देंगे तथा प्रमुख रासो कृतियों की विशेष चर्चा भी करेंगे।

आदिकाल में वीरगाथात्मक, धार्मिक तथा शृंगारिक तीनों प्रकार के काव्य "रासो" या "रास" के नाम से लिखे गये। वीरगाथात्मक रासो काव्य के अंतर्गत पृथ्वीराज रासो, खुमाण रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, विजयपाल रासो; धार्मिक रासो काव्य में "चन्दन बाला रास" "भरतेश्वर बाहुबलि रास", उपदेश रसायन रास, नेमिचन्द्र रास, शृंगारपरक रासो काव्य के अंतर्गत संदेशरासक तथा बीसलदेव रासो आदि की चर्चा की जाती है। इनमें सभी रचनाएँ प्रामाणिक तथा उपलब्ध नहीं हैं। "हम्मीर रासो" के तो केवल आठ पद्य ही

''प्राकृत पैंगलम्'' में प्राप्त होते हैं तथा ''परमाल रासो'' (आल्ह खंड) आल्ह गायकों द्वारा गाए जाने वाले पद्यों पर आधारित हैं। इसी कारण इन दोनों कृतियों के रचयिताओं के नाम के बारे में भी सन्देह व्यक्त किया जाता है।

## 6.2 रासो काव्य

वीरगाथात्मक रासो कृतियाँ उन चारण कवियों द्वारा रचित हैं जो किसी राजा के आश्रित तथा दरबारी कवि थे। उन्होंने आश्रयदाता की प्रशस्ति हेतु काव्य रचना की। इनका काव्य अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों एवं काल्पनिक घटनाओं से भरा हुआ है। अतः इनमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है। वस्तुतः ये ऐतिहासिक रचनाएँ नहीं हैं अपितु काव्य कृतियाँ हैं। धार्मिक रासो काव्य धर्म परक घटनाओं एवं उपदेशों को आधार बनाकर लिखे गये हैं। यद्यपि इनमें भी वीर रस द्रष्टव्य है परन्तु इनका अंत शांत रस में ही हुआ है। शृंगारपरक रासो कृतियाँ नायक-नायिका के वियोग, संदेश प्रेषण तथा पुनर्मिलन से संबद्ध हैं।

इस इकाई में हम उपर्युक्त तीनों वर्गों की प्रमुख कृतियों तथा उनकी भाषा एवं कथ्य की चर्चा करेंगे। वीरगाथात्मक रासो कृतियों की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता के प्रश्न पर भी चर्चा करेंगे।

### 6.2.1 व्युत्पत्ति

''रासो'' शब्द का प्रयोग मूलतः राजस्थानी और ब्रजभाषा में हुआ है। राजस्थानी में युद्ध या कलह के रूप में इसका व्यवहार हुआ जबकि ब्रजभाषा में रासो को काव्य का एक विशिष्ट रूप माना गया। रासो से मिलते जुलते कुछ अन्य शब्दों के प्रयोग भी साहित्य में दिखाई देते हैं, यथा—रासक, रासौ, रसायण इत्यादि। कुछ विद्वानों ने रस से रासो की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रासो की उत्पत्ति ''रसायण'' शब्द से मानी है।

अनेक विद्वानों ने यह माना है कि रासो का विकास ''रास'' और ''रासक'' शब्द से हुआ। यह एक प्राचीन नृत्य रहा है जो कृष्ण लीला से संबद्ध था।

इस संबंध में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने ''रास'' या ''रासक'' से रासो की व्युत्पत्ति स्वीकार की है। उनके अनसार प्राचीन राजस्थानी तथा अपभ्रंश में रासौ का ही अगला रूप रासो हो गया जिसमें मूलतः युद्ध संबंधी वर्णन प्रस्तुत किये जाते थे।

### 6.2.2 स्वरूप

अब तक के उपलब्ध आदिकालीन ''रासो साहित्य'' के अनेक रूपों का परिचय मिलता है। कहीं तो इसमें धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा कहीं वह वीरगाथाओं के रूप में रचित है। यद्यपि कुछ जैन रासो काव्यों में भी चरित नायक के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन किया गया है परन्तु उन कृतियों की समाप्ति अंततः वैराग्य या शान्त रस में हुई है। उपर्युक्त दोनों विषयों से अलग हटकर कुछ कवियों ने शृंगारपरक रासो काव्य की भी रचना की, जिनकी कथावस्तु प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन पर आधारित है।

''रासो काव्य'' कृतियों के इस वैविध्य को देखते हुए काव्य विषय की दृष्टि से इन्हें प्रमुखतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:

1) वीरगाथात्मक रासो काव्य
2) शृंगारपरक रासो काव्य
3) धार्मिक एवं उपदेशमलक रासो काव्य

प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन वीरगाथात्मक कृतियों को लिया जाता है जो ''रासो'' के नाम से रचित हैं। ये कृतियाँ मूलतः प्रशस्ति प्रधान चरित काव्य हैं। इस वर्ग के कवियों के अंतर्गत उन आश्रित कवियों का उल्लेख किया जाता है जिनका उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र का गान करना तथा उनके शौर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करना था। वीरगाथात्मक

रासो काव्य की प्रमुख कृतियाँ – महाकवि चंदवरदाई द्वारा रचित "पृथ्वीराज रासो", शार्गधर कृत "हम्मीर रासो", दलपति विजय कृत "खुमाण रासो", जगनिक कृत "परमाल रासो", नल्हसिंह भाट कृत "विजयपाल रासो" हैं।

द्वितीय वर्ग श्रृंगारपरक रासो काव्यों का है। इस वर्ग के अंतर्गत वे गेय रचनाएँ आती हैं जिनका मूल विषय प्रेम तथा श्रृंगार रहा है। इस वर्ग की प्रमुख रचनाएँ अब्दुल रहमान कृत "संदेश रासक", नरपति नाल्ह कृत "बीसलदेव रासो" तथा किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित "मुंज रासो" हैं।

तृतीय वर्ग मुख्यतः जैन आचार्यों द्वारा रचित "रासो कृतियों" पर आधारित है। इन ग्रंथों में धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है तथा धर्म से संबद्ध नीति एवं उपदेशों का अंकन है। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाली रचनाएँ जिनदत्त सूरि कृत "उपदेश रसायन रास", कवि आसगु कृत "चन्दनबाला रास", जिनधर्म सूरि कृत "स्थूलिभद्र रास", आचार्य शालिभद्र सूरि कृत "भरतेश्वर बाहुबलि रास", विजयसेन कृत "रेवन्तगिरि रास" आदि हैं।

इन वर्गों के प्रमुख ग्रंथों की विस्तारपूर्वक चर्चा हम आगे करेंगे।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित में से सही उत्तर का चुनाव करते हुए रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

क) आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने "रासो" की व्युत्पत्ति ..... शब्द से मानी है।

i) रासो

ii) रसायण

iii) रासक

ख) ..... "स्थूलिभद्र रास" के रचयिता हैं।

i) कवि आसगु

ii) जिनधर्म सूरि

iii) जिनदत्त सूरि

2) धार्मिक उपदेशपरक रासो काव्य के अंतर्गत आने वाली प्रमुख तीन कृतियों के नाम बताइए–

.....

.....

.....

## 6.3 प्रमुख रासो कृतियाँ

इससे पूर्व हमने रासो काव्य के स्वरूप पर चर्चा की है तथा इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया है। अब हम वीरगाथात्मक, श्रृंगारिक तथा धार्मिक उपदेशपरक रासो काव्यवर्ग के अंतर्गत आने वाली प्रमुख कृतियों का विवेचन करेंगे।

### 6.3.1 वीरगाथात्मक रासो काव्य

आदिकालीन काव्य की विशेष प्रवृत्ति वीरगाथात्मक काव्य लेखन थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इसे प्रधान प्रवृत्ति मान कर इस काल का नामकरण ही "वीरगाथा काल" कर दिया था। वस्तुतः वीर काव्यों के रचयिता चारण अथवा "भाट" थे जो किसी राजा विशेष के आश्रित कवि होते थे। अतः उनकी काव्य रचना का उद्देश्य ही अपने आश्रयदाता राजा के चरित्र का वर्णन तथा उसके शौर्य एवं पराक्रम का अन्य राजाओं की तुलना में अत्युक्ति पूर्ण वर्णन करना था। इसी कारण इनके काव्य में काल्पनिक तत्वों का भी समावेश हो गया तथा ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं हो पाई।

यद्यपि इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है। इसका कारण यह है कि इनमें से कई कृतियाँ तो उपलब्ध ही नहीं हैं, जैसे—हम्मीर रासो तथा परमाल रासो। इन ग्रंथों की कोई प्रति अब तक उपलब्ध नहीं है। "प्राकृत पैंगलम" में उपस्थित केवल आठ छंदों के आधार पर ही हम्मीर रासो को "रासो कृति" स्वीकार किया गया। इसी प्रकार परमाल रासो (आल्ह खंड) का प्रकाशन भी आल्हा गायकों द्वारा गाए गए पद्यों के आधार पर किया गया। समय-समय पर विद्वानों ने इन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाए। कभी इनके रचनाकाल को लेकर विवाद उठा तथा कभी भाषा को। इस विवाद का कारण वैविध्य पूर्ण भाषा तथा ऐतिहासिक तिथियों से मेल न खाती घटनाएं थीं। यद्यपि ये ग्रंथ पूर्णतया प्रामाणिक तो नहीं कहे जा सकते परन्तु इन ग्रंथों के कुछ अंशों को प्रामाणिक तथा कुछ को प्रक्षिप्त (बाद में जोड़ा गया) कहा जा सकता है। इन ग्रंथों की भाषा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रंथों में प्रत्येक काल के अनुसार भाषागत परिवर्तन होते रहे तथा प्रक्षिप्त अंश जुड़ते चले गए।

यहाँ हम प्रमुख रासो कृतियों के विवेचन के साथ-साथ उनकी प्रामाणिकता के संबंध में भी जानकारी देंगे। जिन वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों की चर्चा यहाँ हम करेंगे वे हैं—पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, विजयपाल रासो तथा खुमाण रासो।

**पृथ्वीराज रासो**—रासो काव्य परम्परा का प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ पृथ्वीराज रासो है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य भी स्वीकार किया है। इसके कुछ अंशों का अनुवाद कर्नल लाड तथा डा. हार्नले ने किया है। इस महाकाव्य के रचयिता चंदवरदाइ हैं जो दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान के सामंत तथा राजकवि थे। कहा जाता है कि चंदवरदाई एक मित्र की भांति सदैव पृथ्वीराज के साथ रहते थे। अतएव उन्होंने इस कृति में जो भी वर्णन किया है वह उनके द्वारा देखा तथा अनुभव किया हुआ था।

चंदवरदाई को हिन्दी का प्रथम महाकवि तथा उनकी कृति को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। यह प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से एक श्रेष्ठ रचना है। मूलतः यह ग्रंथ एक चरितकाव्य है जिसके अंतर्गत इस कृति के चरित नायक पृथ्वी राज चौहान का जीवन वृत्त प्रस्तुत किया है। प्रारंभ में उन सभी नियमों का पालन किया गया है जो परम्परागत शास्त्रीय ढंग से ग्रंथ के प्रारम्भ में प्रस्तुत किए जाते थे जैसे मंगलाचरण, विनय, सज्जन प्रशंसा, रचना का उद्देश्य आदि।

इस ग्रंथ के अलग-अलग चार संस्करण मिलते हैं—बृहत्, मध्यम तथा लघु तथा लघुतम बृहत् संस्करण में ढाई हजार पृष्ठ हैं तथा यह उप-समयों में विभक्त है। इसमें शहाबुद्दीन गोरी, जयचंद, परमाल, तथा मेवातियों आदि से किए गए पृथ्वीराज के अनेक युद्धों का वर्णन है तथा उनके अनेक विवाहों की कथा है। इन विवाहों में संयोगिता स्वयंवर, शशिवृता विवाह आदि प्रमुख हैं।

भावपक्ष की दृष्टि से इसकी सबसे प्रभावशाली विशेषता यह है कि इसमें मार्मिक प्रसंगों का अत्यधिक स्वाभाविक वर्णन हुआ है। रस की दृष्टि से यह काव्य युद्ध प्रधान वीर काव्य है। युद्ध वर्णनों में कवि ने पृथ्वीराज के युद्ध कौशल, शौर्य एवं पराक्रम का अत्यक्तिपूर्ण वर्णन किया है। शहाबुद्दीन की सेना के साथ हुए पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन करते हुए कवि पृथ्वीराज के युद्ध कौशल की विशेषता बताते हुए कहते हैं—

"थकि रहे सूर कौतिग गिगन, रगन-मगर भई श्रोन धर।
हदि हरषि वीर जग्गे हुलस, हुरेउ रंगि नवरत्त वर ।।"

अर्थात पृथ्वीराज चौहान के युद्ध कौशल एवं वीरता को देखकर सूर्य भी स्तम्भित होकर ठहर गया। इस युद्ध में हुए नरसंहार से सारी धरती रक्त से भर गई। ऐसे युद्ध को देखकर वीर योद्धा उल्लास से भर उठे तथा उनके चेहरों पर प्रसन्नता से रक्त की लालिमा छा गई।

वीर रस के साथ रौद्र रस का भी अत्यधिक प्रभावशाली वर्णन इस कृति में हुआ है। साथ ही श्रृंगार रस के संयोग पक्ष का चित्रण भी द्रष्टव्य है।

इस ग्रंथ में वर्णनों की प्रधानता है। युद्ध वर्णन, विवाह वर्णन, नगर-वर्णन तथा नख-शिख वर्णन आदि का कुशल चित्रण कवि ने किया है। शशिवृता के सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"चित्ररेष वाला विचित्र, चंद्री चन्द्रकानन।
स्वर्ग मग्ग उत्तरी, चित्र पुत्तरि परमानन ।।"

शशिवृता चित्ररेखा (अप्सरा) के समान विचित्र एवं अत्यंत सुन्दर है। उसका मुख चंद्र के समान सुन्दर है तथा शरीर पर चन्द्र सी कान्ति है। ऐसा लगता है मानो वह स्वर्गलोक के मार्ग से यहाँ उतर आई है। वह किसी चित्र में अंकित पुत्तलिका की भाँति सुन्दर है।

आखेट वर्णन के साथ-साथ कवि ने ऋतु-वर्णन भी प्रस्तुत किया है।

कवि ने अलंकारों को बलपूर्वक लाने का प्रयास नहीं किया अपितु वे स्वाभाविक रूप में ही आ गए हैं। इनमें अनुप्रास, तथा यमक प्रमुख हैं। "कुटिल कंस", "भमर भंवहिं भुल्लहि" आदि में अनुप्रास का सौन्दर्य है।

पृथ्वीराज रासो की भाषा मूलतः ब्रजभाषा का वह रूप प्रतीत होता है जिसमें राजस्थानी बोली का मिश्रण है। इसे पिंगल कहते हैं। कवि को भाषा पर इतना अधिकार था कि उसने कई भाषाओं के शब्दों को लेकर इसकी भाषा का निर्माण किया। इसीलिए रासो की भाषा को शुद्ध साहित्यिक भाषा नहीं माना जाता। वस्तुतः इसकी भाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी और ब्रजभाषा के शब्दों का सुन्दर सम्मिश्रण द्रष्टव्य है।

छंदों की दृष्टि से इस ग्रंथ में वैविध्य है। इस कृति में मूलतः गाथा, कवित्त, दूहा और सट्टक छंदों की प्रधानता है। कहीं-कहीं एक ही वर्णन में अनेक छंद दिखाई पड़ते हैं। कवि ने संपूर्ण काव्य के प्रणयन में लगभग 68 छंदों का प्रयोग किया है। काव्य शैली की दृष्टि से कवि ने ओज और शक्ति प्रदर्शन को प्रमुखता दी है। इसीलिए कहा जाता है कि रासो की काव्य शैली स्वाभाविक एवं वीर, ओज शृंगार तथा माधुर्य गुण से युक्त है।

**प्रामाणिकता–** ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से यह एक विवादास्पद ग्रंथ है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे प्रामाणिक मानते हुए इसमें प्रक्षिप्त अंशों की बहुतायत को भी स्वीकार किया है।

इस ग्रंथ को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानो में 'आचार्य राम चन्द्र शुक्ल' 'डॉ. राम कुमार वर्मा', 'गौरी शंकर', 'हीरा चंद ओझा' आदि प्रमुख हैं। वे अपने मत के पक्ष में पृथ्वीराज के समकालीन कवि 'जयानक' कृत "पृथ्वीराज विजय" का उल्लेख करते हैं। संस्कृत के इस ग्रंथ के आधार पर चंदवरदाई को उस काल का कवि माना ही नहीं जा सकता क्योंकि जयानक ने उस काल के सभी उल्लेखनीय कवियों का उल्लेख अपनी कृति में किया है। तथा इसमें कवि चंद का नामोल्लेख ही नहीं है। इस ग्रंथ की घटनाएँ तथा संवत् उस काल के शिलालेखों से भी मेल खाते हैं जबकि "पृथ्वीराज रासो" की घटनाएँ "पृथ्वीराज विजय" से बिल्कुल मेल नहीं खातीं। विद्वान गण तीसरा प्रमाण इसकी भाषा को मानते हैं। इस ग्रंथ की भाषा यद्यपि पिंगल है परन्तु स्थान-स्थान पर बदली हुई प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि इस ग्रंथ को कई कालों में पूर्ण किया गया तथा प्रत्येक काल की भाषा ने इस ग्रंथ की मूल भाषा को प्रभावित किया।

इसके विपरीत इस कृति को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों (मिश्र बंधु, बाबू श्यामसुन्दर दास) का तर्क है कि जयानक द्वारा कविचंद का अपने ग्रंथ में नामोल्लेख न करना आपसी द्वेष का परिणाम भी हो सकता है। इसकी भाषा में आए प्रभावों के संबंध में उनका कथन है कि अत्यधिक प्राचीन होने के कारण तथा समय-समय पर विविध कवियों द्वारा गाया जाने के कारण इसकी भाषा में परिवर्तन आ गया।

इसको अप्रामाणिक मानने का एक और कारण इसके चार अलग-अलग संस्करण प्राप्त होना है। इसके चार संस्करण–बृहत्त, मध्यम, लघु और लघुतम हैं। ये चारों छंद संख्याओं के आधार पर विभक्त हैं। लघुतम में सर्वाधिक कम छंद हैं। ऐसा भी माना जाता है कि इसमें बृहत्त, मध्यम तथा लघु की अपेक्षा अनैतिहासिक घटनाएँ भी कम हैं।

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रंथ के उन अंशों को प्रामाणिक माना है जिनमें शुक-शुकी संवाद हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह एक अर्ध प्रामाणिक रचना है, जिसके रचयिता का मूल उद्देश्य काव्य रचना करना था, इतिहास रचना नहीं।

**परमाल रासो**—परमाल रासो को "आल्ह खंड" के नाम से भी जाना जाता है। जिसे सन् 1967 में फर्रूखाबाद के डिप्टी कमिश्नर चार्ल्स इलियट ने लोक गीतों में प्रचलित छंदों के आधार पर छपवाया। वस्तुतः "परमाल रासो" लोक गीत शैली में लिखा गया एक वीरकाव्य है। नागरी प्रचारिणी सभा से इस काव्य ग्रंथ का प्रकाशन डॉ. श्यामसुन्दर दास ने कराया। परमाल रासो के रचयिता के रूप में जगनिक का नाम लिया जाता है। जगनिक महोबा के शासक परमार्दिदेव के आश्रित कवि थे। इस काव्य ग्रंथ में जगनिक ने पृथ्वीराज चौहान तथा परमार्दिदेव के मध्य हुए युद्ध का वर्णन किया है। परमार्दिदेव का ही अन्य नाम (परमाल) मिलता है। अनुमानतः इसी आधार पर इस कृति का नाम "परमाल रासो" रखा गया होगा।

इस कृति में परमार्दिदेव के दो सामंतों आल्हा और ऊदल के भी वीर चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वीर भाव का जितना प्रभावशाली रूप इस कृति में दृष्टिगत होता है उतना अन्य में नहीं। इस ग्रंथ का सर्वश्रेष्ठ गुण इसमें निहित गेयता है।गाँव में टोलियों में गायक इसे गा-गाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं।

यह ग्रंथ 36 खंडों में विभक्त है। कवि ने सोरठा, दोहा, भुजंग, प्रयाग, छप्पय, कुंडलियाँ, अरिल्ल, त्रोटक, गाथा, हरिगीतिका आदि छंदों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया है। इसकी गेयता के कारण इसे लोक गाथा की शैली में रखा जाता है। कुछ आलोचक इसे आल्हा शैली में प्रणीत भी स्वीकार करते हैं।

यद्यपि इसकी भाषा के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं तथापि यह स्वीकार किया जाता है कि इस ग्रंथ की भाषा ब्रज है जो बुंदेलखंडी से प्रभावित है।

**प्रामाणिकता**— परमाल रासो की कोई प्रति उपलब्ध न होने के कारण इसका मूल रूप अज्ञात ही है। सन् 1865 ई. में आल्हा गायकों के आधार पर चार्ल्स इलियट ने इसे "आल्हखंड" के रूप में प्रकाशित कराया तथा डॉ. श्यामसुंदर दास ने इन्हीं पद्यों के आधार पर "परमाल रासो" का प्रकाशन कराया। डॉ. श्यामसुंदर दास के कथन से हमें इसकी प्रामाणिकता के संबंध में जानकारी मिलेगी—"जिन प्रतियों के आधार पर यह संस्करण संपादित हुआ है, उनमें यह नाम नहीं है। उनमें इसको चंद कृत "पृथ्वीराज रासो" का "महोबा खंड" लिखा हुआ है। किन्तु वास्तव में यह "पृथ्वीराज रासो" का "महोबा" खंड नहीं है, वरन् उसमें वर्णित घटनाओं को लेकर मुख्यतः "पृथ्वीराज रासो" में दिए हुए वर्णन के आधार पर — लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रंथ है।"

वस्तुतः डॉ. श्यामसुन्दर दास ने ही इसे परमाल रासो का नाम दिया तथा आगे चलकर यही नाम प्रचलित हो गया।

**खुमाण रासो**— "खुमाण रासो" के रचयिता "दलपति विजय" हैं। इस काव्य ग्रंथ में मेवाड़ के महाराजाओं बाप्पा रावल से महाराजा राजसिंह तक का विस्तृत वर्णन है। इसमें प्रमुख रूप से राणा खुमाण का चरित वर्णन कवि ने अधिक विस्तार से किया है।

इस ग्रंथ की भाषा डिंगल है। इसकी घटनाएँ काल्पनिक हैं तथा उनमें अलौकिक तत्वों का समावेश है।

ऐसा प्रतीत होता है कि खुमाण रासो महाराजा खुमाण के वंश के इतिहास को ध्यान में रखकर लिखा गया होगा। आचार्य शुक्ल ने इसका रचनाकाल 12वीं शताब्दी माना है।

**प्रामाणिकता**: दलपति विजय कृत इस ग्रंथ के समय के संबंध में मतभेद है। यह कृति राजा खुमाण के युग के किसी आश्रित कवि की रचना मानी जाती है। राजा खुमाण का काल 9वीं शताब्दी माना जाता है। इसकी प्राप्य प्रतियों में राणा संग्राम सिंह द्वितीय तक का वर्णन मिलता है। संग्राम सिंह द्वितीय का युग सन् 1710-1735 तक है।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ खुमाण की वंश परम्परा का वर्णन करने के उद्देश्य से लिखा गया होगा तथा समय-समय पर इसमें प्रक्षिप्त अंश जुड़ते चले गए।

**हम्मीर रासो**—यह ग्रंथ कवि शार्ङ्ग धर द्वारा प्रणीत है। यद्यपि यह रचना उपलब्ध नहीं है परन्तु विविध साहित्य के इतिहासों में इस कृति का उल्लेख मिलता है। हम्मीर रासो के केवल आठ पद्य (प्राकृत पैंगलम) में विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यह उस काल की प्रचलित भाषा में रचित एक वीरगाथात्मक रासो ग्रंथ रहा होगा।

जो पद्य "प्राकृत पैंगलम" में प्राप्त होते हैं उनके आधार पर इसकी भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव माना जाता है। प्रत्येक पद्य का छंद अलग है। अतः ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि विविध छंदों में इस मूल ग्रंथ की रचना हुई होगी।

उपलब्ध पद्यों की भाषा तथा वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह कृति 14वीं शताब्दी से पूर्व की रचना स्वीकार की जाती है। इस कृति में रणथम्मौर के शासक हम्मीर की प्रशस्ति की गई है।

**प्रामाणिकता:** इस कृति की कोई प्रति उपलब्ध ने होने के कारण विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता के संबंध में भी सन्देह व्यक्त किया है क्योंकि हम्मीर रासो नाम की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। केवल "प्राकृत पैंगलम" में आए आठ पद्यों के आधार पर ही इसे "हम्मीर रासो" नाम दिया जाता रहा है क्योंकि वे आठों पद्य हम्मीर देव से संबद्ध हैं। सर्वप्रथम इसके रचयिता के नाम पर ही प्रश्न चिह्न लगाया गया। श्री राहुल सांस्कृत्यायन ने इसका रचयिता शार्गधर को न मानकर जज्जल को माना। इस कृति के केवल दो ही छंदों में जज्जल का नाम आया है। एक स्थान पर "जज्जल मंतिबर" शब्द आने से तथा कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि हम्मीर देव का जज्जल नामक कोई मंत्री था। अतः निष्कर्षतः जज्जल, इस कृती के प्रणेता नहीं हैं। तथा साहित्य के इतिहासों में मान्य शार्गधर को ही इस ग्रंथ का रचयिता स्वीकार किया जा सकता है।

**विजयपाल रासो–** विजयपाल रासो का रचयिता "नल्हसिंह भाट" को स्वीकार किया जाता है। इस ग्रंथ के चरितनायक राजा विजयपाल हैं जो विजयगढ़ (करौली राज्य) के शासक थे। इनका काल 1050 ई. के लगभग है। नल्हसिंह भाट को इन्हीं का आश्रित कवि माना जाता है।

इस कृति के अब तक केवल 42 छंद ही प्राप्त हुए हैं। इस प्रबन्ध काव्य में विजयपाल के शौर्य एवं पराक्रम का वर्णन है। पंगराजा एवं विजयपाल सिंह के मध्य हुए युद्ध का मुख्य रूप से कवि ने यहाँ वर्णन किया है। स्पष्टतः इस ग्रंथ में वीर रस का परिपाक हुआ है।

काव्य रूप की दृष्टि से इसे प्रबन्धकाव्य की कोटि में रखा जाता है। इसकी लिखित प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है अतः मौखिक छंदों के आधार पर ही इसकी भाषा के संबंध में जानकारी प्राप्त हुई। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने इसकी भाषा ब्रज मानी है। कुल मिलाकर यह एक साधारण कोटि की काव्य रचना है।

**प्रामाणिकता:** इस रचना की प्रामाणिकता पर अनेक प्रश्न चिह्न लगे। यद्यपि मिश्र बंधुओं ने इस कृति को 1298 ई. में रचित बताया है परन्तु इस में तोपों का उल्लेख भी कवि ने किया है, जो कि उस काल की परिस्थिति से मेल नहीं खाता।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने इस कृति की भाषा पर दृष्टिपात करते हुए इसे सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना मानने से इंकार किया है।

अभी आपने वीरगाथात्मक रासो काव्य रचनाओं तथा उनकी प्रामाणिकता के विषय में जानकारी प्राप्त की। आप जान गए होंगे कि इन रचनाओं का मूल उद्देश्य चरितनायक की वीरता का गुणगान करना था। संभवतः उनके शौर्य और पराक्रम का वर्णन करने के लिए ही इन की रचना की गई। अर्थात् इन लेखकों का उद्देश्य ही आश्रयदाता का प्रशस्तिगान करना था। चूंकि क्षत्रिय का मूल धर्म वीरता है तथा यह वीरता राजा द्वारा युद्ध अथवा अपहरण आदि में ही दिखाई जाती थी, इसीलिए इन कवियों ने चरित नायक के जीवन के उन अंशों का ही अधिक अंकन किया।

**बोध प्रश्न 2**

1) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

   क) पृथ्वीराज रासो का चरितनायक ..... है।

   ख) परमाल रासो के रचयिता ..... हैं।

   ग) विजयपाल रासो की भाषा ..... मानी जाती है।

2) निम्नलिखित कथनों में से सही कथन पर (√) का निशान लगाएँ–

क) खुमाण रासो की भाषा डिंगल है।

ख) परमाल रासो के आठ पद्य प्राकृत पैंगलम में विद्यमान हैं।

3) पृथ्वीराज रासो की भाषा का विवेचन चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

4) परमाल रासो की कथावस्तु का मूल विषय बताइये। इसके अन्य नाम की चर्चा कीजिए (चार पंक्तियों में)।

.....

.....

.....

.....

## 6.3.2 शृंगारपरक रासो काव्य

अब हम जिन रचनाओं का परिचय देने जा रहे हैं उनमें वीर रस तो है परंतु शृंगार हावी हो गया है। इन ग्रंथों में शृंगार के वियोग तथा संयोग दोनों ही पक्षों का चित्रण है। इन कृतियों का अंत नायक-नायिका के पुनर्मिलन से हुआ है। इस वर्ग में हम जिन दो प्रमुख कृतियों की चर्चा करेंगे वे हैं–संदेश रासक तथा बीसलदेव रासो। इन रचनाओं की विशेषता है कि इन दोनों कृतियों में संदेश परम्परा का निर्वाह किया गया। यह परम्परा परवर्ती साहित्य में भी द्रष्टव्य है जिनमें जायसी का पद्मावत उल्लेखनीय है। संस्कृत साहित्य में कालिदास ने मेघदूत में इसी परम्परा का निर्वाह किया था। आइए हम इन कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त करें।

**संदेश रासक**– संदेश रासक 12वीं शताब्दी में प्रणीत एक अपभ्रंश रचना है। यह ग्रंथ अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) द्वारा रचित है। इसमें 223 पद्य हैं तथा यह तीन प्रक्रमों में विभक्त है।

इस कृति में विजय नगर में रहने वाली एक विरहिणी नायिका की कथा वर्णित है जिसका पति खम्भात (गुजरात) चला गया है।। विरहिणी नायिका खम्भात जाने वाले एक पथिक के द्वारा अपने पति को संदेश भेजना चाहती है। वह चलने को उद्यत होते हुए पथिक को बार-बार रोककर अपना करूण संदेश देती है। नायिका ने पथिक से षट्ऋतुओं मे अपने विरह से उत्पन्न दुख का वर्णन भी किया है। अंततः जब नायिका पथिक को विदा करती है तो दूसरी दिशा से उसका पति आता दृष्टिगत होता है और वह आनन्द विभोर हो उठती है। अंत में कवि ने अपनी इस रचना पढ़ने-सुनने वालों की कार्यसिद्धि की मंगलकामना करते हुए कृति समाप्त की है।

"संदेश रासक" एक खंड काव्य है। इस में 22 प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है परन्तु इसका मुख्य छंद "रासा" है।

इस कृति मे शृंगार रस के विरह पक्ष का अंकन प्रमुख रूप से हुआ है। विरहिणी नायिका की दीन-हीन दशा तथा भाव विह्वलता का अंकन कवि ने बखूबी किया है।

नायिका स्वप्न में पति से साक्षात्कार करती है तथा जगने पर उसे जब वस्तुस्थिति का पता चलता है तो वह अत्यंत दुःखी होकर कह उठती है–

"जइ ठाहु णिण्गउ जीउ पावबोधहि जड़िउ
हियउ न किण किरि फुट्ट णाइ वज्जिहि थडिउ"

अर्थात् यदि किसी कारणवश मेरे प्राण नहीं निकले तो अवश्य ही किसी पाप के बंधन से जड़ होकर रह गए। पति के न होने पर मेरा हृदय फट क्यों नहीं गया। मेरा हृदय तो मानो बज्र का ही बना हुआ लगता है

इस कृति में कृतिकार ने संदेश परम्परा का निर्वाह किया है तथा इसकी समाप्ति नाटकीय ढंग से नायक-नायिका के पुनर्मिलन से हुई है।

**बीसलदेव रासो–** इस कृति के रचयिता नरपति नाल्ह हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल 1155 ई. माना जाता है। इसके चरित नायक विग्रहराज तृतीय हैं।

इस कृति में चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव) तथा भोज परमार की पुत्री राजमती के विवाह तथा वियोग का वर्णन है। राजा बीसलदेव अपनी नव विवाहिता रानी राजमती के व्यंग्य बाणों से रुष्ट होकर उड़ीसा राज्य चला जाता है तथा बारह वर्ष तक लौटकर नहीं आता। पति के वियोग से अत्यंत दुःखित रानी एक पण्डित द्वारा बीसलदेव को सन्देश भेजती है। अंत में बीसलदेव के लौट आने पर दोनों का पुनर्मिलन होता है।

यह रचना चार खंडों में विभक्त है तथा इसमें कुल 128 छंद हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें आदि से अंत तक एक ही छंद का निर्वाह हुआ है। यह गेय काव्य के रूप में रचित है तथा इसकी शैली वर्णनात्मक है।

यह कृति मूलतः एक विरह काव्य है। कवि ने रानी के विरह को अत्यधिक विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। कवि को नारी के विवश जीवन से सहानुभूति है तथा वह कहता है–

"स्त्री जनम कांई दियो हो महेस?
अवर जनम थारे घणा हो नरेस!

अर्थात हे महेस! तुमने मुझे स्त्री का जन्म क्यों दिया। तुम्हारे पास (मुझे देने के लिए) और भी तो जन्म थे।

संदेश रासक की संदेश परम्परा का निर्वाह करते हुए इस कृति में भी कवि ने रानी राजमती द्वारा अपने पति को वापस लौटने का संदेश भिजवाया है।

भाषा की दृष्टि से इस कृति का अपना अलग महत्व है। इस की भाषा उस युग की भाषा का संधिस्थल है। इसका कारण यह है कि इसमें अपभ्रंश के साथ-साथ पुरानी हिन्दी की झलक भी मिल जाती है।

स्पष्टतः इन रचनाओं में शृंगार का सफल निरूपण किया गया है। अब हम जिस वर्ग की रचनाओं का विवेचन करेंगे वह धार्मिक कथाओं से संबद्ध है। यद्यपि इनमें से कुछ कृतियों में वीर रस का भी परिपाक है तथापि मूल कथ्य धर्म कथा कहना ही है।

### 6.3.3 धार्मिक एवं उपदेशमूलक रासो काव्य

इस वर्ग के अन्तर्गत वे ग्रंथ आते हैं जो जैन कवियों द्वारा "रास" या "रासो" के नाम से लिखे गए हैं। इनकी विषयवस्तु धर्म तथा उपदेश पर आधारित है। यद्यपि इनमें वीर रस का निर्वाह है परन्तु इन सभी ग्रंथों का अन्त शांत रस में हुआ है जैसे उपदेश रसायन रास में धर्मोपदेश है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में ऋषभदेव के पुत्रों बाहुबलि तथा भरत के युद्ध की कथा तथा अंत में बाहुबलि द्वारा वैराग्य लेने की कथा है। इस प्रकार इन ग्रंथों में वीरगाथात्मक रासो काव्य कृतियों के समान वीर रस की प्रधानता नहीं है। इन ग्रंथों के रचयिता का उद्देश्य भी प्रशस्तिमूलक चरितकाव्य लिखना नहीं है अपितु धर्मोपदेश का कथा के द्वारा प्रतिपादन करना है। इस वर्ग के अंतर्गत हम जिन प्रमुख ग्रंथों की चर्चा करेंगे, वे हैं–उपदेश रसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलि रास तथा चन्दनबाला रास।

**उपदेश रसायन रास :** इस कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं। इसका रचनाकाल 1143 ई. के लगभग माना जाता है। इसमें निहित पद्यों की संख्या 80 मानी जाती है। यह एक धार्मिक रचना है तथा इस कृति के रचयिता का उद्देश्य ही धर्मोपदेश है। कवि का विचार है कि गुरू के माध्यम से ही आत्मा का उद्धार हो सकता है। गुरू के द्वारा ही भवसागर को पार किया जा सकता है। गुरू महिमा के साथ-साथ कवि ने अपनी कृति में गृहस्थों के लिए भी अनेक उपदेश प्रस्तुत किए हैं।

यह एक गीत काव्य है। इसमें चउपई छंद का प्रयोग हुआ है। इस ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है।

**भरतेश्वर बाहुबलि रास:** यह ग्रंथ आचार्य शालिभद्र सूरि द्वारा रचित है। इस कृति का प्रणयन 12वीं शताब्दी में माना जाता है। मुनि जिनविजय इस कृति को जैन साहित्य की रास परम्परा की प्रवर्तक रचना मानते हैं।

इस ग्रंथ का कथानक जैन साहित्य की अति प्रचलित घटना पर आधारित है तथा प्रायः सभी जैन पुराणों में उल्लिखित है। इसमें ऋषभदेव के दो पुत्रों भरत तथा बाहुबलि के युद्ध का वर्णन है। वीर रस से प्रारम्भ होने पर भी इस कृति का अन्त निर्वेद तथा वैराग्य में ही हुआ है। इसकी कथा इस प्रकार है–ऋषभदेव ने अंतिम समय में अपना संपूर्ण राज्य भरत तथा बाहुबलि सहित अपने सौ पुत्रों में बांट दिया। भरत दिग्विजयी बनना चाहते थे परिणामस्वरूप बाहुबलि को छोड़कर इनके अन्य सभी भाइयों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। भरत तथा बाहुबलि में घोर युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान अपने बड़े भाई को मारते हुए बाहुबलि को अत्यंत ग्लानि हुई तथा उन्होंने राज्य त्याग कर वैराग्य ले लिया और अंत में कैवल्यपद की प्राप्ति की।

इस कृति में वीर रस का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है परन्तु इसकी समाप्ति शांत रस में हुई है। इसमें 205 छंद हैं। इस कृति की भाषा अपभ्रंश है जिस पर प्राचीन राजस्थानी तथा गुजराती का प्रभाव है। इसमें चउपइ, रास तथा दोहा आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

**चन्दनबाला रास:** इस कृति के लेखक कवि आसगु हैं। पैंतीस छंदों में रचित यह छोटा सा खंडकाव्य है। इसका रचनाकाल 1200 ई. के लगभग माना जाता है।

इस कृति में राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला की करूण कथा है। इस काव्य कृति का अन्त चन्दनबाला द्वारा भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त होने से हुआ है।

यह जैन कृति करुण रस से आप्लावित है। इस कृति का प्रमुख उद्देश्य चन्दनबाला के जीवन की करूण कथा कहना है।

यह खंड काव्य अपभ्रंश में रचित है। इसमें चउपइ तथा दूहा छंदों का प्रयोग किया गया है।

**बोध प्रश्न 3**

1) उचित शब्द छांटकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए–
   क) "संदेश रासक" के रचयिता ..... हैं (नल्हसिंह, नरपति नाल्ह, जगनिक)
   ख) "बीसलदेव रासो" के चरितनायक ..... हैं (विग्रहराज चतुर्थ, विग्रहराज तृतीय)
   ग) "संदेश रासक" की भाषा ..... है (प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी)
   घ) चन्दनबाला रास एक ..... है (प्रबन्धकाव्य, खंडकाव्य, महाकाव्य, मुक्तक काव्य)

2) "संदेश रासक" तथा "बीसलदेव रासो" दोनों कृतियों में किस परम्परा का निर्वाह किया गया है? (एक पंक्ति में)

.....

3) "भरतेश्वर-बाहुबलि रास" का जैन रास परम्परा में क्या स्थान है? इसकी भाषा पर चर्चा कीजिए (तीन पंक्तियों में )।

.....

.....

.....

.....

## 6.4 रासो काव्य की प्रमुख विशेषताएँ

वीरगाथात्मक रासो काव्य की रचना मूलतः राजस्थान के वीर राजाओं के आश्रित चारण-कवियों ने की। रासो काव्य की विस्तृत जानकारी हम आपको दे चुके हैं। यद्यपि इनमें से कई कृतियां अभी तक उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उनके प्राप्य अंशों के माध्यम से हम उनकी प्रमुख विशेषताओं का अंकन कर सकते हैं।

### 6.4.1 ऐतिहासिकता और कल्पना का सम्मिश्रण

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा प्रशस्ति काव्य होने के कारण इनके वर्णनों में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा नहीं हो पाई है तथा काल्पनिक वर्णनों की अधिकता हो गई। इन वीर गाथाओं में इतिहास तथा कल्पना दोनों का ही समावेश हो गया है। इसका एक कारण वर्णनात्मकता भी थी। वर्णन प्रधान काव्य होने के कारण इन कवियों को सहज ही काल्पनिक घटनाओं और अत्युक्तियों का सहारा लेना पड़ता था। वस्तुतः ये ग्रंथ काव्य ग्रंथ थे अतः कल्पना का समावेश होना स्वाभाविक ही था। उन्हें ऐतिहासिकता की दृष्टि से आँकना उचित नहीं है।

रासो काव्य के रचयिताओं ने अपने कथानक का प्रारंभ तो ऐतिहासिक घटनाओं से किया है परंतु चरित नायक के अलौकिक तथा शौर्यपूर्ण कार्यों का उल्लेख तथा वर्णन करने हेतु वह काल्पनिक घटनाओं तथा अनैतिहासिक आख्यानों का अंकन करता है।

कुछ रासो काव्यों की घटनाएँ भी एक सी होते हुए एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। जैसे उदाहरण के लिए "परमाल रासो" में चरित नायक राजा परमाल के पृथ्वीराज चौहान द्वारा मार दिए जाने का उल्लेख है जबकि चंद कवि कृत "पृथ्वीराज रासो" में उसे केवल, दण्ड देकर छोड़ने का अंकन है। यद्यपि,परमाल तथा पृथ्वीराज चौहान के मध्य युद्ध होने की घटना ऐतिहासिक ही है।

### 6.4.2 प्रशस्ति काव्य

रासो काव्य का प्रतिपाद्य विषय आश्रयदाता राजा के शौर्य तथा वीरता का यशोगान करना था। रासो काव्य के रचयिताओं ने अपने चरित नायकों के युद्ध कौशल तथा वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। उन्होंने अपने वर्णनों में चरितनायक के समक्ष दूसरे राजाओं की हीनता का भी अंकन किया है। इन कवियों ने अपने काव्य का आदर्श रण क्षेत्र में अपने नायक राजा की वीरता के वर्णन को ही बनाया है क्योंकि आश्रयदाता को प्रसन्न रखना तथा 201 क्षेत्र में ओजपूर्ण वर्णनों द्वारा वीरता का संचार करना इनका कर्तव्य था।

### 6.4.3 युद्ध और प्रेम

रासो काव्य के चरित नायकों के युद्ध अधिकांशतः अपने राज्य का विस्तार करने के कारण होते थे। इन कृतियों में शृंगार तथा वीर दोनों रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। उदाहरण के लिए, "पृथ्वीराज रासो" के चरित नायक पृथ्वीराज चौहान वीर योद्धा होने के साथ-साथ प्रेमी भी हैं। कवि ने युद्ध वर्णनों में पृथ्वीराज की वीरता एवं पराक्रम का चित्रण किया तथा दूसरी ओर रूप-सौन्दर्य तथा प्रेम का सुन्दर अंकन भी किया है।

युद्ध वर्णनों में उन सभी वस्तुओं का विस्तृत वर्णन है जिनका उपयोग युद्ध में होता था। सेना के सेनापतियों के नाम और रूप तक का विवरण इन काव्यों में मिलता है।

प्रेम के अंतर्गत रासो कवियों ने शृंगार रस के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर अंकन किया है। नखशिख वर्णन, वियोग में नायिका का अपने प्रियतम के पास संदेश पहुंचाना, तथा विरह के अनेक रूपों का वर्णन इन काव्यों में हुआ है। संयोग तथा पुनर्मिलन से इन नायिकाओं के विरह जनित दुःख की समाप्ति होती है।

### 6.4.4 काव्य रूप

रासो काव्य में प्रबन्ध एवं मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य रूप द्रष्टव्य हैं। पृथ्वीराज रासो तथा विजयपाल रासो को प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखा जाता है। इनका वर्ण्य विषय विस्तृत है तथा चरित नायक के संपूर्ण जीवन की कथा समेटे है। चन्दनबाला रास तथा सन्देश रासक एक खंड काव्य है। संदेश रासक में नायिका अपने प्रवासी पति को पथिक द्वारा संदेश भेजती है। गेय काव्य के अन्तर्गत "बीसलदेव रासो" का उल्लेख किया जाता है। इस कृति में आदि से अन्त तक एक ही छंद का प्रयोग किया गया है। "उपदेश रसायन रास" मुक्तक काव्य है। इसमें नीति तथा धर्मोपदेश के पद हैं।

इनके अतिरिक्त लोकगीत शैली में परमाल रासो की रचना हुई। इस ग्रंथ के पदों को आल्हा गायक आज भी टोलियों में गाते हैं। इस काव्य ग्रंथ को आल्ह शैली में रचित भी कहा जाता है।

## 6.5 अभिव्यंजना पक्ष

अभिव्यंजना पक्ष के अंतर्गत रासो काव्यों के भाषा वैविध्य, उसमें प्रयुक्त अलंकार तथा छंदों का विवेचन करेंगे। रासो काव्यों के विषय वैविध्य को तो आप जान ही चुके हैं। विषय अलग-अलग होने से भाषा परिवर्तन होना स्वाभाविक है। चारण काव्यों ने वीरगाथात्मक काव्य की रचना की। फलस्वरूप उनके काव्य की डिंगल या पिंगल भाषा में कठोर एवं द्वित्वप्रधान शब्दों का प्रचर प्रयोग किया गया। दूसरी ओर शृंगार परक रासो काव्य के रचयिताओं ने अलंकारों के सौन्दर्य के माध्यम से प्रेम तथा वियोग का अंकन किया। आइए हम इनके अभिव्यंजना शिल्प के तीनों पक्षों भाषा, अलंकार एवं छंद पर चर्चा करें।

### 6.5.1 भाषागत विशेषताएँ

रासो काव्यों की भाषा वैविध्यपूर्ण है। यहाँ तक कि एक ही काव्य ग्रंथ में दो भिन्न प्रकार की भाषाओं का संगम दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि इन काव्यों में वीर रस के साथ-साथ शृंगार रस का भी सम्यक परिपाक हुआ है। अतः वर्णित-स्थल के अनुरूप ही भाषा परिवर्तन भी स्वाभाविक रूप से हो गया है।

इस युग में साहित्यिक राजस्थानी भाषा का प्रयोग "डिंगल" के नाम से काव्य में होता था तथा ब्रज मिश्रित भाषा के साहित्यिक रूप को "पिंगल" कहते थे। चारण कवियों ने वीरगाथात्मक रासो काव्यों की रचना "डिंगल" में की है क्योंकि वीर विषय की दृष्टि से यह भाषा अधिक उपयुक्त है। इस भाषा पर संस्कृत, अरबी, फारसी, प्राकृत, पंजाबी, ब्रज तथा अपभ्रंश, का भी प्रभाव द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए "पृथ्वीराज रासो" की मूल भाषा पर, ब्रज का प्रभाव स्पष्टतया दिखाई पड़ता है।

**हरषत** अनंद मन **महि हुलस, लै जु** महल भीतर गई।

यहाँ राजकुमारी पद्मावती द्वारा मन में हर्षित होते हुए शुक को भीतर ले जाकर रत्न तथा मणियों से सुशोभित अनुपम पिंजड़े में रखने का वर्णन है।

उपर्युक्त अंश में ब्रज का सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। यहाँ मोटे अक्षरों में लिखे शब्द ब्रजभाषा के हैं। साथ ही उस युग में प्रचलित मुहावरों, सूक्तियों आदि का प्रयोग भी रासो काव्य में बहुतायत से किया गया है।

इन कृतियों में तत्सम, तद्भव तथा राजस्थानी एवं ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। **तत्सम शब्द**– धवल, विहंगम, पंचम्, शृंगार, खंजन, स्निग्ध, निद्रा, नीर, प्रिय, दन्त आदि। **तद्भव शब्द**– दहई, दाह, दुसह, विचित्, अग्गि, चरित, गरब, जोवन, सिणंगार, छिमा, चष, संत आदि।

**राजस्थानी भाषा के शब्द**– मंडणी, माई, ऊमोछइ, महा, चहुँदिसिधाणा, धणी, दइ, सभातयां, चाल्या, नागफणां, गवरि, कसण आदि।

**ब्रजभाषा के शब्द**–मनौं, हुलस, हरषत, अनंद, बिगसि, तिय, लै, जु, तिहि, महं, महि आदि।

**द्वित्व प्रधान** वर्णों का प्रयोग भी वीर रस के वर्णनों में बहुत अधिक स्थानों पर कवियों ने किया है। कुछ शब्द हैं–चहुट्टिटय, झप्पय, झट्ट, उट्ठि, बज्जिय, दिट्ठ, अड्डौ, आदि। उदाहरण के लिए "परमाल रासो" का यह अंश देखिये–

"भभक्कै भभक्कै बहै रक्तधारं।
सनक्कै सनक्कै बहै बान भारं।।"

यहाँ शब्दों की ध्वनि के माध्यम से कवि ने रुधिर के बहने का चित्र अंकित कर दिया है।

कवि चंद ने तो पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन में भी अनेक स्थानों पर द्वित्व वर्णों का प्रयोग किया है। एक उदाहरण–

"यह चाहत चष चकित, उह जु तकिय झरप्पि झट।
चंच चहुट्टिटय लोभ, लियो तब गहित अप्प कर।।"

अर्थात शुक ने पद्मावती के अरुण अधरों को (बिम्ब फल जानकर) पकड़ने के लोभ से चोंच चलाई। पद्मावती ने आश्चर्य नेत्रों से उसे देखा तथा अपने हाथ में पकड़ लिया।

वस्तुतः रासो साहित्य की भाषा केवल डिंगल, पिंगल या अपभ्रंश नहीं है अपितु उन में अनेक बोलियों एवं अन्य विविध भाषाओं का सम्मिश्रण है। वीरगाथात्मक रासो काव्य में तो व्याकरण की शुद्धता का प्रायः अभाव ही है क्योंकि चारण कवियों का उद्देश्य अपनी ओज से युक्त कविताओं द्वारा उत्साह का संचार करना तथा अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। कई स्थानों पर तो उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी किया है जिनका कोई अर्थ नहीं परन्तु उनके अभीष्ट भाव का सुनने वालों में संचार हो जाता है। जैसे तड-तत्तरं, कड़-कक्करं, कड-कक्करं आदि। यहाँ केवल शब्द ध्वनि पर ही जोर दिया गया है, वस्तुतः इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। शृंगारिक रासो काव्यों की भाषा सरल तथा अलंकार युक्त है। उनमें कठोर वर्णों का प्रायः अभाव ही है।

### 6.5.2 अलंकार

वीरगाथात्मक रासो काव्य में अलंकार का अधिक एवं सटीक प्रयोग किया गया है। ये अलंकार वस्तु तथा रूप की तीव्र व्यंजना करने में पूर्णतया सक्षम हैं। इन कवियों ने कहीं भी पाण्डित्य प्रदर्शन की चेष्टा नहीं की है। यद्यपि इन कृतियों में प्रायः सभी पारम्परिक अलंकार विद्यमान हैं तथापि अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति इन की आवश्यकता है। अतः उन्हें अधिकाधिक प्रयुक्त किया गया है।

"मनहुं कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बेस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय।।"

राजकुमारी पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि चंदवरदाई कहते हैं कि पद्मावती का सौन्दर्य देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं से युक्त हो। बाल्यावस्था में ही उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा ने उसी अमृत रस का पान किया है (अर्थात् सौन्दर्य प्राप्त किया है) इस अंश में **रूपकातिशयोक्ति** अलंकार है।

परमाल रासो में आल्हा ऊदल की विशेषता बताते हुए कवि कहता है–

"आल्हा उदल की खिचड़ी मां,
परगैसवा लाख मन हींग।"

खिचड़ी में सवा लाख मन हींग पड़ना संभव नहीं। यहाँ बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। अतः यहाँ भी अत्युक्ति अलंकार है।

कवियों द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किए जाने के कारण ही इन काव्यों में ऐतिहासिकता की रक्षा भी नहीं हो पाई।

### 6.5.3 छन्द

रासो काव्यों में छंदों का बहुमुखी प्रयोग मिलता है। इन छंदों में दूहा, चउपइ, गाहा या गाथा, रोला, कुण्डलियाँ, उल्लाला पद्धरि आदि प्रमुख हैं। परमाल रासो (आल्ह खंड) के छंद का तो नाम ही "आल्हा" पड़ गया है। इस छंद में एक प्रवाह तथा गतिशीलता है–

"बारह बरस लौं कूकर जीए, औ, तेरह लौं जिएं सियार।
बरस अठारह छत्री जीएं, आगे जीवन को धिक्कार।।"

इसी प्रकार उपदेश रसायन रास में चउपइ, भरतेश्वर बाहुबलि रास में दोहा, रास तथा चउपइ, चन्दनबाला रास में चउपइ तथा दूहा, पृथ्वीराज रासो में गाथा, कवित्त तथा दूहा, संदेश रासक में रासा, आदि छंदों का प्रयोग किया गया है।

**बोध प्रश्न 4**

1) निम्नलिखित कथनों में कुछ सही हैं कुछ गलत। उचित चिह्न लगाइये।
   क) परमाल रासो को "आल्ह" शैली में रचित माना जाता है।
   ख) चारण कवियों का उद्देश्य शृंगारिक रचनाएँ लिखना था।

2) )रासो काव्य की भाषागत विशेषताओं का अंकन पाँच पंक्तियों में कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

3) उचित शब्द छाँटकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये–

क) विजयपाल रासो ..... काव्य है। (प्रबन्ध, मुक्तक, गीत)

ख) चन्दनबाल रास में..... तथा..... छंदों का प्रयोग हुआ है। (दूहा, दोहा, गाहा, चउपइ)

ग) आदिकाल में साहित्यिक राजस्थानी भाषा का प्रयोग..... नाम से होता था। (डिंगल, पिंगल, राजस्थानी)

## 6.6 सारांश

इस इकाई में आपने आदिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति "रासो काव्य" के विषय में पढ़ा। रासो के नाम से जिस साहित्य की रचना की गई उसे तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–वीरगाथात्मक, श्रृंगारपरक तथा धार्मिक। आप जान गए होंगे कि वीरगाथात्मक रासो काव्य की रचना दरबारी चारण कवियों ने की जिनका मूल उद्देश्य काव्य में आश्रयदाता राजा की प्रशस्ति का गायन करना था। श्रृंगारपरक रासो ग्रंथ तथा धार्मिक रासो ग्रंथ क्रमशः प्रेम तथा धर्मोपदेश से सम्बद्ध हैं।

वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों की भाषा "डिंगल या पिंगल" है। श्रृंगारपरक तथा धार्मिक रासो ग्रंथ अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में रचे गए। वीरगाथात्मक रासो ग्रंथों में यद्यपि आश्रयदाता राजा का जीवन चरित तथा विशेष घटनाएँ वर्णित हैं परन्तु वे ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं। उनमें कल्पना तथा अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों की अधिकता है क्योंकि कवियों का उद्देश्य काव्य लेखन तथा राजा की प्रशस्ति करना था। इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप प्रमुख रासो कृतियों, उनकी विशेषताओं तथा भाषा एवं शिल्प का विश्लेषण कर सकते हैं।

## 6.7 उपयोगी पुस्तकें

**हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली** (भाग-3) : द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

**हिन्दी साहित्य का इतिहास** : शुक्ल, रामचन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

**हिन्दी साहित्य का इतिहास** : सं. डॉ. नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

## 6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) क)(i)

ख)(ii)

2) क) उपदेश रसायन रास

ख) चन्दनबाला रास

ग) भरतेश्वर बाहुबलि रास

**बोध प्रश्न 2**

1) क) पृथ्वीराज चौहान
   ख) जगनिक
   ग) ब्रज
2) क) √
   ख) ×
3) देखिए 6.3.1 में पृथ्वीराज रासो
4) देखिए 6.3.1 में परमाल रासो

**बोध प्रश्न 3**

1) क) नरपति नाल्ह
   ख) विग्रहराज तृतीय
   ग) अपभ्रंश
   घ) खंडकाव्य
2) सन्देश परम्परा का।
3) यह कृति जैन-रास-परम्परा की प्रवर्तक कृति मानी जाती है। भाषा प्राचीन राजस्थानी तथा गुजराती से प्रभावित अपभ्रंश है।

**बोध प्रश्न 4**

1) क) √
   ख) ×
2) देखिए 6.5.1
3) क) प्रबन्ध
   ख) चउपइ, दूहा
   ग) डिंगल

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड
3

## भक्तिकालीन काव्य

इकाई 7

भक्तिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन 111

इकाई 8

भक्तिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय 124

इकाई 9

भक्ति काव्य का दार्शनिक आधार 145

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

डॉ. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. राम सिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिंदी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण-समिति

**पाठ लेखक**
प्रो. विजयेन्द्र स्नातक
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
प्राध्यापक
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

डॉ. पूरन चन्द टण्डन
प्राध्यापक
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

**संकाय सदस्य**
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. जवरी मल पारख
डॉ. सत्यकाम

**संयोजक एवं सम्पादक**
डॉ. शत्रुघ्न कुमार (खंड संयोजक)
**पाठ्यक्रम संयोजक एवं सम्पादक**
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. पूरन चन्द टण्डन

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)
*© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991*

ISBN-81-7091-707-7.

UGHI-103/108

*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।*

# खंड 3 का परिचय

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-III का यह तीसरा खंड "भक्तिकालीन काव्य" पर प्रस्तुत है। सच्ची निष्ठा, गहन अनुराग तथा तीव्र भावनात्मक उद्वेग से प्रेरित होकर जिस साहित्य का केन्द्रीय-तत्व "भक्ति" निर्धारित हो गया, उसी काल-खंड के साहित्य को भक्तिकालीन काव्य कहा गया। यों भक्तिनिष्ठ-धार्मिक विचारधारा वैदिककाल से मुखर होती हुई अद्यतन काल तक अजस्र रूप में प्रवाहित दिखाई पड़ती है। विभिन्न परिवर्तन-संवर्द्धन तथा भक्ति-आंदोलनों से गुजरती इस काव्य-धारा ने आस्था, निष्ठा, विश्वास, मूल्यवान जीवन-दृष्टि, समाज-सुधार तथा नैतिक-विचार दिए। जीव, जगत, संसार, माया तथा ईश्वर के प्रति एक ठोस, स्पष्ट एवं सारगर्भित दृष्टि प्रदान की। 'तुलसी', 'सूर', 'कबीर' तथा 'जायसी' जैसे युग-प्रवर्तक, लोकनायक, दार्शनिक तथा भाव-प्रवण कवि जिस युग ने दिए उसे ही हिन्दी साहित्य के इतिहास का "स्वर्णयुग" भी कहा गया।

इस खंड की तीन इकाइयों में आप भक्तिकाल के इसी वैशिष्ट्य का विश्लेषण करेंगे। सर्वप्रथम इकाई संख्या सात "भक्तिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन" में भक्तिकाल के अर्थ एवं स्वरूप की चर्चा करते हुए उसके ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद परिस्थितियों के अर्थ एवं महत्व के परिप्रेक्ष्य में इस काव्य धारा को प्रभावित, नियमित एवं नियंत्रित करने वाले राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आदि विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। अंत में भक्तिकालीन साहित्य की सामग्री और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को दिखाने का प्रयास रहा है।

इकाई संख्या आठ "भक्तिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय" के अंतर्गत भक्तिकाल की सगुण-निर्गुण तथा रामकाव्य-कृष्णकाव्य एवं संतकाव्य-सूफीकाव्य आदि प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए भक्तिकाव्य की सामान्य विशेषताओं को व्याख्यायित किया गया है। इन विशेषताओं के बाद प्रमुख प्रवृत्तियों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए भक्ति काव्य के महत्व को स्पष्ट किया गया है।

खंड की अंतिम तथा इकाई संख्या नौ "भक्ति काव्य का दार्शनिक आधार" है। इस इकाई में भक्ति, धर्म और दर्शन के परस्पर संबंध तथा स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भक्ति के विविध पक्षों और रूपों को बताया गया है। इनके अंतर्गत निर्गुण संत काव्य धारा का दार्शनिक आधार, सूफी काव्यधारा का दार्शनिक आधार, एकेश्वरवाद तथा सगुण काव्य धारा के दार्शनिक आधार का विवेचन किया गया है। आगे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद आदि विविध दार्शनिक मतवादों के साथ-साथ गौड़ीय, राधावल्लभीय एवं सखी-सम्प्रदायों की विवेचना भी की गई है। अंत में भक्ति सम्प्रदायों के प्रदेय को स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार यह खंड सम्पन्न होता है। प्रत्येक इकाई में बोध-प्रश्न तथा अपेक्षित उत्तर या सकेत भी दे दिए गए हैं। इकाई में प्रयुक्त कठिन शब्दावली को स्पष्ट भी कर दिया गया है। अतिरिक्त अध्ययन सामग्री की दृष्टि से उपयोगी पुस्तकों ने नाम भी दिए गए हैं। आप इस पूरी सामग्री से लाभान्वित होते हुए गहन अध्ययन कीजिए।

# इकाई 7 भक्तिकालीन परिस्थितियों का अध्ययन

## इकाई की रूपरेखा


7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 भक्तिकाल अर्थ एवं स्वरूप
7.3 ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दु
7.4 परिस्थितियाँ अर्थ एवं महत्व
  7.4.1 राजनीतिक परिस्थिति
  7.4.2 सामाजिक परिस्थिति
  7.4.3 धार्मिक परिस्थिति
  7.4.4 साहित्यिक परिस्थिति
  7.4.5 सांस्कृतिक परिस्थिति
7.5 भक्तिकालीन साहित्य : सामग्री और स्वरूप
7.6 भक्तिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 उपयोगी पुस्तकें
7.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 7.0 उद्देश्य

हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन के अंतर्गत आप हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। इस पाठ्यक्रम के तीसरे खंड की इस पहली इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- भक्तिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे,
- भक्तिकाल के ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दुओं के बारे में बता सकेंगे,
- परिस्थितियों के अर्थ एवं स्वरूप को बता सकेंगे,
- भक्तिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- भक्तिकालीन साहित्यिक सामग्री के बारे में बता सकेंगे तथा
- भक्तिकालीन साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

## 7.1 प्रस्तावना

हिन्दी का ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन हिन्दी साहित्य के इतिहास और साहित्य से संबंधित है। इस पाठ्यक्रम के पहले खंड में आपने हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन एवं नामकरण से संबंधित जानकारियाँ प्राप्त की हैं। दूसरे खंड में आपने आदिकालीन परिस्थितियों के साथ प्रमुख वीरगाथात्मक काव्य तथा काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। तीसरा खंड भक्तिकाल से संबंधित है।

इस खंड की पहली इकाई में आप मुख्य रूप से भक्तिकालीन परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करेंगे। पाठ में पहले यह विचार किया जायेगा कि भक्तिकाल का अर्थ क्या है अर्थात् किन विशेषताओं के कारण एक विशेष समय को भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है। फिर उसके स्वरूप की चर्चा की जायेगी। भक्तिकाल का इतिहास कहाँ से शुरू होता है इस पर विचार किया जायेगा। किसी भी समय की परिस्थितियाँ किस प्रकार अपना प्रभाव डालती हैं अर्थात् अलोच्य काल पर किस प्रकार की परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है उसकी भी चर्चा की जायेगी। भक्तिकालीन साहित्य का स्वरूप किस प्रकार का था तत्कालीन परिस्थितियों ने उस पर क्या प्रभाव डाला इन सब बातों की जानकारी इस पाठ में दी जायेगी।

## 7.2 भक्तिकाल अर्थ एवं स्वरूप

हिन्दी साहित्यितिहास का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है कि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न प्रकार के साहित्यिक रचनाएँ हुईं। इस पाठ्यक्रम के पहले और दूसरे खंडों के अध्ययन से आपने यह अनुमान लगा लिया होगा कि आदिकाल में एक विशेष प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हुई। सन् 1318 से सन् 1643 तक के बीच एक विशेष प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हुई। इसे ही भक्तिकाल कहा गया। चूंकि इस काल में अधिकतर साहित्यिक रचनाएँ भक्ति विषयक हैं इसलिए काल को भक्तिकाल कहना अनुचित नहीं है। भक्ति साहित्य का केन्द्रीय तत्व भक्ति है। इस काल के कवि पहले भक्त बाद में कवि। भक्तों ने किसी साहित्यिक रचना करने के उद्देश्य से रचनाएँ नहीं की बल्कि उनके हृदय से निकले उद्‌गार ही काव्य के रूप में हमारे सामने विद्यमान हैं। उनके शब्दों में सच्ची निष्ठा, गहरा अनुराग और तीव्र भावनात्मक उद्वेग स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है।

ईश्वर प्राप्ति के सबसे सुगम साधना के रूप में भक्ति प्रतिष्ठत है। भक्तिकाल में भक्ति के नौ प्रकार के साधन का रूप हमारे सामने आता है।

(1) श्रवण (2) कीर्तन (3) स्मरण (4) पादसेवन (5) अर्चना (6) वंदना (7) दास्य (8) सख्य (9) आत्म निवेदन। भक्ति काव्य में अहैतुकी भक्ति का प्रभाव अधिक है जब भक्त मोक्ष की कामना छोड़ कर ईश्वर का प्रेम और उसकी कृपा प्राप्त करने को अपना लक्ष्य बना लेता है तो इसी भक्ति को "निर्णुण" या अहैतुकी भक्ति कहते हैं।

वैदिककाल में जो धार्मिक विचारधारा विकसित हुई, समयानन्तर उसमें परिवर्तन आया। धार्मिक कर्मकांड के कारण उसमें विकृत्तियाँ आती गईं। अंधविश्वास आदि बढ़े इन्हीं बुराईयों को दूर करने के उद्देश्य से दो आंदोलन उभरे, बुद्ध एवं महावीर द्वारा चलाए गए आंदोलनों द्वारा लोगों को राहत मिली। किन्तु इनमें भी कई संप्रदायों की उत्पत्ति के कारण विकृतियाँ आ गई। नाथों और सिद्धों ने अपने-अपने तरीकों से धार्मिक सुधार का प्रयास किया। दक्षिण के आलवार और अडियार संतों द्वारा शुरू किया गया आंदोलन ही विशाल भक्ति आंदोलन के रूप में परिणत हो गया। विभिन्न विद्वानों ने भक्ति आंदोलन के शुरुआत के लिए भिन्न-भिन्न कारण बताए हैं। किंतु आलवार तथा अडियार संतों की परंपरा का विकास ही भक्ति आंदोलन के उदय का कारण है। इन्होंने शस्त्र मुक्त भक्ति का प्रचार किया। भक्ति साहित्य की रचना केवल तमिल भाषा तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि मलयालम, तेलगु में भी इसका प्रणयन हुआ। कन्नड़ भाषा में होती हुई काव्य रचना की परंपरा मराठी, गुजराती भाषा तक बढ़ी और 13वीं-14वीं शताब्दी में अखिल भारतीय रूप में विकसित हुई।

## 7.3 ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दु

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट है कि भक्ति आंदोलन का उदय एक लंबी परंपरा के कारण हुआ। किन्तु उत्तर भारत में जिस समय इस आंदोलन का विस्तार हो रहा था उस समय की राजनीतिक स्थिति ने इस आंदोलन को और सक्रिय बनाया उत्तर पश्चिम भारत से कई आक्रमणकारी भारत में प्रवेश करते रहे। कुछ ने केवल लूटपाट किया और वापस लौट गए और कुछ ने यहाँ अपना शासन भी स्थापित किया। भक्तिकाल के प्रथम भाग में दिल्ली पर तुगलक और लोदी वंश के शासकों का राज रहा और द्वितीय भाग में मुगल वंश के कई शासकों – बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ ने शासन किया।

तत्कालीन शासकों से हिन्दू और मुसलमान दोनों परेशान थे। धार्मिक कट्टरता, सामाजिक भेदभाव और रूढ़िबद्धता से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। भक्ति आंदोलन इन्हीं कष्टों और दुःखों को अभिव्यक्ति दे रहा था। 12 वीं-15 वीं शताब्दी में राजनीतिक परिवर्तनों के कारण यहाँ की पुरानी व्यवस्था में परिवर्तन आया। व्यापारिक उन्नति एवं कारीगरों द्वारा अपने व्यापार को बढ़ाने से आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आया। निम्न समझे जाने वाले जातियों में आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न हुआ। अपने कार्य से लाभ उठा कर वे अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार ला रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों के कारण इन वर्गों के लोगों में भक्ति के प्रति झुकाव आया चूंकि भक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था अतः उनका इस ओर झुकना स्वाभाविक था। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक भेदभाव को भक्ति की राह में बाधा माना गया था। 12 वीं-13 वीं शताब्दी में इस्लामी विजय के कारण भक्ति आंदोलन पर पड़ने वाले प्रभाव को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं

किन्तु तुर्कों के भारत विजय और इस्लाम के आगमन के प्रभाव को सभी एक मत से स्वीकार करते हैं। इस्लामी राज्य की स्थापना से ऐसी प्रभावकारी शक्तियों का उद्भव हुआ जिसने भक्ति आंदोलन को लोकप्रिय रूप से विस्तार के लिए मार्ग प्रसस्त किया। "दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ सुल्तानों की केन्द्रीयता की नीति और इक्तादारी प्रथा से एक ऐसे नव शासक (मुसलमान अमीर) वर्ग का उदय हुआ जो अधिकारिक रूप में राजा पर आश्रित था। स्थानांतरणीय, परिवर्तननीय भूमि पर पैतृक अधिकार रहित एवं अवंशानुगत तथा नगर निवासी और इसीलिए स्थानीय प्रभाव बना पाने में असमर्थ होने के कारण अपनी मूल प्रवृत्ति में अपने द्वारा विस्थापित होने वाली पिछली हिन्दू सामन्तवादी से भिन्न था"[1]।

नवशासक वर्ग (मुसलमान अमीर) के उभरने से हिन्दू सामन्तशाही कमजोर हो गई, हिन्दू सामन्तों के कमजोर होने से भक्ति आंदोलन के विकास को प्रोत्साहन मिला। भारत में चले आ रहे वर्णधर्मीय सामन्ती समाज-व्यवस्था के दो पाये सामन्त और पुरोहित की शक्ति में कमी आई। चूँकि अब नवशासक वर्ग उस व्यवस्था का संरक्षण नहीं था अतः दोनों तत्वों की शक्ति में कमी आई। इस प्रकार इस्लाम के आगमन से सामन्त और पुरोहित का प्रभाव घटा और भक्ति आंदोलन को फलने फूलने का मौका मिला।

सामन्ती व्यवस्था के दो स्तम्भों के कमजोर होने से वर्णश्रम व्यवस्था में लचीलापन आया। जन्म से सामाजिक दर्जे का निर्धारण आदि सामन्ती पुरोहिती मूल्यों का ह्रास हुआ। सामन्तीवादी शक्तियों को समाप्त करने के उद्देश्य से जुलाहों कारीगरों, और किसानों की शक्तियाँ उभरी।

तुर्कों के भारत विजय के फलस्वरूप एक ओर तो सामन्ती व्यवस्था का ह्रास हुआ, दूसरी ओर उत्तर भारत में शहरीकरण की लहर फैली। नगरों के विकास के साथ-साथ शिल्प का विकास हुआ। कारीगर वर्ग की स्थिति सुधरने लगी। व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप भारत का संबंध विश्व के देशों के साथ पुनः जुड़ गया। तुर्कों के शासन के दौरान व्यापारी उन्नति के साथ तकनीकी का विकास भी हुआ जिससे आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन आया। वस्त्र, उद्योग, सिंचाई, कागज, समयसूचक उपकरण का निर्माण, घुड़सवार प्रौद्योगिकी आदि के विकास के साथ कृषि का उत्पादन भी बढ़ा। इन परिवर्तनों ने भक्ति आंदोलन को प्रभावित किया। हिंदी साहित्य में परिवर्तन के लिए ये ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दु थे। आने वाले समय में परिवर्तन के लिए ये ही पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे। समाज में कार्य के महत्व के बढ़ने से तथा भौतिक स्थिति में परिवर्तन से कमजोर वर्ग के अंदर एक नया उमंग उभरा। इस्लाम की भातृत्व भावना ने भी दलित जातियों में चेतना का संचार किया।

इस प्रकार उत्तर भारत में इस्लामी प्रभुत्व की स्थापना से समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन का दौर शुरू हुआ। कट्टर रूढ़ीवादी समर्थक वर्ग को छोड़कर समाज की निम्न कहे जाने वाली जातियों में अभूतपूर्व वैचारिक क्रांति आई। समाज की मानसिकता को बदल कर भक्ति को लोकप्रिय आंदोलन के रूप में फैलाने का महत्वपूर्ण कार्य इन्हीं दलित जातियों द्वारा संपन्न हुआ। दक्षिण में आलवार और अडियार भक्तों ने भी ऐसे ही परिवर्तन की शुरुआत की, किन्तु उत्तर भारत के संतों ने क्रांतिकारी परिवर्तन का दौर शुरू किया।

## 7.4 परिस्थितियाँ अर्थ एवं महत्व

किसी भी समय की परिस्थितियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। चाहे व्यक्ति कोई कार्य कर रहा हो उस कार्य पर उस समय की स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्यकार किसी रचना के लिए अपनी कल्पना का मिश्रण अवश्य करता है किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप उसके लेखन में देखने को मिलती हैं। परिस्थिति चाहे राजनीतिक हों या सामाजिक, धार्मिक हों या साहित्यिक या सांस्कृतिक उन सभी की छाया साहित्य पर पड़ती हैं। पूर्व की चर्चा से आपको यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि बाहरी आक्रमण के कारण उत्तर भारत में हलचल आया। तुर्कों द्वारा यहाँ राज्य स्थापना के फलस्वरूप एक परिवर्तन का दौर आया। भक्तिकाल में इस परिवर्तन के दौर को हम हर क्षेत्र में देख सकते हैं। आइए, एक-एक कर परिस्थितियों का विश्लेषण करें और यह समझने का प्रयास करें कि भक्तिकालीन परिस्थितियों का क्या स्वरूप था?

1. वर्मा लक्ष्मीनारायण, भक्तिकाल के सामाजिक आयाम पृ० 38.

## 7.4.1 राजनीतिक परिस्थिति

ऊपर चर्चा के दौरान हमने बताया कि सन् 1343 से सन् 1643 तक की अवधि में भारत पर दो मुस्लिम वंशों के शासकों का शासन रहा। पठानों में लोदी सैयद और तुगलक वंशों के सुल्तानों ने शासन किया तो मुगल वंश के बाबर, हुमायुँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने। बीच-बीच में विद्रोही सामन्तों का भी शासन रहा। शेरशाह अफगान शासक था जिसने कुछ ही वर्ष तक शासन किया किन्तु उसकी शासन व्यवस्था बहुत अच्छी थी।

तुगलक वंश के फिरोजशाह तुगलक ने सुव्यवस्था को ध्यान में रखकर जागीर-प्रथा को पुनः प्रचलित किया। साम्राज्य को व्यवस्थित रखने के लिए उसे क्षेत्रों में बाँटा और अधिकारी नियुक्त किये। न्याय व्यवस्था "कुरान" और "हदीस" पर आधारित रही। सैन्य शक्ति की वृद्धि के लिए तुगलक वंश के शासनों ने उसके संचालन का सूत्र अपने हाथों में ही रखा। मुगल बादशाहों ने पूववर्ती सुलतानों की शासन संबंधी कमजोरियों को ध्यान में रखा और शासन व्यवस्था में कई सुधार किये। मुगल वंश की स्थापना से भारत में एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना की नींव पड़ी। मुगल बादशाहों में अकबर का शासन काल सबसे ज्यादा उत्तम था। शासन को मजबूत करने और प्रजा की भलाई के लिए अकबर ने कई कार्य किये। धार्मिक सद्भाव को बढ़ाने का उसका प्रयास सदा प्रसंशनीय रहेगा।

अकबर के शासन में नागरिकों को सेना की मनसबदारी पाने की छूट सुलभ थी। फौजदारी मुकदमों का फैसला काज़ी लोग किया करते थे, किन्तु न्याय का सर्वोच्च अधिकार बादशाह के पास सुरक्षित था। सेना को सभी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रखने का कार्य किया गया। शासन में गड़बड़ी वाले स्थान पर पुनः पहुँच कर काबू के लिए यातायात व्यवस्था को बढ़ाया गया। टोडरमल की सहायता से अकबर ने भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन किये खेतों को नापकर युक्ति संगत नियमों द्वारा मालगुजारी वसूली की व्यवस्था की गई। इस प्रकार तुर्कों के आगमन से भारत की राजनीति में कई प्रकार के परिवर्तन हुए। पुराने हिन्दू सामन्तों के स्थान पर नव वर्ग (मुसलमान, अमीर वर्ग) की उत्पत्ति से सामाजिक व्यवस्था में बदलाव आया। इस तरह भक्ति काल के आरंभिक दिनों में विदेशियों के आक्रमण से जहाँ उथल-पुथल का वातावरण रहा वहीं धीरे-धीरे उसमें स्थिरता आती गई। उत्तर भारत में शहरों के विकास का दौर शुरू हुआ जिससे शिल्प की प्रगति हुई और कारीगरों की आर्थिक स्थिति सुधरी।

## 7.4.2 सामाजिक परिस्थिति

भक्तिकालीन समाज बहुत हद तक आज के भारतीय समाज के समान ही था। डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार "सामाजिक दृष्टि से वर्तमान समय में जो जाति-व्यवस्था प्रचलित है, उसका निश्चित रूप इसी काल में निर्धारित हुआ। विवाहादि एवं खान-पान के मामले में जो प्रतिबन्ध पहले से चला आ रहा था उसे और कठोर बनाया गया"। जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति के अंदर की प्रतिभा कुंठित रह जाती थी। जातीय बंधन इतने कठोर हो चले थे कि चाह कर भी कोई उसे तोड़ नहीं सकता था। इतिहासकार अलबेरूनी लिखता है "ये (हिन्दू) किसी को अपनी जाति बदलने नहीं देते थे। जो अपनी जाति का उल्लंघन करता उसे सदैव रोक दिया जाता"। जाति व्यवस्था ने जहाँ एक ओर समाज को टुकड़ों में विभक्त कर दिया था वहीं इसके कारण राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास भी नहीं हो पाया।

तत्कालीन भारतीय समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया था। एक वर्ग सुविधा संपन्न राजा, महाराजा, सुलतान, अमीर, सामन्त और सेठ-साहूकारों का था तो दूसरा वर्ग दलित, किसान मजदूर, सैनिक राज्य कर्मचारी और परंपरा से लगे उद्योग धंधे वालों का था।

समाज में स्त्रियों की दशा सोचनीय थी। उन्हें कई तरह के बंधनों में रहना पड़ता था पहले वह पिता के आश्रय में रहती फिर पति के और फिर पुत्र के। स्वेच्छा से कोई भी कार्य करने का अधिकार उसके पास नहीं था। सती प्रथा का जोर था। पति की मृत्यु के बाद उसे बिना इच्छा के चिता पर ढकेल दिया जाता था। परदा प्रथा उस समय की आवश्यकता बन गई थी। संयुक्त परिवार की परिपाटी प्रचलित थी। माता-पिता के अलावा चाचा-चाची एवं उसके पुत्र एक साथ रहते थे। घर का मुखिया वृद्ध व्यक्ति होता था।

इस्लाम की समानता की भावना ने यहाँ के दलित और अधिकार से वंचित जातियों को आकृष्ट किया। अधिक संख्या में लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। सरकारी नौकरियों में नव इस्लाम धर्मावलंबियों को लिया जाने लगा। इस प्रकार ये हिन्दू और मुसलमान जनता के बीच की कड़ी बने। समाज में धीरे-धीरे शांति का वातावरण बना। सामाजिक बुराइयों को दूर करने के

लिए तत्कालीन संतों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। धार्मिक भेदभाव को दूर करने का महान प्रयास हुआ। सूफी साधकों ने इस क्षेत्र में अपनी प्रेम भावना का प्रयोग किया और उन्हें बहुत सफलता मिली। ख्वाजा मुइनुद्दीन चिस्तिया संप्रदाय के साथ आए हुए इस धार्मिक संप्रदाय में प्रेम की भावना समर्पित थी। इस संप्रदाय के कई कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया। भक्तिकाल का समाज परिवर्तन के दौर का समाज था। एक और रूढ़ीयुक्त सामाजिक वर्ग परंपरा को बनाए रखने के पक्षधर थे तो दूसरी ओर प्रगतिशील सामाजिक वर्ग परिवर्तन चाहते थे। राजनीतिक स्थिति ने सामाजिक स्थिति को प्रभावित किया। कारीगर वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार ने जहाँ दलित जातियों में आत्मसम्मान को बढ़ाया वहीं शहरों के विकास ने इनमें आर्थिक स्थिति को मजबूत बताया। भक्तिकाल में कवियों ने सामाजिक सुधार के लिए आंदोलन चलाया। उसका आंदोलन लोगों के विचार परिवर्तन का तथा लोगों के हृदय परिवर्तन का आंदोलन था। वे शक्ति के बल पर एक नया समाज बनाना चाहते थे। संतों भक्तों का आंदोलन लोकप्रिय हुआ और उनके कार्य सफल हुए।

## 7.4.3 धार्मिक परिस्थिति

धार्मिक दृष्टि से भक्तिकाल परिवर्तन का काल था। भक्तिकाल के प्रारंभिक दिनों में वैदिक धर्म का क्षीण रूप मिलता है। वैदिक देवताओं इन्द्र, वरूण, रुद्र की जगह अब विष्णु एवं शक्ति के विभिन्न रूपों की पूजा होने लगी थी। धार्मिक कर्मकांड को बढ़ावा मिला। पुरोहित वर्ग अंधविश्वास का लाभ उठा कर जनता का शोषण कर रहे थे। भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के साथ सामन्तों का प्रभाव घटने लगा। नव अमीर वर्ग के उदय से सामन्तों की शक्ति समाप्त प्रायः हो गई। पुरोहितों के अधिकार का खात्मा भी होने लगा। दक्षिण से शुरू की गई भक्ति की लहर उत्तर की ओर आ रही थी। निम्न वर्गों से आए संतों साधुओं ने इस भक्ति की लहर को अपनाया और उसे फैलाया। इस्लाम की वन्धुत्व भावना ने भी भक्ति को बढ़ाने में सहायता पहुँचाई। इस प्रकार रूढ़ियुक्त धर्म के स्थान पर सरल-साधारण धर्म की शुरुआत हुई। बाहरी कार्य व्यापार के स्थान पर हृदय पक्ष को महत्व दिया गया।

धार्मिक क्षेत्र में इस काल में एक और बड़ा परिवर्तन आया धीरे-धीरे विभिन्न देवी-देवताओं के स्थान पर एक देव की पूजा की भावना बढ़ने लगी। निर्गुण उपासक सन्त हों या सगुण उपासक भक्त सभी ने एक ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण और राम की पूजा का प्रचलन तो प्रमुख हो चला था, किन्तु सभी उन्हें एक ही शक्ति के अवतार के रूप में मानते थे।

तत्कालीन उपदेशकों ने संप्रदायों की स्थापना की किन्तु उनका उद्देश्य नया वर्ग बनाना नहीं था। वे समाज को एकता के सूत्र में बांधना चाहते थे। सिक्ख संप्रदाय के संस्थापक गुरु नानक ने लोगों में एकता स्थापित करने के लिए सिक्ख पंथ की स्थापना की। सभी संतों की वाणियों को उन्होंने समान रूप से महत्व दिया। एक नया धर्म इस्लाम का आगमन हो चुका था। नानक ने धार्मिक भेदभाव को दूर करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था राम और रहीम एक हैं और हम सब उसके बंदे हैं। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना का विकास होने लगा था। सूफी संप्रदाय के आगमन से हिन्दू और मुसलमान दोनों और करीब आने लगे। प्रेम भावना और लोकतत्व ने इस संप्रदाय को जनता में लोकप्रिय बना दिया। केवल संतों और फकीरों के द्वारा ही नहीं बल्कि तत्कालिक कई शासकों ने धार्मिक क्षेत्र में समन्वय की भावना को बढ़ावा दिया। कई मुगल सम्राटों ने धार्मिक एकता की बातें कहीं। मुगल सम्राट अकबर ने तो एक ऐसे धर्म की कल्पना की थी जिसमें सभी धर्मों का निचोड़ समाहित हो। धार्मिक गुरुओं की सभा करके वह उनके विचार को ध्यान से सुनता और मनन करता। अपने धार्मिक विश्लेषण के आधार पर ही उसने 'दीन-ए-इलाही' धर्म का प्रवर्तन किया था। पूर्व से चली आ रही धार्मिक कट्टरता के कारण लोगों ने उसकी प्रगतिशील भावना को समझने में भूल की। दीन-ए-इलाही का प्रचार न हो पाया। धार्मिक क्षेत्र में परिवर्तन के इस दौर में कई सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा गया। आगे की चर्चा में हम देखेंगे कि किस प्रकार भक्ति आंदोलन ने सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ा।

## 7.4.4 साहित्यिक परिस्थिति

ऊपर की चर्चा में हमने बताया कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। अर्थात् साहित्य को पढ़कर हम तत्कालीन समाज के स्वरूप को जान सकते हैं। लोगों के आचार-विचार का अनुमान लगा सकते हैं या यूँ कहिए कि साहित्य के द्वारा समाज का स्पष्ट रूप हमारे सामने व्यक्त हो जाता है। साहित्यकार अपने सामने जो देखता है उसका वर्णन करता है। यद्यपि कल्पना का समावेश उसकी रचनाओं में जरूर होता है किन्तु उसके साथ तत्कालीन सत्य भी जुड़ा रहता है।

भक्तिकाल से संबंधित खंड में पहले आपने आदिकालीन साहित्य से संबंधित खंडों का अध्ययन कर लिया है। आपने देखा कि उस समय एक विशेष प्रकार का काव्य रचा जा रहा था। राज्याश्रय के कारण कवि जनता से कट जाते थे। भक्तिकाल में साहित्य की प्रवृत्ति बदल गई। इस युग में जितनी भी साहित्यिक रचनाएँ हुईं वह ईश्वर भक्ति और सामाजिक समस्याओं से जुड़ी हैं। भक्त कवि किसी साहित्यिक कीर्ति के लिए काव्य रचनाएँ नहीं करते थे, उनके हृदय से निकले उद्‌गार ही काव्य बन गए। ईसा का छठी शताब्दी में आरम्भ की गई दक्षिण के आलवार संतों की वाणियाँ एक अन्तः स्रोत धारा के रूप में बहती हुई 12वीं-13वीं शती में आकर उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में प्रवाहित होने लगी। कबीर, सूर, जायसी, मीरा, रहीम, नानक आदि जितने भी कवि हुए सबने अनमोल वचनों द्वारा हिन्दी साहित्य के भंडार को अक्षय बनाया। सामाजिक और धार्मिक बुराइयाँ भक्ति साहित्य के उदय का कारण बनी। भक्ति साहित्य में सभी प्रकार की बुराइयों एवं अंधविश्वासों का पर्दाफाश किया गया।

तत्कालीन समय में साहित्य के क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह था—अनुवाद का। रामायण और महाभारत के ग्रंथों का अनुवाद हुआ। बदायूँनी ने फारसी में इन दोनों ग्रंथों का अनुवाद किया। तत्कालीन बादशाहों में भी साहित्य प्रेम था। मुगल वश का संस्थापक बाबर स्वयं एक अच्छा कवि था। हुमायूँ को साहित्य से प्रेम था उसकी बहन गुलबदन ने 'हुमायूँ नामा' की रचना की थी। शासक वर्ग के कारण फारसी साहित्य की उन्नति हुई। इतिहास ग्रंथों में मुल्ला दाऊद की ''तारीखे अल्फी, तबकाते-अकबरी'' फैजी ''सरहिन्दी का अकबरनामा'' प्रसिद्ध है। गणित ग्रंथ लीलावती का अनुवाद कवि फैजी ने किया शाहजहाँ-नामा ग्रंथ लिखे गये। औरंगजेब के समय ''आलमगीर नामा'' ''मआसिरे आलमगिरी'' ''फत्हात आलमगिरी'' आदि ग्रंथ रचे गये।

हिन्दी के भक्त कवियों ने अधिकतर भक्ति संबंधी रचनाएँ की। कबीर की रचनाओं का संग्रह बहुत बाद में हुआ जायसी ने ''पद्मावत'' सूरदास ने ''सूरसागर'' नन्ददास ने ''रासपंचाध्यायी'' तुलसीदास ने ''रामचरितमानस, गीतावली कवितावली की रचना की। अकबर के दरबार के अब्दुर्रहीम खानखाना टोडरमल तथा बीरबल हिन्दी के अच्छे कवि थे। भक्ति काल में ही केशवदास जैसे आचार्य हुए, इन्होंने कविप्रिया रसिकप्रिया, और अलंकार, मंजरी ग्रंथों की रचना की तत्कालीन कवि समाज एवं जनता से जुड़े हुए थे। वे किसी साहित्यिक कीर्ति हासिल करने के उद्देश्य से नहीं लिख रहे थे बल्कि अपनी बात को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक था कि वे जनता की भाषा का प्रयोग करें। प्रायः सभी कवियों ने जनता की भाषा में ही अपनी बात कही कबीर तो घूम-घूम कर उपदेश देते थे, इसलिए जगह-जगह के शब्दों का प्रयोग किया। सूर आदि ने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। मीरा की भाषा में भी कई जगहों के शब्दों का मिश्रण हो गया है। सूफी कवि जायसी ने अवधी भाषा का प्रयोग किया। तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों का प्रयोग किया। तुलसी ने अवधी का परिमार्जित और परिष्कृत रूप प्रयोग किया। नन्ददास और अन्य कृष्णाभक्त कवियों ने ब्रजभाषा के सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत रूप का प्रयोग किया। खंड की आगे की इकाइयों में भक्तिकाव्य के भाषा आदि पर विस्तृत चर्चा की जाएगी।

भक्तिकाल में काव्य रूपों की विविधता देखने को मिलती है। इसमें प्रबन्ध-काव्य मुक्तक काव्य, सूक्ति काव्य, संगीत काव्य, नाटक, कथा-काव्य, जीवन-चरित्र, गद्य काव्य और उपदेश-काव्य आदि काव्य रूपों का प्रयोग किया गया।

फारसी की मसनवी शैली का प्रयोग भक्ति काव्य की अपनी विशेषता है। सूफी कवियों ने इस शैली का प्रयोग किया यहाँ की लोक कथाओं को प्रबंध का आधार बनाया, इरानी और भारतीय शैलियों का मिश्रत रूप सूफी काव्य की विशेषता है। परियों का चित्रण इरानी प्रभाव के कारण ही हो पाया। इस प्रकार भक्तिकाल के साहित्यिक परिस्थिति में परिवर्तन होता रहा विषय-वस्तु, भाषा-शैली, काव्य रूपों सभी में बदलाव आया।

## 7.4.4 सांस्कृतिक परिस्थिति

भक्तिकाल सांस्कृतिक दृष्टि से एक समन्वित संस्कृति के विकास का काल था। तुर्कों के आगमन से भारत की राजनीति में परिवर्तन आया। मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत मे कई प्रकार की जातियाँ आ चुकी थी। भारतीय संस्कृति पर उन जातियों का प्रभाव पड़ा एक मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इस्लाम धर्मालंबियों के आगमन से फिर एक बार सांस्कृतिक हलचल पैदा हुई। लोगों के रहन-सहन मनोरंजन के साधन, शिक्षा, साहित्य स्थापत्यकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला में भी परिवर्तन आया। भक्तिकाल में पठान और मुगलवंश के शासकों ने शासन किया। कई बादशाह परंपरा से चले आ रहे उत्सव में भाग भी लेते थे और कला साहित्य की उन्नति में दिलचस्पी भी लेते थे।

सामन्त और अमीर वर्ग का जीवन विलासमय था। समाज का मध्यम वर्ग सादा जीवन व्यतीत करता था इस वर्ग के अन्तर्गत राजकर्मचारी, व्यापारी तथा शिल्पी आते थे। साधारण प्रजा की हालत बहुत अच्छी नहीं थी। जबरदस्ती बेगार लिया जाता था। मजदूर किसी भी समय किसी काम में लगा दिए जाते थे। किंतु वस्तुओं के दाम में कमी के कारण साधरण जनता को जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती थी।

अमीर वर्ग महंगे रेशमी वस्त्रों और आभूषणों का प्रयोग करते थे। साधारण जनता विशेष उत्सवों के दिन ही नया वस्त्र पहनती थी। वस्त्र उद्योग विकसित अवस्था में था गुजरात, जौनपुर, बनारस, पटना वस्त्र उद्योग के केन्द्र थे। ढाँके का मलमल कपड़ा विश्वभर में प्रसिद्ध था। तुर्कों के आगमन के साथ स्थापत्य कला में परिवर्तन आया। विदेशी और भारतीय शैली के मिश्रण से ही गुजराती और जौनपुरी शैली का विकास हुआ मुगलशासक इमारतें बनवाने के शौकीन थे। बाबर ने ग्वालियर, आगरा, सीकरी में इमारतें बनवाई। सहसराम में शेरशाह ने मकबरा बनवाया जो मिश्रति शैली का सुंदर नमूना है। आगरा का किला, दिल्ली का किला मुगलकालीन स्थापत्य का सुंदर नमूना है। अकबर ने फतेहपुर सीकरी का निर्माण करवाया। शाहजहाँ नें विश्व प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण करवाया।

भक्तिकाल में चित्रकला में बहुत उन्नति हुई। मुगल शासक चित्रकला के शौकीन थे। और सैयद अली ने दास्ताने अमीर हमजाह नामक ग्रंथ चित्रित किया। अकबर के समय दसवन्त तथा बसावन दो बड़े चित्रकार हुए। जहाँगीर ने उस्ताद मन्सर, अब्दुल हसन तथा विसनदास नाम चित्रकारों को प्रोत्साहित किया।

संगीत भारतीय जनजीवन का प्राण है। भक्तिकाल के कवि अपनी रचनाओं को गा-गा कर जनता तक पहुँचाते थे। हाथ से बनाए वाद्य यंत्र का वे प्रयोग करते थे। हूमायूँ ने बच्चू नामक संगीतज्ञ को अपना राज्याप्रय प्रदान किया। मिया तानसेन अकबर के दरबारी संगीतज्ञ थे। इस प्रकार इस काल में भारतीय संस्कृति के हर क्षेत्र में विकास का दौर रहा। उत्सव आदि से लेकर साहित्य एवं विभिन्न कलाओं में समन्वय द्वारा नई संस्कृति का विकास हुआ।

**बोध प्रश्न**

1 भक्ति साहित्य का उद्भव सर्वप्रथम कहाँ हुआ। उसकी क्या विशेषता थी?

.....

.....

.....

.....

2 हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विशेष अवधि को भक्तिकाल की संज्ञा क्यों दी गई?

.....

.....

.....

.....

3 निम्न वर्गों का भक्ति के प्रति झुकाव किस कारण हुआ?

.....

4 तुर्कों द्वारा राज्य स्थापना से वर्णधर्मीय सामन्ती समाज के दो आधार स्तम्भों की शक्तियों में कमी आई फलतः भक्ति का प्रचार-प्रसार हो सका। आप दोनों शक्तियों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

5 समाज के निम्न वर्ग में आत्मसम्मान जगने तथा समानता की भावना के पीछे क्या कारण थे?

.....

.....

.....

.....

6 इस्लाम धर्म की समानता की भावना ने भारत के बहुत से लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। धर्म परिवर्तन करने वाले इन लोगों ने किस प्रकार समाज को प्रभावित किया।

7 इस्लाम के अलावा किस विदेशी सम्प्रदाय ने यहाँ के धार्मिक क्षेत्र को प्रभावित किया।

8 भक्त कवियों द्वारा एक देव पूजा का उपदेश देने के पीछे क्या उद्देश्य था।

9 मुगल शासकों में किस शासक ने धार्मिक एकता की बातें की। इस कार्य के लिए उसने क्या किया।

**अभ्यास**

1 भक्तिकाल में काव्य की प्रवृत्ति बदल गई। विषयवस्तु, भाषा शैली के आधार पर आए बदलाव को स्पष्ट कीजिए (लगभग दस बारह पंक्तियों में)।

2 सांस्कृतिक दृष्टि से भक्तिकाल में क्या परिवर्तन आया। (दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए)।

## 7.5 भक्तिकालीन साहित्य : सामग्री और स्वरूप

अब तक के अध्ययन से आपने स्पष्ट रूप से यह समझ लिया होगा कि भक्तिकाल में किस प्रकार का साहित्य रचा गया। खंड में आगे की इकाइयों में हम विस्तृत रूप से संपूर्ण भक्ति साहित्य की जानकारी प्राप्त करेंगे। यहाँ हम भक्तिकालीन साहित्य की सामग्री और स्वरूप की संक्षिप्त रूप से चर्चा करेंगे जिससे आगे की इकाइयों के अध्ययन में सहायता मिल सके।

अब तक की चर्चा से आपको यह पता चल गया होगा कि भक्ति साहित्य की रचना किसी साहित्यिक कीर्ति द्वारा यश प्राप्त करने के लिए नहीं हुई। छठी शताब्दी पूर्व प्रारंभ की गई धारा को तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति ने भक्ति साहित्य के पनपने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भक्त ईश्वर को सगुण और निर्गुण रूप में भजते थे। भक्तों के हृदय से निःसृत उद्‌गार ही हमारे सामने काव्य रचना रूप में है। भक्तों ने एक ही ईश्वर का गुणगान किया किंतु उनकी भक्ति में अंतर है। कोई आराध्य को सखा रूप में दीखता है तो कोई प्रिय रूप में कोई अपने को दास समझता है और ईश्वर को मालिक इस प्रकार ईश्वर की साधना के कई रूप हमारे सामने आते हैं। ईश्वर के सगुण और निर्गुण रूप में देखने की प्राचीन परंपरा रही। भक्तिकाल में भी भक्तों ने अपने आराध्य को सगुण और निर्गुण रूप में माना। संपूर्ण भक्ति साहित्य को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं।

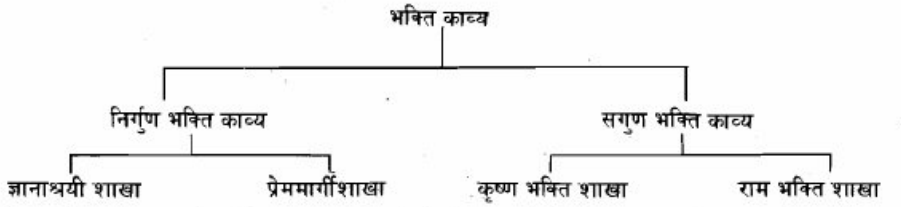


इस तालिका से आपको भक्ति काव्य को समझने में मदद मिलेगी। ज्ञानाश्रयी शाखा में नामदेव, कबीर, गुरु नानक, दादु दयाल, सुन्दर दास हुए। इनकी वाणियों का संग्रह भिन्न नामों से प्रकाशित है। प्रेममार्गीय सूफी शाखा में जायसी, मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन उस्मान कवि हुए। इन्होंने क्रमशः पद्मावत चंदायन, मृगावती, मधुमालती चित्रावली की रचना की। कृष्ण भक्ति शाखा में सूरदास प्रसिद्ध हैं इन्होंने सूरसागर की रचना की। मीराबाई अन्य कृष्ण भक्त हुई। इनकी रचनाएँ मीराबाई की पदावली के नाम से छपी हैं। राम भक्त कवियों में तुलसीदास प्रमुख हैं इन्होंने रामचरित मानस की रचना की इस धारा के अन्य कवियों में गंगादास ईश्वरदास, नाभादास तथा केशवदास हुए।

विभिन्न कवियों ने भक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप को अपनाया। ईश्वर की प्राप्ति के सुगम रूप में भक्ति प्रतिष्ठित हुई। भागवत पुराण में वर्णित भक्ति के नौ प्रकार ही सभी भक्त कवियों में व्यक्त हुए। भक्ति के नौ प्रकार के साधन इस प्रकार हैं–

1) श्रवण (ईश्वर के रूप–गुण लीला को सुनना)
2) कीर्तन (ईश्वर के नाम – रूप लीला आदि का गुणगान करना)
3) स्मरण (ईश्वर के नाम – रूप आदि को याद करना)
4) पादसेवन (ईश्वर के चरणों की सेवा करना)
5) अर्चना (ईश्वर की पूजा करना)
6) वंदना (ईश्वर की वंदना करना)
7) दास्य (ईश्वर को अपना स्वामी मानकर दास-भाव से उनकी सेवा अर्चना करना)
8) सखा (ईश्वर को अपना सखा, बंधु और मित्र मानना)
9) आत्मनिवेदन (ईश्वर के चरणों में सर्वस्व अर्पित करना)

भागवत पुराण में भक्ति के दो भेदों के बारे में बताया गया है। भक्त जब किसी इच्छा से प्रेरित होकर भगवान की पूजा अर्चना करता है तो ऐसी भक्ति 'सगुणा' या 'गौणी' भक्ति कहलाती है।

जब मोक्ष की कामना को त्याग कर भक्त ईश्वर का प्रेम और उसकी कृपा प्राप्त करने चाहे तो उसे 'निर्गुण' या अहेतुकी' भक्ति कहते हैं।

संपूर्ण भक्ति काव्य में 'अहैतुकी' भक्ति का प्रभाव अधिक दिखता है। ऊपर साधना के नौ प्रकारों को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट पता चलता है कि भक्ति में कर्मकांड की जगह पर स्मरण और पूजा पर ज़्यादा बल दिया गया है। यही कारण है कि भक्ति साहित्य में नाम स्मरण और लीला गायन को अधिक महत्व दिया गया।

## 7.6 भक्तिकालीन साहित्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं शताब्दी तक अर्थात् सन् 1318 से सन् 1643 तक के काल में हिन्दी में एक विशेष प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हुई। भक्तिपूर्ण रचनाएँ क्यों हुईं और तत्कालीन परिस्थितियों का उन पर क्या प्रभाव पड़ा इस पर विचार करें। हम यह चर्चा कर चुके हैं कि भक्ति की धारा का स्रोत दक्षिण भारत का तमिल प्रांत था और समय और परिस्थिति के अनुरूप इसका प्रवाह उत्तर भारत में हुआ। विदेशी आक्रमण और नये शासक वंश की स्थापना से परिवर्तन का दौर शुरू हुआ। भारतीय जनता चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान तत्कालीन सामन्त वर्ग से परेशान थी। कारीगरों की आर्थिक स्थिति में सुधार से उनमें आत्मसम्मान के भाव का उदय हुआ। शहरी विकास के फलस्वरूप व्यापार की उन्नति हुई। समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयास शुरू हुआ। भक्ति आंदोलन इन्हीं स्थितियों के परिणामस्वरूप शुरू हुआ।

इस्लाम धर्मावलंबी शासकों के कारण सामन्तों की शक्ति घटी। नए अमीर वर्ग (मुसलमान अमीर) के उदय से परंपरा से चली आ रही व्यवस्था को धक्का लगा पुरोहितों और सामन्तों का प्रभाव घटा। इस प्रकार राजनीतिक परिस्थिति में परिवर्तन के फलस्वरूप भक्ति साहित्य के प्रारंभ और विकास के लिए उपयुक्त आधारभूमि मिली।

भक्तिकाल में समाज की दशा सोचनीय थी। जाति-पाँति के कारण समाज बिखरा हुआ था। इस्लाम धर्मावलंबियों के आगमन से समाज में हिन्दू और मुसलमान का दो वर्ग बन गया था। चूँकि शासक वर्ग मुसलमान थे और अधिकतर सरकारी ओहदे पर हिन्दू नहीं थे इस कारण दोनों वर्गों में दूरी होना स्वाभाविक था। मुसलमान अपने को श्रेष्ठ समझते थे। दूसरी और हिन्दुओं के अन्दर भी यह भावना घर कर गई थी कि शासक वर्ग विधर्मी है इस प्रकार समाज में अशांति और वैमनस्य की भावना जोर पकड़ती जा रही थी। ऊँच-नीच की भावना तथा कर्मकाण्ड की अधिकता के कारण जनता का हृदय अशांत हो गया था। विभिन्न प्रकार के शकुन-अपशकुन का विचार तथा आडम्बर के कारण लोगों को एक ऐसे राह की तलाश थी जिस पर चल कर वे इन सामाजिक बुराइयों से मुक्ति पा सकें। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन की लहर चली। भक्त गणों ने जिनमें अधिकतर निम्न वर्ग के थे और किसी न किसी व्यवसाय से जुड़े हुए थे समाज सुधार का आंदोलन शुरू किया। भक्ति की भाव धारा का विकास हुआ उसका मूल मंत्र था "जाति-पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" इस भक्ति में हृदय पक्ष को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। वाह्य आचार-विचार को नकारा गया सामाजिक व्यवस्थाओं ने भक्ति साहित्य को पनपने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जितने भी भक्त कवि हुए उनमें विशेष रूप से निगुर्णोपासकों ने समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन की बातें कही लोगों को सरल साधारण जीवन यापन तथा हृदय की शुद्धता का मंत्र पढ़ाया गया। आपसी सद्भाव बढ़ाने के लिए ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, हिन्दू-मुसलमान सभी भेदभाव पर गहरी चोट की गई। तर्कयुक्त उद्धरणों द्वारा कवियों ने जनता में चेतना जगाने का महान कार्य किया।

भक्ति साहित्य की विस्तृत चर्चा आगे की इकाई में की जायेगी जहाँ आपको पूरी जानकारी मिलेगी। यहाँ इतना जानना ही जरूरी है कि किस प्रकार धार्मिक पाखंड के घेरे से बाहर आकर भक्तों ने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया जो मानव को सही राह दिखा सके। विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा के प्रचलन से लोगों को एक आधार नहीं मिल रहा था। इस्लाम के आगमन से ऐकेश्वरवाद का प्रभाव बढ़ा। एक परम ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया गया। विशेषकर निगुर्णोपासक कवियों ने एक ब्रह्म की बात कही। उन्होंने अनेक देवी-देवताओं का बहिष्कार किया। उनके अनुसार यदि अवतारी ईश्वर भी माया में उलझता है तो ऐसे ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए जो सभी प्रकार की माया से मुक्ति दिला दे। सगुणोपासक कवियों ने अवतार को स्वीकारा किंतु उनके यहाँ भी एक परम ब्रह्म की कल्पना की गई। विष्णु ही राम और कृष्ण रूप में अवतरित हुए।

विदेश से आई धार्मिक विचारधारा ने भी भक्ति साहित्य को प्रभावित किया। सूफी सम्प्रदाय ने प्रेम को आधार बनाया। सूफी कवियों ने भारत में प्रचलित लौकिक कथाओं को आधार बनाकर

रचनाएँ की। परंपरा से चली आ रही साधनाओं का प्रभाव भी पड़ा। नाथों और सिद्धों द्वारा साधना की जो पद्धतियाँ प्रचलित की गई थीं उन्हें संतों ने प्रतीक शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया।

वैदिक काल में या उसके बाद तक महिलाओं को धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त था किन्तु धीरे-धीरे उन पर प्रतिबंध लगते गए वे किसी भी धार्मिक कार्य में हाथ नहीं बटा सकती थी यहाँ तक की नारी को साधना के क्षेत्र में बाधा के रूप में माना गया। तत्कालीन भक्त कवियों ने भी उन्हें बाधा के रूप में भी वर्णन किया है। किन्तु भक्ति आन्दोलन ने समानता का पाठ पढ़ाया जिससे एक चेतना आ गई। यद्यपि वर्षों पूर्व आलवार सन्तों में आन्दालन भी शामिल थीं किन्तु महिलाओं के अन्दर चेतना फैलाने का सूत्रपात मीरा द्वारा हुआ। भक्ति की लगन ने उनमें परिवार और समाज से विद्रोह करने की प्रेरणा दी। वे राजघराने के अंकुश को हटा कर आगे बढ़ी। पारिवारिक और सामाजिक यातनाओं का उन्होंने डट कर सामना किया। इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों ने न केवल धर्म का सरल-साधारण रूप प्रस्तुत किया बल्कि उपेक्षित नारी वर्ग में चेतना भी फैलाई। मीरा की रचनाएँ जहाँ भक्ति और माधुर्य से पूर्ण प्रेम की पीरा को प्रकट करती है वहीं विद्रोह की भावना को भी दर्शाती है।

आदि काल में साहित्यिक रचनाओं का क्षेत्र संकुचित हो गया था। युद्ध का वर्णन राजाओं की प्रशंसा, शृंगार वर्णन ही काव्य के विषय वस्तु थे। भक्तिकालीन परिस्थितियों ने इसमें परिवर्तन उपस्थित किया। राजनीतिक बदलाव के कारण परिस्थिति बदल गई। भक्तिकाल के कवि जनता से जुड़े हुए थे। उन्हें राजाओं के लिए नहीं बल्कि जनता के लिए काव्य रचना करना था। समाज से जुड़े होने के कारण उन्होंने अपने व्यक्तिगत तथा समाजगत अनुभव का सुन्दर चित्रण किया। विदेश से आई शैलियों ने भी हिंदी काव्य को प्रभावित किया। मसनवी शैली सांस्कृतिक समन्वय की देन है। जनता से जुड़ने के कारण साहित्य की भाषा किसी वर्ग विशेष से नहीं जुड़ी रही बल्कि उसमें जनता की भाषा का समावेश हो गया। अवधी ब्रजभाषा के अलावा पंजाबी गुजराती, राजस्थानी के साथ स्थानीय बोलियों का भी प्रयोग हुआ। भक्तिकालीन साहित्य का अधिकतर भाग गाये जाने वाले मुक्तक हैं ऐसा जनता से जुड़ाव के कारण हुआ। प्रबंध काव्यों की रचना तो हुई किंतु ऐसी रचनाएँ मुक्तक रचनाओं से कम हैं।

इस प्रकार भक्तिकालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव इस काल के साहित्य पर देख सकते हैं।

**बोध प्रश्न**

10 भक्ति काव्य का विभाजन किस आधार पर किया जाता है मुख्य-मुख्य भागों का नाम लिखिए।

.....

.....

11 भागवत पुराण में वर्णित भक्ति के नौ प्रकार के नाम लिखिए।

.....

.....

12 निगुर्णोपासक कवियों ने अवतारवाद का खंडन किस आधार पर किया?

.....

.....

13 तत्कालीन भक्त कवियों ने धर्म साधना में महिलाओं को क्या स्थान दिया?

.....

.....

.....

14 भक्ति आंदोलन ने महिलाओ को किस प्रकार की प्रेरणा प्रदान की।

.....

.....

.....

.....

.....

## 7.7 सारांश

- हिन्दी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि भिन्न-भिन्न समयावधि में विषय वस्तु, भाषा शैली आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ हुईं। एक अवधि में भक्तिपूर्ण रचनाओं की प्रमुखता पाई जाती है। इकाई का अध्ययन करने के बाद आप भक्तिकाल के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट कर सकते हैं।
- भक्तिकाल का आगमन अचानक नहीं हुआ था। एक लंबी परंपरा के प्रतिफलन के रूप में इसका प्रारंभ एवं विकास हुआ आप भक्तिकाल के ऐतिहासिक प्रेरक बिन्दुओं को बता सकते हैं।
- किसी कालावधि को भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं भक्तिकाल में राजनीतिक सामाजिक आदि परिस्थितियाँ किस प्रकार की थीं। इकाई के अध्ययन के बाद आप परिस्थितियों के बारे में बता सकते हैं।
- परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। भक्तिकाल में विभिन्न परिस्थितियों ने भक्ति साहित्य को प्रभावित किया। इकाई के अध्ययन के बाद आप यह विश्लेषण कर सकते हैं कि भक्ति साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा।
- किसी भी साहित्य का अपना स्वरूप होता है। इकाई के अध्ययन के बाद आप साहित्यिक सामग्री के आधार पर भक्ति साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट कर सकते हैं।

## 7.8 शब्दावली

**वर्णधर्मीय** : वर्ण व्यवस्था से जुड़ा हुआ

**ह्रास** : गिरावट

**भ्रातृत्व** : भाई-भाई की भावना

**लोकतत्व** : लोक में प्रचलित बातें

**समाहित** : मिला हुआ हो

**निचोड़** : सार

**अन्तः स्रोत** : भीतर बहता हुआ

**पर्दाफाश किया** : (मुहावरा) पर्दाफाश करना, गुप्त, छुपे हुई बात को खोल कर बताना

**स्थापत्यकला** : इसके अन्तर्गत, भवन, महल, इमारत बनाने की कला शामिल है

**निर्गुणोपासक** : निर्गुण (निराकार, बिना आकार के) ईश्वर की पूजा करने वाले

## 7.9 उपयोगी पुस्तकें

शुक्ल रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

वर्ष्णेय लक्ष्मी सागर, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

शर्मा शिवकुमार, *हिन्दी साहित्य, युग और प्रवृत्तियाँ*, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6

वर्मा लक्ष्मीनारायण, *भक्ति काव्य के सामाजिक आयाम*, सन्त प्रकाशन 42, पुरविया टोला पुरवा इटावा (उ.प्र.)

## 7.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1 भक्ति साहित्य का उदय दक्षिण भारत के तमिल प्रांत में आलवार और अडियार संतों द्वारा हुआ। इन भक्तों ने समाज में समानता लाने का प्रयत्न किया। शास्त्र बंधन से मुक्त भक्ति का प्रसार इनका उद्देश्य था।

2 हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक विशेष अवधि में एक विशेष प्रकार के साहित्य रचना की प्रमुखता रही। यह विशेष प्रकार का साहित्य ईश्वर भक्ति से ही संबंधित रहा यही कारण है कि इसे भक्त काल की संज्ञा दी गई।

3 चूंकि भक्ति के अन्तर्गत किसी प्रकार का भेदभाव नहीं स्वीकारा गया था इसीलिए निम्न वर्गों के लोग इस और आकर्षित हुए।

4 तुर्कों द्वारा भारत में राज्य स्थापना से परंपरागत हिन्दू अमीर (सामन्त) वर्ग तथा धर्म के अधिकारी पुरोहित वर्ग की शक्ति में कमी आई। ये वर्ण व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे और ऊँच-नीच के स्तर को बनाए रखना चाहते थे अतः इनकी शक्ति में गिरावट आने से भक्ति आंदोलन को फैलाने में सहायता मिली। भक्ति के अन्तर्गत किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था।

5 समाज का निम्न वर्ग कारीगरों का था। शिल्प की उन्नति द्वारा उनके आर्थिक स्थिति में सुधार आया। नगरों के विकास से आर्थिक स्थिति और अच्छी हुई फलतः उनमें आत्मसम्मान की भावना का विकास हुआ। इस्लाम की बंधुतत्व भावना ने इस वर्ग में समानता की भावना लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

6 इस्लाम धर्म की समानता की भावना से आकर्षित होकर बहुत से लोगों ने धर्म परिवर्तन किया। धीरे-धीरे इन लोगों को सरकारी नौकरियों में स्थान मिला। यह वर्ग हिन्दू और मुसलमानों के बीच की कड़ी बना। इस वर्ग के कारण दो जातियाँ धीरे-धीरे निकट आईं।

7 इस्लाम के बाद सूफी संप्रदाय ने भारत के धार्मिक क्षेत्र को प्रभावित किया। इस संप्रदाय की प्रेम भावना ने लोगों को आकृष्ट किया। समानता और भाईचारे की भावना फैलाने में इस संप्रदाय ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

8 भक्त समाज में व्याप्त विघटन की भावना को दूर करना चाहते थे। एक देव पूजा के द्वारा वे सामाजिक एकता के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता स्थापित करना चाहते थे।

9 कई मुगल शहंशाहों ने भारत में धार्मिक एकता की बातें की। अकबर धर्म सहिष्णुशासक था। उसने सभी धर्म के पण्डितों की सभा बुलवाई। सभी के विचारों को ध्यान से सुना, और निष्कर्ष रूप में पाया कि सभी धर्मों में एक समान बातें बताई गई हैं। दीन-ए-इलाही'' नामक धर्म की स्थापना द्वारा वह एक मानव धर्म की स्थापना करना चाहता था।

**अभ्यास**

1 देखें उपभाग 7.4.4
2 देखें उपभाग 7.4.5

**बोध प्रश्न**

10. ईश्वर के निराकार और साकार रूप की उपासना के आधार पर भक्ति काव्य का विभाजन किया जाता है। निर्गुण अर्थात् जिनका कोई आकार नहीं है उसके अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी काव्य रखे जाते हैं। सगुण अर्थात् साकार मूर्ति के अन्तर्गत राम और कृष्ण काव्य को रखा जाता है।

11. 1) श्रवण, 2) कीर्तन, 3) स्मरण, 4) पादसेवन, 5) अर्चना 6) वंदना, 7) दास्य, 8) सख्य 9) आत्मनिवेदन

12. निर्गुणोपासक कवियों के अनुसार अवतारी पुरुष माया से ग्रस्त रहता है अतः उसकी पूजा न करके परम ब्रह्म की पूजा करनी चाहिए। परम ब्रह्म ही माया से मुक्ति दिला सकता है।

13. तत्कालीन भक्त कवियों ने महिलाओं का साधना के क्षेत्र में बाधा के रूप में वर्णन किया। वे अपने समय से आगे नहीं बढ़ पाए।

14. भक्ति आंदोलन द्वारा जो समानता का संदेश फैला उसने महिलाओं के अंदर चेतना फैलाई। मीरा का संपूर्ण काव्य एक और परिवार और समाज से विद्रोह का काव्य है। दूसरी और कृष्ण (अराध्य) के प्रति गहरी लगन और प्रेमानुभूति का काव्य है।

# इकाई 8 भक्तिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय

## इकाई की रूपरेखा


8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
8.3 भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताएँ
  8.3.1 ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम
  8.3.2 समानता का भाव
  8.3.3 गुरु महिमा एवं नाम स्मरण
  8.3.4 शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता
  8.3.5 अहंकार का त्याग एवं लोक जीवन से जुड़ाव
  8.3.6 नारी संबंधी विचार
  8.3.7 भाषा शैली
8.4 निर्गुण भक्ति काव्य
  8.4.1 ज्ञानाश्रयी भक्ति काव्य
  8.4.2 प्रेमाख्यानक भक्तिकाव्य
8.5 सगुण भक्ति काव्य
  8.5.1 कृष्ण भक्ति काव्य
  8.5.2 राम भक्ति काव्य
8.6 भक्ति काव्य का महत्व
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 उपयोगी पुस्तकें
8.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 8.0 उद्देश्य

यह हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन के खंड तीन की दूसरी इकाई है। इस इकाई में आप भक्तिकालीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में बता सकेंगे,
- यह स्पष्ट कर सकेंगे कि संपूर्ण भक्ति काव्य में सामान्य बातें कौन-कौन सी हैं,
- भक्ति काव्य में निर्गुण भक्ति काव्य के ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाख्यानक भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर सकेंगे,
- सगुण भक्ति काव्य में कृष्ण एवं राम भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों के बारे में बता सकेंगे,
- संपूर्ण भक्ति काव्य के महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।

## 8.1 प्रस्तावना

आप हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन के अंतर्गत हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं साहित्य से संबंधित जानकारी प्राप्त कर रहे हैं। इस पाठ्यक्रम का तीसरा खंड भक्तिकालीन काव्य से संबंधित है। इससे पहले की इकाई में आपने भक्तिकालीन परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त कर ली है। आपने देखा कि तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ा? तत्कालीन भारतीय जनता जिसमें हिन्दू-मुस्लिम दोनों शामिल थे, राजनीतिक उत्पीड़न, धार्मिक भेदभाव, सामाजिक ऊँच-नीच एवं रूढ़िबद्धता से परेशान थे। भक्ति आंदोलन भारतीय जन को इन्हीं कष्टों एवं दुखों की अभिव्यक्ति दे रहा था। 12 वीं- 13 वीं शताब्दी में भारतीय राजनीति में जो परिवर्तन आया उससे यहाँ की आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आया। व्यवसायों में उन्नति हुई। आर्थिक परिस्थितियों ने निम्न समझे जाने वाली कारीगर जातियों की स्थिति में सुधार को संभव

बनाया। आर्थिक बदलाव से समाज के इन नीच समझे जाने वाली जातियों में आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न हुआ।

बदली हुई परिस्थितियों ने इन वर्गों को भक्ति आंदोलन की ओर आकृष्ट किया, क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में किसी प्रकार के भेद-भाव का स्थान नहीं था। भक्ति वास्तव में धार्मिक उपासना के क्षेत्र में समानता और उदारता को ही स्वीकारती है। इस आंदोलन का मूल आधार था "जाति- पाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई"।

वैदिक काल में जिस धार्मिक विचार का विकास हुआ, कालांतर में उसमें परिवर्तन भी आया। धार्मिक कर्मकांड एवं अंधविश्वासों के फलस्वरूप उसमें विकृतियाँ आ गईं। इन बुराइयों के खिलाफ जैन एवं बौद्ध आंदोलन हुए। इन्होंने अपने-अपने दर्शन के आधार पर सुधार की बातें कहीं। कालांतर में कई संप्रदायों की उत्पत्ति हुई। नाथों एवं सिद्धों ने अपने-अपने तरीकों से धार्मिक बुराई को दूर करने का प्रयत्न किया। कइयों ने कठोर शब्दों में रूढ़ियों का विरोध किया। पाठ में हम पढ़ेंगे कि बाद में भक्त कवियों ने ऐसे ही कठोर वचन द्वारा समाज में उपस्थित बुराइयों पर प्रहार किया।

धर्म साधनाओं में भक्ति के विविध रूप सामने आए। ईश्वर के गुण एवं निर्गुण रूप की उपासना का विधान तो वैदिक काल से चला आ रहा है, भक्तिकाल में भी भक्तों ने ईश्वर को अमूर्त एवं मूर्त रूप में भजा। पाठ में हम भक्त कवियों द्वारा रचे गए इन्हीं मूर्त एवं अमूर्त ईश्वर के काव्य की प्रवृत्तियों के बारे में अध्ययन करेंगे। भक्त कवियों के काव्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि भक्त कवियों पर देश में विकसित धार्मिक दर्शन का प्रभाव तो है ही साथ ही विदेश से आए धर्मों के दर्शन का भी प्रभाव पड़ा। आइए, सर्वप्रथम भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में जानें।

## 8.2 भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भक्ति साहित्य की रचना केवल ईश्वर के प्रति भक्त की निष्ठा का ही प्रतिफलन नहीं है किन्तु भक्ति साहित्य का केन्द्र बिन्दु ईश्वर की भक्ति है। भक्तिकाल के सभी कवि पहले भक्त थे बाद में कवि। उन्होंने कविता करने के लिए रचनाएँ नहीं की बल्कि उनके उद्‌गार ही कविता रूप में हमारे सामने विद्यमान है। ईश्वर के प्रति आस्था एवं सच्चे, सरल हृदय से आराध्य का गुणगान ही काव्य के रूप में प्रतिफलित हुआ। संपूर्ण भक्तिकाव्य का अवलोकन करने पर हम आसानी से पहचान सकते हैं कि सभी भक्तों ने ईश्वर भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही अपने उद्‌गार व्यक्त किए। लेकिन ध्यान देने पर एक बात और हमारे सामने आती है, वह यह कि सभी भक्तों के काव्य की अपनी अलग पहचान है। कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा सभी भक्त कवि थे किन्तु उनके काव्य में कुछ न कुछ भेद अवश्य है। उदाहरण के तौर पर सूरदास की भक्ति सख्य भाव की है, वे अपने आराध्य कृष्ण को सखा के रूप में भजते हैं। दूसरी ओर तुलसी अपने आराध्य राम को अपना मालिक मानते हैं। मीरा अपने कृष्ण को प्रियतम के रूप में भजती हैं। एक बात और भी स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है कि ये कवि अपने आराध्य को सगुण रूप में भजते हैं। दूसरी ओर कबीर, जायसी का भाव दाम्पत्य का है। किंतु उनका ईश्वर निर्गुणी है। उसका कोई आकार नहीं है। इस प्रकार सभी कवियों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से हम भक्ति काव्य को दो भागों में बाँट सकते हैं– निर्गुणोपासक और सगुणोपासक। निर्गुण और सगुण की भी दो-दो उपशाखाएँ हो जाती हैं। हम निम्नलिखित तालिका से इन भेदों को आसानी से पहचान सकते हैं।

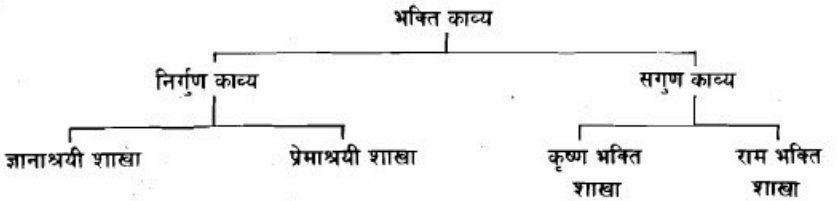


भक्ति आंदोलन की शुरुआत ईसा से पाँचवी छठी शताब्दी में ही हो गई थी। दक्षिण भारत के तमिल प्रांत के आलवार भक्तों की वाणियों द्वारा भक्ति का स्रोत बहने लगा था। यह भक्ति की धारा कर्नाटक होते हुए महाराष्ट्र पहुँची, फिर सीमावर्ती प्रदेश में इसका विस्तार होता गया। धीरे-धीरे संपूर्ण उत्तर भारत भक्ति आंदोलन से आंदोलित हो उठा।

ऊपर की तालिका में भक्ति की शाखाओं, उपशाखाओं को दर्शाया गया है। यह तालिका केवल भक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों को ही प्रकट करता है, किन्तु वास्तव में सभी ईश्वर की सत्ता का ही गुणगान कर रहे थे। निर्गुण भक्तों ने ईश्वर को निराकार रूप में माना। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह तो कण-कण में व्याप्त है इसलिए वह किसी आकार के अंदर समा ही नहीं सकता। निर्गुण शाखा के ज्ञानाश्रयी उपशाखा के अंतर्गत कबीर, रैदास, नानक, आदि प्रमुख भक्त कवि हुए। प्रेममार्गी उप शाखा के अंतर्गत जायसी, कुतुबन, मंझन आदि कवि हुए। सूफी कवियों का आराध्य पुरुष न होकर नारी है। उसकी सत्ता संपूर्ण जगत में व्याप्त है। इन कवियों ने नारी की जो कल्पना की है वह वास्तव में साधारण नारी नहीं बल्कि सर्वशक्तिमान सत्ता है। इन कवियों ने लोक कथाओं के माध्यम से अलौकिकता की बातें कहीं।

सगुण धारा के कवियों ने ईश्वर को आकार दिया। इनके अनुसार ईश्वर जगत कल्याण के लिए अवतार लेता है और भक्तों के कष्ट को दूर करता है। इस शाखा के अंतर्गत विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण एवं रामोपासक कवियों की दो उप-शाखाएँ हो जाती हैं। कृष्णोपासक कवियों ने ईश्वर का सखा, प्रेमी एवं बाल रूपों का वर्णन किया। इन कवियों का मुख्य कार्य कृष्ण की लीलाओं का गायन ही रहा। इसके विपरीत रामोपासक कवियों ने राम को लोकमंगलकारी रूप दिया। उन्होंने राम के चरित्र का संपूर्ण वर्णन किया, उनका राम परिवार, समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं से संघर्ष करता है और लोगों का कल्याण करता है। इस प्रकार इस धारा के कवियों द्वारा समाज की उपेक्षा नहीं की गई। बल्कि समाज की मर्यादा को बनाए रखने का प्रयत्न किया गया। कृष्णोपासक कवियों में सूर, मीरा आदि मुख्य हैं। इकाई में आगे हम इन्हीं शाखाओं उप-शाखाओं के रूप में भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों की जानकारी प्राप्त करेंगे। आइए पहले, भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

## 8.3 भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताएँ

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण काल है। इस काल में जिस प्रकार के काव्य की रचना हुई वह इतनी उच्च कोटि की है जिसमें हिन्दी साहित्य संसार सदा गर्व करता रहेगा। भक्तिकाल के दौरान ही कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, रैदास, रहीम आदि महान कवि हुए। यद्यपि इन्होंने किसी साहित्यिक रचना के लिए काव्य का सृजन नहीं किया किन्तु इनके हृदय से निकले उद्‌गारों ने ही काव्य का रूप लिया। इनके विचार-संदेश द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज प्रभावित और प्रेरित हुआ और आज भी उन महान भक्तों के विचारों से भारतीय जनता को प्रेरणा मिल रही है। संपूर्ण भक्ति काव्य पर विचार करें तो हम पाएंगे कि सामान्यतः सभी भक्त कवियों ने भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही काव्य रचनाएँ की। यद्यपि सभी कवियों के काव्य की अपनी अलग-अलग पहचान भी है, लेकिन मूल रूप से सबने एक ही बात कही है। ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम, मनुष्य-मनुष्य में समानता का भाव, गुरु की महिमा, ज्ञान का खंडन, तथा अहंकार का त्याग प्रायः सभी भक्त कवियों के विचारों में स्पष्ट रूप से मिल जाएंगे। आइए, हम एक-एक कर इन विशेषताओं को लें।

### 8.3.1 ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम

भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर के प्रति तीव्र प्रेम ही भक्त की पहचान है। चाहे निर्गुणी रूप के उपासक कवि हों या सगुण रूप के सभी ने समान रूप से इस विचार को व्यक्त किया है। निर्गुण ब्रह्म के उपासक कबीर कह उठते हैं :

> आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
> जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि।।

सूफी सन्त कवि जायसी ने भी इसी तरह के उद्‌गार व्यक्त किए हैं। सन्त रैदास कह उठते हैं :

> तीरथ बरत न करौ अंदेशा। तुम्हारे चरन कमल भरोसा।।
> जह तह जाओ तुम्हारी पूजा। तुमसा देव और नहीं दूजा।।

ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम का दर्शन हम मीरा के पदों में भी देख सकते हैं। वे गा उठती हैं :

> हे री मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोई।

सूर मीन एवं चातक का उदाहरण देते हुए कह उठते हैं–

> तलफत रहति मीन चातक ज्यों, जल बिनु तृषानु छीजै
> अँखिया हरि दर्शन की भूखी

सूर के समान ही तुलसी का पूरा साहित्य ईश्वर के प्रति उत्फट प्रेम का ही परिणाम है। वे कहते हैं–

एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।।

## 8.3.2 समानता का भाव

भक्ति के मार्ग में सांसारिक भेदभाव का स्थान नहीं है। इस बात को सभी भक्त कवियों ने स्वीकार किया है। भक्तों की साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता अणु-अणु में व्याप्त है। सारी सृष्टि ही ब्रह्ममय है। तब वस्तु, व्यक्ति और समष्टि में भेद ही नहीं, व्यक्ति समाज की इकाई के रूप में है, एक-एक व्यक्ति के चरित्र से समाज का चरित्र बनता है। भक्तों ने समाज को एक-सूत्र में पिरोने का काम किया। समाज की एकरूपता तभी संभव है जब जाति वर्ण और वर्ग भेद न हों। भक्तों ने भक्ति के क्षेत्र में जाति भेद में अपना विश्वास नहीं रखा। तुलसीदास जो वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखते हैं उन्होंने भी भक्ति के क्षेत्र में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं स्वीकारा। भक्ति साहित्य में धर्म के मतभेद और बाह्य आडम्बर-तीर्थ स्थान, वेद-पाठ, छुआछूत, रोजा, नमाज, हिन्दू-मुसलमान, मंदिर-मस्जिद, ब्राह्मण-शूद्र, शिया-सुन्नी आदि का कड़ा विरोध किया गया है। भक्तों ने समाज-व्यवस्था को विकृत करने वाली रूढ़ियों, पाखण्ड, रीति-रिवाज और मिथ्या आडम्बर आदि के विरुद्ध जनता में विद्रोह की भावना उत्पन्न की। समाज में समानता लाना उनका उद्देश्य था।

भक्तिकाल में व्यवसाय के आधार पर व्यक्ति की श्रेष्ठता एवं निम्नता आधारित थी। भक्तों ने इसका कड़ा विरोध किया। कबीर जोरदार शब्दों में कहते हैं– "तू बामन मैं काशी का जुलाहा बूझो मोर ग्याना"। भक्ति आंदोलन का मूल मंत्र था–

"जाति-पाँति पूछै न कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।।

भक्तों ने एक ऐसे मानव-धर्म या विश्व धर्म का प्रचार किया जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। आज के युग में भक्तों की वाणियाँ चिन्तनीय हैं। आज जब विश्व वर्ग-विद्वेष के विष से ग्रसित है, ऐसे समय में भक्तों के उपदेश अमृत के समान फलदायी हैं। कबीर की घोषणा "सांई के सब जीव हैं" समानता एवं विश्वासमय तथा प्रेम और शांतिपूर्ण जीवन यापन का आशामय प्रकाश दिखा रहे हैं।

## 8.3.3 गुरु महिमा एवं नाम स्मरण

सभी भक्त कवियों ने गुरु की महिमा को एक साथ स्वीकारा है। वैदिक काल से चली आ रही परंपरा के अनुसार ही चाहे बौद्ध साधक हों या जैन साधक, नाथ पंथी हों या सिद्ध साधक। सभी ने गुरु की महिमा का गान किया है। गुरु राह दिखाने वाला है। उसके बिना साधना सफल नहीं हो सकती। सन्त कवियों ने गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्व दिया, क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने का राह बताने वाला गुरु ही है। कबीर कहते हैं–

गुरु गोविंद दोऊ खड़े का के लागूँ पाई।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताई।।

अर्थात् गुरु और गोविंद दोनों भक्त के सामने खड़े हैं, अब भक्त के लिए यह तय करना कठिन हो गया है कि किसे पहले नमस्कार करे। किन्तु भक्त की उलझन को भगवान तुरंत गुरु की ओर इशारा करके सुलझा देते हैं। गुरु की महिमा यहीं प्रकट हो जाती है। संत कवियों ने गुरु की महिमा को बहुत ऊँचा माना है, किन्तु सगुण उपासक भक्त कवियों ने समान रूप से गुरु की महिमा स्वीकार की है। भक्त तुलसीदास अपने आराध्य का गुणगान करने से पहले गुरु की वंदना करते हैं–

"बंदऊ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।

गुरु की महिमा केवल भारतीय दर्शन की देन नहीं बल्कि विदेशी धर्म में भी गुरु की महिमा को समान रूप से स्वीकारा गया। सूफी संप्रदाय में गुरु की महिमा का वर्णन है। वहाँ गुरु ही राह दिखाने वाला है। पद्मावत की रचना करने वाले सूफी कवि जायसी ने कथा में सुआ को गुरु के रूप में पेश किया है। सुआ राजा रत्नसेन को पद्मावती के रूप सौन्दर्य से परिचित कराता है। सूफी कथा काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता है– प्रतीकात्मकता। रत्नसेन आत्मा, पदमावती

परमात्मा और सुआ गुरु का प्रतीक हैं। इस प्रकार संपूर्ण भक्ति साहित्य में गुरु के महत्व को स्वीकारा गया है।

भक्त कवियों ने–ईश्वर के नाम स्मरण को सर्वोपरि माना है। उनके अनुसार राम का नाम स्मरण राम की भक्ति से भी बढ़कर है। नवधा भक्ति में कीर्तन, कथा श्रवण के साथ नाम स्मरण भी साधना का एक रूप है। भक्तों ने ईश्वर-प्राप्ति के लिए प्रेम और नाम-स्मरण को अति-आवश्यक माना है। कबीर कहते हैं– ''राम नाम ततसार है'' वे स्पष्ट कहते हैं–

''कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल''

बस राम नाम के स्मरण से ही सब काम बन जाएगा। और सारे उपाय व्यर्थ के जंजाल हैं। तुलसीदास रामचरित मानस में यह विचार व्यक्त करते हैं कि कलियुग में राम नाम का ज़ाप ही सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति दिलाएगा। विनय पत्रिका में उन्होंने कई ऐसे उदाहरण दिए हैं जिनमें राम नाम मात्र के स्मरण से पापी से भी पापी व्यक्ति स्वर्ग लोक को चला गया। एक उदाहरण इस प्रकार है कि अजामिल नाम का एक बधिक था। उसके पुत्र का नाम नारायण था। उस बधिक ने जीवन में कभी भी ईश्वर का नाम नहीं लिया। मृत्यु के समय उसने अपने पुत्र को पुकारा। नारायण की आवाज सुनकर स्वयं विष्णु आ पहुँचे और इस प्रकार अंतिम समय में भगवान का दर्शन पाकर वह बधिक स्वर्ग को प्राप्त हुआ। नानक, रैदास आदि सभी भक्त कवियों ने नाम स्मरण पर जोर दिया है।

## 8.3.4 शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता

भक्त कवियों ने भक्ति में शास्त्र ज्ञान और पाण्डित्य की आवश्यकता से इनकार किया। उनके अनुसार शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य उलटे भक्ति की राह में रोड़ा ही अटकाते हैं। कबीर स्पष्ट घोषणा करते हैं–

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई।
ढाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होई।।

भक्ति के लिए किसी को शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर पण्डित बनने की जरूरत नहीं। निर्मल मन से प्रेम करने पर ही ईश्वर प्राप्त हो जाते हैं। भक्त तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि सच्चे मन से भक्ति की जानी चाहिए, उसकी कृपा से ही सब कुछ मिल जाएगा। उसकी कृपा होगी तो असमर्थ व्यक्ति भी समर्थ हो जाएगा। ईश्वर भक्ति ही मुख्य है न कि शास्त्रीय ज्ञान। मानस में कवि कहता है–

मूक होई बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवऊ सकल कली मल दहन।।

अर्थात् उसकी कृपा से गूंगा बोलने लगता है और लंगड़ा दुर्गम पहाड़ पर चढ़ जाता है। उसकी कृपा से ही कलि काल में सब कष्ट दूर हो जाएंगे।

सूरदास ने तो उद्धव संदेश में उद्धव के शास्त्र ज्ञान का खण्डन निरी निपट ग्वालिन बालाओं से करवाया है। उद्धव को अपने शास्त्र ज्ञान का बड़ा गर्व था। कृष्ण एवं अन्य लोगों को शास्त्र ज्ञान का उपदेश देकर साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताते फिरते। उन्हें घमंड था कि उनके समान ज्ञानी कोई नहीं, वे ज्ञान द्वारा ईश्वर को प्राप्त करेंगे। अन्तर्यामी कृष्ण ने सोचा क्यों न इसके ज्ञान का खण्डन ग्वाल बालाओं से ही कराया जाए, क्योंकि स्त्रियों को तो ऐसे ही मूर्ख समझा जाता है। ऊपर से अहिर की बालाएँ तो और भी जड़बुद्धि मानी जाती हैं। अतः उनके द्वारा ही शास्त्र ज्ञान का खण्डन हो तो उद्धव को अपनी भूल महसूस होगी। कृष्ण ने उद्धव को कहा जरा अपने ज्ञान की बातें ग्वाल बालाओं तक तो पहुँचा दो। उद्धव अकड़ कर ब्रज गए। किन्तु उन ग्वाल बालाओं द्वारा उनके ज्ञान की ऐसी खिचाई हुई कि वे अपना उतरा चेहरा लेकर भागे। गोपियों ने कहा–

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आय उतारी।

गोपियों के तर्कपूर्ण प्रश्नों का उत्तर उद्धव नहीं दे पाए। उन्हें भी शास्त्र ज्ञान की अनावश्यकता का भान हो गया।

## 8.3.5 अहंकार का त्याग एवं लोक जीवन से जुड़ाव

भक्त कवियों ने समान रूप से इस बात की घोषणा की है कि भक्त को अहंकार का त्याग करना चाहिए। सूरदास के पदों में बार-बार यह कहा गया है कि हमारा आराध्य सब सामर्थ्य रखने वाला

है। भक्त अपने अराध्य के सामने बिल्कुल छोटा है। कबीरदास कहते हैं।

"मैं राम का कुत्ता मोतिया मेरा नाम"

मेरे गले में राम नाम का पट्टा बंधा हुआ है। मेरा राम जिधर खींचता है मैं उधर ही खींचा चला जाता हूँ। तुलसी दास कहते हैं राम से बड़ा कौन है और मेरे से छोटा कौन। राम सभी दृष्टि से खरा है। और मुझमें तो खोट ही भरा हुआ है। सन्त रैदास अपने प्रभु को चंदन कहते हैं और स्वयं को पानी। यह अहंकार को त्यागने का रूप ही प्रस्तुत करता है। नानक, मीरा सभी ने अहंकार त्यागने की बात कही है। सभी भक्तों के अनुसार उनका आराध्य सर्वशक्तिमान है उनके सामने भक्त की क्या हस्ती।

भक्त कवियों की एक और विशेषता यह है कि उन्होंने अपने को लोक जीवन से जोड़ा। वे न तो किसी बादशाह के दरबारी कवि थे और न ही किसी राजा के गुणगान करने के लिए ही काव्य रचना करते थे। सभी कवि जन-जीवन से जुड़े हुए थे। कई कवि किसी न किसी पेशे से जुड़े हुए थे। कबीर कपड़ा बुनने का कार्य करते थे तो रैदास जूतियाँ बनाने का कार्य करते थे। भक्त कवियों के लिए सर्वशक्तिमान ईश्वर ही राजा थे। तुलसी दास ने तो यह भी लिखा कि जो कवि राजा-महाराज का गुणगान करता है उसकी कविता पर सरस्वती सिर धुन कर पछताती हैं। इस प्रकार कवियों ने अपने को राजाओं की प्रशस्ति से बिल्कुल दूर रखा। उनका संपर्क जनता से था। वे जनता तक अपनी बात पहुँचाना चाहते थे।

भक्त कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। नाथ पंथियों की भाँति योगी नहीं थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में जीवनगत अनुभव का समावेश हो पाया। संतों ने व्यक्तिगत साधन की बात नहीं कही। उन्होंने समाज से उसे जोड़ा। जहाँ वे आत्मशुद्धि की बात करते हैं, वहाँ भी वे सामाजिकता को नहीं भूलते। संतों ने समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यक्ति के पवित्र जीवन पर अधिक महत्व दिया। कबीर आदि भक्त कवियों ने जहाँ समाज में आई बुराइयों को दूर करने के लिए लोक जीवन से ही उदाहरण लिए वहीं तुलसी एवं सूर ने तो परिवार एवं उसके प्रत्येक सदस्य के लिए आदर्श आचरण की बातें कहीं। माता-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी, का रिश्ता कैसा होना चाहिए उसे स्पष्ट किया। दूसरी ओर सूर, कृष्ण के बाल रूप का मनोवैज्ञानिक वर्णन करते हैं। बालक के बात्सल्य रूप का वर्णन उनके लोक जीवन से जुड़े रहने का ही परिणाम है।

## 8.3.6 नारी संबंधी विचार

भक्तिकाल में सामाजिक क्षेत्र में काफी विकृतियाँ आ गई थीं। नारी का स्थान परंपरानुसार ही था। वह कई प्रकार के बंधनों में जकड़ी हुई थी, उसे किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। वह पिता, पति और पुत्र के आश्रित थी। तत्कालीन भक्त कवि भी अपने समय से आगे नहीं बढ़ पाए। यहाँ तक कि निर्गुण उपासक कवियों ने भी नारी की स्थिति को ज्यों का त्यों वर्णन किया है। कबीर ने कहा :

**नारी नसावे तीन गुन, जो नर पासे होय।**
**भक्ति मुक्ति नित ध्यान में, पैठि सकै नहिं कोय।।**

अर्थात् नारी के संग से तीन गुणों का नास हो जाता है। जो नारी के संग रहता है वह भक्ति, मुक्ति नहीं कर पाता।

## 8.3.7 भाषा शैली

भक्त कवियों ने सामान्य जनता में प्रचलित लोक भाषाओं का प्रयोग किया। वे अपनी बात को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। इसलिए स्थान-स्थान की बोलियों के शब्द स्वतः उनके काव्य में आ गए हैं। कबीर की भाषा पर भिन्न-भिन्न बोलियों का स्पष्ट प्रभाव है। इसलिए विद्वानों ने उसे सधुकड़ी भाषा की संज्ञा दी है। कवियों ने ब्रज और अवधी भाषा का मुख्य रूप से प्रयोग किया है। कुछ कवियों ने संस्कृतनिष्ठ भाषा का भी प्रयोग किया। रामोपासक कवियों में तुलसीदास की भाषा परिष्कृत एवं संस्कृतनिष्ठ है। विषय के अनुरूप ढालकर कवियों ने भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का समावेश किया। आवश्यकतानुसार अभिधा, व्यंजना और लक्षणा तीनों शब्द शक्तियों का प्रयोग किया।

भक्त कवियों ने प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ की। एक ओर जायसी एवं तुलसीदास ने क्रमशः पद्मावत और रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध ग्रंथों की रचना की तो दूसरी ओर ईश्वरीय लीलाएँ संबंधी गीतावली, कवितावली जैसी मुक्तक रचनाएँ भी हुईं। चूँकि प्रबंध ग्रंथों की रचना करना अधिकांश भक्त कवियों का उद्देश्य नहीं था, अतः भक्ति काव्य का अधिकांश भाग मुक्तक ही है।

कवियों ने दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय, सोरठा आदि छंदों का प्रयोग किया। विभिन्न राग-रागनियों पर आधारित गेय पद जनता के कंठहार बन गए। उपमा, सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कर भाषा सौष्ठव को बढ़ाया गया। शृंगार एवं शांत रस का प्रयोग भक्ति काव्य में अधिक हुआ है। इस प्रकार संपूर्ण भक्ति साहित्य लोक जीवन एवं समाज से जुड़ा हुआ है। आपने देखा कि संपूर्ण भक्ति काव्य में कई बातें समान रूप से कही गई हैं। किन्तु भक्त कवियों की अलग-अलग पहचान भी है। पूर्व में उल्लेखित तालिकानुसार हम अलग-अलग काव्य धाराओं के बारे में जाने उससे पहले कुछ बोध प्रश्नों के उत्तर दे लें।

**बोध प्रश्न**

1. "भक्त कवियों की एक सामान्य विशेषता है, ईश्वर के प्रति विशेष अनुराग।" दो-तीन पंक्तियों में उक्त कथन का तात्पर्य स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

2. भक्तिकाल के सभी भक्त कवियों ने समानता की बात कही है। सन्त कबीर एवं भक्त तुलसीदास के समानता के भाव को दो-तीन पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

3. गुरु की महत्ता के संबंध में सगुण एवं निर्गुण भक्तों के क्या विचार थे? दो पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

4. सभी भक्त कवियों ने शास्त्र ज्ञान की अनावश्यकता पर जोर दिया है। सन्त कबीर का इस संबंध में क्या मत था?

.....

5. "भक्ति काव्य राजसी वातावरण से बाहर लोक जीवन से जुड़ा काव्य है"। इस संबंध में चार-पाँच पंक्तियों में अपना विचार व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6. निम्नलिखित में से कौन-सी विशेषताएँ संपूर्ण भक्ति काव्य पर समान रूप से लागू होती हैं? (√) एवं (×) का निशान लगाएँ।

   क) अहंकार का त्याग

   ख) अवतार में विश्वास

   ग) ईश्वरीय लीलाओं का गायन

   घ) भक्ति के क्षेत्र में जाति प्रथा का निषेध

## 8.4 निर्गुण भक्ति काव्य

कालक्रम की दृष्टि से भक्ति काव्य में निर्गुण भक्ति काव्य का पहला स्थान आता है। भक्ति की इस शाखा के भक्तों ने ईश्वर को निराकार रूप में भेजा। उनके अनुसार ईश्वर का कोई आकार

नहीं, वह संपूर्ण जगत में व्याप्त है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में ही है। इस शाखा के अंतर्गत ज्ञानाश्रयी भक्ति काव्य एवं प्रेमाख्यानक भक्ति काव्य आते हैं। हम पहले ज्ञानाश्रयी शाखा को

## 8.4.1 ज्ञानाश्रयी भक्ति काव्य

निर्गुण भक्ति काव्य की ज्ञानाश्रयी शाखा को संत काव्य के नाम से भी जाना जाता है। निर्गुणपंथी कवियों को लम्बे काल से संत कहने के कारण ही ऐसा हुआ। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार–"संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत रूप परम तत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो, जो सत् स्वरूप, नित्य, सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।"

सन्त काव्य पर निम्नलिखित धर्मों एवं संप्रदायों का प्रभाव है:

- बौद्ध धर्म से विकसित हुई वैदिक कर्मकांड की प्रवृत्ति तथा वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ संप्रदाय की अनुभूति तथा योग परम्परा,
- विट्ठल संप्रदाय की प्रेमासक्ति तथा रहस्यात्मकता,
- रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति की साधना,
- सूफियों का प्रेम खुमार

संत काव्य ने अनेक धार्मिक संप्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् कर लिया, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं की गई बल्कि जन भाषा में उसके मर्म को समझाया गया है। संत कवियों के विचार निजी अनुभूतियों पर आधारित हैं। इसलिए उसमें दर्शन की शुष्कता नहीं बल्कि काव्य की कोमलता है। आइए, संत काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को जानें।

क) **निर्गुण ईश्वर में विश्वास** : सभी संत कवियों ने ईश्वर को निर्गुण रूप में भजा। उन्होंने ईश्वर के सगुण रूप का विरोध किया है। कबीर कहते हैं–

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,
राम नाम का मरम है आना।

सभी संतों ने कहा कि उनका ईश्वर ज्ञान गम्य है। वह अविगत है, वेद पुराण तथा स्मृतियाँ वहाँ तक नहीं पहुँच सकती–

निर्गुण राम जपहुँ रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।

सन्तों के अनुसार ईश्वर घट-घट में विराजमान हैं। कबीर कहते हैं–

कस्तूरी कुंडली बसे, मृग ढूँढ़े बन माहिं।

जिस प्रकार कस्तूरी तो मृग के नाभि में ही रहती है, लेकिन वह अन्जान बना उसे वन-वन ढूँढ़ते हुए भटकता फिरता है। उसी प्रकार राम तो घट-घट में व्याप्त हैं, उसे ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं।

ख) **अवतारवाद एवं बहुदेववाद का विरोध** : सन्त कवियों ने अवतारवाद एवं बहुदेववाद का दृढ़तापूर्वक खंडन किया। अनुमानतः ऐसा शंकर मत अर्थात् अद्वैतवाद का प्रभाव शेष रहने के कारण हुआ। सन्तों द्वारा अवतारवाद का एवं बहुदेववाद का विरोध करने का एक और महत्वपूर्ण कारण था, वे समाज में एकता स्थापित करना चाहते थे। तत्कालीन शासक वर्ग इस्लाम समर्थक ऐकेश्वरवादी था। हिन्दू एवं मुस्लिम जनता में एकता भी आवश्यक थी। अतः संतों ने ऐकेश्वरवाद का संदेश सुनाया। सन्तों का विश्वास है कि अवतार भी जन्म-मरण के बंधन से ग्रस्त है। वे भी परमब्रह्म की भक्ति किए बिना मुक्त नहीं हो सकते। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की निन्दा करते हुए वे कहते हैं कि ये सभी मायाग्रस्त हैं। सबका कर्त्ता परमब्रह्म है। कबीर कहते हैं–

अक्षय पुरुष एक पेड़ है, निरंजन बाकी डार।
त्रिदेवा शाखा भये पात भया संसार।।

"दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।" कहकर कबीर निराकार ब्रह्म की ही बात करते हैं। वे ईश्वर से भी बड़ा ईश्वर के नाम को मानते हैं।

ग) **सर्वगुरु की महत्ता** : संतों ने माना है कि यह सृष्टि परम ब्रह्म की रचना है। परम ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। वह मेरे हृदय में व्याप्त है, किन्तु माया के कारण हम उसे नहीं पहचान पाते।

गुरु की कृपा से आत्मज्ञान होने पर ही हम परमात्मा को पहचान सकते हैं। अतः गुरु की महिमा ईश्वर से भी बढ़कर है। कबीर ने स्पष्ट कहा है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाई।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताई।।

गुरु की महत्ता तो सभी सगुण भक्त कवियों ने भी की है। किन्तु अंतर यह है कि सन्त कवि गुरु को परमेश्वर ही मान लेते हैं, कारण यह है कि बिना गुरु की कृपा के परमेश्वर का पाना असंभव है। अतः संतों के लिए गुरु का महत्व सर्वाधिक है।

घ) **जाति-पांति एवं धार्मिक भेद-भाव का विरोध :** संत कवि सार्वभौम मानव-धर्म के प्रतिष्ठापक थे। इसलिए उन्होंने किसी भी प्रकार के जाति-पांति एवं वर्ग-भेद को नहीं माना। संतों की दृष्टि इस प्रकार की थी–

जाति-पांति पूछे नहीं कोई,
हरि को भजे सो हरि को होई।

भारत में वर्णाश्रम धर्म के विरोध की लंबी परंपरा मिलती है। "सहजयान और नाथपंथ के अधिकांश साधक तथाकथित नीच जातियों में जन्मे थे, उन्होंने भी जाति प्रथा का उग्रता एवं तीव्रता से विरोध किया। सन्तों ने उसी परंपरा को अपनाया। दूसरी ओर बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी में व्यवसायों में जो उन्नति हुई तथा कारीगरों का जो आर्थिक विकास हुआ उससे निम्न जातियों में आत्मसम्मान का भाव बढ़ा। अधिकांश भक्त निम्न जाति से संबंधित थे। अपने-अपने काव्यों में इन भक्तों ने सामाजिक न्याय की बातें कहीं। समाज में समानता लाने के लिए एवं तथाकथित नीची जातियों में सम्मान की भावना बढ़ाने के लिए यह जरूरी था कि जाति व्यवस्था का कड़ा विरोध हो–धार्मिक भेदभाव के कारण समाज कमजोर होता जा रहा था। कबीर जाति व्यवस्था पर करारा चोट करते हैं और साथ ही धार्मिक एकता की बात भी करते हैं।

छोटि-छोटि करता तुम्हहिं जाए, तौ ग्रभवास काहे की आए।
जनमत छोटि मरत ही होति, कहै कबीर हरि की निर्मल जोति आया।।

घ) **रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध :** भक्ति आन्दोलन धार्मिक सुधार का आन्दोलन था। धर्म में आई विकृतियों को दूर करने के लिए संतों ने रूढ़ियों और आडम्बरों का जोरदार विरोध किया। इन संतों से पूर्व सिद्धों और नाथ पंथियों ने इस प्रकार का आन्दोलन चलाया था। संत सिद्धों और नाथों से प्रभावित थे। मूर्ति पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा व्रत, तीर्थ, रोजा-नाम, हज्ज आदि विधि-विधानों, वाह्य आडम्बरों का संतों ने जोरदार विरोध किया। संतों ने वैष्णव संप्रदाय को छोड़कर तत्कालीन सभी धार्मिक संप्रदायों की कटु आलोचना की है। नीचे कबीर के कुछ उदाहरणों से आप स्पष्ट समझ सकते हैं कि संतों ने कितने कड़े शब्दों में रूढ़ियों का विरोध किया–

पाथर पूजे, हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।
ताते वह चक्की भली पीस खाय संसार।

पत्थर पूजने से अगर भगवान मिल जाते हैं कह कर कबीर मूर्ति पूजा करने वालों से कहते हैं कि तब तो वे पहाड़ ही पूजने लगें जिससे ईश्वर की उपलब्धि शीघ्र हो जाएगी। आगे वे उपदेश देते हुए वे कहते हैं कि अरे भाई उस पत्थर की मूर्ति से तो वह चक्की भली है जिससे अनाज पीसकर लोग खाने के लिए आटा तो उपलब्ध कर लेते हैं। मुल्ला द्वारा मस्जिद पर चढ़कर आवाज लगाने के बारे में वे कहते हैं–

कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दे, बहिरा हुआ खुदाय।।

अर्थात् क्या अल्लाह बहिरा हो गया है जो प्रतिदिन मस्जिद पर चढ़कर उसे पुकारा जाता है। इस प्रकार तत्कालीन संत कवियों ने निर्भर होकर रूढ़ियों का विरोध किया।

च) **रहस्यवाद, नाम स्मरण तथा प्रेम भावना :** संत काव्य में रहस्यवाद शंकर के अद्वैत मत, नाथों के योग साधना एवं सूफियों के प्रेम साधना द्वारा आया। सन्त काव्य में मुख्य रूप से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना हुई है, इसे ही रहस्यवाद की संज्ञा से जाना जाता है। कबीर के इस दोहे पर आप शंकर के अद्वैत मत का सीधा प्रभाव देख सकते हैं–

जल में कुंभ कुम्भ में जल भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत् कहो गयानी।।

कबीर या अन्य संत कवि जहाँ भी माया से छुटकारे की बात कहते हैं, वहाँ वे अद्वैत मत की बात ही करते हैं। माया, "महाठगिनी" है। माया "महापापिनी" है। माया "मोहिनी" है। यह रहस्य की बात है। ज्ञान की आंधी से ही इस माया से छुटकारा मिल सकता है।

कबीर की उलटवासी रचनाओं में हम सिद्धों की योग साधना का प्रभाव देख सकते हैं। विपरीत कथन द्वारा आध्यात्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने रूपकों का प्रयोग किया है। "बरसै कंबल भीगे पानी", तथा "पानी बिच मीन प्यासी" में वे आध्यात्मिक बात ही कहते हैं। रूपकों में चाँद, सूर्य, नाद, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, आदि का प्रयोग योग साधना से संबंध को दर्शाता है।

संत काव्य की रहस्य भावना में सूफी प्रभाव स्पष्ट झलकता है। सूफी ईश्वर को स्त्री रूप में देखते हैं, कबीर आदि ने सूफी मत से प्रेम के दांपत्य भाव को लिया किन्तु ईश्वर की कल्पना पुरुष रूप में की है और साधक की कल्पना स्त्री रूप में। जहाँ कबीर कहते हैं कि "हरि मोर पिउ मैं राम की बहुरिया" वहाँ सूफी मत का ही प्रभाव है। संतों ने ईश्वर का नाम स्मरण के संबंध में इस प्रकार की उक्ति की है–

सहजो सुमिरन कीजियै हिरदै माहिं छिपाई।
होठ होठ सूं ना हिले सकै नहीं कोई पाई।।

अर्थात् प्रभु का नाम या भजन मन ही मन करना चाहिए।

छ) **नारी के प्रति दृष्टिकोण** : संत कवियों का नारी संबंधी दृष्टिकोण युग से आगे नहीं बढ़ पाया। कवियों ने नारी को माया का प्रतीक माना एवं नारी से दूर रहने की सलाह दी। स्वयं कबीर कहते हैं–

नारी की झांई परत अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति नित नारी के संग।।

किन्तु दूसरी ओर प्रतिव्रता नारी की प्रशंसा भी करते हैं–

पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरुप।
पतिव्रता के रूप पर वारों कोटि सरुप।।

ज) **भाषा शैली** : संत कवि अपनी बात को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। किसी काव्य ग्रंथ की रचना कर अपने को श्रेष्ठ कवि साबित करना उनका उद्देश्य नहीं था। जगह-जगह जा-जा कर जनता की भाषा में वे उपदेश देते थे। स्वभावतः उनकी भाषा में भिन्न-भिन्न स्थानों के शब्द आ गए हैं। भिन्न-भिन्न बोलियों के साथ उन्होंने नाथों एवं सिद्धों के योग संबंधी शब्दों को भी ग्रहण किया। यही कारण है कि विद्वानों ने संत काव्य की भाषा को सधुक्कड़ी भाषा की संज्ञा दी है। संत कवि अपने उद्गारों को सरल साधारण जनों की भाषा में व्यस्त करते थे। "कागद मसि छुवो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ" वाली उक्ति सभी संत कवियों पर चरितार्थ होती है। बोलचाल की भाषा को संतों ने अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। पारिभाषिक शब्दों को संतों ने अपने पूर्ववर्ती संप्रदायों से ग्रहण किया। उदाहरण के लिये शून्य, अनहद, निर्गुण, सगुण और अवधूत आदि, नाथ पंथियों से इंगला, पिंगला आदि शब्द यथावत लिये।

भक्त कवियों की शैली मुख्यतः गीति काव्य पर आधारित है। इनमें तत्व, भावात्मकता, संगीतात्मकता, सूक्ष्मता, वैयक्तिकता एवं भाषा की कोमलता विद्यमान है। उपदेशात्मक पदों में गीति-माधुर्य की जगह बौद्धिकता आ गई है। भक्त कवियों ने दोहा, चौपाई, आदि छंदों का प्रयोग किया।

भक्ति की जो लहर दक्षिण से उत्तर की ओर उमड़ी उसका सबसे पहला प्रभाव महाराष्ट्र पर पड़ा। यहाँ कई संत हुए जिनमें नामदेव को हम हिन्दी का पहला संत कवि कह सकते हैं। इन्होंने मराठी एवं हिंदी दोनों भाषाओं में काव्य रचनाएँ कीं। इसके बाद कबीर, रैदास, गुरुनानक, दादू दयाल, मलूकदास, सुंदरदास आदि महत्वपूर्ण संत कवि हुए। ये तो थी निर्गुणधारा के संत शाखा के कवियों की विशेषताएँ। अब हम इस धारा के अंतर्गत प्रेमाख्यानक काव्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

## 8.4.2 प्रेमाख्यानक भक्तिकाव्य

मध्यकाल या भक्तिकाल में एक ओर जहाँ निराकारवादी संतों ने सर्वसाधारण के लिए भक्ति के साधारण मार्ग की प्रतिष्ठा और भगवान को ज्ञानमय एवं प्रेम द्वारा प्राप्य कह कर हिन्दू-मुसलमानों

के बीच भेदभाव की खाई को पाटने का प्रयास किया वहीं दूसरी ओर उसी समय सूफी फकीरों ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। इस कार्य में संत कवियों की अपेक्षा उन्हें अधिक सफलता मिली। इसका कारण था कबीर आदि का उपदेश मस्तिष्क से अधिक सम्बद्ध था इसके विपरीत सूफी फकीरों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम जनता के हृदय को जीतने का मनोवैज्ञानिक ढंग अपनाया। ये खण्डनात्मकता के स्थान पर दोनों संस्कृतियों के सुंदर सामंजस्य के पक्षधर थे।

भारत में सूफी मत का आगमन 12वीं शताब्दी से माना जाता है। सूफी संप्रदाय इस्लाम धर्म का ही एक अंग माना जाता है किन्तु इस संप्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता है—सहिष्णुता एवं प्रेम की भावना। सूफी संतों का जीवन कष्टमय होता है। ये अपने जीवन को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर देते हैं, दरिद्रता में जीवन व्यतीत कर ये साधना करते हैं। सूफियों का मत है कि विषय भोग से संघर्ष कर या दूर रहकर ही साधना की जानी चाहिए।

सूफियों के अनेक संप्रदाय बने। उनमें आध्यात्मिक सिद्धांतों के विषय में थोड़ा बहुत अंतर भी है। किन्तु सभी सूफी संप्रदायों का यह मानना है कि ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। ईश्वर के साथ मिलन के लिए यह जरूरी है कि साधक में प्रेम की पीर का उदय हो। अहं भाव की समाप्ति होने पर ही सफलता मिल सकती है, अर्थात् भगवान की प्राप्ति हो सकती है। जब साधक पूर्ण आत्म समर्पण कर देता है तभी ईश्वर का दर्शन होता है। सूफियों का मानना है कि जब साधक की सारी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं तभी वह ब्रह्म (अल्लाह) में मिल जाता है। यही अन-अहलक (अहं ब्रह्मास्मि है) ईश्वर के साथ तादात्मय का एकमात्र साधन प्रेम है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सूफी संप्रदाय में साधना की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—

1. शरीआत—अर्थात् धर्म ग्रंथों के विधि निषेध का पालन करना।
2. तरीकत—अर्थात् बाहरी क्रिया-कलाप से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान करना।
3. हकीकत—भक्ति और उपासनों के द्वारा सत्य का बोध करना। इससे साधक तत्वदृष्टि से संपन्न और तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्तमान) का जानने वाला हो जाता है।
4. मारफत—अर्थात् सिद्धावस्था। इस अवस्था में साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है और वे प्रभु से एकमेक हो जाता है।

सूफी कवियों ने दो प्रकार के प्रेम का वर्णन किया है—इश्क मज़ाजी और इश्क हक़ीक़ी। इश्क मज़ाजी इहलौकिक प्रेम है जो स्त्री एवं पुरुष के बीच होता है। इश्क हक़ीक़ी अलौकिक प्रेम है जो ईश्वर और जीव या भक्त के बीच होता है। सूफियों का मानना है कि लौकिक प्रेम अर्थात इश्क मज़ाजी द्वारा अलौकिक अर्थात इश्क हक़ीक़ी को पाया जा सकता है। यही कारण है कि सूफी कवियों ने अपने प्रबंध काव्यों में लौकिक प्रेम कथाओं को अपने कथा का आधार बनाया है। लौकिक कथा के माध्यम से ही वे अलौकिक प्रेम की बात कहते हैं। सूफियों ने पुरुष को आत्मा का तथा प्रियतमा को परमात्मा का प्रतीक माना है। प्रेम वह साधन है जिससे आत्मा परमात्मा को पा सकता है। प्रियतामा के सच्चे रूप का परिचय गुरु की कृपा से ही संभव है। प्रेम का रास्ता काँटों से भरा होता है किन्तु प्रेमी कठिनाइयों पर अपने साहस के बल पर विजय पाता आगे बढ़ता है। शैतान अर्थात् माया, प्रेमी अर्थात् साधक के मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न करता है। गुरु की कृपा से साधक उन बाधाओं को पार करता है और अंत में परमात्मा से उसका मिलन होता है। सूफी काव्य का यही आध्यात्मिक सार है जिसके आधार पर काव्य रचनाएँ हुईं। आइए, अब एक-एक कर सूफी काव्य की प्रवृत्तियों के बारे में जानें।

क) **प्रबन्ध काव्य** : प्रबन्ध काव्य की कल्पना सूफियों की प्रमुख विशेषता है। लौकिक प्रेम कहानियों को इन्होंने अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना के लिए इस्तेमाल किया है। इन प्रेमाश्रयी कवियों का उद्देश्य कोरी प्रेम कहानी कहना नहीं बल्कि प्रेम तत्व का निरूपण करना एवं उसका महत्व स्थापित करना है। जहाँ भी आवश्यकता हुई कहानी की घटनाओं में अपेक्षित परिवर्तन कर प्रबंध संगठन को बनाए रखा। सूफी कवियों का प्रेम मात्र अर्थात् नायिका का सौंदर्य ऐसा ज्योति पुंज है जो प्रत्येक जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है, जिसके प्रकाश से प्रभावित होकर जीव अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार हो जाता है। प्रायः सभी सूफी कवियों ने एक ही प्रकार की प्रबंध कल्पना की है। नायक को नायिका के सौन्दर्य का पता चलता है। वह उसे पाने के लिए निकल पड़ता है। रास्ते में विभिन्न बाधाओं को पार करता हुआ नायिका तक पहुँचता है। जरूरत के अनुसार कवियों ने नए-नए पात्रों की सृष्टि की है। अतः कथा में पक्षियों, देवों और अप्सराओं का उपयोग किया गया है। नायक के रास्ते में बाधाओं के रूप में बीहड़ वन, भयंकर

तूफान, विषैले साँप, सुदीर्घ अजगर विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड़ पक्षी, मनुष्य भक्षी राक्षस तथा यंत्र-भंग और जादू टोना जानने वाले मानवों का वर्णन किया जाता है। यद्यपि ऐसा वर्णन अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक लगता है किन्तु उस समय की कथा की ऐसी परंपरा ही इन्हें मिली थी। दूसरा कारण यह भी है कि साधकों के राह में आने वाले कष्टों का वर्णन भी करना था। अतः उसे ऐसा तरीका चुनना पड़ा। प्रबन्ध रूढ़ियों को प्रायः सभी सूफी कवियों ने अपनाया। काव्यों की क्रम योजना भी सबकी एक समान है। फारसी की मसनवी शैली के अनुसार सर्वप्रथम मंगलाचरण में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन, फिर हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा और अंत में शाहे वक्त का वर्णन, अपना परिचय और कभी-कभी अपने संप्रदाय का वर्णन कर रचना समाप्त की जाती है। सूफीयों द्वारा रचित प्रबंध काव्य में भारतीय एवं विदेशी काव्य रूढ़ियों का एक साथ प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए चित्र दर्शन द्वारा, शुक सारिका द्वारा नायिका के रूप वर्णन को सुन कर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मंदिर, चित्रशाला, उपवन अथवा किसी गुप्त स्थान पर प्रेमी युगल का मिलना भारतीय काव्य रूढ़ियों से लिया गया है। प्रेम व्यापार में देवों और परियों का सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियों द्वारा राजकुमारी के प्रेमी को गिरफ्तार करवा लेना आदि इरानी काव्य में व्यवहृत काव्य रूढ़ियों से लिया गया है। प्रायः सभी सूफी प्रेमाख्यानकों के अंत में नायक की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार कथा का अंत दुखान्त है। कुछ प्रेम कथानक सुखान्त भी हैं।

ख) **भाव व्यंजना** : सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है। प्रेम के वियोग पक्ष का इन्होंने अत्यधिक महत्व दिया है। इस कारण वियोग की स्थिति में झेले जाने वाले कष्टों का जितना वर्णन मिलता है उतना संयोग का नहीं। उनके अनुसार प्रेम का असली रूप वियोग में ही निखारता है। बारहमासा के वर्णन में हम इस वियोग का दर्शन कर सकते हैं।

ग) **धार्मिक एकता** : प्रेमाख्यानक काव्य की एक और प्रवृत्ति रही है और वह है धार्मिक एकता। सूफी कवियों ने हिन्दू घराने की कहानियों को अपने काव्य का विषय बनाया। यह उस युग में सांस्कृतिक समन्वय की भावना जागृत होने का ही परिचायक है। सूफियों ने अपनी रचनाओं में हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, रहन-सहन, आचार-विचार का सुन्दर वर्णन किया। जायसी के पद्मावत में भारतीय संस्कृति का रूप देखा जा सकता है। सूफियों की धार्मिक एकता के लिए अपनाई गई मनोवैज्ञानिक पद्धति की प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"

घ) **नारी चित्रण** : सूफी काव्य में नारी को परमात्मा का प्रतीक बनाया गया है, नारी एक वह नूर है, जिसके बिना विश्व सूना है। परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—"सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी की लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती।

च) **रहस्यवाद** : सूफियों का रहस्यवाद अद्वैतवाद भावना पर आधारित है। रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलने को व्याकुल रहता है। रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए कवियों ने सांकेतिक विधान या प्रतीकों का सहारा लिया है। जायसी के पद्मावत में "तन चितउर मन राउर कहन्हा" जैसे पंक्तियाँ इसी उद्देश्य के लिए लिखी गई हैं। सूफी कवि उस्मान ने अपनी "चित्रावली" रचना में नायक-नायिका तथा वस्तुओं और स्थालों के नाम तक सांकेतिक दिए हैं, जैसे उनकी कथा का नायक सुजान है। नायिका के निवास का नाम रूप नगर है। स्थानों के नाम भी सांकेतिक रूप में रखे गए हैं जैसे भोजपुर, गोरखपुर और नेहनगर। कहीं-कहीं पर प्रवृत्ति के माध्यम से अव्यक्त सत्ता की सर्वव्यापकता का संकेत किया है। जैसे पद्मावत में "रवि ससि नखत दिपत ओहि जोति" अर्थात् सूर्य में चंद्रमा में और संपूर्ण नक्षत्र में उसी की ज्योति जगमगा रही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूफी रहस्यवाद के बारे में लिखा है—"रहस्यवाद भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलने के लिए व्याकुल रहता है। जिस प्रकार मेघ और समुद्र के पानी में कोई भेद नहीं है फिर भी मेघ का पानी नदी का रूप धारण करके समुद्र के पानी में मिल जाने को आतुर रहता है। उसी श्रेणी के आतुरता भक्ति में भी होती है। सूफी कवियों ने अपने प्रेम कथानकों की प्रेमिका को भगवान का प्रतीक माना है। जायसी की सूफियों की इस भावना के अनुसार अपने काव्य में परमात्मा को प्रिया के रूप में देखते हैं और जगत के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भाषित बताते हैं। उनके काव्य में प्रकृति उसी परम प्रिय के समागम के लिए उत्कंठित और व्याकुलता पाई जाती है।" (हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, पृ. 167)

घ) **भाषा शैली** : ऊपर चर्चा की गई है कि सूफी कवियों की प्रबन्ध रचना फारसी की मसनवी शैली पर ही आधारित है। यद्यपि इन कवियों के काव्य का मूल आधार तो भारतीय लोक कथाएँ ही थीं।

प्राय: सभी सूफी कवियों ने अवधी भाषा को ही अपनाया किन्तु छिटपुट रूप से कुछ रचनाओं में भोजपुरी और ब्रज-भाषा का रूप भी मिल जाता है। उदाहरण के लिए सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं ब्रज भाषा का भी प्रयोग किया है। सूफी कवियों ने स्वाभाविक एवं लोक-प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। भाषा को जनसाधारण के निकट लाने एवं उसे बोधगम्य बनाने के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग किया है।

प्रबन्ध काव्य के लिए सूफी कवियों ने दोहा, चौपाई, छंदों का प्रयोग किया। समासोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक छंदों का प्रयोग सूफी काव्य में किया गया है। समासोक्ति के द्वारा प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की व्यंजना की गई है।

सूफी कवियों में जायसी का नाम अग्रण्य है। अन्य सूफी कवि हैं—मुल्ला दाउद, कुतुबन, मंझन, उसमान।

**बोध प्रश्न**

7 निम्नलिखित कथनों में से कौन-से कथन सही हैं और कौन से गलत? सही कथन पर (√) का और गलत पर (×) का निशान लगाइए।

क) सन्तों का मत है कि भगवान जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हैं ( )

ख) संत ईश्वर को गुरु से बड़ा मानते हैं ( )

ग) संतों का मत यह था कि केवल भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच नहीं है ( )

घ) संत काव्य में रहस्यवाद केवल शंकर के अद्वैत से आया ( )

च) रैदास सगुण भक्ति धारा के कवि थे ( )

छ) ज्ञानाश्रयी धारा के कवियों ने शास्त्रीय ज्ञान को महत्व दिया ( )

ज) मसनवी शैली में प्रथमत: ईश्वर की वंदना, पैगम्बर की प्रस्तुति और तत्कालीन राजा की प्रशंसा की जाती है। ( )

8 ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों का जातिप्रथा के बारे में क्या विचार था? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

9 भक्त कवियों की भाषाओं में विभिन्न बोलियों के शब्द आ गए हैं। चार पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

10 नारी के प्रति संत कवियों का क्या विचार था?

.....

.....

.....

.....

.....

11 सूफी संप्रदाय में साधना की चार अवस्थाएँ क्या थीं?

(क) ..... (ख) .....

(ग) ..... (घ) .....

12 सूफी कवियों ने लौकिक कथा का प्रयोग अलौकिक वर्णन के लिए किया है'' इस कथन का तात्पर्य छह पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

13 निम्नलिखित का प्रयोग सूफी कवियों ने किन प्रतीकों के लिए किया है? रिक्त स्थानों में प्रतीकों को लिखिए–

क) नायिका .....

ख) नायक .....

ग) सुआ .....

घ) सुदीर्घ अजगर .....

ङ) अप्सराएँ .....

## 8.5 सगुण भक्ति काव्य

भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों की चर्चा आरंभ करते समय हमने बताया था कि भक्तों ने ईश्वर को भिन्न-भिन्न रूपों में भजा। कुछ ने अमूर्त रूप में तो कुछ ने मूर्त रूप में। अब तक आपने निगुणोपासक अर्थात् ईश्वर के अमूर्त, निराकार रूप की उपासना करने वाले भक्त कवियों के काव्य प्रवृत्तियों की जानकारी हासिल की है। अब हम सगुणोपासक भक्त कवियों के काव्य प्रवृत्तियों के बारे में चर्चा करेंगे। सगुणोपासक भक्त कवियों में विष्णु के अवतारी रूपों कृष्ण एवं राम का गुणगान किया है। हम प्रथमतः कृष्णोपासक भक्त कवियों के काव्य प्रवृत्तियों के बारे में जानेंगे।

### 8.5.1 कृष्ण भक्ति काव्य

विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण की उपासना कितने दिनों से चली आ रही है यह कहना कठिन है, किन्तु कृष्ण के माधुर्य रूप का उद्घाटन भागवत् पुराण से ही माना जाता है। भागवत् की रचना का काल छठी और 9वीं शताब्दी के बीच का माना जाता है। भक्तिकाल का कृष्ण काव्य भागवत् पुराण से ही अधिक प्रभावित है। कृष्ण काव्य में कृष्ण के बाल रूप से लेकर किशोर वय एवं गोपियों के साथ रासलीला से लेकर मथुरा के राजा के रूप का विशद एवं मनोहारी चित्रण किया गया है। कृष्ण के साथ राधा की पूजा का जो रूप आज प्रचलित है उसका उल्लेख भागवत् पुराण में नहीं मिलता। 12वीं शती में संस्कृत के कवि जयदेव की रचना गीतगोविन्द में सर्वप्रथम राधा का उल्लेख मिलता है। उसके बाद बंगाल के कवि चंडीदास और मिथिलांचल के कवि विद्यापति की रचनाओं में राधा का चित्रण मिलता है। इन कवियों ने राधा-कृष्ण के प्रेम को काव्य का विषय बनाया।

भक्ति आंदोलन के चार प्रर्वतकों में से एक वल्लभाचार्य ने कवियों को कृष्ण की लीलाओं का गायन करने के लिए प्रोत्साहित किया। वल्लभाचार्य ने भक्ति के जिस सिद्धांत को प्रस्तुत किया उसे पुष्टि मार्ग कहा गया। कृष्ण काव्य के विख्यात कवि सूरदास वल्लभाचार्य के ही शिष्य थे और इन्होंने पुष्टि मार्ग की दीक्षा ली थी।

क) **लीला गायन** : भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यंत विलक्षण है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों में कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों का पता चलता है। किन्तु

भागवत् पुराण में ही कृष्ण के व्यवस्थित कथा के द्वारा एक रूप उभरकर हमारे सामने आता है। कृष्णाख्यान के लिखित एवं मौखिक रूप पर विहंगम दृष्टि डालने से कृष्ण के तीन रूप हमारे सामने आते हैं—(1) योगी, धर्मात्मा का रूप जिसे हम महाभारत के एक अंश गीता के उपदेशक के रूप में देख सकते हैं, (2) ललित, मधुर गोपाल का रूप और (3) वीर राजनयिक का रूप। कृष्ण के चरित्र में उत्तरोत्तर धार्मिकता और भक्ति भावना का समावेश होता गया किन्तु 15वीं-16वीं शताब्दी में आकर गोपाल कृष्ण एवं गोपीवल्लभ कृष्ण के रूप ही प्रधान हो गए। मध्यकालीन कवियों ने लोकरंजनकारी कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त गायन किया। उनकी लीला का प्रयोजन लीलानन्द के अलावा और कुछ नहीं थी। कवियों द्वारा लीला का वर्णन अखण्ड आनन्द में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभिव्यंजना करना ही था। कवियों ने लीला के अनेक रूप कल्पित किए। बाल-गोपाल की वात्सल्यपूर्ण लीलाएँ सख्य रूप में लीलाएँ तथा माधुर्य भावपूर्ण लीलाएँ ही संपूर्ण हिन्दी-कृष्ण भक्ति में विद्यमान है। संप्रदायों में माधुर्य भाव का ही सबसे अधिक महत्व है। राधा और कृष्ण के, गोपियों एवं कृष्ण की प्रेम लीलाओं का श्रवण, स्मरण-चिंतन एवं गायन ही कवियों का अंतिम कार्य बन गया था। सूर के काव्य में कृष्ण की प्रेम लीलाओं का सर्वाधिक विस्तार है। सूर के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है निश्चित विवेक, निश्चित सूक्ष्म अध्यात्मक भावना, मानसिक वीतरागात्व तथा सवस्थ्य संयम। बाद के कवियों ने इन गुणों को भुला दिया। कृष्ण भक्त कवियों का उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का वर्णन था, अतः काव्य में सामाजिक पक्ष प्रायः उपेक्षित रहा। किन्तु कृष्ण के माधुर्य उपासना का एक लाभ यह रहा कि लोगों के बीच कृष्ण का लोकरंजन रूप उभरा। कृष्ण की लीलाओं में कवियों ने ऐसी मनोदशाओं का चित्रण किया है जो सामान्य जन को अधिक आकृष्ट करती हैं। उदाहरणस्वरूप कृष्ण का रोना, खीझना, गोपियों द्वारा यशोदा को उलाहना देना, नटखटपन यशोदा द्वारा कृष्ण को डाँटना-फटकारना।

ख) **ज्ञान का खण्डन** : कृष्ण के प्रेममय रूप का वर्णन करना कृष्ण भक्त कवियों का आदर्श था। इन कवियों ने निर्गुण मत का खंडन किया। सूर ने भ्रमर गीत द्वारा ज्ञान का खंडन तथा प्रेम का मंडन कराया है। कृष्ण के सखा उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा घमंड था। कृष्ण इसे जानते थे, किन्तु उनकी इच्छा थी कि प्रेम के महत्व की प्रतिष्ठा उन्हें गोपियों द्वारा कराई जाए जो निरी मुर्ख समझी जाती है। (देखिए भाग 8.3 का उपभाग 8.3.4)

ग) **सत्संग तथा गुरु महिमा** : कृष्ण भक्त कवियों ने सत्संग पर जोर दिया, उनके अनुसार सत्संग द्वारा बुराई को दूर किया जा सकता है। कवियों ने जगह-जगह यह उदाहरण दिया है जिससे यह पता चलता है कि गलत राह पर चलने वाले भी सत्संगति पाकर सही राह पर चलने लगते हैं।

गुरु की कृपा से ही भक्त साधना में प्रवेश पाता है। अतः गुरु की महिमा का बखान कृष्ण भक्ति संप्रदायों ने किया। किन्तु निर्गुण भक्तों के समान उनके गुरु भक्ति भिन्न प्रकार की है। यहाँ गुरु राह दिखाने वाला है, वहाँ गुरु भगवान से भी बढ़कर है।

घ) **भाषा शैली** : कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण की बाल लीला भूमि ब्रज की लोक-प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। उनके द्वारा प्रयुक्त ब्रज भाषा का प्रयोग इतना बढ़ा कि साहित्य की भाषा ब्रज भाषा बन गई। लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि समस्त उत्तर-पश्चिम भारत से लेकर सुदर बंगाल तक कृष्ण काव्य की रचना इसी भाषा में होने लगी। यही नहीं भक्तिकाल के बाद रीति काल और यहाँ तक कि भारतेन्दु काल तक इस भाषा में ही काव्य रचना का प्रचलन रहा। कृष्ण काव्य में प्रयुक्त ब्रज भाषा का प्रभाव हम 19वीं शती तक देख सकते हैं। विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कृष्ण संबंधी रचना भानुसिंहिरे पदावली में ब्रज भाषा का ही प्रयोग किया। यद्यपि उन्होंने बंगला लिपि में यह रचना की किन्तु भाषा ब्रजबूली ही रही।

कृष्ण काव्य की रचना करने वाले कवियों ने अधिकतर मुक्तक रचनाएँ कीं। भावात्मक काव्य होने के कारण इसमें गीतिपदों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। कलात्मक प्रसंगों में चौपाई, चौबोला, सार तथा सरसी छंदों का प्रयोग किया गया। दोहा-रोला का मिश्रित रूप भी प्रयुक्त हुआ। इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति काव्य में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया, गीतिका, हरिगीतिका, आदि छंदों का प्रयोग भी किया गया है।

कृष्ण भक्ति काव्य की शैली, गीति शैली है। इसमें गीति शैली के सभी तत्व, भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिक्ता तथा संक्षिप्तता तथा भाषा की कोमलता विद्यमान है।

कृष्ण भक्ति काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास हैं। मीरा इस धारा की विख्यात कवियत्री हैं।

## 8.5.2 राम भक्ति काव्य

बाल्मीकि भारतीय परंपरा में आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ईसा से पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व से उन्होंने संस्कृत में आदि ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ था–"रामायण"। इस ग्रंथ में कवि ने राम को नायक बनाया और उनके संपूर्ण जीवन चरित्र को प्रस्तुत किया। बाल्मीकि द्वारा रचित राम का चरित्र भारतीय कवियों के लिए प्रेरणा स्रोत बना रहा। राम कथा की परंपरा निरंतर आगे बढ़ती रही। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश में काव्य रचना करने वाले बौद्ध और जैन कवियों ने भी राम कथा को आधार बनाया। इतना ही नहीं राम के चरित्र को लेकर काव्य रचना की परंपरा विदेशों तक फैली। दक्षिण पूर्व एशिया के छोटे-छोटे देशों की लोक कथाओं पर राम कथा का प्रभाव देखने को मिलता है। यहाँ तक कि चीन एवं जापान तक बौद्ध धर्म के माध्यम से यह परंपरा फैलती रही।

भारत में मध्यकाल जिसे भक्तिकाल भी कहा जाता है, में राम की कथा को लोक-विस्ताार देने का कार्य रामानुज ने किया। परंपरा आगे बढ़ी। रामानन्द ने राम का परम ब्रह्म के रूप में देखा। यद्यपि रामानन्द निर्गुण, निराकार राम के प्रति आग्रही नहीं थे, किन्तु उनकी भक्ति इतनी उदार थी कि उसमें सगुण और निर्गुण दोनों का स्थान था। राम काव्य की परंपरा निरंतर आगे बढ़ती रही किन्तु उसकी लोकप्रियता तुलसीदास के कारण ही मिल पाई। तुलसी ने मर्यादापुरुषोत्तम राम के चरित्र को केन्द्र में रख कर जिस अवधी भाषा में "रामचरित मानस" की रचना की। परिवार एवं समाज से लेकर राज्य की बातों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि "मानस" हिन्दू परिवारों के घर-घर में धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। राम भक्ति काव्य, कृष्ण भक्ति काव्य से कई अर्थों में भिन्न है। हम मानस के आधार पर रामभक्ति काव्य की प्रवृत्तियों का स्पष्ट विवेचन कर पाएँगे।

क) **अवतारवाद** : विष्णु के अवतारी रूप कृष्ण का चित्रण तो कृष्ण भक्त कवियों ने भी किया किन्तु उनका जोर कृष्ण की लीला गायन पर था, वे लीला गायन द्वारा ही परमानंद की प्राप्ति चाहते थे, ईश्वर की लीला का कोई बाह्य उद्देश्य नहीं था। किंतु राम भक्त कवियों के अनुसार विष्णु का अवतारी रूप दुष्टों के दलन के लिए था। वे साधुओं की रक्षा करने के लिए अवतार लेते हैं। कृष्ण भक्त कवियों का कृष्ण जहाँ लोकरंजक के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं राम भक्त कवियों का राम लोक कल्याण की भावना से अवतरित होते हैं। इसलिए राम भक्त कवियों का राम लीलाओं द्वारा केवल आनन्द ही नहीं पहुँचाता बल्कि भक्तों के कष्टों का निवारण भी करता है।

ख) **विधि निषेध का पालन** : तुलसीदास की भक्ति रागानुत्र भक्ति की अपेक्षा वैधी भक्ति के अधिक निकट है। इसलिए सभी प्रकार के बंधन का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। शास्त्र-सम्मत विधि निषेध का पालन करते हुए ही भक्ति की जाती है। तुलसी ने यह कहा कि भक्ति के क्षेत्र में कोई भेदभाव नहीं। किन्तु वे वर्णाश्रम धर्म को मानते थे और परंपरावादी थे। तुलसी का राम भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता और इसीलिए उसे मर्यादा पुरुषोत्तम की संज्ञा दी गई।

**दास्य भक्ति** : हमने देखा कि कृष्ण भक्त अपने आराध्य को कहीं सखा रूप में तो कहीं प्रेमी के रूप में भजते हैं। किन्तु राम भक्त अपने को राम का दास समझते हैं। उनकी भक्ति दास्य भाव की है। उनका राम सर्वशक्तिमान है, इसलिए वे उनके ऐश्वर्य और प्रभुता का चित्रण करते हैं।

ग) **लोक जीवन** : कृष्ण भक्त कवियों का उद्देश्य कृष्ण के लीला गायन द्वारा आनंद प्राप्त करना था। यही कारण है कि उनके काव्य में सामाजिक पक्ष प्रायः उपेक्षित रह गया। किन्तु राम संबंधी भक्ति काव्य में सामाजिक पक्ष का चित्रण है। राम लोकमंगलकारी है। उनके चरित्र का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है जिससे वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा देने वाले नजर आएँ। राम परिवार, समाज और राज्य के हित के लिए सब कुछ त्यागने के लिए तत्पर हैं। राम के शीला और सौन्दर्य का दर्शन हम जीवन संग्राम के बीच पाते हैं। मानस के सभी पात्र जीवन संघर्ष को दर्शाते हैं। सीता त्याग करने में और पतिव्रता रूप में आगे है। तो भ्राता लक्ष्मण और भरत का भ्रातृत्व प्रेम एक अलग आदर्श उपस्थित करता है।

घ) **समन्वय भावना** : राम भक्त कवियों के सामने समाज का ऐसा रूप था जो वर्गगत एवं धर्मगत खेमों, उप-खेमों में बँटा हुआ था। एक ही धर्म के अंतर्गत भिन्न-भिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति हो गई थी। समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए इनमें समन्वय स्थापित करना आवश्यक था। यही कारण है कि उन्होंने, शैवों और शाक्तों, शाक्तों और वैष्णवों, निर्गुण और सगुण, ज्ञान और भक्ति, लोक और शास्त्र, वैराग्य और गृहस्थ आदि विरोधी प्रवृत्तियों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

च) **भाषा-शैली** : राम के चरित्र को आधार बनाकर राम भक्त कवियों ने प्रबंध एवं मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाएँ कीं। इन कवियों की भाषा प्रधानतः तो अवधी रही लेकिन उन्होंने काव्य रचना के लिए ब्रज भाषा को भी अपनाया। तुलसी ने जहाँ मानस की रचना अवधी में की वहीं कुछ रचनाएँ ब्रज-भाषा में भी की। केसवदास ने ब्रजभाषा में "रामचंद्रिका" की रचना की है। राम काव्य में भोजपुरी, बुन्देलखंडी, राजस्थानी, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तुलसी ने परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया।

रामभक्त कवि विद्वान तथा सत्संगति में रहने वाले थे। अलंकार शास्त्र का ज्ञान उन्हें था, यही कारण है कि उन्होंने सभी प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया। रामचरितमानस में वीरगाथात्मक प्रबन्ध पद्धति है तो गीतावली में गीति पद्धति। भिन्न-भिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग हमें इन रचनाओं में मिल जाएगा। छप्पय, दोहा, चौपाई, कुण्डलियाँ, सोरठा-सवैया, घनाक्षरी, तोमर, आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। तुलसी ने विभिन्न राग-रागनियों से आबद्ध गेय पदों की भी रचना की।

राम भक्त कवियों में तुलसीदास का नाम तो विख्यात है ही, इनके अलावा अग्रदास, ईश्वरदास, नाभादास, केशवदास आदि भी राम भक्त कवि हुए।

**अभ्यास**

1 सगुण और निर्गुण भक्ति काव्य के कोई पाँच अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

**बोध प्रश्न**

14 सूरदास ने एक रचना की जिसमें ज्ञान का खंडन तथा प्रेम का मंडन किया गया। आप उस पुस्तक का नाम तथा प्रसंग का उल्लेख कीजिए (लगभग दस पंक्तियों में)।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15 रामोपासक कवि ईश्वर के अवतार का क्या कारण मानते हैं? तीन पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

**अभ्यास**

2 राम एवं कृष्ण भक्ति काव्य का कोई चार अंतर स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

## 8.6 भक्ति काव्य का महत्व

हिन्दी का भक्ति साहित्य भक्ति आंदोलन द्वारा हिंदी साहित्य को दिया गया अनुपम देन है। भक्ति आंदोलन की शुरुआत ईसा से पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त में हो गई थी। इस व्यापक शक्ति को लेकर दक्षिण के आचार्यगण उत्तरी भारत में आए और संपूर्ण उत्तर भारत में नया लोक जागरण फैलाया। वास्तव में यह आंदोलन पुरोहित वाद का विरोध, शास्त्रज्ञान की अनावश्यकता, अंध विश्वासों के प्रति घोर विद्रोह था। इसके द्वारा जनता की भाषा का उदय हुआ। एक ओर तो यह लोगों को सरल-सच्चे मन से पाखंड रहित ईश्वर भक्ति की राह दिखाता था तो दूसरी ओर जनता द्वारा सामंतवाद के खिलाफ सांस्कृतिक आंदोलन को भी बढ़ावा देता था। आंदोलन ने पहली बार समाज को नयी राह दिखाने वाले संत कवि पैदा किए। इस आंदोलन में किसी प्रकार का जाति भेद वर्गभेद और धर्मगत भेद नहीं था। सभी संतों, सूफियों और भक्तों ने एक साथ रुढ़िवाद का विरोध किया और प्रेम की राह दिखाई। चाहे निर्गुण के उपासक कबीर या रैदास हो चाहे सगुण के उपासक तुलसीदास चाहे प्रेम तत्व के उपासक सूफी कवि जायसी हो। सभी ने अपनी रचनाओं में समाज को एक संगठित एवं मजबूत रूप देने का प्रयत्न किया। भक्ति साहित्य मानव को मानव बनाने की राह दिखाता है। यह मानव जाति को संत कवियों का उपहार है। इस साहित्य में जीवनगत अनुभवों एवं उद्‌गारों को ही व्यक्त किया गया।

भक्ति काव्य में भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और सभ्यता आचार और विचार सुंदर एवं सुदृढ़ रूप में सुरक्षित हैं। इस काव्य में सगुण-निर्गुण शक्ति, योग दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और आदर्श चित्र का भव्य चित्रण है। चाहे भाव का क्षेत्र हो या भाषा का संगीत का क्षेत्र हो या काव्य के रूप का सभी का इसमें सुंदर निर्वाह हुआ है। सभी दृष्टियों से संपन्न भक्ति काव्य भारतीय जन का प्रेरणास्रोत रहा है और आज भी इस साहित्य द्वारा लोगों को नयी रोशनी मिल रही है। भक्ति साहित्य का महत्व उसके उद्‌भव एवं विकास के समय था और आज भी है। मुंशी प्रेमचंद का कथन है। "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो" भक्ति काव्य में ये सारे गुण विद्यमान हैं। भक्ति काव्य में एक और जीवन की गहरी अनुभूतियाँ व्यक्त हुई तो दूसरी ओर समाज की सच्चाई प्रकट की गई। अंधविश्वास और रूढ़ियों से मुक्त होने का राह दिखलाया गया। केवल भाव ही नहीं, भाषा की कलात्मकता भी इस साहित्य में उत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई है। लोकजीवन से जुड़ी मार्मिक भाषा का प्रयोग किया गया। मुक्तकों में जहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय बोलियों का समिश्रण है वहीं प्रबन्ध रचनाओं में परिष्कृत भाषा का प्रयोग है।

संपूर्ण भक्त कवियों पर विहंगम दृष्टि डालने से, यह तथ्य सामने जाता है, कि आलवार संतों द्वारा शुरू की गई भक्ति का विस्तार तो हुआ किन्तु कबीर से लेकर मीरा तक भक्त कवियों ने समाज को एक नयी राह दिखाने का ही कार्य किया। भक्ति काव्य का केवल साहित्य ही नहीं धार्मिक और सामाजिक महत्व भी समान रूप से है।

## 8.7 सारांश

- भक्ति का उद्‌भव दक्षिण भारत में हुआ किन्तु उसका पूर्ण विकास उत्तर भारत में हुआ। भक्ति आंदोलन द्वारा समाज में चेतना फैलाने का सफल प्रयोग हुआ। ईश्वर के निराकार और आकार रूप की पूजा का प्रचलन बतुत पहले से था। भक्त कवियों में भी किसी ने निर्गुण ईश्वर की अराधना की तो किसी ने सगुण रूप की। कोई राम का भक्त या तो कोई कृष्ण का और कोई सूफी संप्रदाय से जुड़ा था। इस प्रकार ईश्वर के कई रूपों की अराधना हुई। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भक्ति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर सकते हैं।

- सभी भक्त कवि पहले भक्त थे बाद में कवि या यूँ कहिए कि कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। उनके उद्‌गार ही कविता के रूप में हमारे सामने हैं। संपूर्ण भक्ति काव्य पर दृष्टि डालने से यह बात सामने आती है कि कुछ भिन्नताओं के बावजूद सभी कवियों ने एक समान संदेश दिया। आप भक्ति काव्य की सामान्य विशेषताओं को बता सकते हैं।
- कबीर, नानक आदि संत कवियों ने ईश्वर के निराकार रूप की उपासना की। सूफियों ने ईश्वर को स्त्री रूप में देखा। इकाई के अध्ययन के बाद आप ज्ञानाश्रयी भक्ति काव्य और प्रेमाख्यानक भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को बता सकते हैं।
- सगुणोपासक भक्त कवियों ने विष्णु के अवतारी रूपों राम और कृष्ण की उपासना की। कृष्ण उपासक कवियों ने कृष्ण का लीला गायन किया तो राम उपासक कवियों ने राम के लोकमंगलकारी रूप का वर्णन किया। आप इकाई के अध्ययन के बाद इन दोनों प्रकार के भक्ति काव्य की प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर सकते हैं।
- भक्ति काल में समाज को एक नया राह दिखाने की शक्ति है। कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में आई विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। इकाई के अध्ययन के बाद आप भक्ति काव्य के महत्व को बता सकते हैं।

## 8.8 शब्दावली

इस इकाई में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्दों के अर्थ नीचे दिए जा रहे हैं। इनसे आपको इकाई में बताई गई बातों को समझने में मदद मिलेगी।

**तलफत** : तड़पत, पानी से निकाल देने पर मछली तड़पने लगती है।

**सुआ** : सुग्गा, तोता।

**लीला** : शब्दिक अर्थ क्रीड़ा (खेल) ईश्वर के अवतारों द्वारा किये गये कार्य लीला माने जाते हैं।

**माया** : वह शक्ति जो मनुष्य को ईश्वर से दूर करती है, सांसारिक बंधनों में बाँधती हैं।

**अपरोक्ष** : जो सामने न हो।

**सार्वभौम** : जो सारी पृथ्वी पर व्याप्त हो।

**इहलौकिक** : इस लोक का अर्थात् इस पृथ्वी का।

**समागम** : मिलन के लिए

**कर्मकाण्ड** : धर्म का वह पक्ष जिसमें शास्त्रीय विधि-निषेधों के अनुसार कर्म करने को प्रमुखता दी जाती है।

**हठयोग** : अपने अंगों और खास क्रिया पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए जो साधना की जाती है, उसे हठयोग कहते हैं।

**मनोहारी** : मन को मुग्ध करने वाला।

## 8.9 उपयोगी पुस्तकें

शुक्ल रामचन्द्र : *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस।

द्विवेदी हजारी प्रसाद : *हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

चतुर्वेदी परशुराम : *भारतीय साहित्य में भक्ति धारा*, भारती भंडार, इलाहाबाद।

मिश्रा शिवकुमार : *भक्तिकाव्य और लोकजीवन*, पीपुल्स लिटरेसी, नई दिल्ली।

शर्मा शिवकुमार : *हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां*, अशोक प्रकाशन नयी सड़क, दिल्ली-6.

## 8.10 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

1 संपूर्ण भक्ति साहित्य का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि चाहे ईश्वर के निर्गुण रूप के उपासक भक्त हो या सगुण रूप के, सभी अपने आराध्य से उत्कट प्रेम करते हैं। वे अपने ईश्वर को पाने के लिए उसके दर्शन के लिए बाट जोहते रहते हैं।

2 भक्ति काल जहाँ धार्मिक परिष्कार का आंदोलन था, वहीं यह सामाजिक सुधार का भी आंदोलन था। समाज में ऊँच-नीच की भावना को दूर करने के लिए भक्तों ने प्रयास किए। किंतु एक ओर निर्गुण भक्त कबीर ने जहाँ सामाजिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में समानता की बात कही, वहाँ सगुण उपासक तुलसीदास ने केवल भक्ति के क्षेत्र में ही समानता की बात की। वे वर्णाश्रम धर्म को परंपरानुकूल स्वीकारते हैं।

3 भक्तिकाल के सभी भक्तों ने चाहे वे निर्गुण ईश्वर के उपासक हों या सगुण रूप के उपासक या चाहे "प्रेम मार्ग पर चलने वाले सूफी, सभी ने गुरू की महिमा को स्वीकारा है। किन्तु जहाँ सगुण उपासक गुरु को राह दिखाने वाले के रूप में अपनाते हैं, वहीं निर्गुण उपासक गुरु को ईश्वर से भी बड़ा मानते हैं।

4 सभी भक्त कवि यह मानते हैं कि ईश्वर भक्ति के लिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं। सच्चे शुद्ध मन से ईश्वर की भक्ति की जा सकती है। कबीर तो इस संबंध में इतना कहते हैं कि पोथी पढ़-पढ़ कर यह संसार मर गया अर्थात् शास्त्रज्ञान में ही लोग लगे रहे लेकिन जिन्होंने प्रेम के ढाई अक्षर का मर्म जान लिया वह ज्ञानी बना। उसी ने ईश्वर को पाया।

5 भक्ति काल का साहित्य लोकजीवन से जुड़ा था। तत्कालीन राजनीति से उस समय का भक्ति साहित्य नहीं के बराबर प्रभावित हुआ। भक्ति आंदोलन स्वाभाविक रूप से उभरा आंदोलन था। तत्कालीन समाज में घिर आई बुराइयों से जनता दुखी थी। भक्त कवि जनता के कवि थे। वे न तो राज्याश्रित थे और न ही राजसी वैभव का वर्णन कर कुछ पा लेने की लालसा। वे एक ऐसे राह पर चलने वाले थे जिस पर चलकर समाज में समानता एवं भाईचारे का वातावरण पैदा किया जा सकता था।

10 संत कवि नारी के प्रति तत्कालीन विचारधारा से आगे नहीं बढ़ पाए। नारी को साधना में बाधक माना। किन्तु पतिव्रता नारी की प्रशंसा भी की।

11 क) शरीअत ख) तरीक़त ग) हक़ीक़त घ) मारफत

12 सूफी कवि लौकिक कथा के माध्यम से अलौकिक की बात करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब वे किसी काव्य ग्रंथ की रचना करते हैं, उस समय लोक जीवन से संबंधित कथाएँ लेते हैं, किन्तु उनके सभी पात्र प्रतीक रूप में होते हैं। जैसे जहाँ वे पद्मावती नायिका का वर्णन करते हैं, वहाँ उनका उद्देश्य परम अलौकिक शक्ति का वर्णन करना है। उनका वर्णन ही स्पष्ट करता है कि पद्मावती साधारण नारी नहीं है।

13 क) ईश्वर ख) भक्त ग) गुरू घ) बाधा ङ) सहायक

**अभ्यास**

1 i) सगुण भक्ति काव्य में साकार – मूर्त रूप की उपासना की जाती है। जबकि निर्गुण काव्य में निराकार–अमूर्त ईश्वर की उपासना की जाती है।

ii) सगुण भक्त यह मानता है कि ईश्वर जगत कल्याण के लिए अवतार लेता है। किंतु निर्गुणोपासक यह मानते हैं कि उनका ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। अतः एक मनुष्य के रूप में अवतरित नहीं हो सकता।

iii) निर्गुण भक्ति काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है। सगुण में रहस्यवाद का अभाव है।

iv) निर्गुण भक्त जाति-पांति में विश्वास नहीं करते। सगुणोपास इस प्रकार का भेद रखते हैं।

v) सगुणापासक कवियों ने ईश्वर का लीला-गायन किया जबकि निर्गुणोपासक ने लौकिक कथाओं द्वारा अलौकिक का वर्णन किया है। कबीर, रैदास, तुलसी अपने-अपने व्यवसाय में लगे हुए थे। यही कारण है कि वे जनता से जुड़े रहे। परिवार एवं समाज में फैली बुराइयों को दूर कर एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते थे। यही कारण है कि भक्त कवियों का काल जनता से, लोक जीवन से जुड़ा रहा।

6 क) [√]
ख) [×]
ग) [×]
घ) [×]

7 क) [×]
ख) [√]
ग) [×]
घ) [×]
च) [×]
छ) [×]
ज) [√]

8 ज्ञानाश्रयी कवि जाति प्रथा में विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था कि इस संसार की रचना ईश्वर ने की है। वह तो इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। अतः सभी उस एक ब्रह्म के अंश हैं। फिर यह छोटा बड़ा क्यों? मनुष्य का जन्म तो एक ही प्रकार होता है फिर ब्राह्मण और शूद्र में अंतर कहाँ रह जाता है। इसीलिए मनुष्य-मनुष्य में भेद करना उचित नहीं।

9 भक्त कवियों का मुख्य उद्देश्य था भगवान का भजन करना। किंतु वे समाज से विमुख नहीं थे। तत्कालीन समाज में आई बुराइयों को दूर करने के लिए वे अपने विचार व्यक्त करते थे। उपने उपदेशों को जगह-जगह घूम-घूमकर गा-गा कर पहुँचाते थे। यही कारण है कि स्थान-स्थान के शब्द स्वतः ही उनके काव्य में आते गए। जनता की भाषा में अपनी बात कहकर वे सबको उपदेश देना चाहते थे।

**बोध प्रश्न**

14 सूरदास ने "उद्धव शतक" नामक पुस्तक की रचना की जिसमें ज्ञान खंडन तथा प्रेम का मंडन किया गया है। प्रसंग यह है कि उद्धव कृष्ण के हमरूप सखा थे। उन्हें अपने ज्ञान का गर्व था। लोगों को उपदेश देते फिरते कि, तपस्या करो और भगवान को पाओ। कृष्ण मित्र के गर्व का खंडन कर सकते थे। लेकिन उन्होंने सोचा कि क्यों न इसे ग्वाल-बालाओं द्वारा उपदेश दिलाया जाय। उद्धव को समझा-बुझाकर ब्रज भेजा कि जाकर ग्वाल बालाओं को ज्ञान का उपदेश दे आओ। उद्धव गर्व से फूले ब्रज गए किन्तु वहाँ देखा कि सभी बालाएँ कृष्ण प्रेम में उन्मुक्त हो चुकी हैं। फिर भी तरह-तरह से उपदेश दिया। किन्तु ग्वाल-बालाओं के तर्कपूर्ण उत्तर एवं प्रश्नों से वे स्वयं प्रेम के पुजारी बन गए। उन्हें अपने ज्ञान का घमंड दूर हुआ।

15 रामोपासक कवियों के अनुसार ईश्वर लोक कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। पृथ्वी पर जब-जब अधर्म की हानि बढ़ती है और समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा होता है ऐसे समय में भगवान का अवतार होता है।

**अभ्यास**

2 i) राम भक्ति काव्य में दास्य भाव की उपासना की और कृष्ण भक्ति काव्य में माधुर्य भाव की उपासना की प्रधानता है।

ii) राम भक्ति काव्य में दास्य भक्ति का प्रभाव है जबकि कृष्ण भक्ति काव्य में रागानुगा भक्ति का।

iii) राम भक्ति काव्य में लोकमंगल की भावना प्रमुख है जबकि कृष्ण भक्ति काव्य में लोकरंजन की।

iv) कृष्ण भक्त कवियों ने केवल मुक्तकों की रचना की जबकि राम भक्त कवियों ने प्रबंध काव्य की रचना की।

v) कृष्ण भक्त कवियों ने ब्रज भाषा का प्रयोग किया जबकि राम भक्त कवियों ने ब्रज एवं अवधी दोनों भाषाओं का प्रयोग किया।

# इकाई 9 भक्ति काव्य का दार्शनिक आधार

## इकाई की रूपरेखा


9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 भक्ति, धर्म और दर्शन
9.3 भक्ति के विविध रूप
  9.3.1 भक्ति के प्रमुख पक्ष
  9.3.2 निर्गुण संत काव्य धारा का दार्शनिक आधार
  9.3.3 प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा का दार्शनिक आधार
  9.3.4 भक्ति मार्ग में ईश्वर की सत्ता : ऐकेश्वरवाद
  9.3.5 सगुण काव्य धारा का दार्शनिक आधार
9.4 दार्शनिक मतवाद
  9.4.1 अद्वैतवाद
  9.4.2 विशिष्टाद्वैतवाद
  9.4.3 शुद्धाद्वैतवाद
  9.4.4 पुष्टिमार्गीय भक्ति
  9.4.5 द्वैताद्वैतवाद
  9.4.6 द्वैतवाद
9.5 अन्य संप्रदाय
  9.5.1 गौड़ीय संप्रदाय
  9.5.2 राधावल्लभ संप्रदाय
  9.5.3 सखी सम्प्रदाय (हरिदासी संप्रदाय)
9.6 भक्ति संप्रदायों का प्रदेय
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 उपयोगी पुस्तकें
9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 9.0 उद्देश्य

भारतीय साहित्य में धर्म, साधना और दार्शनिक चिंतन की ठोस भूमिका अनादिकाल से ही रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में "स्वर्णयुग की उपाधि से विभूषित काल "भक्तिकाल" ही है। हिन्दी भक्ति काव्य के इस युग की दार्शनिक विचारधारा भी कालजयी, कलात्मक और दिगन्तव्यापी सात्विक-प्रभा से समृद्ध रही है। भक्ति काव्य के इसी दार्शनिक आधार को स्पष्ट करती इस इकाई के अध्ययन से आप–

- भक्ति, धर्म और दर्शन का परस्पर संबंध बताते हुए इनके स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे,
- भक्ति के विविध रूपों की चर्चा करते हुए नाथ, सिद्ध और शैव-शाक्त परंपराओं में भक्ति और दर्शन के स्वरूप को बता सकेंगे,
- भक्ति के विविध पक्षों के अंतर्गत निर्गुण संत काव्य के दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन कर सकेंगे और प्रेममार्गी सूफी धारा तथा ऐकेश्वरवाद की व्याख्या कर सकेंगे,
- भक्ति काव्य की सगुण काव्य धारा के दार्शनिक तत्वों की समीक्षा कर सकेंगे,
- भक्ति कालीन भक्ति साहित्य को प्रभावित-प्रेरित करने वाले विभिन्न दार्शनिक मतवादों की पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर सकेंगे,
- गौड़ीय, राधावल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधारा का विवेचन कर सकेंगे, तथा
- हिन्दी भक्ति काव्य और समग्र भारतीय समाज को एक दिशा, दृष्टि एवं प्रेरणा देने वाले इन दार्शनिक सम्प्रदायों के योगदान को समझा सकेंगे।

## 9.1 प्रस्तावना

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का "स्वर्णयुग" कहलाता है। एक साथ बहुत सी काव्य-धाराओं और विविध दर्शनों से समृद्ध इस युग की पृष्ठभूमि अपनी चारूता के कारण ही

विश्व-विमोहक भी सिद्ध होती हैं। यों इस युग को सगुण-निर्गुण आदि खंडों में विभक्त भी किया जाता है किन्तु मूलतः विद्यमान रहने वाले 'जीवन-दर्शन' में भारतीय मन मस्तिष्क की वह उपज है जो समग्र विश्व चेतना को स्पष्ट और रूपायित करती है। यों भी इतिहास साक्षी है कि साहित्य किसी न किसी प्रेरक एवं मार्ग दर्शक विचारधारा से अनुप्राणित ही रहता है। उसके मूल में दर्शन की एक ठोस पृष्ठभूमि रहती है जो कि केवल दर्शन न होकर उसकी उत्प्रेरणा होती है। भक्तिकाल के सगुण-निर्गुण साहित्य में भी दार्शनिक तत्ववाद की कलात्मक संगति को देखा जा सकता है।

भक्तिकालीन हिंदी काव्य के मूल में जो दर्शन निहित है उसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण है। यही सामंजस्य, युगीन-धर्म को एक सजीव दिशा प्रदान करता है। निर्गुण काव्य धारा के अन्तर्गत कबीर आदि संतों की परंपरा हो या प्रेममार्गी सूफ़ी कविता का विकास, कृष्ण काव्य धारा हो या रामकाव्य धारा, सभी में इसे देखा जा सकता है। इस युग में ही हमें तुलसी, सूर, कबीर और जायसी जैसे चिंतक एवं विचारक कवि मिलते हैं। इनमें कवि और दार्शनिक का जो सामंजस्य है, वही साहित्य की धारा के लिए राह निर्मित करता है। इस युग के इन चारों प्रवर्तक कवियों ने जिन काव्य धाराओं का सूत्रपात किया उनका अध्ययन आप पिछली दो इकाइयों में कर चुके हैं। भक्ति कालीन साहित्य के निर्माण में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका युगीन परिस्थितियों ने निभाई है उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि की भी रही है। भक्तिकाल की परिस्थितियों और साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण पिछली दो इकाइयों में विस्तार से किया जा चुका है। इस इकाई में इस युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए यह विवेचित किया गया है कि दर्शन की अलग-अलग धाराएँ तथा विविध मतवाद कैसे कवियों और साहित्य धाराओं को अपनी मूल्य चेतना तथा प्राणदा शक्ति से प्रभावित कर रहे थे। इस युग का जीवन दर्शन क्या था तथा युगीन साहित्यकार की उसके निर्माण या विकास में क्या भूमिका थी। उस दार्शनिक मतवाद की विविधिता ने कैसे तथा किस रूप में साहित्यकारों को प्रेरित-प्रभावित किया। उन सिद्धांतों या विचारधाराओं का मूल्य एवं कथ्य क्या था? इन सभी प्रश्नों का विश्लेषण इस इकाई में किया जा रहा है। आइये, सर्वप्रथम भक्ति के विविध रूप तथा उसके प्रमुख पक्षों पर दृष्टि डालें।

## 9.2 भक्ति, धर्म और दर्शन

भारतीय तत्व चिन्तन में भक्ति को ईश्वर की उपासना, आराधना, पूजा, सेवा आदि के मूल में स्थित प्रेरक भाव माना गया है। मनुष्य अपनी सीमित शक्ति से इस विश्व का निर्माण, पालन और विध्वंस नहीं कर सकता अतः उसका ध्यान एक ऐसी विराट शक्ति की ओर जाता है जो इस दृश्यमान जगत के जन्म, स्थिति और संहार का कारण है। उस शक्ति को दार्शनिकों ने ब्रह्म शब्द से व्यवहृत किया है। यह ब्रह्म अपरिवर्तनीय, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान है। इसकी भक्ति का विधान ही ईश्वर भक्ति है। इस ईश्वर के अनेक नाम हैं किन्तु वास्तव में वह एक ही है। इस ईश्वर भक्ति के विधान भी अनेक हैं। भक्ति के विधान ही धर्मों की सृष्टि के कारण बनते हैं। कोई ईश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान मानकर निराकार, निर्गुण रूप में व्यक्त करते हैं। कोई उसे सगुण-साकार और अवतारी मानकर पूजते हैं। इसी बिन्दु से धर्मों में भेद उत्पन्न हो जाता है। धर्म के साथ दर्शनों में भी ईश्वरीय सत्ता के स्वरूप भेद से दर्शन भेद होता है। भक्ति के मूल में ईश्वर है और ईश्वर-भक्ति से धर्मों का उदय तथा विभिन्न विचार-धाराओं के दर्शनों का प्रचलन होता है।

भारतीय धर्म साधनाओं में भक्ति के विविध रूप लक्षित होते हैं। प्रत्येक धर्म के ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण अपनी-अपनी मान्यताओं के आधार पर किया गया है। भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। ऋग्वेद में जिस भक्ति का वर्णन है उसे विद्वानों ने अपनी विचारधारा के अनुकूल बनाकर भक्ति का विधान किया है। निर्गुण-सगुण, दोनों प्रकार से ईश्वर भक्ति का विधान वैदिक काल से ही चला आ रहा है। पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक भक्ति का अध्ययन न करने के कारण भारतीय भक्ति-पद्धति को विदेशी धर्मों के प्रभाव में वर्णित किया है जो उनके अज्ञान का परिचायक है। वस्तुतः भारत में वैदिक काल से ही भक्ति के विविध रूप विकसित होते रहे हैं। वे ही हिन्दी साहित्य में भी पूरे विस्तृत परिवेश में पाये जाते हैं।

## 9.3 भक्ति के विविध रूप

हिन्दी साहित्य में भक्ति के विविध रूप लक्षित किये जा सकते हैं। यदि प्राकृत और अपभ्रंश कालीन साहित्य पर दृष्टिात किया जाय तो इसमें निर्गण निराकार ब्रहम के वर्णन के साथ इस

संसार को मिथ्या और क्षण भंगुर कहा गया है। सांसारिक सुख योग एवं ऐश्वर्य की अपेक्षा वैराग्य और अपरिग्रह को उत्तम ठहराया गया है। अपभ्रंश साहित्य मुख्य रूप से जैन और सिद्ध कवियों द्वारा रचा गया। स्वयंभू का पउमचरिउ, पुष्पदन्त का महापुराण, धनपाल का भविसयत्त कहा आदि महाकाव्य और कनकामर का करकंउचरिउ नामक खंड काव्य उल्लेखनीय है। इन कवियों में दार्शनिक विचारधारा को प्रमुख स्थान न देकर कथानक को ही ध्येय बनाया गया है। सिद्ध साहित्य प्रवृत्ति मूलक है और नाथ साहित्य में संसार की क्षणभंगुरता और इन्द्रिय निग्रह का प्रतिपादन किया गया है। गोरखनाथ ने अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए योगाभ्यास पर बल दिया है। दार्शनिक विचारों का शास्त्र सम्मत वर्णन सिद्ध और नाथ साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। हाँ, सांप्रदायिक भावना से अपने पंथ का उल्लेख अवश्य स्थान-स्थान पर किया है। सिद्धों और नाथों की भक्ति में योग और कर्मकांड की प्रधानता है। अतः इनकी भक्ति को दार्शनिक दृष्टि से परखना आवश्यक नहीं है।

## 9.3.1 भक्ति के प्रमुख पक्ष

भक्ति के क्षेत्र में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, सृष्टिपालक और सृष्टि संहारक के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी कारण उसके तीन रूप भारतीय भक्ति साधना में स्वीकृत हैं। ब्रहमा, विष्णु, महेश इन तीन नामों से उसकी भक्ति की जाती है। सृष्टि रचयिता ब्रहमा की उपासना की ओर भक्तों का ध्यान अपेक्षाकृत कम ही जाता है। सृष्टि पालक विष्णु की अनेक रूपों और नामों से उपासना या भक्ति की जाती है। शिव की भक्ति भी अनेक रूपों में प्रचलित है। विष्णु की उपासना करने वाले भक्त वैष्णव और शिव की उपासना करने वाले भक्त शैव कहलाते हैं। इन दोनों रूपों का सम्मिलित रूप शक्ति है। शक्ति के भी अनेक रूप और नाम हैं और शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त कहाते हैं। इस प्रकार भारतीय भक्ति-क्षेत्र में भक्ति के अनेक रूप होने से अनेक संप्रदाय, पंथ या मत प्रचलित हैं। शैव और शाक्त परंपरा का हिन्दी भक्ति साहित्य में वैसा रूप दिखाई नहीं देता जैसा वैष्णव भक्ति का है। वैष्णव भक्ति के अनेक रूप देखने को मिलते हैं।

## 9.3.2 निर्गुण संतकाव्य धारा का दार्शनिक आधार

ईश्वर को निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वभाव मानने वाले भक्त निर्गुणोपासक कहाते हैं। निर्गुण ब्रहम का कोई विग्रह (शरीर) नहीं होता। वह पृथ्वी पर शरीरधारी बनकर अवतार नहीं लेता। वह सर्वव्यापक होने से चराचर जगत में व्याप्त रहता है और उसकी भक्ति आराधना या उपासना के लिए किसी धातु, पत्थर, लकड़ी या चित्र के रूप में मूर्ति नहीं बनाई जाती। वह अमूर्त रूप में कण-कण में व्याप्त रहने वाला सर्वशक्तिमान ईश्वर है अतः उसकी शक्ति के लिए बाह्य कर्मकांड की आवश्यकता नहीं है। राम, कृष्ण, लक्ष्मी, सीता, दुर्गा, गणेश, शिव, काली या पार्वती आदि की प्रतिमा बनाकर पूजना निर्गुणोपासना में निषिद्ध है। मूर्ति पूजा का निषेध इसीलिए किया जाता है ताकि ईश्वर की सर्वव्यापकता और सार्वभौम-शक्तिमत्ता खंडित न हो।

निर्गुण धारा के हिन्दी कवियों में कबीर, नानक, रैदास, मलूक दास, दादू दयाल, सुन्दरदास आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। कबीर ने निर्गुण भक्ति के प्रवाह को अपनी वाणी से जो तेज गति प्रदान की वह उन्हें हिन्दी निर्गुण काव्यधारा का प्रवर्तक बनने में सहायक हुई। निर्गुणधारा के कवियों ने किसी मतवाद या शास्त्र विशेष को अपने लिए प्रमाण नहीं माना। यदि इनके भक्ति विषयक सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का आकलन करना हो तो शंकराचार्य के अद्वैतवाद के मेल में इन्हें देखा-परखा जा सकता है। व्यावहारिक पक्ष में नाथों और सिद्धों की योग साधना तथा रहस्य भावना का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। कुछ विद्वान एकेश्वरवाद पर (सूफी) इस्लाम का प्रभाव भी मानते हैं, वैष्णव भक्ति का प्रपत्तिवाद और रामानन्द का विशिष्टाद्वैतवाद भी इनकी रचनाओं में पाया जाता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि निर्गुणधारा के संत कवि किसी एक दार्शनिक मतवाद से बँधे न होकर स्वानुभव के आधार पर उन्हें जो सत्य प्रतीत होता उसी को स्वीकार करते हैं।

निर्गुण कवियों ने भी प्रत्येक व्यक्ति की तरह यही महसूस किया कि जगत का सृष्टिकर्त्ता एवं सूत्रधार ईश्वर ही है। वही इस अनन्त जगत में असंख्य व्यक्तियों (जीवों) का पालन पोषण करता है। वही ईश्वर समान-भाव से प्रत्येक जीव में व्याप्त है और फिर भी प्रत्येक व्यक्ति का जीवन नितान्त मौलिक है। यही सब गतिविधियाँ और घटना चक्र मिलकर संत कवियों को एक दृष्टि विशेष प्रदान करते हैं। इसलिए ये निर्गुण संत कवि ब्रहम, माया, जीव और जगत तथा मोक्ष के संदर्भ में अपना एक खास नजरिया बनाते दिखाई पड़ते हैं। इनकी इस दार्शनिक सोच में ब्रहम, जीव, माया आदि तत्वों का क्या स्वरूप उभरता है, इस पर भी दृष्टि डाल लेना उचित है।

**ब्रह्म**

निर्गुण धारा के संत कवियों ने ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि आध्यात्मिक विषयों पर बहुत विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। यह ठीक है कि इनकी वाणी अटपटी, रहस्यमयी और अस्पष्ट है किन्तु जिस तत्व का वर्णन किया गया है वह पूर्णत : बोधगम्य न होने पर भी वर्ण्य विषय पर सांकेतिक रूप से प्रकाश अवश्य डालता है। ब्रह्म के विषय में कबीर का मन वही है जो निर्गुण भक्ति में ग्राह्य हो सकता है। ब्रह्म भी ईश्वर, नित्य सुख स्वरूप, अरूप, अव्यक्त, अनाम, अजर, अमर और सर्वव्यापक है। निराकार तो वह है ही निर्भय और दृष्टि से अदृश्य भी रहता है।

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुनि अस्थूल रूप नहि रेखा, दिष्ट अदिष्ट छिप्यो नहीं रेखा।
—कबीर

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जग मगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदगी, जहाँ पाप पुन्नि नहीं होति।।
—कबीर

जब पूरन ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिए, तो नाना वरण अनेक।
—दादू दयाल

ब्रह्म निर्गह, निरामय, निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखण्डित है अघ ऊपर बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै।
—सुन्दरदास

**माया**

निर्गुण धारा के भक्तों ने माया शब्द का प्रयोग वेदान्त मतानुसार तथा अपने चिन्तन के अनुसार अनेक अर्थों में किया है। माया और अविद्या में शंकराचार्य के मन में भेद नहीं है। मिथ्या ज्ञान ही माया है। शुक्ति में रजत का ज्ञान, रस्सी में सर्प का ज्ञान, मिथ्या ज्ञान है और ये माया द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। कबीर ने इस माया को कई रूपों में वर्णित किया है। माया को शक्ति रूपी भी माना गया है। सृष्टि का अनादि कारण भी ठहराया है। सांसारिक संबंधों की जननी माया है। मनुष्य भ्रमवश सांसारिक संबंधों में फँस यह समझता है "मैं यह काम कर रहा हूँ, यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, भाई है, घर-परिवार है। वास्तव में यह सब माया वश ही होता है।

"मा" का अर्थ है नहीं और "या" का अर्थ है जो, अर्थात जो नहीं है वही माया है। इसीलिए ये माया महाठगिनी हम जानी" का उद्घोष भी करते दिखाई देते हैं। यही अविद्या या ज्ञान विरोधिनी कहलाती है। कबीर इसीलिए कहते भी हैं—

"कबीर माया मोहनी जैसे मीठी खांड"।

**जीव और जगत**

जीव और जगत के संबंध में निर्गुण मार्गी भक्तों के विचार अद्वैतवाद के मेल में है। जीव को ब्रह्म का अंश मानकर कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि समस्त जीवात्मा एक ही है किन्तु अपने रूपाकार में ये हमें पृथक-पृथक दिखाई देते हैं। जैसे जल को यदि अनेक पात्रों में रखा जाय तो उनमें रूपाकार के कारण नाम भेद होगा। कलश का जल, गिलास का जल, घड़े का जल, लोटे का जल आदि व्यवहार होता है किन्तु जल तो एक ही है और समान है। स्वर्ण का उदाहरण देकर इस अभेद को दर्शाया गया है। स्वर्ण से नाना प्रकार के आभूषण बनते हैं किन्तु मूलत: स्वर्ण तो एक ही पदार्थ है उसमें रूप भेद होने पर भी पार्थक्य नहीं होता। जीवों में भेद होने पर भी जीवात्मा एक ही है और ब्रह्म की अंश हैं—

पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कह्या न जाय।।

अपनी दार्शनिक विचारधारा में कबीर आदि संत अद्वैतवाद के समर्थक रहे हैं, यही कारण है कि वे आत्मा और परमात्मा की एकता स्वीकारते हैं। वे कहते हैं कि जीवात्मा में परमात्मा पूर्णरूप से विद्यमान है। तभी तो आत्मा-परमात्मा के संबंध को स्पष्ट करते हुए वे कहते भी हैं—

जल में कुंभ-कुंभ में जल है, बाहिर भीतर पानी,
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यह तथ कह्यों ग्यानी।

इसी आधार पर वे कनक-कुण्डल न्याय की चर्चा करते हुए दृश्य जगत की उत्पत्ति ब्रह्म से ही मानते हैं। नष्ट होने पर यह दश्य जगत उसी ब्रह्म में समा जाता है—

जैसे बहुकंचन के भूषन, पै कहि गालि तवावहिंगे,
ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहि माहि समावहिंगे।

*  *  *  *

जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावहिंगे,
कहैं कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे।

जगत प्रकृतिजन्य, दृश्यमान तत्व है जो नाशवान है। जगत का नियन्ता ईश्वर है और ईश्वराधीन होने से जगत में जो परिवर्तन होते हैं वे अनित्य हैं। जीवन और जगत के वर्णन में क्षणभंगुरता को निर्गुणभक्तों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। जीवात्मा को ब्रह्म से मिलने के लिए उपासना, आराधना और भक्ति की आवश्यकता है। बिना भक्ति के जगत के सांसारिक बंधन नहीं कटते अतः भक्ति को साध्य और साधन दोनों में ग्रहण करना चाहिए।

**बंधन मुक्ति का मार्ग**

निर्गुणधारा के भक्तों ने इस संसार के बंधनों से मुक्ति के लिए वैराग्य को प्रमुख स्थान दिया है। वैराग्य शब्द से तात्पर्य है जगत के समस्त रागात्मक संबंध तथा पदार्थों से अपने की सर्वथा पृथक कर लेना वैराग्य के लिए मनोनिग्रह परमावश्यक है। इस शरीर को कागज की नाव मानकर कबीर ने इसका सुन्दर चित्र अंकित किया है। यह शरीर तो कागज की नाव है। संसार सागर में शरीर नौका तैर रही है। पाँच कुसंगी साथ में हैं और इनसे बचना कठिन है :

कागद केरी नाव री पाणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसे तिरूँ पँच कुसंगी संग।।

निर्गुणोपासकों ने बंधन-मुक्ति के लिए गुरु कृपा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय।

–कबीर

सद्गुरु की कृपा के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः प्रत्येक मनुष्य को सद्गुरु की खोज करके उनकी कृपा से बंधन-मोक्ष पाना चाहिए। किसी शास्त्र का अनुसरण इन भक्तों का अभीष्ट नहीं था। सद्गुरु के बाद स्वानुभूत ज्ञान ही इनका पथ प्रदर्शक था। जो अनुभूत सत्य होता है वही सच्चा ज्ञान है। पोथी-पुस्तक पढ़कर ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बहुश्रुत होने के कारण जो ज्ञानियों, विद्वानों और संतों से सुना उसे अपने अनुभव की कसौटी पर परखकर इन्होंने देखा और जो ठीक लगा उसे अपनी अटपटी वाणी में प्रकट कर दिया। योग और रहस्यवादी बातें भी इनकी रचनाओं में मिलती हैं जो बहुत अस्पष्ट है। इसका कारण यही है कि इन भक्तों ने न तो योगदर्शन पढ़ा था और न रहस्यवाद का मर्म किसी पंडित से जाना था। अपने विवेक से ही इन्होंने सब कुछ अर्जित किया था। इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों का वर्णन भी इनकी रचनाओं में मिलता है। यह वर्णन संभवतः नाथों और सिद्धों क परम्परा से इन्हें प्राप्त हुआ हो।

## 9.3.3 प्रेममार्गी सूफ़ी काव्य धारा का दार्शनिक आधार

सूफी संत इस्लाम धर्मावलम्बी थे सांसारिक वैराग्य और अपरिग्रह के साथ ईश्वर की उपासना इनका जीवन ध्येय था। इनकी भक्ति भावना में रागात्मक तत्व का प्राधान्य है। प्रेम की पीर का आलम्बन है। सूफ़ियों के इस ईश्वर प्रेम को इश्क-मज़ाजी कहते हैं। इसलिए सूफ़ियों के प्रेमाख्यानक काव्य भक्ति काव्य न होकर प्रेमकाव्य ही रह जाते हैं। जायसी ने पद्मावत नाम से जो महाकाव्य लिखा वह रतनसेन और पद्मावती के लौकिक प्रेम की कहानी है। जायसी ने अन्त में उसे रूपक बनाकर अध्यात्म का बाना पहना दिया है। सूफ़ी धारा के अन्य कवि इस दिशा में आध्यात्मिक नहीं बने और उन्होंने लोक कथाओं को प्रेम के गहरे रंग में रंगकर आख्यान लिखे हैं। कुतबन, मंझन आदि के प्रेमाख्यानों में इश्क मजाजी तत्व नहीं है। यदि भक्ति काव्य की दृष्टि से सूफी संतों के प्रेमाख्यानों पर विचार किया जाए तो उन्हें हम निर्गुण या सगुण भक्त कवियों की श्रेणी में नहीं रख सकते। उनकी भक्ति का आधार प्रेम है जो दिव्य या आध्यात्मिक न होकर लौकिक ही ठहरता है। अतः उन्हें प्रेममार्गी संत कहा जाता है। जायसी ने पदमावत में जिस लोक कथा द्वारा प्रेमाख्यान प्रस्तुत किया है वह भी लौकिक ही रहती यदि अन्योक्ति या रूपक मानकर उसे अध्यात्मपरक सिद्ध न किया जाता। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में पुरुष (नायक) का स्थान जीवात्मा का है और नायिका का स्थान ईश्वर का है। यह भारतीय भक्ति भावना के मेल में नहीं है। राजा रतनसेन (नायक)पद्मावती को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है ठीक वैसे ही जैसे कोई भक्त अपने

आराध्य ईश्वर को पाने का प्रयास करता है। उसके मार्ग में आने वाली माया तथा सांसारिक बंधन आदि सभी बाधाओं का रूपक भी सूफी कवियों ने प्रस्तुत किया है–

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।
चौदह भवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घर माही।।
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धन्धा। बांचा कोई न एहि चित बन्धा
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जो तो बूझे पारहु।

## 9.3.4 भक्तिमार्ग में ईश्वर की सत्ता : ऐकेश्वरवाद

भक्ति मार्ग में ईश्वर को निर्गुण और सगुण दो रूपों में स्वीकार किया गया है। निर्गुण मार्ग की भक्ति का प्रतिपादन कबीर आदि के संदर्भ में किया जा चुका है। निर्गुणोपासक ऐकेश्वरवादी हैं और उनके मत में निराकार ईश्वर की उपासना का विधान है। अतः विष्णु, शिव, पार्वती, शक्ति, लक्ष्मी आदि के रूपाकार प्रतीकों की स्वीकृति नहीं है। राम, कृष्ण, विट्ठल आदि की पूजा-अर्चा भी नहीं होती। कोई व्यक्ति या विग्रह ईश्वर स्थानीय नहीं है। अतः मूर्ति पूजा के लिए इस मार्ग में कोई अवकाश नहीं है। अजर, अमर, नित्य, पवित्र शक्ति को ईश्वर नाम से पुकारते हैं और उसी की भक्ति की जाती है। इसी भक्ति को ऐकेश्वरवाद की आराधना कहते हैं। इस्लाम धर्म में भी ऐकेश्वरवाद की स्वीकृति है, खुदा या अल्लाह की कोई रूपाकृति नहीं होती। वह अपनी असीम सामर्थ्य से सकल विश्व का लालन-पालन करता है। अतः इस्लाम धर्म भी ऐकेश्वरवादी है।

## 9.3.5 सगुण काव्य धारा का दार्शनिक आधार

सगुण भक्ति के मार्ग में ईश्वर को विष्णु के अवतार रामचन्द्र और श्रीकृष्ण के रूप में पूजा-अर्चा का विधान है। उपास्य देव के विग्रह (शरीर) का भेद होने से भक्ति मार्ग में भेद हो जाता है और ऐकेश्वरवाद की कल्पना पर आघात पहुँचता है। शिव के उपासक अपने सम्प्रदाय को शैव और शक्ति के उपासक अपने मत को शाक्तमत के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार ऐकेश्वरवाद की अवधारणा खंडित होती है और ईश्वरीय शक्ति के विविध नाम और रूप सामने आते हैं। मूर्ति पूजा के क्षेत्र में इसका विपुल विस्तार होता है और देवी-देवताओं के अनेक नाम आने से ऐकेश्वरवाद का वह रूप नहीं रह पाता जो निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। मूलतः विष्णु या शिव ईश्वर के ही रूप हैं किन्तु भक्ति मार्ग में उसका रूप बदल जाता है।

सगुण भक्ति मार्ग में नवधा भक्ति को विशेष महत्व दिया जाता है। नवधा भक्ति में ईश्वर की नौ प्रकार से पूजा-अर्चा का विधान है। श्रवण, कीर्तन, अर्चन, पादसेवन, दास्य, स्मरण, वन्दन, सख्य और आत्म निवेदन नवधा भक्ति में परिगणित किए जाते हैं। सूरदास आदि सगुणभक्तों ने माधुर्यभाव की भक्ति में मधुर-भक्ति को भी जोड़ लिया है। इसे प्रेमाभक्ति भी कहते हैं। भक्ति का यह वर्णन भागवत पुराण से ही ग्रहण किया गया है। वैधी भक्ति शीर्षक से भागवत पुराण में जिस भक्ति का वर्णन है सूर ने उसे स्वीकार नहीं किया वरन् साधारण भक्ति को ही प्रश्रय दिया। सगुण भक्ति का उपजीव्य ग्रंथ भागवत पुराण है। इसी पुराण से कृष्ण कथा और कृष्ण लीलाओं का चयन कर कृष्ण भक्त कवियों ने अपनी वाणी का विस्तार किया है। भागवत पुराण को सगुणोपासक पंचम वेद मानकर उसका पारायण करते हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं के विविध रूप भागवत पुराण में ही वर्णित हैं उन्हीं को आधार बनाकर कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भक्त कवियों ने गाया है। सूरदास का ग्रंथ सूरसागर तो भागवत पुराण पर ही आश्रित है। दशमस्कन्ध की विषय-वस्तु को सूरदास ने सूर सागर में सर्वोच्च स्थान दिया है। इस संबंध में स्वयं सूरदास भी यही कहते हैं–

श्रीमुख चारि स्लोक दस ब्रह्म कौं, समुझाइ।
ब्रहम् नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुखदेव सौं, द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।।

**बोध प्रश्न 1**

1 निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो-दो पंक्तियों में दीजिए–

i) भक्ति का मूल प्रेरक भाव क्या है?

.....

ii) भक्ति के प्रमुख पक्ष कौन-कौन से हैं?

.....

.....

iii) भारत में भक्ति का प्रचार कब से स्वीकार किया जाता है?

.....

.....

iv) प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में ब्रह्म का वर्णन किस रूप में किया गया है।

.....

.....

v) संसार के विषय में नाथ साहित्य का क्या दृष्टिकोण हैं?

.....

.....

vi) भारतीय साहित्य में भक्ति के कितने प्रमुख सम्प्रदाय हैं?

.....

.....

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर "हाँ या "नहीं" में दीजिए–

i) क्या शंकराचार्य के अद्वैतवाद का निर्गुण भक्तों पर प्रभाव था? ( )

ii) क्या निर्गुण भक्त कवि शास्त्रवेता थे? ( )

iii) क्या संसार के बंधन से मुक्ति का मार्ग केवल ईश्वर भक्ति है? ( )

iv) प्रेममार्गी सूफी काव्य धारा के कवियों में रागात्मक प्रेम तत्व की प्रधानता थीं। ( )

v) सूफी साधना के नायक परमात्मा और नायिका जीवात्मा के प्रतीक हैं? ( )

नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर पाँच-पाँच पंक्तियों में दीजिए–

i) भक्ति, धर्म और दर्शन में क्या संबंध हैं

.....

.....

.....

.....

.....

ii) निर्गुण संत काव्य धारा के दार्शनिक आधार में जीव और जगत का क्या स्वरूप है?

.....

.....

.....

.....

.....

iii) निर्गुण संत काव्य धारा के दार्शनिक आधार में ब्रह्म और माया की क्या स्थिति है?

.....

.....

.....

.....

iv) ऐकेश्वरवाद क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

v) सगुण काव्य धारा का दार्शनिक आधार क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

## 9.4 दार्शनिक मतवाद

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल दार्शनिक-पृष्ठभूमि की विविधता एवं गरिष्ठता के कारण ही स्वर्णकाल कहलाया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद ने वैदिक धर्म में जो क्रांति पैदा कीं, उसने अन्य कई आचार्यों को भी इस दिशा में प्रेरित किया। परिमाणतः शंकर के मायावाद का विरोध हुआ और कई वैष्णवाचार्यों ने अलग-अलग दार्शनिक मतवादों की स्थापना की। अतः यहाँ सर्वप्रथम शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा तदोपरान्त अन्य दार्शनिक मतवादों का विश्लेषण कर लेना भी अनुचित न होगा। भक्तिकाल की दार्शनिक पृष्ठभूमि को सुदृढ़, सामर्थ्यवान एवं गंभीर बनाने में इन मतवादों की अद्भुत भूमिका रही है। इन मतवादो के विश्लेषण के बाद आप तीन अन्य संप्रदायों का विवेचन भी करेंगे। इन संप्रदायों का दार्शनिक प्रदेय भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है।

### 9.4.1 अद्वैतवाद

शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद का सिद्धांत समस्त विश्व में एक ब्रह्म की सत्ता में विश्वास करता है। ब्रह्म को एक मात्र सत्य मानने से अन्य तत्वों या पदार्थों की सत्ता मिथ्या हो जाती है। ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या द्वारा इस सिद्धांत का शंकराचार्य ने प्रतिपादन किया है। जीव को ब्रह्म से पृथक नहीं माना जाता, "ब्रह्माजीवैवनापरः" कहकर यह स्पष्ट किया गया है। जीवात्मा भी ब्रह्म का ही रूप है किन्तु अविद्या या माया के कारण जीव अपने को ब्रह्म से पृथक मानता है। जब यह माया का, अज्ञान या अविद्या का भ्रम दूर हो जाता है तब ब्रह्म और जीव एक हो जाते हैं। अहं ब्रहमास्मि का बोध होने पर पार्थक्य नष्ट होकर जीव और ब्रह्म के बीच ऐक्य की स्थापना होती है। जगत के सकल पदार्थ सर्वं खुल इंद ब्रह्म की प्रतीति होती है। शंकराचार्य ने इस सिद्धांत की स्थापना कर इसे अद्वैतवाद शब्द से व्यवहृत किया है। इस अद्वैत भाव की प्राप्ति का साधन ज्ञान है।

भक्ति मार्ग में इस सिद्धांत को इसलिए स्वीकार नहीं किया गया कि भक्ति के लिए दो तत्वों की आवश्यकता है। एक भक्त रूप में और दूसरा तत्व भगवान रूप में होना चाहिए। यदि एक ब्रह्म की ही सत्ता में विश्वास होगा तो भक्त को अपना अस्तित्व मिटाना होगा। भक्ति मार्ग में यह संभव नहीं है अतः दो तत्वों का अस्तित्व अनिवार्य है। यही कारण है कि भक्ति मार्ग के आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया उसमें अपनी भक्ति भावना के कारण परिवर्तन किया है।

### 9.4.2 विशिष्टाद्वैतवाद

श्री रामानुजाचार्य रामभक्ति के उन्नायकों में प्रमुख हैं। राम को अपना आराध्य देव बनाकर इन्होंने वैष्णवभक्ति का दक्षिण भारत में प्रचार किया। विष्णु के अवतारों में इन्होंने रामचन्द्र (दशरथ पुत्र) को सर्वोपरि मानकर उसकी उपासना का मार्ग प्रशस्त किया। रामानुज का जन्म सन् 1016 ई० में मद्रास के निकट तेरूकुंदर गाँव में हुआ था। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के

अद्वैतवाद से अपना विरोध प्रकट करते हुए विशिष्टाद्वैत मत का प्रवर्तन किया। इनके मत में ब्रह्म सगुण और सविशेष है। उनका ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन विशिष्ट रूपधारी ही ज्ञान का विषय है। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वह पाँच रूप धारण करता है। ईश्वर और जीव का "शेष शेषीभाव" संबंध है। जीव शेष है, ईश्वर शेषी अर्थात् स्वामी है। ईश्वर की सेवा-पूजा, दासत्व स्वीकार कर ही जीव मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। ज्ञान मुक्ति का साधन नहीं है, भक्ति से ही परमात्मा प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। रामानुज ने अपने दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए ब्रह्म सूत्रों पर "श्रीभाष्य" लिखा। इस श्री नाम से इनके संप्रदाय को जाना जाता है। जीव और ईश्वर के संबंध को विशिष्ट रूप में स्वीकार करने से इनका दार्शनिक सिद्धांत विशिष्टाद्वैत" कहलाता है।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धांत से प्रभावित होकर उत्तर भारत में काशी वासी रामानन्द ने अपनी भक्ति में इनके दर्शन को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर लक्षित किया जा सकता है। रामानन्द ने अपना संप्रदाय चलाने के लिए राम की पूजा अर्चना की विधि में भी परिवर्तन किया। अपना दीक्षा मंत्र भी नया बनाया। तिलक और वेशभूषा में भी नवीनता को स्थान दिया। इन सब परिवर्तनों से रामानन्दी संप्रदाय उत्तर भारत में फैल गया। सबसे बड़ी विशेषता है कि रामानन्द ने अपनी शिष्य परंपरा में जाति-वर्ग विहीन शिष्यों को स्थान दिया। जिन्हें दलित या निम्न कहा जाता था, उस वर्ग के कई शिष्य रामानन्द की मंडली में थे। नारी को शिष्यत्व की दीक्षा देने वाले भी रामानन्द ही थे। यह एक क्रांतिकारी कदम था जो उस समय से रूढ़िवादी समाज के लिए नयी चुनौती बनकर आया था। हिन्दी के भक्त कवि कबीर निर्गुण विचारधारा के होने पर भी रामानन्द के शिष्य थे और गोस्वामी तुलसीदास सगुणोपासक होने पर भी रामानन्द के सिद्धांतों में शंकराचार्य और रामानुजाचार्य से साम्य रखते थे किन्तु रामानन्दी विचारधारा से भी उनका गहरा परिचय था।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस और विनय पत्रिका में अपने दार्शनिक सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन किया है। ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में वर्णन करने के कारण यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि तुलसी के आराध्यदेव सगुण है या निर्गुण क्योंकि तुलसी दोनों को अभेद मानते हैं :

सगुनहि, अगुनहि नहिं कुछ भेदा। गावहि श्रुति पुरान बुध वेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवस सगुण सो होई।।

इस प्रकार अनेक उक्तियाँ उनके ग्रंथों में मिलती हैं किन्तु मूलतः उनके आराध्य राम सगुण ही हैं। गोस्वामी जी ने राम नाम की महिमा गान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—अगुन सगुन दुह ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।

मोरे मत बड़नाम दुहूँ ते। किए जेंहि जुग निजवस निज बूते।।

राम नाम की यह महिमा उनके राम को सगुन रूप में ही स्वीकार करती है। तुलसी यह मानते हैं कि राम नाम ने असंख्य प्राणियों का कल्याण किया है। यह विचार रामानन्द के मेल में है।

माया के संबंध में गोस्वामी तुलसी दास ने लिखा है कि ईश्वर और माया का संबंध पति-पत्नी का सा है। राम मायापति हैं और माया उनकी शक्ति है। भक्ति को तुलसी ने राम प्यारी और माया को नर्तकी कहा है। माया पर विजय पाना दुष्कर है किन्तु राम की भक्ति और राम कृपा से विजय प्राप्त की जा सकती है।

जीव के संबंध में तुलसी का मत है कि जीव ईश्वर का अंश है, जीव ईश्वर के अधीन है, जीव अनेक हैं किन्तु ईश्वर एक है अतएव जीव का ईश्वर से तादात्मय नहीं हो सकता। यह मत शंकराचार्य से भिन्न है। ईश्वर से विमुख होकर जीव, काल, कर्म और स्वभाव के वश होकर भटकता रहता है। जीव को चाहिए कि वह जगत के भौतिक बंधनों को दूर कर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो। यह प्रयत्न भक्ति साधना ही है। बिना भगवद् भक्ति के मोक्ष इसी प्रकार असंभव है जैसे निराधार जल की स्थिति होती है। भक्ति का महत्व प्रतिपादित करने पर भी तुलसी दास ने ज्ञान के महत्व को कम नहीं किया है। उन्होंने मानस में कहा है कि बिना ज्ञान के राम भक्ति अपूर्ण है। इस प्रकार भक्ति और ज्ञान को मोक्ष मार्ग के लिए आवश्यक माना है।

## 9.4.3 शुद्धाद्वैतवाद

सगुणभक्ति संप्रदायों में श्री कृष्ण की भक्ति को अष्टमाम सेवा-पूजा आदि के साथ व्यापक आयाम प्रदान करने में वल्लभाचार्य का सबसे अधिक योगदान है। उन्होंने हिन्दी में किसी ग्रंथ की रचना नहीं की। वल्लभाचार्य के पूर्वज आंध्र प्रदेश के निवासी थे किन्तु दो पीढ़ी पहले वे काशी में

आकर बस गये थे। वल्लभाचार्य के घर में श्री कृष्ण की पूजा-अर्चा होती थी। मुगलों के शासन काल में उपद्रवों के भय से इनके पिता लक्ष्मण यह काशी छोड़कर सपत्नीक पैदल ही चल पड़े थे। चम्पारण (मध्य प्रदेश) पहुँचने पर वल्लभाचार्य का जन्म हुआ।वल्लभाचार्य का जन्म सन् 1479 में हुआ था।

वल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत से भिन्न शुद्धाद्वैत सिद्धांत नाम से की। इनके मत में ब्रह्म नितान्त शुद्ध है। माया से अलिप्त है। जीव नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जीव तीन तरह के हैं, शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। जड़ जगत् उत्पन्न नहीं होता, जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप है, वह व्यापक है, नाश रहित और सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ है। वह संपूर्ण जगत का आधारभूत है। जो ब्रह्म मन और वाणी से परे है वह योग के ध्यान से, शुद्ध भाव से तथा अपनी इच्छा भाव से गम्य और गोचर भी हो जाता है। ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति है। इसी शक्ति से वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है। शुद्धाद्वैत मत में जीव और जगत को ईश्वर का अंश मानकर सत्य माना गया है। वल्लभ संप्रदाय के अनुसार श्री कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, परब्रह्म, रसरूप हैं। धर्म संस्थापन के लिए भगवान श्री कृष्ण का अवतार होता है। श्री कृष्ण की विविध लीलाएँ ब्रज में, कुरुक्षेत्र में तथा द्वारका में होती हैं। रसरूप कृष्णनन्द नन्दन तथा यशोदा के आँगन में क्रीड़ा करते हैं। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने बाल लीलाओं का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया है।

जीव का अस्तित्व अंश रूप में है और ब्रह्म अंशी है। जीव में से भगवान के छह गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) जब तिरोहित हो जाते हैं तब बंध होता है। जीव भ्रम में बंधकर संसार चक्र में घूमता है। जीव अणुमात्र है और उसका तेज अल्प सामर्थ्यवान् है। शुद्धाद्वैत मत में जैसे ब्रह्म सत्य है वैसे ही अंश जीव भी सत्य है और अंश-अंशीभाव से जीव और ब्रह्म की अद्वैतता है। यह अद्वैतता शंकराचार्य से सर्वथा भिन्न कोटि की है। इसीलिए वल्लभ संप्रदाय में शंकराचार्य के मत को स्वीकार नहीं किया जाता।

जगत के संबंध में वल्लभाचार्य का मत है कि जगत अनेक रूपात्मक है परन्तु यह अनेक रूपता ब्रह्म के एक सत् अंश का ही परिणाम है इसलिए ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म कारण है और जगत कार्य है। यह परिवर्तन विकारी नहीं है, अविकृत है। वल्लभ संप्रदाय में जगत और संसार में भेद माना गया है। सामान्यतः सभी लोग इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयोग करते हैं किन्तु वल्लभ संप्रदाय में जगत ईश्वरकृत और संसार जीवकृत है। संसार को जीव ने अपनी अविद्या, कल्पना अथवा भ्रम से रचा है इसलिए संसार मिथ्या है, जगत सत्य है। यही दोनों में भेद है।

माया—के संबंध में वल्लभाचार्य का मत है कि माया के दो रूप हैं। एक विद्या माया और दूसरी अविद्या माया। यह माया ही इस सृष्टि का प्रपंच रचती है। जीव इस माया के अधीन होता है, भगवान माया के अधीन नहीं है। अविद्या माया से जीव संसार में बँधता है और विद्या माया से जीव इस संसार से छूटता है। ब्रह्म इस माया के वशीभूत नहीं होते।

## 9.4.4 पुष्टिमार्गीय भक्ति

वल्लभाचार्य ने अपनी भक्ति पद्धति को नवीनता देने के साथ भक्तों के लिए भक्ति का विधान भी तैयार किया। इस विधान को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। पुष्टि मार्ग की मूल प्रेरक शक्ति तो भगवत अनुग्रह ही है। पुष्टि शब्द का अर्थ है पोषण अर्थात् भगवान का अनुग्रह। यह अनुग्रह प्राप्त करके ही कोई भक्त वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हो सकता है। अनुग्रह या पुष्टि भक्ति के लिए भक्त अपने प्रयत्न छोड़कर भगवान की कृपा पर ही निर्भर करता है। जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा अपनी जीवन रक्षा के लिए संपूर्णतः अपनी माँ पर निर्भर रहता है और बिल्ली उसे अपने मुख से पकड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है वैसे ही भक्त अपने को भगवान के भरोसे छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है। वही पुष्टिमार्गीय भक्ति की विशेषता है। वल्लभाचार्य ने अपने भक्त कवियों को अष्ट छाप नाम से स्थापित किया। चार भक्त कवियों को उन्होंने स्वयं दीक्षा दी और चार भक्तों को उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने मंत्र दीक्षा देकर अष्टछाप में समाविष्ट किया।

पुष्टिमार्ग में दीक्षित भक्त कवियों के अष्टछाप में आठ प्रमुख कवि हैं। पुष्टिमार्गीय वार्ता साहित्य में कुछ अन्य कवियों का भी उल्लेख मिलता है। अष्टयाम सेवा पूजा का विधान इस संप्रदाय में आग्रह के साथ है।

## 9.4.5 द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित निम्बार्क संप्रदाय भी कृष्ण भक्ति का वैष्णव संप्रदाय है। इनके मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में की गई है। ब्रह्म समस्त दोषों से रहित और समस्त शक्ति से परिपूर्ण कल्याण गुणों का विधान है। जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म अंशी है। जीव अणु है, विभु नहीं, जीव अल्पज्ञ है, मुक्तावस्था में भी वह जीव ही है। जीव का नित्यत्व चिरस्थायी है। जीव और ब्रह्म भिन्न भी है और अभिन्न भी। जगत् की सत्ता है किन्तु परिवर्तनशील है। माया का बंध इस मत में स्वीकार्य नहीं है। मुक्ति प्राप्ति के लिए मुख्य साधन भक्ति है। ब्रह्म का सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में विचार किया जा सकता है। भक्ति में आराध्य के रूप में राधा-कृष्ण की युगल भाव से किशोर भाव की स्वीकृति है। राधा को कृष्ण की स्वकीया के रूप में माना जाता है। राधा के विवाहित रूप का इस संप्रदाय के भक्त कवियों ने वर्णन किया है। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत "दशश्लोकी" ग्रंथ में उपलब्ध होते हैं। श्री कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में मानकर उसकी राधा समवेत रूप में उपासना का विधान है। इस संप्रदाय में भक्ति के पाँच रूपों का समर्थन है–"शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य। माधुर्य भक्ति को उज्ज्वल रस के अंतर्गत सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। इस भक्ति को कान्ता भाव की भक्ति भी कहा जाता है। इस संप्रदाय के अनेक कवि ब्रज मंडल में हुए। उनकी ब्रजभाषा में लिखी कविताएँ माधुर्य भाव की भक्ति से परिपूर्ण हैं। राधा को उपास्य देवी मानकर इन कवियों ने राधा का गुणगान किया है। श्रीमह और गदाधरमह इस संप्रदाय के हिन्दी भक्त कवि हैं।

## 9.4.6 द्वैतवाद

श्री मध्वाचार्य कर्नाटक प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे थे, इन भाष्यों में द्वैतमत का समर्थन तथा युक्तियुक्त प्रतिपादन किया गया है। द्वैत का अर्थ है ब्रह्म और जीव में भेद है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं। जीवों में ऊँच और नीच का तारातम्य है। इस द्वैतमत में जगत भी सत्य है। ब्रह्म और जगत का भेद वास्तविक है। इस प्रकार मध्वाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैत मत का पूरी तरह विरोध करते हुए द्वैतवाद की स्थापना की। एक श्लोक में मध्वाचार्य के अभीष्ट सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। हरि (श्रीकृष्ण) की सर्वोच्च सत्ता है, भेद वास्तविक है, जीव हरि के अनुचर हैं, जीवों में ऊँच-नीच की श्रेणियाँ हैं, वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है, अमला भक्ति ही भक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण ज्ञान के साधक हैं। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही हैं। इन नौ सिद्धांतों के आधार पर माध्व मत के द्वैतवाद की स्थापना की जाती है।

इन पाँच प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक सिद्धांतों के सिवा ब्रजमंडल और बंगाल में कुछ अन्य कृष्ण भक्ति के संप्रदायों का प्रचार हुआ। ये सभी संप्रदाय मध्य युग में पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में बड़े जोर के साथ उत्तर भारत में फैले। इनमें प्रमुख तीन संप्रदाय हैं जो कृष्ण भक्ति को आधार मानकर सगुणोपासना में विश्वास करते हैं। रामभक्ति का रामानन्दी संप्रदाय काशी, अयोध्या और प्रयाग में फैला और उसका प्रभाव उत्तर भारत के साधु समाज पर पड़ा। गृहस्थियों ने रामानन्दी संप्रदाय की दीक्षा अतिन्यून मात्रा में ली। कुछ मठों की स्थापना तो हुई किन्तु उसकी स्थापना में रामानन्दी साधुओं का ही प्रायः योगदान रहा।

**बोध प्रश्न 2**

1 नीचे दिए गए प्रश्नों के उत्तर दो-दो पंक्तियों में दीजिए–

i) सूफी कवियों को प्रेममार्गी क्यों कहा जाता है?

.....

.....

ii) सूफी साधना में नायक और नायिका की क्या स्थिति है?

.....

.....

iii) भक्ति मार्ग में ऐकेश्वरवाद को स्वीकारने वाले किस धारा के भक्त हैं?

.....

.....

iv) सगुण भक्ति में नवधा भक्ति का क्या रूप है?

.....

.....

v) भागवत पुराण को आधार बनाकर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किन-किन कवियों ने किया है?

.....

.....

vi) रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत में उपास्य देव कौन हैं? विशिष्टा द्वैतमत में ईश्वर और जीव की पारस्परिक क्या संबंध है?

.....

.....

vii) रामानुजाचार्य के दर्शन से प्रभावित होकर काशी में रामानन्द ने जिस मत का प्रचार किया उसमें क्या नया तत्व जोड़ा?

.....

.....

viii) रामानन्द ने सामाजिक सुधार की दिशा में क्या उल्लेखनीय योगदान किया।

.....

.....

2 नीचे कुछ प्रश्न दिए जा रहे हैं इनमें कुछ गलत हैं तथा कुछ सहीं। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए–

i) गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धांत रामानुजाचार्य के मेल में हैं। ( )

ii) तुलसी केवल ईश्वर के सगुण रूप को ही स्वीकारते हैं। ( )

iii) मोक्ष का साधन केवल भक्ति ही है और इसका प्रमुख स्थान है। ( )

iv) वल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की। ( )

v) एक कुंज में बैठकर राधा और कृष्ण की लीला में लीन रहना ही निकुंज लीला है। ( )

3 निम्नलिखित विषयों पर दस-दस पंक्तियाँ लिखिए–

i) विशिष्टाद्वैतवाद

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) द्वैताद्वैतवाद

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) शुद्धाद्वैतवाद

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 9.5 अन्य संप्रदाय

### 9.5.1 गौड़ीय सम्प्रदाय

बंगाल प्रदेश के नवद्वीप नगर में सन् 1486 में जगन्नाथ मिश्र के घर एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम विश्वम्भर रखा गया। विश्वम्भर की माता राची ने बालक का नाम निमाई रखा क्योंकि उसका जन्म नीम के पेड़ की छाया में हुआ था। बालक विश्वम्भर ने शैशव में न्याय, वेदान्त, तर्कशास्त्र आदि का गहन अध्ययन कर विद्वन्मंडली में अपनी प्रतिभा की धाक जमा ली थी। बड़े होने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश तो किया किन्तु गृहस्थी के झंझटों में नहीं फँसे। वैराग्य भावना से जीवन व्यतीत करते रहे। वैराग्य के साथ शास्त्रीय ज्ञान के प्रति भी उनका मोह नहीं रहा। कृष्ण भक्ति का प्रचलित मंत्र हरिबोल ही इनका कंठहार बन गया। कृष्ण को अपना आराध्य बनाकर इन्होंने नूतन शैली की जिस भक्ति का प्रचार किया उसमें कीर्तन और नृत्य का प्रमुख स्थान था। भक्तजन समवेत रूप से हरिबोल, हरे कृष्ण, हरे राधा आदि का उच्चारण करते हुए भजन-कीर्तन में संलग्न रहते थे। यह कीर्तन पद्धति लोकप्रिय हो गई और बंगाल से ब्रजभूमि तक इसका प्रचार हो गया। नवद्वीप गौड़ देश में स्थित था अतः इस संप्रदाय को गौड़ीय कहा जाने लगा। श्री कृष्ण चैतन्य ने अपने पूर्व नाम का सन्यास लेने पर परित्याग कर दिया और कृष्ण चैतन्य नाम से विख्यात हो गये।

कृष्ण चैतन्य संप्रदाय के प्रवर्तक ने किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना नहीं की। प्रस्थानत्रयी पर भाष्य भी नहीं लिखा। केवल भागवत पुराण को ही आधार ग्रंथ माना और उसी के आधार पर कृष्ण-लीला का गान किया। परवर्ती काल में इनके भक्तों और शिष्यों ने अवतार के रूप में इनकी पूजा अर्चना प्रारंभ कर दी। प्रेम को सर्वोच्च पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित कर भक्तों को ज्ञानमार्ग की दुरूह और दुर्गम सधना से मुक्त किया। इनके तीन सौ वर्ष बाद बलदेव विद्याभूषण नाम के

विद्वान पंडित ने चैतन्य संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना की जिसे "अचिन्त्य भेदाभेद" नाम से जाना जाता है। वास्तव में यह परवर्ती कल्पना है। कृष्ण चैतन्य ने किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना नहीं की थी। राधा को इस मत में परकीया माना जाता है। यह परकीयाभाव अन्य मतों से भिन्न है।

### 9.5.2 राधावल्लभ संप्रदाय

ब्रजमंडल के कृष्ण भक्ति संप्रदायों में श्री हित हरिवंश द्वारा प्रवर्तित राधाबल्लभ संप्रदाय भी एक प्रसिद्ध भक्ति संप्रदाय है। इस संप्रदाय में राधा की भक्ति की प्रमुखता है। कृष्ण आनुशंगिक रूप में उपास्य है। वैसे युगल भाव से उपासना की स्वीकृति है। राधा कृष्ण की भक्ति के लिए नित्य विहार की स्थिति सर्वश्रेष्ठ है। राधा और कृष्ण का भी वियोग नहीं होता। निकुंज में दोनों लीलारत रहकर विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। निकुंज लीलाओं का दर्शन ही सबसे बड़ा सुख और सबसे बड़ी सिद्धि है। विग्रह (मूर्ति) की पूजा के लिए केवल श्री कृष्ण की मूर्ति ही मंदिर में रहती है। राधा के विग्रह के स्थान पर एक गद्दी रखी जाती है तो राधा की भावना जाग्रत कर भक्त के मन को राधामय बना देती है।

इस संप्रदाय में शताधिक उच्चकोटि के कवि हुए हैं उनमें हित हरिवंश, सेवक जी, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, नेही नागरी दास, अनन्य अलि, चाचा वृन्दावन दास आदि सुप्रसिद्ध हैं। इस संप्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश जी ने किसी दार्शनिक मतवाद की स्थापना नहीं की। यह दर्शन सापेक्ष्य संप्रदाय नहीं है, साधना परक संप्रदाय है। अतः दर्शन की छानबीन करना व्यर्थ है।

### 9.5.3 सखी संप्रदाय (हरिदासी संप्रदाय)

स्वामी हरिदास उत्तर प्रदेश के वृन्दावन नगर के समीप राजपुर गाँव के निवासी थे। यह नहीं कहा जा सकता कि राजपुर में आकर बस गये थे या वहाँ उत्पन्न हुए थे। कुछ शोधकर्ताओं ने उनका जन्म स्थान अलीगढ़ जिले में हरिपुरा गाँव को ठहराया है। स्वामी हरिदास अपनी संगीत कला-प्रवीणता के कारण अपने जीवन काल में ही विख्यात संगीतज्ञ हो गये थे। गायक तानसेन को उनका शिष्य बताया जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में स्वामी हरिदास ने वृन्दावन में आकर निधिवन को अपना निवास स्थान बनाया। इसी वन में उन्होंने विहारी जी की मूर्ति का प्राकट्य किया जो उनकी और उनके अनुयायियों की आराध्य प्रतिमा हो गई।

स्वामी हरिदास दार्शनिक व्यक्ति नहीं थे। वे साधक और उच्च कोटि के भक्त थे। अपरिग्रह और वैराग्य में उनकी दृढ़ आस्था थी। किसी धातु का वे स्पर्श तक नहीं करते थे। सूती-रेशमी वस्त्र धारण नहीं करते थे। यमुना किनारे बांस की टट्टी बनाकर उसमें रहते थे। सांसारिक प्रलोभनों से उनका कोई सरोकार नहीं था। उन्होंने जब अपनी भक्ति का प्रचार किया तो उन्हें भक्त का सर्वश्रेष्ठ रूप सखी भाव में लीन रहना लगा। जब भक्त अपना पौरुष जनित गर्व और दंभ छोड़कर सखी बनकर राधाकृष्ण की सेवा में लीन हो जाता है तो निरभिमानता ही उसकी संपत्ति होती है। राधा कृष्ण की लीलाओं का दर्शन बड़े अहो भाग्य का उदय माना जाता है। पुरुष रूप में राजा-महाराजा, मंत्री अमात्य, सेनापति या सिपहसालार बनकर भक्त भगवान् के निकट नहीं पहुँच सकता अतः उसे सखी भाव से राधा कृष्ण के समीप जाने का सुयोग मिलता है। यही सखी भाव की उपासना है। यह पुरुषत्वाभिमान का त्याग है। स्वामी हरिदास के संप्रदाय को कुछ विद्वान निम्बार्क संप्रदाय का अंग मानते हैं अतः दार्शनिक दृष्टि से द्वैताद्वैत सिद्धांत का आरोप करते हैं किन्तु सखी संप्रदाय में अब इस आरोप को स्वीकार नहीं किया जाता।

## 9.6 भक्ति संप्रदायों का प्रदेय

भक्ति मार्ग के प्रवर्तक आचार्यों, भक्तों, रसिकों और कवियों ने अपने जीवन में कभी युद्ध, हिंसा, कलह, छल-कपट, मद-मात्सर्य का मार्ग स्वीकार नहीं किया। मानव मात्र को अपना मित्र माना और सबके कल्याण की कामना करते हुए भक्ति द्वारा धर्म और सदाचरण का पुनीत पथ प्रशस्त किया। कुछ आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धांत स्थापित किये, कुछ भक्तों ने साधना का मार्ग खोज निकाला और कुछ भक्तों ने भक्ति का नवीन-माधुर्य भाव स्थापित किया। इन भक्ति संप्रदायों से मध्य युग का वातावरण राजनीतिक दृष्टि से प्रशान्त होते हुए भी व्यक्तिगत स्तर पर शांतिमय बना रहा। कबीर, नानक, दादू, रैदास, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, जैसे भक्त कवि इस काल में पैदा हुए और उन्होंने ईश्वर प्रेम के साथ प्रेम का भी संदेश दिया। जात-पांत, ऊँच-नीच आदि के भेदभाव को मिटाकर सबको भक्ति का सुगम मार्ग सुझाया।

**बोध प्रश्न 3**

1 नीचे लिखे प्रश्नों के उत्तर दो-दो पंक्तियों में दीजिए

i) ब्रह्म को शुद्ध कहने से क्या तात्पर्य है। अविकृत परिणामवाद किसे कहते हैं।

.....

.....

ii) वल्लभचार्य के अनुसार जगत और संसार में क्या भेद है?

.....

.....

iii) पुष्टिमार्ग से क्या तात्पर्य है? अष्टछाप के प्रमुख कवि कौन-कौन हैं

.....

.....

iv) भक्ति के पाँच रूप कौन-कौन से हैं? उसमें सर्वश्रेष्ठ रूप कौन-सा है

.....

.....

v) निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत सिद्धान्त में राधा का क्या स्थान है?

.....

.....

vi) सखी सम्प्रदाय में भक्त को किस रूप में भक्ति करने का विधान है

.....

.....

vii) चैतन्यमत में भागवत पुराण को क्या स्थान प्राप्त है?

.....

.....

viii)राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्य विहार से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

2 निम्नलिखित प्रश्नों में कुछ सही हैं और कुछ गलत। उपयुक्त चिन्ह लगाकर स्पष्ट कीजिएं–

i) राधावल्लभ सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय और सखी सम्प्रदाय में दार्शनिक ऊहापोह को महत्व दिया गया है। ( )

ii) चैतन्यमत की सेवा पूजा साधना में कीर्तन भजन और नृत्य आदि की भक्ति पद्धति को स्वीकारा जाता है। ( )

iii) राधावल्लभ संप्रदाय में राधा को कृष्ण से अधिक महत्व दिया गया है। ( )

iv) अंश-अंशी भाव ईश्वर और जगत के बीच बनता है। ( )

v) माध्वाचार्य का द्वैतवाद जीव की सत्ता भी मानता है और ब्रह्म की सत्ता भी मानता है ( )

3 नीचे लिखे विषयों पर दस-दस पंक्तियाँ लिखिए–

i) गौड़ीय सम्प्रदाय

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सखी सम्प्रदाय

4 निम्नलिखित विषयों पर लगभग पचास-साठ शब्दों में टिप्पणी लिखिए–

i) राधावल्लभ सम्प्रदाय

ii) अद्वैतवाद

iii) पुष्टिमार्गीय भक्ति

iii) द्वैतवाद

## 9.7 सारांश

शस्य-श्यामला भारत-भूमि अनादिकाल से ही विचारकों, चिंतन-मनन करने वाले मनीषियों तथा जिज्ञासु-दार्शनिकों को जन्म देती रही है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों तथा षड्दर्शनों के इस देश में बहुत से दर्शनचार्यों की दीर्घ परम्परा विद्यमान रही है। समय-समय पर ये दर्शन, इनकी व्याख्याएँ तथा मनीषियों द्वारा किए गए विवेचन-विश्लेषण भारत ही नहीं समग्र संसार को सन्मार्ग दिखाते रहे हैं। भक्तिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का ऐसा ही स्वर्णयुग है जिसमें बहुत से दर्शनों, विचारों, मतवादों और सिद्धांतों की उपस्थिति तो है ही उनका अद्‌भुत समन्वय भी यत्र-तत्र उपलब्ध है। ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग की समन्वित मंदाकिनी जिस युग में प्रवाहित हो रही थी, उस युग की दार्शनिक पृष्ठभूमि ही इस सुन्दर समन्वय का कारण बन रही थी। इस इकाई में आपने इसी भारतीय धर्म-साधना का प्रेरक स्रोत बनने वाली दार्शनिक आधार भूमि का अध्ययन विश्लेषण किया है। विविध भक्ति रूपों तथा दार्शनिक मतवादों की विरोधी-अविरोधी विचारधाराओं का एक साथ निर्वाह करने वाली इस भक्ति काव्य धारा का दर्शन निश्चित ही उल्लेखनीय दर्शन था। अतः भक्ति काव्य के दार्शनिक आधार को स्पष्ट करती इस इकाई के अध्ययन विवेचन से आप जान सके.कि--

- भक्ति ही ईश्वर की उपासना, आराधना पूजा तथा सेवा आदि के मूल में स्थित प्रेरक भाव है और भक्ति के विधान ही धर्मों की सृष्टि के कारण बनते हैं। इसी कारण विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचलन होता है।
- हिन्दी साहित्य में भक्ति के विविध रूप लक्षित होते हैं। प्राकृत अपभ्रंश काल में निर्गुण निराकार ब्रह्म को स्वीकारते हुए संसार को मिथ्या और क्षण भंगुर कहा गया। सिद्ध साहित्य प्रकृति मूलक रहा और नाथ साहित्य में भी संसार की क्षण भंगुरता तथा इन्द्रिय निग्रह का प्रतिपादन किया गया। कुल मिलाकर सिद्धों और नाथों की भक्ति में योग तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता रही। ठोस एवं सारगर्भित दार्शनिक दृष्टि का वहाँ अभाव दिखाई देता है।
- भक्ति काव्य की निर्गुण संत काव्य धारा के अनुसार ईश्वर निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान है। इनके अनुसार मिथ्या ज्ञान ही माया है और इसी से सांसारिक संबंध पैदा होते हैं। निर्गुण संतों ने शंकर के अद्वैतवाद को स्वीकारते हुए जीव को ब्रह्म का अंश माना। सांसारिक बंधनों से मुक्ति के लिए वे वैराग्य को भी महत्व देते हैं। कबीर आदि निर्गुण संत ऐकेश्वरवादी हैं।
- सूफी संत प्रेममार्गी थे। उनकी भक्ति में रागात्मक तत्व प्रधान हैं। इन्होंने सांसारिक वैराग्य और अपरिग्रह के साथ ईश्वर उपासना को महत्व दिया। इनकी प्रेम कथाओं में नायिका का स्थान ईश्वर का है और नायक जीवात्मा का प्रतीक है। यह भारतीय भक्ति भावना से प्रथम और इस्लाम धर्म के निकट है। ये भी ऐकेश्वरवादी हैं।
- सर्गुण भक्ति के मार्ग में ईश्वर अवतारी पुरुष है। वही कृष्ण, विष्णु, राम, शिव आदि विविध रूपों में आता है। पूजा-अर्चना से उसे पाया जा सकता है। इन्होंने नवद्या भक्ति को विशेष महत्व दिया। माधुर्य भक्ति या प्रेमाभक्ति को इन्होंने स्वीकारा।
- भक्ति काव्य धारा की दार्शनिक पृष्ठभूमि में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य निम्बार्धाचार्य तथा माध्वाचार्य के क्रमशः अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत वाद, शुद्धाद्वैतवाद एवं पुष्टिमार्गीय भक्ति, द्वैताद्वैतवाद तथा द्वैतवाद आदि मतवादों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन मतवादों ने भक्ति युग के कवियों को बहुत प्रभावित किया है।
- इन दार्शनिक मतवादों के अतिरिक्त तीन अन्य सम्प्रदाय भी अपनी दृष्टि विशेष के चिंतन मनन से मार्ग दर्शन कर रहे थे। इनमें श्री कृष्ण चैतन्य का गौडीय सम्प्रदाय, श्री हित हरिवंश प्रवर्तित राधा वल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय उल्लेखनीय रहा है।
- भक्ति मार्ग के प्रवर्तक मतवादों, चिंतकों, दार्शनिकों, आचार्यों तथा कवियों ने मानव हित तथा सर्व जन कल्याण की कामना पर बल देते हुए भक्ति मार्ग प्रशस्त किया। भक्ति ने ही धर्म तथा सदाचार के पुनीत पथ पर आगे बढ़ने का नैतिक बल प्रदान किया। साधना और भक्ति के मिश्रण तथा विरोधी अविरोधी भावों के समन्वय से ही मानव प्रेम तथा ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। ऊँच-नीच, भेदभाव तथा जात-पात से हटकर इन्हें मिटाकर ही वातावरण एवं परिवेश की शांतिमय तथा आनन्दमय बनाया जा सकता है।

## 9.8 शब्दावली

**दृश्यमान जगत्** : दिखाई देने वाला संसार

**संहार** : विनाश

**अपरिवर्तनीय** : जिसमें कोई परिवर्तन न हो

**निराकार** : जिसका कोई आकार (शक्ल-सूरत) न हो।

**निर्धारण** : निश्चय करना

**परिचायक** : परिचय देने वाला

**क्षण भंगुर** : क्षण भर में नष्ट होने वाला

**अपरिग्रह** : (सांसारिक पदार्थों को) एकत्र न करना

**प्रवृत्ति मूलक** : संसार के कार्यों में रुचि

**इन्द्रिय निग्रह** : इन्द्रियों को वश में रखना

**शास्त्र सम्मत** : शास्त्रों के अनुसार, शास्त्र विहित

**कर्मकांड** : यज्ञ, व्रत, उपवास आदि तथा सेवा-पूजा आदि कार्य

**वैष्णव** : विष्णु की उपासना करने वाला

**शैव** : शिव की उपासना करने वाला

**शाक्त** : शक्ति को आराध्य मानकर उपासना करने वाला

**चराचर** : चर और अचर, जड़ और जंगम, चेतन-अचेतन

**ऐकेश्वरवाद** : एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना

**प्रपत्तिवाद** : ईश्वर की कृपा पर निर्भर रहना

**अद्वैतवाद** : एक ब्रह्म की सत्ता में विश्वास

**रहस्य भावना** : साधना के मार्ग में गुह्य तथा प्रच्छन्न विधियों का प्रयोग

**स्वानुभाव** : स्वयं अपने अनुभव का ज्ञान

**अटपटी** : अस्पष्ट, समझ में न आने वाली भाषा

**बोधगम्य** : समझ में आने वाली भाषा

**शुक्ति में रजत** : सीप में चाँदी का भ्रम

**पार्थक्य** : पृथकता, अलगाव

**प्रकृतिजन्य** : प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया गया

**मनोनिग्रह** : मन को वश में रखना

**अभीष्ट** : अनुकूल, प्रिय, इच्छानुसार

**बहु-श्रुत** : बहुत (शास्त्रों) का सुना हुआ ज्ञान

**रागात्मक** : प्रेम, रतिभाव आदि से युक्त

**इड़ा-पिंगला** : शरीर की नाड़ियाँ जिन्हें योग की क्रियाओं से वश में किया जाता है

**अध्यात्म** : ईश्वर, जीवन, जगत आदि तत्वों से सम्बद्ध विषय

**प्रेमाख्यान** : प्रेम कथाएँ, लौकिक प्रेम विषयक कहानियाँ

**नवधा भक्ति** : ईश्वर की नौ प्रकार से सेवा-पूजा। श्रवण, कीर्तन, अर्चन, स्मरण, पादसेवन दास्य, वन्दन, सख्य और निवेदना।

**भागवत** : अठारह पुराणों में से एक सुप्रसिद्ध पुराण जिसमें कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन है तथा भक्ति की मीमांसा और व्याख्या भी है

**दशम स्कन्ध** : भागवत पुराण का दसवां अध्याय इसमें कृष्ण भक्ति का सगुण रूप विस्तार से वर्णित है

**ब्रह्म सत्यम** : एकमात्र ब्रह्म ही संसार में सत्य और नित्य है

**जगत मिथ्या** : यह दिखाई देने वाला जगत और जगत के संबंध सब मिथ्या हैं

**ब्रह्मों जीवैव नापर** : ब्रह्म और जीव अपर (भिन्न) नहीं है दोनों एक ही है

**विशिष्टाद्वैत** : ब्रह्म की सत्ता सगुण और सविशेष है अर्थात् ईश्वर और जीव का संबंध शेष (जीव) और शेषी (ईश्वर) का है

**माया** : माया को सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने मत से भिन्न-भिन्न रूप से स्वीकार किया है। शंकर के मन में माया अविद्या, अज्ञान, अभ्यास का भ्रम है। जब तक जीव माया के प्रभाव में रहता है, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। माया एक भ्रममूलक बंधन है, इसे त्यागने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। सगुण भक्ति में माया से भक्ति द्वारा मुक्ति मिलती है

**तादात्म्य** : एकत्व, किसी सत्ता के साथ मिल जाना

**मोक्ष** : संसार के बंधनों से सब प्रकार की मुक्ति को मोक्ष कहते हैं

**शुद्धाद्वैत** : इस मत में ब्रह्म नितान्त शुद्ध है, माया से सर्वथा अलिप्त है। उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है

**आविर्भाव** : प्रकट होना, अस्तित्व में आना

**तिरोभाव** : लुप्त हो जाना, अस्तित्व में न रहना

**अविकृत** : विकारहीन, शुद्ध

**अवतार** : अवतार शब्द का अर्थ है उतरना या आना किन्तु अवतारवाद में इसका अर्थ होता है ईश्वर का विग्रह धारण कर संसार में अवतीर्ण होना। सगुण मार्ग में ईश्वर अवतारी है। राम और कृष्ण, विष्णु के अवतार हैं

**द्वैताद्वैत** : ब्रह्म द्वैत भी है और अद्वैत भी। यह सिद्धांत भेदाभेद (भेद और अभेद भी कहलाता है। द्वैत रूप में ब्रह्म और जीव दोनों की स्वीकृति है। अद्वैत रूप में ब्रह्म माया के बंधन से मुक्त रहता है

**माधुर्यभक्ति** : मधुरभाव अर्थात् प्रेम भाव के साथ भगवान की भक्ति। माधुर्य भक्ति में पाँच कोटि क्रम हैं। शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य (कान्ता भाव)। इनमें कान्ता भाव से भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

**द्वैतभाव** : द्वैतभाव का अर्थ है ब्रह्म और जीव में भेद है। अर्थात् दोनों की पृथक सत्ता हैं। दोनों की एकत्व स्वीकृत नहीं है। जीव को हरि का अनुचर माना गया है। जीव में ऊँच-नीच का भी भाव है

**स्वकीया** : राधा को निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की परिणीती पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है। यह स्वकीया भाव की स्वीकृति है।

**परकीया** : राधा को श्रीकृष्ण की पत्नी न मानने वाले चैतन्य सम्प्रदाय में वृषभानु की पुत्री और (रामाण की पत्नी कहा गया है)। यह भाव परकीया भाव कहलाता है। राधा की भक्ति तो सर्वश्रेष्ठ है किन्तु वह परकीया भाव से ही होती है।

**उज्ज्वल रस** : यह श्रृंगार रस का ही पर्याय है। माधुर्य भक्ति में उज्ज्वल रस शब्द का प्रयोग होता है। उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रंथ इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ है।

**प्रस्थानत्रयी** : उपनिषद्, गीता और ब्रह्म सूत्र वेदान्त को प्रस्थान त्रयी कहते हैं। इन तीनों पर आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं।

**समवेत** : एकत्रित रूप में, सम्मिलित रूप में।

**विग्रह** : मूर्ति, शरीर, आकार

**अचिन्त्यभेदा भेद** : यह चैतन्य मन का दार्शनिक सिद्धांत है। कृष्ण चैतन्य ने इस मत की स्थापना नहीं की थी। गोविन्दभाष्य के लेखक बलदेव गोस्वामी ने इसका प्रवर्तन किया। ईश्वर के स्वरूप के विषय में विचार करने पर उसका भेद और अभेद निर्धारण करना कठिन है। जीव के साथ ईश्वर का भेद या अभेद स्पष्ट नहीं है। कीर्तन और भजन में भेद भी स्वीकृत है और तन्मयता की स्थिति में अभेद भी।

**पुष्टिमार्ग** : वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति का मार्ग। पुष्टि शब्द का अर्थ है पोषण, पोषण अर्थात् अनुग्रह। भगवान की कृपा को पुष्टि कहते हैं। इस पुष्टिमार्ग को भगवदनुग्रह भी कहा जाता है। जब भक्त पूर्णरूपेण भगवान की कृपा पर अपने को छोड़कर भक्ति में लीन होता है तब वह पुष्टिमार्गीय भक्त कहलाता है।

## 9.9 उपयोगी पुस्तकें


1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ. राम कुमार वर्मा
3. अष्ठछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ. दीनदयाल गुप्त भाग-2
4. भक्ति का विकास—डॉ. मुंशी राम शर्मा 'सोम'
5. राधावल्लभ सम्प्रदाय—सिद्धांत और साहित्य—डॉ. विजयेन्द्र स्नातक
6. निम्बार्क सम्प्रदाय—नारायण प्रसाद शर्मा
7. सखी सम्प्रदाय और स्वामी हरि दास—डॉ. शरण बिहारी गोस्वामी
8. भागवत सम्प्रदाय—पं. बलेदव उपाध्याय
9. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—रामबहोरी शुक्ल तथा डॉ. भगीरथ मिश्र
10. चैतन्यमत-साहित्य—डॉ. नरेश चन्द्र बंसल
11. शंकर-अद्वैतवेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव—डॉ. शान्तिस्वरूप त्रिपाठी


## 9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1. i) सर्वशक्तिमान ईश्वर के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव
   ii) निर्गुण और सगुण
   iii) ऋग्वेद के रचना काल से
   iv) अलख निरंजन तथा निराकार ब्रह्म के रूप में
   v) क्षण भंगुर और नाशवान
   vi) कृष्ण भक्ति के पाँच प्रमुख तथा रामभक्ति के अनेक जिनमें—वैष्णव, शैव एवं शाक्त प्रमुख हैं।

2. i) हाँ
   ii) नहीं
   iii) हाँ
   iv) हाँ
   v) नहीं

1. i) देखिए, भाग 9.2
   ii) देखिए, भाग 9.3.2
   iii) देखिए, भाग 9.3.2
   iv) देखिए, भाग 9.3.4
   v) देखिए, भाग 9.3.5

**बोध प्रश्न 2**

1. i) प्रेम ही मूल कथ्य, प्रेम कथा, प्रेमाख्यानक ग्रंथ आदि के कारण।
   ii) नायक साधक या जीवात्मा और नायिका साध्य या परमात्मा
   iii) मुख्य रूप से निर्गुण धारा के।
   iv) ईश्वर की सेवा, पूजा, अर्चना आदि द्वारा नौ प्रकार की भक्ति का विधान
   v) ब्रजमण्डल के कृष्ण भक्त कवियों ने, अष्टछाप के कवियों ने, राधावल्लभ संप्रदाय तथा सखी संप्रदाय के कवियों ने।

vi) श्री रामचन्द्र उपास्य देव हैं। अंश-अंशी का संबंध माना है।
vii) भक्ति की प्रधानता पर बल दिया और दर्शन की आवश्यकता नहीं समझी
viii) भक्ति के लिए जात-पात के बंधनों का विरोध, नीची जाति के दस शिष्य बनाए। कबीर को शिष्य बनाया

2. i) √
ii) ×
iii) √
iv)
v)

3. i) देखिए, भाग 9.5.2
ii) देखिए, भाग 9.5.5
iii) देखिए, भाग 9.5.3

**बोध प्रश्न 3**

1. i) शुद्ध ब्रह्म विकार रहित है, माया से अलिप्त है, तथा ब्रह्म जीव जगत से मिलने पर भी वही रहे, विकृत न हो, बदले न, वही अविकृत परिणामवाद है। जैसे दूध अविकृत है, दही विकृत
ii) जगत प्रकृति है, नित्य है जबकि संसार जीवात्मा द्वारा निर्मित है, अनित्य है।
iii) परमात्मा की कृपा पर अपने को छोड़ देना ही पुष्टि मार्ग है। जैसे बिल्ली का बच्चा पूरी तरह से अपने को बिल्ली पर छोड़ देता है। वह स्वयं उसे मुख से उठा कर इधर उधर ले जाती है। सूरदास, कृष्णदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी तथा तचुर्थजदास।
iv) भक्ति के पाँच रूप हैं—शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य सर्वश्रेष्ठ रूप है। यही कान्ता भाव है। यही उज्ज्वल भाव भी है
v) राधा इस सम्प्रदाय में स्वकीया है, कृष्ण की पत्नी है, वह परकीया नहीं।
vi) भक्त सखी सम्प्रदाय में अपने पुरुषत्व का त्याग कर स्त्रीत्व को ग्रहण कर ही राधा के निकुंज में प्रवष्टि हो सकता है।
vii) चैतन्य मत में भागवत को पूज्य, वेद के समान सर्वोच्च ग्रंथ माना जाता है।
viii) जहाँ राधा-कृष्ण दिन-रात तथा चौबिस घंटे विहार करते हों उसे ही राधावल्लभ संप्रदाय में नित्य विहार कहा जाता है।

2. i) ×
ii) √
iii) √
iv) ×
v) √

3. i) देखिए, भाग 9.6.1
ii) देखिए, भाग 9.6.3

4. देखिए, भाग 9.6.2
ii) देखिए, भाग 9.5.1
iii) देखिए, भाग 9.5.4
iv) देखिए, भाग 9.5.6

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 4

## भक्तिकालीन काव्य की प्रमुख शाखाएँ


इकाई 10

निर्गुण ज्ञानमार्गी काव्यधारा 171

इकाई 11

निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) काव्यधारा 187

इकाई 12

सगुण कृष्णभक्ति काव्यधारा 207

इकाई 13

सगुण रामभक्ति काव्यधारा 229

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

डॉ. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. राम सिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिंदी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रामनाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण-समिति

पाठ लेखक
डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल
हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. हरदयाल,
श्यामलाल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ. जय सिंह,
कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी विद्यापीठ
आगरा

डॉ. रीतारानी पालीवाल
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

संकाय सदस्य
डॉ. जवरीमल पारख

डॉ. शत्रुघ्न कुमार

डॉ. सत्यकाम

डॉ. नीलम फ़ारूक़ी

संयोजन एवं संपादन
डॉ. रीतारानी पालीवाल (खंड संयोजक)
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी, पाठ्यक्रम संयोजक एवं
डॉ. पूरन चन्द टण्डन, सम्पादक

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991
ISBN-81-7091-723-9
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव श्री बालकृष्ण सेल्वराज द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

# खंड 4 का परिचय

यह हिंदी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-3 का चौथा खंड है। चार इकाइयों (10 से 13) तक में विभाजित इस खंड में हम भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की काव्यधाराओं की जानकारी दे रहे हैं। भक्तिकाल की परिस्थितियों और प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में आप खंड 3 में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत खंड में आप भक्ति की दो धाराओं—निर्गुण भक्ति धारा और सगुण भक्ति धारा के अंतर्गत विकसित होने वाले काव्य के बारे में पढ़ेंगे। इकाई 10 निर्गुण ज्ञानमार्गी शाखा यानी संत काव्य के बारे में है, इकाई 11 निर्गुण प्रेममार्गी शाखा यानी सूफी काव्य के बारे में। इकाई 12 और 13 क्रमशः कृष्ण भक्ति काव्य और रामभक्ति काव्य से संबंधित हैं। इस प्रकार भक्ति काव्य की चारों शाखाओं के लिए एक-एक इकाई रखी गई है। प्रत्येक इकाई में संबद्ध शाखा की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करते हुए उनकी विशेषताओं, उसके अंतर्गत भक्ति के स्वरूप के विकास और उसके दार्शनिक आधारों का विवेचन है। प्रत्येक भक्तिशाखा के अंतर्गत विकसित काव्य की परंपरा की चर्चा के साथ ही काव्य की कथ्यगत और शिल्पगत विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। ऐसा करते समय संबद्ध काव्यधारा के प्रमुख कवियों का विस्तृत उल्लेख किया गया है तथा अन्य कवियों की प्रसंगानुकूल चर्चा की गई है।

हिंदी भक्ति काव्य की इन चार शाखाओं का विवेचन करते समय उनकी विशिष्टताओं को उजागर करने के साथ ही उनमें व्याप्त समानता के तत्वों को रेखांकित किया गया है। इससे भक्ति आंदोलन के देशव्यापी लोक जागरणवादी स्वरूप और उसके ऐतिहासिक-सांस्कृतिक महत्व को निरूपित करने में भी मदद मिली है। साथ ही भक्ति आंदोलन के रूढ़िवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी और धार्मिक कट्टरता विरोधी स्वरूप को भी प्रकाश में लाया जा सका है। इस तरह भक्ति काव्य के विश्लेषण-मूल्यांकन तथा प्रवृत्ति निरूपण के साथ-साथ भारतीय जन-जीवन पर भक्ति कवियों के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव को भी उजागर करने का प्रयास किया गया है।

इस खंड से संबंधित कुछ ऑडियो-वीडियो पाठ भी तैयार किए गए हैं जो आपको विश्वविद्यालय के विभिन्न अध्ययन केन्द्रों में उपलब्ध होंगे।

# इकाई 10 निर्गुण ज्ञानमार्गी काव्यधारा

## इकाई की रूपरेखा


10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 युगपरिवेश
10.3 संतकाव्य
  10.3.1 अवधारणा और अर्थ-विकास
  10.3.2 निर्गुण धारा में "ज्ञानमार्गी" का अर्थ और दृष्टिकोण
  10.3.3 निर्गुण संत परंपरा
  10.3.4 भक्ति आंदोलन और निर्गुण संत
10.4 निर्गुण संत कवियों का समाज सुधारक रूप
  10.4.1 पद दलित जातियों में आत्मसम्मान का उदय
  10.4.2 निर्गुण संत काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक भाव भूमि का वैशिष्ट्य
10.5 निर्गुण संत काव्य का भाव पक्ष
  10.5.1 संतकाव्य में राम
  10.5.2 संतों के दार्शनिक सिद्धांतों की विशेषताएँ
  10.5.3 साधना-पक्ष-निर्गुण काव्य में रहस्यवाद
  10.5.4 सूफ़ियों के प्रेम दर्शन का प्रभाव
  10.5.5 नाथों-सिद्धों का प्रभाव
  10.5.6 वैष्णव चिंतन-परंपरा का प्रभाव
  10.5.7 अन्य विशेषताएँ
10.6 निर्गुण काव्यधारा का अभिव्यंजना पक्ष
  10.6.1 काव्य रूप
  10.6.2 काव्य भाषा
  10.6.3 प्रतीक, बिंब, मिथक
  10.6.4 उलटबाँसी शैली
  10.6.5 अलंकार
  10.6.6 छंद
10.7 संतकाव्य में जीवन-दर्शन और मूल्य
10.8 मूल्यांकन
10.9 परिभाषिक शब्दावली
10.10 उपयोगी पुस्तकें
10.11 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 10.0 उद्देश्य

भक्ति के दार्शनिक आधार और भक्ति युगीन सामाजिक, राजनीतिक **परिस्थितियों** का अध्ययन आप पिछले खंड में कर चुके हैं इस खंड में आप भक्ति काव्य की चार शाखाओं के बारे में पढ़ेंगे। इस खंड का पहली इकाई (यानी इकाई सं. 10) निर्गुण भक्ति काव्य की ज्ञान मार्गी शाखा से संबंधित है। इस इकाई को पढ़कर आप :

- संतकाव्य की अवधारणा और उसके अर्थ विकास के बारे में बता सकेंगे,
- निर्गुण संत कवियों की परंपरा के विषय में जानकारी दे सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन में निर्गुण काव्यों की भूमिका के बारे में बता सकेंगे,
- निर्गुण संत काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक भाव भूमि की विशिष्टताएँ बता सकेंगे, और
- निर्गुण संत काव्य के भाव पक्ष और **अभि कनग** पक्ष का विवेचन कर सकेंगे।

## 10.1 प्रस्तावना

पिछले खंड में आप भक्ति के दार्शनिक आधार के विषय में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। अब आप जानते हैं कि भक्ति **आंदोलन** के समय का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश कैसा था उस समय की राजनीतिक परिस्थितियाँ किस प्रकार थीं। अब हम भक्ति काव्य के विविध रूपों की चर्चा करेंगे। प्रस्तुत इकाई निर्गुण भक्ति काव्य से संबंधित है। निर्गुण भक्ति क्या है? ज्ञानाश्रणी शाखा से क्या तात्पर्य है? इन प्रश्नों का उत्तर आपको इस इकाई में मिलेगा।

हिंदी साहित्य के लगभग एक हजार वर्ष के इतिहास को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तीन कालों में विभाजित किया है—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। इन तीनों कालों में से मध्यकाल और आधुनिक काल में रचे गये साहित्य का परिमाण बहुत अधिक है और इनमें उपप्रवृत्तियाँ भी अनेक हैं। अतः शुक्ल जी ने इनका उपकालों में विभाजन किया है। पूर्वमध्यकाल की सबसे प्रधान और मूल विषय-वस्तु भक्ति का कोई न कोई रूप है। वैसे काव्यवस्तु के रूप में भक्ति पूर्वमध्यकाल से पहले और बाद में भी मिलती है। अतः प्रधानता के आधार पर उन्होंने इस काल का नामकरण 'भक्तिकाल' किया है। भक्ति की प्रवृत्ति, आराध्य के स्वरूप एवं आराध्य के स्वरूप के आधार पर पहले भक्ति काल को दो धाराओं में विभाजित किया गया है—निर्गुण धारा और सगुण धारा। फिर इन दो धाराओं को दो-दो शाखाओं में बाँटा गया है। निर्गुण धारा की दो शाखाएँ हैं—ज्ञानाश्रयी या ज्ञानमार्गी शाखा, तथा प्रेमाश्रयी (सूफी) या प्रेममार्गी शाखा। भक्तिकाल या समय सं. 1375 (1318 ई.) से सं. 1600 (1683 ई.) निश्चित किया है। शुक्ल जी के काल-विभाजन और समय-निर्धारण को हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रायः सभी लेखकों ने थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है। इसीलिए भक्ति-काल के विभाजन और नामकरण को लेकर कोई विवाद नहीं हुआ है।

## 10.2 युग-परिवेश (पृष्ठभूमि)

मध्य-काल में उत्तर भारत में भक्ति का आविर्भाव होता है। भक्ति का आविर्भाव क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर विभन्न विद्वानों ने इस युग के परिवेश, परंपरा तथा बाह्य प्रभाव में खोजा है। ग्रियर्सन ने स्थापित किया कि भक्तिकाल में जिस भक्ति-भावना का उन्मेष हम देखते हैं वह ईसाई धर्म का प्रभाव है। ग्रियर्सन का यह मत बाद में हिंदी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं हुआ, क्योंकि इसमें सार नहीं था। दरअसल यह स्थापना ग्रियर्सन की उस उपनिवेशवादी मनोवृत्ति की उपज थी, जो मानती थी कि भारत तो असभ्य लोगों का देश है और यहाँ जो कुछ भी स्पृहणीय है वह ईसाइयत और अंग्रेजियत की देन है। अंग्रेजियत के मामले में यह मनोवृत्ति आज भी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त भारतीयों में भी मिलती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति के आविर्भाव को परिवेश अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिणाम के रूप में देखा है। भक्तिकाल के प्रारंभ होने तक लगभग सारे हिंदी भाषा क्षेत्र पर मुसलमानों का अधिपत्य स्थापित हो गया था और यहाँ के राजा-महाराजाओं ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। शुक्ल जी के शब्दों में "ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। ..... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" अतः लोगों की प्रवृत्ति भक्ति की ओर हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे पूर्ण सत्य के रूप में मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे केवल भक्तिकाल ही नहीं, संपूर्ण हिंदी साहित्य के संदर्भ में मुसलमानों के आक्रमण और उनके द्वारा यहाँ राज्य की स्थापना को किसी विशेष प्रभावकारी तत्व के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका प्रसिद्ध कथन है—"अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" वास्तव में सच्चाई शुक्ल जी और द्विवेदी जी के दृष्टिकोण को समन्वित करने पर सामने आती है। भक्ति के उन्मेष के लिए परिस्थितियाँ और परंपरा दोनों उत्तरदायी हैं। दो शक्तिशाली धर्मों के अनुयायियों के साथ-साथ रहने के कारण एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति की आवश्यकता अनुभव हुई "जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो।" इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्गुणोपासना का जन्म हुआ, जिसमें कुछ लोग ज्ञान के मार्ग पर चले।

## 10.3 संतकाव्य

### 10.3.1 अवधारणा और अर्थविकास

संत काव्य का अर्थ होगा संतो के द्वारा रचा गया काव्य। सामान्यतः "संत" शब्द का अर्थ होता है कोई भी सदाचारी पवित्रात्मा व्यक्ति। इसीलिए संत, साधु, महात्मा आदि शब्दों को पर्यायवाची मान लिया जाता है, लेकिन उनके अर्थ में अंतर है। विशिष्ट अर्थ में संत उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने सत्यरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया हो और जो पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए निःस्वार्थ भाव से लोक कल्याण में रत रहता हो। संत का यह पारिभाषिक अर्थ कुछ व्यापक है। यह शब्द विकसित होते हुए एक और अर्थ में रूढ़ हो गया है। यह शब्द उन ज्ञानेश्वर इत्यादि निर्गुण भक्तों के लिए रूढ़ हो गया, जिन्होंने दक्षिण में विट्ठल अथवा वारकरी संप्रदाय का प्रचार किया। इनके साथ अनेक बातों में समानता होने के कारण कबीर आदि भक्त कवियों के लिए भी यह शब्द चल पड़ा। इसलिए हिदी में जब "संतकाव्य" कहा जाता है तो उसका अर्थ होता है—कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी क़वियों के द्वारा रचित काव्य। यद्यपि सगुणोपासक कवि भी संत ही थे लेकिन 'संत काव्य' विशेष रूप से निर्गुण काव्य धारा के अर्थ का द्योतक है।

### 10.3.2 निर्गुणधारा में "ज्ञानमार्गी" का अर्थ और दृष्टिकोण

ब्रह्म के निर्गुण अर्थात् सत्वादि गुणों से रहित अथवा उनसे परे रहने वाले रूप को लेकर चलने वाले भक्त कवियों को निर्गुण धारा के कवि कहा गया। जिन भक्त कवियों ने इस निर्गुण बह्म को प्राप्त करने का साधन ज्ञान बनाया, उन्हें "ज्ञानमार्गी" कहा जाता गया। कबीर आदि ज्ञानमार्गी निर्गुणधारा के कवि थे। जिन्होंने निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए प्रेम को साधन बनाया, वे प्रेममार्गी निर्गुणधारा के कवि कहलाये। जायसी आदि सूफ़ी कवि प्रेममार्गी निर्गुणधारा के कवि थे। इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञानमार्गियों के यहाँ प्रेम का सर्वथा अभाव था अथवा प्रेममार्गियों के यहाँ ज्ञान का सर्वथा अभाव था। यह विभाजन ज्ञान अथवा प्रेम की प्रधानता के आधार पर है।

ज्ञानमार्गी शाखा में "ज्ञान" का अर्थ न तो साधारण इंद्रियजन्य ज्ञान है और न ही बौद्धिक तर्क-वितर्क से प्राप्त दार्शनिक ज्ञान है। इस शाखा में ज्ञान से तात्पर्य स्वतः उत्पन्न होने वाले प्रातिभ अथवा अतीन्द्रिय बोध से है। यह वस्तुतः अंतर्ज्ञान है, जो सहज ही बिना किसी प्रत्यक्ष साधन के उत्पन्न होता है। इसीलिए इसे "सहजज्ञान" कहा गया है। कबीर ने इसे "ब्रह्मगियान" कहा है। इस ज्ञान के प्राप्त हो जाने से "सहज समाधि" लग जाती है। कबीर के अनुसार यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहज सम्माधि में करोड़ों कल्पों तक विश्राम किया जा सकता है। उनके शब्द हैं—

> अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रहम गियान।
> सहज समाधैं सुख मैं रहिबो, कोटि कलप विश्राम।

### 10.3.3 निर्गुण संत परंपरा

निर्गुण संत कवियों की परंपरा का आरंभ ईसा की बारहवीं शताब्दी में जयदेव से होता है। इनके कुछ पद "आदिग्रंथ" में संगृहीत हैं। ये पद निर्गुण भाव के हैं। साधारणतः माना जाता है कि "गीतगोविन्द" के रचियता जयदेव और यह एक ही हैं, किंतु दोनों के काव्य की वस्तु और शैली में इतना अंतर है कि दोनों को एक मानना असंभव प्रतीत होता है। इस परंपरा में तेरहवीं शताब्दी में मराठी और हिदी दोनों में भजन लिखने वाले नामदेव हुए। "गुरुग्रंथसाहब" में इनके साठ से भी अधिक पद संगृहीत हैं। नामदेव उच्च कोटि के संत एवं कवि थे। कबीर के गुरू रामानंद इस परंपरा की तीसरी कड़ी हैं, किंतु हिदी में संत काव्य की दृढ़ नींव रखने वाले, उसे सम्मान्य बनाने वाले और सबसे अधिक प्रतिभाशाली कवि कबीरदास हुए हैं। कबीर जिन रामानंद के शिष्य थे, उनके अनेक शिष्य निर्गुण संत परंपरा के महत्त्वपूर्ण मनके सिद्ध हुए। इनमें से पीपा, सेना, धना, रैदास, पद्मावती, सुरसरी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हुए। कबीर आदि इन संतों के शिष्यों-प्रशिष्यों की लंबी परंपरा हिदी में चली है और आज भी चल रही है। इन्होंने अनेक पन्थों और गद्दियों की स्थापना की है। ऊपर उल्लिखित संतों के अतिरिक्त इस परंपरा में सधना, बाबरी साहिबा,

कमाल, दादूदयाल, सुंदरदास, गरीबदास, जगजीवन साहब, जम्भदास, सिंगाजी, हरिदास निरंजनी, धर्मदास, मलूकदास, अक्षर अनन्य, गुरु नानक, चरणदास, गुलाब साहब आदि सैकड़ों संत हुए हैं। इन सबने काव्य-रचना की है, लेकिन इन सभी में कवि-प्रतिभा नहीं थी। वस्तुतः इन्होंने संत काव्य के प्रमुख विषयों को लेकर कही जाने वाली बातों तथा संप्रदायगत बातों की पुनरावृत्ति मात्र की है। जो संत काव्य विद्रोह की वाणी बनकर प्रकट हुआ था, वह शीघ्र ही रूढ़िग्रस्त हो गया। अठारहवीं शताब्दी के बाद जो संत काव्य लिखा गया, उसका एकमात्र लक्ष्य अपने-अपने संप्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाना और व्यर्थ के संप्रदाय विषयक कर्मकांड को दृढ़ करना रह गया। फलतः वह निर्जीव हो गया और उस साहित्य को संप्रदाय के बाहर कोई पूछने वाला नहीं रह गया।

### 10.3.4 भक्ति-आंदोलन और निर्गुण संत

भक्ति-आंदोलन में निर्गुण संत कवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसे ठीक-ठीक समझने के लिए प्रमुख संत कवियों का किंचित् विस्तृत परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा–

**नामदेव**–संत साहित्य की नींव डालने वालों में महाराष्ट्र के नामदेव (जन्म 1267 ई.) का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। मराठी में लिखे अभंगों के अतिरिक्त हिंदी में लिखी इनकी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं। "गुरुग्रंथसाहब" में ही इनके साठ से अधिक भजन संगृहीत हैं। प्रारंभ में यह सगुण भाव से भक्ति करते थे, किंतु अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में बताने वाले प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव की प्रेरणा से यह नाथपंथ के प्रभाव में आकर निर्गुणोपासक संत बने। इनकी सधुक्कड़ी भाषा में लिखी रचनाओं से स्पष्ट है कि इन्होंने निर्गुणपंथ की दागबेल डाली। इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण, कर्मकांड के खंडन आदि के साथ-साथ हिंदू-मुसलमान दोनों की आलोचना की और ज्ञानी संतों की श्रेष्ठता सिद्ध की–

हिंदू अंधा तुरका काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना।
हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीद।।

**कबीर**–कबीरदास का जन्म (1518 ई.) में काशी में हुआ था। वे जाति के जुलाहा थे। जुलाहा वह जाति थी जिसने कुछ समय पहले ही मुसलमान धर्म स्वीकार किया था। इसलिए इस जाति के हिंदू संस्कार बने हुए थे। कबीर पर तत्समय व्याप्त सिद्धों और नाथों का भी प्रभाव था। कबीर की प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। अतः उन्होंने विभिन्न प्रभावों का अतिक्रमण करने वाला अक्खड़ता और फक्कड़ता से युक्त ऐसा प्रखर व्यक्तित्व पाया था जो सबको अभिभूत कर लेता है। उनके काव्य में उनके इसी व्यक्तित्व की ऐसी शक्तिशाली अभिव्यक्ति हुई है कि उसकी ताजगी आज भी कम नहीं हुई है।

कबीर की मुख्य रचना "बीजक" है जिसके तीन खंड हैं–साखी, सबद और रमैनी। साखियाँ दोहा छंद में लिखी गयी है। "गुरुग्रंथसाहब" में इन्हें "स्लोक" (श्लोक) कहा गया है। "सबद" (शब्द) पदों के रूप में लिखे गये हैं। "रमैनी" जायसी के "पद्मावत" या तुलसीदास के "रामचरितमानस" के समान कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहा देने की शैली में लिखी गयी है। कबीरदास ने अपनी रचनओं में एक ओर जाति-पाँति, छुआछूत, पूजा-नमाज, विभिन्न धार्मिक कर्मकांडों, कठिन योग साधनाओं आदि की कटु आलोचना की है तो दूसरी ओर भावविभोर होकर परमात्मा रूपी प्रिय के प्रति अपने प्रेम का निवेदन किया है। एक ओर उन्होंने अक्खड़ता से भरी हुई गर्वोक्तियाँ की है तो दूसरी ओर अत्यंत विनम्र वचन कहे हैं। उन्होंने बड़े चमत्कारपूर्ण रूपक बाँधे हैं और उलटबाँसियों की रचना की है। कबीर की भाषा का मूल तो पूर्वी हिंदी है, किंतु उसमें अनेक बोलियों का मिश्रण होने के कारण उसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा जाता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से उनकी भाषा बहुत सक्षम है। भाषा उनकी वशवर्ती है। वे उसे जैसा चाहते हैं वैसा ही मोड़ दे देते हैं। इसीलिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें "भाषा का डिक्टेटर" कहा है।

**रैदास**–रामानंद के शिष्य थे, और जाति के चमार थे। उन्होंने अपनी जाति का बार-बार उल्लेख किया–"ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।" ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में वे विद्यमान थे। धन्ना और मीरा ने बड़े आदर के साथ अपनी रचनाओं में रैदास का उल्लेख किया है। उनकी कोई व्यवस्थित रचना उपलब्ध नहीं केवल फुटकर वाणियाँ ही मिलती हैं। "गुरुग्रंथसाहब" में आपके लगभग सौ पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं में आपके अत्यंत शांत, निरीह और विनम्र व्यक्तित्व की आडंबरहीन सरल अभिव्यक्ति हुई है।

**गुरु नानक**—(1469-1539 ई.) गुरु नानक का जन्म लाहौर के पास तलवंडी नामक गाँव में एक खत्री परिवार में हुआ था। घर में व्यवसाय होता था। पिता ने उन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। बचपन से ही आपका झुकाव आध्यात्मिकता की ओर था। पंजाब में मुसलमान बहुत पहले से आकर बस गये थे और उनका प्रभाव वहाँ के लोगों के जीवन पर पड़ने लगा था अतः नानक ऐसी उपासना पद्धति की ओर आकर्षित हुए, जिसे हिंदू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर सकें। उन्होंने घर-बार छोड़कर दूर-दूर तक यात्रा और संतसंगति की जिससे उन्हें अपनी उपासना पद्धति स्थिर करने में सहायता मिली। अंततः उन्होंने पंजाब में कबीर की निर्गुण उपासना का प्रचार किया और वे सिख संप्रदाय के आदिगुरु हुए।

गुरु नानक की वाणियों का संग्रह "आदिग्रंथ" के महला नामक खंड में हुआ है, जिसमें उनके पद, सखियाँ, जपुजी, आसादीवार, रहिरास और सोहिला संगृहीत हैं। नानक में कबीर जैसी अक्खड़ता नहीं है, बल्कि रैदास जैसी विनम्रता और निरीहता है। जाति-पाँति, छुआछूत तथा बाह्य आचारों पर आक्रमण करने वाली उक्तियाँ उनकी कविता में भी मिलती हैं किंतु उनमें भुक्तभोगी का आक्रोश और प्रखरता नहीं है, क्योंकि ऊँची जाति में उत्पन्न होने के कारण उन्होंने इनका दंश नहीं भोगा था। वे जीवन की सार्थकता भगवान के निरंतर ध्यान और नामस्मरण में ही मानते थे—

रैण गँवाई सोई कै, दिवस गवाँइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ।।

**बादूदयाल**—(1544-1602 ई.) इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था। इनकी जाति के संबंध में मतभेद हैं। कुछ लोग उन्हें ब्राह्मण, कुछ लोग मोची और कुछ लोग धुनिया मानते हैं। इनके संप्रदाय में इन्हें ब्राह्मण ही माना जाता है। यद्यपि इन्होंने अपने अलग संप्रदाय की स्थापना की, किंतु इनके दोहे और पद कबीर जैसे ही हैं। इनकी वाणियों का संग्रह "हरड़ेबानी" या "अंग बन्धु" के नाम से किया गया है। इनकी दूसरी रचना "काया बेलि" है। इन्होंने भी अपनी कविता में ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जातिपाँति का निराकरण, हिंदू मुस्लिम अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध आदि का कथन किया है, किंतु खंडन-मंडन के प्रति इनकी रुचि नहीं थी। इनका व्यक्तित्व विनम्रता और मधुरता से परिपूर्ण था। जहाँ इन्होंने निर्गुण-निराकार निरंजन के प्रति अपने प्रेम का निवेदन किया है, वहाँ यह सूफी भावापन्न दिखाई देने लगते हैं। इन्होंने प्रेम को ही परमात्मा का रूप और जाति बताया है। इनकी भाषा राजस्थानी के पुट वाली पश्चिमी हिंदी है। इन्होंने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी लिखे हैं। गरीबदास और मिसकीन दास इनके पुत्र थे। इनके वीरता के उपदेश का गलत अर्थ लेकर इनके अनुयायिओं का एक दल नागाओं के रूप में लड़ाकू बनकर रह गया।

**सुंदरदास**—(1569-1689 ई.) यह धौसा (राजस्थान) के खंडेवाल बनिये थे। इन्होंने बहुत छोटी अवस्था में दादू का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। इन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी। इन्होंने काशी में रहकर दीर्घकाल तक शास्त्राभ्यास किया था जिसका प्रतिबिम्ब इनकी कविता में दिखाई देता है। यह एकमात्र ऐसे निर्गुणधारा के कवि हैं जो शास्त्रों और काव्यरीति से बहुत अच्छी तरह परिचित थे और देशाटन के कारण विभिन्न प्रदेशों के आचार-विचार का इन्हें अच्छा ज्ञान था। इन्होंने मँजी हुई ब्रजभाषा में साहित्यिक गुणों से युक्त सरस काव्य की रचना की है, लेकिन जहाँ कहीं इन्होंने अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन का प्रयत्न किया है वहाँ इनकी कविता कृत्रिम हो गयी है। इन्होंने छोटे-बड़े अनेक ग्रंथ लिखे थे जिनमें से "सुंदर विलास" सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

**मलूकदास**—(1574-1682 ई.) इनका जन्म कड़ा, इलाहाबाद के एक खत्री परिवार में हुआ था। यह औरंगजेब के समकालीन थे। इनके संबंध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं। यह निर्गुण परमात्मा को दिल के अंदर खोजने का उपदेश देते थे। इनकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं "रत्नखान और ज्ञानबोध"। इन्होंने हिंदू-मुसलमान दोनों को समान भाव से उपदेश दिया। अतः इनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। इनकी भाषा व्यवस्थित और साहित्यिक है।

इन संत कवियों के अतिरिक्त और भी बहुत से संत हुए हैं। जिन्होंने काव्य रचना की है।

## 10.4 निर्गुण संत कवियों का समाज सुधारक रूप

### 10.4.1 पददलित जातियों में आत्मसम्मान का उदय

भारतीय समाज बहुत दिनों से जाति-विभाजित समाज रहा है। इसलिए जातीय श्रेष्ठता या निकृष्टता का यहाँ विशेष महत्त्व रहा है। ऊँच-नीच जातियों में विभाजित समाज में एक वर्ग बड़े जमाने से शोषित होता चला आ रहा था। निम्न समझी जाने वाली इन जातियों को बराबर अदमानना की दृष्टि से देखा गया और इन्हें कुचला-दबाया गया। इस अन्याय के प्रति इनमें विद्रोह का भाव बराबर पनपता रहा। निर्गुणधारा के ज्ञानमार्गी कवियों की विद्रोही वाणी के रूप में इसी का विस्फोट हुआ है। इनकी प्रतिभा और भगवद्भक्ति ने इन्हें समाज में सम्माननीय स्थान दिलाया। रैदास के नीचे उद्धृत शब्द इसी की ओर संकेत कर रहे हैं–

जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवन्त
फिरहिं अजहुँ बनारसी आसपासा।
आचार सहित विप्र करहि डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा।।

कबीरदास तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–

"एक ज्योति ते सब उत्पन्ना कौन बामन कौन सूदा"

इन संतों को समाज में जो सम्मान मिला, उससे पददलित जातियों में आत्मसम्मान का उदय हुआ। सामाजिक दृष्टि से यह भक्ति आंदोलन की बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

### 10.4.2 निर्गुण संत काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक भावभूमि का वैशिष्ट्य

हिंदी का भक्तिकालीन काव्य एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति की उपज है। इसलिए भक्तिकालीन की सभी धाराओं और शाखाओं में कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो सबमें समान रूप से मिलती हैं। लेकिन इनमें से प्रत्येक धारा में कुछ ऐसी विशिष्टता भी है जो उनके निजी वैशिष्ट्य को निर्मित करती है। निर्गुणधारा के अधिकांश संत कवि नीची मानी जाने वाली जातियों में जन्मे थे। जिन्हें न जाने कबसे दबाया-कुचला गया था। अतः इन संतों की भावभूमि विद्रोहात्मक है। यह जातिपाँति, छुआछूत ऊँचनीच, बाह्याचार, कर्मकांड आदि के घोर विरोधी हैं और मानते हैं कि

"जातिपाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।"

इनका विरोध भाव कभी-कभी बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है और यह पंडित, मुल्ला, अवधूत आदि सभी को चुनौती देने लगते हैं।

"काँकर पाथर जोरि के मसजिद लई बनाई
ता चढ़ि मुल्ला बांग दै बहरा हुआ खुदाई।"

अथवा

"अरे इन दो उन राह न पाई
हिंदू अपनी करें बढ़ाई गागर छुअन न दैवें काई।

उनकी सामाजिक स्थिति ने यदि कुछ संत कवियों को उग्र बनाया है तो कुछ को अत्यंत विनम्र। अधिकांश संत कवियों को शिक्षा का सुयोग भी प्राप्त नहीं हुआ था, लेकिन वे प्रतिभावान थे। अतः उन्होंने अपना ज्ञान अनुभव और संतसंग से प्राप्त किया था इस प्रकार अर्जित ज्ञान पर उन्हें गर्व था। उनके ज्ञान गर्व ने चमत्कार पूर्ण रूपकों, उक्तियों और उलटबाँसियों के रूप में अभिव्यक्ति पायी है। उनकी उक्तियाँ अत्यधिक मार्मिक बन पड़ी हैं इसका कारण उनका यथार्थ अनुभव और सहज तर्क है। कबीरदास जब सहज तर्क का उपयोग करते हुए ब्राह्मण और तुर्क से पूछते हैं तो दोनों में से किसी से उत्तर नहीं बन पड़ता–

जो तू बाभन बाभनि जाया, और राह तें काहे न आया?
जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटे काहे न सुनत कराया?

भला भरमि परै जिन कोई
हिंदू तुरक झूठ कुल दोई।

**विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक भावभूमि की कविता होने के कारण ही संत काव्य की अलग पहचान बनी है। इस अलग पहचान में संत कवियों के व्यक्तित्व की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।**

**बोध प्रश्न 1**

1) "संत काव्य" से तात्पर्य किन कवियों की रचनाओं से है?

.....

.....

2) ज्ञानमार्गी शाखा में ज्ञान का क्या अर्थ हैं? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन से कवि निर्गुण संत परंपरा से संबंधित हैं। (✓) अथवा (✗) का निशान लगाकर उत्तर दीजिए।

i) कबीर

ii) नानक

iii) जायसी

iv) नंददास

v) रैदास

vi) दादू

vii) कुतबन

## 10.5 निर्गुण संत काव्य का भावपक्ष

### 10.5.1 संत काव्य में राम

हिंदी में निर्गुण पंथ की संस्थापना कबीरदास ने की थी। कबीरदास रामानंद के शिष्य थे। रामानंद के श्री संप्रदास का मंत्र "ॐ रामायनमः" है। कबीरदास को राम नाम वहीं से मिला। रामानंद उदार गुरु थे। उन्होंने अपने सभी शिष्यों को उन्मुक्त रखा। इसलिए कबीर ने राम नाम अपने गुरु से ले तो लिया, लेकिन उसका अर्थ अपने ढंग से किया। कबीर के लिए राम दशरथ पुत्र राम नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है–

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

तब कबीर के लिए राम क्या है? केवल कबीर के ही नहीं बल्कि सभी संतों के लिए राम का अर्थ निर्गुण निराकार ब्रह्म है। वैष्णव भावना से प्रभावित होते हुए भी संत अवतारवाद में आस्था नहीं रखते थे।

### 10.5.2 संतों के दार्शनिक सिद्धांतों की विशेषताएँ

अधिकांश संतों को व्यवस्थित शिक्षा नहीं मिली थी। उन्होंने इसकी पूर्ति विभिन्न प्रभावों

को ग्रहण करके की थी उस पर भारतीय ब्रहमवाद, हठयोगियों की साधना वैष्णवों की अहिंसा और प्रपत्तिवाद सुफियों की प्रेम भावना, मुसलमानों के एकेश्वरवाद आदि का प्रभाव पड़ा था। इस प्रभाव को उन्होंने अपने ढंग से ग्रहण किया था। इसलिए उनके दार्शनिक सिद्धांत अपनी विशिष्टता और नवीनता लिये हुए हैं। यह बात नीचे के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगी–

**ब्रह्म**–की दार्शनिक अवधारणा ऐसी है जिस पर भारत में अत्यंत प्राचीन काल से विचार होता आया है और उसका कोई सर्वमान्य स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है। वैदान्तियों के लिए ब्रहम वह परम सत्ता है जो अनंत, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। संत कवियों ने इस ब्रहम को स्वीकार करते हुए उसमें मुस्लिम एकेश्वरवाद को भी मिला कर एक नया स्वरूप गढ़ा है। कबीरदास अपने एक पद–"जबथै आतम तत्व विचारा"–में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि "वह ब्रहम व्यापक है, सबमें एक भाव से व्याप्त है, पंडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँति का प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भांड दिख रहे हैं, सब कुछ उसी का रूप है।" सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है–

खालिक खलक खलक में खालिक, सब घट रहा समाई।

ब्रहम का यह स्वरूप अन्य संतों में भी मिलता है, यद्यपि इस स्वरूप में अन्य संतों में थोड़ा-बहुत अंतर भी मिलता है।

**जीव**–अद्वैतवादी दर्शन में माया संवलित आत्मा को जीव कहते हैं। कबीर आदि संतों की तमन्यता भी ऐसी ही है। एकेश्वरवाद के अनुसार खुदा और बंदे की द्वैत मान्यता संतों को स्वीकार्य नहीं है। ब्रहम या परमात्मा से जीव जो अलग दिखाई देता है उसका कारण माया अथवा अज्ञान है, अन्यथा जीव ब्रहम में से ही उत्पन्न हुआ है और अंततः उसी में उसे लय हो जाना है।

पाणी ही ते हिम भया, हिम है भया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ।।

यह तात्विक दृष्टि है। व्यावहारिक स्तर पर तो संत भी जीव का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। तभी तो वे जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, नर-नारी आदि के भेद को स्वीकार करते हुए खंडन-मंडन में प्रवृत्त होते हैं।

**जगत**–संतों की जगत की धारणा अद्वैतवादियों जैसी है। कबीरदास ने जगत को परमात्मा का प्रतिबिंब माना है–

खंडित मूल बिनास कहै किम बिगतह कीजै।
ज्यूँ जल मैं प्रतिबिंब त्यूँ सकल रामहिं जाणीजै।।

जब ब्रहम अपनी लीला का स्तर विस्तार करता है तब इस नामरूपात्मक जगत की सृष्टि होती है, जिसे वह इच्छा होने पर अपने में ही समेट लेता है–

इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपसूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे मेलै।।

शंकराचार्य ने ब्रहम को सत्य और जगत को मिथ्या कहा था। उन्होंने इस संसार को स्वप्नवत बताया। कबीरदास भी यही कहते हैं–

संसार ऐसा सुपिन जैसा जीवन सुपिन समान।

**माया**–अद्वैतवादी वेदांत में माया की अवधारणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। शंकराचार्य ने माया और अविद्या को प्रायः एक ही माना है। माया "त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृति" है, जो सचराचर जगत को उत्पन्न करती है। कबीर आदि संतों ने भी इस संसार को मायाकृत माना है। उनके अनुसार जो माया में लिपटे रहते हैं वे दुःख में पड़े हुए भी उसे समझ नहीं पाते। मायालिप्त मनुष्य को परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर माया के पाँच पुत्र हैं। माया ही वासनाओं को जन्म देती है। वह पाखंड की जननी है। वह अनेक रूप धारण करके मनुष्य को ठगती रहती है। ब्रहम में जो माया है,

पिंड में वही कुंडलिनी है। माया के बंधन से कबीर जैसा कोई विरला संत ही बच पाया है। स्पष्ट है कि कबीर आदि संतों ने माया के संबंध में जो कुछ कहा है वह वेदांत द्वारा निर्धारित माया के स्वरूप से मेल खाता है।

**मोक्ष**—मोक्ष का अर्थ है मुक्ति या छुटकारा। माया या अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। ऐसा हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। कबीर आदि संतों की गर्वोक्तियों में मोक्षप्राप्ति के संकेत विद्यमान हैं। एक स्थान पर कबीर ने लिखा है—

हम न मरैं मरिहैं संसारा, हमकूँ मिल्या जिवावनहारा।
अब न मरौं मरनै मन माना, तेई मुए जिन राम न जाना।।

अमरत्व का यह बोध इसलिए है कि जीव और परमात्मा के बीच से माया या अज्ञान का आवरण हट गया है, दोनों मिलकर एक हो गये हैं, आत्मा परमात्मा में लय हो गया है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि।
सब अँधियारा मिट गया, दीपक रेखा माहि।।

## 10.5.3 साधना पक्ष—निर्गुण काव्य में रहस्यवाद

परम सत्ता की भावात्मक अनुभूति को रहस्यवाद कहा जा सकता है। रहस्यवाद संत काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। संत काव्य में इसके दो रूप मिलते हैं—हठयौगिक रहस्यवाद और सूफियों से प्रभावित प्रेमसंलक्षण रहस्यवाद। हठयौगिक रहस्यवाद में "जो ब्रह्मांड में है वही पिण्ड में है" के सिद्धांत को मानकर साधक अपनी काया को साधता है और परमानन्द को प्राप्त कर उसमें लीन हो जाता है। कुण्डलिनी विभिन्न चक्र, अनहद नाद इत्यादि की चर्चा इस प्रकार के रहस्यवाद में अक्सर की जाती है। और अलौकिक सिद्धियों का दावा किया जाता है। हिंदी के संत कवियों के काव्य में इस प्रकार के रहस्यवाद के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। कबीर का यह प्रसिद्ध पद इसी प्रकार के रहस्यवाद का उदाहरण है।

रस गगनि गुफा में अजर झरै।
अजपा सुमिरन जाप करे।।
बिनु बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिनु चन्दा उजियारी दरसै जहँ तहँ हंसा नजरी परै।।
दसवैं द्वारै ताड़ी लागी अलख पुरुख जाकौ ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै काम-क्रोध मद लोभ जरै।।
जुमन जुमन की त्रिखा मुझाती करम भरम अद्य ब्याधि टरै।
कहै कबीर सुनौ भाई साधों अमर होई कबहू न मरै।।

## 10.5.8 सूफियों के प्रेमदर्शन का प्रभाव

सूफी परमात्मा को प्रेमस्वरूप मानते हैं और उसे प्रेम के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं। सूफियों के इस प्रेमदर्शन का प्रभाव संत कवियों पर भी पड़ा है और इसने संत काव्य में प्रेमसंलक्षण रहस्यवाद को जन्म दिया है। सूफियों से प्रभावित होते हुए भी संतों की प्रेम पद्धति भारतीय ही रही है। अर्थात् उन्होंने परमात्मा को प्रियतम माना है और स्वयं को प्रियतमा। "हरि मोर पिंड मैं राम की बहुरिया" कहते समय कबीर इसी प्रेम सम्बन्ध की बात करते हैं। इस सम्बन्ध को लेकर संयोग और वियोग दोनों के चित्र खड़े किये गये हैं। संयोग की अपेक्षा वियोग के चित्रों में अधिक तथ्य हैं—

इस तन का दीया करौं, बाती मूल्यूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव।

परमात्मा के साथ पति-पत्नी सम्बन्ध के अतिरिक्त उसे पिता, माता, सखा आदि के रूप में भी संतों ने देखा है, और यह भी रहस्यवाद ही है।

## 10.5.5 नाथों सिद्धों का प्रभाव

निर्गुण संत काव्य पर नाथों सिद्धों का गहरा प्रभाव है। इसलिए संत कवियों ने नाथों-सिद्धों से न केवल काव्य वस्तु बल्कि काव्य रूपों को भी ज्यों का त्यों ले लिया। संत काव्य के तमाम पारिभाषिक शब्द उन्हीं से आये हैं। यह अलग बात है कि संतों ने उन शब्दों में से अनेक की व्याख्या अपने ढंग से की है। उदाहरण के लिए "सहज" शब्द को प्रस्तुत किया

जा सकता है। सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धों में यह शब्द जब बहुत सस्ता और भ्रष्ट हो गया तो कबीरदास ने इसे नया अर्थ देते हुए लिखा–

सहज-सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ।।

इस प्रभाव के कारण नाथों-सिद्धों की तथा संत कवियों की उक्तियों में अद्‌भुत साम्य है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा–

गोरखनाथ की उक्ति–

उठ्याखण्डुम खण्डुम जागत सूता।।
तनि भुवने खेलुम आलग तयतो अवधूत।।

दादू की उक्ति–

ऊभा खण्ड बैठा खण्डूँ-खण्डूँ जागत सूता।
तीन भुवनते भिन्न है खेलूँ तौ गोरख अवधूता।।

## 10.5.6 वैष्णव चिन्तन-परम्परा का प्रभाव

निर्गुण धारा के संत कवियों पर वैष्णव चिन्तन-परम्परा का गहरा प्रभाव पड़ा है। कबीर ने बार-बार वैष्णवों की प्रशंसा की है और शाक्तों की निंदा की है। उन्होंने शाक्तों को कुत्ता तक कहा है। उन्होंने अपनी एक साखी में लिखा है–

साषत बाँभण मति मिलै, बैसनौं मिलैं चँडाल।
अंक माल दे भेंटिये, मांनौ मिले गोपाल।।

वैष्णवों के प्रति कबीर आदि संतों की इस अतिरिक्त श्रद्धा का कारण यह है कि उन्हें राम, गोपाल आदि नाम ही वैष्णवों से नहीं मिले हैं अपितु इनके प्रति भक्ति भावना भी वैष्णवों से ही मिली है। निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक होने पर भी जब संत भक्ति के प्रभाव में बहने लगते हैं तो सगुण उपासक लगने लगते हैं। संतों ने सात्विक और सहज जीवन जीने पर अत्यधिक बल दिया है उन पर यह भी वैष्णव प्रभाव ही है। स्पष्टतः उन्होंने अहिंसा का तत्व वैष्णव सम्प्रदाय से लिया है इस मामले में हिन्दू-मुसलमान शाक्त सभी की निंदा की है–

बकरी पाती खाति है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल।।
दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तों खून वह बन्दगी, कैसे खुशी खुदाय।।

## 10.5.7 निर्गुण काव्य-परम्परा की अन्य विशेषताएँ

ऊपर विवेचित विशेषताओं के अतिरिक्त निर्गुण संत काव्य की कुछ और सामान्य विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं। इस संप्रदाय में नामोपासना का विशेष महत्व माना गया है। संतों ने गुरु को गोविन्द से भी अधिक महत्व दिया है, क्योंकि इनकी मान्यता है कि बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता। ये लोग रूढ़िबद्ध और कठोर साधना पद्धतियों के विरोधी थे। इन्होंने सात्विक सहज जीवन और वैयक्तिक साधना को स्वीकार किया है। ये लोग सबकी समानता में आस्था रखते थे।

**बोध प्रश्न 2**

लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

1) निर्गुण संत काव्य में राम का क्या अर्थ है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) संत काव्य में ब्रह्म से क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) संत कवियों पर सूफियों का क्या प्रभाव पड़ा?

.....

.....

.....

.....

.....

4) वैष्णव चिंतन परंपरा ने उन्हें किस रूप में प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

.....

## 10.6 निर्गुण काव्यधारा का अभिव्यंजना पक्ष

निर्गुण काव्यधारा के संत कवि कविता लिखने के लिए कविता नहीं लिखते थे। वे कलावादी नहीं थे। उन्होंने कविता को साधन के रूप में अपनाया है, साध्य के रूप में नहीं। इसलिए उनकी कविता में अभिव्यंजना पक्ष की विशेषताएँ अनायास सिद्ध विशेषताएँ हैं—यह बातें आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायेंगी।

### 10.6.1 काव्यरूप

संत काव्य प्रधानतः मुक्तक काव्य के रूप में लिखा गया है। संतों ने मुक्तक काव्य में सबसे अधिक साखी, शब्द और रमैनी की रचना की है। साखियों में ज्ञान, आध्यात्मिक अनुभव तथा सामाजिक अनुभव को व्यक्त किया गया है। साखियों के लिए प्रयुक्त मुख्य छन्द दोहा है। संतों ने आत्मनिवेदन आदि के उद्गारों को प्रकट करने के लिए शब्द (सबद) अर्थात् गेय पदों की रचना की है। इनमें आकारगत विषमता मिलती है। किसी विषय को लेकर विवरणात्मक रचनाएँ दोहा-चौपाई छन्दों को अपनाते हुए रमैनी के रूप में लिखी गयी हैं। इनके अतिरिक्त संतों ने बारहमासा माहत्म्यों, सहस्त्रनामों जैसे काव्यरूपों को भी अपनाया है। चाँचर, बसन्त, फाग, हिंडोला, बेलि ककहरा, वणजारा, ब्याहुलो, बिरहुली आदि लोकगीतों के रूप में भी अपनी रचनाएँ लिखी हैं। संतों ने चाहे कोई भी काव्यरूप अपनाया हो, बात अपनी ही कही है।

### 10.6.2 काव्य भाषा

निर्गुण धारा के संत कवियों ने भोजपुरी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी आदि हिंदी की विभाषाओं को आधार भाषा के रूप में अपनाया है, लेकिन उन्होंने आधार भाषा कोई भी अपनाई हो, उसमें अनेक बोलियों और भाषाओं के रूपों और शब्दों का मिश्रण हुआ है, जिसके कारण संतों की काव्य भाषा ने एक अलग ही रूप धारण कर लिया है। इसीलिए सामूहिक रूप इस भाषा को "सधुक्कड़ी" भाषा कहा जाता है। उदाहरण के लिए कबीर के

काव्य में ही 'पावल', 'रावल', 'लूतल', 'सूतल' जैसे भोजपुरी के शब्द मिल जाते हैं तो 'जीभड़ियों', 'दुखड़ियों' जैसे पंजाबी शब्द 'संताणी', 'आपण', 'रैणा' आदि जैसे राजस्थानी शब्द मिलते हैं तो 'लागा', 'भागा', 'आऊंगा', 'चित लाऊंगा', 'मिलाऊंगा' जैसे खड़ी बोली के शब्द भी मिलते हैं। इसमें अव्यवस्था अपरिष्कार और व्याकरणच्युति मिलती है, लेकिन प्रामाणिक अनुभव और अपनी सहज सरलता के कारण यह भाषा अनायास ही बड़ी-बड़ी बातें मार्मिक ढंग से कह सकने में समर्थ हुई हैं। भाषा का परिष्कृत और परिमार्जित रूप न होने पर भी इस काव्य में कहीं-कहीं विलक्षण प्रभावात्मकता और चमत्कार है।

### 10.6.3 प्रतीकात्मकता

संतों ने अपनी बात कहने के लिए प्रतीकों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। आत्मा, परमात्मा, माया, संसार इत्यादि के लिए कमलिनी, सरोवर, जल, नागिन, नाग, वृक्ष, पक्षी इत्यादि तमाम प्रतीक प्रयोग में किए गए हैं। अनेक प्रतीक हठयौगिक साधना पद्धति से लिए गए हैं। उलटबाँसियाँ तो प्रतीकों से भरी पड़ी हैं। उदाहरण के लिए कबीर की निम्नलिखित साखी में दीपक जीवन का, पावक ज्ञान का, तेल भक्ति का और पंतग माया का प्रतीक है–

दीपक पावक आँणिया, तेल भी आंण्या संग।
तीन्यूं मिलि जोइया, तब उडि-उडि पडैं पतंग।।

प्रतिभा सम्पन्न संत कवियों की कविता भावावेग में प्रायः बिम्बात्मक हो उठी है। उनकी कविता में कुछ मिथकीय प्रयोग भी मिलते हैं।ये प्रयोग पौराणिक संदर्भों एवं हठयोग आदि से संबंधित हैं।

### 10.6.4 उलटबाँसी शैली

योगी सहजयानी और तान्त्रिक इस बात का दावा करते थे कि वे तीन लोक से न्यारे हैं। सारी दुनिया अज्ञानवश उलटी बह रही है, सही रास्ते पर वही चल रहे हैं। अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने उलटबाँसी की शैली अपनायी अर्थात् सामान्य लोगों तथा प्रकृति के सामान्य आचार-व्यवहारों एवं क्रियाकलाप से उल्टी बात कहना। कबीर आदि संत कवियों ने भी इस शैली को अपनाया और उलटबाँसियाँ लिखीं। अपनी उलटबाँसियों से उन्होंने सामान्य लोगों को चमत्कृत किया। भला ऐसी बातें पढ़-सुनकर कौन चमत्कृत नहीं होगा–

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथ्या, मैं रहया उभेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै।। (कबीर)

लेकिन जब हम यह जान लेते हैं कि मूसा जीवात्मा है और हस्ती मन है, तो सब समझ में आ जाता है। दरअसल उलटबाँसियों में प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। प्रतीकार्थ जान लेने पर उलटबाँसियाँ सीधी हो जाती हैं, अन्यथा पहेली बनी रहती हैं।

### 10.6.5 अलंकार

संतों का काव्य अलंकारहीन नहीं है, किन्तु उन्होंने अलंकारों की योजना सायास नहीं की है। उनके काव्य में जो अलंकार मिलते हैं वे सहज आ गये हैं और इसीलिए सटीक और सार्थक हैं। अनुप्रास, श्लेष आदि-आदि जैसे कुछ शब्दालंकारों को छोड़ दें तो संतों के काव्य में प्रधानता उपमामूलक और विरोधमूलक अलंकारों की है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक रूपकातिश्योक्ति विरोधाभास, असंगति आदि अलंकारों का संत कवियों ने सामान्यतः प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

**उपमा–** जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाई।
दादू पाणी लण ज्यों, ऐसे रहै समाइ।। (दादू)

**रूपक–** माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इबैं पड़ंत।
कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत।। (कबीर)

**असंगति–** कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आई।
अन्तरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराई।। (कबीर)

**अन्योक्ति–** रैणा दूर बिछोहिया, रहु रे संषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि।। (कबीर)

**विभावना–** सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूँद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माँहि।। (कबीर)

**दृष्टान्त–** मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं बिलग।
लूंण बिलगा पाणियां, पांणी लूंण बिलग।। (कबीर)

तात्पर्य यह कि यदि संतकाव्य में अलंकारों के उदाहरण खोजे जायें तो तमाम अलंकारों के उदाहरण मिल जायेंगे, लेकिन अलंकार संतों का लक्ष्य नहीं थे।

### 10.6.6 छंद

संतों ने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है। रमैनी में दोहा, चौपाई और सोरठा का उपयोग किया गया है। साखियों में प्रधान छंद तो दोहा है, लेकिन इसके अतिरिक्त सोरठा, सार हरिपद, चौपाई, चौपई, दोही, सरसी, मुक्तामणि, श्याम, उल्लास या छप्पय जैसे अनेक छंद प्रयुक्त हुए हैं। सबद या पद गेय गीत हैं जो अनेक छंदों से मिलकर बने हैं। ये गूजरी, मारू, विभास, भैरव विलावल जैसे रागों में बंधे हैं। अनेक संत कवियों ने कवित्त, सवैया, कुण्डलिया जैसे छंदों में भी कविता लिखी है। कहीं-कहीं उर्दू की कुछ बहरों के उदाहरण भी मिल जाते हैं। छंदोभंग संत काव्य में सामान्यतः सुलभ हैं, किंतु पदों की लय इस दोष का परिहार कर देती हैं।

## 10.7 संत काव्य में जीवन-दर्शन और मूल्य

जीवन दर्शन को लेकर संत काव्य में अन्तर्विरोध की स्थिति दिखाई देती है। संत लौकिक और अलौकिक जीवन-मूल्यों को एक साथ लेकर चलते हैं। वे लोक को भी महत्व देते हैं और परलोक को भी। वे एक ओर मानव जीवन की नश्वरता की भी बात करते हैं और दूसरी ओर सामाजिक जीवन में व्याप्त हर प्रकार की विषमता की कटु आलोचना भी करते हैं। संतों के जीवन-दर्शन का यह विरोध उस युग की देन है। यदि हम संत कवियों की आध्यात्मिकता को, परलोक-चिंता को अनदेखा कर दें तो उन्हें निःसंकोच मानवतावादी कहा जा सकता है। वे मनुष्य को महत्व देते हैं, उसके धर्म या जाति को नहीं। उनका सबसे बड़ा मूल्य है सहज जीवन। कथनी और करनी की एकता में उनकी गहरी आस्था है–

जैसी मुख मैं नीकसै, तैसी चालै चाल।
पारब्रहम नेड़ां रहै, पल मैं करै निहाल।। (कबीर)

## 10.8 मूल्यांकन

संत काव्य का मूल्यांकन दो दृष्टियों से किया जा सकता है–एक सामाजिक दृष्टि से, और साहित्यिक दृष्टि से। सामाजिक दृष्टि से इस काव्य का महत्व असंदिग्ध है। संतों ने संघर्ष और सामाजिक अस्थिरता के उस समय में हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए स्वीकार्य सामान्य उपासना-पद्धति को निकाल कर महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में जाति-धर्म निरपेक्ष मनुष्य को स्वीकार करके मानवतावादी दृष्टि की स्थापना की। उन्होंने मनुष्यत्व की सामान्य भावना को सामने रखकर उस समय के निम्न श्रेणी के लोगों में आत्मगौरव की भावना को जगाया और भक्ति के उच्चतम स्तर पर पहुँचने का मार्ग उनके लिए प्रशस्त किया। यही कारण था कि संतों को भारतीय समाज में इतनी व्यापक स्वीकृति मिली।

साहित्यिक दृष्टि से भी संतकाव्य का महत्व कम नहीं है। अगर कुछ संत कवियों की चमत्कारमूलक उक्तियों को छोड़ दें तो संतों ने अपनी बात सीधे और सरल ढंग से कही है। उनका काव्य यदि आज भी आकर्षित करता है तो अपनी अन्तर्वस्तु के बल पर, न कि कलात्मकता के बल पर। उनका काव्य सिद्ध करता है कि साहित्य में कला की अपेक्षा कथ्य का महत्व अधिक होता है।

**बोध प्रश्न 3**

1) निर्गुण काव्यधारा में किन काव्यरूपों की प्रधानता है?

.....

.....

.....

.....

2) निर्गुण संतकवियों की भाषा की विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) उलटबाँसियों पर चार पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

4) संत काव्य के जीवन दर्शन की विशेषताएँ क्या है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5) संत काव्य का सामाजिक साहित्य महत्व क्या है? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 10.9 पारिभाषिक शब्दावली

संत कवियों ने अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं, जिनमें से प्रमुख शब्द और उनके अर्थ यहाँ दिये जा रहे हैं।

**अद्वैतवाद**—शंकराचार्य के द्वारा स्थापित वेदान्त का वह दार्शनिक सिद्धान्त, जिसके अनुसार सत्य केवल ब्रह्म है, बाकी सब कुछ मिथ्या या भ्रम है।

**अनहद नाद**—कुण्डलिनी जब जाग्रत होकर ऊपर को उठती है तो उससे विस्फोट होता है, जिसे नाद कहते हैं। यह व्यक्ति साधक में होता है। इसी का विराट रूप ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जिसे अनहद या अनाहद नाद कहते हैं।

**अमृत रस**—ब्रह्मरन्ध्र के सहस्त्रार कमल में स्थित त्रिकोणात्मक योनि में से झरने वाला रस।

**अविधा**—माया, भ्रम, अज्ञान।

**आत्मा**—ब्रह्म का शुद्ध रूप।

**इंगला-पिंगला**—मनुष्य की रीढ़ की हड्डी में से जुड़ने वाली दो नाड़ियाँ।

**उन्मुनि रहनी**—मन के स्थिर हो जाने की अवस्था।

**उलटबाँसी**—प्रतीकों का सहारा लेकर लोकव्यवहार से उलटी बात कहना।

**एकेश्वरवाद**—मुसलमानों का खुदावाद। खुदा ही एक मात्र सत्य है और उसी ने यह सृष्टि रची है।

**कुण्डलिनी**—रीढ़ की हड्डी के प्रारम्भ होने के स्थान पर जो त्रिकोण या अग्नि चक्र है, उसमें स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वृत्तों में सर्पिणी की भाँति लपेटने वाली चीज को कुण्डलिनी कहते हैं। योगी साधना के द्वारा इसे जगाता है।

**चक्र**—रीढ़ की हड्डी के प्रारम्भ में स्थित अग्निचक्र से लेकर भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र तक मनुष्य के शरीर में छह चक्रों की कल्पना की गयी। कुण्डलिनी जाग्रत होकर इन्हीं चक्रों में से होकर ऊपर की ओर जाती है। इन छह-चक्रों के बाद मस्तक में शून्य व चक्र की कल्पना की गयी है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगों का चरम लक्ष्य है। इसी स्थान पर सहस्त्र दल वाला एक कमाल है जिसे सहस्त्रार चक्र, गगन मण्डल, कैलास आदि कहते हैं। संत मत में इसके भी ऊपर एक अष्टम चक्र-सुरति कमल की कल्पना की गयी है।

**जीव**—आत्मा का मायालिप्त रूप।

**निरंजन**—ब्रह्म।

**निरति**—बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति।

**निर्गुण**—सत्व, रज और तम गुणों से परे रहने वाला ब्रह्म।

**ब्रह्म**—शुद्ध परम सत्ता।

**ब्रह्मरन्ध्र**—तालु के नीचे स्थित रन्ध। इसमें से अमृत झरता है। इसे चन्द्रमा भी कहते हैं।

**माया**—अविधा या अज्ञान।

**शून्य**—जीवात्मा की द्वंद्व रहित शुद्ध अवस्था।

**सुषुम्ना**—रीढ़ की हड्डी के बीचों बीच गुजरने वाली एक नाड़ी।

**हंस**—मुक्त आत्मा।

## 10.10 उपयोगी पुस्तकें


रामचन्द्र शुक्ल *हिंदी साहित्य का इतिहास* नागरी प्रचारणी सभा, बनारस।

सं. डॉ. नगेन्द्र *हिंदी साहित्य का इतिहास* नेशनल **पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।**

हजारी प्रसाद द्विवेदी *हिन्दी साहित्य की भूमिका* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

हजारी प्रसाद द्विवेदी *हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

हजारी प्रसाद द्विवेदी *कबीर* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

परशुराम चतुर्वेदी *उत्तर भारत की संत परम्परा।*

सं. परशुराम चतुर्वेदी *संत काव्य संग्रह।*

डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत *कबीर की विचारधारा।*

## 10.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखें, भाग 10.3.1
2) देखें, भाग 10.3.2
3) i) ✓ ii) ✓ iii) × iv) ×

**बोध प्रश्न 2**

1) देखें भाग 10.5.1
2) देखें भाग 10.5.2
3) देखें भाग 10.5.4
4) देखें भाग 10.5.6

**बोध प्रश्न 3**

1) देखें भाग 10.6.1
2) देखें भाग 10.6.2
3) देखें भाग 10.6.3
4) देखें भाग 10.7
5) देखें भाग 10.8

# इकाई 11 निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) काव्यधारा

**इकाई की रूपरेखा**


11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 सूफ़ी कौन थे?
11.3 सूफ़ी मत और सिद्धांत
11.4 सूफ़ी प्रेम काव्य परम्परा
  11.4.1 प्रेमाख्यान का स्वरूप
  11.4.2 प्रेमाख्यानों की मूल प्रेरणा
  11.4.3 प्रेमसाधना में तपस्या का सौन्दर्य
11.5 भाव व्यंजना और रस
  11.5.1 चरित्र-चित्रण
  11.5.2 प्रेम पद्धति की विशेषताएँ
11.6 रहस्यवाद
11.7 सूफ़ी काव्य में भारतीय अभारतीय तत्व
11.8 काव्यरूप या प्रबंध कल्पना और कथानक रूढ़ियाँ
11.9 प्रतीकात्मकता
11.10 काव्य-भाषा, अलंकार, छंद
11.11 मूल्यांकन
11.12 पारिभाषिक शब्दावली
11.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
11.14 बोध प्रश्नों और अभ्यासों के उत्तर


## 11.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) काव्य के काव्यों की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सूफ़ी काव्य की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे और "सूफ़ी" शब्द के विषय में बता सकेंगे,
- सूफ़ीमत और सिद्धांत की आंतरिक और बाह्य विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे,
- सूफ़ी काव्य-परम्परा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सूफ़ी काव्य में व्यक्त प्रेम तत्व के विषय में चिंतन कर सकेंगे,
- सूफ़ी काव्य में व्यक्त रहस्यवाद के बारे में बता सकेंगे,
- सूफ़ी काव्यों के भारतीय अभारतीय तत्वों की विशिष्टताओं का परिचय कर सकेंगे,
- सूफ़ी काव्य के कथ्य और शिल्प विधान की विशेषताएँ बता सकेंगे,
- सूफ़ी काव्यधारा के महत्व का प्रतिपादन कर सकेंगे, और
- भारतीय भक्ति आंदोलन के सन्दर्भ में हिंदी सूफ़ी काव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 11.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप भक्ति काव्य की निर्गुण ज्ञानमार्गी काव्यधारा का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आप निर्गुण भक्तिमत की दूसरी धारा प्रेममार्गी धारा के विषय में पढ़ेंगे। इस धारा के कवि सूफ़ी संत थे।

भारतीय भक्ति आंदोलन की लोक जागरणवादी भूमिका के निर्माण में हिंदी के सूफ़ी संतों के

काव्य का महत्व अविस्मरणीय है। इन सूफ़ी संतों ने **जाति-पाँति** और सम्प्रदायवादी की दीवारों को तोड़कर मनुष्य को एक नया प्रेम दर्शन प्रदान किया। सूफ़ी संतों का जनता ने इस देश में मुक्त हृदय से स्वागत किया और यही कारण है कि संत शब्द का अर्थ ही निर्गुणपंथी साधु हो गया। कबीर तथा जायसी जैसे महात्माओं ने एक ऐसी लोक संस्कृति के निर्माण में पूरी सहायता की जो लोक भाषाओं की शक्ति पर भरोसा करती हो। इन संतों ने यह बोध करा दिया कि संत का अर्थ हिन्दू महात्मा ही नहीं है बल्कि उसमें इस्लाम के सूफ़ी साधक भी आते हैं। निर्गुण प्रेममार्गी, निर्गुण ज्ञानमार्गी तथा सगुणकाव्य धारा के संतों ने हिंदी के भक्तिकाल में सामूहिक रूप से एक ऐसा भक्ति-काव्य रचा है जो हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म, दोनों के कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र की रूढ़ियों को चुनौती देकर एक सामान्य भक्ति मार्ग का निर्माण मानव मात्र के कल्याण के लिए करता है। पंडों, पुजारियों, मौलवियों-खलीफाओं की रीति-नीति के विरुद्ध ये सभी संत मूलतः प्रेम को जीवन का आधार बनाते हैं।

सूफ़ी संत काव्य के सामाजिक-सांस्कृतिक आधार को समझने के लिए शोषित वर्गों **विशेषकर** किसानों, जुलाहों, कारीगरों, व्यापारियों और सामंतों आदि के सामाजिक रिश्तों को समझना जरूरी है। इन रिश्तों को समझना इसलिए जरूरी है कि ये संत देश की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के भीतर से उत्पन्न हुए हैं। भक्ति-आंदोलन इस देश का सबसे विराट सांस्कृतिक नवजागरण है जिसने दूर-दूर तक जनता में जागृति का संचार किया। डॉ. रामविलास शर्मा का कथन महत्त्वपूर्ण है कि "संत साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्धधर्म या इस्लाम में या हिंदू धर्म में ढूँढ़ना सही नहीं है। इन धर्मों का उस पर असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मलिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं है, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं—जो मूलतः किसी प्राचीन धर्म ग्रंथ पर निर्भर नहीं है।" (परंपरा का मूल्यांकन पृ. 46) संत साहित्य का 15वीं 16वीं और 17वीं शताब्दी की जिन परिस्थितियों से सीधा रिश्ता है—वह भारतीय समाज के सामंतवादी ढाँचे के कमजोर पड़ने से है। भारतीय जीवन की सबसे बड़ी बाधा थी सामंतवाद। जिस ढाँचे को तोड़ने के लिए निर्गुण और सगुण भक्तिकाल ने क्रांतिकारी और ऐतिहासिक भूमिका अदा की है। संतों ने धार्मिक विद्वेष के बदले धार्मिक सहिष्णुता का मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

## 11.2 सूफ़ी कौन थे?

सूफ़ीमत इस्लाम धर्म की एक उदार शाखा है। जिसका उदय इस्लाम के अस्तित्व में आने के बाद हुआ। सूफ़ी संप्रदाय या मत का प्रवेश इस देश में ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (बारहवीं शताब्दी) के समय से माना जाता है। सूफ़ियों के चार संप्रदाय इस देश में मिलते हैं—(1) चिश्ती संप्रदाय (2) सोहरावर्दी संप्रदाय (बारहवीं शताब्दी) (3) कादरी संप्रदाय (पंद्रहवीं शताब्दी) (4) नक्सबंदी संप्रदाय (पंद्रहवीं शताब्दी)। इन सूफ़ी संतों के उच्च विचारों, सादा जीवन और व्यापक प्रेम के तत्ववाद ने भारतीय जन जीवन को आकृष्ट किया। भारतीय सूफ़ी संतों ने भारत में प्रचलित गाथाओं, लोक कथाओं का आश्रय लेकर अपने आध्यात्मिक विचारों को जनता तक पहुँचाया है। इस ढंग का प्रथम काव्य मुल्लादाऊद नामक सूफ़ी संत का "चंदायन" या "चंद्रावन" है।

"सूफ़ी" शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई, यह बात विद्वानों में विवाद का विषय रही है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि यह "सूफ़ा" से बना है जिसका अर्थ है—पवित्रता। इस धारणा के अनुसार "सूफ़ी" उन्हें ही कहना चाहिए जो व्यक्ति मन, वचन, कर्म से पवित्र कहे जा सकते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार "सूफ़ा" शब्द हृदय से निष्कपट या छल रहित व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसलिए सूफ़ी ऐसे व्यक्ति को ही कहना चाहिए जो परमात्मा के प्रति निश्छल प्रेम भाव रखता हो और समस्त प्राणियों के साथ भी निश्छल व्यवहार करता हो। एक तीसरा मत यह है कि "सूफ़ी" शब्द "सोफ़िया" से निकला है जिसका अर्थ "निर्मल ज्ञान" होता है। इस अर्थ के अनुसार निर्मल ज्ञानी व्यक्ति ही सूफ़ी कहलाने के अधिकारी कहे जा सकते हैं। चौथा मत यह है कि "सूफ़ी" शब्द "सफ" से निकला है—जिसका अर्थ है—"सबसे आगे की पंक्ति।" इस अर्थ के अनुसार "सूफ़ी" केवल उन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों को कहा जा सकता है जो "कयामत" के दिन ईश्वर के प्रियपात्र होने के

कारण सबसे आगे की पंक्ति में खड़े किए जाएँगे। पाचवाँ मत यह है कि यह शब्द "सुफ़" से बना है जिसका अर्थ "चबूतरा" होता है। यह शब्द विशेष रूप से अरब देश की किसी मस्जिद के प्रांगण में बने हुए किसी ऊँचे स्थान या चबूतरे को सूचित करता है जहाँ पर हज़रत मुहम्मद साहब के शिष्य एकत्र होकर परमात्मा का चिंतन करते थे और इन शिष्यों के स्वभाव के कारण ही इन्हें "सूफ़ी" नाम दिया गया। एक छठा महत्त्वपूर्ण मत यह है कि "सूफ़ी" शब्द वास्तव में "सूफ़" से बना है–जिसका अर्थ है–"ऊन"। यह केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता था जो मोटे ऊनी वस्त्रों का व्यवहार करते थे और भोग-विलास से दूर रह कर सीधा-सादा जीवन जीते थे। इनका जीवन केवल आध्यात्मिक साधना के प्रति समर्पित होता था। आजकल अधिकतर विद्वान और मुस्लिम आलिम आदि अंतिम मत "ऊन पहनने वाले सूफ़ी संत" को ही स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने "जायसी ग्रंथावली" की भूमिका में सूफ़ी और सूफ़ीमत का परिचय देते हुए कहा है कि "आरंभ में सूफ़ी एक प्रकार के फकीर या दरवेश थे जो खुदा की राह पर अपना जीवन ले चलते थे। दीनता और नम्रता के साथ बड़ी फटी हालत में दिन बिताते थे, ऊन के कंबल लपेटे रहते थे, भूख-प्यास सहते थे, और ईश्वर के प्रेम में लीन रहते थे। कुछ दिनों तक तो इस्लाम की साधारण धर्मशिक्षा के पालन में विशेष त्याग और आग्रह के अतिरिक्त इनसे कोई नई बात या विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती थी। पर ज्यों-ज्यों ये साधना के मानसिक पक्ष की ओर अधिक प्रवृत्त होते गए, त्यों-त्यों इस्लाम के बाह्य विधानों से उदासीन होते गए। फिर धीरे-धीरे अंतःकरण की पवित्रता और हृदय के प्रेम को ही मुख्य कहने लगे।" (पृ. 101) ज़ाहिर है कि सूफ़ी उन संत फकीरों को कहते थे जो सादा जीवन, उच्च विचार के साथ कठोर साधना का जीवन व्यतीत करते थे और भोग-विलास से दूर थे। ईश्वर के प्रेम में लीन रहना ही जिनके जीवन का उद्देश्य था।

## 11.3 सूफ़ी मत और सिद्धांत

सूफ़ी संतों की प्रेम-साधना पद्धति की दृष्टि को समझने के लिए आवश्यक है कि हम उनके मत और सिद्धांत से भली-भाँति परिचित हों। साथ ही हम यह भी जान सकें कि सूफ़ी प्रेम दर्शन का तात्विक आधार क्या है? सूफ़ी फकीरों ने तत्कालीन समाज के कष्टों को दूर करने के लिए व्यक्तिगत साधना की उच्च भूमि पर पहुँच कर लोकरक्षा के आदर्शों को स्थापित किया। कोई अहंकारी नया पंथ न चलाकर प्रेम-मार्ग के गुणों का बखान किया। विद्वानों का आदर किया और वेद पुराण कुरान को कल्याण पथ की ओर ले जाने वाले वचन घोषित किया। जायसी वेद मार्ग का खुले रूप से समर्थन करते हैं–

राघव पूज जाखिनी, दुइज देखाएसि साँझ।
वेद पंथ जे नहि चलहि, ते भूलहि बन माँझ?

जायसी ने रामानंद वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु के अहिंसामय वैष्णव विचार प्रवाह के भक्ति रस को मुक्त हृदय से अपना लिया। वे उग्र हिंसामय वाम मार्ग का साथ नहीं देते हैं। क्यों नहीं देते? इस वाम मार्ग के प्रति समाज में आदर का भाव न था। आ॰ रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि तंत्र-मंत्र वाले शाक्तों की निंदा तुलसीदास ही "जे परिहरि हरिहर चरण, भजहिं भूतगन घोर" नहीं करते हैं, सूफ़ी संत जायसी भी करते हैं। "मंत्र-तंत्र के प्रयोग करने वाले, भूत, प्रेत और यक्षिणी आदि सिद्ध करने वाले तांत्रिकों और शाक्तों के प्रति उस समय समाज मे भाव कैसे हो रहे थे, इसका पता राघवचेतन के चरित्र-चित्रण से मिलता है। शाक्त मत विहित मंत्र-तंत्र और प्रयोग आदि वेद विरुद्ध अनाचार के रूप में समझे जाने लगे थे।" (जायसी ग्रंथावली पृ. 99) इस कथन से यह वास्तविकता साफ तौर पर उभर कर सामने आ जाती है कि सूफ़ी फकीरों ने वैष्णव मत के अहिंसामय प्रेम को अपनाया। कारण–"प्रेमप्रधान वैष्णव मत के इस पुनरुत्थान में अहिंसा का भाव यों तो सारी जनता में आदर लाभ कर चुका था पर साधुओं और फकीरों के हृदय में विशेष रूप से बद्ध मूल हो गया था। क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या सगुणोपासक, क्या निर्गुणोपासक, सब प्रकार के साधु और फकीर इसका महत्त्व स्वीकार कर चुके थे।" निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले सूफ़ी पशुहिंसा के खिलाफ हैं और इनकी सहृदयता और कोमलता किसी भी सगुणोपासक भक्त से कम नहीं है।

भक्ति और उपासना के लिए सूफ़ी ईश्वर को अनंत सौंदर्य, अनंत शक्ति, अनंत गुणों का सागर मानते हैं। सूफ़ियों के एकेश्वरवाद बनाम अद्वैतवाद ने मंसूर के मुँह से

कहलवाया–"अनलहक" अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ'। फारस के शायर उमर खय्याम (मृ. सं. 1180) सनाई (मृ. सं. 1188) नियाजी (मृ. सं. 1260) और अत्तार (मृ. सं. 1227) ने अद्वैत दर्शन को नया रूप दिया–जिसे रूमी (मृ. सं. 1330) सादी (मृ. सं. 1349) हाफिज (मृ. सं. 1377) जामी (मृ. सं. 1447) जैसे कवियों ने आगे बढ़ाया। फारसी काव्य के इन अद्वैतवादी विचारों ने भारतीय सूफ़ियों को प्रभावित किया और हिंदी काव्य की प्रेमगाथा परंपरा को भी उस रंग में रंग दिया।

दरअसल, **पैगंबरी एकेश्वरवाद** और **दार्शनिक अद्वैतवाद** में भेद काफी गहरा है। पर भारत में आकर इन सूफ़ी साधकों ने शुद्ध "एकेश्वरवाद" जिसे "इजादिया" वर्ग के समर्थक मानते थे ग्रहण नहीं किया। इन सूफ़ियों ने चिंतन संपन्न अद्वैतवाद और विशेषकर अनुभूतिप्रधान अद्वैती भक्त संप्रदाय के प्रति आदर दिखाया और इसे ग्रहण किया। इस अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्य जगत् की तह में उसका केंद्र एक अखंड नित्य तत्व है और यही एक सत्य सत्ता है। फलतः "दृश्य जगत के नाना रूपों को उसी अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त आभास मानकर सूफ़ी लोग भावमग्न हुआ करते हैं।" इसी उदार भावमग्न स्थिति ने सूफ़ी प्रेम मार्ग को व्यापक बनाया है। जायसी ने लिखा है कि

> प्रेम पहार कठिन विधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर दै चढ़ा।।
> पंथ सूरि कर उठा अँकूरू। चोर चढ़ै की चढ़ मंसरू।।

प्रायः सूफ़ी ईश्वर और जगत् आत्मा-परमात्मा को एक मानते हैं। हाँ, सूफ़ियों ने ईश्वर का गुणादि के अनुसार भी वर्णन करते समय आपस में मतभेद प्रकट किया है। हल्लाज़ तथा जामी जैसे सूफ़ी कवि चिंतकों का मानना है कि ईश्वर केवल शुद्ध स्वरूप या सत्तामात्र निर्गुण एवं निर्विशेष है। इस पूरी बात को स्पष्ट करते हुए आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–"मुसलमान लोग एकेश्वरवादी हैं, इसीलिए बहुत लोग मुस्लिम सूफ़ी साधकों को भी एकेश्वरवादी समझ लेते हैं। बहुत लोग हिंदुओं के पुराने ग्रंथों में आए हुए अद्वैतवाद से एकेश्वरवाद को अभिन्न मानते हैं। परंतु सूफ़ी लोग ठीक एकेश्वरवादी नहीं हैं। उनका विश्वास बहुत कुछ इस देश के विशिष्ट द्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है।" (मध्य कालीन धर्म साधना पृ. 41) सूफ़ी मत के प्रेम सिद्धांत की रागानुगा भक्ति सिद्धांत से काफी निकटता दिखाई देती है।

सूफ़ी चिंतक मनुष्य के चार विभाग मानते हैं 1) नफ्स–विषय भाग वृत्ति या इंद्रिय 2) रुद्र (आत्मा या चित्त) 3) कल्ब (हृदय) 4) अक्ल (बुद्धि)। साधक (सालिक) का प्रथम लक्ष "नफ्स" के साथ युद्ध होना चाहिए। रूह और कल्ब द्वारा ही साधक साधना करता है।

सूफ़ी चार जगत मानते हैं (1) आलमे नासून अर्थात् भौतिक जगत् (2) आलमे मलकूत अर्थात् चित् जगत (3) आलमे लाहूत अर्थात् सत्य जगत या ब्रह्म (4) आलमे जबरूत अर्थात् आनंदमय जगत्। सत् ही चरम पारमार्थिक सत्ता है। अतः ब्रह्म को निर्गुण और अज्ञेय ही कहना चाहिए। ईश्वर को स्मरण (जिक्र) और ध्यान (मुराकबत) से ही पाया जा सकता है।

सूफ़ी मत में साधक की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं–(1) शरीयत–अर्थात् धर्मग्रंथ के विधि निषेध का सम्यक पालन। यह हमारे यहाँ का कर्मकांड भी कहा जा सकता है।

(2) तरीकत–अर्थात् बाहरी क्रिया-कलाप से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का ध्यान। इसे उपासना कांड कह सकते हैं।

(3) हकीकत–अर्थात् भक्ति और उपासना के प्रभाव से सत्य का बोध। इस बोध से ही साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है। इसे ज्ञान कांड समझना चाहिए।

(4) मारफत–अर्थात् सिद्धावस्था जिसमें कठिन उपवास और मौन आदि की साधना द्वारा अंत में साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है।

जायसी ने इन अवस्थाओं का उल्लेख "अखरावट" में किया है–

> कही "सरीअत" चिस्ती पीरू। उधरित असरफ और जहँगीरू।।
> राह "हकीकत" परै न चूकी। पैठि "मारफत" मार बूड़की।।

ईश्वर की सत्ता का सार प्रेम है। "इश्क मजाजी" (लौकिक प्रेम) ही इश्क हकीकी

(आध्यात्मिक प्रेम) की ओर ले जाने की स्थिति है। इस मार्ग में कई पड़ाव हैं–जिन्हें "मुलाकात" कहा जाता है। "साधक" "फना" से "बका" की ओर बढ़ता है। सूफ़ी ब्रह्मानंद का वर्णन लौकिक प्रेमानंद के रूप में करते हैं। सूफ़ी बराबर "खुदा के नूर को हुस्ने बुतां के परदे" में देखते हैं। ब्रह्म बिंब है और जगत् उसका प्रतिबिंब है। यह सिद्धांत प्रतिबिंबवाद कहलाता है जिसकी चर्चा "पद्मावत" में आती है। हिंदी के सभी सूफ़ी काव्यों में वेदांत के साथ हठयोग की बातों का समावेश सुफ़ियों ने किया है।

सूफ़ी साधक की "हाल" अवस्था समाधि है। इसके दो पक्ष हैं–त्याग पक्ष में साधक अपने को जगत् के अन्य पदार्थों से भिन्न समझने का भाव त्याग देता है। उसका अहं भाव नष्ट हो जाता है और प्रेम नशा छा जाता है। दूसरा पक्ष प्राप्ति का मार्ग है। साधक घर बार छोड़कर निकल पड़ता है वियोग में तड़पता है और प्रेम की तीव्रता से प्रिय को प्राप्त करता है।

**बोध प्रश्न 1**

i) इस देश में मिलने वाले चार सूफ़ी संप्रदायों के नाम बताइये?

.....

.....

.....

.....

ii) सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इस शब्द का मान्य अर्थ लिखिए। सूफ़ी किसे कहते हैं? अपना उत्तर लगभग सात पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) भारतीय भक्ति आंदोलन में सूफ़ियों की भूमिका पर प्रकाश डालिए। अपना उत्तर लगभग छः-सात पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iv) हाँ, ना में उत्तर दीजिए

जनता के कष्टों को दूर करने के लिए सूफ़ियों ने

– वाम मार्ग अपनाया

– वैष्णव प्रेम मार्ग अपनाया

– तांत्रिक साधना को चुना

v) सूफ़ी चिंतक मनुष्य के कौन से चार विभाग मानते हैं?

.....

.....

.....

.....

vi) सूफ़ी मत में साधक की चार अवस्थाएँ कौन-कौन-सी हैं?

.....

.....

.....

.....

vii) सूफ़ी साधक चार जगत् कौन से मानते हैं?

.....

.....

.....

.....

## 11.4 सूफ़ी प्रेमकाव्य-परंपरा

जायसी से पूर्व हिंदी प्रेमाख्यानक काव्यों की एक समृद्ध परंपरा मिलती है। सूफ़ी प्रेमाख्यान काव्यों से पूर्व की परंपरा पर प्राकृत अपभ्रंशों के चरित काव्यों की परंपरा का गहरा असर है। यह असर लोकगाथात्मक प्रेमाख्यानक काव्यों–'ढोला मारू रा दूहा', 'सदयवत्स-सावलिंगा', 'वीसलदेव रासो' आदि में दिखाई देता है। अपभ्रंश और अवहट्ठ के काव्य संदेश रासक, नेमिनाथ चडमई आदि भी प्रेमाख्यानक काव्य ही हैं–जिनमें श्रृंगार और प्रेम की प्रधानता है। जायसी से पूर्व सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा विद्यमान मिलती है और इस परंपरा में मुल्लादाऊँद का ''चंदापन'' या नूरकचंदा (सं. 1374 ई.) दामो कवि का ''लक्ष्मण सेन पद्मावती'' (सन् 1456) नारायणदास (रतनरंग) का ''छिताई वार्ता'' या ''छिताई चरित'', कुतुबन कृत ''मृगावती'' (सन् 1503) ईश्वररास रचित ''सत्यवती कथा'' (सन् 1501 ई.) मंझन रचित ''मधुमालती'' तथा चतुर्भुजदास रचित ''मधुमालती'' का उल्लेख मिलता है। इन प्रेमाख्यानक काव्यों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि जायसी के पहले से ही हिंदी में प्रेमाख्यानक काव्यों की एक परंपरा विकसित हो रही थी। स्वयं जायसी ने ''पद्मावत'' में इस परंपरा का उल्लेख किया है–

विक्रम धँसा प्रेम के बाराँ। सपनावति कहं गयउ पताराँ।।
सुदेवच्छ मुगुधावति लागी। कंकतपूरि होइगा वैरागी।।
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कह जोगी भयऊ।।
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहं कीन्ह वियोगू।।
प्रेमावती कहँसरसुर साधा। उखा लागि अनिरुद्ध वर बाँधा।।
–'जायसी ग्रंथावली'–(माताप्रसाद गुप्त का पाठालोचन दोहा 233)

इस सूची से (1) स्वप्नावती (2) मुग्धावती (3) मृगवती (4) मधुमालती (5) प्रेमावती (6) उषा-अनिरूद्ध आदि प्रेम काव्यों का पता चलता है। इनमें से ''मृगावती'' तथा ''मधुमालती'' को छोड़कर शेष कृतियों का पता नहीं चल सका है। आत्मकथाकार बनारसीदास ने 'अर्द्धकथा' में (सन् 1603) ''मृगावती'' तथा ''मधुमालती'' का उल्लेख यह कहकर किया है कि वे घर में बैठकर इन कृतियों में रम रहे हैं। जायसी ने मंझन कवि की कृति ''मधुमालती'' का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि यह कृति पद्मावत सन् 1545 ई. में लिखी गई है। अतः जिस ''मधुमालती'' का जायसी ने संकेत किया है–वह किसी अन्य

कवि की रचना है। लोक कथाएँ ऐसी हैं–जिनका नाम जायसी के समय में प्रसिद्ध रहा होगा जैसे (1) विक्रमादित्य (2) उषा-अनिरुद्ध (3) सदथवत्स। ये लोक प्रचलित प्रेम कहानियों के नाम हैं जो जनता में प्रसिद्ध रहे होंगे।

हिंदी के उपलब्ध प्रेम काव्यों में कुतुबन की "मृगावती" या "मिरगावती" सबसे अधिक पाचीन रचना है। इस प्रेम काव्य में चंद्रगिरि के राज कुमार और कंचनपुर की राज कुमारी मृगावती की प्रेम कथा है। यह रचना सन् 1503 की मानी जाती है। इस रचना के बाद मलिक मुहम्मद जायसी की प्रसिद्ध रचना "पद्मावत" का नाम आता है जिसमें राजा रत्न सेन और सिंहलगढ़ की राज कुमारी पद्मावती की प्रेम कथा है। भारतीय जमीन पर लिखी गई यह सबसे महत्त्वपूर्ण त्रासदी है। "पद्मावत" के बाद मंझन कृत "मधुमालती" का नाम है जिसमें कनेसर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राज कुमारी मधुमालती के प्रेम की कथा वर्णित है। इसके उपरांत उसमान कृत "चित्रावती" काव्य आता है जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर की राज कुमारी चित्रावती की प्रेमकथा मिलती है। तदुपरांत जान कवि के 21 सूफ़ी काव्य मिलते हैं–'रत्नावती', 'लैलामजनू', 'नलदमयंती', 'रतनमंजरी', पहुप-वरिषा', 'कमलावती', 'छबिसागर', 'कामलता', 'कनकावती' आदि। इन सभी रचनाओं पर "पद्मावत" का पर्याप्त प्रभाव है। जान कवि के समकालीन शेखनवी कृत "ज्ञानदीप" नामक प्रेम काव्य मिलता है जिसमें रानी देवजानी तथा राजा ज्ञानदीप के प्रेम संबंध की कथा है। कुछ समय बाद कासिम शाह ने "हंस जवाहिर" नामक प्रेम काव्य की रचना की। तदनन्तर नूर मुहम्मद कृत "इन्द्रावती" और "अनुराग बाँसुरी" जैसे प्रेमकाव्य लिखे गये। इसी परंपरा में निसार कवि ने "युसुफ जुलेखा" नामक प्रेम काव्य लिखा। मूलकथा शामी परंपरा पर आधारित है। ख्वाजा अहमद ने "नूरजहाँ" शेख रहीम ने "प्रेमरस" नसीर ने "प्रेम दर्पण" अलीमुरीद ने "कुंवरावत" सदानंद या हुसेन अली ने "पुहुपावती" अली सलोनी ने "प्रेम चिनगारी" जैस प्रेमकाव्यों को लिखकर परंपरा का विकास किया। मसनवी पद्धति में लिखे गये ये सभी काव्य प्रबंध काव्य हैं और "इश्कमंजाजी" से "इश्क हकीकी" की यात्रा तय करते हैं। इन कथा रूपकों (एलीगही) का हिंदी सूफ़ी काव्य परंपरा में महत्व अनुभूति की सघनता और मार्मिकता के कारण भी रहा है।

### 11.4.1 प्रेमाख्यान का स्वरूप

प्रेमाख्यान का आख्यान शब्द कथा आख्यायिका से कहीं न कहीं जुड़ता दिखाई देता है। किसी युग में आख्यान शब्द "पुराणमाख्यानम्" अर्थात् 'पुराण ही आख्यान है' के लिए होता था एवं इसके भीतर पाई जाने वाली कथाओं को "उपाख्यान" कहा जाता था। यही अर्थ सिद्ध करने के लिए "महाभारत" को भी "भारताख्यान" कहा गया है। आख्यान कल्पित, ऐतिहासिक "इतिवृत्तात्मक तथा वर्णनात्मक होते थे। सूफ़ियों ने भारत में प्रसिद्ध लोक कथाओं और लोक गाथाओं को अपनाया और उन पर अपने सिद्धांतों का रंग चढ़ा दिया। सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रेम चार प्रकार से वर्णित मिलता है। (1) चित्र दर्शन–मानव अथवा पक्षी से नायिका का चित्र देखना और आसक्त हो जाना (2) स्वप्न दर्शन–स्वप्न में सुंदर राजकुमार को देखना और प्रेम राग शुरू कर देना जैसे "स्वप्नावती" काव्य में (3) गुण श्रवण-मानव या पक्षी से गुण और रूप वर्णन सुनकर आसक्त हो जाना जैसे "पद्मावत" में हीरा मन तोते के द्वारा पद्मावती के रूप गुण का कथन (4) प्रत्यक्ष वर्णन–यह परंपरा बहुप्रचलित रही है।

इन प्रेमाख्यानक सूफ़ी काव्यों के नायक प्रेम पीड़ा को लेकर "जोगी" हो जाते हैं। राज-पाठ, धन-दौलत छोड़कर प्रेमिका के लिए दीवाने हो जाते हैं। सात समुद्रों को पार करने का कष्ट उठाते हैं–कभी-कभार प्रेमिका को पाने के लिए घोर संग्राम करते हैं। ये प्रेमी न केवल विकट यात्राओं को निकल पड़ते हैं वरन् अनेक प्रकार के कष्टों यातनाओं को सहते हैं। कारण–

प्रेमपहार कठिन विधि गढ़ा। सौ पै चढ़ै जो सिर दै चढ़ा।।

प्रेम ही जीवन का सार-सर्वस्व है। प्रेम के कारण ही मानव दिव्य हो गया है–मनुष्य प्रेम भयो वैकुंठी। नाहि न कहा छार एक मूठी।।

प्रेमिका को पाने के लिए मंत्र-तंत्र, रसायन, छल-कपट आदि को अपनाया जाता है। भारतीय प्रेम कथाओं में प्रेमी प्रेमिका का विवाह करा दिया जाता है जबकि फारसी प्रेम-

कथाओं में ऐसा नहीं होता। लैला का विवाह किसी अन्य पुरुष से हो जाता है और मजनूँ आह भर-भर कर दम तोड़ता है। जब मजनूँ के मरने की खबर लैला को मिलती है तब लैला में विरह की तीव्रता और दर्द की तड़प जागती है। ज्यादातर भारतीय प्रेमकथाएँ सुखात्मक हैं। ''पद्मावत'' जैसी दुखांत रचना का सृजन भारतीय भूमि पर कम ही हुआ है। जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नई पूर्वग्रह हीन आँखों से देखा और साथ ही इस सारे अभिमान की व्यर्थता को देखा जो उनके समाज को मथ रही थी। अंत में अलाउद्दीन के बारे में जायसी का कथन है:

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथिवी झूठी।।

''पद्मावत'' की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रेजेडी नहीं है जिन शर्तों पर जायसी का समाज उलट-पुलट रहा है उनके चलते समूची पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की ट्रेजेडी है।'' (विजय देवनारायण साही—जायसी पृ. 88) जायसी ने सूफ़ी प्रेमाख्यानकों में ऐसी नारियों का प्रवेश कराया है जो भारतीय संस्कृति का प्रतीक हैं साथ ही लौकिक कथा में अलौकिक प्रेम की झाँकी दिखाने में भी इन नारियों ने भारी मदद की है।

ध्यान देने की बात यह है कि भारतीय सूफ़ी कवियों ने प्रेमाख्यान काव्यों की रचना पहले पहल फारसी भाषा के माध्यम से आरंभ की थी। उदाहरणार्थ हिंदी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो ने (1255-1325 ई.) ईरान के फारसी कवि निजामी के ''पंचगंज'' नामक ''खम्स'' अर्थात् पाँच मसननियों के संग्रह के जवाब में अपना भी एक ''खम्स'' तैयार किया जिसका संबंध ''शीरीं-खुशरू'' एवं ''मजनू लैला'' नामक प्रेम कहानियों से था। उन्होंने ''दुवलरानी खिज्रखां'' जैसी मसनवी ऐतिहासिक प्रेम-कथा का आधार लेकर लिखी है। खुसरों के बाद उनकी मसनवी रचना पद्धति का अनुकरण कई अन्य सूफ़ी कवियों ने किया। किंतु अनुकरण के दो मार्ग बन गए (1) पहला मार्ग हिंदी में उन कवियों का है जो अवधी भाषा में दोहा चौपाई छंद को लेकर प्रेम प्रधान मसनवी लिखते हैं। (2) दूसरा मार्ग हिंदवी से प्रभावित दकनी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) को अपनाकर आगे बढ़ता है। दक्खिनी हिंदी के इस सूफ़ी साहित्य को हिंदी साहित्य के इतिहास की एक धारा के अंतर्गत ही समझना चाहिए। दक्खिनी हिंदी में निजामी ने (कदम राव ओ पदम) (सन् 1460 ई.) शाह हुसेनी ने ''वशीर तुल अनवर'' (सन् 1623 ई.) मुल्ला बजही ने ''सबरस'' (सन् 1636 ई.) मुकीमी ने ''चादर वदन व महियार'' (सन् 1640 ई.) नुसरती ने ''गुलशने इश्क'' (सन् 1657 ई.) गुलाम अली ने ''पद्मावत'' (सन् 1666 ई.) तथा हाशिमी ने ''युसुफ ओ जुलेखा (सन् 1680 ई.) जैसे प्रेमाख्यानकों की रचना की। लेकिन इन दक्खिनी हिंदी के सूफ़ी कवियों पर अभारतीय कथा स्रोत ही अपना वर्चस्व कायम किए रहे हैं। मसनवी पद्धति का पूरा ढाँचा फारसी ढंग से खड़ा किया गया। उदाहरणार्थ कवि वजही ने ''सबरस'' का कथानक और रचनात्मक साँचा फारसी के कवि ''फल्मही'' के ''दस्तूरे इश्क'' से लिया है।

उत्तरी भारत के सूफ़ी कवियों ने कथा के भारतीय स्रोतों पर ध्यान देकर अवधी भाषा को रचनाकर्म में ग्रहण किया। भारतीय लोक कथाओं का आश्रय लिया। हिंदी में उपलब्ध प्रथम सूफ़ी प्रेमगाथा ''चंदायन'' ऐसी ही लोकप्रिय प्रेम कथा है। इस तरह हिंदी के सूफ़ी प्रेम काव्यों के कथानकों का आधार भारतीय लोक कथाएँ ही बनी हैं।

## 11.4.2 सूफ़ी प्रेमाख्यानों की मूल प्रेरणा

सूफ़ी साधक परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलन के लिए तप करते हैं। प्रियतम से वियोग को असहनीय मान कर वे विरहाकुल रहते हैं। यह विरह जड़ और चेतन दोनों को बेचैन करने वाला है। ऐसी स्थिति में सूफ़ी काव्यों की मूल प्रेरणा ईश्वर से एकाकार स्थापित करने की है। ''इश्क मजाजी'' (संसारिक प्रेम) की प्रगाढ़ता में ही ''इश्क हकीकी'' (ईश्वरीय प्रेम) की झलक निहित है। वह ईश्वर परम प्रेममय, परम सौंदर्यमय और परम ज्योतिमय रूप में सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। मजनू का लैला की ओर खिंचना, फरहाद का शीरीं की ओर खिंचना, रतनसेन का पद्मावती की ओर खिंचना, आत्मा का परमात्मा के सौंदर्य की ओर बढ़ना और साक्षात्कार करना है। ईश्वरीय ज्योति पर एक विचित्र पर्दा ''हिजाव'' पड़ा रहता है जिसका दूर होना आवश्यक है। कलुष रहित हृदय के प्रेम के माध्यम से यह परदा हटाकर दिव्य सौंदर्य को पाया जा सकता है। साधक के प्रेम से परमात्मा भी पसीजता है—इसलिए दोनों ओर से प्रेम की प्रगाढ़ता उमड़ती है। प्रेम यात्रा की विघ्न बाधाओं को झेलकर अंततः रतनसेन रूपी आत्मा पद्मावती रूपी परमात्मा को प्राप्त कर ही लेता है।

### 11.4.3 प्रेम-साधना में तपस्या का सौंदर्य

सूफ़ी प्रेम साधना तथा भारतीय प्रेम साधना में समान तत्व यह हैं कि दोनों में ही तप के सौंदर्य को महत्व दिया जाता है। सूफ़ी कवियों ने अपनी सभी कृतियों में इस बात का सदा ध्यान रखा है कि तप के कष्ट की महिमा ही प्रेम की महिमा है। इस प्रेम का आधार है–सौंदर्य। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "उसका प्रभाव फिर क्रमशः एक प्रेमी हृदय पर इतना गहरा होता जाता है कि वह अपने जीवन की सारी अन्य बातों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए केवल अभीष्ट व्यक्ति को अपना बनाकर संतोष की सांस लेने के सिवाय और कोई बात पसंद नहीं करता तथा तब तक वह अत्यंत व्याकुल और बेचैन रहता है। इसलिए उसे अपने घर पर रहते किसी सफलता की आशा नहीं रह जाती वह किसी परामर्शदाता की सहायता से उसे छोड़ बाहर निकल पड़ता है। वह या तो जोगी बन जाता है, कठिन मार्गों से होकर भूलता भटकता फिरता है, बीहड़ वनों, समुद्री लहरों, मरुस्थलों की यात्रा करता है या गली-कूचों में खाक छानता फिरता है अथवा दानवों या परियों के क्षेत्रों में भी पहुँचकर अपने प्राणों को संकट में डालता रहता है" (सं. धीरेंद्र वर्मा हिंदी साहित्य पृ. 260) यह नायक अनेक प्रकार की परीक्षाएँ ही नहीं देता अनेक युद्धों से भी जूझता रहता है। कभी कभार तो उसे बंदी जीवन व्यतीत करना पड़ता है, दासता स्वीकार करनी पड़ती है–जोगी बनकर गोरखनाथ की जय बोलनी पड़ती है, तंत्र-मंत्र रसायन के चक्कर में घूमना पड़ता है। अतः सालिक या साधक को हर परीक्षा में तपा हुआ शुद्ध सोना सिद्ध करना पड़ता है। "पद्मावत" काव्य में पार्वती ने रतनसेन के प्रेम परीक्षा के बाद कहा कि यह खरा सोना है और प्रेम की आग में जल रहा है।–

निहचय यह प्रेमानल दहा। कसे कसौटी कंचन लहा।।

## 11.5 भाव-व्यंजना और रस

सूफ़ी काव्य का प्रधान विषय प्रेम तत्व की व्यंजना है। प्रेम तत्व में सूफी कवि संयोग को कम वियोग श्रृंगार या विरह पक्ष को विशेष महत्व देते हैं। यही कारण है कि इन कवियों का पूरा ध्यान प्रेमी-प्रेमिकाओं के विरह वर्णन, इस अवधि में झेले जाने वाले कष्ट, प्रिय (ईश्वर) को पाने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्नों में लगा है। वस्तुतः यहाँ विरहदशा ही वह मनोभूमिका है जो चित्त की समाधि या प्रिय के प्रति नितांत एकनिष्ठता लाती है। सूफ़ियों ने विरह वर्णन के अंतर्गत ऋतु वर्णन, बारहमासा वर्णन को विशेष महत्व दिया है और विरह का इतना अतिरंजित–ऊहात्मक–वर्णन किया है कि विरह के ताप से सूरज लाल पड़ जाता है, गेहूँ का पेट फट जाता है, कौआ काला पड़ जाता है और आँख से आँसू की जगह खून बहता है, खून-मांस गिरने का यह वर्णन अनुपात में इतना बढ़ जाता है कि प्रायः वीभत्सता भी आ जाती है। पर जायसी का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य की निधि है। इसमें मनुष्य और अन्य जीवों के बीच सह अनुभूति को शामिल किया गया है।

सूफ़ी काव्यों में प्रधान रस श्रृंगार रहा है। नायक, सुंदरियों की ओर प्रत्यक्ष दर्शन, गुण श्रवण, स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन के माध्यम से बढ़ते हैं। प्रायः नायक राजा, राजकुमार या धनी सेठ होते हैं जिनकी रुचि भोग-विलास की ओर रहती है। नायक के साथ नायिका में भी प्रेम-आग की तड़प और बेचैनी दिखाई देती है जैसे "पद्मावत" में रतनसेन के साथ पद्मावती मंझन की "मधुमालती" में मनोहर के साथ मधुमालती के तड़पने का वर्णन मिलता है। सखा, सखी, दूत, पक्षी, वन, उपवन आदि उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं। श्रृंगार के साथ अन्य रसों का वर्णन कम है। कभी-कभार नायक को विरोधियों का भी सामना करना पड़ता है जैसे मुल्लादाऊद की रचना "चंदायन" का नायक लोरिक अपनी प्रेयसी को भगाकर लाते समय कई शत्रुओं से लड़ता है और उन्हें परास्त करता है। "पद्मावत" का नायक रतनसेन वीर रस की उद्भावना का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसी काव्य में गोरा-बादल का युद्ध वीर रस का अविस्मरणीय स्थल है।

इन सभी काव्यों में करुणा, वीभत्स और रौद्र रस के छींटे पड़ते हैं। पर जायसी के "पद्मावत" का अंत शांतरस का अनुपम रूप सामने लाता है। एक प्रकार से यहाँ "पिरिथिवी" झूठी होने का एक जीवन दर्शन है।

## 11.5.1 चरित्र-चित्रण

सूफ़ी कवियों ने अपनी प्रेम-कहानी में जितना ध्यान उसके घटना चक्रों, रहस्यमय वर्णनों, विस्तार-विवरणों, प्रसंग और परिवेश चित्रण पर केंद्रित किया है उतना चरित्र-चित्रण पर नहीं। मूलतः ये सभी पात्र सूफ़ी प्रेम सिद्धांत को सामने लाने के माध्यम मात्र रहे हैं। यही कारण है कि इन पात्रों में मानव जीवन के वैविध्य की झलक मिलने पर भी मानव जीवन के पूर्ण चित्र नहीं मिलते हैं। प्रायः पात्र लोक कथाओं के भीतर से उपजे हैं—जिन पर लोक चेतना का गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ है। प्रेमी पात्र जोगी, फकीर, हठयोगी, रूपलोभी बनकर वन, पर्वत, समुद्र छानते मिलते हैं। दरअसल इन रचनाओं का प्रधान उद्देश्य ईश्वरीय प्रेम का गहरा परिचय देना है। परमात्मा से मिलन ही जीवन का एक मात्र ध्येय है—लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की प्राप्ति ही इन नायकों का अरमान रहता है। प्रेम में मतवाले होकर नायक राज पाट त्याग देते हैं। हर प्रकार का कष्ट झेल लेते हैं और एक-निष्ठ प्रेम की साधना करते हैं। ये नायक पराक्रमी होते हैं और प्रेम पंथ में बाधा आने पर दानवों को मारते हैं हाथियों को पछाड़ते हैं और युद्धों में विजयी होते हैं। पर वह वीरता भी प्रेम विकास की ही एक मंजिल है जिसका अलग से कोई महत्व नहीं है। ज्यादातर नायक आदर्श प्रेमी है। मंझन की मधुमालती के नायक मनोहर तथा शेख रहीम के "माया प्रेम रस" के नायक प्रेमसेन, जायसी के "पद्मावत" के नायक रतनसेन को हम आदर्श प्रेमियों का सूफी मॉडल मान सकते हैं। सूफ़ियों ने प्रतिनायकों को कम उभारा है—अन्य पात्रों को राघव चेतन आदि को भी कथा के भीतर ही पहचान दी है—बाहर उनकी पहचान गायब है।

## 11.5.2 प्रेम-पद्धति की विशेषताएँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कवियों में प्रेम-पद्धति की चार कोटियाँ स्वीकार की हैं—(1) प्रथम प्रकार का प्रेम वह है जो आदि काव्य (रामायण) में मिलता है। इस प्रेम का विकास विवाह हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट परिस्थितियों में दृष्टिगत होता है। यह प्रेम निर्मल और शुद्ध है जिसमें कामुकता नहीं है। (2) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह पूर्व का होता है और बाद में विवाह होता है। यह प्रेम नायक-नायिका में घूमते-फिरते, वन उपवन में कहीं भी हो जाता है। इस प्रेम में मानव जीवन की आदिम स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं जैसे कालीदास के नाटक "अभिज्ञान शाकुंतल" में दुष्यंत शकुंतला का प्रेम। (3) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्रायः राजाओं के अंतःपुर उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में दिखाया जाता है, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषकों आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। जैसे—राजशेखर की रचना "कर्पूर मंजरी" श्रीहर्ष की रचना "रत्नावली" आदि का प्रेम। "इनमें नायक को कहीं वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ता, वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता, चौकड़ी मारता दिखाया गया है।" (4) चौथे प्रकार का वह प्रेम है जो गुणश्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से बैठे बिठाए उत्पन्न होता है और नायक और नायिका को संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है। उषा-अनिरुद्ध का प्रेम इसी कोटि में आता है।

इस प्रकार चार तरह का प्रेम-वर्णन भारत के प्राचीन नवीन साहित्य में मिलता है पर विरह व्याकुलता, तड़प की असहय वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई। सूफ़ियों का प्रेम चौथे ढंग के अंतर्गत आता है। "नायक का यह आदर्श लैला-मजनू, शीरी-फरहाद आदि उन अरबी-फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता-जुलता है जिसमें हड्डी की ठठरी भर लिए हुए टाँकियों से पहाड़ खोद डालने वाले आशिक पाए जाते हैं। फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक दिखाई देता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का वेग। जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता को समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। फारसी मसनवियों का प्रेम एकान्तिक और आदर्शात्मक होता है—पर भारतीय प्रेम का स्वरूप जीवन के बीच से फूटकर लोक सौंदर्य की ओर बढ़ता है। जायसी के "पद्मावत" का प्रेम भी लोक पक्ष शून्य नहीं है। हालाँकि आरंभ में रतनसेन रूप लोभी दिखाया गया है जो हीरामन तोता से पद्मावत के रूप सौंदर्य का वर्णन सुनकर तत्काल बेहोश हो जाता है—पर जोगी बनकर घर बार त्यागकर निकल पड़ने के बाद इस प्रेम में गहराई तथा साधना का तेज फूटता है। यहाँ रूप लोभ की नहीं, शुद्ध प्रेम की व्यंजना मिलती है।

## 11.5 रहस्यवाद

ज्ञाल के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है—भावना के क्षेत्र में आकर कल्पना के रंग में भीगकर वही **रहस्यवाद** कहलाने लगता है। जब आत्मा-परमात्मा भावना के क्षेत्र में आकर एकरूप-एकाकार दिखाई पड़ते हैं तब भावात्मक रहस्यवाद की श्रेष्ठता से साक्षात्कार होता है। वास्तव में रहस्यवाद दो प्रकार का होता है (1) भावात्मक रहस्यवाद (2) साधनात्मक रहस्यवाद।

जाहिर है कि भारत में तंत्र-मंत्र, रसायन, दृढ़ योग साधना के योग मार्ग का रहस्यवाद साधनात्मक रहस्यवाद है। इसके विषय में आ. शुक्ल ने "जायसी ग्रंथावली" की भूमिका में लिखा है कि "यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल अभ्यासों द्वारा मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कराने की आशा देता है। तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद है। पर निम्न कोटि के भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ हैं, जैसे, भूत-प्रेत की सत्ता मानकर चलने वाली भावना, परमसत्ता के रूप में एक ईश्वर की सत्ता मान कर चलने वाली भावना स्थूल रहस्यवाद के अंतर्गत होगी। अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्चकोटि के रहस्वाद की प्रतिष्ठा होती है। तात्पर्य यह कि रहस्यभावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिए कोई नया तथ्य या सिद्धांत नहीं उपस्थित कर सकती।"

भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यवाद के अनुकूल नहीं पड़ा। किंतु सूफ़ियों ने आकर रहस्यात्मक "माधुर्यभाव" का प्रचार किया। उनका असर निर्गुण परंपरा—कबीर पर तथा कृष्ण भक्ति परंपरा पर गहरा पड़ा है। चैतन्य महाप्रभु की तन्मयता पर सूफ़ी प्रभाव साफ झलकता है। जैसे सूफ़ी कब्बाल गाते-गाते हाल की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु जी की मंडली भी गाते-गाते मूर्च्छित हो जाती थी। यह मूर्च्छा रहस्यवादी सूफ़ियों की रूढ़ि है। इसी प्रकार मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूरारूढ़ व्यंजना भी सूफ़ियों की बंधी हुई परंपरा है। इस परंपरा का अनुकरण कृष्ण भक्तों ने किया है। कबीर का माधुर्य भाव सूफ़ी प्रभाव के लिए है—दादू दरिया साहब जैसे निर्गुण ज्ञानमार्गी संत खालिस सूफ़ी जान पड़ते हैं।

भारत वर्ष में जब सूफ़ी आए तो उन्हें साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोग, तंत्र, रसायन का जाल मिला। फलतः हठयोग की अनेक बातों का समावेश सूफ़ियों ने अपने रहस्यवाद में कर लिया। फारसी ढंग के भावात्मक रहस्यवाद में हठयोगी साधनात्मक रहस्यवाद खप गया। सूफ़ियों के रहस्यवाद में भावना की गहराई है और साधना की शक्ति। कबीर में जो रहस्यवाद है—वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिंदी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुंदर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है। वे सूफ़ियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक व्यापारों और रूपों के साथ पुरुष समागम के हेतु प्रकृति का श्रृंगार या विरह विकलता का अनुभव करते हैं। वस्तुतः भावात्मक रहस्यवाद सूफ़ियों की हिंदी साहित्य को देन है।

## 11.7 सूफ़ी काव्य में भारतीय और अभारतीय तत्व

सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं में भारतीय-अभारतीय तत्वों का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। सूफ़ी कवि अपने सिद्धांतों के प्रचार से ज्यादा हिंदू-मुसलमान के हृदय को मिलाने में विश्वास करते थे। सूफ़ियों ने हर प्रकार की कट्टरता और साम्प्रदायिकता को छोड़कर भारतीय हृदयों में व्यापक प्रेम भाव का जीवन मूल्य प्रतिष्ठित किया। इन सूफ़ी संतों ने हिंदुओं के घरों की प्रेमगाथाओं को हिंदुओं की ही भाषा—अवधी में प्रस्तुत किया है। सूफ़ी कवियों ने विदेशी इस्लाम धर्म को हिंदू धर्म से मेल कराया। इतना ही नहीं सूफ़ी रहस्यवाद पर फारसी के भावनात्मक रहस्यवाद से ज्यादा भारतीय अद्वैतवाद के रहस्यवाद का प्रभाव है। भारतीय दर्शन से प्रभावित सूफ़ी कवियों ने प्रकृति की समस्त सत्ता में प्रिय की सत्ता का अनुभव किया—जैसे जायसी का यह कथन देखिए—

रवि ससि नखत दियहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहँ तहँ विहसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।।

सूफ़ियों के रहस्यवाद में जिस प्रेम तत्व का समावेश है वह निस्संदेह अभारतीय है। सूफियों में परमात्मा ही माशूक है—इसी के लिए इश्क मजाजी—इश्क हकीकी की सीढ़ी है और इसी के द्वारा साधक खुदी को मिटा कर खुदा बन जाता है। जायसी, मंझन, कुतबन आदि हिंदी के सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना की है। आत्मा रूपी प्रेमी परमात्मा रूपी प्रियतमा की ओर बढ़ता है। सूफ़ी काव्य में परमात्मा का प्रियतमा के रूप में चित्रण सर्वथा अभारतीय है।

सूफ़ी काव्य पर एक ओर भारतीय हठयोग साधना का प्रभाव है दूसरी ओर सूफ़ी धर्म के अभारतीय सिद्धांतों की गहरी छाप है। जायसी कहते हैं—

नवौ खंड नव पौरों औ तहँ ब्रज केबार।।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरे पार।।

यहाँ हठयोग के अनुसार नाक, कान, मुँह आदि नव द्वार हैं और दशम द्वार ब्रहम रंध्र है सूफ़ी मत की चार अवस्थाएँ हैं—शरीयत, तरीकत, मारिफत और हकीकत—यह चार बसरे हैं।

सूफ़ियों ने सृष्टि का वर्णन भारतीय-अभारतीय तत्वों को मिलाकर किया है। पहले ईश्वर ने नूर (पैगम्बर) की उत्पत्ति की और फिर पृथ्वी स्वर्ग की रचना की—

कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू। कीन्हेसि तेहि पिरीति कविलासू।।

सृष्टि की इसी उत्पत्ति में जायसी ने उपनिषदों का यह मत भी मान लिया है—

पवन होई भा पानी, पानी होई भई आगे।
आगे होई भई माटी, गोरख धंधे लागे।

उपनिषद् और अद्वैतवाद से प्रभावित होकर भी सूफ़ियों ने शैतान की कल्पना सूफ़ी सिद्धांतों के आधार पर की है। अद्वैतवाद में आत्मा-परमात्मा के मिलन में माया बाधक है पर सूफ़ी मत में बंदा और खुदा के बीच मिलन में शैतान बाधक है "राघव दूत सोई सैतानू" जायसी साफ कहते हैं।

विशेष बात यह है कि सूफ़ी कवियों ने भारत की प्रबंध काव्य शैली में फारस की मसनवी शैली का सामंजस्य किया है जिसकी चर्चा आगे भाग 11.8 में की गई है। विरह वर्णन की तीव्रता में भारतीय से ज्यादा अभारतीय तत्व को मिला दिया है। इस प्रकार इन हिंदी के सूफ़ी कवियों ने वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर भारतीय-अभारतीय तत्वों का सामंजस्य किया है।

**बोध प्रश्न 2**

1) सूफ़ी काव्य-परंपरा का आठ-दस पंक्तियों में परिचय दीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) सूफ़ी प्रेमाख्यानों में प्रेम चार प्रकार से वर्णित है। इन चार प्रकारों का उल्लेख कीजिए?

.....

.....

3) सूफ़ी प्रेमख्यानों की मूल प्रेरणा पर चार-पाँच पंक्तियों में विचार कीजिए?

.....

.....

.....

.....

4) सूफ़ी काव्य की भाव-व्यंजना और रस पर आठ-नौ पंक्तियों में विचार कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) प्रेम साधना में तपस्या के सौंदर्य पर तीन पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

6) सूफ़ी कवियों ने चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान क्यों नहीं दिया? चार पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

7) सूफ़ी प्रेम पद्धति की विशेषताओं पर सात-आठ पंक्तियों में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8) सूफ़ी रहस्यवाद की विशेषताएँ पाँच पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

9) सूफ़ी काव्य में भारतीय-अभारतीय तत्वों का सामंजस्य हुआ है। इस कथन पर नौ-दस पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 11.8 काव्य रूप या प्रबंध कल्पना और कथानक रूढ़ियाँ

सूफ़ी काव्यों को काव्य रूप की दृष्टि से प्रबंधकाव्यों की कोटि में रखा जाता है। किंतु सूफ़ी कवियों का प्रबंधत्व भारतीय काव्यशास्त्र के नियमों में बँधकर नहीं चलता है। इन प्रबंधकाव्यों के लिए भारतीय प्रबंध काव्यों की भाँति सर्गबद्धता अनिवार्य नहीं है और न नायक का उच्च कुलीन होना ही अनिवार्य है। वास्तव में सूफ़ी काव्य का ढाँचा प्रेम कथा के प्रतिपादन पर खड़ा होता है—महान् नायक की भारतीय अवधारणा पर खड़ा नहीं होता। हिंदी के सूफ़ियों ने काव्य रूप की दृष्टि से फारसी प्रेम काव्यों का प्रभाव ग्रहण किया। फारसी भाषा में लिखे गए प्रबंधकाव्यों को प्रायः मसनवी कहा जाता है जिसकी रचना शैली के कतिपय रूढ़ नियम हैं। मसनवी पद्धति के अनुसार कथा के प्रारंभ में एकेश्वरवाद की वंदना शाहे वक्त की वंदना तथा कथा का सर्गों में विभाजन नहीं किया जाता है। यहाँ कथा खंडों में विभाजित की जाती है। अतः सूफ़ी काव्यों को मसनवी शैली के प्रबंध काव्य नाम देना चाहिए। मसनवी के लक्षण इस प्रकार गिनाए गए हैं—(1) ईश्वर की वंदना (2) मुहम्मद साहब की स्तुति (3) खलीफाओं की प्रशंसा (4) शाहे वक्त का गुणगान। यह कहा जाता है कि मसनवी का अर्थ कुल इतना ही है कि काव्य में दो-दो मिसरों वाले परस्पर तुर्कों से जुड़े हुए छंद हों। सूफ़ियों ने इसी दृष्टि से चौपाई दोहा पद्धति को अपनाया है। आश्चर्यजनक बात यह है कि भारतीय सूफ़ियों ने अपभ्रंश काव्य की चरित काव्य वाली रचना शैली को भी अपनाया है और "प्रेम की पीर" का कथा में वर्णन किया है। जायसी के "पद्मावत" की कथा एक इकाई है—उसे खंडित करके हम कथा का अर्थ नहीं समझ सकते हैं। ग्रंथ के अंत में जायसी ने कहा है—

मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो प्रेम पीर गा पावा।।
जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ी प्रीति नैन जल भई।।
औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महं चीन्हा।।

"जायसी अध्यात्मवादियों के बीच भौतिकवादी हैं और भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी। निश्चय ही यह एक जोखिम भरी दृष्टि है। लेकिन जायसी इस जोखिम को उठाने के लिए तैयार हैं—क्योंकि वे कवि हैं, दार्शनिक नहीं।" (वि. दे. ना. सा. जायसी पृ. 91)

हिंदी के सूफ़ी काव्यों के काव्य रूप पर आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "प्रायः सभी सूफ़ी कवियों ने एक ही प्रकार के काव्य रूपों का उपयोग किया है। इनकी भाषा अवधी होती है, छंद चौपाई और दोहा। चौपाई और दोहा में काव्य लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशों में पाई जाती है। पश्चिमी प्रदेशों की काव्य पद्धति पद्धड़िया बंध प्रथा थी।" (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-3)।

"इन सभी सूफ़ी कवियों ने कथानक को गति देने तथा एक विशेष प्रकार के आकर्षण में बाँधने के लिए परंपरा से प्राप्त भारतीय कथाओं में मौजूद कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया है। जैसे चित्रदर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि के द्वारा नायिका का रूप देख

या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना मंदिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि। कुछ नयी कथानक रूढ़ियाँ ईरानी साहित्य से आ गई हैं, जैसे प्रेम व्यापार में परियों और देवों से सहयोग, उड़ने वाली राजकुमारियाँ राजकुमारी के प्रेमी को गिरफ्तार करा देना इत्यादि। परंतु कुछ नयी कथानक शैलियों को भी कवियों ने पूर्णरूप से भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। अधिकांश सूफी कवियों के काव्य का मूलाधार भारतीय लोक कथाएँ हैं।" (वही पृ. 404)। परंतु अपवाद रूप में यूसुफ जुलेखा, उर्सेद नूरजहाँ आदि काव्यों में ईरानी कहानियों का प्रयोग भी मिलता है। यद्यपि ये सभी काव्य अवधी भाषा के हैं पर इनकी लिपि फारसी हुआ करती थी।

ध्यान देने की बात यह है कि हिंदी के सूफी कवियों ने "मसनवी शैली" का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उसका अंधानुकरण नहीं किया है। इन काव्यों की रचना पद्धति पर भारतीय चरित काव्य परंपरा का भी गहरा असर दिखाई देता है। फलतः काव्य रूप तथा कथानक रूढ़ियों में भारतीय-अभारतीय तत्वों को सामंजस्य के साथ स्थान दिया गया है।

## 11.9 प्रतीकात्मकता

सूफी कवि "परमतत्व" जैसे गहन दार्शनिक विषय की चर्चा में प्रवृत्त रहते थे। ईश्वर तक पहुँचने के मार्ग, अनिर्वचनीय सत्ता के साथ तादात्म्य करने की तमन्ना ही उन्हें इष्ट थीं। नतीजा यह हुआ कि सूफी काव्यों की कथा, पात्र योजना, स्थान, यात्रा तथा अन्य विवरण सभी प्रतीक के रूप में आए हैं। "चित्रावती" "मधुमालती" "हंस जवाहर" "पद्मावत" आदि काव्यों की पूरी कथा ही प्रतीक है जिसमें लौकिक प्रेम कथा के उदय, क्रम विकास परिणाम में अलौकिक प्रेम की झाँकी मिलती है। पूरी कथा में नायक आत्मा का प्रतीक होता है और नायिका परमात्मा का प्रतीक बनकर आती है। इसलिए यह सभी प्रेमकाव्य एक प्रकार के कथा रूपक (एलीगरी) या प्रतीक काव्य है। सूफी काव्य की पूरी की पूरी प्रतीकात्मकता को हम सूफी काव्य परंपरा की प्रतिनिधि रचना "पद्मावत" से समझ सकते हैं। जायसी ने "पद्मावत" के आरंभ में कहा है कि–

सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेनि चितउर गढ़ आनीं।।
अलाउदीन ढिल्ली सुलतान। राधौ चेतन कीन्ह बरवान।।
सुना सहि गढ़ छेंका आई। हिदू तुरकन भई लराई।।
आदि अंत जसि कथ्या अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।।

सिंघल गढ़ में एक पदुमिनी रानी हुई। रतनसेन उसे चित्तौड़ लाया। इस रानी के लिए अलाउद्दीन खिलजी ने राघव चेतन के कहने पर युद्ध किया। हिन्दू तुर्क किस प्रकार लड़े–यह कथा का एक अभिप्राय है। "पद्मावत" में रतनसेन, पद्मावती, हीरामन, अलाउद्दीन, राघव चेतन आदि सभी पात्र प्रतीक हैं। चित्तौड़ तथा सिंघल गढ़ नामक स्थान प्रतीक है। जोगी बनकर निकला प्रेम दीवाना रतनसेन सूफी साधक (सालिक) का प्रतीक है जो हर विघ्न बाधा को पार कर पद्मावती की ओर बढ़ता है। सिंघल गढ़ में पद्मावती और पदुमिनी स्त्रियों का पाया जाना "शुद्ध गोरख पंथी साधुओं की कल्पना है" क्योंकि योगियों को सिद्धि प्राप्त करने के लिए सिंघल द्वीप जाना पड़ता था और वहाँ जाकर योगियों की पूरी परीक्षा होती थी। वहाँ योगी को पदुमिनी स्त्रियाँ लुभाती हैं यदि योगी उन स्त्रियों के भोग जाल में फंस जाता है तो योग भ्रष्ट हो जाता है। कहते हैं कि जब गोरख नाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) सिद्धि की पूर्णता के लिए सिंघल गढ़ गए तो पद्मिनीयों ने उन्हें रूप जाल में फंसा लिया और एक कुएं में डाल दिया। अपने गुरु की खोज में गोरख सिंघल गढ़ गए तो कुंए के पास आवाज दी "जाग मछन्दर गोरख आया" और कुएं से मछन्दरनाथ को बाहर निकाला। इस प्रकार की सभी कहानियाँ एक प्रतीक चरित्र रखती हैं। जायसी की "पद्मावती" एक रूपसी नारी का प्रतीक भी है और परमात्मा का भी। सूफी काव्य में विरह-वर्णन का प्रतीकात्मक महत्व है। प्रेमयोगी रतनसेन के विरह में सूर्य-चन्द्रमा, नदी, पर्वत आदि पूरी प्रकृति रोती है। यथा–

विरह के आगि सूर जरि कांपा। रातिउ दिवस जरै ओहि तापा।

क्या संयोग क्या वियोग सूफी प्रेम के आध्यात्मिक स्वरूप का आभास प्रतीकों से देते हैं। इन

कथाओं में प्रतीकों की इतनी भरमार है कि इनका रहस्यवाद इन प्रतीकों को समझकर ही समझा जा सकता है। जायसी ने प्रेम कथा को प्रतीक कथा के रूप में लिखा है–

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनी चीन्हा।।
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुण पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोई न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदी सुलतान।।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझ लेहु जौ बूझै पारहु।।
तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सरा है ताहि।।

जाहिर है "पदमावत्" के इन प्रतीकों के अर्थ को ध्यान में रखकर जब पाठकगण पढ़ते हैं तब उसका अर्थ खुलता है अन्यथा नहीं खुल पाता है। नायिका को चाहे वह पद्मावती हो या मधुमालती, चित्रावती हो या मृगावती सूफ़ियों को परमसत्ता को प्रतीक बनाना पड़ता है और इसी प्रतीक प्रक्रिया में स्थान, पात्रों के नाम, घटनाएँ, प्रसंग, अलौकिक कथाएँ, कथानक रूढ़ियाँ आदि सभी प्रतीक बनकर उपस्थित होते हैं।

## 11.10 काव्य भाषा, अलंकार, छंद

हिंदी के सभी पूर्वी प्रांत के सूफ़ी कवियों के काव्य की भाषा अवधी है। इस काव्य भाषा की सर्जनात्मकता का ठेठ देशी रूप जायसी के "पद्मावत" में मिलता है। विजयदेव नारायण साही ने लिखा है-"जायसी में पहली बार हिंदी भाषा सहज काव्य प्रवाह में बहने लगती है। हिंदी का अवधी रूप, जिसे जायसी ने अपने काव्य माध्यम के लिए चुना, समूचा का समूचा काव्यमय हो जाता है। कवि का प्रयास कहीं दिखता नहीं। लगता है कि समूची अवधी भाषा कविता की है जो जायसी की कलम से अपना स्वरूप ग्रहण करती चलती है। जब भाषा में इस तरह की अपनी स्वतः स्फूर्त गति दिखे तो हम बेखटके समझ सकते हैं कि हम एक बड़े कवि के सामने उपस्थित हैं। दाउद के "**चंदायन**" के कुछ अंश जायसी के पहले के हैं। कुतबन की "मृगावती" भी जायसी के आस-पास की भी कुछ ही पहले की है। जायसी के पद्मावत की अवधी से सामान्य तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जायेगी। दाउद और कुतबन दोनों में लगता है कि अवधी भाषा अभी भी रोड़े अटका रही है। पद्मावत में न सिर्फ रोड़े गायब हो जाते हैं, बल्कि भाषा खुद कविता को जन्म देती है और प्रौढ़ करती चलती है।" (जायसी पृ. 21) इस प्रकार एक महत्वपूर्ण अर्थ में जायसी हिंदी के पहले प्रौढ़ काव्य भाषा के संत कवि हैं। शायद कबीर दास "कवि" की बजाए संत ही अधिक थे।

हिंदी के सूफ़ी काव्यों की काव्य भाषा ने लोक भाषा की सर्जनात्मक शक्ति को उजागर किया है। हिंदी में सूफ़ी कवियों के मत सिद्धांत, सम्प्रदाय आदि की चर्चा तो खूब होती रही है पर काव्य भाषा पर कम से कम विचार किया गया है। इसलिए इन सूफ़ी कवियों का कवि व्यक्तित्व धुंधला पड़ गया है। जबकि इन सूफ़ी कवियों ने अवधी को चमका दिया है केवल उसमान और नसीर पर कुछ भोजपुरी बोली का प्रभाव दिखाई देता है। नूर मुहम्मद ने कहीं-कहीं "इन्द्रावती" में ब्रजभाषा का पुट भी दिया है पर मूल भाषा अवधी ही है। इन सभी कवियों ने तद्भव बहुल लोक भाषा को अपनाया है, केवल नामों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। तत्सम में केवल संस्कृत ही नहीं अरबी-फारसी के शुद्ध रूप भी लिए गए हैं। यह सब होते हुए भी इन सूफ़ी कवियों ने अवधी भाषा की लोकोक्तियों तथा मुहावरों को अपनी भाषा में डटकर स्थान दिया है जैसे यह लोकोक्ति की कमल की गंध को भौंरा ही पहचानता है कमल के पास रह कर भी दादुर उसे नहीं जानता यथा–

भंवर आइ वन खंड हुति, लेहि कंवल के बास।
दादुर बास न पावहि भलेहि जो आछहि पास।।

(पद्मावत)

अलंकारों के क्षेत्र में सूफ़ियों ने प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है। नवीन अलंकार विधान के उल्लेखनीय उदाहरण हिंदी के सूफ़ी काव्यों में नहीं मिलते हैं। रूपक, उपमा, समासोक्ति, अन्योक्ति आदि में सूफ़ी डूबे रहते हैं। अरबी-फारसी से प्रभावित होने पर भी सूफ़ियों की पूरी उपमान योजना भारतीय है। फारसी ढंग की वर्णन शैली में भारतीय

उपमान की चमक का सौन्दर्य हृदय पर एक विशेष छाप छोड़ जाता है जैसे विरह में पद्मावती का शरीर पीले पत्ते की तरह हो गया है–'तन जस पियर पात भा मोरा'' आदि प्रयोग। विशेष बात यह है कि सूफ़ी काव्य के इन अलंकारों ने काव्य बिंब ही प्रस्तुत किए हैं और अमूर्त भावों को मूर्त बनाया है।

सूफ़ी काव्यों की छंद योजना का विशेष पक्ष यह है कि इन कवियों ने फारसी की बहरों को नहीं अपनाया है। ''उन्होंने अपभ्रंश के चरित काव्यों, धर्मकथाओं तथा सहजयानी सिद्धों के कतिपय फुटकर पदों में उपलब्ध चौपाई-दोहा को अपने लिए उपयुक्त समझा।'' सूफ़ी कवियों में दाउद, कुतबन, मंझन और नूर मुहम्मद ने 5-5 अर्धालियों के बाद दोहा लिखा है–जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह और नसीर आदि ने 7-7 अर्धालियों के बाद दोहा लिखा है। शेख निसार ने 9-9 अर्धालियों के बाद दोहा लिखा है। सूफ़ी काव्य में सोरठा, सवैया, प्लवगम और बरबै जैसे छंदों का प्रयोग कभी-कभार किया गया है। नूर मुहम्मद ने ''अनुराग, बासुरी'' में 3-3 चौपाइयों के बाद 1-1 बरबै छंद दिया है।

जायसी की दोहा चौपाई पद्धति को ''कडवक बद्धपद्धति'' कहना चाहिए जो अपभ्रंश के चरित काव्यों से गृहीत की गई है। चौपाई, दोहा, छंद में भी जायसी पुरानी शास्त्रीय व्यवस्था नहीं मानते हैं। उनकी स्वच्छन्दता ही उनकी शक्ति बन गई है।

## 11.11 मूल्यांकन

हिंदी की निर्गुण प्रेममार्गी शाखा ने हिंदी भाषा और साहित्य को प्रेम दर्शन की नवीन दृष्टि प्रदान की है। इन कवियों ने मानव जीवन के सर्वांग विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। मनुष्य हृदय की क्षद्रताओं को प्रेम ही हटा सकता है ''मानुष प्रेम भयउ बैकुंठी'' का जीवन दर्शन ही इन सूफ़ी कवियों का एकमात्र उद्देश्य है। इस धारा के सभी मुसलमान सूफ़ी कवियों में धार्मिक संकीर्णता छू तक नहीं गई है–एक व्यापक विश्व बंधुत्व और विश्व दृष्टि के लिए ये सभी कवि पहल करते हैं। इनकी दृष्टि में लौकिक प्रेम और ईश्वरीय प्रेम में कोई फर्क नहीं है। अतः यह समझना भूल होगी कि इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए सूफियों ने काव्य लिखे हैं। ऐसा कोई भी खंड या प्रसंग यह अपने काव्यों में नहीं लेते जिसका कोई साम्प्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ''सौ वर्ष पूर्व कबीर दास हिन्दू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडित और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण जनता राम और रहीम की एकता मान चुकी थी। साधुओं और फकीरों को दोनों दीन के लोग आदर और मान की दृष्टि से देखते थे। साधु या फकीर भी सर्वप्रिय वे ही हो सकते थे जो भेदभाव से परे दिखाई पड़ते थे। बहुत दिनों तक साथ-साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना-अपना हृदय खोलने लगे थे, जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। जनता की वृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार हो गए थे और हिन्दू-मुसलमान का दास्तान हमजा।'' ''कुछ भावुक मुसलमान ''प्रेम की पीर'' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घर की ही थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य के सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।'' (जायसी ग्रन्थावली भूमिका पृ. 1) भक्ति मार्ग के सभी संत भक्त कवि प्रेम का मार्ग निकाल कर जनता को एक व्यापक मानवतावाद की दृष्टि प्रदान कर रहे थे।

इन सूफ़ी कवियों ने भारतीय भक्ति आन्दोलन की व्यापक शक्ति को जनता के हृदय तक पहुंचाया है। वास्तव में, यह हृदय की मुक्तावस्था से उपजा साहित्य है जो मानव के हृदय को मिलाने के लिए नवीन जीवन दृष्टि देता है।

**बोध प्रश्न 3**

1) सूफ़ी काव्य के काव्य रूप की पाँच पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

.....

2) सूफ़ी काव्य की कथानक रूढ़ियों का उल्लेख तीन पंक्तियों में कीजिए।

3) सूफ़ी प्रतीक विधान की विशेषताओं पर सात-आठ पंक्तियों में लिखिए।

4) सूफ़ी काव्य की भाषा पर सात-आठ पंक्तियों में चर्चा कीजिए।

5) सूफ़ी काव्य के छंद-विधान की विशेषताएं तीन-चार पंक्तियों लिखिए।

## 11.12 पारिभाषिक शब्दावली

**हाल**—यह सूफ़ी मत में समाधि की अवस्था का नाम है। इस अवस्था में साधक अपने को जगत के अन्य पदार्थों से भिन्न समझने का भाव त्याग देता है तथा उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है और उसे प्रेम का नशा छा जाता है।

**इश्क मजाती**—यह साधक की लौकिक प्रेम अवस्था है।

**इश्क हकीकी**—यह साधक की अलौकिक प्रेम अवस्था है।

**नफ़्स**–विषय भोग वृत्ति।

**नासू**–मानव लोक।

**मनकूत**–अदृश्य लोक।

**अबरूत**–उच्चतम लोक।

**लाहूत**–परलोक या ब्रहम लोक।

**मसनवी**–इसमें कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्त न होकर कथा को खंडों, प्रसंगों या घटनाओं के अनुसार रूप दिया जाता है। मसनवी के लिए साहित्यिक नियम तो इतना ही है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छंद में ही हो, पर परम्परानुसार उसमें कथारम्भ के पहले ईश्वर स्तुति, पैगम्बर की वंदना और उस समय के राजा ''शाहे वक्त'' की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें 'पद्मावत', 'इन्द्रावती', मृगवती' आदि सभी सूफ़ी काव्यों में पाई जाती हैं।

**हठयोग**–इस साधना में इला, पिंगला, सुषम्ना नाड़ियो की चर्चा रहती है। सुषुम्ना नाड़ी में मस्तिष्क, नाभि चक्र (कुंडलिनी) तक पहुंचने की चर्चा रहती है। योगी ब्रहम की अनुभूति के लिए कुंडलिनी को जगाकर ब्रहमद्वार तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है।

**प्रतिबिंबवाद**–ब्रहम बिंब है और ईश्वर उसका प्रतिबिंब है। यह सिद्धांत प्रतिबिंबवाद कहलाता है।

## 11.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

शुक्ल रामचन्द्र *जायसी ग्रंथावली* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

सं. मुकुंद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी *ग्रंथावली भाग-3* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

सं. धीरेन्द्र वर्मा, *हिंदी साहित्य (द्वितीय खंड)* भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग।

चतुर्वेदी परशुराम *उत्तरी भारत की संत परम्परा* भारती भंडार, प्रयाग।

पालीवाल कृष्णदत्त *मध्ययुगीन हिंदी महाकाव्यों में नायक* साहित्य प्रकाशन, नई सड़क, मालीवाड़ा, दिल्ली-6।

शर्मा रामविलास *परम्परा का मूल्यांकन* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

## 11.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) चिश्ती सम्प्रदाय (2) सुहरावर्दी (3) कादरी (4) नक्सबंदी

ii) देखिए 11.2

iii) देखिए 11.1

iv) वैष्णव प्रेम साधना का मार्ग

v) देखिए 11.3

vi) देखिए 11.3

vii) देखिए 11.3

viii) देखिए 11.3

**बोध प्रश्न 2**

i) देखिए 11.4

ii) देखिए 11.4.1

iii) देखिए 11.4.2

iv) देखिए 11.5

v) देखिए 11.4.3

vi) सूफ़ियों का मूल ध्यान चरित्र-चित्रण पर केन्द्रित न होकर प्रेम दर्शन पर रहा है। देखिए 11.5.1

vii) देखिए 11.5.2

viii) देखिए 11.6

ix) देखिए 11.7

**बोध प्रश्न 3**

i) देखिए 11.8

ii) देखिए 11.8

iii) देखिए 11.9

iv) देखिए 11.10

v) देखिए 11.10

# इकाई 12 सगुण कृष्ण भक्ति काव्यधारा

**इकाई की रूपरेखा**


12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 युग परिवेश
12.3 कृष्ण भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन
12.4 हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य से संबंधित कुछ प्रमुख संप्रदाय
12.5 हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा
12.6 कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण और राधा का स्वरूप
12.7 कृष्ण भक्ति काव्य की कथ्यगत विशेषताएँ
  12.7.1 भक्ति का स्वरूप
  12.7.2 वर्ण्य विषय
  12.7.3 दार्शनिकता
  12.7.4 रस विवेचन
  12.7.5 प्रकृति सौंदर्य
12.8 कृष्ण भक्ति काव्य की शिल्पगत विशेषताएँ
  12.8.1 काव्य रूप
  12.8.2 काव्य भाषा
  12.8.3 प्रतीक और बिंब
  12.8.4 संगीत, लय और छंद
  12.8.5 अलंकार विधान
12.9 मूल्यांकन
12.10 शब्दावली
12.11 उपयोगी पुस्तकें
12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- हिंदी सगुण भक्ति काव्य के युग परिवेश के विषय में बता सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन में कृष्ण भक्त कवियों की भूमिका की जानकारी दे सकेंगे,
- कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा और उसमें राधा और कृष्ण के स्वरूप का उल्लेख कर सकेंगे,
- कृष्ण भक्ति काव्य की कथ्यगत विशेषताएँ बता सकेंगे,
- कृष्ण भक्ति काव्य की शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन कर सकेंगे,

## 12.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाइयों में आप निर्गुण भक्ति काव्य की ज्ञानमार्गी काव्यधाराओं के बारे में पढ़ चुके हैं। इससे पहले खंड में आपने भक्ति आंदोलन और उसकी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों की भी जानकारी प्राप्त की है। आप जानते हैं कि भक्ति काव्य का विकास निर्गुण और सगुण दो प्रकार की भक्ति काव्यधाराओं में हुआ। भक्ति आंदोलन वस्तुतः एक देशव्यापी आंदोलन था जिसने समूचे देश को भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने का युगांतरकारी कार्य किया था। इसकी व्याप्ति कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से बंगाल तक थी। लालदेह (कश्मीर), आंडाल (तमिलनाडु), चंडीदास (बंगाल) और नरसी मेहता (गुजरात) जैसे भक्त कवियों ने लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक भारतीय जनमानस को अपनी भक्तिमयी कविता की तन्मयता

से आत्म विभोर किया। आप पढ़ चुके हैं कि कबीर आदि संत कवियों तथा सूफी कवियों ने निर्गुण निराकार ब्रहम की उपासना द्वारा जन सामान्य में भक्ति और प्रेमभाव का संचार किया और भक्ति तथा ज्ञान का मेल स्थापित किया।

निर्गुण भक्त कवि जहाँ निराकार ब्रहम की उपासना में लीन थे वहीं सगुण भक्त कवियों ने ब्रहम के साकार रूप की उपाना को अपना लक्ष्य बनाया। विष्णु के अवतार के रूप में राम और कृष्ण की लीला का गायन इन भक्तों का उद्देश्य बना। इस इकाई में हम हिंदी सगुण मार्गी कृष्ण भक्त कवियों तथा उनकी रचनाओं के बारे में पढ़ेंगे।

## 12.2 युग परिवेश

कृष्ण भक्ति धारा के मूल प्रवाह को समझने के लिए इस युग के परिवेश की वैचारिक स्थिति पर दृष्टिपात करना आवश्यक है क्योंकि यह काव्यधारा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक शक्तियों की गतिमान और विकासमान दृष्टि को प्रस्तुत करती है। कट्टर पुराणपंथियों ने जनता को जो तकलीफें दी थी, संत उनके विरुद्ध खड़े होकर कष्टों से मुक्ति का मार्ग निकालते हैं। भक्ति आंदोलन दक्षिण भारत से एक विराट आंदोलन के रूप में पूरे देश में फैला था। उसे समाज की वेद-उपनिषदवादी अथवा कट्टर संकीर्णतावादी शक्तियों ने प्रस्तुत नहीं किया था वरन् आलवार और नयनार संतों ने और उनके प्रभाव में आने वाली जन शक्तियों ने उसके प्रसार और प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। राजनीतिक दृष्टि से हिंदू और मुस्लिम दोनों प्रकार की जनता उच्च वर्गीय सामंतों से त्रस्त थी। इसलिए संतों ने एक व्यापक मानवतावादी दृष्टि का निर्माण अपने सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों की शक्ति से किया। सामूहिक कीर्तन गायन ने उनके जीवन के अलगाव को नया करते हुए टूटे हुए हृदयों को मिला दिया। भक्तिकाल में निम्नवर्ग और उच्च वर्ग का संघर्ष प्रबल रूप में मिलता है। यही संघर्ष धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और अनेक क्षेत्रों में अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है। सिद्धों, नाथों, योगियों और तांत्रिकों का प्रभाव साधारण जनता पर उतना नहीं हुआ जितना व्यापक प्रभाव भक्ति आंदोलन के संत कवियों का हुआ। कृष्ण भक्ति काव्य के संत निम्न और उच्च दोनों वर्गों की जातियों से आए और इन संतों ने गीति काव्य के माध्यम से अपने हृदय को खोलते हुए जातिवाद के विरुद्ध आवाज तेज की। कृष्ण भक्ति शाखा ने निर्गुण भक्ति के विरुद्ध संघर्ष किया और जनता को जीवन के कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए एक व्यापक दृष्टि प्रस्तुत की। आचार्य शुक्ल के इस कथन में सच्चाई है कि भक्ति आंदोलन का मूल जनता के कष्ट में मौजूद है।

भक्तिकाल में ऐसा परिवेश निर्मित हुआ कि पुरुष कवियों या महात्माओं के साथ मीराबाई जैसे स्त्री संत भी आए। पुजारियों और मौलवियों की रीति-नीति के विरुद्ध इन संतों ने मूलतः प्रेम के आधार पर मुक्ति और ईश्वर प्राप्ति की बात पर बल दिया। उन्होंने संस्कृत और अरबी जैसी भाषाओं को छोड़कर लोक भाषाओं का प्रचार किया। इस तरह लोक धर्म लोक भाषा में स्थापित किया गया। कृष्ण काव्य का सामाजिक आधार किसी एक प्रदेश तक सीमित नहीं है। यह एक ऐसा विराट सांस्कृतिक आंदोलन है जिसने ग्रामीण जनता की चेतना को नया मोड़ दिया। यह काव्य भारतीय जनता की सबसे कोमल भावनाओं मानवीय सहृदयता और जीवन की आस्था का उज्जवल संसार है। बालकृष्ण के सौंदर्य का उद्घाटन भारतीय हृदय की अपनी एक विशिष्ट पहचान है। सामाजिक बंधनों की सच्ची अवहेलना इन कवियों ने राधा और कृष्ण के प्रेम में चित्रित की है। सूर और मीरा दोनों ने प्रेम की लौकिक भावभूमि को विस्तृत किया है।

देश में मुगलों का शासन स्थापित हो जाने पर हिंदू और मुस्लिम हृदय धीरे-धीरे मिलने लगे थे। जाति-पाँति पर आधारित धर्मशास्त्र पीछे छूटने लगा था। ऐसे समाज में बाँसुरी वाले कृष्ण की लोक नायक लीला का विस्तार हृदय की मुक्ति के लिए सबसे अच्छा द्वार था।

इन कृष्ण भक्त कवियों ने जिस भक्तिमार्ग की स्थापना की वह किसी भी तरह की धार्मिक कट्टरताओं को आदर न देता था। कृष्ण भक्ति काव्य के सभी संप्रदायों ने कृष्ण के माध्यम से ऐसी भक्ति पद्धति की स्थापना की जो प्रेमाभक्ति और आत्म समर्पण पर आधारित है।

## 12.3 कृष्ण भक्ति काव्य और भक्ति आंदोलन

भक्ति आंदोलन के संदर्भ में कृष्ण भक्ति काव्य का विकास अचानक ही नहीं हो गया। बल्कि इस विकास के पीछे कृष्ण के भक्ति के विकास और चिंतन के अनेक मोड़ हमें दिखाई देते हैं। प्रमुख बात यह है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य में कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यंत विलक्षण है। कृष्ण आंगिरस का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में पाया जाता है। किंतु कृष्ण यहाँ एक ऋषि के रूप में हैं। ऋग्वेद में कृष्णासुर का उल्लेख है जिसे इंद्र ने पराजित किया था। आश्चर्य की बात यह है कि महाभारत के वीर राजनीतिज्ञ कृष्ण और श्रीमद्भागवत के प्रेममय कृष्ण के व्यक्तित्वों की प्राचीन संदर्भों में कोई समानता नहीं मिलती है।

छांदोग्य उपनिषद के आंगिरस के शिष्य कृष्ण देवकी के पुत्र अवश्य कहे गए हैं फिर भी विद्वानों ने यह तर्क उपस्थित किया है कि वैदिक कृष्ण और महाभारत कालीन कृष्ण दो अलग-अलग व्यक्ति हैं। डॉ. भंडारकर ने अनेक तर्कों से सिद्ध किया है कि वैदिक ऋषि कृष्ण का महाभारत के राजनीतिज्ञ कृष्ण से कोई संबंध नहीं है। किंतु विद्वानों का एक ऐसा वर्ग भी है जो कहता है कि कृष्ण का व्यक्तित्व वेदों के बाद निरंतर बदलता रहा और अनेक उपासनाओं के रूप में उनके व्यक्तित्व को विविध रूपों में स्वीकृति मिलती रही। महाभारत के आरंभ में वासुदेव कृष्ण की उपासना के व्यापक संदर्भ मिलते हैं किंतु इन संदर्भों को उपनिषद काल के कृष्ण के साथ भी आसानी से जोड़ा जा सकता है। जातकों में "महा उमगा" जातक में कृष्ण वासुदेव की एक संक्षिप्त कथा भी मिलती है। पर सच्चाई यह है कि हरिवंश, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में कृष्ण की कथा को विशेष महत्व मिलता है। यह कहना अधिक सार्थक होगा कि भागवत की कृष्ण कथा ही सबसे अधिक विस्तृत और व्यवस्थित कथा है और इसी कथा ने कृष्ण भक्ति काव्य को सर्वाधिक प्रेरित किया है। यह मानने में भी आपत्ति नहीं हो सकती है कि कृष्ण कथा मौखिक रूप में भी प्रचलित रही और जब पुराणों का धार्मिक रूप में उपयोग होने लगा तो इस कथा का नए ढंग से विस्तार हुआ। कृष्ण कथा के कई रूप और पक्ष भी है जिनकी संक्षिप्त चर्चा हम यहाँ करेंगे। कृष्ण कथाओं के भीतर से कृष्ण के तीन रूप उभरते हैं–

1) **योगी धर्मात्मा का रूप** – यह रूप गीता के कृष्ण में चरम परिणति पाता है।
2) **ललित मधुर गोपाल का रूप**– संस्कृत साहित्य में इसी रूप का उत्कर्ष ब्रह्म वैवर्त पुराण और श्रीमद्भागवत में मिलता है।
3) **वीर राजनयिक रूप** – यह महाभारत और पुराणों के अनेक प्रसंगों में दृष्टिगत होता है।

कृष्ण के इन रूपों को देखने पर ज्ञात होता है कि वे वासुदेव कृष्ण के रूप में लोकप्रिय हुए और धीरे-धीरे उनके साथ ललित मधुर गोपाल कृष्ण की कथाएँ जुड़ती गई। कालांतर में उन्होंने भारतीय धर्म, संस्कृति और कलाओं पर अपना व्यापक व्यक्तित्व स्थापित कर लिया। भागवत में गोपाल कृष्ण की चर्चा तो है पर राधा का नामोल्लेख तक नहीं है। दूसरी ओर ब्रह्म-वैवर्त पुराण में राधा और कृष्ण के प्रेम का विस्तार से वर्णन है। इस वर्णन से सिद्ध है कि लोक साहित्य-मौखिक और लिखित गीतिकाव्य परंपरा में कृष्ण कथाएँ प्रचलित रही होंगी। इन कथाओं की पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति बारहवीं शताब्दी के संस्कृत कवि जयदेव के "गीत गोविंद" में होती है। मूलतः "गीत गोविंद" लौकिक श्रृंगार की कृति है लेकिन वर्णन की तन्मयता उसे भक्ति की ओर ले जाती है। जयदेव को भी लोकगीतों की परंपरा मिली होगी, किंतु लोकगीतों की परंपरा की देशभाषा में पहली अभिव्यक्ति विद्यापति (14वीं-15वीं शताब्दी) के पदों में हुई।

विद्यापति की कविता में माधुर्य भाव वाला श्रृंगार है। वास्तविकता यह है कि कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिए राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंगों को काव्य का विषय बनाया है। विद्यापति विशुद्ध श्रृंगार के कवि हैं इन्हें सीधे-सीधे कृष्ण भक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए। हालाँकि यह ठीक है कि चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्तों को विद्यापति गीतों में भक्ति की चरम तन्मयता मिली और ऐसा ही वातावरण भक्तिकाल की भावावेश पूर्ण स्थिति ने पैदा किया। यह पूरा का पूरा परिवेश भक्ति रस में निमग्न है। इसी परिवेश की चमक भक्तिकाल के अधिकांश कृष्णभक्ति काव्य पर है।

कृष्ण काव्य को भक्ति आंदोलन ने भी एक व्यापक पृष्ठभूमि प्रदान करते हुए नवीन भावभूमि प्रदान की। जब दक्षिण-भारत में पहुँचकर वासुदेव धर्म या भागवत धर्म में भक्ति का तप, त्याग और समर्पण वाला भाव प्रबल हुआ। किंतु जब अमीरों की प्रेममय बाल उपासना से जुड़ गया तो उसमें मधुरोपासना या प्रेमाभक्ति के कई स्रोतों का सूत्रपात हुआ। बालकृष्ण की उपासना कृष्ण के अवतारी रूपों से जुड़ती गई। इसलिए पश्चिमी विद्वानों का यह कहना उचित नहीं है कि कृष्ण की बाल लीलाएँ क्राइस्ट के बाल चरित का अनुकरण हैं। कृष्ण बहुत प्राचीन भारतीय देवता हैं और शूरसेन प्रदेश की पशुपालक जातियों से उनका प्राचीन संबंध है। यह अवश्य मानना पड़ता है गोपाल कृष्ण तथा ब्रज नंदन की लीलाओं का प्रारंभ पुराणों से हुआ और इन पुराणों पर भक्ति आंदोलन की गहरी छाप है। पुराणों में एक ओर तो कृष्ण का आध्यात्मिक रूप व्यंजित हुआ दूसरी ओर लौकिक लीलावतारी रस माधुरी से भरा रूप सौंदर्य वाला रूप। इन रूपों को लेकर कहा गया कि समस्त वेद कृष्ण की आराधना करते हैं। पुराणों में कृष्ण को योगेश्वर, सच्चिदानंद, अविनाशी, जातीय-विजातीय भेदशून्य कहा गया है। भक्तों के आराध्य होने के साथ वे भक्त वत्सल हैं और उनमें लोक रंजक और लोक रंजन का रूप भी पर्याप्त आकर्षक है।

भक्ति आंदोलन पर विचार करने वाले विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से ही कृष्णोपासना के चिह्न मिलने लगते हैं। गुप्त सम्राटों के युग में कृष्ण ने विष्णु नारायण वासुदेव के रूप में अखिल भारतीय रूप पा लिया था पाँचवीं से लेकर नवीं शताब्दी तक भक्ति आंदोलन का प्रमुख क्षेत्र दक्षिण भारत रहा और तमिलनाडु में इस आंदोलन को विशेष शक्ति प्राप्त हुई। आलवार भक्तों ने पूरे देश को व्यापक रूप से प्रभावित किया। कश्मीर में लटदेह, बंगाल में चंडीदास, गुजरात में नरसी मेहता आदि विभिन्न प्रदेशों के संत भक्त कवि इसी प्रभाव से जनता के मुरझाए मनों को सींचते रहे। दक्षिणी भारत से आने वाली इस भक्ति धारा का वेग उत्तरी भारत में आकर पुनः नवीन शक्ति में बदल गया और इस भक्ति आंदोलन ने पूरे देश को भावात्मक एकता के सूत्र में बाँधने का मूल्यवान कार्य किया। इस भावात्मक एकता की आधारभूमि थी भक्ति। उसे ही परम प्रेमरूप और अमृत रूप कहा गया था, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। ईश्वर के परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है अतः ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों में कर्म, ज्ञान और योग के साथ भक्ति मार्ग की भी गणना की गई है। भक्ति मार्ग का प्रमुख संप्रदाय भागवत धर्म है जिसका उदय ईसा के लगभग 1400 वर्ष पूर्व हुआ था। यह सच है कि ब्राह्मण काल में कर्मकांड की प्रमुखता के कारण भक्ति का प्रवाह कुंठित हुआ। उपनिषद युग में निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति के लिए ललक रही किंतु महाभारत काल में सगुण प्रतीकों की सृष्टि के साथ प्रवृत्तिमय भक्ति मार्ग का राजमार्ग खोल दिया गया। पाणिनि के सूत्रों से पता चलता है कि पाणिनि के पूर्व वासुदेव भक्ति प्रचलित थी जिसका समय ई. पू. 14वीं शताब्दी माना जा सकता है। यह सच है कि भक्ति मार्ग में वासुदेव भक्ति का प्राधान्य रहा और बुद्धोत्तर काल में भक्ति आंदोलन अपने स्वरूप को विस्तृत करता गया। मानव देहधारी, ब्रह्म की उपासना जनता के रुचिकर प्रतीत हुई। अतः प्रत्यक्ष नाम रूपात्मक उपासना ही भक्ति मार्ग कहलाई।

कालांतर में रामानुजाचार्य (10वीं ।।वीं शताब्दी ई.) और अब्राह्मणों के लिए भक्ति के वेदानुकूल भक्ति और तांत्रिक भक्ति नामक दो भेद किए और रामानुजाचार्य की परंपरा को प्रभावित करने के लिए रामानंद ने उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन का प्रसार किया। उन्होंने भक्ति को स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण-अब्राह्मण सभी के लिए सुलभ बना दिया। इसी बीच वैष्णव शास्त्रकार उठ खड़े हुए और उन्होंने शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य के भावों का विवेचन किया और इन पाँच भावों को पाँच रसों में स्थापित कर दिया। इन सभी का एक व्यापक नाम पड़ा—भक्ति रस। भक्ति रस के भीतर प्रेम लक्षणा भक्ति को सर्वोपरि स्थान मिला क्योंकि इस भक्ति से भक्त को भगवान का सबसे अधिक अनुग्रह प्राप्त होता है।

## 12.4 हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य से संबंधित कुछ प्रमुख संप्रदाय

हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य के प्रमुख संप्रदायों का प्रचार और प्रसार ब्रज मंडल क्षेत्र में व्यापकता से पाया जाता है। इस संदर्भ में संप्रदाय से अर्थ है विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन करने वाला सिद्धांत, मत या समूह। संप्रदाय का अर्थ यहाँ वह नहीं है जो

वस्तुतः आज प्रचलित है और जो संकुचित सांप्रदायिकता का सूचक है। भक्तिकाल में संप्रदाय का अर्थ है किसी विशिष्ट चिंतन परंपरा को विकसित और पोषित करने वाली एक विशेष पद्धति। इस दृष्टि से कृष्ण भक्ति काव्य को समझने के लिए उसके प्रमुख संप्रदायों की चर्चा नीचे की गई है–

1) **वल्लभ संप्रदाय**–यह संप्रदाय वल्लभाचार्य द्वारा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में स्थापित किया गया। इसकी भक्ति का नाम पुष्टि मार्ग है। इसे कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप पर आधारित माना जाता है। इस मत का दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाता है। वल्लभाचार्य के चार शिष्य और विट्ठलनाथ के चार शिष्य को सम्मिलित करके अष्टछाप की स्थापना की गई। अष्टछाप के इन आठों कवियों ने इस संप्रदाय की विचारधारा के प्रसार में विशेष सहायता की। इन कवियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास, गोविंददास, छीतस्वामी, नंददास और चतुर्भुजदास। इस संप्रदाय के इष्ट देव श्रीनाथ जी हैं। ये आठों कवि सखा भाव से कृष्ण की प्रेमाभक्ति में अनुरक्त रहे हैं। विशेष बात यह है कि ये आठों कवि विभिन्न जातियों और वर्गों से आए थे और संगीत तथा कलाओं पर इनका असाधारण अधिकार था।

2) **माधव संप्रदाय**–इस मत के अनुयायी मध्वाचार्य से प्रभावित हुए। यह संप्रदाय भक्ति के आदर्श को निरूपित करता है। नाम कीर्तन इस संप्रदाय में विशेष रूप से प्रचलित हुआ। इनकी प्रमुख पुस्तक "भक्ति रत्नावली" है।

3) **विष्णु संप्रदाय**–विष्णु स्वामी ने इस संप्रदाय की स्थापना की और बिल्व मंगल संन्यासी ने "कृष्ण कर्णामृत" नामक कविता में राधा कृष्ण का यश गायन कर इस मत का विशेष प्रचार किया। किंतु बाद में यह संप्रदाय वल्लभ संप्रदाय में मिल गया क्योंकि प्रभु वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी के सिद्धांतों को लेकर बाद में पुष्टि मार्ग की स्थापना की।

4) **निंबार्क संप्रदाय**–निंबार्काचार्य के इस संप्रदाय का विकास हरिव्यास मुनि और श्री भट्ट की प्रसिद्ध रचनाओं से हुआ। इन्होंने श्रीकृष्ण के संकीर्तन को विशेष स्थान दिया। दैन्य भाव से कृष्ण की कृपा प्राप्त होती है और प्रेम मूलक भक्ति से जीव का कल्याण होता है। भक्तों के अनुग्रह के लिए ही कृष्ण अवतार धारण करते हैं।

5) **चैतन्य संप्रदाय**–चैतन्य संप्रदाय की स्थापना सोलहवीं शताब्दी में हुई। चैतन्य ने भागवत पुराण की भक्ति का आदर्श स्वीकार किया। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति के कृष्ण विषयक पदों को गा कर चैतन्य ने कृष्ण भक्ति का विशेष प्रचार किया। उन्होंने कृष्ण भक्ति में राधा को विशेष स्थान दिया। विशिष्ट बात यह है कि इस संप्रदाय में जाति-पाँति का बंधन एकदम नहीं है।

6) **राधा-वल्लभ संप्रदाय**–इस संप्रदाय की स्थापना पंद्रहवीं शताब्दी में हितहरिवंश ने वृंदावन में की है। माधव और निंबार्क संप्रदाय से इस संप्रदाय को विशेष आधार मिला और इसी आधार से हितहरिवंश ने "राधा सुधानिधि" की रचना कर डाली। इस संप्रदाय की विशेषता यह है कि इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण प्रमुख नहीं, राधा प्रमुख है। राधा यहाँ परम प्रकृति है और कृष्ण उस पर आश्रित पुरुष है। कृष्ण राधा के साथ एकाकार हो कर गोप-गोपियों के साथ लीलारत होते हैं और श्रृंगार के सौंदर्य मंडित रूप का विस्तार करते हैं। राधावल्लभ श्रीकृष्ण का ही उपास्य नाम है।

7) **हरिदासी संप्रदाय**–इस संप्रदाय की स्थापना स्वामी हरिदास ने की और उन्हीं के साथ इसका अंत भी मानना चाहिए। इस संप्रदाय को सखी संप्रदाय भी कहा जाता है क्योंकि स्वामी हरिदास ने नित्य बिहारी कृष्ण निकुंज लीलाओं का गान किया है।

8) **दत्तात्रेय संप्रदाय**–इस मत के अनुयायी दत्तात्रेय को अपने पंथ का प्रवर्तक मानते हैं। दत्तात्रेय का रूप तीन सिरों से युक्त है। इनके साथ एक गाय और चार कुत्ते हैं। दत्तात्रेय स्वयं कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इस संप्रदाय में स्वयं कृष्ण ही आराध्य हैं और भगवत्गीता ही परम आराधना की पुस्तक है। इस संप्रदाय का विशेष प्रचार महाराष्ट्र में हुआ।

**बोध प्रश्न 1**

क) कृष्ण **भक्ति** काव्य युगीन परिस्थितियों पर दस पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ख) सगुण भक्ति की दो शाखाएँ कौन सी हैं?

.....

.....

ग) कृष्ण कथाओं के भीतर से कृष्ण के कौन से तीन रूप उभरते हैं?

.....

.....

.....

घ) कृष्ण भक्ति के प्रमुख संप्रदायों के नाम बताइए?

.....

.....

.....

.....

.....

## 12.3 हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा

हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य की परंपरा को बारहवीं शताब्दी के कवि जयदेव ने "गीत गोविंद" लिख कर विशेष रूप से प्रेरित किया। संस्कृत में राधा-कृष्ण संबंधी यह प्रथम रचना है। विद्वानों का अनुमान है कि कवि को इस रचना की प्रेरणा लोक गीतों और लोक कथाओं में मिली होगी।

**विद्यापति** : इस लोक परंपरा को चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यापति ने कृष्ण-राधा संबंधी अपने पदों की भाव धारा में ढाल दिया। हिंदी में कृष्ण काव्य संबंधी गीति काव्य परंपरा के प्रमुख प्रवर्तक कवि विद्यापति ही हैं। कृष्ण और राधा के मधुर रूप को इन्होंने लोक परंपरा में रस-सिक्त कर दिया।

**सूरदास (1478-1583 ई.) :** विद्यापति के बाद हिंदी कृष्ण काव्य के प्रथम बड़े कवि सूरदास हुए। सूरदास की प्रतिभा का विकास पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य के संस्पर्श से हुआ। सूर ने गोपाल कृष्ण के गोकुल, वृंदावन और मथुरा के जीवन से संबंधित संपूर्ण आख्यान को "सूरसागर" नामक अपनी कृति में प्रस्तुत किया है। कथा की सामान्य रूपरेखा श्रीमद्-भागवत् पुराण से ली। किंतु प्रसंगों और विवरणों को उन्होंने अपनी प्रतिभा से मौलिकता

प्रदान करते हुए अद्वितीय बना दिया। भक्ति भावना के माध्यम से कथा को इस प्रकार संगठित किया कि "सूरसागर" भक्ति सागर ही बन गया। भक्तिभाव को भक्ति रस बनाने में सूरदास का महत्व सर्वोपरि है। सूरदास के जीवन और उनकी कृतियों की जानकारी के लिए नाभादास कृत "भक्तिमाल" और गोकुलदास कृत "चौरासी वैष्णव की वार्ता" का आधार लिया जाता है। सूरदास की भेंट 1510 ई. के आसपास वल्लाभाचार्य से हुई। तब से इन्होंने दास्य और विनय के पद लिखना बंद करके सख्य वात्सल्य और माधुर्य-भाव के पद लिखना शुरू किया। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने अपनी पुस्तक "अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय" में सूर रचित 25 ग्रंथों की सूची दी है जिनमें "सूरसागर", "सूर सारावली", "सूर साहित्य लहरी", "सूर पचीसी", "सूर रामायण" आदि प्रकाशित हैं। वस्तुतः "सूरसागर" ही उनकी प्रमुख श्रेष्ठ कृति है। "साहित्यलहरी" उनके दृष्टकूट पदों का संग्रह है। अर्थ गोपन शैली में राधाकृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए इस ग्रंथ का विशेष महत्व है। "सूर सागर" की कथा का आधार श्रीमद्भागवत पुराण है लेकिन इसे उसका अनुवाद नहीं समझना चाहिए क्योंकि इसमें सघन अनुभूति और आत्माभिव्यक्ति को श्रेष्ठ सर्जनात्मक विस्तार मिलता है। वात्सल्य और श्रृंगार का उन्होंने इसमें जैसा उद्घाटन किया वैसा अनूठा वर्णन हिंदी साहित्य के किसी भी कवि में नहीं मिलता। ब्रजभाषा की साहित्यिक गरिमा को स्थापित करने वाली रचनाओं में "सूरसागर" अग्रगण्य है। साथ ही यह राग रागिनियों के स्वर ताल से बंधी हुई पद शैली का अनूठा उदाहरण भी है। सूर की भक्ति माखन चोर कृष्ण पर केंद्रित है यथा–

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसे हूँ निकसत नाहीं ऊधौ तिरछे ह्वै जु अड़े।।

"सूर सागर" में सूरदास ने निर्गुण का खंडन करते हुए सगुण की स्थापना की है–

"सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन लीला पद गावै।"

**कुंभनदास (1468-1583 ई.)** : कुंभदास ब्रज में गोवर्धन पर्वत से दूर एक गाँव में रहते थे। गृहस्थ होते हुए भी ये अनासक्त भाव से कृष्ण भक्ति में लीन रहते थे। ये कीर्तन गायन में बड़े प्रसिद्ध थे और व्यक्तित्ववान भी थे। किंवदंती है कि कुंभनदास एक बार अकबर के निमंत्रण पर फतेहपुर सीकरी गए थे। वहाँ बादशाह के आग्रह पर उन्होंने पद सुनाया था–

"संतन कहा सीकरी सौं काम"

कुंभनदास की स्वतंत्र रचनाओं का उल्लेख नहीं मिलता किंतु उनके कुछ पद "राग कल्पद्रुम", "राग रत्नाकर", "बसंत धमार कीर्तन" आदि में संकलित है। इनके पदों में साहित्यिकता से ज्यादा संगीत और लय का सौंदर्य है।

**परमानंददास (1493-1553)** : अष्टछाप के प्रमुख कवि परमानंददास का जन्म कन्नौज के निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वल्लभाचार्य से दीक्षा लेकर ये बाल लीला के पदों की रचना करते रहे। इनकी रचनाएँ "परमानंद सागर" के नाम से प्रकाशित हैं। बाल लीला के सुंदर पद इन्होंने लिखे हैं किंतु उनमें सूरदास जैसी मार्मिकता नहीं है।

**कृष्णदास (1495-1575)** : ये कृष्णदास अधिकारी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये शूद्र जाति के थे और गुजरात के राजनगर राज्य में जन्मे थे। प्रबंध पटुता के कारण ये ब्रज में आकर श्रीनाथ जी के मंदिर का प्रबंध देखने लगे। संगीत के मर्मज्ञ गायक थे और बाल लीला तथा राधा-कृष्ण प्रेम प्रसंग में इनका मन रहता था। इनकी मातृभाषा गुजराती थी लेकिन ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।

**नंददास (1533-1586)** : अष्टछाप के कवियों में नंददास काव्य सौंदर्य और दार्शनिकता की दृष्टि से सूरदास के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। ये गोस्वामी विट्ठलदास के शिष्य थे और इनको तुलसीदास का चचेरा भाई माना जाता है। इनका जन्म सोरों में हुआ था तथा काशी में इन्होंने शास्त्र का अध्ययन किया था। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के बाद इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें "भंवरगीत", "रास पंचाध्यायी", "रस मंजरी", रूप मंजरी, "स्याम सगाई" आदि प्रसिद्ध हैं। "भंवरगीत" इनकी अत्यंत प्रसिद्ध रचना है। अपनी दार्शनिकता और काव्यगत परिपक्वता के लिए भी यह कृति बेजोड़ मानी जाती है।

**गोविंदस्वामी (1505-1585)** : गोविंदस्वामी का जन्म भरतपुर राज्य के एक गाँव में हुआ। ये गृहस्थ थे। वैराग्य होने पर ब्रज मंडल में आ गए। संगीत शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान

था और ये भक्तों को पद गायन सिखाते थे। 1535 में गोस्वामी विट्ठलनाथ से पुष्टि मार्ग की दीक्षा लेकर अष्टछाप में सम्मिलित हो गए। प्रसिद्ध है, अकबर के दरबार के गायक तानसेन इनके पास आकर पद गायन की शिक्षा लेते थे। इनके पद "गोविंद स्वामी के पद" नाम से संकलित हैं। ब्रजभाषा का लालित्य इनमें अद्भुत ढंग से विद्यमान है।

**छीतस्वामी (1500-1585)** : ये मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और बीरबल के पुरोहित थे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर अष्टछाप में सम्मिलित हो इन्होंने संगीत में अपने आपको समर्पित कर दिया। कीर्तन के लिए 200 पदों की रचना की। इनकी भक्ति की तन्मयता की बहुत किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।

**चतुर्भुजदास (1540-1585)** : प्रसिद्ध है कि ये कुंभदास के सबसे छोटे पुत्र थे। खेती बाड़ी करते और भजन-कीर्तन में समय बिताते थे। पिता ने इन्हें गायन विद्या और पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलाई थी। इनके पदों का संग्रह चतुर्भुज कीर्तन संग्रह के नाम से प्रकाशित है। इनमें कृष्ण जन्म से लेकर गोपी विरह तक की लीला का गायन है।

**श्री भट्ट** : कृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन करने वाले मधुर भाव के कवि हैं। इनका संबंध निंबार्क संप्रदाय से था। इनकी रचना "युगल शतक" बहुत प्रसिद्ध हुई।

**मीरांबाई (1504-1558)** : इनका जन्म राजस्थान में राव रत्न सिंह के घर में हुआ था। उनका विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज से 1516 में हुआ। दुर्भाग्यवश 7 वर्ष के बाद मीरां विधवा हो गई और जीवनभर संघर्ष झेलती रही। लोक-लाज और कुल की मर्यादा छोड़ कर उन्होंने अपने को कृष्ण भक्ति में समर्पित कर दिया। मीरां की भक्ति में तन्मयता और एकनिष्ठता है तथा गीतिकाव्य का मधुर रस। मीरां के काव्य का मूल स्वर है "मेरा तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई"। इनकी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन मीरांबाई की पदावली के नाम से प्रकाशित है। इनकी तुलना आलवार भक्तिन आंडाल से की जा सकती है। इनकी भाषा राजस्थानी गुजराती मिश्रित ब्रजभाषा है।

**रसखान** : रसखान के जन्म, शिक्षा, दीक्षा, निधन आदि का प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। किंतु रसखान रचित "प्रेम बाटिका" के आधार पर कहा जाता है कि ये हूमायूँ के समय में मौजूद थे।

"देखि गदर हित साबिबी दिल्ली नगर मसान
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छोड़ि रसखान"।

बादशाह वंश की ठसक छोड़कर ये कृष्ण प्रेम के दीवाने हो गए। इनका असली नाम इब्राहीम खाँ था और ये दिल्ली छोड़ कर गोवर्धन धाम चले गए थे। प्रसिद्ध है कि इन्होंने विट्ठलनाथ जी से वल्लभ-संप्रदाय की दीक्षा ली थी। इनकी चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—"सुजान रसखान", "प्रेम वाटिका", "दान लीला" और "अष्टधाम"। इनमें भक्त और कवि का अद्भुत समन्वय है और इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा कविता का रस सौंदर्य छलक पड़ता है। राधा और कृष्ण की प्रेम भक्ति के ऐसे मधुर गायक हिंदी में कम हुए हैं।

ब्रजभाषा कृष्ण भक्ति काव्य की परंपरा अत्यंत समृद्ध है जिसके अंतर्गत अनेक कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं जैसे हरिव्यास देव, परशुराम देव, हित हरिवंश, दामोदर दास, (सेवक कवि) हरिराम व्यास, ध्रुवदास, नेही नागरीदास, स्वामी हरिदास, जगन्नाथ गोस्वामी, बीठल विपुल, बिहारिनदास, भक्तिकवि नागरीदास, राम राय, सूरदास मदन मोहन गदाधर भट्ट, चंद्रदास, नरोत्तमदास, भगवान दास, माधवदास माधुरी, ब्रजवासी लाल आदि। कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा में कविता के भाव पक्ष और कला पक्ष का अद्भुत विकास हुआ। भक्ति की मधुरता ने इस कविता को लोक हृदय में स्थापित कर दिया और संगीत की राग-रागिनियों पर इन शास्त्रीय संगीत के गायकों ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। संगीत और काव्य का इन कवियों के हाथों अद्भुत विकास हुआ।

कृष्णभक्ति काव्य की जो परंपरा भक्तिकाल में शुरू हुई थी वह धीरे-धीरे रीतिकालीन शृंगारी काव्य में परिणत होती गई। रीतिकाल में आकर कृष्ण और राधा भक्ति के प्रतीक न रह कर शृंगार के प्रतीक हो गए। रीतिकाल के बाद आधुनिक काल में भी कृष्ण काव्य का सृजन हुआ और युगीन परिस्थितियों ने दृष्टिकोण में बदलाव पैदा किया।

## 12.6 कृष्ण भक्ति काव्य में कृष्ण और राधा का स्वरूप

कृष्ण और राधा के स्वरूप का विकास अनेक भावधाराओं के संयोग से हुआ है। कृष्ण के

साथ गाय, चरवाहे, खेती और किसानी की कथाएँ देखकर तथा यह समझते हुए कि कृष्ण के भाई बलराम हल लेकर चलते हैं पश्चिम के विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि वह फसल के देवता रहे होंगे। किंतु भारतीय विद्वान ऐसा नहीं मानते। भारतीय विद्वानों का कहना है कि कृष्ण नाम बहुत प्राचीन है। इसका प्रमाण यह है कि नारायण और वासुदेव धीरे-धीरे कृष्ण के व्यक्तित्व में ही समाहित हो गए। पुराणों में नारायण और विष्णु अभिन्न हो गए। किंतु पुराणों से यह भी पता चलता है कि विष्णु का बैकुंठ श्री कृष्ण के गोलोक में समाहित होता गया। पुराणों से पता चलता है कि विष्णु का स्थान श्वेत द्वीप था। इस श्वेत द्वीप को लेकर ही योरोप के विद्वान अनेक मत गढ़ने लगे और कहने लगे कि यह द्वीप निश्चय ही योरोप में होगा। वे भूल गए कि पाणिनि (7वीं शताब्दी ई. पूर्व) ने एक जगह कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख धार्मिक नेता के रूप में किया है। मैगस्थनीज (ई.पू. तीसरी शताब्दी) के प्रमाण से पता चलता है कि कृष्ण की पूजा तीसरी शताब्दी ई. पू. से होने लगी थी और कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। कृष्ण के ऐतिहासिक पुरुष होने में कोई संदेह इसलिए नहीं है कि अवतार के रूप में वे बहुत दिनों से पूजित चले आ रहे थे। धीरे-धीरे उनके साथ गोपाल लीला, रास लीला और चीरहरण की कथाएँ श्रीमद्भागवत् के आधार पर और रसिक भक्तों की कल्पनाओं से जुड़ने लगी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन धर्मसाधना में लिखा है—"श्री कृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, राजा हैं, वीर हैं, कंसारि हैं। दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपी जन बल्लभ हैं, राधाधर सुधापानि शालि बनमालि हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रंथों से चल जाता है पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे दूसरा रूप ही प्रधान हो गया और पहला रूप गौण। विद्वानों ने अश्वघोष की एक पंक्ति में गोपाल कृष्ण का पुराना रूप खोजा है। महाभारत भी एक जगह गोविंद द्वारिकावासिन गोपीजन प्रिया आया है। 'हरिवंश पुराण' में तो कृष्ण गोपाल पर बीस अध्याय ही लिखे गये हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में आगे लिखा है "मथुरा में श्री कृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है जो संपूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी से कृष्णलीला की प्रमुख कथाएँ बहुत लोकप्रिय हो गई थीं ऐसा जान पड़ता है। मंसोर मंदिर के टूटे हुए दो द्वार स्तंभ प्राप्त हुए जिनमें गोवर्द्धन धारण, नवनीति चौर्य, शकट भंग, धेनुक वध और कलिय दमन की लीलाएँ उत्कीर्ण हैं। महाबलीपुरम में भी गोवर्द्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्ति मिली है। ऐसा जान पड़ता है कि गोवर्द्धनधारण श्री कृष्ण चरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी। इस प्रकार शिल्प और साहित्य दोनों की गवाही से पता चलता है कि आरंभ में श्री कृष्ण की वीरचर्चा प्रधान थी।

श्री कृष्ण का रसिक रूप वैष्णव भक्तों और साधनाओं के प्रचार और विस्तार से सामने आया है। भागवत् पुराण ने भी इस क्षेत्र में बड़ी भूमिका अदा की है। इस पुराण में कंसवध, पूतना वध तथा राक्षसों की कथाओं का विस्तार से वर्णन है। इस पुराण में कंसारि कृष्ण और गोपाल कृष्ण एक हो जाते हैं। धीरे-धीरे कृष्ण आभीर नामक एक घुमक्कड़ जाति के देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। आभीर कृष्ण की बाल-लीलाओं को ही वैष्णवों ने स्वीकार कर लिया और यही बाल कृष्ण अपने संपूर्ण रूप और सौंदर्य के साथ हिंदी के ब्रजभाषा काव्य में चित्रित किया गया। सूरदास ने कृष्ण को बाल ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया है। अपनी लीलाओं को करने के लिए कृष्ण बैकुंठ को गोलोक पर उतार लाते हैं यह गोलोक ब्रज है। कृष्ण के अवतारी व्यक्तित्व को लेकर एक जगह सूरदास ने कहा—

"वेद उपनिषद जस कहैं निगुनहिं बतावै
सोई सगुन नंद की दावरी बधावै।"

भक्तों के लिए अवतार धारण कर यह ब्रह्म लीला करता है। कृष्ण असुरों का संहार करते हैं और परमानंद सदासुखरासी बन जाते हैं। इस प्रकार श्री कृष्ण का स्वरूप एक लोकरंजक भक्त नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्तित्व से ऊपर उठकर परम देवता के आसन पर पहुँचे हैं और पूर्ण ब्रह्म के पर्याय बन गए हैं।

**राधा**—भागवत, हरिवंश और विष्णुपुराण में कृष्ण के साथ राधा के रूप में नायिका उल्लेख नहीं है। दूसरी ओर "गाथा सप्तशती" और "पंचतंत्र" में राधा का उल्लेख मिलता है। यह भी अनुमान किया गया है कि राधा आभीर जाति की प्रेम देवी रही होंगी जिनका संबंध बाल कृष्ण से था। भागवत में केवल इतनी कथा है कि कृष्ण सभी गोपियों को छोड़कर एक गोपी विशेष से मिले। हो सकता है आगे चलकर इसी गोपी ने राधा का रूप ले लिया हो। राधा नाम कैसे चला यह विवाद का विषय है। हो सकता है कि जैसे शिव के साथ पार्वती और विष्णु के साथ लक्ष्मी है वैसे ही कृष्ण के साथ राधा की भी कल्पना की गई

हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्य युगीन धर्मसाधना में लिखा है—"नित्यानंद प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृंदावन गईं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुख हुआ कि श्री कृष्ण के साथ राधा की कहीं भी पूजा नहीं होती थी। घर (बंगाल) लौटकर उन्होंने नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवाईं और उन्हें वृंदावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ श्री कृष्ण के पार्श्व में रखी गईं और तब से श्री कृष्ण के साथ राधा की भी पूजा होने लगी।"

यह भी संभव है कि राधा की कल्पना दक्षिण से ही आई हो क्योंकि राधावाद के प्रचारक निंबार्क महाराज दक्षिण के ही थे और उत्तर भारत में फैलने वाली राधाभक्ति का प्रचार भी आलवार भक्तों के प्रभाव से हुआ। दक्षिण की भक्तिन आंडाल अपने को राधा मान ली थी। राधा पर अनेक प्रकार के मत मिलने के कारण यह मान लिया गया है कि उत्तर-दक्षिण की बात को छोड़कर मानना यही उचित है कि राधा की कल्पना भागवत् की खास गोपी को लेकर बृंदावन में उठी और वहीं से सर्वत्र फैल गई।

अष्टछाप के कवियों की राधा के मर्म को समझने के लिए पूर्ववर्ती तीन कवियों की रचनाओं पर ध्यान देना आवश्यक है यह तीन कवि हैं जयदेव, विद्यापति और चंडीदास। ये तीनों ही राधाकृष्ण के प्रेम के उपासक हैं और तीनों ही परकीया भाव से राधा का वर्णन करते हैं। जयदेव की राधा के परकीया भाव में प्रेमवेग अबाध है और लोकलाज के लिए कोई स्थान नहीं है। पर विद्यापति की राधा रूप लावण्य की दीप्ति से कलामयी हैं। चंडीदास की राधा में व्याकुलता अधिक है और उनका प्रेम स्वर्गीय ज्योति धारण किए हैं। किंतु हिंदी के अष्टछाप कवियों की राधा विलासिनी नहीं है श्री कृष्ण के साथ उनका मात्र युवाकाल का ही संबंध नहीं है। सबसे बड़ी बात यह है कि वे परकीया नायिका नहीं हैं। उनके रूप पर तीनों लोकों का सौंदर्य न्योछावर है। कृष्ण भक्ति काव्य में राधा-कृष्ण एक दूसरे से अभिन्न हो गए हैं। राधा बिना कृष्ण की कल्पना ही अधूरी रह जाती है। सूरदास के चित्रण में राधा आल्हादिनी शक्ति के रूप में मान्य होते हुए भी अत्यंत स्वाभाविक मानवीय रूप में चित्रित हुई हैं। सूरदास ने रास क्रीड़ा के अंतर्गत वनभूमि के स्वच्छंद वातावरण में राधा-कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है। राधा की प्रेम शक्ति संयोग से ज्यादा वियोग के क्षणों में प्रकट हुई है। कृष्ण भक्ति संप्रदायों में राधा को सबसे अधिक महत्व राधावल्लभ संप्रदाय में मिला। अष्टछाप के कवियों ने राधा के जिस रूप की कल्पना की उसका एक पूरा स्वरूप सूरसागर में विद्यमान है किंतु आगे चलकर वृंदावन दास ने "लाड़ सागर" में राधा के चरित्र का नया रूप प्रस्तुत किया और उन्हें वात्सल्यमयी स्वीकीया नवोढ़ा के रूप में प्रस्तुत किया। कृष्ण भक्ति के अधिकतर संप्रदायों के कवियों ने अपने सिद्धांतों के अनुसार युगल रूप में राधा के महत्व को प्रस्तुत किया है।

## 12.7 कृष्ण काव्य की कथ्यगत विशेषताएँ

### 12.7.1 भक्ति का स्वरूप

ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के निर्वासन के बाद शंकराचार्य के मायावाद का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र में बढ़ने लगा था। शंकराचार्य के प्रभाव से भक्ति आंदोलन को धक्का लगा था और जनता में एक तरह की उदासी छा गई थी। किंतु इसी समय भक्ति आंदोलन के मूलाधार प्रकट हुए—वेद, ब्रहमसूत्र, भगवत् गीता और भागवत। ये चार सूत्र भक्ति आंदोलन के मूलाधार कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति शास्त्र पर लिखे अन्य ग्रंथों ने भी जैसे "नारद भक्ति सूत्र" "शांडिल्य-भक्ति सूत्र", "उज्जवलनील मणि" और "हरि भक्ति रसामृत सिंधु" जैसे विशिष्ट ग्रंथों में भी भक्ति के रसमय स्वरूप का निर्धारण किया। परिणाम यह हुआ है कि उपासना का नया मार्ग चल पड़ा। कृष्ण भक्ति के सभी आचार्यों ने शंकर के मायावाद का खंडन किया और जीवन और जगत की सत्यता तथा ईश्वर भक्ति की पुनः स्थापना की। कृष्ण भक्ति के आचार्यों को मायावाद के खंडन की प्रेरणा रामानुजाचार्य से मिली थी और इसी प्रेरणा के प्रभाव से भक्ति आंदोलन पूरे उत्तरी भारत में बड़े वेग से प्रवाहित हुआ। इस परंपरा की सामान्य दृष्टि इस प्रकार है।

1) ब्रहम के सगुण रूप को विशेष मान्यता दी गई और विष्णु के अनेक अवतारों में राम और कृष्ण के अवतार को विशेष महत्व दिया गया।

2) जगत और जीव की सत्यता स्थापित करते हुए मायावाद का तो खंडन किया ही ब्रह्म के अवतारवाद को स्थापित करते हुए इस लोक की विशिष्ट महिमा का बखान किया।

3) इस वैष्णव धर्म की विशेष बात यह रही कि जाति और कुल का भेदभाव यहाँ मान्य नहीं रहा। इन छोटे भावों से उठकर इनकी दृष्टि ईश्वर या आलंबन पर केन्द्रित होती गई।

शांडिल्य भक्ति सूत्रों में भक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ईश्वर के प्रति अनुरक्ति ही भक्ति है। यह अमृत स्वरूप है और इसे पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है। न वह शोक करता है न द्वेष करता है और न किसी संसारी वस्तु पर आसक्त होता है। बल्लभाचार्य ने कहा है कि भक्ति में भगवान के महात्म्य का ज्ञान सुदृढ़ और सतत प्रेम का है मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है। इस प्रकार भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ है। अष्टछाप के कवियों ने भक्ति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उसमें प्रायः बल्लभाचार्य के मत का अनुकरण मिलता है। इन भक्त कवियों ने कृष्ण की लीलाओं का वात्सल्य, सख्य, दास्य और कांता भाव से वर्णन किया है। किंतु इस वर्णन में कृष्ण के ईश्वरत्व भाव की महत्ता को कहीं भी डिगने नहीं दिया गया है। बार-बार याद दिलाया जाता है कि यह लीला भगवान की है। मनुष्य की नहीं। इन सभी कवियों ने माधुर्य भक्ति भावना को हृदय से अपनाया। राम भक्त कवियों में वैधी या मर्यादा भक्ति की प्रधानता है तो कृष्ण भक्त कवियों में रागानुमा या प्रेमाभक्ति की प्रधानता रही है। इस प्रेमाभक्ति के अंतर्गत नवधा भक्ति को इन्होंने समेट लिया है। नवधा भक्ति का अर्थ है—अर्चना, वंदना, पूजा, स्मरण आदि द्वारा ईश्वर की उपासना। हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों ने भक्ति की व्याख्या तो नहीं की लेकिन उसकी महिमा का वर्णन बार-बार किया है। बल्लभाचार्य ने भक्ति मार्ग के समर्थन में कहा है कि संसार से निवृत्ति का सरल मार्ग ज्ञान और योग की बजाए भक्ति का ही है। सूरदास ने स्पष्ट कहा है कि—

"रे मन समुझि सोच विचार,
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि।"

गोपी-उद्धव-संवाद में भी सूरदास निर्गुण भक्ति से सगुण भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। परमानंददास ने भी कहा है कि ज्ञान और योगमार्ग से भक्ति मार्ग श्रेष्ठ है—

"माई हौं अपने गोपालहि गाऊँ,
सुंदर स्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊँ।"

सभी कृष्णभक्त कवियों ने सगुण ब्रह्म की उपासना पद्धति की ही श्रेष्ठता घोषित की है। सगुण भक्ति व्यावहारिक रूप में सरल और सीधा मार्ग है और यह सीधा मार्ग परमानंद की ओर ले जाता है। सूरदास और नंददास ने भ्रमर गीतों में गोपी उद्धव संवाद के द्वारा सगुण और निर्गुण तथा भक्ति और ज्ञान के विवाद को प्रस्तुत किया है। सूर ने प्रतिज्ञा के रूप में कहा है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहि तातै सूर सगुन लीलापद गावै।।

कृष्ण काव्य की प्रेम लक्षणा भक्ति को सुधासार भक्ति भी कहा जाता है। विशेष बात यह है कि इन कवियों ने भक्ति में संगीत का भी समावेश किया है।

## 12.7.2 वर्ण्य विषय

कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य विषय लीला बिहारी कृष्ण की लीलाओं का गायन रहा है। लीला गायन का आरंभ कृष्ण जन्म से होता है और उसका विस्तार शैशव काल की चेष्टाओं, नटखट क्रीड़ाओं से लेकर नवल किशोर नवल नागरिया राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं, रास क्रीड़ाओं और फिर कृष्ण के मथुरा गमन के बाद गोपी विरह और यशोदा के विरह तक है। मूलतः इन लीलाओं को श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध से लिया गया है। रासलीला और भ्रमरगीत के प्रसंग के लिए श्रीमद्भागवत का उल्लेख विद्वान इसी कारण से करते हैं। डॉ. राम कुमार वर्मा ने लिखा है—"कृष्ण काव्य के प्रायः सभी कवियों ने कृष्ण के रास और प्रकृति की शोभा का चित्रण किया है। अनेक कवियों द्वारा भ्रमरगीत भी लिखा गया है। अपवाद स्वरूप मीरां ने कृष्ण की भावना अपने एकांत प्रियतम के रूप में कर

केवल अपनी भक्ति की रूपरेखा निर्धारित की। मीरा के दृष्टिकोण में कृष्णलीला का उतना महत्व नहीं जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का। इन चरित्रों के साथ भक्ति का उन्मेष भी है जो संख्य भावना की विशेषता है। इस भक्ति को सबसे अधिक प्रोत्साहन पुष्टिमार्ग से मिला। पुष्टिमार्ग में कृष्ण के अनुग्रह का प्रधान अंग है। श्री कृष्ण का अनुग्रह भक्ति से ही प्राप्त होगा।" इस प्रकार प्रायः कृष्ण भक्त कवियों ने पुष्टि मार्ग में ही भक्ति की सार्थक भावना को पाया है। कभी-कभार भक्ति मार्ग का नाम लेकर इस काव्य में नायक-नायिका भेद की सृष्टि भी हुई है, कृष्ण और राधा के रूप सौंदर्य को लेकर नख-शिख की परंपरा भी चली है और श्रीकृष्ण के रास को आधार बनाकर ऋतु वर्णन में मनमाने श्रृंगार की सृष्टि भी हुई है। इस स्थिति के कारण विद्वानों का यह विचार ठीक है कि कृष्ण भक्ति काव्य के भीतर ही रीतिशास्त्र के बीज मौजूद थे। रीतिशास्त्र ने आगे चलकर नख-शिख वर्णन नायक-नायिका भेद, ऋतुवर्णन का विस्तार किया और अलंकार योजना के चमत्कार का तत्व पैदा किया। अतः कह सकते हैं कि कृष्ण भक्ति काव्य का वर्ण्य विषय भक्ति के साथ-साथ कला सृष्टि की ओर उन्मुख होता गया है।

**बोध प्रश्न 2**

क) अष्टछाप के कवियों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

ख) अष्टछाप से इतर दो कृष्ण भक्त कवियों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

ग) निम्नलिखित के लेखक कौन थे?

i) "सूर सागर"

ii) "रास पंचाध्यायी"

iii) "अष्टयाम"

iv) "प्रेम वाटिका"

v) "साहित्यलहरी"

घ) कृष्ण भक्ति काव्य में राधा और कृष्ण के स्वरूप पर आठ पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ङ). भक्ति आंदोलन के चार मूलाधार सूत्र कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

## 12.7.3 दार्शनिकता

कृष्णभक्त कवियों के दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैतवाद के अंतर्गत आते हैं। तात्विक दृष्टि से इस शुद्धाद्वैतवाद को ब्रह्मवाद अथवा पुष्टिमार्ग तथा अविकृत परिणामवाद भी कहा जाता है। शुद्धाद्वैतवाद में शुद्ध का अर्थ है माया के संबंध से रहित। इस सिद्धांत के अनुसार माया के संबंध रहित ब्रह्म ही जगत का कारण और कार्य है। यहाँ ब्रह्मवाद का अर्थ है सब कुछ ब्रह्म की है, जीव ब्रह्म है और जगत भी ब्रह्म रूप है और इसी से ये तीनों सत्य हैं। यहाँ अविकृत परिणामवाद का अर्थ है कि जगत ब्रह्म का विकार रहित परिणाम है। वल्लभाचार्य ने तीन मार्गों की चर्चा की है – 1) मर्यादामार्ग 2) प्रवाहमार्ग और 3) पुष्टिमार्ग।

1) वेदशास्त्रों के बताए हुए पुष्टिमार्ग को मर्यादा मार्ग कहते हैं।

2) प्रवाहमार्ग में लौकिक कर्म काम्य होते हैं। इस मार्ग से जीव की मुक्ति नहीं है।

3) पुष्टिमार्ग भगवान के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है। इस मार्ग के अनुयाइयों का मुख्य साध्य भगवान का प्रेम प्राप्त करना है। यह मार्ग भक्तों के लिए सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

कृष्ण भक्ति काव्य के दर्शनिक सिद्धांतों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है–

**ब्रह्म :** "तत्वदीप निबंध" के आधार पर वल्लभाचार्य ने ब्रह्म का बोध कराते हुए कहा है कि ब्रह्म सत् चित् और आनंद स्वरूप है वह व्यापक, नाश-रहित और सर्वशक्तिमान है, स्वतंत्र और सर्वज्ञ है। इस ब्रह्म को उन्होंने पुरुषोत्तम भी कहा है। यह ब्रह्म संपूर्ण विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, निर्गुण होते हुए भी सगुण है। ध्यान से यह ब्रह्म गोचर हो जाता है। यह ब्रह्म ही जगत का कर्ता है। जड़ जगत और जीवन ब्रह्म के अंश हैं। इस प्रकार ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम रस रूप परम ब्रह्म है और इसके पूर्णावतार हैं–श्री कृष्ण। वल्लभ संप्रदाय के अनुसार श्री कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परम ब्रह्म हैं और उन्हीं से संपूर्ण जगत का आविर्भाव हुआ है। विशेष बात यह है कि शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करने के लिए वैष्णव आचार्यों ने इस तरह के ब्रह्म की सृष्टि की है। सूरदास ने लिखा है–

"शोभा अमित्र अपार अखंडित आप आत्माराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।।"

यह ब्रह्म भक्तों के हेतु अवतार धारण करता है। परमानन्ददास लिखते हैं–

"आनन्द की निधि नंद कुमार।
परम ब्रह्म भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार।।"

**जीव :** "तत्वदीप निबंध" में श्री वल्लभाचार्य ने यह संकेत दिया है कि एक से अनेक हो जाने की इच्छा से ब्रह्म ने अपना विस्तार किया। इसी इच्छा से अक्षर ब्रह्मभूत अंश रूप अनेक जीवों की उत्पत्ति हुई। जैसे अग्नि से चिनकारी निकलती है उसी तरह सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चित् अंश से अनेक जीव निकलते हैं। इस प्रकार जीव अंश है और परमात्मा अंशी। सच्चिदानन्द ब्रह्म आनंद शक्ति का तिरोधान करके चित् और सत् अंश से अनेक जीवों की सृष्टि करता है। भगवान के भजन से विमुख जीव अनेक कष्ट उठाता है। इसलिए इन कष्टों को दूर करने के लिए भजन आवश्यक है। सूरदास ने जीव के विषय में लिखा है–

सकल तत्व ब्रहमांड देव सुनि माया सब विधि काल
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंस गुपाल

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि सृष्टि का संपूर्ण प्रसार और संपूर्ण तत्व प्रकृति कृष्ण के अंश हैं।

**जगत् :** जगत् की उत्पत्ति के विषय में वल्लभ ने "अण भाष्य" में अपने विचार प्रकट किए हैं। अक्षर ब्रहम पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानसार अग्नि की चिनकारी के समान उसके चित् अंश से जीव और सत् अंश से जगत की उत्पत्ति हुई है। ब्रहम की इच्छा इस संपूर्ण सृष्टि के प्रपंच का कारण है। यह जगत अनेक रूपात्मक है। लेकिन यह अनेकरूपता ब्रहम के एक सब अंश का ही परिणाम मात्र है। इस अनेकरूपता में जो शुद्ध सार रहता है वह ब्रहम के अंश होने के कारण सत्य है और अपनी आदि अवस्था में ब्रहम से अभिन्न है। इसीलिए इस मत को शुद्धाद्वैत मत कहते हैं। इसके अनुसार ब्रहम कारण है और जगत कार्य है। यह जगत् कार्य-कारण ब्रहम में तिरोहित रहता है जैसे दूध में घृत। अतः जगत ब्रहम ही है। वल्लभ ने जगत और संसार में भेद किया है। उनके अनुसार जगत् एक सत्य तत्व का आविकृत परिणाम है इसलिए सत्य है। संसार का उपादान कारण अविधा माया है और निमित्त कारण भी अविधा है इसलिए संसार झूठा है।
"सूरसागर" में कहा गया है–

"मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया
मिथ्या है यह देह कहाँ क्यों हरि बिसराया।

**माया :** वल्लभ संप्रदाय में माया के दो रूप बताए गए हैं एक "विद्या माया" दूसरी " अविद्य माया।" विद्या माया जगत की सृष्टि करती है और अविद्या माया संसार की। इस माया के अधीन जीव है। ब्रहम माया के अधीन नहीं है अविद्या माया से जीव संसार में बँधता है और विद्या माया जीव को संसार से मुक्त करती है। इस संसार की अविद्या माया को कई नाम दिए गए हैं–अज्ञान, भ्रम, स्वप्न, अध्यास आदि।
सूरदास ने लिखा है–

"अजहुँ सावधान क्यों ने होई।
माया विषय भुजंगनि को विष उतरयो नाहिन तोई।।"

कृष्ण भक्ति काव्य के सभी कवियों ने अविद्य माया को अपने अनेक पदों में भ्रमात्मक और मिथ्या कहा है। इस भ्रमात्मक माया से छूटने का उपाय है–ईश्वर की भक्ति।

**मोक्ष :** संसार के बंधनों से छूटकर आनंद प्राप्त करने की अवस्था वैष्णव दर्शन के अनुसार मुक्ति की अवस्था है। वल्लभ संप्रदय में दुःख से छूटकर नित्यानंद की प्राप्ति ही मोक्ष मानी गई है। पुष्टि मार्ग में भक्ति के प्रकार और भगवान की इच्छा के अनुसार भक्त जीव को मुक्ति का आनन्द मिलता है। ज्ञान से जो भक्त शुद्धाद्वैत प्राप्त करता है वह फिर इस संसार में नहीं आता। विद्या माया से ही जीव मुक्त होता है। सूरदास ने लिखा है–

क) "सुआ चलि ता बन को रस पीजै
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस स्रवन पात्र भरि लीजै।"

ख) "जो सुख होत गुपालहि गाए
सो नहिं होता जप-तप के कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाए

बंसीबट बृंदावन यमुना तजि बैकुंठ को जाए
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आए।

पुष्टिमार्ग के अनुसार "सालोक्य", "सामीप्य", "सारूप्य" एवं "सामुज्य" नामक चार प्रकार की युक्तियों का संकेत है। ब्रहम के लीलाधाम में पहुँचना ही सालोक्य मुक्ति है। भगवान के चरणों के निकट पहुँचना ही सामीप्य मुक्ति है। कृष्ण के साथ उन्हीं के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीकृत भाव को प्राप्त हो जाना सामुज्य मुक्ति है। कृष्ण भक्ति काव्य में प्रायः सामुज्य मुक्ति को विशेष महत्व मिला है। सामुज्य मुक्ति के दो रूप हैं–संसार के दुख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। सूरदास और नंददास ने लयात्मक एवं सामुज्य मुक्ति का वर्णन संयोग और वियोग श्रृंगार के अंतर्गत किया है।

## 12.7.4 रस विवेचन

कृष्ण भक्त कवियों ने प्रमुख रूप से वात्सल्य और श्रृंगार रस को प्रस्तुत किया है। किंतु ये कवि काव्यशास्त्र में गिनाए गए भावों और अनुभवों तक बंधकर नहीं चलते। प्रायः इन

कवियों ने दांपत्य रति, ईश्वर विषयक रति और वात्सल्य रति को रस कोटि तक पहुँचाया है। मनोदशाओं का चित्रण करते हुए श्रृंगार को रस राजत्व प्रदान करने में भी इन कवियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। कल्पना के दिव्य साँचे में ढलकर ये भावों का सौंदर्य खड़ा करते हैं और हृदय की तरंगें आनंद विधान की सृष्टि करती हैं। ईश्वर के शील, शक्ति और सौंदर्य रूपों में से इन कवियों का मन सौंदर्य रूप में ही विशेष रूप से रमा है। फलतः इन्होंने बाल्य और यौवन की झाँकियाँ मनोयोग से चित्रित की हैं। इस दृष्टि से इनका वर्ण्य विषय सीमित है क्योंकि ये वात्सल्य और श्रृंगार की अवस्थाओं से प्रायः बाहर नहीं जाते। इन्हें समाज से बहुत मतलब नहीं था और न लोक मर्यादा की पहरेदारी पर इनकी निगाह थी। निर्गुण संत की उपदेश वाली प्रवृत्ति इनमें नहीं है। ये तो अपनी ही एकांतिक साधना में निमग्न रहने वाले कवि थे। कृष्ण, राधा, यशोदा, गोपियाँ, बाल सुलभ क्रीड़ाएँ, वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृंदावन, कालिंदी तट के निकुंज आदि में इनका पूरा संसार समाहित है। प्रेम की गली में कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को स्थान नहीं है। सगुण रामभक्त कवि जिस प्रकार की सामाजिक लोक रक्षा को महत्व देते थे वैसा लोक संग्रह भाव भी इन कवियों में नहीं है। आचार्य शुक्ल ने सूरदास के लिए लिखा है—"वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया है उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी और कोई नहीं। हिंदी साहित्य में श्रृंगार का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।"

ध्यान देने की बात यह है कि वल्लभ संप्रदाय में वात्सल्यशक्ति और दांपत्याशक्ति का महत्व बहुत अधिक है। नंद, यशोदा, राधा, गोपियों और ब्रज के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर कृष्ण प्रेमलीन रहते हैं। वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों ही पक्षों का चित्रण करने में इन कवियों को सिद्धहस्तता हासिल है। नंद के घर के खेलते-डोलते हँसते किलकते कृष्ण इन कवियों के पदों में सर्वत्र मौजूद हैं। घर में बच्चे को खेलते देख माता-पिता का वात्सल्य उमड़ता है और वे तन्मय हो जाते हैं—

इततै नंद बुलाइ लितहैं उततै जननि बुलावै री।
दंपति होड़ करत आपस में स्याम खिलौना कीन्हौं री।

कृष्ण थोड़े बड़े होते हैं, सखाओं के साथ माखन चोरी करते हैं। उनकी शिकायत यशोदा को सुननी पड़ती है। ग्वालिनों की मटकी फोड़ देते हैं। इस प्रकार की अनेक क्रीड़ाएँ इन कृष्ण भक्त कवियों को प्रिय हैं। सूरदास, परमानंददास हितहरिवंश आदि ने बाल्यावस्था के बड़े ही सुंदर वर्णन किए हैं। माखन खाते कृष्ण का एक रूप बिंब देखिए—

क) शोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेनु तनुमंडित मुख दधि लेप किए।

ख) सीजत जात माखन खात।
अरुण लोचन भौंहें टेड़ी बार-बार रभाँत।

वात्सल्य के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का चित्रण इन कवियों ने किया है। कृष्ण जन्म से लेकर माखन चोरी, गोचारण, गोदोहन, कालिय दमन आदि में वात्सल्य, श्रृंगार और लोक रजंक रूप साथ-साथ चलते हैं। संयोग वात्सल्य का विस्तार अक्रूर के ब्रज आगमन तक है। वियोग वात्सल्य के तीन भाग हैं—कृष्ण के मथुरा गमन के पश्चात् वियोग वात्सल्य का वर्णन है और पुत्र के वियोग में तड़पते नंद और यशोदा के चित्र हैं और उद्धव आगमन पर वियोग के चित्र हैं। वियोग वात्सल्य का सबसे अच्छा उदाहरण सूर का यह पद है—

"संदेसौ" देवकी सौं कहियो
होंतौ धाय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो।"

मूल बात यह है कि इन कवियों ने बालोचित चेष्टाओं के साथ-साथ मातृ हृदय की भी व्यंजना की है।

**श्रृंगार वर्णन**— श्रृंगार रस के दोनों पक्षों संयोग श्रृंगार और वियोग श्रृंगार का वर्णन कृष्ण भक्त कवियों ने किया है। संयोग श्रृंगार लीलाओं का वर्णन बाल क्रीड़ाओं—माखन चोरी

और गोदोहन आदि के साथ-साथ चलता है। कृष्ण ब्रज में खेलने निकलते हैं तभी उनकी भेंट राधा से होती है और–

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी तू बेटी देखी नहीं कबहुँ ब्रज खोरी।

फिर रास लीला, मान लीला आदि अनेक प्रसंगों से इसका विस्तार होता है लेकिन इन कवियो ने संयोग श्रृंगार के चित्र अपेक्षाकृत कम खींचे हैं। मूलतः इनकी वृत्ति वियोग श्रृंगार में अधिक रमी है। कृष्ण के वियोग का विस्तार न केवल गोपियों पर है बल्कि जड़ और चेतन सभी उससे व्यथित हैं। वियोग में हृदय का आवरण हटकर निर्मल प्रेम मुखर हो उठता है। कृष्ण के ब्रज से चलते ही ब्रज युवतियों चित्रलिखी-सी रह जाती हैं। विप्रलंभ श्रृंगार का विस्तार से वर्णन अधिकतर "भ्रमरगीत" प्रसंग के अंतर्गत किया गया है। विरह की जलन का अनुभव यह है–

"अनल ते विरह अगनि अति ताती"

ब्रज बालाएँ, यमुना, मधुवन आदि सभी विरह के ताप में जलते हैं। यमुना का रंग काला हो जाता है, चंद्रमा अग्नि की तरह चलने लगता है और गोपियों की दशा दयनीय हो जाती है। "अति मलीन वृषभानु कुमारी" जैसे करुण विरह के चित्र सूरदास ने प्रस्तुत किए हैं। कृष्ण के वियोग में गोपियाँ प्रकृति की उलाहना करती हैं–

"मधुवन तुम कहत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुंदर के ठाड़े क्यों न जरे।"

गोपियाँ उद्धव के सामने अपने हृदय की अनुभूतियों को प्रस्तुत करती हैं–

"निसिदिन बरसत नयन हमार।
सदा रहत पावस रितु इन पर जब ते स्याम सिधारे।"

भ्रमर गीत प्रसंग में सूर ने उपालंभ की स्थितियों का विस्तार से चित्रण किया है। नंददास ने "भँवरगीत" में विरह वेदना के प्रसंग को नाटकीयता और दार्शनिकता के साथ चतुराई से उठाया है। भ्रमरगीत में उपालंभ जिस भावना से ओतप्रोत हैं वह समस्त कृष्णकाव्य की मूल्यवान धरोहर है।

कृष्णकाव्य वात्सल्य और श्रृंगार से पाठक को रसमग्न करता है किंतु इन दोनों रसों के बीच हास्य, करुण, वीर, भयानक आदि रस बराबर आते रहते हैं। माखन चोरी लीला से हास्य रस का एक उदाहरण है–

"मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो

मुख दधि पौंछि बुद्धि इक दीना पीठ छुपायो
डारि साँटि मुसकाई जसोदा स्यामहि कंठ लगायो।"

करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, शांत आदि रस इस काव्य में प्रसंग विशेष आने पर आ गए हैं।

## 12.7.5 प्रकृति सौंदर्य

प्रकृति सौंदर्य की संवेदना को इन कवियों ने सघन अनुभूतियों से व्यक्त किया है। इनके वर्णन में प्रकृति सदा इनके साथ रही है। प्रकृति और मानव का अनादि साहचर्य इस काव्य की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। प्रकृति के साथ मनुष्य अपने रागात्मक संबंध का विस्तार करता हुआ अनेक रूपात्मक क्षेत्रों में प्रवेश करता है। प्राकृतिक दृश्य के साथ सीधे तादात्म्य से आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण उभरा है, किंतु मूलतः इन कवियों ने प्रकृति के उद्‌दीपन रूप पर ही अधिक ध्यान दिया है संयोग और वियोग के क्षणों में इन कवियों को प्रकृति उद्‌दीप्त करती है। प्रकृति के सभी उपमानों को ये कवि एक साथ लाते हैं। इसलिए प्रकृति का प्रतीक रूप में चित्रण इन्हें आकृष्ट करता है। कृष्ण ब्रजभूमि में ही अवतरित होते हैं और उनका पूरा व्यक्तित्व प्रकृति की गोद में विकसित होता है। बाल लीलाओं से लेकर लोक मंगलकारी कार्यों की कर्मभूमि प्रकृति ही रही है। राधा और कृष्ण के मिलन का दृश्य यमुना की आँखों में घूमता रहता है। प्रेमालापों और रास लीलाओं की अपूर्वता

जगह-जगह मिलती है। यमुना, कदंब, करील, निकुंज लता, चंद्रमा आदि के मनोमुग्धकारी प्राकृतिक बिंब इन सभी कवियों ने प्रस्तुत किए हैं। प्रकृति में घूमने वाले गोपाल कृष्ण का संपूर्ण गोलोक प्राकृतिक वैभव की छटा है। इस प्रकृति का एक चित्र देखिए–

"कोकिल कीर सदा तँह गोर
सदा रूप मनमथ चित चोर
विविध सुमन मन फूँले डार
उनमत मधुकर भ्रमर अपार।"

साहचर्य के कारण प्रकृति से ऐसा तादात्म्य इस काव्य में वर्णित है कि पात्रों की सभी मनोदशाएँ तथा घटनाएँ और कार्य व्यापार प्रकृति से ही जुड़कर सामने आए हैं। प्रातःकाल कृष्ण को जगाने का एक दृश्य–

"जागिए ब्रजराज कुँवर कुसुम कमल फूले।
कुमुद बृंद संकुचित भए भृंग लता झूले।"

प्रायः इन कवियों ने प्रकृति के कोमल रूपों का वर्णन किया है। लेकिन अवसर आने पर उसके विराट और रौद्र रूपों के चित्र भी खींचे हैं जैसे दावानल का यह चित्र–

"भहारात छहरात दावानल आयो"

प्रमुख बात यह है कि इन कवियों की रुचि प्रकृति के उद्दीपन रूप के चित्रण में ही ज्यादा रही है।

**बोध प्रश्न 3**

क) कृष्ण भक्ति काव्य में ब्रह्म से क्या तात्पर्य है?

.....
.....
.....

ख) कृष्ण भक्ति काव्य में "जगत" और "संसार" में क्या अंतर है?

.....
.....
.....
.....

ग) पुष्टि मार्ग में वर्णित चार प्रकार की मुक्ति कौन-कौन सी हैं?

.....
.....
.....
.....

घ) कृष्ण भक्ति काव्य में वर्णित रसों पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

## 12.8 कृष्ण काव्य की शिल्पगत विशेषताएँ

### 12.8.1 काव्यरूप

हिंदी कृष्ण काव्य में प्रायः मुक्तक काव्य को प्रधानता मिली है। अपवाद रूप में कभी-कभार प्रबंध काव्य के भी दर्शन होते हैं जैसे नंददास का "भँवर गीत"। मूलतः इन कवियों की प्रवृत्ति मुक्तक की ओर अधिक झुकने के कारण इस काव्य में गेय पद परंपरा का विस्तार हुआ और हृदय प्रधान अंतर्मुखी वृत्तियों को काव्य में ढालने का अधिक अवसर मिला। अधिकांश कृष्ण भक्त कवि संगीत के गहरे जानकार थे इसलिए संगीत के अनेक राग-रागनियों ने मौलिक रूपों में यहाँ स्थान पाया है। विशेष बात यह भी है कि नवधा भक्ति में कीर्तन स्मरण स्तुति को जो विशेष स्थान प्राप्त था उसने भी गीतात्मकता को विशेष रूप से स्थान दिया। यह भी सत्य है कि लीलाओं की तन्मयता ने भी हृदय के सभी बंधन तोड़कर आत्माभिव्यक्ति की। इस आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता के कारण ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी "सूर सागर" को गीतात्मक महाकाव्य कहते हैं। फिर इन कवियों ने भी लीला और गान दोनों को मिलाकर ही आगे बढ़ने में अपनी रुचि दिखाई है। सूरदास का प्रसिद्ध कथन है—"सूर सगुन लीला पद गावै"। ये कवि पद कहते नहीं, पद गाते हैं और इन पदों में लोक संगीत से लोक हृदय एकाकार हो जाता है। संगीत की अनेक राग-रागनियों के साथ इन कवियों ने अनेक वाद्य यंत्रों की चर्चा की है। इनमें सबसे बड़ा वाद्य यंत्र है, मुरली। मुरली जब बजती है तो संपूर्ण सृष्टि उसके साथ गूँजती है।

कृष्ण भक्त कवियों के मुक्तक काव्य ने हिंदी की गीतिकाव्य परंपरा को नवीन दिशा और सृष्टि दी है।

### 12.8.2 काव्यभाषा

चलती हुई ब्रजभाषा को साहित्यिक ब्रजभाषा बनाने में सूरदास का नाम अग्रगण्य है। आचार्य शुक्ल ने ध्यान दिलाया है "सूरसागर किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का परिणाम दिखाई देता है चाहे वह परंपरा मौखिक ही क्यों न रही हो।" धीरे-धीरे ब्रजभाषा का काव्य-भाषा के रूप में इन कवियों ने ऐसा विकास और परिष्कार किया कि उसकी सर्जनात्मक संभावनाएँ जनता को मुग्ध करने लगीं। कृष्ण काव्य के ऊपर ब्रजभाषा का एकछत्र अधिकार हो गया। यह भी अनुभव किया गया कि बाल और किशोर कोमल भावनाओं के वर्णन के लिए ब्रजभाषा जैसी मधुर और सरस भाषा दूसरी नहीं है।

कृष्णभक्त कवियों की ब्रजभाषा का शब्द भंडार अत्यंत विस्तृत है। संस्कृत अपभ्रंश गुजराती, राजस्थानी, अवधी, कन्नौजी, खड़ी बोली के शब्दों के अतिरिक्त अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने किया है। संस्कृत के अर्द्ध तत्सम और तद्भव शब्दों को अपनाने में इन कवियों की विशेष रुचि है तथा लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग में ये सिद्धहस्त हैं जैसे—

"सूरदास खल कारी कामरि चढ़ैत दूजौ रंग"

ब्रजभाषा के नाद सौंदर्य ने इस काव्य के ध्वनि माधुर्य का विस्तार किया है। मीरां की ब्रजभाषा में राजस्थानी और गुजराती की धमक है तो नंददास की काव्य भाषा में शब्द के आंतरिक सौंदर्य को पकड़ने की शक्ति है। अष्टछाप के कवियों ने ब्रजभाषा को इतना संगीतात्मक और कलात्मक बना दिया कि उसका सौंदर्य रीतिकाल के कवियों को लगातार अपनी ओर खींचता रहा।

### 12.8.3 प्रतीक और बिंब

ब्रजभाषा ने काव्य भाषा के रूप में अपनी शक्तियों के विकास के लिए और अनुभूति को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए बिंबों और प्रतीकों का कलात्मक ढंग से विकास किया। एक प्रकार से यह प्रतीकों से भरी हुई भाषा है। नाम प्रतीक, स्थान प्रतीक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक प्रतीक, उत्सव पूजा से संबंधित प्रतीक और मिथिकल प्रतीकात्मक कथाएँ इस काव्य में भरी पड़ी हैं। कृष्ण पूर्णावतार परम ब्रह्म के प्रतीक हैं तो राधा आह्लादिनी शक्ति और श्री शोभा की प्रतीक। गोपियाँ जीव की प्रतीक हैं और गोलोक इंद्रियों का। मुरली ब्रह्म की नाद शक्ति का प्रतीक हैं तो ब्रज कृष्ण की ब्रजन यात्रा का।

ब्रज माने हैं जो लगातार चलता है। जिस स्थान पर नित्य गायें चलती अथवा चरती हैं उस स्थान को ब्रज कहते हैं यह ब्रज गोलोक का भी प्रतीक है। रास लीला भूलोक पर मुक्त आनंद का विस्तार है। स्त्रियाँ आदि पुरुष की बराबरी में कहीं खड़ी हैं तो रासलीला में ही। गोबर्धन टीला कृष्ण विजय की मिथक गाथा का प्रतीक है। चौरासी कोस का ब्रजमंडल शरीर का प्रतीक है। मनुष्य मन के भीतर ही ब्रज है, वृंदावन गोलोक है, मथुरा है, राधा है, मुरली है माधव है। राधा भाव से ही कृष्ण को पाया जा सकता है। इस तरह पूरी कृष्ण कथा ही प्रतीक है। मन वृंदावन में नवधा भक्ति से कृष्ण को साक्षात उतारा जा सकता है। यमुना मधुवन जैसे प्रकृति प्रतीक हैं। जिनके साथ कृष्ण का साहचर्य ही नहीं उनके हृदय का रंग भी मिला है। गोकुल में बाल ब्रह्म लीला करता है और यह लीला भी प्रतीक है जिसमें समस्त इंद्रियों के बंधने से मुक्त होकर मानव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है।

कृष्ण काव्य के कवियों की अभिव्यंजना शक्ति का संपूर्ण विकास उनके बिंब विधान में प्रकट होता है। इस कविता में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता यह अर्थ के साथ-साथ बिंब ग्रहण भी कराती है और इसके बिंब हमारी इंद्रियों के लिए मूर्त गोचर और निर्दिष्ट होते हैं। प्रकृति के उपमानों और स्थितियों को लेकर बिंब विधान का पूरा संसार खड़ा किया गया है। सूरदास एक ही पद में बिंबों की लड़ी बाँध देते हैं इसे बिंब माला की कविता भी कहा जा सकता है। दृष्य और ध्वनि बिंब के संश्लिष्ट रूप से यहाँ आते रहते हैं–

"शोभित कर नवनीत लिए
घुटुरन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किए।
लट लटकन मन मत्त मधुपगन माधुरी अधिक पिए।

मनोदशाओं और कार्य व्यापारों के दिखाने वाले बिंब गति बिंब ही नहीं हैं, वे रूप और रंग से स्थिति का खुलासा भी करते हैं जैसे–

"बिनुगुपाल बैखि मई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाला की पुंजें।
बृथा बहति यमुना खग बोलत बृथा कमल फूलैं अलि गुंजें।
पवन पौन घनसार संजीवन दधिसुत किरन भानु मई भुंजें।
सुरदास प्रभु के मग जीवन अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजें।।"

वियोग में लगातार रोती हुई आँख का आधी लाल और आधी काली होने का बिंब गुंजा या घुंघची से दिया गया है।

पशु चारण काव्य के सभी बिंबों का यह काव्य एक समृद्ध भंडार है। लय के संगीतपरक बिंब इस काव्य की एक अतिरिक्त शक्ति है। यह शक्ति नरोत्तमदास रसखान और मीरां में साफ दिखाई देती है। रसखान के कवित्त और सवैये अपनी इसी शक्ति के कारण आज भी जनमानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। लोक भाषा में लोक बिंबों का यह संसार लोक हृदय की जीवंत संवेदना का रहस्य खोल देता है।

## 12.8.4 संगीत, छंद और लय

संपूर्ण कृष्ण भक्ति काव्य संगीत की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। अष्टछाप के सभी कवि काव्यकला के साथ संगीत कला में पारंगत थे। इस तरह की किंवदंतियाँ मिलती हैं कि स्वयं सम्राट अकबर सूरदास का गायन सुनने के लिए वेश बदल कर जाया करते थे। कुंभनदास के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे विशेष आग्रह पर संगीत आयोजन में भाग लेने फतेहपुर सीकरी आए थे। गोविंद स्वामी के लिए प्रसिद्ध है कि तानसेन उनसे संगीत सीखने आते थे। इन कवियों ने कीर्तन संग्रह की भी परंपरा चलाई। "राग कल्पद्रुम" और "राग रत्नाकर" इसी तरह के पद संग्रह हैं। अनेक शास्त्रीय राग रागनियों को इन कवियों ने जन्म दिया। आचार्य शुक्ल ने अष्टछाप में सबसे ऊँची रागिनी उठाने वाले कवि के रूप में सूरदास का स्मरण किया है। पुष्टि मार्ग में लयात्मक कीर्तन के आधार आंतरिक चित्त वृत्तियों से जुड़े हैं। अतः कह सकते हैं कि इन कवियों की कविता की अंतर्वर्ती लय नाद ब्रह्म की खोज से जुड़ी हुई है। अष्टछाप में पूजा की एक लय प्रचलित रही और आरती के गीत लिखे गए। लय को आधार बना कर इन कवियों ने अनेक प्रकार के छंदों में अपनी कविता लिखी। रसखान ने कवित्त और सवैया छंद में हृदय संगीत को अमर कर दिया। रसखान की "प्रेम वाटिका" में दोहे हैं और "सुजान रसखान" में कवित्त-सवैये। प्रायः पद राग-रागनियों के आधार पर लिखे गए हैं और इन पदों में रोला दोहा आदि छंदों का प्रयोग मिलता है।

नंददास ने भी रोला और दोहा के प्रयोग कम नहीं किए हैं। "सूर सागर" के अनेक स्थलों में रोला और चौपाई, राधिका, रूप माला सरसी, गीतिका, लावनी, मत्त सवैया का प्रयोग किया गया है। अधिकांश छंद ऐसे अपनाए गए हैं जो कीर्तन की पद्धति में सहायक रहे हैं। मीरां ने अपने गीति काव्य में दोहा और रोला का भी प्रयोग किया है। किंतु नरोत्तमदास ने "सुदामा चरित" में कवित्त और सवैया पद्धति को पुनः अविष्कृत किया। इस तरह कृष्ण भक्ति परंपरा गेय छंदों को आधार बना कर विकसित होती रही।

### 12.8.5 अलंकार विधान

कृष्ण भक्त कवियों का अलंकार विधान चमत्कारों के लिए न होकर हृदय के भावों को व्यक्त करने का एक अनिवार्य माध्यम है। भारतीय काव्यशास्त्र जिन अलंकारों की चर्चा करता रहा है—चाहे वे शब्द पर आधारित अलंकार हों या अर्थ पर आधारित अलंकार—वे सभी इनमें पाये जा सकते हैं। कृष्ण भक्त काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है। इसमें शृंगार का अथाह जल भरा है। भावोद्रेक की शक्ति ने वर्णन शैली में वक्रता और चमत्कृति को जन्म दिया है। किंतु पांडित्य प्रदर्शन वाला चमत्कार दिखाना इन कवियों का ध्येय नहीं रहा। कहना न होगा कि इन कवियों का ध्यान मूल वस्तु पर केंद्रित रहा चमक-दमक प्रधान मिथ्या आडंबर पर नहीं। इन सभी कवियों ने अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से सौंदर्य बोध के लिए किया। उदाहरणार्थ यदि हम सूरदास को ही देखते हैं तो वे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, वक्रोक्ति, मालोपमा आदि अलंकारों का खुले मन से प्रयोग करते हैं।कहीं तो अन्योक्ति अलंकार अपूर्व सौंदर्य के साथ आया है। सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग में अन्योक्ति अलंकार ने ही भाव चमत्कार पैदा किया। कहा जाता है कि "साहित्य लहरी" की रचना सूरदास ने शब्दालंकारों के प्रदर्शन के लिए ही की। शब्दालंकारों में उन्होंने यमक, अनुप्रास, वीप्सा, श्लेष और वक्रोक्ति का प्रयोग किया है। श्लेष और यमक दृष्टकूट के पदों में भरे पड़े हैं किंतु जहां कहीं अनुप्रास आया है वहां ध्वन्यात्मक सौंदर्य की वृद्धि के लिए ही उसका प्रयोग हुआ है। संग रूपकों के लिए सूरदास प्रसिद्ध हैं। जैसे—

> "अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल
> काम क्रोध को पहरि चोलना कंठ विषय की माल
> महामोह के नूपुर बाजत निंदा सबद रसाल"

हिंदी के कृष्ण भक्त कवियों में नए से नए उपमानों की कमी नहीं है। इसलिए इनका अलंकार विधान सजीव सार्थक और मनोहारी है। भगवान के गुणानुवाद में अतिशयोक्ति स्वभावोक्ति और विरोधाभास अलंकारों का प्रयोग सभी कवियों ने खुल कर किया है। चकई, भृंगी, सुआ आदि से संबंधित पदों में अन्योक्ति अलंकार पूरी शोभा के साथ मौजूद हैं।

## 12.9 मूल्यांकन

इस इकाई में आपने हिंदी कृष्ण भक्ति काव्य में ब्रज संस्कृति का लोप संस्कृति के भीतर विकास किया है। इस कविता में भक्ति, संगीत, कला और दर्शन का गहन विस्तार है और सामाजिक सांस्कृतिक अनुभवों की एक विशेष सौंदर्य दृष्टि है। प्रकृति सौंदर्य दृष्टि की ओर प्रवृत्त इस काव्य में परंपराएँ, कर्मकांड, पर्व, उत्सव और अन्य प्रकार के संस्कार हमारी संस्कृति का नया बोध उत्पन्न करते हैं। राधा-कृष्ण की कथाओं में मानव मन की मूल वृत्तियों-प्रवृत्तियों मानसिक दशाओं और जीवन के कार्य-व्यापारों को नया अर्थ मिला है। कृष्ण काव्य के प्रेम दर्शन पर भारतीय प्रेम दर्शन के साथ सूफ़ियों का प्रभाव भी है और अभीर जाति की प्रेम संवेदना की छाप भी कम नहीं है। निर्गुण ज्ञानवाद की नीरसता का खंडन करते हुए इन कवियों ने सरस सगुणोपासना और मधुर रस से सिक्त अवतारवाद को जनता के बीच में स्थापित किया। समय विशेष में जनता की निराशा को नष्ट करते हुए मुरझाए मनों को नई शक्ति दी। आचार्य शुक्ल ने ठीक कहा है कि इन कवियों ने जीवन को जीने की नई चाह दी और सामूहिक रास, नृत्य, वंशीवादन, बाल वर्णन, अनेक लीलाओं की मधुर कल्पना और कृष्ण गीतों की परंपरा से भारतीय जीवन को रस सिक्त कर दिया। काव्य कला के साथ संगीत कला का विकास किया और एक साथ गीत प्रवाह पैदा किया जिससे संपूर्ण देश तरंगित हो उठा। ज्ञानवाद, योगवाद पर इन कवियों ने भक्तिवाद की

विजय दिखाते हुए उपासना की नई राह निकाल दी। यह काव्य जाति, धर्म और वर्ग के बंधनों से ऊपर उठकर लिखा गया। फलतः इसने एक ओर तो ललित कलाओं का संपूर्ण क्षेत्रों में विकास किया दूसरी ओर ब्रज संस्कृति और ब्रजभाषा की सर्जनात्मक संभावनाओं में वृद्धि की। दुःख से पीड़ित हृदयों के लिए यह काव्य आशा और उल्लास का नवीन संदेश है।

**बोध प्रश्न 4**

क) कृष्ण भक्ति काव्य में किस काव्य रूप की प्रधानता रही?

.....

.....

.....

ख) कृष्ण भक्त कवियों ने प्रमुख रूप से किस भाषा को अपनाया?

.....

.....

.....

ग) मुरली की प्रतीकात्मकता पर तीन पंक्तियाँ लिखिए?

.....

.....

.....

घ) कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत के माधुर्य का क्या कारण है?

.....

.....

.....

ङ) कृष्ण भक्ति काव्य का हिंदी कविता को क्या योगदान है? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

## 12.10 शब्दावली

**रागानुगा भक्ति** : भगवान के प्रति घोर आसक्ति अथवा राग पर आधारित भक्ति को रागानुगा भक्ति कहा गया है। इसे मधुराभक्ति, प्रेमाभक्ति या उज्ज्वल भक्ति भी कहते हैं।

**दृष्टकूट के पद** : सूरदास द्वारा रचित वे पद जो क्लिष्ट संध्या भाषा में लिखे गए हैं। इनमें संतों की उलट बाँसियों की भाँति आशय को स्पष्ट शब्दों में प्रकट न करके प्रतीक भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इनका अर्थ काफी कठिनाई से निकाला जाता है।

**प्रेमलक्षणा भक्ति** : प्रेम पर आधारित भक्ति।

**गोचर** : दिखाई देने वाला।

**मायावाद** : शंकराचार्य ने अद्वैतमत के अंतर्गत मायावाद का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है शेष संपूर्ण जगत मिथ्या है।

**मिथक** : अंग्रेजी के 'मिथ' (Myth) शब्द के लिए हिंदी में मिथक शब्द प्रयुक्त होता है। दंतकथा, पुरावृत्त, पुराकथा, पुराख्यान आदि शब्दों को भी इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है। मिथक को 'आदिमबिंब' भी कहा जा सकता है क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार मिथक अवचेतन मन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार मिथक के माध्यम से मनुष्य जीवन और प्रकृति के रहस्यों के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ अलौकिक गाथाओं के रूप में व्यक्त करता रहा है। इसलिए इसे आदिम मनुष्य की भाषा भी कहा जाता है।

## 12.11 उपयोगी पुस्तकें


गुप्त दीनदयालु, *"अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय"*, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग

शुक्ल रामचंद्र, *"सूरदास"* नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

हजारी प्रसाद द्विवेदी, *"ग्रथावली"* भाग 3, भाग 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

वर्मा धीरेंद्र (सं.), *"हिंदी साहित्य कोश" भाग 1* ज्ञान मंडल, वाराणसी

चतुर्वेदी डॉ. रामस्वरूप, *"मध्ययुगीन हिंदी काव्य भाषा"* लोक भारती, इलाहाबाद


## 12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

क) देखिए भाग 12.2
ख) राममार्गी शाखा और कृष्ण मार्गी शाखा
ग) (i) योगी धर्मात्मा का रूप
(ii) ललित मधुर गोपाल का रूप
(iii) वीर राजनयिक रूप

**बोध प्रश्न 2**

क) देखिए भाग 12.5
ख) देखिए भाग 12.5
ग) (i) सूरदास (ii) नंददास (iii) रसखान (iv) रसखान (v) सूरदास
घ) देखिए भाग 12.6
ड) वेद, ब्रह्मसूत्र, भगवत् गीता, श्रीमद्भागवत

**बोध प्रश्न 3**

क) देखिए भाग 12.7.3
ख) देखिए भाग 12.7.3
ग) सालोक्य मुक्ति, सामीप्य मुक्ति, सारुप्य मुक्ति, सायुज्य मुक्ति
घ) देखिए भाग 12.7.4

**बोध प्रश्न 4**

क) मुक्तक काव्य
ख) ब्रजभाषा
ग) देखिए भाग 12.8.3
घ) देखिए, भाग 12.8.4
ड) देखिए, भाग 12.9

# इकाई 13 सगुण रामभक्ति काव्यधारा

## इकाई की रूपरेखा


13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 सगुण रामभक्ति काव्यधारा की पृष्ठभूमि या युग परिवेश
13.3 भक्ति आंदोलन और सगुण राम भक्ति काव्य धारा
  13.3.1 रामभक्ति साहित्य का विकास (संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिंदी)
  13.3.2 हिंदी में सगुण राम काव्य परंपरा (तुलसीदास, नाभादास, केशवदास, नरहरिदास आदि)
  13.3.3 सगुण राम भक्ति काव्य में समन्वय साधना
  13.3.4 राम भक्ति के दार्शनिक सिद्धांत (ब्रह्म, जीव, माया, जगत् मोक्ष आदि)
  13.3.5 निर्गुण संतों का प्रभाव
  13.3.6 राम भक्ति धारा और आगम निगम परंपरा
13.4 सगुण राम भक्ति धारा में राम का लोकनायक रूप
13.5 सगुण राम भक्ति धारा में नारी का स्वरूप
13.6 सगुण राम भक्ति धारा में भक्ति का निरूपण
13.7 जीवन-दर्शन और मानव-मूल्य
13.8 लोकमंगल की साधना
13.9 अन्य विशेषताएँ (गुरु महिमा, नाम महिमा, लीला आदि)
13.10 सगुण राम काव्य धारा का भाव-सौंदर्य
13.11 सगुण राम काव्य धारा का अभिव्यंजना-सौंदर्य
13.12 मूल्यांकन
13.13 शब्दावली
13.14 उपयोगी पुस्तकें
13.15 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 13.0 उद्देश्य

इस खंड की पिछली इकाइयों में आपने निर्गुण भक्ति की ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी काव्यधाराओं का अध्ययन किया था। आशा है आप इस अध्ययन के द्वारा निर्गुण भक्ति काव्य को भली-भाँति समझ गए होंगे। यह इकाई सगुण भक्ति साहित्य के अंतर्गत राममार्गी काव्यधारा पर आधारित है। इसमें आप, जैसा कि इकाई की रूपरेखा से स्पष्ट है, राममार्गी काव्यधारा का संक्षिप्त किंतु सघन परिचय पा सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- राम काव्यधारा की पृष्ठभूमि या युग परिवेश को भली प्रकार समझ सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन की सापेक्षता में राम भक्ति साहित्य के विकास को हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं के संदर्भ में समझते हुए उसकी समन्वय साधना दार्शनिक सिद्धांतों तथा आगम परंपरा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे,
- हिंदी की राम काव्यधारा की विशेषताओं—राम के लोकनायक स्वरूप, नारी-भावना, भक्ति-सौंदर्य, जीवन-दर्शन और मानव-मूल्य, लोक मंगल की साधना के संबंध में पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर सकेंगे।
- राम काव्यधारा के भाव-सौंदर्य एवं अभिव्यंजना-सौंदर्य का साक्षात्कार कर सकेंगे।

## 13.1 प्रस्तावना

निर्गुण भक्ति काव्य तथा सगुण कृष्ण भक्ति काव्य का अध्ययन करने के उपरांत अब आपमें यह सहज जिज्ञासा होगी कि सगुण भक्ति काव्यधारा में राम काव्य की पृष्ठभूमि, स्वरूप और महत्व क्यों है। दरअसल प्रस्तुत इकाई में हमारा उद्देश्य आपके समक्ष राम

काव्यधारा की संपूर्ण झाँकी प्रस्तुत कर देने का है। यह झाँकी तब तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक कि हम इस काव्यधारा की उन परिस्थितियों को न समझ लें जिससे उसका परिवेश निर्मित हुआ। तत्पश्चात् भारतीय हिंदीतर राम काव्य परंपरा को समझ लेना आवश्यक है जिसने हिंदी राम काव्यधारा को विशिष्ट रूप से प्रभावित किया। हिंदी राम काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए हम उसकी समन्वय साधना, उसके दार्शनिक सिद्धांतों, निर्गुण काव्य के प्रभाव तथा उसकी आगम निगम परंपरा को समझने का प्रयास करेंगे। आप जानते हैं कि सभी राम भक्त कवियों ने राम के चरित्र को अपने-अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप प्रस्तुत किया। चरित्रांकन की इस परंपरा में राम के लोकनायक स्वरूप को जान लेना भी आवश्यक है। इसके साथ ही नारी के प्रति इन राम भक्त कवियों के दृष्टकोण, उनकी भक्ति-भावना, उनके जीवन-दर्शन, मानव-मूल्यों की साधना, लोक मंगल की अवधारणा को भी हम इस इकाई के द्वारा समझने का प्रयास करेंगे। राम काव्यधारा के भाव सौंदर्य एवं अभिव्यंजना सौंदर्य को जाने बिना आप इस काव्यधारा के काव्यगत वैशिष्ट्य को नहीं समझ पाएँगे। अतः उसके भाव एवं अभिव्यंजना पक्ष के सौंदर्य को भी हम इस इकाई में जानेंगे। इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा हम राम काव्यधारा के समग्र स्वरूप को जानने तथा उसके मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

## 13.2 सगुण राममार्गी काव्यधारा की पृष्ठभूमि या युगपरिवेश

सगुण राममार्गी साहित्य की पृष्ठभूमि से हमारा आशय है—वे प्रेरणा स्रोत जिन्होंने राम काव्यधारा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये प्रेरणा स्रोत परंपरा के आदि ग्रंथों के रूपों में भी उपलब्ध होते हैं साथ ही परंपरा की इस धरोहर के साथ-साथ उन परिस्थितियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण है जिनके दबावों में किसी रचना-धारा को फूट पड़ने और प्रवाहित होने की प्रेरणा मिलती है। हम प्रस्तुत इकाई के इस उपखंड में दोनों प्रकार के प्रेरणा स्रोतों की चर्चा करेंगे। जहाँ हम परंपरा के आदि ग्रंथों का विवरण संपूर्ण भारतीय राम काव्यधारा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करेंगे वहाँ विस्तार भय से हम परिस्थितियों की चर्चा विशेष रूप से हिंदी राम काव्यधारा तक ही सीमित रखेंगे।

सगुण राममार्गी साहित्य ने जिन आदि ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त की उनकी चर्चा करने से पहले हमें यह देखना होगा कि राम का उल्लेख प्राचीनतम रूप में कहाँ हुआ है? वेदों में राम का उल्लेख अवश्य है किंतु उनका अंकन "दशरथ-पुत्र" के रूप में नहीं किया गया। राम काव्य की आदि रचना वाल्मीकि की रामायण ही है। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध जातक कथाओं में रामायण की कथा का मूल विद्यमान है। "दशरथजातक", "अनार्मकजातकम्" तथा "चीनी त्रिपिटक" में राम के चरित्र को प्राचीन मानकर अंकित किया गया है। उससे स्पष्ट है कि राम कथा इन बौद्ध जातक कथाओं से पूर्व भी प्रख्यात थी। जिसका श्रेय "वाल्मिकि रामायण" को दिया जा सकता है। इन जातक कथाओं के नीरस होने का कारण इनका वाल्मीकि रामायण के प्रभाव क्षेत्र से बहुत दूर रहना प्रतीत होता है। राम कथा संबंधी अनेक कृतियाँ जैन काव्यों में प्राप्त होती हैं। इन जैन राम कथाओं में सर्वप्रथम विमल सूरि कृत "पउम चरियम्" है। इसकी रचना वीर सम्वत् 530 या विक्रम सं. 60 में हुई। आगे चलकर दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने इस ग्रंथ का "पद्मपुराण" शीर्षक से संस्कृत में अनुवाद किया। प्राकृत में "वसुदेव हिडी" गुणाढ्य की "बृहत्कथा" के अनुकरण पर लिखा गया ग्रंथ है। भुवनतुंग सरिकृत "सियाचरियम्" तथा "राम लेखन चरियम्" भी जैन काव्य परंपरा की राम कथाश्रित विशिष्ट कृतियाँ हैं। संस्कृत में राम साहित्य की परंपरा पुराण साहित्य, प्रबंध काव्य तथा नाट्यसाहित्य में विभक्त होकर पल्लवित हुई। इतना पूरी तरह स्पष्ट है कि कुछ अपवादों को छोड़कर राम काव्य की समूची परंपरा किसी न किसी रूप में "वाल्मीकि रामायण" से अवश्य ही प्रेरित और प्रभावित है।

तत्कालीन युग में धर्म, भक्ति एवं अध्यात्म के प्रति जन सामान्य की गहन रुचि थी जो स्वाभाविक ही थी क्योंकि सत्ता एवं शासन के प्रति ग्राम केन्द्रित जन जीवन की कोई रुचि नहीं थी। धर्म एवं अध्यात्म के प्रति इस सहज रुचि के कारण अनेक मतों एवं संप्रदायों का उदय हुआ। निर्गुणोपासना में जहाँ कबीर पंथ, नानक पंथ, दरिया पंथ, बावरी पंथ, सतनामी पंथ, राधास्वामी पंथ आदि ने जनता को अपने ढंग से प्रभावित किया वहाँ सगुणोपासना में कृष्ण भक्ति के अंतर्गत माध्व निम्बार्क, हरिदासी, वल्लभीय, राधा वल्लभीय गौड़ीय आदि संप्रदायों तथा राम भक्ति के अंतर्गत रामानुज (विष्णूपासक, श्री)

तथा रामानंदी संप्रदायों का उद्भव और विकास हुआ। हमें यह ध्यान रखना होगा कि राम काव्य के सांप्रदायिक विकास में पुराणों आदि की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। ''हरिवंश'', ''विष्णु'', ''भागवत'', ''कूर्म'', ''वाराह'', ''लिंग'' आदि पुराणों तथा ''आध्यात्म रामायण'', ''आनंद रामायण'', ''अद्भुत रामायण'', ''भुशुण्डि रामायण'' ''महारामायण'', ''रामतापनीय उपनिषद'', ''राघवीय संहिता'' आदि का विशिष्ट योगदान रहा है।

जहाँ तक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवेश का प्रश्न है सामान्य जनता सत्ता पक्ष की गतिविधियों से प्रायः विरक्त थी। ''कोउ नृप होई हमें का हानि'' की अवधारणा आरंभ से ही लोक जीवन की धुरी थी। जनता की रुचि मूलतः धर्म एवं अध्यात्म की ओर थी। विशेष रूप से यदि आप हिंदी राम काव्यधारा से संबद्ध परिवेश को देखें तो पाएँगे कि यह युग राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल का था। यह पूरा काल इतिहास की दृष्टि से मुस्लिम शासन काल माना जा सकता है। पठान शासकों से सत्ता मुगल शासकों को हस्तांतरित हुई। निरंतर होने वाले विदेशी आक्रमणों ने लोक जीवन को सामाजिक एवं आर्थिक रूप से झिंझोड़ डाला था। शासकों में अविश्वास एवं शक्ति संग्रह की प्रवृत्ति थी। जनता की सुख सुविधाओं की ओर इन शासकों का ध्यान प्रायः नहीं था। जनता अन्याय एवं अत्याचारों के बोझ तले दबी थी। ऐसे में यदि वह अपने आराध्य की उपासना की ओर उन्मुख हुई, यह स्वाभाविक ही थी।

**बोध प्रश्न 1**

क) बौद्ध जातक कथाओं के नीरस होने के क्या कारण थे?

ख) सही (✓) या गलत (✗) का निशान लगाकर उत्तर दीजिए।

(I) राम काव्यधारा के विकास की प्रक्रिया में जनता शासन एवं सत्ता की गतिविधियों से प्रायः विरक्त थी। क्योंकि

i) वह पूरी तरह सुखी और संपन्न थी।

ii) शासन को उसकी सुख-सुविधाओं से कोई सरोकार नहीं था।

iii) वह पलायनवादी थी।

ग) तत्कालीन परिस्थितियों की अराजकता ने राम काव्य को किस दिशा में प्रेरित किया?

## 13.3 भक्ति आंदोलन और सगुण राम भक्ति धारा

### 13.3.1 राम भक्ति साहित्य का विकास

**संस्कृत** – संस्कृत-साहित्य में राम-काव्य परंपरा को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है–(क) पुराण-साहित्य में राम काव्य (ख) प्रबंधों में राम काव्य (ग) नाट्य साहित्य में राम काव्य।

*क) पुराण साहित्य,–पुराण साहित्य में ''वाल्मीकि रामायण'' को राम काव्य परंपरा का* स्रोत माना जा सकता है। इसके रचना-काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। श्लेगिल ने इसे ई.पू. ग्यारहवीं शताब्दी की रचना माना है तो डॉ. याकोबी इसे छठी और आठवीं शताब्दी की रचना स्वीकार करते हैं। कीथ इसे चौथी शताब्दी ई. पू. से अधिक प्राचीन नहीं मानते तथा डॉ. विण्टर नित्स इसे तीसरी शताब्दी ई. पू. की रचना स्वीकार करते हैं। किंतु अपने मूल रूप में वाल्मीकि रामायण ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ई.पू. की रचना अवश्य है। वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ भेद प्राप्त होते हैं–दक्षिणात्य पाठ, गौड़ीय पाठ, पश्चिमोत्तरीय पाठ। गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय पाठ में प्रायः समानता है। अतः दोनों पश्चिम या उत्तरीय पाठ के दो भिन्न रूप माने जा सकते हैं। प्रचलन की दृष्टि से दाक्षिणात्य पाठ का अधिक महत्व है। ''वाल्मीकि रामायण'' में राम के चरित्र को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है,वह परवर्ती राम काव्य का आधार बना है। इतने विस्तार से राम के चरित्र का अंकन करने वाला कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। प्रचलन की दृष्टि से केवल ''श्रीमद्

भागवत'' और ''रामचरितमानस'' ही ' वाल्मीकि रामायण'' की तुलना में रखे जा सकते हैं। ''वाल्मीकि रामायण'' के बाद राम-चरित्र को आंशिक रूप से अभिव्यक्ति देने वाला दूसरा ग्रंथ ''महाभारत'' है। इसके अधिकांश प्रसंग ''बाल्मीकि रामायण'' से समर्थित है। इसमें सबसे विस्तृत ''रामोपाख्यान'' है जो 704 श्लोकों में वर्णित है। यहाँ सीता जनक की पुत्री है न कि भूमि से उत्पन्न होने वा.. कन्या। इसमें गु. निषाद तथा अत्रि का उल्लेख नहीं ह। लक्ष्मण का शक्ति-प्रसंग भी नहीं मिलता। सीता की अग्नि परीक्षा नहीं होती। एक संभावना यह भी व्यक्त की जाती है कि रामोपाख्यान रामायण की मौखिक परंपरा पर भी आधारित हो सकता है। महाभारत के बाद राम कथा का आधार धार्मिक हो जाता है। पुराणों में विष्णु, वायु, भागवत, कूर्म, वाराह, अग्नि, लिंग, वामन, ब्रहम, गरुड़, पद्म, स्कन्द, ब्रहमवैवर्त में राम कथा धार्मिक पक्ष की प्रधानता लेकर अभिव्यक्त होती है। पुराण-साहित्य के अतिरिक्त रामायण शीर्षक से भी अनेक ग्रंथ मिलते हैं जिनमें मूल, ब्रहम, महा, मंत्र, लोमश, अगस्त्य, मंजुल, सौहार्द्र, स्वयंभू, देव, श्रवण, दुरन्त आदि रामायण प्रमुख हैं। इस पौराणिक और धार्मिक साहित्य की परिणति अंततः रसिक संप्रदाय में हुई।

ख) प्रबंध काव्य – संस्कृत में जितने भी प्रबंध काव्यों की रचना हुई वे प्रायः ''वाल्मीकि रामायण'' पर ही आधारित हैं। कालिदास कृत ''रघुवंश'' में दसवें सर्ग से पंद्रहवें सर्ग के अंतर्गत राम-कथा का वर्णन किया गया है। ''रघुवंश'' में अलौकिक घटनाओं को भी काव्य सौंदर्य में ढालकर अभिव्यक्त किया गया है। ''महिकाव्य'' में राम-कथा के साथ-साथ व्याकरण के नियमों का भी संकेत किया गया है। कृति पर शैवमत का प्रभाव होते हुए भी राम का ब्रहमत्व पूरी तरह स्पष्ट है। कुमार दास कृत ''जानकी हरण'' में रामायण के पहले छः खंडों की कथा को आधार बनाया गया है। इसकी प्रवृत्ति पूरी तरह श्रृंगारिक रही है। अभिनंद कृत ''राम चरित'', क्षेमेन्द्र कृत, ''रामायण मंजरी'', दशावतार चरितम्'' साकल्य मल्ल कृत ''उदारराघव'' चक्र कविकृत ''जानकी परिणय'', अद्वैत कृत ''राम लिंगामृत'' भी इस प्ररंपरा की विशिष्ट कृतियाँ हैं।

ग) नाटक – नाटकों की परंपरा में भास कृत ''प्रतिमा'' पहला नाटक है जिसमें राम कथा को ''रघुवंश'' के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसमें राम के वनवास से रावण-वध तक की कथा है। भास के ही दूसरे नाटक ''अभिषेक'' में बालि-वध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन किया गया है। भवभूतिकृत ''उत्तर राम चरित'' में करुण रस की प्रधानता है। इस नाटक में सीता के वनवास की कथा को प्रस्तुत किया गया है। करुण रस प्रधान होते हुए भी यह नाटक दुःखान्त नहीं है। अनंग हर्ष मातृ राज कृत उदात्त राघव छःअंकों का नाटक है जिसमें वनवास से लेकर राम के अयोध्या वापस लौटने तक की कथा का वर्णन है। दिड नाग कृत ''कुंद माला'', मुरारि कृत, ''अनर्घराघव'', राजशेखर कृत ''बाल रामायण'', अज्ञात कवि कृत ''हनुमन्नाटक'', शक्ति प्रद कृत ''आश्चर्य चूड़ामणि'', जयदेव कृत ''प्रसन्ना राघव'' सोमेश्वर कृत ''उल्लास राघव'', मल्ल कृत ''मैथिलीकल्याण'' राम भद्र कृत ''जानकी परिणय'' विशिष्ट नाट्यकृतियाँ हैं जिनमें राम के चरित्र को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है।

**पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश** – जैसा कि आप सगुण राम काव्यधारा की पृष्ठभूमि के अंतर्गत पढ़ चुके हैं बौद्ध जातक ग्रंथों में बौद्ध मत के अनुरूप राम कथा को ग्रहण किया गया है। इसके बाद प्राकृत में जैन कवियों ने ऐसी अनेक कृतियों की रचना की जिनमें राम कथा को ग्रहण किया गया है। इनमें सर्वप्रथम विमल सूरि द्वारा रचित ''पउम चरियम्'' का उल्लेख करना संगत होगा। इसकी रचना विक्रम संवत् 60 में मानी जाती है। इस ग्रंथ का राम कथा की दृष्टि से तो महत्व है ही साहित्यिक, भाषा शास्त्रीय, ऐतिहासिक एवं सामाजिक महत्व भी है। इसके बाद ''वसुदेव हिंडी'' ग्रंथ का उल्लेख मिलता है जो दो खंडों में है। पहले खंड के प्रणेता संघ दास गणिवाचक हैं और दूसरे खंड के धर्म सेन गणीमहतर पहले खंड की भाषा जैन प्राकृत है और दूसरे की भाषा मागधी शौरसेनी है। प्रथम खंड के पाँच-सात पृष्ठों में राम-कथा का वर्णन है जो महत्वपूर्ण है। इन जैन राम कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें अवतारवाद की भावना नहीं है। अलौकिकता का स्थान तार्किकता ने ले लिया है। अपभ्रंश के जैन राम साहित्य के अंतर्गत दो ग्रंथ विशेष रूप से महत्वपूर्ण है–स्वयंभू कृत ''पउमचरियउ'' और पुष्प दंत कृत ''महा पुराण''। ''पउमचरियउ'' आठवीं और नवीं शताब्दी के बीच की रचना है और ''महापुराण'' दसवीं शताब्दी की।

## 13.3.2 हिंदी में सगुण राम-काव्य परंपरा

**तुलसी पूर्व राम काव्य परंपरा** – हिंदी में राम काव्यधारा के प्रवाह को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –सांप्रदायिक राम काव्य तथा ऐतिहासिक साहित्यिक दृष्टि समन्वित असाप्रदायिक राम काव्य। हिंदी के राम काव्य – विशेष रूप से साहित्यिक राम काव्य पर संस्कृत राम काव्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। राम काव्य की यह परंपरा सामाजिक रूप से भी जागरूक रही। अपने युग की परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव भी इस काव्यधारा में स्पष्टतः देखा जा सकता है। किंतु हिंदी के रसिक संप्रदायी काव्य परंपरागत एवं रूढ़ धार्मिक दृष्टि से बंधा रहा। यहाँ हम हिंदी के प्रमुख राम भक्त कवियों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं–

**रामानंद** – अंग्रेज लेखक फर्कुहर ने इनका समय 1400-1470 ई. तक स्थिर किया है। इनका जन्म काशी में हुआ। रामानंद ने श्री वैष्णव संप्रदाय के आचार्य राघवानन्द से दीक्षा ली। वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते हुए भी इन्होंने सभी वर्णों को भक्ति मार्ग का अधिकारी माना है। हिंदी में लिखे इनके कुछ पद बहुत प्रसिद्ध हैं। यथा :

'आरति कीजै हनुमान लला की
दुष्ट दलन रघुनाथ कला की'

**अग्रदास** – इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इन्होंने अपनी कृतियों में भक्ति भावना के साथ-साथ कवित्व का भी सुन्दर परिचय दिया है। सुन्दर पद रचना तथा अलंकारों के सुन्दर प्रयोग के द्वारा इन्होंने अपने साहित्य शास्त्रीय ज्ञान को प्रमाणित किया है। इनकी प्रमुख कृतियों में 'ध्यानमंजरी', 'राम भजन मंजरी', 'रामाष्टयाम', 'उपासना बावनी' और 'पदावली' है। इन्होंने ब्रजभाषा का लालित्यपूर्ण प्रयोग किया है। वस्तुतः अग्रदास जी से ही राम काव्य के रसिक संप्रदाय का प्रवर्तन होता है। रामाष्टयाम से इनके रसिक होने का परिचय मिलता है।

**ईश्वर दास** – विद्वानों ने ईश्वर दास जी की कृति 'सत्यवती कथा' (1515) के आधार पर इनकी जन्मतिथि 1480 के आसपास स्वीकार की है। इनकी दो कृतियाँ 'भरत मिलाप' तथा 'अंगद पैज' रामचरित्र से संबंधित हैं। 'भरत मिलाप' का आरंभ राम वन गमन से होता है तथा भरत के आग्रह पर राम के वन से न लौटने पर भरत के पर्णकुटी बनाकर निवास करने के प्रसंग पर रचना समाप्त हो जाती है। 'अंगद पैज' में रावण की सभा में अंगद की प्रतिज्ञा का प्रसंग निरूपित किया गया है। दोनों कृतियों का साहित्यिक महत्व साधारण है किंतु कवि की भक्ति भावना की इन कृतियों में उत्कट अभिव्यक्ति हुई है।

**तुलसी दास** – गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन वृत्त के संबंध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। बेनीमाधवदास द्वारा प्रणीत 'मूल गोसाईं चरित' तथा महात्मा रघुबर दास कृत 'तुलसी चरित' में गोस्वामी जी का जन्म संवत् 1554 स्वीकार किया गया है। बेनीमाधव ने तो गोस्वामी जी की जन्मतिथि (श्रवण शुक्ला सप्तमी) भी निर्दिष्ट की है। 'शिव सिंह सरोज' में इनका जन्म सवंत् 1583 माना गया है। पं. राम गुलाम द्विवेदी ने इनका जन्म 1589 में स्वीकार किया है। उनके जन्म के साथ-साथ जन्म स्थान के संबंध में भी विवाद है। 'मूल गोसाईं चरित' तथा 'तुलसी चरित' में इनका जन्म स्थान राजापुर (बाँदा जिला) बताया गया है। लाला सीता राम, गौरीशंकर द्विवेदी, राम नरेश त्रिपाठी, डॉ. रामदत्त भारद्वाज गोस्वामी जी का जन्म स्थान सोरो (जिला एटा) मानते हैं। जनश्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। अंतरसाक्ष्यों से यह भी प्रमाणित होता है कि इनका बचपन विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। जनश्रुति के आधार पर इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ। पत्नी के उपालंभ 'लाज न आई आपको दौरे आएहु साथ' से इनकी भाव धारा सहसा लौकिक विषयों से विमुख होकर राम भक्ति की ओर उन्मुख हो गयी। शुक्ल जी ने गोस्वामी जी द्वारा रचित बारह ग्रंथ माने हैं – दोहावली, कवित रामायण, गीतावली, रामचरित मानस, रामाज्ञा प्रश्नावली, विनय पत्रिका, रामललानहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और कृष्ण गीतावली। 'शिव सिंह सरोज' में दस और ग्रंथों के नाम गिनाए गये हैं – राम सतसई, संकटमोचन, हनुमद बाहुक, रामशालाका, छन्दावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलनारामायण और कुण्डलिया रामायण। इन ग्रंथों की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों में विवाद है।



गोस्वामी जी ने एक ओर नाथपंथियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जनमानस की आस्था को

राम भक्ति के माध्यम से पुनः पल्लवित किया और दूसरी ओर राम कथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनीतिक सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विविध आदर्शों को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर विश्रृंखलित हिंदू समाज को केन्द्रित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यापारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद् भक्ति का उपदेश करती है तो दूसरी ओर लोक पक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोक धर्म की अत्यंत उज्जवल घटा उसमें वर्तमान है। उन्होंने परस्पर विरोधी विचारधाराओं और जीवन धाराओं और जीवन-पद्धतियों में समन्वय की साधना करते हुए काव्य-मूल्यों और जीवन-मूल्यों के बीच अद्भुत सेतु की रचना की।' 'रामचरित मानस' को यदि नैतिक आदर्शों का विश्वकोश कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं। नैतिक आदर्शों का यह प्रस्तुतीकरण काव्य सौंदर्य के रस में पूरी तरह पगा हुआ है। शुक्ल जी के शब्दों में 'हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफी है।' राम काव्य परंपरा के संपूर्ण विकास में तुलसी अद्वितीय है, इसमें संदेह नहीं।

**नाभादास** – इनकी रचना 'भक्त माल' व रचनाकाल 1596 ई. माना जाता है। इस आधार पर उनका जन्म 1570 ई. के आसपास ठहरता है। इन्होंने भक्त माल परंपरा का सूत्रपात करते हुए हिंदी को सर्वश्रेष्ठ 'भक्त माल' प्रदान की। भक्तों का परिचय देने में समास शैली का कुशल उपयोग किया गया है। 'अष्ट याम' इनकी श्रृंगार रस से ओतप्रोत रचना है जिसमें रसिक भक्ति का प्रभाव स्पष्ट है। इनकी कृतियों से स्पष्ट है कि इन्हें छन्दशास्त्र का ही नहीं बल्कि भारतीय काव्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

**केशवदास** – इनका जन्म 1555 ई. में तथा मृत्यु 1617 ई. में हुई। ओरछा के राजा महाराज राम सिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में अपने पाण्डित्य के कारण इनका अतिशय सम्मान था। इनकी कृतियाँ हैं – कवि-प्रिया, रसिक प्रिया, वीर सिंह चरित, राम चन्द्रिका, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर जस चन्द्रिका। राम चन्द्रिका (1601 ई.) हिंदी राम काव्य परंपरा की विशिष्ट कृति है। 39 प्रकाशों में विभाजित इस कृति के अनेक प्रसंगों पर 'प्रसन्नराघव', 'अनर्घराघव', 'अनुमन्नाटक', 'कादम्बरी' एवं 'निषेद चरित' का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। प्रबंध दृष्टि से अनेक कथा-प्रसंग विश्रृंखल हैं। मार्मिक प्रसंगों का भी 'राम चन्द्रिका' में प्रायः अभाव है। इसका कारण है अलंकारों एवं शब्द-चमत्कार के प्रति अतिरिक्त आकर्षण। 'वाग्वैदग्ध्यं राम चन्द्रिका' की एक अनुपम विशेषता है जो निस्संदेह केशव के दरबारी परिवेश की देन थी।

**नरहरिदास** – नरहरि दास ने 'पौरुषेय रामायण' की रचना की। इसकी रचना शैली रासो ग्रंथ जैसी है। 'बाल्मीकि रामायण' को इस कृति में आधार माना गया है। दोहा-चौपाई पद्धति का अनुसरण करते हुए भी कवित्त सवैया, छप्पय, पद्धरि आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। भाषा राजस्थानी और ब्रजमिश्रित अवधी है। साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्व नहीं है।

राम काव्य परंपरा के इन कवियों के अतिरिक्त प्राण चंद चौहान (रामायण महानाटक), माधवदास चारण (राम रासो), हृदय राम (अनुमन्नाटक), लाल दास (अवध विलास), कपूर चन्द त्रिखा (रामायण जो गुरुमुखी लिपि में है) भी इस परंपरा के विशिष्ट कवि हैं जिनकी कृतिगत विशेषताओं का हम विस्तार भय से उल्लेख नहीं कर रहे।

### 13.3.3 सगुण राम भक्ति काव्य में समन्वय साधना

'समन्वय' शब्द सम अनु इ अच् द्वारा व्युत्पन्न है। इसका आशय है–नियमित क्रम, संयोग, पारस्परिक संबंध आदि। वस्तुतः परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं या बातों के बीच पारस्परिक संबंध का निर्धारण करते हुए उनमें सामंजस्य स्थापित करना ही समन्वय है। समन्वय भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। नास्तिक बौद्धों द्वारा राम को बोधि सत्व मान लेना तथा आस्तिक बौद्धों द्वारा बुद्ध की अवतार रूप में प्रतिष्ठा इस समन्वय का ही परिणाम है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की समन्वयमूलकता के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

राम काव्य धारा में समन्वय का यह आदर्श तुलसी में ही प्रतिफलित हुआ। उन्होंने इस आदर्श को 'रामचरित मानस' में अनेक दृष्टियों से निरूपित किया है। द्वैत और अद्वैत के

बीच समन्वय को तुलसी ने अवतारवाद की प्रतिष्ठा करते हुए ब्रहम को उपनिषदों और वेदान्त के अनुसार निर्गुण और निर्विशेष भी स्वीकार किया है। निर्गुण और सगुण का वह विवाद जो क्रमशः दर्शन और भक्ति के क्षेत्रों में विद्यमान था,को समाप्त करने के लिए उन्होंने राम को बार-बार निर्गुण सगुण स्वरूप बताया–

i) 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुराण बुध वेदा।।'

ii) 'अगुन सगुन दुई ब्रहम सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।'

iii) 'जय सगुन निर्गुन रूप, रूप अनूप भूप सिरोमने।'

इसी प्रकार जगत की सत्यता और असत्यता के बीच गोस्वामी जी ने सुन्दर समन्वय स्थापित किया। जैसे–

> जेगत की असत्यता – 'रजत सीम महुँ मास जिमि जथा भानु कर बारि।'
> जगत की सत्यता – 'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।'

भाग्य और पुरुषार्थ के समन्वय के लिए उन्होंने 'पुरुषारथ पूरब करम परमेस्वर परधान। तुलसी पैरत सरित ज्यों सबहि काज अनुमान।।' का तर्क प्रस्तुत किया। ईश्वर से जीव के भेद और अभेद के विवाद का परिहार उन्होंने इस आधार पर किया कि स्वरूप की दृष्टि से ईश्वर और जीव में अभेद है किन्तु ऐश्वर्य की दृष्टि से दोनों में भेद है। मुक्त होने पर जीव ईश्वर का स्वरूप तो प्राप्त कर लेता है किन्तु ऐश्वर्य नहीं। शैवों और वैष्णवों के बीच विद्यमान विरोध का शमन उन्होंने स्वयं अपने आराध्य श्री राम से सेतुबंध के अवसर पर शिव की पूजा के द्वारा कराया है। राम का स्पष्ट कहना है–

> 'संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
> ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।।'

इसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म और मानवता के बीच उन्होंने,'परहित सरिस धरम नहि भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधभई' कह कर समन्वय किया तो लोकमत और वेदमत के समन्वय के लिए उन्होंने 'सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक वेदमत मुजुल कूला'का रूपक प्रस्तुत करते हुए इस आदर्श को अपने काव्य में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार भोग और त्याग, राजा और प्रजा तथा भाव पक्ष और कला पक्ष के बीच भी गोस्वामी जी ने सुन्दर समन्वय साधा है। सच तो यह है कि जीवन का कोई भी ऐसा परस्पर विरोधी पक्ष नहीं है जिसे उन्होंने अपनी समन्वय दृष्टि से आलोकित न किया हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी कृति साहित्य में ठीक ही लिखा है – 'उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है।'

## 13.3.4 राम भक्ति धारा के दार्शनिक सिद्धांत

तुलसी से पूर्व राम की माधुर्योपासना विद्यमान थी। विशेष रूप से अग्रदास ने रामरसिकों का एक सुव्यवस्थित संप्रदाय संगठित किया और उन्हें कृष्ण भक्तों के गोलोक से भी अधिक वैभवपूर्ण साकेत अथवा दिव्य अयोध्या में नित्य-लीला रस राम के ध्यान का उपदेश दिया। कृष्ण भक्ति में भगवान की लौकिक लीलाओं को प्रधानता दी जाती थी। किंतु राम भक्ति की इस शाखा में अपने आराध्य की अलौकिक लीलाओं का गायन किया गया। तुलसी ने अपने दार्शनिक चिंतन को सुव्यवस्थित एवं गंभीर रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने विशिष्टा द्वैत के अनुसार ब्रहम और जीव के बीच अंशी और अंश का संबंध माना है। ब्रहम के विषय में उनका मत है कि व्यापक विश्व रूप ब्रहम ही शरीर धारण कर नाना प्रकार की लीलाएँ किया करता है। सगुण उपासक को वे मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी नहीं मानते किंतु ऐसा उपासक मोक्ष चाहता भी कहाँ है? वह तो अपने भगवान की भक्ति से ही पूर्ण काम है। उन्होंने इस जगत को 'सियाराममय' मान कर उसको प्रणाम किया है। जीव की वे तीन कोटियाँ मानते हैं –बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त – विषयी साधक सिद्ध सपाने । त्रिविधि जीव जग वेद बखाने। बद्ध जीव माया में लिप्त रहता है। – 'भूमि परतभा डाबर पानी। जनुजीवहि माया लपटानी।' यह माया भी दो प्रकार की है– विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया सृजन का आधार है और अविद्या माया जीव को अपने में लिप्त करने के कारण उसके दुख का कारण है। तुलसी के बाद राम काव्य परंपरा के दार्शनिक चिंतन में कोई मौलिक बदलाव आता नहीं दीखता।

### 13.3.5 निर्गुण संतों का प्रभाव

तुलसी ने निर्गुण और सगुण के विवाद को 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा' कह कर दोनों को समन्वय के सूत्र में बाँधा था। उनकी सगुण साधना पर निस्संदेह निर्गुण संतों का भी व्यापक प्रभाव पड़ा था। जिस प्रकार निर्गुण संतों ने गुरु के महत्व को बार-बार रेखांकित किया था, उसी प्रकार राम भक्ति धारा के कवियों विशेष रूप से तुलसी ने 'श्री गुरु पद नख मनि जोति । सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती' की स्वीकृति देकर बार-बार गुरु के महत्व पर बल दिया। निर्गुण संतों ने नाम महिमा का बार-बार उल्लेख किया है, राम भक्त कवियों के यहाँ भी नाम स्मरण का विशेष महत्व है।अस्तु, अनेक दृष्टियों से निर्गुण काव्य का राम भक्ति धारा के कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है, इसमें संदेह नहीं।

### 13.3.6 राम भक्ति धारा और आगम निगम परंपरा

राम भक्ति धारा ने अपना आधार आगम निगम परंपरा से ही ग्रहण किया। तुलसी ने तो आगम निगम का उल्लेख अपने काव्य में बार-बार किया है। उन पर 'वाल्मीकि रामायण', 'श्रीमद् भगवत', 'उपनिषद्', 'अध्यात्म रामायण', 'शिवपुराण', 'भुशुडि रामायण', 'प्रसन्न राघव', का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। केशव पर 'वाल्मीकि रामायण', 'प्रसन्न राघव', 'अनुमन्नाटक', तथा 'रघुवंश' का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्य राम भक्त कवियों पर भी ये प्रभाव देखे जा सकते हैं। समग्रतः समूची राम भक्ति धारा पर आगम निगम परंपरा का व्यापक प्रभाव पड़ता है।

**बोध प्रश्न 2**

क) राम काव्य धारा में वाल्मीकि रामायण के महत्व का अंकन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ख) हाँ या नहीं में उत्तर दीजिए–

i) 'वाल्मीकि रामायण' की तुलना में 'महाभारत' प्राचीन रचना है। ( )

ii) राम का व्यक्तित्व 'वाल्मीकि रामायण' की अपेक्षा 'महाभारत' में अधिक प्रभावशाली रूप से अंकित किया गया है। ( )

iii) भवभूति कृत 'उत्तर राम चरित' भक्ति प्रधान रचना है। ( )

ग) यहाँ कवियों के साथ उनकी कृतियों के नाम सही नहीं लिखे गए हैं। इन्हें उचित रूप में लिखिए–

| | |
|---|---|
| तुलसी | भक्त भाल |
| केशव दास | जानकी मंगल |
| नरहरि दास | रामायण महा नाटक |
| प्राणचंद चौहान | विज्ञानगीता |

घ) राम काव्य धारा के कवियों में तुलसी की समन्वय दृष्टि क्यों महत्वपूर्ण है?

.....

.....

.....

.....

ङ) निर्गुण संतों ने राम काव्यधारा को किन-किन दृष्टियों से प्रभावित किया?

.....

.....

.....

.....

## 13.4 सगुण राम भक्ति धारा में राम का लोकनायक रूप

राम काव्य परंपरा में राम का अमन प्रमुखतः दो रूपों में किया गया है – लोकरंजक रूप में तथा लोक रक्षक रूप में। राम काव्य की रसिक धारा के अंतर्गत राम के लोकरंजक रूप को आधार मानकर उनका श्रृंगारिक अंकन किया गया है। तुलसी के काव्य में राम के लोक-रक्षक स्वरूप को ही प्रमुख रूप से उभारा गया है किन्तु उनके लोकरंजक व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के लिए मर्यादित शृंगार चेतना का कलात्मक उपयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो तुलसी के रामशील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वित रूप है। वे सामाजिक मर्यादा के प्रबल पक्षधर हैं। लोक-धर्म उनके व्यक्तित्व में साकार हो उठा है। कोई भी ऐसा सामाजिक आदर्श नहीं जिसका प्रतिनिधित्व राम न करते हों। इसलिए वे सही अर्थों में लोक नायक हैं। वे केवल लोकनायक ही नहीं बल्कि स्वयं ब्रहम हैं। शुक्ल जी के शब्दों में– 'लोक में फैली दुख की छाया को हटाने में ब्रहम की आनन्द कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है।' यह विरोधाभासी आकर्षण ही राम को युगों-युगों के लिए लोकनायक के पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

## 13.5 सगुण राम भक्ति धारा में नारी का स्वरूप

पुरोहित वर्ग ने 'नीची' जातियों के साथ जैसा दुर्व्यवहार किया था, वैसा ही व्यवहार 'नारी' के साथ किया। तुलसीदास ने इस पुरोहित वर्ग का विरोध करते हुए नारियों के लिए उपासना के द्वार खोल दिए। राम का स्वागत-सत्कार करने, स्नेह पाने में नारियाँ सबसे आगे रहती हैं। ग्रामीण नारियों के प्रति तुलसी के मन में विशेष आदर है। ग्रामीण स्त्रियाँ सीता से 'सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे' जैसा प्रश्न पूछ सकती हैं और सीता प्रसन्नता से उत्तर देती हैं। ऐसे ही राम जब अयोध्या लौटते हैं तो उनका स्वागत करने में स्त्रियाँ सबसे आगे हैं – 'बढ़ेउ कोलाहल करत जन, नारि तरंग समान।' अतः यह समझना भूल है कि तुलसी नारियों को अपावन समझते हैं या नारी निंदक हैं। जो लोक 'ढोर-गँवार शूद्र-पशु-नारी' का प्रसंग उठाते हैं वे विचार करें कि यदि वे नारी निंदक होते तो नारी की पराधीनता से विकल-बेचैन न होते यथा–

> कत बिधि सृजी नारि जग माही।
> पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।।

तुलसी का करुणा से भरा हृदय सद्गुणों से भरी नारियों को नमन करता है और असद् गुणों वाली नारियों की निंदा ढोर-गँवार शूद्र पशु वाली बात समुद्र की बातचीत में आई है जहाँ वह अपने को जड़ कहता है और इस बात का संकेत देता है कि जड़ प्रकृति को चेतन-ब्रहम ही संचालित कर रहा है। यह प्रसंग संदर्भ के साथ समझना चाहिए। यदि आप ऐसा करते हैं तो पाते हैं कि संत तुलसीदास का कवि नारी निंदक नहीं है। तुलसीदास उस सामंतवादी समाज का विरोध करते रहे हैं जो नारी को गुलामी देता है उसे पुरुष की बराबरी से वंचित करता है। फिर तुलसीदास को सीता पर राम से कम गर्व नहीं है।

अतः यह मान लेना कि तुलसी नारी निंदक या नारी विरोधी थे–युक्ति संगत नहीं है। हमें इन सभी मतों को पाँच कारणों को दृष्टि में रखते हुए देखना-परखना होगा–

1) प्राचीन वाङ्मय जिसमें नारी के स्वभाव का वर्णन है, 2) तुलसी के युग की परिस्थितियाँ, 3) उनका जीवन वृत्त 4) उनका धर्मभाव और 5) उनका भक्ति दर्शन। इन पाँच कारणों को दृष्टि में रखकर हम तुलसी की नारी-भावना के साथ अधिक न्याय कर सकते हैं।

**बोध प्रश्न 3**

क) लोकनायक में कौन-कौन से गुणों का होना आवश्यक है?

.....

.....

.....

ख) नीचे कुछ कवियों की सूची दी गयी है। इनमें से उन कवियों का नाम निर्दिष्ट करें जिनके राम लोकनायक हैं। आप उत्तर हाँ या नहीं में दें।
i) अग्रदास, ii) भवभूति, iii) तुलसीदास, iv) केशवदास, v) नाभादास, vi) वाल्मीकि

ग) सही उत्तर को( ✓ ) चिन्हित करें:
तुलसी की नारी के प्रति निंदापरक उक्तियों का प्रमुख कारण था–
i) नारी के प्रति उनकी जन्मजात घृणा।
ii) नारी के प्रति उनकी सहज विरक्ति।
iii) तत्कालीन रूढ़िगत परिवेश, जहाँ नारी के प्रति प्रगतिशील उदार दृष्टिकोण का अधिक अवकाश न था।

घ) नीचे रामचरित मानस के प्रमुख नारी पात्रों की सूची दी गयी है। इन्हें सत्पात्रों एवं असत्पात्रों में वर्गीकृत करें–
सीता, कौशल्या, कैकयी, मंथरा, मंदोदरी, सुरसा, तारा, ताड़का, शूर्पणखा

## 13.6 सगुण राम भक्ति धारा में राम भक्ति का निरूपण

आपने देखा कि किस प्रकार राम काव्य परंपरा में नारी भावना श्रृंगारभावना और मर्यादावादी दृष्टिकोण के दो कुलों के बीच प्रवाहित हुई। प्रस्तुत इकाई खंड में हम इस काव्य-धारा की भक्ति-भावना को समझने का प्रयास करेंगे।

राम काव्य भारतीय भक्ति आंदोलन की उपलब्धि है। इसने भावात्मक-सांस्कृतिक एकता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया तथा भक्ति को जन-जन के लिए सुलभ बनाया। भक्ति को ज्ञान और योग मार्ग से श्रेष्ठ घोषित किया। भक्ति के मर्यादा रूप को तुलसीदास स्वीकार करते हैं। दास्य भक्ति ही उनके समर्पण का मूलाधार है–

सेव्य सेवक भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत विचारि।

कृष्ण भक्ति के कवियों ने दास्य, सख्य के नवधा भक्ति भाव को अपनाया जिसमें अर्चन-कीर्तन, वंदना, स्मरण आदि प्रमुख हैं–पर राम भक्त कवियों ने वैधी भक्ति या मर्यादा भक्ति को ही अपना चरम ध्येय माना है। कृष्ण भक्ति में रागानुगा भक्ति की सरसता है–राम भक्ति में भक्त-हृदय की आराधनात्मक एकाग्रता। तुलसीदास निर्गुण और सगुण दोनों पद्धतियों को अपनाते हैं, पर कृष्ण भक्त कवि सगुण-भक्ति के बल पर जीते हैं निर्गुण-भक्ति को स्वीकार नहीं,करते। सगुण भक्त सूरदास, निर्गुण का खंडन करते हुए सगुण-भक्ति की स्थापना करते हैं। किंतु प्रेम तत्व इन दोनों संतकाव्य धाराओं में समान तत्व है–"रामहि केवल प्रेम पियारा" इसी भाव की ध्वनि है। दीन-दलित के लिए भक्ति का विश्वास ही मौजूद है। ज्ञान-विज्ञानी से ज्यादा राम को भक्त प्रिय है–"सबसे अधिक भगत मोहि भाए।" इस भक्ति का आदर्श रूप हनुमान हैं। तुलसी की भक्ति कल्पना विलास न होकर सामंती दु:खों से मुक्त होने का एक साधन है। इसलिए इस भक्ति का स्वरूप लोक मंगलपरक है। आप इसे व्यापक मानवतावाद का भाव भी कह सकते हैं क्योंकि इस भक्ति में मानवीय सहानुभूति और व्यापक करुणा का बीज भाव विद्यमान है। यह भक्ति, जाति, धर्म आदि के कारण किसी भी मनुष्य का बहिष्कार नहीं करती है।

आराध्य के कथा-प्रसंगों में अनुरक्ति, गुरु-पूजा, आराध्य के गुणगान, आराध्य के प्रति आस्था, इंद्रिय-निग्रह, विश्व को राममय देखना, संतोष और निश्छलता–भक्ति के इन नौ प्रकारों पर उन्होंने विशेष बल दिया। इस प्रकार तुलसी ने व्यापक रूप में भक्ति को निरूपित किया।

## 13.7 जीवन-दर्शन और मानव मूल्य

रामभक्ति और रसिक परंपरा में भक्ति को भले ही उसके जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार कर लिया जाए किंतु मानव-मूल्यों की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में प्राय: संभव न हो

सकी। तुलसी पहले राम भक्त कवि हैं जिनके काव्य में जीवन-दर्शन और मानव मूल्यों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। जैसा कि आपने भक्ति निरूपण के प्रसंग में देखा था तुलसी की राम भक्ति दास्य भावना पर टिकी है। यह दास्य भक्ति ही उनका जीवन दर्शन है। भक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही उन्होंने मानव-मूल्यों का निदर्शन किया है।मोहन राकेश के शब्दों में–"जीवन के नवनिर्माण के संबंध में उनकी व्याकुलता ने ही उन्हें जीवन के संबंध में चिंतन करने और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले तत्वों समाहार की ओर प्रवृत्त किया। उन्होंने शास्त्र को पुस्तक के पन्नों से निकालकर जीवन में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। "परहित सरिस धर्म नहिं भाई" तथा "जे न मित्र दुख होंहि दुखारी। तिन्हहिं विलोकत पातक यारी" तथा राम-रावण युद्ध में विभीषण से राम द्वारा मानव मूल्यों द्वारा निरूपित रथ की महत्ता का गायन करना एक प्रकार से तुलसी की मानव मूल्यों के प्रति निष्ठा का ही प्रमाण है। तुलसी ने लोक धर्म की अभूतपूर्व प्रतिष्ठा की। शुक्ल जी का यह मत पूर्णतः उचित है कि "राम चरित के सौंदर्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे न हुआ हो, पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ संस्कार हुआ।"

## 13.8 लोक मंगल की साधना

लोक मंगल की साधना का गंभीर दायित्व भी राम भक्ति की रसिक काव्य-परंपरा के कवियों द्वारा संभव नहीं हुआ। इसका कारण, जैसाकि आप स्पष्ट रूप से समझ चुके हैं–उद्देश्य की सीमितता था। ये कवि राम की उपासना रसिक भाव से करके अपने उद्देश्य की इतिश्री मान लेते थे। तुलसी ने लोक मंगल की साधना के पथ पर चल, कर लोक धर्म का निर्वाह किया। शुक्ल जी ने भक्ति धारा के कवियों को उद्देश्य की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त किया है (1) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले कवि (2) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले कवि। सूर को वे प्रथम वर्ग का कवि मानते हैं क्योंकि वे कृष्ण की लीला के सौंदर्य के साक्षात्कार को अपना लक्ष्य मानते हैं। तुलसी ने लोकमंगल की साधना को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया और इसी आदर्श के रूप में राम का अंकन किया। राम जीवन के संघर्षों और प्रयत्नों से सौंदर्य को अभिव्यक्त करते हैं। तुलसी राम के इसी लोकमंगल की साधना से जुड़े सौंदर्य पर मुग्ध हुए हैं।

**बोध प्रश्न 4**

क) हाँ या नहीं में उत्तर दें–
   i) तुलसी ने राम की उपासना दास्यभक्ति के अनुरूप की।
   ii) केशव की राम भक्ति का आधार सखा-भाव रहा है।
   iii) अग्रदास जी ने राम भक्ति में मर्यादा एवं नैतिकता को प्रतिष्ठा की।

ख) राम भक्ति की रसिक भावना में मानव मूल्यों को महत्व न मिल सकने का क्या कारण था?

.....

.....

.....

ग) तुलसी ने कौन-कौन से प्रमुख मानव-मूल्यों की ओर अपने काव्य में संकेत किया है?

.....

.....

.....

घ) लोकमंगल की साधनावस्था एवं सिद्धावस्था में अंतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

## 13.9 अन्य विशेषताएँ

आपने राम काव्य की अनेक प्रमुख विशेषताओं का अवलोकन किया और यह भी जाना कि राम काव्य के आधारभूत वैशिष्ट्य के केंद्र में कहीं न कहीं तुलसी अवश्य विद्यमान है। यहाँ हम राम काव्यधारा की उन विशेषताओं की ओर आपका ध्यान आकर्षित करेंगे जो प्रायः सभी राम भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती है। इनमें पहली है गुरु के महत्व का गायन। सभी राम भक्त कवियों ने मुक्त कंठ से गुरु के महत्व को अभिव्यक्ति दी है। तुलसी ने "राम चरित मानस" के आरंभ में गुरु की वंदना इन शब्दों में की है–

"बंद हूँ गुरु पद पदुम पराग। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
अभिय भूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।।"

इसी प्रकार राम भक्ति धारा के प्रायः सभी कवियों ने नाम स्मर्ण पर विशेष बल दिया है। नाम के जप को ये सभी कवि अपनी भक्ति का केंद्र मानते हैं। तुलसी ने तो राम नाम को ही कलियुग में भक्ति का एक मात्र अवलंब स्वीकार किया है–

"नहि कलि कर्म न भगति विवेकू। राम नाम अवलंबन एकू"

यही नहीं–

"राम राम कहि जे जमुहांही। तिन्हहिं न पाप पुंज समुहांहीं।।"

सभी राम भक्त कवि ने राम को ब्रह्म मान कर ही उनके अवतारी स्वरूप को अंकित किया है। उनकी धारणा है कि ब्रह्म ही अपनी लीलाओं से चराचर जगत को आलोकित कर रह है। राम भक्ति की रसिक धारा के कवियों ने जहाँ अपने अराध्य की लीलाओं के लोकरंजन स्वरूप को आधार माना है वहाँ तुलसी ने उनकी लीलाओं को लोकधर्म से जोड़ा है। यह लीला गायन राम काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता रही हैं।

## 13.10 सगुण रामकाव्य धारा का भाव-सौंदर्य

भाव-सौंदर्य की दृष्टि से रामकाव्यधारा का महत्व असंदिग्ध है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के भावों, अनुभूतियों तथा संवेगों को रामभक्त कवियों ने मनोरम रसानुकूल अभिव्यक्ति प्रदान की है। रामभक्ति काव्य की रसिक धारा के कवियों ने भक्ति के साथ-साथ श्रृंगार को भी ग्रहण किया। यही कारण है कि भाव-क्षेत्र सीमित होते हुए भी इन कवियों को श्रृंगार एवं भक्ति रस के सुंदर परिपाक का श्रेय दिया जा सकता है। तुलसी का भाव सौंदर्य सचमुच अद्भुत है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में–"गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिंदी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। उनकी काव्य दृष्टि संपूर्ण मानव-भावों एवं व्यापारों तक फैली है। जहाँ एक ओर वे एक भक्त के दैन्यभाव को लेकर भक्ति के पूर्ण परिपाक में समर्थ हुए हैं वहाँ दूसरी ओर वे सामाजिक संदर्भों में कर्त्तव्य मार्ग का सौंदर्य दिखाकर हमें मुग्ध करते हैं। राम कथा के जितने मार्मिक स्थलों की पहचान गोस्वामी जी को है उतनी अन्य कवियों के लिए दुर्लभ हैं।"शुक्ल जी के अनुसार–"राम के प्रामाणिक चरित के द्वारा वे जीवन भर बना रहने वाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे, और काव्यों के समान केवल अल्पस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं।" उन्होंने कहीं भी काव्यगत चमत्कार को कथ्य की गरिमा का अतिक्रमण नहीं करने दिया। केशव की "रामचंद्रिका" में प्रायः इसका उल्टा ही हुआ है। मार्मिक स्थलों पर न रम कर केशव चमत्कार प्रदर्शन पर ही केंद्रित रहे हैं, फलतः "रामचंद्रिका" में वह भाव-सौंदर्य प्राप्त नहीं होता जो तुलसी को सहज सुलभ है। रसानुभूति के क्षेत्र में सूर के अतिरिक्त तुलसी की तुलना और किसी से नहीं की जा सकती। भावों की मर्मस्पर्शिता, रसानुभूति की तन्मयता–सभी दृष्टियों से संपूर्ण राम काव्य परंपरा में तुलसी की अद्वितीयता असंदिग्ध है।

## 13.11 सगुण राम काव्य धारा का अभिव्यंजना सौंदर्य

अभिव्यंजना सौंदर्य की दृष्टि से संपूर्ण राम काव्य परंपरा में तुलसी का काव्य ही सर्वश्रेष्ठ

ठहरता है। माधुर्योपासक राम भक्त रसिक कवियों ने जहाँ पद, दोहा, चौपाई आदि छंदों के माध्यम से प्रमुखतः मुक्तक काव्य विधा को अपनाया, वहाँ तुलसी ने प्रबंध की काव्यविधा को अपनाकर उसे धन्य कर दिया। प्रबंध कौशल की जो पटुता हमें "रामचरित मानस" में दीख पड़ती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कथावस्तु के सम्यक् विन्यास एवं प्रबंध की अन्य सभी कसौटियों पर मानस पूरी तरह खरा उतरता है। जहाँ तक भाषा की बात है तुलसी ने साहित्यिक अवधी का सुंदर उपयोग किया है। जायसी ने "पद्मावत" में ठेठ अवधी का जो प्रयोग किया है उसे साहित्यिक पूर्णता तक पहुँचाने का श्रेय गोस्वामी जी को ही है। संस्कृत की कोमल पदावली का कलात्मक समावेश उनकी भाषा को विशिष्ट बनाता है। किंतु इसका आशय यह नहीं कि भाषा की साहित्यिकता ने मानस के जन-जन तक पहुँचाने में कोई बाधा उपस्थित की। यदि ऐसा हुआ होता तो मानस आज जन-जन का कंठहार न बना होता। शुक्ल जी का यह कथन पूर्णतः संगत है कि "उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं।" उनका अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रज भाषा का जो माधुर्य हम "सूर सागर" में पाते हैं वही मिठास हमें गीतावली और "कृष्णगीतावली" में मिलती है। प्रतीकों की दृष्टि से देखें तो हमें राम भक्ति धारा के कवियों में दार्शनिक प्रतीकों की बहुलता मिलेगी। अलंकारों की दृष्टि से अग्रदास, नामदास आदि माधुर्योपासक कवियों में अलंकारों के प्रति अतिरिक्त सजगता का भाव मिलता है। किंतु तुलसी के काव्य में अलंकार प्रायः भाव सौंदर्य के पूरक बन कर ही प्रयुक्त हुए हैं। सांगरूपक के प्रति उनमें अवश्य विशेष आकर्षण मिलता है किंतु अलंकारों का विन्यास उनके कथ्य की सीमा को कहीं भी लाँघ नहीं पाया है। इस दृष्टि से हम केशव को अपवाद मान सकते हैं जिन्होंने अलंकारों के मोह में मर्मस्पर्शी प्रसंगों को प्रायः अनदेखा कर दिया है। छंदों के संदर्भ में हमें कहना होगा कि अधिकांश राम भक्त कवियों ने पद, दोहा, चौपाई, छप्पय, कुंडलिया, कवित्त, सवैया आदि छंदों का ही प्रमुखता से प्रयोग किया है। तुलसी ने तो दोहा और चौपाई छंदों को अमर कर दिया। यद्यपि उन्हें ये छंद जायसी से मिले थे। इस प्रकार अभिव्यंजना सौंदर्य की दृष्टि से राम काव्य धारा का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक महत्व निर्विवाद है जिसके आलोक स्तंभ हैं—गोस्वामी तुलसीदास।

## 13.12 मूल्यांकन

भक्ति काल के लगभग 300 वर्षों (सं. 1400-1700 वि.) के लंबे काल खंड में कृष्ण काव्य की अपेक्षा रामकाव्य परिमाण की दृष्टि से सीमित है किंतु इसमें संदेह नहीं कि संपूर्ण भारतीय समाज पर राम काव्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह लोक धर्मी एवं लोक मंगल की साधना व आस्था का काव्य है। बाद में (अठारहवीं शताब्दी के बाद) भले ही अयोध्या के रामायत वैष्णवों के द्वारा भक्ति भाव की रागात्मकता को कुत्सित श्रृंगार के द्वारा विकृत कर दिया गया हो किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे कवियों के समाज को नाम भी याद नहीं। राम काव्य का वैशिष्ट्य तो तुलसी के कृतित्व पर टिका हुआ है और तुलसी एक प्रकार से भारतीय जनमानस के आस्था-भाव, उसकी मूल्य-चेतना का प्रतीक बन गए हैं। सभी रसों के पूर्ण परिपाक, अनुभूतियों के मर्मस्पर्शी निरूपण के कारण जहाँ राम काव्य भाव-सौंदर्य की दृष्टि से विशिष्ट है वहाँ प्रायः सभी प्रचलित काव्य रूपों के प्रयोग, भाषा पर असाधारण अधिकार, छंदों की निर्दोष प्रस्तुति आदि सभी दृष्टियों से राम काव्य का साहित्यिक महत्व सुरक्षित है। गोस्वामी जी का संपूर्ण काव्य, केशव की रामचरित्र का क्रमशः रामकाव्य के भाव-सौंदर्य एवं कला सौंदर्य के दो छोर हैं जिनका साहित्यिक दृष्टि से भले ही पृथक-पृथक महत्व हो किंतु तुलसी के संदर्भ में हम शुक्ल जी के शब्दों को लेकर कहना चाहेंगे कि—

"यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।"

**बोध प्रश्न 5**

क) तुलसी के भाव-सौंदर्य की प्रमुख विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ख) भाव सौंदर्य की दृष्टि से तुलसी और केशव की तुलना कीजिए।

.....

.....

.....

.....

ग) हाँ या नहीं में उत्तर दें–

i) राम काव्य धारा में प्रबंधों की अपेक्षा मुक्तकों ने जन मानस को अधिक प्रभावित किया।

ii) तुलसी ने "राम चरित मानस" की रचना अवधी में की।

iii) छंदों का सबसे अधिक परिवर्तन केशव के काव्य में मिलता है।

## 13.13 शब्दावली

**कूर्म** : कछुआ
**वाराह** : शूकर (सूअर)
**पाठ-भेद** : किसी एक रचना की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में अंतर
**दीक्षा** : शिष्यत्व ग्रहण करना
**उत्कट** : अत्यधिक
**उपालंभ** : उलाहना
**वाग्वैदग्ध्य** : वाणी की चतुरता (संवाद-कौशल)
**द्वैत** : जीव एवं ब्रह्म की पृथक सत्ता
**अद्वैत** : जीव एवं ब्रहम दोनों की अभेदता
**लोकमत** : सामाजिक आदर्श
**वेदमत** : वैदिक आदर्श
**मुमुक्षु** : मोक्ष का इच्छुक
**मध्यमार्गी** : भोग एवं त्याग में संतुलन का पक्षधर
**आलोक स्तंभ** : वह स्तंभ जो अपने प्रकाश से दूर तक मार्ग दिखाता है।

## 13.14 उपयोगी पुस्तकें

आचार्य रामचंद्र शुक्ल–*हिंदी साहित्य का इतिहास*
नागरी प्रचारिणी सभा,काशी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल–*चिंतामणि*
इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

डॉ. उदय भानु सिंह–*तुलसी काव्य मीमांसा*
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

डॉ. देवेंद्र नाथ शर्मा, विजयेंद्र, स्नातक (सं.)–*हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास* (पंचम भाग),
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

डॉ. धीरेंद्र वर्मा–*हिंदी साहित्य कोश* (प्रथम भाग)

डॉ. धीरेंद्र वर्मा–*हिंदी साहित्य* (द्वितीय खंड)

डॉ. गिरधर प्रसाद शर्मा–*मध्ययुगीन हिंदी भक्ति काव्य का विवेचन*
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली

डॉ. भगीरथ मिश्र–*महाकवि तुलसीदास : युग संदर्भ*
साहित्य भवन, इलाहाबाद

डॉ. इंद्र नाथ मदान (सं.)–*तुलसी प्रतिभा*
लोकभारती, इलाहाबाद

डॉ. महेश दिवाकर (सं.)–*तुलसी वाङ्मय विमर्श*
नवजात साहित्यकार मंच, बिजनौर

## 13.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

क) बौद्ध जातक कथाओं के नीरस होने का कारण "वाल्मीकि रामायण" के प्रभाव से दूर रहना है।

ख) i) × ii) ✓ iii) ×

ग) तत्कालीन परिस्थितियों की अराजकता ने राम-काव्य को भक्ति एवं लोक धर्म की ओर प्रेरित किया।

**बोध प्रश्न 2**

क) संपूर्ण राम काव्य धारा "वाल्मीकि रामायण" से किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित रही है। परवर्ती राम भक्त कवियों ने राम कथा का आधार "वाल्मीकि रामायण" से ही ग्रहण किया। राम के चरित्रांकन में भी "वाल्मीकि रामायण" को आधार माना गया।

ख) i) नहीं ii) नहीं iii) हाँ

ग) तुलसी–जानकी मंगल
केशवदास–विज्ञानगीता
नरहरिदास–पौरुषेय रामायण
प्राणनंद चौहान–रामायण महानाटक
नाभादास–भक्तभाल

घ) क्योंकि तुलसी ने अपनी समन्वय-दृष्टि के कारण ही समाज में व्याप्त विवादों का परिहार करते हुए लोक धर्म की प्रतिष्ठा की।

ङ) निर्गुण संतों ने प्रमुख रूप से ब्रह्मत्व की अवधारणा, नाम-महिमा एवं गुरु के महत्व अंकन द्वारा राम काव्यधारा को प्रभावित किया।

**बोध प्रश्न 3**

क) लोकनायक में शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय होना अत्यंत आवश्यक है। वह लोक रक्षक भी होता है और लोक रंजक भी। इसीलिए वह लोक में अद्वितीय महत्व का अधिकारी बन जाता है।

ख) i) नहीं, ii) नहीं, iii) हाँ, iv) नहीं, v) नहीं, vi) हाँ,

ग) i) × ii) × iii) ✓

घ) सत्पात्र–मंदोदरी, सुरसा, कौशल्या, तारा, सीता
असत्पात्र–कैकेयी, मंथरा, शूपर्णखा, और ताड़का

**बोध प्रश्न 4**

क) i) हाँ, ii) नहीं, iii) नहीं,

ख) राम भक्ति की रसिक भावना के अंतर्गत ये भक्त कवि माधुर्य भाव से अपने आराध्य की ऐकांतिक भक्ति करते थे। यही कारण है कि मानव-मूल्यों को इस काव्य धारा में महत्व न मिल सका।

ग) तुलसी ने लोक धर्म एवं लोक हित को प्रमुखता से मानव-मूल्यों के रूप में निरूपित किया।

घ) लोकमंगल की साधनावस्था में जहाँ लोक में फैली दुःख की छाया को समाप्त करने के लिए ब्रह्म अपने लीला स्वरूप में प्रयत्न पक्ष के सौंदर्य को उद्घाटित करता है वहाँ सिद्धावस्था में उसका लोकरंजक सौंदर्य पक्ष प्रमुख होता है।

**बोध प्रश्न 5**

क) तुलसी के भाव-सौंदर्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं—उनकी जीवन के विराट् भाव क्षेत्र पर गहरी और मर्मस्पर्शी पकड़, सभी रसों का पूर्ण परिपाक एवं अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के बीच विशिष्ट संतुलन।

ख) तुलसी के पास मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचानने की जो अंतर्दृष्टि है वह केशव को सुलभ नहीं है। तुलसी संपूर्ण जीवन को ग्रहण करके उसे भाव-सौंदर्य देते हैं। केशव दरबारी संस्कृति के दबावों और सीमाओं के कारण अलंकारों एवं छंदों के प्रदर्शन, वाग्वैदग्ध्य एवं पांडित्य की अभिव्यक्ति द्वारा इस कमी को पूरा करना चाहते हैं जो संभव नहीं हो सकता था। इसीलिए भाव-सौंदर्य की दृष्टि से तुलसी के समक्ष केशव कहीं नहीं ठहरते।

ग) i) नहीं, ii) हाँ, iii) हाँ,

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 5

## रीतिकालीन काव्य


इकाई 14
रीतिकालीन काव्य की परिस्थितियाँ 249

इकाई 15
रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ 263

इकाई 16
रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य 277

इकाई 17
रीतिमुक्त काव्य एवं अन्य प्रवृत्तियाँ 290

## पाठ्यक्रम आभकल्प सामात

डॉ. म.ह. राजूरकर
मराठावाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. राम सिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिंदी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रामनाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

**पाठ लेखक**
प्रो. महेन्द्र कुमार
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. पूरन चन्द टण्डन
प्रवक्ता, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

**संकाय सदस्य**
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. जवरी मल पारख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम

**संयोजक एवं सम्पादक**
डॉ. पूरन चन्द टण्डन
(खंड संयोजक)

श्रीमती सिता चतुर्वेदी — पाठ्यक्रम संयोजक एवं
डॉ. पूरन चन्द टण्डन — सम्पादक

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एम.पी. शर्मा
संयुक्त कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1992 (पुनर्मुद्रण)
*© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991.*
ISBN-81-7091-790-5

UGHI-103/246

*सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।*

# खंड पाँच का परिचय

हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम-III का यह पाँचवा खंड "रीतिकालीन काव्य" आपके समक्ष है। "रीतिकाल" हिंदी साहित्य के "उत्तर मध्यकाल" को कहा जाता है। भक्ति की अनुराग, निष्ठा एवं भावनात्मक उद्वेग से प्रेरित-कविता के बाद का कालखंड (संवत् 1700 से 1900 तक) रीतिकाल इसलिए कहलाया कि रीति अर्थात् परिपाटी विशेष पर काव्य-सृजन इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति बना। इस युग के अधिकांश कवियों ने दरबारी-संस्कृति को जीते-भोगते हुए कवि कर्म के साथ आचार्य कर्म भी बाखूबी निभाया और संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा को जीवित रखते हुए हिन्दी तक पहुँचाया। ये कवि-शिक्षक एवं कवि-आचार्य, काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, छन्द, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, काव्य गुण, काव्य-दोष तथा नायक-नायिका भेद आदि विषयों पर एक विशेष "रीति" का अनुसरण करते हुए काव्य-सृजन कर रहे थे। इनमें विविधांग निरूपक, एकांग निरूपक अथवा सर्वांग निरूपक कवि आचार्य देखे जा सकते हैं।

इस युग के परिवेश तथा परिस्थितियों ने सुरा-सुराही-सुन्दरी की पृष्ठभूमि में शृंगार-प्रधान काव्य-सृजन की आधारशिला रखी। दरबारी राजाओं एवं आश्रयदाताओं ने शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों पर काव्य-सृजन करने वालों को पुरस्कृत कर उनका मनोबल बढ़ाया। परिणामतः इस युग में शृंगार रस रसराज के साथ-साथ साहित्य-राज भी बन बैठा। रीतिकाल में रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त तथा रीतिइतर भक्ति, नीति, वीर, प्रशस्ति, प्रकृति एवं वैद्यक आदि विषयक काव्य-प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इन सभी काव्य प्रवृत्तियों को युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास इस खंड में किया गया है। इससे पहले के खंडों में आप आदिकाल तथा भक्तिकाल का विस्तृत एवं गहन विवेचन कर चुके हैं।

यह खंड चार इकाइयों में विभक्त है। प्रथम इकाई (संख्या 14) "रीतिकालीन काव्य की परिस्थितियाँ" हैं और इसके अंतर्गत सर्वप्रथम रीतिकाल के अर्थ तथा स्वरूप को स्पष्ट करते हुए नामकरण, काल सीमा और उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसके वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। इस विवेचन से आगे की तीनों इकाइयों को समझने-परखने में सहायता मिलेगी। इसके बाद रीतिकाल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि ये परिस्थितियाँ युगीन साहित्य एवं साहित्यकार को किस तरह और क्यों प्रभावित करती हैं। परिस्थितियों से ही साहित्य के स्वरूप का निर्धारण होता है और इसके प्रमाण आगे की तीनों इकाइयों में उपलब्ध भी होते हैं। अंत में रीतिकालीन साहित्य और कला की स्थिति पर भी विवेचनात्मक दृष्टि डाली गई है।

इस खंड की दूसरी इकाई (संख्या 15) "रीतिकाल काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ" है। इसके अंतर्गत युगीन पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए "प्रवृत्ति" शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। रीतिकालीन काव्य की रीति-निरूपण, शृंगारिकता, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति, प्रकृति आदि विभिन्न प्रवृत्तियों की सोदाहरण विवेचना की गई है। तदोपरान्त रीतिकालीन काव्य की विशेषताओं की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

तीसरी इकाई (संख्या 16) "रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य" है। इस इकाई में सबसे पहले "रीति" शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध के अंतर की व्याख्या की गई है। इसके बाद रीतिकाल के प्रमुख रीतिबद्ध कवि एवं रीतिसिद्ध कवियों की चर्चा करते हुए उनकी कृतियों का विवरण दिया गया है। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के शृंगार, प्रशस्ति, भक्ति और दर्शन, नीति तथा प्रवृत्ति आदि वर्ण्य विषयों की समीक्षा करते हुए रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध काव्य की प्रमुख विशेषताओं को दर्शाया गया है।

चौथी और अंतिम इकाई (संख्या 17) "रीतिमुक्त काव्य एवं अन्य प्रवृत्तियाँ हैं। इस इकाई में रीतिमुक्त काव्य की शृंगार एवं प्रेम प्रधान काव्यधारा के प्रमुख कवियों एवं उनकी कृतियों की चर्चा करते हुए रीतिमुक्त काव्यधारा की प्रमुख विशेषताओं की व्याख्या की गई है। इस इकाई के दूसरे हिस्से में रीतिकालीन रीतिमुक्त अथवा रीतिस्वच्छन्द काव्यधारा की शृंगार एवं प्रेम से इतर भक्ति, नीति, वीर एवं प्रशस्ति आदि कतिपय अन्य प्रवृत्तियों की विवेचनात्मक समीक्षा की गई है। अंत में रीतिकाल के प्रदेय को भी स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार यह खंड सम्पन्न होता है। प्रत्येक इकाई में बोध प्रश्न तथा अपेक्षित उत्तर या संकेत भी दे दिए गए हैं। अतिरिक्त अध्ययन सामग्री की दृष्टि से उपयोगी पुस्तकों के नाम भी सुझाए गए हैं। आप इस पूरी सामग्री के गहन अध्ययन से अवश्य लाभान्वित होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

# इकाई 14 रीतिकालीन काव्य की परिस्थितियाँ

## इकाई की रूपरेखा


14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 रीतिकाल : अर्थ एवं स्वरूप
  14.2.1 नामकरण एवं कालसीमा
  14.2.2 उपलब्ध सामग्री : मूलस्रोत एवं वर्गीकरण
14.3 रीतिकाल की परिस्थितियाँ
  14.3.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ
  14.3.2 सामाजिक परिस्थितियाँ
  14.3.3 धार्मिक परिस्थितियाँ
  14.3.4 सांस्कृतिक परिस्थितियाँ
14.4 रीतिकालीन साहित्य एवं कला की स्थिति
14.5 सारांश
14.6 उपयोगी पुस्तकें
14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 14.0 उद्देश्य

रीतिकाल हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग (भक्तिकाल) के बाद का वह महत्वपूर्ण काल है जिसमें काव्य की विविध प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ एक साथ देखने को मिलती हैं। उत्तर मध्य काल कहलाने वाली इस काव्यधारा के लगभग दो सौ वर्षों में लिखे गये काव्य तथा युगीन कवि एवं आचार्यों को पृष्ठभूमि देने वाली विविध स्थितियाँ परिस्थितियों का विश्लेषण इस इकाई में किया जा रहा है। इस इकाई के अध्ययन से आपः

- रीतिकाल के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कर सकेंगे;
- रीतिकाल की काल सीमा तथा उसके नामकरण का विवेचन कर सकेंगे;
- रीतिकालीनी उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोतों की चर्चा करते हुए समग्र सामग्री का वर्गीकरण कर सकेंगे;
- परिस्थितियाँ क्या हैं तथा उनकी साहित्य निर्माण में क्या भूमिका होती है, इसकी व्याख्या कर सकेंगे;
- रीतिकाल की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन कर सकेंगे;
- रीतिकालीन-साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने वाली सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को समझा सकेंगे;
- रीतिकाल में साहित्य एवं कला की स्थिति को स्पष्ट करते हुए उसके शास्त्रीय पृष्ठाधार को समझा सकेंगे; तथा
- रीतिकाल काव्य पर परिस्थितियों के प्रभाव की समीक्षा कर सकेंगे।

## 14.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल ही रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। भक्तिकाल के बाद का यह युग अशान्ति और अव्यवस्था का युग रहा है। मुगल शासन की शक्तिहीनता, बाहरी आक्रमणों, प्रादेशिक शासकों के पारस्परिक युद्धों, मराठों एवं सिक्खों के आक्रमणों एवं कम्पनी शासन की राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा के कारण इस युग में हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में अशक्ति और अव्यवस्था का वातावरण बना रहा। इस पूरी स्थिति का अध्ययन हम आगे विवेचित परिस्थितियों में विस्तार से करेंगे।

यहां केवल यह स्पष्ट करना उद्देश्य है कि हिन्दी साहित्य का यह कालखंड बहुत से आक्षेपों-आरोपों का युग रहा है। शृंगार प्रधान काव्य तथा नायक-नायिका भेद, नख-शिख-वर्णन एवं विविध क्रीड़ाओं का रसमयी शैली में विवेचन इसमें किया गया। इस युग का अधिकांश काव्य किन परिस्थितियों से चालित एवं प्रेरित होता रहा, इसकी समीक्षा करना ही यहाँ लक्ष्य रहा है।

वास्तव में परिस्थितियाँ साहित्य सृजन की प्रभावी प्रेरणा तो बनती ही है, साहित्यकार एवं कला-प्रेमियों की दिशा-निर्देशिका का कार्य भी करती हैं। इसी प्रकार परिस्थितियों को बदलने-लांघने का साहसपूर्ण कार्य भी साहित्यकार ही करता है। कह सकते हैं कि दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। संपूर्ण विश्व के एवं सभी भाषाओं के साहित्य पर परिस्थितियों के प्रभाव को देखा-समझा जा सकता है।

रीतिकालीन साहित्य में भक्ति जैसी प्रमुख प्रवृत्ति का स्थान शृंगार ले लेती है और उस शृंगार के वैविध्य सम्पन्न वर्णन पर अनेकों आरोप-आक्षेप लगाकर उसे अश्लील या घोर शृंगारी भी कहा जाता है। परन्तु ऐसा क्यों? इस युग का कवि या साहित्यकार घोर शृंगारी क्यों हुआ? उसने ऐसी ही कविता लिखने की प्रेरणा कहाँ से और क्यों पाई? उसके शृंगारी काव्य सृजन को प्रोत्साहन किसने दिया? ऐसे कितने ही प्रश्नों का उत्तर है इस युग की परिस्थितियाँ और तात्कालिक परिवेश।

रीतिकाल में केवल शृंगारी काव्य का ही सृजन हुआ हो यह भी सत्य नहीं। शृंगार के अतिरिक्त अन्य कई प्रवृत्तियाँ भी इस युग के काव्य में देखने को मिलती हैं जिनका विस्तृत विवेचन आप इसी खंड की अन्य इकाइयों में कर सकेंगे। यह इस खंड की पहली इकाई है जिसके अन्तर्गत आप इस युग के काव्य को प्रभावित प्रेरित करने वाली विविध परिस्थितियों का तथा तात्कालिक परिवेश का विस्तृत अध्ययन करेंगे। इन्हीं परिस्थितियों का प्रभाव आप आगामी तीनों इकाइयों में यथास्थान देख सकेंगे। अतः अब हम रीतिकालीन साहित्य को प्रभावित करने या उसकी प्रेरणा बनने वाली राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थतियों का प्रामाणिक विश्लेषण करेंगे।

इससे पहले के चार खंडों में आप साहित्य और इतिहास के संबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन, नामकरण एवं काल सीमा-निर्धारण आदि का पर्याप्त अध्ययन कर चुके हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास का क्रमिक विकास अर्थात् आदिकाल, भक्तिकाल एवं भक्तिकाल की प्रमुख काव्य-धाराओं का विवेचन आपने पिछले चार खंडों में क्रमशः किया है। यह इस पाठ्यक्रम का पाँचवा खंड है जिसमें रीतिकालीन काव्य पर चार इकाइयाँ प्रस्तुत की गई हैं।

हालांकि रीतिकाल के नामकरण एवं कालसीमा तथा उसकी उपलब्ध सामग्री के वर्गीकरण का अध्ययन आप प्रथम खंड में भी कर चुके हैं किन्तु यहाँ हम रीतिकाल का अर्थ समझते हुए इस युग के काव्य का स्वरूप भी जान लें तो बेहतर होगा। अतः उसी परिप्रेक्ष्य में हम परिस्थितियों का विश्लेषण भी कर सकेंगे। इस जानकारी से आगामी तीन इकाइयों की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट हो सकेगी। इसी के अन्तर्गत हम नामकरण, कालसीमा तथा सामग्री के वर्गीकरण की जानकारी भी हासिल कर सकेंगे। तो आइये, परिस्थितियाँ जानने से पहले रीतिकाल के अर्थ एवं स्वरूप को जान लें।

## 14.2 रीतिकाल : अर्थ एवं स्वरूप

हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 (संवत् ईसवी सन् से 57 वर्ष बड़ा या अधिक होता है) तक का समय रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। यह भक्तिकाल के बाद का तथा आधुनिक काल से पहले का काल खंड है। लगभग 200 वर्षों के इस काल में भारत में मुगलों का राज्य था। मुगल बादशाहों के उत्कर्ष को उनके वैभव विलास तथा विजय-वृत्तान्तों से भी देखा जा सकता है। युद्ध से अवकाश मिलते ही हमें समर्थ-शासक विलासिता की नदी में तैरने लगते थे। शाहजहाँ के समय से ही रीतिकाल का प्रारम्भ भी देखा जाता है। शाहजहाँ के इसी समय से मुगल शासकों का उत्कर्ष-बिन्दु से धीरे-धीरे नीचे उतरना तथा हिन्दी साहित्य में काव्य का भक्ति वैभव के चरण से या स्वर्णयुग से नीचे उतरते हुए क्षयग्रस्त होना भी सहज ही देखा जा सकता है। अतः मुगल साम्राज्य और हिन्दी काव्य के हासोन्मुख होने का युग था रीतिकाल।

मध्यकालीन समाज सामन्तवादी पद्धति का समाज था। उच्च वर्ग के राजाओं तथा सामन्तों का जीवन वैभव का जीवन था। पुष्प, इत्र, गंध, फव्वारे, उद्यान, रमणीय-विहार-स्थल राजाओं-सामान्तों को तृप्ति प्रदान करते थे तो सुरा-सुराही और सुंदरी जैसी विलासी सामग्रियों के कारण वे नैतिक चेतना विमुख होते जा रहे थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा भी है — "शृंगार-वर्णन को बहुत से कवियों ने अश्लील की सीमा तक पहुँचा दिया। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाताओं की रुचि थी, जिनके लिए वीरता और कर्मण्यता का जीवन बहुत कम रह गया था"।

रीतिकालीन मुगल बादशाह शाहजहाँ के राज्यकाल में कवि और कलाकारों को दरबारी आश्रय तथा प्रोत्साहन मिलता था। शाहजहाँ की अपनी रुचि भी स्थापत्य-कला, चित्रकला, संगीत तथा काव्यादि में विशिष्ट थी। आर्थिक-मोह तथा कला-संरक्षण ने कवियों कलाकारों को दरबारी बनाया तो कविता और कला भी दरबारी बनते चले गए। कवि और कलाकारों की तरह कविता और कला की आश्रित या परमुखापेक्षी होती चली गई। आश्रयदाताओं का मनोविनोद तथा कवियों की अर्थ-प्राप्ति एक दूसरे के पूरक बनते चले गए। काव्य रचना अब राजाओं की रुचि एवं इच्छा के अनुरूप ही होने लगी। कवियों ने आश्रयदाताओं को तृप्त एवं प्रसन्न करने के लिए शृंगारी रचनाओं का सृजन जी भर के किया। राजाओं की वासना-तृप्ति ने कविता का उद्देश्य तथा स्वरूप बदल डाला।

कवियों से काव्य शिक्षा ग्रहण करना भी राजाओं आश्रयदाताओं की रुचि में शामिल हो गया। परिणामतः संस्कृत लक्षणों को ध्यान में रखकर कवियों ने आचार्यत्व धर्म का मोह पाला और वे काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी करने लगे। इसी युग में कुछ रीतिइतर काव्य परम्पराएँ भी मिली जो कि भक्तिकालीन परम्पराओं गौण-विस्तार भी कही जा सकती हैं। ऐसी काव्य धाराओं में भक्तिपरक (कृष्ण एवं राम संबंध) ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, नीतिपरक, वीरकाव्य परक, प्रकृति, राजप्रशस्ति, वैधक एवं चिकित्सा संबंधी तथा ज्योतिष संबंधी काव्य-सृजन भी चलता रहा, परन्तु यह अत्यंत गौण रहा। मुख्य रूप से रीतिकाल में "शृंगार" की प्रवृत्ति ही मुखर रही। रीतिबद्ध, रीतिमुक्त तथा रीतिसिद्ध — तीनों प्रकार के काव्य में यही प्रवृत्ति प्रमुख बनी रही। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे की तीनों इकाइयों में यथासमय करेंगे।

अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकालीन-परिवेश तथा युगीन परिस्थितियों की आधार-शिला पर स्थापित होने के कारण ही इस साहित्य का यह स्वरूप निर्मित हुआ। मुगल शासकों के प्रभाव स्वरूप ही फारसी भाषा तथा साहित्य का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। फारसी साहित्य की विरह-व्यंजना को रीतिमुक्त कविता के मूल में देख सकते हैं तो अरबी-फारसी शब्दावली के अतिरेक को ब्रजभाषा के समाहित रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार संस्कृत की काव्य शास्त्रीय परम्परा के आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के सभी आचार्यों तक उनके — अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि सम्प्रदायों के प्रभाव को भी रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में देखा जा सकता है। अलंकार-निरूपण रस-विवेचन, नायक-नायिका भेद तथा नख-शिख-वर्णन आदि का जो विशाल भंडार इस युग के साहित्य में उपलब्ध है, वह संस्कृत की परम्परा का पोषक ही कहा जा सकता है। इसकी प्रेरणा भी वही है।

अतः ऐसे काल खंड में जिस काव्य तथा प्रमुख प्रवृत्तियों को निर्मित किया गया उसकी प्रमुख परिस्थितियों का विस्तृत एवं विश्लेषित अध्ययन करना अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी जान पड़ता है। अब हम उसी अनिवार्यता के निर्वाह की ओर अग्रसर हों, इससे पहले रीतिकाल के नामकरण और कालसीमा तथा उपलब्ध सामग्री के वर्गीकरण पर भी दृष्टि डाल लें तो उचित होगा।

## 14.2.1 नामकरण एवं कालसीमा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को "रीतिकाल" कहा है। उनके अनुसार दिए गए "रीतिकाल" नाम में "रीति" शब्द एक विशेष प्रकार की "पद-रचना" या परिपाटी का सूचक है। रीति वास्तव में एक प्रणाली या प्रस्तुति का ढंग है। इस युग के कवियों ने एक निश्चित या विशिष्ट प्रणाली को दृष्टिगत रखते हुए काव्य-रचना की। यह प्रणाली ऐसी थी जिसमें सर्वप्रथम कवि आचार्य धर्म का निर्वाह करते हुए काव्य-रचना की रीति या लक्षण प्रस्तुत करते थे और फिर उसके अनुरूप ही उदाहरणों की रचना। ये उदाहरण उनके अपने रचे हुए भी होते थे और कभी दूसरे कवियों के भी दे दिये जाते थे। अतः लक्षण बताकर उदाहरण देने की प्रवृत्ति इसी युग में एक परम्परा-सी बनती चली गई। इन उदाहरणों में अधिकांश शृंगारी होते थे। इसीलिए अधिकांश कवियों ने अलंकार, रस, नायक-नायिका-भेद, ध्वनि, गुण, दोष आदि के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत कर एक विशिष्ट रीति सी डाल दी और इसी रीति का पालन दौ सौ वर्षों तक किया जाता रहा। यही कारण है कि कवि-शिक्षा देने या लाक्षणिक ग्रंथ लिखने के कारण इन कवियों को आचार्य या आचार्य-कवि भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि विशिष्ट "काव्य रीति" के पालन एवं "रीति-काव्य" सृजन के आधिक्य के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इस काल खंड को "रीतिकाल" नाम दिया। शुक्ल जी को यह नाम रीतिकालीन कवियों की वाणी से ही मिल गया था। आचार्य भिखारीदास ने लिखा भी है — "काव्य की रीति सिखी सुकवीन सौं" (अर्थात् मैंने काव्य की रीति कवियों से ही सीखी है)। इसी प्रकार अन्य बहुत से कवियों ने भी "रीति" या "काव्यरीति" शब्द का प्रयोग काव्य रचना की प्रणाली के अर्थ में किया है। रीतिकाल के कवियों का बहुत बड़ा वर्ग या बहुत अधिक संख्या इसी प्रवृत्ति को प्रमुख बना रही थी, अतः शुक्ल जी का यह नामकरण अत्यंत सटीक, सारगर्भित एवं अर्थवान बन गया।

यों मिश्रबन्धुओं ने अपने इतिहास ग्रंथ "मिश्रबन्धु-विनोद" में इस काल को "अलंकृत काल" नाम दिया है। पर इस नाम से यह प्रतीत होता है कि इस काल में केवल अलंकार आदि को ही प्रमुख प्रवृत्ति मान लिया गया है। जबकि यह उचित भी नहीं और तर्क संगत भी नहीं। अलंकार-वर्णन के अतिरिक्त जो अन्य शृंगार, नीति, रीति, वीर, राजप्रशस्ति, प्रेम आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उनकी अवहेलना हो जाती है। यों भी अलंकार-काव्य की मात्रा अनुपात में भी इन सबसे अधिक नहीं। अतः यह नाम सामग्रतः या अधिकांशतः प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता।

शुक्ल जी के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस काल को "शृंगार काल" कहना अधिक उचित समझा। यों आचार्य शुक्ल ने भी इसे शृंगार-काल कहे जाने पर अपनी अनापत्ति की घोषणा की थी। किन्तु इस नाम से यह आभास मिलता है कि इस काल में केवल शृंगार रस को लक्ष्य बनाकर काव्य सृजन किया जाता रहा। जबकि शृंगार के अतिरिक्त अन्य काव्यांगों तथा प्रवृत्तियों का भी पर्याप्त विवेचन वर्णन किया गया है। ध्वनि और वक्रता, अलंकार और रीति, वीर और प्रशस्ति आदि से सम्बद्ध काव्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता। शृंगार की प्रवृत्ति इस युग में प्रमुख है और शृंगार संबंधीकाव्य परिमाण में भी पर्याप्त है परन्तु यह भी भुलाया नहीं जा सकता कि इस युग के बहुत से कवियों ने शृंगार को प्रमुखता नहीं दी। बहुत से कवियों ने लक्षण-ग्रंथ लिख कर भी शृंगार को कोई स्थान नहीं दिया। नीति, भक्ति, प्रवृत्ति के ऐसे कई ग्रंथ भी हैं जहाँ शृंगार उपलब्ध

नहीं है। फिर शृंगार वर्णन भी राजा या आश्रयदाताओं की रुचि को केन्द्र में रखकर ही किया गया, स्वेच्छा से नहीं। तभी तो कवियों को यह भी कहना पड़ा —

आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई न तो
राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है।

अर्थात् आगे के कवि रीझें तो यह कविता है अन्यथा राधा-कृष्ण के स्मरण का बहाना ही सही। अतः शृंगार काल नाम भी पूरी तरह से उपयुक्त एवं सटीक नहीं लगता। इसमें भी अव्याप्ति दोष है।

रही बात "रीतिकाल" नामकरण की। यह कहीं अधिक वैज्ञानिक और संगत है। इस युग में रीतिसंबंधी ग्रंथ तो अधिक लिखे ही गए साथ ही इस युग के कवियों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रंथ रचने की रही। फिर शृंगार रस के उदाहरण भी तो लक्षणों के उदाहरण रूप में ही प्रस्तुत किए गए। अतः ये भी रीतिबद्ध काव्य से अधिक दूर नहीं रहे। रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति भक्तिकाल में ही जन्म ले रही थी।

हालांकि "रीतिकाल" नामकरण में भी कुछ दोष हैं। घनानन्द, आलम बोधा, ठाकुर एवं द्विजदेव जैस रीतिमुक्त कवि "रीतिकाल" नामकरण के अंतर्गत समाहित नहीं हो पाते। इन महत्वपूर्ण कवियों पर न तो काव्यशास्त्र का प्रभाव रहा और न ही इन्होंने रीति-निरूपक काव्य ग्रंथों की रचना की। इसी प्रकार सूदन, जोधराज जैसे वीर रस के कवि भी इस नाम के अंतर्गत समाहित नहीं हो पाते। वृन्द आदि नीति-कवियों को भी इस धारा में समाहित नहीं किया जा सकता। पर इन्हें रीतिमुक्त एवं रीतिइतर काव्य वर्गों में रखा जा सकता है। रीतिमुक्त कवियों का शृंगार वर्णन भी संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध शृंगार न होकर फारसी की प्रेमाभिव्यक्ति का ही एक, प्रकार कहा जा सकता है। अतः "शृंगार काल" कहने पर भी रीतिमुक्त काव्य धारा के साथ न्याय नहीं हो पाता। फिर शृंगार काल कहने पर भूषण आदि राजप्रशस्ति के उत्कृष्ट कवि और जसवन्तसिंह जैसे प्रसिद्ध कवि-शिक्षक आचार्य भी फुटकल खाते में चले जाते हैं। यह भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

अतः स्पष्ट है कि विषय-चयन एवं विस्तार-वर्णन के आधार पर इस काल को रीति-काल कहना ही उचित लगता है। यह नाम अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोषों से तो मुक्त है साथ ही अधिकांश कवियों द्वारा शृंगार को न्यूनाधिक रूप से ग्रहण करना भी तो एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति (रीति) के अंतर्गत ही आता है। अनेक रीति-आचार्यों के रीति-निरूपण संबंधी ग्रंथ भी इसी बात का प्रमाण हैं। कुल मिलाकर रीतिकाल नाम ही अधिक समीचीन लगता है। इसी के काव्यशास्त्रीय नियमों पर चलकर लिखने की विशेष प्रवृत्ति का बोध भी होता है। रीतिमुक्त कवियों पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में "रीति" के प्रभाव को देखा जा सकता है। बिहारी आदि रीतिसिद्ध कवियों पर तो यह प्रभाव रहा ही। इसका विस्तृत विश्लेषण आप आगे की इकाइयों में कर सकेंगे। अब रीतिकाल की काल सीमा पर भी थोड़ी सी चर्चा कर लें।

किसी भी काव्य धारा या साहित्य धारा की काल सीमा निर्धारित करते समय एक निश्चिय दिन, माह या वर्ष का निर्धारण कर पाना सहज-संभव नहीं होता। यों भी काव्यधारा या प्रवृत्ति विशेष को बीजारोपण सा निश्चित समय दो-तीन सौ वर्ष बाद सही-सही खोज पाना अत्यंत दुष्कर एवं दुःसाध्य कार्य है। आचार्य शुक्ल ने "रीतिकाल" की समय-सीमा विक्रमी संवत् 1700 से 1900 (सन् 1643 से 1843 ई.) तक मानी है। शुक्ल जी के बाद के लगभग सभी आचार्यों ने इस अवधि को स्वीकारा भी है। कुछ विद्वान आचार्यों ने प्रवृत्ति विशेष के आधार पर रीतिकाल का प्रारंभ आचार्य केशव के समय से अर्थात् संवत् 1700 से 50 वर्ष पूर्व से माना है। आचार्य केशव का युग यों भक्तिकाल रहा है। परन्तु रीतिकाल के प्रथम आचार्य के विवाद स्वरूप कवि केशवदास और चिन्तामणि को लेकर तर्क-वितर्क होते रहे हैं। इन दोनों आचार्यों के रचनाकाल में लगभग 50 वर्षों का अन्तराल रहा है।

काल-सीमा निर्धारित करने के लिए संगत यही रहता है कि युग की प्रवृत्ति-विशेष की अविच्छिन्न विकास परम्परा के आरंभ तथा चरम सीमा के समापन को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाए। आचार्य शुक्ल ने चारों कालों का विभाजन इसी आधार पर किया है। परन्तु फिर भी एक निश्चित समय (या वर्ष) से इसे निर्धारित करना न्यायसंगत नहीं लगता। लगभग 20-25 वर्षों का अंतर (छूट) तो दो प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों (धाराओं) के बीच रखकर या मानकर ही चलना चाहिए। यह ठीक है कि आचार्य केशव के रचनाकाल (सन् 1591 ई. में रसिक प्रिया की रचना) में ही रीतिकाव्य-सृजन की परम्परा (बीज) डल चुकी थी परन्तु अविच्छिन्न रूप से रीति-निरूपण विषयक ग्रंथों की रचना चिन्तामणि के रचनाकाल (सन् 1643 ई.) से ही प्रारंभ हुई। अतः केशव दास से रीतिकाव्य परम्परा के स्रोत खोजे जा सकते हैं परन्तु समय-सीमा के आधार पर उन्हें भक्तिकाल के उत्कर्ष का कवि-आचार्य ही माना जा सकता है। इसी तरह रीतिकाल के अंतिम प्रौढ़ आचार्य प्रताप साहि माने जाते हैं और उनके रचनाकाल का उत्कर्ष सन् 1843 ई. के लगभग निश्चित किया जाता है। अतः रीतिकाल का प्रारंभ संवत् 1700 से तथा समापन संवत् 1900 तक माना जाता है अर्थात् सन् 1643 से लेकर सन् 1843 ई. तक के 200 वर्षों का समय रीतिकाल के रूप में जाना गया। यों साहित्य धारा या काव्य-प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि बनने उभरने में और समाप्त होने में 10-20 वर्ष पहले या पीछे घट-बढ़ भी सकते हैं।



## 14.2.2 उपलब्ध सामग्री : मूलस्रोत एवं वर्गीकरण

आचार्य शुक्ल, ने जब "हिंदी साहित्य का इतिहास" लिखा तो उनके सामने प्रत्येक युग की बहुत सी महत्वपूर्ण

कृतियाँ अनुपलब्ध या खंडित रहीं। रीतिकालीन कवियों की भी बहुत सी रचनाएं तब तक उपलब्ध न थीं। आज तक भी वैज्ञानिक एवं शोधात्मक दृष्टि से रीतिकाल की मूल पांडुलिपियों या प्रतियों की खोज जारी है। अतः रीतिकाल में कुल कितने कवि काव्य सृजन करते रहे या कितने ग्रंथ लिखे गए, यह बताना आज भी संभव नहीं। इसका निर्णय हम केवल उपलब्ध कृतियों के आधार पर ही ले सकते हैं। आज भी बहुत से कवि या कृतियाँ ऐसी हैं जिनके नाम तो हैं पर उनसे संबद्ध कोई ठोस या प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनसे सम्बद्ध जानकारी, विवरण या मूल पाण्डुलिपियाँ आज भी पुस्तकालयों, निजी संग्रहालयों या शोध संस्थानों में छिपी हैं। अतः सामग्री-विभाजन का निर्णय भी अंतिम तो नहीं कहा जा सकता। हो सकता है किसी युग की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हों और साहित्य-इतिहास लेखकों के समक्ष पुनर्विचार की चुनौती खड़ी हो जाए। रीतिकालीन ग्रंथों की विवरणिकाएं या हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियाँ भी बहुत सी ऐसी हैं जो अन्य ग्रंथों, कवियों, रचनाओं की जानकारी देती हैं। बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ भी जगह-जगह सुरक्षित हैं। कितने ही ग्रंथ संभवतः असुरक्षा या अव्यवस्था के कारण नष्ट या लुप्त भी हो गए होंगे। परन्तु यहाँ हम उपलब्ध सामग्री के आधार पर देखें तो रीतिकालीन काव्य को अलग-अलग दृष्टियों से विभाजित-वर्गीकृत किया जा रहा है।

आचार्य शुक्ल, ने अपने इतिहास ग्रंथ में इस काल के सभी कवियों को दो भागों बांटा है। एक वर्ग तो ऐसे कवियों का है जिन्होंने समग्रतः या अंशतः रीति-परम्पराओं का पालन किया। दूसरे वर्ग के कवि वे हैं जिन्होंने परम्परा से मुक्त रहकर काव्य सृजन किया। पहले वर्ग के कवियों को शुक्ल जी रीतिबद्ध कवि कहते हैं तथा शेष को वे "फुटकर खाते" के कवि मानते हैं। घनानन्द जैसे या अन्य इतर प्रवृत्तियों के कवियों को फुटकर खाते में डाल देना युक्त प्रतीत नहीं होता।

शुक्ल जी के बाद के विद्वानों ने रीति-परम्परा को स्पष्टतः अपनाने, काव्य में इसके प्रत्यक्षतः या परोक्षतः पालन करने तथा इनसे सर्वथा मुक्त रह कर भी रस-दृष्टि से सम्पृक्त रहने के आधार पर रीतिकाल को तीन वर्गों में विभाजित किया। ये विभाजन इस प्रकार हैं—

1) **रीतिबद्ध कवि :** ये वे कवि थे जिन्होंने रीतिपरम्परा में बंधकर लक्षण-ग्रंथ प्रमुख रूप से लिखे। जो लक्षण इन्होंने प्रस्तुत किए उन्हें स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए उदाहरणस्वरूप अपनी कविता भी प्रस्तुत की। चिन्तामणि, मतिराम, देव, भिखारीदास, सोमनाथ, जसवंतसिंह आदि इसी प्रकार के कवि हैं।

2) **रीतिसिद्ध कवि (रससिद्ध कवि) :** ऐसे कवि जिन्होंने लक्षण बताने वाले ग्रंथ तो नहीं लिखे, फिर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस परम्परा की मान्यताओं का अपने काव्य में उपयोग किया और सृजन के क्षणों में उनका प्रायः पूर्ण ध्यान भी रखा। बिहारी, सेनापति आदि इस प्रकार के कवि हैं।

3) **रीतिमुक्त कवि :** इन कवियों ने न तो लक्षण ग्रंथों की रचना की और न रीतिकालीन परम्पराओं को ही निभाया। इस प्रकार के दबाव से पूर्णतः स्वतंत्र रहकर विशुद्ध शृंगार की आत्मानुभूतिपरक कविता लिखी। विरक्ति-भावना और प्रकृति-चित्रण से संबंधित मुक्त काव्य रचने वाले ये रीतिमुक्त कवि निज प्रेम की पीड़ा को गाते-सुनाते रहे। इस तरह के कवियों में घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा एवं द्विजदेव जाने जाते हैं।

इस विभाजन से भिन्न थी रीतिकाल की उपलब्ध सामग्री को वर्गीकृत करने के प्रयास किये जाते रहे हैं। रूप-विधानुसार इस काल की काव्य सामग्री को तीन वर्गों में रखा गया है। चौथे वर्ग में रीतिकाल की गद्य रचनाओं को रखा गया है —

1) **मुक्तक रचनाएं :** काव्यांगों के निरूपण के लिए या काव्यशास्त्र के नियमों की दृष्टि में रखकर रचे गए स्फुट छन्दों की रचनाएँ इस वर्ग में आती हैं। इनमें चिंतामणि कृत रसविलास, कविकुलकल्पतरू, मतिराम कृत रसराज, ललितललाभ, सतसई, वृत्रकाँमुदी भूषण कृत शिव राजभूषण, शिवाबावनी, बिहारी, सतसई, तोष की सुधा निधि, जसवन्त सिंह कृत भाषा भूषण, कुलपति मिश्र कृत रहरहस्य, वृन्द की नीति सतसई, आलम कृत आलम केलि, सुदामाचरित, कालिदास, त्रिवेदी कृति वारवधूविनोद, देव कृत भावविलास, भवानीविलास, घनानन्द कृत सुजानहित प्रबंध, रश्कलता, यमुनायश तथा इसी प्रकार रसनिधि, गोविन्दसिंह, चारी साहब, सूरति मिश्र, श्रीपति, रसलीन, सोमनाथ, दुलह, भिखारीदास, बोधा, रसिकगोविन्द, पद्माकर, ठाकुर, ब्रजनिधि, अमीरदास तथा द्विजदेव आदि बहुत से कवियों की काव्य रचनाएँ इस वर्ग में आती हैं। इस वर्ग के कवि तथा ग्रंथ परिमाण में सर्वाधिक हैं।

2) **प्रबन्धकाव्य :** इस वर्ग में वे सभी रचनाएँ आती हैं जिनमें प्रसिद्ध या काल्पनिक कथा, घटना, प्रसंग या चरित्र को कथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें चिन्तामणि कृत रामायण, कृष्णचरित गोविन्दसिंह का दशावतारचरित, कुलपति मिश्र का संग्रामसार, सूरति मिश्र का रामचरित, सोमनाथ कृत पंचाध्यायी, सुजानविलास, ब्रजेन्द्र विनोद, बोधा कृति विरहवारीश, सूदन कृत सुजानचरित, चन्दन कृत कृष्ण काव्य, पद्माकर कृत हिम्मतबहादुर विरूदावली, ग्वाल कृत हम्मीरहठ तथा विजयविनोद आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई प्रबंधकाव्य मिलते हैं पर इनकी संख्या स्फुट काव्य-रचनाओं की तुलना में कम है।

3) **नाटक :** इस वर्ग में संस्कृत प्रसिद्ध नाटकों के पद्यानुवाद रखे जाते हैं। इनकी संख्या प्रबंधकाव्यों से भी कम है। इस वर्ग में जसवन्तसिंह कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, रामकृत हनुमान नाटक, नेवाज कृत शकुन्तला

4) **गद्य रचनाएँ :** इस वर्ग में कथा, कहानी, वार्ता, जीवनी आदि के रूप में गद्य रचनाओं के साथ आयुर्वेद, ज्योतिष व्यवसाय या वाणिज्य, कृषि, शकुन-विचार आदि की पक्षबद्ध एवं गद्यबद्ध रचनाओं को रखा जा सकता है।

(विभाजन की विस्तृत जानकारी के लिए देखिये : हिंदी साहित्य का उत्तरमध्यकाल : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार)।

इसी प्रकार रीतिकालीन काव्य के वर्ण्य-विषयों की चर्चा करते हुए उसे भी कई तरह से विभाजित किया गया। आश्रय प्राप्त कवियों की कविता को शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति और दर्शन, प्रकृति, नीति तथा इतर-विषयों में विभाजित कर देखा जाता रहा।

प्रमुख प्रवृत्तियों की दृष्टि से रीति निरूपण तथा शृंगार वर्णन के रूप में और गौण प्रवृत्तियों की दृष्टि से राजप्रशस्ति, वीर, भक्ति, नीति एवं प्रकृति आदि काव्य प्रवृत्तियों के रूप में भी विभाजित किया गया।

एक अन्य विभाजन के आधार पर प्रकृति-विश्लेषण करते हुए रीतिकालीन काव्य के रीति निरूपक कवियों (रीतिबद्ध) के वर्ग में अलंकार, रस, छन्द, गुण-दोष, ध्वनि आदि विभिन्न काव्यांगों का निरूपण करने वाले सर्वांगनिरूपक या विविधांग निरूपक कवि आचार्यों को रखा गया तथा इसी के अंतर्गत दूसरे नम्बर पर केवल छन्द या अलंकार या गुण-दोष आदि में से किसी विशिष्ट अंग का निरूपण करने वाले विशिष्टांग-निरूपण कवि-आचार्य के रूप में बांटा गया।

रस की दृष्टि से शृंगार, करूण, हास्य या वीरादि सभी रसों का वर्णन करने वाले सर्वरस निरूपक, केवल शृंगार रस का वर्णन करने वाले शृंगार-निरूपक तथा नायक-नायिका भेद मात्र करने वालों को भी अलग-अलग वर्गों में रखा गया।

इनके अतिरिक्त सन्त कवि, सूफी कवि, राम भक्त तथा कृष्ण भक्त कवियों को, नीति परक काव्य लिखने वाले, वीर काव्य लिखने वाले, राजप्रशस्ति, चिकित्सा, वैद्यक, ज्योतिष एवं अन्य प्रकार की कृतियाँ लिखने वाले कवियों को रीतिइतर काव्य श्रेणी में रखा गया।

अतः स्पष्ट है कि जैसे-जैसे रीतिकालीन साहित्य की खोज बढ़ती गई और नए-नए कवि तथा दुर्लभ कृतियाँ मिलती गईं वैसे-वैसे साहित्य का वर्गीकरण भी वैज्ञानिक सूक्ष्म तथा विवेच्य होता गया। यों मूलतः रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त काव्य का विभाजन ही केन्द्र में रहा किन्तु इन्हें भी विवेचित विश्लेषित करते हुए वर्गीकृत किया गया तो वैविध्य होता चला गया। आगे की तीनों इकाइयों में आप इन तीनों काव्यधाराओं के साथ अन्य (रीतिइतर) प्रवृत्तियों का भी अध्ययन करेंगे। अब आप यह समझा सकते हैं कि रीतिकालीन साहित्य का स्वरूप क्या है और उसे कैसे वर्गीकृत किया जा सकता है। इस साहित्य की निर्मात्री परिस्थितियों का विश्लेषण करना अब अधिक संगत होगा। साहित्य को ध्यान में रखते हुए तथा परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में समझते हुए आप आगे की इकाइयों में इन काव्य-वर्गों का ठीक एवं न्यायसंगत विवेचन कर सकेंगे। तो आइये, अब हम रीतिकालीन काव्य के प्रेरक परिस्थितियों के साथ प्रभावी-परिवेश की समीक्षा करें।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित प्रश्नों में कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए —

   i) परिस्थितियाँ साहित्य-सृजन की प्रभावी प्रेरणा बनकर साहित्यकार का दिशा-निर्देश करती हैं। ( )

   ii) रीतिकाल में केवल शृंगार रस की कविता का ही सृजन हुआ है, अन्य प्रवृत्तियाँ महत्वपूर्ण नहीं रहीं। ( )

   iii) रीतिकालीन मुगल बादशाह शाहजहाँ के राज्यकाल में कवि और कलाकारों को दरबारी आश्रय एवं प्रोत्साहन मिलना बंद हो गया था। ( )

   iv) रीतिकालीन कविता का उद्देश्य एवं स्वरूप राजाओं की वासना-तृप्ति ने बदला, न कि जन-रुचि ने। ( )

   v) रीतिकाल में आश्रयदाताओं का मनोविनोद तथा कवियों की अर्थप्राप्ति दोनों एक दूसरे के पूरक बन गए थे। ( )

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पांच-छह पंक्तियों में दीजिए —

   i) रीतिकाल नामकरण अन्य सभी नामों की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य क्यों हैं?

   .....

   .....

   .....

   .....

.....

.....

ii) रीतिकाल की काल-सीमा क्या निर्धारित की गई है? क्या वह न्यायसंगत है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित प्रश्नों के रिक्त स्थानों की पूर्ति दिए गए विकल्पों में से कीजिए।

i) "शृंगारकाल" नाम हिन्दी साहित्य के जाने-माने विद्वान ..... ने दिया। (हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

ii) अलंकार-निरूपण, रस-विवेचन, नायक-नायिका भेद तथा नख-शिख-वर्णन के विशाल साहित्य की परम्परा रीतिकाल को ..... भाषा के साहित्य से मिली। (प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत)

iii) "रीतिकाल" नाम देने से इस काल की जिस प्रमुख काव्यधारा के साथ अन्याय होता है उसका नाम ..... है। (रीतिसिद्ध काव्यधारा, सर्वांग निरूपी काव्यधारा, रीतिमुक्त काव्यधारा)

iv) रीतिकाल का प्रारंभ अधिकांशतः संवत् ..... से तथा समापन संवत् ..... तक मान लिया गया है। (संवत् 1650, 1900, 1500, 1700, 1591)

v) आचार्य केशव के रचनाकाल का प्रारंभ संवत् ..... में तथा आचार्य चिन्तामणि के रचनाकाल की शुरुआत संवत् ..... में होती है। (संवत् 1700, 1643, 1652, 1591)

4) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पाँच-पाँच पंक्तियों में दीजिए —

i) शुक्ल जी के बाद विद्वानों ने रीतिकाव्य के कवियों को किन तीन प्रमुख धाराओं में बांधकर देखा और उनका स्वरूप क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रूप-विधानुसार रीतिकाल की काव्य सामग्री को किन चार वर्गों में बांटा गया और उनके तीन-तीन प्रमुख कवि या साहित्यकार कौन से थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 14.3 रीतिकाल की परिस्थितियाँ

किसी भी साहित्य के निर्माण में परिस्थितियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कवि या साहित्यकार को प्रेरक-बिन्दु प्रदान करने और उनकी अभिव्यक्ति के लिए परिवेश प्रदान करने का श्रेय परिस्थितियों को ही जाता है। रीतिकालीन साहित्य के संदर्भ में तो परिस्थितयों का अध्ययन-विश्लेषण करना और भी अधिक अपेक्षित जान पड़ता है।

रीतिकालीन समाज में जो घट रहा था उसी से लेखक-वर्ग प्रभावित होकर अपने लेखनी का उपयोग कर रहा था। युगीन घटनाएं साहित्य के स्वरूप को आकार प्रदान कर रही थीं। राजाओं-आश्रयदाताओं की रुचियाँ साहित्यकार को एक खास तरह की मानसिकता दे रही थीं। कवि ने सामाजिक अनुभूति को ही साहित्यिक अभिव्यक्ति बनाकर प्रस्तुत करना प्रारंभ किया। जन-सामान्य की स्थितियों को तथा काव्य एवं कला के स्वरूप को राजाओं की चितवृत्ति के अनुसार ढ़लना पड़ा। युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ इन्हीं चितवृत्तियों तथा मनोवृत्तियों से प्रभावित हुईं और फिर साहित्य तथा साहित्यकार को प्रेरित-प्रभावित किया। अतः रीतिकालीन साहित्य पर या साहित्यकार पर लगने वाले आक्षेपों का उत्तर युगीन परिस्थितियाँ ही बनती हैं। यही साहित्य की दिशा निर्धारित कर कवि या साहित्यकार का मार्ग-प्रशस्त करती हैं। परिस्थितियों के महत्व और उनकी भूमिका के विषय में आप द्वितीय खंड में विस्तार से जान चुके हैं। यहाँ अब सीधे विषय पर आते हुए हम रीतिकाल की परिस्थितियों का विवेचन करते हैं।

### 14.3.1 राजनीतिक परिस्थितियाँ

हिंदी का भक्तिकालीन साहित्य जब अपने चरम उत्कर्ष पर था और रीतिकाल की पृष्टभूमि तैयार होने लगी थी तब अकबर का शासनकाल था। यह काल सर्वांगपूर्णता, शान्ति और सुख-समृद्धि का काल कहा जाता है। अकबर की कूटनीति, शांति-चेष्टाओं और समन्वय भावना ने देश के राजनैतिक वातावरण को शांति, निश्चिन्तता तथा सुरक्षा की स्थितियाँ प्रदान की थीं। किन्तु अकबर के बाद जहांगीर के शासन काल तक आकर राजनीतिक विघटन तीव्रता से प्रारंभ हुआ। राजनीतिक षड्यंत्रों, भयावह युद्धों एवं गृह-कलह के कारण घटित होने वाली रक्तरंजित घटनाओं ने यहाँ के राजनीतिक वातावरण में अस्थिरता उत्पन्न कर दी। अतः राजनीतिक दृष्टि से यह काल मुगलों के शासन के वैभव और चरमोत्कर्ष तथा फिर उत्तरोत्तर ह्रास, पतन और निराशा का युग कहा जा सकता है।

जहांगीर ने अपने शासन काल में राज्य का जो विस्तार किया था, शाहजहाँ ने उसकी अत्यधिक वृद्धि की। परिणामतः उसने उत्तरी भारत के साथ-साथ दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य तक तथा उत्तर-पश्चिम में सिन्ध से असम, अफ़गान प्रदेश तथा दक्षिण के औसा तक एक छत्र साम्राज्य की स्थापना कर ली। यह मुगल शासन का वह काल था जब सुख-वैभव चारों ओर बिखरा था। ताजमहल जैसी यादगारों का निर्माण मुगलों के इसी वैभव तथा कोष-समृद्धि का सूचक है।

किन्तु शाहजहाँ की मृत्यु की अफवाह के बाद उसके पुत्रों के बीच राजसत्ता का संघर्ष प्रारंभ हुआ और यहीं से वैभवशाली साम्राज्य-प्रसाद का ह्रास शुरू हुआ। औरंगज़ेब द्वारा राजनीतिक महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बनाना, अपने भाइयों को कत्ल करवाना और सभी को अविश्वास की दृष्टि से देखना जग-विदित ही है। औरंगज़ेब की धर्मान्धता एवं कट्टरता के साथ-साथ राज्य विस्तार की लिप्सा ने पहले तो राजनीतिक दीवारों में दरार डाली और फिर यही खाई धीरे-धीरे बढ़ती चली गई। इसी अत्याचार के विद्रोह स्वरूप हिन्दू-मुस्लिम नरेश सजग हुए। अस्तित्व रक्षा के लिए विद्रोह करती दक्षिण की मराठा-शक्ति तथा पंजाब की सिक्ख-शक्ति का उदय हुआ।

औरंगज़ेब के बाद सन् 1707 ई. में उसके पुत्रों के बीच भी सत्ता-संघर्ष हुआ। औरंगज़ेब का दूसरा पुत्र मुअज्जम (शाहआलम प्रथम) विजयी होकर गद्दी पर बैठा। यह अपने पिता की तुलना में कुछ उदार था। किन्तु पाँच वर्ष के शासनोपरान्त सन् 1712 ई. में उसकी मृत्यु हुई। अब मुगल साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया। सन् 1759 तक यह स्थिति बनी रही और संघर्ष या दैवीप्रकोप के कारण कोई भी शासक दीर्घकाल तक गद्दी पर न रह सका। परिणामतः विलास-भोग बढ़ता गया और अव्यवस्था तथा अशांति और बढ़ गई। छोटे-छोटे जागीरदार भी अब अपने को स्वतंत्र घोषित कर बैठे।

केवल मुगल राजनीतिक के ही नहीं, मराठों और सिक्खों की राजनीति के उत्थान-पतन भी इस युग को झेलने पड़े। भारतीयों के बंटे होने के कारण रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में आते-आते अंग्रेजों की सत्ता का निरंतर विकास होता गया। परिणामतः मराठों और सिक्खों की पराजय के कारण लोगों में जीवन के प्रति अनास्था जगी तो विलास के प्रति आस्था प्रबल होने लगी। राजाओं के राजदरबार और नवाबों के महल विलासिता के अखाड़े बनकर रह गये। अस्थिरता से उदासीनता बड़ी और असुरक्षा की भावना ने विलासिता को विस्तार दिया। मुगल दरबारों की शान-ओ-शौकत तथा विलासिता की भावना ने युगीन वातावरण को इस रूप में उद्दीप्त कर दिया कि जन-जन की रुचि तथा चित्तवृत्ति शृंगारी होती चली गयी। साहित्य तथा साहित्यकार इसी वातावरण तथा राजनीति का लाभ उठाने के लिए दरबारी बनने लगे।

अकबर के शासनकाल में काव्य, स्थापत्य, संगीत, नृत्य और चित्रकलाओं का जो विकास विस्तार हुआ था वह अब लुप्त होने लगा। इस काल में 1738 के नादिरशाही आक्रमण तथा 1761 ई. के अहमदशाह अब्दाली द्वारा किये गये आक्रमण को झेला। शासन और साम्राज्य की नींव तो पूर्णतः हिल ही चुकी थी। परिणामतः अंग्रेजों ने लाभ उठाया और धीरे-धीरे शक्ति संचय करते हुए वे 1803 ई. तक लगभग पूरे भारत पर आधिपत्य जमा बैठे। अतः औरंगज़ेब के बाद की पुरुषार्थहीन, दब्बू तथा अशक्त पीढ़ी ने सशक्त भारत को खोखला करवा दिया। सन् 1857 की देशव्यापी राज्यक्रांति ने अंतिम निश्फल प्रयास कर विलासी मुगलों को प्रतिष्ठा दिलानी चाही, परन्तु व्यर्थ रहा

अतः इस दौ-ढाई सौ वर्षों के विलास-वैभवपूर्ण मुगल साम्राज्य का अंत अत्यंत कारुणिक रहा। इसी प्रकार अवध, राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड के हिन्दू-रजवाड़ों तथा अवध नवाबों का अंत भी विलास-भोग तथा षड्यंत्रों के कारण ही हुआ। स्पष्ट है कि ऐसी राजनीतिक चालों और गिरते हुए मूल्यों के बीच रचा गया रीतिकालीन साहित्य युग के राजाओं, नवाबों और आश्रयदाताओं के दरबार की नुमाइश बनकर ही रह गया। अराजकता एवं अस्थिरता की स्थितियों में और अपेक्षा भी क्या की जा सकती थी?

## 14.3.2 सामाजिक परिस्थितियाँ

रीतिकालीन युग सामाजिक दृष्टि से भी घोर पतन का युग ही था। सामंतवादी समाज के सभी दोष इस युग में किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। प्रत्येक कर्मचारी और वर्ग अपने से ऊपर वाले वर्ग को प्रसन्न करने में लगा था। भक्तिकालीन युग में तो छूआ-छूत, ऊंच-नीच के भेद को मिटाने का प्रयत्न भी होता रहा पर रीतिकाल तक आते-आते तो जन-सामान्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्गों में विभक्त थे। इसी प्रकार व्यवसाय के आधार पर भी सुनार, लुहार, बढ़ई, माली, दर्जी, जुलाहा, पासी आदि जातियों को बांटा जा चुका था। इन वर्गों में खान-पान, विवाह आदि अपनी ही जाति के लोगों तक सीमित हो गया था। समाज अनास्था अराजकता और कुंठाओं से ग्रस्त होता जा रहा था। ब्राह्मणों का अन्य जातियों पर प्रभुत्व था। महत्वपूर्ण पदों पर ब्राह्मण आसीन थे। राजाओं और जागीरदारों से उन्हें कर्मकाण्डों के बदले में अपार धन मिलता था। मंदिरों और मठों की सम्पत्ति पर उनका अधिकार था। ब्राह्मणों की प्राचीन तेजीस्विता और त्याग-वृत्ति प्रायः समाप्त हो रही थी।

क्षत्रिय विभिन्न राज्यों की सेनाओं में ऊंचे पदों पर नियुक्त थे। किसी जाति के रूप में क्षत्रियों का गौरव भी कम होता जा रहा था। अधिकांश क्षत्रिय विलासिता का जीवन जीने लगे थे। सुरा-सुराही ने उन्हें अपने आघोश में ले लिया था। वैश्यों और शूद्रों की स्थिति भी अच्छी न थी। उद्योगों और व्यापारों के नष्ट होने से वैश्य सम्पन्न नहीं रहे थे। आर्थिक लाभ उनके जीवन का परम लक्ष्य बन गया था। शूद्र सवर्ण जातियों की सेवा से अपनी जीविका चला रहे थे। शूद्र समाज में उपेक्षित थे।

परिवारों में बाल विवाह प्रथा तेजी पर थी। दिखावा और नाच-गान ब्राह्मणों को दान देने का नियम, बहु-विवाह प्रथा, सती प्रथा, लोक मर्यादा का भय, आदि कई सामाजिक दोष पनप रहे थे। स्त्रियों की परदा प्रथा, जन-सामान्य का अन्ध विश्वासी होना, रूढिवादिता का चहुँमुखी फैलना, शुभ-अशुभ, मुहूर्त, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत आदि विश्वासों में जन-जन पिस रहा था। बलि की प्रथा प्रचलन में थी।

ज्योतिषियों ने समाज को भर कर लूटना प्रारंभ कर दिया था। दास-प्रथा भी सन् 1843 तक समाज को ग्रस रही थी। ऋण न चुका पाने पर दास खरीदे-बेचे जाते थे। फिर आजन्म वे मालिक की सेवा करते थे।

शिक्षा की दृष्टि से भी समाज विघटन की ओर उन्मुख था। आश्रम और गुरुकूल समाप्त हो गये थे। उच्च वर्ग के हिन्दुओं के लिए संस्कृत पाठशालाएँ थीं, पर शेष वर्ग के लिए नहीं। धर्म-दर्शन एवं विज्ञान आदि का अध्ययन-अध्यापन बहुत कम जगहों पर था। अधिकांशतः लोग साधारण शिक्षा प्राप्त कर पैतृक-व्यवसाय में लग जाते थे। स्त्री-शिक्षा का प्रचलन ही न था। उनके लिए पत्नीत्व मातृत्व ही चरम लक्ष्य था।

धनी वर्ग की स्त्रियाँ दिखावटी वस्त्राभूषण और साज-सज्जा में लीन रहती थीं। शृंगार बनाव की प्रवृत्ति जोरों पर थी। समाज पर सम्भ्रान्त वर्गों का ही प्रभुत्व बन गया था। धनाधिक्य ने इन्हें विलासी तथा दुराग्रही बना दिया था। यही कारण है कि कवि या लेखक जिस साहित्य का सृजन कर रहे थे वह जन-सामान्य का साहित्य न था। जीवन का कोई निश्चित लक्ष्य निर्धारित न होने पर जनता भी शासक वर्ग की देखा-देखी विलासोन्मुख होती जा रही थी। नारी विलासिता की वस्तु बनती जा रही थी। सामन्तों की संस्कृति में नारी को रखैल बनाने की परम्परा चल निकली थी। आदर्श के अभाव में कुंठाएँ पनपने लगी थीं। सम्भ्रान्त वर्गों की विलासिता का बोझ भी सामान्य जनता के कंधों पर ही आ पड़ा था। कला, संस्कृति, व्यापार, अर्थव्यवस्था, सामाजिक मानदण्ड, आचार-विचार सभी संकटों से गुजर रहे थे। अतः सामाजिक जीवन निरन्तर ह्रासोन्मुख होता जा रहा था। जनता भाग्यवादी और अकर्मण्यवादी होती चली गई। नैतिक मूल्य समाप्त होते चले गए। सुरा-सुराही-सुन्दरी की उपासना जोर-शोर से होने लगी। युवक, राजापुत्र आदि तीतर-बटेर पालन-लड़ाने में डूब गए। राजकुमारियाँ और शहजादियों ने महलों और हरमों में कार्य कर कर्मचारियों से प्रेम-व्यापार प्रारंभ कर दिए। कुल मिलाकर दुराचार, अनाचार और व्यभिचार के इस युग में सामाजिक-व्यवस्था पूरी तरह बिखर गई थी।

## 14.3.3 धार्मिक परिस्थितियाँ

रीतिकालीन युग में नैतिकता के सभी मापदण्ड तो समाप्त हो ही चुके थे। धार्मिक स्थितियाँ भी आदर्श-विमुख थीं। शाहजहाँ के समय तक चली आ रही धार्मिक सहिष्णुता को औरंगज़ेब ने खण्डित किया तो रीतिकाल तक वह क्रमशः और खण्डित होती चली गई। धर्म की उदात्तता नष्ट हो गई। विलास-वासनाओं और ऐहिक सम्पूर्तियों ने धर्म को आच्छादित कर लिया। बाह्याडम्बरों, अंध रूढ़ियों और धार्मिक अनाचारों ने जन-सामान्य को ठगना प्रारंभ कर दिया। अधकचरे पण्डितों, मौलवियों और ढोंगी साधु-संतों ने धार्मिक असंगतियों तथा दुराग्रहों से समाज को ग्रसना प्रारंभ कर दिया। जन-समाज बहकावे में आकर लिप्सा-ग्रस्त होने लगा। भक्तिभाव मांसल तथा ऐन्द्रिक बनते

चले गए। राधा-कृष्ण सुमिरन का बहाना लेकर उनकी लीलाओं की आड़ में समाज की कुत्सित भावनाएँ प्रदर्शित होने लगीं। अनाचार धार्मिक आड़ में फलने-फूलने लगे।

हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खिंच गई। हिन्दू धर्म अनेक साधना-पद्धतियों में लीन हो गया। वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाम आदि अनेक पंथ और तैतीस करोड़ देवी-देवता — हिन्दुओं की आस्था के लक्ष्य बन गए। हिन्दू धर्म के उपासना केन्द्र मन्दिर थे और वे राजमहलों के से वैभव से सम्पन्न थे। विधर्मियों ने उसी वैभव को लूटने का लक्ष्य साधा हुआ था। मन्दिर-मस्जिद राजमहलों द्वारा नियंत्रित थे। राज सत्ता धर्म का उपयोग अपनी हित-साधना के लिए कर रही थी। मुल्ला-मौलवी तथा पुरोहित-पुजारी उनकी हित-पूर्ति में ही अपना स्वार्थ साध रहे थे। यही कारण है कि भागवत् के बाल और किशोर-कृष्ण भक्तिकाल के उपास्य न रहकर धीरे-धीरे भौतिक धरातल पर आ जाते हैं और युवकोचित लीलाएँ-चेष्टाएँ भी करते हैं। मन्दिरों में धर्म और संस्कृति को संरक्षण मिलना बंद हो जाता है। पूर्व-प्रचलित सभी सम्प्रदाय कलुषित-वासनाओं में डूबने लगते हैं। भक्ति रस या उज्जवल रस स्थूल शृंगारिकता में खप जाता है। अतः यह युग धर्म की निरन्तर ह्रासोन्मुखता का युग था। भौतिक मांसलता ने उसे कलुषित कर दिया था। मर्यादा पुरूषोत्तम राम भी इस युग में आकर रसिक-सम्प्रदाय के रसिक बन गए। सखी-सम्प्रदाय के भक्तों ने इस युग में राम-सीता की शृंगारी लीलाओं का भी वर्णन किया। अयोध्या; जनकपुर और चित्रकूट रामभक्ति के सम्प्रदायों के प्रमुख केन्द्र बने रहे।

कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में भक्तिकालीन सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक "ललित सम्प्रदाय" की स्थापना भी हुई। इसके संस्थापक थे वंशी—अलि जी। कृष्ण सम्प्रदायों की भक्ति का केन्द्र मथुरा और वृन्दावन ही बना रहा। निर्गुण भक्ति सम्प्रदाय भी रीतिकाल में चलते रहे। धामी सम्प्रदाय, सतनामी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय तथा गरीब पंथ आदि कई नए सम्प्रदाय भी प्रारंभ हुए। इन सभी का मूलाधार निर्गुण-भक्ति साधना ही रहा। इन सम्प्रदायों के भक्तों की विचारधारा युगीन-परिस्थितियों से पूर्णतः प्रभावित थी। इनकी साधना-पद्धति में भी पर्याप्त बदलाव आ गया था।

अतः स्पष्ट है कि ऐसे धार्मिक-पतन के युग में कला और साहित्य भी दरबारी बन गए थे। आश्रयदाताओं के संकेतों पर थिरकने लगे थे। शृंगार अपनी शुचिता से विलासिता तक पहुंच गया था। रीतिकालीन शृंगार-साहित्य इसी तथ्य का प्रामाणिक ब्यौरा बनता है। वास्तव में रीतिकालीन साहित्य समस्त समाज का दर्पण न होकर एक सामन्ती समाज का प्रतिबिम्ब है। जन-सामान्य से तो इस युग का साहित्य विमुख सा ही रहा है।

### 14.3.4 सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

सांस्कृतिक दृष्टि से भी रीतिकाल का युग अत्यंत असंतुलित व्यवस्था का सूचक है। भक्तिकालीन संतों-सूफियों के हिन्दू-मुस्लिम एकता के सभी प्रयासों पर इस युग में आकर पानी फिर गया था। हिन्दू-मुस्लिम औरंगज़ेब की कट्टर धर्म-नीति के कारण एक दूसरे से विमुख होने लगे थे। पारस्परिक आदान-प्रदान तथा सांस्कृतिक मेल-जोल में अंतराल आने लगा था। एक दूसरे के धर्म को समझने के, उनके प्रति आस्था और विश्वास के सभी प्रयत्न कम होते चले गए। सम्प्रदायों की दृष्टि अब तत्वचिंतन की न रहकर भौतिक होने लगी। जीवन की सभी गतिविधियाँ अपनी वास्तविकता से दूर होती जा रही थीं। मंदिरों की सांस्कृतिक गरिमा अब प्रायः समाप्त हो चुकी थी। आस्था और विश्वास के अर्थ अब बदल चुके थे। मंदिरों के सेवकों का दासी-गोपी भाव अब रानियों-सखियों और दास-दासियों में बदलने लगा था। परस्पर सौहार्द भावना कम होने लगी थी। धर्म के मूलभूत सिद्धांत बदलते जा रहे थे और बाह्यडम्बरों ने जन-सामान्य को पथ-भ्रष्ट करने में कोई कसर न रखी थी। पुरानी परम्पराओं के पीर ओर सूफ़ी या सन्त और साधु अब विरले ही दिखाई पड़ते थे।

## 14.4 रीतिकालीन साहित्य एवं कला की स्थिति

रीतिकालीन परिस्थितियों की दृष्टि से पतन, बिखराव और अव्यवस्था का युग था किन्तु साहित्य एवं कला की दृष्टि से यह युग अत्यंत समृद्ध युग कहा जा सकता है। राजाओं के आश्रय और दरबारों के प्रोत्साहन में फलने-फूलने वाले कवि या साहित्यकार इस युग में अत्यंत सम्मान के अधिकारी थे। कवि, आचार्य और कवि-शिक्षक की भूमिका एक साथ निभाने वाले इस वर्ग को राजा और नवाबों से भी अत्यंत सम्मान प्रोत्साहन तथा पुरस्कार आदि से विभूषित किया जाता था। धन-लिप्सा तथा मान-सम्मान के मोह का परिणाम था कि साहित्य सृजन परिमाण में भी अधिक हुआ और वैविध्य में भी। कलाओं को प्रश्रय मिलने लगा। यह अलग बात है कि साहित्य और कला सृजन में आश्रयदाताओं की रुचि प्रधान रहीं। उसमें सहज स्फुरण, जन-सामान्य से जुड़ाव, सृजनात्मक-स्वांतत्र्य तथा आत्मानुभूति की वह सच्ची अभिव्यक्ति न थी जो रीतिमुक्त प्रेम के चितेरें कवियों के पास थी।

रीतिकालीन काव्य में शृंगारिकता का स्पर्श तो भक्तिकालीन कृष्ण काव्य की ही देन है। किन्तु यह भी स्पष्ट रहे कि रीतिकाल की परिस्थितियों ने ही साहित्य एवं कला को यह स्वरूप प्रदान किया। काव्यशास्त्र एवं शृंगार-साहित्य के इस विपुल भंडार की परम्परा संस्कृत से विकसित हुई किन्तु उन्हें रीतिकाल में मुखर होने का पूरा वातावरण भी मिला। रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर सर्वाधिक प्रभाव भानुदत्त के संस्कृत रचित काव्यशास्त्रीय ग्रंथ "रस-भंडारी"

तथा "रसतरंगिणी" का रहा। अन्य स्थानों पर "साहित्यदर्पण", "ध्वन्यालोक" और काव्यादर्श" आदि कई ग्रंथों का भी पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त प्राकृत के जिस "गाहासतसई" (गाथा सतसई) ने संस्कृत साहित्यकारों को प्रभावित किया था उसका प्रभाव भी रीतिकाल पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से आया। भक्तिकाल की कुछ कृतियाँ भी रीति-शैली के आधार पर लिखी गईं जिनमें कृपाराम, गंग, केशवदास, रहीम और सूरदास आदि के कई ग्रंथ देखे जा सकते हैं। इसी परम्परा ने रीतिकाल में विकास पाया और एक विपुल साहित्य भंडार हमारे सामने आ सका।

रीतिकाव्य की भौतिकता को पुष्ट करने वाले ग्रंथों में संस्कृत के "अमरन शतक", "आर्या सप्तशती", "कामसूत्र" तथा "स्रोत काव्य" आदि ग्रंथों का भी पर्याप्त योगदान रहा। भक्तिकालीन एकरसता तथा जीवन के प्रति विरक्ति आदि भावों से जन्मी, जनता की कुंठा को रीतिकवियों ने अपने सरस-साहित्य से सिंचित कर उसमें उत्साह और लालसा जगाई। यही नहीं वे भक्ति और नीति की गंगा भी बहाते चले।

काव्य, स्थापत्य, संगीत, नृत्य और विविध चित्रकलाओं ने इस युग में खूब विकास पाया। अगर अभाव रहा तो केवल कवि और कलाकार की स्वच्छन्द उड़ान का। राजाओं के संकेतों पर पनपने वाला साहित्य अपने उत्तमोत्तम रूप में तो सामने न आ सका, किन्तु जिस किसी भी रूप में आया उसने अपना सामाजिक एवं साहित्यिक दायित्व तो निभाया ही। इस युग का कवि भक्तिकाल के कवि की तरह समाजसुधारक या नीति-उपदेशक तो न बन सका पर काव्य-रस की मधुर लहरियाँ उसने जी भरके बिखेरीं। ब्रजभाषा को उसके उत्कर्ष पर ले जाने में जो भूमिका इन कवियों ने निभाई उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। काव्यशास्त्र को भी संस्कृत से हिन्दी में लाने का श्रेय इन्हीं कवि-आचार्यों को जाता है। अगर ये ऐसा महत्वपूर्ण कार्य न करते तो संभवतः काव्यशास्त्र की यह परम्परा खंडित ही न होती, विलुप्त भी हो सकती थी।

फ़ारसी उस समय की राजकीय भाषा थी अतः उसकी अलंकार-प्रधान-शैली का प्रभाव भी इस युग की भाषा (ब्रजभाषा) पर पड़ा। ब्रजभाषा जनजीवन की भाषा भी और वही साहित्य की भाषा भी बनी, यह इस युग की उपलब्धि ही कही जायेगी। इस युग के कवियों ने अपने सामर्थ्य प्रदर्शन में और रसिक-समुदाय को काव्य तथा शास्त्र का ज्ञान कराने में कोई कसर न रखी थी। राजाओं ने कवियों को प्रोत्साहित किया और कवियों ने राजाओं को काव्यामृत से निरंतर सींचा।

इस युग में इस दरबारी वातावरण से दूर रहकर निजी प्रेम की पीर को गाने वाले स्वच्छन्द-चितेरे कवि भी थे जो रीतिमुक्त कवि कहलाये। उनका काव्य हर दृष्टि से उत्तम साहित्य की कोटि में रखा जाता है। इसी प्रकार रीति-इतर कवियों ने भक्ति, नीति, वीरता, वैधक-चिकित्सा तथा ज्योतिष आदि विषयों पर भी काव्य सृजन किया। कुल मिलाकर इस काल में राज्याश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण की दृष्टि से अत्यंत विशद् तथा गुण सम्पन्न है।

ललित कलाएं भी इस युग में अत्यंत समृद्ध तथा पुष्ट होती रहीं। जहांगीर का राज्य काल तो यों भी इस दृष्टि से अत्यंत समृद्ध एवं स्वर्णयुग कहा जाता है। औरंगज़ेब के आगमन से अवश्य कलाओं को संरक्षण मिलना प्रायः कम और बंद ही हो गया। परिणामतः धीरे-धीरे इस दिशा में ह्रास होता चला गया। शाहजहाँ के समय में जो कला मुखरित हुई उसमें सहजता एवं स्वाभाविकता के स्थान में दिखावटीपन, आलंकारिकता तथा चमक-दमक प्रधान हो गए। सजीवता का स्थान जड़ता ने ले लिया। विलास और वैभव इस युग के चित्रों में भी देखा जा सकता है।

हिन्दू रजवाड़ों की चित्रकला कुछ भिन्न थी। उसमें सहजता एवं सजीवता को जीवंत रखने के प्रयास देखे जा सकते हैं। वह लोक-जीवन के भी पर्याप्त निकट थी। वहाँ की चित्रशैलियाँ राजस्थानी और कांगड़ा शैली के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

इस प्रकार स्थापत्यकला तथा संगीतकला का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा। किन्तु ये भी राजाश्रयों तक ही सीमित रहीं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में पूरा सम्मान मिलता था। इसी कारण रीतिकाल में साहित्य और कला की स्थिति काफी अच्छी थी। परिमाण की दृष्टि से ये काफी समृद्ध थीं।

**बोध प्रश्न 2**

1) रीतिकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर दस पंक्तियाँ लिखिए —

.....

.....

.....

.....

.....

.....
.....
.....
.....
.....

2) रीतिकालीन सामाजिक परिस्थितियों पर पन्द्रह पंक्तियाँ लिखिए —

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

3) रीतिकाल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर दस पंक्तियाँ लिखिए —

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

4) रीतिकालीन साहित्य एवं कला की स्थिति पर बीस पंक्तियाँ लिखिए —

.....
.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 14.5 सारांश

रीतिकालीन काव्य की परिस्थितियों का विस्तृत विश्लेषण अभी आपने इस इकाई में किया। इस इकाई में गहन अध्ययन से आप जान सके कि —

- रीतिकाल संवत् 1700 से 1900 तक का वह ऐतिहासिक काल है जिसमें रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त साहित्य लिखा गया।
- इस युग के साहित्य को "रीति" अर्थात् "पद्धति" विशेष के आधार पर वर्गीकृत किया गया है।
- रीतिकाल की उपलब्ध सामग्री के आधार पर उस युग में कवि, कवि-आचार्य तथा कवि-शिक्षक धर्म निभाने वाले साहित्यकार मिलते हैं।
- ये कवि-आचार्य-सर्वांगनिरूपक, विशिष्टांग निरूपक, सर्वरस निरूपक तथा शृंगार रस निरूपक आदि वर्गों में देखे जा सकते हैं।
- युग की परिस्थितियाँ साहित्यकार तथा साहित्य को प्रभावित भी करती हैं तथा उनसे प्रभावित होती भी हैं।
- रीतिकाल की राजनीतिक परिस्थिति विघटन, अशान्ति, भय, अस्थिरता तथा भोग-विलास की स्थिति थी। राज्य विस्तार लिप्सा के कारण युद्ध, मारकाट, षड्यंत्र, संघर्ष सभी कुछ यहाँ विद्यमान था।
- सामाजिक दृष्टि से रीतिकाल की स्थिति वर्गों में विभाजित थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्गों में परस्पर मेल न था। एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने के प्रयास चल रहे थे। सभी अपने-अपने क्षेत्रों में मूलभाव से गिर रहे थे। पतन चहुँमुखी था। शूद्र पिस रहे थे। अंधविश्वास, ढ़ोंग धोखा, रूढ़िवादिता, परदा प्रथा, सती प्रथा, बहु-विवाह प्रथा आदि दोषों से समाज पूर्णतः ग्रस्त था। आर्थिक दृष्टि से समाज की हालत खस्ता थी। वैश्य लूट में लगे थे। आदर्श मृतप्रायः थे और कुंठा का साम्राज्य था।
- धर्म की दृष्टि से असहयोग था। परस्पर धर्मों के प्रति आस्था-विश्वास मिट चुके थे। धार्मिक सहिष्णुता नहीं रही थी। विलास-वासनाओं ने धर्म को दूषित कर दिया था। बाह्यडम्बर चारों ओर छा गए थे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ गया था। कृष्ण-राधा ईश्वरत्व से युवकोचित लीलाओं, चेष्टाओं पर आ पहुंचे थे। भक्ति सम्प्रदायों की धारणाएं भी बदल गई थीं।
- सांस्कृतिक दृष्टि से रीतिकाल में बिखराव दिखाई दे रहा था। धर्म और नीति कट्टरता का रूप लेते जा रहे थे। सांस्कृतिक गरिमा खंडित होने लगी थी। आस्था और विश वास बाह्यडम्बरों में उलझ कर रह गये थे।

- साहित्य, कला एवं भाषा की दृष्टि से रीतिकाल गुण, एवं परिमाण में भी अत्यंत समृद्ध रहा। ब्रजभाषा अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुंची। रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त साहित्य का वैविध्य इस युग की उपलब्धि है। कवि दरबारी रहे और कविता भी जन-जीवन से दूर रही। परन्तु परिस्थितियों के प्रभाव स्वरूप जो साहित्य निर्मित हुआ वह अपने भीतर अनेक विशिष्टताएं समेटे था। संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव इस युग के समग्र साहित्य पर रहा।

इस प्रकार रीतिकालीन परिस्थितियों को आप आगे की तीनों इकाइयों में साहित्य को प्रभावित करते देख सकेंगे।

## 14.6 उपयोगी पुस्तकें

*हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास* (षष्ठ भाग) : संपादक डॉ. नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

*हिंदी साहित्य का इतिहास* : संपादक डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

*रीतिकाव्य की भूमिका* : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

*हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल* : रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली।

## 14.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) √
   ii) ×
   iii) ×
   iv) √
   v) √
2) i) देखिए, भाग 14.2.1
   ii) देखिए, भाग 14.2.1
3) i) पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
   ii) संस्कृत
   iii) रीतिमुक्त काव्यधारा
   iv) प्रारंभ संवत् 1700 से तथा संपन्न संवत् 1900 तक
   v) आचार्य केशव की 1591 तथा आचार्य चिंतामणि की 1643
4) i) रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त (शेष देखें भाग : 14.2.2)
   ii) मुक्तक, प्रबंध, नाटक तथा गद्य-रचनाएं (शेष देखें भाग : 14.2.2)

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए भाग 14.3.1
2) देखिए भाग 14.3.2
3) देखिए भाग 14.3.3 तथा 14.3.4
4) देखिए भाग 14.4

# इकाई 15 रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ

## इकाई की रूपरेखा


15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 पृष्ठभूमि
15.3 "प्रवृत्ति" शब्द से अभिप्राय
15.4 रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ
15.5 प्रवृत्ति विश्लेषण
- 15.5.1 रीतिनिरूपण
- 15.5.2 शृंगारिकता
- 15.5.3 राजप्रशस्ति
- 15.5.4 भक्ति
- 15.5.5 नीति
- 15.5.6 प्रकृति तथा अन्य विषय
- 15.5.7 रीतिमुक्त काव्य
- 15.5.8 रीतिइतर काव्य

15.6 रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
- 15.6.1 रीति-निरूपण
- 15.6.2 शृंगारिकता
- 15.6.3 राजप्रशस्ति, भक्ति आदि गौण विशेषताएँ
- 15.6.4 रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएँ
- 15.6.5 रीतिइतर काव्य की विशेषताएँ
  - वीर काव्य
  - भक्ति और दर्शन
  - नीति

15.7 सारांश
15.8 उपयोगी पुस्तकें
15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 15.0 उद्देश्य

आप ऐच्छिक हिन्दी पाठयक्रम III की पन्द्रहवीं इकाई पढ़ने जा रहे हैं। इस इकाई में हम रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ एवं विशेषताएँ बता रहे हैं। इस इकाई को पढ़कर आप :

- प्रवृत्ति शब्द का अभिप्राय/अर्थ तथा उसके महत्व को समझा सकेंगे;
- रीतिकालीन काव्य की मुख्य तथा गौण प्रवृत्तियों को बता सकेंगे;
- मुख्य प्रवृत्तियों में रीति-निरूपण की प्रवृत्ति की अन्तः प्रवृतियों को समझा सकेंगे;
- रीतिकवियों का वर्गीकरण कर सकेंगे;
- रीतिकाल के समग्र काव्य और कवियों को वर्गों में विभाजित कर सकेंगे;
- रीति-निरूपण की प्रवृति और उसकी अन्तःप्रवृत्तियों की सामान्य विशेषताएँ बता सकेंगे;
- रीतिकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्ति और गौण प्रवृत्तियों की विशेषताओं का विवेचन कर सकेंगे; और
- रीतिकालीन काव्य के महत्व को समझा सकेंगे।

## 15.1 प्रस्तावना

साहित्य की रचना मनुष्य करता है और उसमें उसके भावों अथवा विचारों की अभिव्यक्ति ही मुख्यरूप से रहती है चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए उसके भावों और विचारों का निर्माण तथा नियमन उसके युग का समाज तथा उसके आसपास का वातावरण करता है। युग विशेष के समाज और वातावरण को उस युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। इन परिस्थितियों के कारण

ही विशेष युग के कवि या साहित्यकार विशिष्ट विषय अथवा शैली की रचनाएँ करते हैं। इन रचनाओं को पढ़ते ही हमें उस युग के विषय में सभी प्रकार की जानकारी मिल जाती है। अतः कह सकते हैं कि युग विशेष के साहित्य के निर्माण में युगीन परिस्थितियों की भूमिका प्रधान रहने के कारण उस युग के साहित्य के विभिन्न वर्ण्य विषयों तथा वर्णन की शैलियों आदि के उद्‌भव विकास तथा पोषण का सम्बन्ध युगीन परिस्थितियों के साथ सहज ही जोड़कर देखा जा सकता है। इससे पूर्व की इकाई में आपने रीतिकाल की सामान्य परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया। इस इकाई में सबसे पहले हम आपको यह बताएँगे कि रीतिकालीन परिस्थितियों के कारण किस प्रकार के साहित्य ने जन्म लिया तथा उसकी अपनी विशेषताएँ क्या हैं। तो आइये, सर्वप्रथम रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि पर दृष्टि डाल लें।

## 15.2 पृष्ठभूमि

यह आप जानते ही हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् 1650 से 1850 ई. के बीच के समय को "रीतिकाल" नाम से अभिहित किया जाता है। यह वह समय है जब समस्त हिन्दी-भाषी भारत और उसके आसपास के क्षेत्रों पर मुग़लों का आधिपत्य स्थापित हो गया था तथा सामान्य रूप से यहाँ के हिन्दू राजा पर्याप्त समय तक अपनी प्रभुता बनाए रखने के लिए मुसलमानों से जूझने के बाद अब उनकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे। देश में पूर्ण शान्ति नहीं थी तथा राजकोष भी पूरी तरह से भरापूरा न था। पर फिर भी ऐसी स्थिति का लाभ उठाते हुए शासक वर्ग में विलासिता उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अतः विलासिता के उपकरणों को जुटाया जाने लगा। इन उपकरणों में कविता भी एक थी। इसके लिए राजदरबारों में कवियों को आश्रय दिया जाता था और वे अपने आश्रयदाता राजा नवाबों को कामोत्तेजक अथवा शृंगारिक कविताएँ सुनाकर उनका मनोरंजन करते थे। दूसरी ओर कुछ शासक ऐसे भी थे जो अपने तथा अपने पूर्वजों के शौर्य पराक्रम सम्बन्धी चर्चाओं से प्रसन्न होते थे। अतएव इन लोगों को प्रसन्न करने के लिए कवि लोग उनकी प्रशस्तियाँ लिखकर उन्हें सुनाते थे। उधर हिन्दू कवियों तथा शासक समुदाय मे अपने-देवी देवताओं के प्रति आस्था और विश्वास की भावना परम्परा से चली आ रही थीं। इसके परिणामस्वरूप विशिष्ट अवसरों पर अथवा दैनिक क्रियाकलापों या शुभकार्य आरम्भ करते समय या फिर जीवन के अंतिम दिनों में परलोक सुधारने की भावना से भक्ति और दर्शन सम्बन्धी रचनाएँ भी कर ली जाती थीं। इधर राजदरबारों में होने वाले षड़यंत्रों आदि से अपने मित्रों को सावधान करने अथवा जीवन के खट्टे मीठे अनुभवों को सुनाने के उद्‌देश्य से कवि लोग कभी-कभी नीति परक रचनाएँ कर लेते थे। इन सबके अतिरिक्त कभी आसपास के प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित होकर और कभी अन्य प्रकार के भावों से विभोर होकर कवि लोग प्रकृति तथा अन्य विषयों सम्बन्धी रचनाएँ करने के लिए प्रेरित हो जाते थे। इस प्रकार इस काल में जिन विषयों से सम्बद्ध कविता लिखी गई, वे हैं—शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति, प्रकृति तथा अन्य विषय।

चूँकि कविता इस काल के विलासी शासकों की विलासलीला का एक उपकरण थी, इसलिए राजदरबारों में समय-समय पर कवि सम्मेलनों अथवा कविगोष्ठियों का आयोजन होता रहता था। इनमें शासकों के अतिरिक्त उनके सामन्त और मुसाहिब कविताओं का रस लेने के लिए सम्मिलित होते थे। सुन्दर कविता पर दाद दिया जाना कवि सम्मेलन या कविगोष्ठी का शिष्टाचार होता है। अतः सभी इस शिष्टाचार का पालन करना आवश्यक समझते थे। पर यह तभी संभव होता है जब सुनने वाले को रस, छन्द, अलंकार आदि कविता के अंगों का ज्ञान हो। इसके लिए संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन आवश्यक था जो इन सामन्तों और मुसाहिबों के लिए अत्यन्त कठिन था। उधर दरबारों के शिष्टाचार का निर्वाह करना इसलिए आवश्यक था क्योंकि इसके द्वारा वे शासक की दृष्टि में ऊँचे उठ सकते थे। अतः काव्य विषयक-ज्ञान प्राप्त करना अपने लिए अनिवार्य समझकर ये लोग प्रायः कवियों से ही निवेदन करते थे कि उनके लिए वे उस समय की बोलचाल की भाषा ब्रजभाषा में, रस छन्द आदि की जानकारी प्रदान करने वाला ग्रन्थ तैयार कर दें। कवि लोग भी इनसे धन प्राप्त करने के उद्‌देश्य से ऐसे ग्रन्थों की रचना कर देते थे। इस प्रकार इस काल में इस प्रकार के ग्रंथों की रचना सर्वाधिक हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल राजा और नवाबों के आश्रित कवियों ने ही ऐसे ग्रंथों का निर्माण नहीं किया, उन लोगों ने भी इनकी रचना की जो राज्याश्रित नहीं थे, जनता में साधारण व्यक्ति की हैसियत रखते थे।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब एक ही प्रकार की रचनाएँ अत्यधिक परिमाण में लिखी जाती हैं तो लोग उनसे ऊबने लगते हैं। इस ऊब को मिटाने के लिए कवि लोग दूसरे प्रकार की रचनाएँ भी करते हैं। चूँकि इस काल में फारसी भाषा मुगलदरबारों की भाषा थी अतः कुछ लोग इस भाषा और इसके साहित्य को मनोयोग से पढ़ते थे। फारसी भाषा के साहित्य में इकतरफा प्रेम की वैयक्तिक अभिव्यक्ति प्रायः देखने को मिलती है। ब्रजभाषा के कुछ कवि इसकी ओर आकृष्ट हुए और इस प्रकार की कविता करने लगे। इन कवियों के मन में यह बात रही कि उपर्युक्त दरबारी कवियों की तुलना में ये लोग अच्छे शृंगार काव्य की रचना कर रहे हैं। अतः वे सिद्धांत और व्यवहार—दोनों में उस प्रकार के काव्य के विरोधी ही नहीं रहे, फारसी पद्धति का प्रेमकाव्य ही लिखने में मनोयोग करने लगे। यह काव्य निश्चित रूप से अपने प्रकार का है तथा उसकी अपनी पहचान है।

इस काल में उपर्युक्त प्रकारों की कविता करने वाले कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कवि थे जो किसी प्रकार की शृंगारिक कविता अथवा काव्य के रस, छन्द आदि अंगों के विवेचन से अलग होकर अपने ढंग से राजप्रशस्तियाँ,

वीरकविता, भक्तिकाव्य और नीतिकाव्य की रचना कर रहे थे। इन लोगों की संख्या तथा उनकी रचनाओं का परिमाण भी कम नहीं है। अतः इन सबको भी अलग वर्ग में रखकर देखा जा सकता है।

## 15.3 ''प्रवृत्ति'' शब्द से अभिप्राय

किसी युग में जब कवियों या साहित्यकारों का बड़ा वर्ग एक ही विषय अथवा एक ही शैली की रचनाएँ करता है तो वह विषय अथवा शैली उस वर्ग के कवियों या साहित्यकारों की प्रवृत्ति कहलाती हैं।

विशिष्ट प्रवृत्ति से युग विशेष के कवियों अथवा साहित्यकारों की मानसिकता और उसकी नियामिका परिस्थितियों का ही बोध नहीं होता, विशिष्ट वर्ग अथवा वर्गों की रचनाओं की विशेषताओं की जानकारी भी सहजता से हो जाती है। इसलिए साहित्य का इतिहास लिखने वाले प्रवृत्ति विशेष के आधार पर युग विशेष का नामकरण और उसकी काल सीमा का निर्धारण करते हैं। साहित्य के उत्तर मध्यकाल का नाम रीतिकाल इस युग की रीतिनिरूपण हिन्दी की प्रवृत्ति के आधार पर ही किया गया है तथा इस काल की सीमाएँ — सन् 1650 और 1850 ई., इस काल में रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के विस्तार के आधार पर निश्चित की गई हैं।

## 15.4 रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ

ऊपर कहा जा चुका है रीतिकाल में दो प्रकार के कवि थे — एक वे जो राजाओं अथवा नवाबों के आश्रय में रहते थे और दूसरे वे जो राजदरबारों से बाहर रहकर काव्य की रचना कर रहे थे। इन दोनों प्रकार के कवियों ने इस काल में जितना भी साहित्य लिखा है उसका दो तिहाई के लगभग भाग ऐसा है जिसमें रस, छन्द, अलंकार आदि काव्य के अंगों का विवेचन किया गया है। यह साहित्य मुख्य रूप से संस्कृत काव्य शास्त्र की परिपाटी के आधार पर रचा गया है। परिपाटी के पर्यायवाची शब्द हैं — मार्ग, पंथ, रीति। रीतिकाल में संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परिपाटी के लिए 'रीति' शब्द का प्रचलन पर्याप्त हुआ।

इस काल के कवि अपने आपको रीतिकवि और अपनी रचना को रीतिकाव्य शब्द से अभिहित करते थे। इसलिए आधुनिक काल में साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने इस काल को 'रीतिकाल', काव्य के अंगों से संबंधित साहित्य को 'रीतिसाहित्य', इस साहित्य के रचयिताओं को 'रीतिकवि', या 'रीतिकार' तथा उनकी इस प्रकार के ग्रंथों की रचना करने की प्रवृत्ति को 'रीतिनिरूपण प्रवृत्ति' नाम दिया है। चूँकि रीतिनिरूपण सम्बन्धी ग्रंथों की रचना इसकाल में सर्वाधिक हुई है, इसलिए रीतिनिरूपण इस काल की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है।

कविता के क्षेत्र में इस काल के अन्तर्गत कवियों ने — चाहे वे राजाश्रित कवि हों अथवा स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना करने वाले जनकवि — सभी ने शृंगारिक रचनाएँ न्यूनाधिक रूप से अवश्य की हैं। शृंगारिक कविताओं की सर्वाधिक रचना को देखकर कुछ विद्वान इस काल को 'शृंगारकाल' कहना उचित समझते हैं, यह बात दूसरी है कि उनका यह मत सबको मान्य नहीं है। जो हो, शृंगारिक कविताओं की सर्वाधिक रचना यह प्रमाणित करती है कि रीतिकाल में काव्य की प्रधान प्रवृत्ति शृंगारिकता की थी। इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ गौण प्रवृत्तियाँ भी थी। उनमें एक है — राजाओं अथवा नवाबों और उनके पूर्वजों के शौर्य-पराक्रम आदि गुणों सम्बन्धी रचनाएँ लिखना उसको राजप्रशस्ति की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इसके साथ कुछ लोगों ने भक्ति और दर्शन सम्बन्धी रचनाएँ तथा कुछ ने नीतिपरक रचनाएँ भी की। ये रचनाएँ भी प्रचुर परिभाषा में देखने को मिलती हैं। अतः इनसे सम्बद्ध प्रवृतियों को क्रमशः भक्ति की प्रवृत्ति और नीति की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इन सबके अतिरिक्त प्रकृति तथा अन्य विषयों से सम्बद्ध रचनाएँ भी इस काल में लिखी गईं। इन सबको 'इतर' प्रवृत्तिं कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। उक्त सभी काव्य प्रवृत्तियाँ रीतिनिरूपण सम्बन्धी ग्रंथों में रस, छन्द, अलंकार आदि के विवेचन के प्रसंग में दृष्टिगत होती है — कवि एक ओर मुख्य रूप से रस, अलंकार आदि का लक्षण (परिभाषा) देता है और दूसरी ओर उस लक्षण की पुष्टि के लिए शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति अथवा प्रकृति या अन्य विषय से सम्बन्धित स्वरचित उदाहरण देता है। कहना न होगा कि ये रचनाएँ विवेच्य विषय के लक्षण की सीमाओं में बँधी रहने के कारण विशेष प्रकार की है। अतः इन्हें शास्त्रबद्धता की विशेषता के आधार पर एक वर्ग में रखा जाना चाहिए। इस छन्द, अलंकार आदि काव्य के अंगों के विवेचन के क्षेत्र से बाहर राजप्रशस्ति भक्ति, नीति, प्रकृति आदि विषयों सम्बन्धित रचनाएँ इस काल के राजाश्रित और जनकवियों ने प्रचुर परिमाण में की। इनकी विशेषता इसी बात में निहित है कि ये किसी भी लक्षण अथवा शास्त्रीय नियम में नहीं बँधी हुई। अतः इन सबको अन्य वर्ग में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए, इन रचनाओं में शृंगारिकता का सर्वथा अभाव है। अतः इन सबके वर्ग को रीतिनिरूपण से इतर प्रवृत्ति का परिचायक कहा जाना चाहिए।

काव्यशास्त्रीय नियमों में बँधी उक्त शृंगारिक रचनाओं के विरोध में फारसी के वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति परक शृंगारिक रचनाएँ करने वाले कवियों ने भी इस काल के साहित्य को समृद्धि प्रदान की है। ये शास्त्रबद्ध शृंगारिक रचनाओं के समान परिमाण में समान तो नहीं हैं पर अपनी मार्मिकता और अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य के कारण

उपेक्षणीय भी नहीं। चूँकि ये सिद्धान्तः रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के तिरस्कार अथवा काव्यशास्त्रीयता के बहिष्कार को प्रकट करती हैं, अतः इन्हें इस काल की स्वतंत्र प्रवृत्ति ही कहा जाना चाहिए। विद्वान इसे **''रीतिमुक्त'' काव्य प्रवृत्ति** की संज्ञा देना उचित समझते हैं। अपने वैशिष्ट्य के कारण यह प्रवृत्ति रीति निरूपण की प्रवृत्ति के बाद और इत्तर प्रवृत्तियों से पहले परिगणित की जाती है।

संक्षेप में रीतिकालीन साहित्य में निम्नोक्त मुख्य एवं गौण प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं —

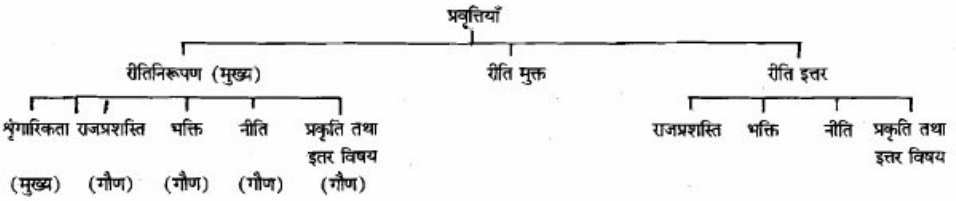


1) ''प्रवृत्ति'' का अर्थ और महत्व पाँच पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचय पन्द्रह पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 15.5 प्रवृत्ति-विश्लेषण

रीतिकालीन साहित्य की उपर्युक्त प्रवृत्तियों का यदि विश्लेषण किया जाय तो इनके भीतर अन्य अन्तः प्रवृत्तियों का दर्शन होगा। अतः इन पर पृथक-पृथक विचार करते हैं।

### 15.5.1 रीतिनिरूपण

रीतिनिरूपण की सर्वव्यापक प्रवृत्ति का विश्लेषण यदि ग्रंथकार की दृष्टि, काव्यांग-विवेचन तथा निरूपण-शैली के

आधार पर किया जाय तो कहना होगा कि इस काल में रीति-ग्रंथों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गई। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति-कर्म की थी। इसके परिचायक वे ग्रंथ हैं जिनमें सामान्य रूप से विशिष्ट काव्यांग का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है — अपने कवित्त का प्रदर्शन करना उनका उद्देश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रंथों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य कवियों की रचनाओं से दिया गया है या फिर यह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व जैसी बात नहीं रही। महाराज जसवंतसिंह का भाषाभूषण, याकूब खाँ का "रसभूषण" रसिक सुमति का "अलंकार चन्द्रोदय", दूलह का "कविकुल-कंठाभरण", रसरूप का "तुलसीभूषण", दलपतिराय वंशीधर का "अलंकार-रत्नाकर" आदि ग्रंथ इसी अन्तःप्रवृत्ति के परिचायक हैं। द्वितीय अंतः प्रवृत्ति में रीति-कर्म और कवि-कर्म का समान महत्व रहा है — ग्रंथकार लक्षण देकर और उसी के अनुरूप कवित्वपूर्ण उदाहरण की रचना करता है। चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, सोमनाथ, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर, ग्वाल आदि के रीतिनिरूपण संबंधी ग्रंथ इसी प्रकार के हैं। तृतीय अन्तः प्रवृत्ति के अंतर्गत लक्षणों को महत्व नहीं दिया गया — ग्रंथकारों ने सभी छंदों की रचना यद्यपि काव्यशास्त्रीय नियमों में बाँधकर की है, किन्तु ने लक्षण देने के फेर में नहीं पड़े। बिहारी, मतिराम, भूपति, चन्दन आदि द्वारा रचित सतसई-ग्रंथ, अन्य कवियों द्वारा रचित नख-शिख-वर्णन अथवा इत्तर विषयों से सम्बद्ध स्फुट छंद इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इन ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें उदाहरण अधिकांशतः श्रृंगारिक हैं — अन्य विषयों संबंधी उदाहरण परिमाण में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।

काव्य के रस, छन्द, अलंकार आदि अंगों के विवेचन के आधार पर रीतिनिरूपण-प्रवृत्ति की दो अन्तः प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं — (1) सर्वांग-विवेचन की, और (2) विशिष्टांग-विवेचन की। इनमें सर्वांग-विवेचन की अन्तः प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में सामान्य रूप से काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य भेद, काव्य-शक्ति, काव्य की आत्मा (रस-ध्वनि), काव्य-गुण, काव्य दोष, काव्य रीति, अलंकार तथा छंद का निरूपण किया गया है। कतिपय लोगों ने काव्य के उक्त सभी अंकों का विवेचन एक ग्रंथ में किया है और छंद का पृथक रूप से करने का प्रयत्न किया है। चिन्तामणि का "कविकुलकल्पतरू" देव का "शब्दरसायव", कुलपति का "रसरहस्य", दास का "काव्य-निर्णय", सोमनाथ का "रसपीयूषनिधि", अमीरदास का "सभामंडन", जनराज का "कवितारसविनोद", आदि ग्रंथ इसी अन्तः प्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथ हैं। विशिष्टांग-विवेचन की अन्तःप्रवृत्ति के अंतर्गत वे ग्रंथ कहे जा सकते हैं जिनमें उक्त काव्यांगों में से किसी एक अथवा दो या तीन को विवेचन का विषय बनाया गया है। ये विषय हैं — रस, अलंकार और छन्द। इन तीनों का पृथक-पृथक विवेचन पृथक-पृथक ग्रंथों में हो, किन्तु देव के "भावविलास" और याकूब खाँ तथा रायशिवप्रसाद के "रसभूषण" नामक दो ग्रंथों में रस और अलंकार का विवेचन साथ-साथ किये जाने का प्रयत्न भी रहा है। रस-निरूपण ग्रंथों में पुनः दो अन्तः प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। इसमें एक तो है रस की विभावादि सामग्री के निरूपण के उपरान्त उसके समस्त भेदों का सामान्यरूप से तथा श्रृंगार और उसके आलम्बन (नायक-नायिका भेद) आदि का विशेष रूप से विवेचन करने की, और दूसरी है — रसों में शिरोमणि श्रृंगार रस के विभाव, अनुभाव आदि — विशेषतः नायक-नायिका भेद के सविस्तार वर्णन के उपरान्त उसके भेदोपभेदों के वर्णन की। चिन्तामणि का "रसविलास" तोष का "सुधानिधि", सुखदेव मिश्र के "रसरत्नाकर" और "रसार्णव", रसलीन का "रसप्रबोध", समनेस का "रसविलास", उजियारे की रसचंद्रिका", बेनीप्रवीन की "नवरसतरंग", पद्माकर का "जगद्विनोद", नवीन की "रंगतरंग", ग्वाल की "रसरंग", चन्द्रशेखर वाजपेयी का "रसिकविनोद" आदि ग्रन्थ रस-निरूपण की प्रथम अन्तः प्रवृत्ति कहे जा सकते हैं जबकि मतिराम के "रसराज", देव के "रसविलास", "भवानीविलास", "कुशलविलास" आदि, कृष्णभट्ट देव ऋषि की श्रृंगारसमाधुरी", शिवनाथ की "रसदृष्टि", दास के "श्रृंगारनिर्णय" आदि को दूसरी अन्तः प्रवृत्ति के भीतर रखा जा सकता है। अलंकार-निरूपण की अन्तःप्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथों में मतिराम के "ललितललाम" और अलंकारपंचाशिका", भूषण का "शिवराजभूषण", गोप के "रामालंकार" "रामचंद्रभूषण" और रामचन्द्राभरण", रसिकसुमति का "अलंकार-चंद्रोदय", दलपतिराम वंशीधर का "अलंकाररत्नाकर", रघुनाथ का "रसिकमोहन", गोविन्द का "कर्णाभरण", दूलह का "कविकुलकंठाभरण", सेवादास का "रघुनाथ अलंकार", रसरूप का "तुलसीभूषण", पद्माकर का "पद्माभरण" आदि तथा छन्दोविवेचन की अंतःप्रवृत्ति के ग्रंथों में मतिराम की "वृत्तकौमुदी", मुरलीधर "भूषण" का "छन्दोहृदयप्रकाश", सुखदेव मिश्र का वृत्तरत्नाकर", माखन का "श्रीनाथपिंगलछन्दविलास", दास का "छन्दार्णवपिंगल", दशरथ का "वृत्तविचार" नंदकिशोर का "पिंगलप्रकाश" आदि उल्लेखनीय हैं।

विवेचन शैली के आधार पर यदि रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो कहना होगा कि इस काल में रीति-निरूपण की मुख्य रूप से तीन शैलियाँ प्रचलित थीं। इनमें प्रथम तो संस्कृत के काव्यप्रकाश — साहित्यदर्पण की शैली है जिसमें लक्षणों — उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति (व्याख्या) देकर विवेच्य विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अंतर्गत चिन्तामणि के "कविकुलकल्पतरु", देव के "शब्दरसायन", कुलपति के "रसरहस्य", दास के "काव्यनिर्णय", प्रतापसाहि के "व्यंग्यार्थकौमुदी" और "काव्यविलास" ग्वाल के "साहित्यानंद" आदि ग्रंथों को लिया जा सकता है। इन ग्रंथों के भीतर मम्मट और विश्वनाथ (काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के लेखक) द्वारा दी गई संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति देकर विषय को यथावश्यकता समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली संस्कृत के चंद्रालोक और कुवलयानन्द की संक्षेप शैली है। जसवंतसिंह का "भाषाभूषण", दुलह का "कविकुलकंठाभरण", वैरीसाल का "भाषाभरण", गोविन्द का "कर्णाभरण", याकूब खाँ का "रसभूषण" पद्माकर का "पदमाभरण" आदि इसके परिचायक कह जा सकते हैं।

इनमें "भाषाभूषण" और "कविकुलकंठाभरण" जैसे ग्रंथों में एक ही छंद में लक्षण और उदाहरण का एक साथ निर्वाह करने के कारण इस शैली का पूरा अनुकरण कहा जा सकता है जबकि "कर्णाभरण", "रसभूषण", "पदमाभरण" जैसे ग्रंथों में संक्षेप के निर्वाह का प्रयत्न तो अवश्य रहा है पर इस शैली का पूर्ण अनुकरण नहीं हो पाया — प्रायः लक्षण और उदाहरण, दोनों पृथक-पृथक दिये गये हैं। तीसरी शैली भानुदत्त की "रसमंजरी" की कही जा सकती है जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण देकर विषय-निरूपण किया गया है। रीतिकवियों ने इसका निर्वाह केवल भानुदत्त के समान शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद विवेचन के लिए ही नहीं किया, रस, अलंकार और छंदों के विवेचन में भी किया है। उक्त दोनों शैलियों में आने वाले ग्रंथों को छोड़ शेष सभी इस शैली में लिखे गए हैं, अतएव सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण यह शैली सर्वाधिक व्यापक कही जा सकती है।

## 15.5.2 शृंगारिकता

रीति-निरूपण के समान काव्यशास्त्रीय नियमों में बद्ध शृंगारिकता की प्रवृत्ति भी इस काल के काव्य में यद्यपि अत्यंत व्यापक रही तथापि इसके भीतर अंतःप्रवृत्तियाँ उतनी प्रखर नहीं कि उनका अध्ययन अलग-अलग दृष्टियों से किया जा सके। फिर भी वर्ण्य सामग्री के आधार पर इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करें तो कहना होगा कि रीतिकवियों ने अपने शृंगार-वर्णनों में आलम्बन विभाव के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के गुण, स्वभाव और चेष्टाओं को समान रूप से चित्रित किया है। यह इस काल के नायक-नायिका भेद-वर्णन-संबंधी सभी ग्रंथों में ही नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत सतसई-ग्रंथों तथा स्फुट शृंगारी छंदों में भी देखने को मिलता है। अतः नायिका-स्वरूप वर्णन शृंगारिकता की पहली और सर्वव्यापक अन्तःप्रवृत्ति कही जा सकती है। नायिकाओं के नख-शिख का वर्णन इस काल की शृंगारी कविता की दूसरी अन्तःप्रवृत्ति कही जा सकती है — प्रायः कवि परम्परागत ढंग से नायिकाओं के विभिन्न शरीरावयवों का स्थूल वर्णन करते हुए दृष्टिगत होते हैं। कुछ कवियों ने तो "नख-शिख" संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों की रचना तक की है। तोष, मंडन, कुलपति, सूरति, नृपशुभु, रसानंद, कृष्णभट्टदेव ऋषि, चंदन, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि के ग्रंथ इसी अंतःप्रवृत्ति के प्रमाण हैं।

शृंगार रस के विभाव पक्ष के अंतर्गत उद्दीयक सामग्री के अंतर्गत एक ओर नायिकाओं के हावों के वर्णन की और दूसरी ओर षट्ऋतु और बारहमासा के वर्णन की प्रवृत्ति भी इस काल के कवियों में देखने को मिलती है। ये वर्णन सामान्यरूप से संयोग या वियोग शृंगार के वर्णनों में न्यूनाधिक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, स्वतंत्र रचनाओं के रूप में प्राणनाथ के "षट्ऋतु" और मंडन के बारहमासा को छोड़ प्रायः देखने में नहीं आते। फिर भी उद्दीपक सामग्री को इन रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

जहाँ तक शृंगार रस के अन्य अंगों अथवा पक्षों के वर्णन का प्रश्न है, सभी को इस काल के कवियों ने सम्यक रूप से अपनी कविता में प्रस्तुत किया है, पर उनमें से किसी को विशिष्ट स्थान देने की प्रवृत्ति इन कवियों में देखने को नहीं मिलती। अनुभावों को वर्णन इन कवियों की प्रमुख विशेषता रही है किन्तु किसी ग्रंथ में इन्हें एकान्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। इसी प्रकार वियोग शृंगार के वर्णनों में दशकामदशाओं तथा विप्रलंभ शृंगार के भेदों का वर्णन भी प्रायः कवियों ने शास्त्रीय परिपाटी के अनुसार किया है, किन्तु वहाँ पर भी एतत्संबंधी किसी अंतःप्रवृत्ति के होने की बात नहीं की जा सकती। हाँ, इतना अवश्य है कि "मरण" नामक कामदशा और "करुणविप्रलंभ" नामक वियोग शृंगार के भेद को इस काल के कवियों ने समान और व्यापक रूप में छोड़ दिया है। पर यह साधारण सी बात है — किसी अन्तःप्रवृत्ति की परिचायक नहीं।

## 15.5.3 राजप्रशस्ति

राजप्रशस्ति रीतिकाल की शास्त्रबद्ध कविता की गौण प्रवृत्तियों में सर्वप्रमुख है। इसका दर्शन सामन्यतः द्वन्द और अलंकार के निरूपण संबंधी ग्रंथों तथा आमुखों के रूप में होता है। इस प्रवृत्ति के भीतर किसी अन्तःप्रवृत्ति को तो स्पष्टतः नहीं देखा जा सकता पर आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों के वैभव, उनके शौर्य और पराक्रम तथा उनकी दानशीलता का वर्णन इन कवियों का मुख्य वर्णय विषय रहा है, पर उसमें आश्रयदाताओं के शत्रुओं की कायरता तथा आश्रयदाताओं के आतंक के वर्णन की प्रवृत्ति के सिवाय और कोई वैशिष्ट्य दृष्टिगत नहीं होता। यदि कोई चाहे तो इसी को राजप्रशस्ति की अन्तः प्रवृत्ति कह सकता है।

## 15.5.4 भक्ति

काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध भक्ति-परक रचनाएँ इस काल में लिखे गए रीतिनिरूपण संबंधी ग्रंथों के समान रीति की परिपाटी पर लिखे गए स्वतंत्र ग्रंथों तथा स्फुट छन्दों के रूप में भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनमें किसी विशिष्ट अन्तःप्रवृत्ति का दर्शन होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, इन सभी रचनाओं में कवियों ने विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति अपनी आस्था या भक्ति भावना का प्रदर्शन उसी प्रकार से किया है जिस प्रकार से उस युग में एक सामान्य गृहस्थ अपने परिवार और अपने कल्याण के लिए व्यक्त करता था — न तो इनमें किसी विशिष्ट देवी या देवता के प्रति भक्ति भाव का आग्रह है और न किसी विशिष्ट भक्ति संप्रदाय के सिद्धांतों के अनुरूप अपनी भक्ति भावना की अभिव्यक्ति ही है, उसे परंपरा से जो संस्कार प्राप्त हुए हैं उन्हीं के अनुरूप वह किसी भी देवी या देवता के प्रति अपनी आस्था या भक्ति भावना व्यक्त कर लेता है। कतिपय रचनाओं

कवियों ने दार्शनिक विचार भी व्यक्त किये हैं। किन्तु उनमें भी कोई ऐसी विशिष्ट सैद्धांतिक बात नहीं मिलती जिसे किसी प्रवृत्ति की संज्ञा दी जा सके। उस काल के सामान्य व्यक्ति को अद्वैत दर्शन अथवा उनकी व्याख्याओं का जो अधकचरा ज्ञान प्राप्त था, वही प्रायः दृष्टिगत होता है।

### 15.5.5 नीति

भक्ति के समान काव्यशास्त्रीय नियमों में बँधी नीति परक रचनाएँ इस काल के रीति ग्रंथों तथा रीति की परिपाटी में बद्ध ग्रंथों में मिलती हैं। किन्तु इनमें दो प्रकार की अन्तःप्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। इनमें प्रथम अंतःप्रवृत्ति की परिचायक वे रचनाएँ कही जा सकती हैं जिनमें कवि अपने जीवन के खट्ठे-मीठे अनुभवों अथवा महापुरुषों की वाणी के आधार पर व्यक्ति को कर्त्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराता है अथवा अपने आपको संबोधित करता है। इनमें वृन्द की "सतसई" तो प्रसिद्ध है ही, अन्य सतसई ग्रंथों तथा अलंकार-निरूपण संबंधी ग्रंथों के कतिपय छन्दों में भी इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। दूसरी अंतःप्रवृत्ति उन रचनाओं की कही जा सकती है जिनमें कवि "अन्योक्ति" अलंकार की सहायता से किसी व्यक्ति को सावधान करता है अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराता है। ये रचनाएँ अधिकांशतः उस युग के दरबारी वातावरण में लिखी गई हैं जहाँ कोई व्यक्ति शासक के कोप के भय से स्पष्टतः कुछ कहना नहीं चाहता था।

### 15.5.6 प्रकृति तथा अन्य विषय

इस काल को रीति ग्रंथों में उपलब्ध प्रकृति तथा अन्य विषयों से संबद्ध काव्य शास्त्रीय परिपाटी की रचनाएँ किसी विशिष्ट अंतःप्रवृत्ति की ओर संकेत नहीं करती। कारण, एक तो ये परिमाण में बहुत अधिक नहीं है, दूसरे इस काल के कवियों का आग्रह किसी विशिष्ट विषय के प्रति दृष्टिगत नहीं होता — किसी विशिष्ट शैली में ये लिखी गई हों, ऐसा भी नहीं है।

### 15.5.7 रीतिमुक्त काव्य

रीतिनिरूपण और उससे संबद्ध शृंगारिकता आदि कविता की प्रवृत्तियों के बाद रीतिकालीन कविता की जो महत्वपूर्ण प्रवृत्ति कही जा सकती है, वह है — रीति मुक्त काव्य की प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति यद्यपि घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा और द्विजदेव — इन पाँच कवियों की रचनाओं से ही संबद्ध कही जाती है, तथापि इस प्रवृत्ति की रचनाएँ इस काल के अन्य रीति कवियों द्वारा लिखी हुई भी मिलती हैं, किन्तु ये परिमाण में बहुत अधिक नहीं हैं। इस प्रवृत्ति की कविता में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फारसी काव्य की पद्धति के विषय (एक तरफा) प्रेम की वैयक्तिक अभिव्यक्ति मिलती है। इस कविता में प्रेम माहात्म्य, विरह-व्यथा की कथा और प्रिय की निष्करूणता का वर्णन सम्यक रूप से हुआ है। अतः ये तीनों विषय ही इस कविता की अन्तःप्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। रचना शैली की दृष्टि से इस प्रवृत्ति की रचनाएँ रीति-परक कविताओं से मिलती-जुलती हैं, पर भावना की दृष्टि से ये उससे सर्वथा पृथक हैं, यह उन्हें पढ़कर स्वतः बोध हो जाता है।

### 15.5.8 रीतिइतर काव्य

रीतिइतर प्रवृत्तियों संबंधी रचनाएँ रीतिमुक्त काव्य-प्रवृत्ति की रचनाओं की तुलना में इस काल के अंतर्गत अधिक परिमाण में दृष्टिगत होती हैं। ये रचनाएँ किसी विशिष्ट वर्ग के कवि से जुड़ी नहीं कही जा सकतीं। उक्त दोनों प्रवृत्तियों के काव्य की रचना करने वाले कवियों ने भी इन प्रवृत्तियों विषयक रचनाएँ की हैं। उनकी मुख्य बात यह है कि इनके बीच किसी भी प्रकार की शृंगारिकता की प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। इन प्रवृत्तियों के भीतर वीरकाव्य, भक्ति और दर्शन तथा नीति काव्य संबंधी तीन प्रवृत्तियाँ ही स्पष्ट हैं। वीर काव्य की प्रवृत्ति प्रायः कवियों के आश्रयदाताओं के शौर्य-पराक्रम की परिचायक घटनाओं या युद्धों के वर्णन संबंधी रचनाओं अथवा कतिपय ऐतिहासिक पौराणिक घटनाओं के वर्णन में मिलती हैं। गोरे लाल का 'छत्र प्रकाश', सूदन का "सुजानचरित्र" जोधराज का हम्मीर रासो, ग्वाल और चन्द्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीर हठ' नामक काव्य, पद्माकर की "हिम्मतबहादुर विरुदावली" आदि इसके प्रमाण कहे जा सकते हैं। भक्ति और दर्शन की प्रवृत्ति रीतिकवि महाराज जसवंत सिंह के अपरोक्ष सिद्धांत, अनुभव प्रकाश, आनन्दविलास आदि ग्रंथों में ही देखने के लिए नहीं मिलतीं — यारी साहब, दरिया साहब, पलटू साहब आदि निर्गुण मार्गी सन्तकवियों, नूर मुहम्मद, शेखनिसार, दुखहरनदास आदि प्रेममार्गी कवियों गुरुगोविन्द सिंह, नवल सिंह, विश्वनाथ सिंह आदि रामभक्त कवियों तथा नागरीदास, चाचा हितवृंदावनदास, प्रेमसखी आदि कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में भी उसके दर्शन होते हैं। इसी प्रकार नीति काव्य रचना की प्रवृत्ति गिरिधर कविराम और दीनदयाल गिरि जैसे प्रसिद्ध नीति कवियों की रचनाओं में देखी जा सकती हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि रीतिकाल के अंतर्गत रीतिनिरूपण और शृंगारिकता की व्यापक प्रवृत्तियों तथा रीतिमुक्त काव्य की सशक्त प्रवृत्ति के बीच रीतिइतर काव्य संबंधी प्रवृत्तियाँ भी स्वच्छन्द रूप से पनपती रहीं। अतः इन्हें किसी भी प्रकार से उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। इनका अपना विशिष्ट महत्व है।

**बोध प्रश्न 2**

1) किन्हीं दो रीतिमुक्त कवियों का नामोल्लेख कीजिए।

.....

.....

2) रीति इतर काव्य प्रवृत्तियों का परिचय पन्द्रह पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नीचे लिखे वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति दिए गए विकल्पों में से एक के द्वारा कीजिए —

i) रीतिमुक्त प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि हैं ..... ।
(क) घनानंद, (ख) भूषण, (ग) गिरिधर दास, (घ) पलटू साहब

ii) भाषाभूषण के रचयिता का नाम है ..... ।
(क) भूषण, (ख) जसवंत सिंह (ग) दूलह, (घ) पद्माकर।

iii) "रसभूषण" नाम के ग्रंथों में .....का विवेचन हुआ है।
(क) रस (ख) अलंकार (ग) द्वन्द (घ) रस और अलंकार।

iv) रीतिकाल के अंतर्गत जयदेव के चन्द्रालोक की .....शैली में रीतिनिरूपण संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे गये।
(क) सरस, (ख) संक्षेप (ग) सुबोध (घ) मिश्रित।

v) ..... रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति का परिचायक ग्रंथ है।
(क) सुजानचरित्र (ख) कविकुलकल्पतरू (ग) बिहारी सतसई (घ) अपरोक्ष सिद्धांत।

## 15.6 रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ

रीतिकाल की कविता में जितनी भी मुख्य तथा गौण प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं उन सबकी विषय, वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से अपनी-अपनी विशेषताएँ रही हैं, अतः प्रत्येक प्रवृत्ति की विशेषताओं पर पृथक-पृथक विचार कर लेना भी अनुचित न होगा।

### 15.6.1 रीतिनिरूपण

रीति-निरूपण की समस्त अतःप्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर इनमें कतिपय सामान्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं। इनमें सबसे पहली तो यही है कि इस काल के समस्त रीतिकवियों ने अपने ग्रंथों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए किया है अतएव सुबोधता, सुकण्ठता और सरलता का ध्यान रखते हुए ही इनमें संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न शैलियों का अनुसरण किया गया है। इस प्रवृत्ति की दूसरी विशेषता

यह है कि विवेचन के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के उन्हीं ग्रंथों को आधार बनाया गया है जो 8वीं-9वीं शताब्दी के बाद विवेचन की व्यवस्था और सुबोधता के कारण एक प्रकार के पाठ्यग्रंथ बन चुके थे — इनके भीतर दिए गए लक्षणों का ब्रजभाषा में अनुवाद करने का ही रीतिकवियों ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार लोगों ने आचार्य-कर्म की अपेक्षा कवि-शिक्षक के कर्म का ही निर्वाह किया है और सीमाओं के रहते हुए भी कुल मिलाकर इस दिशा में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। तीसरी विशेषता यह है कि काव्य के विभिन्न अंगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी ये लोग मूल रूप से रसवादी थे। इसीलिए इनके लक्षणों और उदाहरणों में सिद्धांत और व्यवहार, दोनों की दृष्टि से रसवाद की स्थापना देखने को मिलती है।

## 15.6.2 शृंगारिकता

शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति के समान इसके भीतर भी कतिपय सामान्य विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इनमें पहली तो यही है कि काव्यशास्त्र के बंधनों के निर्वाह तथा नैतिक बंधनो की छूट और विलासी आश्रयदाताओं से प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया उसे कवियों की शृंगारिक प्रवृत्ति से अलग करके सहज ही देखा जा सकता है। काव्यशास्त्रीय बंधनों ने इस कविता को इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार रस के विभिन्न अंगों और उपांगों के आधार पर इन रचनाओं के पृथक-पृथक वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि इन कवियों के पास प्रत्येक वर्ग से संबंधित साँचे हैं जिनमें ढालकर इसे बनाया गया है। दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट और आश्रयदाताओं से प्रोत्साहन के कारण इन कवियों ने अपनी कल्पना के पंख इतने फैलाये हैं कि इन रचनाओं से उनकी अभिरुचि और दृष्टि का आभास स्वतः हो जाता है। इस प्रवृत्ति की दूसरी विशेषता यह है कि इस कविता में काम भावना के दमन से उत्पन्न मानसिक ग्रंथियाँ न होकर शरीर-सुख की वह साधना है जिसमें व्यक्ति की दृष्टि विलास के उपकरणों को एकत्र करने पर ही केन्द्रित रहती है। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की धृष्टताओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया गया। इस प्रवृत्ति की तीसरी विशेषता यह है कि विलासिता के प्राधान्य के कारण प्रेम-भावना में एकनिष्ठता के स्थान पर अनेकोन्मुखता ने स्थान लिया है जिसके परिणामस्वरूप कुंठा रहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गई है। इस प्रवृत्ति की चौथी विशेषता यह कही जा सकती है कि नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि रहने के कारण नारी को समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग समझने के स्थान पर उसे उसका भोग्य उपकरण मात्र समझ लिया गया है, परिणामतः स्त्री की समस्त चेष्टाएँ और भावनाएँ मात्र उसकी काम-भावना की अभिव्यक्ति समझ ली गई हैं तथा उनके प्रति सहानुभूति के स्थान पर नायकों का कौतूहल का भाव व्यक्त किया गया है। कदाचित इसीलिए विरह संबंधी रचनाएँ प्रभावहीन हो गई हैं। इस प्रवृत्ति के विषय में पाँचवीं बात यह कही जा सकती है कि इस युग के पुरुष की दृष्टि इतनी विलासपूर्ण रही है कि नारी के रूप और गुणों के स्थान पर उसके मांसल शरीर की बनावट पर ही पुरुष की दृष्टि केन्द्रित रही है। किन्तु यह सब होते हुए भी इस प्रवृत्ति में छठी विशेषता के रूप में यह बात देखने को मिलती है कि इस काल के कवियों ने व्यापक रूप से इंद्रिय दमन-जन्य कुंठा का अभाव, शरीर-सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेम-जन्य रसिकता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि तथा गार्हस्थिक प्रेम का समावेश कुछ इस प्रकार से हुआ है कि काव्यशास्त्रीय बंधनों के रहते हुए भी इससे संबद्ध (शृंगारिक) कविता पाठक को आनंदमग्न कर देती है।

## 15.6.3 राजप्रशस्ति, भक्ति आदि गौण विशेषताएँ

इस काल के रीति काव्य की गौण प्रवृत्तियों में राजप्रशस्ति संबंधी प्रवृत्ति में मुख्य विशेषता यह है कि कवियों ने सामान्य रूप से अपने आश्रयदाताओं के शौर्य पराक्रम उनकी दानशीलता आदि कतिपय गुणों का वर्णन किया है। इनमें शौर्य-पराक्रम के स्थान पर उनके आतंक तथा उनके दान के व्यापार के स्थान पर दान की सामग्री की विपुलता का वर्णन ही कवियों का अभीष्ट प्रतीत होता है। इसीलिए इस कविता में झूठी प्रशस्ति द्वारा धन ऐंठने की भावना का अनुभव अधिक होता है आश्रयदाता के प्रति श्रद्धा के भाव की कम अनुभूति होती है। भक्ति की प्रवृत्ति के वैशिष्ट्य के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि परंपरागत आस्थाओं और विश्वासों के कारण इस काल की भक्ति परक कविता कवियों की धार्मिक भावना की परिचायक होने के साथ-साथ देवी-देवताओं की शरण में जाकर अपने संकट-निवारण की प्रार्थना तथा आत्मशांति की खोज के प्रयत्न को प्रकट करती है। इसी प्रकार नीति की प्रवृत्ति में आत्मबोध तथा अपने इष्ट मित्रों अथवा पक्ष के लोगों के लाभ के लिए अपने अनुभवों को स्पष्ट रूप से अथवा अन्योक्तियों द्वारा प्रच्छन्न रूप से प्रकट करने का प्रयास रहा है। शेष गौण प्रवृत्तियों में प्रकृति को शृंगार रस की उद्दीपक सामग्री के रूप में प्रस्तुत किये जाने के सिवाय और कोई विशेषता दृष्टिगत नहीं होती।

## 15.6.4 रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएँ

रीतिमुक्त काव्य की प्रवृत्ति इस काल की रीतिकविता के विरोध में उभरकर आई थी। अतः इस प्रवृत्ति की विशेषताओं की रीतिकाव्य की प्रवृत्ति की विशेषताओं के साथ तुलना करके ही देखना चाहिए। इस दृष्टि से इस प्रवृत्ति की विशेषता यह रही है कि यह रीतिकाव्य के समान आत्मदर्शन परक और वस्तु प्रधान न होकर सर्वथा आत्माभिव्यक्ति परक और व्यक्ति प्रधान है। यही कारण है कि इसमें प्रगीतिकाव्य जैसा रागतत्व अपने चरमोत्कर्ष के साथ व्यंजित

हुआ है — रीतिकाव्य के समान कवि दृष्टि, मांसल रूप सौंदर्य, कामभाव की व्यंजक शारीरिक चेष्टाओं जैसे स्थूल विषयों के वर्णनों में उलझकर नहीं रह गई। यहाँ तो व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यथार्थ प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति है। रीतिकवियों के समान कल्पनालोक में विचरण करते हुए स्त्री-पुरुष के कृत्रिम प्रेम का चित्रण नहीं। इस प्रेमाभिव्यक्ति की विशेषता इसी बात में निहित है कि जहाँ एक ओर यह रीतिकवियों के समान लौकिक है वहीं दूसरी ओर भक्तकवियों के साधनात्मक और आध्यात्मिक प्रेम-विशिष्ट-दैन्य से सम्पृक्त है। कदाचित इसीलिए इसमें सर्वत्र रीतिकवियों के समान ऐंद्रियता के स्थान पर भक्त कवियों — जैसा औदात्य उपलब्ध होता है, अतृप्तवासना की अभिव्यक्ति के स्थान पर प्रेम पात्र के मन में अपने प्रति करुणा उत्पन्न करने का प्रयत्न है, भोगेच्छा जन्य प्रतिदान की अभिलाषा नहीं, प्रिय को यह अहसास कराने की चेष्टा है कि उसके प्रति निर्मल प्रेम करने वाला भी कोई है। इस प्रेम में एकनिष्ठता, अनन्यता और ध्यान-मग्नता अपनी चरम सीमा पर लक्षित होती है जबकि रीतिकाव्य में प्रेम अनेकोन्मुख वासनातुर एवं रूपवैविध्य के अस्वाद के लोभ से विजडित है।

रीतिमुक्त काव्य की दूसरी मुख्य विशेषता है — प्रेमाभिव्यक्ति में वेदना की प्रधानता। इस वेदना में इतना अवसाद और घुटन है कि प्रेमी अपने मन को मसोसता हुआ ही दृष्टिगत होता है। सहृदय न मिल सकने के कारण वह अपनी व्यथा की कथा किसी से नहीं कह पाता। कहना न होगा कि इस व्यथा को सहने का उसे इतना अधिक अभ्यास है कि बड़ी से बड़ी पीड़ा उसे कष्टकर ही प्रतीत नहीं होती प्रत्युत सुख से उसका जी ऊबने लगता है। उसका यह प्रेम एक तरफा है। प्रेम का यह रूप भारतीय परंपरा से संबद्ध न होकर फारसी पद्धति का है। रीतिकवि के श्रृंगार काव्य में भारतीय परंपरा के दुतरफा (प्रेमी और प्रिय दोनों के) प्रेम का चित्रण है। वस्तुतः रीतिमुक्त काव्य पुरुष के विरह का काव्य है — इसमें रीतिकाव्य के समान नारी-विरह के लिए कोई स्थान नहीं रहा है और न संयोग के क्षणों में उपलब्ध इन्द्रिय सुख की अभिव्यक्ति ही इसमें है। रीतिकाव्य के समान इसमें न स्त्री-पुरुष के धर्म, गुण, स्वभाव, दशा, अवस्था आदि के आधार पर अनुराग की श्रेणियाँ ही हैं जिन्हें स्थूल चेष्टाओं अथवा काम दशाओं के द्वारा व्यक्त किया गया है और न प्रिय तक अपने अनुराग को पहुँचाने के लिए सखी-दूती आदि का माध्यम ही खोजा गया है — यहाँ तो प्रेमी अपनी एक मात्र प्रेमिका के प्रति स्वयं ही प्रेम निवेदन करता है। कदाचित् इसीलिए इस कविता को पढ़कर चित्त स्थिर होता है जबकि रीतिकाव्य से चित्तता में कौतूहल अथवा चमत्कार उत्पन्न होता है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से इस प्रवृत्ति की तीसरी विशेषता के रूप में यह कहना होगा कि रीतिमुक्त काव्य यद्यपि भाषा-प्रयोग, छन्द योजना और काव्य रूप में रीतिकाव्य से मिलता-जुलता है तथापि रचना-विषयक दृष्टि-भेद के कारण यह उससे मूलतः पृथक है। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि रीतिकाव्य के समान शास्त्रबद्ध होने के स्थान पर इसके नितान्त वैयक्तिक होने के कारण इसकी बिम्ब-योजना (चित्रात्मक वर्णन) वस्तु-परकता से असम्पृक्त होकर इतनी रागात्मक रही है कि इसके बिम्बों (चित्रों) की सहज सामान्य रेखाएँ जहाँ एक ओर रीतिकवियों द्वारा अंकित बिम्बों की स्थूल अथवा नितान्त सूक्ष्म रेखाओं के समान कटी-छँटी, चमत्कारक और कौतूहल पूर्ण होने के स्थान पर नितान्त अनगढ़, वक्र, पैनी, धारदार और मर्मस्पर्शी हो गई है वहीं दूसरी ओर रीतिकाव्य के वस्तु-वैभव की रंगीनी और चमक-दमक यथा प्रयत्न-साध्य सामग्री के स्पर्श से सर्वथा रहित एवं कोरी, लाक्षणिक तथा स्वतः प्रसाधित हैं। दूसरे, चूँकि इसके रचयिता किसी भी रूप में परंपराओं और शास्त्रीय मर्यादाओं में विश्वास नहीं करते इसलिए इनके काव्य-बिम्बों और उनकी अभिव्यक्ति में रीतिकाव्य जैसी एकरूपता दृष्टिगत नहीं होती — उनमें सर्वत्र प्रतिभा-कौशल अपनी झलक छोड़ता गया है। उधर कवि की अनुभूति की नितान्त वैयक्तिकता की सफल अभिव्यक्ति के कारण इस काव्य में प्रत्येक संवेदन और स्पन्दन की नवीनता के अनुरूप सटीक और एकदम अछूते शब्दों, मुहावरों, क्रियापदों और अप्रस्तुतों का प्रयोग इतनी सहजता और कौशल के साथ हुआ है कि रीतिकाव्य का शास्त्रबद्ध और रूढ़ अभिव्यंजना-व्यापार इसके समस बासी प्रतीत होता है। कदाचित इसीलिए यह काव्य परिमाण में अल्प होता हुआ भी रीतिकालीन साहित्य में विशिष्ट दृष्टिगोचर होता है।

## 15.6.5 रीतिइतर काव्य की विशेषताएँ

रीतिकाल की उपर्युक्त प्रवृत्तियों की तुलना में ये प्रवृत्तियाँ यद्यपि गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से साधारण ही हैं तथापि इस काल से पूर्व की साहित्यिक परम्पराओं और प्रवृत्तियों के साथ किसी-न-किसी प्रकार से सीधी जुड़ी होने के कारण निश्चय ही अपने ऐतिहासिक महत्व को प्रतिपादित करती हैं। अतः इनकी विशेषताओं पर पृथक-पृथक विचार करते हैं।

**वीर काव्य :** यह प्रवृत्ति अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से आदिकालीन चरित्र-प्रधान प्रबन्धात्मक वीरकाव्यों का अनुकरण प्रतीत होती है। इस प्रवृत्ति के काव्यों की विशेषता ही इस बात में निहित है कि इनमें आदिकाल के कड़वक-बद्ध चरित-काव्यों अथवा छन्दवैविध्य-परक रासो-काव्यों की शैली का ही अनुकरण इनमें नहीं किया गया, युद्धादि का वर्णन भी वस्तु-परिगणनात्मक ढंग से किया गया है — ध्वनि चित्रण एवं ओज की सृष्टि के हेतु भाषा में कृत्रिम तोड़-मरोड़ भी समान रूप से की गई है। अन्तर यदि है तो यही कि आदिकालीन कवि के वर्णनों में इतनी अतिरंजना है कि तथ्य सर्वथा लुप्त हो गया है जबकि इस युग के कवि के वर्णनों में तथ्यों का निर्वाह इतना अधिक हुआ है कि कवित्व सर्वथा लुप्त हो गया है और ये काव्य किसी सीमा तक पद्यबद्ध इतिहास बन गए हैं।

**भक्ति और दर्शन :** आदिकालीन चरित्र-प्रधान प्रबन्धात्मक वीरकाव्यों की प्रवृत्ति संबंधी वीरकाव्यों के समान इस काल की भक्ति और दर्शन की प्रवृत्ति की परिचायक रचनाएँ भी भक्तिकाव्य के अनुकरण पर लिखी गई दृष्टिगत होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विषय-वस्तु और अभिव्यंजना शैली दोनों की दृष्टि से भक्तिकाव्य का अनुकरण हैं। इस काल की निर्गुणधारा से सम्बद्ध रचनाओं में कबीर, नानक, दादू आदि की विचारधारा के अनुकरण और प्रतिपादन के समय मुक्तक काव्य शैली का सम्यक ग्रहण है तो प्रेमाख्यानक काव्यों में पूर्व-परम्परानुरूप दोहा-चौपाई-कड़वक-शैली में सामान्य रूप से लोक कथाओं के आधार पर प्रेमकथाएँ प्रस्तुत की गई हैं। सगुण भक्ति काव्य में एक ओर स्मार्तविचारधारानुरूप विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति भक्तिभाव की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर रामभक्ति संबंधी कविता में रामकथा और रामभक्ति को तथा कृष्णभक्ति काव्य के अंतर्गत राधाकृष्ण-विषयक भक्ति और उनकी लीलाओं को बल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि द्वारा स्थापित सम्प्रदायों की सैद्धांतिक मान्यताओं के अनुसार प्रबन्ध और मुक्त दोनों ही रूपों में प्रस्तुत किया गया है। अन्तर यदि कहीं रहा है तो यही कि काव्यभाषा के अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और समृद्ध हो जाने के कारण इस कविता में भाषागत आभिजात्य का आधिपत्य रहा है। भक्तिकालीन काव्य में उपलब्ध लोकभाषा के चलतेपन का इसमें प्रायः अभाव रहा है। रीतिकाव्य की शास्त्रीयता का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है। वैसे इतना निश्चित है कि इस प्रवृत्ति की कविता में भक्तिकालीन कवियों के भक्ति-भाव की सघनता और तीव्रता का प्रायः अभाव रहने के कारण यह तत्कालीन हिन्दी जन-जीवन की परम्परागत आस्थाओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति का मात्र साधन प्रतीत होती है, भक्तों के आराध्य के प्रति राग के औत्कट्य, उसके मन की प्रतीति तथा आत्मसमर्पण के भाव का अहसास कम करा पाती है।

**नीति :** अंत में नीति संबंधी रीति इतर प्रवृत्ति की विशेषताओं पर विचार करते हैं। नीति-परक रचनाएँ रीतिकाल से पूर्व भक्तिकाल में भी प्रचूर परिमाण में लिखी गई। किन्तु भक्तिकालीन और रीतिकालीन नीतिकाव्य का मुख्य अंतर यह है कि प्रथम में जहाँ नीति आध्यात्मिकता का अंग बनकर रह गई है वहाँ नीति-द्वितीय के भीतर यह व्यक्ति की भौतिक अथवा मानसिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कर्तव्याकर्तव्य के स्वतंत्र उपदेश के रूप में आई हैं। इस प्रवृत्ति के कवियों की विशेषता ही इस बात में निहित है कि वे जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों की अभिव्यक्ति द्वारा इस काल के साधारण व्यक्ति को अपनी कविता के साथ सहजरूप में जोड़ते हैं। दूसरे जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के कारण ये लोग कटु बातें कहने में भी संकोच नहीं करते — रीतिकवियों के अन्योक्तिप्रधान नीतिकाव्य के समान अपनी बात को प्रच्छन्न रूप से कहने का प्रयास नहीं करते। अनुभवों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अनुरूप इन्होंने रचना-शिल्प में भी स्वतंत्रता बरती है।

**बोध प्रश्न 3**

1) रीतिबद्ध शृंगार काव्य की विशेषताएँ दस पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) रीतिइतर काव्य प्रवृत्तियों की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा दस पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ दस पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति दिए गए विकल्पों में से किसी एक के द्वारा कीजिए।

i) वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति ..... की प्रमुख विशेषता है।
(क) रीतिबद्ध शृंगारिक कविता (ख) रीतिमुक्त काव्य (ग) रीतिइतर का काव्य

ii) रीतिकाल पूर्व के काव्य की परम्पराओं का अनुसरण ..... प्रवृत्तियों संबंधी ग्रंथों में मिलता है।
(क) रीतिनिरूपण (ख) रीतिमुक्त काव्य (ग) रीतिबद्ध काव्य (घ) रीतिइतर काव्य

iii) सुबोधता, सुकंठता और सरसता ..... की प्रवृत्ति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।
(क) रीतिनिरूपण (ख) रीतिमुक्त काव्य (ग) रीतिइतर काव्य (घ) रीतिबद्ध नीति काव्य

iv) आत्मबोध अथवा अपने पक्ष के लोगों को अन्योक्तियों द्वारा सचेत करना रीतिबद्ध ..... काव्य की विशेषता है।
(क) शृंगार (ख) राजप्रशस्ति (ग) भक्ति (घ) नीति

v) विरह-कथा-व्यथा ..... काव्य की विशेषता है।
(क) रीतिमुक्त शृंगार (ख) रीतिबद्ध शृंगार (ग) रीतिइतर भक्ति (घ) रीतिइतर वीर काव्य

5) निम्नलिखित विषयों पर पाँच-पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

**i) रीतिनिरूपण**

.....

.....

.....

.....

.....

**ii) राजप्रशस्ति**

.....

.....

.....

.....

.....

**iii) वीर काव्य**

.....

.....

## 15.7 सारांश

इस पाठ में आपने पढ़ा कि रीतिकाल में दो प्रकार के कवि थे — राजाश्रित कवि और जन कवि। सभी ने अपने काल की परिस्थितियों से प्रभावित होकर मुख्यरूप से रीति निरूपण संबंधी ग्रंथ लिखे जिनके भीतर संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर रस, छंद, अलंकार आदि काव्यांगों के विवेचन के लिए लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये। उदाहरण काव्यशास्त्रीय नियमों में बांधकर, शृंगार, राजप्रशस्ति भक्ति, नीति तथा प्रवृत्ति आदि अन्य विषयों से सम्बद्ध रहे। इन उदाहरणों के परिमाण के आधार पर शृंगारिक उदाहरण सबसे अधिक कहे जा सकते हैं तथा अन्य विषयों संबंधी कम। इस प्रकार इस काल की मुख्य प्रवृत्तियाँ रीतिनिरूपण और शृंगारिकता की तथा गौण प्रवृत्तियाँ राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति तथा प्रकृति आदि अन्य विषयों की कही जा सकती हैं। इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दो अन्य प्रवृत्तियाँ भी इस काल में और रहीं। इनमें एक है रीतिमुक्त काव्य की, जो रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के विरोध में उभरी थी तथा फारसी पद्धति के वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यक्ति-प्रधान थी। दूसरी थी रीतिइतर काव्य की। इसके भीतर रीतिकाल के पूर्व की परम्पराओं के वीरकाव्य, भक्तिभाव दर्शन तथा नीति संबंधी काव्य-ग्रंथों की रचना हुई।

उक्त सभी प्रवृत्तियों की विशेषताओं के विषय में आपने जाना कि रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति, साधारण पाठक के लिए सुबोधता सुकंठता और सरसता को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न शैलियों के ब्रजभाषा में काव्यांगविवेचन संबंधी लिखे गये ग्रंथों की थी। जबकि शृंगारिकता की प्रवृत्ति इस काल के विलासी आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप लिखी गई शृंगार रस प्रधान रचनाओं में नारी के मांसल सौंदर्य, पुरुषों की रसिकता, स्त्रीयों-पुरुष के राग संबंधों के विभिन्न रूपों तथा नारी के प्रति पुरुष की सामन्तीय एवं भोगवृत्ति के वर्णन वैशिष्ट्य को प्रकट करती है। राजप्रशस्ति की प्रवृत्ति में आश्रयदाताओं के शौर्य, पराक्रम और दान शीलता के गुणों के वर्णन के साथ उनके दान की सामग्री की विपुलता तथा उनके शत्रुओं की कायरता के वर्णन की विशेषता है जबकि भक्ति की प्रवृत्ति से सम्बद्ध रचनाओं में कवियों की अपने देवी-देवताओं के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति है — नीतिपरक रचनाओं में एक और कवियों के जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों के आधार पर उपदेश है तो दूसरी ओर अन्योक्तियों द्वारा आश्रयदाताओं के बीच से अपने को बचाते हुए अपने पक्ष के लोगों को कर्तव्याकर्त्तव्य का प्रच्छन्न रूप से परामर्श अथवा आत्मबोध का वैशिष्ट्य है। रीतिमुक्त काव्य प्रवृत्ति की रचनाओं में शास्त्रीयता के बंधनों से मुक्त फारसी पद्धति के विषय प्रेम की वैयक्तिक अभिव्यक्ति प्रेमी की विरह व्यथा कथा की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति की विशेषता लिये हुए है तो रीतिइतर प्रवृत्ति संबंधी रचनाओं में रीति काल से पूर्व के कालों की क्रमशः वीरकाव्य, भक्ति और नीति संबंधी काव्य-प्रवृत्तियों की विशेषताएँ दृष्टिगत होती है।

## 15.8 उपयोगी पुस्तकें

*रीतिकाव्य की भूमिका* — लेखक, डॉ. नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस; दरियागंज, नई दिल्ली।
*हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल* — लेखक; प्रो. महेन्द्र कुमार; आर्य बुक डिपो; करोल बाग; नई दिल्ली।
*हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)*, संपादक डॉ. नगेन्द्र; नागरी प्रचारीणी सभा; वाराणसी।

## 15.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए 15.3

2) देखिए 15.4

**बोध प्रश्न 2**

1) घनानन्द; बोधा

2) देखिए 15.5.8

3) (i) क, (ii) ख, (iii) घ, (iv) ख, (v) ख

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए 15.6.2

2) देखिए 15.6.5

3) देखिए 15.6.4

4) (i) ख, (ii) घ, (iii) क, (iv) घ, (v) क

5) i) देखिए भाग 15.5.2 और 15.6.2
   ii) देखिए भाग 15.5.3 और 15.6.3
   iii) देखिए भाग 15.6.5 के अंतर्गत वीर काव्य

# इकाई 16 रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य

## इकाई की रूपरेखा


16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 "रीति" शब्द का अर्थ और उसका अभिप्राय
16.3 "रीतिबद्ध" और "रीतिसिद्ध" काव्य से अभिप्राय
16.4 रीतिकाल के प्रमुख रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ
16.4.1 रीतिबद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ
16.4.2 रीतिसिद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ
16.5 रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के वर्ण्य-विषय
16.5.1 शृंगार
16.5.2 राजप्रशस्ति
16.5.3 भक्ति और दर्शन
16.5.4 नीति
16.5.5 प्रकृति तथा इतर विषय
16.6 रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध कवियों के काव्य की विशेषताएँ
16.7 सारांश
16.8 शब्दावली
16.9 उपयोगी पुस्तकें
16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 16.0 उद्देश्य

आप ऐच्छिक हिन्दी पाठ्यक्रम-III की यह सोलहवीं इकाई पढ़ने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़कर आप :

- "रीति" शब्द का अर्थ समझा सकेंगे;
- रीतिबद्ध काव्य और रीतिसिद्ध काव्य के प्रयोग के तात्पर्य को समझा सकेंगे;
- रीतिबद्ध काव्य और रीतिसिद्ध काव्य के वर्ण्य विषयों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य का अंतर बता सकेंगे;
- रीतिबद्ध कवियों का वर्ग-विभाजन कर सकेंगे; और
- रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य की विशेषताएँ समझा सकेंगे।

## 16.1 प्रस्तावना

आप जानते ही हैं कि सन् 1650 से 1850 ई. के बीच के समय को हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने "रीतिकाल" नाम से अभिहित किया है। इस इकाई से पूर्व की दो इकाइयों में आपने इसी "रीतिकाल" के विषय में जाना कि इस काल में किस प्रकार की परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनके कारण हिन्दी कविता में विभिन्न प्रवृत्तियों का उदय हुआ। इन प्रवृत्तियों की सामान्य विशेषताएँ क्या हैं यह भी आपने जाना। इसके साथ ही आपको यह भी बोध हुआ कि इस काल में साहित्य की सर्वव्यापक प्रवृत्ति "रीतिनिरूपण" की थी जिसने रीति कविता अथवा रीतिकाव्य को जन्म दिया। इसी "रीतिकाव्य" की दो धाराएँ हैं — रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य। प्रस्तुत इकाई में इन्हीं दो धाराओं के विषय में विस्तृत चर्चा की जा रही है।

पिछली दो इकाइयों के भीतर "रीति" शब्द को विशेषण के रूप में अनेक प्रकार से प्रयुक्त किया गया है, यथा "रीतिकाल", "रीतिनिरूपण", रीतिमुक्त, रीतिइतर, रीतिबद्ध, रीतिकवि, रीतिग्रंथ। किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया गया कि "रीति" शब्द का अर्थ क्या है और इसे किस अभिप्राय से ग्रहण किया जा रहा है। आपके मन में भी यह प्रश्न उठा होगा। किन्तु वहाँ उक्त शब्दों का प्रयोग करते हुए "रीति" शब्द की व्याख्या करने की आवश्यकता इसलिए नहीं समझी गई क्योंकि "रीतिनिरूपण", "रीतिमुक्त" आदि शब्दों को प्रचलित संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त किया गया है। चूंकि इस इकाई में "रीतिबद्ध" और "रीतिसिद्ध" नामों को विशिष्ट संदर्भ में प्रयुक्त किया जा रहा है अतः यह आवश्यक है "रीति" शब्द के अर्थ और उसके तात्पर्य को स्पष्ट किया जाए। इससे "रीतिबद्ध" और

"रीतिसिद्ध" नामों में निहित वैशिष्ट्य को अधिक गहराई तक समझा जा सकेगा। इसके साथ ही पूर्वोक्त रीति निरूपण, रीतिमुक्त आदि संज्ञाओं का अभिप्राय भी और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। अतः प्रस्तुत इकाई का आरंभ "रीति" शब्द के अर्थ और उसके प्रयोग से अपने अभिप्राय के स्पष्टीकरण से किया जा रहा है।

## 16.2 "रीति" शब्द का अर्थ और उसका अभिप्राय

संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत "रीति" शब्द काव्य के उस विशिष्ट अंग के लिए रूढ़ है जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर आचार्य वामन ने तत्सम्बन्धी पृथक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया। इनके अनुसार, गुण-विशिष्ट रचना अर्थात् पद-संघटना की विशिष्ट पद्धति का नाम "रीति" है। इधर व्याकरण के आधार पर "गति" अर्थ वाली "रीड़" धातु से "क्तिन" प्रत्यय करके इसकी जो व्युत्पत्ति कही जाती है, उससे यह शब्द मार्ग का वाचक ठहरता है। इस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों में इस अकेले ही शब्द के दो पृथक प्रयोग कहे जा सकते हैं। किन्तु वास्तव में अर्थगत यह पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न होकर व्यावहारिक विकास का ही परिणाम रहा है। बात यह है कि व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति जिस विशिष्ट रूप में करता है, उसकी विशेषताएँ जब दूसरों के लिए अपने अभिव्यक्ति-व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का लक्ष्य हो जाती हैं तो उनकी विधायी पद्धति-विशेष लोक-व्यवहार में "मार्ग" शब्द से ही अभिहित होती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य दण्डी का यह कथन कि काव्य-रचना के ये दो मार्ग — "वैदर्भ" और "गौड" ही होते हैं, पर कवि में आश्रित होने के कारण इसके अनंत भेद हो जाते हैं। स्पष्टतः प्रदेश (अर्थात् वर्ग-विशेष) तथा व्यक्ति की अभिव्यक्ति-पद्धति की "मार्ग" संज्ञा द्वारा स्वीकृति है। वामन ने भी संभवतः रचना-पद्धति के लिए "मार्ग" के इस परम्परागत प्रयोग को दृष्टि में रखकर ही उसके पर्याय-रूप में "रीति" शब्द को ग्रहण किया है। कारण आचार्य दण्डी ने जिन दो मार्गों और उनके नियामक दस गुणों का उल्लेख किया है, वे वामन ने भी ग्रहण कर रखे हैं। आगे संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में भोज ने तो स्पष्ट शब्दों में "रीति" की उपर्युक्त व्युत्पत्ति दशति हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है। ऐसी दशा में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में "रीति" शब्द काव्य-रचना के मार्ग अथवा पद्धति-विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में भी अनेक ऐसे हैं जिन्होंने काव्य-रचना पद्धति का "रीति" और उसके पर्याय "पन्थ" से ही अभिहित किया है, यथा —

1) चिन्तामणि — "रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार।"
2) भूषण — "सुकविन हूँ की कछु कृपा कविन को पंथ।"
देव — i) "अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।"
ii) "भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ।"

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहासकारों तथा आलोचकों ने भी इसी अर्थ में "रीति" शब्द का प्रयोग किया है। मिश्र बंधुओं ने "आचार्य" के कर्त्तव्यकर्म को दशति हुए इस शब्द का जो स्पष्टीकरण किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है — "आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी"। अतएव व्युत्पत्ति प्रयोग और परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है कि "रीति" शब्द संस्कृत समान हिन्दी में भी बहुत पहले से काव्य-रचना पद्धति के लिए रूढ़ है। "रीति" शब्द को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए कहा जा सकता है कि "रीतिकाव्य" वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रखकर की गई हो। हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल अर्थात् रीतिकाल में अधिकांश कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों की बंधी-बंधायी परिपाटी पर ही अपने साहित्य की रचना की। यही बात दृष्टि में रखते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहासकार उपर्युक्त "रीति" विशेषण से युक्त रीतिकाल, रीतिकवि, रीतिमुक्त आदि संज्ञाओं का प्रयोग करते रहे हैं। पूर्व की दो इकाइयों और प्रस्तुत तथा बाद की इकाई में भी "रीति" शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखकर इसका तथा इससे विशिष्ट संज्ञा शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा किया जाएगा।

## 16.3 "रीतिबद्ध" और "रीतिसिद्ध" काव्य से अभिप्राय

रीतिकाल की दो सौ वर्ष की दीर्घ कालावधि के बीच रचे गए साहित्य का यदि विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि इसका दो-तिहाई से अधिक भाग ऐसा है जो काव्य के विभिन्न अंगों के विवेचन के निमित्त अथवा उन अंगों से संबंधित नियमों के अनुरूप लिखा गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने "रीति" शब्द के उपर्युक्त अर्थ को दृष्टि में रखते हुए कदाचित् इसीलिए इसे "रीतिसाहित्य" अथवा "रीतिकाव्य" संज्ञा से अभिहित किया है। रचना-उद्देश्य के आधार पर इस साहित्य को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। इनमें एक वर्ग तो उन ग्रंथों का है जिनमें काव्यशास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन ही उनके रचयिताओं का मुख्य उद्देश्य रहा — कवित्व-प्रदर्शन का प्रयत्न उन्होंने कम से कम इनके भीतर नहीं किया। इन ग्रंथों में सामान्य रूप से रस, अलंकार, छन्द आदि विशिष्ट काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण या तो इतने संक्षिप्त रूप में दिए गए कि कवित्व की दृष्टि से उनका महत्व ही नहीं रहा या फिर स्वरचित लक्षणों के साथ अन्य कवियों के उदाहरण देकर विषय के विवेचन पर इतना अधिक

बल दिया गया कि रचनाकार की प्रतिभा सर्वथा पृष्ठभूमि में पड़ गई। ऐसे ग्रंथों को "रीतिग्रंथ" अथवा "शास्त्रीय ग्रंथ" कहा जाता है। दूसरा वर्ग उन ग्रंथों का है जिनमें रचयिता अपने शास्त्रज्ञान और कवित्व का समान रूप से प्रदर्शन करना चाहता है। इनके भीतर लक्षण तो स्वरचित हैं ही, उदाहरण भी स्वरचित हैं। ये सभी उदाहरण कवित्व की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट हैं कि रस, अलंकार, छन्द आदि के विवेचन से सम्बद्ध होने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं महत्व रखते हैं। इन उदाहरणों की विशेषता अपने आप में इस बात में निहित है कि ये कवित्वपूर्ण होते हुए भी काव्य-शास्त्रीय लक्षणों में पूर्णतः बंधे हुए हैं — काव्यांग-विशेष से सम्बद्ध विषय के लक्षण में जो बातें कही गई हैं, उनका इनमें यथासंभव अक्षरशः पालन किया गया है। उदाहरण के लिए निम्नोक्त लक्षण और उदाहरण दृष्टव्य हैं :

**लक्षण:** जाको बर्नन कीजिए सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिए ताहि कहत उपमान।।
जहाँ बरनिये दुहुनि की सम छवि को उल्लास।
पंडित कवि मतिराम तहँ उपमा कहत प्रकास।।

**उदाहरण:** प्रान पियारो मिल्यो सपने में परी जब नैसुक नींद निहोरे।
कन्त को आइबो त्यों ही जगाय कहे सखि बैन पियूष निचोरे।।
यों मतिराम भयो मन में सुखु बाल के बालम सों दृग जोरे।
ज्यों पट में अति ही चटकीलो चढ़ै रंगु तीसरी बार के बोरे।।

लक्षण में कहा गया है कि जिस विषय का कवि द्वारा वर्णन किया जाता है उसे "उपमेय" कहते हैं और जिस पदार्थ के साथ वर्णनीय विषय (उपमेय) की तुलना की जाती है उसे "उपमान" कहा जाता है। जिस कविता में इन दोनों अर्थात् "उपमेय" और "उपमान" की (विशेषताओं की) तुलना की जाती है वहाँ पर "उपमा" नामक अलंकार होता है। इसी लक्षण का उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि एक दिन एक नायिका (स्त्री) परदेस गए हुए अपने पति की याद करते-करते सो गई और उसे सपना आ गया जिसमें उसने देखा कि उसका पति उससे मिल रहा है। वह सपना देख ही रही थी कि इतने में उसकी सखी ने उसे जगाकर सूचना दी कि उसका पति आ गया है। और जब तक वह संभलती तब तक उसका पति उसके सामने सचमुच आ खड़ा हुआ। पति का दर्शन पाकर उसे इस प्रकार आनन्द मिला जैसे किसी महीन वस्त्र को रंग में तीन बार डुबोने से उसके ऊपर गहरा रंग चढ़ जाता है। अब देखिए यहाँ वर्णन का विषय (उपमेय) है पति के विषय में नायिका के मन का आनंद जो स्वप्न में पति-मिलन, सखी से उसके आगमन की सूचना और साक्षात् मिलन के कारण उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। इधर "उपमान" है कपड़े का क्रमशः पहली बार, दूसरी बार और तीसरी बार रंग में डुबोने पर गहरे रंग का हो जाना। इस छन्द में उपमेय और उपमान की तुलना करके दिखाई गई है। अतः "उपमा" अलंकार हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि उदाहरणगत तुलना लक्षण में दी गई सभी बातों के अनुरूप है। छन्द अत्यन्त सरस अथवा कवित्व पूर्ण है। लक्षणों और उदाहरणों के इस प्रकार के समूह को "रीतिकाव्य" की संज्ञा दी गई है क्योंकि इनमें अलंकार जैसे विशिष्ट काव्यांग का एक ओर विवेचन है तो उससे सम्बद्ध उदाहरण में कवि द्वारा अपने कवित्व का प्रदर्शन किया गया है। लक्षण-उदाहरण के इस समूह में से यदि केवल उदाहरण को उठा लिया जाए तो उसे "रीतिबद्ध काव्य" की संज्ञा दी गई है क्योंकि यह अलंकार-विशेष से सम्बद्ध काव्यशास्त्रीय नियम में पूरी तरह से बंधा हुआ है। रस, छन्द, शब्द, शक्ति, आदि अन्य काव्यांगों के विवेचन से सम्बन्धित लक्षण-उदाहरणों के समूहों में विद्यमान उदाहरणों को इसी प्रकार से "रीतिबद्ध काव्य" कहा जाता है।

"रीतिकाव्य" में तीसरा वर्ग उन ग्रंथों का है जिनमें रचयिता लक्षण देने के चक्कर में नहीं पड़ा — केवल अपना कवित्व-प्रदर्शन उसका उद्देश्य रहा है। इन ग्रंथों की विशेषता यह रही है कि इनका प्रत्येक छन्द किसी लक्षण का उदाहरण न होते हुए भी किसी लक्षण का उदाहरण बन सकता है, कारण इनके रचयिताओं ने इनकी रचना करते समय जाने-अनजाने में काव्यशास्त्रीय नियमों का पालन कर लिया है। शास्त्रीय नियमों में बद्ध रीतिबद्ध काव्य सम्बन्धी उदाहरणों से इन छन्दों का अंतर यही है कि वे जहाँ किसी विशिष्ट लक्षण के साथ जुड़े हुए हैं वहाँ ये शास्त्रीय नियमों में बद्ध होते हुए भी सर्वथा स्वतंत्र हैं। दूसरे शब्दों में काव्यशास्त्रीय नियमों की स्थिति इनके भीतर ही स्वतः सिद्ध है — अर्थात् काव्यशास्त्र सम्बन्धी विशिष्ट नियम इनके भीतर सहज रूप से इतना घटा हुआ प्रतीत होता है कि यह उस नियम के लक्षण के अनुरूप रचा हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि वह नियम इस छन्द की रचना के समय कवि के संस्कार में गहराई से बैठा हुआ था। एक उदाहरण देते हैं, देखिए —

तू रहि सखि हौं ही लखौं, चढ़ि न अटा, बलिबाल।
सब हितु बनु ही ससि उदै-दीजतु अरघु, अकाल।।

किसी नायिका ने "करवा चौथ" का व्रत रखा है। इस व्रत में स्त्रियाँ संध्या समय चन्द्रमा को अर्घ्य देनें के पश्चात् ही अपना व्रत खोलती हैं। क्योंकि स्त्रियों की यह धारणा है कि चन्द्र दर्शन किए बिना व्रत खोलने से उनके पति की मृत्यु हो जाएगी। चूंकि इस तिथि (चौथ अथवा चतुर्थी) को चन्द्रमा थोड़ी देर के लिए ही उदित हो जाता है इसलिए नायिका जल्दी से छत पर जाकर चन्द्रमा को देखना चाहती है। उसकी इस उतावली को देखकर उसकी सखी उससे कहती है कि हे सखी! तू रहने दे; मैं ही जाकर देखती हूँ कि चन्द्रमा निकला है या नहीं। कारण, यदि तू जाती है तो कहीं ऐसा न हो कि अन्य स्त्रियाँ गलती से यह समझकर कि चन्द्रमा निकल आया है, उसे

UGHI-103/279

अर्घ्य देकर अपना व्रत खोल दें। अब देखिए, यहाँ रीतिबद्ध काव्य संबंधी उपर्युक्त उदाहरण के समान नायिका के मुख (उपमेय) और चन्द्रमा (उपमान) की तुलना तो नहीं की गई पर सखी के कथन से यह स्वतः स्पष्ट हो रहा है कि वह नायिका के मुख को चन्द्रमा जैसा ही समझती है। यह उदाहरण इस बात का परिचायक है कि इस छन्द की रचना के समय कवि के संस्कार अथवा अन्तर्मन में मुख और चन्द्रमा के उपमेय-उपमान भाव की बात गहराई से बैठी हुई थी तभी तो वह यह बात अप्रत्यक्ष रूप से कह बैठी। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इसी प्रकार की रचनाओं को "रीतिसिद्ध काव्य" की संज्ञा दी है।

"रीतिबद्ध काव्य" और "रीतिसिद्ध काव्य" के अभिप्राय सम्बन्धी प्रस्तुत प्रसंग में यह बात स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों का एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो इन दोनों नामों को क्रमशः "रीति काव्य" और "रीतिबद्ध काव्य" संज्ञाओं से अभिहित करता है। किन्तु हमने "रीतिबद्ध काव्य" और "रीतिसिद्ध काव्य" संज्ञाओं का प्रयोग दोनों की उक्त विशेषता के आधार पर करते हुए इन दोनों वर्गों तथा इनसे पूर्व के उक्त वर्ग के समग्र रूप को *"रीतिकाव्य" कहना उचित समझा है, क्योंकि ऐसा करने से नामों को लेकर* आप लोगों के मन में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं हो पाएगी।

## 16.4 रीतिकाल के प्रमुख रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ

रीतिकाल की दीर्घकालावधि के अंतर्गत भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं, अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी हजारों कवियों ने रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध ग्रंथों की रचना की। आपकी जानकारी के लिए इन दोनों वर्गों के प्रसिद्ध कवियों तथा उनकी कतिपय प्रसिद्ध रचनाओं का उल्लेख पृथक-पृथक कर रहे हैं।

### 16.4.1 रीतिबद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ

1) चिन्तामणि — रस विलास, कविकुलकल्पतरू, छन्द विचार।
2) मतिराम — रसराज, ललितललाम, वृत्तकौमुदी।
3) भूषण — शिवराजभूषण, अलंकारप्रकाश, छन्दोहृदयप्रकाश।
4) सुखदेव मिश्र — रसार्णव, रसरत्नाकर, वृत्तविचार।
5) *तोष — सुधानिधि।*
6) जसवंत सिंह — भाषाभूषण।
7) कुलपति मिश्र — रस रहस्य
8) मंडन — रसरत्नावली।
9) रंग खाँ — नायिकाभेद।
10) कुमारमणि — रसिकरसाल।
11) देव — भावविलास, भवानी विलास, कुशलविलास, रस विलास, काव्यरसायन (शब्दरसायन)। सुजानविनोद।
12) उदयनाथकवीन्द्र — रसचन्द्रोदय।
13) कृष्णभट्टदेव ऋणि — शृंगाररसमाधुरी।
14) सोमनाथ — रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास।
15) रसलीन — रसप्रबोध।
16) भिखारीदास — काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय।
17) रघुनाथ — काव्यकलाधर, रसिकमोहन।
18) जनराज — कविरास विनोद।
19) रामसिंह — अलंकारदर्पण, रसशिरोमणि, रस निवास।
20) गोप — रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण।
21) पद्माकर — जगद्विनोद।
22) प्रतापसाहि — व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्यविलास, शृंगारमंजरी।
23) रायशिवप्रसाद — रसभूषण।
24) बेनीप्रवीन — नवरसतरंग, शृंगारभूषण।

25) ग्वाल — रसिकानंद, रसरंग, साहित्यानंद।

26) चन्द्रशेखर वाजपेयी — रसिकविनोद।

## 16.4.2 रीतिसिद्ध कवि तथा उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ

1) मतिराम — सतसई।

2) भूषण — शिवाबावनी, छत्रसालदशक।

3) बिहारी — सतसई।

4) तोष — नख-शिख, विनयशतक।

5) रसनिधि — रतनहजारा।

6) जसवंत सिंह — अपरोक्षसिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास।

7) कुलपति मिश्र — नख-शिख।

8) वृन्द — नीतिसतसई, यमकसतसई।

9) कलिदास त्रिवेदी — कालिदास हजारा।

10) नृपशम्भु — नख-शिख।

11) देव — सुखसागरतरंग, अष्टयाम, नीतिशतक।

12) भूपति — सतसई।

13) चन्दन — सतसई। नख-शिख।

14) विक्रम — सतसई।

15) हठी जी — श्रीराधा सुधाशतक।

16) पद्माकर — गंगा लहरी, प्रतापसिंह विरुद्धावली।

17) पजनेस — स्फुट छंद।

18) ग्वाल — भक्तभावन, कविहृदयविनोद, कुब्जाष्टक।

19) नवीन — सुधासर।

20) चन्द्रशेखर वाजपेयी — नख-शिख।

उपर्युक्त दोनों तालिकाओं में कतिपय कवियों के नाम समान रूप से आए हैं, इसका कारण यह है कि इन कवियों ने अपने किसी ग्रंथ में काव्य के अंग-विशेष अथवा अंगों का लक्षण-उदाहरण देकर विवेचन किया है तो दूसरे में लक्षण न देकर अपने कवित्वपूर्ण छन्दों का संग्रह किया है। इतना ही नहीं, कतिपय के रीतिबद्ध ग्रंथ-विशेष के कुछ छन्द उनके रीतिसिद्ध ग्रंथ-विशेष में भी संकलित हैं। इस आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि दोनों वर्गों के बीच कोई स्थूल व्यावर्तक रेखा खींचना कठिन है। कवि ने पहले कोई छन्द लिखा और बाद में उसे अपने काव्यांग विवेचन संबंधी रीतिबद्ध ग्रंथ में जोड़ दिया अथवा रीतिबद्ध ग्रंथ के सरस छन्द को रीतिसिद्ध ग्रंथ में जोड़ दिया। आखिर, रीतिबत्रता और रीतिसिद्धता — दोनों में काव्यशास्त्रीय संस्कार तो समान रूप से रहते ही हैं, अंतर यदि है भी तो केवल इतना ही कि रीतिबद्ध काव्य रचना में काव्यशास्त्रीय नियमों का पालन अनिवार्यतः किया जाता है जबकि रीतिसिद्ध काव्य में से नियम संस्कारवश स्वतः फलीभूत हो जाते हैं। अतएव रीतिसिद्ध और रीतिबद्ध विशेषण कवि-विशेष के लिए न जोड़े जाकर उसके ग्रंथ अथवा रचना-विशेष के साथ ही जुड़ने चाहिए — एक ही कवि की रचनाएँ अपनी विशेषताओं के अनुसार भिन्न हो सकती हैं।

**बोध प्रश्न 1**

1) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य किसे कहते हैं? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) "रीति"—शब्द के अर्थ को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य के रचयिता पाँच-पाँच कवियों के नामों का उल्लेख उनकी एक-एक प्रसिद्ध रचना के साथ कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) रीतिबद्ध काव्य और रीतिसिद्ध काव्य का अंतर दस पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) निम्नोक्त वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कोष्ठकों में दिए गए विकल्पों में से किसी एक के द्वारा कीजिए —

क) रीतिकाल के अंतर्गत रीति शब्द का प्रयोग ..... मार्ग/गति के अर्थ में किया जाता था।

ख) हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहासकार "रीतिसिद्ध" काव्य के लिए ..... का भी प्रयोग करते हैं। (रीतिबद्ध/रीतिशास्त्र)।

ग) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय विषय ..... है। (शृंगार/राज प्रशस्ति)।

घ) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य में सबसे कम रचनाएँ ..... संबंधी हैं (नीति/इतर विषयों से)

ङ) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य ..... की दृष्टि से समान हैं। (अभिव्यंजना शैली/कल्पना वैभव)

## 16.5 रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के वर्ण्य विषय

काव्य-रचना यद्यपि कवि की कल्पना-शक्ति अथवा प्रतिभा का परिणाम हुआ करती है तथापि काव्य-दिशा का नियमन कवि की बाह्य परिस्थितियों तथा उसके वैयक्तिक संस्कारों द्वारा ही होता है — परिस्थितियाँ जहाँ इसे सामग्री प्रदान करती हैं, वहाँ संस्कार इसमें विशिष्टता लाते हैं। कहना न होगा कि रीतिकालीन काव्य-विशेषतः रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य इन दोनों आधारभूत बातों के समन्वित योग का परिणाम है। बात यह है कि दोनों प्रकार का यह काव्य मुख्य रूप से इस काल के राजाओं, नवाबों अथवा श्रीमन्तों के आश्रय में लिखा गया। चूंकि ये आश्रयदाता अधिकांशतः विलासी थे और शृंगारिक कविता इनकी विलास-सामग्री का एक भाग बन गई थी, अतः यह स्वाभाविक ही था कि इनके आश्रय में रहने वाले कवि भी इस प्रकार की रचनाओं द्वारा इन्हें प्रसन्न करते। दूसरी ओर इन लोगों के बीच ऐसे वीर भी थे जिनके जीवन का अंग विलास के उपकरणों के स्थान पर युद्ध और उसका सन्देश बन गया था। इन वीरों में एक वर्ग तो उनका था जिनके मन में भारतीय संस्कारों तथा राष्ट्रीय भावना का इतना प्राबल्य था कि विदेशी शासन को शक्ति के बल पर उखाड़ फेंकने के लिए मुगल शासकों

के साथ प्रायः युद्ध करते रहते थे और दूसरा उनका था जिन्हें राजनीतिक कारणों से अथवा मुगल शासन की रक्षा के निमित्त प्रतिपक्षी राष्ट्र वीरों के साथ युद्ध करने के लिए समय-समय पर युद्ध भूमि में जाना पड़ता था। इन दोनों वर्गों के योद्धाओं के आश्रयों में रहने वाली कवि या तो उनके युद्धों और पराक्रम के अतिरंजित वर्णन करके या फिर उनके दान, गुण और वैभव सम्बन्धी प्रशस्तियाँ लिखकर उन्हें प्रसन्न करते थे। इधर, भक्तिकाल के संस्कार भी लोगों में चले जा रहे थे इसलिए कवि लोग प्रायः अपना परलोक सुधारने की भावना से अथवा ग्रंथ-विशेष के आरम्भ में उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए भक्ति और स्तुति-परक रचनाएँ भी कर लेते थे। साथ में दर्शन ग्रंथों के अध्ययन तथा दार्शनिक गोष्ठियों से थोड़ा-बहुत सम्पर्क होने के कारण ये कभी-कभी दर्शन-सम्बन्धी छन्दों की रचना कर लिया करते थे। इसके अतिरिक्त जीवन के कटु और मधुर अनुभव जहाँ इन्हें नीति परक रचनाएँ करने के लिए प्रेरित करते थे वहाँ विभिन्न स्थानों के आकर्षक प्राकृतिक दृश्यों के इनके मन पर पड़े हुए प्रभाव भी समय-समय पर इनकी रचनाओं में स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होते रहते थे। रीति ग्रंथों का निर्माण करते समय विवेचन को पूर्ण बनाने के लिए अथवा किन्हीं अन्य कारणों से उक्त सर्वसामान्य विषयों के अतिरिक्त भी इतर विषयों पर इन्हें रचनाएँ करनी पड़ती थीं। इस प्रकार इस काल के आश्रय प्राप्त कवियों की रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कविता के विषयों को मुख्यतः इन छह भागों में रखा जा सकता है — (1) शृंगार, (2) राजप्रशस्ति, (3) भक्ति और दर्शन, (4) प्रकृति, (5) नीति, और (6) इतर विषय। रीतिबद्ध कवियों ने इन विषयों से सम्बद्ध रचनाओं का जहाँ काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी लक्षणों के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है वहीं रीतिसिद्ध कवियों ने अपनी मुक्त रचनाओं के संग्रह-ग्रंथों को रखा है। चूंकि काव्यशास्त्रीय सीमाओं के बन्धन के कारण इन छहों विषयों में कुछ विशिष्ट बातें ही वर्णित होती थीं, अतः यहाँ पर इनके विषय में पृथक-पृथक चर्चा करते हैं।

### 16.5.1 शृंगार

शृंगार रीतिकालीन कविता का सर्वव्यापक विषय रहा है —

इस काल में इस विषय से संबंधित रचनाएँ जितनी लिखी गई हैं उतनी किसी अन्य विषय पर नहीं। इतना ही नहीं, इसका क्षेत्र भी अपने आप में इतना व्यापक है कि यह केवल शृंगार रस अथवा नायक-नायिका-भेद-निरूपण-संबंधी ग्रंथों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु यह काव्य के अन्य अंगों-शब्द शक्ति, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि में व्याप्त है। किसी-किसी कवि ने तो इसकी व्यापकता स्थापित करते हुए अन्य रसों में भी इसे दर्शा दिया है। इस काल में रची गई शृंगारिक रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उनका आधार नितांत शास्त्रीय रहने के कारण इनकी अभिव्यंजना-पद्धति वर्ण्य वस्तु के साथ प्रायः एक जैसी ही रही है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अंतर्गत इसके विषय में कहा गया है कि विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। चूंकि काव्य में संचारी व्यंग्य हुआ करते हैं अतः केवल विभाव और अनुभाव ही वर्णन का विषय हो सकते हैं। रीतिकालीन कवियों ने यद्यपि संचारी भावों का वर्णन अपने ग्रंथों में बड़े मनोयोग से किया है, फिर भी सभी रसों की कविताओं में उनके वर्णन का विषय सामान्यतः विभाव और अनुभाव ही रहे हैं — संचारियों की व्यंजना उन्होंने अनुभावों की सहायता से कराई है। शृंगारिक रचनाओं में भी उनके वर्णन का मुख्य विषय विभाव और अनुभाव ही रहे हैं। विभाव की परिसीमा में आलम्बन और उद्दीपन आते हैं। रीतिकवियों की शृंगारिक रचनाओं के आलम्बन — नायक-नायिका — राधा और कृष्ण हैं जिन्हें लक्ष्य करके उन्होंने नायक-नायिका-भेद-निरूपण तथा रूप-वर्णन किया है। नायक-नायिक-भेद निरूपण में उनका वर्णन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विशेषताओं के आधार पर किया गया है। कर्म के अनुसार नायिकाओं के तीन भेदों — स्वकीया, परकीया और **सामान्या** का वर्णन करते समय क्रमशः पारिवारिक वातावरण, लोक-मर्यादा-व्याघात और धन-लालसा को दृष्टि में रखा ही गया है। साथ में प्रेम की स्वाभाविकता, औत्कट्य तथा कृत्रिमता को भी विविध प्रकार से प्रायः व्यंजित किया गया है। स्वकीया के वयस्-अनुसार मुग्धादि भेदों में जहाँ लज्जा और काम की मात्रा को अनेक प्रकार से दर्शाया गया है वहाँ मान के अनुसार धीरादि भेदों में पति के अपराध के प्रति नायिका के तर्जन-ताड़न को विभिन्न व्यापारों द्वारा प्रकट किया गया है। परकीया के इन छह भेदों — गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता के वर्णन में विभिन्न चिह्नों, क्रियाओं, शारीरिक चेष्टाओं तथा परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इन्हें अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। सामान्या के वर्णन में धन के लिए रीति-विक्रय द्वारा उसकी निर्लज्जता के चित्र अंकित किए गए हैं। आगे स्वकीया, परकीया और सामान्या के प्रोषितपतिका, खंडिता, अन्यसंभोगदुःखिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी, तथा अभिसारिका इन दस भेदों के वर्णन में साधारणतः तीनों की अवस्थाओं तथा कर्म को दृष्टि में रखा गया है। प्रोषितपतिका की विरहावस्था का, खंडिता और अन्य संभोगदुःखिता की उक्तियों का, कलहान्तरिता के पश्चाताप का, विप्रलब्धा और उत्कंठिता के मिलन-स्थल पर पहुँचने और क्रमशः प्रिय के न मिलने के दुःख तथा उसके मिलने की प्रतीक्षा का, वासकसज्जा द्वारा प्रिय-मिलन के लिए साज शृंगार किए जाने का, स्वाधीनपतिका का प्रिय-प्रेम पर गर्व करने का, प्रवत्स्यत्प्रेयसी की प्रिय-गमन-समाचार पर व्याकुलता का तथा अभिसारिका के दिन में अथवा अंधेरी या चांदनी रात में अवसर के अनुकूल वस्त्र धारण कर अपने को लोकदृष्टि से छिपाकर जाने के प्रयत्न का वर्णन प्रायः इस विषय के सभी कवियों ने अनेक प्रकार के रंगीन और रेखा-चित्रों द्वारा किया है। इसी प्रकार शृंगारी नायक के पति, उपपति और वैशिक, इन तीन भेदों तथा पति के चार भेदों — अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट के वर्णनों में नायक की चेष्टाओं, उसके आचार-व्यवहार तथा प्रेमभाव का चित्रण भी सामान्यतः एक ही प्रकार से किया गया है। इन सबके

अतिरिक्त स्वभाव, वर्ण, प्रान्त आदि के अनुसार नायिका के भेदों, तथा विट, चेट आदि नायक के सहायकों का वर्णन प्रायः गुण, स्वभाव, वेशभूषा, क्रिया-व्यापार, कर्म आदि को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया है।

शृंगार रस के आलम्बन-वर्णन नायक-नायिकाओं के उक्त वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन के अतिरिक्त इस काल के कवियों ने नायक-नायिकाओं के रूप का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में किया है और वह इसीलिए क्योंकि आश्रय के हृदय में रतिभाव जागृत करने का सबसे बड़ा कारण आलम्बन का सौंदर्य हुआ करता है। चूँकि "सौंदर्य" शब्द अपने भीतर एक ओर दृष्टा की अभिरुचि और दूसरी ओर रूप के विषय के गुणों को भी समाहित किए रहता है, इसीलिए रूप का वर्णन करते समय नायक-नायिकाओं के विभिन्न शरीरावयवों के चित्र प्रस्तुत करने में इन कवियों ने उनकी विशेषताओं के साथ अपनी अभिरुचि को भी सन्निविष्ट करने में स्वतंत्रता से काम लिया है। इन शरीरावयवों की सर्वसाधारण विशेषताओं को अंकित करने के लिए उन्होंने सामान्य रूप से परम्परागत उपमानों तथा विशेषणों का उपयोग किया है जबकि कवियों की अपनी अभिरुचि इन चित्रों में उनके द्वारा प्रयुक्त नवीन उपमानों तथा विशेषणों से प्रकट होती है। कहना न होगा कि ये सभी उपमान और विशेषण उन्होंने प्रकृति, लोक, शास्त्र आदि से ग्रहण किए हैं। कवियों की अभिरुचि के परिचायक नख-शिख-वर्णनों में कतिपय ऐसे चित्र भी हैं जो अपने-आपमें भावात्मक कहे जा सकते हैं — जो केवल अनुभूति के ही विषय हैं।

आलम्बन के पश्चात् विभाव का दूसरा पक्ष "उद्दीपन" आता है। इसके भीतर इन कवियों ने एक ओर चन्द्रमा की चाँदनी, कमल, सुगंधित पवन, चन्दन, कर्पूर आदि कामोद्दीपक वस्तुओं तथा मधुर वातावरण के विधायक समस्त मानवेतर पदार्थों को प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर नायक-नायिका के वस्त्राभरणों, नायिकाओं की हावादिक चेष्टाओं और अलंकारों, नायक के विभिन्न गुणों और व्यापारों एवं नायिकाओं की सखियों नायक के सहायकों तथा नायक अथवा नायिका की दूतियों की उक्तियों को नियोजित किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकाल के समस्त शृंगार रस के इस पक्ष को यथास्थान बड़े उत्साह और मनोयोग के साथ अपने वर्णनों का विषय बनाया है। उक्त पदार्थों में चाँदनी, चन्दन, सुगन्धित पवन आदि जड़ पदार्थों की उद्दीपन-क्षमता की तो केवल व्यंजना ही हुई है, पर नैसर्गिक वातावरण देने वाली छह ऋतुओं और बारह महीनों के रंगीन चित्र तथा मादक वातावरण सम्बन्धी रचनाएँ इस काव्य में पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त नदी-सरोवरों के तटों, उपवनों तथा हरे-भरे और घने खेतों के एकान्त, कलरव-मधु, शान्त और शीतल सहेट-स्थलों के वर्णन भी प्रचुर हैं। दूसरी ओर सखी और दूती की उक्तियाँ नायक और नायिका — दोनों के प्रति अनेक प्रकार से मिलती हैं — कहीं पर इनके द्वारा नायिका को रतिक्रीड़ा-विषयक शिक्षा दी गई है, कहीं पर परिहास है, कहीं नायक को नायिका के अथवा नायक को नायिका के अनेक गुण बताए गए हैं तथा कहीं पर दोनों में से किसी को सावधानी न बरतने की फटकार है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी स्थल हैं यहाँ नायक अथवा नायिका की अपने इष्ट को ले आने के लिए इनके आगे गिड़गिड़ाहट और इनके द्वारा मिला देने के वचन का वर्णन है। नायक के सहायकों के व्यापार और उक्तियाँ भी पर्याप्त हैं। इसी प्रकार नायिकाओं के आभूषणों तथा उनकी वेशभूषा के अनेक रंगीन और भड़कीले चित्र उपस्थित किए गए हैं। अभिसारिकाओं की अवसरानुकूल, साजसज्जा तथा कुलटाओं और सामान्याओं का नग्न और भड़कीला शृंगार इन चित्रों में अधिक मुख होकर आया है — यद्यपि स्वकीपाओं के चित्र भी कहीं-कहीं ऐसे हैं। जहाँ तक नायक के गुण-व्यापारों तथा नायिकाओं के हावादियों का प्रश्न है, ये भी इस काव्य के मुख्य वर्ण्य विषयों में से कहे जा सकते हैं। इनमें नायक-नायिका के गुण और व्यापार तो प्रायः व्यंजित ही हुए हैं, पर हाव सामान्य रूप से चित्रण का विषय ही रहे हैं। इनके अंकन में कवियों ने अपनी कल्पना का पर्याप्त प्रयोग किया है। प्रिय के वस्त्रों, अलंकारों आदि का अनुकरण (लीला); प्रिय को देखने पर गति, स्थिति आदि की विलक्षणता (विलास); कान्तिवर्धन वेश-रचना (विच्छित्ति; हड़बड़ी (विभ्रम); उसके द्वारा अनेक भावों की अभिव्यक्ति (किल किंचित); अपने अंगों को सुकुमारता से रखना (ललित); प्रिय की कथादि का श्रवण करते हुए कान आदि खुजलाना (मोट्टायित); गर्व के कारण अभिलक्षित वस्तु का अनादर (विव्वोक); लज्जा के कारण कंठावरोध (विहृत); नायक द्वारा केश, स्तनादि ग्रहण किए जाने पर शिर, हस्तादि का परिचालन (कुट्टमित); सौभाग्य, यौवन आदि के कारण घमंड से उत्पन्न मनोविकार (मत); प्रिय-वियोग में कामचेष्टाएँ (तपन); जानी-पहचानी वस्तु के विषय में प्रिय से अनजान होकर पूछना (मौग्ध्य); आधी वेशभूषा की रचना कर इधर-उधर देखना (विक्षेप); रमणीय वस्तु को देखकर चंचल होना (कुतूहल); यौवनोद्गम से उत्पन्न अकारण हास, (हसित); प्रिय के समक्ष अकारण डरना (चकित) तथा विहार में प्रिय के साथ क्रीडा (केलि) — नायिका की इन सभी वैदग्धयपूर्ण चेष्टाओं रूपी "हावों" का अंकन इस कविता की अपनी विशेषता है।

विभाव के पश्चात् रस का दूसरा वर्णनीय अंग अनुभाव आता है। उद्दीपन विभाव के समान अनुभावों की संख्या भी यद्यपि अनिश्चित है, किन्तु इन्हें भी स्थान-भेद के अनुसार मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा गया है — 1. कायिक, 2. वाचिक, 3. सात्विक। इनमें कायिक अनुभावों की परिसीमा के अंतर्गत आश्रय की वे शारीरिक चेष्टाएं आती हैं। जो वह अपने विशिष्ट भाव को व्यक्त करने के लिए शरीरावयवों द्वारा करता है। वाचिक अनुभावों में सामान्यतः उसकी वे उक्तियाँ रखी जा सकती हैं जिनसे उसका "वह" भाव प्रकट होता है जबकि सात्विक भाव उसके मन को होने वाली "उस" भाव की सुख-दुःखात्मक अनुभूति के परिणामस्वरूप उसके शरीर पर स्वतः व्यक्त विशिष्ट परिवर्तनों को कहा जा सकता है। अन्य रसों के समान शृंगार रस के अनुभाव का भी उक्त तीन वर्गों में आते हैं। रीतिकालीन शृंगारिक रचनाओं में यद्यपि इन तीनों का वर्णन हुआ है, तथापि कायिक अनुभाव सम्बन्धी सूचनाएं दूसरे वर्गों के अनुभावों की तुलना में सर्वाधिक हैं। वाचिक अनुभावों का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ

है। किन्तु सात्विक भावों — विषयक रचनाएं प्रायः रस-निरूपण-सम्बन्धी ग्रंथों के एतत्सम्बन्धी विवेचन-प्रसंगों में ही उपलब्ध होती हैं — स्वतंत्र रूप से लिखी गई रचनाएं अपेक्षाकृत कम हैं। वैसे कुल मिलाकर अनुभाव-वर्णन इस विषय की रचनाओं में अत्यन्त मुखर ही नहीं, शृंगार के इतर अंगों की अपेक्षा परिमाण-बहुत भी है। इस काल में रचे गए ऐसे असंख्य शृंगारिक छन्द मिल जाएंगे जिनमें केवल अनुभावों द्वारा ही रस की प्रतीति कराई गई है। अनुभाव वर्णन-सम्बन्धी इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है, कि प्रत्येक अनुभाव इतनी स्पष्ट रेखाओं द्वारा व्यक्त हुआ है कि उसका उभरा हुआ बिम्ब रचयिता के कला-कौशल का ही परिचय नहीं देता, उससे उस युग के रसिकों की सामान्य रुचि का दर्शन भी सहज ही हो जाता है।

विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त शृंगार रस के दोनों भेद — संयोग और वियोग भी काव्य में प्रत्यक्ष वर्णन के विषय हुआ करते हैं। इनमें संयोग के वर्णन के अंतर्गत आलम्बन और आश्रय के पारस्परिक हास-परिहास, आलिंगन, चुम्बन-संभोग आदि वे सभी व्यापार आ जाते हैं। जिनमें उनका मानसिक और शारीरिक नैकट्य प्रकट होता है। वियोग के अंतर्गत उनके शरीर और मन की वे सभी दशाएं, चेष्टाएं तथा उक्तियाँ आती हैं जो उनके शरीर अथवा मानसिक पार्थक्य की व्यंजना करती हैं। कहना न होगा कि रीतिकाल के समस्त शृंगारी कवियों ने विभावों तथा अनुभावों के समान ही शृंगार के इन दोनों भेदों का वर्णन रुचिपूर्वक किया है। संयोग के वर्णन में हास-परिहास, आलिंगन, चुम्बन आदि, का वर्णन तो अधिक परिमाण में नहीं हुआ पर सम्भोग के चित्रों में इनका ध्यान अधिक केन्द्रित रहा है — सुरत के विभिन्न प्रकारों के साथ इससे पूर्ण और इसके अंत होने पर नायक-नायिका की दशा का अंकन इन लोगों ने प्रायः खुलकर किया है। वियोग-सम्बन्धी रचनाओं में पूर्वराग की स्थिति जहाँ आश्रय को मिलन अभिलाषा की अभिव्यक्ति द्वारा व्यंजित की गई है वहाँ मान साधारणतः उसके पुरुष वाक्यों तथा रूठने के विभिन्न क्रिया-व्यापारों द्वारा दर्शाया गया है। प्रवास के वर्णन में आश्रय की शारीरिक और मानसिक दशा प्रायः अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाय, उन्माद, व्याधि और जड़ता — काम की इन नौ दशाओं द्वारा चित्रित की गई हैं। वियोग के चौथे भेद करुण तथा मरण नामक दसवीं काम-दशा सम्बंन्धी रचनाएं नाममात्र की ही है और वे भी रीतिनिरूपक कवियों में से एकाध ने इनके लक्षणों के उद्धरणों के रूप में ही प्रस्तुत की हैं। इन नौ काम दशाओं के चित्रण के अतिरिक्त विरह-दशा का वर्णन आश्रय की उपालम्भ भरी उक्तियों, सन्देशों तथा विरह-मोचन के अनेक क्रिया-व्यापारों के चित्रण द्वारा भी किया है। मान-मोचन की विधियों के वर्णनों में भी इन लोगों ने अपनी सूझ का अच्छा परिचय दिया है।

### 16.5.2 राजप्रशस्ति

शृंगार के पश्चात् राजप्रशस्ति रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के वर्णन का दूसरा महत्वपूर्ण विषय है। इस विषय से सम्बद्ध रचनाएं एक ओर अलंकार और पिंगल के निरूपण विषयक उन ग्रंथों में उपलब्ध होती हैं जो किसी आश्रयदाता की आज्ञा से अथवा उसे प्रसन्न करने के लिए लिखे गये और दूसरी ओर इन ग्रंथों तथा स्फुट छन्दों के रूप में मिलती हैं जो आश्रयदाता अथवा उसके किसी पूर्वज के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं आदि को पद्यबद्ध करने के उद्देश्य से रचे गए। विषय-सामग्री की दृष्टि इन रचनाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है — (1) राजवैभव, (2) राजविलास; तथा (3) राजवीरता। इनमें राजवैभव सम्बन्धी रचनाओं के अंतर्गत सामान्यतः आश्रयदाताओं की श्री-वृद्धि करने वाली विभिन्न वस्तुओं का वर्णन किया गया है। इनमें राजसम्पत्ति, राजमहल और उनकी आंतरिक सज्जा; राजबल और उसके हेय, गज, आदि अंग; राजव्यवस्था और उससे प्रजा को मिलने वाली सुख-सुविधाएं तथा राजभूमि और उसके दर्शनीय वन, बगा, तड़ाग आदि स्थल मुख्य विषय हैं। राजविलास-सम्बन्धी रचनाओं में आश्रयदाताओं की जल-केलि, होली-वसन्त आदि पर्वों के उत्सव इत्यादि का वर्णन किया गया है। किन्तु संख्या की दृष्टि से ये रचनाएं अपने आपमें बहुत अधिक नहीं कही जा सकतीं। जहाँ तक राजवीरता का प्रश्न है, उससे सम्बद्ध इस प्रशस्ति काव्य में परिमाण-बहुत वर्ण्य विषय कवि के आश्रयदाता अथवा उसके (आश्रयदाता के) किसी पूर्वज का पराक्रम हैं। इसमें साधारण रूप से अपने आश्रयदाता या उसके पूर्व के पराक्रम-सम्बन्धी दिगन्त-व्यापी यश, उसकी सेना के अतुलनीय साहस और पराक्रम तथा शत्रुओं को नष्ट कर डालने तथा मित्रों को ऊंचा उठाने के गुणों का वर्णन करने के साथ-साथ शत्रुओं की कायरता और शक्तिहीनता का प्रायः उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त आश्रयदाताओं के सैन्य-प्रमाणों, युद्धभूमि में होने वाले घात-प्रतिघातों तथा शत्रु वर्ग में छाए उनके आंतक का वर्णन अनेक प्रकार के चित्रों द्वारा किया गया है। सैन्य-प्रमाण के समय सेना के घोड़ों की टापों से उठती हुई धूल द्वारा आकाशमंडल का अच्छादित होना, अंधकार हो जाना, हाथियों की चिंघाड़ से दिग्गजों का कांप जाना, पृथ्वी डगमगाना आदि बातें अतिश्योक्तिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत की गई हैं जबकि युद्धभूमि में होने वाले घात-प्रतिघातों का वर्णन बर्छी और तलवारों की चमक; वाणों की वर्षा आदि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कवि के आश्रयदाता या उसके पूर्वज के आंतक का वर्णन प्रायः उसके शत्रुओं के इधर छिपे-फिरने तथा उनकी पत्नियों की घबराहट के विभिन्न चित्रों द्वारा किया गया है — कहीं-कहीं ये स्त्रियाँ अपने पतियों से उसके साथ युद्ध न करने का आग्रह भी करती दिखाई गई हैं। शत्रु-पत्नियों की दयनीय दशा के चित्र भी इस विषय की रचनाओं में विशेष स्थान रखते हैं।

पराक्रम के अतिरिक्त राजवीरता के वर्णनों में इन कवियों ने राजाओं की दानवीरता, धर्मवीरता और दयावीरता को भी प्रस्तुत किया है। इनमें दयावीरता संबंधी रचनाएं तो संख्या में कम हैं पर धर्म और दानवीरता विषयक रचनाएं प्रचुर कहीं जा सकती हैं। दानवीरता-सम्बन्धी रचनाएं पराक्रम.रचनाओं के समान ही परिणाम-बहुत हैं। इनमें कवियों

ने अपने आश्रयदाताओं की दानवीरता का उल्लेख करते हुए प्रायः दान की वस्तुओं के अतिरंजित चित्रों यह व्यंजित करने का प्रयत्न किया है कि दान करने में उनका कितना उत्साह है। दान की वस्तुओं में सजे हुए हाथी-घोड़ों तथा धन-सम्पत्ति का वर्णन ही इनका अभीष्ट रहा है। इसी प्रकार धर्मवीरता के वर्णनों में से लोग अपने आश्रयदाता की धर्मभीरुता, धर्मपालन, उनके शास्त्रज्ञान, शास्त्र-रक्षा, जाति और धर्म की रक्षा तथा उसके लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर डालने तक की उनकी भावना एवं व्यापार का वर्णन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। दयावीरता के वर्णनों में तो केवल आश्रयदाताओं की दयालुता का यत्र-तत्र उल्लेख मिला है।

### 16.5.3 भक्ति और दर्शन

रीतिबद्ध और रीतिरिक्त कवियों की कविता का तीसरा वर्ण्य विषय भक्ति और दर्शन है। इससे सम्बद्ध रचनाएं मुख्यतः तीन रूपों में उपलब्ध होती हैं — (1) ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए गणेश, सरस्वती आदि देवी-देवताओं की स्तुति के रूप में, (2) स्फुट छन्दों के अतिरिक्त रीति निरूपण के प्रसंग में यत्र-तत्र अलंकारादि के उदाहरणों के रूप में; (3) तत्व चिन्तन अथवा भक्ति परक स्वतंत्र काव्य-ग्रन्थों के रूप में। इनमें प्रथम वर्ग की रचनाओं में परम्परा का निर्वाह करते हुए कवियों ने इच्छानुसार विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति संबंधी छन्द रच डाले हैं। इन छन्दों में प्रायः देवी या देवता-विशेष के विभिन्न गुणों के बोधक विशेषणों द्वारा उसका जयजयकार किया है या फिर उससे कृपा की याचना की है — ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की प्रार्थना सामान्यतः स्पष्ट शब्दों में नहीं की गई। कहीं-कहीं उपास्य की लीलाएं भी चित्रित कर दी गई हैं, पर ये संख्या में बहुत कम हैं। दूसरे वर्ग की रचनाएं इन कवियों के वैयक्तिक संस्कारों का परिणाम कही जा सकती हैं। बात यह है कि पारिवारिक आस्थाओं तथा धर्म और दर्शन के ग्रंथों के श्रवण और अध्ययन के परिणामस्वरूप ये लोग किसी विशिष्ट देवी या देवता के उपासक न होकर पंच देवों — सूर्य, गणेश, शिव, शक्ति और विष्णु की सामान्य रूप से उपासना किया करते थे। यही कारण है कि इनके प्रति इन्होंने भक्तिभाव प्रकट किया है। इनमें सूर्य की स्तुति-परक छन्द तो अत्यल्प हैं, पर शेष चारों के प्रति इनका भक्तिभाव स्पष्ट है। गणेश, शिव और शक्ति संबंधी रचनाओं में उनकी वरदायक शक्तियों के साथ वाहनों सहित उनके वही चित्र अंकित किए गए हैं जो आज भी प्रचलित हैं। विष्णु की भक्ति संबंधी रचनाओं के अंतर्गत इनके शंख-चक्र-गदापद्मधारी अथवा क्षीरसागर शायी रूप के अतिरिक्त उनके दो अवतारों—राम और कृष्ण—की लीलाओं आदि के सामान्य उल्लेख तथा चित्रण के द्वारा उनके शील, सौन्दर्य, और शक्ति का वर्णन किया गया है। पंचदेवों के अतिरिक्त इन कवियों ने अन्य देवी-देवताओं, गंगा और यमुना की भक्ति संबंधी रचनाएं भी लिखी हैं। इनके प्रेरक इन कवियों के हिन्दू संस्कार ही रहे हैं। तीसरे वर्ग की रचनाएँ इन कवियों का वृद्धावस्था की हैं जबकि व्यक्ति का चित्त सांसारिक भोगों से उपरत हो जाता है और वह अपना परलोक सुधारने की कामना से धर्म-दर्शन के ग्रंथों का श्रवण-अध्ययन करता है। इन रचनाओं में जो भक्ति-परक रचनाएं हैं उनकी वर्ण्य सामग्री वही है जो उक्त दूसरे वर्ग की रचनाओं की है। जहाँ तक तत्व-चिन्तन सम्बन्धी रचनाओं का प्रश्न है, उनमें साधारणतः परमात्मा, जीव, जगत, माया, साधना, ज्ञान आदि की चर्चा है। इन सभी पर भक्ति काल में प्रचलित सम्प्रदायों में से किसी-न-किसी का प्रभाव रहा है।

### 16.5.4 नीति

रीतिकाव्य का चौथा वर्ण्य विषय नीति है। ये रचनाएँ सामान्यतः रीति निरूपण-सम्बन्धी ग्रंथों के अंतर्गत या दो उदाहरणों के रूप में यत्र-तत्र प्रस्तुत की गई हैं या फिर स्वतंत्र लक्ष्य ग्रंथों का निर्माण करते समय उनमें किसी प्रसंग के अनुसार अथवा मौज में आकर इस विषय के कतिपय छन्द समाविष्ट कर दिये गए हैं। ये रचनाएं रचयिताओं की दीर्घ अनुभव से युक्त होने के कारण सामान्य व्यक्ति के लिए उपयोगी कही जा सकती है। चूँकि इनके भीतर प्रत्येक कवि के जीवनानुभवों के अभिव्यक्ति है, अतः इनके वर्ण्य विषय वैविध्यपूर्ण हैं।

### 16.5.5 प्रकृति तथा इतर विषय

इन कवियों की प्रकृति तथा इतर विषयों के वर्णन संबंधी रचनाएं भक्ति और नीति संबंधी रचनाओं के समान बिखरी हुई हैं। प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी रचनाएं प्रायः शृंगार रस की उद्दीपक सामग्री के वर्णन-प्रसंगों में हीं देखने को मिलती है। इनमें षट् ऋतुओं — विशेषतः वसंत और पावस के भव्य और मादक रूपों को मनोयोग के साथ प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं किसी वन, बाग की सुन्दरता से प्रभावित होकर इसके मनोरम दृश्य को अविरक्त कर दिया है। इतर विषय संबंधी रचनाओं के अंतर्गत हास्य, वीर, रौद्र, करुण आदि रसों सम्बन्धी रचनाओं को रखा जा सकता है। ये साधारणतः रस निरूपण संबंधी प्रसंगों में प्रस्तुत की गई है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं हास्य रस की रचनाएं स्वतंत्र रूप से भड़ौवों के रूप में भी लिखी गई है। इनके विषय कंजूस, नपुंसक और ढोंगी व्यक्ति रहे हैं इनके अतिरिक्त वीर और रौद्र रसों संबंधी कतिपय रचनाएं ऐतिहासिक व्यक्तियों के गुणों और क्रियाकलापों को लेकर प्रस्तुत की गई हैं। शेष रसों सम्बन्धी रचनाएं परिमाण में कम होने के कारण विशेष उल्लेख के योग्य नहीं कही जा सकतीं।

## 16.6 रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों के काव्य की विशेषताएँ

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य के उपर्युक्त विषयों को देखने से स्पष्ट है कि दोनों में इस दृष्टि से पूर्ण समानता है। इतना ही नहीं दोनों की अभिव्यंजना पद्धति भी समान है जिसमें भाषा का स्वरूप और सौष्ठव एक कवित्त, सवैया और दोहे का मुक्तक की सभी विशेषताओं सहित प्रयोग किसी भी प्रकार से प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इन दोनों की सांस्कृतिक, साहित्यिक और काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि तथा दरबारी परिवेश भी समान है। अंतर है तो यही कि रीतिबद्ध काव्य काव्यांग-विशेष के विवेचन में लक्षण के साथ उसके उदाहरण के रूप में लिखा गया है और रीतिसिद्ध लक्षणों के बिना और स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किया गया है — यद्यपि कवियों के काव्यशास्त्रीय सहकारों के कारण नियमबद्धता इसके मूल में भी विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि पृष्ठभूमि और अभिव्यंजना शैली के साम्य को दृष्टि में रखते हुए यह अंतर अपने आप में इतना स्थूल है कि इसके आधार पर दोनों में पार्थक्य करना आपाततः अनावश्यक प्रतीत होता है तथापि इन दोनों काव्यों के बीच ऐसी विशेषताएं अवश्य हैं जिनके द्वारा दोनों के बीच विभाजक रेखा खींची जा सकती है। बात यह है कि रीतिनिरूपक कवियों ने अपने काव्यांग-विवेचन की सफलता के लिए उदाहरणों की रचना करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा है कि लक्षणों के भीतर जो बातें कहीं गई हैं उनका निर्वाह इनमें (अर्थात् उदाहरणों में) पूरी तरह से हो जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता के लिए अनुभूति और अभिव्यक्ति की जिस सहजता की अपेक्षा होती है वह उसके नियमबद्ध रहने की विवशता के कारण कुछ ऐसी बढ़ गई है कि रचनाएं प्रायः बौद्धिक एवं जड़ प्रतीत होती हैं — उनमें भावुकता के अभाव में वह लोच-लचक नहीं आ पाई जो हृदय को स्पर्श करती है। कदाचित इसीलिए विभिन्न लक्षणकारों की काव्य कृतियों के छन्दों के भीतर मन में ऊब उत्पन्न करने वाली एकरूपता इतनी अधिक आ गई है कि एक कवि की रचना दूसरे की रचना का भिन्न शब्दावली में मात्र उलथा प्रतीत होती है। इसके विपरीत रीतिसिद्ध कवियों के समक्ष इस प्रकार की कोई विवशता न रहने के कारण उन्हें इतनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त रही है कि कल्पना के परतों का पूर्ण प्रसार कर वे अपनी अन्द्रभूति और अभिव्यक्ति दोनों एक प्रकार की ताज़गी उत्पन्न कर गए हैं। इसी ताज़गी के कारण ही इनके बिम्ब शास्त्रीय ढाँचे में आबद्ध रहते हुए भी, रेखाओं की सूक्ष्मता, उभार, गाम्भीर्य, वक्रता आदि के वैशिष्ट्य से जहाँ अधिक नवीन एवं चमत्कारपूर्ण लगते हैं वहीं उनकी अभिव्यक्ति धारदार होकर अपेक्षाकृत अधिक पैनी हो गई है। रीतिबद्ध कवियों की काव्य के साथ इनकी रचनाओं को रखते ही यह सहज अनुभव हो जाता है कि जहाँ वे आयास अभ्यास-जन्य एकरूपता के कारण शिल्पकृतियाँ रह गई हैं वहाँ ये अपने रचयिताओं के प्रतिभा-कौशल का पग-पग पर परिचय देकर उनके कलाकार होने की घोषणा करती हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि रीतिबद्ध काव्य असुन्दर है और कवि इसकी रचना यन्त्रवत् करते रहे। उनकी रचना-प्रक्रिया में ऐसे क्षण प्रायः आते रहे हैं जब उनकी भाव-प्रवणता ने प्रखर होकर काव्यशास्त्र की जकड़न से उनकी कविता को उबारा है। ऐसे क्षणों की रचनाओं में वे सभी विशेषताएं विद्यमान हैं जो रीतिसिद्ध कवियों के काव्य में मिलती है। अपनी यांत्रिक और सरस रचनाओं के अंतर को रीतिबद्ध कवि संभवतः समझते थे यही कारण है कि अपने मुक्तक संग्रहों अथवा प्रबंध काव्यों में उन्होंने इस प्रकार सरस रचनाओं को सम्मिलित करने में संकोच नहीं किया। इन ग्रंथों में से रीतिसिद्ध कवियों के समान ही प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में दृष्टिगत होते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि रीतिसिद्ध काव्य रीतिबद्ध काव्य का एक प्रकार से परिष्कृत रूप है।

**बोध प्रश्न 2**

1) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य के वर्ण्य विषयों का परिचय बीस पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य की विशेषताओं का उल्लेख पन्द्रह पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से सही/गलत पर उपयुक्त चिह्न लगाइए:

क) "रसचन्द्रोदय" रीतिसिद्ध रचना है।

ख) "सुखसागरतरंग" रीतिबद्ध रचना है।

ग) "रसप्रबोध" रसलीन की रचना है।

घ) वृन्द ने "नीति सतसई" की रचना की।

ङ) भूषण ने "ललितललाम" की रचना की।

## 16.7 सारांश

हमने इस इकाई में पढ़ा कि रीतिकाल के अंतर्गत जिन कवियों ने काव्यांगों का विवचेन करते हुए लक्षणों के साथ उदाहरण दिए उन्हें आज के आलोचक और साहित्येतिहासकार "रीतिबद्ध" कवि तथा उन उदाहरण रूप काव्य रचनाओं को "रीतिबद्ध" काव्य की संज्ञा देते हैं। इसके साथ जिन कवियों ने काव्यशास्त्रीय नियमों के संस्कारों में बांधकर कविता की उन्हें "रीतिसिद्ध" कवि तथा उनकी रचनाओं को रीतिसिद्ध" काव्य कहा जाता है।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य शृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति और दर्शन, नीति तथा प्रकृति और इतर विषय — इन पांच विषयों में लिखा गया है। शृंगार काव्य के भीतर शृंगार रस के विभावादि अंगों तथा सेयोग और वियोग नामक उसके भेदों तथा इन सबके उपभेदों के विवेचन के प्रसंगों में लिखा गया है। अतः यह सभी दृष्टियों से पूर्ण है। राजप्रशस्ति पटक काव्य के भीतर उक्त कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की युद्धवीरता, दानवीरता और धर्मवीरता का वर्णन प्रचूर परिमाण में और दयावीरता का उल्लेख रूप में वर्णन किया है। इनमें आश्रयदाताओं के आंतक और उनके द्वारा दी गई दान की सामग्री का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। भक्ति और दर्शन सम्बन्धी

रचनाओं में इन कवियों ने अपनी आस्था और विश्वास के अनुरूप विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति अपनी भक्ति तथा उस काल में प्रचलित दार्शनिक मतों को प्रस्तुत किया है। नीति-परक रचनाओं में आत्मबोध अथवा किसी मित्र को उचित-अनुचित का बोध कराने के उद्देश्य से प्रायः अन्योतियों में उपदेश दिया है। प्रकृति सम्बन्धी रचनाएं शृंगार रस की उद्दीपक सामग्री अथवा वन-बागों के मनोरम वातावरण को प्रस्तुत करने के रूप में आई हैं, जबकि अन्य विषयों संबंधी रचनाएं हास्य, करुण, वीभत्स, वात्सल्य आदि रसों के विवेचन के संदर्भ में लिखी गई हैं और परिमाण में अत्यल्प हैं। इन विषयों से संबंधित रचनाएं समान रूप से रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध कवियों ने की हैं।

रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्य में वर्ण्य विषय तथा अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से विशेष अंतर नहीं तथापि दोनों के बीच विभाजक रेखा इसी आधार पर खींची जा सकती है कि रीतिबद्ध काव्य सम्बन्धी रचनाएं काव्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुरूप लिखी जाने के कारण नियमों में इतनी जकड़ी हुई हैं कि नितांत एकरूप तथा जड़ प्रतीत होती हैं जबकि रीतिसिद्ध काव्य की परिचायक रचनाएं काव्यशास्त्रीय संस्कारों के परिवेश में लिखी होने पर भी कवियों को अपनी कल्पना के पंखों को फैलाने की छूट रहने के कारण अधिक ताज़ा तथा सरस हैं। किन्तु, यह रेखा वहाँ टूटी हुई दिखाई देती है जहाँ पर कवि नियमबद्ध रचनाओं में भी अपनी कल्पना के वैभव को दिखा गए हैं। यही कारण है कि रीतिबद्ध रचनाएं उनके रीतिसिद्ध काव्य की रचनाओं के संग्रहों में समान रूप से देखी जा सकती हैं।

## 16.8 शब्दावली

**अभिहित किया जाना** : पहचाना जाना
**सर्वव्यापक** : सभी जगह मौजूद
**व्यवहृत** : प्रयुक्त
**अक्षरश** : एक-एक अक्षर का
**अतिरंजित** : बढ़ा चढ़ा कर कहे गए
**शरीरावयवों** : शरीर के अंगों या हिस्सों
**कामोद्दीपक** : काम भाव को उद्दीप्त या जगाने वाले
**निर्विघ्न** : बिना किसी बाधा या रुकावट के
**परिमाण** : मात्रा

## 16.9 उपयोगी पुस्तकें

*हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल : रीतिकाल* — लेखक डॉ. महेन्द्र कुमार; आर्य बुक डिपो; करोग बाग, नई दिल्ली।

*रीतिकाव्य की भूमिका* — डॉ. नगेन्द्र; नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली।

*हिन्दी — साहित्य* पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

*हिन्दी साहित्य का इतिहास* — संपादक, डॉ. नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली।

## 16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए भाग 16.3
2) देखिए भाग 16.2
3) देखिए उपभाग 16.4.1 तथा 16.4.2
4) देखिए भाग 16.3 और 16.7
5) (क) मार्ग (ख) रीतिबद्ध (ग) शृंगार (घ) इतर विषयों से (ङ) अभिव्यंजना शैली

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए भाग 16.5
2) देखिए भाग 16.6
3) (क) ग़लत (ख) ग़लत (ग) सही (घ) सही (ङ) ग़लत

# इकाई 17 रीतिमुक्त काव्य एवं अन्य प्रवृत्तियाँ

## इकाई की रूपरेखा


17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्यधारा
17.3 रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि
- 17.3.1 घनानन्द
- 17.3.2 आलम
- 17.3.3 ठाकुर
- 17.3.4 बोधा
- 17.3.5 द्विजदेव

17.4 रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ
- 17.4.1 रीतिस्वच्छन्दता
- 17.4.2 प्रेमानुभूति की प्रधानता
- 17.4.3 विरह प्रधान अनुभूति
- 17.4.4 भावप्रवणता
- 17.4.5 काव्यादर्श अथवा काव्यदृष्टि
- 17.4.6 अभिव्यंजना सौष्ठव

17.5 रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रमुख प्रवृत्तियाँ
- 17.5.1 भक्तिकाव्य
  - कृष्ण भक्ति काव्य
  - राम भक्ति काव्य
  - निर्गुण सन्तों का भक्ति काव्य
  - निर्गुण सूफी सन्तों का भक्ति काव्य
- 17.5.2 नीतिकाव्य
- 17.5.3 वीरकाव्य एवं प्रशस्ति काव्य
- 17.5.4 अन्य स्फुट काव्य प्रवृत्तियाँ

17.6 रीतिकाल का प्रदेय
17.7 उपयोगी पुस्तकें
17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 17.0 उद्देश्य

रीतिकाल में काव्य की तीन प्रमुख काव्य धाराएँ प्रवाहित थीं — रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त काव्यधारा। प्रथम दो काव्यधाराओं के स्वरूप, प्रमुख कवि तथा काव्य की प्रवृत्तियाँ-विशेषताओं का विवेचन आप इकाई संख्या पन्द्रह तथा सोलह में कर चुके हैं। तीसरी काव्यधारा "रीतिमुक्त काव्य" की है तथा इन तीनों के अतिरिक्त लिखे गये रीतिइतर काव्य का भी अपना एक विशिष्ट महत्व है। इस खंड की यह चौथी तथा अंतिम इकाई है। इसमें इन्हीं दोनों विषयों की समीक्षा की जा रही है। अतः इस इकाई के अध्ययन-विश्लेषण से आप :

- रीतिमुक्त काव्यधारा के स्वरूप को समझा सकेंगे;
- रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवियों के विषय में विस्तृत विवेचन कर सकेंगे;
- रीतिमुक्त काव्यधारा की प्रमुख विशेषताओं की समीक्षा कर सकेंगे;
- रीतिकालीन अन्य (रीतिइतर) काव्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- रीतिकालीन भक्तिकाव्य के चारों काव्याधाराओं का विवेचन कर सकेंगे;
- रीतिकालीन नीति, वीर, प्रशस्ति एवं अन्य स्फुट प्रवृत्तियों को बता सकेंगे; तथा
- रीतिकालीन-प्रदेय की व्याख्या कर सकेंगे।

## 17.1 प्रस्तावना



रीतिकालीन काव्य संबंधी इस खंड की यह चौथी तथा अंतिम इकाई है। इससे पूर्व आप रीतिकालीन काव्य की परिस्थितियों तथा तदयुगीन परिवेश का विश्लेषण कर चुके हैं। परिस्थितियों ने इस युग की काव्यधाराओं को कैसे

प्रभावित किया यह भी जान चुके हैं। वर्गीकरण के अंतर्गत आपने यह भी जाना कि "रीति" से मुक्त रहकर अर्थात् पूर्णतः स्वच्छन्द रूप में काव्य सृजन करने वाले कवियों को रीतिमुक्त कवि कहा गया। इनके द्वारा विरचित काव्यधारा को रीतिमुक्त काव्यधारा के नाम से जाना जाता है। यह अन्य काव्यधारा भी जिसे रीति से इतर या भिन्न काव्यधारा के नाम से देखा-समझा जाता है। और इसके अंतर्गत भक्तिकाल से चली आ रही विभिन्न इतर प्रवृत्तियों की परम्परा ही दृष्टिगत होती है। इन रीतिमुक्त कवियों तथा रीतिइतर साहित्य-सृजकों के काव्य की प्रमुख विशेषताओं एवं उनके प्रदेय का विश्लेषण ही इस इकाई में हमारा लक्ष्य है। यों रीतिकालीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं पर समग्रतः विवेचन इकाई संख्या पन्द्रह में विस्तार से किया गया है। वहाँ आपके रीतिमुक्त एवं रीतिइतर काव्य के स्वरूप तथा उनकी प्रमुख दिशा का विश्लेषण भी किया है। किन्तु वहाँ यह विश्लेषण केवल प्रवृत्ति एवं विशेषता के रूप में संक्षिप्तः किया गया है। वह इकाई मूलतः पूरे रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं को केन्द्र में रखकर व्याख्या करती है। इकाई संख्या सोलह में आपने जिन दो प्रमुख रीतिकालीन काव्यधाराओं की समीक्षा की, वे हैं — रीतिबद्ध काव्य तथा रीतिसिद्ध काव्य।

अतः यहाँ रीतिकालीन, रीतिमुक्त तथा रीतिइतर काव्य की प्रवृत्तियों को जानने के लिए यह स्पष्ट होना चाहिए कि रीतिमुक्त कवि वे थे जो अपनी अनुभूति को, अपने प्रेम वेदना को तथा अपने विरह-व्यंजना को काव्य में अश्रुओं सा तरल एवं सहज बनाकर ढाल रहे थे। रीतिमुक्त कवियों ने रीति के सारे मानदण्ड ठुकरा कर, दरबारों का बहिष्कार करते हुए निजी प्रेम की मर्मस्पर्शी पीड़ा को गीतों में पिरोया। यह कवि अपनी स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त चेतना के कवि थे जिन्हें उनकी प्रियतमाओं का वियोग उपहार स्वरूप मिला था। शृंगार तथा भक्ति के सौन्दर्य युक्त पदों का सृजन करने वाले इन प्रेम चितेरों ने संयोग पक्ष का सर्वथा बहिष्कार किया। संयोग कहीं आया भी तो स्मृति बनकर। इनका विरह भी रीति-परक शृंगार के समान नारी का ऊंहात्मक विरह नहीं, यहाँ तो पुरुष का विरह वर्णित है और वह भी पूरी ईमानदारी से। स्वच्छन्द काव्य के ये कवि विरह के अतिरेक में फ़ारसी तथा सूफी काव्य के उस साधक की तरह हो जाते हैं जो प्रियतमा में ही साक्षात ब्रह्म या परमपुरुष की कल्पना करने लगते हैं। यहाँ तो ये स्वयं को ही प्रेयसी रूप नारी समझकर पुरुषरूप प्रिया के प्रति विरह भाव की अभिव्यक्ति करने लगते हैं।

रीतिमुक्त काव्य में विषय प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है जो कि प्रेमी कवि के अपनी प्रिया के प्रति अनेक प्रकार के उपालम्भों से अभिव्यक्ति होती है। ये उपालम्भ की प्रेयसी के प्रेम की सच्चाई, अनन्यता, निष्ठता तथा औत्कट्य-उदारत्तता को ही बखान करते रहते हैं। घनानन्द आदि रीतिमुक्त कवियों ने अपनी प्रिया के हृदय में अपने प्रति करुणा जागृत करने के उद्देश्य से ही अपनी व्यथा, पीड़ा, वेदना, घुटन अवसाद तथा विछोह को अत्यंत मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी शैली में चित्रित किया है। इनका अनुराग अत्यंत सात्विक अनुराग है और ये विछोह-वेदना तथा प्रिया द्वारा दिए गए अतीव कष्टों को सहकर भी उसी के कल्याण की कामना करने वाले जवाँमर्द कवि हैं। अतः ऐन्द्रिय भोग से दूर तथा दरबारी-संकृति से विलग, सच्चे प्रेम का गायन करने वाले थे रीतिमुक्त कवि।

इसी प्रकार कुछ विद्वान भक्ति, दर्शन, प्रकृति, राजप्रशस्ति, वीर तथा ज्योतिष आदि विषयों से सम्बद्ध काव्य सृजन करने वालों को रीतिमुक्त काव्यधारा के अंतर्गत ही गिनते हैं। इसी युग में "रीति पद्धति से मुक्त रह कर काव्य-कर्म करने वाले बहुत से ऐसे कवि भी थे जिन्होंने अपनी कविता का वर्ण्य-विषय रीतिमुक्त या रीतिस्वच्छन्द कवियों से भिन्न तथा प्रेम के स्थान पर भक्ति, प्रकृति, प्रशस्ति नीति या अन्य किसी को बनाया। इस इकाई के उत्तरार्द्ध में इन्हीं सब विषयों की विस्तृत समीक्षा की गई है। तो आइये, सर्वप्रथम रीतिमुक्त काव्यधारा अर्थात् घनानन्द आदि स्वच्छन्द कवियों के विषय में अध्ययन करते हुए उनके काव्य का विश्लेषण करें।

## 17.2 रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्यधारा

बंधन या परिपाटियों से मुक्त रहकर रीति काव्यधारा के प्रवाह-विरुद्ध अपनी एक अलग तथा विशिष्ट पहचान बनाने वाली काव्यधारा को रीतिमुक्त काव्य के नाम जाना जाता है। पिछली दो इकाइयों में हम यह जान चुके हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र के विद्वत आचार्यों ने काव्यसौष्ठव के विवेचन हेतु जो सिद्धांत या लक्षण निश्चित किए थे उनके आधार पर लक्षणों सहित या लक्षणरहित जो काव्य रचा जाता रहा उसे रीतिकाव्य कहा गया। रीतिबद्ध काव्य, शास्त्रीय-काव्य कहलाया जिसके लेखक "कवि" और आचार्य कहलाये। पर रीति-परंपरा के कवि केवल वही थे जो लक्षण न देकर अलंकार, रस, ध्वनि नायिकाभेद, रीति, वक्रोक्ति, नख-शिख या बारहमासा आदि पर केवल काव्य (लक्षणों के अनुरुप) प्रस्तुत कर रहे थे।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि न तो रीतिबद्ध थे और न ही रीतिकवि या रीतिसिद्ध कवि। इस धारा के कवि तो वे विशिष्ट कवि थे जो युगीन परिस्थितियों के विरुद्ध तथा परंपरा से हट कर प्रेम-प्रवृत्ति पर अधिक बल दे रहे थे। वास्तव में यह कवि स्वच्छन्द प्रवृत्ति के और उन्मुक्त चेतना के कवि थे। निजी प्रेम तथा आत्मानुभूत वेदना का गायन करने वाले स्वतंत्र-चेता सदैव ही परंपराओं का मुख-मर्दन कर अपनी एक नई राह बनाते हैं। इसी कारण इन कवियों के मन में भी परंपरा-विद्रोह ने कुलाल भरी। परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की निडरता और स्वच्छन्दता ने रीतिबद्ध या रीतिकवियों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को भी आड़े हाथों लिया। उन्होंने उस कविता परिपाटी, रीति-परम्परा तथा उनकी दृष्टि को भी अनुपयुक्त कहकर ललकारा। इन्होंने रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध कवियों

को आश्रय देने वालों को भी अपनी तीखी अभिव्यंजना का शिकार बनाया। "आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिये" कहने वाले इन कवियों ने दरबारी आश्रय को ठोकर मार दी। ठाकुर कवि ने स्पष्टतः कहा कि रीतिबद्ध रीतिसिद्ध काव्य न तो काव्य है और न ही उसके कवि, कवि हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं—

सीख लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश और प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि
सीख लीन्हों मेर और कुबेर गिर आनो है।।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बांधिमत बानो है।।
डेल सो बनाय आय मेलत सभ के बीच,
लोगन कवित कीबो खेल करि जानो है।।

कविता करना कोई खेल नहीं है। इन कवियों ने तो दो-चार-छह उपमान और कतिपय शब्द रट कर कविता करने का फैशन सा ही बना लिया है। इसीलिए रीतिमुक्त कवि कहते हैं कि हम कविता नहीं बनाते बल्कि हमारी कविता हमें बनाती (गढ़ती) है। रीतिमुक्त कवि संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा में बंधकर लिखना भी नहीं चाहते थे। ये किसी भी रीति पर चलकर या परिपाटी का पालन कर काव्यसृजन करने को कविप्रतिभा के बंधन की तरह मानते थे। इसी कविप्रतिभा को बांधने के विरुद्ध इन्होंने विद्रोह भाव की अभिव्यक्ति की। इनकी इसी विद्रोही प्रतिक्रिया ने उनकी अभिव्यंजना शैली को मुखर एवं प्रखर भी किया। परिणामतः यह काव्यधारा कम कवियों से पोषित होकर भी इतनी महत्वपूर्ण बन गई की इसे उपेक्षित नहीं किया जा सका। इस काव्यधारा के पाँच प्रमुख कवि हैं — घनानन्द (प्रवर्तक), आलम, ठाकुर, बोधा तथा द्विजदेव।

योरप में क्लासिकल या शास्त्रीय परम्परा के विरोध में जिस प्रकार की विद्रोह भावना पनपी थी और परिणामतः स्वच्छंदतावादी काव्य प्रकट हुआ था, ठीक उसी प्रकार इस रीतिमुक्त काव्यधारा में भी हुआ। इन कवियों ने भी एक ओर शास्त्रीय काव्य परम्पराओं का विद्रोह किया तो दूसरी ओर सामाजिक मर्यादाओं, पारंपरिक रूढ़ियों तथा धर्मगत सीमाओं की भी परवाह नहीं की। इन्होंने निडर प्रेम-यौद्धाओं की तरह स्वच्छन्द प्रेम का मार्ग ग्रहण किया तथा प्रेम और शृंगार की मर्मस्पर्शी रचनाएं प्रस्तुत कर काव्य प्रेमियों तथा मर्मज्ञ पाठकों को रसाबोर कर दिया।

रीतिमुक्त काव्य रीतिबद्ध या रीतिकाव्य की तरह आत्मप्रदर्शन परक, वस्तु-प्रधान अथवा चमत्कार-प्रधान न हो कर आत्माभिव्यक्तिपरक एवं व्यक्ति-प्रधान काव्य कहा जा सकता है। यही कारण है कि इसमें प्रगीतिकाव्य का सा रागतत्व एवं संगीतमयी आत्मा बसी हुई अनुभूत होती है। इसमें न तो नायिकाओं के भेद-उपभेद किये गये हैं और न ही उनके नख से शिख तक के स्थूल, मांसल तथा कामोद्दीपक चित्र उकेरे गए हैं। इसमें तो निजी प्रेम के विरहकुल अश्रुओं की आर्द्र धारा अविरल गति से प्रवाहित होती है। इनकी नायिकाएँ रीतिकवियों की तरह कल्पनालोक में खोयी रहने वाले अथवा श्वास लेने पर छह-सात हाथ आगे-पीछे हो जाने वाली विरह-त्रसिता नायिकाएँ नहीं। इसमें स्त्री-पुरुष का बनावटी आकर्षण या दिखावटी प्रेम नहीं, यह तो भक्तिकाव्य की आत्मात्मिकता तथा निर्गुण कवियों की साधनात्मकता से समपृक्त प्रेम की सच्ची तथा मार्मिक अभिव्यक्ति का दस्तावेज़ है। पूर्णतः भक्ति कवियों का सा औदात्य तथा दार्शनिक गांभीर्य इसमें भले ही न हो और यह अपेक्षित भी नहीं परन्तु रीतिकवियों की ऐन्द्रियता, ऊहात्मकता तथा मासंलता से यह प्रेम बहुत ऊपर है।

घनानन्द आलम, बोधा ठाकुर एवं द्विजदेव आदि सभी स्वच्छन्द कवि अपने प्रेम पात्र के हृदय में करुणा उत्पन्न करने का प्रयास करते दिखाई पड़ते हैं। निर्मल एवं उदात्त प्रेम के इन उपासकों ने प्रेम के प्रतिदान की अभिलाषा न रखते हुए अपने समर्पण, एकनिष्ठता तथा अनन्यता पर ही स्वयं को केन्द्रित रखा। ये अतृप्त वासना अथवा रूपवैविध्य के आस्वाद में डूबने वाले रसिक नहीं, ये तो हृदय के हाथों बिके हुए तथा प्रेम-परवश समस्त मर्यादाओं को तोड़ने का साहस रखने वाले निडर प्रेमी मात्र हैं। जो इन्होंने सच्चे हृदय से अनुभूत किया उसे ही शब्दाश्रुओं में ढालने का सच्चा प्रयास भी किया। डॉ. महेन्द्र कुमार ने लिखा भी है — "रीतिमुक्त काव्य के अन्तर्गत प्रेम का अर्थ मन का उत्कट उन्मुखीभाव है जिसकी अभिव्यक्ति करने के लिए प्रेमी समस्त मर्यादाओं का उल्लंघन कर डालता है। रीतिकाव्य के समान मर्यादाभीत विलासी के इन्द्रियसुख की आतुर अभिलाषा नहीं जिसे वह बहुत बड़ा मूल्य देकर क्रय करना तो चाहता है पर अपनी नैतिक प्रतिष्ठा पर आँच न आने देने के उद्देश्य से समाज की दृष्टि से ओझल भी रहना चाहता है"। (हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, पृष्ठ 189)

"रीतिकाल" नाम पर सबसे बड़ी आपत्ति का कारण भी रीतिमुक्त काव्यधारा ही है। रीति काव्य जिस तरह नारी-विरह का काव्य था रीतिमुक्त काव्य उसी प्रकार पुरुष-विरह का काव्य है। परन्तु पुरुष-विरह की उर्दात्ता और गंभीरता के सामने रीतिकाव्य की नारी का ऊहात्मक विरह कहीं नहीं ठहरता। स्थूल चेष्टाओं या विविध काम दशाओं से दूर प्रेमवृक्ष के नीचे बैठकर प्रेमिका के वियोग का दर्दीला बखान और प्रेम-निवेदन का निरंतर सहानुभूति जगाने वाला प्रयास इसी कविता में देखने को मिलता है।

अभिव्यंजना की दृष्टि से भी इस काव्यधारा का अपना ही वैशिष्ट्य है। हालांकि भाषा इन कवियों की भी रीतिकाव्य के अन्य कवियों की तरह परिनिष्ठित ब्रजभाषा ही रही और युग-प्रचलित कवित्त, सवैया, दोहा तथा चौपाई जैसे मुक्त छन्दों का प्रयोग ही इन कवियों ने भी किया। किन्तु फिर भी इनका प्रतिभा-कौशल अपनी एक अलग ही

झलक छोड़ता है। इन कवियों की रागात्मक बिम्ब-योजना, अद्‌भुत उक्ति-वैचित्र्य, शब्द प्रयोग का जड़ियापन, धारदार, मर्मस्पर्शी, पैनी एवं प्रभावी बिम्ब रेखाएँ तथा वस्तु-वैभव की समृद्धि सब के सब गुण मिलकर इन कवियों को तथा इस काव्यधारा को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। कवि अनुभूति की नितान्त वैयक्तिकता की सफल अभिव्यक्ति इस काव्य के मुहावरों में तथा अप्रस्तुत विधान की सहज प्रस्तुति में देखी जा सकती है। यही सब विशेषताएँ रीतिमुक्त काव्यधारा को केवल रीतिकाल में ही नहीं समग्र हिंदी साहित्यकाश में एक पृथक तथा विशिष्ट स्थान एवं पहचान का अधिकारी बना देती है।

अब हम इस काव्यधारा के प्रसिद्ध कवियों तथा उनकी रचनाओं के विषय में भी थोड़ा विश्लेषण कर लें तो उचित होगा। इन कवियों के संदर्भ में जानकारी हासिल कर लेने पर इस काव्यधारा की प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि डाल सकेंगे।

**बोध प्रश्न 1**

1) रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्यधारा का परिचयात्मक विवरण लगभग पन्द्रह पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) नीचे कुछ कथन दिये जा रहे हैं, इनमें कुछ सही तथा कुछ गलत हैं। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए —

i) रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रवर्त्तक कवि बोधा हैं। ( )

ii) रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने परम्परा और परिपाटी का विरोध ही नहीं उल्लंघन भी किया। ( )

iii) रीतिमुक्त कवियों ने संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा का यथास्थान अनुसरण किया। ( )

iv) रीतिमुक्त कवियों ने रीतिबद्ध कवियों के काव्य को काव्य नहीं माना। ( )

v) रीतिमुक्त काव्य में ऐन्द्रियता एवं मांसलता की अपेक्षा निजी प्रेम की अभिव्यक्ति है। ( )

## 17.3 रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि

रीतिमुक्त काव्यधाराओं को दृष्टि में रखते हुए यों तो इसे भी दो वर्गों में बांटा जा सकता है। ऐसा विभाजन करने से रीतिकाल की अन्य प्रवृत्तियाँ अर्थात् वीर, भक्ति, नीति, दर्शन, प्रशस्ति तथा प्रकृति आदि प्रवृत्तियाँ भी इसी के अंतर्गत आ जाती हैं। अतः इस दृष्टि से प्रथम वर्ग तो होगा — शृंगार काव्यधारा या स्वच्छन्द काव्यधारा का जिसके अंतर्गत घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा एवं द्विजदेव जैसे स्वच्छन्द प्रेममार्गी कवि आ जायेंगे। दूसरा वर्ग होगा शृंगारेतर रीतिमुक्त काव्यधाराओं का, जिसके अंतर्गत निर्गुण काव्य की संत एवं सूफी काव्यधारा तथा सगुण काव्य की राम एवं कृष्ण काव्यधारा तो आएंगी ही साथ ही वीर, नीति, प्रशस्ति एवं प्रकृति भी आ जायेंगी।

यहाँ हम प्रथम वर्ग अर्थात् प्रेममार्गी स्वच्छन्द काव्यधारा के पाँच प्रमुख कवियों एवं उनकी कृतियों का परिचय प्राप्त करेंगे। दूसरे वर्ग की चर्चा आगे की जा सकेगी। तो आइये, पहले पाँचों कवियों एवं उनके साहित्य विश्लेषण कर लें।

### 17.3.1 घनानन्द

घनानन्द का नाम रीतिमुक्त या रीतिस्वच्छन्द कवियों में सर्वोपरि है रीति की प्रवहमान धारा के विरुद्ध खड़े रह कर एक नव्यतम काव्यधारा का प्रवर्तन करने का श्रेय घनानन्द को ही जाता है। ब्रजभाषा कविता को परम्पराओं के बंधन से मुक्त कराकर एक नई दिशा देने में पहल करने वाले आप प्रमुख कवि हैं। इनका जन्म सन् 1673 के आसपास माना जाता है। उत्तर प्रदेश के ब्रजभाषी कस्बे में जन्में घनानन्द दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में मीरमुंशी थे। यहीं इनका अनुराग एक सुजान नामक वेश्या से हो गया। बताया जाता है। दरबारियों के षड्यंत्र के कारण घनानन्द को दरबार से निकाला गया था। बादशाह के कहने पर पद न गाने और सुजान के कहने पर गा देने वाले इस प्रेमी कवि को बादशाह के क्रोध का भागी बनना पड़ा और दरबार-निकाला हासिल हुआ। ऐसे में घनानन्द ने सुजान से अपने साथ चलने को कहा पर उसने इंकार कर दिया। परिणामतः उन्हें गहरा आघात लगा और वे वृन्दावन आकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। कृष्ण भक्ति में लीन हो कर भी घनानन्द सुजान के प्रति अपने अनुराग को कम न कर सके और इसीलिए वे राधा-कृष्ण में भी उसी की छाया देखते रहे। 1760 के अहमदशाह-अब्दाली द्वारा किए गए आक्रमण में जो कत्ले आम हुआ, उसमें ये मारे गए।

लौकिक प्रेम से अलौकिकता तक पहुंचने वाले रसिक कवि घनानन्द अपनी प्रेमिका सुजान को अंतिम समय तक भी भुला न पाए। घनानन्द ने संयोग तथा वियोग शृंगार की अत्यंत मार्मिक एवं प्रभावी कविता लिखी है। संयोग की अधिकांश कविता दरबारी-निर्वासन से पहले की है तथा वियोग की कविता दरबारी-निर्वासन के बाद की। संयोग की दशा में भी वियोग की अनुभूति में जीने वाला यह अद्‌भुत कवि विषय-प्रेम का महान कवि था।

घनानन्द द्वारा रचित काव्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग में उनकी कवित-सवैयों में लिखी शृंगार विषयक रचनाओं को रखा जा सकता है तथा दूसरे वर्ग में पदों और दोहे-चौपाइयों में लिखी गई भक्ति परक रचनाओं को रख सकते हैं। शृंगारिक रचनाएँ केवल मुक्तक हैं तथा भक्ति परक रचनाएँ प्रबंध और मुक्तक दोनों हैं। यों घनानन्द के सुजानहित, कृपाकन्द निबंध, वियोग बेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, प्रेम पत्रिका, प्रेमसरोवर, ब्रजविलास, सरसवसन्त, अनुभवचन्द्रिका, रंग बधाई, प्रेम पद्धति, वृषभानुपुरसुषमा, गोकुलगीत, नाममाधुरी, गिरिपूजन, विचारसार, दानघटा, भावनाप्रकाश, कृष्णाकौमुदी, प्रियाप्रसाद, प्रेम पहेली, कवित्त संग्रह, पदावली, ब्रजव्यवहार तथा मनोरथमंजरी, आदि 40 ग्रंथ उपलब्ध होते हैं तथा अनेक स्फुट छन्द भी यत्र-तत्र मिलते हैं। प्रेम-शृंगार के अद्‌भुत कवित्त रचने वाला यह कवि आत्मसुखाय काव्य-सृजन कर रहा था। किन्तु महत्वपूर्ण है कवितों के सृजन से कवि घनानन्द का स्वयं गढ़ते जाना-निखरते जाना। सभी वे कहते हैं —

"लोग हैं लागी कवित्त बनावत,
मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।"

अर्थात् घनानन्द कवित्त की पहचान न थे। कवित्त घनानन्द की पहचान बन रहे थे। तभी तो आचार्य शुक्ल ने भी कहा "ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। प्रेम की पीर लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ"। (हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)।

नारी प्रेम, सौन्दर्य, प्रेमानुभूति तथा व्यापक विरह-वेदना का यह एकनिष्ठ तथा अन्तर्मुखी कवि सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को भी सफलता से रूपायित करता है। इनके कवियों में "सुजान की छाप भी जगह-जगह मिलती है। यों सुजान कृष्ण को भी कहा जाता है, परन्तु मूलतः यह प्रेयसी सुजान है। पर इसे कवि प्रेम का उदात्तीकरण भी कहा जा सकता है कि उसकी प्रेयसी सुजान उसे कृष्ण-राधा की भूमि तक पहुँचा देती है। सरल सहज तथा सीधे प्रेम मार्ग पर चलने वाला यह महाकवि सयानेपन तथा बाँकपन से कोसों दूर रहा है। एकनिष्ठता उसका आदर्श रही है। तभी तो वे कहते भी हैं —

अति सूधो सनेह को मारग है, यहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचै चलैं तजि आपनपौ, झिझकें कपटी यो निसांक नहीं।
घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो, इहां एक ते दूसरों आँक नहीं।
तुम कौन-धौं पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

मनभर ले लेने पर भी छटाँक भर न लौटाने वाली प्रियतमा कितनी निष्ठुर है। कपट, अविश्वास और विश्वासघात' का विरोधी यह सब सहता भी है और आत्म-त्याग से साधनारत भी रहता है। प्रेम मार्ग तो तलवार की धार के समान है और प्रेमी उस पर चल कर ही मंजिल पर पहुँचता है। घनानन्द भी एक बार चलकर पीछे मुड़ने वाले व्यक्ति नहीं। जीवन की हर चुनौती से वे जूझते हैं। डॉ. महेन्द्र कुमार लिखते हैं — "अतः अकथ्य विरह-व्यथा को नियति मानकर अवसाद और घुटन के बीच मरण-तुल्य जीवन व्यतीत करने का स्वभाव बना लेने के अतिरिक्त उसके पास और कोई विकल्प नहीं। उनके विचार में प्रिय से प्रतिदान प्राप्त करने का अधिकार न होने के कारण

उसको कोसने अथवा उसकी भर्त्सना करने का उसे (प्रेमी को) अधिकार नहीं हो सकता, हाँ सन्देश-प्रेषम द्वारा वह अपने अनुराग की सच्चाई और व्यथा की गहराई की अभिव्यक्ति करके उसके मन में अपने प्रति सहानुभूति और करुणा जगाने का प्रयत्न अवश्य कर सकता है, ऐसा करने से प्रिय के कृपा-कटाक्ष का एक अंश भी यदि उसे प्राप्त हो जाता है तो उसका प्रेम और प्रेमी-जीवन दोनों ही धन्य हो सकते हैं।" (हिंदी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, रीतिकाल, पृष्ठ 192)

अतः स्पष्ट है कि घनानन्द का भावपक्ष जितना मार्मिक उदात्त, पुष्ट एवं प्रभावी है, उनका कला पक्ष भी उतना ही उन्नत एवं समृद्ध है। काव्य गुण, छन्द, अलंकार और भाषा आदि सभी दृष्टियों से उनका कला-पक्ष प्रौढ़ता के चरम रूप प्रस्तुत करता है। भाषा के सौष्ठव को घनानन्द के काव्य ने विशेष रूप से सजाया संवारा है। तभी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा भी है — "अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ"। (हिंदी साहित्य का इतिहास) घनानन्द की बिम्ब योजना तथा उक्ति-वैचित्रय की अद्‌भुत छवि देखते ही बनती है। हृदयगत पीड़ा एवं कसक को उभारने में, अलंकारों की बुनावट तथा नक्काशी में और प्रभावी रंग-वैभव की छटा बिखरने में घनानन्द का कोई सानी नहीं। उनके अभिव्यंजना शिल्प में बोलचाल की ठेठ शब्दावली, मुहावरे और लोकोक्तियों का सौन्दर्य इनकी भाषिक-छटा को निखारता संवारता है। हृदय और बुद्धि-व्यापार का ऐसा कौशल अन्यत्र दुर्लभ ही है।

## 17.3.2 आलम

आलम स्वच्छन्द धारा के दूसरे प्रमुख कवि हैं। अकबरकालीन आलम शेख नाम की एक रंगरेजिन से प्रेम करते थे और इस घटना प्रसंग से इनको प्रसिद्धि भी बहुत मिली है। कुछ विद्वान दो अलग-अलग आलम कवियों की कल्पना भी करते हैं परन्तु अततः कोई प्रामाणिक तथ्य न मिलने पर यही समझा जाता है कि "माधवानलकामकन्दला" तथा "आलमकेलि" के रचयिता आलम अकबरकालीन कवि ही हैं और ये एक ही हैं। दूसरे आलम का अस्तित्व नहीं है।

कहा जाता है कि आलम मूलतः ब्राह्मण थे किन्तु रंगरेजिन शेख के अनुरागवश में मुसलमान हो गए। शेख से इनके प्रेम की कथा का आधार उसकी काव्य-प्रतिभा मानी जाती है। किवंदन्ती है कि एक बार आलम ने शेख को अपनी पगड़ी रंगने को दी थी और उस पगड़ी में एक कागज़ का टुकड़ा बंधा था, जिस पर आलम कवि का अधूरा काव्य-छंद था —

कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन,

दोहे की इस अधूरी पंक्ति को आलम ने बाद में पूरा करने की आशा से संभवतः पगड़ी में बांधा होगा। शेख ने पगड़ी रंगते समय-कागज़ देखा और दोहा पूरा कर उसी में बांध दिया —

कटि को कंचन काटि के, कुचन मध्य धरि दीन।

आलम ने इस दोहे की पूर्ति को देखा तो वे सीधे शेख के घर पहुंचे और उन्हें पुरस्कृत किया। यहीं से इन दोनों का प्रेम आरंभ हुआ।

आलम के नाम से चार ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—माधवानलकामकन्दला, श्यामसेनही, सुदामाचरित तथा आलमकेलि। इनमें पहले दो ग्रंथ प्रेमाख्यानक काव्यपरम्परा के ग्रंथ हैं तथा सुदामाचरित कृष्ण-भक्ति काव्य परम्परा का है। ये तीनों प्रबंधात्मक कृतियाँ हैं। आलम केलि मुक्तक काव्य रचना है। कुछ अन्य स्फुट छंद भी आलम के नाम से मिलते हैं। कवि के स्वच्छन्द भाव तथा प्रेमी वृत्ति को आलम केलि में देखा जा सकता है। "माधवानलकामकन्दला प्रेम कथा है तथा शेष दो भक्ति काव्य हैं। आचार्य शुक्ल ने आलम कवि के संदर्भ में लिखा है—"ये प्रेमोन्मत कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदयतत्व की प्रधानता है। प्रेम की पीर या इश्क का दर्द इनके एक-एक पद में भरा पाया जाता है"। (हिंदी साहित्य का इतिहास)

इनके काव्य में रागात्मकता के साथ-साथ काव्यशास्त्रीय वस्तु-परकता का पुट भी है। रीतिबद्ध कवियों के समान काव्यशास्त्रीय नियम इनके संस्कारों में ही थे। रूप, गुण, चेष्टा, हाव-भाव आदि का वर्णन इन्होंने पूरे मनोयोग से किया है। इनकी विरह प्रधान रचनाओं में विरह की तीखी कसक भी है। इनका काव्य काल संवत् 1640 से 1680 तक माना जाता है।

आलम के काव्य का अभिव्यंजना-शिल्प भी मंझा हुआ है। शब्द-वैचित्र्य तथा उत्प्रेक्षा अलंकार का विशिष्ट प्रयोग इनकी खासियत है। अनुप्रास की प्रवृत्ति भी इनके काव्य में सर्वत्र देखी जा सकती है। काव्य बिम्बों की सुनियोजित रेखाएँ तथा अनुभूति को प्रगाढ़ करते रंग-वैभव समृद्ध-दृश्य कवि के वैशिष्ट्य को उजागर करते हैं। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों का आधिक्य तथा अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग अत्यंत सजगता से किया गया है। प्रसादगुण सम्पन्न पदावली तथा कवित्त सवैयों की प्रवाहमयी प्रस्तुति इनकी अद्‌भुत क्षमता की परिचायक है। इनका एक सुंदर एवं प्रसिद्ध छंद प्रस्तुत है —

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सौं करी बहु बात सुता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।।
आलम चैन से कुंजन में करी केलि वहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।।

## 17.3.3 ठाकुर

"ठाकुर-ठसक" और "ठाकुर-शतक" नामक दो काव्य-संग्रह तैयार करने वाले कवि-ठाकुर रीतिकालीन रीतिमुक्त शृंगारी काव्यधारा के भावप्रधान कवि हैं। इनका पूरा नाम ठाकुरदास था। इनका जन्म 1766 ई. में ओड़छा (मध्यप्रदेश) के अंतर्गत श्रीवास्तव खरे कायस्थ परिवार में माना जाता है। ये अकबर युग में आगरे की साठ हजार सेना के अफसर रहे। बुन्देलखण्ड के जैतपुर नरेश केसरीसिंह, उनके पुत्र पारीक्षतसिंह, बिजावर-नरेश केसरीसिंह तथा बाँदा नरेश गोसाई अनूप गिरि "हिम्मतबहादुर" आदि की राजाओं के आश्रम में इनके रहने की सूचना भी मिलती है।

ठाकुर नाम के भी तीन कवि मिलते हैं। दो असनी वाले तथा एक बुन्देलखण्ड वाले। परन्तु खोज-बीन से यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि ठाकुर बुन्देलखण्ड वाले ही हैं। मौजमस्ती तथा स्वाभिमान के धनी ठाकुर की जवाँमर्दी का पता वहाँ चलता है जब वे बाँदा-नरेश हिम्मतबहादुर के सामने सक्रोध तलवार खींचकर ये कवित्त पढ़ते हैं—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के
दान जुद्ध जुरिबे यें नेकु जे न मुरके।।

रीतिस्वच्छन्द काव्यधारा के सभी कवि इस साहस के धनी थे। ठाकुर ने अपने काव्य में राधा को आराध्य बनाया तथा शृंगार-वर्णन के लिए स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण किया। कहीं-कहीं रीतिबद्ध शैली का प्रभाव भी इनके काव्य में विद्यमान है। पर अधिकांशतः फारसी प्रेमपद्धति का भारतीयकरण इनके काव्य में मिलता है। प्रेम करना आसान है पर उसे निभाना अत्यन्त कठिन एवं दुष्कर कार्य है। इसीलिए ठाकुर के काव्य की गोपियाँ स्थिर प्रेमभाव की पक्षधर हैं। भक्ति और शृंगार का अद्भुत मिश्रण इनके काव्य में मिलता है। इनका मानना है कि ईश्वर पहले विरह में तड़पाता है और फिर सच्ची प्रीति देखकर मिलन की स्थिति बनाता है। ठाकुर विशुद्ध प्रेमी थे और प्रेम की एकनिष्ठता उनके जीवन का मूलाधार भी। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए लिखा भी है—"ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। उनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। भावों को यह कवि स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भावों को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविता प्रायः सभी पात्रों के ही मुख की वाणी होती है। अतः स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का जो सुन्दर विधान इस कवि ने किया है। उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है"। (हिंदी साहित्य का इतिहास)।

ठाकुर की कविता अनुभूति और अभिव्यक्ति में बराबर सहज है। उनके व्यक्तिगत भाव भी सार्वजनीन बन जाते हैं। बोलचाल की स्वच्छ भाषा में प्रवाह है तथा निश्छल अनुभूति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति उनकी परम विशेषता है। प्रेम के निर्वाह और एकनिष्ठता के प्रति वे पूर्णतः जागरूक हैं—

का करियै तुम्हरे मन कौ जिनकौ अब लौं न मिटी दगा दीबौ।
पै हम दूसरों रूप न देखिहैं आनन आन कौ नाम न लीबौ।
ठाकुर एक सौ भाव है तौ लगि जौ लगि देह धरे जग जीबौ।
प्यारे सनेह निबाहिबे को हम तौ अपनौ सौ कियो अरू कीबौ।।

ठाकुर ने भक्ति, नीति, प्रकृति, पर्वोत्सव, होली तथा हिंडोला आदि विषयक सुन्दर छंद रचे हैं। काव्यशास्त्रीय नियमों से ये पूर्णतः मुक्त रहे हैं। मांसलता से दूर नितांत रागात्मक अभिव्यक्ति में इनका मन बहुत रमा है। इनकी सौन्दर्यानुभूति सहृदय की चेतना को आनन्दमग्न करने वाली है। बिम्ब विधान में वक्र रेखाएँ तथा उनसे उभरी गंभीर अर्थ-चेतना का वैशिष्ट्य इनकी विशेषता है। भाषा, भावों के अनुरूप तथा सहज-सरल है।

## 17.3.4 बोधा

रीतिस्वच्छन्द शृंगारी भावधारा के प्रमुख कवियों में बोधा का नाम भी महत्वपूर्ण है। इनका पूरा नाम बुद्धिसेन था। "विरहवारीश" तथा "इश्कनामा" नामक से कृतियाँ बोधा विरचित मिलती है। विरहवारीश तो माधवानलकामकन्दला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर आधारित प्रबंध रचना है तथा इश्कनामा प्रेम संबंधी मुक्तकों का संग्रह है।

बोधा अपने आश्रयदाता पन्नानरेश खेतिसिंह की राजनर्तकी सुभान से प्रेम करते थे। "इश्कनामा" कवि के वैयक्तिक प्रेम का विरहानुभव बनकर सामने आती है। विरहवारीश में शाप, बाल, आरण्य, कामावती, उज्जैन, युद्ध, शृंगार, वनदेश तथा ज्ञान आदि खण्डों में घटनाओं को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। बोधा के काव्य में मनोवेगों की बेबाक अभिव्यक्ति है। पन्नादरबारी की राजनर्तकी सुभान से प्रेम रखने के कारण इन्हें दरबार तथा नगर से निकाला

गया था। उसी के विरह में इन्होंने विरह-वारीश रचना लिखी थी। पर अंततः राजा ने हीं इनके प्रेम की एकनिष्ठता देखकर सुभान के साथ रहने की अनुमति प्रदान की थी। इनके रचनाकाल की चर्चा सन् 1752 से 1758 तक की जाती है।

प्रेम को बोधा एक 'पन्थ' मानते थे और इस पर चलने को तलवार की धार पर चलने के समान। परिवार एवं समाज की सभी मर्यादाओं की परवाह किये बिना और बड़े से बड़ा बलिदान दिये बिना इस पन्थ पर चलना असंभव है। इसीलिए वे प्रेम का बखान भी केवल सहृदय के सम्मुख ही करना चाहते हैं क्योंकि वही इसका सुपात्र है। अन्य के सामने किये गये बखान को तो उपहास ही मिलता है। बोधा अन्य रीतिस्वच्छन्द कवियों की तरह केवल त्याग और बलिदान में विश्वास नहीं रखते। ये तो प्रेम के प्रतिदान की अपेक्षा भी रखते हैं। अगर प्रेमिका दगा दे तो ये उसकी निन्दा तथा प्रताड़ना करना भी अनुचित नहीं मानते। इन सभी भावों और विचारों की निर्भीक अभिव्यक्ति इनके काव्य में देखने को मिलती है। बोधा के काव्य में ऐन्द्रियता और उदात्तता का अद्भुत मिश्रण है। अनन्यता और बलिदान इन्हें प्रिय है लेकिन दगा देने वाली प्रेयसी के प्रति राग अलापते रहना स्वीकार्य नहीं।

बोधा के प्रेम विषयक काव्य की अभिव्यक्ति पूरे मनोयोग से की गई प्रस्तुति बनकर सामने आती है। संगत और औचित्य का वे पूरा ध्यान रखते हैं। उनकी बिम्ब योजना में ग्रामीण स्वाभाविकता का पुट है। तत्सम और तद्भव शब्दावली के साथ उनकी भाषा में बुन्देली, अरबी, फारसी, पंजाबी, शब्दों के समूह भी मिलते हैं। लोकोक्ति और मुहावरों का तीखा एवं प्रवाहमान प्रयोग पाठकों को सहज ही आकृष्ट करता है। सूफी-असूफी प्रेमकाव्य की परम्पराओं का अनुसरण तथा लोककथाओं का अधिग्रहण करते हुए बोधा ने दोहा, सवैया तथा कवित्त का सुंदर प्रयोग किया है। बोधा के काव्य एक उदाहरण दृष्टव्य है—

अति छीन मृनाल के तारहु तें तिहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह ते द्वार सकीन तहाँ परतीत को टाँडो लदावनों है।।
कवि बोधा अनी धनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त उगावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल है जू तरवारि की धार पै धावनो है।

## 17.3.5 द्विजदेव

द्विजदेव रीतिमुक्त काव्यधारा के अंतिम प्रमुख कवि हैं। शृंगार प्रधान स्वच्छन्द वृत्ति को इन्होंने भी काव्य का प्रमुख विषय बनाया। ये महाराजा मानसिंह "द्विजदेव" के नाम से जाने जाते हैं। प्रकृति वर्णन की स्वच्छन्दता, संयोग-शृंगार में भाव प्रधान रीतिबद्धता और वियोग शृंगार में रीतिस्वच्छन्द रागात्मकता को इनके काव्य में सहज ही देखा जा सकता है। हृदय की विभिन्न अंतर्दशाओं का अत्यंत मार्मिक वर्णन करने में ये पूर्णतः दक्ष कवि माने जाते हैं। रोक्ष, क्षोभ, दैन्य, धृति, स्मृति तथा उद्वेग आदि भावों की सफल व्यंजना इनके काव्य में देखी जा सकती है। प्रकृति का स्वच्छन्द रूप में तो सुंदर वर्णन ये करते ही हैं, आलम्बन रूप में भी उसका प्रभावशाली वर्णन इन्होंने किया है। प्रकृति वर्णन का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

हौरैं हौरैं डोलती सुगंधसनी डारन तैं,
औरैं औरैं फूलन पै दुगुन फबी है फाब।
चौंथत चकोरन सौं भूले भए भांरन सौं,
चारयों ओर चंपक पै चौगुनौं चढ़ौं है आब।
द्विजदेव की सौं दुति देखन भुलानौं चित,
दसगुनी दीपति सौं गहब गद्दे गुलाब।
सौगुने समीर है सह न गुने तीर भए,
लाखगुनी चाँदनी करोर गुनौं महताब।।

कहा जाता है कि द्विजदेव राजसी परिवार से थे और अयोध्या-नरेश शाकद्वीपी ब्राह्मण महाराज दर्शनसिंह इनके पिता थे। द्विजदेव इनका उपनाम माना जाता है। इनके जन्म-काल के संदर्भ में सन् 1802 तथा मृत्यु के लिए सन् 1871 स्वीकृत किये जाते हैं। द्विजदेव कृत—शृंगारलतिका, शृंगारबत्तीसी, शृंगारचालीसी तथा रसकुसुमाकर नामक चार कृतियों का उपलब्ध होना माना गया है। इनकी कृतियों एवं वर्ण्य-विषयों के संदर्भ में रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान डॉ० महेन्द्र कुमार का कहना है—"इनमें "शृंगारलतिका" के अंतर्गत तीन सुमनों में क्रमशः काम-प्रेरणा और वसंत-आगमन, राधा-कृष्ण-क्रीड़ाएँ तथा नायिका का नख-शिख सौन्दर्य चित्रित है। "शृंगारबत्तीसी" में वर्षा ऋतु की प्राकृतिक छटा के बीच राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। "शृंगारचालीसी", "शृंगारबत्तीसी" का ही परिवर्द्धित संस्करण है। "रसकुसुमाकर" के अंतर्गत गद्यपरक लक्षण तथा "शृंगारलतिका" के कतिपय छन्द और अन्य कवियों की रचनाएँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रस-सामग्री-एवं रस के विभिन्न भेदों का स्वच्छ एवं सुबोध निरूपण किया गया है"। (हिंदी साहित्य का उत्तरमध्यकाल : रीतिकाल, पृष्ठ 201)।

द्विजदेव के शृंगारी छन्दों में रूप, अनुभाव, संभोग तथा कामदशाओं आदि का भावातिरेकमय वर्णन उपलब्ध है। इसमें कहीं-कहीं रीतिबद्ध काव्य का प्रभाव भी दृष्टव्य है परन्तु कवि की भावमयी प्रस्तुति का वैशिष्ट्य ही उसे रीतिमुक्त धारा से जोड़ता है। अनुभुति की गहराई तथा प्रस्तुति की मर्यादित गंभीरता को ध्यान में रखते हुए भी

कहीं-कहीं घोर श्रृंगार का वर्णन किया गया है। नायिका की मनोव्यथा की प्रस्तुति तो अत्यंत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की गई है। प्रकृति मनोहारी रूप में चित्रित की गई है। सरल और निश्छल अभिव्यक्ति उनके नवीन उपमानों, साम्यमूलक अलंकारों तथा सूक्ष्म तरल बिम्ब रेखाओं में देखी जा सकती है। उनकी भाषा में रीतियुग के काव्य सौन्दर्य और ब्रजभाषा के उत्कर्ष को देखा जा सकता है। लक्षणा, मुहावरे और लोकोक्तियों ने उनकी अभिव्यंजना शक्ति को प्राणवान बनाया है। कुल मिलाकर भाषा प्राञ्जलं बन पड़ी है।

## 17.4 रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख विशेषताएँ

रीतिमुक्त अथवा रीतिस्वच्छन्द श्रृंगार धारा के पाँच प्रमुख कवियों के विषय में अभी आपने विस्तृत अध्ययन किया। इन सभी कवियों का श्रृंगार-काव्य रीतिबद्ध श्रृंगारकाव्य से पर्याप्त भिन्न, स्वच्छन्द एवं उदात्त भावना का पोषक काव्य कहा जा सकता है। इसमें प्रेम का अनुभूति पक्ष प्रधान रहा। इन कवियों की मूल प्रवृत्ति रूप सौन्दर्य पर रीझने और सौन्दर्य के मार्मिक संवेदनात्मक वर्णन करने की रही है। प्रेम में विरह पक्ष की महत्ता एवं विशिष्टता को इन सभी ने स्वीकृति दी है। निजी प्रेम की अनुभूति को वैयक्तिकता का स्वर देकर मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करना इनकी विशिष्टता रही है। अतः इन कवियों की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में विचार कर लेना भी यहाँ अपेक्षित है। इन्हें इस रूप में देखा जा सकता है—

### 17.4.1 रीतिस्वच्छंदता

पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इस धारा के कवि भावुक थे तथा उन्होंने अपने को किसी भी काव्यशास्त्रीय परम्परा से आबद्ध नहीं रखा। काव्यशास्त्र का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था पर फिर भी उन्होंने अलंकार, छंद, नायक-नायिका भेद, रीति या वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों की पद्धति विशेष का अनुकरण नहीं किया। उनका विश्वास अनुभूति की मौलिक प्रस्तुति में रहा। उन्होंने रीतिपरिपाटी से स्वयं को पूर्णतः मुक्त ही रखा। लक्षणों के फेर में न पड़कर ये कवि निजी प्रेम के उच्छवासों को ही काव्यबद्ध करते रहे और इसमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली है। जबकि रीतिबद्ध कवि लक्षणों के फेर में उलझे रहे। रीतिसिद्ध कवि भी रीतिस्वच्छन्द कवि नहीं कहे जा सकते। इसकी चर्चा हम पिछली इकाइयों में विस्तार से कर चुके हैं। अतः कह सकते हैं कि किसी भी तरह की प्रतिबद्धता को अस्वीकार करने वाले ये कवि पूर्णतः स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त भावों के कवि थे।

### 17.4.2 प्रेमानुभूति की प्रधानता

रीतिस्वच्छन्द श्रृंगारकाव्य का मूल प्रतिपाद्य ही प्रेम है। पर यह प्रेम रीतिबद्ध कवियों के नायक-नायिकाओं के प्रेम से भिन्न है। स्वतः अनुभूत प्रेम की अभिव्यक्ति करने वाले ये कवि **हृदय** के आंतरिक स्पंदनों से प्रतिक्षण अनुभूत किये गये प्रेम की छटपटाहट और कसक का मार्मिक एवं प्रामाणिक वर्णन करते हैं। इसी प्रेम में इन्हें मस्ती और आनंद की अनुभूति होती है और यही इन्हें लौकिकता से अलौकिकता की ओर उन्मुख भी करता है। प्रेम मार्ग के ये जवाँमर्द पथिक सूफी प्रेम की पीर से भी प्रभावित होते हैं। यही कारण है कि इनके प्रेम में उदात्तता का स्पर्श भी है। यही प्रेम इनकी प्रेरणा बनकर इन्हें दिव्यता तक ले जाता है। समर्पण और त्याग की विशेषताओं से सम्पन्न इनका प्रेम आध्यात्मिकता की ओर भी उन्मुख हो जाता है।

### 17.4.3 विरहप्रधान अनुभूति

रीतिस्वच्छन्द कवियों का प्रेम वर्णन व्यथा प्रधान है। प्रेम के विछोह से प्राप्त पीड़ा और कसक इनकी अमूल्य निधि है। इसीलिए ये संयोग में भी वियोग की अनुभूति करते हैं। इसीलिए वियोग की प्रचलित परम्परा से यह विशिष्ट भी हो जाता है। यह फ़ारसी का प्रभाव भी है जहाँ पर प्रेम में विरह की प्रधानता रहती है। युगीन समाज के परिवेश एवं स्थितियों का प्रभाव भी इसमें लक्षित है। व्यथा को भीतर ही भीतर छुपा कर रखना इनकी विवशता भी थी। इसलिए ये कहते भी हैं कि प्रेम की पीर किसी को सुनाने से कुछ लाभ नहीं। फिर बिना विरह के ये प्रेम की परिपक्वता भी नहीं मानते। विरह वेदना से ही प्रेमी प्रेम पंथ का सच्चा पथिक बनता है। वही अग्नि में तपाकर उसे सच्चा सोना बनाता है। इसलिए ये वियोग की चिरंतन कामना भी करते हैं। इनका विरह रीतिबद्ध नायिका के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों से पूर्णतः भिन्न एवं विशिष्ट है। इसी विशिष्ट प्रवृत्ति ने इनके काव्य को सहज एवं मार्मिक बनाया है।

### 17.4.4 भावप्रवणता

रीतिमुक्त काव्यधारा के श्रृंगार-प्रेमी कवि भावप्रवण कवि थे। प्रेम की पीड़ा को स्याही बनाकर अपने **हृदय** के उद्गारों को लिखना इनकी रुचि बन गयी थी। भाव विभोर होकर ये ऐसे प्रवाहित होने लगते हैं कि अभिव्यंजना के सभी उपकरण स्वतः ही भावों को गति प्रदान करने के लिए उपस्थित होते चले जाते हैं। भावावेग वास्तव में

इनकी कविता की प्रेरणा तो बनता ही है, साथ ही हेतु भी बन जाता है। उपमानों और बिम्बों का मिश्रण इनकी अन्तर्दशाओं को इस रूप में रखता है कि सभी भावविभोर हो जाते हैं। विषम प्रेम के प्रति आसक्ति इन प्रेमियों के तन-मन में पूरे प्राणपण से मौजूद है।

## 17.4.5 काव्यादर्श अथवा काव्यदृष्टि

अपने काव्य गौरव के प्रति विशेष रूप से सजग रहने वाले इन कवियों ने समसामयिक रीतिबद्ध काव्यादर्शों से सजग रहते हुए अपनी काव्यदृष्टि को पृथक ही नहीं विशिष्ट भी रखा है। लीक या परम्परा से पूरी तरह हटकर स्वतः स्फूर्त कविता के पक्षधर इन कवियों ने सभी परम्पराओं, मर्यादाओं तथा लीकों का तिरस्कार करते हुए एक नई राह बनाई। रीतिबद्ध काव्यधारा के प्रबल प्रवाह के विरुद्ध यात्रा करने का सफल कार्य इन लोगों ने किया। परम्पराओं से प्राप्त अलंकारों या छंदों को जोड़कर छंद रचना करना इनकी दृष्टि में काव्य नहीं। इसलिए ये कवि शिक्षा को भी प्रतिभा से भिन्न वस्तु मानते हैं। काव्य तो स्वतः अनुभूत तथा निजी प्रेमानुभूतियों से ढलकर ही मार्मिक बनता है। अलंकारों या चमत्कारों से तो वह बोझिल ही होता है। अतः ये वे कवि थे जिन्होंने अपना काव्यमार्ग स्वयं बनाया। इनके भावों ने ही अभिव्यंजना विधान को अपने अनुकूल ढालकर कविता को भावलोक तक पहुँचाया।

## 17.4.6 अभिव्यंजना सौष्ठव

रीतिमुक्त कवियों का भावावेग अभिव्यंजना के सभी उपकरणों को अपने अनुकूल ढालकर सहज, स्वाभाविक एवं प्रभावी तो बनाता ही है साथ ही अलंकाराधिक्य तथा कृत्रिमता आदि दोषों से भी मुक्त रखता है। भाषा को अलंकारों, लाक्षणिक प्रयोगों तथा लयात्मक-विधानों से सुज्जित कर ये कवि अभिव्यंजना-शिल्प के नये आयाम खोलते हैं। सहज स्वाभाविक तथा संतुलित शब्द प्रयोग, अपेक्षानुसार अप्रस्तुत विधान एवं चमत्कार पैदा करती वाग्विदग्धता ही मार्मिक व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति का कारण बनती है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग लोकजीवन से जोड़ता है तो उक्ति-वैचित्र्य कविता में कौतुहल पैदा करता है।

इन कवियों ने परखे हुए शब्दों का परिमार्जित प्रयोग किया। वह शब्द अपने आप में अद्वितीय प्रयोग बनकर आते हैं। सामास वक्रता इसमें नहीं, पर अनायास आई मौज-मस्ती इसकी विशेषता है। मोहक शब्द, वक्रता और उसकी लोच ध्वनिगत आभा तथा अर्थगत व्यंजना, सभी मिलकर भाषा को अद्‌भुत बना देते हैं। घनानन्द और द्विजदेव की भाषा तो इस दृष्टि से उदाहरण ही बन जाती है। आलम और बोधा की भाषा में बोलचाल की भाषा का स्पर्श है। ठाकुर का शब्द प्रयोग अत्यंत सटीक एवं सुष्ठु है। इनकी मुहावरेदार भाषा और शब्दों की बारीक अभिव्यक्ति क्षमता वास्तव में अतुलनीय है। नाद, संगीत, लय एवं प्रवाह का इन्होंने विशेष ध्यान रखा है। इसी प्रकार उक्ति-वैचित्र्य काव्य-भंगिमा को तथा उसकी व्यंजकता को स्पष्ट करता है। सरल, मनोहारी तथा रंग-वैभव से सम्पन्न बिम्ब योजना इनकी कलात्मकता की परिचायक बनती है। जगह-जगह प्रभावी एवं स्टीक प्रतीत विधान की सृष्टि भी की गई है। ये प्रतीत परम्परागत भी हैं तो नव्यतभ भी। इनमें हाथी, कमल, चंद्रमा, भ्रमर, दुर्योधन, बिदुर तथा करील आदि प्रतीत देखे जा सकते हैं।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि रीतिमुक्त अथवा रीतिस्वच्छन्द शृंगार काव्यधारा के इन भाव प्रवण कवियों ने अपने काव्य को पूरी ईमानदारी से, हृदयगत तल्लीनता एवं भावगत सच्चाई से प्रभावी बनाया है। भाव तथा कला की दृष्टि से यह काव्यधारा पूरी तरह से एक विशिष्ट काव्यधारा बनकर उभरती है। स्वानुभूति की तीव्रता, प्रेम की अभिव्यक्ति, विरह का आधिक्य, भाषा का विचित्र सौष्ठव, शब्दों का अर्थगत सौन्दर्य, लाक्षणिक प्रयोग, सहज एवं मार्मिक बिम्बयोजना सभी मिलकर इस काव्यधारा को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं।

**बोध प्रश्न 2**

1) निम्नलिखित प्रश्नों के लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

   i) रीतिमुक्त शृंगार "काव्यधारा" के प्रवर्तक घनानन्द की काव्य विशेषताएं क्या थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रीतिमुक्त काव्यधारा के अभिव्यंजना शिल्प की क्या विशेषता है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित विषयों पर लगभग सात-आठ पंक्तियाँ लिखिए—

i) आलम कवि

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) बोधा कवि

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) ठाकुर कवि

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित विषयों पर पाँच-पाँच पंक्तियाँ लिखिए—

i) रीतिस्वच्छन्द काव्यधारा में प्रेमानुभूति

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भावप्रणवता और रीतिस्वच्छन्द काव्यधारा

.....

.....

.....

.....

.....

iii) रीतिमुक्त काव्यधारा में विरह की अभिव्यक्ति

.....

.....

.....

.....

.....

## 17.5 रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रमुख प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल की तीन प्रमुख काव्यधाराओं में अभी तक हम रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त (शृंगार प्रधान) कवियों के विषय में, उनके काव्य की विशेषताओं के संदर्भ में तथा उनके अभिव्यंजना-पक्ष के बारे में गहन विवेचन कर चुके हैं। पिछली दो इकाइयों में विस्तार से रीतिबद्ध तथा रीतिसिद्ध काव्य के विषय में चर्चा की गई तथा रीतिमुक्त या रीतिस्वच्छन्द काव्य की विवेचना इस इकाई में अभी आप कर चुके हैं। रीतिकाल के इन दो सौ वर्षों का साहित्य इन तीन प्रमुख प्रवृत्तियों से इतर प्रवृत्तियों में भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। राजाओं की विलासिता, आश्रयदाताओं की रंगीन-दुनिया तथा सुरा-सुराही के परिवेश से दूर या बाहर की सच्ची-सीधी दुनिया भी इस युग में विद्यमान थी। दरबारों खुशामदों या निजी प्रेम के मोह-पाशों से विच्छिन्न धार्मिक वृत्ति वाले भक्त कवि भी इस युग में भक्ति कर रहे थे तो वीरता के जौहर बखान करने वाले वीर भी इस युग का अंग बने हुए थे। भक्त कवियों में कृष्ण भक्त, राम भक्त, संत कवि तथा सूफ़ी कवियों की पूरी परंपरा को देखा जा सकता है। भक्तिकालीन काव्य परंपराओं को विस्तार देने वाली ये काव्य परम्पराएँ रीतिकाल में भी अत्यंत गौण रूप में प्रवाहित होती रहीं। निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ, राधा-वल्लभ और सखी-सम्प्रदाय आदि भक्तिकालीन परम्पराएँ इस युग में भी विद्यमान रहीं किन्तु ये मुख्य स्वर न बन सकीं। इसी प्रकार नीति काव्य परम्परा, चरित अथवा प्रशस्ति काव्य परम्परा और प्रकृति आदि को विषय बनाने वाले काव्य-सृजन भी इस युग में होते रहे। ये सभी रीतिकालीन रीतिमुक्त कविता की शृंगारेतर अथवा अन्य प्रमुख प्रवृत्तियाँ ही हैं जिन्हें मुख्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ प्रवाहित होते देखा जा सकता है। यहाँ हम इन्हीं प्रमुख शृंगारेतर अथवा अन्य प्रवृत्तियों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

### 17.5.1 भक्तिकाव्य

रीतिकालीन भक्तिकाव्य के अंतर्गत पर्याप्त विविधता के दर्शन किये जा सकते हैं। भक्तिकाल में भक्ति की जो चार काव्यधाराएँ प्रवाहित थीं उनका विस्तार ही रीतिकाल में देखने को मिलता है किन्तु यह विस्तार रीतिकाल तक आते-आते अत्यंत गौण प्रवृत्ति के रूप में परिवर्तित होता जान पड़ता है। कृष्णभक्ति, रामभक्ति तथा निर्गुण के अंतर्गत सन्त काव्यधारा एवं सूफ़ी काव्य धारा की परम्परा का निर्वाह इस युग के भक्ति साहित्य में भी हुआ। यहाँ इन्हीं की संक्षिप्त चर्चा हम करेंगे।

#### कृष्ण भक्ति काव्य

श्री कृष्ण की बाल और किशोर लीलाओं पर तो अधिकांश रीतिकालीन भक्त कवि मुग्ध रहे ही हैं। यों भी कृष्ण-कथा इस युग के काव्य का प्रेरक-कारण बनती है। वैष्णवधर्म की दृष्टि से देखें तो इस युग के कृष्णभक्ति

काव्य का केन्द्र वृन्दावन बना तथा रामभक्ति काव्य का केन्द्र अयोध्या बना। इन दोनों प्रकार के काव्य में माधुर्य-भाव की भक्ति का ही प्राधान्य रहा।

इस युग के कृष्णभक्त कवियों ने प्रबन्धात्मक कृतियाँ भी लिखीं तथा मुक्तक काव्य रचना भी की। प्रबन्धात्मक कृष्ण भक्ति काव्य के रचयिताओं में गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास, मंचितकवि, तथा घनानन्द आदि का नाम लिया जा सकता है। ऐसी कृतियों में गुमान मिश्रकृत "कृष्णचन्द्रिका" ब्रजवासीदास कृत "ब्रजविलास" तथा मंचित कवि की "सुरभीदान लीला" और "कृष्णायन" आदि की चर्चा की जा सकती है। कृष्ण भक्ति काव्य का मुक्तकों में सृजन करने वाले कवियों में रूपरसिकदेव, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा हितवृन्दावन दास तथा भगवत रसिक आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वृन्दावनदेव, पीताम्बरदास, सुन्दरी कुंवरिबाई प्रेमसखी, कृष्णदास, रत्नकुँवरि तथा भोला भण्डारी आदि अन्य कवियों का भी कृष्णभक्त काव्यधारा के विकास में पर्याप्त योगदान रहा।

उत्तर मध्ययुग अर्थात् रीतिकालीन कृष्णभक्ति काव्य पर राधा वल्लभ संप्रदाय एवं सखी संप्रदाय की साधना-पद्धतियों का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा। राधा-कृष्ण की श्रृंगारिक-लीलाओं के माध्यम से इस युग के कृष्णभक्त कवियों ने युग-प्रचलित त्योहारों एवं समारोहों का वर्णन भी पूरे मनोयोग से किया। राधा-कृष्ण के ग्रामीण गोप रूप के स्थान पर उनके श्रृंगार-प्रधान रूप उभर आए। माखन-लीला, गोदोहन, गोचारण, चीर-हरण तथा मथुरा-गमन आदि के स्थान पर अब राधा-कृष्ण का राजसी ऐश्वर्य से परिपूर्ण स्वरूप ही काव्य में उभरने लगा था। उनकी वेश-भूषा और आभूषणों के वर्णन अधिक होने लगे थे। भक्त कवियों ने अपने को राधा-कृष्ण के सखी रूप में स्थापित करते हुए सखी भाव की भक्ति पर बल दिया।

राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन, राधा के महत्व की स्थापना, राधा-कृष्ण के नित्य-विहार, कृष्ण-राधा की युगल उपासना के समय भक्त की दास्य भाव भक्ति, कृष्ण का स्वयं राधा को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करना, राधा का पीताम्बर एवं मुरली धारण कर कृष्ण बनना, राधा-कृष्ण के अष्टयाम एवं छद्म-लीला वर्णन आदि विषय इस युग के कृष्ण भक्ति साहित्य में अपनाये गये। इस कृष्ण भक्ति काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही पर वह और अधिक परिनिष्ठित एवं परिष्कृत रूप से सामने आई। विषयानुकूल कोमल-कान्त मधुर पदावली का प्रयोग किया गया। मुगल दरबारों की राजसी भाषा फारसी तथा अरबी के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया। विभिन्न राग-रागनियों का प्रयोग भी सहज ही देखा जा सकता है। चौपाई, दोहा, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया तथा अरिल्ल आदि छन्दों का प्रयोग इनके काव्यों में हुआ है। इस काव्यधारा के अन्य प्रमुख कवियों में—श्री हरिराम, बल्लभ रसिक, गोस्वामी रूपलाल, श्री रसिकदास, श्री रूप रसिक देव, श्री अनन्य अली, श्री वृन्दावनदेव जी, प्रियादास, वैष्णवदास जी, ललित किशोरीदास, ब्रजवासी दास, श्री हठी जी, अलबेली अली, श्री चन्द्रलाल गोस्वामी, रूपसखी, रसिक गोविन्द तथा भगवत रसिक आदि उल्लेखनीय हैं।

### राम भक्ति काव्य

राम भक्त कवि भी कृष्ण भक्तों की तरह सखी-संप्रदाय का अनुकरण करते हुए राम का रसिक रूप में वर्णन करते रहे, पर उन्हें बहुत अधिक प्रसिद्धी नहीं मिल सकी। लोक प्रसिद्ध राम का मर्यादावादी रूप जब सखी रूप में ढाला गया तो उसे पूरे मन से स्वीकृति न मिल सकी। कुछ रामभक्त कवि भक्तिकालीन परम्परा का निर्वाह करते हुए राम के मर्यादित रूप की भी वंदना कर रहे थे, परन्तु तुलसी की रामभक्ति परम्परा तो तुलसी के देहावसान के बाद अवरुद्ध सी हो गई थी।

रामपरक माधुर्य भाव को साधना में सर्वप्रथम स्थान आडवार भक्तों द्वारा प्राप्त हुआ। इनकी रचनाओं में वात्सल्य और दास्य भक्ति की भावना का मिश्रित रूप उपलब्ध होता है। स्वामी रामानन्द जी की शिष्य परम्परा के स्वामी अग्रदास जी ने राम की रसिक साधना को व्यवस्थित रूप दिया। इनकी कृति "ध्यान-मंजरी" इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। उनका मानना है—

> यह दंपति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावें।
> रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावैं।।

यों भक्तिकाल में भी रामभक्ति की रसिक कवि-परम्परा मिलती हैं जिनमें "भक्तमाल" के रचयिता नाभादास, भानदास, मुरारीदास, प्रयागदास और मुक्ता मणिदास आदि के नाम देखे जा सकते हैं। यह परम्परा रीतिकाल में भी विकसित हुई और इसके अंतर्गत बाल कृष्ण "बाल अली", अनन्य शीलमणि, जानकी रसिक शरण, छत्रसाल, प्रेमसखी, रामसखे, गुरुगोविन्द सिंह, सूर किशोर, विश्वनाथ सिंह, कृपा निवास, रामचरणदास, उमापति त्रिपाठी, नवलसिंह तथा रामशरण आदि कवियों का साहित्य उपलब्ध होता है। इस परम्परा का विकास आधुनिक काल तक भी देखा जा सकता है।

रामभक्ति परंपरा के ये कवि उपास्य के साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर उपासना करते थे। राम-सीता उनके पिता, पुत्र, माता, भाई, सखा, सखी एवं उपास्य बनकर सामने आते हैं। ये संत कवि सीता जी को परब्रह्म रामचन्द्र की पराशक्ति मानते थे। इनके राम नित्य किशोर वय अपनी प्रियतमा सीता और नित्य मुक्त पार्षदों के साथ साकेत में विहार करते थे। संसार के संचालन हेतु इनके राम ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भी निर्माता बनते हैं। भक्तों को स्वेच्छा से मुक्ति प्रदान करने वाले परब्रह्म राम अपने परिकरों के साथ अयोध्या में अवतार लेते हैं। परब्रह्म राम ही

अयोध्या के अवतार काल में दुष्टों का नाश करके धर्म की स्थापना करते हैं। इसीलिए वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। रसिक सम्प्रदाय के भक्त परब्रह्म की इन्हीं लीलाओं का ध्यान करते हैं।

रसिक सम्प्रदाय के ये संत-भक्त पुष्टि मार्ग की भांति भगवान के अनुग्रह पर अपार विश्वास रखते हैं। सीताराम नाम का जप तथा आराध्य युग्म के रूप और गुण का ध्यान करते हुए ये भक्त मधुर, सख्य, वात्सल्य, दास्य एवं शांत भाव के संबंध स्थापित करते हैं। इसी प्रकार लीला-प्रवेश तथा लीला सुखभाग करते हुए ये सीता-राम के मधुर चरित के वर्णन एवं कीर्तन में ही व्यस्त रहते हैं। इस सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य मुक्तक शैली में है। कहीं-कहीं लीलाओं का क्रमबद्ध वर्णन अवश्य मिलता है। यों चोपाई-दोहा शैली तथा कवित, सवैया, कुंडलिया और बरवै आदि शैलियों का प्रयोग भी इस साहित्य में मिलता है। संगीत सेवा को भी इन्होंने पर्याप्त महत्व प्रदान किया। परिणामतः गेय-शैली में भी साहित्य-सृजन किया गया। लोक-गीतों के आधार पर भी रामकाव्य लिखा गया। इसमें शृंगार एवं वीर रस की प्रधानता रही। कहीं-कहीं भयानक, रौद्र तथा वीभत्स रस का भी अच्छा परिपाक है। भाषा की दृष्टि से अवधी और ब्रज का प्रयोग अधिकांशतः किया गया। जानकीरसिक शरण विरचित राम भक्ति काव्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

रथ पर राजत रघुवर राम।
क्रीट मुकुट सिर धनुष बान कर सोभा कोटिन काम।।
स्याम गात केसरिया बानो सिर पर भौर ललाम।
बैजन्ती बनमाल लसै उर कटिक मध्य अभिराम।।
मुख मयंक सरसी रूह लोचन हैं सबके सुखधाम।
कुटिल अलक अतरन में भीनी दुहुँ दिस छूटी स्याम।।
कबु कंठ मोतिन की माला किंकिन कटि दुति दाम।
रसमाला यह रूप रसिक बर करहु हिये अभिराम।।

## निर्गुण सन्तों का भक्ति काव्य

रीतिकाल में संत भक्तों की भी एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। पूर्व मध्य काल अर्थात् भक्तिकाल में कबीर, नानक, दादू आदि संतों की भक्ति ने विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापना की थी और भक्ति के साथ-साथ समाज सुधारक स्वरूप की स्थापना भी की थी। रीतिकाल तक आते-आते इस परम्परा का भी विकास-विस्तार हुआ पर यहाँ तक आते-आते इस परम्परा में कई नये सम्प्रदाय भी जुड़ गए। प्रायः प्रत्येक प्रभावी संत ने उत्तरमध्यकाल में अपनी विचारधारा के प्रचार हेतु नया सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रयास किया। धामी सम्प्रदाय, सतनामी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, बाबा लाली सम्प्रदाय, दरिया पंथ, परीब पंथ आदि पंथ अथवा सम्प्रदाय इसी तथ्य के प्रमाण हैं। परन्तु उल्लेखनीय है कि सम्प्रदायों की भिन्नता होने पर भी उनकी मौलिक चिन्तन पद्धति में पर्याप्त समानता मिलती है।

इसी युग की भक्ति परम्परा के प्रमुख सन्तों में सुन्दरदास, भगवानदास, राधोदास सेवादास, बाबा प्राणनाथ, अक्षर अनन्य, गुरु गोविन्द सिंह, बूला साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, यारी साहब, चरणदास, दयाबाई धरणीदास, दूलनदास, दरिया साहब, तुलसी साहब, गरीबदास तथा सन्त रामचरण आदि प्रमुख हैं।

इस युग के निर्गुण भक्त संतों की रचनाएँ तथा साधना पद्धतियाँ समन्वय पर विशेष बल देती थीं। इन संतों ने हिन्दू-मुस्लिम एवं ईसाई धर्मों की एकता पर जोर दिया। इन संतों की भक्ति पद्धति में कबीर जैसी अक्खड़ता का अभाव रहा। धर्म-सम्प्रदायों की त्रुटियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना, पंडित-मुल्लाओं की भर्त्सना करना, रामकृष्ण आदि अवतारों को सत्पुरुष के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करना तथा मूर्ति पूजा के प्रति अविश्वास रखना इन संतो-भक्तों की प्रमुख विशेषता थी। पौराणिकता का प्रभाव इन पर पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। इस युग के संत कवियों ने सबद तथा साखियों के साथ-साथ दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, अरिल्ल एवं कुंडलिया आदि छन्दों की शैली को भी अपनाया। इनके काव्य में रेखता, गज़ल एवं अन्य फारसी छन्दों को भी अपनाया जाता रहा। इस परम्परा के संत कवि गुरु गोविन्द सिंह तथा दरिया साहब के काव्य का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है—

निर्जन निरूप हो, कि सुन्दर स्वरूप है,
कि भूषण के भूप हौ कि दानी महादान हो?
प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
रोग सोग के मिटैया, किधों मानी महामान हौ?
विधा के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
कि सुद्धता की मूर्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ?
जोबन के जाल हौ कि काल हू के गाल हौ,
कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ?

— गुरु गोविन्द सिंह

भीतर मैलि चहल के लागी, ऊपर तन का धोबै है।
अवगति सुरति महल के भीतर वाका पंथ न जोवै है।
जुगति बिना कोई भेद न पावै साधु संगति का गोवै है।।
कह दरिया कुटने बे गोदो सीस पटकि का रोबै है।।
— दरिया साहब

### निर्गुण सूफ़ी सन्तों का भक्ति काव्य

भक्तिकालीन सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यधारा का विकास भी रीतिकाल के अंत तक सहज ही देखा जा सकता है। भक्तिकाल में जिस परम्परा को जायसी, कुतुबन, मंझन, मौलाना दाऊद तथा उस्मान आदि ने उत्कर्ष पर पहुँचाया, रीतिकाल में उसी काव्यधारा को नूर मुहम्मद, शेख निसार, कासिमशाह, हुसैन अली, बोधा, शाह नज़फ अली, नज़ीर अकबरबादी तथा वजहन आदि-सूफ़ी संतों ने विस्तार प्रदान कर जीवित रखा।

पूर्व मध्य युग के सूफी संतों की रचनाओं में विषय एवं शैली का वैविध्य मिलता है। चौपाई-दोहा शैली का उसमें प्रयोग किया गया है। अवधी भाषा में ब्रज तथा खड़ी बोली का मिश्रण है। रीतिकालीन सूफी कवियों के काव्य में युगीन परिस्थितियों के प्रभाव को सहज ही देखा जा सकता है। नख-शिख एवं संयोग-वियोग श्रृंगार का इन सूफी सन्तों ने विस्तृत वर्णन किया है। नायिका भेद को ध्यान में रखते हुए इन्होंने नायिकाओं के विभिन्न रूप भी प्रस्तुत किये। "अनुराग बाँसुरी" जैसे कुछ प्रेमाख्यानक ग्रंथों में तो नायिकाओं की परिभाषाएँ भी दी गई हैं। कुछ कृतियों में सूफी परम्परा का आध्यात्मिक स्पर्श भी है। इन सूफी कवियों ने भक्तिकालीन सूफी परम्परा के अनुसार ही बारहमासा तथा षट्ऋतु वर्णन आदि को भी विषय बनाया है। इनमें राम-रहीम की एकता तथा संसार की नश्वरता आदि विषयों को भी विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। धार्मिक उदारता, हिन्दू त्यौहारों, रीति-रिवाजों और देवी-देवताओं के प्रति आस्था, भारतीय एवं अभारतीयता के मिश्रण आदि पर विशेष बल दिया गया। नज़ीर अकबरबादी तो कृष्ण-लीलाओं का वर्णन भी पूरे मनोयोग से करते हैं।

इस युग के अधिकांश सूफ़ी कवियों ने अवधी भाषा को ही अपनाया पर युगीन भाषा ब्रजभाषा थी अतः उसका भी पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है। जान और हुसैन अली की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव अत्यधिक मिलता है। इन सूफ़ी कवियों ने प्रबंध काव्यों में चौपाई-दोहा, चौपाई-सोरठा और चौपाई बरवै शैली का प्रयोग किया है तथा मुक्तक काव्य में दोहा, साखी, सबद एवं झूलना आदि शैलियों का प्रयोग किया है। इनकी अवधी भाषा सरल, प्रवाह युक्त, सहज तथा प्रभविष्णु भाषा रही है। शेख निसार के काव्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है —

दिन भर मौन गहे रहै, भूख प्यास गई भूल।
पान खाइ न रस पियै, काँट भये सब फूल।।
भूषण रतन उतारि जो डारा। दुखदायक भई सभै सिंगारा।।
मन महँ सोच करै मुरझाई। लैगा प्रान सरूप देखाई।।
नाउँ ठाउँ कछू जानौ नाहीं। कहाँ सो खोज करौं जग माहीं।।

अतः स्पष्ट है कि रीतिकाल में रीतिपरम्परा के भिन्न रीतिमुक्त काव्यधारा की श्रृंगारेतर काव्यधाराएँ भी अत्यंत व्यापक रूप में विद्यमान थीं। इनमें भक्ति की काव्यधारा प्रमुख थी। भक्ति की ये कृष्ण-राम एवं संत सूफी काव्य धाराएँ भक्तिकालीन भक्ति साहित्य के धाराओं समकक्ष गरिमामंडित तथा उदात्त भले ही न थीं परन्तु फिर भी ये युगीन आस्थाओं तथा सामाजिक-परिवेश के प्रभाव को दर्शाने वाली काव्यधारा के रूप में अवश्य विद्यमान रहीं।

## 17.5.2 नीतिकाव्य

रीतिकालीन श्रृंगारेतर रीतिमुक्त काव्य के अंतर्गत नीतिकाव्य-सृजन की एक प्रवृत्ति भी विद्यमान रही है। भक्तिकालीन साहित्य में नीति अधिकांशतः भक्ति का ही अंग बनकर उभरी, किन्तु रीतिकाल में जीवन-मूल्यों के ह्रास तथा नैतिक मर्यादाओं के विघटन से नीति पृथक हो गई। धर्म और भक्ति, जो कि भक्तिकाल में अभिन्न बने हुए थे, इस युग में आकर भिन्न से हो गये। परिणामतः नीति का आध्यात्मिक स्पर्श भी विछिन्न हो गया।

यों नीति काव्य की सुदीर्घ परम्परा संस्कृत काव्य में देखी जाती है। संस्कृत के भर्तृहरि (नीतशतक) और हेमचन्द्र से होती हुई, भक्तिकाल के कबीर, तुलसी, रहीम या जमाल आदि के काव्य में मिलने वाली नीति-विषयक दोहे छन्दों की यह परम्परा रीतिकाल तक भी पहुँची। रीतिकालीन नीतिविषयक काव्य सृजकों में वृन्द, गिरिधर, कविराय, बैताल, सम्मन, राम सहायदास, दीनदयाल गिरि, घाघ तथा गुरुदत्त शुक्ल आदि प्रमुख माने जाते हैं।

रीतिकाल का नीतिकाव्य आध्यात्मिक से निरपेक्ष रहकर युग के व्यक्ति की भौतिक एवं मानसिक समस्याओं के समाधान हेतु तरह-तरह के उपदेश देता है। इस प्रकार की नीतिपरक उक्तियां या छन्द रीतिकाल के अन्य रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध या रीतिमुक्त कवियों के काव्य में भी जगह-जगह उपलब्ध हैं। सभी नीति रचनाएँ मुक्तकों में प्रस्तुत हैं। कतिपय ग्रन्थ केवल नीति विषयक भी लिखे गये।

रीतिकाल के अधिकांश कवियों का दरबारों से संबंध था और इसीलिए वे मानव-स्वभाव तथा उसकी मनोवृत्तियो के साथ-साथ उसके व्यवहार को भी उचित-अनुचित की दृष्टि से भली प्रकार आंक सकते थे। यही कारण है कि

भूपति, भिखारीदास, सुखदेव, बिहारी, मतिराम तथा विक्रम आदि कवियों के साहित्य में नीतिकथन पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं।

वृन्द ने तो पूरी "सतसई" (वृन्द सतसई) ही नीति विषयक लिख डाली जिसमें सात सौ दोहे अत्यंत सहज, सरल, सरस एवं कलात्मक ब्रजभाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। अनेकों दोहे लोकप्रिय, सटीक, उपयुक्त एवं लोक जीवन के जीवंत प्रतिबिम्ब को उकेरने में सफल होते हैं। यथा —

फीकी पै नीकी लगै, कहिए समय बिचारि।
सबको मन हरषित करै, ज्यौं विवाह में गारि।।
भले बुरे सब एक सम, जौ लौं बोलत नाहिं।
जान परत हैं काम पिक, ऋतु बसन्त के माहिं।।

इसी प्रकार गिरिधर कविराय की नीति-विषयक कुण्डलियाँ तो अत्यंत प्रसिद्ध हुईं। गिरिधर कविराय ने समाज, जाति, गाँव, परिवार, दरबार तथा घरबार आदि में अपनाई जाने वाली नीति एवं मानव व्यवहार पर अत्यंत सरल भाषा में तथ्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किए हैं —

सांई सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में, तब लनि ताको चार।।
तब लगि ताको चार चार सुँग ही सुँग डोलै।।
पैसा रहा न पास यार मुख सौ नहिं बोलै।
कह गिरिधर कविराय जगत यहि लेखा भाई।
बिनु बेगरजी प्रीत चार बिरला कोई साई।।

इसी प्रकार वैताल, दीनदयाल गिरि तथा घाघ आदि कवियों की नीति विषयक उक्तियाँ भी अत्यंत सारगर्भित तथा मार्मिक बन पड़ी हैं। उनमें अनुभव दूरदृष्टि तथा दिलचस्प घटनाओं का भंडार छिपा है। वृन्द का यह दोहा कितना प्रामाणिक एवं जीवंत है —

सबै सहायक सबल के, कोउ न बिबल सहाय।
पवन जगावत अगिनि को, दीपहिं देत बुझाय।।

अतः स्पष्ट है कि रीतिकाल की अन्य प्रवृत्तियों में नीति काव्य सृजन की यह प्रवृत्ति भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही। लोकदृष्टि, धर्मशास्त्र का ज्ञान, नैतिक दृष्टि तथा जीवन चिंतन का बहुमूल्य भंडार इस साहित्य में भरा है। व्यंग्य, हास्य, तीखी चोट-सब कुछ तत्सम, तद्भव देशज और अरबी-फारसी के शब्दों में ढलकर ब्रजभाषा का मार्मिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों का धारदार प्रयोग इन्हें भव्य सौन्दर्य प्रदान करता है।

### 17.5.3 वीरकाव्य एवं प्रशस्ति काव्य

रीतिकालीन वीरकाव्य की प्रवृत्ति प्रबंध और मुक्तक दोनों ही रूपों में मिलती है। परन्तु मुक्तकों में मिलने वाला वीरकाव्य कहीं अधिक एवं उत्कृष्ट है। प्रबंध काव्य अपेक्षाकृत कम है। राजाओं-आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशस्ति तथा उनकी कीर्ति-गाथाओं के अति विस्तृत वर्णन इस युग में कोई अविश्वसनीय बात नहीं। परन्तु इस युग के वीर काव्य का सराहनीय पक्ष है, उसमें मिलने वाली देश-भक्ति की जीवंत एवं ईमानदार भावना। रीतिकाल दरबारी एवं शृंगारी युग था, यह सत्य है। परन्तु ऐसे युग में देश भक्ति, वीर-प्रशस्ति एवं देश-पुत्रों की कीर्ति का विस्तृत बखान जनता की प्रेरणा बन कर उभरता है। इस युग के प्रबंध वीर काव्य सृजकों में लाल, पद्माकर, सूदन, खुमान तथा जोधराज प्रमुख हैं तो मुक्तक वीर काव्यों की रचना करने वालों में भूषण तथा बाँकी दास उल्लेखनीय हैं।

इसमें संदेह नहीं कि रीतिकालीन वीर-काव्य वर्णन आदिकालीन वीर काव्य वर्णन की तुलना में कम गुणवान है। आदिकालीन प्रशस्ति एवं कीर्ति गुणगान की प्रस्तुति शृंगार मुक्त होकर भी विश्वसनीय सी जान पड़ती है पर रीतिकाल की प्रशस्ति में यह स्फूर्ति एवं ताजगी भी उपलब्ध नहीं होती। रीतिकालीन दरबारी कवियों में भूषण सटीके दो-एक कवियों को छोड़कर कोई ऐसा नहीं जो राजाओं या यौद्धाओं के साथ रण क्षेत्र में उतरकर वहाँ के वास्तविक युद्ध कौशल का प्रामाणिक बखान करता हो। ये अधिकांश कवि तो राजाओं की स्तुति-प्रशस्ति में अतिश्योक्ति की सीमाएं भी लाँघ गए हैं। वास्तव में इनका ध्येय तो राजाओं की मुंहदेखी प्रशंसा कर धन संजोने का रहा है। इन्होंने युद्ध प्रसंगों, सिपाहियों, घोड़े एवं अन्य युद्ध उपकरणों का खूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया। आश्रयदाताओं की युद्धवीरता, दानवीरता, धर्मवीरता एवं दयावीरता के बखान करके इन कवियों ने अपनी जीविका के साधन पक्के किये।

भिखारीदास के काव्य निर्णय, सुखदेव के "छन्द-विचार" तथा बेनी कवि के "नवरस तरंग" आदि ग्रंथों में प्रशस्ति के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन कवियों की शैली जो रीति ग्रंथों की ही रही परन्तु उद्देश्य प्रशस्ति ही रहा। भूषण का "शिवराज भूषण", रतन कवि का "फतेहसिंह प्रकाश" तथा गंजन कवि का "कमरूद्दीन खाँ हुलास" आदि ग्रंथ इसी परम्परा में आते हैं। भूषण का ही "शिवाबावनी", लालकवि का "छत्रसाल प्रकाश", जोधराज का "हम्मीर रासो" सूदन का "सुजान-चरित", चन्द्रशेखर वाजपेयी का "हम्मीरहठ" तथा सूर्यमल्ल का

"वंश भास्कर" आदि ग्रंथ भी इसी परम्परा के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। पद्माकर का "हिम्मतबहादुर विरूदावल" गवाल का "हम्मीरहठ" और "विजय विनोद" आदि ग्रंथ भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन वीरकाव्यों की भाषा ब्रज ही रही है पर उसमें स्थान-स्थान पर खड़ी बोली, मारवाड़ी, पूर्वी, पंजाबी, राजस्थानी, आदि भाषाओं बोलियों के शब्दों का मिश्रण रहा है। कवित्त और सवैयों का इन कवियों ने अत्यंत प्रशंसनीय उपयोग किया है। भूषण तो शिवाजी के दरबारी कवि थे और उनकी वीर रस की कविता में तो प्राण बसे हैं। सोये हुए समाज को उद्‌बुद्ध करने की जो ताकत उनकी कविता में मिलती है वह अन्यंत्र नहीं है। शिवाजी के पराक्रम और उनकी सेना के शौर्य गान को तो भूषण ने पूरे मनोयोग से काव्यबद्ध किया है —

भूषण भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौ कहौं,
किम्मति यहाँ लगि है जाकी भट जोट मैं।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि-मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट मैं।।

इसी प्रकार सूदन कवि के काव्य का एक उदाहरण भी देखा जा सकता है—

तोम-तम छाए सुलतान दल आए सोतौ,
समर भजाए उन्हें छाई है अर्क सी।
काल कैसी रसना कराल करवाल तेरी,
व्याल भाल काटि कै करन लागी तकसी।
सूदन सुजान मरदान हरिनारायन,
देव हरि देवं जगजीत ताहिं बकसी।
जूझत हकीम खाँ अमीरन के धकसी,
औ बकसी के जिम मैं परी है धकपक सी।।

## 17.5.4 अन्य स्फुट काव्य प्रवृत्तियाँ

उत्तर मध्ययुग अर्थात् रीतिकाल में भक्तिकाल, नीति, प्रशस्ति तथा वीरकाव्य के अतिरिक्त अन्य भी कई स्फुट काव्य प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। उस युग में पौराणिक काव्यों की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई। ऐसे काव्य पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखे गये। कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार कथा-प्रसंगों को घटाया-बढ़ाया अथवा कल्पना का प्रयोग कर उसे नव्य रूप प्रदान किया। रामायण, महाभारत, हरिवंशपुराण, श्रीमद्‌भागवत आदि पौराणिक एवं ऐतिहासिक ग्रंथों से विविध कथाएँ-घटनाएँ चुन कर आधार बनायी गईं। इसी प्रकार नृसिंहवता नृसिंहवतार, दत्तात्रेय, वामन, मनु, नल-दमयंती शंकर, पार्वती, गणेश तथा हनुमान आदि की कथाओं के वर्णन भी जगह-जगह किये गये। इस तरह के कवियों में बारहट नरहरिदास, सबलसिंह चौहान, भीष्म कवि, भूपति, कुंवर मेदिनी मल्ल, भगवंत राय खींची, मंचित, मनियार सिंह, कलानिधि, मधुसूदनदास, सोमनाथ, ललकदास, खुमान, नाथूराम चौबे, गिरिधरदास तथा जानकी प्रसाद आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अधिकांश ग्रंथ प्रबंधात्मक ही हैं और एक-दो को छोड़कर लगभग सभी की भाषा ब्रजभाषा ही है। चौपाई-दोहा शैली के साथ इनमें कवित्त, सवैया, सोरठा तथा धनाक्षरी आदि छन्दों का प्रयोग भी किया गया है।

रीतिकाल में बहुत से ज्योतिष, वैधक, चिकित्सा, युद्ध नीति एवं ज्ञान विषयक काव्य-रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। प्रवृत्ति संबंधी वर्णन भी काव्य-वृत्तियों में पर्याप्त मात्रा में होती है। प्रवृत्ति संबंधी वर्णन भी काव्य-वृतियों में पर्याप्त मात्रा में किया गया है। संस्कृत से ब्रजभाषा में कई कृतियों के अनुवाद भी किये गये हैं। आचार्य सोमनाथ का नाम इस तरह के कार्यों में अग्रगण्य है। इसी प्रकार गोपालचन्द्र मिश्र कृत "खूब तमाशा", गोस्वामी जतनलाल कृत "अनन्य सार", जयगोपाल कृत "तुलसी शब्दार्थ प्रकाश" तथा गोपाल राम कृत "दंपति वाक्य विलास" आदि ज्ञान संबंधी विवरण देने वाली कृतियों का भी अपना ही विशिष्ट महत्व है। इसी तरह हास्य-व्यंग्य लिखने वाले कवियों में अली मुहिब खाँ तथा बेनी बन्दीजन आदि के नाम भी गिनवाए जा सकते हैं।

अतः कह सकते हैं कि रीतिकाल में रीतिमुक्त काव्यधारा की शृंगारेतर काव्य प्रवृत्तियों में भी पर्याप्त विकास-विस्तार के दर्शन होते हैं। भले ही इनकी आधार भूमि भक्तिकाल में सुदृढ़ हुई हो परन्तु इन काव्यधाराओं को जीवित बनाए रखने और उन्हें पोषित किये जाने का महत्वपूर्ण कार्य रीतिकाल के इन कवियों ने किया है। अभिव्यंजना कला और उत्कृष्ट प्रतिभा से सम्पन्न इन कवियों का भाषा-संस्कार इन्हें विशिष्ट बनाता है तो युगीन आवेग एवं प्रवाहमयी काव्यधाराओं के विरुद्ध अथवा उनसे पृथक अपनी खास पहचान बनाने का गुण इन्हें दुर्लभ महत्व का अधिकारी निर्धारित करता है। ब्रजभाषा को जो प्रौढ़ता इन कवियों ने प्रदान की वह इससे पूर्व संभव न हो सकी थी। यों रीतिकाल में अवधी भाषा में भी काफी साहित्य-सृजन हुआ परन्तु ब्रजभाषा को जो उत्कर्ष मिल सका वह अन्य किसी को नहीं। इसलिए भक्तिकालीन काव्य को भाव लोक की कविता और रीतिकाल न काव्य को मनोहारी कलालोक की कविता भी कहें तो गलत न होगा। यों रीतिकाल में ही ब्रजभाषा-गद्य तथा खड़ी बोली गद्य के भी पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार युग के अंतिम चरण में उपलब्ध होती हैं। कुल मिलाकर गद्य रचनाएँ भी इस युग की कह सकते हैं कि रीतिकाल की साहित्यिक चेतना अत्यंत प्रबुद्ध, वैविध्यमयी एवं जीवंत चेतना थी। साहित्य एवं भाषा के परिष्कार, विस्तार और संवर्द्धन का यह युग एक विशेष युग ही था।

## 17.6 रीतिकाल का प्रदेय

कुल मिलाकर यह स्पष्ट होता है कि संवत् 1700 से 1900 तक के 200 वर्षों का कालखण्ड हिन्दी साहित्य के इतिहास में "उत्तरमध्यकाल" अथवा "रीतिकाल' नाम से जाना जाता है। इस काल की प्रमुख काव्यधाराओं में हमने रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त काव्य की मुख्य प्रवृत्तियों, विशेषताओं और उनके कवियों के ग्रंथों के संदर्भ में विस्तृत एवं गहन जानकारी हासिल की। इनके अतिरिक्त रीतिकाल की अन्य प्रमुख प्रवृत्तियों का भी सविस्तार विवेचन किया।

इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाल के कवि, आचार्य भी थे। उनके काव्यशास्त्रीय पक्ष को देखें तो यही लगता है कि उन्होंने नवीन सिद्धांतों की उद्‌भावनाएँ तो नहीं कीं पर प्राचीन सिद्धांतों का पुनराख्यान पूरे मनोयोग से किया है। उनके विवेचन में दोष बहुत हैं यह ठीक है, परन्तु उनके गुणों को भी भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा को जीवित रखने और आधुनिक युग से जोड़ने का जो कार्य इन कवि-आचार्यों ने पूरी श्रद्धा से किया वह स्तुत्य प्रयास ही कहा जायेगा। वास्तव में इन कवियों की मौलिकता को विस्तार एवं विवरण-वैविध्य में ही खोजना चाहिये। यों भी रीति-परम्परा पर चलने वाले इन कवियों से और अपेक्षा भी क्या की जा सकती है। इनके विवेचन अस्पष्ट हुए तथा अपूर्ण भी हैं। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि ये कवि शास्त्रकार न थे, केवल रीतिकार थे। ये तो संस्कृत काव्यशास्त्र के इन आचार्यों की परम्परा में आते हैं जो कवि-शिक्षक थे। यथा अधयदीक्षित, जयदेव तथा भानुदत्त आदि।

जहाँ तक रीतिकाव्य के महत्व का प्रश्न है, यही कहा जाना चाहिये कि घोर पराभव के युग में तथा समाज की अव्यवस्था तथा अशांति में भी जन-जन को सरसता से सींचने का जो कार्य इस काव्य ने किया, वह सराहनीय ही नहीं महत्वपूर्ण भी है। नैतिक मूल्यों के पतन और निराशा-हताशा के उस युग में भक्तिकालीन काव्य की उदात्ता की कल्पना न्यायोचित्त भी नहीं। सहृदय समाज की रुचि को परिष्कृत भले ही न कर सका हो यह काव्य, परन्तु उसे जो कलात्मक संस्पर्श इसने प्रदान किया है वह अन्य किसी साहित्य ने नहीं। ब्रजभाषा के काव्य रूप का भी बहुमुखी विकास इसी युग में संभव हो सका। सवैया और कवित्त में इनकी संगीत रुचि के प्रमाण सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। अतः अभिव्यंजना की साज-सज्जा, अलंकृति तथा छन्द संगीत की दृष्टि से इसके वैभव की तुलना नहीं है। इनका यह सूक्ष्म सौन्दर्य बोध रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त अथवा रीतिइतर अन्य सभी प्रवृत्तियों में भी देखा जा सकता है।

**बोध प्रश्न 3**

1) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग आठ-दस पंक्तियों में दीजिए —

i) रीतिकालीन कृष्ण भक्ति काव्य का स्वरूप क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रीतिकालीन राम भक्ति काव्य का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर पाँच-पाँच पंक्तियों में दीजिए —

i) रीतिकालीन नीतिकाव्य का स्वरूप क्या था?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रीतिकालीन निर्गुण सूफी सन्तों का भक्ति काव्य कैसा था?

.....

.....

.....

.....

.....

iii) रीतिकालीन वीर एवं प्रशस्ति काव्य का परिचय दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

iv) रीतिकाल में अन्य स्फुट काव्य प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी थीं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दो-दो पंक्तियों में दीजिए —

i) रीतिकालीन कृष्ण भक्ति काव्य लिखने वाले किन्हीं आठ कवियों के नाम लिखिए —

.....

.....

ii) रीतिकालीन निर्गुण सन्त कवियों में से किन्हीं आठ के नाम लिखिए —

.....

.....

iii) रीतिकाल के किन्हीं पाँच नीतिकारों के नाम लिखिए —

.....

.....

iv) रीतिकालीन वीर एवं प्रशस्तिकाव्यकारों में से किन्हीं छह के नाम लिखिए —

.....

.....

4) रीतिकालीन वीरकाव्य एवं प्रशस्ति काव्य लिखने वाले कवियों में से किसी एक का काव्य-उदाहरण लिखिए —

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) रीतिकालीन नीति कवियों का कोई एक उदाहरण लिखिए —

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 17.7 उपयोगी पुस्तकें

*हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास* (सप्तम भाग) संपादक डॉ. भगीरथ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

*हिन्दी साहित्य का इतिहास,* संपादक डॉ. नगेन्द्र, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

*हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल,* रीतिकाल, डॉ. महेन्द्र कुमार, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली।

*हिंदी काव्यशास्त्र की परम्परा,* डॉ. शिवनाथ पाण्डेय, के.एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।

*रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन,* डॉ. राम कुमार वर्मा साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद।

*हिन्दी साहित्य का इतिहास,* डॉ. जयनारायण वर्मा, के.एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।

## 17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए भाग : 17.2
2) i) ×
   ii) √
   iii) ×
   iv) √
   v) √

**बोध प्रश्न 2**

1) i) देखिए भाग 17.3.1
   ii) देखिए भाग 17.4.6
2) i) देखिए भाग 17.3.2
   ii) देखिए भाग 17.3.4
   iii) देखिए भाग 17.3.3
3) i) देखिए भाग 17.4.2
   ii) देखिए भाग 17.4.4
   iii) देखिए भाग 17.4.3

**बोध प्रश्न 3**

1) i) देखिए भाग 17.5.1
   ii) देखिए भाग 17.5.1
2) i) देखिए भाग 17.5.2
   ii) देखिए भाग 17.5.1
   iii) देखिए भाग 17.5.3
   iv) देखिए भाग 17.5.4
3) i) देखिए भाग 17.5.1
   ii) देखिए भाग 17.5.1
   iii) देखिए भाग 17.5.2
   iv) देखिए भाग 17.5.3
4) देखिए भाग 17.5.3
5) देखिए भाग 17.5.2

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 6

## आधुनिक हिंदी साहित्य

इकाई 18
आधुनिक युगीन परिस्थितियाँ 315

इकाई 19
आधुनिक युग का वैचारिक आधार 341

इकाई 20
आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ 368

इकाई 21
भारतेन्दु युग 387

इकाई 22
द्विवेदी युग 404

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

डॉ. म.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. रामसिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी. रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक
प्रो. विश्वनाथ शुक्ल
अलीगढ़
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. पूरन चन्द टण्डन
प्राध्यापक, इन्दिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

[illegible] सदस्य
डॉ. [illegible] पालीवाल
डॉ. जवरी मल पारख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम
डॉ. [illegible] फारूकी

[illegible] संयोजन
[illegible] शत्रुघ्न कुमार

पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. पूरन चन्द टण्डन

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991

ISBN-81-7091-789-1

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGHI-103/312

# खंड 6 का परिचय

हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के अंतर्गत आप "हिंदी साहित्य के इतिहास एवं साहित्य परिचय" विषय का गहन एवं विस्तृत अध्ययन कर रहे हैं। अभी तक आप पिछले पाँच खंडों में आदिकाल से रीतिकाल तक के तीन काल खंडों का व्यापक अध्ययन कर चुके हैं। उसके अंतर्गत आपने नामकरण, काल विभाजन, प्रमुख प्रवृत्तियों और विशेषताओं, प्रमुख कृतियों एवं कवियों का विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। यह छठा खंड हिंदी साहित्य के चौथे काल अर्थात् आधुनिक काल का विवेचन प्रस्तुत करता है। इस खंड में आधुनिक युगीन परिस्थितियों की व्यापक समीक्षा करते हुए उसके उस वैचारिक आधार को स्पष्ट किया गया है जिसने युग के पूरे साहित्य, साहित्य धाराओं, कवियों और साहित्यकारों को किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया है। पाश्चात्य एवं भारतीय विचारधाराओं की इस शृंखलाबद्ध परम्परा की समीक्षा करते हुए आधुनिक युग के आरंभ अर्थात् भारतेन्दु युग की पृष्ठभूमि को पद्य एवं गद्य के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया गया है। अन्तिम दो इकाइयों में भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य तथा द्विवेदी युगीन हिंदी साहित्य को विश्लेषित किया गया है।

आधुनिक युग की अन्य साहित्य धाराएँ यथा छायावाद तथा छायावादोत्तर साहित्य आदि की समीक्षा आगामी खंड (संख्या सात) में की जाएगी। आधुनिक हिंदी गद्य का विस्तृत विवेचन खंड आठ में किया जाएगा जिसके अंतर्गत कथा साहित्य, नाट्य साहित्य, निबंध एवं अन्य गद्य विधाएँ तथा हिंदी आलोचना के विकास की चर्चा की जा सकेगी।

यह खंड छह "आधुनिक हिंदी साहित्य" विषय पर है जिसमें कुल पाँच इकाइयाँ हैं। पहली इकाई (संख्या 18) "आधुनिक युगीन परिस्थितियाँ" है। इस इकाई के अंतर्गत आधुनिक युग के स्वरूप की चर्चा करते हुए उसके नामकरण एवं सीमांकन पर विचार किया गया है। युगीन परिस्थितियों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाओं की स्थिति पर विचार किया गया है। अंत में राष्ट्रीय-चेतना के विकास की स्थिति को भी संक्षेप में व्याख्यायित किया गया है।

इकाई संख्या 19 "आधुनिक युग का वैचारिक आधार" है। इस इकाई के अंतर्गत युग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में आर्थिक ढाँचे पर, नयी शिक्षा प्रणाली पर, मुद्रणालयों की भूमिका पर तथा यातायात की स्थिति एवं विकास पर विवेचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। पाश्चात्य वैचारिक-आधार ने भी आधुनिक हिंदी साहित्य तथा साहित्यकारों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। अतः इस दृष्टि से पाश्चात्य सिद्धांतों तथा विचारधाराओं के अंतर्गत आदर्शवाद, अभिव्यंजनावाद एवं रूपवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद एवं अतियथार्थवाद, मानवतावादी विचारधारा, मार्क्सवादी विचारधारा, समाजवाद एवं साम्यवाद तथा प्रतीकवाद और बिम्बवाद पर संक्षेप में विचार किया गया है। "थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना" के कारणभूत प्रभावों पर विचार करते हुए ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण परमहंस, आर्य समाज, गांधीवादी विचारधारा तथा प्रगतिवाद आदि भारतीय विचारधाराओं की समीक्षा भी की गई है। अंत में वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं आदर्शवादी जीवन-दर्शन को भी स्पष्ट किया गया है।

इकाई संख्या 20 "आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ" है जिसके अंतर्गत आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए गद्य और पद्य, ब्रजभाषा गद्य तथा खड़ी बोली गद्य के प्रारंभ को विवेचित किया गया है। उसके बाद आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास पर विचार करते हुए उसके कारण, प्रारंभिक स्वरूप तथा तात्कालिक अंग्रेजी सरकार की भाषा नीति को व्याख्यायित किया गया है। अंत में प्रारंभिक हिंदी साहित्य के महत्व की चर्चा भी की गई है।

इकाई संख्या 21 और 22 क्रमशः "भारतेन्दु युग" तथा "द्विवेदी युग" पर हैं। इन दोनों इकाइयों में युगीन साहित्यिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए गद्य एवं पद्य के प्रमुख साहित्य

एवं साहित्यकारों की समीक्षा की गई है। उसके बाद विषय-वस्तु एवं भाषा शैली की दृष्टि से प्रमुख विशेषताओं को भी बताया गया है। अंत में दोनों युगों के साहित्य की महत्ता को स्थापित किया गया है।

इस प्रकार यह खंड सम्पन्न होता है। खंड की प्रत्येक इकाई में बोध प्रश्न तथा अन्य उपयोगी पुस्तकों की सूची भी यथास्थान प्रस्तुत है। अपेक्षानुसार शब्दावली को भी स्पष्ट किया गया है। खंड से संबंधित कुछ वीडियो और ऑडियो कार्यक्रम भी तैयार किए गए हैं। आशा है आप इन कार्यक्रमों से भी लाभान्वित हो सकेंगे। हमें विश्वास है कि पाठ्यक्रम की यह प्रस्तुति इस गंभीर विषय को आपके समक्ष सहज एवं स्पष्ट रूप से रख सकेगी।

# इकाई 18 आधुनिक युगीन परिस्थितियाँ

## इकाई की रूपरेखा


18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 आधुनिक युग: स्वरूप एवं स्थिति
18.3 नामकरण एवं सीमांकन
18.4 आधुनिक युग की परिस्थितियाँ
  18.4.1 राजनीतिक परिस्थिति
  18.4.2 आर्थिक परिस्थिति
  18.4.3 सामाजिक परिस्थिति
  18.4.4 धार्मिक परिस्थिति
  18.4.5 सांस्कृतिक परिस्थिति
18.5 साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाएँ
18.6 राष्ट्रीय चेतना का विकास
18.7 सारांश
18.8 शब्दावली
18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 18.0 उद्देश्य

"हिंदी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय" पाठ्यक्रम का यह छठा खंड आपके समक्ष है। इस खंड की यह पहली इकाई है, जिसमें "आधुनिक युगीन परिस्थितियों" का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आदिकाल, भक्तिकाल, तथा रीतिकाल जैसे तीन कालखंडों का विस्तृत एवं गहन विवेचन आप पहले पाँच खंडों में कर चुके हैं। आधुनिक युग की निर्विवाद महत्ता को निर्मित एवं स्थापित करने वाली युगीन परिस्थितियों से सम्बद्ध इस इकाई के अध्ययन से आप:

- आधुनिक युग के स्वरूप एवं स्थिति को स्पष्ट कर सकेंगे,
- नामकरण एवं सीमांकन का निर्धारण कर सकेंगे,
- आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए राजनीतिक एवं आर्थिक परिवेश की व्याख्या कर सकेंगे,
- सामाजिक परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए कृषक, श्रमिक, ज़मींदार, पूंजीपति तथा मध्यवर्गीय समाज का स्वरूप बता सकेंगे,
- धार्मिक दृष्टि से हो रहे परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में युगीन पृष्ठभूमि को बता सकेंगे,
- पूरे राष्ट्र में व्याप्त हो रही आधुनिक सांस्कृतिक चेतना को समझा सकेंगे,
- आधुनिक युग के प्रादुर्भाव एवं आधुनिकता के स्वरूप को बता सकेंगे, तथा
- आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ बताते हुए साहित्य के सोपानों का परिचय करा सकेंगे।

## 18.1 प्रस्तावना

हिंदी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के अंतर्गत आप हिंदी साहित्य का अध्ययन, उसके ऐतिहासिक अनुक्रम में कर रहे हैं। अनेक खंडों में विभक्त इस अध्ययन-क्रम में अब तक आप पाँच खंडों में हिंदी साहित्य के आदिकाल (प्रारंभ काल) से लेकर रीतिकाल तक विभिन्न परिस्थितियाँ और काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन कर चुके हैं। इस छठे खंड के अंतर्गत आप आधुनिक हिंदी साहित्य का अध्ययन करेंगे। इस खंड से संबंधित यह पहली इकाई है। इस इकाई में आप सबसे पहले उन परिस्थितियों की विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करेंगे, जिनमें आधुनिक हिंदी साहित्य का सर्जन हुआ है। आप जानते ही हैं कि किसी देश के इतिहास का उसके साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। जब तक हम उस राष्ट्र के इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों और परिवर्तन की गति को भली भांति नहीं समझ लेते, तब तक उस देश या राष्ट्र के साहित्य के स्वरूप को भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकते क्योंकि साहित्य उस राष्ट्र की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह उन परिस्थितियों से अपना वर्ण्य-विषय, रूप, विद्या, आकार, परिमाण आदि ग्रहण करता है।

हिंदी साहित्य के एक हज़ार वर्षों से भी अधिक लम्बे इतिहास में आधुनिक हिंदी साहित्य (प्रारंभ 19वीं शताब्दी का मध्य) अपने पूर्ववर्ती हिंदी साहित्य से वर्ण्य विषय, रूप, विधा आदि में भिन्न है। उसमें परिवर्तन की गति भी पूर्ववर्ती साहित्य की गति की अपेक्षा बहुत अधिक रही है। इन भिन्नताओं और शीघ्र परिवर्तनों का कारण आधुनिक काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं, जो इस देश के पाश्चात्य जगत् से संपर्क में आने और भौतिक विज्ञान के प्रसार के कारण उत्पन्न हुई। साहित्य एक निरंतर गतिशील भावधारा और विचारधारा है, जो प्राचीन परम्पराओं से जुड़ी होकर भी नए युग की विभिन्न परिस्थितियों में आगे बढ़ती रहती है। इस इकाई में हम उन्हीं आधुनिक युगीन परिस्थितियों को भी समझने का प्रयास करेंगे।

"आधुनिक" शब्द काल वाचक "अधुना" अव्यय से बना है। "अधुना" का अर्थ है "इस समय", "सम्प्रति", "वर्तमान काल"। अतः "आधुनिक" का अर्थ है, "इस समय का", "हाल का", "नया", "वर्तमान समय का"। इस दृष्टि से तो हम केवल अपने सामने उपस्थित समय को ही "आधुनिक काल" और अपने सामने रचित साहित्य को ही "आधुनिक साहित्य" कह सकते हैं। तर्क-दृष्टि से यह ठीक भी है। किंतु जब हम हिंदी साहित्य के लम्बे इतिहास को देखते हैं तो पाते हैं कि आदिकाल से रीतिकाल की समाप्ति तक आते-आते पाश्चात्य प्रभाव और बाद में पाश्चात्य आक्रान्ताओं द्वारा भारत पर अधिकार कर लिए जाने से पैदा हुई बिल्कुल नई, बदलती हुई, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का हिंदी साहित्य पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। हिंदी साहित्य को नई-नई दिशाएं, नए-नए रूप और नए आयाम प्राप्त हुए। हिंदी साहित्य में ही नहीं, समूचे भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य में परिवर्तन और नवीनता के लक्षण 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही दिखाई देने लगे थे। आचार्य रामचन्द शुक्ल ने 1990 ई. वि. (सन् 1843) से हिंदी साहित्य की आधुनिक काल का आरंभ माना है।

वास्तव में "आधुनिक" शब्द सापेक्षिक है। आज जो "आधुनिक" है, वही सौ दो सौ वर्ष के कालांतर में पुराना हो जाएगा। किंतु साहित्येतिहास के कालों के अनुक्रम में अंतिम काल खंड को सदा ही "आधुनिक काल" कहा जाता है, और जब तक किसी नए मोड़ या परिवर्तन का आभास नहीं होता, वह इसी नाम से पुकारा जाता है।

"आधुनिक" शब्द जहाँ काल सापेक्षता को व्यक्त करता है, वहीं यह नवीनता, वैज्ञानिक-दृष्टि, बौद्धिकता और तर्क-वितर्क की प्रवृत्ति का भी सूचक है। आज जीवन और साहित्य में "आधुनिकता" से यही तात्पर्य है। किंतु प्रस्तुत संदर्भ में हम मुख्य रूप से काल विभाजन की दृष्टि से आधुनिक युगीन परिस्थितियों का निरूपण करेंगे।

साहित्य के इतिहास-लेखकों ने हिंदी साहित्य के इतिहास के उस काल को आधुनिक काल कहा है, जिसमें हमारे देश का संपर्क पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म, जीवन-पद्धति,

राजनीति, शासन व्यवस्था, विज्ञान आदि से हुआ। भारत में हजारों वर्षों से अनेक जाति और धर्मों के लोग आते रहे हैं। उनके कारण भारत के मूलभूत स्वरूप में कोई विशेष अंतर नहीं आया। किंतु विगत दो सौ वर्षों में भौतिक विज्ञान की शक्ति लेकर यूरोप से जो जातियाँ पहले व्यापार के उद्देश्य से इस देश में आईं और फिर अपनी कूटनीति और छलबल से इस देश को आक्रान्त कर लिया, उनके संपर्क का बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव इस देश पर पड़ा। लगभग दो सौ वर्षों के ब्रिटिश शासन ने भारतवर्ष में परिवर्तन के ऐसे दृश्य उपस्थित कर दिए, जिनकी कल्पना भी पहले कभी नहीं की गई थी। भारत के लिए वह एक अभूतपूर्व, नया अनुभव था। अपनी अत्यंत प्राचीन और विशेष प्रकार की पौरास्त्य (पूर्वीय) सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भाषा, जीवन-पद्धति के सामने उसने एक नितांत भिन्न जीवन मूल्यों वाली सभ्यता-संस्कृति, भाषा और भौतिक विज्ञान की शक्ति को चुनौती के रूप में खड़ा पाया। हिंदी जगत ने इन नई परिस्थितियों को देखा, समझा, संघर्ष भी किया और उनसे समझौते का मार्ग भी अपनाया। संवेदनशील, साहसी, दूरदर्शी और प्रतिभाशाली भारतीय चिंतकों एवं साहित्यकारों ने अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आंदोलनों द्वारा आधुनिक भारत एवं आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परंतु यहाँ इन आंदोलनकारी परिस्थितियों के अध्ययन से पूर्व आधुनिक युग के स्वरूप और स्थिति पर भी थोड़ी जानकारी हासिल कर लेना अनुचित न होगा।

## 18.2 आधुनिक युग: स्वरूप एवं स्थिति

यहाँ हम आधुनिक युग के स्वरूप और स्थिति की, परिवेश और परिस्थितियों की अथवा पूर्वपीठिका और पृष्ठभूमि की विवेचना इसलिए कर रहे हैं जिससे कि आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माण, उसके परिवर्तित स्वरूप, उसकी बदलती दृष्टि, उसके नए भाषिक आयाम तथा उसकी सामयिक अपेक्षाओं के मूलभूत कारण स्पष्ट हो सकें। "आधुनिक" शब्द समय-सापेक्ष है और इसकी चर्चा पहले भी की गई है। क्या आज का "आधुनिक" सदैव आधुनिक रह सकता है? संभवतः दो सौ वर्ष बाद यह आधुनिक न रहे। इस अर्थ-सीमा को किसी भी संदर्भ अथवा परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। साहित्य के संदर्भ में तथा इतिहास के संदर्भ में इसे दो अर्थों में समझा जा सकता है। एक तो आदिकाल तथा मध्यकाल (पूर्व-मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल) से भिन्न नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की सूचना देने वाली सभी गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में। और दूसरे लौकिक, सामाजिक एवं सांसारिक दृष्टिकोण के बदलते, संवरते और निखरते स्वस्थ्य, परिवेश तथा वातावरण के परिप्रेक्ष्य में।

आदिकालीन साहित्य में शृंगार, वीर, भक्ति, नीति तथा लौकिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ प्रधान रहीं तो भक्तिकाल में भक्ति के निर्गुण और सगुण पक्षों का वर्णन-विवेचन होता रहा। रीतिकाल में शृंगारिकता, ऊहात्मकता, रूढ़िवादिता तथा शास्त्रीयता से समृद्ध एक विशेष प्रकार के साहित्य ने एकरसता और अरुचि पैदा कर दी। इन तीन युगों की यात्रा का परिवर्तित-संवर्द्धित स्वरूप तक सामने आया जब नवीन ऐतिहासिक प्रक्रिया प्रारंभ हुई और आधुनिक गत्यात्मकता का संचार होने लगा। यह आधुनिक तथा नवीन दृष्टिकोण कला और साहित्य में भी इसीलिए अभिव्यक्त हुआ क्योंकि इस युग में, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में तथा राजनैतिक एवं धार्मिक परिसर में इसका प्रादुर्भाव हो चुका था। रीतिकाल का शृंगारी-ढांचे में ढला हुआ साहित्य युगीन-सत्य और वास्तविकता का परिचायक तो है किन्तु युगीन अपेक्षाओं, जरूरतों तथा विविधताओं तक वह न पहुँच सका था। मात्र भाषिक-चमत्कार तथा शिल्पगत-सौन्दर्य में उलझा रीतिकालीन-साहित्य जब बदलते युग और विकसित होती दृष्टि को अपेक्षानुसार दिशा-निर्देश तथा वैचारिक आधार न दे सका तो युगीन घुटन से पैदा हुई छटपटाहट ने जीवन-धारा के नए-नए तथा भिन्न-भिन्न स्रोत खोले। साहित्य मानव-जाति के सुख-दुख, आचार-विचार तथा दृष्टिकोण से जुड़ा। परिणामतः एक नई चेतना आई जिसे आधुनिक युग के नाम से जाना गया। यह चेतना जीव, समाज और सामाजिकता के विविध पक्षों में देखी जा सकती है। धर्म, अर्थ, राजनीति, सामाजिक दृष्टिकोण, दर्शन, साहित्य, कला तथा संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में इस

आधुनिकता, नवीनता तथा सामयिकता को आगे की चारों इकाइयों में तो आप देखेंगे ही, खंड 7 एवं 8 में भी देख सकेंगे। आधुनिक लेखकों, दार्शनिकों, चिंतकों, कलाकारों, विचारकों, धार्मिक व्याख्याताओं ने मानव-चिंतनधारा को शुद्ध मानवीय धरातल पर स्थिर किया। अगली इकाई में आप इसका व्यापक अध्ययन कर सकेंगे। यहाँ साहित्य के संदर्भ में केवल यह स्पष्ट रहे कि आधुनिक युग की विविध साहित्यधाराओं ने सुधार, परिष्कार तथा अतीत के पुनराख्यानों द्वारा एक विशिष्ट नवीनता तथा मौलिकता प्रदान की। भाषिक स्तर पर भी इस नवीनता तथा आधुनिकता के दर्शन होते हैं। डिंगल-पिंगल, मैथिली, अवधी तथा ब्रजभाषा का स्थान इस युग में खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) ने ले लिया। इस आधुनिकता का कारण भी युगीन-परिस्थितियाँ और अपेक्षाएँ ही बनीं।

साहित्य के संदर्भ में हुए परिवर्तनों के लिए जिन कारणभूत-परिस्थितियों की हम चर्चा कर रहे हैं उनका अर्वाचीन अथवा मध्यकालीन परिवेश तथा वातावरण से आधुनिकता की ओर अग्रसर होना भी आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यों परिवर्तन सृष्टि का, प्रकृति का और विकास का नियम है। यही प्रगति का सूचक भी है। परन्तु यह भी असत्य नहीं कि प्रत्येक परिवर्तन प्रगति का सूचक नहीं होता। अतः आधुनिक युग की पृष्ठभूमि में हुए अनेक परिवर्तन आधुनिकता के कारण बने। इन कारणों ने ही इस युग को विगत तीन युगों की चेतना से पूर्णतः भिन्न एवं सामयिक-प्रासंगिक चेतना प्रदान की।

रीतिकाल के उत्कर्ष के बाद जिस नए युग का आगमन हो रहा था, उसके संकेत अंग्रेज़ों की नई आर्थिक-नीति, औद्योगिक-क्रांति, संचार-व्यवस्था तथा मुद्रणालयों को प्रचार-प्रसार से मिलने लगते हैं। एकरसता और स्थिरता से निकलकर देश अब गत्यात्मकता का अनुभव करने लगा था। परम्पराएँ टूटने लगीं थीं तथा रूढ़ियों का विरोध पनपने लगा था। सामाजिक जीवन-शैली में नवीनता दिखाई देनी लगी थी। इन बदलती परिस्थितियों ने ही पुनर्जागरण को जन्म दिया था।

धर्म अब आकांक्षाओं के दायरे से निकल कर इहलौकिक आकांक्षाओं का वाहक बन रहा था। अंग्रेज़ प्रशासकों और इसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख़ के कारण भारतीय धर्म और संस्कृति से सम्बद्ध धर्म-सुधारकों ने धर्म को नई परिभाषा तथा नए प्रारूप में ढालना प्रारंभ कर दिया था। अंधविश्वासों का स्थान अब तर्क ने तथा वैज्ञानिक दृष्टि ने ले लिया था। परिणामतः धर्म समाज-सुधार से जुड़ता चला गया। पुराणपंथियों और समाज-सुधारकों ने अपने मत के प्रचार हेतु धर्मशास्त्रों की शरण ग्रहण की। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा उन्मूलन के लिए धर्मशास्त्रों का सहारा लिया। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने पौराणिक ग्रंथों को प्रमाण बनाकर जन-सामान्य का ध्यानाकर्षण किया। दयानंद सरस्वती ने सामाजिक-सुधार के लिए वेदों की गवाही से अपने मतों को पुष्ट एवं स्थापित किया। अतः तर्क और प्रमाण के ये शस्त्र अतीत में गौरव को जगाने में सफल हुए तथा रूढ़ियों-अंधविश्वासों को तर्क की तलवार से काट फेंकने में सहायक हुए। परिणामतः देशवासियों में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जागा। इसी चेतना ने पश्चिमी चुनौती का सामना करने और स्वतंत्रता हासिल करने की माँग को स्वर प्रदान किया। अतः धर्म, सुधार तथा राष्ट्रीयता की दूरी कम होने लगी। लोगों ने परंपरा के अंधेरों का विरोध किया तथा उसके प्रकाश का वरण करने की सोच पैदा की। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली तथा देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान का परिचय हासिल कर शिक्षार्थियों के बहुमुखी विकास का उद्देश्य अब मुखर होने लगा था।

अतः नए अर्थ-तंत्र, बदलती शिक्षा-प्रणाली तथा प्रचार-प्रसार पाते संचार-माध्यमों से आधुनिकीकरण का प्रादुर्भाव हुआ। आधुनिकीकरण की इस दृष्टि में वैज्ञानिकता थी, **लोक-सम्पृक्ति** थी, तर्कसंगत व्यवहार था। परन्तु आधुनिकता के इस प्रभाव-ग्रहण का तात्पर्य यह नहीं कि भारतीयों ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का अंधानुकरण किया। पश्चिम-विचारकों के साथ-साथ मध्यकालीन संतों की वाणियों का सहारा भी इन्होंने लिया। पौराणिक-ऐतिहासिक आख्यानों के प्रेरक प्रसंगों के उदाहरण के लिए तो समसामयिक चिंतकों, विचारकों, दार्शनिकों एवं समाज सुधारकों की वैचारिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में भी साहित्य को समाज से जोड़ा। छूआछूत, जाति प्रथा तथा स्त्री-पुरुष में भेदभाव का विरोध, समानता, स्वतंत्रता, राष्ट्रीय-चेतना, वैज्ञानिकता का ग्रहण तथा नवीन

मानवतावाद के आविर्भाव का समर्थन आदि प्रसंगों से आधुनिक युग की इस पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है। आर्य समाज, रामकिशन परमहंस मिशन, प्रार्थना समाज, ब्रह्म-समाज आदि संस्थाओं के प्रयासों में पुराने धर्म को नए समाज के अनुरूप ढालने की प्रक्रिया को देखा जा सकता है। बहुत से अंतर्विरोधों के बावजूद इन वैचारिक-मान्यताओं के स्रोतों ने जन-सामान्य को एक बौद्धिक एवं तार्किक आधार प्रदान किया। इसकी विस्तृत विवेचना आप अगली इकाई में कर सकेंगे।

अतः कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य के जिस आधुनिक युग का प्रारंभ सन् 1857 के आसपास हुआ, उसके आधुनिक बनने की प्रक्रिया तो लगभग एक शताब्दी पूर्व (अर्थात् 1760 के आसपास) प्रारंभ हो चुकी थी। इसकी पृष्ठभूमि बनने वाली विभिन्न परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन इसे और स्पष्ट कर सकेगा। किन्तु इससे पूर्व हम "आधुनिक युग" के नामकरण और सीमांकन पर भी थोड़ा विचार कर लें तो उचित होगा।

## 18.3 नामकरण एवं सीमांकन

किसी भी युग के साहित्य-काल-खंड का नामकरण और सीमा निर्धारण अत्यंत जटिल कार्य है। नामकरण के आधार तथा पद्धतियों की विस्तृत चर्चा हम इस पाठ्यक्रम के प्रथम खंड में तथा "आदिकाल" एवं "रीतिकाल" के नामकरण की चर्चा करते हुए कर चुके हैं। वहीं हमने युग-विशेष के सीमा निर्धारण के आधारों पर भी विचार किया था। अतः यहाँ हम आधुनिक युग के नामकरण एवं सीमा-निर्धारण पर संक्षिप्त समीक्षा करते हुए यही स्पष्ट करेंगे कि कोई भी कालखंड अपने बदलाव के कारण ही किसी दूसरे कालखंड से भिन्न होता है। बदलाव की यह प्रक्रिया यों तो निरंतर चलती ही रहती है किन्तु इस प्रक्रिया से प्राप्त परिणाम जब अत्यन्त मुखर होने लगते हैं और ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ साहित्य और भाषा की सोच, दिशा, दृष्टि तथा चेतना को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। तभी एक नए युग का स्वरूप उभर कर सामने आता है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ कब से माना जाए इस विषय में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। सामान्यतः इसका प्रारंभ संवत् 1900 अर्थात् 1843 ई. से माना जाता है। कुछ विद्वानों ने सन् 1857 से नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव का संदर्भ जोड़ते हुए यहीं से आधुनिक काल का प्रारंभ माना। यों बदलाव के स्पष्ट चिह्न भी, जैसा कि पहले कहा भी गया है, उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में स्पष्टतः दिखाई देते हैं। संयोग से आधुनिक हिंदी साहित्य में जीवन-बोध के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भी उन्नीसवीं शती के मध्य अर्थात् सन् 1850 में ही हुआ था। परन्तु ठीक इसी वर्ष से आधुनिक युग की शुरुआत मान लेना तर्कसंगत नहीं लगता। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का मत विचारणीय है—"सामान्यतः रीतिकाल के अंत (1843) से आधुनिक काल का आरंभ मानने की परम्परा रही है, नवीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना के संवहन के फलस्वरूप सन् 1857 को भी यह गौरव दिया जाता है; किन्तु साहित्य-क्षेत्र में नई विचारधारा का प्रवेश वस्तुतः भारतेन्दु के रचनाकाल (1868) से हुआ। इसके पूर्ववर्ती कालखंड (1843-1868) की गणना आधुनिक काल के अंतर्गत तो होगी, किन्तु उसे भारतेन्दु युग की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास; संपादक, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 437)

आधुनिक भारत की सबसे महत्वपूर्ण घटना वह है जब अंग्रेज़ों ने अपने व्यापारिक हितों को राजनीतिक हितों में बदल दिया था। इस दृष्टि से सन् 1757 ई. में हुआ प्लासी का युद्ध तथा सन् 1764 ई. में हुआ बक्सर का युद्ध बहुत महत्वपूर्ण है। अंग्रेज़ों ने इन दोनों युद्धों में विजय हासिल करके अपना भावी राजनीतिक मार्ग प्रशस्त किया था। अब उन्हें चुनौती देने वाला कोई शेष न था। यहीं से भारतीय इतिहास के आधुनिक काल का प्रारंभ माना जाने लगा। देश की तद्युगीन परिस्थितियों ने साहित्य और सृजन को रचना और रचनाकार को ऐसे परिवेश में बहुत प्रभावित किया।

अंग्रेज़ी राज्य के प्रचार-प्रसार, उनकी विविध नीतियों तथा विचार-दृष्टियों ने साहित्य को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। सन् 1800 ई. में कलकत्ता में स्थापित किए गए फोर्ट विलियम कॉलेज के अंतर्गत भारतीय साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था, पाठ्य पुस्तकों के संपादन, लेखन, प्रकाशन आदि के परिप्रेक्ष्य में इस प्रभाव को सहज ही देखा भी जा सकता है। यह युग गद्य के प्रचार-प्रसार के आधिक्य के कारण गद्य-युग ही कहलाया। साहित्य और भाषा के इतिहास एवं विकास की दृष्टि से भी देखें तो यही प्रमाणित होता है कि गद्य के विकास की यात्रा का श्रीगणेश भी सन् 1800 में स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज से ही होता है। यह ठीक है कि आचार्य शुक्ल ने नामकरण का प्रमुख आधार "प्रवृत्ति-विशेष" को माना परन्तु आधुनिक काल के संदर्भ में वे भी इसे गद्य भाषा की प्रमुखता के कारण गद्य काल ही कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि, आधुनिक चेतना तथा तर्कसंगत वैचारिकता का वहन भी गद्य भाषा ही बाखूबी कर सकती थी। परन्तु इस आधार पर इस काल को "गद्य काल" कहना उचित नहीं। ऐसा करने से आधुनिक काव्य की दीर्घ परम्परा के साथ अन्याय होगा।

प्रवृत्ति की दृष्टि से देखें, जो आधुनिक काल के अधिकांश साहित्य में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा बौद्धिक धरातल देखने को मिलता है। यही "आधुनिकता" की प्रवृत्ति इस युग के साहित्य को रीतिकाल से पृथक भी करती है। आधुनिक काल नामकरण की सटीकता और सार्थकता का आभास इस बात से भी मिलता है कि इसके अंतर्गत वे सभी अर्थ छवियाँ विकीर्ण होती जान पड़ती हैं जिनका संबंध पुनर्जागरण, नवीनता, प्रगतिशीलता, वैज्ञानिकता, बौद्धिकता तथा अस्तित्ववादिता आदि प्रवृत्तियों से माना जाता है। आधुनिकता की यही भावना इस युग के साहित्य को मध्यकालीन रूढ़िवादिता, एकरसता शृंगारिकता तथा रीतिबद्धता आदि प्रवृत्तियों से अलग भी करती है। अतः जीवनधारा के विविध स्रोतों को बद्ध एवं मुक्त रूप में स्वीकारने तथा अभिव्यक्ति देने वाले इस गत्यात्मक काल को "आधुनिक काल" ही कहा जाना उचित है। मनुष्य के सुख-दुःखों से, उसके जीवन की खट्ठी-मीठी अनुभूतियों से तथा समाज एवं राष्ट्र की परिवर्तनशील स्थितियों से साहित्य को जोड़ने वाला यह काल "आधुनिक" शब्द की सार्थकता के अनुकूल ही ठहराता है। काव्य या गद्य-विधाओं में अब परलौकिक नहीं लौकिक व्यक्ति, लौकिक समस्याएँ तथा सभी लौकिक संदर्भ समाहित होने लगे। साहित्य, धर्म, दर्शन, चित्र, संगीत तथा अन्य सभी कलाओं में अधुनातन तथा नवीनतम दृष्टिकोण का, वैचारिक-क्रांति का तथा वैज्ञानिक पद्धति का आविर्भाव हुआ। ब्रजभाषा और अवधी भाषा का स्थान जन-भाषा खड़ी बोली ने लेना प्रारंभ कर दिया। सुधार, परिष्कार, जागृति, राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक बोध तथा स्वातंत्र्य चेतना आदि का प्रबल आधार जिस युग ने दिया उसे "आधुनिक युग" ही कहा जाना उचित जान पड़ता है। अतः सन् 1868 के आसपास से ही इस "आधुनिक युग" की प्रारंभिक सीमा मानी जा सकती है और आज तक का समग्र गद्य-पद्य साहित्य इसी युग के भीतर आता है।

**बोध प्रश्न 1**

1) "आधुनिक" शब्द के अर्थ एवं स्वरूप को लगभग आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) साहित्य-इतिहास लेखकों के अनुसार आधुनिक काल किसे कहा गया है? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) हिंदी साहित्य के आधुनिक युग की काल सीमा बताते हुए उसके स्वरूप को लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनमें से कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए:

i) "आधुनिक" शब्द काल-सापेक्षता को तो व्यक्त करता है, किन्तु नवीनता, वैज्ञानिक दृष्टि, बौद्धिकता एवं तर्क-वितर्क का सूचक नहीं बनता। [ ]

ii) अंग्रेज़ प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख़ के कारण भारतीय धर्म और संस्कृति से सम्बद्ध सुधारकों ने धर्म को नई-परिभाषा तथा नए प्रारूप में ढालना प्रारंभ कर दिया था। [ ]

iii) राजा राममोहन राय ने सती प्रथा उन्मूलन के लिए धर्मशास्त्र का सहारा लिया था। [ ]

iv) आधुनिक युग के प्रारंभ में भारतीयों ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का अंधानुकरण प्रारंभ कर दिया था। [ ]

v) आधुनिक युग का प्रारंभ लगभग 1868 से माना जाता है और यहीं से नई विचारधारा का प्रवेश भी साहित्य में देखने को मिलता है। [ ]

## 18.4 आधुनिक युग की परिस्थितियाँ

आधुनिक युग भारत की शासन व्यवस्था के उस युग से प्रारंभ माना जाता है जब मुसलमानों के हाथ से निकलकर सत्ता अंग्रेज़ों के हाथ चली गई थी। अंग्रेज़ों के आगमन से भारतीयों के रहन-सहन, जीवन-यापन, आचार-विचार, साहित्य-कला एवं शिक्षा-संस्कारों में अनेक परिवर्तन होने लगे। अंग्रेज़ों से पूर्व भारतवर्ष पोर्चुगीज़ (पुर्तगाली), डच तथा

फ्रांसीसियों ने भारत में खूब व्यापार किया। जहाँगीर के समय आए अंग्रेज़ों ने बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए। राजनीतिक पकड़ मज़बूत करते हुए अंग्रेज़ों ने भारतीय राजाओं को परस्पर लड़वाया और लाभ उठाते हुए अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। 1757 में प्लासी का युद्ध सिराजुद्दौला से जीतकर अंग्रेज़ों ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। परिणामतः रॉबर्ट क्लाइव (1743-1767) ने अपनी कूटनीति से अपार धन बटोरते हुए भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाल दी। 1764 में बक्सर की लड़ाई से अंग्रेज़ी सैनिक शक्ति और बढ़ गई। 1761 में हैदर अली ने अपने राज्य की स्थापना की और 1764 में सिक्खों का उदय हुआ। परन्तु 1764 में ही अंग्रेज़ों ने अवध पर भी विजय हासिल कर ली। अतः धीरे-धीरे ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना प्रभुत्व बढ़ाते हुए भारत में अपना आधिपत्य कर लिया। फिर धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्य समृद्ध होता गया और पूरे भारत पर उनका राज्य हो गया।

इसी तरह से शिक्षा, अर्थव्यवस्था, व्यावसायिक गतिविधियाँ, सामाजिक नियम, आचार विचार संहिताएँ, नौकरशाही, सांस्कृतिक परिवर्तन, सड़कों, नहरों, रेल, तार, डाक सेवा आदि से सम्बद्ध नीतियाँ—सभी पर पश्चिमीकरण की छाप लगती गई। धर्म, समाज, शिक्षा पद्धति, प्रेस तथा आविष्कार आदि सभी क्षेत्रों में विदेशी प्रभाव छाने लगा। अंग्रेज़ों की इस स्वार्थभरी कार्य-व्यवस्था एवं शासन पद्धति से भारत को अप्रत्यक्षतः कुछ लाभ भी हुए परन्तु हानियाँ अधिक हुईं। भाषा, उद्योग तथा शासन व्यवस्था के इस विदेशीकरण का कारण बनीं उस युग की विविध परिस्थितियाँ। अतः साहित्य पर भी उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। बहुत से कवियों-साहित्यकारों की अभिव्यक्ति में इसे आगे की इकाइयों में देखा भी जा सकता है। अतः यहाँ हम पश्चिमीकरण से आ रही इसी "आधुनिकता" के कारणों को स्पष्टतः जानने-समझने के लिए युगीन पृष्ठभूमि तैयार कर रही इन विविध परिस्थितियों की समीक्षा करेंगे।

### 18.4.1 राजनीतिक परिस्थिति

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में यूरोपीय जातियों के पदार्पण से एक नया परिदृश्य उपस्थित हुआ। व्यापार के लिए इन जातियों का भारत के पश्चिमी तट पर जलयानों द्वारा आगमन 15वीं शताब्दी के अंतिम चरण से ही आरंभ हो गया था। पुर्तगाली नाविक वास्को डि-गामा पहला यूरोपीय व्यापारी था, जो अफ्रीका महाद्वीप की परिक्रमा करते हुए 20 मई, 1498 ई. को दक्षिण भारत के केरल प्रदेश में समुद्र तटवर्ती नगर कोचीन/कालीकट पहुँचा। उसने केरल के राजा से व्यापार-संधि की और समुद्र तट पर बसे कई नगरों में व्यापारिक कर्मशालाएँ (फैक्टरियाँ) खोलीं। 16वीं शती के अंत तक पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तट पर अनेक व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कर ली थीं। अकबर और जहाँगीर के समय में ईसाई पादरी भी भारत में आने लगे थे। 1613 ई. में पुर्तगालियों ने चार भारतीय समुद्री व्यापारिक जहाज़ लूट लिए। सूरत के मुग़ल प्रशासक ने उन्हें दंडित किया और जहाँगीर ने उन्हें दी हुई व्यापारिक सुविधाएँ छीन लीं। किन्तु कूटनीति से पुर्तगालियों ने क्षमा-याचना करके सारी सुविधाएँ फिर से प्राप्त कर लीं। जहाँगीर की शिथिल नीति का लाभ उठाकर ईसाई पादरियों ने लाहौर और आगरा में गिरजाघरों का निर्माण करा लिया। शाहजहाँ (1628-1658 ई.) के समय में पुर्तगालियों का साहस काफ़ी बढ़ गया था। अकबर और जहाँगीर द्वारा दी गई सुविधाओं का दुरुपयोग करते हुए वे भारतीयों को बलपूर्वक ईसाई बनाने लगे थे। शाहजहाँ ने उनका दमन करने का कुछ प्रयत्न भी किया, किन्तु उसके शासनकाल में, भारत में यूरोपीय जातियों की गतिविधियों में तेज़ी आती गई। शिवाजी के शासनकाल (1666-1680 ई.) में भी पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तट पर अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया था।

पुर्तगालियों को भारत में व्यापारिक लाभ और धर्म प्रचार के अवसर प्राप्त करते देखकर अन्य यूरोपीय जातियाँ—अंग्रेज़, डच (हालैंड निवासी) और फ्रांसीसी—भी भारत के समुद्र तटों पर आकर व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करने लगे थे। भारतीयों की उदारता और सहिष्णुता का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने भारत की सम्पदा को अनीतिपूर्वक व्यापार के बहाने अपने पश्चिमी देशों को ढोना शुरू कर दिया। अपने-अपने देश के वर्चस्व और धन-सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए ये जातियाँ हमारे देश की भूमि पर ही परस्पर संघर्ष करतीं

हुईं भारत के आंतरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने लगीं। यहाँ के प्रशासकों से भी संधि-विग्रह कर अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगीं। इनमें नौसेना से शक्ति-सम्पन्न अंग्रेज़ों की कूटनीति ही अंततोगत्वा सफल हुई। पुर्तगालियों ने गोआ, दमन और दीव में और फ्रांसीसियों ने चंद्र नगर, पांडिचेरी और माही में अपने उपनिवेश स्थापित किए, किंतु अंग्रेज़ों ने शनैः शनैः पूरे भारत पर ही अधिकार कर लिया। अंग्रेज़ों ने मुगल शासकों और दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को भी अपनी कूटनीति से अंततः परास्त कर ही दिया, जिसने एक बार अपनी राष्ट्रीय शक्ति से यूरोपीय जातियों को भारत में अपना प्रभाव स्थापित करने में निर्बल बना दिया था।

31 दिसम्बर, 1600 को इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत से व्यापार करने का अधिकार पत्र प्राप्त कर लिया था। जहाँ तक व्यापार के उद्देश्य से अंग्रेज़ों के भारत में पदार्पण की बात है, सबसे पहले 1609 ई. में कैप्टन विलियम हॉकिंस जहाँगीर के दरबार में अंग्रेज़ व्यापारियों के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए आया था। किंतु यहाँ से पहले से ही विद्यमान पुर्तगालियों ने प्रतिद्वंद्वितावश मुगल प्रशासकों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध भड़का रखा था। फलतः कैप्टन हॉकिंस को तो विशेष सफलता नहीं मिली, किन्तु 1615 ई. में इंग्लैंड के शासक जेम्स प्रथम ने सर टॉमस रो को भारत भेजकर जहाँगीर से अंग्रेज़ व्यापारियों के लिए भारत में कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। अंग्रेज़ों ने सूरत तथा अन्य कई नगरों में व्यापारिक कोठियाँ प्राप्त कर लीं। सर टॉमस रो ने आसफ़ खाँ को भेंट-नज़राना देकर ही अपने उद्देश्य की पूर्ति की थी और यहीं से ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ गई। जहाँगीर (शासनकाल 1605-1627), शाहजहाँ (शासनकाल 1628-1658) तथा औरंगज़ेब (शासनकाल 1658-1707) के समय तक अंग्रेज़ व्यापारी भारत की आंतरिक दशा को बहुत कुछ समझ चुके थे। औरंगज़ेब की अनुदार नीतियों ने मुगलशासन को काफी दुर्बल बना दिया था। चारों ओर उसके शत्रु उत्पन्न हो गए थे। अंग्रेज़ भी ये सारी स्थितियाँ समझ रहे थे। दक्षिण में विद्रोहों का दमन करते हुए 1707 ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई। उसके बाद मुगल शासन क्रमशः पतन को प्राप्त होने लगे। औरंगज़ेब के बाद उसका कोई उत्तराधिकारी दिल्ली के केंद्रीय शासन को ठीक ढंग से न संभाल सका। उसके पुत्र मुअज्ज़म (बहादुर शाह-प्रथम, शासनकाल 1707-1712) से लेकर जहाँदार शाह, फ़र्रूख़सियर, मुहम्मदशाह, अहमदशाह, आलमगीर द्वितीय, शाह आलम द्वितीय, अकबर द्वितीय और अंत में बहादुरशाह द्वितीय (शासनकाल 1837-1857) तक 150 वर्षों में आठ शासक दिल्ली की गद्दी पर बैठे। इस अवधि में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने विदेशी प्रतिद्वंद्वियों को समाप्त करने के साथ भारत की केंद्रीय मुगल सत्ता और भारत के विभिन्न प्रदेशों के देशी राजा-रानियों, नवाब-बेगमों आदि को भी सत्ता से वंचित कर दिया।

1757 में, क्लाइवदार प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के परास्त होने पर अंग्रेज़ों ने पहले ही सैनिक और कूटनीतिक विजय प्राप्त कर ली थी। 1764 में बक्सर के युद्ध में मीर कासिम शुजाउद्दौला और मुगल शासक शाह आलम की सम्मिलित सेना को परास्त कर अंग्रेज़ों ने एक निर्णायक विजय प्राप्त की। बंगाल और बिहार पर अंग्रेज़ों का पूरा अधिकार हो गया और अवध का नवाब उनके हाथ की कठपुतली बन गया। 1792 ई. में लार्ड कार्न वालिस ने कूटनीति से दक्षिण में टीपू सुल्तान को परास्तर कर आंध्र और कर्नाटक तक अपना प्रभाव बढ़ा लिया। इससे पूर्व वारेन हेस्टिंग्ज़ ने ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक दशा सुधारने के लिए अनेक अनुचित उपाय अपनाए। उसने बनारस के राजा चेतसिंह अवध की बेगमों और रोहिल्लों पर अमानुषिक अत्याचार किए। अंग्रेज़ों का प्रभाव उसके समय में उड़ीसा से रूहेलखंड तक फैल चुका था। शनैः शनैः गढ़वाल, कुमाऊं और शिमला तक का सारा प्रदेश अंग्रेजों ने हथिया लिया। 1818 तक चार युद्धों के बाद पेशवा बाजीराव द्वितीय की शक्ति क्षीण हो गई। मराठों की पराजय से मानो एक अंतिम राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम व्यर्थ हो गया। उधर पंजाब में 1849 में महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेज़ों ने पंजाब पर भी अधिकार कर लिया। इससे पूर्व 1823 तक राजस्थान की अनेक रियासतें विभिन्न संधियों के माध्यम से अंग्रेज़ों के अधीन पहले ही हो गई थीं।

1856 तक अनेक अंग्रेज़ प्रशासक ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों के लिए नियुक्त किए गए। इन सबका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना था। इनमें लार्ड डलहौज़ी (1848-1856) के कार्यकाल तक ब्रह्म देश से सिंध तक अंग्रेज़ों की तूती

बोलने लगी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1844 में ही विलय का सिद्धांत (Doctrine of lapse) बना लिया था। इसके द्वारा अंग्रेज़ों के अधीन देशी रियासतों के किसी निस्संतान शासक को दत्तक पुत्र लेने और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का अधिकार छीन लिया गया। इसके माध्यम से सतारा, नागपुर, झांसी, जैतपुर, संभलपुर, बघाट आदि को अपने अधीन कर लिया। अवध के नवाब पर कुशासन का आरोप लगाकर 1856 में डलहौज़ी ने अवध को भी अपने अधिकार में ले लिया। अंग्रेज़ों ने सबसिडयरी सिस्टम अर्थात् सहायक सेना एवं पद्धति के रूप में एक और कूटनीतिक चाल अपनाई थी। इसके अनुसार देशी शासकों को अपने राज्य में एक सहायक अंग्रेज़ी सेना रखनी पड़ती थी, जिसका व्यय भी उस शासक को उठाना पड़ता था। 1851 में डलहौज़ी ने इस व्यय की वसूली के लिए बरार और हैदराबाद के कुछ प्रदेश निज़ाम से छीन लिए। अपनी विस्तारवादी नीति के अनुसार तंजौर के राजा और कर्नाटक के नवाब की मृत्यु के बाद उनकी परम्परागत उपाधियाँ समाप्त कर दीं। पेशवा बाजीराव द्वितीय के निधन के उपरांत उसके दत्तक पुत्र धोंधूपन्त (नाना साहब) की पेंशन (निवृत्ति वेतन) समाप्त कर दी। डलहौज़ी और उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों ने कुछ ऐसे विशेष कार्य और सुधार किए जिनसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य सुदृढ़ हुआ। किन्तु इन कार्यों और सुधारों से भारतवासियों में भी एक नई राष्ट्रीय चेतना जगी। उनको भौतिक सुविधाएँ भी प्राप्त हुईं। इस संबंध में लार्ड विलियम बैंटिक और डलहौज़ी के कार्य महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, विलियम बैंटिक ने 1835 में कलकत्ता में एक चिकित्सा महाविद्यालय खोला। क्रूरतापूर्ण सती-प्रथा समाप्त की। ठगों को निर्मूल कर जनता को सुरक्षा प्रदान की। लार्ड डलहौज़ी के समय में भारत में रेल, तार और डाक व्यवस्था आरंभ हुई। आधुनिकता की ओर यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पग था। मैकाले ने बैंटिक को अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारत में शिक्षा प्रसार के लिए प्रेरित किया। डलहौज़ी के समय में 1854 में एक शिक्षा योजना बनाई गई। इसके अनुसार कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। यद्यपि इन कार्यों के पीछे अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों की पूर्ति करना ही था, तथापि इनके सहज परिणामस्वरूप भारत में विकास, प्रगति और चिंतन के नए आयाम स्थापित हुए। सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय से जिस ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार आरंभ हुआ था, वह सौ वर्ष 1857 में सारे भारत को आक्रान्त कर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। किन्तु तभी सारे भारत में एक विस्फोट के समान एक महान् स्वाधीनता संग्राम छिड़ गया, जिसे अंग्रेज़ों ने "सिपाही विद्रोह" नाम दिया।

**1857 का स्वाधीनता संग्राम**

स्थूल दृष्टि से देखने पर, पाश्चात्य शासकों को यह व्यापक स्वाधीनता संग्राम एक सैनिक विद्रोह मात्र लगा, क्योंकि इसका आरंभ कुछ सिपाहियों के विद्रोह से हुआ था। किन्तु वास्तव में यह भारतीय जनता की ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त कर स्वाधीनता प्राप्त करने की एक सुनियोजित जन-क्रांति थी, जिसमें दिल्ली के अंतिम मुगल शासक बहादुर शाह जफर, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, बिहार के राजा कुंवर सिंह, अमर सिंह, परम देशभक्त तांत्या टोपे आदि ने महान् बलिदान करते हुए प्राणों की आहूति दी। किन्तु अन्य अनेक कारणों के साथ मुख्य रूप से उसी धरती में जन्में कुछ कायरों और देशद्रोहियों के कारण अंग्रेज़ों द्वारा यह क्रांति दबा दी गई। भारतीयों का यह संग्राम थोड़े दिनों के लिए थम अवश्य गया, किंतु 1857 की यह क्रांति की ज्वाला बुझी नहीं। आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि में 1857 की क्रांति एक बड़ी प्रेरक शक्ति रही। हिंदी भाषी विशाल क्षेत्र में ही यह सबसे व्यापक स्वतंत्रता-संग्राम सबसे पहले आरंभ हुआ।

इस स्वाधीनता संग्राम के पहले प्रेरक नाना साहब (धोंधू पन्त) थे। उनके प्रमुख सहायक अज़ीम उल्लाह ने इंग्लैंड जाकर नाना साहब की पेंशन को पुनः प्रारंभ कराने का प्रयत्न किया, किन्तु सफलता न मिली। दोनों मित्रों की यह धारणा बनी कि जब तक भारतीय सैनिक और भारतीय राजा नवाब आदि देशी शासक इस क्रांति में भाग नहीं लेंगे तब तक विदेशी साम्राज्य को उखाड़ फेंकना संभव नहीं, क्योंकि अंग्रेज़ों की राज्य सत्ता मुख्य तथा भारतीय सैनिकों और देशी शासकों की सहायता पर ही अवलंबित थी। नाना साहब ने एक तीर्थयात्री के रूप में भारत के अनेक राजाओं से मिलकर मंत्रणा की। सारे देश में एक साथ सुनियोजित विद्रोह के लिए 31 मई, 1857 का दिन निर्धारित हुआ, किन्तु कारतूसों में निषिद्ध चर्बी के प्रयोग को लेकर भारतीय सैनिक निश्चित तिथि से दो महीने पहले ही

उत्तेजित हो उठे। 29 मार्च, 1857 को बंगाल में बैरकपुर की पलटन के एक सिपाही मंगल पाण्डे ने अपनी टुकड़ी के साथी सिपाहियों को विद्रोह के लिए प्रेरित करते हुए तीन अंग्रेज सेनाधिकारियों को गोली से उड़ा दिया। मंगल पाण्डे को अंग्रेज़ों ने फाँसी पर लटका दिया और बैरकपुर की दो भारतीय पलटनों को भंग कर दिया। मंगल पाण्डे के विद्रोह और फाँसी का समाचार सारे देश में दावानल की भाँति फैल गया। 10 मई, 1857 को ईस्ट इंडिया कंपनी की मेरठ में तैनात भारतीय पलटनों ने भी खुला विद्रोह कर दिया। भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज़ अफ़सरों को मार कर अपने साथियों को मुक्त कर लिया। मेरठ से ये सैनिक दिल्ली पहुँचे। दिल्ली के भारतीय सैनिकों ने उनसे मिलकर अंग्रेज़ों द्वारा अपदस्थ बहादुरशाह को पुनः सम्राट घोषित कर दिया। स्वतंत्रता की ज्वाला शीघ्र ही सारे उत्तर भारत में फैल गई, जो हिंदी का विशाल क्षेत्र है। इस स्वतंत्रता संग्राम ने भारत के सभी प्रांतों के साहित्यकारों को प्रेरणा दी। हिंदी में आधुनिक काल में अनेक साहित्यकारों ने इसे उपन्यास, नाटक और कविता का विषय बनाया। सुभद्रा कुमारी चौहान की प्रसिद्ध लोकप्रिय कविता "खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी" इसी स्वाधीनता संग्राम से प्रेरित है।

इस क्रांति का सूत्रपात निश्चित समय से पूर्व ही हो जाने के कारण यह सुनियोजित नहीं हो सका। अंग्रेज़ शीघ्र ही सावधान हो गए और उन्होंने अपनी कूटनीति, विकसित शस्त्रास्त्र से सज्जित सेना द्वारा दो वर्षों के भीतर ही अत्यन्त क्रूरता और बर्बरता से इस स्वाधीनता संग्राम को कुचल डाला। इसमें दुर्भाग्य से अनेक देशी शासकों ने भी भय और प्रलोभन से अंग्रेज़ों का साथ दिया। अंग्रेज़ों ने "फूट डालो, राज्य करो" नीति अपनाकर विभिन्न धर्मावलंबियों को परस्पर खूब भड़काया। क्रांति के सारे नेताओं को एक-एक करके मौत के घाट उतार दिया। बहादुरशाह के दो पुत्रों को कैप्टन हडसन ने गोली से उड़ा दिया और उनके सिर काट कर बहादुरशाह के सामने लाकर रख दिया। क्रूरता और बर्बरता की चरम सीमा को पार करते हुए हडसन ने दोनों शाहज़ादों के शवों को एक सार्वजनिक स्थल पर वृक्ष से लटका दिया, जिससे भारत की जनता भयभीत होकर फिर कभी क्रांति का नाम भी न ले। किन्तु भारत का इतिहास साक्षी है कि इस क्रांति के संस्कारों ने ही भारतीयों में निरंतर स्वाधीनता के लिए संघर्ष की शक्ति फूंकी और अंत में ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्ति पाई।

अंग्रेज़ों का दमन चक्र दो वर्षों तक तीव्रता से घूमता रहा। पंजाब की तीन देशी रियासतों के राजाओं को फांसी दे दी गई। बहादुरशाह को बंदी बनाकर देश से निर्वासित करते हुए आजीवन कारावास के लिए रंगून भेज दिया गया। 1863 में वहीं उसका देहान्त हो गया। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेज़ जनरल ह्यूरोज़ का अत्यन्त वीरता से सामना किया, किन्तु किसी विश्वासघाती देशद्रोही ने धन के प्रलोभन से झांसी के दुर्ग का एक द्वार खोलकर अंग्रेज़ी सेना को प्रवेश दे दिया। लक्ष्मीबाई लड़ते हुए झांसी से निकलकर कालपी पहुँची। इस स्थल पर अनेक क्रांतिकारी—तांत्या टोपे, बांदा नरेश, शाहगढ़ नरेश—आदि एकत्र थे। ग्वालियर का शासक जयाजी राव सिंधिया अंग्रेज़ों से मिल गया था। अतः लक्ष्मीबाई ने पहले ग्वालियर पर अधिकार किया। जनरल ह्यूरोज़ उसका पीछा कर ही रहा था। उसकी विशाल और सुसज्जित सेना से अदम्य साहसपूर्वक लड़ती हुई इस भारतीय वीरांगना ने 18 जून, 1858 को वीरगति प्राप्त की। अब इस संग्राम का अंतिम सिपाही रह गया था—तांत्या टोपे। किन्तु अंग्रेज़ी सेना निरंतर उसका भी पीछा कर रही थी। वह किसी प्रकार नर्मदा तट पर, फिर नागपुर और फिर बड़ौदा पहुँचा। कहीं से उसे सहायता नहीं मिली। अंत में, अलवर के निकट ग्वालियर के किसी मानसिंह नामक व्यक्ति ने तांत्या टोपे को आधी रात के समय विश्वासघातपूर्वक पकड़ लिया और अंग्रेज़ों के हवाले कर दिया। अंग्रेज़ों ने इस महान देशभक्त को 18 अप्रैल, 1859 को फाँसी दे दी। इस प्रकार 1857 के स्वाधीनता संग्राम का यह अंतिम दीपक भी बुझ गया, किन्तु उसकी ज्योति अमर रही और भारत के स्वातंत्र्य आंदोलन के मार्ग को आलोकित करती रही।

1857 की इस स्वाधीनता क्रांति के विषय में अनेक प्रसिद्ध देशी-विदेशी इतिहासवेताओं ने अपने मत व्यक्त किए हैं। डॉ. ईश्वरी प्रसाद का मत है, "यह एक सुनियोजित क्रांति थी। विद्रोह के नेता बहुत समय से इसको पूरा करने में लगे थे, और निःस्वार्थ देशभक्तों का एक समूह देश के कोने-कोने में इसकी अलख जगा रहा था, जिन्हें अपने देश की

स्वाधीनता से अधिक प्रिय कुछ न था।" डॉ. के.एम. पणिक्कर ने भी बड़े मार्मिक विचार व्यक्त किए हैं, "एक राष्ट्रीय आंदोलन की कसौटी यह है कि उसका उद्देश्य देश की स्वाधीनता प्राप्त करना है या नहीं। विद्रोह का लक्ष्य था कि अंग्रेजों को बाहर निकाला जाए और भारत को पुनः स्वाधीन किया जाए। विद्रोह के नेताओं ने जिस स्वाधीनता की कल्पना की थी, चाहे उससे फूट तथा अराजकता की पुरानी स्थितियाँ उत्पन्न होतीं किन्तु इस तथ्य को नहीं नकारा जा सकता कि यह स्वाधीनता का आंदोलन था और इस अर्थ में राष्ट्रीय संघर्ष था। यह आंदोलन इस अर्थ में भी राष्ट्रीय था कि उसने साम्प्रदायिक भावना को पार किया। इसमें हिंदू-मुसलमानों ने मिल-जुलकर कार्य किया।" इस विद्रोह को विदेशी विद्वान चार्ल्स बॉल का मत भी एक व्यापक जन-आंदोलन सिद्ध करता है। वे कहते हैं, "विद्रोहियों को जनता की सहानुभूति से अकल्पनीय बल तथा उत्साह की प्राप्ति हुई। वे लोग रसद पहुँचाने वालों के बिना ही आगे कूच कर सकते थे, क्योंकि लोग सदा उन्हें खिलाते-पिलाते थे। उन्हें अपनी तथा अंग्रेज़ों की स्थिति की निरंतर जानकारी रहती थी, क्योंकि लोग लगातार उन्हें सब सूचनाएँ देते रहते थे।"

1857 की यह स्वाधीनता क्रांति निश्चय ही एक व्यापक जन-आंदोलन था, इसका प्रमाण बहादुरशाह का वह महत्वपूर्ण घोषणा-पत्र है जो उस वर्ष "पयामे आज़ादी" नामक एक समाचार-पत्र में दिल्ली में छपा था "हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान भाइयों, उठो, इंसान की जितनी बरकते हैं, उनमें सबसे कीमती बरकत आज़ादी है, वह ज़ालिम नाकस (अधम, नीच) जिसने गुलामी देकर हमसे यह बरकत छीन ली है, क्या हमेशा के लिए उससे महरूम (वंचित) रख सकता है? नहीं, कभी नहीं। फिरंगियों ने इतने जुल्म (अत्याचार) किए हैं कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज़ (पूरा भरा हुआ) हो चुका है। खुदा अब नहीं चाहता कि तुम खामोश रहो, क्योंकि उसने हिंदुओं और मुसलमानों के दिलों में अंग्रेज़ों को अपने मुल्क से बाहर निकालने की ख्वाहिश (आकांक्षा) पैदा कर दी है। खुदा के फ़ज़ल (कृपा) और तुम लोगों की बहादुरी से अंग्रेज़ों को इतनी कामिल (संपूर्ण) शिकस्त (पराजय) मिलेगी कि हमारे इस मुल्क हिन्दुस्तान में उनका ज़रा भी निशान नहीं रह जाएगा। इस पाक (पवित्र) जंग (युद्ध) में शरीक (सम्मिलित) होने वाले सब भाई हैं, उनमें छोटे-बड़े का कोई फर्क नहीं है। मैं अपने तमाम हिन्द के भाइयों से दरख्वास्त (प्रार्थना) करता हूँ कि खुदा के बताए हुए इस पाक फ़र्ज़ (कर्त्तव्य) को पूरा करने के लिए मैदाने-जंग में कूद पड़ें।" इससे बढ़कर स्वाधीनता के लिए भारतीय जन-मानस की आकांक्षा की अभिव्यक्ति का और क्या प्रमाण हो सकता है। आगामी एक शताब्दी का भारतीय-लक्ष्य अंग्रेज़ों के चंगुल से इस देश को मुक्त कराना ही हो गया। जब बहादुरशाह को अंग्रेज़ हडसन ने बंदी बना लिया और उससे कहा—

"दमदमे में दम नहीं, अब खैर मांगो जान की।
ऐ "जफ़र" बस हो चुकी शमशीर हिन्दुस्तान की।।"

इस कटु उक्ति को सुनकर कवि हृदय, देशभक्त और स्वाधीनता के लिए बलिदान को उत्सुक बहादुरशाह ने जो उद्‌गार प्रकट किया, वह किसी भी राष्ट्र-प्रेमी को सदैव प्रेरणा देता रहेगा—

"हिन्दियों में बू रहेगी, जब तलक इमान की।
तख्ते लन्दन तक चलेगी, तेग़ हिन्दुस्तान की।।"

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने भी अपने सैनिकों से विदेशी सत्ता को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिज्ञा करने को कहा। अतः स्पष्ट है कि इस विद्रोह का लक्ष्य विदेशी शासन का अंत था। स्वतंत्रता सेनानियों का यह लक्ष्य उस समय पूरा नहीं हुआ, यह बात दूसरी है, किन्तु इस क्रांति ने आगामी संघर्ष के लिए आधार भूमि क़ा निर्माण कर दिया।

1857 की इस महान घटना के बाद अंग्रेज़ों ने अपने शासन को भारत में और भी सुदृढ़ बनाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 1858 में एक ऐक्ट पास करके भारत के प्रशासन को ईस्ट इंडिया कंपनी से लेकर इंग्लैंड की सरकार को ही सौंप दिया। तत्कालीन ब्रिटिश सम्राज्ञी विक्टोरिया ने 1858 में एक घोषणा-पत्र द्वारा भारतीय जनता के आक्रोश को शांत करने का फिर कूटनीतिक प्रयास किया। विक्टोरिया ने कहा था—"ईश्वर की कृपा से जब देश में आंतरिक शांति हो जाएगी तो हमारी इच्छा है

कि भारत की सर्वांगीण उन्नति के लिए फिर से यत्न किया जाए हम अपने साम्राज्य की सीमाएँ और अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। किसी व्यक्ति को उसके धर्म के कारण तंग नहीं किया जाएगा और न ही किसी के प्रति पक्षपात किया जाएगा। शासन का संचालन करते और कानून बनाते समय इस देश के पुराने रीति-रिवाज़ों और अधिकारों का भी ध्यान रखा जाएगा। अपराधियों को बिना शर्त क्षमा प्रदान की जाती है। जब ईश्वर की कृपा से शांति स्थापित हो जाएगी तो हम सार्वजनिक हित के कार्यों का विस्तार करेंगे और सारी प्रजा के हित के लिए शासन चलाएंगे। प्रजा की समृद्धि में ही हमारी सुरक्षा है और उसकी कृतज्ञता में ही हमारा गौरव है। इस प्रकार, 1858 से भारत की राजनीतिक स्थिति में एक नया मोड़ आया।

ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा भारतीय प्रशासन के लिए इंडिया काउंसिल बनाई गई और भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) के पद की स्थापना हुई। इंग्लैंड से भारत का प्रशासन संभालने के लिए आने वाले गवर्नर जनरल केवल भारत सचिव के नियंत्रण में थे। भारतीय विधान परिषद् का उन पर कोई नियंत्रण नहीं था। उनकी शक्ति असीमित थी, और वे मनमानी कर सकते थे। किन्तु लॉर्ड मेयो और लार्ड रिपन जेसे कुछ गवर्नर जनरलों ने उदार नीति अपनाई और स्थानीय संस्थाओं से कुछ सीमा तक भारतीयों को संबद्ध करते हुए उन्हें कुछ और अधिकार दिए। 1873 से 1884 तक अनेक ऐक्ट बनाए गए। नगरपालिकाओं में चुनाव द्वारा योग्य प्रतिनिधियों के चयन को प्रोत्साहित किया गया। आगे चलकर स्थानीय संस्थाओं में और अधिक जन-प्रतिनिधित्व तथा सरकारी नियंत्रण को कम करने की नीति अपनाई गई। भारतीय जनता में राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना बढ़ती जा रही थी। किन्तु ब्रिटिश सरकार निरंतर इस ओर भी सजग थी कि भारतीय जनता के मन में उसके लिए रागात्मक भाव उत्पन्न हो। 1883 में इंग्लैंड की जातीय संगीत सभा (नेशनल एन्थम सोसाइटी) ने "गॉड सेव द किंग" गीत का बीस भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराके उसे यथा-समय गवाए जाने का प्रावधान किया। उस समय विक्टोरिया का शासन था। भारतेंदु ने हिंदी में इंग्लैंड के राष्ट्रगीत का यह अनुवाद किया था–

"प्रभु रच्छहु दयाल महरानी।
बहु दिन जिए प्रजा सुखदानी।।
हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी।
सब दिस में तिन की जय होइ।
रहै प्रसन्न सकल भय खोइ।
,राज करै बहु दिन लौ सोइ।
हे प्रभु रच्छहु श्री महरानी।"

राजभक्ति के संस्कार डालने में ऐसे प्रयत्नों का प्रभाव हुआ भी। भारतेंदु के साहित्य में देशभक्ति और तत्कालीन ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति के भाव अनेक स्थलों पर साथ-साथ मिल जाते हैं।

1885 में ए.ओ. ह्यूम के प्रयत्न से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना हुई। प्रारंभ में यह भी एक राजभक्त संस्था थी, जिसका उद्देश्य सामाजिक सुधारों तक सीमित था। किंतु बाद में लॉर्ड डफरिन की प्रेरणा से इसने राजनीतिक क्षेत्र में भी कार्य करना आरंभ कर दिया। कांग्रेस ने एक ऐसी संस्था के रूप में कार्य किया जिसके द्वारा सब वर्गों और धर्मों के भारतीय मिलकर संवैधानिक प्रयासों से सरकार के समक्ष अपनी मांगें रख सकें। 1892 के ऐक्ट से भारतीयों को कुछ अधिकार मिले थे, किन्तु वे नगण्य थे। 1899-1905 की अवधि में लॉर्ड कर्ज़न के कार्यों पर मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। अकालों की रोकथाम, सिंचाई के साधनों में सुधार, कृषि बैंकों में सुधार, विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा का समावेश, प्राचीन स्मारक रक्षा विभाग की स्थापना का स्वागत हुआ, किन्तु उसके भारतीय संस्कृति, सभ्यता, दर्शन, भाषा आदि के प्रति हीनता और उपेक्षा की भावना की तीव्र आलोचना हुई। 1 जनवरी, 1905 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण में उसने पाश्चात्य देशों के चिंतन और सत्य-निष्ठा की तो प्रशंसा की और पौरस्त्य देशों के जीवन दर्शन को कूटनीति और छल-कपटपूर्ण बताया, जबकि मेक्समूलर, मोनियर विलियम्स, रोथ आदि भारतीय सभ्यता, संस्कृति, कला-दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध कर चुके थे। भारतीय मनीषियों में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी

विवेकानंद आदि के द्वारा भारतीयों में स्वाभिमान, राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के भाव पहले ही जाग्रत किए जा चुके थे। कर्ज़न के समय में 1905 ई. में पूर्व और पश्चिम बंगाल के रूप में साम्प्रदायिक आधार पर बंग-विच्छेद हुआ। सर बेम्फ़ाइल्ड ने एक ही बंगला भाषा-भाषी हिन्दू-मुसलमानों में खूब फूट डाली। कालांतर में यही विद्वेष भारत के विभाजन का हेतु बन गया।

## 18.4.2 आर्थिक परिस्थिति

भारत मूलतः एक कृषिजीवी देश है और इसकी अधिकतर जनसंख्या ग्रामवासी है। यद्यपि ब्रिटिश शासन के लगभग दो सौ वर्षों में जनसंख्या के इस अनुपात में अंतर हुआ है, और ग्रामों की ओर से नगरों में आबादी का संक्रमण हुआ है, तथापि अंग्रेज़ी शासन के आरंभोपूर्व ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात और भी अधिक था। भारत के ग्राम आर्थिक रूप में स्वावलम्बी और अपने आप में पूर्ण आर्थिक इकाई थे। वे शताब्दियों से उसी स्थिर और अपरिवर्तित रूप में चले आ रहे थे। इस तथ्य का उल्लेख सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने अपने अनुभव के आधार पर किया है—"भारत के गाँव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएँ वहीं पूरी हो जाती थीं। बाहरी दुनिया से उनका कोई संबंध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश आया, उसके बाद उलट फेर हुआ, हिंदू, पठान, मुगल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े, पर गाँव वैसे के वैसे ही बने रहे।" किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे विपन्न थे या जीवन-यापन के लिए अनिवार्य साधनों से रहित थे। धरती सबकी सम्पत्ति थी जो सब आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। कृषक लोग अन्न उपजाते और ग्राम की अन्न समस्या का समाधान करते थे। कुम्हार, बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, तेली आदि अपने-अपने व्यवसाय से विनियम द्वारा पारस्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इसी प्रकार, भारतीय नगर भी स्वतः पूर्ण आर्थिक इकाई थे। ग्राम और नगरों का आर्थिक दृष्टि से विशेष संबंध न था।

किसी भी देश में नगरों को प्रायः तीन श्रेणियों में देखा जा सकता है: 1) राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर; 2) व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर; और 3) धार्मिक-सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर। भारत में भी नगरों की स्थिति यही रही है। जहाँ ग्रामों में दैनिक उपभोग की सामान्य वस्तुओं का उत्पादन होता था, वहाँ नगरों में सौंदर्य प्रधान बहुमूल्य वस्तुओं का निर्माण होता था। स्वाभाविक रूप से ऐसे पदार्थों का ग्राहण धनी वर्ग था। राजा, नवाब, सामंत, सेठ-साहूकारों में नगरों में श्रेष्ठ हस्तशिल्पियों और कलाकारों द्वारा निर्मित वस्तुओं की खपत होती थी। अनेक प्रकार के रत्न-जड़ित आभूषण, हाथी दाँत पर मीनाकारी किए हुए विविध पदार्थ, सुन्दर रेशमी और बारीक सूती कपड़े आदि इस देश के ऐसे उत्पादन थे, जिनके लिए वह विश्व-विख्यात था। ढाका की अत्यन्त बारीक मलमल अन्य देशों के लिए विस्मय और स्पर्धा की वस्तु थी। भारत उनके लिए सोने की चिड़िया थी। यहाँ की उन्नत हस्तकला से उनकी आंखें चौंधिया गईं। सन् 1600 ई. में लंदन के जिन व्यापारियों को रानी एलिजाबेथ से भारत में व्यापार करने की अनुमति मिली थी, वे भारतीय व्यापार से क्रमशः उठते हुए भारत भूमि का दोहन करने लगे। सूरत, भड़ौंच, अहमदाबाद, आगरा आदि में उनकी फैक्टरियाँ खुल गईं। 1661 से 1683 के बीच चार्ल्स द्वितीय से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को पाँच चार्टर प्राप्त हो चुके थे। अपने व्यापार के माध्यम से अंग्रेज़ों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को चौपट कर शासन को भी हस्तगत कर लिया, जिसकी कल्पना भी उन्होंने पहले नहीं की थी। कंपनी ने अपने सिक्के तक बनाकर चला दिए।

प्रारंभ में कंपनी नील, लाख, चीनी, सूत तथा सूती कपड़ों का व्यापार करती थी, किंतु धीरे-धीरे उसने मिर्च-मसालों, रेशम और रेशमी कपड़ों का व्यापार भी आरंभ कर दिया। इन विदेशी व्यापारियों ने इस देश को अपना हाट-बाज़ार बनाया। यहाँ के उद्योग-धंधों और हस्तशिल्प को नष्ट-भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। संयोगवश जो उद्योग-धंधे बचे रह गए थे, वे भी धीरे-धीरे नई सामाजिक व्यवस्था में दम तोड़ गए। अपने स्वार्थों के लिए इस देश को लूटते और इसके वाणिज्य-व्यापार को नष्ट करते देख भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने ब्रिटिश सरकार के विरोध में "कविवचन सुधा" के मार्च, 1874 के अंक में तीखी टिप्पणी लिखी थी। 1884 ई. में उनकी "नवोदिता हरिश्चन्द्र चंद्रिका" में "नए ज़माने की मुकरी" में अंग्रेज़ों की कूटनीति और शोषण को लक्ष्य करके कहा गया है।

भीतर-भीतर सब रस चूसै ।
हंसि-हंसि के तन मन धन मूसै ।
जाहिर बातन में अति तेज ।
क्यों सखि साजन, नहिं अंगरेज ।।

(अर्थात्, "भीतर ही भीतर सारा रस चूस जाता है । हंसं-हंस कर ही तन-मन-धन चुरा लेता है । ऊपर से प्रकट बातों में बहुत तेज (चतुर) है । क्यों सखी, क्या वह साजन (साजन, पति) है? नहीं, वह अंगरेज है।" )

भारतीय मनीषियों और राजनीतिज्ञों को ब्रिटिश शासन काल में हो रही इस देश की आर्थिक अवनति, स्थानीय उद्योग-धंधों के नाश और अपने कला-कौशल के ह्रास से बड़ा क्लेश होता था, वे साहित्य आदि के माध्यम से उसे व्यक्त करते थे। भारतेंदु और उनके समकालीन लेखकों ने अनेकशः इस विदेशी आर्थिक शोषण, करों के असहय भार, जनता की समस्याओं की घोर उपेक्षा से पड़ने वाले अकालों और फिर महामारियों आदि का उल्लेख किया है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटक भारत दुर्दशा (रचनाकाल 1875) में ब्रिटिश शासन में भौतिक सुविधाओं (रेल, डाक-तार, सड़क आदि) को "सुख साज" बताते हुए भी उसके आर्थिक शोषण, टैक्स-पीड़न आदि का मार्मिक उल्लेख है:

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई ।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।
अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ।।
ताहू पै महंगी, काल, रोग बिस्तारी ।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री ।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफ़त आई ।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई ।।"

ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापार नीत केवल अपने आर्थिक लाभ की दृष्टि से प्रवर्तित थी। 17वीं शती के अंतिम और 18वीं शती के प्रथम चरण में स्वयं मूल इंग्लैंड के स्थानीय व्यापारियों ने कंपनी की व्यापार नीति से होने वाली हानि पर घोर आपत्ति की थी। भारत में निर्मित वस्तुएँ इतनी लोकप्रिय थीं कि उनके अनुपात में इंग्लैंड में बनी वस्तुएँ कठिनाई से बिकती थीं। शोषण और दमन के बावजूद 1800 ई. तक भी भारतीय उद्योग-धंधे काफी उन्नत थे। किंतु कंपनी लोभवश भारतीय व्यापार में निरंतर हस्तक्षेप करती जा रही थी। 1772 में ही विलियम बोल्ट्स ने लिखा था कि "कंपनी के अंग्रेज़ व्यापारी अपने निश्चित किए हुए मूल्य कार कारीगरों को अपना सामान बेचने पर विवश करते हैं। कंपनी के गुमाश्ते (अभिकर्ता, एजेंट) जिस पत्र पर चाहते हैं, कारीगरों के हस्ताक्षर करा लेते हैं। फलस्वरूप भारतीय कारीगर अपने उद्योग-धंधे छोड़ बैठे। भारत में बुने हुए कपड़ों पर 1813 में 70-80 प्रतिशत चुंगी कर लगाकर वस्त्र व्यापार को नष्ट प्रायः कर दिया।"

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इंग्लैंड में कच्चे माल की बहुत माँग बढ़ी। पराधीनता की इस स्थिति में भारत को अपना बहुत-सा कच्चा माल अंग्रेज़ों को दे देना पड़ता था। इंग्लैंड में उससे उपभोक्ता सामग्री बनने के बाद उसकी खपत के लिए बाज़ार की आवश्यकता होती थी और वह बाज़ार पराधीन भारत था। यहाँ यह विदेशी माल दुगुने-चौगुने मूल्य में बेचा जाता था। विदेशी मुहर लगाकर इस रूपांतरित माल की भारत में इतनी खपत बढ़ी कि जनता ने बंग-भंग पर अपना आक्रोश प्रकट करने के लिए विदेशी माल के बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलन की नीति अपनाई। अनेक विदेशी आक्रान्ता भारत आए। युद्ध भी हुए उनके द्वारा धन-संपदा का अपहरण भी हुआ, किन्तु अंग्रेज़ी शासन में सामंतवादी व्यवस्था के बाद उनकी नई पूंजीवादी व्यवस्था में भारत के उद्योग-धंधों के चौपट होने से जो आर्थिक विपन्नता और व्यापक निर्धनता आई, वह अभूतपूर्व थी। ब्रिटिश शासकों की सहानुभूति भारत के साथ नहीं, अपने देश इंग्लैंड के साथ थी।

1793 में लार्ड कार्नवालिस द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ज़मींदारी प्रथा लाग् किए जाने के बाद सामान्य कृषक और जनता की आर्थिक विपत्तियाँ और बढ़ गईं। कलांतर में

उत्तर भारत, मध्य भारत और महाराष्ट्र के कुछ भागों में भी ज़मींदारी प्रथा आरंभ कर दी गई। 1820 में सर टॉमस मुनरो द्वारा इस्तमरारी बंदोबस्त लागू किए जाने के परिणामस्वरूप भूमि व्यक्तिगत संपत्ति बन गई। इससे मालगुज़ारी, लगान, और उनकी मनमानी दरें बढ़ना, किसानों का महाजनों के चंगुल आदि अनर्थकारी परिणाम सामने आए। 1770 में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। लगभग एक-तिहाई जनसंख्या काल कवलित हो गई, किन्तु भूमि के लगान में वृद्धि फिर भी होती रही। ब्रिटिश कंपनी ने व्यापार ही नहीं, भारत में अपने शासन की स्थापना के लिए जो अनेक युद्ध किए, उनसे यहाँ की अर्थव्यवस्था पर बहुत घातक प्रभाव पड़ा। 1857 की क्रांति के प्रमुख कारणों में से एक कारण देश का अर्थ-संकट भी था, जिसके बहुत कुछ उत्तरदायी अंग्रेज़ व्यापारी थे। कंपनी के शासन के बाद सीधे इंग्लैंड के क्राउन के शासन में आने पर भी इस देश की आर्थिक स्थिति में निरंतर ह्रास ही हुआ। अकालों की एक लंबी शृंखला ही शुरू हो गई। 1860 में पश्चिमोत्तर प्रांत में, 1866-67 ई. में कलकत्ता, उड़ीसा से मद्रास के पूर्व समुद्र तटीय भारत में, 1868-69 ई. में पंजाब, राजस्थान, पश्चिमोत्तर प्रांत में, 1873 में बिहार में अकाल पड़ा। 1876-78 ई. तक प्रायः सभी प्रदेश अकाल की छाया में रहे और 1886-97 में पश्चिमोत्तर प्रांत, पंजाब, अवध, बिहार, बरार, मद्रास और बंबई, अकाल की विभीषिका से गुज़रे। 1891 में आँकड़े लिए गए थे कि देश की 61 प्रतिशत जनता खेती पर आश्रित है, तथापि ब्रिटिश सरकार ने कृषि की उपज बढ़ाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

ई. 1896 से 1911 तक की अवधि देश के लिए बड़ी विपत्ति पूर्ण रही। देश के अनेक भागों में चूहों से फैलने वाली व्याधि "प्लेग" का प्रकोप और अकाल का प्राणांतक संकट छा गया था। ब्रिटिश सरकार की शिथिलता ने जनता के मन में घोर आक्रोश भर दिया और सरकार की बड़ी निंदा की गई। अंग्रेज़ों की नई जटिल अर्थव्यवस्था में न्याय दुर्लभ हो गया। ग्राम पंचायतों का स्थान बड़ी कचहरियों ने ले लिया।

इस आर्थिक परिस्थिति का एक दूसरा पक्ष भी रहा। भारतीय समाज को इन परिस्थितियों से गुज़रने के कारण सहज रूप से विकास की दिशा प्राप्त हुई। डॉ. नगेन्द्र का यह मत सुविचारित ही है कि "बहुत से शहरी उद्योग भी अंग्रेजों की कृपा से काल कवलित हो गए। फिर भी पुरानी अर्थव्यवस्था के स्थान पर जिस नई अर्थव्यवस्था को लागू किया गया, उससे अनजाने ही ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय समाज विकास की ओर अग्रसर हुआ। गाँवों की जड़ता टूटी। गाँव दूसरे गाँवों और शहर के संपर्क में आने के लिए बाध्य हुए। घेरे में बंधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुखी हो चली। जो देश केवल धार्मिक एकता में बंधा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा। दूसरी ओर, जाति प्रथा आर्थिक वर्गों में बदलने लगी। उच्च वर्ग और श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त एक नए मध्य वर्ग का उदय हुआ। इस देश में, इस वर्ग की भूमिका ही सबसे अधिक क्रांतिकारी कही जाएगी।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 442)। अब हम थोड़ा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों को देखें।

### 18.4.3 सामाजिक परिस्थिति

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय समाज का जो रूप था, वह उसने हज़ारों वर्षों की अपनी समन्वय-प्रधान संस्कृति से प्राप्त किया था। प्राचीन भारतीय साहित्य से पता चलता है कि भारत ने अपने उदार चिंतन से किरात, हूण, आन्ध्र पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस, पारसीक आदि जातियों को आत्मसात् कर लिया था। भारतीय समाज के स्वरूप में जो कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन प्रभाव आगे चलकर दिखाई दिया, वह 8वीं शती में इस्लाम के प्रवेश से हुआ था। किन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, ईसाई धर्मावलम्बी पाश्चात्य जातियाँ आधुनिक विज्ञान और उसके उपकरण लेकर भारत में आईं। साथ ही, उनकी भाषा भी भौतिक ज्ञान, और भौतिक समृद्धि का आकर्षक वाहन बनकर इस समाज के सामने खड़ी थी। यह धर्म और अध्यात्मक प्रधान भारतीय समाज के लिए एक नितांत नया अनुभव था। एक नया झटका मानो इस शांत, स्थिर और शनैः गतिशील समाज को लगा, जिसने इसके चिंतन और जीव पद्धति को काफी व्यापकता और गहराई से प्रभावित किया।

अंग्रेज़ी राज्य पूर्णतया स्थापित हो चुका था। मेकाले जैसे कूटनीतिज्ञों का विचार था कि यदि

इस देश में अंग्रेज़ी भाषा छा जाएगी तो अंग्रेज़ी शासकों की सब समस्याएँ हल हो जाएँगीं और वे अपने मंतव्यों में पूर्णतया सफल हो जाएंगे। विलियम बेंटिक की काउंसिल के दो सदस्यों—विल्सन और मैकाले—में भारतीय समाज को शिक्षित करने के माध्यम और पाठ्य-सामग्री के संबंध में मतभेद था। विल्सन संस्कृत और भारतीय भाषाओं के माध्यम और पाठ्य-सामग्री का पक्षधर था, और मैकाले (भारत आगमन 1834 ई.) अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम और अंग्रेज़ी साहित्य का हामी थी। अंततोगत्वा मैकाले की दूरदर्शिनी कूटनीति सफल हुई। ब्रिटिश सरकार को अपना सारा कामकाज चलाने के लिए सस्ते क्लर्कों की आवश्यकता थी ही, उसने भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा देना और कंपनी में छोटी-मोटी नौकरी देना आरंभ कर दिया। अंग्रेज़ों की इस शिक्षा नीति का उद्देश्य यह भी था कि अंग्रेज़ी शिक्षा से भारतीय जनता अंग्रेज़ी वस्तुओं का प्रयोग करने की अभ्यस्त हो जाएगी, जिससे अंग्रेज़ी माल इस देश में अधिक खपने लगेगा। अंग्रेज़ अपने इस उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए। 1873 के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटेन की सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक लाख रुपया वार्षिक भारतीय जनता में शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के लिए व्यय करने का आदेश दिया। अंग्रेज़ों ने यह नीति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपनाई थी। किन्तु इस पाश्चात्य शिक्षा से अनेक भारतीय मनीषियों में उलटे अपने प्राचीन पौरस्त्य ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, संस्कृति और अध्यात्म दर्शन के प्रति आदर और राष्ट्र-प्रेम की भावना जागृत हुई। अनेक पाश्चात्य विद्वान भारतीय सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और दर्शन की श्रेष्ठता का लोहा पहले ही मान चुके थे। भारतीयों को मैक्समूलर, सर विलियम जोन्स, मोवियर विलियम्स जैसे ज्ञान पिपासु पाश्चात्य विद्वानों की कृतियों के अध्ययन से भी अपनी राष्ट्रीय महत्ता का भान हुआ। अंग्रेज़ व्यापारियों तक में कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने भारतीय भाषाओं, साहित्य, दर्शन, कलाओं आदि में गहरी रुचि ली और उनका अच्छा अध्ययन किया। एक निष्पक्ष अंग्रेज़ विद्वान जेम्स जीन्स का मत इस संबंध में उल्लेखनीय है। वे कहते हैं, "जब हमारे पूर्वज पशुओं का शिकार और एक-दूसरे की हत्या करते रहते थे तब भारत में परिपक्व दर्शन ग्रंथ रचे जा चुके थे। कला, कविता, साहित्य, सभी दिशाओं में वह इंग्लैंड से आगे था।" (वकील, एजुकेशन इन इंडिया, पृष्ठ 1, आधुनिक काल) जॉन मार्शल ने बहुत पहले (1672 ई. में) भारतीय संस्कृति और भाषा पर "नोट्स एण्ड ऑब्ज़रवेशंस ऑन ईस्ट इंडिया" नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था। हिस्टिंग्ज के समय काशी में संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई। कलकत्ता में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से विलियम जोन्स ने भारतीयता के समग्र पक्षों को उजागर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम और जयदेव के गीत गोविन्द का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर पाश्चात्य जगत् से भारतीय कारयित्री प्रतिभा का परिचय कराया। 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से हिंदी के व्यापक प्रचार का कार्य सम्पन्न हुआ। अनेक अंग्रेज़ विधा प्रेमियों ने हिंदी सीखी। विलियम कैरे आदि ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिंदी आदि भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। इससे हिंदी की नई गद्य शैली का विकास हुआ। 1817 ई. में कलकत्ता बुक सोसाइटी" की स्थापना हुई, जिसके द्वारा संस्कृत तथा देशी भाषाओं की पुस्तकें प्रकाशित होती थीं। 1838 ई. में रोज़ेन के सम्पादन में ऋग्वेद के आठ भाग प्रकाशित हुए। रूगे राथ का वैदिक इतिहास और मैक्समूलर के ऋग्वेद पर छह विशाल ग्रंथ प्रकाशित हुए। मैक्समूलर की आस्था थी कि समस्त ज्ञान का आदि स्रोत भारत ही है। 1857 के उपरांत प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्वेषण का कार्य व्यवस्थित रूप से प्रारंभ हो गया। कनिंघम ने भारतीय पुरातत्व विभाग की स्थापना के द्वारा इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। दूसरी ओर, भारतीय मनीषी आधुनिक राष्ट्रीय भावों के लिए बर्क, मिल, मैकाले, लॉक, हर्बर्ट स्पेंसर, मिल्टन आदि पाश्चात्य विचारकों और साहित्यकारों से प्रभावित हुए।

**बोध प्रश्न 2**

1) आधुनिक युग की राजनीतिक परिस्थितियों को लगभग पन्द्रह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम क्या था ? उसके कारण स्पष्ट करते हुए लगभग दस पंक्तियाँ लिखिए।

3) आधुनिक युग की आर्थिक परिस्थितियों को लगभग दस-बारह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

4) आधुनिक युग में अंग्रेज़ों की आर्थिक व्यवस्था से हो रहे शोषण को भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने कविता के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। कोई एक उदाहरण देकर लगभग दस पंक्तियों में उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

5) आधुनिक युग की सामाजिक परिस्थितियों पर पन्द्रह पंक्तियाँ लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 18.4.4 धार्मिक परिस्थिति

अंग्रेज़ी शासन का आधिपत्य भारत में हिंदू धर्म के ह्रास का कारण भी बना। तत्व ज्ञान की समर्थता का भंडार माना जाने वाला वह हिंदू धर्म जिसके आगे पूरा संसार सर झुकाता था, धीरे-धीरे अपने गौरव को खोने लगा। धर्मवेत्ता-ब्राह्मणों ने तत्व ज्ञान की शिक्षा देने के स्थान पर दान लेने में ही अपने कर्तव्य की पूर्ति मान ली थी। अशिक्षित भारतीय जनता अब अंध-परंपराओं के आगे नत-मस्तक होने लगी थी। सती-प्रथा, बाल-हत्या तथा नर-बलि आदि अब धर्म-सम्मत हो गए थे।

अंग्रेज़ों के साथ ईसाई मिशनरी भी भारत आए थे। अतः सनातन हिंदू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म तथा सिक्ख सम्प्रदाय आदि के साथ-साथ अब ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु भी हर प्रकार के हथकंडे अपनाए जाने लगे थे। हिंदू सनातन धर्म के कर्मकांड से तंग आकर बहुत से हिन्दुओं ने ईसाई धर्म अपनाना प्रारंभ कर दिया था। ईसाई मिशनरियों के धार्मिक प्रचार का लक्ष्य भी हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर आक्रमण करके उनमें हीनता की भावना भरना था। ईसाई मिशनरियों को इसी उद्देश्य के लिए अपार धनराशि भी दी जाती थी।

अंग्रेज़ी सरकार ऊपर से तो सभी धर्मों को समान अधिकार देने की बात करती रही, परन्तु वास्तविकता यह नहीं था। जैन तथा बौद्ध धर्म तो यों भी अपना प्रभाव पहले ही कम कर चुके थे। धीरे-धीरे आधुनिक युग में आस्तिकता भी कम होती गई और नास्तिकता की विचारधारा फैलती गई। नीत्शे का यह वाक्य–"ईश्वर मर चुका है" चारों तरफ प्रसार करने लगा था। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता धीरे-धीरे व्याप्त होने लगी थी।

आगे चलकर ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकिशन मिशन तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी आदि की धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारधाराओं ने आधुनिक साहित्य एवं भाषा को पर्याप्त प्रभावित किया। इनके प्रभाव से ईसाई या मुसलमान बने बहुत से हिन्दू धर्मावलम्बी पुनः हिन्दू धर्म में लौट आए। अब हिन्दू धर्म के पुनरूद्धार की चेष्टाएँ भी होने लगी थीं। तांत्रिक मत की प्रबलता के लिए नरमांस द्वारा हो रही देवी चण्डिका, चामुण्डा या काली की उपासना पर भी रोक लगी। बालकों की बलि को भी रोका गया। कन्या-वध को वर्जित ठहराया गया। स्वयं हिन्दू समाज भी अब धर्मान्धता के विरोध में छटपटाने लगा था। सन् 1893 में रामकृष्ण परमहंस तथा उनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द विश्व धर्म संसद में भाग लेने के लिए शिकागो (अमेरिका) गए और भारतीय आध्यात्मिकता की धाक पूरे विश्व में जम गई। इस नवजात चेतना के कारण हिन्दू धर्म की उन्नति और उसमें विश्व श्रेष्ठ आत्म-गौरव को पुनर्जीवित करने के लिए अनेक महान व्यक्ति अपने जीवन का उत्सर्ग करने में जुट गए। अतः आधुनिक काल में जो हिंदी साहित्य लिखा गया, उस पर विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदाय का प्रभाव भी काफी रहा। धर्म-दर्शन तथा उनकी चेतना का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव भारतेंदु युग से आज तक के साहित्य में देखा भी जा सकता है।

### 18.4.5 सांस्कृतिक परिस्थिति

किसी भी साहित्य और सभ्यता में सांस्कृतिक मूल्यों की अंतर चेतना को देखा जा सकता है। आधुनिक युग के इस परिवेश में ब्रिटिश जाति के भारत में सत्तारूढ़ हो जाने के परिणामस्वरूप भारतीय एवं योरोपीय संस्कृति के संघर्ष को देखा जा सकता है। ब्रिटिश शासन की राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक व्यवस्था का प्रभाव भारत की परिस्थिति और भावनाओं पर तो पड़ ही रहा था, भारतीय मनःस्थिति पर भी गहराता जा रहा था। आरंभ में भारतीय संस्कृति ने सर्वोपरि होने का दंभ भरते हुए इस पाश्चात्य संस्कृति के सभी पक्षों का विरोध किया, किन्तु वह कारगर न हो सका। भारतीय संस्कृति की सहज प्राणशक्ति ने समय की अपेक्षा को पहचानते हुए स्वयं को परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल ढाल लिया। सामंजस्यप्रियता का परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम, नवीनता और प्राचीन तथा परंपरा और बौद्धिक-वैचारिक आधुनिकता ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, वेद समाज, देव समाज, आर्य समाज तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के रूप में उभरकर सामने आने लगी। हमने आध्यात्मिकता के क्षेत्र में तो स्वयं को समृद्ध माना परन्तु इतिहास, समाज सुधार, राजतंत्र, विज्ञान, उद्योग, अर्थ-नीति तथा शिक्षा आदि क्षेत्रों में हम यारोपीय संस्कृति की ओर झुके नहीं, धीरे-धीरे रंगते भी चले गए।

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि भारतीय सामंतीय संस्कृति समाप्त होने लगी तथा औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात होता चला गया। परिणामतः राष्ट्रीयता को भी बढ़ावा मिलने लगा। श्रमिक वर्ग संघटित हो गया। राजनीति में अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा मध्यवर्गीय भारतीय भी उतर गया। अंग्रेज़ों का, उनके शासन का गुणगान होने लगा। परन्तु अंग्रेज़ों की यह प्रशंसा अधिक देर न चल सकी। कांग्रेस पार्टी के सामने आते ही आंदोलनवादी नीति प्रमुख हो गई और राष्ट्रीय चेतना प्रसार पाने लगी। गांधी जी के राजनीति में आते ही सत्य और अहिंसा की संस्कृति प्रसार पाने लगी। धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी स्थापित हुए। परिणामतः "विश्व कुटुम्बकम" भावना का प्रसार हुआ। मानवतावाद का उदय तथा साम्राज्यवाद का विरोध भी खुलकर होने लगा था। अतः सांस्कृतिक जागरण की दृष्टि से भी यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण युग कहा जा सकता है। अतीत के माध्यम से वर्तमान समस्याओं को, पुराख्यानों, पुरासंदर्भों तथा ऐतिहासिक पात्रों या चरित्रों का गुणगान साहित्य में भी होने लगा। सांस्कृतिक चेतना साहित्य में ढलने लगी। परस्पर आदान-प्रदान से संस्कृति का स्वरूप बदला अवश्य, परन्तु उसके मूलभूत मूल्यों से जनतांत्रिक भावनाओं को विकास ही मिलता रहा।

## 18.5 साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाएँ

आधुनिक काल की इन परिस्थितियों और गतिविधियों ने युगीन साहित्य, संगीत, भाषा तथा

चित्रकला आदि को भी प्रभावित किया। रीतिकाल में इन सभी को दरबारों में आश्रय और प्रश्रय मिल रहा था, किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के बाद सामंतवादी ढाँचा टूटा और इन कलाओं के दरबारी आश्रय भी छिन गए। कला, संगीत और नृत्य आदि को घरानों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संरक्षण मिला करता था। इस युग में वह धीरे-धीरे कम होता चला गया। पाश्चात्य संस्कृति की आंधी ने भारतीय कलाओं के स्वरूप को बदला। संगीत के क्षेत्र में एक नई पद्धति का आविर्भाव "रवीन्द्र संगीत" के नाम से हुआ, जिसमें पूर्व और पश्चिम की संगीत-शैली का मिश्रण था। चित्रकला पर भी पश्चिमी प्रभाव बढ़ता गया। पश्चिमी ढंग के तैल-चित्रों का निर्माण इस अभिव्यक्ति का प्रमाण बना। पत्र-पत्रिकाओं में ये सामंजस्यमयी-संस्कृति के सूचक चित्र छपने लगे थे। आगे चलकर हैबेल, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तथा आनंद कुमार स्वामी आदि ने भारतीय चित्र शैली को आधुनिक जीवन दृष्टि से अनुशासित करते हुए एक नया रूप प्रदान किया। बंगाल ने इस दिशा में तो प्रमुख भूमिका निभाई ही, साहित्य की अनेक विधाओं में भी आधुनिक जीवन के नवजागरण की मुखर अभिव्यक्ति देखने को मिली। हिंदी भाषा और साहित्य को भी इसी प्रेरणा से नई दिशा प्राप्त हुई। मुद्रणकला की आधुनिक दृष्टि से इस युग का साहित्य तेजी से तथा नए-नए रूप-रंग में आगे बढ़ा। साहित्यकारों ने अतीत को भी सामने रखकर अपने को गौरवान्वित महसूस करना प्रारंभ किया। देश में उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना को भी साहित्य से स्वर प्राप्त हुआ। देश की सभी भाषाओं में साहित्य का वैविध्य तथा जागरण की चेतना देखी जा सकती है। मुद्रणालयों ने साहित्य को जन-जन तक तो पहुँचाया ही, देश को एक सूत्र में बांधने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई। देश में नवजागरण लाने वाले समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा मुद्रणालयों की इस भूमिका को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

उस समय सरकारी कार्यालयों, अदालतों तथा शिक्षा संस्थाओं में उर्दू भाषा का आधिपत्य था। फलतः हिंदी भाषा जन-समूह तथा विभिन्न बोलियों के बीच संपर्क माध्यम के रूप में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने, उर्दू के स्थान पर नागरी लिपि में खड़ी बोली हिंदी को हिंदी भाषी जनता के नवजागरण का सांस्कृतिक माध्यम बनाने और सरकारी स्तर पर हिंदी को यथायोग्य स्थान दिलाने का जो संघर्ष उस समय हुआ, उसमें आधुनिक बोध की तथा अधुनातन-चेतना की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1868 ई. से ही आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य का प्रवर्त्तन हुआ और यहीं से साहित्यिक पत्रिका "कवि-वचन-सुधा" की शुरुआत भी। इसके बाद "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका", "सरस्वती", तथा "मतवाला" आदि पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं। यों सन् 1802 ई. में कलकत्ता के हरकारू प्रेस, गजट प्रेस तथा मिरर प्रेस से मर्सिया, सिंहासन बत्तीसी, माधोनल, शकुन्तला नाटक तथा बैताल पचीसी का हिंदी में प्रकाशन हो चुका था। अतः खड़ी बोली हिंदी साहित्य के इतिहास में यह ऐतिहासिक वर्ष ही था। इसके बाद तो "लल्लू जी लाल कवि" द्वारा किया गया खड़ी बोली रूपांतरण "प्रेम सागर" प्रकाशित हुआ। फिर पंडित सदल मिश्र ने "नसीके तो पाख्यान" तथा "रामचरित" नामक ग्रंथों में प्रयुक्त राजभाषा सामने आई। तदोपरांत मुंशी सदासुख लाल का "सुख सागर" नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार इंशा अल्ला खाँ की रचना "रानी केतकी की कहानी" भी आधुनिक खड़ी बोली गद्य के इतिहास में महत्वपूर्ण रचना के रूप में जानी गई। मिशनरियों द्वारा बाइबिल के अनुवाद किए गए। राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द का आविर्भाव भी हिंदी खड़ी बोली गद्य के विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण माना गया। इसी प्रकार, राज लक्ष्मण सिंह की रससिद्ध गद्य शैली तथा नवीन चन्द्र राय की गद्य शैली भी आधुनिक हिंदी साहित्य एवं भाषा के विकास की सूचक बनी।

अतः आधुनिक युग की विभिन्न परिस्थितियों ने साहित्यकार, कलाकार तथा चित्रकार आदि को तो प्रभावित किया ही, साहित्य की विभिन्न विधाओं, भाषाओं, शैलियों तथा माध्यमों को भी प्रभावित किया। नवीन शिक्षा प्रणालियाँ, पाठ्य-पुस्तकें, समाचार-पत्र, लेखन-पठन-सामग्री सभी का गद्य एवं पद्य में लेखन सृजन हुआ। पत्रकारिता के विकास ने भी गद्य लेखन को प्रोत्साहित किया। परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि इस युग में काव्य सृजन हुआ ही नहीं या बहुत कम हुआ। काव्य की दृष्टि से इस युग के इतिहास एवं विकास के सोपानों को देखें तो वे इस प्रकार हैं: भारतेंदु युगीन काव्य, महावीर प्रसाद द्विवेदी युगीन काव्य, छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवादी काव्य, नई कविता, साठोत्तरी कविता, अकविता तथा विचार कविता आदि। इसी प्रकार, गद्य के विकास को विभिन्न

साहित्य रूपों में देखें तो बहुत सी विधाएँ उपलब्ध होती हैं—नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, निबंध, समालोचना, गद्यकाव्य, जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र-साहित्य, भेंटवार्ता, इंटरव्यू, अनुवाद तथा रिपोर्ताज आदि। आगे की इकाइयों और खंडों में आप इनकी समीक्षा भी कर सकेंगे।

अतः आधुनिक युग के हिंदी साहित्य, भाषा, संगीत, चित्र तथा अन्य कलाओं पर भी पश्चिमीकरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कई गद्य विधाएँ विदेशी "फ्रेम" पर तैयार हुईं। भाषा पर, मुहावरों पर, संस्कृति पर, मानसिकता पर, विषय-वैविध्य पर इस विदेशी प्रभाव को देखा जा सकता है। परन्तु यह मात्रा विदेशी अथवा पश्चिम का अंधानुकरण नहीं। यह मिश्रित संस्कृति का सूचक है। वैज्ञानिक दृष्टि का वाचक है। यह आधुनिक युग की आधुनिकता का परिणाम है।

## 18.6 राष्ट्रीय चेतना का विकास

आधुनिक युग के दौरान 1857 की क्रांति की चर्चा हम राजनीतिक परिस्थितियों के अंतर्गत कर चुके हैं। किंतु यहाँ आधुनिक युग में प्रचार-प्रसार पा रही राष्ट्रीय चेतना की संक्षिप्त समीक्षा कर लेना भी अनुचित न होगा। इस युग में स्वतंत्रता के लिए तन-मन-धन से समर्पित रहने तथा देश के लिए प्राणोत्सर्ग करने की भावना पूरी तरह ज़ोर पकड़ती जा रही थी। राष्ट्रीय चेतना ने लोगों को इस सीमा तक जागृत कर दिया था कि वे स्वतंत्रता के लिए कुछ भी न्यौछावर करने को तैयार थे। इसी राष्ट्रीय चेतना ने देश को सांस्कृतिक प्रगति की पृष्ठभूमि भी प्रदान की। अलग-अलग जाति और धर्म के लोगों ने संकीर्णता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय एकता की दिशा में सोचना प्रारंभ कर दिया था। परिणामतः धीरे-धीरे धर्म और जाति गौण होते जा रहे थे तथा राष्ट्रीय हित सर्वोपरि होता जा रहा था। 19वीं शताब्दी के अंतिम भाग तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में पाश्चात्य संस्कृति, के प्रति भारतीय जनता का विशेष लगाव था, परन्तु धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृति, विदेशी भाषा, विदेशी सामग्री आदि के अंधानुकरण के प्रति विचारकों और लेखकों का क्षोभ लक्षित होने लगा था। प्राचीन भारतीय संस्कृति पुनः मुखर होकर साहित्य में स्थान पाने लगी थी।

20वीं शताब्दी के दूसरे दशक से तो राष्ट्रीय भावना में प्रगति और व्यापकता स्पष्टतः देखी जाने लगी। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार होने लगा। राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर सांस्कृतिक मनोदृष्टि का नवोन्मेष प्रारंभ हुआ। अपनी संस्कृति के प्रति मोह तथा प्रबल आकर्षण देखने को मिलने लगा और अंग्रेज़ियत का विरोध प्रारंभ हो गया। भारतीय संस्कृति के प्रति समादार भाव उभरने लगा। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, पंत, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा नवीन तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि साहित्यकारों के सृजन-संसार में इस चेतना को सहज ही देखा जा सकता है।

आगे चलकर धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृति के प्रति वैज्ञानिक मनोदृष्टि का उदय और उसके प्रति प्रबल आग्रह भी देखने को मिलने लगा। सांस्कृतिक जागरण तथा वैज्ञानिक प्रबुद्धता का यह अद्‌भुत मिश्रण स्वाभाविक रूप में सामने आया। आज़ादी से पहले की चेतना ने राजनीतिक दासता के विरोध में हमें संस्कृति के प्रति उन्मुख किया तो आज़ादी के बाद की चेतना ने सांस्कृतिक मनोभावों की दिशा बदलने पर वैज्ञानिकता और बौद्धिकता की दिशा में आगे बढ़ाया। बौद्धिकता और वैज्ञानिकता की इसी अतिशयता ने यथार्थवाद, प्रगतिवाद तथा मानवतावाद को पुष्ट किया। पाश्चात्य जीवन प्रणाली का मोह बढ़ने लगा। परिणामतः लक्ष्य रहा समन्वयात्मक वैज्ञानिकता और बौद्धिकता की ओर अग्रसर होने का। पाश्चात्य संस्कृति की अच्छाइयों को अपनाने का। भारतीय संस्कृति एवं स्वाभिमान को तिलांजलि देकर पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण का लक्ष्य कदापि नहीं रहा।

**बोध प्रश्न 3**

1) नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। उनकी पुष्टि के लिए तीन-तीन विकल्प भी दिए गए हैं। सही विकल्प को (✓) चिन्हित कीजिए:

   i) सन् 1757/1764/1707 ई. में बक्सर का युद्ध जीतकर अंग्रेज़ों ने एक निर्णायक विजय हासिल की।

   ii) सन् 1849/1856/1823 में महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेज़ों ने पंजाब पर भी अधिकार कर लिया था।

   iii) लार्ड कार्नवालिस/डलहौज़ी/विलियम के समय में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए।

   iv) सन् 1823/1841/1857 में भारतीय जनता ने ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त कर स्वाधीनता हासिल करने की एक सुनियोजित जनक्रांति प्रारंभ की।

   v) महान देशभक्त तांत्या टोपे को अंग्रेज़ों ने सन् 1859/1842/1857 में फांसी दे दी।

2) नीचे दिए कथनों में कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न से स्पष्ट कीजिए:

   i) सन् 1885 में ए.ओ. ह्यूम के प्रयत्न से भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई। [ ]

   ii) सन् 1793 में लार्ड कार्नवालिस द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ज़मींदारी प्रथा लागू किए जाने के बाद सामान्य कृषक और जनता की आर्थिक विपत्तियाँ और बढ़ीं थीं। [ ]

   iii) 1813 के ऐक्ट के अनुसार ब्रिटेन की सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक लाख रुपया वार्षिक भारतीय जनता में शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के लिए व्यय करने का आदेश दिया था। [ ]

   iv) आधुनिक युग के प्रारंभ में मुद्रणालयों ने देश के जन-जागरण में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई। [ ]

   v) भिन्न-भिन्न जाति और धर्मों के लोग आधुनिक युग के प्रारंभ में भी संकीर्णता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय चेतना और एकता की दिशा में न सोच सके थे। [ ]

आधुनिक युग में धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भी उल्लेखनीय परिवर्तन आए। लगभग दस-बारह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) आधुनिक युग में साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाओं की दृष्टि से क्या परिवर्तन आया? लगभग दस पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

5) आधुनिक युग के प्रारंभ में साहित्य, संगीत एवं अन्य कलाओं की क्या स्थिति थी? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

6) आधुनिक युग की परिस्थितियों में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की क्या स्थिति थी? लगभग आठ पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 18.7 सारांश

"आधुनिक युगीन परिस्थितियाँ" विषयक इस इकाई में आपने हिंदी के आधुनिक युगीन साहित्य की पृष्ठभूमि तैयार करने वाली विभिन्न परिस्थितियों का विवेचनात्मक अध्ययन किया। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की समीक्षा करते हुए आपने यह भी जाना कि किन अर्थों में ये स्थितियाँ आधुनिक युग का निर्माण कर

रही थीं तथा आधुनिक हिंदी साहित्य के लिए किन प्रेरक कारणों का निर्माण कर रही थीं। संगीत, साहित्य, भाषा तथा अन्य कलाओं की इस युग के प्रारंभ में क्या स्थिति थी तथा उन्होंने कैसे विकास पाया। साहित्य तथा भाषा का स्वरूप आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में कैसे और क्यों बदला। खड़ी बोली गद्य का स्वरूप तथा विकास क्या रहा और आधुनिक युग के निर्माण में उसकी क्या भूमिका रही। राष्ट्रीय चेतना के स्वर को इस युग में कैसे मुखर किया गया और भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति के सामंजस्य ने वैज्ञानिकता और बौद्धिकता के किन आयामों को दृष्टि में रखकर विकास पाया। विदेशी शासन, पाश्चात्य सभ्यता की गहराती पकड़, अंग्रेज़ों की अर्थनीति, सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक स्थिति के बदलते स्वरूप आदि की आपने गहन विवेचना इस इकाई में की।

इससे पूर्व, प्रारंभ में "आधुनिक युग" के स्वरूप और विकास की विस्तृत चर्चा करते हुए आपने इस युग के नामकरण एवं सीमांकन का भी तर्कसंगत विवेचन किया। अब आगामी इकाइयों में आप इन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक युग के वैचारिक आधार, आधुनिक हिंदी साहित्य के आरंभ, भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युगीन साहित्य का व्यापक अध्ययन कर सकेंगे।

## 18.8 शब्दावली

**सम्प्रति** : वर्तमान समय में

**काल-सापेक्षता** : समय पर आधारित अथवा समय के संदर्भ में

**पुनराख्यान** : पुनः कहना अथवा पुनः वर्णित करना

**लोक-सम्पृक्ति** : जनता से मिल-जुलकर या लोक सम्बद्ध

**आधिपत्य** : प्रभुत्व

**आक्रान्त** : जिस पर हमला किया गया हो, जिस पर कब्ज़ा किया गया हो

**अपदस्थ** : पद से हटाया हुआ, पदच्युत

**विभीषिका** : भय-प्रदर्शन, डरावना

**धर्मावलम्बी** : धर्म को मानने वाला

**धर्मान्धता** : धर्म के प्रति अंधविश्वास या अंधश्रद्धा

## 18.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास**: बच्चन सिंह; लोकभारती प्रकाशन; इलाहाबाद।

**भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास**: संपादक डॉ. नगेन्द्र; हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

**हिन्दी साहित्य का इतिहास**: संपादक डॉ. नगेन्द्र; नेशनल पब्लिशिंग हाउस; दरियागंज, दिल्ली।

**हिन्दी साहित्य का इतिहास**: डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

**आधुनिक हिन्दी साहित्य**: डॉ. ओमप्रकाश सिंहल; पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी, करोल बाग, नई दिल्ली।

## 18.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए, भाग 18.1

2) देखिए, भाग 18.1

3) देखिए, भाग 18.2 और भाग 18.3

4) i) ×
ii) ✓
iii) ✓
iv) ×
v) ✓

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए, भाग 18.4.1

2) देखिए, भाग 18.4.1

3) देखिए, भाग 18.4.2

4) देखिए, भाग 18.4.2

5) देखिए, भाग 18.4.3

**बोध प्रश्न 3**

1) i) सन् 1764
ii) सन् 1849
iii) लार्ड डलहौज़ी
iv) सन् 1857
v) सन् 1859

2) i) ✓
ii) ✓
iii) ✓
iv) ×
v) ×

3) देखिए, भाग 18.4.4 और 18.4.5

4) देखिए, भाग 18.5

5) देखिए, भाग 18.6

# इकाई 19 आधुनिक युग का वैचारिक आधार

## इकाई की रूपरेखा


19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि
  19.2.1 नया आर्थिक ढाँचा
  19.2.2 नयी शिक्षा-प्रणाली
  19.2.3 मुद्रणालयों की भूमिका
  19.2.4 यातायात की स्थिति एवं विकास
19.3 पाश्चात्य जीवन-दृष्टियाँ
  19.3.1 आदर्शवाद
  19.3.2 अभिव्यंजनावाद एवं रूपवाद
  19.3.3 अस्तित्ववाद
  19.3.4 मनोविश्लेषणवाद एव अतियथार्थवाद
  19.3.5 मानवतावादी विचारधारा
  19.3.6 मार्क्सवादी विचारधारा
  19.3.7 समाजवाद एवं साम्यवाद
  19.3.8 प्रतीकवाद और बिम्बवाद
19.4 थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना
19.5 भारतीय जीवन दृष्टियाँ
  19.5.1 ब्रह्म समाज
  19.5.2 प्रार्थना समाज
  19.5.3 रामकृष्ण परमहंस मिशन
  19.5.4 आर्य समाज
  19.5.5 गांधीवादी विचारधारा
  19.5.6 प्रगतिवाद
19.6 वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आदर्शवादी जीवन-दर्शन
19.7 सारांश
19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 19.0 उद्देश्य

हिंदी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के खंड 6 की यह दूसरी इकाई है। इससे पहली इकाई में आप आधुनिक काल की परिस्थितियों का अध्ययन कर चुके हैं। यह इकाई आधुनिक युग की पृष्ठभूमि तथा युगीन विचारधाराओं की पोषक दृष्टियों एवं धारणाओं की समीक्षा करती है। अतः इस इकाई के अध्ययन से आप:

- सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हो रहे वैचारिक एवं व्यावहारिक बदलावों को समझ सकेंगे,
- भारत में अंग्रेज़ों की नई आर्थिक नीति को स्पष्ट कर सकेंगे,
- नई शिक्षा प्रणाली, यातायात के बदलाव तथा मुद्रणालय की जन-जीवन में भूमिका बता सकेंगे,
- पाश्चात्य विचारधाराओं के सूचक आदर्शवाद, अभिव्यंजनावाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद तथा समाजवादी आदि विविध वादों की जीवन दृष्टि को व्याख्यायित कर सकेंगे,
- थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना एवं भूमिका को बता सकेंगे

- भारतीय जीवन दृष्टि के अंतर्गत ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज तथा गांधीवाद आदि के वैचारिक आधार का विवेचन कर सकेंगे, तथा
- आधुनिक युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं आदर्शवादी जीवन-दर्शन को विश्लेशित कर सकेंगे।

## 19.1 प्रस्तावना

भारत में अंग्रेज़ी शासन एक महत्वपूर्ण घटना है। भारत के सामाजिक जीवन में आधुनिक काल में जो चेतना आयी उसका कारण आंग्ल-भारतीय संपर्क है। लार्ड क्लाइव ने 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में पराजित करके सम्पूर्ण बंगाल को अपने अधिकार में कर लिया। 1764 में अंग्रेज़ों ने मुगल सम्राट, आलम शाह को पराजित किया। 1826 में जाट राजा और 1849 में सिक्खों को पराजित किया एवं 1856 में अवध के नवाब वाजिद अली शाह को अपदस्थ करके अंग्रेज़ों ने अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। इस प्रकार संपूर्ण देश पर अंग्रेज़ों का नियंत्रण 1856 तक हो गया। विजय पर विजय पाने के कारण अंग्रेज स्वभावतः मकोन्मत्त हो गये और उनकी नीतियों से असन्तुष्ट होकर देशी राजाओं ने अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर के नेतृत्व में 1857 में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी और सामंतवादी शक्तियों की टकराहट हुई एवं सामंतीय शक्तियों की पराजय हुई। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को समाप्त करके भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बना लिया। इससे भारतीयों को भिन्न सभ्यता और संस्कृति का सामना करना पड़ा तथा ब्रिटिश सरकार ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों को लागू करना आरंभ कर दिया। अब भारतीयों को कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

हिन्दी साहित्य ने पुरानी रूढ़ काव्य परम्पराओं से कुछ मुक्ति पाकर ऐसे क्षेत्र में प्रवेश किया जो नए जीवन की संघर्षपूर्ण हलचलों से भरा हुआ था एवं प्रथम बार वह मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुख के साथ जुड़ा। इसे भारतेन्दु युग कहा गया। आधुनिक जीवन-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम खड़ी बोली बनी।

किसी भी साहित्य का इतिहास बदलती हुई अभिरुचियों एवं संवेदनाओं का इतिहास हुआ करता है। अभिरुचियों और संवेदनाओं के परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध चिन्तनात्मक और आर्थिक परिवर्तन से होता है। आधुनिक काल की वर्तमान प्रक्रिया को समझने के लिए उन समस्त कारणों का विवेचन आवश्यक है जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुए।

इस इकाई में आप इन सब कारणों के मूल में काम कर रही पाश्चात्य एवं जीवन दृष्टियों का विश्लेषण कर सकेंगे कि आधुनिक युग का हिंदी साहित्य इन सब विचारों से कैसे और किस रूप में ऊर्जा ग्रहण करता है। वास्तव में आधुनिक भारतीय साहित्य और विशेषतः हिंदी साहित्य के भीतर की जो वैचारिक एवं जागरणमयी चेतना है उसका श्रेय इन्हीं सब जीवन दृष्टियों को जाता है। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक स्तर पर जो विद्वान चिंतनरत थे तथा जो संस्थाएँ मार्ग-दर्शन के कार्य में दत-चित्त थीं उन सभी का विश्लेषण इस इकाई में किया जा रहा है।

इससे पहले कि इकाई में आप आधुनिक युग की प्रमुख परिस्थितियों का विवेचन कर चुके हैं। पहले आपने यह भी देखा कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ "साहित्य-भूमि" तैयार करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस इकाई में उन परिस्थितियों से तैयार हो रही मानसिकता तथा उनकी जीवन दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयास रहा है। उल्लेखनीय है कि विदेशी वादों एवं जीवन दृष्टियों का भी भारतीय आधुनिक युग पर अत्यंत प्रभाव रहा। इस युग की आधुनिकता और अधुनातनता को पुष्ट करने वाली उन चिन्तन धाराओं की भूमिका एवं स्वरूप को भी इसी इकाई में

स्पष्ट किया गया है। इससे पूर्व के पाँच खंडों में आप हिंदी साहित्य-इतिहास के आदिकाल भक्तिकाल एवं रीतिकाल को भली प्रकार जान एवं समझ चुके हैं। तो आइए आधुनिक युग के वैचारिक आधार को स्पष्ट करने वाली इस इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से मुखरित होती वैज्ञानिक पृष्ठभूमि की समीक्षा करें।

## 19.2 सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि

किसी भी बड़े या छोटे बदलाव के कुछ न कुछ कारण अवश्य होते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य में विगत तीन कालों की तुलना में देखें तो अनेक दिशाओं में यह परिवर्तन उजागर होते हैं। आर्थिक कारण तो बुनियादी परिवर्तनों के मूल में रहते ही हैं साथ ही सांस्कृतिक-सामाजिक एवं वैचारिक धरातल पर देश-विदेश का परस्पर आदान-प्रदान भी इसका महत्वपूर्ण कारण बनता है। भारत में भी अंग्रेज़ों की नीति ने हमारी स्वदेशी संस्कृति को अपनी विचारधाराओं से रंगने का पर्याप्त प्रयास किया। साथ ही हमारी अर्थव्यवस्था पर भी उनकी साम्राज्यवादी नीति ने अपना शिकंजा कस लिया।

सामान्यतः सन् 1857 से हम हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत मानते रहे हैं किंतु यह भी सत्य है कि इस आधुनिकता के बीजवपन को सन् 1857 से लगभग 70-80 वर्ष पूर्व देखा जा सकता है। यह वह काल था जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया था। सन् 1849 में सिक्खों को भी पराजित कर अंग्रेज़ों ने सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेज़ों के मद ने अब भारतीय अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया था। अंग्रेज़ों की नीतियों से असंतुष्ट देशी राजाओं, सिपाहियों, किसानों ने एकजुट होकर 1857 ई. में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया। अतः ब्रिटिश पूँजीवादी साम्राज्यवाद से टकराहट अब प्रारंभ हो चुकी थी। भारत जब ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बना तब अंग्रेज़ों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक तथा प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया। आधुनिक जीवन चेतना ने साहित्य को मनुष्य जीवन के सुख-दुख से जुड़ने के लिए प्रेरित किया। परिणामतः जीवन चेतना के ये चिन्गारियाँ गद्य और पद्य दोनों में उठने लगीं। नया युग अपनी इस नई अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा खोज ही रहा था। परिणामतः खड़ी बोली का आगमन हुआ और उसी ने आधुनिक विचारधारा को वहन कर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यों ब्रजभाषा का प्रयोग भी पद्य में चलता रहा पर उसमें पुरानी संवेदनाएँ ही अभिव्यक्ति पाती रहीं। खड़ी बोली गद्य एवं पद्य ने आधुनिक युग की नई चेतना एवं नई संवेदना को मुखर किया। यह चेतना आर्थिक, शैक्षिक, यातायात एवं मुद्रण आदि के परिप्रेक्ष्य में देखी भी जा सकती है।

### 19.2.1 नया आर्थिक ढाँचा

अंग्रेज़ी शासन से पूर्व भारत के गाँवों का आर्थिक ढाँचा प्रायः अपरिवर्तनशील तथा स्थिर था। गाँव अपने आप में स्वतः पूर्ण आर्थिक इकाई थे। गाँवों की अपरिवर्तनशीलता को लक्ष्य करके सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है– "भारतीय गाँव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाया करती थीं और उनका बाहरी संसार से कोई संबंध नहीं था। एक के बाद दूसरे राजवंश आये, एक के बाद दूसरे उल्ट फेर हुए, हिन्दू, पठान, मुगल, सिक्ख और मराठों के राज्य बने बिगड़े पर गाँव वैसे के वैसे रहे।"

गाँव की ज़मीन पर सबका समान अधिकार होता था। किसान खेती करता था। गाँव की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति बढ़ई, लुहार, कुम्हार, धोबी, नाई, तेली आदि करते थे। जाति के आधार पर पेशा निश्चित नहीं हुआ करता था और एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति का पेशा नहीं कर सकता था क्योंकि उसके लिए वह स्वतंत्र नहीं होता था।

गाँव और नगर अपनी-अपनी इकाइयों में पूर्ण तथा एक-दूसरे से असम्बद्ध थे। मुख्य रूप से नगर के प्रकार थे– राजनीतिक महत्व के नगर, धार्मिक महत्व के नगर और

व्यावसायिक महत्व के नगर। प्रायः नगरों में मूल्यवान वस्तुओं का निर्माण होता था। नगरों का उद्योग सामान्य वस्तुओं का निर्माण नहीं करता था। गाँव का घरेलू उद्योग बिल्कुल अलग था और नगरों का अलग। दोनों की अपनी-अपनी दृढ़ इकाइयाँ थीं।

अंग्रेज़ व्यापारी थे, उनका मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक धन कमाना था। अतः उन्होंने यहाँ के उद्योग-धंधों को नष्ट करने के लिए हर तरह के हथकण्डों को अपनाया क्योंकि बिना इसके भारत में अपने व्यापार का एक छत्र राज्य स्थापित कर पाना कठिन था। जो कुछ उद्योग धंधे बच गए थे, वे नई सामाजिक व्यवस्था के कारण स्वयं नष्ट हो गए। अंग्रेज़ यहाँ से कच्चे माल माटी के मोल ले जाते और अपने देश से पक्का माल बनाकर फिर भारत में ऊँची कीमत पर बेचते। इस प्रकार भारत की धन-संपत्ति को ले जाते तथा भारत को आर्थिक दृष्टि से इंग्लैंड पर निर्भर बना देना चाहते थे।

भारत में अंग्रेज़ों के द्वारा जो आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन आया, उसमें भी उन्हीं का लाभ था। उन्होंने गाँव की आर्थिक व्यवस्था में रद्दोबदल किया। गाँव की ज़मीन का बन्दोबस्त करके उन्होंने गाँव के लोगों को दो वर्गों—ज़मींदार और किसान—में विभाजित कर दिया। ज़मींदारी प्रथा 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने लागू की, क्योंकि इससे उन्हें थोड़े से ही लोगों से मालगुजारी मिल जाती। कहने का अर्थ यह है कि जमींदारी पद्धति से किसानों के शोषण का एक नया मार्ग प्रशस्त किया। किसान मेहनत करता और जमींदार लगान, नज़राना, जुर्माना आदि के नाम पर कमाई का बड़ा हिस्सा हड़प कर जाता। किसान अपना गुजारा चलाने के लिए साहूकार की शरण में जाकर फँस जाता क्योंकि वह मनमानी शर्तों और ब्याज पर ऋण देता। इस प्रकार किसान की स्थिति सदैव सोचनीय बनी रही। गाँव को दो इकाईयों में बाँट कर यानी ज़मींदार और किसान, अंग्रेज़ों ने गाँव की स्वाधीनता को नष्ट किया और उसे लूटा तथा महाजनी सभ्यता का जाल फैला दिया।

1820 से सर टामस मुनारो ने इस्तमारी बन्दोबस्त लागू करके ज़मीन को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बदल दिया। अब ज़मींदार और जोतदार दोनों ही ज़मीन का क्रय-विक्रय कर सकते थे। ज़मीन के व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाने पर खेती का व्यावसायिक हो जाना स्वाभाविक था। कृषि का उत्पादन यातायात की सुविधा के कारण शहरों में जाने लगा और खेती में उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाने लगा जो व्यावसायिक दृष्टि से अधिक लाभप्रद थी किन्तु फिर भी किसानों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से सुधारने की बजाय बिगड़ती ही गयी क्योंकि किसान ज़मींदार और महाजन दो पाटों के बीच पिसता रहा एवं अंग्रेज़ समय-समय पर मालगुजारी की दर में भी वृद्धि करते रहते थे। किसानों की दयनीय स्थिति का उल्लेख भारतेंदु कालीन साहित्यकारों के साहित्यों में मिलता है।

भूमि के व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाने और उत्पादन वितरण के ढंग बदल जाने से सामूहिक कृषि करने का ढंग नष्ट हो गया और सम्बन्धों की रागात्मकता टूटने लगी। प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने स्वार्थ सामने आये तथा अब अर्थ पर टिका हुआ स्वार्थ आत्मपरक हो गया। यहाँ से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में घटिया स्वार्थ का जन्म होता है।

अंग्रेज़ी सरकार की इस नयी व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा क्योंकि खेत अनेकानेक टुकड़ों में बँट गए और किसान तथा सरकार के बीच बहुत से मध्यस्थ हो गये। इसका प्रभाव पैदावार पर पड़ा और वह दिन-ब-दिन घटती गयी। खेती पर अंग्रेज़ों की व्यापार नीति के कारण, बहुत बोझ आ पड़ा, क्योंकि जो उद्योग धंधे अंग्रेज़ों ने नष्ट कर दिए थे, उनके कार्यकर्ता और कारीगर भी खेती पर ही आश्रित हो गए। नगरीय उद्योग भी अंग्रेज़ों की कृपा काल-कवलित हो गए। नगरों में भी पूँजीपति वर्ग मध्यवर्ग और श्रमिक वर्ग ने जन्म लिया।

पुरानी अर्थव्यवस्था के स्थान पर जिस नयी अर्थव्यवस्था को लागू किया गया उससे जाने-अनजाने ही भारतीय किसान भी विकास की ओर अग्रसर हुआ। गाँवों की जड़ता टूटी, गाँव और नगर में सम्पर्क स्थापित हुआ। घेरे में बंधी हुई अर्थव्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली तथा जो देश केवल धार्मिक एकता में बंधा हुआ था अब राष्ट्रीय एकता की ओर जागरूक होने लगा। इससे जाति प्रथा की जड़ता को तोड़ा तो नहीं जा सका, किन्तु जाति प्रथा शिथिल अवश्य हुई।

### 19.2.2 नयी शिक्षा प्रणाली

भारतवर्ष का अठारहवीं शताब्दी के अंत में जिस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से सम्पर्क हुआ, वह भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रकृति से ही बिल्कुल भिन्न थी। भारतीय ज्ञान मतानुगतिका और परम्परायुक्त था जबकि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नए जीवन संदर्भों की ताज़गी लिए हुए था। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का प्रमुख लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य भौतिक और इहलौकिक था। भारत में विद्या वर्ग विशेष अथवा जाति विशेष तक सीमित थी किन्तु पाश्चात्य विद्या सर्व सुलभ थी।

भारतवर्ष ने अतीत में दर्शन, ज्योतिष, औषधि विज्ञान, गणित, धर्मशास्त्र, व्याकरण इत्यादि क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति की थी किन्तु अंग्रेज़ों के आगमन के समय भी उन्हीं को दुहराया जा रहा था। एक प्रकार से नयी उद्भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध सा हो गया था, क्योंकि भारतीय वेदादि की आप्तता, वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता, इहलौकिकता के प्रति अनासक्ति भाव यथा स्थिति बनाये रखने के पक्षधर थे। हालांकि उनकी उपयोगिता पर नयी परिस्थितियों ने प्रश्न चिन्ह लगा दिया था। यहाँ तक कि मुसलमानों में भी हिन्दुओं की ही भाँति गतानुगतिका घर कर गयी थी।

मैकाले ने भारत की शिक्षा पद्धति पर टिप्पणी करते हुए लिखा है–"हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा पद्धतियों में बहुत कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे जो जनता की भाषा नहीं थी। उनकी शिक्षा का मूल स्रोत धर्म था और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय थी। वे नए अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे।" यह शिक्षा पद्धति अपने धर्म के प्रति केवल कट्टरता की भावना को दृढ़ करती थी न कि स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेक सम्मत दृष्टि का निर्माण। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में जो भी कमियाँ रही हों किन्तु आधुनिकता की दिशा में एक गत्यात्मक प्रयत्न मानना ही चाहिए। इसके प्रचार-प्रसार में मुख्यतः इसाई मिशनरियाँ, अंग्रेज़ सरकार और व्यक्तियों के प्रयासों का विशेष योगदान है।

यों तो ईसाई मिशनरी, भारत के दक्षिणी प्रदेशों में ब्रिटिश राज्य की स्थापना से बहुत पहले ही, धर्म प्रचार का कार्य कर रही थी किन्तु उनका शिक्षा से कोई सम्बन्ध न था। जब 1758 ई. में डेविश मिशन कलकत्ता में आया और फिर 1893 ई. में मिशनरियों का दूसरा महत्वपूर्ण दल कलकत्ता में आया तो कैरे और उसके दो सहयोगियों ने जो मिशन से सम्बद्ध थे, नये बंगाल के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बंगला गद्य साहित्य की नींव डालने वाले लोगों में कैरे का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1813 ई. में एक नया चार्टर स्वीकार किया जिसके अनुसार शिक्षा तथा अन्य उपयोगी कामों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गयी। इस सम्बन्ध में अलेक्ज़ेन्डर डफ का उल्लेख करना आवश्यक है। क्योंकि डफ का कम्पनी के अधिकारियों पर विशेष प्रभाव था और वह धर्म प्रचार अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से चाहता था। अतः अनेक अंग्रेज़ी स्कूल और कालेज खोले गए।

ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म प्रचारार्थ हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निस्संकोच आक्रमण किया तथा उनकी निन्दा भी की एवं समस्त मिशनरी स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य की। उनका विश्वास था कि प्रत्येक अध्यापक विज्ञान और गणित पढ़ाते हुए प्रकारान्तर में भारतीय धर्मों को तोड़ने में सहायता करता है। यद्यपि उनकी यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई।

धीरे-धीरे मिशनरियों ने यह महसूस किया कि जन साधारण में धर्म प्रचार के लिए उनकी भाषा अर्थात् जन भाषा की आवश्यकता है और कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर, बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया एवं स्कूलों में पढ़ाने के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें लिखनी पड़ी, जिनमें बंगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं को विशेष महत्व मिला। इन पाठ्य पुस्तकों में भारतीय धर्म, पुराण इत्यादि को भी विवरणात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी तमाम विकृतियों के बावजूद मिशनरियों ने लोगों को अंग्रेज़ी शिक्षा की ओर आकृष्ट किया एवं उनकी कई दृष्टियों से उपयोगिता भी सिद्ध हुई। इस भाषा के माध्यम से अंग्रेज व्यापारियों का विशेष लाभ

हुआ। अब उन्हें भारतीय व्यापारियों से विचार विनिमय में काफी सुविधा होने लगी। अंग्रेज़ी जानने वाले लोगों को विदेशी फर्मों और कम्पनी के प्रशासन में नौकरी मिल जाती थी।

सन् 1780 में वारेन हैस्टिंग्स ने मुसलमानों को प्रसन्न करने की दृष्टि से कलकत्ता में मदरसा खोला और हिन्दुओं के तुष्टीकरण के लिए 1791 ई. में बनारस के रेज़ीडेन्ट ने बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की। कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना 1801 ई. में कम्पनी के सिविल सर्वेन्ट्स को अंग्रेज़ी शिक्षा देने के लिए की गयी थी किन्तु उसमें भारतीय अध्यापकों की नियुक्ति देशी भाषा में पाठ्य पुस्तकें और व्याकरण तैयार करने के लिए की गयी। इससे जो विशेष लाभ हुआ वह यह कि भारतीय भाषाओं में गद्य लेखन को प्रोत्साहन मिला। 1823 में कंपनी ने लोक शिक्षा समिति का गठन किया। इस समिति को लोक शिक्षा के संबंध में सुझाव देना था। समिति में दो विचारधारा के सदस्य थे—एच.एच. विल्सन और एच.टी. प्रिंस प्राच्य भाषाओं के समर्थक थे। कलकत्ता के मदरसे और बनारस के संस्कृत कालेज का उन्होंने पुनर्गठन किया। एजूकेशन प्रेस की स्थापना 1828 ई. में कलकत्ता में की एवं इससे संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपने लगीं। किन्तु जब मैकाले 1834 ई. में भारत आया तो प्राच्य शिक्षा विरोधियों को काफी बल मिला। मैकाले संस्कृत, अरबी और फारसी का कट्टर विरोधी था। उसने लार्ड बेंटिक को सुझाव दिया कि संस्कृत, अरबी और फारसी की शिक्षा को बन्द कर दिया जाये। लार्ड बेंटिक ने मैकाले के प्रतिवेदन को स्वीकार तो किया किन्तु संस्कृत, अरबी, फारसी मदरसों को दिए जाने वाले अनुदान को तो बन्द नहीं किया लेकिन प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों को दी जाने वाली छात्रवृत्ति को समाप्त कर दिया एवं संस्कृत, अरबी और फारसी की पुस्तकों को छापना जारी कर दिया। बेंटिक की पाश्चात्य शिक्षा की संस्कृति ज्यों की त्यों उसे मान्य थी। 1844 में हार्डिंग्ज का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ कि नौकरियाँ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को दी जायें। इससे अंग्रेज़ी के प्रसार में काफी सफलता मिली।

शिक्षा समिति के सम्मुख इस समय प्रमुख रूप से दो प्रश्न आये—शिक्षा का माध्यम और जनता में शिक्षा का प्रचार-प्रसार। शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में तीन विकल्प थे—(1) माध्यमिक और विश्वविद्यालय का माध्यम अंग्रेज़ी हो, (2) संस्कृत, अरबी, फारसी हो, (3) बोलचाल की भाषा—हिन्दी, मराठी, बंगला, उर्दू, गुजराती आदि हो। चार्ल्स ग्रांट और मैकाले ने पहले मत का समर्थन किया और अंग्रेज़ों में विल्सन तथा शेक्सपियर जैसे व्यक्तियों ने देशी भाषा की उपयोगिता का समर्थन किया। शिक्षा समिति के भारतीय सदस्य जगन्नाथ सेठ ने 1847 ई. में शिक्षा माध्यम के सम्बन्ध में लिखा है—"यदि हमारा उद्देश्य भारतीय जनता का ज्ञानवर्धन और उनके मस्तिष्क का परिष्कार करना है तो हमें उनकी अपनी भाषा में शिक्षा देनी चाहिए। स्त्री-शिक्षा के लिए और दूसरा कौन सा उपाय हो सकता है? मैं अंग्रेज़ी के अध्ययन को हतोत्साहित नहीं करना चाहता, किन्तु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यह शिक्षा भारतीय जनता के अभिगम के बाहर है।" लेकिन अंग्रेज़ अधिकारियों पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा और अन्त में अंग्रेज़ी उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर ली गयी।

1853 में ब्रिटिश संसद ने भारत में स्थायी शिक्षा नीति निर्धारित करने के लिए एक संसदीय समिति का गठन किया जिसके फलस्वरूप 1854 ई. में वुड घोषणा-पत्र जारी किया गया। उसके अनुसार जन समूह को शिक्षित करने का प्रयास शुरू हुआ। विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा विभाग स्थापित किए गए जिससे शिक्षा को एक सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सुविधा हुई।

उत्तर भारत (विशेषकर-उत्तर प्रदेश और बिहार) में लोग अंग्रेज़ी शिक्षा की ओर उन्मुख नहीं हुए क्योंकि इसका सम्बन्ध इसाई मिशनरियों से था, जिसे लोग शंका की दृष्टि से देखते थे। पटना (बिहार) के स्कूलों के इन्स्पेक्टर जनरल के दफ्तर को शैतान का दफ्तरखाना कहते थे। उत्तर प्रदेश में अनेक अंग्रेज़ी स्कूल खोले गये किन्तु विशेष प्रगति नहीं हुई।

जब हम नवीन शिक्षा पद्धति के लेखा-जोखा का अवलोकन करते हैं तो हमें अन्तर्विरोध

मिलता है। इसाई मिशनरियाँ शिक्षा के माध्यम से लोगों को इसाई बनाकर पुण्य लुटने के चक्कर में थीं तो अंग्रेज़ सरकार को अपने दफ्तरों के लिए सस्ते देशी बाबुओं की आवश्यकता थी जिससे उनका प्रशासन और व्यवसाय निर्बाध गति से चल सके एवं देश के उत्साही व्यक्तियों की दृष्टि में भी सामान्यतः रोज़ी-रोटी का प्रश्न प्रमुख था।

लेकिन हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि नवीन शिक्षा पद्धति से धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना जो धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्क-सम्मत और इहलौकिक हो सका तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। आश्रम धर्मी घेरे बन्दी से बाहर निकल कर व्यक्ति के अपने निर्णय को अहमियत मिली। मध्यकालीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने एवं आधुनिक युग की समस्याओं को जोड़ने के मूल में यह प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

### 19.2.3 मुद्रणालयों की भूमिका

भारत में मुद्रण यंत्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। 1550 ई. में उन्होंने दो मुद्रण यंत्र मंगवाकर धार्मिक पुस्तकों को छापना शुरू किया और 1674 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बम्बई में मुद्रणालय की स्थापना की गयी। 18वीं शताब्दी में कलकत्ता, हुगली, मद्रास आदि स्थानों पर छापाखाने खोले गए। सर्वप्रथम भारत के संदर्भ में यंत्र निकालने की पहल राजा राममोहन राय ने की और 1821 में "सम्वाद कौमुदी" का प्रकाशन शुरू किया। श्रीरामपुर मिशन के तत्वाधान में दो पत्र—"समाचार दर्पण" और "दिग्दर्शन" प्रकाशित हुए। फारसी भाषा में दो पत्र—"जाम-ए-जहाँ-नुमाँ" और "मीरत-उल-अखबार"—निकाले गए। बम्बई में फरदून जी मुर्जबान ने गुजराती प्रेस खोला और 1822 में "बम्बे समाचार" प्रकाशित हुआ। द्वारिका नाथ टैगोर, प्रसन्न कुमार टैगोर और राजाराम मोहन राय जैसे समाज सुधारकों ने "बंगदूत" (1830 ई.) पत्र की नींव डाली। केवल इतना ही नहीं बल्कि 1830 ई. के अन्त तक कलकत्ता में बंगला भाषा में दैनिक, अर्ध साप्ताहिक, साप्ताहिक, त्रिसाप्ताहिक और मासिक पत्र प्रकाशित होने लगे।

पं. जुगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में "उदण्ड मार्तण्ड" हिन्दी का पहला पत्र 1826 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। कलकत्ता से ही 1834 ई. में "प्रज़ामित्र" और "दैनिक हिन्दी पत्र सुधा वर्षणा" श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। 19वीं शती के उत्तरार्द्ध तक देश में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। इससे देश में नये विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हो गयी। सामाजिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का उपयोग किया गया तथा विदेशी सरकार की उन कार्यवाहियों का विरोध किया गया जो देश के हित में न थी। छापाखानों से वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक सहायता मिली। भारतीय नवजागरण के लिए प्रेस वरदान सिद्ध हुआ। छापाखाने से सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक विचारों के प्रचार-प्रसार की सुविधा ही नहीं हुई प्रत्युत समाचार पत्रों के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान भी होने लगा।

इस नवयुग ने मुद्रण का जो बड़ा माध्यम हमें दिया इसने साहित्यकारों को प्रसिद्धि का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। छापाखाने के कारण साहित्य में वैयक्तिकता की भावना को बल मिला। जन रुचि के आकर्षण ने साहित्य को जन-जीवन के निकट ला दिया। भारतेन्दु युग में शायद ही कोई साहित्यकार ऐसा रहा हो जिसका किसी न किसी पत्र-पत्रिका से संबंध न रहा हो। इन पत्र-पत्रिकाओं में शुद्ध साहित्य ही नहीं छपता था बल्कि समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जाता था। पत्र-पत्रिकाओं द्वारा एक-दूसरे की समस्याओं को समझना, उनको सुलझाना और उनको लेकर नयी-नयी वैचारिक भूमियों को तैयार करना। इस प्रकार जहाँ पत्र-पत्रिकाएँ जन तांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं। वहीं दूसरी ओर समाज की रूढ़ियों पर भी प्रहार करती हुई राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी। वस्तुतः आधुनिक काल के साहित्य में जो हमें वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना-छवियाँ, बौद्धिकता, प्रयोगात्मकता आदि दिखायी पड़ती है इसका आंशिक दायित्व प्रेस पर ही है। छापाखाने के अभाव में अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन बहुत ही कठिन था, केवल इतना ही नहीं प्रत्युत साहित्य और कला सम्बन्धी वादों, आन्दोलनों आदि को रूपायित करने में छापाखानों का विशेष योग है।

## 19.2.4 यातायात की स्थिति एवं विकास

19वीं शती में रेल, बस, जलयान (स्टीम शिप) इत्यादि यातायात के साधनों से यातायात में काफी परिवर्तन आया और संसार सिमट कर छोटा हो गया तथा इससे लोगों में राष्ट्रीयता और वैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता मिली। इससे संकीर्ण भावनाओं को कुछ हद तक समाप्त करने में भी सहायता मिली।

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास में यातायात का विशेष योग होता है। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति से वहाँ के उद्योगपतियों के सामने यह समस्या थी कि वे अपने उत्पादन की खपत कहाँ करें तथा कारखानों के लिए कच्चा माल कहाँ से लायें? भला उन्हें भारत से अच्छा बाजार कहाँ मिलता। अतः उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार से भारत में रेलवे की स्थापना और सड़क निर्माण के लिए अनुरोध किया। लार्ड डलहौजी रेल निर्माण योजना का अगुआ माना जाता है। उसने इसके मूल में निहित आवश्यकताओं का उल्लेख स्वयं किया है कि अंग्रेज़ों को आर्थिक लाभ के अलावा बाहरी आक्रमणों और आंतरिक विद्रोहों से अपनी सुरक्षा करने के लिए आवागमन की ओर विशेष ध्यान देना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक युग में सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक विकास के लिए यातायात के साधनों के विकास के लिए नहीं किया गया बल्कि अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ के लिए सड़कों और रेलों का निर्माण किया था। हाँ इससे अनचाहे भारतीयों को भी लाभ मिला।

**बोध प्रश्न 1**

1) नीचे कुछ विषय दिए गए हैं। प्रत्येक को लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

i) **नया आर्थिक ढाँचा**

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) **नई शिक्षा प्रणाली**

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) मुद्रणालयों की आधुनिक युग के वैचारिक-आधार को प्रभावित करने में क्या भूमिका रही? दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) यातायात की स्थिति ने वैचारिक आधार की समृद्धि में क्या भूमिका निभाई? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

4) नीचे लिखे वाक्यों में से एक वाक्य सही है (✓) का निशान लगाकर बताइये कौन सा वाक्य सही है?

अ) 1) अंग्रेज़ों की नयी आर्थिक नीति से गाँवों की आर्थिक दशा में सुधार हुआ।

2) अंग्रेज़ों की नयी आर्थिक नीति से गाँवों के लोगों के संबंधों की रागात्मकता टूटी।

3) नयी आर्थिक नीति से गाँव का आर्थिक ढाँचा अपरिवर्तनशील हो गया।

4) जमींदारी प्रथा से किसानों को लाभ हुआ।

ब) निम्नलिखित वाक्यों में से एक वाक्य सही है (✓) का निशान लगाकर बताइये वह कौन सा वाक्य है?

1) नयी शिक्षा प्रणाली से विद्या वर्ग-विशेष की संपत्ति हो गयी।

2) नयी शिक्षा प्रणाली से भारत की धर्मनिरपेक्षता को हानि पहुँची।

3) अंग्रेज़ों की शिक्षा प्रणाली से आधुनिकता की दिशा में गत्यात्मकता आयी।

4) नयी शिक्षा प्रणाली से जन-भाषा की उन्नति हुई।

स) निम्नलिखित वाक्यों में से एक वाक्य सही है उसे (✓) के निशान से चिन्हित कीजिए–

1) मुद्रणालय के प्रचार से वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता को बल मिला। [ ]

2) मुद्रणालय के आगमन से साहित्य में वैयक्तिकता का ह्रास हुआ। [ ]

3) छापाखाना के प्रचार से अनेक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से एक दूसरे को समझने की समस्यायें बढ़ गयीं। [ ]

4) हिन्दी का प्रथम पत्र दिल्ली से प्रकाशित हुआ। [ ]

## 19.3 पाश्चात्य जीवन दृष्टियाँ

आधुनिक युग भारत में ही नहीं विदेशों में भी अनेक आंदोलनों, परिवर्तनों एवं विविध विचारधाराओं का युग माना जाता है। इस अवधि में एक ओर तो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांप्रदायिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक आंदोलन हुए, वहीं दूसरी तरफ रचनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी विविध विचारधाराओं का आविर्भाव और विकास हुआ। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के गंभीर परिणाम, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के विविध रंग, युद्ध-शांति के लिए किए गए प्रयास, सभी को साहित्य की गद्य एवं पद्य विधाओं में सहज ही अभिव्यक्ति पाते देखा जा सकता है। गद्य की अनेकों विधाओं का जन्म, प्रचार-प्रसार, लोकप्रियता तथा पद्य की लोक-जीवन एवं जन-जन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता इसी युग में उभरकर सामने आई।

वास्तव में साहित्य की इन धाराओं, विधाओं एवं चेतनाओं को जिन-जिन दृष्टियों, विद्वत मतों, संस्थाओं तथा वैचारिक धरातलों ने प्रभावित किया या उनके लिए एक उर्वर-भूमि तैयार की उनमें पाश्चात्य देशों की विविध विचारधाराओं अथवा सिद्धांतवादों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। यहाँ हम इन विद्धांतवादों पर भी संक्षिप्त चर्चा कर लें तो उचित होगा।

### 19.3.1 आदर्शवाद

आदर्शवादी सिद्धांत का उद्देश्य मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्रों में उन्नति करना है। यों आदर्शवादी विचारधारा भारतीय साहित्य के क्षेत्र में बहुत प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। विदेशी साहित्य में भी आदर्शवादी विचारधारा ने पर्याप्त लोकप्रियता हासिल की। प्राचीन यूनानी विचारकों में प्लेटो और अरस्तू आदर्शवादी चिंतक ही माने जाते हैं। आगे चलकर सर टामस सूर ने भी आदर्शवादी विचारधारा का ही प्रचार किया। रूसो ने भी एक आदर्श संस्था के रूप में राज्य को मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक उन्नति का प्रमुख आधार माना। कांट ने विश्व संघ को शांति के लिए आदर्श संस्था बताया। इसी प्रकार जान फिटे, हामबोल्ट, टी.एच. ब्रैडले तथा हीगेल आदि चिंतकों ने अपनी चिंतन पद्धतियों में बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति को ध्यान में रखते हुए आदर्शवाद को ही मान्यता दी।

हिंदी में आदर्शवाद शब्द का प्रयोग "आइडियालिज्म" के अर्थ में किया जाता है। हिंदी में उदात्त पर बल देना इसका प्रमुख लक्ष्य रहा है। संयम, त्याग और बलिदान इसकी प्रमुख भावनाएँ हैं। इसमें आध्यात्मिकता का समावेश भी मिलता है। हिंदी में यह आदर्शवादी विचारधारा प्राचीन युग से ही रही है। कबीर, सूर, तुलसी आदि कवि मूलतः आदर्शवादी ही माने जाते हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्द, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि साहित्यकार आदर्शवादी विचारधारा के ही पोषक माने जाते हैं।

### 19.3.2 अभिव्यंजनावाद एवं रूपवाद

आधुनिक युग की विशिष्ट चिंतनधाराओं में अभिव्यंजनावाद की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इसके संकेत मिलने लगते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी साहित्य में तो इसका विशेष विकास देखा जा सकता है। अभिव्यंजनावाद के प्रमुख प्रवर्तक तो इटली के चिंतक क्रोचे माने जाते हैं। क्रोचे कला को सदैव आत्माभिव्यक्ति का एक रूप मानते हैं। क्रोचे ने अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध भी किया है कि कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। अभिव्यंजनावाद का मुख्य सिद्धांत ही सौद्देश्य अभिव्यक्ति तथा मनोवैज्ञानिक आंतरिक स्थिति की उद्देश्यपूर्ण अभिव्यंजना पर बल देता है। क्रोचे कला में समानता और सौंदर्य तत्वों के कट्टर समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार सौंदर्य किसी वस्तु का कोई गुण नहीं है अपितु सौंदर्य तो आत्मिक क्रियाशील के स्वभाव के रूप में उत्पन्न होता है। यही कारण है कि क्रोचे, हीगल, शापेनहावर तथा कोट आदि विचारक कला को ज्ञान का ही एक रूप मानते हैं। अभिव्यंजनावाद ने पाश्चात्य वैचारिक आंदोलनों को ही नहीं भारतीय साहित्यकारों तथा साहित्यांदोलनों को भी प्रभावित किया। कला और साहित्य में विशुद्ध अभिव्यंजना को

प्रधानता देने वाली यह विचार प्रणाली सौंदर्य शास्त्रीय आधार लेकर अपेक्षाकृत व्यापक पृष्ठभूमि पर साहित्य में प्रतिष्ठित हुई। अभिव्यंजना परिणामतः साहित्य और कला ही चरम परिणति सिद्ध हुई। हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा नंददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षकों ने अपनी प्रतिक्रियाओं में अभिव्यंजनावाद पर बराबर विचार किया।

**रूपवाद** कला के बाह्य एवं आकार से सम्बद्ध होता है। इसे "फार्मलिज़्म" का पर्याय माना जाता है। इसका आरंभ बीसवीं शताब्दी के दूसरे शतक में हुआ। इस सिद्धांत के विचारकों की स्थापना है कि कला में शिल्प का ही विशेष महत्व होता है। इनके अनुसार आधार या रूप किसी ऐसे उद्देश्य की विशेषता है जो अनुभव की गई हो। प्लेटो ने रूप को एक प्रकार का अनुकरण ही माना था। अरस्तू का मानना था कि रूप केवल आकार ही नहीं वरन् आकार का प्रदानकर्त्ता भी है। अतः रूप केवल रचना ही नहीं उसका आधार भी है। इनके अनुसार एक लेखक जब साहित्य सृजन का कार्य करता है तब बाह्य तत्वों से युक्त एक रूप तथा आकार वह उसे दे देता है। जो आकार वह अपनी कृति को देता है वह भाषागत होता है। पर इस सिद्धांत का युरोप में मार्क्सवादी विचारधारा ने बहुत विरोध किया। आधुनिक हिंदी साहित्य के क्षेत्र में भी यह विचारधारा अपना कोई उल्लेखनीय प्रभाव न छोड सकी।

## 19.3.3 अस्तित्ववाद

सोरेन कीकेंगार्ड (1813-1855) तथा फ्रीडरिख नीत्शे अस्तित्ववाद के जन्मदाता माने जाते हैं। कार्ल जेस्पर्श (1883), हेडेगर (1889) तथा गैब्रिल मार्शल (1889) ने इसे तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित किया। अस्तित्ववाद जीवन की सम्पूर्णता के माध्यम से परिवेश को जानने का सचेत प्रयास कहा जाता है। अस्तित्ववाद साहित्य का एक तर्कशास्त्र है, एक मनोविज्ञान है और इसे एक दर्शन कहा जा सकता है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को कुछ हद तक बुद्धिवादी बना दिया है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे की घोषणा—ईश्वर मर गया—ने बौद्धिक जगत में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया, यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पुराने मूल्य विघटित हो गए और मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थितियों में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी हैं। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्चयवादी सिद्धांत को खोखला सिद्ध कर दिया। फ्लैक के क्वाटंम सिद्धांत और आन्स्टीन के सापेक्षवाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सार्वभौम सत्य है और न ही शाश्वत नैतिकता। इस पर अस्तित्ववाद ने अपनी मुहर लगाकर और भी अधिक पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववाद ने अपने पूर्ववर्ती दर्शनों और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया तथा अपने ठोस अनुभवों एवं व्यक्ति के बुनियादी प्रश्नों के साथ जोड़ा। ये आधारभूत प्रश्न हैं—व्यक्ति की व्यग्रता, दुख, निराशा, अकेलापन, मृत्यु बोध, स्वतंत्रता, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकवाद और निश्चयवाद के विरुद्ध भी खड़ा हुआ। वह उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतंत्र है—वह न वस्तु है और न ही मशीन, वह तो क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और उसके लिए स्वयं ज़िम्मेदार है। सार्त्र, कीर्केगार्ड आदि पर अस्तित्ववादी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। आधुनिक चित्रकला भी इससे कम प्रभावित नहीं हुई। सेवा, बान गोग, पिकासो आदि पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सातवें दशक में हिंदी साहित्य में अकविता, अकहानी, अनुपन्यास और अनाटक की जो चर्चाएं हुईं हैं उनके आधार पर लिखा गया साहित्य आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अजनोवियत, अलगाव, अकेलेपन, आत्मनिर्वासन आदि को ही व्यक्त करता है।

## 19.3.4 मनोविश्लेषणवाद एवं अतियथार्थवाद

आधुनिक युग का वैचारिक आधार सुदृढ़ एवं समृद्ध करने में जिन पाश्चात्य विद्वानों की महत्वपूर्ण भूमिका रही उनमें फ्रायड भी एक हैं। फ्रायडीय मनोविश्लेषण के काम सिद्धांत को इस युग में बहुत मान्यता प्राप्त हुई। फ्रायड का मानना है कि समस्त कलाओं के मूल में दमित और अतृप्त काम भावना होती है। सामाजिक निषेध काम वृत्तियों की मुक्त

अभिव्यक्ति को बाधित करते हैं। परिणामतः ये वृत्तियाँ कुंठित एवं दमित होकर अवचेतन एवं अचेतन मन में निहित रहती हैं और अपनी अभिव्यक्ति के अवसर खोजती रहती हैं। कला इन्हें यह अवसर प्रदान करती है। यह कुंठित काम मानव में छिपा रहता है और सामान्यतया विभिन्न मानसिक रोगों एवं विकृतियों को जन्म देता है। कलाकार कला जैसे उदात्त माध्यम से काम को उदात्त रूप दे देता है।

फ्रायड ने स्वप्न सिद्धांत की चर्चा करते हुए भी यही कहा कि स्वप्न दमित इच्छाओं की ही पूर्ति प्रत्यक्ष के प्रतीकात्मक रूप में करते हैं में अवचेतन में निहित दमित कामनाएँ, सामाजिक विषय की पहुँच से बाहर होने के कारण एक-एक कर विभिन्न रूपों में व्यक्त होने लगती हैं। मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने इन कुंठित एवं दमित इच्छाओं की खोज करने के लिए "फ्री एसोशिएशन" पद्धति को जन्म दिया जिसमें व्यक्ति को पूरी तरह पूर्ण विश्राम की अवस्था में रखकर उसके मन में उठने वाले सभी भावों और विचारों को ज्यों का त्यों, उसी क्रम में प्रस्तुत कराया जाता है। इन प्रस्तुत तथा बिखरे हुए विचारों तथा असंबद्ध मनोविकारों का मानसिक विश्लेषण करते हुए उन मनोग्रंथियों को खोला जाता है। इसी प्रक्रिया से मानसिक रोगों का उपचार भी किया जाता है।

इस सिद्धांत को आगे बढ़ाने वालों में फ्रायड के बाद युंग, एडलर मैक्डूगल आदि मनोवैज्ञानिकों का नाम उल्लेखनीय है। इसी प्रकार फ्रेम, होने, सलीवन, कार्डीनर तथा मागरिट मीड आदि के नाम भी लिए जा सकते हैं। हिंदी में भी कविता तथा गद्य में जिस कुंठा और असंगत निरावृत शृंगारिकता को वाणी मिली वह इसी फ्रायडीय मनोविश्लेषण की देन है। यौन प्रतीकों, बिम्बों, स्वप्न प्रतीकों तथा चित्रों का खुला प्रयोग इस साहित्य में भी देखा जा सकता है। अज्ञेय, नरेश मेहता, यशपाल, जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी तथा उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की कहानियों, उपन्यासों, कविताओं आदि साहित्य में इन मानसिक ग्रंथियों को आप देख भी सकते हैं। उग्र तथा मन्नू भंडारी की कहानियों में भी इसे देखा जा सकता है।

अतियथार्थवाद (सर्रीयलिज्म) फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद की ही परंपरा का अगला चरण है। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जो यथार्थवाद साहित्य की दुनिया में फैल रहा था उसी की प्रतिक्रिया में अतियथार्थवाद एक नवीन रूप में विकासमान था। इसके प्रवर्तक चार्ल्स बॉदलेयर माने जाते हैं। इनसे पहले हाब्रीमान, आर्थन, रिंबो तथा मेलार्मे आदि भी अतियथार्थवाद के समर्थक रहे हैं। सन् 1910 के बाद इस विशिष्टवाद ने खाली प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् 1930 के बाद यह आंदोलन फ्राँस के बाहर के देशों में भी फैला। इसकी नई व्याख्या उस सत्ता के रूप में की गई जो यथार्थ होते हुए भी दृष्टिगत न हो। आगे चलकर हरबर्ट रीड ने इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए इसे स्पष्ट भी किया। इसके उद्देश्यों में अवचेतन के यथार्थ का चित्रण प्रमुख रहा। इस सिद्धांत के समर्थकों ने बौद्धिक नियंत्रण की उपेक्षा करते हुए अभिव्यक्ति करने पर बल दिया तथा स्वतः लेखन को आदर्श माना। परिणामतः इस पद्धति में प्रतीकात्मक संकेतों की बहुलता हो गई। इस पद्धति ने मानसिक यथार्थ को तो स्वाभाविक वाणी प्रदान की परंतु वस्तु विषय की दृष्टि से नैतिकता और सौंदर्यवादी मूल्यों का ह्रास ही हुआ। शैली भी अस्पष्ट तथा छिन्न-भिन्न सी हो गई। प्रथम महायुद्ध की विभीषिकाओं का ही परिणाम था कि लेखक और कलाकार वस्तु जगत से भागकर अवचेतन में शरण लेने लगा था। इस सिद्धांत ने भी हिंदी साहित्य के आधुनिक युग को एक पीढ़ी को बहुत प्रभावित किया। अज्ञेय तथा धर्मवीर भारती के साहित्य में इसे देखा जा सकता है। परंतु अपनी अनास्था और असामाजिकता के कारण यह भी अधिक समय तक न रुका।

### 19.3.5 मानवतावादी विचारधारा

साहित्य में मानववाद की भावना फ्रांसीसी दार्शनिक काम्ते के विचार दर्शन के प्रभाव स्वरूप विकसित हुई जिसका प्रभाव हिन्दी पर बंगला साहित्य के माध्यम से प्रतिफलित हुआ। लोक सेवा को ही ईश्वर सेवा समझा गया। काम्ते के मतानुसार धर्म का लक्ष्य जीवन में सामंजस्य लाना है एवं हृदय एवं मस्तिष्क दोनों को समानतया आलिंगन में आबद्ध करने से यह सामंजस्य स्थापित हो सकता है। मानवता एक ऐसा धर्म है जो सभी मनुष्यों को संगठित करता है एवं "आत्मात्सर्ग" उसका पथ-प्रदर्शक बन जाता है।



तत्कालीन युग में काम्ते का विधयवाद (पाज़िटिविस्ट) दर्शन, भारत में काफी लोकप्रिय

हुआ। हमारे देश के स्वतंत्रता आंदोलन के आरंभिक दिनों में हमारी राष्ट्रीय जागृति के लिए उसमें उपयुक्त विचारधारा थी अतः राजनीति में मानवतावाद को आधार बनाया गया इससे इसकी मान्यता और अधिक बढ़ गयी। अब जो राजनैतिक स्वतंत्रता का आंदोलन था, वह सामान्य जन-समुदाय को लेकर चला। अब बड़े-बड़े विचारक व्यापक दृष्टिकोण को लेकर सामाजिक अवस्था पर मनन करने लगे। महात्मा गांधी की समस्त क्रियात्मक योजनाएँ सामाजिक उत्थान के लिए बड़ी शक्तिशाली सिद्ध हुई। गांधी जी की मानवतावादी भावना ने निम्न स्तर के लोगों की सामाजिक दशा में बड़ा परिवर्तन ला दिया। उनकी मानवतावादी भावना के कई रूप मिलते हैं—अहिंसा, सत्याग्रह, राजनीतिक समानता, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम एकता, धार्मिक समन्वय, ग्रामोद्धार, जमींदारी का विरोध।

इस युग के महान विचारक, समाज सुधारक एव मानवतावाद के समर्थक विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर थे उनकी कविता में मानवतावाद बड़े व्यापक रूप में अभिव्यक्त हुआ। उनकी मानवतावादी भावना के प्रमुख रूप—विश्व-संस्कृति, आध्यात्मिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता, मानव-दुःख, निवारण और जाति भेद को मिटाने में तत्परता आदि हैं।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के तृतीय उत्थान (1916-1936) में सामाजिक अवस्था का मुख्य रूप मानवतावादी भावनाओं में केन्द्रित है और कुरीतियों के निवारण के कुछ ठोस रूप दिखायी दिए। निर्धन और शोषित जैसे—कृषक, श्रमिक, अछूत आदि के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, नारी के उत्थान का प्रयत्न रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त आदि की कविताओं में मिलता है। छायावादी कविता में मानवतावाद का विकास हुआ और इसमें विश्व बन्धुत्व की पुकार सुनाई पड़ी। छायावाद का सौंदर्यवाद मानवतावादी विचारधारा से अनुप्राणित है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मानव सेवा की ईश्वर सेवा के रूप में प्रतिष्ठित करने की भावना हिन्दी के रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय, जयशकर प्रसाद मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध प्रभृति कवियों की कविताओं में व्यक्त हुई।

### 19.3.6 मार्क्सवादी विचारधारा

समाज के बुनियादी ढाँचे को बदलने में आर्थिक कारण सांस्कृतिक कारणों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं। मार्क्सवाद एक भौतिक दर्शन है। सन् 1917 में रूसी क्रांति की सफलता को देखकर सोवियत संघ की नवीन शासन पद्धति और उसके मूल में काप करने वाले मार्क्सवादी सिद्धांतों को जानने और समझने के लिए भारत के लोगों के मन में प्रबल उत्कठा थी किन्तु उसके प्रवेश पर भारत में अंग्रेज़ी सरकार ने प्रतिबंध लगा रखे थे।

भारत में मार्क्सवादी विचारधारा के बीजरोपण का श्रेय काज़ी नज़रूल इस्लाम, मुज़ूफ़र अहमद (भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी के सस्थापक) और गुलाम हुसैन को है। श्रीपाद अमृत डांगे ने 1921 में "गांधी और लेनिन" शीर्षक से अंग्रेज़ी में पुस्तक लिखी और उसमें उन्होंने लेनिन का समर्थन किया। इससे प्रभावित होकर बम्बई के एक सपन्न नागरिक रणघोडदास लोटवाला ने श्री डांगे के सहयोग से एक लाख रुपये से मार्क्सवादी साहित्य के प्रकाशन और प्रचार के लिए एक सस्था स्थापित की। 1922 में श्री डांगे के संपादकत्व में "सोशलिस्ट" नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित हुआ।

हिन्दी जगत् में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित प्रथम निबंध लिखने का श्रेय श्री जनार्दन भट्ट को है। उन्होंने 1914 ई. में "हमारे गरीब किसान और मज़दूर" शीर्षक निबंध लिखा था किन्तु हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में 1936 ई. से सामाजिक क्षेत्र में आर्थिक परिस्थिति अधिक मुखरित हुई। पूंजीवाद, देशव्यापी दरिद्रता, महंगाई, बेरोज़गारी और वर्ग संघर्ष की भावना में वृद्धि आदि ने मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभुत्व को बढ़ाया। इसके अलावा आर्थिक संबंधों में कल्पना और भावुकता न्यून से न्यूनतर होती गयी। आगे चलकर द्वित्तीय महायुद्ध की सभावना ने जीवन को बहुत कटु बना दिया था। एक गहरी निराशा की भावना ने जन-जीवन को आच्छादित कर लिया। गरीबी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। साम्राज्य और पूँजीवाद के शोषण चक्र से जनता पीड़ित थी।

धीरे-धीरे विचारकों का ध्यान यथार्थ की कठोर परिस्थितियों एवं निम्न वर्ग की करुण दशा की ओर गया और वर्ग संघर्ष से व्यापक जागृति हुई तथा दलित वर्ग विद्रोह करने के लिए तत्पर हुआ। इस प्रकार मार्क्सवाद का महत्व बढ़ता ही गया।

मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार सारे विश्व में पूँजीवाद अर्थनीति से पीड़ित निम्न वर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन्हीं मज़दूरों और दीन-जनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य है।

प्रगतिवादी युग में ही एक और विचारधारा प्रवाहित हुई और वह है फ्रायड से प्रभावित मनोविश्लेषणवादी काव्य की। इस युग के मनोविज्ञान की उन्नति एक महत्वपूर्ण घटना है। इस मनोविश्लेषण के युग में प्राकृतवाद को अपने लिए उपयुक्त वातावरण मिला। अंग्रेज़ी साहित्य के एक्स्प्रेरिन्टालिज़ूम का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रगतिवादी साहित्यकारों में हम उदाहरणार्थ प्रेमचन्द और निराला को प्रस्तुत कर सकते हैं।

### 19.3.7 समाजवाद एवं साम्यवाद

फ्रांस की राज्य क्रांति से ही समाजवादी विचारधारा का श्रीगणेश माना जाता है। आज का समाजवाद अपने मूल रूप से पूर्णतः भिन्न स्वरूप लिए है। आविर्भाव के समय समाजवाद का सीधा विरोध साम्राज्यवाद से था। आगे चलकर यह विरोध पूँजीवाद से होने लगा। यह नया रूप कार्ल मार्क्स की देन बना। सन् 1848 ई. में कार्ल मार्क्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र जारी किया और सर्वप्रथम इतिहास की आर्थिक व्याख्या देते हुए एक नए सिद्धांत की पुष्टि की। यही वह समय था जब समाजवाद को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त हुई।

मार्क्स ने हीगेल के आदर्शवादी विचारों से असहमत होते हुए भी उसकी चिंतर पद्धति का अनुकरण किया। मार्क्स का मानना था कि पूँजी ही वह शक्ति है जो समाज के विभिन्न अंगों की आर्थिक रचना का आधार है और इसलिए इसी पर उसके विभिन्न कार्य क्षेत्रों की प्रणालियाँ, राज्य-व्यवस्था, साहित्य एवं कला आदि स्थिर हैं। आर्थिक व्यवस्था ही समाज की नींव है और साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ इसकी ऊपरी मंजिलें हैं। यही कारण कि समस्त क्रांतियों का मूल कारण आर्थिक ही रहता है। अतः कार्ल मार्क्स को आधुनिक समाज़वाद का जन्मदाता माना जाता है यद्यपि उसके बाद भी समाजवादी अविचारधारा में बहुत से परिवर्तन हुए हैं।

प्रसिद्ध भारतीय समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र देव ने भी कार्ल मार्क्स की तरह ही सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के विकास क्रम के संबंध में विचार करते हुए यह स्पष्ट किया कि उत्पादन शक्ति के विकास में एक मुख्य अवस्था ऐसी भी आई थी कि जब सामंत तथा कृषक वर्गों के स्थान पर पूँजीपति और श्रमिक नामक दो आधारभूत नए वर्ग प्रभुत्व में आए। उत्पादन संबंधों को जोड़कर ही समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है और उसी आर्थिक ढाँचे के आधार पर राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दीवारें खड़ी होती हैं। समाजवाद अपने मूल रूप में प्रगतिशील आंदोलन है।

पाश्चात्य विद्वान हुगन ने समाजवाद को श्रमिकों द्वारा संचालित एक राजनीतिक आंदोलन माना, जिसका उद्देश्य वे शोषण का उन्मूलन तथा एक ऐसी प्रजातंत्र व्यवस्था बताते हैं जिसमें उत्पादन वितरण शक्ति समाज के अधिकार में होती है। लिटर ने समाजवाद राष्ट्रीय स्वरूप में परिवर्तन की एक प्रेरणा माना जिसका स्रोत वे श्रमिक वर्ग हैं। फ्लिंट ने समाजवाद की साम्यवाद तथा समूहवाद नामक दो शाखाएँ बताईं। समाजवादियों ने क्रांति को प्रमुख महत्व दिया और समाजवाद का उद्देश्य हानिकारक प्रतिद्वंद्विता, पूँजीवाद तथा पैतृक अधिकारों का अंत करके उसके स्थान पर उत्पादन के साधनों तथा उत्पादक यंत्रों का पुनर्वितरण करना माना। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में समाजवादी इस विचारधारा को छायावादोत्तर काव्य में प्रायः अधिकांश विधाओं में प्रश्रय मिला।

साम्यवाद मूलतः एक प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील वाद है। यही कारण है कि प्लेटो के समय के साम्यवाद तथा आधुनिक साम्यवाद में बहुत अंतर आ गया। आधुनिक साम्यवाद को कार्ल मार्क्स, लेनिन तथा स्टालिन जैसे साम्यवादियों ने नया प्रारूप दिया। यही कारण है कि राबर्ट फ्लिंट जैसे विचारक ने साम्यवाद को समाजवाद की ही एक विचारधारा माना।

नोयज का मानना है कि साम्यवाद जीवन के दर्शन का एक रूप है और जीवन का यही दर्शन ही साम्यवाद की नींव है। साम्यवादी विचारक इसे विश्वस्तरीय समस्याओं के सुलझाने का एक क्रांतिकारी और सार्वभौमिक दर्शन मानते हैं। प्रसिद्ध भारतीय साम्यवादी डांगे ने बताया है कि कैसे समाज दासों और धन-स्वामियों के दो वर्गों में बँटा। सन् 1848 में मार्क्स और एंजिल्स का साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित हुआ था। इसके अनुसार साम्यवाद का आधार आर्थिक सिद्धांत के स्थान पर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद माना गया था। मार्क्स के अनुसार क्रांति तथा शांति एक ही सिद्धांत के दो भिन्न पक्ष हैं। शांति के लिए ही क्रांति की आवश्यकता होती है। आधुनिक हिंदी साहित्य में यशपाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि कई साहित्यकारों की कृतियों में यह विचारधारा बौद्धिक आधार पर स्पष्टतः समाविष्ट हुई देखी जा सकती है।

### 19.3.8 प्रतीकवाद और बिम्बवाद

प्रतीकवाद का प्रवर्तन एक आधुनिक वैचारिक आंदोलन के रूप में फ्रांस में हुआ था। आगे चलकर यह पूरे विश्व में एक प्रतिनिधि विचारधारा के रूप में व्याप्त हो गया। इनके अनुसार किसी भी विषय की प्रतीक के रूप अभिव्यंजना करना ही प्रतीकवाद है। साहित्यिक प्रतीकों को मुख्यतः भावनात्मक एवं व्यंजनात्मक साम्य पर आधारित माना जाता है और वैज्ञानिक प्रतीक किसी विशिष्ट पदार्थ अथवा बिम्ब को अभिव्यंजित करते हैं। अतः भाव प्रेषण तथा अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। समाज, धर्म, संस्कृति तथा साहित्यिक क्षेत्रों की अधिकांश क्रियाएँ तो सूत्र रूप में प्रतीकात्मक होती हैं, अचेतन में होने वाली प्रक्रियाएँ भी प्रतीकात्मक ही कही जा सकती हैं। केनपवर्ग ने प्रतीक की विस्तृत व्याख्या की है। वे कहते हैं कि प्रतीकों का कार्य किसी अनुभव के प्रतिरूप अथवा प्रतिवृति का शाब्दिक साम्य अभिव्यंजित करना है। मानव भाव तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। प्रतीकवाद नग्न तथा यथार्थ चित्रण के स्थान पर प्रतीकात्मक चित्रण करने वाला महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इससे यथार्थ के आधार पर होने वाले नग्न चित्रण से युक्त अभिव्यक्तियों को रोका जा सकता है। प्रतीकवाद 19वीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस में प्रकृतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मा था। इसे बाद में मेलार्मे, बलेरी, बर्ले तथा रिंबो आदि ने आगे बढ़ाया। मेलार्मे का कहना है कि–"वही कविता श्रेष्ठ हो सकती है जो अनुभूति का संकेत मात्र देकर रह जाए, उसका शनैः शनैः उद्घाटन करे। अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति के अर्थ हैं–कविता के तीन चौथाई सौंदर्य को नष्ट कर देना।"

बिम्बवाद के मूल में भी नए काव्य रूप के अन्वेषण की ही प्रेरणा है। इसके प्रवर्तक ह्यूम माने जाते हैं। इन्होंने विशिष्ट काव्य रूप की चर्चा कर बहुतों को प्रभावित किया। परिणामतः एजरा पाउंड, रिचर्ड, एलडिंग्टन, एप.एस. फ्लिंट आदि इनके अनुयायी हो गए। सन् 1914 ई. में एज़रा पाउन्ड के संपादन में "दि इमैजिस्ट" नाम का एक काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें इन लोगों ने अपने सिद्धांत की मान्यताओं का प्रकाशन किया। कम से कम शब्दों में पूरे चित्र को उतार देना ही इनका आदर्श रहा। इसके लिए शब्द चयन की विशिष्टता पर ये बल देते रहे। क्योंकि सामान्य शब्द की अपनी अर्थवत्ता और चित्रात्मक सांकेतिकता के लिए अद्वितीय बन सकता है। सन् 1909 से लगभग 1930 तक चलने वाले इस आंदोलन का प्रभाव हिंदी कविता में सन् 1940 के बाद दिखाई देता है। अज्ञेय, गिरिजाकुमार, शमशेर, धर्मवीर भारती आदि साहित्यकार बिम्बवादी इसी विचारधारा से प्रेरित जान पड़ते हैं।

## 19.4 थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना

इसकी स्थापना मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल ओल्टकाट ने न्यूयार्क में सन् 1875 ई. में की। इस सोसाइटी के संस्थापक जनवरी 1879 ई. में भारत आये। 1882 ई. में अडयार (मद्रास) में इसकी शाखा खोली गयी। श्रीमती एनीबेसेन्ट 1888 ई. में इस संस्था की इंग्लैंड शाखा से सम्बद्ध हुई और 1893 ई में वे भारत आयीं और सोसाइटी के विकास में

तन-मन-धन से जुट गयीं। इस सोसाइटी का प्रमुख लक्ष्य विश्वबन्धुत्व का प्रचार, आध्यात्मिक जीवन का महत्व, समाज सुधार और शिक्षा आदि का प्रचार करना था। प्रस्तुतः थियोसोफिकल आन्दोलन भारतीय विचारों और परंपरा के अनुकूल ही था। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने समस्त भारत का दौरा किया तथा हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक पक्ष पर अनेक ओजस्वी भाषण दिए एवं उन्होंने घोषित किया–"मैं अपने विगत के संस्कारों के कारण हृदय से तुम्हारे साथ हूँ।" थियोसोफी में उन्होंने अनेक आदर्शों को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु कई शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। बनारस का सेन्ट्रल हिन्दू कालेज इसी तरह का था। इन संस्थाओं ने भारतवासियों में नवीन प्रेरणा शक्ति, अतीत के प्रति श्रद्धा, भविष्य में विश्वास उत्पन्न करके नई आत्म गौरव की भावना का संचार किया। इस आंदोलन से उदारता और समन्वयवादी दृष्टि का विकास तेज़ी से हुआ। सोसाइटी ने राष्ट्रीयता का पोषण सफलता के साथ किया एवं उसने नयी शिक्षा प्रणाली को भारत के विरुद्ध घोषित किया।

**बोध प्रश्न 2**

1) आदर्शवाद क्या था? उसकी मुख्य धारणा को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) अभिव्यंजनावाद और रूपवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए उनकी वैचारिक देन पर दस पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) अस्तित्ववाद ने आधुनिक युग के वैचारिक आधार को कैसे समृद्ध किया? दस पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) मनोविश्लेषणवाद एवं अतियथार्थवाद का स्वरूप क्या है? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

5) मार्क्सवादी विचारधारा क्या है? लगभग सात-आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

6) प्रतीकवाद और बिम्बवाद का अंतर पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

7) समाजवाद और साम्यवाद के वैचारिक आधार में क्या अंतर है? पाँच-छह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास 1**

1) निम्नलिखित के सही उत्तर को (✓) चिह्नित कीजिए–

i) नीचे कुछ नाम दिए हुए हैं बताइए किस दार्शनिक ने कहा था कि "ईश्वर मर गया"– हैडलर, जैसपर्श, नीत्शे, मार्शल

ii) नीचे दिए हुए शब्दों में से बताइये अस्तित्ववाद की दृष्टि में मनुष्य क्या है– वस्तु, मशीन, क्रियात्मक शक्ति।

iii) नीचे कुछ नगरों के नाम दिए हुए हैं बताइए थियोसोफिलक सोसाइटी की भारत में प्रथम शाखा किस नगर में खोली गई– बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली।

iv) नीचे लिखे हुए लेखकों के नामों से बताइए कि किसने हमारे "गरीब किसान और मजदूर" नामक लेख लिखा– श्रीपाद अमृत डांगे, काजी नज़रुल इस्लाम, जनार्दन भट्ट।

2) 1854 में वुड घोषणा-पत्र द्वारा शिक्षा के लिए क्या किया गया? दो वाक्यों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

3) महात्मा गांधी की मानवतावादी भावना के कितने रूप हैं? तीन पंक्तियों में लिखिए–

.....

.....

.....

## 19.5 भारतीय जीवन दृष्टियाँ

अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना से भारत के आर्थिक ढाँचे में बेशुमार परिवर्तन आया। नयी शिक्षा पद्धति लागू हुई। प्रेस और यातायात के साधनों के फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण आरंभ हुआ, वह प्राचीन और मध्यकालीन धार्मिक संस्कारों, रीति-रिवाजों, संगठनों से मेल नहीं खाता था। अतः नये और पुराने संस्कारों के बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की गयी एवं इसी सामंजस्य के साथ ही नये समाज निर्माण की प्रक्रिया भारत में शुरू हुई। भारतीय नव-जागरण के मूल में व्यक्ति स्वातंत्र्य का विशेष महत्व है। बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज ने परंपरागत धर्म को नये समाज के अनुरूप ढालने के पक्षपाती थे। मध्यकाल का सामंजस्य भावना मूलक था किन्तु आधुनिक काल में भावना से काम नहीं चल सकता था, अब तो भावना के स्थान पर तर्क, विवेक, और बुद्धि से काम लेना अनिवार्य हो गया था। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की मान्यताएँ कुछ हद तक बुद्धि, विवेक और तर्क पर ही आधारित है।

### 19.5.1 ब्रह्म समाज

आधुनिक भारत की नींव का पहला पत्थर राजा राम मोहन राय ने रखा क्योंकि विदेश यात्रा ने उन्हें नया दृष्टिकोण दिया था। उन्होंने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के लिए 20 अगस्त 1828 ई. में ब्रह्म समाज की स्थापना की। हिन्दू धर्म की गूढ़ता को भली-भांति समझने के लिए उन्होंने बनारस जाकर कुछ वर्षों तक गीता, उपनिषद आदि का गहन अध्ययन किया। अरबी-फारसी का उन्हें अच्छा ज्ञान था, इन भाषाओं के माध्यम से अफलातून, अरस्तू, प्लाटीनस आदि यूनानी विचारकों का अध्ययन किया। यही कारण है कि उनकी विचारधारा पर इस्लामी ऐकेश्वरवाद के प्रभाव की झलक स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है तथा इसाई धर्म से भी वे प्रभावित थे। उन्हें ये समस्त विचारधारायें प्राचीन औपनिषदिक दर्शन में मिलीं–विशेष रूप से तैतिरीय और कोषातकी में। उन्होंने कर्मकांड और अंधविश्वासों पर कुठाराघात करने के लिए बड़ी सफलता से उपनिषदों का प्रयोग किया। मूर्ति पूजा को उन्होंने धर्म का बाह्याडंबर घोषित किया तथा उसके समर्थन में जितने तर्क दिए जाते थे उनका खंडन उपनिषदों के आधार पर किया। उन्होने स्पष्ट शब्दों में कहा कि परंपरा का प्राचीनतम रूप शुद्ध ब्रह्म की उपासना है न कि मूर्ति-पूजा।

तत्कालीन समाज में राजा राम मोहन राय अकेले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अंधविश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई एवं उनको समाप्त करने का भरसक प्रयास किया। उनकी

विचारधारा में तर्क की ऐसी प्रधानता थी जो लॉक, ह्यूम और रूसो से मेल खाती थी। उनका मत था कि मनुष्य को स्वयं दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने उनके सिद्धांतों को तर्क की कसौटी पर कसना चाहिए और जो अंश तर्कोनुमोदित न हो उन्हें अवश्य ही अस्वीकार कर देना चाहिए।

धार्मिक सुधार और समाजिक सुधार में घनिष्ठ संबंध है। राजाराम मोहन राय इसे अच्छी तरह समझते थे इसी कारण उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर करारा प्रहार किया। उन्होंने जाति प्रथा को अमानवीय और राष्ट्रीयता का विरोधी घोषित किया। बलि प्रथा, सती प्रथा के विरोध में जो उन्होंने प्रयास किया, उसका भारतीय समाज सदैव ऋणी रहेगा। केवल इतना ही नहीं उन्होंने विधवा-विवाह और स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का समर्थन दृढ़ता के साथ किया।

भारत की शिक्षा प्रणाली के परिवर्तन को उन्होंने भारतीय समाज के हित में समझा। यही कारण है कि उन्होंने अंग्रेज़ों की शिक्षा प्रणाली के प्रचार-प्रसार का समर्थन ही नहीं किया बल्कि उचित योग भी दिया। वस्तुतः 19वीं शती के पूर्वार्द्ध तक अंग्रेज़ों ने जो कुछ किया, वह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील कहा जा सकता है। पाश्चात्य संस्कृति को स्वीकार करते हुए भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

ब्रह्म समाज की बौद्धिक अनुभूति, विशुद्ध अध्यात्मवाद और समाज सेवा के कारण लोग आकृष्ट हुए। ब्रह्म समाज को आगे बढ़ाने में देवेन्द्रनाथ टैगोर (1819-1905) और केशवचन्द्र सेन (1838-84) का भी अपना विशेष योगदान रहा है। देवेन्द्रनाथ टैगोर को वेदों की अपौरुषेयता पर विश्वास नहीं था। और उनकी आस्था अन्तःप्रज्ञा पर अधिक थी। केशवचन्द्र सेन बहुत कुछ प्रयोगवाद के समर्थक रहे हैं। ब्रह्म धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने दूर-दूर की यात्राएँ कीं और उन्हीं की प्रेरणा से मद्रास में वेद समाज और बम्बई में प्रार्थना समाज की भी स्थापना हुई। ब्रह्म समाज में केशवचन्द्र सेन के पश्चात् कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो शिक्षित समाज को प्रभावित कर पाता।

## 19.5.2 प्रार्थना समाज

इस समाज के उन्नायक 19वीं शताब्दी के चोटी के बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति महादेव गोविन्द रानाडे थे। उन्हीं के प्रभाव से 1867 ई. में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। रानाडे ने चालीस वर्षों तक सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किया। वे संकीर्ण विचारधारा को कभी भी प्रश्रय नहीं देते थे। देश और समाज की कोई भी ऐसी समस्या नहीं थी, जिसकी ओर उनका ध्यान न गया हो। वे प्रगति और विकास के पक्षपाती थे। ईश्वर को सार्वभौम और स्रष्टा मानते थे एवं आत्मा की अमरता में उन्हें पूर्ण विश्वास था। वे रामानुजाचार्य के द्वैतवाद के समर्थक और शंकराचार्य के अद्वैतवादी के कट्टर विरोधी थे किन्तु वे प्रतिक्रियावादी कभी नहीं थे और न ही उनमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह ही था।

रानाडे के मन में अतीत के प्रति आदर था किन्तु उसे उसी रूप में प्रतिष्ठित करना उन्हें कतई स्वीकार न था। वे मृत को मृत मानकर चलने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मृत अतीत को कभी भी जीवित नहीं किया जा सकता क्योंकि समाज जीवित अवयवों का संघटन है। समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है और चलती रहेगी तथा उसे चलती रहना भी चाहिए अन्यथा समाज मुर्दा हो जायेगा।

रानाडे मनुष्य की समानता के पक्षधर थे और उन्होंने जाति-पाँति के विरोध में अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया तथा स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। यद्यपि वे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित थे लेकिन उन्होंने उसे आँख मूंद कर नहीं स्वीकारा बल्कि जो कुछ स्वीकारा उस पर तर्क-वितर्क करके ही स्वीकारा। अस्तु वे भारतीय समाज को नवीन वैज्ञानिक प्रणाली के अनुरूप ढालने का प्रयास आजीवन करते रहे।

## 19.5.3 रामकृष्ण परमहंस मिशन

इसकी स्थापना विवेकानन्द ने की। वे रामकृष्ण परमहंस के योग्य और होनहार शिष्य थे।

रामकृष्ण परमहंस अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व में परमहंस थे। परमहंस के संबंध में कहा जाता है—इस गरीब, अनपढ़, गंवार, रोगी, अर्धमूर्तिपूजक, मित्रहीन हिन्दू भक्त ने बंगाल को बुरी तरह हिला दिया। विवेकानन्द ने उन्हें बाहर से भक्त और अन्दर से ज्ञानी कहा है। परमहंस ने सभी धर्मों को ईश्वर के पास पहुँचाने का विविध मार्ग माना और ईश्वर की अलौकिक सत्ता में विश्वास व्यक्त करके आध्यात्मिक जीवन बिताने की प्रेरणा दी। उन्होंने भी तुलसीदास की भांति निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत, मूर्त-अमूर्त, पौरस्त्य-पाश्चात्य आदि सभी तत्वों में समन्वय स्थापित किया। उनके मन में माता, भक्त, भगवान, साकार ब्रह्मोपासक, निराकार, ब्रह्मोपासक सभी के प्रति आदर की भावना विद्यमान थी। स्वामी विवेकानन्द का मुख्य प्रयोजन रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करना था। किन्तु सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी रुचि थी। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होंने जाति सम्प्रदाय, छुआछूत आदि का विरोध किया। गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति प्रगाढ़ थी। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—"पूजा के सभी उपकरणों को फेंक दो—शंख, घंटा-घड़ियाल, दीप को प्रतिभा के सम्मुख डाल दो—वैयक्तिक मुक्ति के लिए की गयी साधना, शास्त्रों के अध्ययन का अहंकार छोड़ दो। गाँव-गाँव जाओ और गरीबों की सेवा में अपने आप को निछावर कर दो।" शिक्षितों और उच्च वर्ग को सम्बोधित करके कहा—"जब देश में हज़ारों लोग अज्ञानी और भूखे हैं तो मैं प्रत्येक शिक्षित वर्ग को धोखेबाज कहूँगा। गरीबों के पैसे से पढ़कर भी वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। भारत को केवल जनता से आशा करनी चाहिए। उच्च वर्ग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मर चुका है। धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति दे, जो आत्म-सम्मान और राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। धर्मगत ध्यान यदि व्यक्ति को प्रमादी और निष्क्रिय बनाता है तो उसे त्याग देना चाहिए। तुम्हारे राम-कृष्ण की चिन्ता कौन करता है? तुम्हारी भक्ति और मुक्ति को कौन देखता है? तुम्हारे धर्म-ग्रंथों की प्रवाह कौन करता है?..... यदि मैं अपने देशवासियों को कर्म योग में दीक्षित कर सकूँ और उसके लिए मुझे हज़ारों बार नरक में जाना पड़े तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

स्वामी विवेकानन्द ने भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता, आध्यात्मिक चिन्तन की ऊँचाई को, हीन भावना से ग्रस्त भारतवासियों के सम्मुख रखा और आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य की समता, एकता, बन्धुत्व और स्वतंत्रता की ओर ध्यान आकृष्ट किया तो पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत भारतीयों को पहली बार एहसास हुआ कि हमारी अपनी परंपरा में भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम विश्व के सम्मुख गौरव के साथ रख सकते हैं।

### 19.5.4 आर्य समाज

1867 ई. में दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। वे असाधारण व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति थे और संस्कृत के विद्वान, वाग्मी तथा अत्यन्त मेधावी थे। आर्य समाज के लिए उन्होंने वेदों को आधार बनाया। उनका मत है वेद शाश्वत और अपौरुषेय हैं, वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम है तथा दूसरे धर्म अधूरे हैं। अतः आर्य समाज का कर्तव्य है कि अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में ही दीक्षित करें।

सामाजिक और नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखकर आर्य समाज ने एक आचार संहिता तैयार की। इस आचार संहिता के अनुसार जाति-भेद का विरोध, मनुष्य-मनुष्य की समानता का समर्थन, स्त्री-पुरुष की असमानता का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन और बाल विवाह का विरोध किया गया।

दयानन्द सरस्वती जी ने अनेकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा, बहु-विवाह, ब्राहमण धर्मान्तगर्त कर्मकांड का विरोध किया तथा एकेश्वर की आराधना की प्रेरणा दी। अपने "सत्य प्रकाश" में स्वधर्म, स्वभाषा और स्वदेश प्रेम का नारा लगाकर धर्म और राष्ट्र का अटूट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। भारतीय समाज को एकसूत्र में बांधने के लिए उन्होंने विविध राष्ट्र मूलक सुधारों का प्रचार एवं प्रसार किया और पुरानी रूढ़ियों से बचाने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने पुराणों की निन्दा की, इस्लाम और इसाई धर्म का विरोध किया। आर्य समाज जहाँ एक ओर प्रगतिशील था वहीं दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी भी। जहाँ तक मानवीय समता, अस्पृश्यता आदि का सम्बन्ध है, इसे प्रगतिशील कहा जा सकता है किन्तु मुसलमानों के प्रति जो इसका आक्रामक रुख था वह प्रतिगामी प्रकृति का सूचक है।

यद्यपि दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म के व्याख्याता थे फिर भी पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे क्योंकि उन्हें मालूम था कि भौतिक उन्नति के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण था कि उन्होंने 1886 ई. में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना की। अपने हिन्दूवादी दृष्टिकोण के बावजूद आर्य समाज ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान दिया है। इसका प्रभाव उत्तर भारत के आचार-विचार, रहन-सहन, साहित्य, शिक्षा आदि पर पड़ा। आधुनिक हिंदी साहित्य पर आर्य समाज का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों से व्यापक प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन" में दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा की है।

इन सबके अतिरिक्त अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों ने तत्कालीन समाज, धर्म, और संस्कृति को जन-मानस तक शुद्ध रूप में पहुँचाने का प्रयास किया है। 1861 ई. में आगरा में राधा स्वामी सतसंग की स्थापना शिवदयाल जी ने की। शोषित-पीड़ित मानव की सेवा—शुश्रूषा करना ही इनका भी मुख्य उद्देश्य था।

### 19.5.5 गांधीवादी विचारधारा

गांधीवादी विचारधारा ने भी आधुनिक युगीन भारतीय विचारधारा को बहुत प्रभावित किया। "महात्मा गांधी" बीसवीं शताब्दी के अर्ध भाग में भारतवर्ष को नेतृत्व देने वाली एक महान हस्ती का नाम है। गांधी जी की विचारधारा की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनका चिंतन आधुनिक युगीन अधिकांश विचारधाराओं की तरह किसी तर्क प्रणाली पर आधारित न होकर आत्मानुभूति, आध्यात्मिकता तथा आत्मशक्ति पर आधारित है। आचार्य विनोबा भावे का कहना है कि गांधी जी समाज की परंपराओं को परिपक्व एवं विकसित करना चाहते हैं। इसीलिए वे परिश्रम की समानता, होड़ के अभाव तथा आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाने वाली शिक्षण योजनाओं का प्रस्ताव रखते हैं। सर्वोदय ही उनका सामाजिक आदर्श रहा। उनके जीवन का आदर्श सत्याग्रह रहा और शासनादर्श राम राज्य रहा। समाज के सभी व्यक्तियों और वर्गों की समान उन्नति ही गांधीवाद का लक्ष्य रहा। सत्य और अहिंसा के स्तम्भों पर गांधी जी राम राज्य के भवन निर्माण का आधार रखना चाहते थे। सत्य ही उनकी दृष्टि में ईश्वर का दूसरा नाम था। सत्य के साक्षात्कार से ही वे समबुद्धि की प्राप्ति मानते हैं। अहिंसा सत्य का दूसरा पक्ष है। प्रेम और वैराग्य के समन्वय से अहिंसा की पृष्ठभूमि बनती है और उसके लिए आत्म शुद्धि आवश्यक है। आत्म शुद्धि से ही आत्मा को शांति भी मिलती है और उसी से समाज का कल्याण संभव है। गांधी जी ने कला के बाह्य विकास के लिए भी आंतरिक विकास पर बल दिया। जो कला आत्मा के प्रदर्शन की शिक्षा नहीं देती वह कला तुच्छ है। सच्ची कला तो वही है जो सत्य की अभिव्यक्ति में सहायक हो ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति में सहायक हो। हिंदी के आधुनिक युगीन साहित्य तथा साहित्यकारों पर भी इस विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। गांधी जी का जीवन दर्शन इन साहित्यकारों के सृजन में ढलने लगा। सभी विधाओं में इन्हें देखा जा सकता है। प्रेमचंद, सुदर्शन, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी, पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, भवानी प्रसाद मिश्र आदि अनेक साहित्यकारों पर इनके प्रभाव को देखा जा सकता है।

### 19.5.6 प्रगतिवाद

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित एवं विख्यात "प्रगतिवाद" यथार्थवाद की विचार प्रणाली का ही एक विकसित रूप माना जाता है। 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में आरंभ होने वाले इस साहित्यिक आंदोलन ने सन् 1936 में मुंशी प्रेम चंद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का एक अधिवेशन किया। तभी से प्रगतिवाद का प्रचार आलोचनात्मक तथा रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में बहुत बढ़ने लगा। छायावाद के बाद की काव्यधारा "प्रगतिवाद" के नाम से ही जानी जाती है। प्रगतिवाद का मूल उद्देश्य सामाजिक यथार्थ के आधार पर उस सामाजिक चेतना का जागरण करना था जो छायावाद युग में ह्रासोन्मुख थी। समाज के उपेक्षित वर्गों यथा—कृषक, श्रमिक तथा अछूत वर्गों में सामाजिक चेतना के जागरण ही प्रगतिवादी लेखकों का उद्देश्य रहा। इस विचारधारा के विकास में राहुल सांकृत्यायन, मन्मथनाथ गुप्त, रांगेय राघव, यशपाल तथा रामविलास

शर्मा आदि ने पर्याप्त योग दिया। "प्रगति" से इनका तात्पर्य है जन स्तर पर चेतना का जागरण। 1938 और उसके बाद की प्रगतिवादी कृतियों में जिस वर्ग संघर्ष, मानवतावाद तथा वैयक्तिक उद्घोष का रूप देखने को मिलता है उसकी वैचारिक झलक हमें प्रसाद, निराला तथा महादेवी वर्मा के साहित्य में भी देखने को मिलती है। प्रसाद के "आँसू" का उत्तरार्द्ध मानव की विषमता और वेदना का द्योतक है। महादेवी की रचनाओं में भी करुणा का आदर्श प्रेरक मानवतावादी मनोभाव की ही अभिव्यक्ति है। निराला का "भिक्षुक", "तोड़ती पत्थर" तथा "बादल राग" और पंत की "युगांत" आदि में प्रगतिवाद की भूमिका को सहज ही देखा जा सकता है।

"भारतीय प्रगतिशील लेखक मंच" की स्थापना सन् 1935 में डॉ. मुल्कराज आनन्द, सज्जाद ज़हीर तथा भवानी भट्टाचार्य आदि भारतीय लेखकों ने लंदन में की थी और उसकी प्रेरणा सन् 1935 में भारतीय लेखकों ने पेरिस में संस्थापित "प्रगतिशील लेखकों के अंतर्राष्ट्रीय संघ" से मिली थी जिसके प्रथम सभापति अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री ई.एम. फार्स्टर थे। इसके संघटन में मैक्सिम गोर्की का भी हाथ रहा। इसका उद्देश्य था समाजवादी शक्तियों के प्रसार और फासिस्ट विरोधी शक्तियों के प्रसार को रोकना। हिंदी में जैसा कि पहले कहा गया इस प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन प्रेमचंद की अध्यक्षता में सन् 1936 में लखनऊ में हुआ। इसमें समाज के नये रूप के साहित्य में प्रतिबिंबित करने, वैज्ञानिक युक्तिवाद के साहित्य में उतारने तथा प्रगतिशील विचारधारा के गति देने पर बल दिया गया।

सन् 1938 में कलकत्ता में इस संघ का दूसरा अधिवेशन हुआ। इसमें देश के आर्थिक, सामाजिक और साहित्यक परिवेश पर प्रकाश डालते हुए लेखकों को उनके प्रति सजग होने की प्रेरणा दी गई। सन् 1942 में संघ का तीसरा अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इस अधिवेशन में बढ़ते हुए फासिज्म का विरोध मुख्य मुद्दा रहा। फासिज्म की विजय ने प्रगतिशील विचारों के विकास का मार्ग बंद कर दिया था। इस संघ का चौथा अधिवेशन सन् 1943 में बम्बई में हुआ, जिसकी अध्यक्षता "डांगे" ने की। इसमें राष्ट्र के मनोबल को सुदृढ़ बनाने के लिए जनता के साहस एवं संकल्प को मजबूती प्रदान करने का उद्देश्य रखा गया। रचनात्मक कार्यों की प्रेरणा इसमें दी गई। संघ का पाँचवा अधिवेशन 1950 में पुनः बंबई में हुआ। इसका संचालन डॉ. राम विलास शर्मा ने किया था। नगर में इस अधिवशेन पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। संघ का अंतिम और छठा अधिवेशन सन् 1953 में दिल्ली में हुआ जिसमें विश्व संघ के स्वरूप को व्यापक बनाने का निश्चय किया गया। अतः प्रगतिशील लेखक संघ ने भी अपने कार्यकाल में भारतीय आधुनिक लेखकों को बहुत प्रभावित किया। इस संघ ने इसी तरह से कई सम्मेलन भी किए। पूरे भारत के अलग-अलग राज्यों में भी प्रगतिशील लेखकों की बैठकें होती रहीं। काशी में भी प्रगतिशील लेखकों के दो महत्वपूर्ण अधिवेशन हुए जिसमें– प्रथम के सभापति अंबिका प्रसाद वाजपेयी थे तथा दूसरे के सभापति थे– नंद दुलारे वाजपेयी जी। प्रथम अधिवेशन में केंद्रीय भाषा अथवा राष्ट्र भाषा के अस्तित्व पर बल दिया गया जबकि दूसरे में प्रगतिशील लेखक संघ को एक साहित्यिक संस्था बताते हुए उसे जातीय संकीर्णता, सांप्रदायिकता और राजनीतिक दलबंदी से दूर रहने पर बल दिया गया।

प्रगतिशील लेखकों के इस सम्मेलनों, विचारों और धारणाओं का प्रभाव हिंदी साहित्य पर व्यापक रूप में पड़ा। छायावादी कवि निराला और पंत के साहित्य में प्रगति के इस स्वर को देखा जा सकता है। "रुपाभ", "जागरण" तथा "हंस" आदि पत्रिकाओं ने भी इसी स्वर को बुलंद किया। "रुपाभ" का संपादन पंत जी तथा पं. नरेन्द्र शर्मा ने किया। "जागरण" के संपादकों में आचार्य नरेन्द्र देव, प्रेमचंद तथा सम्पूर्णानंद जी उल्लेखनीय हैं। "हंस" का संपादन प्रेमचंद जी ने किया। इनके माध्यम से अनेक प्रगतिशील लेखकों को साहित्य क्षेत्र में आने का अवसर मिला।

## 19.6 वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आदर्शवादी जीवन-दर्शन

आधुनिक युग की वैचारिक पृष्ठभूमि का एक महत्वपूर्ण पक्ष है–सांस्कृतिक दृष्टि से भारत

में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय। विज्ञान के नए-नए आविष्कारो ने समाज के विभिन्न वर्गों में अंधविश्वास को नष्ट किया। अशिक्षित वर्ग भले ही युगीन अंधविश्वासों की जकड़ से न छूट सका हो किंतु शिक्षित तथा मानसिक रूप से प्रबुद्ध लोगों ने जीवन की सत्यता को स्वीकारा। राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गांधी आदि समाज सुधारकों ने बौद्धिकता के द्वार पर जो दस्तक दी थी उससे नए भारत का भाग्योदय हुआ। समाज के लिए कोड़ बनी घातक सती प्रथा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता तथा धार्मिक कर्मकांड आदि के उन्मूलन की प्रेरणा इन लोकनायकों ने दी। अब जनता भाग्य के भरोसे खामोश बैठने के स्थान पर कर्मठता तथा पुरुषार्थ पर भरोसा करने लगी। आदर्श और कल्पना का स्थान अब यथार्थवाद लेने लगा था। मार्क्स, फ्रायड, डार्विन, बरट्रेंट रसल तथा एंगेल्स आदि की विचारधाराओं ने जहाँ एक ओर कर्म में आस्था रखने की राह दिखाई वहीं अनेक पारंपरिक अंधविश्वासों से मुक्ति दिलाकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्रदान किया।

भारतीय जीवन दर्शन में अब श्रद्धा और धर्म के साथ-साथ बौद्धिकता और तर्क का भी समावेश हो गया। ईश्वर के भरोसे सब कुछ छोड़ देने के स्थान पर अब मानव को अपनी कर्मनिष्ठा एवं शक्ति पर विश्वास होने लगा। प्राकृतिक दुर्घटनाओं से बचने के लिए अब ईश्वर की उपासना ही पर्याप्त न रही, मानव का सामर्थ्य भी अब केंद्र में आ गया।

इस युग के साहित्य में इन मूल्यों एवं विचारों को सहज ही देखा जा सकता है। मानवतावादी विचारधारा की इस युग के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में देखी जा सकती है। साहित्यकारों ने मानव की महानता का वर्णन भी खुलकर साहित्य में किया।

भारतीय चिंतन में परंपरागत आदर्शवादी जीवन-दर्शन को महत्व दिया गया। इनका दृष्टिकोण भावना प्रधान रहा। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-चेतना तथा सांस्कृतिक निष्ठा आदि के इस वैचारिक-आधार को भी साहित्य में अभिव्यक्ति होते देखा जा सकता है। उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भारतीय आधुनिक युग की वैचारिक पृष्ठभूमि में पाश्चात्य विचारों का बौद्धिक एवं भारतीय विचारों का भावनात्मक मिश्रण मिलता है। यही बुद्धि एवं हृदय का मिश्रण है जिसे आनन्द की प्राप्ति का आदर्श माना जाता है।

**बोध प्रश्न 3**

1) ब्रह्म समाज की स्थापना किसने और क्यों की थी? लगभग सात-आठ पंक्तियों में लिखिए–

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

2) प्रार्थना समाज का मूल वैचारिक आधार क्या रहा? सात-साठ पंक्तियों में लिखिए–

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

3) "राम-कृष्ण मिशन" की आधुनिक युग के वैचारिक आधार को क्या देन है? दस पंक्तियों में लिखिए–

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

4) "आर्य समाज" की सामाजिक भूमिका क्या है? आठ-दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

5) गांधीवादी विचारधारा की विशिष्टता क्या थी और उसने किन-किन साहित्यकारों को प्रभावित किया? पाँच पंक्तियों में लिखिए–

.....
.....
.....
.....
.....

6) प्रगतिवाद की "वैचारिक देन" क्या है? उसने कौन-कौन सी नई धारणाएँ साहित्य और समाज को प्रदान कीं? दस पंक्तियों में लिखिए–

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

7) i) निम्नलिखित वाक्यों में से एक वाक्य सही है। उसे लिखिए–

1) केशवचंद सेन प्रयोगवाद के समर्थक थे।

2) गोविन्द रानाडे को आत्मा की अमरता पर पूर्ण विश्वास नहीं था।

3) स्वामी विवेकानन्द मानव समता के पक्षपाती नहीं थे।

4) रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द के शिष्य थे।

ii) निम्नलिखित समाज सुधारकों में से किसे आधुनिक भारत की नींव का प्रथम पत्थर कहा जाता है–

गोविन्द रानाडे, स्वामी विवेकानन्द, दयानंद सरस्वती, राजाराम मोहन राय।

iii) नीचे कुछ सन् दिए हुए हैं उनमें से बताइए कि प्रार्थना समाज की स्थापना कब हुई–

1868 ई., 1867 ई., 1910 ई., 1828 ई.।

iv) निम्नलिखित वाक्य किस महान दार्शनिक का है–

"यदि मैं अपने देशवासियों को कर्मयोग में दीक्षित कर सकूँ और उसके लिए यदि मुझे हज़ारों बार नरक में जाना पड़े तो मुझे प्रसन्नता होगी।"

## 19.7 सारांश

यह बात सच है कि अंग्रेज़ों ने भारत में नयी अर्थव्यवस्था, औद्योगिकता संचार सुविधा, प्रेस अपने निजी स्वार्थ के लिए स्थापित किया, किन्तु इससे यह इनकार नहीं किया जा सकता कि इससे भारत और भारतवासियों का हित भी हुआ। पूँजीवादी समाज की भौतिकता के कारण धर्म सुधारकों को इहलौकिक आकांक्षाओं का वाहक बनने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्हें एक ओर विदेशियों के समक्ष अपने धर्म एवं संस्कृति की वकालत करनी पड़ी तो दूसरी ओर अपने देशवासियों को धर्म का नया अर्थ प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। पुराणपंथी और समाज सुधारक दोनों ने अपने-अपने मत का अपने-अपने ढंग से धर्मशास्त्रों का पल्ला पकड़ा। राजाराम मोहन राय को सती प्रथा को उन्मूलित करने के लिए धर्मशास्त्रों की यदि आवश्यकता हुई तो विद्यासागर ने सिद्ध किया कि धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है एवं दयानन्द सरस्वती को सामाजिक सुधारों को वैध प्रमाणित करने के लिए वेदों की ओर उन्मुख होना पड़ा।

इस प्रकार परंपरावादी और धर्म सुधारक दोनों भारत के अतीत के गौरव को जागृत करने में सफल हुए तथा भारतवासियों को आत्म-सम्मान का बोध कराया। दोनों ने पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का समर्थन किया तथा नई संस्थाओं की स्थापना भी की। एवं पुरानी शिक्षा संस्थाओं के रूप में तत्कालीन आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को कुछ सीमा तक बुद्धि सम्मत भी बनाया।

इन वैचारिक आन्दोलनों ने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और साहित्य में काफी परिवर्तन ला दिया। अब साहित्यकार अपने चारों ओर के जीवन से, परिस्थिति से, इतना अधिक और इतने प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हुआ कि इससे पूर्व कभी न हुआ था।

## 19.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**बीसवीं शताब्दी – हिन्दी साहित्य**: नए संदर्भ– डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिंदी साहित्य भवन, प्रा. लि., इलाहाबाद।

**आधुनिक साहित्य की भूमिका**: डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

**आधुनिक हिंदी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव**– डॉ. श्रीकृष्ण पुरोहित, उमा प्रकाशन, उदयपुर।

**यथार्थवाद**– डॉ. शिवकुमार मिश्र, प्रका.–दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, नई दिल्ली।

**हिंदी का आधुनिक साहित्य**– डॉ. सत्यकाम वर्मा, प्राक. भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली।

**हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ**– डॉ. जयकिशन प्रसाद, प्रका. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

**हिंदी कवियों में मार्क्सवादी चेतना**– डॉ. जनेश्वर वर्मा, प्रका. ग्रंथम कानपुर।

**आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास**– डॉ. बच्चन सिंह, प्रका. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

## 19.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) देखिए, भाग 19.2.1
   ii) देखिए, 19.2.2
2) देखिए, 19.2.3
3) देखिए, 19.2.4
4) अ-2, ब-3, स-1

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए, भाग 19.3.2
2) देखिए, भाग 19.3.2
3) देखिए, भाग 19.3.3
4) देखिए, भाग 19.3.4
5) देखिए, भाग 19.3.6
6) देखिए, भाग 19.3.8
7) देखिए, भाग 19.3.7

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए, भाग 19.5.1
2) देखिए, भाग 19.5.2
3) देखिए, भाग 19.5.3
4) देखिए, भाग 19.5.4
5) देखिए, भाग 19.5.5
6) देखिए, भाग 19.5.6
7) i) वाक्य संख्या-3
   ii) राजा राममोहन राय
   iii) 1867 ई.
   iv) स्वामी विवेकानंद

**अभ्यास 1**

1) i) नीत्शे
   ii) क्रियात्मक शक्ति

iii) मद्रास
iv) जनार्दन भट्ट

2) i) जन-समूह को शिक्षित करने के लिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया।

ii) उच्च शिक्षा के प्रोत्साहन हेतु विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई।

3) महात्मा गांधी की मानवतावादी भावना के प्रमुख रूप हैं—
अहिंसा, सत्याग्रह, अछूतोद्धार, हिंदू-मुस्लिम एक्य, आर्थिक समन्वय, ग्रामोद्धार और जमींदारी-विरोध।

# इकाई 20 आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ

## इकाई की रूपरेखा


20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि
  20.2.1 गद्य और पद्य
  20.2.2 ब्रजभाषा गद्य
  20.2.3 खड़ी बोली गद्य का प्रारंभ
20.3 आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास
  20.3.1 आधुनिक हिंदी साहित्य: विकास एवं कारण
  20.3.2 प्रारंभिक हिंदी साहित्य
  20.3.3 तत्कालीन अंग्रेज़ी सरकार की भाषा नीति
20.4 प्रारंभिक हिंदी साहित्य का महत्व
20.5 सारांश
20.6 शब्दावली
20.7 उपयोगी पुस्तकें
20.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 20.0 उद्देश्य

"हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन में आप हिंदी साहित्य का इतिहास एव साहित्य का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। अब तक आपने पाँच खंडों में विभिन्न काल से संबंधित काव्य की प्रवृत्तियों एवं विशिष्ट कवियों की जानकारी हासिल की है। छठा खंड कई मायनों में पूर्व के खंडों से भिन्न है। इस खंड की पहली और प्रमुख भिन्नता इस बात की है कि जहाँ अब तक आप हिंदी काव्य का ही अध्ययन कर रहे थे वहाँ इस खंड द्वारा हिंदी गद्य का अध्ययन प्रारंभ करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- गद्य और पद्य के अंतर को स्पष्ट कर पायेंगे,
- आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर सकेंगे,
- बता सकेंगे कि किस प्रकार गद्य का लेखन प्रारंभ हुआ तथा आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास के कारणों को बता सकेंगे और
- आधुनिक हिंदी साहित्य के महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।

## 20.1 प्रस्तावना

हिंदी ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन हिंदी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य पर आधारित है। आपने अब तक पाँच खंडों में हिंदी साहित्य के इतिहास की जानकारी हासिल की है और साथ ही साथ विभिन्न कालों में रचे गए काव्यों की जानकारी भी प्राप्त की। आधुनिक काल में पद्य का स्थान गद्य ने ले लिया। साहित्य में पद्य की रचना तो होती रही लेकिन विभिन्न कारणों से गद्य को लोकप्रियता मिलती गई। आधुनिक युग में जीवन के विभिन्न पक्षों में बदलाव आया। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ने मानव जीवन को प्रभावित किया। साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। गद्य मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का माध्यम बनता चला गया ऐसा नहीं था कि पहले गद्य न रहा हो। आपस में विचारों के आदान-प्रदान के लिए तो गद्य का ही प्रयोग होता था, किन्तु साहित्य में गद्य का

स्थान नहीं के बराबर था। आधुनिक काल में विभिन्न विधाओं के आगमन से गद्य साहित्य को प्रोत्साहन मिलता गया। हिंदी गद्य का प्रारंभ और विकास के रास्ते में अनेक उतार-चढ़ाव आए। बाद में हम देखेंगे कि किस प्रकार खड़ी बोली हिंदी में गद्य रचना का निरंतर विकास होता गया। तत्कालीन शासकों की भाषा नीति ने किस प्रकार इसे प्रभावित किया और किस प्रकार आधुनिक आविष्कारों ने इस भाषा साहित्य को आगे बढ़ने में मदद पहुँचाई। पाठ में आरंभिक गद्य रचनाओं के उदाहरणों से आप आज के गद्य की तुलना कर यह समझ पाएंगे कि भाषा में किस प्रकार परिवर्तन आया। पाठ में इस बात की जानकारी भी दी जायेगी कि गद्य विद्याओं में किस रचनाकार ने क्या योगदान दिया। रचनाकार की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी दिया जायेगा। तो आइए सर्वप्रथम हम यह जाने कि गद्य या पद्य में अंतर क्या है और आरंभिक हिंदी गद्य किस प्रकार का था।

## 20.2 आधुनिक हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि

### 20.2.1 गद्य और पद्य

आज जब आप किसी उपन्यास या कहानी का अध्ययन कर रहे होते हैं तो आपको ऐसा अवश्य लगता होगा कि उपन्यास या कहानी का पात्र मानो आपके सामने हो और आप भी उनकी बातचीत या विचारों में शामिल हों। इसी तरह जब आप किसी कविता का वाचन कर रहे हैं तो आपको कुछ और ही प्रकार का अनुभव होता है। आप स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं कि उपन्यास या कहानी की भाषा और कविता की भाषा में अंतर है।

उपन्यास-कहानी की भाषा बोल-चाल की भाषा के नजदीक होती है, जबकि कविता की भाषा में छन्द, लय आदि होता है। साहित्यिक भाषा में उपन्यास, कहानी को गद्य और छन्दबद्ध रचना को काव्य की संज्ञा दी जाती है। छन्दबद्ध रचना में गेयता का गुण विद्यमान होता है, जबकि गद्य में भाषा व्याकरण के अनुरूप होती है। आप अगर छानबीन करें तो पाएंगे कि पूरे विश्व में साहित्य के क्षेत्र में प्रथमतः काव्य रचना का ही प्रमुख स्थान था

भारत में भी साहित्य की रचना काव्य में ही होती थी। जिस प्रकार यूनान में "इलियड" और "ओडिसी" नामक महाकाव्यों की रचना हुई वैसे ही भारत में "रामायण" और "महाभारत" जैसे महाग्रंथ रचे गये। प्रश्न उठता है कि आखिर साहित्य रचना के लिए काव्य को ही क्यों स्थान दिया गया। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है गेयता, छन्दोबद्धता और लय के कारण काव्य को यांद रखना आसान होता था। पहले मुद्रण की सुविधाएँ कम थीं। आज के समान न तो कागज का इस्तेमाल होता था और न ही प्रेस जैसी सुविधा ही थी। काव्य रचना को पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक याद रख कर उसे सुरक्षित रखा जाता था। लेकिन ऐसी बात नहीं कि उन दिनों गद्य रचना होती ही न हो। भावों के अभिव्यक्ति के लिए तो काव्य रचना ही उपयुक्त थीं किन्तु सिद्धांत निरूपण के लिए गद्य का प्रयोग भी होता था। संस्कृत साहित्य में ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे। बाणभट्ट ने "कादम्बरी" की रचना गद्य में ही की है। विश्व विख्यात उपदेशपूर्ण रचना "पंचतंत्र" भी गद्य में ही है। इसके रचयिता विष्णु शर्मा थे।

प्रश्न यह है कि आधुनिक काल में पद्य का स्थान गद्य ने क्यों ले लिया इसका उत्तर भी आसान है। प्रमुख कारण था मुद्रण की सुविधा का आरंभ। अंग्रेज़ों के आगमन के साथ-साथ इस मुद्रण प्रणाली का भी आगमन हुआ। यातायात के विकास के तेज साधनों ने समाचार-पत्रों और पत्र-पत्रिकाओं के विकास में तेजी लाई। विचार-विनिमय के लिए गद्यात्मक भाषा ही उपयुक्त थी। मुद्रण प्रणाली का जैसे-जैसे विकास एवं विस्तार होता गया, वैसे-वैसे गद्य लेखन को भी प्रोत्साहन मिलता गया।

### 20.2.2 ब्रजभाषा गद्य

आज हिंदी गद्य साहित्य बहुत विकसित रूप में हमारे सामने है। लेकिन इस विकसित रूप को प्राप्त करने में उसे लम्बा सफर तय करना पड़ा। आइए देखें कि वर्तमान रूप में आने

से पहले हिंदी गद्य को किन-किन रास्तों से गुजरना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले विभिन्न भारतीय भाषाओं की तरह हिंदी-भाषा में भी गद्य रचनाएँ बहुत कम पायी जाती थीं। आज वर्तमान समय में हिंदी में जितनी भी साहित्यिक रचनाएँ हो रही हैं वह खड़ी बोली में ही हो रही हैं। किन्तु प्राचीन काल में खड़ी बोली की रचनाएँ नगण्य रूप में ही पायी जाती हैं। उस समय साहित्य की भाषा ब्रजभाषा थी। बहुत दिनों तक ब्रजभाषा में ही साहित्यिक रचनाएँ होती रहीं। भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम काव्य रचना ही थी, किन्तु विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक अलग प्रकार की भाषा का प्रयोग होता था। बोलचाल का रूप लिए हुए यह भाषा गद्यात्मक भाषा ही थी। इस गद्यात्मक ब्रजभाषा में हमें कुछ रचनाएँ मिलती हैं। हिंदी गद्य साहित्य के विकास में ऐसी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। सामान्यतः समाज में दो प्रकार की भाषा का प्रचलन होता है। एक तो जनसाधारण की भाषा होती है और दूसरी विद्वानों की। विद्वानों की भाषा आम आदमियों की भाषा से भिन्न होती है। प्रायः साहित्य में ऐसी ही भाषा का प्रयोग होता है। जनसाधारण की भाषा बोलचाल की होती है। विद्वानों को अपनी बात जनता तक पहुँचाने के लिए जनसाधारण की बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करना होता है। आरंभिक दिनों में उपदेशक या विद्वान अपने संदेश को जनता तक पहुँचाने के लिए जनसाधारण की बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करते थे। इस प्रकार गद्यात्मक भाषा का प्रयोग शुरू हुआ। इस प्रकार की गद्यात्मक भाषा द्वारा लेखक अपना संदेश जनता तक सुगमता से पहुँचा सकते हैं। आरंभिक ब्रजभाषा गद्य इसी रूप में पाया जाता है। काव्य ग्रंथों में व्यक्त विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए ग्रंथों की टीकाएँ गद्य की भाषा में ही लिखी गईं। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिंदी साहित्य" के इतिहास में इसी प्रकार की एक गद्य रचना का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार इस प्रकार के गद्य पुस्तक संवत् 1400 के आसपास का है और रचनाकार राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इस ब्रजभाषा गद्य का नमूना देखिए–

> "श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद, आनंद स्वरूप हैं सरीर जिन्हि कों, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जू हौं जोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करता हैं।"

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट पता चलता है कि उन दिनों गद्य रचनाएँ भी होती थीं। भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत गद्य रचनाएँ पायी जाती हैं। आचार्य वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विठ्ठलनाथ जी ने "शृंगार रस मंडन" नामक एक गद्य रचना की थी। उनकी भाषा का स्वरूप देखिए।

> "प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषैं सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबिं के इनके मंद हास्य ने जीते हैं।"

ऊपर आपने जो दो उदाहरण देखें वे अपरिमार्जित और अव्यवस्थित हैं। ब्रजभाषा गद्य का व्यवस्थित रूप हमें 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की दो रचनाओं में देखने को मिलता है। ये दो रचनाएँ हैं–"चौरासी वैष्णवन की वार्ता" तथा "दो सो बावन वैष्णवन की वार्ता", दूसरी रचना "औरंगजेब के शासन काल की है। इन दोनों रचनाओं का प्रचार वल्लभ संप्रदाय के लोगों में था। इनकी रचना भक्ति भाव के प्रचार के उद्देश्य से की गई थी। इन दोनों गद्य रचनाओं में वैष्णव भक्तों की महिमा को व्यक्त करने वाली कथाएँ लिखी गई है। हम इन रचनाओं के थोड़े अंश उदाहरण के लिए रखेंगे जिससे आपको स्पष्ट पता चलेगा कि इन रचनाओं में भाषा का व्यवस्थित रूप रख गया है।

> "सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढयो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत है सबको खंडन करो, ऐसा बाको नेम हतो। चाही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन परयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयी।"

संवत् 1660 के आसपास की एक और गद्य रचना का उदाहरण शुक्ल जी ने दिया है। इस रचना का नाम है "अष्टयाम" और इसके रचयिता थे नाभादास जी। इस ब्रजभाषा गद्य रचना में श्री राम के दिनचर्या का वर्णन है। इस रचना की भाषा पहले की रचनाओं की भाषा से कुछ अधिक व्यवस्थित है। निम्नलिखित उदाहरण को ध्यान से पढ़ने पर आप स्वयं इसका अंदाजा लगा सकते हैं।

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ट महाराज के चरन हुई प्रनाम कर करते भए। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू निकट बैठते भए।"

रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में संवत् 1760 के बाद की एक गद्य रचना "नासिकेतोपाख्यान" का उदाहरण दिया है। इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं हो पाया। इस रचना की भाषा भी व्यवस्थित है–

"हे ऋषीश्वरो ! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। कालै वर्ण महादुख के रूप, जम किंकर देखें, सर्प, बिच्छू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े-बड़े ग्रध देखे"

ब्रजभाषा गद्य के कुछ और उदाहरण शुक्ल जी ने दिए हैं। एक उदाहरण "आइने अकबरी की भाषा वचनिका" नाम की बड़ी पुस्तक का प्रस्तुत है। इसकी रचना लाला हीरालाल ने संवत् 1852 में जयपुर के नरेश सवाई प्रताप सिंह की आज्ञा से की थी। इस गद्य रचना की कुछ पंक्तियों को देखकर आप अनुमान लगा सकते हैं कि इसकी भाषा बोलचाल की है और इसमें अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है–

"अब शेख अबुलफज़ल ग्रंथ को करण प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादरशाह की तारीफ लिखने को कसद करै है अरू कहै है–"

इस प्रकार ब्रजभाषा गद्य रचना के छिटपुट उदाहरण हमें मिल जाते हैं। किन्तु इसकी विकसित परंपरा नहीं मिल पाती। प्रश्न उठता है कि आखिर ब्रज भाषा गद्य का विकास क्यों नहीं हो पाया। विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, कि ब्रजभाषा में परिमार्जित गद्य क्षमता का विकास नहीं हो पाना ही इसके विकास में वाधा बनी। ब्रजभाषा में गद्य क्षमता का विकास क्यों नहीं हो पाया। हुआ यूँ कि ब्रजभाषा अपने सीमित क्षेत्र में ही बनी रही। भाषा के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका संपर्क भाषा के रूप में विकास हो। यह प्रक्रिया ब्रजभाषा में नहीं हो पायी फलतः अपने क्षेत्र में ही उसे लोकप्रियता मिली बाहर नहीं। यही कारण है कि इसमें गद्य की क्षमता का विकास नहीं हो पाया। ब्रजभाषा काव्य के लिए तो बनी रही किन्तु गद्य का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। चूँकि खड़ी बोली का विकास संपर्क भाषा के रूप में हुआ। अतः इसमें गद्य की क्षमता का विकास होता गया और आने वाले समय में यह गद्य साहित्य का आधार बन गई। पं. रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन कितना सटीक है कि "खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी।

### 20.2.3 खड़ी बोली में गद्य का प्रारंभ

ब्रजभाषा गद्य का संपर्क भाषा के रूप में विकास नहीं हो पाया यही कारण है कि इसका स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। किंतु खड़ी बोली ही क्यों ब्रजभाषा का स्थान ले पायी, आइये इस पर विचार करें। खड़ी बोली जन साधारण के बोलचाल की भाषा थी। धीरे-धीरे लेखकों ने इस भाषा में साहित्य रचना आरंभ कर दी। प्रारंभ में तो पद्य की रचनाएं ही होती थी किन्तु धीरे-धीरे गद्य रचनाएँ भी होने लगी। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति ने इस भाषा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

खड़ी बोली दिल्ली और उसके आसपास के लोगों की भाषा थी। जनसंपर्क के लिए इस भाषा का प्रयोग बढ़ने लगा था। मुसलमानों के आगमन से खड़ी बोली का विस्तार हुआ। चूँकि मुसलमान बाहर से आए थे और उनकी भाषा फारसी थी अतः यहाँ की जनता से संपर्क के लिए खड़ी बोली ही माध्यम बनी। मुगल साम्राज्य की स्थापना के कारण देश में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हुई। मुगलों की मातृ भाषा भी फ़ारसी थी। राज्य का कार्य चलाने के लिए उन्हें भी एक ऐसी भाषा की तलाश थी जिससे वे जनता से संपर्क बना सकें। चूँकि खड़ी बोली ही संपर्क भाषा के रूप में थी अतः इसका ही सहारा लिया गया। धीरे-धीरे फ़ारसी मिश्रित खड़ी बोली से बोलचाल की नई शैली का जन्म हुआ। शिष्ट लोग इस बोल-चाल की भाषा को फारसी लिपि में लिखने लगे। इस नई शैली को विभिन्न नामों जैसे हिंदी, हिंदवी, रेख्ता हिन्दुई से पुकारा गया। बाद में यही मिश्रित शैली उर्दू के नाम से जानी गई।

देश में मुसलमानों के फैलने से खड़ी बोली का भी विस्तार होता गया। शासक वर्ग भी मुसलमान ही था और उसके द्वारा भी इसी भाषा का प्रयोग होता था। शिष्ट समुदाय की भाषा होने के कारण इसका विकास होता गया। चौदहवीं शताब्दी में इस भाषा में पद्य रचना होने लगी थी। शुद्ध खड़ी बोली में प्रमाणिक रचना के रूप में हम अमीर खुसरो की पहेलियों को देख सकते हैं।

एक थाल मोती से भरा, सबके ऊपर औंधा धरा।
चरों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।।

रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है कि खुसरो ने कुछ गद्य रचनाएँ भी की थीं। किन्तु उसके प्रमाण नहीं मिल पाए हैं। जिस प्रकार की खड़ी बोली का प्रयोग अमीर खुसरो ने किया उस प्रकार की खड़ी बोली का विकास दक्षिण के राज्यों में हुआ। डॉ. परमानंद पांचाल ने अपनी पुस्तक "दक्खिनी हिंदी: विकास और इतिहास में" इस प्रकार के कई प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस भाषा का विकास दक्खिन प्रदेशों में हो रहा था। पांचाल जी ने लिखा है कि 14वीं से 18वीं शताब्दी तक दक्खिनी हिंदी में अनेक साहित्यिक रचनाएँ हुईं। इनमें से गद्य रचनाओं का प्रमुख स्थान है। ख्वाजा बन्दा नवाज गैसू दराज (13-22-1433) शाह मीरां जी (1496) बुरहानुद्दीन जानम (1544-1583) और मुल्ला वज़ही जैसे साहित्यकारों ने अपनी काव्य रचनाओं के साथ गद्य ग्रंथों की भी रचना की। मुल्ला वज़ही द्वारा 1633 ई. में लिखे "सबरस" ग्रंथ द्वारा खड़ी बोली गद्य का उदाहरण प्रस्तुत है:

"नकल एक शहर था। शहर का नाऊँ सीस्तान। इस सीस्तान के बादशाह का नाऊं अकलदीन और दुनियां का सारा काम उस तै चलता, इसके हुक्म बांन जारी कई नई हिलता ····· वह चारों लोकों में इज्जत पाए।"

हमने ऊपर जिक्र किया है कि तत्कालीन राजनीतिक कारणों द्वारा खड़ी बोली का विस्तार हुआ। मुगल बादशाहों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। चूँकि शासक वर्ग खड़ी बोली द्वारा ही जनता से संपर्क बना रहा था अतः इस भाषा का विस्तार होना स्वाभाविक ही था। किन्तु औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। दिल्ली तो मुगल साम्राज्य की राजधानी थी ही। शक्तिशाली साम्राज्य के अंतर्गत उसका विकास होना और स्वाभाविक ही था। साथ ही उसके आसपास के शहर जैसे आगरा आदि भी उन्नत अवस्था में थे। किन्तु साम्राज्य के पतन के साथ ही पश्चिमी शहरों की समृद्धि नष्ट होती गई। इसके स्थान पर लखनऊ, पटना मुर्शिदाबाद आदि पूर्वी शहर समृद्ध होने लगे। जिस प्रकार दिल्ली आदि से मीर-इंशा आदि शायर पूर्वी प्रदेशों की ओर आने लगे उसी प्रकार व्यापारी वर्ग भी व्यापार की उन्नति के लिए पूर्वी शहरों की ओर आने लगे। इन व्यापारियों के साथ संपर्क भाषा खड़ी बोली भी आई। अतः स्वभावतः ही खड़ी बोली का विस्तार होता गया।

चूँकि यह खड़ी बोली जनता के बीच आदान-प्रदान की भाषा थी अतः इसमें स्वाभाविकता अधिक थी। मुल्लों और मुंशियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली कृत्रिम भाषा की तरह इनमें बनावटीपन नहीं था।

खड़ी बोली में रचित अमीर खुसरों की पहेली का उदाहरण आपने देखा है किन्तु उससे बहुत पहले भी अपभ्रंश काव्य की रचनाओं में भी प्राचीन खड़ी बोली का उदाहरण मिल जाता है। एक उदाहरण देखिए–

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि! महारा कंतु। यह रचना हम्मीर देव के समय का है।

तत्पश्चात् भक्तिकाल में भक्त कवियों ने भी खड़ी बोली का मिश्रित रूप प्रस्तुत किया है। कबीर का यह दोहा देखिए:

कबीर कहता जाता हूँ, सुनता है सब कोई।
राम कहे भला होयगा, हहितर भला न होई।।

इस प्रकार खड़ी बोली में पद्य रचना की परंपरा भी प्राचीन काल से रही, लेकिन संपर्क भाषा के रूप में विस्तार के साथ ही इस भाषा में गद्य रचना का विकास भी होने लगा। खड़ी बोली गद्य रचना का प्रमाणिक रूप हमें मुगल बादशाह अकबर के दरबारी कवि गंग

की रचना "चन्द छन्द बरनन की महिमा" में ही देखने को मिलता है। इस गद्य रचना का रचनाकाल सन् 1570 ई. स्वीकारा गया है। शुक्ल जी ने "हिंदी साहित्य का इतिहास" में इस गद्य रचना का कुछ अंश दिया है। आप भी इस अंश को देखिए और तत्कालीन गद्य का अनुमान लगाइए।

> "सिद्धि श्री 108 श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साह जी आमखास में तख्त ऊपर बिराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल से।"

इस उदाहरण से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय के समाज के लिए खड़ी बोली शिष्ट व्यवहार की भाषा हो चली थी। किसी भी भाषा के लिए साहित्य में स्थान बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। खड़ी बोली के लिए भी समय की अपेक्षा थी। शिष्ट समाज की भाषा होने के कारण इसमें गद्य रचनाएँ होने लगी थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे इस भाषा का विकास होने लगा। सन् 1741 ई. की एक रचना को हम हिंदी गद्य के विकास के साथ जोड़ सकते हैं। रामप्रसाद "निरंजनी" पटियाला दरबार में थे, ये लेखक थे और महारानी को कथा पढ़कर सुनाया करते थे। इन्होंने "भाषा योग वशिष्ट" नामक गद्य रचना की। इस रचना का कुछ अंश हम यहाँ दे रहे हैं जिसे शुक्ल जी की पुस्तक से ही लिया गया है। आप इस अंश को पढ़कर अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय हिंदी खड़ी बोली का गद्य परिमार्जित रूप लेने लगा था।

"प्रथम परब्रहमा परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं××× जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनंद से सब जीव जीते हैं। अगस्त जी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रमाण करके बैठ और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान! आप सब तत्वों और शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक संदेह दूर करो।"

"भाषा योग विशिष्ट" रचना के बाद और दो गद्य रचनाओं को हम हिंदी गद्य के साथ जोड़ सकते हैं। एक है बसवा (मध्य प्रदेश) निवासी पं. दौलत राम द्वारा रचित "पदमपुराण का भाषानुवाद और दूसरा राजस्थान के अज्ञात लेखक की रचना "मंडोबर का वर्णन" यद्यपि दोनों रचनाओं की भाषा उतनी परिमार्जित नहीं है लेकिन भाषा फारसी उर्द से अलग बोलचाल की खड़ी बोली है। दोनों रचनाओं के अंश क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं:

> "जबुन्द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिक्कर बसे हैं, इंद के लोक के समान सदा भोगोपयोग करै हैं और भूमि विषय साँठन के बड़े शोभापान हैं।"
>
> "पदमपुराण"

> "अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबसे इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ"
>
> "मंडोवर का वर्णन"

इस प्रकार खड़ी बोली का विकास धीरे-धीरे होता रहा। गद्य रचनाओं के साथ-साथ काव्य रचनाएँ भी होती रही। कम समय में ही हिंदी गद्य रचना का विकास होने लगा। किन्तु आधुनिक साहित्य का विकास अंग्रेज़ों के आगमन से ही शुरू हुआ। यद्यपि रचनाकारों में प्रतिभा तो थी किन्तु अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना एवं उसके साथ हुए संघर्ष के द्वारा ही आधुनिक साहित्य का विकास हुआ। अब तक आपने देखा कि हिंदी साहित्य में किस प्रकार ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली ने गद्य का स्थान ले लिया और उन दिनों की रचनाएँ किस प्रकार की थी। आगे हम देखेंगे कि अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के साथ आधुनिक साहित्य का क्या संबंध हैं और किस प्रकार विभिन्न समस्याओं को झेलते हुए खड़ी बोली हिंदी का साहित्य अग्रसर होता गया। आइए इससे पहले कुछ बोध प्रश्न का उत्तर दें:

**बोध प्रश्न**

1) विश्व के सभी देशों में साहित्य रचना काव्य में ही क्यों होती थी?

.....

.....

2) यद्यपि ब्रजभाषा साहित्य रचना की भाषा थी, किन्तु गद्य रचना के लिए खड़ी बोली ही उपयुक्त सिद्ध हुई। दो-तीन पंक्तियों में कारण सहित उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

3) मुगलों की मातृभाषा फारसी थी किन्तु जनता से संपर्क के लिए उन्होंने स्थानीय खड़ी बोली को ही अपनाया। बाद में फारसी-हिंदी के विलय से एक नई शैली का जन्म हुआ। आप इस नई शैली के विभिन्न नामों को बताइए।

.....

.....

4) नीचे कुछ पुस्तकों के नाम दिये जा रहे हैं आप इनकी भाषा एवं रचनाकारों के नाम लिखिए।

| | रचना | भाषा | रचनाकार |
|---|---|---|---|
| i) | | | |
| ii) | शृंगार रस मंडन | | |
| iii) | सबरस | | |
| iv) | अष्टयाम | | |
| v) | चन्द छन्द वरनन की महिमा | | |

5) देश के पूर्वी भागों में खड़ी बोली का संपर्क भाषा के विकास का मुख्य कारण क्या था?

.....

.....

## 20.3 आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास

हिंदी गद्य का विकास ही आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास है। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि काव्य का स्थान ही न रह गया हो। काव्य का महत्व भी उतना ही रहा। अच्छे-अच्छे काव्य ग्रंथ रचे गए। किन्तु विभिन्न गद्य विधाओं की लोकप्रियता ने गद्य विधाओं को ही प्रमुख स्थान बना दिया। आज खड़ी बोली में विपुल साहित्य भंडार है। हिंदी के विभिन्न गद्य विधाओं की तुलना विश्व के किसी भी भाषाओं से की जा सकती है। किंतु हिंदी साहित्य आज जिस स्थान को प्राप्त कर पाया है उसके लिए उसे लम्बा सफ़र तय करना पड़ा है। युगपुरुषों ने केवल साहित्य रचना द्वारा ही इस भाषा के साहित्य भंडार को नहीं भरा बल्कि समय-समय पर आने वाली कठिनाइयों में भी इस भाषा को संभाला संवारा। अंग्रेज़ों के आगमन के साथ इस भाषा के उतार-चढ़ाव का गहरा संबंध है। आइए इस संबंध की छानबीन करें।

### 20.3.1 आधुनिक हिंदी साहित्य: विकास एवं कारण

भारत के सुख-समृद्धि की चर्चा विश्व प्रसिद्ध थी। प्राचीन काल से ही विश्व के कई भागों से लोग व्यापार करने इस देश में आते थे। इस प्रकार विश्व के देशों के साथ भारत का व्यापारिक संबंध बहुत पुराना था। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी से यूरोप के कई देश इस व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। अंततः सफलता चालाक अंग्रेज़ों को ही मिल पाई। मुगल बादशाह जहाँगीर से अनुमति पाकर अंग्रेज़ों ने व्यापारिक कोठियाँ

बनानी शुरू कर दीं। व्यापार के साथ-साथ उनकी नज़र यहाँ की राजनीति पर भी लगी हुई थी। धीरे-धीरे यहाँ के शासकों के आपसी द्वैश का लाभ उठाकर अंग्रेज़ों ने राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और सफलता उनके हाथ लगती गई। साहित्य के इतिहास में जिस कार्य को हम रीतिकाल के नाम से जानते हैं उसके समाप्ति के समय तक लगभग संपूर्ण देश पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व कायम हो चुका था। मुस्लिम साम्राज्य के स्थान पर अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना से परिवर्तन का दौर प्रारंभ हुआ। भारतीय जनजीवन पर इस परिवर्तन का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। साहित्य भी इससे अछूता कहाँ रह सकता था। आधुनिक हिंदी साहित्य का सीधा संबंध इन परिवर्तनों से था। हम एक-एक कर कई कारणों की चर्चा करेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार हिंदी साहित्य का विकास हुआ।

**ईसाई मिशनरियाँ**

भारत विभिन्न धर्मावलंबियों का देश है। यहाँ शायद ही कोई ऐसा धर्म बचा हो जिसके मानने वाले यहाँ न रहते हों। विश्व के कई देशों से आकर विभिन्न धर्म के मानने वाले लोग इस देश में अपने धर्म का प्रचार करते रहे हैं। यही नहीं कुछ धर्म तो ऐसे भी हैं जो अपने जन्म स्थान को छोड़ आए लेकिन भारत में लगाया गया उनके धर्म का पौधा वृक्ष बन कर लहरा रहा है। ईसाई धर्म मानने वालों का आगमन इस देश में कई सौ वर्ष पहले हुआ। प्रथमतः वे समुद्री रास्ते से आए। केरल आदि राज्यों में आकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार शुरू कर दिया था। किंतु जब अंग्रेज़ों ने इस देश पर शासक की हैसियत से अधिकार जमा लिया, तब इन धर्म प्रचारकों की गतिविधियों में तेजी आ गई। पाठ के आरंभ में खड़ी बोली गद्य की चर्चा करते हुए हमने बताया कि अपने मत के प्रचार के लिए विद्वानों को जनता की भाषा का सहारा लेना पड़ा था। ईसाई पादरियों को भी अपने मत के प्रचार के लिए इसी प्रकार का प्रयोग करना पड़ा। जनता की भाषा में उनके बोलचाल के रूप को लेकर उन्होंने बाईबिल का हिंदी में अनुवाद करवाया। छोटी-छोटी प्रचार पुस्तिकाओं में भी हिंदी को बोलचाल के रूप को रखा। इस प्रकार गद्य के बोलचाल के रूप का साहित्य में प्रवर्तन की शुरुआत हुई। यद्यपि इन प्रचार पुस्तिकाओं की भाषा अपरिष्कृत ही होती थी किन्तु बोलचाल के गद्य का रूप होने के कारण प्रारंभिक गद्य में इन रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। बाइबिल आदि के अनुवाद द्वारा भी हिंदी गद्य को प्रोत्साहन मिला। यहाँ बाइबिल के अनुवाद का एक छोटा सा अंग दिया जा रहा है आप इसकी भाषा पर ध्यान दीजिए–

> "तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास जालीले से यहन के तीर पर आया। परन्तु योहन यह कहके उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं।"

ईसाई मतप्रचारकों ने शुद्ध हिंदी का प्रयोग कर हिंदी गद्य को प्रोत्साहन दिया जिससे आधुनिक साहित्य के उत्थान में मदद मिली। शिक्षा संबंधी पुस्तकें और नागरी लिपि का सुन्दर टाइप पहले पहल ईसाइयों ने ही तैयार किया।

**नवीन आविष्कार**

अंग्रेज़ भारत में व्यापार करने आए थे लेकिन बन बैठे इस देश के शासक यहाँ की जनता का शोषण कर वे अपने देश को समृद्ध करने लगे। यहाँ की शोषित जनता ने आवाज़ उठाई। 1857 का विद्रोह हुआ। विद्रोह को सख्ती से कुचलने के बाद शासन तंत्र को मजबूत करने के लिए नए साधनों का इस्तेमाल किया गया। मुद्रण यातायात और संचार के साधनों का प्रयोग शासन को सुदृढ़ करने के लिए किया गया। सन् 1844 से 1856 के बीच देश को रेल एवं तार से जोड़ दिया गया। छापाखाना, रेल, तार आदि ने भारतीय जनजीवन में परिवर्तन ला दिया। मुद्रण की सुविधा के कारण बड़ी संख्या में लेखन कार्य शुरू हुआ। मुद्रण के कारण ही पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन संभव हुआ। यातायात के साधनों द्वारा प्रकाशित सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्र पहुँचाने में सहायता मिली। तार द्वारा जल्दी से समाचार प्राप्त किए जा सकते थे। इस प्रकार से इन साधनों द्वारा गद्य लेखन को प्रोत्साहन मिला। बड़ी मात्रा में पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इन नवीन आविष्कारों के प्रयोग से गद्य लेखन में तेजी आई।

**नवीन शिक्षा**

प्रारंभिक समय में शिक्षा का माध्यम संस्कृत था। मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद

फारसी शिक्षा का माध्यम बना अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के साथ अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनना स्वाभाविक ही था। सन् 1834 ई. में लार्ड मेकाले ने ब्रिटिश संसद के समक्ष भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रचारित करने की पेशकश की। सन् 1835 ई. में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा की शुरुआत हुई। तत्कालीन विचारक, सुधारक राजा राममोहन राय अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्षधर थे। उनका विचार था कि अंग्रेजी के माध्यम से ही भारत में नये युग की शुरुआत हो सकती है। यद्यपि अंग्रेज़ों ने अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत अपने लिए बाबुओं की कमी को दूर करने के लिए किया था किन्तु इसका परिणाम कुछ और निकला। भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता संस्कृति की जानकारी मिली। यूरोप में हुई वैज्ञानिक उन्नति की जानकारी भी मिली। इस कारण भारतीयों में एक ओर जहाँ अपनी परंपरा को नयी दृष्टि से देखने का अवसर मिला अपनी संस्कृति और राष्ट्रीय परंपरा के प्रति स्वाभिमान भी जागा। नए शिक्षा संस्थाओं में अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी और उर्दू की शिक्षा भी दी जाने लगी। सन् 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्टविलियम कालेज की स्थापना से एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस कालेज से ही कई गद्य लेखकों ने हिंदी गद्य रचनाएँ कीं। सन् 1803 ई. में हिंदी उर्दू की पढ़ाई आरंभ हुई। सन् 1824 ई. में हिंदी पढ़ाई का विशेष प्रबंध किया गया। सन् 1823 में आगरा कालेज की स्थापना हुई और उसमें हिंदी शिक्षा की व्यवस्था की गई। सन् 1817 ई. में "कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी" तथा सन् 1833 ई. में "आगरा स्कूल बुक सोसायटी की स्थापना हुई। इन संस्थाओं से अच्छे-अच्छे पाठ्य ग्रंथ तैयार हुए। कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी द्वारा प्रकाशित "नीति कथा" नामक शिक्षा पुस्तक से एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसे लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय से अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य का इतिहास" में दिया है।

> "कई दिन एक गाँव होकर जाते हमने देखा जी एक बूढ़ा अपने कई पड़ोसियों के साथ इकट्ठे हो एक बड़े पेड़ की छाँह में बैठा था, उस प्राचीन मनुष्य के हाथ में कुछ लिखा हुआ कागज था, उसके पड़ोसियों में से कोई उसका कागज़ पढ़ने लगा ···· "

इस प्रकार नवीन शिक्षा के विस्तार से हिंदी गद्य साहित्य के विस्तार में मदद मिली।

**पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन**

मुद्रण की सुविधा के कारण पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। हिंदी पत्रकारिता कला का जन्म पंडित युग किशोर शुक्ल द्वारा हुआ। उन्होंने सन् 1826 में कलकत्ता से "उदंत मार्तण्ड" नामक हिंदी का पहला पत्र निकाला यह साप्ताहिक पत्र था। पाठकों की संख्या कम रहने के कारण यह पत्र डेढ़ वर्ष निकलने के बाद 4 दिसंबर 1827 ई. को बंद हो गया। शुक्ल जी ने देखा था कि अन्य भाषा-भाषियों के लिए तो पत्र निकलता है और उसे पढ़कर उन्हें संतुष्टि मिलती है, लेकिन हिंदी भाषियों के लिए ऐसा कोई पत्र नहीं। इसी कमी को दूर करने के लिए उन्होंने उदंत मार्तण्ड" की शुरुआत की थी। पत्र के पहले अंक का यह अंश यहाँ उदाहरण रूप में दिया जा रहा है जिससे आप स्वयं इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय की परिस्थिति में यह कितना महान प्रयास था।

> "यह उदंत मार्तण्ड" अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अंग्रेजी इसे पारसी ओ बंगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने और पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेंगे ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उजप न छोड़ें इसलिए ····

मई सन् 1829 में हिंदी का दूसरा पत्र "बंगदूत" भी कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1834 में "प्रजापति" भी यहीं से प्रकाशित हुआ। 1844 में हिंदी भाषी क्षेत्र से निकलने वाला पहला पत्र "बनारस" था इसे राजा शिव प्रसाद "सितारे" हिंदी ने निकाला था। सन् 1846 में मौलवी नासिरूद्दीन के संपादकत्व में "मार्तण्ड" नामक एक पत्र निकला। बाद में अर्थात् 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत बढ़ गई थी। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से हिंदी साहित्य के विकास में मदद मिली। विभिन्न गद्य विधाओं के विकास में इन पत्र-पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

**समाज सुधार आंदोलन**

अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से लोगों में आत्मचिंतन की भावना का विकास हुआ। तत्कालीन

बुद्धिजीवी वर्ग जाग उठा। समाज में घिर आई बुराईयों को दूर करने के उद्देश्य से कई आंदोलनों की शुरुआत हुई। इन्हें समाज सुधार आंदोलन के नाम से जाना जाता है। लोगों में चेतना जगा कर समाज को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया। समाज सुधारकों ने जनता के बीच जा जाकर जनजागरण शुरू किया। किन्तु इसके लिए यह जरूरी था कि जनता की भाषा में ही प्रचार किया जाये। नेताओं ने सर्वसाधारण की समझ में आने वाली भाषा का प्रयोग किया। इस प्रयास से हिंदी गद्य के विकास में मदद मिली। राजा राममोहन राय ने "ब्रह्मसमाज" नामक संस्था की स्थापना की और इसके द्वारा समाज सुधार शुरू किया गया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने "आर्यसमाज" संस्था की स्थापना की। लोगों को अपने प्राचीन गौरव से अवगत कराने के लिए उन्होंने जनता की भाषा में ही अपनी पुस्तक की रचना की। उनका "सत्यार्थ-प्रकाश" हिंदी गद्य में ही है। श्रद्धाराम पुल्लौरी और नवीन चंद्र राय ने भी समाज सुधार के लिए हिंदी गद्य को ही अपनाया। इन लोगों ने पंजाब में हिंदी के प्रचार के लिए पत्र भी निकाला और गद्य में रचनाएँ भी कीं। इस प्रकार एक और तो समाज सुधार के कार्य किए गए दूसरी ओर हिंदी गद्य का प्रचार भी किया गया।

उपर्युक्त विवरण से आप अनुमान लगा सकते हैं कि जिस समय अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हुई उस समय विभिन्न कारणों से हिंदी गद्य के विकास में भी सहायता मिली। खड़ी बोली गद्य के आरंभिक दिनों में कई प्रकार की गद्य रचनाएं हुईं आइए इन गद्य रचनाओं के बारे में जानें।

## 20.3.2 प्रारंभिक हिंदी साहित्य

सन् 1800 ई. में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना करके अंग्रेज़ों ने शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कार्य किया था। इस संस्था द्वारा ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों की पढ़ाई की व्यवस्था की गई थी। यही नहीं हिंदी और उर्दू में पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था भी की गई थी। जान गिलक्राइस्ट एक ऐसा अध्यापक था जिसे हिंदी उर्दू का अच्छा ज्ञान था। उसने हिंदी और उर्दू में पुस्तक लिखवाने के लिए दोनों भाषाओं के विद्वानों की खोज की। गद्य लिखवाने के लिए कई मुंशियों की नियुक्ति की गई। इस संस्था से चार ऐसे विद्वान हुए जिन्होंने हिंदी गद्य का लेखन किया। ये चार गद्य लेखक थे, मुंशी सदासुखलाल "नियाज", मुंशी इंशाअल्ला खां, लल्लूलाल जी और पं. सदल मिश्र हम एक-एक कर इन गद्य लेखकों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे और इनकी रचनाओं के अंशों को लेंगे जिससे हिंदी गद्य के विकास में इनके योगदान को जान सकें।"

**मुंशी सदासुखलाल "नियाज"**: (1746-1824) मुंशी सदासुख लाल जी दिल्ली निवासी थे। "नियाज" इनका उपनाम था। ये ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन चुनार (जिला मिर्जापुर) में अच्छे पद पर नियुक्त थे। ये अच्छे शायर भी थे। इन्होंने फारसी और उर्दू में कई पुस्तकें लिखीं। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "इनकी भाषा कुछ निखरी हुई और सुव्यवस्थित है, पर तत्कालीन प्रचलित पंडिताऊ प्रयोग भी इसमें मिल जाते हैं।" सदासुखलाल जी ने "सुखसागर" गद्य रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने "विष्णु पुराण" के प्रसंगों के आधार पर एक और गद्य रचना की किन्तु यह ग्रंथ पूरा नहीं हो पाया। इनकी भाषा सहज एवं स्वाभाविक है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास से हम सदासुखलाल जी रचित गद्यांश यहाँ दे रहे हैं इससे आपको इनकी भाषा के बारे में स्पष्ट पता चल जायेगा।

> "विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए, फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए।"

सदासुखलाल जी ने 65 वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ दी और प्रयाग आकर रहने लगे, और अंतिम समय तक वहीं रहे।

**मुंशी इंशा अल्ला खाँ (मृत्यु सन् 1818)**: खड़ी बोली के प्रसार के संबंध में बताते हुए हमने यह जिक्र किया था कि शक्तिशाली मुगल साम्राज्य के पतन के बाद पश्चिम की

जगह पूर्व के शहर विकसित होने लगे थे। शायरों ने भी पश्चिम से पूरब की ओर पलायन किया था। मुंशी इंशा अल्ला खां बादशाह शाहआलम द्वितीय के दरबार में रहते थे। अपनी शायरी से इन्होंने कई शायरों को हराया था। शाहआलम के पतन के बाद ये दिल्ली से लखनऊ चले आए। इन्होंने सन् 1798 से सन् 1803 के बीच उदय भानु चरित या "रानी केतकी की कहानी" गद्य की रचना की थी। सर्वसाधारण की बोलचाल में लिखी इस कहानी की रचना के कारण को स्वयं इंशां अल्ला जी ने स्पष्ट किया है।

> "एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ा कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवरी कुछ उसके बीच न हो। बस जैसे भले लोग अच्छे से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वह सब डौल रहें और छवि किसी की न हो।"
>
> (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल पृ. 285)

यद्यपि इंशा अल्ला जी ने अपनी रचना में बाहर की बोली अर्थात् अरबी, फारसी तथा तुर्की, गँवारी अर्थात् (ब्रजभाषा, भोजपुरी अवधी आदि तथा भाखापन) (संस्कृत शब्दों के मेल से बने शब्द) से अलग रखने की बात कही थी किन्तु उनकी वाक्य रचना पर फारसी का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है, पं. रामचंद्र शुक्ल का मत है कि आरंभिक चार गद्य लेखकों में इंशा अल्ला की भाषा मटकीली, चुटकीली मुहावरेदार और चलती है। निम्नलिखित उदाहरण से आप इस तथ्य को स्वयं जाँच सकते हैं:

> "तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूंगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरवाकर छिनवा लूंगी।"
>
> (रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 286)

यद्यपि इंशा अल्ला खां की भाषा में विचित्रता है जैसे:

> "आतियाँ जातियाँ जो सांसे हैं, उसके बिना ध्यान यह सब फाँसे हैं।"

और फारसी के ढंग का वाक्य विन्यास:

> "इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे का"

फिर भी उनकी गद्य रचना सरल सहज एवं घरेलू बोलचाल की भाषा से युक्त है।

**लल्लू लाल जी (सन् 1763-1825)**: लल्लू लाल जी आगरे के रहने वाले थे। ये कुछ-कुछ संस्कृत और उर्दू के भी जानकार थे। जौन जिलक्राईस्ट ने इन्हें हिंदी गद्य रचना के लिए फ़ोर्ट विलियम कालेज में नियुक्ति दी थी। जिलक्राईस्ट के कहने पर इन्होंने "प्रेमसागर" की रचना की। शुक्ल जी के अनुसार लल्लू लाल जी की भाषा अकबर के समय में गंग कवि की भाषा जैसी है। अंतर केवल इतना है कि जहाँ गंग कवि ने अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है वहाँ लल्लू लाल जी ने ऐसे शब्द बचाए हैं। इनकी भाषा कथावाचकों के पद्य युक्त भाषा के समान अधिक है प्रतिदिन के व्यवहार के समान कम। शुक्ल जी की पुस्तक से ही लल्लू जी लाल के दो गद्यांश यहाँ दिये जा रहे हैं:

> "श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव-जंतुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल ले लड़ने को चढ़ आया।
>
> × × ×
>
> "जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुख चंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छबिहीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी।"

लल्लू लाल जी ने उर्दू, खड़ी बोली और ब्रजभाषा तीनों में गद्य रचनाएँ कीं। इन्हें ब्रजभाषा में लिखी हुई कहानियों की उर्दू तथा हिंदी गद्य में लिखने के लिये कहा गया था और इन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शकुंतलानाटक, सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, प्रेमसागर और माधोनल की रचनाएँ कीं। प्रेमसागर को छोड़ कर बाकी रचनाएँ उर्दू गद्य में हैं। पद्य में लिखी जा चुकी

हितोपदेश की कहानियों को इन्होंने ब्रजभाषा गद्य में लिखा जिसका नाम राजनीति था। इनके पास स्वयं का एक प्रेस भी था जिसके माध्यम से ये गद्य रचनाएँ छापा करते थे।

**पं. सदल मिश्र:** पं. सदल मिश्र बिहार के रहने वाले थे। ये भी फोर्ट विलियम कालेज में काम करते थे। इन्हें भी अन्य गद्य लेखकों की तरह गद्य रचना के लिए कहा गया था। इन्होंने "नासिकेतोपाख्यान" नामक गद्य रचना की। इनकी भाषा काव्य भाषा की पदावली से बिल्कुल अलग है। भाषा व्यवहारोपयोगी है। किन्तु इनकी भाषा में पूरबी बोली के शब्द आ गए हैं—इहाँ, मतारी बरते थे, जुडाई, जौन आदि पूरबी शब्द हैं जबकि फूलन्ह बिछौने, सुनि, सोनन्ह के भंग आदि ब्रजभाषा के हैं। नासिकेतापाख्यान के निम्नलिखित गद्यांश द्वारा आप मिश्रजी की भाषा को पहचान सकते हैं।

> "इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि जो, ब्राह्मण, मातापिग, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध गुरु इनका जो बाध्य करते हैं वे झूठी साक्षी भरते हैं, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं ..... ऐसे जो पापी जन हैं सो महाडरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

उपर्युक्त चारों लेखक एक काल में ही गद्य रचना कर रहे थे किन्तु चारों में से मुंशी सदासुख लाल और पं. सदल मिश्र की भाषा का ही आगे विकास हुआ। इस प्रकार आरंभिक हिंदी साहित्य रचनाओं में फोर्ट विलियम कालेज में रचे गए गद्य रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व है।

**बोध प्रश्न**

6) हिंदी गद्य के विकास के चार कारण बताइए।

.....

.....

7) हिंदी का पहला पत्र कौन था इसका प्रकाशन किसने कहाँ से और किस उद्देश्य से किया था।

.....

.....

8) फोर्ट विलियम से संबंधित किन्हीं तीन गद्य लेखकों के नाम बताइए।

.....

9) प्रारंभिक गद्य लेखकों में से किन लेखकों की भाषा को शुक्ल जी ने आधुनिक गद्य की भाषा के निकट बताया है।

.....

.....

**अभ्यास**

1) नवीन आविष्कारों द्वारा किस प्रकार गद्य के विकास में सहायता मिली।
सात-आठ पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

### 20.3.3 तत्कालीन अंग्रेज़ी सरकार की भाषा नीति

अंग्रेज़ों ने अपनी कूटनीति के द्वारा भारत की राजनीति पर अधिकार जमा लिया था। साहित्य में जिस काल को रीति काल के नाम से जाना जाता है उसकी समाप्ति तक संपूर्ण भारत पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य हो गया था। अंग्रेज़ी हुकूमत की स्थापना से केवल राजनीति आदि ही नहीं बल्कि यहाँ की शिक्षा व्यवस्था में भी परिवर्तन आया। सरकार ने अंग्रेज़ी द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की। उस समय के प्रबुद्ध नेता राजा राम्मोहन राय ने अंग्रेज़ी शिक्षा व्यवस्था का जोरदार समर्थन किया। उनके साथ कुछ और प्रभावशाली व्यक्तियों की मदद से कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई और अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा का प्रारंभ हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा पाकर लोगों ने सरकारी नौकरियाँ पाईं। उन दिनों किसी को यह अंदाजा नहीं था कि देशी भाषा में शिक्षा पाकर भी कोई शिक्षित हो सकता है। केवल परंपरागत भाषाओं संस्कृत और अरबी की ओर लोगों का थोड़ा ध्यान जाता था। किन्तु अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा जो लाभ मिलता वह इन पारंपरिक भाषाओं से प्राप्त शिक्षा पाने पर नहीं मिल सकता था। इसलिए इन भाषाओं के प्रति लोगों की उदासीनता बढ़ती गई। पहले सरकार की ओर से अरबी एवं संस्कृत में शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता मिलती थी लेकिन धीरे-धीरे उसे भी बंद कर दिया गया। लार्ड मैकाले के जोरदार समर्थन के फलस्वरूप कंपनी ने सन् 1835 ई. में अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था की ओर उसका प्रचार शुरू किया। इस व्यवस्था के बाद अंग्रेज़ों का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। उन्होंने पाया कि अदालत के सारे कामकाज फारसी में होते हैं। सन् 1836 तक फारसी को ही अदालती भाषा रखा गया। किन्तु इतने दिनों के अनुभव के बाद पता चला कि फारसी भाषा की लिपि से अनिभिज्ञ रहने के कारण जनता को अदालती काम में बहुत असुविधा होती है। सरकार ने इस असुविधा को दूर करने का प्रयत्न किया। सन् 1836 में ही एक "इश्तहारनामे" द्वारा संयुक्त प्रांत के सदर बोर्ड अदालतों में कामकाज के लिए हिंदी भाषा की व्यवस्था की गई। जनता नागरी या फारसी किसी भी लिपि में अर्जी दे सकती थी। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य का इतिहास" में इश्तहारनामा: दिया है वह यहाँ प्रस्तुत है:

इश्तहारनामा: बोर्ड सदर

"पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कर्मचारी के सब काम फ़ारसी ज़बान में लिखा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अ़र्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि 1288 की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर व बोर्ड में हो सो अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिखे दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तो वे अच्छरन में और हिंदी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायेगा। तिथि 29 जुलाई 1839 ई.।"

इस इश्तहारनामे को पढ़ने पर स्पष्ट पता चलता है कि जनता की सुविधा को ध्यान में रखकर ही हिंदी में कार्य करने का आदेश दिया गया किन्तु सरकार के इस साहसपूर्ण कारवाई का इतना विरोध हुआ कि एक वर्ष बाद ही अदालतों की भाषा उर्दू कर दी गई। इस प्रकार हिंदी के प्रति कुचक्र शुरू हो गया। उपर्युक्त तथ्य से यह भी पता चलता है कि तत्कालीन सरकार केवल दिखावे के लिए ही इश्तहारनामा निकाला था न कि उस पर अमल करने के लिए। किन्तु सरकार के प्रयास से एक लाभ हुआ देशी भाषाओं के स्थान पर उर्दू प्रांतों के सब दफ्तरों की भाषा हो गई। यह खड़ी बोली का ही अरबी-फारसीमय रूप था। जीविका पाने के लिए लोगों ने उर्दू सीखनी शुरू कर दी। किंतु हिंदी का भविष्य तय करने के लिए कई महानुभावों का आगमन भी इसी समय होता है। राजा शिवप्रसाद एवं राजा लक्ष्मण सिंह ऐसे ही दो महानुभाव थे। सरकारी नौकरी में आने से पहले ही राजाशिव प्रसाद को हिंदी में समाचार पत्र निकालने की अन्तःप्रेरणा जगी। उन्होंने देखा कि कई भाषाओं में समाचार पत्र निकलते हैं जिससे उनकी भाषा में विभिन्न प्रकार के लेख

आंद छपते हैं अतः हिंदी भाषा में भी समाचार पत्र निकाला जाए तो जनता का कल्याण होगा। इसी प्रेरणा से उन्होंने "बनारस अखबार" निकाला। चूँकि पत्र को पढ़ने वाले उर्दू शिक्षा प्राप्त लोग ही होते थे अतः पत्र की भाषा भी उर्दू मिलीजुली होती थी। अतः हिंदी भाषा में ही पत्र निकले इसका प्रयास तारा मोहन मित्र एवं उनके सहयोगियों ने किया। "सुधाकर" नाम का पत्र निकाल कर हिंदी भाषा को आगे बढ़ाने का प्रयास हुआ इस पत्र की भाषा ठीक थी। फिर आगरे से "बुद्धि प्रकाश" पत्र निकला शुक्ल जी के अनुसार इस पत्र की भाषा बहुत अच्छे थे। शुक्ल जी की पुस्तक में ही दिये गए इस पत्र की भाषा का अंश यहाँ प्रस्तुत है:

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

"स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बालावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखायें।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट पता चलता है कि यद्यपि षडयंत्र के कारण हिंदी के विकास की राह में रोड़े अटकाए जा रहे थे किन्तु ऐसी परिस्थितियों में भी हिंदी विकास की ओर अग्रसर हो रही थी, गद्य रचनाओं की प्रक्रिया बनी हुई थी। किंन्तु हिंदी विरोधियों का षडयंत्र जारी रहा बाद में राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद एव राजा लक्ष्मण सिंह नाम के दो व्यक्तित्व का आगमन होता है जिन्होंने हिंदी भाषा को ही नहीं उसके साहित्य को भी आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद (सन् 1823-1895)

राजा शिव प्रसाद की चर्चा ऊपर की गई है जिन दिनों इन्होंने बनारस अखबार निकाला था उन दिनों ये सरकारी पद पर नहीं थे। सन् 1856 में ये शिक्षा विभाग में इंसपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय अन्य विभागों में उर्दू समर्थक अधिक संख्या में थे, इसलिए राजा साहब ने हिंदी के लिए जो भी कार्य किया वह अपर्याप्त था। साहित्य के कोर्स के लिए पुस्तकें न रहने के कारण कई कठिनाइयाँ आ रही थीं। हिंदी शिक्षण बिना पाठ्य पुस्तकों के संभव नहीं था। अतः राजा साहब पुस्तक निर्माण के कार्य में लग गए। स्वयं तो पुस्तकों की रचना की ही साथ ही साथ पंडित वंशीधर एवं पंडित श्री लाल के अलावा कई मित्रों को भी इस कार्य में लगाया। राजा साहब ने कई कहानियों की रचना की, जिनमें "राजा भोज का सपना", थां। सिंह का वृतांत, आलसियों का कोडा, आदि महत्वपूर्ण है। उन्होंने रचनाओं में सरल एवं चलती हिंदी का प्रयोग किया है। यहाँ "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश दिया जा रहा है जिन्हें पढ़कर आप स्वयं उनकी भाषा का अनुमान लगा सकते हैं।

> "वह कौन सा मनुष्य है जिसमें महाप्रतापी महाराजा भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप्त रही है। बड़े-बड़े महिपाल उसका नाम सुनते हैं काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते।"

राजा साहब ने "मानवधर्मसार" में संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग किया है। बाद की रचनाओं में राजा साहब ने उर्दू निष्ठ भाषा का प्रयोग किया ऐसा शायद तत्कालीन सरकार के दबाव के कारण हुआ। इस प्रकार हिंदी के प्रारंभिक साहित्य में राजा साहब का योगदान तो रहा लेकिन असली एवं परिष्कृत हिंदी की शुरुआत राजा लक्ष्मण सिंह के द्वारा ही हुआ।

**राजा लक्ष्मण सिंह**: (सन् 1826-1896): राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी एवं उर्दू को दो अलग भाषा के रूप में स्वीकारा और दोनों के महत्व को माना उनका विचार था।

> "हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के

शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाये और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों।''

इस प्रकार उनका विचार था कि हिंदी, उर्दू, संस्कृत और फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग के कारण दो भिन्न भाषाएं हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार:

''राजा साहब की भाषा में तद्भव शब्दों की मात्रा कम नहीं है, यद्यपि वह आरंभिक हिंदी गद्य का ही नमूना है तथापि उसमें वक्त और श्रोता के अनुकूल होने की क्षमता है और हमारी विशाल साहित्यिक परंपरा के अनुकूल है। भाषा में अरबी फारसी के शब्द नहीं के बराबर हैं परन्तु वह काव्य की ब्रजभाषा के प्रभाव से एकदम मुक्त नहीं है।'' राजा साहब ने संस्कृत कवि कालिदास के कई रचनाओं का हिंदी में अनुवाद किया ''अभिज्ञान शाकुंतलम्'' नाटक का शकुंतला के नाम से अनुवाद किया तथा रघुवंश और मेघदूत का उन्हीं नाम से अनुवाद किया। यहां ''अभिज्ञान शाकुंतलम्'' के अनुवाद का कुछ अंश प्रस्तुत है जिससे राजा साहब की सरल और सहज हिंदी का अनुमान लगाया जा सकता है:

''अनसूया–(हौले प्रियंवदा से) सखी ! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इसमें कुछ पूछूंगी (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो?''

राजा लक्ष्मण सिंह ने सरल-सहज हिंदी का स्वरूप रखकर हिंदी गद्य को समृद्ध किया। उर्दू-हिंदी का सहारा लेकर अंग्रेज इस देश की जनता को बाँटे रखना चाहते थे किन्तु इन महानुभावों के प्रयास से एक ऐसा रास्ता निकला जो सर्वमान्य था, जो अधिक से अधिक जनता के लिए अनुकूल थी।

तत्कालीन समय में राजा शिव प्रसाद एवं राजा लक्ष्मण सिंह के अलावा और कई रचनाकार हुए जिन्होंने हिंदी गद्य को समृद्ध किया और इस भाषा के प्रारंभिक दौर में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें पं. वंशीधर रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद मिश्र, ब्रजवासी दास, बिहारी लाल चौबे, शिवशंकर, काशीनाथ खत्री थे। यही नहीं एक अंग्रेज विद्वान फ्रेडरिक पिन्काट ने भी इस भाषा साहित्य के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। हमने बताया है कि तत्कालीन समाज सुधार संस्थाओं द्वारा हिंदी गद्य के विस्तार में सहायता मिली। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती स्वयं गुजराती भाषी थे किन्तु उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए महान् कार्य किया। ''अपने मत के प्रचार के लिए उन्होंने ''सत्यार्थ प्रकाश'' नामक गद्य रचना की। इस रचना में सरल बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया। पंजाब में आर्य समाज के आंदोलन को उन्होंने हिंदी के माध्यम से ही आगे बढ़ाया। आज पंजाब प्रांत में जितना भी हिंदी का प्रचार हो सका है वह उन्हीं के प्रयास का फल है। किन्तु उनसे पूर्व नवीनचंद्र राय एवं श्रद्धा राम फुल्लौरी ने भी पंजाब प्रांत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार का सराहनीय कार्य किया।

राजा राममोहन राय ने ब्रहम समाज की स्थापना द्वारा तत्कालीन समाज में घिर आई बुराइयों को दूर करने का सफल कार्य किया था। उन्होंने भी हिंदी के प्रचार के लिए कार्य किया। नवीन चन्द्र राय ने ब्रहम समाज के सिद्धांतों के प्रचार के लिए समय-समय पर कई पत्रिकाएँ निकालीं। जिनमें ''ज्ञानदायिनी'' पत्रिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन् 1863 ई. से सन् 1880 ई. के बीच उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों की बहुत सी पुस्तकों की रचना की और दूसरे लेखकों से भी लिखवाया। पंजाब में ब्रहम समाज के सिद्धांत के प्रचार के लिए नवीन बाबू ने हिंदी गद्य का ही सहारा लिया।

श्रद्धाराम ने धार्मिक और सामाजिक जागृति फैलाने के लिए हिंदी गद्य का सहारा लिया। उन्होंने ''सत्यामृत प्रवाह'' नामक सिद्धांत ग्रंथ की रचना की। इसकी भाषा सरल और परिमार्जित है। इसके अलावा ''आत्म चिकित्सा'', ''तत्वदीपक'', ''धर्मरक्षा'', ''उपदेश संग्रह'', आदि पुस्तकें लिखीं। ''भाग्यवती'' नामक सामाजिक उपन्यास की रचना कर उन्होंने आधुनिक गद्य विधा के प्रारंभ में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस उपन्यास का रचना काल सन् 1873 ई. है।



फ्रेडरिक पिन्काट लंदन के विशाल छापखाने के मैनेजर थे। इन्हें हिंदी भाषा एवं भारतीय

साहित्य से विशेष लगाव था। संस्कृत सीखने के बाद बड़ी लगन से उन्होंने हिंदी और उर्दू भाषाओं का अध्ययन किया था। इंग्लैंड में ही रह कर इन भाषाओं में दक्षता प्राप्त की और लेखन कार्य किया। उस समय के साहित्यकारों राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिकप्रसाद खत्री आदि से उनका परिचय था। वे इंग्लैंड से ही इनसे पत्रों द्वारा संपर्क बनाए रखते थे। पत्रों में लेख लिख कर इंग्लैंड वासियों को भारतीय साहित्यकारों की जानकारी दिया करते थे। वे अच्छे कपड़ा बनाने वाले रेशेदार घास की खेती का प्रचार करने भारत आए थे। साल भर भी पूरा नहीं हुआ था, कि नवंबर सन् 1895 में लखनऊ में उनकी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक हिंदी गद्य के विकास विस्तार के लिए आवश्यक जमीन की तैयार हो चुकी थी। आने वाले वर्षों में गद्य के विस्तार के लिए एक आधार भूमि मिल चुकी थी। गद्य के विस्तार के लिए एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जो गद्य की विविध विधाओं का सूत्रपात करे। और हिंदी के स्वभाग्य से ऐसे समय में ही भारतेंदु जैसे सूर्य का उदय होता है जिन्होंने अपने प्रकाश से हिंदी साहित्य को दैदिप्यमान कर दिया। आगे की इकाई में हम इन्हीं महानुभाव के नेतृत्व में हुए साहित्य आंदोलन की जानकारी हासिल करेंगे।

**बोध प्रश्न**

10) नीचे दिये गये प्रश्न के सामने ✓ या × का निशान लगाकर उत्तर दें।

i) बाबू नवीन चन्द्र राय ने पंजाब में आर्य समाज के प्रचार के लिए हिंदी गद्य का सहारा लिया।

ii) राजा राममोहन राय ने अपने मत के प्रचार के लिए हिंदी गद्य का सहारा लिया।

iii) दयानंद सरस्वती ने "भाग्यवती उपन्यास" की रचना की।

iv) श्रद्धाराम फुल्लौरी "सत्यार्थ प्रकाश" के रचयिता थे।

v) राजा शिवप्रसाद आरंभ से ही उर्दू के पक्षपाती थे।

vi) राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग किया।

11) निम्नलिखित रचनाओं के रचयिता का नाम लिखिए।

i) इतिहास तिमिर नाशक

ii) राजा भोज का सपना

iii) सत्यामृत प्रवाह

iv) शकुंतला नाटक (अनुवाद)

12) निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का नाम लिखें।

i) बनारस अखबार

ii) ज्ञानदायिनी

iii) प्रजाहितैषी

**अभ्यास**

2) अंग्रेज़ी की भाषा नीति को ध्यान से रख कर यह स्पष्ट कीजिए कि राजा शिव प्रसाद एवं राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी गद्य के विकास में क्या योगदान दिया—लगभग दस-बारह पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 20.4 प्रारंभिक हिंदी साहित्य का महत्व

उत्तर भारत के एक विशाल भू-भाग में हिंदी भाषा का विस्तार है। आज इस भू-भाग में आधुनिक हिंदी में बड़े परिणाम में साहित्य रचना होती है। विभिन्न गद्य विधाओं एवं पद्य में रचे गए साहित्य का स्तर विश्व स्तर का है। किन्तु वर्तमान रूप में पहुँचने के लिए हिंदी भाषा को एक लम्बा सफ़र तय करना पड़ा। हमने देखा कि जिस खड़ी बोली हिंदी में साहित्य रचना आज हो रही है वह तो प्रारंभिक समय में साहित्य रचना के लिए उपयोग में ही नहीं लायी जाती थी। पहले ब्रजभाषा एवं अवधी आदि ही साहित्य रचना के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। किन्तु खड़ी बोली ने धीरे-धीरे साहित्य का स्थान ले लिया। किस प्रकार इस भाषा में साहित्य रचना की शुरुआत हुई, और किस प्रकार इसने अपने को गद्य रचना के अनुकूल बनाया, वह हम इसके प्रारंभिक रूप को जानने पर ही समझ सकते हैं। अतः प्रारंभिक रचना का महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक हो जाता है। बोलचाल की भाषा के रूप में इसका प्रयोग होता था किन्तु धीरे-धीरे गद्य रचना की अनुकूलता ने इसे साहित्य में स्थान दिलाया। मत एवं विचार को फैलाने के लिए इसका प्रयोग शुरू हुआ। हमने देखा कि किस प्रकार विद्वानों ने इसे अपनाया। और जब यह संपर्क भाषा बनी तो इसका विस्तार और अधिक होता गया। राजनीतिक कारणों की वज़ह से इसके विकास में गति आई। तत्कालीन विदेशी सरकार ने इस भाषा को दबाने का प्रयास किया; किन्तु युग प्रवर्तक साहित्यकारों ने इसे मज़बूती से आगे बढ़ाया। हिंदी भाषा साहित्य के विकास को समझने के लिए प्रारंभिक साहित्य का विशेष महत्व है।

## 20.5 सारांश

- विश्व के अन्य देशों की तरह भारत में भी साहित्य की रचना पद्य में होती थी। पद्य की विशेषता लय एवं गति है और इस कारण इसे स्मरण भी रखा जा सकता है। गद्य की भाषा बोलचाल के निकट और व्याकरण सम्मत होती है। आप गद्य पद्य के अंतर को बता सकते हैं।
- पहले साहित्य की रचना ब्रजभाषा में होती थी, पद्य के अलावा मत के प्रचार के लिए टीकाओं की रचनाएँ हुईं। ये टीकाएं गद्य में लिखी गईं। आप हिंदी गद्य साहित्य के प्राचीन रूप को बता सकते हैं।
- ब्रजभाषा का विकास संपर्क भाषा के रूप में नहीं हो पाया। खड़ी बोली संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। तत्कालीन मुगल शासकों एवं सामन्तों ने भी खड़ी बोली गद्य के विकास में सहायता पहुँचायी मुगल साम्राज्य के पतन के साथ साहित्यकार पूरबी शहरों में गए। गद्य की रचनाएँ होने लगी। आंप प्रारंभिक खड़ी बोली गद्य के रूप को स्पष्ट कर सकते हैं।
- अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना एवं आधुनिक साधनों ने गद्य के विस्तार में महत्व भूमिका निभाई। आप स्पष्ट कर सकते हैं कि किन-किन कारणों से गद्य का विस्तार हुआ।

- आज खड़ी बोली हिंदी का साहित्य विश्व स्तर के साहित्य के समकक्ष है। वर्तमान रूप तक पहुँचने के लिए हिंदी भाषा को कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। आप प्रारंभिक हिंदी साहित्य के महत्व को स्पष्ट कर सकते हैं।

## 20.6 शब्दावली

**गेयता**: गाये जा सकने का गुण

**इलियड**: महाकवि होमर रचित महाकाव्य

**ओडिसी**: महाकवि होमर रचित महाकाव्य

**तलाश**: खोज

**औंधा**: उल्टा

**नाऊं**: नाम

**भल्ला**: अच्छा

**मारिया**: मारा गया

**महारा**: मेरा

**कंतु**: पति

**तत्पश्चात**: इसके बाद

**हिन्दुई**: भारत में आने पर मुसलमानों ने यहां के लोगों के हिन्दु और भाषा को हिन्दुई कहना शुरू किये।

**दक्खिनी हिंदी**: हिंदी का वह रूप जो दक्षिण भारत में विकसित हुआ।

## 20.7 उपयोगी पुस्तकें

शुक्ल, रामचन्द्र: **हिन्दी साहित्य का इतिहास,** नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

द्विवेदी, हजारी प्रसाद: **हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

पांचाल, परमानंद: **दक्खिनी हिन्दी:** विकास और इतिहास

## 20.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) गेयता के गुण के कारण काव्य को याद रखना आसान था। साथ ही उन दिनों लेखन की कला विकसित अवस्था में नहीं थी। यही कारण है कि विश्व के देशों में काव्य रचनाएँ ही हुई।

2) ब्रजभाषा एक सीमित क्षेत्र में बोली जाती थी। इस भाषा में गद्य की क्षमता का विकास नहीं हो पाया। न ही यह संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। खड़ी बोली संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई और इस प्रकार इसने गद्य रचना की क्षमता का

3) हिन्दुई, हिन्दवी, हिन्दी, रेख्ता

4) i) ब्रजभाषा, वल्लभाचार्य

ii) खड़ी बोली, मुल्ला वजही

iii) ब्रजभाषा, नाभा दास
खड़ी बोली, गंग

5) मुगल साम्राज्य के पतन के साथ पश्चिमी शहरों के स्थान पर पूर्वी शहरों का विकास हुआ। दिल्ली आदि के व्यापारी पूर्वी शहर की ओर गए। वे अपने साथ अपने बोलचाल की खड़ी बोली भी ले गए। यही कारण है कि देश के पूर्वी भागों में भी खड़ी बोली संपर्क भाषा बनी।

6) क) इसाई मिशनरियाँ

ख) समाज सुधार आंदोलन

ग) नवीन आविष्कार

घ) नवीन शिक्षा

7) हिंदी का पहला पत्र "उदंत मार्तण्ड" था। इसका प्रकाशन पं. युगल किशोर शुक्ल ने कलकत्ता से किया था। हिंदी भाषियों को समाचार की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से इसका प्रकाशन शुरू किया गया था।

8) देखें उपभाग 20.3.2

9) देखें उपभाग 20.3.2

**अभ्यास**

1) देखें उपभाग 20.3.1

**बोध प्रश्न**

10) i) × ii) ✓ iii) × iv) × v) × vi) ✓

11) i) राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द

ii) राजा शिव प्रसाद,

iii) श्रद्धाराम फुल्लौरी

iv) राजा लक्ष्मण सिंह

12) i) राजा शिव प्रसाद

ii) बाबू नवीन चन्द्र राय

iii) राजा लक्ष्मण सिंह

**अभ्यास**

2) देखें उपभाग 20.3.2

# इकाई 21 भारतेन्दु युग

## इकाई की रूपरेखा


21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि
  21.2.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि
  21.2.2 सामाजिक पृष्ठभूमि
  21.2.3 साहित्यिक पृष्ठभूमि
  21.2.4 भारतेन्दु का प्रादुर्भाव
21.3 भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य
  21.3.1 गद्य साहित्य
  21.3.2 पद्य साहित्य
21.4 भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य की विशेषताएँ
  21.4.1 विषय-वस्तु
  21.4.2 भाषा-शैली (छंद-विधान)
21.5 भारतेन्दु युगीन साहित्य का महत्व
21.6 सारांश
21.7 शब्दावली
21.8 उपयोगी पुस्तकें
21.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 21.0 उद्देश्य

आप हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 का अध्ययन कर रहे हैं। इस पाठ्यक्रम के छठे खंड की चौथी इकाई है। इससे पूर्व आपने इकाई संख्या 20 में "आधुनिक हिंदी साहित्य का आरंभ" से संबंधित जानकारी प्राप्त की है। इस 21वीं इकाई में आप भारतेंदु युग के हिंदी साहित्य की जानकारी प्राप्त करेंगे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- भारतेन्दु युग के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि परिस्थितियों का आंकलन कर सकेंगे,
- इस बात की व्याख्या कर सकेंगे कि किस प्रकार भारतेन्दु जैसे व्यक्तित्व के आगमन से हिंदी साहित्य को नयी दिशा मिली,
- बता सकेंगे कि इस युग के रचनाकारों ने भारतेंदु द्वारा आरंभ किये गये कार्य को किस प्रकार आगे बढ़ाया,
- युग के साहित्य की संरचनागत विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे, और
- भारतेन्दु युग के साहित्य का महत्व स्पष्ट कर सकेंगे।

## 21.1 प्रस्तावना

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 से संबंधित यह 21वीं इकाई है। इसके पहले की इकाई के अध्ययन से आपको यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि किस प्रकार साहित्य में खड़ी बोली गद्य का प्रारंभ हुआ। यद्यपि तत्कालीन समय में साहित्य की भाषा ब्रज भाषा थी किन्तु गद्य की क्षमता का विकास करने पर खड़ी बोली ने साहित्य में स्थान बनाना शुरू किया। आज

खड़ी बोली में हिंदी साहित्य का विपुल भंडार है किंतु उसे इस स्थिति तक पहुँचने के लिए संघर्ष करना पड़ा। भारत की राजनीतिक परिस्थिति ने गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आधुनिक युग की शुरुआत के साथ अंग्रेज़ी राज्य का सीधा संबंध है। नये युग के उदय के साथ साहित्य में भी परिवर्तन आया। रीतिकालीन काव्यधारा एक नए मोड़ में परिवर्तित हो गयी। चूंकि अंग्रेज़ों ने भारतीय राजाओं को परास्त कर सत्ता हासिल की थी अतः उनमें विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। इधर शोषण के कारण जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। सन् 1857 ई. में क्रांति भड़क उठी। किन्तु अंग्रेजों ने उसे कठोरता से दबा दिया। राजे-राजवाड़े उजड़ गए। कई राजे जो आश्रयदाता थे स्वयं ही आश्रित हो गये। कविता का क्षेत्र राजमहल से निकल कर जनता तक फैल गया। छापाखानों के प्रयोग से तथा समाचार पत्रों के प्रचार-प्रसार के कारण कवि और जनता की दूरी कम होती गयी। कवियों का ध्यान जनता की समस्याओं की ओर गया उन्होंने समस्याओं को केन्द्र में रखकर कविता लिखनी शुरू कर दी। प्रजातांत्रिक विचारों का प्रचार होने लगा।

हिंदी गद्य का विकास हो रहा था किंतु उसे दबाने का षड्यंत्र भी रचा जा रहा था। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद एवं राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने-अपने सामर्थनुसार हिंदी भाषा साहित्य को आगे बढ़ाया किन्तु कठिन परिस्थितियों के बीच से सर्वसुलभ मार्ग निकालने का कार्य भारतेन्दु जैसे युग नेता ने ही किया। 35 वर्ष की अल्पायु में ही हिंदी साहित्य को उन्होंने एक नयी राह पर लाकर खड़ा कर दिया, इस राह पर चलकर साहित्यकारों की मंडली ने इस भाषा साहित्य को गौरव की स्थिति तक पहुँचाया। पाठ में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि पृष्ठभूमि के साथ हम इस बात की चर्चा करेंगे कि किस प्रकार उस समय के कवियों ने इस भाषा साहित्य को आगे बढ़ाया। भाषा साहित्य के रूप पर भी चर्चा की जायेगी और हम देखेंगे कि उस समय के साहित्य का ऐतिहासिक महत्व क्या है?

## 21.2 भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि

अंग्रेज़ी साम्राज्य की स्थापना के साथ भारत पर पश्चिमी सभ्यता एवं शिक्षा का प्रभाव पड़ा। पूर्व से चली आ रही परंपरा को समाप्त करने में इन प्रभावों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल जनता की समस्याओं को साहित्य में स्थान दिया गया। भारतेन्दु ने साहित्य में नई प्रवृत्तियों का समावेश किया। उस समय की परिस्थितियों का अध्ययन करके हम यह जान सकते हैं कि साहित्य पर उनका क्या प्रभाव पड़ा। आइए इस युग की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करें।

### 21.2.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि

अंग्रेज़ भारत में व्यापार करने आए थे। यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति को उन्होंने ध्यान से परखा। उन्होंने देखा कि यहाँ के छोटे-छोटे राजाओं में आपसी शत्रुता कूट-कूट कर भरी हुई है। अपनी कूटनीति के बल पर शासकों से मित्रता एवं शत्रुता बढ़ा कर उन्होंने राजनीतिक शक्ति प्राप्त करनी शुरू कर दी। औरंगजेब के बाद तो मुगल साम्राज्य ताश के पत्तों की तरह गिरता गया। 1757 ई. में प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेज़ों की शक्ति में बढ़ोत्तरी हुई। दक्षिण के मराठों की शक्ति को भी अंग्रेज़ों ने कम करना शुरू किया। 1764 ई. में बक्सर की लड़ाई में मुगलों के अंतिम सम्राट शाह आलम को भी अंग्रेजों ने अपने अधीन कर लिया। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पूर्वी हिंदी प्रदेशों पर भी अंग्रेज़ों का प्रभुत्व कायम होने लगा। इसके पहले के पचास वर्षों में अंग्रेज़ों ने मराठों, जाटों और सिक्खों को परास्त किया। असल में 1764 ई. की बक्सर की लड़ाई में सारा हिंदी प्रदेश अंग्रेज़ों के अधीन हो गया। 1826 ई. में भरतपुर पर कब्जा करके अंग्रेज़ों ने अपनी शक्ति बढ़ाई। 1849 ई. के द्वितीय सिक्ख युद्ध के बाद संपूर्ण भारत पर अपनी शक्ति कायम करने के लिए अंग्रेज़ों के सामने कोई बाधा नहीं रही। अपनी धूर्तनीति के बल पर उन्होंने 1885 ई. में अवध को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार व्यापार करने के उद्देश्य से आई हुई ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत पर पूर्ण राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो गया। यदि अंग्रेज भारतीय वस्तुओं का व्यापार करके मुनाफा ही कमाते तो भारत की

आर्थिक स्थिति पर इसका अधिक प्रतिकूल असर नहीं पड़ता। किंतु इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यह स्थिति बदल गई। इस देश से कच्चे माल का आयात किया जाता, और फिर उससे तैयार माल को यहीं के बाजार में अधिक कीमत पर बेचा जाने लगा। इस बदली हुई परिस्थिति के कारण भारत की अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगा। देशी कारीगर कंगाली होने लगे। कर व्यवस्था के कारण जनता को घोर कष्ट होने लगा। भारतीय जनता में असंतोष बढ़ने लगा। उधर जन राजाओं और सामन्तों की सत्ता छिन गई थी उनमें भी बदले की भावना बढ़ रही थी। परिणामतः 1857 ई. में जन विद्रोह उमड़ पड़ा। मुगल बादशाह बहादुरशाह को अपना नेता घोषित कर सामन्त और राजाओं ने फिर से अपना अधिकार पाने का प्रयत्न किया। उधर जनता भी इस विद्रोह में शामिल हो गई। चूंकि एक संगठित योजना के अनुरूप विद्रोह की शुरुआत नहीं हुई थी। अतः जगह-जगह अंग्रेज़ों ने इस विद्रोह को सख्ती से कुचल दिया। विद्रोह के बाद शासन की बागडोर ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गई। महारानी ने घोषणा-पत्र जारी किया। किन्तु यह एक छलावा था। जनता की भलाई को प्रलोभन देकर शासन तंत्र को मजबूत करने का कार्य हुआ। साहित्य की उन्नति के लिए अंग्रेज़ों ने कोई कार्य नहीं किया। 1835 ई. में कवि घासीराम ने बहुत दुःख के साथ लिखा "छोड कै फिरंगन को राज, लै सुधर्म काज जहाँ होत पुन्य आज चलो वही देस को"। किन्तु महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से सभी भ्रमित हुए। तत्कालीन कवियों ने रचनाओं में महारानी की प्रशंसा के गीत गाए। किन्तु कुछ कार्यों से भारतीय को बहुत लाभ भी हुआ। कालेजों की स्थापना से नयी शिक्षा की शुरुआत हुई। यातायात के साधनों, रेल, डाक, तार की व्यवस्था से अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों को लाभ हुआ। प्रेस की स्थापना से साहित्यिक रचनाओं के प्रचार-प्रसार में सहायता मिली। किन्तु 1885 ई. के पहले तक अंग्रेज़ों ने जितने भी कदम उठाए उसमें यहाँ के लोगों पर हर प्रकार के प्रतिबंध और शोषण से संबंधित कार्य शामिल थे। भारतीयों को पश्चिम में पनपी समानता की विचारधारा का पता लग गया था। तत्कालीन प्रबुद्ध नेतागण देश के सामाजिक-राजनीतिक उत्थान के कार्य में लग गए थे। किन्तु देश में एक ऐसे आधार की तलाश जारी थी जिससे हर क्षेत्र के नेता एकजुट होकर विदेशी शासन के खिलाफ आवाज़ उठाते। अंततः सन् 1885 ई. में भारतीयों की अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना से वह मंच मिल ही गया और अब संगठित रूप से जन आंदोलन शुरू हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु के आगमन एवं उनके जीवन के अल्पकार्य के बाद एक ऐसा आंदोलन शुरू हुआ जिसने भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया।

## 21.2.2 सामाजिक पृष्ठभूमि

नई शिक्षा पद्धति के कारण भारतीय समाज में एक परिवर्तन का दौर शुरू हुआ। विदेशी शासन के कारण जनता का जो शोषण हो रहा था उसके विरुद्ध समाज में क्रांति का स्वरूप उभरने लगा था। भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों का ध्यान सामाजिक कुरीतियों की ओर गया। समाज की दुर्दशा देख कर तत्कालीन नेतागण जिनमें राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती, विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, रानाडे आदि द्रवित हो उठे। वे सामाजिक सुधार के लिए आगे बढ़े। हिंसा की समाप्ति और प्रेम के प्रचार के उद्देश्य से 1873 ई. में "तदीय समाज" की स्थापना हुई। भारतेन्दु ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण अपनी रचना "भारत दुर्दशा" में स्पष्ट रूप में किया है। भारतेन्दु नर-नारी की समानता एवं स्त्री-शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। नवजागरण के उद्देश्य से उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा का समर्थन किया। समाज में घिर आई बुराइयों को दूर करने के लिए उन्होंने मन्दिरों और मस्जिदों में व्याप्त भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ किया।

तत्कालीन समाज दो वर्गों में बँट गया था। एक वर्ग प्राचीन मान्यताओं का पक्षपाती था तो दूसरा वर्ग प्रगतिशील वर्ग था। तत्कालीन सरकार अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए विभिन्न प्रकार का उपाय कर रही थी। समाज में नशीली पदार्थों का प्रचार करके वे लोगों को पंगु बना देना चाहते थे। पर्दा प्रथा के कारण नारियों का उत्थान रुका हुआ था। उन्हें किसी प्रकार का सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इस प्रकार समाज का आधा हिस्सा अविकसित ही था। स्त्रियों को भोग्य वस्तु समझा जाता और कई-कई स्त्रियाँ रखना शान-शौकत समझा जाता था। सन् 1872 ई. में केशव चन्द्र सेन के प्रयत्न से सरकार ने बाल-विवाह और बह-विवाह पर प्रतिबंध लंगाया। राजा राममोहन राय के कठिन प्रयास

से सन् 1829 ई. "सती प्रथा" को दंडनीय घोषित किया गया। किन्तु इस प्रथा के बंद होने पर एक और समस्या समाज के सामने उठ खड़ी हुई। वह थी विधवाओं की समस्या। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस समस्या का समाधान पेश किया। और उनके प्रयास से ही सन् 1856 ई. में विधवा विवाह को बैध घोषित किया गया।

धर्म के क्षेत्र में उस समय बहुदेववाद का बोलवाला था। हिन्दू धर्म के अंतर्गत ही कई संप्रदाय खड़े हो गये थे। शैव, शाक्त वैष्णव विचारधारा वाले अपने-अपने संप्रदाय को श्रेष्ठ करने में लगे हुए थे। कर्मकाण्ड को बढ़ावा देकर पुजारी वर्ग लोगों से लाभ कमा रहा था। ये कहीं भी पत्थरों को लाल पीले रंग से रंग कर बैठ जाते और जनता को देवता के कोप का भय दिखा कर ठगते। इन सब कुरीतियों को रोकने के लिए समाज सुधारकों ने आंदोलन शुरू किया। दूसरी ओर ईसाई-पादरी भी विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देकर ईसाई मत का प्रचार करने में लगे हुए थे। हिन्दू समाज की सारी रीति-रिवाजों में खामियाँ निकाल कर ईसाई धर्म का प्रचार करना ही पादरियों का मुख्य कार्य बन गया था। किन्तु समाज का बुद्धिजीवि वर्ग जाग उठा था। उसमें सोचने समझने की शक्ति आ चुकी थी। अपने समाज के रीति-रिवाजों को वैज्ञानिक ढंग से परखने की शक्ति ने जहाँ अच्छी बातों को बनाए रखा वहीं उन बातों को दूर करने का प्रयास हुआ जिससे वास्तव में हानि ही हानि हो रही थी। समाज में नयी चेतना लाने के लिए पश्चिम में हुई ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के समाचार को प्रचारित किया गया। तत्कालीन साहित्यकारों ने कविताओं एवं विभिन्न गद्य विधाओं के माध्यम से जनजागरण में हाथ बटाया।

### 21.2.3 साहित्यिक पृष्ठभूमि

सन् 1857 ई. के पहले सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में रीतिकालीन परंपरा का ही जोर था। दरबारी-विलास से पूर्ण रचनाएँ होती थीं। इसका कारण क्या था, कारण था कवियों को राज्याश्रय प्राप्त होना। कवि या रचनाकार जीविकोपार्जन के उद्देश्य से राजा आदि के दरबार में जाते। राजाओं के सूरवीरता का विचित्र वर्णन एवं उनके वैभव को बढ़ा चढ़ा कर कहना ही उनका उद्देश्य था। कवि अपनी इच्छा से अपने मन में उठने वाले भावों का चित्रण नहीं कर सकता था। उसे वही लिखना होता था जो उसके आश्रयदाता चाहते थे। इस प्रकार एक बंधन में रह कर उनकी कविता शक्ति का विकास नहीं हो पाया। यही कारण है कि तत्कालीन काव्य न तो उच्च कोटि का हो पाया और न ही राज महल से निकल कर जनता के बीच लोकप्रिय हो पाया। पहले की चर्चा से आपको यह मालूम हो गया है कि अंग्रेज़ों के आगमन के बाद इस देश में बहुत से परिवर्तन आए। चूंकि यहाँ के राजागण अंग्रेजों के अधीन हो चुके थे अतः अब उनके पास इतना सामर्थ्य नहीं थी कि वे वैभव के प्रदर्शन के लिए अपना धन लूटाते या कवियों को आश्रय देते। कवियों का राजाश्रय समाप्त होना एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी। कवि अब राजदरबार से निकल कर जनता के बीच पहुँचे। उन्होंने जनता के दुःख दर्द को देखा अतः अब उनकी लेखनी से जनता के दुःख दर्द की अभिव्यक्ति होने लगी। जन साहित्य का प्रणयन हुआ। अंग्रेज़ों के प्रयत्न से सन् 1752-53 ई. में अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। यहाँ के तत्कालीन प्रबुद्ध नेताओं ने भी इस कदम का समर्थन किया। फोर्ट विलियम की स्थापना से शिक्षा के प्रचार का नया मार्ग प्रशस्त हुआ। राजा राममोहन राय के प्रयत्न से 1817 ई. में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई। फिर देश में कई जगहों पर कालेज खुले। उसी प्रकार शिक्षा का प्रसार तेजी से हुआ। और सन् 1855 ई. तक शिक्षा का अच्छा-खासा प्रचार हो गया और हिंदी साहित्य में जहाँ भक्तिपूर्ण रचनाओं को स्थान मिला वहीं आधुनिक समस्याओं को कविता का विषय बनाया गया। राष्ट्र प्रेम की भावना बढ़ रही थी। साहित्य में भी उसका पदार्पण हो गया था। चूंकि कवि अब जनता से जुड़ गए थे, अतः लोक गीतों की रचना प्रारंभ हुई। कजली, खेमता, ठुमरी, गज़ल आदि की रचना इस बात का प्रमाण है कि अब कविता दरबारी वातावरण के घेरे से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुकी थी।

भाषा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित होने लगा था। ब्रज भाषा और अवधि को लेकर जो मान्यता स्थापित हो गई थी उसमें परिवर्तन आ गया। अब ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली में साहित्य रचा जाने लगा। यद्यपि ब्रज भाषा में रचना एकदम समाप्त नहीं हो गई किंन्तु खड़ी बोली में गद्य के प्रवर्तन से ब्रजभाषा की प्रमुखता कम हो गई। खुसरों एवं कबीर द्वारा अपनाई गई भाषा का विकास होने लगा। किन्तु हिंदी साहित्य में इस प्रकार

का परिवर्तन क्या बिना किसी के नेतृत्व के हो गया। ऐसा नहीं था। हिंदी साहित्य के इस युगान्तकारी परिवर्तन लाने का श्रेय युग पुरुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही है। उन्हीं के प्रयास से हिंदी गद्य की विविध विधाओं का प्रवर्तन हुआ। भारतेन्दु ने हिंदी साहित्य को एक दिशा दी। आइए इस महान् युग पुरुष का परिचय प्राप्त करें।

## 21.2.4 भारतेन्दु का प्रादुर्भाव

भारतेन्दु एक समृद्ध परिवार के सदस्य थे। उनका परिवार अंग्रेज़ों का भक्त था। 9 सितंबर सन् 1857 ई. को इनका जन्म हुआ था। उनमें कविता करने की जन्मजात शक्ति थी। पाँच वर्ष की अवस्था में ही कविता रचना करके उन्होंने सभी को विस्मित कर दिया था। पिता गोपालचन्द को भी अपने पुत्र की प्रतिभा पर गर्व हुआ था और उन्होंने हृदय से आशीर्वाद दिया था कि वह बड़ा कवि बने। पिता का आशीर्वाद प्रतिफलित हुआ। भारतेन्दु बहुत बड़ा कवि ही नहीं हिंदी भाषा साहित्य के निर्माता भी बने। अल्पायु में ही माता-पिता का साया उठ जाने पर जिस प्रकार की कमी उनके जीवन में आई उसे उन्होंने साहित्य रचना जैसे कार्य को करके पूरा किया। साहित्य रचना में ही उन्हें सब प्रकार का संतोष प्राप्त हुआ। प्रतिभा तो उनमें थी ही समाज को देखने ओर परखने की भी उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। तत्कालीन समाज को अंधेरे से बाहर लाने के लिए उन्होंने साहित्य रचना द्वारा ज्ञान का प्रकाश फैलाया। इतना ही नहीं उन्होंने अपने समय के साहित्यकारों में भी समाज सेवा एवं राष्ट्र सेवा की भावना को जगाया। वे पथप्रदर्शक बने। मातृ भाषा के प्रति उनकी उक्ति आदर्श बन गई। निज भाषा द्वारा सब प्रकार की उन्नति का मूल मंत्र उन्होंने ही दिया।

निज भाषा उन्नति, अहै, सब उन्नति को मूल।।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल।।

यह तो था तत्कालीन भारत की विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि। इन पृष्ठभूमियों से ही आधुनिक साहित्य का प्रवर्तन हुआ। अब हम उस समय के रचे गए साहित्य का परिचय प्राप्त करेंगे, इससे पहले कुछ बोध प्रश्न का उत्तर दे लें।

**बोध प्रश्न**

1) किन कारणों से भारतेन्दु युग पूर्व के कवि एक सीमत दायरे में ही कविता करते थे?

.....

.....

2) अंग्रेज़ी राज की स्थापना ने किस प्रकार कवियों को जनता के बीच पहुँचा दिया?

.....

.....

3) ऐसे दो रचनाकारों के नाम बताइए जिन्होंने बहुत पहले ही खड़ी बोली का प्रयोग शुरू किया था।

.....

4) सती प्रथा पर प्रतिबंध लग जाने पर "विधवा समस्या" खड़ी हो गई। इस समस्या के समाधान के लिए किस व्यक्ति ने क्या कार्य किया?

.....

.....

5) निज भाषा के प्रति भारतेन्दु का क्या विचार था?

.....

.....

## 21.3 भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से हिंदी भाषा साहित्य के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन आया। उन्होंने भाषा और साहित्य को एक नये राह पर लाया। भाषा का शिष्ट और सामान्य रूप लाने का श्रेय भारतेन्दु को ही है। हिंदी भाषा साहित्य को नवीन मार्ग पर लाया और उसे शिक्षित जनता से जोड़ा। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार से लोगों में चेतना आ रही थी। देश हित एवं समाज हित की भावना का प्रचार हो रहा था। किन्तु साहित्य इनसे अछूत था। भक्ति-शृंगार आदि से संबंधित रचनाएँ ही साहित्य में हो रही थी। यद्यपि कभी-कभी शिक्षा संबंधी छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ लिखी जाती थी। किन्तु देश के वातावरण के अनुकूल साहित्यिक रचनाएँ नहीं हो रही थी। भारतेन्दु ने देखा कि अन्य भाषाओं में विशेषकर बंगला भाषा में नए ढंग के नाटक, उपन्यास आदि रचे जा रहे हैं अतः हिंदी में भी ऐसा कार्य होना चाहिए। हिंदी साहित्य को जन-जीवन से जोड़ने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने नए-नए विषयों का साहित्य में स्थान दिया। भारतेन्दु के अल्पकाल के जीवन में ही लेखकों का एक दल तैयार हो गया था। इस दल ने भारतेन्दु के दिखाए गए रास्ते पर चल कर गद्य एवं पद्य रचनाएँ कीं। इन सभी लेखकों ने आधुनिक विषय को ही अपनी रचनाओं में स्थान दिया। आइए तत्कालीन गद्यकारों एवं उनकी रचनाओं को जानें।

### 21.3.1 गद्य साहित्य

**नाटक**

आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से ही हुआ। पहले ब्रजभाषा में कुछ नाटक लिखे गए। बाद में अनुवाद द्वारा इस विधा की शुरुआत हुई। स्वयं हरिश्चन्द्र ने ही बंगला के "विधा सुंदर" नाटक का अनुवाद प्रस्तुत किया। इससे पूर्व वे "प्रवास" नामक नाटक की रचना कर रहे थे किन्तु वह पूरा नहीं हो पाया। भारतेन्दु ने "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति", "प्रेम योगिनी", "विषस्य विषमौषधम", "श्री चन्द्रावली नाटिका", "भारत दुर्दशा", "नील देवी", अंधेर नगरी आदि मौलिक नाटक लिखे। उनके अनुवादित नाटक हैं "पाखंड विडंबन", "मुद्रा राक्षस", "सत्य हरिश्चन्द्र", "कर्पूर मंजरी", "दुर्लभ बंधु"।

भारतेन्दु की प्रेरणा से ही तत्कालीन सभी लेखकों ने नाटकों की रचनाएँ कीं। प्रतापनारायण मिश्र ने भी "भारत दुर्दशा" नामक नाटक की रचना की। इस नाटक में उन्होंने मानवीय भावों को मानव रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में लाज, आलस्य आदि भाव मानव रूप में चित्रित हैं। पं. बाल कृष्ण भट्ट ने "पद्मावती", "शिशुपाल बध" एवं "चन्द्रसेन" नामक नाटक लिखे। चौधरी बदरीनारायण प्रेमधन ने भी भारतेन्दु की प्रेरणा से ही "भारत सौभाग्य" और "वीरांगना रहस्य" नामक नाटकों की रचना की। लाला श्री निवास दास ने "प्रहलाद चरित्र", "तप्ता संवरण", "रणधीर प्रेममोहिनी" और "संयोगिता स्वयंवर" नाटकों की रचना की। भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधा कृष्ण दास ने भी नाटकों की रचना की। उनके नाटक हैं "दुखिनी बाला", "महारानी पद्मावती", "महाराणा प्रताप", तथा "सती प्रताप", नाटक दृश्य विधा है। इसके लेखन के बाद जब तक इसका सफल मंचन नहीं होता तब तक इसकी सार्थकता नहीं रह जाती। भारतेन्दु स्वयं नाटकों की रचना करने के बाद उसका मंचन किया करते थे। किन्तु दुर्भाग्य से इसके मंचन की परंपरा ढीली पड़ती गई। अभिनयशालाओं की कमी एवं उपन्यास की लोकप्रियता ने इस विधा को अलोकप्रिय बना दिया। किन्तु तत्कालीन नाटक लेखकों ने इस विधा को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न किया।

भारतेन्दु युग में सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और शृंगारपरक नाटकों की रचना की गई थी। उस समय के नाटकों की यह विशेषता भी है कि उनमें समाज के विभिन्न वर्गों को उनकी प्रधान विशेषताओं के साथ प्रस्तुत किया गया।

**कहानी**

क़हानी गद्य की लोकप्रिय विधाओं में से है। भारत में कहानी लिखने की लंबी परंपरा मिलती है। संस्कृत में कहानी की विकसित परंपरा मिलती है किन्तु आधुनिक हिंदी साहित्य

में कहानी की परंपरा की शुरुआत के संबंध में मतभेद हैं। वैसे इंशा अल्ला खां की "रानी केतकी की कहानी" हिंदी की पहली कहानी मानी जाती है। किन्तु इसमें आधुनिक तत्वों की कमी है। राजाशिव प्रसाद सितारे हिंदी की रचना "राजा भोज का सपना" (1823-1895) भी आरंभिक कहानियों में से है किन्तु उसमें आधुनिकता का स्पर्शमात्र ही है। शुक्ल जी ने अपने "हिंदी साहित्य के इतिहास में, कुछ आरंभिक कहानियों की चर्चा की है जिनमें किशोरी लाल गोस्वामी की "इन्दुमती" रामचन्द्र शुक्ल का "ग्यारह वर्ष", "बंग महिला", "दुलाई वाली" आदि मुख्य हैं। नवीनतम खोजों के अनुसार माधव राव सप्रे की कहानी "एक टोकरी भर मिट्टी" जो 1901 में प्रकाशित हुई थी को हिन्दी की पहली कहानी माना जाता है। हिंदी कहानी विधा का उत्थान प्रेमचन्द के आगमन से ही संभव हुआ।

**उपन्यास**

उपन्यास अन्य गद्य विधाओं की तुलना में सबसे अधिक लोकप्रिय विधा है। हिंदी साहित्य में इस विधा का आरंभ इस दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण है कि इसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि हिंदी नहीं जानने वालों ने भी उपन्यास पढ़ने की ललक से हिंदी सीखी। उन दिनों दो उद्देश्य को ध्यान में रख कर उपन्यास लिखे गए। पहला उद्देश्य था शुद्ध मनोरंजन और दूसरा था मनोरंजन के साथ सुधारवादी भावना। देवकीनंदन खत्री ने शुद्ध मनोरंजन के लिए तिलिस्मी ऐयारी उपन्यास लिखे। इनके लिखे गए उपन्यास चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुए। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास हैं, तिलिस्मी शीश महल, हरे कृष्ण जौहर तथा राम लाल वर्मा के उपन्यास भी शुद्ध मनोरंजन के लिए लिखे गए इनके उपन्यासों के क्रमशः नाम हैं, कुसुमलता तथा पुतली महल। जासूसी उपन्यासकारों में गोपाल राम गहमरी विख्यात हुए। उन्होंने अद्भुत लाश, बेकसूर की फाँसी तथा सरकती लाश आदि उपन्यासों की रचना की।

संदेश प्रधान सामाजिक उपन्यासों की शुरुआत लाला श्रीनिवास दास के "परीक्षा गुरु" से होती है। इसके अलावा राधाकृष्ण दास। (निस्सहाय हिन्दू) बालकृष्ण भट्ट (नूतन ब्रह्मचारी) तथा (सौ अजान एक सुजान), ठाकुर जगमोहन सिंह (श्यामा स्वप्न) किशोरी लाल गोस्वामी (अधखिला फूल) तथा अयोध्या सिंह उपाध्याय (ठेठ हिंदी का ठाठ) ने इस प्रकार के उपन्यास लिखे। इस युग के उपन्यासकारों ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना भी की, जिनमें भारतीय इतिहास के अतीत से कथावस्तु लेकर उसे कल्पना के सहारे नया रूप दिया गया। किशोरी लाल गोस्वामी (हृदय हारिणी, आदर्श रमणी, तारा, रजिया बेगम) गंगा प्रसाद गुप्त (पृथ्वी राज चौहान) श्याम सुंदर वैध (पंजाब पतन) के उपन्यास ऐसे ही उपन्यास हैं। इस विधा में भी प्रेमचंद के आगमन से ही एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

**निबंध**

निबंध विधा की शुरुआत भी भारतेन्दु युग में ही हुआ। भारतेन्दु स्वयं ही अच्छे निबंधकार थे। किन्तु, उस समय के अन्य लेखकों ने भी इस विधा में लेखन किया। भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. में "कविवचन सुधा" पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। इससे लेखन कार्य में तेजी आई। "हरिश्चन्द्र चंद्रिका तथा "बाला बोधिनी" पत्रिका द्वारा भी गद्य विधाओं के विकास में सहायता मिली। इस युग के अन्य लेखकों ने भी पत्रिकाएँ निकालीं जिसमें लेखन के कार्य में तेजी आई। भारतेन्दु युग के निबंध में समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम, देशभक्ति अतीत के प्रति गौरव भावना, तथा विदेशी शासन के प्रति आक्रोश जैसे विषयों को स्थान मिला। उस युग के निबंधकारों ने मनोरंजन के लिए भी निबंध रचना की। नाक, कान, भौं, धोखा, बुढ़ापा आदि विषयों पर लिखे गए निबंध इस बात का परिचायक हैं कि उनमें जिंदादिली थी। भारतेन्दु ने जहाँ समाज की उन्नति से संबंधित विषयों पर निबंध लिखे वहीं उन्होंने अतीत गौरव और तत्कालीन शासन के प्रति असंतोष व्यक्त करने के लिए भी निबंध लिखे। "जातीय संगीत", लेवी प्राण लेवी ऐसे ही निबंध हैं।

बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के प्रमुख निबंधकार हैं। इन्होंने लगभग एक हजार निबंधों की रचना की। उनके निबंध समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य रीति, प्रथा सभी विषयों से संबंधित हैं। उनके विचारात्मक निबंध हैं, साहित्य जन समूह का विकास है, चारूचरित्र, चारित्रपालन प्रतिभा आदि। भावात्मक निबंधों में, कल्पना, आँसू आदि हैं। विनोदपरक निबंधों में, अकिल अजीरन रोग, इंगलिश पढ़े सो बाबू होय आदि मुख्य हैं।

प्रतापनारायण मिश्र इस युग के अन्य महत्वपूर्ण निबंधकार हैं, इन्होंने व्यग्य से पूर्ण निबंधों की रचना की है। भौं, होली, धोखा बुढ़ापा ऐसे ही निबंध है। शैवमुर्ती, विश्वास आदि विवेचनपूरक निबंध हैं।

बाल मुकुन्द गुप्त भारतेन्दु युग के निबंधकारों में से एक हैं जिन्होंने इस विधा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ये द्विवेदी युग में भी लिखते रहे। ''गुप्त निबंधावली'' के नाम से इनके निबंधों का संग्रह प्रकाशित हुआ।

**समालोचना**

समालोचना विधा के अन्तर्गत किसी रचनाकार की रचना का गुण दोष विवेचन होता है। भारतेन्दु युग में ही इस विधा की शुरुआत हो गई थी। उपाध्याय पं. बदरी नारायण चौधरी ''प्रेमधन'' ने ''आनंद कादंबिनी'' नामक पत्रिका निकाली थी। इस पत्रिका में लाल श्री निवास दास रचित नाटक ''संयोगिता स्वयंवर'' की विशद और कड़ी आलोचना छपी थी। इसमें गुण दोष के आधार पर बड़ी बारीकी से जाँच पड़ताल की गई थी। किन्तु इस विधा का विकास द्विवेदी युग में ही हुआ।

## 21.3.2 पद्य साहित्य

भारतेन्दु युग एक नए युग की शुरुआत का युग था। इस युग में एक और पुरानी परंपरा का अनुसारन गुण दोष के आधार पर किया गया, वहीं नए विचारों का समावेश करके समाज में चेतना फैलाने का प्रयास भी किया गया। सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए युग पुरुषों ने समाज सुधार आंदोलन शुरू किए वहीं साहित्य के क्षेत्र में भी नवीनता का समावेश करके युगानुरूप काव्य की रचना की गई। रीतिकालीन परंपरा के घेरे से निकल कर काव्य जनसामान्य के निकट पहुँचा। काव्य को एक सीमा रेखा से पार निकालने की शुरुआत भारतेन्दु जैसे युग निर्माता ने ही किया। तत्कालीन पद्य साहित्य को हम रचनाकारों के माध्यम से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य के बारे में जाने।

**भारतेन्दु हरिश्चन्द्र**

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 3 सितम्बर सन् 1850 ई. में हुआ था। इनमें कविता करने की जन्मजात प्रतिभा थी। परिस्थितियों के कारण स्कूल एवं कालेज की शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। स्वाध्याय से इन्होंने संस्कृत, उर्दू, हिंदी, बंगला एवं गुजराती भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। साहित्य से गहरी अभिरुचि के कारण इन भाषाओं के साहित्य का भी गहन अध्ययन किया। यात्राओं से इनमें देश भक्ति की भावना का विकास हुआ। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करके इन्होंने हिंदी गद्य विधाओं को बढ़ाया। हिंदी भाषा साहित्य के भंडार को इन्होंने 238 ग्रंथों की रचना करके समृद्ध किया। काव्य ग्रंथों में, 48 प्रबंध काव्य, 21 काव्य ग्रंथों, तथा सैकड़ों मुक्तक काव्य की रचनाएँ कीं। नीचे इनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

1) भक्त सर्वस्व, 2) प्रेममालिका, 3) फूलों का गुच्छा, 4) जैन कुतूहला, 5) प्रेम सरोवर, 6) प्रेमाश्रु वर्णन, 7) प्रेम फुलवारी, 8) प्रेत तरंग, 9) भक्तमाल उत्तरार्द्ध, 10) बैसाख महात्मय, 11) प्रेम प्रलाप, 12) गीत गोविंद्र, 13) सतसई सिंगार, 14) होली, 15) मधु मुकुल, 16) वर्षा विनोद, 17) प्रेम माधुरी, 18) विनय प्रेम पचासा, 19) कृष्ण चरित, 20) कार्तिक स्नान, 21) राग संग्रह।

प्रबंध काव्यों में राजभक्ति संबंधी रचनाएँ हैं—श्री राजकुमार शुभागमन, भारत भिक्षा, भारत वीरत्व, विजय वल्लरी, विजयिनी विजय पताका, जातीय संगीत एवं रिपनाष्टक। भक्तिकाव्य संबंधी प्रबंध रचनाएं हैं—कृष्ण काव्य, प्रबोधिनी विविध विषयों से संबंधित रचनाएँ—चतुरंग वसंत, होली, उर्दू का स्यापा, बकरी विलाप, बंदर सभा, नए जमाने की मुकरी। भारतेन्दु ने जहाँ परंपरा से प्राप्त भक्तिपूर्ण रचनाएँ की वहीं नवीन प्रवृत्तियों से युक्त रचनाएँ कीं।

**बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन**

पं. बदरीनारायण का जन्म सं. 1912 ई. में जिला गोंडा के दतापुर ग्राम में हुआ था। ये भारतेन्द् युग के महत्वपूर्ण कवि हुए। इन्होंने भारतेन्दु द्वारा किए गए कार्य को आगे बढ़ाया

इन्हें प्रकृति से बहुत प्रेम था। विशेष रूप से बादलों के भिन्न-भिन्न रूपों को देखकर ये मुग्ध हो जाते थे। यही कारण है कि इन्होंने उपना उपनाम "प्रेमधन" रखा। जिस प्रकार भारतेन्दु ने "तदीय समाज" की स्थापना द्वारा समाज सुधार का कार्य किया, उसी प्रकार उन्होंने भी "संदर्भ सभा" तथा "रसिक समाज" की स्थापना करके समाज सुधार का कार्य किया। "आनंद कादंबिनी" तथा "नागरी नीरद" पत्रिकाओं का प्रकाशन करके हिंदी साहित्य को आगे बढ़ाने का कार्य किया। वे परंपरागत से आरंभ कर नवीनता की ओर बढ़ते गए। राजभक्ति, देश भक्ति तथा हिंदी के प्रति अनन्य प्रेम और हास्य से संबंधित कविताएँ कीं। इनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है।

राजभक्ति–मंगलाशा, हार्दिक हर्षादर्श, भारत बधाई आर्याभिनंदन, और सौभाग्य भागम।

देश भक्तिपूर्ण रचनाएँ हैं–मंगलाशा, पितर प्रलाप, कलिकाल, तर्पण, स्वागत पत्र, आनंद बधाई, कजली, होली आदि।

हास्यपूर्ण रचनाएँ–हास्यबिन्दु तथा होली की नकल।

**प्रतापनारायण मिश्र**

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग के महत्वपूर्ण कवि हैं। 24 सितंबर सन् 1856 ई. को कानपुर में इनका जन्म हुआ था। स्कूली शिक्षा नहीं मिल पाई। स्वाध्याय से ही हिंदी अंग्रेजी, उर्दू, फारसी और बंगला भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित पत्रिका के कवि वचन सुधा से प्रेरणा पाकर ये साहित्य सेवा की ओर मुड़े। प्रथम रचना "प्रेम पुष्पावली" की प्रशंसा भारतेन्दु ने की जिससे इन्हें बहुत बल मिला और वे अधिक उत्साह से हिंदी साहित्य की सेवा में लग गए। तत्कालीन लेखकों की तरह उन्होंने भी "ब्राह्मण" नामक मासिक पत्र निकाला। मिश्र जी की काव्य रचनाएँ इस प्रकार हैं –

1) प्रेम पुष्पावली, 2) मन की लहर, 3) शृंगार विलास, 4) दंगल खण्ड (आल्हा), 5) ब्रेडला स्वागत, 6) लोकोक्ति शतक।

इनकी रचनाओं में तत्कालीन जरूरतों के अनुसार विषय रखे गए हैं। समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए इन्होंने रचनाएँ कीं। अंग्रेजी शासन की शोषण नीति के खिलाफ इन्होंने आवाज उठाई। प्राचीन गौरव का वर्णन कर लोगों में जोश पैदा किया। देशभक्ति पूर्ण रचनाओं में वे भाव विहवल हो जाते हैं। अन्य कवियों के समान इन्होंने उन सभी विषयों को अपनी रचनाओं में शामिल किया जिनसे समाज में चेतना फैले।

**श्रीराधा चरण गोस्वामी**

भारतेन्दु की प्रेरणा से तत्कालीन कवियों की एक मण्डली तैयार हो गई। इस मण्डली के सभी कवियों में एक साथ भारतेन्दु द्वारा प्रारंभ किए गए कार्य में हाथ बंटाया। पं. राधाचरण गोस्वामी का जन्म 25 फरवरी सन् 1859 को वृंदावन में हुआ था। इनके पिता कवि थे। जिस प्रकार प्रतापनारायण मिश्र को भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित पत्रिका से हिंदी सेवा की प्रेरणा मिली थी। उसी प्रकार राधाचरण दास भी भारतेन्दु की पत्रिका से प्रेरित होकर हिंदी साहित्य की सेवा में लग गए। इन्होंने अपने प्रेरणा पुरुष भारतेन्दु के नाम पर ही "भारतेन्दु" नामक पत्र निकाल कर हिंदी साहित्य के संवर्द्धन में हाथ बँटाया। इन्होंने राजभक्ति से संबंधित काव्य रचनाएँ भी कीं। किन्तु जैसा कि तत्कालीन सभी कवियों ने शासक वर्ग की नीति से क्षुब्ध होकर उनके विरोध में रचनाएँ कीं उसी प्रकार राधाचरण जी ने भी शासन की खुलकर आलोचना की। नवचेतना फैलाने के लिए उन्होंने भी अतीत के गौरव का चित्रण किया है। राधा चरण जी काव्य रचनाएँ इस प्रकार हैं –

1) नव भक्तमाल, 2) दामिनी दूतिका, 3) शिशिर सुषमा, 4) इश्क चमन, 5) भ्रमरगीत 6) निपट नादान बारहमासी, 7) प्रेम बीगीची,8) भारत संगीत, 9) विधवा-विलाप, 10) भू-भार हरणार्थ-प्रार्थना, 11) पतित स्रोत, रेलवे स्रोत, यमलोक की यात्रा (व्यंग्यपूर्ण रचनाएँ)।



**राधाकृष्ण दास**

भारतेन्दु की प्रेरणा से बाहर ही नहीं उनके घर के लोग भी समान रूप से प्रभावित हुए थे।

भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाचरण दास ने भी भारतेन्दु के कार्य को ही आगे बढ़ाया। इन्होंने तत्कालीन अंग्रेजी सरकार की हिंदी विरोधी नीति को अच्छी तरह परखा था। अदालतों में हिंदी के प्रवेश के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। इनकी काव्य रचनाओं में भी उन्हीं विषयों को स्थान मिला जिनका भारतेन्दु ने प्रणायन किया। राधाकृष्ण दास ग्रंथावली के अनुसार इनकी समस्त काव्य रचनाएँ इस प्रकार हैं।

1) मेकडानेल पुष्पांजलि, 2) विजयिनी विलाप, 3) पृथ्वीराज प्रयाण, 4) भारत बारहमासा, 5) जुबिली, 6) देश दशा, 7) छप्पन की बिदाई, नए वर्ष की बधाई, 8) राम जानकी, 9) प्रताप विसर्जन, 10) रहिमन विलास, 11) विनय, 12) फुटकर कविता।

इस प्रकार तत्कालीन सभी कवियों ने जनजागरण के लिए काव्य रचनाएँ की। चाहे समाज सुधार से संबंधित रचनाएँ हों या देश भक्ति पूर्ण रचना कवियों का मुख्य उद्देश्य था। उस समय के भारतीय समाज को एक नयी दिशा देना। परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर एक नए भारत के निर्माण के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से आह्वान किया। उस युग के कवियों के नेता भारतेन्दु थे। उनकी राह पर चलकर अन्य सहयोगियों ने इस महान कार्य को आगे बढ़ाया। सर्वगुण संपन्न व्यक्तित्व के कारण वे युगपुरुष बने और उनके कार्यों के कारण इस युग का नाम ही भारतेन्दु युग पड़ गया।

**बोध प्रश्न**

6) भारतेन्दु युग में गद्य साहित्य की किस विधा द्वारा नवीन साहित्य का प्रवर्तन हुआ। दो पंक्तियों में कारण सहित उत्तर लिखें?

.....

.....

7) नीचे कुछ नाटकों के नाम दिए जा रहे हैं आप उनके सामने उनके लेखकों के नाम लिखिए:

| | नाटक | लेखक |
|---|---|---|
| 1) | भारत दुर्दुशा | ..... |
| 2) | प्रहलाद चरित | ..... |
| 3) | दुखिनी वाला | ..... |
| 4) | पद्मावती | ..... |
| 5) | रणधीर प्रेममोहिन | ..... |
| 6) | सती प्रताप | ..... |

8) भारतेन्दु युग में हिंदी गद्य की किस विधा की लोकप्रियता ने लोगों में हिंदी सीखने की ललक जगायी?

.....

.....

9) भारतेन्दु युग के किस लेखक की किस उपन्यास रचना में आधुनिकता की शुरुआत हुई?

.....

.....

10) निम्नलिखित उपन्यासकारों की एक-एक रचना के नाम लिखिए:

1) देवकीनंदन खत्री .....

2) हरेकृष्ण जौहर .....

3) किशोरी लाल गोस्वामी .....

4) (गोपाल राम गहमरी .....

11) भारतेन्दु युग के तीन निबंधकारों के नाम लिखिए

1. ..... 2. .....3. .....

**अभ्यास**

1) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य रचनाओं के माध्यम से देश प्रेम समाज सुधार आदि कार्य प्रारंभ किया। उस समय के कवियों ने भारतेन्दु के कार्य में सहयोग दिया। दस-बारह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 21.4 भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य की विशेषताएँ

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य में नवीनता के प्रवेश का युग था। साहित्य को एक नए राह पर लाने के लिए भारतेन्दु द्वारा प्रारंभ किया गया कार्य अति महत्वपूर्ण है। उस युग के सभी कवियों ने इसी कार्य को आगे बढ़ाया। साहित्य में जहाँ नए-नए गद्य दिशाओं का प्रवर्तन हुआ वहीं काव्य के विषय-वस्तु, भाषा शैली और छन्द विधानों में भी परिवर्तन आया। भारतेन्दु युग की परिस्थितियों की चर्चा करते हुए हमने देखा कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे करके भारत पर राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लिया था। शासन स्थापित होने के बाद उन्होंने यहाँ अत्याचार करना शुरू कर किया। देश का धन ढोकर विदेश ले गए, यहाँ के उद्योग धंधे नष्ट कर दिए गए, ईसाई धर्म का प्रचार कर यहाँ की जनता के हृदय पर चोट की गई। लोगों को आपस में लड़वाया, सांप्रदायिकता फैलाकर अपने राज को मजबूत बनाया, इन्हीं सब कारणों से लोगों में राष्ट्र, सम्मान, राष्ट्रीय चेतना, देश प्रेम, मातृभूमि के प्रति भक्ति भावना बढ़ी। साहित्यकार इस दौर में पीछे नहीं रहे। उन्होंने इस कार्य के लिए साहित्यिक रचनाएँ की। यहीं कारण है कि परंपरा से चली आ रही साहित्यिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन आया।

### 21.4.1 विषय-वस्तु

तत्कालीन लेखक चाहे गद्य लिख रहे हों या पद्य रचना कर रहे हों सभी में विषय वस्तु की दृष्टि से बदलाव आया। यद्यपि काव्य रचना में परंपरा को भी स्थान दिया गया, लेकिन धीरे-धीरे परंपरा का स्थान नवीनता ने ले लिया। स्वयं भारतेन्दु ने प्राचीन परिपाटी के अनुसार रचनाएँ कीं। वे भक्त कवि थे। वल्लभ संप्रदाय से संबंधित होने के कारण उन्होंने राधा-मोहन से संबंधित पद रचनाएँ कीं। एक उदाहरण दृष्टव्य है:

"जय जय हरि राधा रस केलि।
तरनि तनूजा-तट इकन्त मैं बाहु बाहु पर मेलि

ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय खंड पु. -55

उस युग के एक और महत्वपूर्ण कवि "प्रेमधन" की यह रचना देखिए जिसमें उन्होंने राधा कृष्ण की स्तुति की है।

छहरे मुख पै घनश्याम से केश, इतै सिरमौर परवा फहरे
उत गोल कपोलन पै अति लोल अमोल लली मुक्ता भहेरे।।
इति भांति सा वद्रीनाराणजू दोऊ देखि रहे जमुना लहैरे
नित ऐसे सनेह सो राधिका श्याम हमारे हिय में सदा बिहैरे।।

उस समय के अन्य कवियों ने भी भक्ति पूर्ण रचनाएँ की किन्तु, जैसा कि मैंने बताया कवियों में प्राचीनता से नवीनता की ओर झुकाव होता गया। तत्कालीन परिस्थितियों ने उनके काव्य विषय में परिवर्तन लाने को बाध्य किया। भारतेन्दु देश-दशा पर चिन्ता व्यक्त करते हुए लिखते हैं:

रोवहु सब मिलकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

देश का धन विदेश चला जा रहा था उसकी चिंता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा:

अंग्रेज़ राज सुख सान सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।

तत्कालीन सभी कवियों ने एक ओर जालिम शासन के प्रति अक्रोश व्यक्त किया, वहीं समाज में जागृति लाकर इस शासन के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरणा भी दी।

भारतेन्दु ने सन् 1884 ई. में बलिया के ददरी मेले में "भारत की उन्नति कैसे हो सकती है?" विषय पर भाषण दिया। यह भाषण नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में छपा। इस भाषण में भारतेन्दु ने देशवासियों को आहवान किया कि वे आपस में मिलकर देश उन्नति के लिए कार्य करें। अपने लेखों एवं कविताओं के माध्यम से उन्होंने जनजागरण का कार्य किया।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जीवन के बीच से ली गई सामग्री का उपयोग किया। "चंद्रावली" नाटक में प्रेम का आदर्श सामने रखा है तो "नील देवी" में पंजाब के एक राजा पर बाहरी राजा के आक्रमण का ऐतिहासिक वृतांत लिखा है। देश की दशा का मार्मिक चित्रण उनके "भारत दुर्दशा" नाटक में मिलता है। नाटकों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक पाखंड को उजागर किया है।

देश भक्ति पूर्ण रचना कर "प्रेमधन" ने जनता को जागृत किया। भारत की दुर्दशा पर वे भी दुःखी हैं:

"मची है भारत में कैसी होली, सब अनीति गतिहोली।
ब्रदी प्रसाद मदिरा अधिकारी लाज सरम सब धो ली।"

एक ओर प्रबुद्ध नेताओं द्वारा एक ऐसे राह की तलाश की जा रही थी जिससे सभी मिल कर अंग्रेज़ी सरकार का सामना करें। 1885 में वह समय भी आ गया। "अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस" के जन्म से जनता को एक ऐसा मंच मिला, जिसके द्वारा वे संगठित रूप से संघर्ष कर सकते थे। प्रतापनारायण मिश्र पार्टी की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं–

जय जयति भगवति कांगरेस असेष मंगल कारिनी।

अपनी मातृभाषा के द्वारा सब उन्नति का मूल मंत्र तो भारतेन्दु ने दे ही दिया था। बाकी कवियों ने भी मातृभाषा की आवश्यकता पर जोर दिया। प्रतापनारायण मिश्र ने देवनागरी के पक्ष में लिखा:

देवनागरिही गरे लगाओं यहां मोद महान्
रहो निशंक मदमाते श्री परताप समान्,

तत्कालीन सरकार द्वारा टैक्स लगा कर जनता का शोषण हो रहा था। कवियों ने इसका विरोध किया। भारतेन्दु ने लिखा–

चना हाकिम लोग जो खाते
सब पर दूना टिकस लगाते

"प्रेमधन" इस टैक्स के विरोध में आवाज बुलन्द करते हैं।

रोओं सब मुंह बाय बाय
हाय टिकस हाय हाय

शिक्षाप्रद उपन्यास लिखकर लाला श्रीनिवास दास ने इस विधा में नवीनता का समावेश किया। "परीक्षा गुरु" इस प्रकार का पहला "उपन्यास" था इसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है :

"मुझे आपकी यह बात बिल्कुल अनोखी मालूम होती है, भला परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है। पंडित पुरुषोतम दास ने कहा "जैसे अन्न प्राणाधार हैं परन्तु अतिभोजन से रोग उत्पन्न होता है।" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे, "देखिए परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायेगी और अपने कुटुंब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायेगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी।"

"परीक्षा गुरु"

भारतेन्दु युग के निबंधकारों ने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम, देश भक्ति, अतीत के प्रति गौरव भावना, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश आदि विषयों पर निबंध लिखे। बालकृष्ण भट्ट रचित "आत्म निर्भरता" निबंध का यह अंश देखिए–

"इस पचास साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमनचैन का फायदा पाप हमारे देश वाले किसी की भलाई की ओर न झुके वरन् इस वर्ष की गुडियों का ब्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलवत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए। आत्मनिर्भरता में दृढ़ अपने कूबते बाजू पर भरोसा रखने वाले, पुष्टवीर्य, पुष्टबल, भाग्यवान, एक संतान अच्छा। "कूकर सूकर से" निकम्मे, रग रग में दासभाव से पूर्ण उपरभाग्योपजीवी दस किस काम के?"

इस प्रकार भारतेन्दु युगीन साहित्य में विषय-वस्तु की दृष्टि से महत्वपूर्ण बदलाव आया।

## 21.4.2 भाषा-शैली (छंद-विधान)

भारतेन्दु पूर्व हिंदी साहित्य की भाषा में परंपरागत शैली अपनाई जाती थी। काव्य की भाषा तो ब्रजभाषा ही थी, किन्तु खड़ी बोली में भी रचनाएँ होने लगीं। गद्य के लिए खड़ी बोली को संघर्ष करना पड़ा। तत्कालीन सरकार की हिंदी विरोधी नीति के कारण खड़ी बोली के विकास में बाधा आ रही थी। यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की कई नीतियों के कारण इस भाषा के विकास विस्तार में मदद ही मिली, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से इसका विरोध होता रहा। राजाशिव प्रसाद सितारे हिंद तथा राजा लक्ष्मण सिंह ने इस भाषा के विकास के लिए कार्य किया था। किन्तु भारतेन्दु ने ही सही समय में इस भाषा के लिए सरल सुलभ राह निकाली। गद्य रचनाओं में बोलचाल की भाषा का प्रयोग कर उन्होंने इसे जनता के निकट ला दिया। तत्कालीन सभी लेखकों ने भारतेन्दु द्वारा अपनाई गई नीति का ही पालन किया। भारतेन्दु ने दो प्रकार की शैली का प्रयोग किया। भावावेश के समय उनकी भाषा में छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है, पदावली सरल बोलचाल की हो जाती है। एक उदाहरण देखिए–

"भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और लाज करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेडिए!"

"चंद्रावली नाटिका"

तथ्यनिरूपण के लिए उन्होंने संस्कृत पदावली के समान लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया - "नीलदेवी" से एक गद्यांश यहाँ उद्धव है -

"मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अंग्रेज़ रमणी लोग भेद–सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतजलूट, मिथ्यारत्नाभूषण, विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भांति फिरती हुई, दिखाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-साधी स्त्रियों की दीन अवस्था मुझको स्मरण आती हैं और यही बात मेरे दु:ख का कारण होती है।"

शुक्ल रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 316

भारतेन्दु युग के लेखकों ने विषयनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। प्रतापनारायण जब हास्य विनोद से पूर्ण रचना करते हैं तो उनकी भाषा चुटीली हो जाती है। शब्दों के प्रयोग द्वारा वे व्यंग्य उत्पन्न करते हैं–समझदार की मौत निबंध की भाषा देखिए–

सच है "सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगतगति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन ध्यो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंतमेत में धरममृत, धरमऔतार का खिताब पाना, संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है है और काहेकी खै खै?"

भारतेन्दु युग में काव्य की भाषा को सरल सुबोध बनाने का प्रयास किया गया। जनसाधारण में प्रचलित शब्दों का प्रयोग कर काव्य को जनसामान्य के निकट लाया गया। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी किया गया। इस युग के कवियों ने हास्य व्यंग्य के लिए अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया। भारतेन्दु की रचना "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" से यह उदाहरण द्रष्टव्य है–

विष्णु वाहनी पोर्ट पुरूषोत्तम, भय मुरारि।
शैंपन शिव, गौरी गिरिश, ब्रांडी क्रम विचारि।।

लोकोक्ति और मुहावरे का प्रयोग कर भाषा को सजीव और बोधगम्य बनाया गया दोहा, पद कवित आदि परंपरागत छंदों के साथ लोकगीत के छंदों का प्रयोग कर कविता को ग्रामीजीवन के निकट लाया गया। लावनी कजली, होली आदि छंदों के प्रयोग से काव्य की भाषा जनसामान्य तक पहुँच गई। भारतेन्दु द्वारा रचित "वर्षा विनोद" से कजली का यह उदाहरण प्रस्तुत है–

"प्यारी झलन पधारो झुकि आए बदरा।
ओढ़ो सुरुख चुनरि तापै श्याम चदरा।।
देखो बिजुरी चमकै बरसै अदरा।
"हरिचंद" तुम बिन पिय अति कदरा।।"

इस प्रकार भारतेन्दु युगीन हिंदी साहित्य में जहाँ साहित्य में नवीन विधाओं का समावेश हुआ वहीं, नए-नए विषयों को लेकर रचनाएँ हुईं। विशेष रूप से तत्कालीन समस्याओं को लेकर साहित्य रचना हुई। काव्य में जहाँ परंपरागत विषयों को बनाए रखा गया, वहीं तत्कालीन आवश्यकता के अनुकूल रचनाएँ हुईं। भाषा को जनसामान्य के निकट लाने के लिए प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया। छोटे-छोटे वाक्यों की रचना कर भाषा को सरल एवं बोधगम्य बनाया गया। साहित्य जनसाधारण तक पहुँचे इसके लिए लोक गीतों पर आधारित छंदों का प्रयोग किया गया। उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग भी भाषा को सरल और बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से किया गया।

**बोध प्रश्न**

12) विषय-वस्तु की दृष्टि भारतेन्दु युग के साहित्य में क्या परिवर्तन आया? दो तीन पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

13) भारतेन्दु युग के कवियों ने काव्य रचना में परंपरागत विषयों से किस विषय को आगे तक बनाए रखा।

.....

.....

14) तथ्यनिरूपन के लिए भारतेन्दु ने किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया।

.....

.....

15) साहित्य को जनसामान्य के निकट लाने के लिए भारतेन्दु युग के कवियों ने छंदों में क्या परिवर्तन लाया।

.....

.....

## 21.5 भारतेन्दु युगीन साहित्य का महत्व

भारतेन्दु युग हिंदी साहित्य के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण युग है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रवर्तन एवं इसके विकास की आधारभूमि का निर्माण इसी युग में हुआ। इस युग में हरिश्चन्द्र जैसे व्यक्तित्व के आगमन से हिंदी साहित्य के लिए नया द्वार खुला। हिंदी साहित्य की सेवा के कारण उन्हें युगपवर्तक घोषित किया गया। रीतियुग की प्रवृत्तियों को छोड़कर साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश करने वाले भारतेन्दु ही थे। उन्होंने मध्ययुगीन काव्य प्रवृत्तियों को बनाए रखा, किन्तु तत्कालीन आवश्यकतानुसार साहित्य को जनसामान्य से जोड़ दिया। इस युग से पूर्व का साहित्य राजसी वातावरण के अंदर ही सिमटा हुआ था। अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन कर आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना ही कवि का कर्म बन गया था। भारतेन्दु ने साहित्य को इस घेरे से बाहर निकाला उसे जनता से जोड़ा। भारतेन्दु का संपर्क सुदृढ़ प्रौढ़ साहित्यिक परंपरा के साथ था। उनके घर का वातावरण साहित्य के अनुकूल था। पिता अच्छे कवि थे। संगीत की शास्त्रीय परंपरा के साथ भी उनका घनिष्ठ संबंध था, किन्तु उन्होंने लोक साहित्य की अनिवार्यता एवं उसकी शक्ति को पहचाना। जनजागरण के लिए उन्होंने साहित्य को लोक जीवन के साथ जोड़ दिया। उन्होंने लोक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार के संबंध में लिखा–

> "जिन लोगों का ग्रामीणों में संबंध है वे गाँव में ऐसी पुस्तक भेज दें जहाँ कहीं ऐसे गीत सुने उसका अभिनन्दन करें इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बने, वरंच गंवारी भाषा में स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली ठुमरी, खेमका, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, सांझी, लम्बे-लावनी जाति के गीत, विरहा, चैनेनी गजल, इत्यादि ग्राम गीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो–अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखंड में बुन्देलखंडी, बिहार में बिहारी ऐसे देशों में जिस भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।"

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वे साहित्य को जनसाधारण तक पहुँचाना चाहते थे। इस कार्य के लिए वे खुद आगे बढ़े और अपने सहयोगियों को भी इसके लिए प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा से लोक साहित्य की रचना आरंभ हुई। भारतेन्दु के साहित्य का नब्बे प्रतिशत भाग जनहित एवं राष्ट्र हित से संबंधित है। तत्कालीन लेखकों की रचना भी स्वांतः सुखाय कम जनहिताय अधिक है। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल रचना करके साहित्यकारों ने भारतीय जनता को वह शक्ति प्रदान की जिसकी सहायता से जनजागरण का कार्य तो संपन्न हुआ ही, देश को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्ति दिलाने में भी इससे सहायता मिली। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करके भारतेन्दु ने साहित्य के उत्थान का रास्ता प्रशस्त किया। साहित्य को जनसाधारण तक पहुँचाने में तत्कालीन सभी पत्र-पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण

भूमिका निभायी।

भारतेन्दु युग का साहित्य उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ और विकसित हुए धार्मिक, सामाजिक आंदोलनों से प्रभावित रहा। अतीत का गौरव का मूल्यांकन और धार्मिक सामाजिक बुराईयों को दूर करके समाज को एक नए राह पर लाने में तत्कालीन साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारतेन्दु युग के साहित्य का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि भविष्य में होने वाले हिंदी साहित्य के विकास के लिए उसने आधारभूमि तैयार की। आने वाले द्विवेदी युग की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में भी इस साहित्य का महत्व है।

## 21.6 सारांश

- भारत में अंग्रेज़ों के आगमन एवं उनके द्वारा यहाँ की राजनीति पर अधिकार प्राप्त करने से यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन आया। आप भारतेन्दु युग के राजनीतिक, सामाजिक साहित्यिक परस्थितियों का आकलन कर सकते हैं।
- हिंदी भाषा साहित्य में गद्य रचना की शुरुआत तो बहुत पहले हो चुकी थी। खड़ी बोली के विकास से गद्य को विकास में और सहायता मिली। किन्तु भारतेन्दु के आगमन से जहाँ खड़ी बोली का सहज सरल रूप सामने आया, वहीं गद्य की विविध विधाओं का प्रवर्तन भी हुआ। आप भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हिंदी भाषा साहित्य के लिए किए गए कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं।
- भारतेन्दु ने तत्कालीन लेखकों को एक नयी राह दिखाई। आप बता सकते हैं कि उस समय के लेखकों ने किस प्रकार भारतेन्दु द्वारा शुरू किये गये कार्य को ही आगे बढ़ाया।
- भारतेन्दु युग में परंपरागत साहित्य रचना का स्थान तो रहा ही साथ ही नवीनता का समावेश भी हुआ। आप इस युग के साहित्य की रचनागत विशेषताओं को स्पष्ट कर सकते हैं।
- भारतेन्दु युग में रचा गया साहित्य हमें यह दर्शाता है कि आज हिंदी साहित्य का स्तर जितना ऊँचा है उसे उस स्तर तक पहुँचाने में उस युग के लेखकों की क्या भूमिका रही। आप युग के साहित्य का महत्व स्पष्ट कर सकते हैं।

## 21.7 शब्दावली

**कूटनीति**: दाँव पेंच की नीति, छिपी हुई चाल

**प्रबुद्ध**: ज्ञानी, जागा हुआ, होश में आया हुआ

**भण्डाभोड़**: (मुहावरा), भांडाफोड़ करना, छुपी हुई बात को सभी से बताना

**बहुदेववाद**: अनेक देवताओं की पूजा करने की प्रथा

**खामियां**: कमियाँ

**पथप्रदर्शक**: रास्ता दिखाने वाला

**ललक**: इच्छा

**आक्रोश**: क्रोध, गुस्सा

**फिजूलखर्ची**: अनावश्यक खर्च

**तथ्यनिरूपण**: किसी बात को सही ढंग से समः

## 21.8 उपयोगी पुस्तकें

शर्मा, हेमन्त संपादक, **भारतेन्दु समग्र प्रचारक ग्रंथावली परियोजना**, हिंदी प्रचारक संस्थान, बनारस

गुप्त, किशोरी लाल, **भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि**, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस

द्विवेदी, हजारी प्रसाद, **हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

बार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, **हिंदी साहित्य का इतिहास**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

चंद्र शुक्ल, सुरेशचन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, **जीवन और साहित्य अनुसंधान प्रकाशन**, आचार्य नगर, कानपुर

## 21.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) जीविकोपार्जन के लिए कवियों ने राजाओं का आश्रय लिया। वे अपने आश्रयदाता को अप्रसन्न नहीं रख सकते थे। यही कारण है कि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा एवं उनके वैभव के वर्णन के अलावा वे अन्य विषयों पर कविता नहीं कर पाए।

2) देखें भाग 21.2

3) अमीर खुसरो और कबीरदास

4) देखें उपभाग 21.2.2

5) भारतेन्दु का विचार यह था कि अपनी भाषा की उन्नति होने पर ही सभी प्रकार की उन्नति संभव है।

6) देखें उपभाग 21.3.1

7) 1) भारतेन्दु हरिश्चन्द, 2) बदरी नारायण चौधरी प्रेमधन
   3) राधाकृष्ण दास 4) बालकृष्ण भट्ट
   5) लाला श्री निवास दास 6) राधा कृष्णदास

8) देखें उपभाग 21.3.1, देखें उपभाग 21.3

9) देखें उपभाग 21.3

10) 1) चंद्रकांता
    2) कुसुमलता
    3) तिलिस्मी शीशमहल
    4) बेकसूर की फांसी

11) देखें उपभाग 21.3.1

**अभ्यास**

1) देखें उपभाग 21.3.2

**बोध प्रश्न**

12) देखें उपभाग 21.4.1

13) परंपरागत विषयों में से कवियों ने भक्ति विषय को आगे तक बनाए रखा

14) देखें, उपभाग 21.4.2

15) देखें, उपभाग 21.4.2

# इकाई 22 द्विवेदी युग

## इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 द्विवेदी युगीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि
  22.2.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि
  22.2.2 सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि
  22.2.3 साहित्यिक पृष्ठभूमि
22.3 युगीन साहित्यकार
  22.3.1 गद्य साहित्यकार
  22.3.2 पद्य साहित्यकार
22.4 द्विवेदी युगीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ
  22.4.1 विषयों की व्यापकता
  22.4.2 राष्ट्रीय जागरण, देशभक्ति, सुधार
  22.4.3 मानवतावादी दृष्टिकोण
22.5 द्विवेदी युगीन साहित्य का महत्व
22.6 सारांश
22.7 शब्दावली
22.8 उपयोगी पुस्तकें
22.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 22.0 उद्देश्य

"हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम 03 के अंतर्गत छठे खंड की इस अंतिम इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- द्विवेदी युगीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर सकेंगे,
- द्विवेदी युग से भारतेन्दु युग का संबंध बता सकेंगे,
- द्विवेदी युगीन साहित्यकारों के बारे में बता सकेंगे,
- इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर सकेंगे,
- द्विवेदी युगीन साहित्य का महत्व स्पष्ट कर सकेंगे।

## 22.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाई "भारतेन्दु युग" का आपने अध्ययन किया है। आपने देखा कि किस प्रकार भारतेन्दु जैसे व्यक्तित्व के आगमन से हिंदी साहित्य को नयी दिशा मिली। हिंदी साहित्य में गद्य विधाओं का प्रारंभ करके उन्होंने भाषा साहित्य को आगे बढ़ाने का महान् कार्य किया। किन्तु खड़ी बोली में साहित्य रचना का जो रूप उन्होंने दिया था उसमें विकृति आती गई। भाषा की अच्छी जानकारी नहीं रहने पर अनुवाद के कार्य में त्रुटियाँ आती गईं। भाषा साहित्य के क्षेत्र में अराजकता, एवं उच्छृंखलता का वातावरण बन गया। ऐसे समय में महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे व्यक्तित्व का आगमन होता है। उन्होंने "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से हिंदी को अराजकता के घेरे से बाहर निकाला। लेखकों को अपने अनुशासन से ठीक किया। भाषा-साहित्य को परिमार्जित एवं सरल रूप प्रदान

करने का उनका कार्य चिरस्मरणीय बन गया। पाठ में हम उनके कार्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। परिस्थितियाँ साहित्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। हम उन परिस्थितियों का विश्लेषण करेंगे जिनसे तत्कालीन साहित्य की रचना हुई। विदेशी शासन से मुक्ति के लिए एक और नेताओं ने आंदोलन शुरू किया तो दूसरी ओर लेखकों ने ऐसे साहित्य की रचना की जिससे लोगों में राष्ट्र के प्रति चेतना फैली। इकाई में हम उन साहित्यकारों का परिचय प्राप्त करेंगे तथा उनकी कृतियों की जानकारी भी हासिल करेंगे जिन्होंने समयानुकूल रचना की। द्विवेदी युग में किन-किन विषयों को साहित्य में स्थान दिया गया उसकी भी चर्चा की जायेगी तथा अंत में युगीन साहित्य के महत्व को स्पष्ट किया जाएगा। आइए सर्वप्रथम तत्कालीन परिस्थितियों की जानकारी हासिल करें।

## 22.2 द्विवेदी युगीन हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि

परिस्थितियाँ साहित्य पर प्रभाव डालती हैं। आपने देखा कि किस प्रकार भारतेन्दु युग में उस समय की परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। द्विवेदी युग में भी तत्कालीन परिस्थितियों ने युग के साहित्य पर प्रभाव डाला। आइए हम एक-एक कर तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करें। सर्वप्रथम हम राजनीतिक परिस्थिति को लें।

### 22.2.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारतेन्दु युग में राष्ट्रीय चेतना का विकास हो चुका था किन्तु उस समय उसमें वह उमंग नहीं था जो द्विवेदी युग में आरंभ हुआ। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर लोगों को पश्चिम की विचारधारा का पता चला। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार से नवजागरण की लहर दौड गई। राष्ट्र के उत्थान की भावनाओं के विकास से राजनीतिक क्षेत्र में क्रांति फैल गई। अंग्रेज़ों की नीतियों से जनता के अंदर आवेश बढ़ता गया। भारतीय जनता को जो कांग्रेस के रूप में एक मंच मिला था उसमें दो दल उभरने लगे। एक गरम दल था तो दूसरा नरम दल। तिलक एवं गोखले क्रमशः गरम एवं नरम दल के नेता थे। प्रारंभ में कांग्रेस के भीतर नरम दल का प्रभाव अधिक था। सविनय आंदोलन द्वारा अंग्रेजों का विरोध किया जाता था। 1892 ई. में दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य चुने गये। किन्तु अंग्रेज़ों की दमनकारी नीति में कोई कमी नहीं आई। उधर, अकाल, टैक्स एवं महामारी से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। 1896 ई. में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। सरकार की सैनिक कारवाई से भी जनता परेशान थी। 1897 ई. में भूकम्प और प्लेग के कारण तो वर्णनातीत तबाही हुई। प्लेग फैलने के समय अफसर मि. रैण्ड की हत्या हुई। लेफ्टिनेंट एअरर्ट की हत्या भी इसी समय हुई। अंग्रेज़ों ने इन हत्याओं की शंका में चिपेकर बंधुओं को दण्डित किया। बलवन्तराव नातू तथा हरियल रामचन्द्र नातू को सरकार ने इसलिए निर्वासित किया क्योंकि उन्होंने प्लेग में हुई बर्बादी और फौजियों की ज्यादतियों को प्रकाशित कर जनता तक बात पहुँचाई थी। उधर तिलक ने जनजागरण के लिए 1893 ई. में गणेश उत्सव तथा 1897 ई. में "शिवाजी उत्सव" शुरू किया। मारठी भाषा में "केसरी" और अंग्रेज़ी भाषा में "मराठा" पत्र का प्रकाशन करके उन्होंने जनता में एक नयी चेतना फैलाने का कार्य किया। यूं तो किसी युग के लिए तिथिवार कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है। किन्तु कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर समय सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। द्विवेदी युग के लिए भी ऐसा ही माना जा सकता है। लगभग सन् 1900 से सन् 1920 तक के काल को द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। भारत की राजनीतिक क्षेत्र में यह समय बहुत ही उथल-पुथल का रहा। ऊपर कुछ की चर्चा की गई है। हम यहाँ कुछ और घटनाओं की चर्चा करेंगे जिससे स्पष्ट पता चल जायेगा कि इस अवधि के राजनीतिक क्षेत्र में क्या उतार-चढ़ाव आए। सन् 1898 ई. में लॉर्ड कर्जन भारत का वायसराय बन कर आया। उसी समय प्लेग जैसी महामारी भी फैली। 1899 से 1900 के बीच भीषण अकाल पड़े जिससे बहुत अधिक जान माल की बर्बादी हुई। लॉर्ड कर्जन साम्राज्यवादी नीति का कट्टर समर्थक था। उसके कार्यों से जनता को घोर कष्ट उठाना पड़ा। तिब्बत सैनिक अभियान का खर्च भारतीय जनता को उठाना पड़ा। उसकी शिक्षा संबंधी नीतियों द्वारा यहाँ की जनता को हानि ही हानि हुई। 20 जुलाई 1905 ई. को वंग

भंग करके उसने जन आंदोलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। प्रवास संबंधी बिल (1907) सभा बन्दी कानून (1908) प्रेस एक्ट (8 जून 1908 ई.) आदि के कारण जनता का रोष बढ़ता ही गया। एक ओर दमन बढ़ा तो दूसरी ओर जनता द्वारा प्रतिकार के कार्य भी आरंभ हुए। "युगान्तर" और "सन्ध्या" पत्रिका द्वारा जागरण का विस्तार किया गया तो "वन्देमातरम्" के नारे द्वारा जनता के अंदर जोश और उमंग को बुलंद किया गया। सन् 1905 ई. में लॉर्ड मिन्टो भारत का वायसराय बन कर आया। उसने आते ही भारतीयों पर दमनचक्र तेज कर दिया।

"वन्देमातरम्" शब्द पर नियंत्रण लगा कर जनता की आवाज को बंद करने का षड्यंत्र रचा। "मिन्टो-मोर्ले" सुधार द्वारा अंग्रेज़ भेद नीति को ही कायम रखना चाहते थे। एक ओर तो राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार हो रहा था दूसरी ओर अंग्रेज़ों की कूटनीति के कारण अलगाववाद का बीज भी अंकुरित होने लगा था। 1906 ई. में मुस्लिम लीग की स्थापना से अलगाववाद का पौधा लग गया। लेकिन राष्ट्र को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्ति दिलाने वाले सपूतों ने अपना कार्य शुरू कर दिया था। गदर आंदोलन को श्याम जी कृष्ण सावरकर, अरविन्द घोष, बारेन्द्र घोष, खुदीराम बोस, धींगरा, लाल हरदयाल जैसे नेताओं ने संपूर्ण देश में फैला दिया। बंग भंग को लेकर आंदोलन उग्र होता जा रहा था जिस वर्ष अंग्रेज़ों ने कलकत्ता से बदल कर दिल्ली को भारत की राजधानी बनाया, उसी वर्ष यानि सन् 1911 ई. में बंग-भंग को रद्द भी किया गया। जनता के रोष का परिणाम सामने आने लगा था। सन् 1914 ई. में गांधी जी का भारत में आगमन होता है। इसके पहले वे दक्षिण अफ्रीका में सरकार के अमानुषिक अत्याचार के खिलाफ सफल आंदोलन चला चुके थे। यहाँ की राजनीति में गांधी के प्रवेश से एक नए दौर की शुरुआत हुई। 1916 ई. में गांधी और मदनमोहन मालवीय द्वारा आंदोलन शुरू किया गया जिसमें मजदूरों को देश से बाहर भेजने का कड़ा विरोध था। 1917 ई. में बाध्य होकर सरकार ने इस प्रथा पर रोक लगा दी। 1916 ई. में खिलाफ आंदोलन शुरू हुआ। इस आंदोलन से यह साफ जाहिर हो गया कि एक ओर कांग्रेस है तो दूसरी ओर मुस्लिम लीग। गांधी कांग्रेस के नेता बने तो जिन्ना मुस्लिम लीग का। 1914-1918 ई. के बीच प्रथम विश्व युद्ध के दौरान गांधी और तिलक ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। किन्तु परिणाम उल्टा निकला। देश में अंग्रेज़ों का जुल्म और बढ़ता गया। 1915 ई. में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारतीय राजनीति में कदम रखा। 1915 ई. में ही दो बड़े नेताओं, गोपाल कृष्ण गोखले और फीरोजशाह मेहता की मृत्यु हो गई। तिलक जनजागरण का कार्य कर रहे थे। अंग्रेज़ों को डर था कि तिलक लोकप्रियता कहीं उनके सरकार को न डगमगा दे। इस कारण कई झूठे आरोप लगाकर उन्हें जेल भेज दिया गया। 1914 ई. में उन्हें मॉडले जेल से छोड़ा गया। 1915-16 ई. में उन्होंने राष्ट्रीय दल का संगठन किया। आयरलैण्ड से प्रेरणा पाकर 1916 ई. में पूना में उन्होंने होमरूल लीग की स्थापना की। इस लीग की स्थापना से देश के नवयुवकों में स्वराज्य प्राप्ति की चेतना का विकास हुआ। राष्ट्रीय साहित्य की रचना की जाने लगी। तिलक के स्वास्थ्य खराब होने पर इस होमरूल लीग को ऐनी बेसेन्ट ने सफलतापूर्वक चलाया। इस होमरूल लीग के प्रयत्न से ही भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्निर्माण तथा राष्ट्रीय तिरंगा झंडा का स्वरूप सामने आया। सरकार की मंदपूर्ण नीतियों से एक और जनता में रोष बढ़ता जा रहा था वहीं गरम और नरम दल में दूरी भी होती जा रही थी। 1919 ई. का वर्ष राजनीतिक घटनाओं से भरपूर रहा। गांधी जी ने रौलट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह शुरू कर दिया। सारे देश में सरकार के विरुद्ध आंदोलन शुरू हो गया। पंजाब के गवर्नर माईकल ओ. डायर ने जलियावाला बाग में हो रही शांत सभा पर गोलियाँ चलवा कर नर संहार किया। सारा देश इस नर संहार से क्षुब्ध हो उठा। 1919 में ही नयी कौंसिलों के चुनाव के विरुद्ध असहयोग आंदोलन शुरू हुआ। अगस्त 1920 ई. में गरम दल के नेता लोकमान्य तिलक का निधन हो गया। सारा देश इस महान् सपूत के खोने पर शोक मग्न हो गया।

इस प्रकार 1900 से 1920 ई. के बीच जितनी भी राजनीतिक घटनाएँ घटी उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा। गांधी जी के सत्य अहिंसा, मानवता, बन्धुत्व और राष्ट्रीयता का स्थायी प्रभाव हम तत्कालीन साहित्य पर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा 'सनेही' आदि साहित्यकारों की रचनाओं में राष्ट्रीय चेतन स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

## 22.2.2 सामाजिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि

द्विवेदी युग में सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन आ रहा था। यह परिवर्तन तत्कालीन समाज सुधार आंदोलनों द्वारा उपस्थित हुआ था। पश्चिम के साथ संपर्क होने पर किसी भी बात को वैज्ञानिक दृष्टि से परखने की शक्ति का विकास हुआ। पश्चिम में विकसित भाईचारे एवं समानता के भाव ने यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग को प्रभावित किया था। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, भारतेन्दु, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, एनी बेसेन्ट और राना डे जैसे समाज सुधारक नेताओं ने सामाजिक एवं धार्मिक पुनरूद्धार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये। ब्रहम समाज, आर्य समाज, वेदान्त दर्शन, तदीय समाज, गांधीवादी विचारधारा, प्रार्थना समाज, राम कृष्ण मिशन, थियोसॉफिकल सोसाइटी आदि द्वारा सबने अपने-अपने तरीकों से सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। दादा भाई नौरोजी, गोखले, तिलक एक तरफ राजनीतिज्ञ थे तो दूसरी तरफ समाज सुधारक यद्यपि द्विवेदी युग के आरंभ के समय दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द आदि का देहान्त हो चुका था। कई अमानुषिक प्रथाएँ भी ढीली पड़ गई थीं, किन्तु छुआछूत, बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, स्त्री शिक्षा का अभाव, पर्दा-प्रथा, वर्ण-भेद, अन्ध-विश्वास समुद्र-यात्रा आदि कुरीतियाँ समाज को खोखला कर रही थीं। तत्कालीन नेताओं ने इन सब कुरीतियों को समूल नष्ट करने के लिए कार्य किए। रेल, तार, मुद्रण के प्रसार और समुद्र यात्रा, शिक्षा का प्रसार आदि द्वारा सामाजिक रूढ़ियाँ टूटने लगीं। तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन ने सामाजिक कुरीतियों को प्रभावित किया। राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की भावना ने लोगों को जाति, धर्म, वंश से ऊपर उठने के लिए प्रेरित किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता, हरिजनोद्धार आदि के लिए नेताओं ने कई कार्य किए। आर्य समाज द्वारा चलाये गये शुद्धि आंदोलन ने जहाँ हिन्दुओं की बिखरी हुई जातियों को एकजुट होने के लिए प्रेरणा दी वहीं हिन्दू मुस्लिमों की एक जुट करने के लिए कई कार्यक्रम बनाए गए। तर्क बुद्धि, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, नवीन शिक्षा और आविष्कारों से लोगों को एक नए राह पर चलने की प्रेरणा मिली। वैज्ञानिक आविष्कारों ने लोगों के बीच की दूरी को कम किया।

इस युग में पौराणिक धर्म की प्रमुखता के कारण, बहुदेववाद, यात्रा, व्रत, कर्म-काण्ड, मूर्तिपूजा, और त्यौहारों का बोलबाला था। आर्य समाज द्वारा इन भेदों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। एकेश्वरवाद का प्रचार करके आर्य समाज ने लोगों को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। धार्मिक संस्कारों को तत्कालीन नेताओं ने नया रूप दिया। गीता के मानव धर्म का सन्देश फैलाया गया। लोकमान्य तिलक, एनी बेसेन्ट तथा महात्मा गांधी ने गीता की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की। उन्होंने समाज को मानव मात्र से प्रेम करने का संदेश दिया। इस प्रकार समग्र रूप से द्विवेदी युग सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवाद का युग था।

## 22.2.3 साहित्यिक पृष्ठभूमि

भारतेन्दु के अवसान के बाद हिन्दी की उन्नति में शिथिलता आ गई थी। एक ओर अनुवाद और अनुकरण की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। साहित्यिक गतिविधियों को नियंत्रित करने वाला कोई नेता नहीं था। साहित्य में एक प्रकार से अराजकता उच्छृंखलता और पथ-भ्रष्टता का वातावरण बन गया था। एक ओर तो तिलक आदि राष्ट्रीय विचारधारा को फैला रहे थे तो दूसरी ओर हिंदी जगत में अनिश्चितता का वातावरण भी बना हुआ था। राष्ट्रीयता को वाणी देने के लिए एक सशक्त भाषा की आवश्यकता थी। अंग्रेज़ भाषा-भेद नीति को बनाए रखकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहते थे। किन्तु हिंदी प्रेमियों द्वारा हिंदी की उन्नति के प्रयास जारी थे।

पं. मदनमोहन मालवीय, श्यामसुंदर दास, महावीर प्रसाद द्विवेदी, और बालमुकन्द गुप्त के प्रयत्न से 1500 ई. में लेफ्टिनेन्ट गवर्नर एटनी मेकडॉनल्ड ने अदालत में हिंदी भाषा और नागरी लिपि के व्यवहार के लिए आज्ञा पत्र निकाला। राजनीतिक आंदोलनों और वैज्ञानिक आविष्कारों तथा ईसाई मिसनरियों के प्रयत्न से हिंदी के विकास में सहायता पहुँची। किन्तु जैसा कि ऊपर हमने चर्चा की है कि हिंदी भाषा में अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ी थी। भाषा अनगढ़ थी। काव्य अपरिनिष्ठित, एवं काव्योचित गुणों से विहीन हो रही थी। व्यवस्थित भाषा के अभाव के कारण हिंदी साहित्य का स्तर गिरता जा रहा था। ऐसे समय में

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा का संस्कार शुरू किया। उस समय खड़ी बोली में रचना करने वाले अलग-अलग रचना सिद्धांत रखते थे। अंग्रेज़ी, बंगला, संस्कृत आदि के काव्य के अनुसार कई शैलियां चल पड़ी थीं। द्विवेदी जी ने काव्य रचना के क्षेत्र में काव्य भाषा को परिमार्जित एवं स्थिर रूप देने के लिए कार्य किया। एक समर्थ आलोचक की भांति उन्होंने विभिन्न रचनाकारों की रचना को सुधारा। भाषा को सजाने संवारने का कार्य उन्होंने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से किया। गद्य और पद्य की एक भाषा के लिए द्विवेदी जी ने अथक परिश्रम किया। उनकी लगन से ही खड़ी बोली, का परिमार्जित रूप उभर क सामने आया और पद्य तथा गद्य की भिन्न भाषा का झगड़ा दूर हो गया। मुख्य रूप से उन्होंने भाषा को प्रसाद गुण से युक्त, व्याकरण संबंधी अशुद्धियों से दूर, अभिव्यंजना शक्ति से पूर्ण, बनाने का प्रयत्न किया। रचनाकारों को उन्होंने, शब्दाडम्बर से बचने और अश्लील और ग्राम्य शब्द प्रयोग से बचने का सुझाव दिया। उन्होंने लेखकों को देशज शब्द के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया। मुहावरों का प्रयोग तथा स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार एक कठोर शासक के समान उन्होंने भाषा के क्षेत्र में लेखकों को नियंत्रित किया। उन्होंने भारतेन्दु काल की त्रुटियों को दूर करके साहित्य को एक अनुशासित रूप प्रदान किया। पत्रिकाओं द्वारा नवीन विचारधारा का प्रचार जोरों से हुआ। तत्कालीन पत्रिकाओं में "नागरी प्रचारिणी पत्रिका", "सरस्वती", "इन्दु", "मर्यादा", "प्रताप", "अभ्युदय", "प्रभा", "भारतमित्र", "सैनिक", "अर्जुन", तथा "आज" में राष्ट्रीय विचारधारा से पूर्ण साहित्य का प्रकाशन होता था जिससे लोगों में राष्ट्रीय चेतना फैली। इस प्रकार द्विवेदी युगीन साहित्य एक नई दिशा की ओर अग्रसर हुआ।

**बोध प्रश्न**

1) क) 1885 ई. में भारतीयों को किस संगठन के द्वारा सरकार से संघर्ष का मंच मिला:

.....

ख) लोकमान्य तिलक ने किन-किन उत्सवों द्वारा जन जागरण का अर्थ किया:

.....

ग) मराठा और केसरी पत्रिकाएँ किसके द्वारा निकाली गई:

.....

2) क) किन नेताओं के प्रयत्न से हिंदी को अदालती कार्यवाही के लिए स्वीकारा गया।

.....

ख) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किस पत्रिका के माध्यम से हिंदी की सेवा की:

.....

ग) द्विवेदी युग में प्रकाशित होने वाली चार पत्रिकाओं के नाम लिखिए:

1) ..... 2) ..... 3) .....
4) .....

3) द्विवेदी जी ने भाषा को सजाने सवारने के लिए किस तरह का योगदान दिया। लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर लिखें–

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

1) द्विवेदी युगीन पृष्ठभूमि पर लगभग 12 पंक्तियों में लिखिए:

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 22.3 युगीन साहित्यकार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिंदी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। हिंदी की उन्नति के लिए किए गए उनके कार्यों से साहित्य का विकास विस्तार हुआ। विभिन्न गद्य विधाओं में रचनाएँ होने लगीं। काव्य रचना के लिए विषय वस्तु का विस्तार हुआ। भारतेन्दु 35 वर्ष की अल्पायु में ही हिंदी भाषा साहित्य के लिए इतना कुछ कर गए जिससे उन्हें युग निर्माता की संज्ञा दी गई। किन्तु उनके निधन के बाद कोई ऐसा नाता न रहा जो भाषा साहित्य को दिशा निर्देश दे। उच्छृंखलता एवं अराजकता के वातावरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन से यह कमी दूर हुई। सन् 1903 में प्रकाशित "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से ही द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा-साहित्य को इस अराजकता के घेरे से बाहर निकाला। सरस्वती में लेखों एवं टिप्पणियाँ लिखकर उन्होंने लगातार हिंदी भाषा साहित्य को उन्नति के लिए कार्य किया। अंग्रेज़ों के द्वारा अपनाई गई भाषा संबंधी भेद नीति को वे अच्छी प्रकार समझते थे। उर्दू-हिंदी के झगड़े को जड़ से दूर करने के उद्देश्य से वे बराबर लिखते रहे। "देश व्यापक भाषा" लेख जो सितम्बर-अक्टूबर 1903 ई. की सरस्वती पत्रिका में छपा था उसका कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है जिससे आपको अनुमान लग जायेगा कि तत्कालीन समय में उन्होंने हिंदी भाषा साहित्य के लिए कितना महत्वपूर्ण कार्य किया।

"संयुक्त प्रात, मध्य प्रदेश, मध्य भारत, राजपुताना और बिहार की भाषा हिंदी है। पंजाब में जो भाषा बोली जाती है वह भी हिंदी ही है, क्योंकि उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह हिंदी की ही एक शाखा है। हिंदी का और उर्दू का व्याकरण एक ही है। फारसी और अरबी के शब्दों की प्रचुरता होने से उर्दू उन लोगों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकती जिनको इन दो भाषाओं के शब्दों का थोड़ा ज्ञान नहीं है। उर्दू की यदि यह कठिनता निकाल दी जावे तो उसमें और बोलचाल की साधारण हिंदी में कुछ भी अंतर न रहे। इसलिए उर्दू को हिंदी ही समझना चाहिए।

इस प्रकार उर्दू की कठिनता को समाप्त कर वे जनता के निकट की बोलचाल की भाषा को बढ़ावा देना चाहते थे। इसी प्रकार के विभिन्न लेखों के माध्यम से उन्होंने हिंदी भाषा साहित्य को एक सुदृढ़ परिमार्जित रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आइए इस युग के साहित्यकारों एवं उनके रचनाकारों को जाने:

### 22.3.1 गद्य साहित्यकार

द्विवेदी युग में महत्वपूर्ण गद्य रचनकार हुए और उन्होंने महत्वपूर्ण गद्य रचनाएँ कीं।

विशेष रूप से उपन्यास, कहानी, निबंध अलोचना, आदि गद्य विधाओं का विकास इसी युग में हुआ। इन विधाओं का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बना। बाद में इन विधाओं के इन्हीं स्वतंत्र व्यक्तित्व की नींव पर महान् साहित्यकारों का निर्माण हुआ। नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, उपन्यास कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद, निबंध के क्षेत्र में बालमुकुंद गुप्त, पूर्ण सिंह, रामचन्द्र शुक्ल तथा आलोचना के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान साहित्यकार इसी युग में हुए। इन विधाओं के अलावा आत्मकथा, जीवनी संस्मरण, यात्रा विवरण रेखाचित्र आदि नयी विधाओं का सूत्रपात भी इसी युग में हुआ।

**नाटक**

आप यह जान चुके हैं कि हिंदी में नाटकों की शुरुआत भारतेन्दु ने किया। उनके प्रयास से इस विधा का विकास हुआ। उस युग के सभी लेखकों को भारतेन्दु से प्रेरणा मिली थीं, और सभी ने भिन्न प्रकार के नाटकों की रचना की थी। उस समय नाटक लिखे भी जाते थे और उनका मंचन भी होता था। यही कारण है कि उस समय इस विधा का विकास हुआ, किन्तु द्विवेदी युग तक आते आते इस विधा का विकास रुक सा गया। यद्यपि इस युग में भी नाटकों की रचना हुई। लेकिन उस गति से नहीं जिस गति से भारतेन्दु युग में हुई थी। द्विवेदी युग में बांगला, संस्कृत, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में रचित नाटकों का अनुवाद हुआ। संस्कृत के नाटकों में भवभूति, कालिदास आदि के नाटकों के अनुवाद हुए जो बहुत लोकप्रिय हुए। बांगला के जिन लेखकों के नाटक अनुदित हुए उनमें द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, क्षीरोदप्रसाद, गिरीश बाबू, तथा विनोद विधा प्रमुख हैं। अंग्रेज़ी के महान् नाटककार शेक्सपीयर के नाटकों (मेकबेथ, रोमियो-जूलियट, हैमलेट) के अनुवाद हुए। इस युग में मौलिक नाटकों की भी रचना हुई। पं. किशोरी लाल गोस्वामी ने चौपत चपेट तथा मयंकमंजरी नाटकों की रचना की। पं. ज्वाला प्रसाद मिश्र ने सीताबनवास, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने रूक्मिणी, बाबू शिवनंदन सहाय ने "सुदामा" नाटक की रचना की। ये मौलिक नाटक अत्यंत साधारण स्तर के थे। इस युग में पारसी थियेटरों का खूब विकास हुआ किन्तु उनका स्तर काफी गिरा हुआ था। भोंडेपन के कारण इनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। नाटक विधा में उन्नति उस समय हुई जब जयशंकर प्रसाद ने इस विधा में लेखन किया। उन्होंने उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की रचना की।

**उपन्यास**

गद्य विधाओं में जिस विधा को सबसे अधिक लोकप्रियता मिली वह है उपन्यास। आधुनिक युग में इसे महाकाव्य की संज्ञा भी दी गई। जीवन के विभिन्न पक्षों को इस विधा के माध्यम से उजागर किया गया। इस विधा में मानव जीवन के बाहरी पक्ष के अलावा भीतरी पक्ष अर्थात् मनोभावों को भी विशद रूप से वर्णित किया जा सकता है। इन्हीं गुणों के कारण यह विधा जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय हुई। इससे पहले की इकाई में आपने अध्ययन किया है कि किस प्रकार हिंदी गद्य की शुरुआत के साथ-साथ इस विधा की भी शुरुआत हुई। भारतेन्दु युग के उपन्यासकारों एवं उनकी रचनाओं को भी आप जान चुके हैं। यद्यपि उस युग के उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन था किन्तु "परीक्षा गुरु" जैसे सामाजिक समस्याओं से युक्त उपन्यास की भी शुरुआत हो गई थी।

द्विवेदी युग में बहुत से ऐसे भी उपन्यासकारों ने औपन्यासिक रचना की जो भारतेन्दु युग से लिख रहे थे। ऐसे उपन्यासकारों में किशोरी लाल गोस्वामी का प्रमुख नाम है। इन्होंने 65 के करीब छोटे-बड़े उपन्यासों की रचना की। ये "उपन्यास" नाम का मासिक पत्र भी निकाला करते थे। इनके कुछ उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं। तारा, तरूण, तपस्विनी, चपला, लीलावती, रजिया बेगम, लवंगलता आदि। द्विवेदी युग में ही ठेठ हिंदी का ठाठ तथा "अधखिला फूल" उपन्यासों की रचना हुई। क्रमशः इसके रचयिता थे पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" तथा लज्जा राम मेहता। अन्य नाटककार हैं बाबू ब्रजनंदन सहाय तथा राधा कांत। उपन्यास के क्षेत्र में इसी युग में प्रेमचन्द जैसे व्यक्तित्व का पदार्पण होता है। इन्होंने हिंदी उपन्यासों की रचना कर भाषा साहित्य के भंडार में अमूल सामग्री भेंट की। पहले ये उर्दू में लिखते थे किन्तु उर्दू में लिखे उपन्यासों का हिंदी संस्करण द्विवेदी युग में ही प्रकाशित होने लगा। "प्रेमा" और "वरदान" उनके ऐसे ही उपन्यास थे। प्रेमचन्द का पहला महत्वूर्ण सामाजिक उपन्यास "सेवासदन" सन् 1915 ई. में प्रकाशित हुआ। इस युग में अन्य भाषाओं में रचित उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ। विशेष रूप से बांगला के उपन्यासकारों के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए। जिन बांगला के

उपन्यासकारों के उपन्यास का अनुवाद हुआ उनमें बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, शरतचन्द्र, हाराणचन्द्र रक्षित, तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रमुख हैं।

**कहानी**

कहानी विधा की विकसित परंपरा संस्कृत के रचनाओं में मिलती है। किन्तु हिंदी में कहानी की शुरुआत भारतेन्दु युग से ही हुई। पिछली इकाई में आपने पढ़ा है कि राजा शिव प्रसाद आदि ने कहानियों की रचना की थी। किन्तु आधुनिक तत्वों से युक्त कहानियों की रचना 1900 ई. के बाद ही हुई। यद्यपि प्रेमचन्द 1900 ई. के आसपास से ही कहानी की रचना कर रहे थे किन्तु उनकी कहानियाँ 1914-15 के आसपास ही प्रकाशित हुई। इससे पहले जयशंकर प्रसाद की "ग्राम" कहानी 1911 में प्रकाशित हो चुकी थी। किन्तु हिंदी की पहली और श्रेष्ठ कहानी का प्रकाशन 1915 में ही हुआ। कहानी थी "उसने कहा था" और इसके लेखक थे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। इस युग में कई महत्वपूर्ण कहानीकार हुए इनमें विश्वंभर नाथ शर्मा "कौशिक", सुदर्शन, राधिकारमण सिंह, जी.पी. श्रीवास्तव, चतुरसेन शास्त्री के नाम प्रमुख हैं। प्रेमचन्द ने उपन्यास विधा में जिस प्रकार की उत्कृष्ट रचनाओं की रचना की उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1915 में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई। इस कहानी का नाम था "पंच परमेश्वर" इस कहानी के माध्यम से उन्होंने मानव मन के अंदर छिपे हुए देवत्व को उजागर करने का प्रयास किया है। सामाजिक समस्याओं, मानवीय भावनाओं एवं आदर्श की स्थापना से युक्त कहानियों की रचना करके उन्होंने हिंदी साहित्य को अमूल्य खजाने से भर दिया।

जयशंकर प्रसाद भी द्विवेदी युग से कहानियों की रचना कर रहे थे। उनकी कहानियों में भावात्मक संघर्ष और मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व का अधिक चित्रण मिलता है। ऐसा उनके कविमन के कारण हुआ। आकाशदीप, पुरस्कार, इंद्रजाल, छाया आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। राधिकारमण की कहानी "कानों में कंगना" तथा सुदर्शन की "एक लोटा पानी" इस युग की प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

**निबंध**

निबंध विधा का विकास भी भारतेन्दु युग में हो चुका था। इस युग के निबंधकारों ने निबंधों के माध्यम से जहाँ सामाजिक चेतना फैलायी वहीं राष्ट्रीय भावना को बढ़ाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। व्यंग्य एवं विनोद से पूर्ण रचनाएँ भी हुईं। द्विवेदी युग में निबंध विधा का और विकास हुआ। इस विधा को बढ़ाने में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान था। "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से उन्होंने इस विधा में लेखन के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया। द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक ज्ञान-विषयक, पुरातत्व तथा समीक्षा संबंधी अनेकों उपयोगी निबंधों की रचना की। निबंध के क्षेत्र में उनका एक महत्वपूर्ण कार्य था। अंग्रेज़ी के निबंधकार "बेकन" के निबंधों का अनुवाद इस अनुवाद को उन्होंने "बेकन विचार रतनावली" के नाम से प्रकाशित किया था। इसके द्वारा तत्कालीन अन्य लेखकों को निबंध लिखने की प्रेरणा मिली।

इस युग में कई पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा का विकास हुआ। "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (1897) "समालोचक" (1902) "इन्दु" (1909) "मर्यादा" (1910) प्रभा (1913) में विभिन्न विषयों से संबंधित निबंध छापा करते थे। बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदर दास, रामचन्द्र शुक्ल, सरदार पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, माधव प्रसाद मिश्र आदि ने महत्वपूर्ण निबंधों की रचना की। द्विवेदी जी के निबंध विचार प्रधान होते थे। सरदार पूर्ण सिंह ने कुल छह निबंधों की रचना की है। इन्होंने सामाजिक और नैतिक विषयों से पूर्ण निबंधों की रचना की। इनके कुछ महत्वपूर्ण निबंधों के नाम इस प्रकार हैं–"आचरण की सभ्यता", "सच्ची वीरता", "मजदूरी और प्रेम"।,

बालमुकुंद गुप्त ने समसामयिक राजनीति को निबंध के विषय के रूप में चुना। व्यंग्यात्मक भाषा और तीव्र राष्ट्रीय भावना इनके निबंधों की विशेषता है। "शिवशंभु का चिट्ठा" इनका महत्वपूर्ण निबंध हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्विवेदी युग के अन्य महत्वपूर्ण निबंधकार हैं। इन्होंने गवेषणापूर्ण गंभीर विषय को लेकर सरल सहज शैली में निबंधों की रचना की। मार्मिकता और व्यंग्य इनके निबंधों की विशेषता है।

रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी युग में निबंधों की रचना की। उनके प्रारंभिक निबंधों में भी वे विशेषताएँ मिल जायेंगी जिसे उन्होंने बाद के निबंधों में विकसित रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने विविध विषयों पर निबंध रचना की। गंभीरता एवं विवेचन एवं तीखा व्यंग्य उनके निबंधों की विशेषता है।

## 22.3.2 पद्य साहित्यकार

लगभग बीस वर्ष की अवधि (1900 से 1920) को द्विवेदी युग माना जाता है। इस अवधि में बहुत से कवि ऐसे हैं जो 1900 से पहले से भी रचना कर रहे थे, और 1920 के बाद काफी दिनों तक काव्य रचना करते रहे। इसलिए अवधि की सीमा के अन्तर्गत हम रचनाओं को बाँध नहीं सकते। यही कारण है कि जब किसी युग विशेष के संदर्भ में कवि का उल्लेख करते हैं तो इसका तात्पर्य हुआ कि उस कवि की रचना की प्रवृत्ति उस काल में विशेष में क्या रही। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर हम द्विवेदी युग के रचनाकारों को देखेंगे।

### 1) मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग के सबसे महत्वपूर्ण कवि हैं। द्विवदी जी की प्रेरणा से ही वे काव्य रचना में और प्रवृत्त हुए। उनकी प्रथम कविता "हेमन्त" 1905 में "सरस्वती" में प्रकाशित हुई। इन्होंनें कुल 40 मौलिक, 6 अनुदित ग्रंथों की रचना की तथा कुछ फुटकर रचनाएँ भी कीं। पौराणिक कथाओं से विषय लेकर उन्होंने काव्य रचनाएँ कीं। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने "काव्येर उपेक्षिता" नाम से एक लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने उन नारी चरित्रों का उल्लेख किया था जिन पर बहुत कम लिखा गया था। गुप्त जी ने वह लेख पढ़ा और उन्हें प्रेरणा मिली। "उर्मिला", "कैकेयी", "योशोधरा", "विष्णुप्रिया", "हिडिम्बा" आदि पौराणिक महिला पात्रों को उन्होंने काव्य रचना के लिए चुना। नारी की गौरव गाथा का गान कर उन्होंने पुरुषशाषित समाज में उन्हें उचित एवं समान अधिकार दिलाने का प्रयास किया। महाभारत और रामायण की कथाओं के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को वाणी दी। तत्कालीन भारत में स्वतंत्रता आंदोलन की तैयारी चल रही थी। राजनेता इस प्रयास में लगे हुए थे। कवियों के काव्य रचना द्वारा इसमें अपना सहयोग दिया। "भारत भारती" की रचना कर गुप्त जी ने देशवासियों को आत्मोद्धार के लिए प्रेरित किया। पश्चिम की विचारधारा का प्रभाव भारत पर पड़ रहा था। भाईचारे और मानवतावादी भावना का प्रवेश काव्य में भी हुआ। "साकेत" रचना में कवि ने राम को मानव रूप में प्रस्तुत किया। यहाँ राम किसी को स्वर्ग का सुख देने के लिए परलोक की बात नहीं करते बल्कि इस भूतल को ही स्वर्ग बनाना चाहते हैं। इस प्रकार प्रगतिशील विचारधारा के द्वारा कवि ने समाज उत्थान की ही बात कही।

"साकेत" जैसे प्रबंध काव्य के साथ-साथ "विष्णु प्रिया" जैसे खण्ड काव्य की रचना उन्होंने की। उनकी अन्य काव्य रचनाओं में, ग्राम्या, ग्रन्थि, पंचवटी, यशोधरा, जनक, किसान, जयद्रथवध, मंगलघर, विरहिणी ब्रजांगना, वीरांगना, वैतालिक, सिद्धराज, स्वदेश संगीत आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

### 2) पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी

पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी खड़ी बोली कविता के प्रेरणा स्रोत थे। उन्होंने तत्कालीन कवियों को खड़ी बोली में कविता करने के लिए प्रेरित ही नहीं किया बल्कि उसके रूप को स्थिर करने के लिए भगीरथ प्रयास भी किया। यद्यपि वे स्वयं कवि थे, लेकिन कवि से ज्यादा कवि निर्माता थे। गद्य-पद्य की विभिन्न शैलियों के निर्माण के लिए उन्होंने महान् प्रयास किया। उन्होंने आठ अनुदित तथा 9 मौलिक काव्य रचनाएँ कीं। अनुदित रचनाएँ इस प्रकार हैं–

1) विनय विनोद– सन् 1899 ई. भतृहरि के वैराग्य शतक का दोहों में अनुवाद।

2) विहार वाटिका– 1890 ई. संस्कृत वृत्तों में जयदेव के गीत गोविन्द का संक्षिप्त भावानुवाद।

3) स्नेहमाला– 1890 ई. भतृहरि में श्रृंगार शतक का दोहों में अनुवाद।

4) श्री महिम्न स्रोत– 1885 ई. में अनुवाद। इसका प्रकाशन 1890 ई. में हुआ। यह संस्कृत महिम्न स्रोत का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद है।

5) गंगा लहरी– सन् 1891, पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी का सवैया छन्द में अनुवाद।

6) ऋतु-तरंगिणी– सन् 1891 ई., कालिदास के ऋतुसंहार की छाया लेकर किया गया षडऋतु वर्णन।

7) सोहागरात– (अप्रकाशित) वायरन के बाईडल नाइट का छायानुवाद।

8) कुमारसंभव सार– 1902, कालिदास के कुमार संभव के प्रथम पांच सर्गों का पद्यात्मक सारांश।

द्विवेदी जी की मौलिक पद्य रचनाएँ इस प्रकार हैं–

1) देवीस्तुति, कान्यकुब्जली
2) समाचार पत्र सम्पादक स्तव
3) नागरी
4) काव्य मंजूषा
5) काव्यकुन्ज अबला-विलाप
6) सुमन
7) द्विवेदी काव्य माला
8) कविता कलाप

**3) अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"**

हरिऔध जी द्विवेदी युग के दूसरे बड़े कवि हैं। ये कृष्णभक्त थे। इन्होंने ब्रजभाषा में कई कवित-सवैये ग्रंथों की रचना की। ये सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित थे। उनकी रचनाएँ हैं–प्रिय प्रवास, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेम प्रपंच प्रेमाम्बु, प्रयवेक्षण, प्रेमाम्बु प्रवाह। खड़ी बोली में उन्होंने पहली रचना 1900 में की जो 1904 में "प्रेमपुष्पोहार" नाम से स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुई। प्रिय प्रवास उनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना है। तत्कालीन सामाजिक आंदोलन का प्रभाव सभी कवियों पर पड़ा था। हरिऔध जी ने इस रचना में उदात्त मानवीय रूपों को प्रस्तुत किया है। परंपरागत नारी वर्णन की अपेक्षा इस रचना में उसे देश सेविका, लोक सेविका, जन्म भूमि, प्रेमिका, आदि रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

**4) रामनरेश त्रिपाठी**

स्वच्छंदवादी कवियों में रामनरेश त्रिपाठी का नाम प्रथम है। वे ब्रजभाषा से शुरू करने के बाद खड़ी बोली में कविता करने लगे। खड़ी बोली में प्रथम रचना "जन्म भूमि भारत" है। तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल इस कविता में देश के प्रति भक्ति भावना भरी हुई है। "मिलन" त्रिपाठी जी का प्रथम काव्य ग्रंथ है। इसका प्रकाशन 1917 में हुआ। इस रचना में दाम्पत्य प्रेम, देश प्रेम एवं देश पर बलिदान होने का वर्णन है। "पथिक" उनका दूसरा काव्य ग्रंथ है। यह 1920 में प्रकाशित हुआ। इस रचना में प्रकृति वर्णन एवं प्रेम भावना का सुन्दर चित्रण हुआ है।

त्रिपाठी जी की फुटकर रचनाएँ हैं–जन्म भूमि भारत, स्वदेश गीत, महापुरुष के लक्षण हिन्दुओं की हीनता, द्विवेदी युगीन काव्य कला का दर्शन हम उनकी "लोभ से हानि", बाइसकिल, शरद तरंगिनी, पुस्तक प्रार्थना आदि फुटकर रचनाओं में देख सकते हैं।

**5) पं. माखन लाल चतुर्वेदी**

पं. माखन लाल चतुर्वेदी द्विवेदी युग के मुख्य कवियों में से हैं। 1908 ई. से ही ये काव्य रचना करते रहे। खड़ी बोली की उनकी पहली रचना है, "हे प्रशान्त! तथा तूफान हिये में कैसे कहूं समा जा"। तत्कालीन पत्रिकाओं, प्रभा, मर्यादा, प्रताप सरस्वती, कर्मवीर में उनकी रचनाएँ छपती थीं। "चेतावनी", पत्नी तथा हिम तरंगिनी की अधिकांश रचनाएँ उन्होंने 1913 ई. से 1920 ई. के बीच की।

**6) सियाराम शरण गुप्त**

सियाराम शरण गुप्त पर गांधीवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। यद्यपि वे मुख्य रूप से गद्यकार हैं, किन्तु उन्होंने कुछ काव्य रचनाएँ कीं जिनमें उनका हृदय पक्ष प्रकट हुआ है। "उन्मुक्त" तथा "मौर्य विजय" उनका प्रसिद्ध खंड काव्य है। मौर्य विजय में जहाँ उन्होंने ऐतिहासिक विषय को चुना वहीं उन्मुक्त में प्रथम विश्व युद्ध में हुए नरसंहार पर लिखा। उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया जिनमें कर्तव्य (1914 ई.) तथा भारत लक्ष्मी मुख्य है। वीर बालक (1913 ई.), अनाथ (1917 ई.) के अलावा उन्होंने कुछ फुटकर रचनाएँ की थीं जिनमें जननी, 1916 ई., श्री राघव विलाप 1913, तथा तिलक वियोग उल्लेखनीय हैं। विवाह (1900) तथा अविश्वास (1920 ई.) उनकी वीर रस पूर्ण रचनाएँ हैं।

**7) गयाप्रसाद शुक्ल सनेही**

गयाप्रसाद जी पर तत्कालीन समाजसुधार आंदोलन का बहुत प्रभाव पड़ा था। सामाजिक समस्याओं को उन्होंने अपना काव्य विषय बनाया। उन्होंने उर्दू, शैली के प्रबंधों और छप्पयों में रचनाएँ कीं। "राष्ट्रीय वाणी", तथा "त्रिशूल तरंग", उनके गीतों का संकलन है। "कौशल्या का विलाप उनकी प्रसिद्ध कृति है। इस रचना में उन्होंने देशवासियों को देश पर गौरव करने की प्रेरणा दी तथा ऐसे लोगों को फटकारा जो अपने देश पर गौरव नहीं करते।

> "जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
> वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है।"

"कुसुमांजलि", "प्रेमपचीसी", "कृषक बन्दन", "करूणा कादम्बिनी", उनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं। उनके काव्य में उक्ति वैचित्र्य शब्दों का चमत्कारी प्रयोग, छंद की बंधी हुई गति तथा कल्पना का समावेश स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

**8) नाथूराम शंकर शर्मा**

नाथूराम शंकर शर्मा द्विवेदी युग के ऐसे कांव ह जिन्हें छुटपन से ही कविता करने का शौक था। उन्होंने विभिन्न छंदों में काव्य रचना की। उस समय समस्यापूर्ति का खूब चलन था और नाथूराम जी समस्यापूर्ति में प्रवीण थे। वे आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित थे, यही कारण है कि उनके काव्य में तार्किकता और तीखापन मिलता है। नाथूराम जी की प्रकाशित कृतियाँ हैं–

"अनुराग रत्न" (1903 ई.) "शंकर सरोज" (1904 ई.), "लोकमान्य तिलक" और "गर्मरण्डा रहस्या"।

"गर्मरण्डा रहस्य" में उन्होंने विधवाओं की दीनदशा का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी रचनाएँ "सरस्वती, "मर्यादा", "विधार्थी" तथा "प्रतिभा", पत्रिकाओं में छपती थी। समाज सुधार से संबंधित उनकी रचनाएँ हैं–"अविद्यानन्द का व्याख्यान", "पंचपुकार", "मेरा महत्व", "आर्य-पंच की आल्हा"। नाथूराम जी ने फुटकर रचनाएँ भी की हैं, इनमें "शोकाश्रु गीत", "राजभक्ति", "बाल विनोद", "होली", "नीति", मुख्य हैं। तार्किकता एवं तीखापन के कारण नाथूराम जी की खड़ी बोली के कबीर के रूप में भी प्रसिद्ध हुए।

**9) मुकुटधर पाण्डेय**

मुकुटधर पाण्डेय द्विवेदी युग के मध्य भाग से काव्य रचना करने वाले कवि हैं। 1911-12 ई. से उन्होंने खड़ी बोली में काव्य रचना शुरू की। उनकी रचनाएँ हैं "काल की कुटिलता" (1913 ई.), "जीवन साफल्य", (1912 ई.), "रत्नाकार" (1913 ई.), "संकेत सप्तक" (1913 ई.), "सिंहोपालम्भ" (1913 ई.), "एक शुभ समय" (1913 ई.), "कैकयी का पट्य" (1913 ई.)। ये रचनाएँ "इन्दु", "सरस्वती" तथा "प्रभा" पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। तत्कालीन समय में दलितों के प्रति कवियों की विशेष सहानुभूति थीं। यह समाजसुधार आंदोलन द्वारा संभव हुआ था। "विश्वबोध" (1917 ई.) मुकुटधर जी की ऐसी ही रचना है जिसमें दलितों एवं दीनों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है। "रूप का जादू" (1918 ई.), क्षमाप्रार्थना (1918 ई.) मर्दित मान (1918 ई.) तथा अंधीरा आँखें" रचनाओं में छायावादी प्रवृत्ति का उन्मेष दिखाई पड़ता है।

द्विवेदी युग के अन्य कवि हैं ठाकुर गोपाल शरण सिंह, श्रीमन्न द्विवेदी पं. राम चन्द्र शुक्ल, पं. कामता प्रसाद गुरू, पं. रामचरित चिंतामणि, पं. गिरिधर शर्मा "नवरत्न" जगन्नाथ दास रत्नाकर। प्रसाद, पंत, निराला, द्विवेदी युग से ही काव्य रचना करने लगे थे। यहाँ तक कि उनकी कई कृतियां इसी युग में प्रकाशित हुईं, किन्तु इनकी रचनाओं की विशेषताओं ने ही हिंदी साहित्य में एक नए युग की शुरुआत की और युग परिवर्तन हुआ।

**बोध प्रश्न**

4) हिंदी और उर्दू के संबंध में द्विवेदी जी का क्या विचार था? लगभग चार-पाँच पंक्तियों में उत्तर दें–

.....
.....
.....
.....
.....

5) क्या कारण है कि पारसी थियेटरों का विकास होने पर भी उसका साहित्यिक महत्व नहीं? दो-तीन पंक्तियों में उत्तर दें।

.....
.....
.....

6) निम्नलिखित नाटकों के रचनाकारों का नाम लिखिए–

क) चौपट-चपेट

ख) सीता बनवास

ग) सुदामा

घ) मयंक मंजरी

7) उपन्यास विधा की लोकप्रियता के क्या कारण थे? किस रचनाकार द्वारा हिंदी उपन्यास को उत्कृष्ट रचनाएँ उपलब्ध हुई?

.....
.....

8) निम्नलिखित उपन्यासकारों की एक-एक औपन्यासिक कृति का नाम लिखिए–

क) लाला श्री निवासदास

ख) किशोरी लाल गोस्वामी

ग) पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय

घ) लज्जा राम मेहता

9) हिंदी की पहली और श्रेष्ठ कहानी कौन सी थी? इसके रचयिता कौन थे?

.....
.....

10) निबंध विधा के विकास के लिए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने क्या किया?

.....
.....

11) मैथिलीशरण गुप्त को साहित्य में उपेक्षित पौराणिक नारी पात्रों पर काव्य रचना की प्रेरणा कहाँ से मिली?

.....

.....

12) मैथिलीशरण गुप्त रचित पाँच काव्य रचनाओं के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

13) महावीर प्रसाद द्विवेदी के दो अनुदित एवं दो मूल काव्य रचनाओं के नाम लिखिए।

.....

.....

14) अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" की रचना "प्रिय प्रवास" की दो तीन विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

15) निम्नलिखित काव्य रचनाओं के लेखकों का नाम लिखिए।

क) "मिलन" .....

ख) "हे प्रशान्त" .....

ग) "मौर्य विजय" .....

घ) "कृषक क्रन्दन" .....

16) द्विवेदी युग के किस कवि को खड़ी बोली का कबीर कहा जाता है?

.....

17) नाथूराम शंकर शर्मा ने किस काव्य रचना के माध्यम से विधवाओं की दुर्दशा का चित्रण किया?

.....

18) मुकुटधर पाण्डेय की उस रचना का नाम बताइए जिसमें उन्होंने दलितों एवं "दीनों" के प्रति सहानुभूति प्रकट की।

.....

.....

## 22.4 द्विवेदी युगीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

अब तक हमने द्विवेदी यग के गद्य-पद्य के रचनाकारों के बारे में जानकारी प्राप्त की है।

हमने देखा कि तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ा था। रचनाकारों की रचनाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक समस्याओं को कवियों ने अपना विषय बनाया। युग करवट ले रहा था घीसी-पीटी पुरानी मान्यताएँ अपने आप जर्जरित मकान के समान झर रही थीं। नई मान्यताओं से नए युग के निर्माण की नींव डाली जा रही थी। अब हम इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे जिससे आपको यह समझने में कठिनाई न हो कि बदलाव किस रूप में आया। सर्वप्रथम हम विषय वस्तु को लें।

## 22.4.1 विषयों की व्यापकता

हम यह अध्ययन कर चुके हैं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व के कारण एक नए युग की शुरुआत हुई। द्विवेदी जी स्वयं साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में रचनाएँ कीं। किन्तु इनके अलावा उनका सबसे बड़ा कार्य था हिंदी भाषा साहित्य को एक परिमार्जित रूप देने का। इसीलिए वे साहित्यकार से ज्यादा एक महान् शिक्षक के रूप में याद किये जाते हैं। तत्कालीन साहित्यकारों को उत्कृष्ट साहित्य रचना के लिए वे सदा प्रेरित करते रहे। साहित्य जिस प्रकार देश के उत्थान में योगदान देता है और उसकी क्रांतिकारी भूमिका किस प्रकार की होती है उसके संबंध में द्विवेदी जी ने लिखा:

> "आँख उठा कर जरा और देशों और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं, साहित्य ने ही वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है, शासन प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं, यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बंब के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरोप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वतंत्रता के बीज उसी ने बोया है, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरूत्थान भी उसी ने किया है। पाप की प्रभुत्ता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है, पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने।"
>
> "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण रामविलास शर्मा, पृ. 273"

इस प्रकार साहित्य को उपयोग बनाने के लिए उन्होंने पश्चिम में हुए क्रांति का उदाहरण दिया। भारतेन्दु युग से ही साहित्य के विषय वस्तु में परिवर्तन शुरू हो गया था। स्वयं भारतेन्दु ने विभिन्न विषयों पर लेखन किया और अपने समय के लेखकों को इसी कार्य के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी युग में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आदि क्षेत्रों में तेजी से बदलाव आ रहा था। प्रगतिशील विचारों का प्रचार हो रहा था। स्वयं द्विवेदी जी साहित्य में विविध विषयों के पक्षपाती थे। 1901 ई. वाले कवि "कर्तव्य" लेख में द्विवेदी जी ने कविता के विषय के बारे में लिखा था, यह विचार उस समय के संपूर्ण साहित्य पर भी लागू होता है।

"कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि कौतुहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है, और न स्वीकार्याओं के "गतागत" की पहेली बुझाने की। चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत, सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है, कि इन विषयों को छोड़कर स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कोई-कोई कवि कविता की चरम सीमा समझते हैं। केवल अविचार और अन्ध परंपरा।"

उपर्युक्त विचार के अनुसार द्विवेदी जी संसार में व्याप्त सभी चर-अचर विषयों को साहित्य का विषय वस्तु मानते हैं। द्विवेदी युग में साहित्य के विषय-वस्तु का और विस्तार हुआ। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर साहित्य रचा जाने लगा। एक ओर इतिहास से प्रेरणा लेकर उसे आधुनिक संदर्भ में रखा गया तो दूसरी ओर तत्कालीन समस्याओं को विषय वस्तु के रूप में चुना गया। पहले काव्य रचना, गद्य-रचना के लिए विशिष्ट वर्ग का चुनाव

होता था। अब जनसाधारण और सर्वसाधारण से संबंधित रचनाएँ होने लगीं। सामान्य से सामान्य व्यक्ति को केन्द्र में रख कर साहित्य रचना होने लगी। नारी को भोग की वस्तु के घेरे से बाहर निकाला गया। उसे अबला से सबला का रूप दिया गया। द्विवेदी युग में सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि अब तक जिन नारी पात्रों को साहित्य में उपेक्षित किया गया था उन पर काव्य रचनाएँ हुईं। यशोधरा, उर्मिला, विष्णुप्रिया, मांडवी, हिडिम्बा आदि को एक नए रूप में प्रस्तुत किया गया। पुरुष द्वारा उपेक्षित ये नारी पात्र पुरुष के उत्थान की छिपी शक्ति के रूप में चित्रित किए गए।

साहित्य में अलौकिकता की जगह लौकिकता को स्थान मिला। लौकिकता में भी मानवीयता, आदर्शवाद और यथार्थवाद को ही आश्रय मिला। अब कल्पना को छोड़कर यथार्थ के धरातल पर साहित्य रचना होने लगी। तत्कालीन सभी साहित्यकारों ने चाहे वे काव्य रच रहे हों या गद्य रच रहे हों लोकमंगल और लोक रक्षा को ही ध्यान में रखा। साहित्य विशिष्ट वर्ग से हट कर सर्वहारा वर्ग तक पहुँच गया।

## 22.4.2 राष्ट्रीय जागरण, देश भक्ति, सुधार

उपभाग 22.2.1 के चर्चा के दौरान आपने देखा कि तत्कालीन भारत पर विदेशी शासन के कारण किस प्रकार की स्थिति बन गई थी। अंग्रेज़ी की शोषण नीतियों से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। देश का धन विदेश जा रहा था तो दूसरी ओर यहाँ के कुटीर उद्योग नष्ट हो रहे थे। शासक वर्ग का हर कदम यहाँ की जनता को कुचलने के लिए ही उठता था। दिखावे के रूप में किए गए कार्यों से अप्रत्यक्ष लाभ हुआ। पश्चिम के संपर्क से जनता को पता चल गया कि इस देश में उन्हीं अधिकारों को दबाया जा रहा है जिन्हें वर्षों पहले यूरोप की जनता ने प्राप्त कर लिया था। भारतीय नेताओं से लेकर साहित्यकारों तक और मजदूर से लेकर किसान तक सभी ने जालिम शासन को उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस लिया। साहित्यकारों ने राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए लेखन शुरू कर दिया। तत्कालीन अंग्रेज़ी सरकार किसी भी ऐसे कार्य को तुरंत बंद करवा देती थी जिससे लोगों में राष्ट्रीय भावना का विकास हो किन्तु द्विवेदी इस प्रकार के दबाव में नहीं आने वाले थे। वे कवियों और लेखकों को भयमुक्त होकर राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत रचना के लिए प्रेरित करते उनका मत है कि:

"परन्तु परतंत्रता, या पुरस्कार प्राप्ति या किसी कारण से सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो, कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनैतिक विषयों में, कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता।"

यदि राजनीतिक पाबंदी लगी हो तो द्विवेदी जी का विचार है "नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी, आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना है" अर्थात् झूठ लिखने से न लिखना ही ठीक है।

इस प्रकार अपने लेखों के माध्यम से वे साहित्यकारों को निर्भीक बनाने के कार्य में लगे रहते थे। तत्कालीन सभी कवियों ने राष्ट्रीयता से संबंधी साहित्यिक रचनाएँ कीं। देशभक्ति एवं सुधार के द्वारा वे राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाने का प्रयास करते रहे।

जन्मभूमि के प्रति प्रेम प्रकट करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं:

"जन्मभूमि की बलिहारी है।
यह सुरपुर से भी प्यारी है।।" (द्विवेदी काव्य माला, पृष्ठ 369)

मन्न द्विवेदी ने लिखा

"ऐसी मातृभूमि मेरी है स्वर्गलोक से भी न्यारी।
जिसके पद-कमलों पर मेरा तन-मन-धन सब बलिहारी।।"

राष्ट्र गायक मैथिलीशरण द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे–परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने समय को वाणी दी। मातृभूमि में वे कहते हैं–

"जन जय भारत भूमि भवानी।
अमरो ने भी तेरी महिला बारम्बार बखानी।"

मंगलघट, पृ. 33

राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार हो रहा था। राष्ट्रनेता देश को परतंत्रता की बेडियों से मुक्त कराना चाहते थे। एक ओर कवियों ने देश को विश्व में श्रेष्ठ माना, दूसरी ओर यह चिंतन करने के लिए भी कहा कि आखिर हम क्यों गुलाम हुए। भारत की श्रेष्ठता के बारे में सियाराम शरण गुप्त ने लिखा–

"पृथ्वी का श्रेष्ठ सितारा है,
भारत सर्वस्व हमारा है।"

1914 ई. में माखन लाल चतुर्वेदी ने लिखा–

क्यों पड़ी परतंत्रता की बेडियाँ
दासता की हाय हथकडियाँ पड़ी।
न्याय के "मुंह बन्द" फाँसी के लिए
कंठ पर जंजीर की लड़ियाँ पड़ीं।

जागरण और अभियान गीतों द्वारा कवियों ने भारतीय जनमानस को अन्यायी शासक के खिलाफ तैयार किया। "नाथूराम शर्मा", "बलिदान गान" में जागरण के लिए लिखते हैं–

लो स्वराज्य स्वातंत्र्य को दो जीवन बलिदान।

x x x

देश भक्त वीरों, मरने से नहीं डरना होगा।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा।

रूपनारायण पाण्डेय कहते हैं–

उठो, उठो, क्यों शिथिल पड़े हो? देखो सुदिन सबेरा है,

"बलिदान गान, पृ. 248"

"न होगी हैट नैकटाई, न कालर और पतलूनें,
हम इंग्लिश कोट को फिर से अंगरखा करके छोड़ेंगे।"

"पराग देश संबंधी प्रोत्साहन, पृ. 20"

मैथिलीशरण गुप्त रचित "भारत भारती" तो राष्ट्रीय जागरण का मूल आधार ही बन गयी थी। इस रचना का जनता में व्यापक प्रचार हो गया था:

"सुख और दु:ख में एक सा सब भाइयों का भाग हो
अन्तः करण में गूँजता राष्ट्रीयता का राग हो।
हे भाइयों, सोये बहुत अब तो उठो जागो, अहो।
देखो जरा अपनी दशा आलस्य को त्यागो, अहो।"

हरिऔध जी ने "प्रिय प्रवास" के माध्यम से जनजागरण में मंत्र फूंका:

"बूढ़ों, करो बीर, स्वजाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें।"

समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए साहित्यकारों ने रचनाएँ कीं। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध एवं लेखों के माध्यम से यह कार्य हुआ। काव्य रचनाओं से लोगों को सही और गलत का ज्ञान भी कराया गया। भारतीय समाज को केन्द्र में रख कर रचनाएँ हुईं। समाज को नए दृष्टि से देखने का यह पहला प्रयास था। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, सनातन धर्म, तदीय समाज, रामकृष्ण मिशन, और थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा सामाजिक सुधार के लिए आंदोलन चलाए गए। राष्ट्रीय जन आंदोलन, राजनीतिक उथल-पुथल मानवतावादी दृष्टिकोण द्वारा सामाजिक काव्य रचना की प्रवृत्ति का प्रसार हुआ। विषयों का नया भंडार मिला। विधवा, किसान, अछूत, नारी, दुर्भिक्ष, दलित, बाल

और वृद्ध विवाह, मधवान छूआछूत, दम्भ, दहेज, छल-कपट, निर्धनता, आडम्बर, अविधा, धार्मिक और नैतिक पतन, शिक्षा, पर्दा, पुजारी पांडे, तीर्थ, रईसों की विलासिता, हिन्दू-मुस्लिम समस्या। न जाने कितने विषय थे जिन पर साहित्यकारों ने लिखा और सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की मांग प्रस्तुत की।

बाल-विधवाओं पर श्रीधर पाठक लिखते हैं–

दुखी बाल-विधवाओं की है जो गती।
कौन सके बतला, किसकी इतनी मती।।

दुःख-सुख मरना जीना एक समान है।
जिनके जीते जी दी गयी तिलांजली।

(मनो विनोद, पृ. 76)

आगे वे लिखते हैं–

बाल-विधवा श्रापवश यह भूमिका पातक भई।
होत दुःख अपार सजनी निरखि जग निठुराई।

(मनो विनोद, पृ. 170)

नाथूराम शर्मा ने जाति प्रथा पर करारा चोट किया–

जाति पाती के धर्म-जाल में उलझे पड़े गंवार।
मैं इन सबको सुलझा दूँगा, करके एकाकार।

(सरस्वती खण्ड, सं. 05, सन् 1908 ई.)

गुप्त जी ने "भारत भारती" में समाज के प्रत्येक पक्ष पर लिखा–

"हिन्दू समाज कुरीतियों का केन्द्र जा सकता कदा।
धुव धर्म पथ में कुप्रथा का जाल सा है बिछा रहा।।"

इस प्रकार तत्कालीन कवियों ने समाज को एक नए राह पर लाने के लिए महान् कार्य किया।

### 22.4.3 मानवतावादी दृष्टिकोण

भारतेन्दु काल से भारतीय समाज में एक महान् परिवर्तन शुरू हो गया था। किसी भी बात को तर्क के आधार पर जाँच करने के बाद मानने की चेतना का विकास होने लगा। खण्डन मण्डन तर्क-वितर्क और बौद्धिक जागरण के कारण सत्य को ढूंढ़ने की प्रवृत्ति जाग गई। नीर-क्षीर विवेक की प्रवृत्ति ने साहित्य जगत को भी प्रभावित किया। पश्चिमी विज्ञान, आर्य समाज, रवीन्द्र एवं गांधी की नयी वैचारिक क्रांति के फलस्वरूप पौराणिक मान्यताएँ निरर्थक सिद्ध होने लगीं। साहित्य में इस विचारधारा को हम स्पष्ट रूप में देख सकते हैं। राम और कृष्ण अब देवताओं के रूप में नहीं बल्कि मानवीय रूप में चित्रित होने लगे। "साकेत" और "प्रिय प्रवास" में राम कृष्ण को मानवीय रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। "पंचवटी" के लक्ष्मण का कथन यह दर्शाता है कि मनुष्यता के द्वारा ही देवत्व की भी उत्पत्ति होती है।

"मैं मनुष्यता को सुरत्व की,
जननी भी कह सकता हूँ।"

साहित्य में मानवीय भावना किस रूप में स्थान पा रही है उसका प्रमाण "मैथिलीशरण गुप्त" रचित "भारत भारती" के इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा–

"पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ
फिर भी अभागे भूख से, दिन रात मरते यहाँ।"

द्विवेदी युगीन कवि "ठाकुर गोपाल शरण सिंह" की निम्नलिखित पंक्तियों में मानवीय भावनाओं को ही जगाया गया है:

"मानव का जीवन ही जग में
मानवता का माप हुआ।
भव्य भावनाओं का आकार
बनकर काव्य कलाप हुआ।"

द्विवेदी युग के साहित्य में मानवता को धर्म से भी बड़ा माना गया ईश्वर सेवा का ही रूप मानव सेवा और जन सेवा में ही माना गया। किसान, मजदूर, अशिक्षित, आदि काव्य के वर्ण्य विषय बने।

"खपाया किये जान मजदूर, पेट भरना पर उनका दूर
उड़ाते माल धनिक भरपूर, मलाई, लड्डू मोतीचूर।"

गया प्रसाद शुक्ल "सनेही" "मर्यादा", पृ. 49

"सरस्वती" उस युग की जन चेतना की पत्रिका बन गई थी। लेखों के माध्यम से लेखकों ने जन जागरण का कार्य किया। जून 1914 ई. में "सरस्वती" में द्विवेदी जी ने "हमारे गरीब किसान और मजदूर" शीर्षक से एक लेख छापा। लेखक थे "जनार्दन भट्ट", इसमें अमीरी-गरीबी के रूप का विश्लेषण किया गया है। वर्ग चेतना का यह प्रथम प्रयास था।

सबके होकर रहो, सहो सबकी व्यथा
दुखिया होकर सुना, सभी की दुःख कथा
परहित में रत रहो, प्यार सबको करो
जिसको देखो दुखी, उसी का दुख हरो।
बसुधा बने कुटुम्ब प्रेमधारा बहे,
मेरा तेरा भेद नहीं जग में रहे।।

इस प्रकार द्विवेदी युगीन साहित्य में जहाँ नए-नए विषयों का समावेश हुआ वहीं पुरानी सड़ी गली मान्यताओं की जगह प्रगतिशील विचारधारा का प्रवेश हुआ। साहित्य रचना कर लेखकों ने समाज एवं राष्ट्र को आगे बढ़ाने का कार्य किया।

**बोध प्रश्न**

19) काव्य के विषय वस्तु के संबंध में द्विवेदी जी का क्या विचार था?

.....
.....
.....
.....

20) द्विवेदी युग के रचनाकारों ने किन-किन विषयों पर रचनाएँ कीं?

.....
.....
.....
.....

21) द्विवेदी युगीन साहित्यकारों ने नारी को किस रूप में प्रस्तुत किया?

.....
.....

22) द्विवेदी युगीन साहित्यकारों ने पौराणिक आख्यानों को किस रूप में प्रस्तुत किया?

.....
.....

23) द्विवेदी युगीन साहित्यकारों के सामने प्रमुख विषय क्या था ?

.....

.....

.....

**अभ्यास**

2) द्विवेदी युगीन साहित्यकारों की मानवतावादी तथा सुधारवादी दृष्टिकोण पर दस पंक्तियाँ लिखिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 22.5 द्विवेदी युगीन साहित्य का महत्व

हिंदी साहित्य के उत्थान का संबंध भारत की तत्कालीन बदलती हुई राजनीति से है। भारतेन्दु के आगमन से हिंदी गद्य की विविध विधाओं का विकास हुआ। एक ओर राजनीतिक उत्थान-पतन का दौर चल रहा था तो दूसरी ओर साहित्य में निरंतर विकास का रूप भी उभर रहा था। राष्ट्रीयता का विकास उस समय और भी संगठित रूप में हुआ जब अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। हिंदी का प्रचार राष्ट्रीय विचारधारा का प्रचार बन गया। बड़े-बड़े नेताओं ने हिंदी को अपनाया। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ा। "सरस्वती" पत्रिका का प्रकाशन और द्विवेदी जी द्वारा उसके संपादन का भार लेना एक युगान्तकारी घटना थी। भारतेन्दु ने हिंदी को अपने पाँव पर खड़ा रहना सिखाया था। किन्तु जिस माधुर्य एवं सुकुमारता की आवश्यकता थी वह अभी बन नहीं पायी थी। द्विवेदी जी ने हिंदी भाषा को अनुवाद के द्वारा उत्पन्न अराजकता के वातावरण से बाहर निकाला। जिस समय "सरस्वती" में छपने के लिए कोई सामग्री पहुँचती द्विवेदी जी उसे ध्यान से देखते और एक-एक शब्द के प्रयोग से संबंधी चेतावनी लिख कर लेखकों को भेजते। इस प्रकार भाषा को परिमार्जित करने का सफल प्रयास किया। खड़ी बोली को समसामयिक संवेदना का वाहन बना कर उन्होंने हिंदी साहित्य को एक नयी गति प्रदान की। साहित्य को विषयों की परिसीमा से बाहर निकाला। पौराणिक आख्यानों को समसामयिक संदर्भ में रख कर साहित्य रचना हुई। साहित्य में मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रचार हुआ। अब समाज के केवल प्रतिष्ठित और सुख-सुविधा लोभी वर्ग का ही नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग को भी स्थान दिया गया। चाहे मजदूर हो या किसान, नारी हो या दलित सभी की समस्याओं को साहित्य में स्थान दिया गया। उस समय के साहित्य की सबसे बड़ी मांग थी राष्ट्रीयता देश को जालिम विदेशी शासन से मुक्त कराना सबसे बड़ी आवश्यकता थी। रचनाओं के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय भावना को फैलाकर साहित्यकारों ने स्वाधीनता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उस समय रचनाकारों की रचनाएं लोगों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गई। अनुदित रचनाओं द्वारा हिंदी साहित्य को विस्तार दिया गया। इस प्रकार द्विवेदी युग में हिंदी साहित्य को एक नया आयाम मिला। इस युग में दो महत्वपूर्ण कार्य हुए, एक था साहित्य में विविध विषयों का समावेश तथा दूसरा परिमार्जित भाषा का विकास।

## 22.6 सारांश

- भारतीय राजनीति में अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप से यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों पर प्रतिकूल असर पड़ा। शासन का अधिकार प्राप्त कर लेने पर अंग्रेजों ने इस राष्ट्र का शोषण ही नहीं किया बल्कि यहाँ के लोगों पर अमानुषिक अत्याचार भी किये। जनता इस अत्याचार को कब तक सहन करती। बड़े-बड़े नेताओं एवं प्रबुद्ध व्यक्ति तथा साहित्यकारों ने जालिम सरकार के खिलाफ आवाज़ उठाई। साहित्य के माध्यम से जन जागरण का कार्य हुआ। आप द्विवेदी युगीन साहित्य की पृष्ठभूमि का विश्लेषण कर सकते हैं।
- सामाजिक राजनीतिक, एवं साहित्यक चेतना का प्रारंभ भारतेन्दु युग में ही हुआ इसी चेतना का विस्तार एवं विकास द्विवेदी युग में हुआ। आप भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग के संबंध को स्पष्ट कर सकते हैं।
- द्विवेदी युग के साहित्यकारों ने चाहे वे गद्य की रचना कर रहे हो या पद्य की सभी ने युगनुरूप साहित्य ही रचा। आप इस युग के साहित्यकारों एवं उनकी कृतियों के बारे में बता सकते हैं।
- तत्कालीन समाज सुधार आंदोलन का प्रभाव समाज पर पड़ा था। सामाजिक समस्याओं को लेखकों ने विषय वस्तु के रूप में चुना। राष्ट्रीय जनजागरण का कार्य किया तथा साहित्य में सर्वहारा वर्ग को स्थान दिया। आप युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्पष्ट कर सकते हैं।

## 22.7 शब्दावली

**अराजकता**: अशान्ति, हलचल, शासन का अभाव

**उच्छृंखलता**: मनमाना काम करने की प्रवृत्ति

**परिमार्जित**: दोष, त्रुटियों से रहित

**गरम तथा नरम दल**: कांग्रेस पार्टी में समझौता और उग्रता प्रदर्शित करने वालों का दल

**उजागर**: प्रकाशित, जगमगाता हुआ

**भूतल**: पृथ्वी

**जर्जरित**: जो पुराना होने के कारण काम का न रह गया हो जीयो

**उत्पादन**: उखाड़ना

## 22.8 उपयोगी पुस्तकें

शुक्ल, रामचंद्र, **हिंदी साहित्य का इतिहास,** काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

शर्मा, रामविलास, **महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण**, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

तिवारी, पूनमचन्द्र, **द्विवेदी युगीन काव्य,** मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, 97, मालवीय नगर, भोपाल-3

वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, **हिंदी साहित्य का इतिहास,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

## 22.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) देखें उपभाग 22.2.1
2) देखें उपभाग 22.2.3
3) देखें उपभाग 22.2.3

**अभ्यास**

1) देखें भाग 22.2

**बोध प्रश्न**

4) देखें भाग 22.3
5) देखें उपभाग 22.3.1 (नाटक)
6) देखें उपभाग 22.3.1 (नाटक)
7) देखें उपभाग 22.3.1 (उपन्यास)
8) देखें उपभाग 22.3.1 (उपन्यास)
9) हिंदी की पहली श्रेष्ठ कहानी थी "उसने कहा था" इसके लेखक थे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।
10) देखें उपभाग 22.3.1 (निबंध)
11) देखें उपभाग 22.3.2
12) देखें उपभाग 22.3.2
13) देखें उपभाग 22.3.2
14) देखें उपभाग 22.3.2
15) देखें उपभाग 22.3.2
16) नाथूराम शंकर शर्मा
17) देखें उपभाग 22.3.
18) देखें उपभाग 22.3.2
19) देखें उपभाग 22.4.1
20) देखें उपभाग 22.4.1
21) देखें उपभाग 22.4.1
22) द्विवेदी युग के कवियों ने पौराणिक आख्यानों को समसामयिक संदर्भ से जोड़कर काव्य रचनाएं की।
23) देखें उपभाग 22.4.2

**अभ्यास**

2) देखें उपभाग 22.4.3

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 7

## आधुनिक हिंदी काव्य

इकाई 23
छायावाद 429

इकाई 24
छायावादोत्तर एवं प्रगतिशील काव्य 451

इकाई 25
प्रयोगवाद एवं नयी कविता 473

इकाई 26
समकालीन हिंदी काव्य 498

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

डॉ. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. रामसिंह तोमर
शांति निकेतन

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इ.गां.रा.मु.वि.

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

**पाठ लेखक**

डॉ. जवरीमल पारख
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव
गोरखपुर विश्वविद्यालय

**संकाय सदस्य**

डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम

डॉ. नीलम फारूखी
डॉ. जवरीमल पारख (खंड संयोजक)

**पाठ्यक्रम संयोजक**

डॉ. पूरनचन्द टण्डन
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एम.पी. शर्मा
संयुक्त कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

ISBN-81-7091-791-3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGHI-103/426

# खंड 7 का परिचय

हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 के अंतर्गत आप हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन कर रहे हैं। अब तक आपने द्विवेदी युग तक के हिंदी साहित्य के विकास-क्रम से परिचय प्राप्त किया है। इस 7वें खंड में हम आपको आधुनिक हिंदी काव्य की द्विवेदी युग के बाद की विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों से परिचित करायेंगे। इस खंड में कुल 4 इकाइयाँ हैं। इकाई 23 में छायावाद के बारे में बताया गया है। छायावाद आधुनिक हिंदी काव्य की सबसे महत्वपूर्ण काव्य प्रवृत्ति है जिसने हिंदी को जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा जैसे महान रचनाकार दिये हैं। छायावाद राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के उस दौर की काव्य प्रवृत्ति है जब हमारे देश में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन जनता की आकांक्षाओं का आंदोलन बन रहा था और मध्य वर्ग में एक मानवतावादी-स्वच्छन्दतावादी-राष्ट्रवादी दृष्टिकोण उभर रहा था।

छायावाद के बाद दो काव्य प्रवृत्तियाँ अस्तित्व में आईं। पहली प्रवृत्ति छायावाद की स्वच्छन्दतावादी-राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का ही विकास थी। इसे छायावादोत्तर काव्य के नाम से जाना जाता है। दूसरी प्रवृत्ति प्रगतिवाद है जो केवल कविता का आंदोलन नहीं था बल्कि साहित्य की सभी विधाओं पर इसका असर पड़ा था। यह एक अखिल भारतीय आंदोलन था। 1930 के बाद भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में वामपंथ के बढ़ते प्रभाव ने इस आंदोलन की दिशा तय की। इन दोनों काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन आप इकाई 24 में करेंगे। इकाई 25 में प्रयोगवाद और नयी कविता की चर्चा की गई है। प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ, ऐसा माना जाता है। प्रयोगवाद में काव्य के रूप और शिल्प पर विशेष बल दिया गया है। कविता में व्यक्ति के प्रयोगवादी अनुभवों की अभिव्यक्ति प्रधान हो गई। जबकि नयी कविता स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की मध्यवर्गीय आकांक्षाओं का प्रतिफलन थी। इन दोनों काव्य प्रवृत्तियों में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्ष रहे।

अंतिम इकाई में नयी कविता के बाद के दौर के काव्य विकास को प्रस्तुत किया गया है। सन् 1960 के बाद हिंदी कविता में लगभग एक दशक तक व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों का ही जोर रहा। यही नहीं इस दौर में निषेधवाद काव्य की केन्द्रीय पहचान बना। सातवें दशक की समाप्ति के बाद उभरी परिस्थितियों ने एक नये माहौल का निर्माण किया। जिसके परिणामस्वरूप हिंदी में प्रगतिशील और जनवादी कविता का एक नया उभार सामने आया। बाद की लगभग दो दशक की कविता इसी नये उभार के विकास को सूचित करती है। सातवें दशक में गीतों का भी स्वतंत्रता आंदोलन प्रकट हुआ जिसे नवगीत के नाम से जाना गया। इस नवगीत परम्परा में भी लगभग तीन दशकों में कई परिवर्तन आये। इन सबका अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे।

इस खंड से संबंधित कुछ वीडियो और ऑडियो कार्यक्रम भी बनाये गये हैं। प्रगतिवाद पर वीडियो कार्यक्रम आपको प्रगतिवाद के ऐतिहासिक योगदान से परिचित करायेगा। प्रयोगवाद और समकालीन कविता पर ऑडियो कार्यक्रम तैयार किये गये हैं। एक वीडियो कार्यक्रम छायावाद से संबंधित भी निर्माणाधीन है। आशा है आप इन कार्यक्रमों से लाभान्वित होंगे।

# इकाई 23 छायावाद

## इकाई की रूपरेखा


23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 छायावाद की पृष्ठभूमि
  23.2.1 द्विवेदीयुगीन काव्य और छायावाद
  23.2.2 छायावादकालीन परिस्थितियाँ
  23.2.3 छायावाद का अभिप्राय
23.3 छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
  23.3.1 आत्माभिव्यक्ति की भावना
  23.3.2 रूढ़ियों से मुक्ति
  23.3.3 रहस्यवाद
  23.3.4 प्रकृति-प्रेम
  23.3.5 नारी-स्वातन्त्र्य की भावना
  23.3.6 राष्ट्रीय-भावना
23.4 छायावाद की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएं
  23.4.1 कल्पना का नवोन्मेष
  23.4.2 काव्य-भाषा
  23.4.3 छंद से मुक्ति
  23.4.4 बिंब और प्रतीक
23.5 प्रमुख छायावादी कवि
  23.5.1 जयशंकर प्रसाद
  23.5.2 सूर्यकांत त्रिपाठी निराला
  23.5.3 सुमित्रानंदन पंत
  23.5.4 महादेवी वर्मा
23.6 सारांश
23.7 शब्दावली
23.8 उपयोगी पुस्तकें
23.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 23.0 उद्देश्य

आधुनिक हिंदी काव्य से संबंधित खंड की यह पहली इकाई है। इसमें आप छायावाद सम्यक काव्यधारा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा से छायावाद के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे;

छायावाद के दौर की परिस्थितियों का उल्लेख कर सकेंगे;

- छायावाद का अभिप्राय समझा सकेंगे;
- छायावाद का प्रमुख प्रवृत्तियों की विशेषताएं बता सकेंगे;
- छायावाद की भाषा की विशेषताएं बता सकेंगे; और
- छंद, प्रतीक, शैली आदि के संबंध में छायावादी काव्य की विशिष्टता का उल्लेख कर सकेंगें।

## 23.1 प्रस्तावना



हिन्दी साहित्य के इतिहास से संबंधित पाठ्यक्रम में आप अब तब द्विवेदीयुगीन साहित्य

के विकासक्रम का अध्ययन कर चुके हैं। द्विवेदीयुग के बाद के दौर में हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं का स्वतंत्र रूप से और तीव्र गति से विकास हुआ। इसलिए इस खंड में और आगे के खंडों में हिंदी साहित्य के विकासक्रम को विधाओं के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत सातवाँ खंड आधुनिक हिंदी काव्य से संबंधित है और यह इस खंड की पहली और पाठ्यक्रम की तेईसवीं इकाई है। इस इकाई में आप "छायावाद" नामक काव्यधारा का अध्ययन करेंगे।

आधुनिक हिंदी काव्य-धारा के विकास में छायावाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इस काव्यधारा ने जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा जैसे महान् रचनाकार दिये हैं। छायावाद ने न केवल अंतर्वस्तु के स्तर पर वरन् काव्य-भाषा और संरचना-शिल्प की दृष्टि से भी हिंदी कविता को समृद्ध किया है और उसे उत्कर्षता प्रदान की है। आप इस इकाई में इसी काव्यधारा का अध्ययन करेंगे। आरंभ में हम आपको बतायेंगे कि इस काव्यधारा का नाम छायावाद क्यों और कैसे पड़ा। हम उन परिस्थितियों से भी आपको परिचित करायेंगे जिनके बीच यह काव्यांदोलन उदित हुआ तथा इस बात पर भी विचार करेंगे कि छायावाद से क्या तात्पर्य है।

इस इकाई में हम आपको छायावाद की विभिन्न प्रवृत्तियों का परिचय देंगे और भाषा, छंद शैली, प्रतीक आदि की दृष्टि से भी उसके योगदान की चर्चा करेंगे। इकाई के अंत में हम प्रमुख छायावादी कवियों के साहित्यिक अवदान का उल्लेख करेंगे। इस प्रकार पूरी इकाई पढ़ने से आपको स्पष्ट हो सकेगा कि हिंदी काव्य के विकास में छायावाद की क्या भूमिका है।

## 23.2 छायावाद की पृष्ठभूमि

छायावाद का आरंभ ठीक-ठीक कब हुआ, यह बताना असंभव है। कोई इसका आरंभ निराला की कविता "जूही की कली" के प्रकाशन से मानता है, तो कोई पंत के काव्य-संग्रह से। "जूही की कली" का प्रकाशन 1916 ई. में हुआ था और "वीणा" 1918 में प्रकाशित पंत का पहला काव्य संग्रह है। मुकुटधर पांडेय की कविता "कुररी के प्रति" से भी कई लोग छायावाद का आरंभ मानते हैं। छायावाद का आरंभ ठीक-ठीक किस कविता से माना जाए, इसका निर्णय करने की बजाए हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि वे कौन-से कारण हैं जिसने "छायावाद" नामक नयी काव्यधारा के उदय के लिए जमीन तैयार की। "कुररी के प्रति" या "जूही की कली" या प्रसाद और पंत की आरंभिक कविताएं जिस सत्य की ओर इंगित करती है वह यह है कि बीसवीं शती के दूसरे दशक के उत्तरार्द्ध में हिंदी कविता में एक नयी प्रवृत्ति का उदय हो रहा था, जो पूर्व की काव्य प्रवृत्तियों से भिन्न थी। यह प्रवृत्ति उन नये रचनाकारों के माध्यम से सामने आ रही थी जिन्होंने अपना लेखन अभी आरंभ ही किया था। इसी नयी काव्य प्रवृत्ति का नाम छायावाद क्यों और कैसे पड़ा, यह पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों से किस रूप में भिन्न थी तथा वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने इस नयी प्रवृत्ति के लिए जमीन तैयार की, इसका अध्ययन आप आगे करेंगे।

### 23.2.1 द्विवेदीयुगीन काव्य और छायावाद

वीरगाथा काव्य, भक्ति काव्य और शृंगार काव्य की मध्ययुगीन परंपरा से भिन्न आधुनिक युग में हिंदी काव्य में नवीन काव्य-प्रवृत्तियों का उदय हुआ। भारतेंदु युग मध्ययुगीन काव्य-प्रवृत्तियों और आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष का युग था। एक ओर भक्तिपरक और शृंगारिक रचनाएँ लिखी जा रही थीं, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय भावना, सामाजिक सुधार और नये जीवन-मूल्यों का वाहक काव्य भी रचा जा रहा था। आधुनिक काल के आरंभ होने से पूर्व हिंदी में साहित्य ब्रजभाषा में लिखा जा रहा था, जबकि अब गद्य की भाषा खड़ी बोली थी और कविता अब भी ब्रज में लिखी जा रही थी। लेकिन भारतेंदु युग में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा अलग-अलग क्यों हो। यह द्वंद्व बीसवीं शताब्दी में प्रवेश के साथ समाप्त हो गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" के माध्यम से यह दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दिया कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए और इसके लिए खड़ी बोली ही सर्वथा उपयुक्त है।

भारतेन्दु युग के साहित्य में जिन प्रवृत्तियों के अंकुर फूटे थे, द्विवेदी युग में उनका ही विकास हुआ, तथापि द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ और समस्याएं वही नहीं थी। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय भावना पहले से अधिक प्रबल हुई। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया कि रीतिवादी काव्य-परंपरा का पूर्ण अस्वीकार आवश्यक है। रुढ़िवाद के प्रति विरोध की ही यह अभिव्यक्ति थी। इसका प्रतिफल द्विवेदी युग के काव्य में सामाजिक उत्थान की भावना के रूप में हुआ। वर्तमान की दीन-हीन दशा (गुलामी का एहसास), अतीत के प्रति गौरव भाव और भविष्य को बेहतर बनाने का संकल्प द्विवेदी युग की कविता का आधार बना। परंतु इस युग के काव्य में स्वतंत्रता और मुक्ति की कोई स्पष्ट भावना नहीं उभर सकी। गुलामी का अनुभव तो हुआ परंतु मुक्ति की प्रबल चाह उसका स्थान न ले सकी। स्थूल यथार्थ तो कवि की नजरों में आया, लेकिन उसमें निहित सत्य को देखने की अंतर्दृष्टि विकसित न हो सकी। यही कारण है कि द्विवेदी युग के काव्य को इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता का काव्य कहा गया। द्विवेदी युग में खड़ी बोली में काव्य रचा जाने लगा, लेकिन छंदयुक्त होने पर भी भाषा गद्यात्मक ही रही। काव्य के अनुकूल उसमें कोमलता, लयात्मकता और संवेदनात्मकता का समावेश न हो सका।

लेकिन दूसरे दशक में ही मुकुटधर पांडेय, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त आदि कवियों में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का उदय होने लगा था। ये कवि भाव और भाषा दोनों स्तरों पर द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मकता से मुक्त होने की कोशिश कर रहे थे। प्रकृति और मानव-जीवन को आत्मगत, आत्मीय और रूमानी दृष्टि से देखने की ललक कवियों में उत्पन्न हो रही थी। द्विवेदी युग की वस्तुवादी-नैतिकतावादी दृष्टि से यह दृष्टि भिन्न थी। इसी उदित होती नयी प्रवृत्ति, जिसे स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) कहा जाता है, ने छायावाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

## 23.2.2 छायावादकालीन परिस्थितियाँ

प्रथम युद्ध (1914-1918) की समाप्ति के समय राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थितियाँ तेजी से बदल रही थीं। प्रथम विश्वयुद्ध ने साम्राज्यवाद के समूचे ढाँचे पर स्थायी और जबरदस्त प्रहार किया। 1917 की रूसी क्रांति ने भी संपूर्ण विश्व पर अपना प्रभाव जमाया। विशेष रूप से उन देशों पर जो परतंत्र थे। भारत में भी इसी दौर में जन आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। इससे पहले तक भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असंतोष केवल चिट्ठियों, आवेदनों और लेखों से ही अभिव्यक्त हो रहा था, और वह भी केवल कुछ अधिक अधिकारों की ही माँग की जा रही थीं।

परंतु 1916 में गांधीजी के भारत आगमन के बाद कांग्रेस का आंदोलन शहर में रहने वाले शिक्षित उच्च मध्यवर्ग से निकलकर गरीब किसानों और मजदूरों के बीच भी फैल गया। इसके साथ ही यह भावना भी प्रबलतर होने लगी कि केवल स्वतंत्रता और मुक्ति ही एकमात्र लक्ष्य हो सकता है। दासता से मुक्ति की यह भावना इतनी प्रबल हो रही थी कि यह केवल राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी बल्कि प्राचीन रूढ़ियों, मान्यताओं और रीतिरिवाजों से मुक्ति की कामना भी उभर रही थी। जाति, धर्म, संप्रदाय आदि के भेदभाव अब लोगों को खलने लगे थे। नये शिक्षित मध्यवर्ग को अब नये जीवन-मूल्यों और आदर्शों की जरूरत महसूस होने लगी। इसी चाह ने उसे यूरोप के पुनर्जागरण कालीन आदर्शों और विचारधाराओं को जानने समझने की ओर प्रेरित किया। पुनर्जागरण से प्रेरित यूरोप के स्वच्छंदतावादी साहित्यिक आंदोलन ने उसे सोच और संवेदना का नया धरातल दिया। वस्तुतः उस युग में भारत का बुद्धिजीवी जिन सामाजिक परिस्थितियों के बीच जी रहा था, लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ सौ साल पहले के यूरोपीय समाज में भी थी। जैसी मुक्ति की इच्छा और छटपटाहट भारत का मध्यवर्ग इस समय कर रहा था, वैसी ही भावना तत्कालीन यूरोपीय समाज में मौजूद थी। इसलिए ये स्वाभाविक था कि नये कवि उनके काव्य से प्रेरणा लेते। कीट्स, बॉयरन, वड्सवर्थ, कालरिज, शैली आदि रोमांटिक कवियों के काव्य और उनके लेखन ने उन्हें सोचने-समझने का नया क्षितिज प्रदान किया।

## 23.2.3 छायावाद का अभिप्राय

थी। इन नयी तरह की कविताओं ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी चर्चा होने लगी। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार 1920 ई. तक इन कविताओं के लिए "छायावाद" नाम रूढ़ हो गया। जबलपुर की पत्रिका "श्रीशारदा" में मुकुटधर पांडेय के "हिंदी में छायावाद" नाम से चार निबंधों की एक लेखमाला प्रकाशित हुई जिसमें पहली बार छायावाद के बारे में विधिवत विचार किया गया था। 1921 में "सरस्वती" पत्रिका में सुशील कुमार नामक किसी लेखक ने "हिंदी में छायावाद" शीर्षक एक संवादात्मक निबंध लिखा। इन निबंधों से स्पष्ट है कि नयी तरह की कविताओं के लिए "छायावाद" शब्द 1920 तक स्वीकृत हो चुका था।

"छायावाद" नाम कैसे प्रचलित हुआ, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। सुशील कुमार के लेख से स्पष्ट है कि उनके लिए ये कविताएं टैगोर स्कूल की चित्रकला के समान "अस्पष्ट" होने के कारण छायावादी कही जाने लगीं। मुकुटधर पांडेय ने अपनी लेखमाला के दूसरे निबंध "छायावाद क्या है?" में इस प्रश्न पर विचार किया है। उनके अनुसार "अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जाएंगे कि यह शब्द "मिस्टिसिज्म के लिए आया है।" (डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक "छायावाद" से उद्धृत) आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "पुराने ईसाई संतों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएं "छायावाद" कही जाने लगी थीं। यह वाद क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाये रास्ते का दरवाजा-सा खुल पड़ा और हिंदी के कुछ नये कवि उधर एकबारगी झुक पड़े।" आचार्य शुक्ल के इस मत पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "यह भ्रम ही है कि इस प्रकार के काव्यों को बंगला में छायावाद कहा जाता था और वहीं से यह शब्द हिंदी में आया है।" द्विवेदी जी ने छायावाद नाम पर टिप्पणी करते हुए यह भी कहा है कि "छायावाद शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही स्वीकारणीय हो सका है, नहीं तो इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने में यह शब्द एकदम असमर्थ है। बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास किया गया है और बाद में भी इसे या तो चित्रभाषा-शैली या प्रतीक पद्धति के रूप में माना गया या फिर रहस्यवाद के अर्थ में।" बहरहाल यह स्पष्ट है कि उस युग की नयी तरह की कविताओं के लिए छायावाद नाम सोच-विचार कर नहीं रखा गया, शायद उपहास उड़ाने के लिए यह नामकरण किया गया। परंतु जब एक बार यह नाम प्रचलित हो गया तो इसे स्वीकार कर लिया गया।

"छायावाद" नाम स्वीकृत होने के बाद भी यह समस्या बनी रही कि इसका अभिप्राय क्या है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद के दो अर्थ किये हैं—एक रहस्यवाद के अर्थ में और दूसरा काव्य शैली के अर्थ में। उन्हीं की शब्दों में, "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहां कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।"

"छायावाद" शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। उनके अनुसार, छायावाद का पहला अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य क्षेत्र में चलने वाली महादेवी वर्मा ही हैं। छायावाद की कविताओं के संदर्भ में ईसाई धर्म, पश्चिम के स्वच्छंदतावादी कवियों और रवींद्रनाथ की कविताओं की विशेष रूप में चर्चा हुई। शुक्लजी ने छायावाद पर ईसाई धर्म, यूरोपीय कविता और रवींद्रनाथ के प्रभाव की चर्चा की है। उन्होंने छायावाद को या तो "अज्ञात के प्रति जिज्ञासा" के भाव के आधार पर रहस्यवाद समझा या फिर वे छायावाद को शैली मात्र समझते रहे।



आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद भी छायावाद की आध्यात्मिक परिभाषा होती रही। यह अवश्य हुआ कि छायावाद में निहित रहस्य भावना को उसका भावपक्ष मान लिया गया और शैलीगत विशेषताओं को उसका कला पक्ष। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी यद्यपि

छायावाद के आध्यात्मिक पक्ष को स्वीकारते हैं परंतु उनके अनुसार उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी छायावाद में "मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता" स्वीकार की है। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि "छायावादी कविता बाह्य ऐंद्रियबोध तथा चेतन मन की सीमाओं को पार कर अचेतन के रहस्य लोक में पहुंचती है और जाने-अनजाने उसका मर्मोद्घाटन करती है।" छायावाद को कई कवियों-आलोचकों ने स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावाद के संदर्भ में स्वच्छंदतावाद और रहस्यवाद की चर्चा होती रही है। उसमें रहस्यभावना की प्रमुखता स्वीकार की गयी तो दूसरी ओर उसके मानवतावादी दृष्टिकोण को भी स्वीकार किया गया। उसके नवीन कला पद्धति की पहचान की गयी परंतु छायावाद के भावपक्ष और कला पक्ष के अंतः संबंधों की सुविचारित व्याख्या नहीं की गयी। छायावाद को तब तक सही ढंग से नहीं समझा जा सकता था, जब तक कि उसे तत्कालीन स्थितियों के संदर्भ में नहीं देखा जाता। यह काम बाद में डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह, प्रभृति आलोचकों ने किया। इन्होंने छायावाद को राष्ट्रीय आंदोलन और पूंजीवाद के विकास के साथ जोड़ा। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी कवियों, टैगोर के काव्य और निराला आदि छायावादी कवियों के काव्य की समानता के कारण पर विचार करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि "शैली, ठाकुर और निराला के युगों की परिस्थितियों में एक बात समान रूप से विद्यमान है और वह है पूँजीवाद का प्रारंभिक विकास।" डॉ. नामवर सिंह ने छायावाद को राष्ट्रीय जागरण से जोड़ते हुए लिखा है कि "छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से। इस जागरण में जिस तरह क्रमशः विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गई और इसके फलस्वरूप 'छायावाद' संज्ञा का भी अर्थ-विस्तार होता गया।"

---

**बोध प्रश्न**

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाइए।

1) आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद शब्द को किन दो अर्थों में प्रयुक्त किया है। उत्तर केवल 3-4 पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित विचार किन विद्वानों के हैं, सही नाम के आगे (✓) का चिह्न लगाइए:

क) छायावाद पूँजीवाद के आरंभिक विकास का परिणाम है।
(निराला, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह)

ख) छायावाद की मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है।
(नंददुलारे वाजपेयी, रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद)

ग) भावपक्ष की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद एक ही है।
(रामचंद्र शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी)

घ) छायावाद राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।
(रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, महादेवी वर्मा)

**अभ्यास**

1) छायावाद जिन राष्ट्रीय परिस्थितियों के बीच उदित हुआ उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 23.3 छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अब तक आपने छायावाद के बारे में जो कुछ पढ़ा है उससे यह तो आप समझ ही गये होंगे कि छायावाद नामक काव्यान्दोलन में किसी एक खास प्रवृत्ति की प्रमुखता नहीं है। छायावादी कवियों ने रहस्य-भावना से संबंधित कविताएं लिखीं, शुद्ध प्रकृति-प्रेम की कविताएं भी लिखीं, ऐसी कविताएं भी लिखीं जिनमें "स्व" की अभिव्यक्ति थी। राष्ट्र प्रेम और समाज-सुधार की भावना से प्रेरित रचनाओं की कमी भी नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावाद वस्तुतः इन सभी प्रवृत्तियों का समुच्चय है। इन सभी प्रवृत्तियों को जोड़ने वाला तत्व है– मुक्ति की भावना। छायावादी काव्य वस्तुतः मुक्ति का, स्वतंत्रता का काव्य है। अगर हम विचार करें तो पायेंगे कि उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों में अंतर्निहित सत्य मुक्ति की भावना ही है। असीम के प्रति जिज्ञासा" के मूल में ईश्वर और धर्म के परंपरागत संप्रदायवादी रूप से मुक्ति की कामना ही विद्यमान है। प्रकृति-प्रेम में प्रकृति की तरह स्वतंत्र होने की इच्छा और कामना ही अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्र प्रेम में पराधीनता से मुक्ति की भावना है। रूढ़ियों से मुक्ति, नारी को मित्र और सहचर मानने का भाव, अपने स्व को उन्मुक्त भाव से व्यक्त करने की इच्छा भी वस्तुतः मुक्ति की कामना का ही प्रतिफलन है। इसलिए छायावादी काव्य पर विचार करते हुए इस स्वतंत्रता के तीव्र बोध को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए।

### 23.3.1 आत्माभिव्यक्ति की भावना

हम भक्ति काव्यधारा के अध्ययन के दौरान भक्त कवियों के आत्मनिवेदन के बारे में पढ़ चुके हैं। छायावाद से पूर्व हिंदी काव्य परंपरा में अपने "स्व" को व्यक्त करने का प्रयास भक्त कवियों ने ही किया था अन्यथा कवि विभिन्न विषयों पर रचनाएं करते हुए अपने को निरपेक्ष और तटस्थ रखता था। भक्त कवियों के आत्मनिवेदन की सीमा यह थी कि उसमें ईश्वर के प्रति भक्ति की ही अभिव्यक्ति थी उस आत्मनिवेदन पर डॉ. नामवर सिंह के अनुसार धर्म का आवरण था। छायावादी कवियों ने पहली बार अपने "स्व" को व्यक्त करने की कोशिश की। उन्होंने 'मैं' द्वारा अपने भावों को व्यक्त किया। अपनी निजता को आत्मीय ढंग से वाणी दी। अगर उन्होंने अपने प्रेम को व्यक्त किया तो राधा-कन्हाई का बहाना नहीं ढूँढ़ा। अपने मन की पीड़ा को भी शब्द दिए। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, छायावादी कवि ने "यह जो 'मैं' शैली अपनाई, वह केवल शैली भर नहीं है। इस निजता और आत्मीयता के पीछे आधुनिक युवक का पूरा व्यक्तित्व है, जो अपने को सीधे-सीधे अभिव्यक्त करने की सामाजिक स्वाधीनता चाहता है।"

आरंभ में छायावादी कवियों ने अपनी प्रणय-भावना को अभिव्यक्ति दी, बाद में कवियों ने अपने जीवन के दूसरे दुःख-दर्दों को भी वाणी दी। इस दृष्टि से निराला की "सरोज स्मृति" कविता विशेष उल्लेखनीय है। इस कविता में निराला ने अपनी एकमात्र पुत्री सरोज की मृत्यु पर लिखे शोकगीत में अपने जीवन की तकलीफों, आर्थिक कष्टों, प्रकाशकों और संपादकों के दुर्व्यवहारों, अपनी लड़की के विवाह में आने वाली कठिनाइयों का अत्यंत कारुणिक वर्णन किया है:

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!

जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ समर।

पंत ने अपनी कविताओं में अपनी प्रणय-भावना को व्यक्त किया है। कविता में प्रसाद ने अपने जीवन के रीतेपन और मौनव्यथा को व्यक्त किया है:

इस गंभीर अनंत-नीलिमा में असंख्य जीवन-इतिहास
यह लो, करते ही रहते हैं अपना व्यंग्य-मलिन उपहास
तब भी कहते हो-कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुखा पाओगे, देखोगे-यह गागर रीती।

महादेवी का संपूर्ण काव्य आत्म-पीड़ा की ही अभिव्यक्ति है, "मैं नीर भरी दु:ख की बदली।" लेकिन उन्होंने अपनी आत्म-पीड़ा को रहस्यवाद के माध्यम से व्यक्त किया है।

## 23.3.2 रूढ़ियों से मुक्ति

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, छायावाद में आत्माभिव्यक्ति अपने को व्यक्त करने की भावना से प्रेरित थी। अपने को व्यक्त करने की यह इच्छा वस्तुत: उन आंतरिक भावों के उद्वेग से पैदा हुई थी जो अपने को व्यक्त करने का मार्ग खोज रही थीं। छायावाद का कवि सामाजिक बंधनों के बीच छटपटा रहा था क्योंकि उसके हृदय में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न हो गयी थी। वह अपनी भावनाओं को विस्तार देना चाहता था, अपनी आत्मा को घर की चारदिवारी से मुक्त करना चाहता था। यह "आत्म-प्रसार की आकांक्षा" ही विभिन्न रूपों में छायावाद में व्यक्त हुई है। एक ओर इस भावना ने छायावादी कवि को प्राचीन रूढ़ियों और बंधनों से मुक्त किया तो दूसरी ओर इस भावना को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण उसे आध्यात्मिक आवरण प्रदान किया। आत्मप्रसार की इस इच्छा ने छायावादी कवियों को यह समझ प्रदान की कि संकीर्णता और रूढ़िबद्धता से आत्मविकास नहीं किया जा सकता।

कविता "पंचवटी प्रसंग" में निराला ने इसी बात को कहा है:

छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये
प्रेम का पयोनिधि तो उमड़ता है
सदा ही नि: सीम भू पर

अर्थात् घर की चारदीवारी में कैद रहने से हमारे भाव भी क्षुद्र बने रहते हैं, प्रेम का सागर तो पृथ्वी की सीमाहीनता में ही पनप सकता है। यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि किस तरह छायावादी कवियों के सम्मुख एक नयी दुनिया का द्वार खुल रहा था। रीतिवादी कवियों की तरह उनका प्रेम घर की चारदीवारी और कुंजों में नहीं पल-पनप रहा था। वे अपने प्रेम को, अपने हृदय की आकांक्षा को, समस्त सृष्टि में व्याप्त देखना चाहते थे। उन्होंने यह पहचान लिया था कि मुक्ति की जो आकांक्षा उनके हृदय में पनप चुकी है, उसमें प्राचीन रूढ़ियाँ और जीवन-मूल्य अवरोध हीं हैं। पंतजी ने इसी भावना को वाणी देते हुए कहा है कि "प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौंदय भी खो बैठते है, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी उपयोगिता के कारण संगीतमय और अलंकृत होते हैं।" रूढ़ियों से मुक्ति का यह प्रयास इतना व्यापक था कि छायावादी कवियों ने भावनाओं और विचारों के क्षेत्र में ही नहीं भाषा, शैली, छंद के क्षेत्र में भी पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होने का दृढ़तापूर्वक प्रयास किया। "पल्लव" की भूमिका में सुमित्रानन्दन पंत ने ब्रज भाषा का विरोध इसी कारण किया था और निराला ने छंद के बंधन से कविताओं को मुक्त इसीलिए किया था।

### 23.3.3 रहस्यवाद

आत्माभिव्यक्ति और आत्मा प्रसार की यह आकांक्षा छायावाद की विशिष्ट पहचान है। लेकिन यह मार्ग इतना सहज भी नहीं यह अपने हृदय की भावनाओं को पूर्ण उन्मुक्तता के साथ व्यक्त करना आसान होता था : डॉ नामवर सिंह के शब्दों में "सामाजिक रूढ़ियों के प्रहार की आशंका से कवि को वैयक्तिक अनुभूतियों के लिए रहस्यवाद का आश्रय लेना पड़ा। पुरुष तो अपनी प्रणय भावना को किसी न किसी ढंग से व्यक्त कर सकता था, लेकिन नारी के लिए यह सहज संभव नहीं था।" दूसरी ओर रीतिवाद ने प्रणय भावना को इतना हल्का और क्षुद्र बना दिया था कि छायावादी कवि अपने प्रेम को उस धरातल पर नहीं उतारना चाहते थे। इसलिए "ऐहिक व्यक्तिकता की अश्रद्धता से उसे बचाने के लिए" उस पर रहस्यात्मकता का आवरण डाल दिया। छायावाद मे रहस्य भावना का सामाजिक आधार यही है।

डॉ. नामवर सिंह के अनुसार "काव्य में रहस्य-भावना एक प्रकार से 'परोक्ष की जिज्ञासा' है। वैज्ञानिक उन्नति ने आधुनिक मनुष्य को अंधविश्वासों से मुक्त कर दिया। अब वह प्रकृति और सृष्टि को जानना-समझना चाहता है। उसमें प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ। स्वच्छंदतावादी काव्य की यह खास विशेषता है।" पंत जी के यहाँ यह जिज्ञासा "शिशु सुलभ सरलता" के साथ प्रकट हुई है।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि
तूने कैसे पहचाना?

इसी तरह स्तब्ध रात्रि में आकाश में चमकते तारे कवि को मौन निमंत्रण देते नजर आते हैं और वह अपने आप से प्रश्न पूछता है कि इन नक्षत्रों से कौन मुझे निमंत्रण दे रहा है:

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन।

इस अज्ञात और असीम को जानने की जिज्ञासा ही रहस्य भावना है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार "यह जो अज्ञात और असीम की अभिलाषा है वह वस्तुतः ज्ञात सीमाओं के असंतोष से ही उत्पन्न हुई है और यह असंतोष तथा अभिलाषा केवल दिमागी ऐय्याशी नहीं है, बल्कि इसका सामाजिक आधार है। यह असंतोष और महत्वाकांक्षा उस मध्यवर्गीय व्यक्ति का है जो मध्ययुगीन पारिवारिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में सांस लेने के लिए आकुल हो रहा था। वह प्राचीन सीमाओं से तो परिचित था, लेकिन नवीन क्षितिज की कोई स्पष्ट रूपरेखा उसके मन में न थी। वह इतना ही जानता था कि इन सीमाओं से परे जो कुछ है, वह असीम है।" इस असीम को जानने की जिज्ञासा, मिलने की तड़प और कभी-कभी उस असीम से मिल लेने का काल्पनिक सुख छायावादी कविताओं में व्यक्त हुआ है। मिलन का यह काल्पनिक सुख क्षणिक हैं, विरह की वेदना ही अधिक व्यक्त हुई है:

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात।
वेदना में जन्म करूणा में मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात,
जीवन विरह का जलजात।

यह संपूर्ण जीवन ही विरह का कमल हो गया है, जिसका जन्म वेदना से हुआ है और करूणा में ही जिसका घर है। दिन-रात रो-रोकर जीवन व्यतीत करना ही इस जीवन की कहानी है।

छायावादी काव्य में रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति और कई रूपों में हुई है। निराला के यहाँ यह रहस्य भावना प्रकृति के विराट स्वरूप में व्यक्त हुई है। "राम की शक्ति पूजा"

. में निराला प्रकृति में ही शक्ति का विराट रूप देखते हैं।

देखो, बंधुवर, सामने स्थिर जो यह भूधर
शोभित शत-हरित गुल्म-तृण से श्यामल सुंदर
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरंद-बिंदु
गरजता चरण-प्रांत पर सिंह वह, नहीं सिंधु
दशदिक समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
अंबर में हुए दिगंबर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव मंगल पद तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मंद हो रहा खर्व।

जयशंकर प्रसाद के यहाँ रहस्य भावना दार्शनिक धरातल पर व्यक्त हुई है। कामायनी में "मनु" का प्रकृति से साक्षात्कार, मनु के मन में काम का उदय तथा श्रद्धा द्वारा आकाश में ज्ञान, इच्छा और क्रिया का मिलन रहस्य भावना की ही अभिव्यक्ति है। लेकिन मुख्य बात यह है कि छायावाद के रहस्यवाद को धार्मिक, आध्यात्मिक या दार्शनिक धरातल पर नहीं समझा जा सकता।

### 23.3.4 प्रकृति-प्रेम

छायावादी कवियों के हृदय में मुक्ति की जिस आकांक्षा का उदय हुआ, उसने उन्हें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाया है। अपने आसपास के जीवन और जगत में जो बंधन और जकड़न कवियों को नजर आती थी, प्रकृति उससे सर्वथा मुक्त थी। इसलिए इन कवियों के लिए प्रकृति उनके हृदय की मुक्ति और स्वच्छंदता की प्रेरणा बन गयी। प्रकृति के साथ मनुष्य का गहरा रिश्ता है। आधुनिक जीवन ने प्रकृति को देखने-समझने की नयी दृष्टि प्रदान की। उन्होंने प्रकृति के महत्व को समझा, उसे अपना मित्र, सहचर प्रेयसी, माँ सब कुछ माना। प्रकृति उनके लिए उतनी ही प्राणवान और सजीव थी, जितना वह स्वयं। इसलिए छायावादी कवियों ने प्रकृति को न तो उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया और न ही अप्रस्तुत विधान के रूप में। उन्होंने प्रकृति के कण-कण से अपना रागात्मक संबंध जोड़ा। उसकी गतिविधियों को सूक्ष्मता से देखा और उन्हें नया अर्थ दिया। प्रकृति के विराट और सूक्ष्म दोनों रूपों को अपनी कविता का विषय बनाया। महादेवी प्रकृति की विराटता में जगजन्नी का साक्षात् रूप देखती है:

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अंकों में भर विशाल
झुक सस्मित शीतल चुंबन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल

छायावादी कवियों ने "प्रकृति के परिचित दृश्यों को नये रूप में देखा और अनेक अपरिचित तथा अदृश्य वस्तुओं पर भी दृष्टिपात किया।" (नामवर सिंह) उदाहरण के लिए संध्या का चिर-परिचित दृश्य निराला के यहां बिल्कुल नये रूप में अवतरित होता है:

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुंदरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किंतु गंभीर नहीं है उनमें हास-विलास।

(संध्या सुंदरी)

इस कविता में निराला ने संध्या को "सुंदरी" के रूप में अपूर्व सौंदर्य दिया है जो इससे पहले शायद ही किसी कवि ने दिया है। इसी तरह पंत के यहाँ प्रकृति के कई ऐसे मनोरम चित्र मिलते हैं जो इससे पूर्व कभी काव्य रूप में व्यक्त न हुए। जैसे ऊँचे पहाड़ों के बीच तैरते बादलों का यह दृश्य:

बादलों का छायामय मेल
घूमते हैं आंखों में फैल
अवनि औ अंबर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!

ऐसा ही समुद्र का रौद्र रूप प्रसाद की "कामायनी" में व्यक्त हुआ है। छायावादी कवियों ने "प्रकृति के विविध ऐंद्रिक बोध जगाने वाले दृश्यों का भी अंकन" किया है। "वर्ण, ध्वनि, गंध, स्पर्श और स्वाद संबंधी सूक्ष्म ऐंद्रिक बोध जगाने वाले" दृश्य छायावाद में पहली बार व्यक्त हुए। निराला की "बादल राग-I" कविता इस दृष्टि से अत्यंत प्रभावशाली है जहाँ कविता का छंद, लय और भाषा ही वर्षा का अनुपम ध्वनि चित्र हमारे सामने खड़ा कर देती है:

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर
राग-अमर अंबर में भर निज रोर
झर-झर-झर निर्झर-गिरि सर में
घर, मरु तरु मर्मर सागर में,
सरित-तड़ित गति चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रण घोर कठोर
राग-अमर अंबर में भर निज रोर

छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति के सूक्ष्म और नवीन सौंदर्य बोध की अभिव्यक्ति का कारण स्पष्ट करते हुए डॉ. नामवर सिंह कहते हैं, "प्रकृति ने मनुष्य में सौंदर्य बोध जगाया और मनुष्य ने उस सौंदर्य बोध के द्वारा प्रकृति में छिपे हुए नये-नये सौंदर्य का उद्घाटन किया।" वस्तुतः यह प्रकृति के साथ मनुष्य का नया रिश्ता था, जो छायावाद के माध्यम से व्यक्त हुआ।

### 23.3.5 नारी-स्वातंत्र्य की भावना

मध्ययुगीन काव्य में नारी या तो कामिनी के रूप में या फिर देवी के रूप में चित्रित हुई। नारी भी मानव है—यह भावना तो आधुनिक युग की ही देन है। द्विवेदीयुगीन साहित्य में नारी की दीन-हीन दशा को कविता का विषय बनाया गया परंतु वहां कवि का भाव दया ही अधिक था। नारी के प्रति प्रेम को सहज रूप से स्वीकार करना और उसे उतनी ही सहजता से कविता में प्रस्तुत करना छायावाद में ही संभव हुआ। नारी को अपनी ही तरह मानवी मानना, उसे अपना सहचर और मित्र समझना आधुनिक शिक्षा का परिणाम था। जहाँ एक ओर नये विचारों ने नारी के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन किया, वहीं दूसरी ओर स्वयं नारी की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। लड़कियों में शिक्षा का प्रसार बढ़ा। शिक्षित स्त्रियाँ घर की सीमा रेखा लांघ कर नौकरियों और सामाजिक कार्यों में आगे आने लगीं। पुरुषों को भी यह अवसर प्रदान किया कि वे स्त्री के प्रति अपने परंपरागत दृष्टिकोण को बदलें।

छायावाद ने पहली बार स्त्री और पुरुष के प्रेम को वैयक्तिक भावनाओं के धरातल पर देखा। अब स्त्री "पत्नी", "देवी", "कामिनी", "दासी" के रूप में नहीं वरन् प्रेयसि, प्रियतम, सखि जैसे रूप में सामने थी। इन संबोधनों में कहीं बराबरी का भाव था। उसे अपने चरणों की दासी या पूजनीया समझने की बजाए अपने हृदय में उसे स्थान दिया।

छायावादी कवियों ने प्रेम को उच्च स्थान दिया, उस पर स्वतंत्र रूप से कविताएं लिखीं। प्रसाद ने तो "कामायनी" में काम को जीवन की मूल शक्ति माना है जो मनु में एक ओर जीवन की लालसा उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर कर्म की प्रेरणा भी देता है।

प्रेम की प्रति इस बदले हुए दृष्टिकोण ने प्रणय संबंधी कविताओं को भी नवीन रूप दिया। छायावादी प्रेम कविताओं में भावनाओं का आवेग और संबंधों की प्रगाढ़ता का पता चलता है। प्रसाद की प्रणय संबंधी रचनाओं में माधुर्य की प्रधानता है तो निराला की कविता में उद्दाम आवेग। पंत की प्रेम कविताओं में भावों की सरलता और तरलता है। प्रेम का स्वरूप बदला तो छायावाद में नारी-सौंदर्य को देखने की दृष्टि भी बदली। छायावादी नारी के सौंदर्य में शरीर से अधिक भावों की प्रधानता है। जब मनु पहली बार श्रद्धा को देखते हैं

तो उसका सौंदर्य स्थूल से अधिक भाव रूप में ही सामने आता है:

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग

इस प्रकार छायावाद में नारी सौंदर्य में स्थूलता और शारीरिकता की अपेक्षा कल्पनाशीलता और भावात्मकता की प्रधानता है। छायावादी कविता में नारी को समानता का दर्जा तो प्राप्त हुआ परंतु मुख्य रूप से वह प्रेयसि के रूप में ही उपस्थित हुई। नारी के अन्य रूप प्रायः छायावादी कवियों की नजरों से ओझल ही रहे।

### 23.3.6 राष्ट्रीय भावना

मुक्ति की जो आकांक्षा छायावादी कवियों की मुख्य प्रेरणा थी, उसने केवल वैयक्तिक भावनाओं के क्षेत्र में ही कवि को बंधन मुक्त नहीं किया वरन् उसे यह भी समझ दी कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र के बंधनों से भी वह मुक्त हो। यही कारण है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना कई रूपों में व्यक्त हुई है। यद्यपि छायावादी कवियों ने सीधे-सीधे राजनीतिक कविताएं बहुत कम लिखी हैं परंतु राष्ट्र प्रेम और स्वतंत्रता की भावना को व्यक्त करने वाली कविताएँ काफी रची हैं। पराधीनता सबसे पहले राष्ट्र के गौरव पर चोट करती है और जब मुक्ति की आकांक्षा उत्पन्न होती है तो व्यक्ति को सबसे पहले अपने राष्ट्र के प्रति गौरव का भाव उत्पन्न करना होता है। वर्तमान में हम भले ही गुलाम हों लेकिन हमारा अतीत सदैव ऐसा ही नहीं रहा है। यही पुनरुत्थान भावना है जो छायावादी काव्य में भी व्यक्त हुई है। प्रसाद के नाटकों में तो हम इसे पाते ही हैं उनकी कई कविताओं में भी यह भाव व्यक्त हुआ है। "पेशोला की प्रतिध्वनि" और "शेरसिंह का शस्त्र समर्पण" ऐसी ही दो कविताएं हैं। निराला की प्रसिद्ध रचनाओं "छत्रपति शिवाजी का पत्र" और "जागो फिर एक बार" में अतीत की घटनाओं के माध्यम से राष्ट्र का आह्वान किया गया है कि वह गुलामी की जंजीरों को काट डाले। निराला का खंडकाव्य "तुलसीदास" में भी कवि ने तुलसीदास के माध्यम से पराधीनता से संघर्ष का आह्वान किया है। ध्यान देने की बात यह है कि छायावादी कवियों ने अतीत से प्रेरणा अवश्य ली, परंतु अतीत की ओर लौटने की बात कभी नहीं कही।

राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति छायावादी कवियों में सीधे-सीधे देश प्रेम की कविताओं के माध्यम से भी हुई है। लेकिन यह देश प्रेम संकीर्ण नहीं है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में "विश्व मानवतावाद की विराट भावना ने देश प्रेम की प्राचीन संकीर्णता को दूर कर उसके क्षितिज का विस्तार किया।" प्रसाद का यह गीत इस दृष्टि से उल्लेखनीय है:

अरूण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।

छायावादी कवियों ने स्वतंत्रता का भी आह्वान किया। छायावादी कवियों ने इस स्वतंत्रता की भावना को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी देखा। उन्होंने गरीब और उत्पीड़ित लोगों के दुःख दर्द को भी वाणी दी। निराला की "दान", "भिक्षुक", "तोड़ती पत्थर" आदि कविताएं उनकी इसी भावना का प्रतिबिंब है। एक ओर गरीब पीड़ा झेलता है दूसरी ओर अमीर सुख वैभव में डूबे रहते हैं। इस सामाजिक विषमता को देखकर तो निराला ने 1923 में ही क्रांति का आह्वान कर दिया था:

रुद्ध कोष है क्षुब्ध तोष
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल।
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।

जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
हे विप्लव के वीर!

छायावाद के इसी धरातल से प्रगतिवाद का विकास हुआ।

---

**बोध प्रश्न**

3) निम्नलिखित कथनों में सही कथन पर (✓) और गलत कथन पर (✗) का चिह्न लगाइए।

क) छायावादी काव्य मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित काव्य है। **(सही/गलत)**
ख) छायावादी काव्य में नारी के कामिनी रूप को प्रधानता मिली है। **(सही/गलत)**
ग) छायावादी काव्य में प्रकृति आलंबन रूप में व्यक्त हुई है। **(सही/गलत)**
घ) छायावादी काव्य आत्म-प्रसार का काव्य है। **(सही/गलत)**

4) निम्नलिखित में से सही उत्तर कोष्ठक में लिखिए।
छायावादी कवियों में रहस्य भावना व्यक्त हुई है:
क) असीम के प्रति जिज्ञासा के रूप में
ख) असीम से मिलन की इच्छा के रूप में
ग) असीम से मिलन के काल्पनिक सुख के रूप में
घ) उपर्युक्त सभी रूपों में ( )

5) छायावादी कवियों में मुक्ति की आकांक्षा क्यों उत्पन्न हुई? उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

2) छायावादी काव्य को आत्माभिव्यक्ति का काव्य क्यों कहा गया है? स्पष्ट कीजिए। उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 23.4 छायावाद की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ

छायावादी कविता ने जो नया भाव-बोध और नया सौंदर्य बोध दिया उसने हिंदी कविता को शिल्प के क्षेत्र में भी नवीनता प्रदान की। भाव ने भाषा, छंद, रूप और शैली में भी नवीन

परिवर्तन किये। लेकिन यह नवीन परिवर्तन उस शक्ति के द्वारा संपन्न हुआ जिसे हम कल्पना कहते हैं।

### 23.4.1 कल्पना का नवोन्मेष

छायावाद स्वाधीनता की भावना का काव्य है। उस युग में भले ही राजनीतिक स्वतंत्रता न प्राप्त हुई हो परन्तु कवि का हृदय मानसिक रूप से स्वतंत्र हो चुका था। स्वाधीन मानस ने कवियों की भावनाओं और विचारों को असीम विस्तार दिया। जिस प्रकार बांध टूटने से नदी का पानी तीव्र वेग से बहता है उसी तरह छायावादी कवियों में भी भावनाओं का आवेग फूट पड़ा। भावावेग की तीव्रता ने छायावादी कवियों को संवेदनशील बनाया। वह अपने आसपास के जीवन-जगत् को गहरी संवेदना के साथ देखने-परखने लगा। जिज्ञासा और कुतूहल का भाव इसीलिए छायावाद में प्रधान हो गया। जिज्ञासा ने कवियों को कल्पनाशील बनाया। नामवरसिंह ने अनुसार "तीव्र भावावेग में ही उदात्त कल्पना का जन्म होता है।" उन्हीं के अनुसार, "भावावेग जितना ही तीव्र होता है, अप्रस्तुत चीजों का रूप उतना ही अद्‌भुत और असामान्य होता है, और फिर ये अद्‌भुत तथा असामान्य चित्र हृदय में नये ढंग का आह्लाद और कंपन उत्पन्न करते हैं। संवेदना कल्पना को जाग्रत करती है और कल्पना संवेदना में वृद्धि करती है।"

छायावादी कवियों ने कल्पना की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पंत "पल्लव" ने कविताओं को "कल्पना के ये चिह्वल बाल" कहा तो निराला ने कविता को "कल्पना के कानन की रानी" कहा। इस कल्पना शक्ति ने छायावादी कवियों को वास्तविक जगत् को देखने की नयी दृष्टि प्रदान की। उन्होंने प्रकृति के विविध रूपों को व्यक्त करने के लिए ऐसे नवीन अप्रस्तुतों की योजना की है, जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

मूर्त प्रस्तुत को अमूर्त प्रस्तुत से चित्रित करने की प्रवृत्ति इसी कल्पनाशक्ति का परिणाम है। पंतजी की "बादल" कविता का यह अंश देखिए:

धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर

जिन रूपों, वस्तुओं और घटनाओं को आम आदमी बाह्य रूप में ही देख पाता था, छायावादी कवियों ने अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से उनका आंतरिक स्वरूप उद्‌घाटित किया। छायावाद की इस कल्पनाशक्ति ने उनको विश्व-दृष्टि प्रदान की। उन्हें संपूर्ण जगत् में एक ही प्राण-शक्ति के दर्शन हुए। भेद से अभेद की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, सीमा से असीम की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर उनका प्रसार इसी कल्पना शक्ति के कारण हुआ। इसी ने उन्हें नये रूप और नयी शैली खोजने को प्रेरित किया। नयी भाषा और नये छंदों को सृजित करने की प्रेरणा दी। छायावाद के योगदान को इसी कल्पना के नवोन्मेष द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है।

### 23.4.2 काव्य-भाषा

द्विवेदीयुग में यह तो तय हो गया था कि पद्य की भाषा खड़ी बोली हो। लेकिन द्विवेदी युग की प्रवृत्ति के अनुकूल ही इस युग की काव्यभाषा में गद्यात्मकता के गुण अधिक थे। द्विवेदी युग की भाषा विश्लेषणात्मक, शुष्क और विचार-प्रधान थी। जबकि छायावादी कवि संवेदनशील, भावुक और कल्पनाजीवी था। उसकी प्रवृत्ति स्वच्छंद थी तथा कोमलता, सुंदरता और भावप्रवणता की ओर उसका झुकाव था। इसलिए उसके लिए यह जरूरी था कि वह द्विवेदी युग से प्राप्त काव्य-भाषा को नया रूप प्रदान करे। द्विवेदी युग की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य था, लंबे समास वाले पदों के कारण भाषा जटिल हो गयी थी। छायावादी कवियों ने यद्यपि संस्कृत शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया परन्तु शब्द चयन में उन्होंने अपनी प्रवृत्ति का ध्यान रखा। इसी तरह लंबे समास पदों की बजाए छंद और लय के अनुकूल पद-रचना पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया।



छायावादी कवियों ने कोमल, सरस और सरल शब्दों के चयन की प्रवृत्ति दिखाई।

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुग जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन।

छायावादी कवियों की पद-रचना पर बंगला कविता, विशेष रूप से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पद रचना का प्रभाव माना गया है। "जूही की कली" (निराला) के उदाहरण से नामवर सिंह ने इस प्रभाव का विवेचन किया है। उनके अनुसार "विजय-वन-वल्लरी", "स्नेह-वन-वल्लरी", "स्नेह-स्वप्न-मग्न", "अमल-कोमल-तन", "कुंज-लता-पुंज", "उपवन-सर-सरित् गहन गिरि कानन" जैसे पद रचनाओं के पीछे रवीन्द्रनाथ का काव्य ही प्रेरक है।

छायावादी कवियों ने यद्यपि आरंभ में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया और उनको छायावादी रूप प्रदान किया अर्थात् उनका प्रयोग नवीन भावों और रूपों में किया। लेकिन बाद में उन्होंने तद्भव शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दिखाई। उन्होंने कई तत्सम शब्दों को नये तद्भव रूप भी दिये। उन्होंने कभी-कभी देशज शब्दों का प्रयोग भी किया।

छायावादी कवियों का काव्य-संस्कार अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य से भी निर्मित हुआ था इसलिए उनकी भाषा पर इन कवियों की पद-रचना का भी प्रभाव है। विशेष रूप से पंत की कविता पर यह प्रभाव अधिक दिखाई देता है। ब्रोकेड हार्ट के लिए भग्न हृदय, हेवेन्ली लाइट के लिए "स्वर्गीय प्रकाश", "गोल्डेन ड्रीम", के लिए "सुनहला स्वप्न" ऐसे ही प्रयोग हैं।

छायावादी कवि शब्दों के चयन में उसके अर्थ की ओर विशेष रूप से सजग रहते थे, इसलिए एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों में सूक्ष्म अर्थ भेद को ध्यान रखकर वे उसके अनुकूल उनका प्रयोग करते थे। इसी तरह शब्दों के चयन में छायावादी कवि उसके नाद-सौन्दर्य पर भी ध्यान देते थे। इसके लिए वे अनुप्रास का सहारा लेते थे। छायावादी कवि यह अवश्य ध्यान रखते थे कि कविता को पढ़ते हुए कोई शब्द कर्ण-कटु न लगे और जो प्रभाव वे उत्पन्न करना चाहते थे, शब्द ठीक वही प्रभाव उत्पन्न करें।

शब्दों के चयन में छायावादी कवियों की रुचि एक सी नहीं थी। डॉ. नामवर सिंह ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "हर छायावादी कवि के अपने कुछ प्रिय शब्द हैं और उन शब्दों से उनकी पूरी प्रवृत्ति का पता चलता है। पंत के शब्द अरूप और वायवी अधिक है क्योंकि वे कल्पना प्रधान थे। प्रसाद के शब्द मधु की तरह प्रगाढ़ अधिक है क्योंकि वह गहन अनुभूतियों के कवि थे। निराला के शब्द अनेक प्रकार के हैं क्योंकि उनमें प्रवृत्ति बहुलता है—कहीं उनकी पदावली विराटता का बोध कराती है, कहीं विद्रोह का और कहीं गाढ़ता का। महादेवी की पदावली से अतिशय अलंकृति का आभास मिलता है। पंत के शब्द यदि कुसुम हैं तो महादेवी के पद माणिक्य। महादेवी के शब्दों में "रत्नों" की-सी चमक, कठोरता तथा कटा-छँटापन मिलता है, इससे उनके स्वभाव के अतिशय परिष्कार तथा तराश का बोध होता है।

### 23.4.3 छंद से मुक्ति

छायावादी कवियों की भावाओं में जो विशिष्टता थी, उसका प्रभाव उनके वाक्य-विन्यास और छंद-विधान पर भी पड़ा। छायावादी काव्य चूंकि भावावेश का काव्य है इसलिए उसके छंदों में प्रगीतात्मकता की प्रधानता है। अपनी नवीन भावनाओं के अनुकूल छायावादी कवियों ने नये छंदों की खोज की। आरंभ में खड़ी बोली कविता के लिए संस्कृत, फारसी तथा रीतिकालीन छंदों का प्रयोग किया गया था, परन्तु यह द्विवेदी युग में ही स्पष्ट हो गया था कि खड़ी बोली इन पुराने छंदों के अनुकूल नहीं है। हिंदी के आरंभिक स्वच्छंतावादी कवि यथा श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी ने हिंदी के लिए लोकप्रचलित छंदों का इस्तेमाल किया। छायावादी कवियों ने भी इसी का अनुसरण किया इसके लिए लावनी, आल्हा आदि लोक छंदों का प्रयोग किया। छायावादी कवियों ने इन

छंदों को नया रूप प्रदान किया। उनमें तरह-तरह के नये प्रयोग किये। आज उन प्रयोगों को देखकर यह पहचानना कठिन है कि इनका संबंध आल्हा या लावनी से है। "कामायनी" में "आल्हा" के कई रूप प्रसाद जी ने प्रयुक्त किये हैं। पंत ने "लावनी" का ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग किया है।

छंदों की दृष्टि से सबसे अधिक प्रयोग निराला ने किये हैं। उन्होंने लोकगीतों का भी प्रयोग किया है। छायावादी कवियों ने कुछ रीतिकालीन छंदों का भी प्रयोग किया है, लेकिन उन्हें भी आधुनिक रूप देकर। जैसे "रोला" का प्रयोग छायावाद में काफी किया गया है। पंत ने "परिवर्तन" इसी छंद में लिखा है। प्रसाद की "कामायनी" का "संघर्ष" सर्ग इसी छंद में है। प्रसाद का "आँसू" सखी छंद में है, कामायनी का "आनंद" सर्ग भी इसी में है। महादेवी ने "नीहार" और "रश्मि" में इस छंद में कुछ गीतों की रचना की है। प्रसाद के "आंसू" में इसका सर्वाधिक सफल प्रयोग है:

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी

छायावादी कवियों ने नये-पुराने छंदों का प्रयोग केवल प्रयोग के लिए नहीं किया था वरन् यह ध्यान रखकर किया था कि कौन-सा छंद किस भाव के लिए उपयुक्त है।

छंद के क्षेत्र में छायावाद का सबसे बड़ा योगदान है मुक्त-छंद। अर्थात् छंद के बंधन से मुक्ति। मुक्त छंद-छंद के बाह्य आडंबर अर्थात् तुक और मात्रा की गिनती, सम-विषम चरण से मुक्त अवश्य है लेकिन कविता की आत्मा लय से मुक्त नहीं है। हिंदी में मुक्त छंद की शुरुआत निराला की कविता "जूही की कली" से हुई है। यद्यपि इस कविता की लय घनाक्षरी की है परन्तु इसके चरण विषम हैं और तुक भी नहीं है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, "मुक्त यह इसी बात में है कि भावावेग के अनुकूल इसके चरणों का विस्तार या संकोच किया गया है।"

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बंद किये, शिथिल-पत्रांक में
वासंती निशा थी।

स्पष्ट ही इस कविता को अगर पूरी तरह घनाक्षरी में बांध दिया जाता तो वह सौंदर्य उत्पन्न न होता जो इस कविता में अब विद्यमान है। मुक्त छंदों का प्रयोग छायावादी कवियों ने उसी भाव-स्वच्छंदता की भावना से किया था, जो उनके काव्य की मुख्य प्रेरणा रहा है।

छायावादी कवियों ने गीतों और प्रगीतों की भी रचना की है। निराला, महादेवी वर्मा ने इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचनाएँ दी हैं। भावावेग की रचनाएँ प्रगीतात्मकता के ही अनुकूल होती है। यही कारण है कि छायावादी कविता में महाकाव्य लिखने की ओर प्रवृत्ति कम रही। "कामायनी" में महाकाव्यात्मकता से अधिक प्रगीतात्मकता है।

छंद के क्षेत्र में छायावाद का योगदान अभूतपूर्व है। इस क्षेत्र में भी प्रत्येक कवि का अपना वैशिष्ट्य है। भाव क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र में भी सबसे अधिक प्रयोग निराला ने किये हैं। परंपरागत छंदों से लेकर मुक्त छंद तक की इस यात्रा ने हिंदी कविता को समृद्ध और सुंदर बनाया है।

### 23.4.4 बिंब और प्रतीक

बिंब काव्य का एक ऐसा अंग है जिसका सौंदर्य सबसे पहले आकृष्ट करता है। छायावादी कवियों का प्रकृति से गहरा लगाव था—इसलिए उन्होंने अधिकांश बिंब प्रकृति से चुने हैं। प्रकृति के अतिरिक्त उन्होंने इतिहास, पुराण, धर्म तथा दर्शन आदि से भी बिंब चुने हैं। प्रसाद की कविताओं में अतीत से लिए गये ऐसे चित्र बहुत हैं। डॉ केदारनाथ सिंह के

अनुसार, "उन्होंने प्रायः प्राचीन संस्कृत कवियों के परंपरागत बिंबों को एक नया रूप देकर आधुनिक साँचे में ढाल दिया है। इससे उनके बिंबों में एक प्रकार का गहन क्लासिकल रंग आ गया है।" निराला उद्दाम भावावेग के कवि हैं इसलिए उनके बिंब भी प्रायः ऐसे हैं जो तीव्र भावावेग को जगा सके। डॉ. केदारनाथ सिंह के अनुसार, "व्यापकता की दृष्टि से निराला के बिंब आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। अकेले निराला ही ऐसे हैं, जिनकी कविताओं में अत्याधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्रों से गृहीत बिंब भी कभी-कभी मिल जाते हैं।" पंत की रुचि "चित्रण के कौशल" में अधिक है। इसलिए वे बिंबों का चयन करते हुए उसके ऐन्द्रिय बोध की ओर अधिक सजग रहते हैं। महादेवी का अनुभव संसार विस्तृत नहीं है इसलिए उनकी कविताओं में प्रयुक्त बिंब भी अधिक नहीं है और उनका भी इतनी बार दोहराव है कि वे प्रतीक-सा अर्थ देने लगते हैं।

छायावादी कवियों में प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति अधिक नहीं है परन्तु शुक्ल जी के शब्दों में "आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की असली विशेषता है।" डॉ. नामवर सिंह का भी मानना है कि "कल्पना प्रधान काव्य में अनूठी उपमाओं और प्रतीकों का बाहुल्य तथा भाव-विदग्ध हृदय से लाक्षणिक वक्रता-भरी भाषा का निकलना स्वाभाविक है।"

महादेवी के गीतों में प्रकृति से लिये गये प्रतीकों का प्रयोग काफी है। दीप, बादल, समीर, झंझा, फूल ऐसे ही प्रतीक हैं जो हृदय की वेदना, विरह, मिलन आदि भावों को व्यक्त करते हैं। प्रसाद के यहाँ "कामायनी" में तो प्रायः सभी प्रमुख पात्र प्रतीकात्मक अर्थ भी रखते हैं यहाँ तक कि देव-सभ्यता, सारस्वत नगर, हिमालय, कैलास, प्रलय, संघर्ष इत्यादि भी प्रतीकों की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

छायावादी की भाषा शैली के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी के इस काव्यांदोलन ने हिंदी काव्य परंपरा को कला का भी उत्कर्ष सोपान प्रदान किया।

---

**बोध प्रश्न**

6) निम्नलिखित कथनों में से सही कथन के आगे (✓) और गलत कथन के आगे ( ✗ ) का चिह्न लगाइए।

क) तीव्र भावावेग में ही उदात्त कल्पना का जन्म होता है। (सही/गलत)
ख) छायावाद में भाव, छंद और लय के अनुरूप पद रचना की प्रवृत्ति दिखाई देती है। (सही/गलत)
ग) मुक्त-छंद में लय का निषेध किया गया है। (सही/गलत)
घ) निराला को मुक्त छंद का प्रवर्तक माना जाता है। (सही/गलत)
ङ) छायावादी कवियों में सामाजिक जीवन से लिये गये बिंब अधिक हैं। (सही/गलत)

7) निम्नलिखित में से सही कथनों के आगे (✓) का चिह्न लगाइए।
छायावादी कविता में:

क) संस्कृत के छंदों का अनुसरण किया गया। ( )
ख) फारसी के छंदों का अनुसरण किया गया। ( )
ग) लोक प्रचलित छंदों को नया रूप दिया गया। ( )
घ) कुछ मध्ययुगीन छंदों को नये रूप में प्रयुक्त किया। ( )
ङ) मुक्त-छंद का प्रयोग किया गया। ( )

8) छायावादी काव्य-भाषा की कम-से-कम तीन विशेषताएँ बताइए।

.....
.....
.....



**अभ्यास**

3) छायावाद में कल्पना के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि इसने

छायावादी कविता को किस सीमा तक प्रभावित किया ? उत्तर लगभग दस पंक्तियों में लिखिए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 23.5 प्रमुख छायावादी कवि

छायावाद के प्रमुख कवियों में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला", सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा की ही गणना होती है। यद्यपि इस अवधि में कई अन्य कवि भी रचनारत थे और जिन पर छायावादी भावबोध का प्रभाव भी था। ऐसे कवियों में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक, रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं। हम यहाँ प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के योगदान की ही चर्चा करेंगे।

### 23.5.1 जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद (1889-1937) ने काव्य रचना का आरंभ ब्रजभाषा से किया और उनकी आरंभिक रचनाएं रीतिकालीन ढंग की हैं जो उनके काव्य-संग्रह "चित्राधार" (1918) में संकलित हैं। लेकिन प्रसाद शीघ्र ही नवीन काव्य-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो गये। उन्होंने खड़ी बोली में रचना भी साथ-ही-साथ आरंभ कर दी थी और खड़ी बोली में लिखी कविताओं का पहला संग्रह "कानन कुसुम" 1913 ई. में प्रकाशित हुआ था। प्रसाद ने संस्कृत, बंगला और यूरोप के स्वच्छंदतावादी काव्य से प्रेरणा ग्रहण की है। परंतु, इन प्रभावों से कहीं अधिक उन पर संपूर्ण भारतीय परंपरा का प्रभाव है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "भारतीय परंपरा और भारतीय संस्कृति का प्रेम ही उन्हें अतीत की ओर खींचता है। नाटकों में वे देश के अतीत की ओर जाते हैं। "कामायनी" में भी अतीत की ओर जाते हैं तथा "आँसू" में अपने ही प्रेम के अतीत में जाते हैं। यह अतीत प्रेम कवि प्रसाद की एक विशेषता है। यह अतीत प्रेम नहीं बल्कि संस्कृति का प्रेम है।"

प्रसाद छायावाद के सर्वप्रमुख कवियों में से हैं परंतु वे उद्दाम भावावेग के कवि नहीं हैं। उनके काव्य में "क्लासिकीय गरिमा हैं"। उनके काव्य में चिंतन की भी प्रधानता है। वे प्रेम और सौन्दर्य के भी कवि हैं। "आँसू" प्रेम की मधुर स्मृतियों की अभिव्यंजना करने वाला काव्य है। छायावादी भावबोध की रचनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं: झरना (1918), आँसू (1933) और लहर (1933)।

प्रसाद में राष्ट्रीय गौरव का भाव भी बहुत गहराई तक समाया हुआ था। नाटकों के अतिरिक्त उनकी कई कविताओं में भी यह भाव व्यक्त हुआ है। "शेरसिंह का शस्त्र समर्पण" "पेशोला की प्रतिध्वनि" और "महाराणा का महत्व" इसी तरह की रचनाएँ हैं।

प्रसाद की श्रेष्ठता का एक और प्रमाण "कामायनी" (1935) है जो आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें रूपक शैली में मानव चेतना का विकास अत्यंत प्रभावशाली रूप में दिखाया गया है। मनु और श्रद्धा के माध्यम से मानव विकास के अनेक सोपानों को

स्पष्ट किया गया है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में "कामायनी मानव चेतना के विकास का महाकाव्य है अथवा मानव सभ्यता के विकास का यह विराट रूपक, साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है, एक अद्भुत उपलब्धि है।"

### 23.5.2 सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" (1899-1961) की आरंभिक रचना "जूही की कली" को "सरस्वती" संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लौटा दिया था, यही रचना बाद में "छायावाद और मुक्त छंद की पहली रचना स्वीकार की गयी।" निराला का पहला काव्य संकलन "अनामिका" 1922 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें केवल सात कविताएं थीं। निराला की प्रतिनिधि कविताओं का संकलन "परिमल" 1930 में प्रकाशित हुआ। गीतिका (1937) निराला के 101 गीतों का संकलन है। 1938 में उन्होंने महाकवि तुलसीदास के जीवन पर आधारित खंडकाव्य "तुलसीदास" लिखा। उनकी व्यंग्य कृति "कुकुरमुत्ता" 1942 में प्रकाशित हुई। 1943 ई. में अणिमा, 1946 में "बेला" और "नये पत्ते" संकलन प्रकाशित हुए। अर्चना (1950), आराधना (1953) और गीतकुंज (1954) उनके अंतिम दौर के काव्य संकलन हैं। "सांध्य काकली" अंतिम काव्य-संग्रह है जो उनकी मृत्यु के उपरांत प्रकाशित हुआ।

निराला का संपूर्ण काव्य संघर्ष और विद्रोह का काव्य है। उन्हें जीवन-पर्यंत कष्टों और अभावों का जीवन जीना पड़ा। जिसकी प्रतिच्छाया उनके काव्य में दिखाई देती है। "उन्होंने जीवन भर सामाजिक-आर्थिक शोषण और निरर्थक परंपराओं का विरोध किया, जीवन भर अंधकार की भयंकर शक्तियों से जूझते रहे, लेकिन झुके नहीं। संघर्षों ने उन्हें विद्रोही बना दिया था। उनका सारा जीवन और साहित्य इसी विद्रोह की भूमि पर पनपा है"। (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी)

रामचंद्र शुक्ल ने अपने "इतिहास" में निराला के बारे में लिखा था कि उनमें "बहुवस्तुस्पर्शिनी" प्रतिभा है। निराला के काव्य में भावबोध और कला दोनों ही स्तरों पर अन्य छायावादी कवियों की तुलना में कहीं अधिक वैविध्य मिलता है। उनके काव्य में जीवन-संघर्ष की अभिव्यक्ति है तो जीवन के उल्लास का भी वर्णन मिलता है। वे सामाजिक यथार्थ को कविता का विषय बनाते हैं तो प्रकृति-चित्रण में भी निपुण हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए लिखा है—"निराला के काव्य" में एक ओर उल्लास है तो दूसरी ओर अवसाद। एक ओर जीवन की चाह है तो दूसरी ओर मृत्यु की शांति। एक ओर क्रांति है तो दूसरी ओर प्रपत्ति। एक ओर प्रकृति प्रेम तो दूसरी ओर सामाजिक क्रांति"। कला के क्षेत्र में विविधता का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं, "एक ओर उन्होंने छोटे-छोटे मुक्तक लिखे हैं तो दूसरी ओर लंबी कथात्मक कविताएं। एक ओर छंदोबद्ध रचनाएं तो दूसरी ओर मुक्त छंद। एक ओर समाज पदावली तो दूसरी ओर सपाटबयानी"। निराला के काव्य का यह वैविध्य उनके बहु आयामी व्यक्तित्व की देन है।

### 23.5.3 सुमित्रानंदन पंत

सुमित्रानंदन पंत (1900-1977) ने अपने लेखन का आरंभ 1916-18 के आसपास किया था। उनकी पहली प्रकाशित रचना "उच्छ्वास" है। पंत की 1918-19 के बीच की कविताएं "वीणा" नाम काव्य-संकलन में प्रकाशित हुई हैं जो 1927 में प्रकाशित हुआ। "पल्लव" का प्रकाशन 1926 ई. में हुआ। "ग्रंथि" नामक छोटा-सा काव्य 1920 ई. में रचा गया। इसके बाद "गुंजन" (1932) प्रकाशित हुआ जिसमें 1926 ई. से 1931 ई. तक की रचनाएं संकलित हैं। "ज्योत्सना" पंत की काव्य नाटिका है जो प्रतीकात्मक है और पांच अंकों में विभाजित है। "वीणा" से "ज्योत्सना" तक की रचनाओं को पंत की काव्य-यात्रा का पहला चरण माना जाता है और इसे स्वच्छंदतावादी या छायावादी चरण कहा गया है।



पंत के काव्य का दूसरा चरण प्रगतिशीलता से प्रभावित है यद्यपि "परिवर्तन" जैसी कविताओं में उसका आभास पहले चरण में भी मिल चुका है। "युगांत" (1936), "युगवाणी" (1939) और "ग्राम्या" (1949) की रचनाएं इसी प्रगतिशील चरण की कविताएं हैं।

सन् 1940 के आसपास पंत अरविंद दर्शन से प्रभावित हुए और उनका झुकाव अध्यात्म की ओर हो गया। यह पंत की काव्य-यात्रा का तीसरा चरण माना जाता है। स्वर्ण किरण (1947), स्वर्णधूलि, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, सौवर्ण, अतिमा (1955), वाणी (1958) आदि इस आध्यात्मिक काव्य चरण की कविताएं हैं।

पंत जी का संपूर्ण काव्य प्राकृतिक सौंदर्य एवं शिवम् का सम्मिलित रूप है। जीवन के यथार्थ को पंतजी ने इन्हीं का सहज परिणाम माना है। मानव और प्रकृति की सर्वतोमुखी अभिन्नता पंत जी के कृतित्व का केंद्रीय भाव है। पंतजी में यद्यपि समय के अनुकूल अनेक परिवर्तन आये हैं, परंतु उनके काव्य कृतित्व में तरल भावावेग, सम्मोहित कर देने वाली कल्पना और मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य सर्वत्र व्याप्त हैं। वे मूलतः सौंदर्य के कवि हैं और यह गुण ही विभिन्न चरणों में अलग-अलग रूपों में व्यक्त हुआ है। पंतजी का सौंदर्य प्रकृति की भव्यता और मानव-प्रेम पर आधारित है। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर राग-तत्व कम होता गया, पंतजी की काव्योत्कृष्टता प्रभावित हुई है। पंत जी ने स्वयं भी इसका अनुभव किया है। परवर्ती काव्य में इसकी पूर्ति वे कल्पना-वैभव, भाषा सौष्ठव और अभिनव-शिल्प द्वारा करते रहे हैं।

### 23.5.4 महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा (1907-1987) यद्यपि छायावादी काव्यधारा में कुछ देर से प्रविष्ट हुई परंतु उनके काव्य के बिना छायावाद का अध्ययन अधूरा ही कहा जाएगा। महादेवी का प्रथम काव्य-संकलन "नीहार" 1930 में प्रकाशित हुआ जब छायावाद का सर्वोत्तम प्रकाश में आ चुका था। उनके काव्य संग्रह हैं—रश्मि (1932 ई.), नीरजा (1934 ई.) और सांध्यगीत (1936 ई.) बाद में ये चारों संग्रह "यामा" नामक संकलन में संग्रहीत होकर एक साथ प्रकाशित हुए।

महादेवी का काव्य नारी की वेदना और आत्म-पीड़ा की अभिव्यक्ति है। वे इस वेदना को चूंकि आध्यात्मिक शब्दावली में प्रस्तुत करती हैं इसलिए उनके काव्य को "रहस्यवाद" की संज्ञा दी गयी है। महादेवी के गीतों का प्रमुख स्वर आंतरिक मधुर वेदना है। ये सभी गीत भाव एवं शिल्प के स्तर पर मर्मस्पर्शी हैं। उनमें प्रमुख रूप से नारी वेदना की स्मिता का चित्रण है जो प्रायः विश्वव्यापी बन जाता है। व्यक्तिगत माध्यम से जन्मी वेदना विश्वजनीन हो जाती है। विवशता, एकांकीपन और निस्सहायता मुखर हो उठता है। महादेवी के काव्य पर बुद्ध के दुःखवाद का भी असर है।

---

**बोध प्रश्न**

9) निम्नलिखित में से सही कथन चुनिए और उनके आगे (✓) का चिह्न लगाइए।

क) निराला का काव्य संघर्ष और विद्रोह का काव्य है। ( )

ख) सुमित्रानंदन पंत के आरंभिक काव्य में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा और कुतूहल का भाव व्यक्त हुआ है। ( )

ग) प्रसाद के काव्य में रहस्यवाद की प्रधानता है। ( )

घ) महादेवी वर्मा के काव्य में चिंतन की प्रधानता है। ( )

10) प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के काव्य की एक-एक ऐसी विशेषता बताइए जो अन्य कवियों में उतनी प्रमुखता से व्यक्त न हुई हो।

जय शंकर प्रसादः .....

.....

सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला": .....

.....

सुमित्रानंदन पंतः .....

.....

महोदवी वर्माः .....

.....

अभ्यास

4) छायावाद के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर उसके महत्व को प्रतिपादित कीजिए। उत्तर लगभग सौ शब्दों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 23.6 सारांश

- इस इकाई में आपने हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के अंतर्गत "छायावाद" नामक काव्यधारा से परिचय प्राप्त किया है। छायावाद आधुनिक हिंदी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है जिसका उदय 1916-18 के आसपास हुआ और 1935-36 में प्रगतिवाद के उदय के साथ इसका पर्यवसान हो गया। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता से भिन्न यह वैयक्तिक भावनाओं का काव्य था। मुक्ति की जो आकांक्षा उस युग की नयी पीढ़ी में पैदा हुई थी, वही काव्य के रूप में "छायावाद" बनकर अवतरित हुई। छायावाद प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की राष्ट्रीय परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम था। आप इस इकाई को पढ़कर छायावाद की पृष्ठभूमि को स्पष्ट कर सकते हैं।

- छायावादी काव्य मुक्ति का, स्वाधीनता का काव्य है। वह वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का काव्य है। आत्माभिव्यक्ति और आत्म-प्रसार का काव्य है। इसी मुक्ति की अभिलाषा ने छायावादी कवियों को प्रकृति से प्रेम करना सिखाया, रूढ़ियों और वर्जनाओं से संघर्ष करना सिखाया, नारी को समानता का अधिकार देना सिखाया, राष्ट्र के प्रति गौरव और प्रेम का भाव जगाया और ये ही विषय उनके काव्य की अंतर्वस्तु बने। छायावादी कवि यह तो समझ गये थे कि बंधन क्या है परंतु मुक्ति का मार्ग उनके सामने स्पष्ट नहीं था। यही अस्पष्टता रहस्य-भावना के रूप में व्यक्त हुई। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों की विशेषताओं का वर्णन कर सकते हैं।

- मुक्ति की आकांक्षा काव्य-शिल्प के क्षेत्र में व्यक्त हुई। मानसिक स्वाधीनता ने कवियों को कल्पनाशील बनाया। उन्होंने काव्य के लिए नये-नये क्षेत्र ढूंढे। नयी भाषा ढूंढी, नया शिल्प और नये छंद ढूंढे और जब छंद का बंधन महसूस हुआ तो मुक्त छंद में भी रचना की। छायावादी कवियों की भाषा सरस, कोमल और सहज थी परंतु आवश्यकता अनुसार उसमें विराट, कठोर तथा उद्दाम भावनाओं को व्यक्त करने की शक्ति भी थी। उन्होंने मुक्तक लिखे, गीत लिखे, लंबी कविताएं लिखीं। "तुलसीदास" जैसा खंड काव्य दिया तो "कामायनी" जैसा महाकाव्य भी रचा। काव्य शिल्प के क्षेत्र में छायावाद ने हिंदी कविता में क्रांति ला दी। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस दृष्टि से छायावाद के योगदान का मूल्यांकन कर सकते हैं।

- छायावाद ने प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी जैसे महान् कवि दिये। प्रसाद का काव्य प्रेम और सौंदर्य का काव्य है, उसमें क्लासिकीय गरिमा है, वे एक बौद्धिक कवि भी हैं। उन्होंने गीत लिखे, मुक्तक लिखे। "आँसू" जैसा भावात्मक काव्य लिखा, तो "कामायनी" जैसा महाकाव्य भी जो आज भी आलोचकों और विचारकों के लिए एक चुनौती है। निराला संघर्ष और विद्रोह के कवि हैं। भावबोध और कला दोनों दृष्टियों

से जितनी विविधता उनमें है उतनी किसी अन्य कवि में नहीं। छंद और भाषा की दृष्टि से भी उनमें नये-नये प्रयोग मिलते हैं। निराला ने बाद की पीढ़ी को जितना प्रभावित किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं किया। सुमित्रानंदन पंत शिवत्व ओर सौंदर्य के कवि हैं। उन्होंने प्रकृति से गहरी प्रेरणा ली। प्रगतिशीलता से भी वे प्रभावित रहे और बाद में अरविन्द के प्रभाव से वे अध्यात्मक की ओर भी झुके लेकिन उनकी समस्त काव्य यात्रा शिव और सौंदर्य की ही यात्रा है। महादेवी वर्मा आत्म वेदना की चित्रकार हैं। चिरंतन वेदना और एकाकीपन उनके काव्य की आधारभूत विशेषता है। वे अपनी वेदना को रहस्यवादी शब्दावली में प्रस्तुत करती हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद इन सभी प्रमुख कवियों के काव्य व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय दे सकते हैं।

## 23.7 शब्दावली

**स्वच्छंदतावाद**– हिंदी में स्वच्छंदतावाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी शब्द "रोमांटिसिज्म" के अर्थ में होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ "हिंदी साहित्य का इतिहास" में श्रीधर पाठक की नवीन शैली की कविताओं के लिए इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया। स्वच्छंदतावाद की सामान्य विशेषता अतिशय कल्पनाशीलता और तीव्र संवेदनशीलता है। स्वच्छंदतावादी कवियों में "सामाजिक बंधनों को तोड़कर जीवन की स्वच्छंद भूमि में विचरण करने की लालसा होती है।" स्वच्छंदतावाद का आरंभ यूरोप में हुआ। इंग्लैण्ड में अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण और उन्नीसवीं शती के आरंभिक चरण में ऐसा काव्य रचा गया, जिसे स्वच्छंदतावाद के नाम से जाना गया। इस धारा के प्रमुख कवियों में वड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, बायरन और शैली का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन कवियों की रचनाओं को पढ़ने का सुयोग छायावादी कवियों को भी मिला चूंकि बाह्य परिस्थितियाँ और आंतरिक भावनाएं दोनों में समानता थीं, इसलिए हिंदी के कवियों ने इन कवियों से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया।

**चित्र-भाषा शैली**– कविता में भाषा के द्वारा चित्र बनाना, इसे ही दूसरे शब्दों में बिंब कह सकते हैं। जिस कविता में चित्र-भाषा या बिंब की प्रधानता हो उसे चित्रभाषा शैली की कविता कहेंगे।

**रोला**– मात्रिक सम छंद का एक भेद। इस छंद के प्रति चरण में 24 मात्राएं होती हैं।

**घनाक्षरी**– इसे कवित्त भी कहते हैं। इसे मुक्तक, वर्णिक छंद की कोटि में माना जाता है। इसमें 31 अक्षर होते हैं, 16, और 15 अक्षर पर यति होती है।

**प्रपत्ति**– प्रपत्ति का अर्थ है अनन्य भक्ति। भक्ति भगवान के अनुग्रह से उत्पन्न होती है और भगवान का अनुग्रह उनकी शरण में जाने से मिलता है। इसे ही प्रपत्ति कहते हैं।

**दुःखवाद**– महात्मा बुद्ध ने कहा था कि जीवन में दुःख ही सत्य है और दुःख का कारण इच्छा या तृष्णा है। दुःख की इसी अवधारणा को दुःखवाद कहा जाता है।

## 23.8 उपयोगी पुस्तकें

रामचंद्र शुक्ल: **हिन्दी साहित्य का इतिहास,** नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी: **हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

डॉ. नामवर सिंह: **छायावाद,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

डॉ. नामवर सिंह: **आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ,** नयी दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी: **आधुनिक हिंदी कविता,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

## 23.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) संकेत: i) रहस्यवाद के अर्थ में, ii) काव्य शैली के अर्थ में

2) क) रामविलास शर्मा ख) नंददुलारे वाजपेयी ग) रामचंद्र शुक्ल घ) नामवर सिंह

3) क) सही ख) गलत ग) गलत घ) सही

4) घ)

5) छायावादी कवियों में मुक्ति की आकांक्षा इसलिए उत्पन्न हुई क्योंकि नये विकास ने उन्हें यह समझ दी कि पुराने मूल्यों और रूढ़ियों से आत्म-विकास संभव नहीं है। केवल स्वतंत्रता का भाव ही आत्म-विकास का मार्ग है। मुक्ति की आकांक्षा ने उन्हें बाह्य और आंतरिक दोनों बंधनों का अनुभव कराया। राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक बंधनों ने उन्हें स्वाधीनता का समर्थक बनाया।

6) क) सही ख) सही ग) गलत घ) सही ड) गलत

7) क) गलत ख) गलत ग) सही घ) सही ड) सही

8) i) सरलता, कोमलता और सहजता
ii) तत्सम शब्दों का प्रयोग
iii) लंबे समास पदों के स्थान पर छोटे पदों का प्रयोग

9) क) ✓ ख) ✓ ग) × घ) ×

10) प्रसाद: प्रेम और सौंदर्य के कवि/बौद्धिक कवि
निराला: उल्लास और उद्दाम भावावेग के कवि/संघर्ष और विद्रोह के कवि
पंत: शिव और सौंदर्य के कवि
महादेवी: आत्म वेदना और विरह की कवयित्री

**अभ्यास**

1) द्रष्टव्य: उपभाग 23.2.2
2) द्रष्टव्य: उपभाग 23.3.1
3) द्रष्टव्य: उपभाग 23.4.1
4) हिंदी में छायावाद का उदय सन् 1920 के आसपास हुआ। लगभग इसी समय देश में राष्ट्रीय आंदोलन शहरों और गांवों तक पहुंचा। इससे पूर्व यह शहरी उच्चवर्ग तक ही सीमित था। इस आंदोलन ने लोगों में स्वाधीनता की आकांक्षा जगाई। लेकिन अब भी यह स्पष्ट नहीं था कि स्वतंत्रता का स्वरूप कैसा हो? छायावादी काव्य में भी अपने युग का यह अंतर्विरोध कायम रहा। इस काव्य में "जहाँ एक तरफ उल्लास, नये विकास और नये प्रसार की कामना, देश भक्ति की नयी प्रेरणा, समानता और विश्व बंधुत्व के भाव हैं, वहीं दूसरी तरफ उसमें पलायन, रहस्यवाद, प्राचीनता, प्रेम, निराशा, व्यक्तिवाद, काल्पनिक स्वर्ग रचना आदि की प्रवृत्तियाँ भी मौजूद हैं"। (रामविलास शर्मा) इसका कारण यही था कि उल्लास, जिज्ञासा और आशा-अभिलाषा के बावजूद भविष्य के प्रति अस्पष्टता और अमूर्तता ही थी। "कौन तम के पार रे कह!" की जिज्ञासा छायावाद का मुख्य स्वर रहा। परंतु 30 के बाद जब राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों मजदूरों की शिरकत बढ़ी, स्वतंत्रता के साथ जब स्वतंत्र भारत कैसा हो की बहस भी तीव्र हुई तो भविष्य की एक स्पष्ट तस्वीर भी उभरने लगी। छायावादी कवियों ने इस नये उभरते स्वर को पहचाना और प्रायः सभी छायावादी कवि अपनी युग की सीमाओं का विस्तार कर प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हुए। छायावाद राष्ट्रीय आंदोलन के एक दौर की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है तो प्रगतिवाद उसी का अग्रिम चरण। छायावाद का महत्व इसी ऐतिहासिक संदर्भ में है।

# इकाई 24 छायावादोत्तर एवं प्रगतिशील काव्य

## इकाई की रूपरेखा


24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 छायावादोत्तर काव्य की पृष्ठभूमि
  24.2.1 छायावाद और छायावादोत्तर काव्य
  24.2.2 छायावादोत्तरकालीन परिस्थितियाँ
  24.2.3 छायावादोत्तर काव्य का अभिप्राय
24.3 छायावादोत्तर काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ
  24.3.1 राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता
  24.3.2 प्रेम और मस्ती का काव्य
  24.3.3 हास्य-व्यंग्य का काव्य
24.4 छायावादोत्तर काव्य की शिल्पगत विशेषताएं
  24.4.1 काव्य-भाषा
  24.4.2 काव्य-शिल्प
24.5 प्रमुख छायावादोत्तर कवि
24.6 प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि
  24.6.1 छायावाद और प्रगतिवाद
  24.6.2 प्रगतिवादकालीन परिस्थितियाँ
  24.6.3 प्रगतिवाद का अभिप्राय
24.7 प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
  24.7.1 सामाजिक यथार्थ-दृष्टि
  24.7.2 परिवेश और प्रकृति के प्रति लगाव
  24.7.3 जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण
  24.7.4 भविष्योन्मुखी दृष्टि
24.8 प्रगतिवादी काव्य की शिल्पगत विशेषताएं
  24.8.1 काव्य-भाषा
  24.8.2 छंद और लय
  24.8.3 व्यंग्यात्मकता
24.9 प्रमुख प्रगतिवादी कवि
24.10 छायावादोत्तर और प्रगतिवादी काव्य का महत्व
24.11 सारांश
24.12 शब्दावली
24.13 उपयोगी पुस्तकें
24.14 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 24.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवादी काव्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- छायावादोत्तर और प्रगतिशील अथवा प्रगतिवादी काव्य के उदय के कारणों को स्पष्ट कर सकेंगे;
- छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवाद का अभिप्राय बता सकेंगे;
- छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकेंगे;
- छायावादोत्तर और प्रगतिवादी काव्य की शिल्पगत विशेषताएं बता सकेंगे;

- दोनों काव्यधाराओं के प्रतिनिधि कवियों का संक्षिप्त परिचय दे सकेंगे और
- दोनों काव्यधाराओं का महत्व स्पष्ट कर सकेंगे ।

## 24.1 प्रस्तावना

हिंदी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम 03 के खंड 7 की यह दूसरी इकाई और इस पाठ्यक्रम की चौबीसवीं इकाई है। इस इकाई में आप छायावादोत्तर और प्रगतिशील (प्रगतिवादी) काव्य का अध्ययन करेंगे। इससे पहले की इकाई में आपने छायावाद का अध्ययन किया है। हमने उस इकाई में आपको बताया था कि छायावाद का आरंभ 1918-20 से और पर्यवसान 1936 के आसपास माना जाता है। द्विवेदीयुग के बाद उभरने वाली प्रमुख काव्यधारा छायावाद ही थी और छायावाद के बाद प्रगतिवाद। परन्तु इस दौरान काव्य की कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का भी उदय हुआ जिन्होंने यद्यपि स्वतंत्र काव्यांदोलन का रूप तो धारण नहीं किया परन्तु आधुनिक हिंदी काव्यधारा को समृद्ध बनाने में उनका योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इन प्रवृत्तियों का उदय मुख्य रूप से तीसरे दशक में हुआ और यह भी कह सकते हैं कि ये छायावाद और प्रगतिवाद के समानांतर प्रवाहित होती रहीं। इन प्रवृत्तियों का उपर्युक्त दोनों काव्यधाराओं से विरोध नहीं था, फिर भी इन्हें स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्तियों के रूप में ही पहचाना गया। इस काव्यधारा में मुख्य रूप से तीन प्रवृत्तियाँ थीं—राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भावना, मस्ती और प्रेम की भावना तथा हास्य-व्यंग्य की भावना। इन तीनों प्रवृत्तियों ने कई महत्वपूर्ण कवि हिंदी काव्य को दिये जिनमें बालकृष्ण शर्मा "नवीन", गया प्रसाद शुक्ल "सनेही", माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन, रामधारी सिंह दिनकर, सियारामशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, हरिकृष्ण शर्मा "प्रेमी", सुभद्रा कुमारी चौहान आदि प्रमुख हैं। इस इकाई में हम इस काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

छायावाद के बाद उदित होने वाला प्रमुख काव्यांदोलन प्रगतिवाद है। वस्तुतः प्रगतिवाद भक्ति आंदोलन के बाद पैदा होने वाला पहला अखिल भारतीय साहित्यिक आंदोलन है। 1930 के बाद राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से इस साहित्यिक आंदोलन का सीधा संबंध रहा है। इस काव्यधारा ने हिंदी काव्य को दूर तक प्रभावित किया। इसने नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, मुक्तिबोध, त्रिलोचन शास्त्री, शील जैसे श्रेष्ठ कवि हिंदी को दिये। प्रगतिवाद के योगदान का अध्ययन भी इस इकाई में करेंगे।

प्रगतिवाद के योगदान पर एक वीडियो कार्यक्रम भी तैयार किया गया है। इस इकाई के साथ उसे देखने से आपको प्रगतिवाद को समझने में सहायता मिलेगी।

## 24.2 छायावादोत्तर काव्य की पृष्ठभूमि

छायावाद के उत्तरकाल में उभरी इन काव्य-प्रवृत्तियों का संबंध हमारे देश की तत्कालीन परिस्थितियों से है। छायावादोत्तरकालीन इन प्रवृत्तियों के उदय को हमें छायावाद के संदर्भ में देखना चाहिए।

### 24.2.1 छायावाद और छायावादोत्तर काव्य

छायावाद पर विचार करते हुए हमने बताया था कि छायावाद का संबंध मध्यवर्ग की मुक्ति की आकांक्षा से है। मुक्ति की यही आकांक्षा तीव्र भावावेग और उदात्त कल्पनाशीलता के माध्यम से छायावादी कविता बनकर साकार हुई। मुक्ति की यह आकांक्षा आत्म-अभिव्यक्ति और आत्म-प्रसार का भी आधार बनी। कवि को यह मुक्ति प्रकृति में दिखाई दी, इसलिए प्रकृति उसके लिए प्रेरणा स्रोत बनी। राष्ट्र की पराधीनता, सामाजिक रूढ़ियों का बंधन नारी की परतंत्रता भी छायावादी कवियों की स्वतंत्रता की भावना में

बाधक थी इसलिए उन्होंने राष्ट्र की स्वतंत्रता, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति और नारी स्वतंत्रता का भी आह्वान किया। छायावाद की स्वाधीनता की यह आकांक्षा बाद में लगातार मुखरित होती गयी। 1930 के आसपास भारत का राष्ट्रीय आंदोलन न केवल व्यापकतर हुआ वरन् तीव्र भी हुआ। इससे जहाँ लोगों में राष्ट्रीय भावना और मजबूत हुई, वहीं आंदोलन की तीव्रता ने लोगों में भविष्य के प्रति आशा और उत्साह का संचार भी किया। जीवन के हर क्षेत्र में आत्मविश्वास और उत्साह का वातावरण बना। भारत गुलाम अवश्य था, लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन की इस लहर ने लोगों को मानसिक रूप से स्वतंत्र कर दिया था विशेष रूप से युवा पीढ़ी को। युवा पीढ़ी का यही उत्साह जोश और आत्मविश्वास छायावादोत्तर काव्य का आधार बना। छायावाद की वेदना, करुणा अब विलुप्त सी हो गयी थी।

## 24.2.2 छायावादोत्तरकालीन परिस्थितियाँ

गांधी जी के आगमन के साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन शिक्षित उच्च मध्यवर्ग की सीमाओं से बाहर निकलकर जनता के व्यापक हिस्सों को अपने में समेटने लगा। इसने लोगों को यह अहसास कराया कि स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है। एक ओर इस युग के कवियों ने राजनीतिक पराधीनता की समाप्ति के लिए जनता का आह्वान किया, वहीं दूसरी ओर देश की आंतरिक विसंगतियों और विषमताओं को भी उजागर किया। बढ़ते राष्ट्रीय आंदोलन ने यह अनुभव कराया कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय एकता की कितनी आवश्यकता है। इसलिए इस दौर में भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता को भी स्वर दिया गया।

1930 के दशक में जो नयी, शिक्षित युवा पीढ़ी सामने आयी, उसका दृष्टिकोण ज्यादा आधुनिक और राष्ट्रवादी था। वह पुराने जीवन-मूल्यों से मुक्त था और अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसमें पर्याप्त आत्म-विश्वास था। पुराने मूल्यों और रूढ़ियों के प्रति उसमें उतना भी मोह नहीं था, जितना हमें छायावादी कवियों में दिखाई देता है। इसलिए प्राचीन रूढ़ियों पर कवियों ने निर्मम प्रहार भी किये। जिंदादिली की भावना ने उन्हें हास्य-व्यंग्य की ओर भी प्रेरित किया।

## 24.2.3 छायावादोत्तर काव्य का अभिप्राय

छायावादोत्तर काव्य का तात्पर्य है छायावाद के बाद का काव्य। परन्तु यहाँ छायावादोत्तर काव्य से तात्पर्य उन काव्य-प्रवृत्तियों से है जो 1930 और 1940 में लोकप्रिय हुई परन्तु जिन्होंने काव्य आंदोलन का रूप धारण नहीं किया। इस काव्य-धारा में मुख्य रूप से तीन काव्य-प्रवृत्तियों को परिगणित किया जाता है। ये हैं—राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना को व्यक्त करने वाला काव्य, प्रेम और मस्ती का काव्य तथा हास्य-व्यंग्य का काव्य।
राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य में कवियों ने एक ओर जनता को विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष का आह्वान किया, तो दूसरी ओर उन्होंने देश में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक विषमता के विरुद्ध भी आवाज उठाई। प्रेम और मस्ती का काव्य वस्तुतः जीवन के उल्लास और जोश का काव्य है। प्रेम और यौवन की प्रखरता तथा आवेश को व्यक्त करने वाली इन कविताओं में वेदना और करुणा की प्रधानता थी, जबकि इस काव्य में प्रेम की मांसलता और भावनाओं का आवेश प्रमुख रहा। हास्य-व्यंग्य की कविताओं में दोनों धाराएं मिलती हैं। हास्यरस प्रधान रचनाएं भी लिखी गयीं और सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों पर तीखे प्रहार करने वाली व्यंग्य रचनाएं भी लिखी गयीं।

मुख्य बात यह है कि इस काव्यधारा में कवियों ने राष्ट्रीय भावना, प्रणय भावना या सामाजिक यथार्थ, जिस किसी को काव्य का विषय बनाया, उसके प्रति उनका दृष्टिकोण सहज भावनात्मक ही अधिक रहा। आमतौर पर इन कवियों में वैचारिक गहनता या जीवन को देखने की सूक्ष्म दृष्टि का अभाव ही मिलता है। मुख्य बल अपने भावों के संप्रेषण पर अधिक है और उद्देश्य सामान्य पाठक तक अपनी भावनाओं को पहुँचाना है। इसलिए इन कवियों ने प्रायः गीतात्मकता का सहारा लिया है और ऐसी सहज और सरल भाषा में काव्य रचा है जो आम पाठक को भी संप्रेषित हो सके।

## 24.3 छायावादोत्तर काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

यहाँ हम छायावादोत्तर काव्य की उपर्युक्त तीनों काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

### 24.3.1 राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य

छायावादोत्तर काल राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के ज्वार का काल था। इस समय स्वाधीनता के लिए संघर्ष तीव्र गति से चल रहा था। इस संघर्ष मे कवि और लेखक भी अछूते नहीं रहे। 1930 के आसपास हिंदी लेखकों की एक ऐसी पीढ़ी अस्तित्व में आई जिन्होंने काव्य-रचना के साथ-साथ स्वतंत्रता प्राप्ति के संघर्ष में भी भाग लिया। बालकृष्ण शर्मा "नवीन", माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान आदि ऐसे ही कवि थे जिन्होंने अपने काव्य में राष्ट्र-प्रेम की भावना को व्यक्त किया, साथ ही स्वयं भी देश की आजादी के संघर्ष में भाग लिया और जेल गये। इसलिए इन कवियों की राष्ट्रीय भावना की कविताओं में सच्चाई और भावावेश दोनों दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय भावनाओं की कविताओं में राष्ट्र के प्रति गहरी समर्पण भावना और बलिदान की इच्छा व्यक्त हुई। उनकी प्रख्यात कविता "फूल की चाह" इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। फूल न सुरबाला के गहनों में गुँथना चाहता है, न प्रेमी माला में बिंधने की कामना उसमें है। सम्राट के शव अथवा देवों के सिर पर चढ़ने की इच्छा भी उसमें नहीं है। उसकी तो एक ही कामना है:

मुझे तोड़ लेना वनमाली
उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ पर जावें वीर अनेक।

इन कवियों ने लोगों में राष्ट्र के लिए बलिदान भावना को तो व्यक्त किया ही, साथ ही जनता की वास्तविक दीन-हीन दशा को चित्रित करते हुए उनमें जागृति लाने का प्रयास भी किया है। देश की शोचनीय दशा ने प्रायः सभी कवियों की संवेदना को झकझोर दिया था। रामनरेश त्रिपाठी की कविता में इसी दशा की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है:

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला घर-घर में,
मांस नहीं है, निरी साँस है, शेष अस्थिपंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं हैं, रहने का नहीं ठिकाना,
कोई नहीं किसी का साथी, अपना और विराना।

इन कवियों ने वर्तमान की दीन-हीन दशा के साथ अतीत के गौरव की प्रतिष्ठा भी की। इन कवियों ने ऐसी अनेक रचनाएँ लिखीं जिनमें भारत के प्राचीन वैभव का वर्णन था। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने "विजय दशमी" में राम की यशोगाथा गाई, "दिनकर" ने "पाटलिपुत्र की गंगा से" तथा "मगधमहिमा" में महात्मा गौतम के बुद्धत्व की कथा का वर्णन किया है। सियारामशरण गुप्त की "मौर्य विजय", उदयशंकर भट्ट की "तक्षशिला" तथा सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं में प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय वीरों का यशोगान किया गया है। सुभद्राकुमारी चौहान की "झाँसी की रानी" रचना इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

इन कवियों ने राष्ट्रीय मुक्ति के लिए कविता के द्वारा क्रांति का आह्वान भी किया। दिनकर की कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

उठ भूषण की भावा रौंगनी, लेनिन के दिल की चिंगारी।
युग मुर्दित यौवन की ज्वाला, जाग-जाग रही क्रांति कुमारी।।

बालकृष्ण शर्मा नवीन का स्वर इन कवियों में सर्वाधिक सशक्त एवं ओजपूर्ण था। दिनकर की "हुँकार" में राष्ट्रीय क्रांति का ओजपूर्ण आह्वान है। स्वतंत्रता के संघर्ष को गतिशील एवं ताकतवर बनाने के लिए इन कवियों ने जातीय एकता पर भी बल दिया। सभी जातियों एवं संप्रदायों में एकता के बिना स्वतंत्रता नहीं प्राप्त की जा सकती, यह इन कवियों के सामने स्पष्ट था। अंग्रेज सरकार लगातार कोशिश कर रही थी कि हिंदुओं और मुसलमानों

में फूट पड़ जाए, जिसमें वे सफल भी रहे। परन्तु इन कवियों ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा। सियारामशरण गुप्त ने कहा–"हिन्दू-मुसलमान दोनों ही एक डाल के हैं दो फूल"। यह भावना यद्यपि बलवती रही परन्तु वास्तविकता में यह फलीभूत न हो सकी।

### 24.3.2 प्रेम और मस्ती का काव्य

छायावादी काव्य में भी प्रणय भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है परन्तु उनका प्रेम धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर, शरीर से अशरीर की ओर तथा लौकिक से अलौकिकता की ओर अग्रसर होता गया। जबकि छायावादोत्तर काल के इन कवियों के यहाँ प्रेम केन्दीय शक्ति की तरह है। बच्चन ने प्रेम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है:

यदि प्रणय जगा न होता इस निशा में
सुप्त होती विश्व की संपूर्ण सत्ता।
वह मरण की नींद होती जड़-भयंकर
और उसका टूटना होता असंभव
प्यार से संसार सोकर जागता है
इसलिये है प्यार की जग में महत्ता।

(मिलन यामिनी)

डॉ. तारकनाथ बाली ने छायावाद और छायावादोत्तर काव्य में प्रेम के क्षेत्र में दूसरा अंतर व्यक्तिवाद का माना है। यद्यपि दोनों काव्य की मूल वृत्ति व्यक्तिनिष्ठ है फिर भी दोनों में अंतर है। उनके अनुसार, "छायावादी व्यक्ति-चेतना शरीर से ऊपर उठकर मन और फिर आत्मा का स्पर्श करने लगती है जबकि इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ चेतना प्रधानरूप से शरीर और मन के धरातल पर ही व्यक्त होती रही है। इन्होंने प्रणय को ही साध्य के रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया है। छायावादी काव्य जहाँ प्रणय को जीवन की यथार्थ–विषम व्यापकता से संजोने का प्रयास करता है वहाँ प्रेम और मस्ती का यह काव्य या तो यथार्थ से विमुख होकर प्रणय में तल्लीन दिखायी देता है, या फिर जीवन की व्यापकता को प्रणय की सीमाओं में ही खींच लाता है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र) नवीन जी की "साकी" शीर्षक कविता में यही दर्शन व्यक्त हुआ है। बच्चन की "मधुबाला", "मधुशाला" में भी यही दर्शन है।

यह चाँद उदित होकर नभ में, कुछ ताप मिटाता जीवन का,
लहरा-लहरा यह शाखाएँ, कुछ शोक भुला देती मन का,
कल मुर्झाने वाली कलियाँ हँसकर कहती हैं, मग्न रहो,
बुलबुल तक की फुगनी पर से, संदेश सुनाती यौवन का
तुम देकर मदिरा के प्याले, मेरा मन बहला देती हो,
उस पार मुझे बहलाने का, उपचार न जाने क्या होगा।
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा।

(मधुबाला)

प्रेम और मस्ती के इस काव्य में जीवन के प्रति किसी व्यापक दृष्टि का आभास नहीं मिलता। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि इन कवियों ने जीवन में एक ऐसी प्रेम-भावना की आवश्यकता पर बल दिया है, जिसमें न आध्यात्मिक अमूर्तता हो, और न ही लौकिक संकीर्णता। शराब, साकी, मदिरालय, प्याला आदि प्रतीकों के माध्यम से इन कवियों ने एक धर्मनिरपेक्ष और जीवन-सापेक्ष दृष्टिकोण को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया है। बालकृष्ण शर्मा नवीन की "साकी" शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:

हो जाने दे गर्क नशे में, मत पड़ने दे फर्क नशे में
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क नशे में
ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला
साकी अब कैसा विलंब भर-भरला तन्मयता-हाला।



इन कवियो ने प्रेम की अभिव्यक्ति में द्विवेदीयुगीन नैतिकता और छायावादी रहस्यात्मकता दोनों का परित्याग किया, किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि इन्होंने "मुक्त निर्बंध-भोग'

का समर्थन किया। इन कवियों ने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए मदिरालय से संबंधित प्रतीकों का इस्तेमाल किया, इसलिए काव्य की इस प्रवृत्ति को "हालावाद" की संज्ञा भी दी गई है।

वस्तुतः प्रेम और मस्ती का यह काव्य स्वच्छंदतावादी भावधारा का ही विस्तार है। स्वानुभूति और तीव्र भावावेग इस काव्य की विशेषता है। एक ओर गुण जो इस काव्य मे नजर आता है, वह है उल्लास और जोश का भाव। यह जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है। आगे बढ़ना और बढ़ते चले जाना। परन्तु इस भाव-दृष्टि की सीमा यह है कि कवियों के सामने यह स्पष्ट नहीं है कि जीवन का लक्ष्य क्या है। भगवतीचरण वर्मा की निम्नलिखित कविता इस भावना को सशक्त ढंग से व्यक्त करती है:

हम दीवानों की क्या हस्ती,
है आज यहाँ, कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले,
आए बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी,
सब कहते ही रह गए, अरे,
तुम कैसे आए, कहाँ चले?
किस ओर चले? यह मत पूछो
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिए चले,
जग को अपना कुछ दिए चले

(दीवानों की क्या हस्ती)

### 24.3.3 हास्य-व्यंग्य का काव्य

इस युग की तीसरी प्रवृत्ति हास्य-व्यंग्य प्रधान कविताओं की है। हास्य-व्यंग्य के लेखन की प्रवृत्ति भारतेन्दु युग में अत्यधिक प्रबल थी, परन्तु द्विवेदीयुग में आर्यसमाजी नैतिकतावादी दृष्टिकोण का जोर होने के कारण हास्य व्यंग्य की धारा क्षीण-सी हो गई थी। यद्यपि छायावादोत्तर युग में हास्य-व्यंग्य की रचनाएं पर्याप्त मात्रा में हुई परन्तु महत्व की दृष्टि से उन्हें विशेष उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता।

इस युग के हास्य-व्यंग्य लेखन में मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखंड तथा भ्रष्टाचार पर व्यंग्य किया गया है। कभी-कभी राजनीति को भी व्यंग्य का माध्यम बनाया गया है। इस तरह के काव्य में "हास्य" की मुखरता और व्यंग्य की तीव्रता स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुई है। परन्तु इस युग के इस तरह के काव्य की सीमा यह है कि जीवन-यथार्थ की गहरी समझ के अभाव में और व्यापक जीवन दृष्टि न होने के कारण इन कविताओं में न तो निराला के इसी दौर के काव्य में व्यक्त व्यंग्य जैसी गहराई आई है और न ही प्रगतिवादी दौर में रामविलास शर्मा, नागार्जुन आदि कवियों जैसी गहरी सामाजिक दृष्टि। यही कारण है कि यह काव्य हल्की-सी चुटकी लेकर रह जाता है।

इस युग के प्रमुख हास्य-व्यंग्यकारों में हरिशंकर शर्मा, पांडेय बेचैन शर्मा "उग्र", बेढ़ब बनारसी, अन्नपूर्णानंद आदि प्रमुख हैं।

---

**बोध प्रश्न**

1) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना के काव्य की कुछ विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया गया है, उनमें जो सही हों उन पर (✓) और जो गलत हों उन पर (✗) का चिह्न लगाएं।

क) जातीय एकता ( )
ख) अतीत की तीव्र आलोचना ( )
ग) आत्मोत्सर्ग की भावना ( )
घ) वर्तमान की सुख-समृद्धि ( )

2) नीचे प्रणय भावना की प्रधानता वाले काव्य.की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ विशेषताएं छायावाद पर लागू होती हैं, कुछ छायावादोत्तर काव्य पर। इन विशेषताओं को छायावाद और छायावादोत्तर काव्य के आधार पर अलग-अलग कीजिए।

क) व्यक्ति चेतना मन से ऊपर उठकर आत्मा का स्पर्श करती है। ( )
ख) व्यक्ति चेतना शरीर और मन के स्तर पर व्यक्त होती है। ( )
ग) प्रणय-भावना को आध्यात्मिक आवरण प्रदान किया गया है। ( )
घ) प्रणय-भावना को लौकिक धरातल में ही व्यक्त किया गया है। ( )

3) छायावादोत्तर काव्य के समय की राष्ट्रीय परिस्थितियों की मुख्य विशेषताएं लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

1) छायावादोत्तर युग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावनाओं को व्यक्त करने वाले कवियों की मुख्य विशेषता क्या है, जो उन्हें पूर्व के कवियों से अलग करती हैं? उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

## 24.4 छायावादोत्तर काव्य की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ

द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता ने द्विवेदी युग की काव्य भाषा को जो तत्सम प्रधान, समास बहुल एवं गद्यात्मक रूप प्रदान किया था, उसमें छायावाद ने आमूल परिवर्तन कर दिया था। छंद और शैली के क्षेत्र में भी छायावाद ने हिंदी कविता को नयी दिशा प्रदान की। छायावादोत्तर काव्य ने न तो पूरी तरह से द्विवेदीयुगीन भाषा और शिल्प का सहारा लिया और न ही छायावाद का अनुकरण किया, उन्होंने एक ऐसा मध्यमार्ग ढूँढ़ा, जो आम पाठक में भी लोकप्रिय हो सके।

### 24.4.1 काव्य भाषा

छायावाद की भाषा में जो सूक्ष्मता और वक्रता है वह छायावादोत्तर काव्य में नहीं है। इसका कारण यह है कि इस काव्य में भावनाओं की वैसी जटिलता और गहनता नहीं है, जैसी छायावाद में थीं। भावों की सहजता ने भाषा को भी उसी रूप में ढाला। लेकिन छायावाद की तरह यह काव्य भी मूलतः स्वच्छंदतावादी काव्य है, इसलिए इसकी भाषा में बौद्धिकता का अभाव है तथा मुख्य बल भाषा की सुकुमारता, माधुर्य और लालित्य पर है। छायावादोत्तर काव्य सीधी-सरल पदावली द्वारा जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयास करता है।



छायावादोत्तर काल के कवियों का भाषा के क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान था– काव्य भाषा को बोलचाल की भाषा के नजदीक लाना। यह काम न तो द्विवेदी युग में हुआ था और न ही छायावाद में। यद्यपि इन कवियों ने भी आमतौर पर तत्सम प्रधान शब्दावली का ही

प्रयोग किया परन्तु समास बहुलता, संस्कृतनिष्ठता से उन्होंने छुटकारा पा लिया। साथ ही जहाँ आवश्यक हुआ, वहाँ तद्भव, देशज और उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया। "बच्चन" की "मधुशाला" का निम्नलिखित अंश इस दौर की भाषा की विशेषताओं को व्यक्त करता है:

नाम अगर पूछे कोई तो
कहना बस पीने वाला,
काम, ढालना और ढलाना,
सबको मदिरा का प्याला,
जाति, प्रिये, पूछे यदि कोई,
कह देना दीवानों की,
धर्म बताना, प्यालों की ले
माला जपना मधुशाला।

## 24.4.2 काव्य-शिल्प

छायावादोत्तर कविता में शैली की दृष्टि से वैसी विविधता तो नहीं मिलती जैसी छायावाद में देखने को मिलती है, परन्तु यह भी सही है इस काव्यधारा ने भी मुख्यत: मुक्तक रचना की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया। मुक्तक रचना में भी इन कवियों की प्रवृत्ति गीत रचना की ओर अधिक थी। इसका एक कारण तो इनका रोमानी प्रवृत्ति का होना था, दूसरा कारण संभवत: यह था कि इनमें से अधिकांश कवि अपनी रचनाओं को सभाओं, गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों में पेश करते थे। स्पष्ट ही जो रचनाएँ पढ़ने की बजाए सुनने के माध्यम से अपने को संप्रेषित करती हैं, उनमें गीतात्मकता अत्यंत सहायक होती हैं। बच्चन की "मधुशाला" दौर की रचनाएं इस बात का प्रमाण है, जो उस युग में अत्यंत लोकप्रिय हुईं।

गीतों में छंद, लय और संगीत तीनों तत्वों की प्रधानता होती है। इसके साथ ही गाने वाले के स्वर का भी उसमें योगदान होता है। दूसरी बात यह है कि गीत को सुनते हुए ही उसके भावों का मर्म श्रोताओं के हृदय तक पहुँच जाना चाहिए। इस दृष्टि से इस दौर के कवियों विशेषत: नवीन, बच्चन, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर, अंचल आदि के गीत अत्यंत प्रभावशाली हैं।

इस काव्यधारा के गीतों में छायावाद जैसी रहस्यात्मकता और संकोच नहीं है बल्कि अपनी हृदयगत भावनाओं को कवियों ने बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया है। यहाँ भी कवि का "मैं" उपस्थित है जो अपने राग-विराग को नि:संकोच गीतों में ढाल लेता है। इन गीतों में यदि राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है तो उसमें उद्बोधन, समर्पण और चुनौती का भाव प्रमुख है और यदि प्रणय-भावना की अभिव्यक्ति हुई है तो उल्लास, पीड़ा, उदासी, असंतोष, टूटन आदि भावों की अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति में किसी तरह का आवरण नहीं है, न ही उन्हें कोई दार्शनिक अर्थ दिया गया है। "बच्चन" के "निशा निमंत्रण" और "एकांत संगीत" काव्य आदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो "मिलन यामिनी" मिलन की मादकता और उमंग को। नरेन्द्र शर्मा के "प्रवासी के गीत" में यदि लौकिक विरह की व्यथा की प्रधानता है तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौन्दर्य, भोग और संयोग की उष्मा के मादक चित्र भी हैं"।

(डॉ. रामदरश मिश्र)

इस दौर के गीतिकाव्य की विशेषता का उल्लेख करते हुए डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं, "वैयक्तिक गीतिकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधे-सादे शब्दों, परिचित चित्रों और सहज कथन-भंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफाई से कह देता है।" बच्चन के एक गीत की बानगी देखिए:

तीर पर कैसे रूकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण
रात का अंतिम प्रहर है,
झिलमिलाते हैं सितारे,

वक्ष पर युग बाहु बाँधे
मैं खड़ा सागर किनारे
वेग से बहता प्रभंजन
केश-पट मेरे उड़ाता।
शून्य में भरता उदधि–
उर की रहस्यमयी पुकारें;
इन पुकारों की प्रतिध्वनि
हो रही मेरे हृदय में,
है प्रतिच्छादित जहाँ पर
सिंधु का हिल्लोल कंपन!
तीर पर कैसे रूकूँ मैं,
आज लहरों में निमंत्रण!

छायावादोत्तर काव्य में कुछ प्रबंध काव्य भी लिखे गये। मुख्य रूप से ऐतिहासिक कथाओं को आधार बनाकर लिखे गये प्रबंध काव्य, जिनका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करना था। इन प्रबंध काव्यों में सियारामशरण गुप्त का "मौर्य-विजय", लोचनप्रसाद पांडेय की "मेवाड़ गाथा", रामधारी सिंह दिनकर कृत "कुरुक्षेत्र" आदि प्रमुख हैं।

प्रणय-भावना को व्यक्त करने वाले कवियों ने अपने गीतों में कुछ विशेष प्रतीकों का उपयोग किया है। साक़ी, शराब, प्याला, मदिरालय, मधु आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। बच्चन ने अपनी आरंभिक रचनाओं में इनका उपयोग अधिक किया है। नवीन की कविताओं में भी इसका असर देखा जा सकता है। यहाँ शराब या मधु जीवन का रस या आनंद है। प्याला व्यक्ति का जीवन है, साक़ी जीवन की प्रेरणा या सौन्दर्य-बोध है। मदिरालय यह संसार है। इस प्रकार यह प्रतीकात्मक जीवन जगत् के प्रति उनके विश्वास की पहचान है। इन प्रतीकों के अतिरिक्त प्रकृति के प्रतीकों का भी कविताओं में उपयोग किया गया है। आमतौर पर इन काव्यधाराओं में प्रयुक्त प्रतीक सहज ही संप्रेषणीय है।

छायावादोत्तर काव्य अपनी अंतर्वस्तु, भावबोध और विचार दृष्टि से लौकिक और मानवीय है। इसमें प्राचीन रूढ़ियों या वर्तमान बुराइयों का विरोध भी है परन्तु यह काव्य सामाजिक यथार्थ की जटिलता और व्यक्ति की गहन अनुभूतियों को व्यक्त करने की ओर प्रेरित नहीं हुआ। इसी प्रकार काव्य कला की दृष्टि से इस काव्यधारा ने बोलचाल की भाषा को काव्यात्मक उत्कर्षता प्रदान की और गीतिकाव्य परम्परा को समृद्ध किया परन्तु वह वैविध्य और वह कल्पनाशील सौन्दर्य इस काव्यधारा को नहीं मिल सका जो छायावाद को सहज ही प्राप्त था।

## 24.5 छायावादोत्तर काव्य के प्रमुख कवि

छायावादोत्तर काव्य की उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों ने हिंदी काव्य परंपरा को कई महत्वपूर्ण कवि दिये। रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा "नवीन" सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, हरिवंशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल "अंचल", रामधारी सिंह "दिनकर", उदयशंकर भट्ट, गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही", गोपालसिंह नेपाली, हरिकृष्ण प्रेमी, पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है।

**माखनलाल चतुर्वेदी** (1888-1968) जिन्हें हिंदी साहित्य जगत् "एक भारतीय आत्मा" के नाम से जानता है, महान् राष्ट्रवादी और प्रतिभाशाली साहित्यकार भी थे। इन्होंने अपनी आरंभिक रचनाएँ "एक भारतीय आत्मा" के नाम से प्रकाशित कराई थीं। ये एक पत्रकार के रूप में भी सक्रिय रहे और "प्रभा", "प्रताप" तथा "कर्मवीर" का संपादन किया। श्री माखनलाल चतुर्वेदी आरंभ में क्रांतिकारी आंदोलन से प्रभावित रहे, बाद में गांधीवाद से

प्रभावित हुए। चतुर्वेदी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और कई बार जेल गये।

चतुर्वेदी जी की रचनाओं में राष्ट्र के प्रति गहरा प्रेम और उसके लिए आत्मोत्सर्ग करने की भावना व्यक्त हुई है। राष्ट्र-प्रेम की कविताओं के अतिरिक्त आत्मानुभूति, आध्यात्मिक चेतना, प्रकृति-सौन्दर्य आदि भी उनके काव्य के विषय रहे हैं। उनके प्रमुख काव्य ग्रंथ हैं: हिमकिरीटिनी (1942), हिमतरंगिनी (1949), युगचरण, समर्पण, वेणु लो गूँजे धरा, बीजुरी काजल ऑंज रही आदि। माखनलाल चतर्वेदी की प्रख्यात रचना "कैदी और कोकिल" है जिसकी रचना 1930 में जेल में हुई थी। इसमें एक कैदी कोकिला को संबोधित करके अपनी राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करता है।

**सियारामशरण गुप्त** (1895-1963) गांधीवाद में गहरी आस्था रखते थे। ये अत्यंत प्रतिभावान् साहित्यकार थे और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। इनकी रचनाओं पर अहिंसा-सत्य, करुणा, विश्वबंधुत्व, शांति आदि गांधीवादी मूल्यों का जबर्दस्त प्रभाव था। उनके प्रमुख काव्य ग्रंथ हैं: दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, बापू, दैनिकी आदि। इन्होंने सरल भाषा में अत्यंत मार्मिक कविताएं लिखी हैं। इन्होंने मुक्त छंद में भी कई सुंदर रचनाएं की हैं।

**बालकृष्ण शर्मा नवीन** (1897-1960) ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और कई बार जेल गये। वे कानपुर में मजदूर आंदोलन से भी लंबे समय तक संबद्ध रहे। देश के आजाद होने पर आप संसद सदस्य भी रहे। इन्होंने "प्रभा" और "प्रताप" पत्रिकाओं का भी संपादन किया। इनकी रचनाएँ 1918 में ही प्रकाशित होने लगी थीं परन्तु पहला काव्य-संग्रह "कुकुंम" 1939 में प्रकाशित हुआ था।

इनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं—अपलक, रश्मि रेखा, क्वासि, हम विषपायी जनम के। नवीन जी ने राष्ट्र प्रेम और प्रणय-भावना दोनों को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। इनकी राष्ट्र प्रेम की कविताओं में अतीत का गौरव-गान, तत्कालीन भारतीय समाज की दीन-हीन दशा के प्रति आक्रोश, और राष्ट्रीय मुक्ति की कामना व्यक्त हुई है। प्रेम और मस्ती के काव्य में आवेश और आसक्ति का स्वर प्रधान है।

**सुभद्राकुमारी चौहान** (1905-1948) ने राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लिया और कई बार जेल गयीं। इनकी कविताएँ "त्रिधारा" और "मुकुल" में संकलित हैं। इन्होंने मुख्य रूप से राष्ट्र प्रेम की रचनाएं की हैं जिनमें "वीरों का कैसा हो बसंत" तथा "झांसी की रानी" अत्यंत लोकप्रिय हैं। अन्य कविताओं में पति-प्रेम और वात्सल्य भाव को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। इनकी भाषा सरल और सहज है।

**भगवतीचरण वर्मा** ने मस्ती और फक्कड़पन वाली कविताएँ भी लिखी हैं किंतु इनका मुख्य क्षेत्र समाज की विषमताओं से पराजित और संघर्ष से विरत एकाकी व्यक्ति की अनुभूतियों को व्यक्त करना रहा है। भगवतीचरण वर्मा का दर्शन नियतिवादी है। भाषा-शैली सरल और स्पष्ट है।

**हरिवंशराय बच्चन** (जन्म 1907) ने काव्य में एक नयी प्रवृत्ति को लोकप्रिय बनाया जिसे "हालावाद" की संज्ञा दी गयी। प्रेम और मस्ती का जैसा काव्य बच्चन ने लिखा, वैसा और कोई न लिख सका। "मधुशाला", "मधुबाला" और "मधुकलश" की उनकी रचनाएँ अत्यंत लोकप्रिय हुईं। इन संग्रहों पर उमर खैयाम की रूबाइयों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। बच्चन के काव्य में यौवन की लालसा और उद्दाम भावावेग को अभिव्यक्ति मिली है तो जीवन के प्रति धर्मनिरपेक्ष और लौकिक दृष्टि ने भी उनके काव्य को उत्कर्षता प्रदान की है। यद्यपि बच्चन अपनी कविताओं में सामाजिक यथार्थ के जटिल पक्ष को नहीं छूते परन्तु सामाजिक विषमता से उनका काव्य पूरी तरह से विमुख भी नहीं है। भाषा की दृष्टि से बच्चन का योगदान अविस्मरणीय है। तत्सम प्रधान होते हुए भी बोलचाल की हिंदी को काव्यात्मक उत्कर्षता प्रदान करने का कार्य बच्चन ने किया है। सहजता, स्पष्टता और संवेदनशीलता उनकी काव्य-भाषा की खास पहचान है।

**बोध प्रश्न**

4) छायावादोत्तर काव्य की भाषागत विशेषताएं नीचे दी गयी हैं। जो सही नहीं हैं उन पर ( X ) का चिह्न लगाइए और जो सही हो उस पर सही का चिह्न ( ✓ ) लगाइए।

क) सूक्ष्म और वक्र भाषा ( )
ख) बोलचाल की भाषा ( )
ग) तत्सम प्रधान शब्दावली ( )
घ) तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग ( )
ङ) समास-बहुल पद ( )

5) छायावादोत्तर गीतिकाव्य की किन्हीं तीन विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

.....
.....
.....

**अभ्यास**

2) छायावाद और छायावादोत्तर काव्य-भाषा की तुलना कीजिए, उत्तर केवल पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

## 24.6 प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि

छायावाद के बाद एक सशक्त साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद का उदय हुआ। प्रगतिवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का विशेष रूप से हाथ है। यह ऐसा आंदोलन है जो अखिल भारतीय था और जिसने उस दौर के प्रायः सभी लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया। हिंदी में प्रगतिवाद के उदय का अध्ययन करते हुए हमें हिंदी की विशिष्ट स्थिति और बाह्य परिस्थितियों को भी दृष्टि में रखना होगा।

### 24.6.1 छायावाद और प्रगतिवाद

प्रगतिवाद का उदय 1936 से माना जाता है। 1936 में लखनऊ में "प्रगतिशील लेखक संघ" का स्थापना सम्मेलन संपन्न हुआ था, जिसकी अध्यक्षता महान् लेखक प्रेमचंद ने की थी। लेकिन एक प्रवृत्ति के तौर पर प्रगतिशील साहित्य 1930 ई. के आसपास ही प्रकाश में आने लगा था। स्वयं छायावादी कवियों के काव्य में 1930 के आसपास गुणात्मक परिवर्तन में भावावेग और कल्पनाशीलता का स्थान धीरे-धीरे सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न चेतना ने लेना आरंभ कर दिया था। व्यक्ति की मुक्ति का जो लक्ष्य छायावादी कवियों के सामने था, उसका स्थान समाज और राष्ट्र की मुक्ति ने ले लिया। प्रसाद कविता में तो नहीं परन्तु कथा साहित्य में सामाजिक यथार्थ को विषय बनाकर रचना कर रहे थे। पंतजी तो युगांत, युगवाणी, ग्राम्या द्वारा सामाजिक यथार्थ ओर अंतर्विरोधों को वाणी देने लगे। निराला में आरंभ से ही सामाजिक यथार्थ की ओर झुकाव रहा है। "बादल", "भिक्षुक", "विधवा", "तोड़ती पत्थर" जैसी कविताएँ उनके इसी यथार्थ सापेक्ष दृष्टि की परिचायक हैं। "कुकुरमुत्ता" और "नये पत्ते" में तो प्रगतिवादी दृष्टि की स्पष्ट अभिव्यक्ति देख सकते हैं। महादेवी वर्मा छायावादी काव्यांदोलन में देर से शामिल हुई थीं, इसलिए वह देर तक

वैसी ही कविताएँ लिखती रहीं परन्तु 30 के आसपास गद्य-लेखन में उन्होंने सामाजिक विषमताओं और विडंबनाओं को जगह देना आरंभ कर दिया था।

इसलिए यह समझ लेना आवश्यक है कि छायावाद से प्रगतिवाद की ओर प्रयाण अचानक नहीं हुआ था। छायावाद की व्यक्तिवादी-भाववादी चेतना का आवेग तीस के आसपास धीमे पड़ने लगा था और उसका स्थान एक नयी सामाजिक चेतना ने लेना शुरू कर दिया था। ऐसा बदलती हुई परिस्थितियों के कारण संभव हुआ।

## 24.6.2 प्रगतिवादकालीन परिस्थितियाँ

जैसा कि हम छायावादोत्तरकालीन परिस्थितियों की चर्चा करते हुए बता चुके हैं कि सन् 1930 के आसपास राष्ट्रीय आंदोलन में तीव्रता आई। सविनय अवज्ञा आंदोलन और विभिन्न क्षेत्रों में किसानों और मजदूरों के आंदोलनों ने राष्ट्रीय आंदोलन की एक जबर्दस्त लहर सारे देश में व्याप्त कर दी थी। राष्ट्रीय आंदोलन में किसानों और मजदूरों के शामिल होने से कई ऐसे प्रश्न भी महत्व प्राप्त करने लगे जो इससे पहले आंदोलन के सामने उजागर नहीं हुए थे। जमींदारी प्रथा, मजदूरों का शोषण, देशी रियासतों में जनता के अधिकार, क्षेत्र और भाषा का सवाल आदि कई प्रश्नों पर बहसें होने लगीं। इन सबसे जुड़ा सवाल यह उत्पन्न हुआ कि स्वतंत्र भारत कैसा हो? स्वतंत्र भारत में भी क्या जमींदारी प्रथा रहेगी? क्या मजदूरों का वैसा ही शोषण होगा, क्या देशी रियासतें वैसी ही कायम रहेंगी? ऐसे कई सवाल उभरे।

इन सवालों ने राजनीतिक प्रक्रिया को एक नये दौर में पहुंचा दिया। हर तरह के शोषण से मुक्त, मेहनतकशों के राज्य में विश्वास करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। मजदूरों और किसानों के अखिल भारतीय संगठन कायम किये गये। विद्यार्थियों का भी अखिल भारतीय संगठन स्थापित हुआ। स्वयं कांग्रेस में ऐसे नेताओं का समूह उभरा जो मार्क्सवादी या समाजवादी विचारधारा में विश्वास करता था। इन नेताओं ने कांग्रेस-समाजवादी पार्टी की स्थापना की।

1917 में रूसी क्रांति के बाद दुनिया में मुक्ति आंदोलनों को जबर्दस्त ताकत मिली। आरंभ में लेनिन के नेतृत्व में और बाद में स्टालिन के नेतृत्व में बोल्शेविक रूस में तेजी से प्रगति होने लगी। लेकिन यूरोप में धीरे-धीरे फासीवाद सिर उठाने लगा। सबसे पहले इटली में मुसोलिनी की सत्ता स्थापित हुई, फिर 1933 में जर्मनी में हिटलर ने सत्ता हथिया ली। स्पेन में भी फासीवादी ताकतें अग्रसर हो रही थीं। पूरे यूरोप पर फासीवादी उभार का भय छाने लगा। लेखकों और बुद्धिजीवियों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ऐसे समय उनका क्या कर्तव्य है? क्या वे लोकतंत्र को ढहता देखते रहें? क्या वे नस्लवाद के आगे सिर झुकालें या समाज और मानवजाति के प्रति उनका भी कोई कर्तव्य है? इसी भावना ने फासीवाद के विरुद्ध यूरोप के लेखकों को एकजुट करने के लिए पेरिस में 1935 में ई.एम. फार्स्टर की अध्यक्षता में "प्रोगेसिव राइटर्स एसोसिएशन" की स्थापना की गयी।

इसी से प्रेरित होकर 1936 में कुछ भारतीय लेखकों ने भारत में "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना की और उसका पहला अधिवेशन लखनऊ में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद ने की। एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद की शुरुआत इसी से हुई।

## 24.6.3 प्रगतिवाद का अभिप्राय

"प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन" की स्थापना के साथ "प्रोग्रेसिव लिटरेचर" की चर्चा आरंभ हो गयी। इसके लिए हिंदी में "प्रगतिवाद" और "प्रगतिशील" शब्दों का प्रयोग होने लगा। "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना के लिए जो लेखक आगे आये वे मार्क्सवादी थे, इसलिए यह माना जाने लगा कि प्रगतिशील वह है जो मार्क्सवादी विचारधारा में विश्वास करता हो। बाद में प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भी अंतर किया जाने लगा। प्रगतिवादी उन्हें कहा गया जो मार्क्सवादी विचारधारा में विश्वास रखता हो तथा उसी के अनुसार साहित्य रचना करता हो जबकि प्रगतिशील वह है जो प्रगतिशील मूल्यों में विश्वास करता हो, भले ही मार्क्सवादी न हो।

वस्तुतः प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भेद करना उपयुक्त नहीं है। यह सही है कि प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े बहुत से लेखक मार्क्सवादी थे, लेकिन यह भी सही है कि इस आंदोलन की पहचान जीवन और जगत् के प्रति नये दृष्टिकोण में निहित है। यह नया दृष्टिकोण था: पुराने रूढिबद्ध जीवन मूल्यों का त्याग, आध्यात्मिक और रहस्यात्मक अवधारणाओं के स्थान पर लोक आधारित अवधारणाओं को मानना, हर तरह के शोषण और दमन का विरोध, धर्म, क्षेत्र, लिंग, नस्ल, भाषा के आधार पर गैर-बराबरी का विरोध करना, स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र में विश्वास, परिवर्तन और प्रगति में विश्वास करना गरीब, मेहनतकश लोगों के प्रति गहरी सहानुभूति, नारी पर हर तरह के अत्याचार का विरोध तथा साहित्य और कला का लक्ष्य सामाजिकता में मानना आदि। उपर्युक्त जीवन मूल्यों में विश्वास करने वाला प्रत्येक साहित्यकार प्रगतिशील या प्रगतिवादी है चाहे विचारधारा के रूप में उसने मार्क्सवाद को अपनाया हो या नहीं।

चूंकि मार्क्सवाद उपर्युक्त जीवन मूल्यों में विश्वास रखता है और साथ ही परिवर्तन और प्रगति के लिए संगठनात्मक और राजनीतिक पहल को भी आवश्यक मानता है, इसलिए प्रगतिशील साहित्य में राजनीति के स्वर की प्रधानता स्वाभाविक है।

प्रगतिवाद ने यह प्रश्न सामने रखा कि आखिर साहित्य और कला किसके लिए? इसी से जुड़ा प्रश्न था रचनाकार का दायित्व क्या है? इस तरह प्रगतिवाद ने कविता को सामान्य जन से जोड़कर उसे एक नयी दृष्टि दी।

## 24.7 प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवाद का संबंध जीवन और जगत् के प्रति नये दृष्टिकोण से है। इस भौतिक जगत् को संपूर्ण सत्य मानकर, उसमें रहने वाले मानव समुदाय के मंगल की कामना से प्रेरित होकर यह साहित्य रचा गया है। जीवन के प्रति लौकिक दृष्टि इस साहित्य का आधार है और सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न होता है लेकिन उसे बदलने और बेहतर बनाने की कामना के साथ। प्रगतिवादी कवि न इतिहास की उपेक्षा करता है न वर्तमान का अनादर, न ही वह भविष्य के रंगीन सपने बुनता है। इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचते-परखते हुए, वह वर्तमान को समझने की कोशिश करता है और उसी के आधार पर भविष्य के लिए अपना मार्ग चुनता है। यही कारण है कि प्रगतिवादी काव्य में ऐतिहासिक चेतना अनिवार्यतः विद्यमान रहती है।

प्रगतिवादी कवि की दृष्टि सामाजिक यथार्थ पर केन्द्रित रहती है, वह अपने परिवेश और प्रकृति के प्रति गहरे लगाव से प्रेरित होता है तथा जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक होता है। मानव को वह सर्वोपरि मानता है।

### 24.7.1 सामाजिक यथार्थ-दृष्टि

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव का विचार है कि प्रगतिवादी कवि के पास सामाजिक यथार्थ को देखने की विशेष दृष्टि होती है। एक वर्ग चेतना प्रधान दृष्टि। नागार्जुन यदि दुखरन झा जैसे प्राइमरी स्कूल के अल्पवेतन भोगी मास्टर का यथार्थ चित्र अंकित करते हैं तो सामाजिक विषमता के यथार्थ को ध्यान में रखते हुए। इस सरल यथार्थ को कविता में व्यक्त करने के लिए यथार्थ रूपों की समझ जरूरी है। कवि का वास्तव बोध और वस्तुपरक निरीक्षण दोनों पर ध्यान जाना चाहिए।

घुन खाये शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बाँचे
फटी भीत है छत चूती है आले पर विसुतइया नीचे
बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे



प्रगतिशील यथार्थवादी कवि की दृष्टि सामाजिक यथार्थ के अनेक रूपों की ओर जाती है। कवि सामाजिक विषमता को उजागर करता हुआ कभी अपना विक्षोभ व्यक्त करता है, तो

कभी अपना सात्विक क्रोध। कभी वह अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध, सिंह-गर्जना करता है, तो कभी शोषण और दमन के दृश्य देखकर अपना दुख व्यक्त करता है।

### 24.7.2 परिवेश और प्रकृति के प्रति लगाव

प्रगतिवाद में प्रकृति और परिवेश के प्रति कवि का लगाव भी ध्यान आकृष्ट करता है। बाँदा की, बुंदेलखंड की प्रकृति केदारनाथ अग्रवाल की कविता में इतनी सहज रची-बसी है कि वह कविता का सबसे प्रेरक तत्व जान पड़ती है। प्रगतिवादी कवि प्रकृति में जिस जीवन सक्रियता का आभास पाता है उसके लिए एक प्रकार का स्थानिक लगाव जरूरी है।

चढ़ी पेड़ महुआ/थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर/चढ़ी आम ऊपर
उसे लेकर भगी मैं/हरे खेत पहुंची–
वहाँ गेहुओं में/लहर खूब मारी
पहर दो-पहर क्या/अनेकों पहर तक
इसी में रही मैं।

डॉ. श्रीवास्तव के अनुसार प्रगतिवादी कवि के यहाँ प्रकृतिबोध भी यथार्थबोध, सामाजिक वास्तविकता के अनुभव से विच्छिन्न नहीं है।

### 24.7.3 जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण

प्रगतिशील कवि जीवन की स्वीकृति के कवि हैं। जीवनधर्मी लगाव उनके यहाँ रेखांकित करने की चीज है। "मुझे विश्वास है कि पृथ्वी रहेगी"–यह सकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद की महत्वपूर्ण विशेषता है। जहाँ आधुनिकतावादी रूझान वाले कवि हताशा, पस्ती, निराशा, असहायता, अजनबीपन को अनुभवों में महत्वपूर्ण मानकर चलते हैं वहाँ प्रगतिवादी कवि कठिन अंधकार और भयानक निराशा में भी एक प्रकार के सकारात्मक दृष्टिकोण को जीवित रखता है।

प्रगतिवाद का दृष्टिकोण भी मानवतावादी है परन्तु वे आँख मूँदकर मानव-प्रेम में विश्वास नहीं करते। शोषण, दमन और उत्पीड़न करने वालों के प्रति घृणा और गरीब, शोषित, मेहनतकश और पीड़ित मानवता के प्रति गहरा प्रेम उनके मानवतावाद का आधार है। इसीलिए प्रगतिवादी कवि अपने को गरीब और मेहनतकश के साथ जोड़ना चाहता है, न जुड़ पाने की आत्मग्लानि भी अनुभव करता है।

इसलिए कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता
पर, रोज कोई भीतर चिल्लाता है
कि कोई काम बुरा नहीं
बशर्ते कि आदमी खरा हो
फिर भी मैं उस ओर अपने को ढो नहीं पाता।

(मुक्तिबोध)

### 24.7.4 भविष्योन्मुखी दृष्टि

प्रगतिवादी कवि यथास्थितिवादी नहीं हैं। वे सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में हैं। सामाजिक परिवर्तन की उनकी कल्पना स्वच्छंद स्वेच्छाचारी या अराजक नहीं है। वे वांछित दिशा में ही परिवर्तन की कल्पना करते हैं या प्रयत्न करते हैं। कविता उनके लिए सक्षम माध्यम है। भविष्योन्मुखी दृष्टि के अभाव में परिवर्तन की कामना का कोई अर्थ नहीं। यह नागार्जुन और मुक्तिबोध जैसे कवि बखूबी जानते हैं। भविष्योन्मुखी दृष्टि के अभाव में यह साहसपूर्ण स्वर अकल्पनीय है।

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब

पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नीली झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरूण कमल एक

(मुक्तिबोध)

अरूणकमल भविष्य की ही कल्पना है, भविष्य का ही प्रतीक है।

---

**बोध प्रश्न**

6) कोष्ठकों में दिये गये शब्दों में से उपयुक्त शब्द चुनकर वाक्य पूरा करें।

क) प्रगतिवादी काव्य में.....चेतना विद्यमान रहती है।
(वैयक्तिक/दार्शनिक/ऐतिहासिक)

ख) प्रगतिवादी काव्यदृष्टि.....दृष्टि है।
(व्यक्तिचेतन प्रधान/वर्गचेतना प्रधान)

ग) प्रगतिवादी कवि का प्रकृतिबोध.....से अनुप्राणित है।
(वैयक्तिक यथार्थबोध/सामाजिक यथार्थबोध)

घ) प्रगतिवादी कवि.....हैं।
(यथार्थवादी/यथास्थितिवादी)

7) जीवन के प्रति प्रगतिवादी का क्या दृष्टिकोण है? पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

8) प्रगतिवादकालीन परस्थितियों की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

3) प्रगतिवाद और प्रगतिशील शब्दों में किये गये अंतर को स्पष्ट करते हुए बताइए कि क्या आप इसे उचित मानते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

4) छायावाद और प्रगतिवाद के अंतःसंबंध की विवेचना कीजिए।

.....
.....
.....

## 24.8 प्रगतिवादी काव्य की शिल्पगत विशेषताएँ

प्रगतिवादी कविता के संबंध में यह धारणा प्रचलित रही है कि उसमें काव्य के कला पक्ष की उपेक्षा होती है, लेकिन यह सही नहीं है। यह अवश्य है कि प्रगतिवाद में वस्तुपक्ष पर विशेष बल दिया जाता है परन्तु काव्य में रूप और शिल्प के स्तर पर नवीन प्रयोग की प्रवृत्ति प्रगतिवादी कवियों में कहीं अधिक हैं। नागार्जुन के यहाँ रूप की जो आश्चर्यजनक विविधता है वह किसी से छिपी नहीं है। वे दोहा भी लिखेंगे तो पूरी शक्ति के साथ। गीत जैसे रूप प्रकार के भीतर भी उन्होंने दुर्लभ संगठन का प्रमाण दिया है। केदारनाथ अग्रवाल में गीतों और सुगठित चित्रों में अपने काव्यविवेक का प्रमाण दिया है। त्रिलोचन ने अवधी में बरवै लिखे हैं। शमशेर गज़लों के लिए प्रसिद्ध हैं। मुक्तिबोध ने लंबी कविता को जो महाकाव्योचित संगठन दिया वह रूप के प्रति असावधान रहकर संभव नहीं। प्रगतिवादी कवियों ने लोककाव्य रूपों का भी आश्रय लिया। आल्हा या लावनी जैसे रूपों को अपनाया। लेकिन "रूप" प्रगतिवादी कवियों का लक्ष्य नहीं वह उनके काव्य की अंतर्वस्तु को संप्रेषणीय और धारदार बनाने के लिए है।

### 24.8.1 काव्य-भाषा

प्रगतिवादी कवियों ने भाषा का आदर्श गुण माना है—संप्रेषणीयता। उनकी काव्य-भाषा में भी अलंकार, बिंब, प्रतीक मिल जायेंगे पर अलंकरण बनकर नहीं। भाषा की सादगी, सरलता, क्षमता और जीवन शक्ति का प्रमाण बनकर। स्पष्टता और सहजता प्रगतिवादी काव्य का खास गुण है जिसका आधार बोलचाल की भाषा है।

उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा दूखा है,
नंगा है, अनजान है, कला—नहीं जानता
कैसे होती है क्या है·····
अब समाज में
वे विचार रह गये नहीं है जिनको ढोता
चला जा रहा है वह·····

(उस जनपद का कवि हूँ, पृ. 17)

सामाजिक विषमता और विडंबनाओं पर उनकी काव्य-भाषा उग्र, व्यंग्य-विदग्ध और प्रखर हो जाती है। त्रिलोचन से शब्द लेकर कहें, प्रगतिवादी कवियों की भाषा सार्थक वहाँ हैं जहाँ वह "जीवन की हलचल" से संपन्न हैं। प्रगतिवादी काव्य में तद्भव, देशज शब्दों का प्रयोग उनके जमीन से जुड़े होने का प्रमाण है।

प्रगतिवादियों की भाषा में नये अप्रस्तुत मिल जायेंगे पर अलंकृति भर के लिए नहीं। यहाँ बिंब भी सीधे-सादे अनलंकृत है। सजावट नहीं मूर्तता उनका गुण है। प्रगतिवादी कवियों के प्रतीक भी एक निश्चित विचारधारा या दृष्टि के अधीन ही सार्थकता प्राप्त करते हैं। मुक्तिबोध के यहाँ ब्रह्मराक्षस, मनु, जैसे पौराणिक प्रतीक हैं जो जटिल इस अर्थ में हैं कि उनको कवि की वैचारिक प्रतिबद्धता के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

### 24.8.2 छंद और लय

रूप के अंतर्गत कई चीजें आती हैं— छंद-लय भी। छंद या लय का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। छंदों में प्रगतिवादियों ने खूब लिखा है। लोकछंदों में भी और साहित्यिक महत्व के छंदों में भी। दोहा, बरवै, गज़ल, आल्हा, लावनी से अलग भी लय का विन्यास प्रगतिवादी कविता में देखने योग्य है। कहीं तुकें लय के निर्वाह में सहायक हैं, कहीं वाक्यांशों के विलक्षण उतार-चढ़ाव। मुक्तिबोध की काव्य-लय एक ही जान पड़ती है पर उसमें भी जहाँ-तहाँ भेद है और जहाँ एकरूपता है वहाँ भी कथ्य का दबाव नाटकीय गति या लय को

प्रभावित करता है। नागार्जुन की कविता में आवृत्ति के नियम से जो लय बनती है उसका एक उदाहरण देखें:

चंदू मैंने सपना देखा, उछल रहे तुम ज्यों हिरनौटा
चंदू मैंने सपना देखा, भभुआ से हूँ पटना लौटा
चंदू मैंने सपना देखा, तुम्हें खोजते बद्री बाबू,
चंदू मैंने सपना देखा, खेल कूद में हो बेकाबू
चंदू मैंने सपना देखा, कल परसों ही छूट रहे हो
चंदू मैंने सपना देखा, खूब पंतगें लूट रहे हो।

प्रगतिवादी कवियों ने रूप-तिरस्कार नहीं किया, न छंद-लय के निर्वाह में निष्क्रिय या उदासीन रहे हैं। नागार्जुन की कविता "तीन दिन तीन रात" में लय का विन्यास भिन्न है—बातचीत की लय ही यहाँ आदर्श रूप में काव्य की लय है। प्रगतिवादी परंपरा का विकास जिन नये कवियों में हैं वे उन्हीं की तरह लय और छंद के विविध रूपों के प्रति सजग हैं और उन्हें अपना रहे हैं।

### 24.8.3 व्यंग्यात्मकता

प्रगतिवादी काव्य में व्यंग्यात्मकता उसकी खास विशेषता है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, "प्रगतिशील कवि जब व्यंग लिखते हैं तो उनकी भाषा का बाँकपन देखने लायक होता है। हिंदी कविता में व्यंग्य-कविता का जितना सुंदर विकास प्रगतिवाद में हुआ, उतना कहीं नहीं। नागार्जुन ओर केदार के नुकीले व्यंग्य कितने प्रभावशाली हैं, इसे जनता के दुश्मन भी जानते हैं।" नागार्जुन के काव्य में व्यंग्य की अद्‌भुत शक्ति के दर्शन होते हैं। कथ्य से लेकर छंद, भाषा और लय तक में वे व्यंग्य उपजाने में सफल रहते हैं। उदाहरण के लिए "मंत्र-कविता" का एक अंश देखें:

ओं दलों में एक दल अपना दल, ओं
ओं अंगीकरण, शुद्धीकरण, राष्ट्रीयकरण
ओं मुष्टीकरण, तुष्टिकरण, पुष्टीकरण
ओं एतराज, आक्षेप, अनुशासन
ओं गद्‌दी पर आजन्म वज्रासन
ओं ट्रिब्युनल ओं आश्वासन
ओं गुटनिरपेक्ष, सत्तासापेक्ष
ओं छल-छंद ओं मिथ्या ओं होड़महोड़
ओं बकवास, ओं उद्‌घाटन
ओं मारण-मोहन-उच्चाटन

## 24.9 प्रमुख प्रगतिवादी कवि

प्रगतिवादी काव्यधारा ने हिंदी कवियों को बहुत दूर तक प्रभावित किया। स्वयं इस धारा ने कई महत्वपूर्ण कवि हिंदी कविता को दिये। निराला, पंत, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि पूर्ववर्ती काव्यधाराओं के कवि तो प्रगतिवाद से प्रभावित हुए ही, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, शील, गजानन माधव मुक्तिबोध, शंकर शैलेन्द्र, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगलसिंह सुमन आदि कवि गीतकार इसी काव्यधारा की देन थे। प्रगतिवाद के उत्तरवर्ती दौर में प्रगतिशीलता का प्रभाव हम रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि कवियों पर भी देख सकते हैं। हम यहाँ कुछ प्रमुख प्रगतिशील कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

**नागार्जुन (जन्म 1911)**: प्रगतिवादी काव्यधारा के महत्वपूर्ण कवियों में प्रमुख नागार्जुन के बारे में आज यह बात सहज ही कही जा सकती है कि समकालीन हिंदी काव्य परिदृश्य में भी उन्हें केंद्रीयता प्राप्त है। मैथिली काव्य रचनाओं के लिए साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित नागार्जुन खड़ी बोली हिंदी कविताओं में भी मूल काव्य ऊर्जा, गहरी आंचलिकता,

ठेठपन, तद्भवता, व्यंग्यपूर्ण आक्रामकता और गहरी जीवनासक्ति का प्रमाण देते हैं। राजनीतिक कविताएँ नागार्जुन के यहाँ बड़ी संख्या में हैं। कविता के लिए जो विषय अकल्पनीय या असंभव माने जाते हैं उन पर भी नागार्जुन ने कविताएँ लिखी हैं और असाधारण सफलता प्राप्त की है। जीवन के प्रति प्रगाढ़ राग की कविताएँ भी उनके यहाँ कम नहीं हैं। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं: युगधारा, शपथ, प्रेत का बयान, खून और शोले, चना जोर गरम, सतरंगे पंखोवाली, प्यासी पथराई आँखें, तालाब की मछलियाँ। नागार्जुन ने हिंदी काव्य के साथ-साथ मैथिली में भी कविताएँ लिखी हैं, जो "पत्रहीन नग गाछ" में संग्रहीत हैं। नागार्जुन हिंदी के प्रख्यात उपन्यासकार भी हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं, पारो, बलचनमा, रतिनाथ की चाची, नई पौध, वरुण के बेटे, बाबा बटेसर नाथ, दुखमोचन आदि। नागार्जुन को आधुनिक कबीर कहा गया है, वह उनके फक्कड़ क्रांतिकारी व्यक्तित्व को देखते हुए। उनकी कला में भी यही व्यक्तित्व समाया है।

**केदारनाथ अग्रवाल (जन्म 1911):** प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रतिनिधि तथा महत्वपूर्ण कवि हैं। रूमानी आदर्शवाद से यर्थावाद तक, रूपासक्ति से जीवनासक्ति तक और कोमल रागात्मकता से खुरदरे वस्तुचित्रण तक केदार की कविता के अनेक रंग हैं। भावुकता केदार के यहाँ आत्मीयता का पर्याय है। पत्नी प्रेम पर जैसी अकुंठ कविताएँ केदारनाथ अग्रवाल ने लिखी हैं, किसी ने नहीं लिखीं। प्रेम, सौंदर्य, प्रकति के गहरे लगाव के साथ केदार संघर्षशील जनता के कठोर जीवन, कठिन श्रम और दृढ़ आस्था की ओर बराबर सजग रहे हैं। "चंद्रगहना से लौटती बेर", "बसंती हवा" से केदार की खास पहचान बनी। केदारनाथ अग्रवाल स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा के कारण ही उन्हें नयी जीवन दृष्टि और नयी काव्यदृष्टि मिली। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं: फूल नहीं रंग बोलते हैं, गुलमेंहदी, अपूर्वा।

**शमशेरबहादुर सिंह (1911 ई.):** को प्रगतिवादी काव्यधारा से संबद्ध करने में उन्हें कठिनाई होती है जो प्रगतिवाद को स्थिर मतवाद ही मानते हैं, तथा जो उनकी काव्यात्मक संभावनाओं को महत्व नहीं देते। शमशेर को प्रयोगवादी या रूपवादी मानकर अलग कर दिया जाता है। शमशेर विचारधारा की दृष्टि से मार्क्सवादी हैं और मार्क्सवाद को विशेष महत्व देते हैं। जनता के प्रति उनकी सहानुभूति किसी से कम नहीं है। पर कविताओं को वे उसकी मुक्त संभावनाओं में देखते हैं। रूप और शिल्प उन्हें जीवन की प्रकट सच्चाइयों की तरह ही जरूरी जान पड़ते हैं। उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं: कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, इतने पास अपने, चूका भी हूँ नहीं मैं।

**गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-1964)** की कविता का प्रगतिशील यथार्थवादी काव्यधारा से वैसा ही संबंध है जैसा नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल का है। यह अवश्य है कि शमशेर की तरह मुक्तिबोध भी कविता को यथार्थ के सीमित घेरे में बाँध कर नहीं देखते। मुक्तिबोध ने सीधे-सीधे स्वीकार किया है कि एक कला सिद्धांत के पीछे विशेष जीवनदृष्टि होती है, उसके पीछे एक जीवन दर्शन भी होता है और उसके पीछे एक राजनीतिक दृष्टि भी होती है। मुक्तिबोध की महत्वपूर्ण लंबी कविताएँ राजनीतिक दृष्टि से वंचित नहीं है। यह राजनीतिक दृष्टि मार्क्सवाद ही है जो व्यापक अर्थ में विश्व दृष्टि भी है। मुक्तिबोध ने यथार्थ चित्रण के लिए फेंटेसी का भी उपयोग किया और इस प्रकार एकरस जान पड़ने वाले काव्यरूप में विविधता, नाटकीयता, गति पैदा की। अंधेरी दुनिया के रहस्यों को भेदते हुए मुक्तिबोध के जो विचार स्फुलिंग सामने आते हैं वे एक निश्चित विचारधारा या जीवनदृष्टि का प्रमाण देते हैं। वे सत्ता को किस तरह बेनकाब करते हैं इसका सटीक उदाहरण है "भूल-गलती" नामक कविता– जिसमें "भूल-गलती" सिंहासन पर बैठी है और "सच" नाम का पात्र गिरफ्तार करके लाया जाता है। "अंधेरे में" मुक्तिबोध की सबसे महत्वपूर्ण कविता है–आधुनिक कविताओं की विशिष्ट उपलब्धियों में एक। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं: चांद का मुँह टेढ़ा है तथा भूरी-भूरी खाक धूल। उनकी समस्त कविताएँ मुक्तिबोध रचनावली के भाग एक एवं दो में संग्रहीत हैं।

**त्रिलोचनशास्त्री (जन्म 1917)** की एक अलग पहचान है। परंपरा में ही उन्हें रखना हो तो वे तुलसी और निराला की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि हैं। उन्होंने राजनीतिक विषयों पर कविताएँ नहीं लिखीं हैं कि उनकी विचारधारा तक सीधे पहुँचना आसान हो। पर साधारण विषयों पर जीवन के बहुत मामूली प्रसंगों पर लिखते हुए भी वे अपनी दृष्टि

का प्रमाण देते हैं। सॉनेट त्रिलोचन का प्रिय छंद है। सॉनेटों में जितनी सहजता से वे आत्मकथ्य या सामाजिक संदेश बिखेरते चलते हैं, उसी से उनकी साफ दृष्टि और असाधारण काव्य क्षमता का पता चलता है। त्रिलोचन की कविताएँ सीधे जीवन को पकड़ती हैं। त्रिलोचन का प्रथम महत्वपूर्ण संग्रह "धरती" है। दूसरा संग्रह है "दिगंत"। अन्य संग्रह हैं: "ताप के तापे हुए हुए दिन", "उस जनपद का कवि हूँ"।

## 24.10 छायावादोत्तर और प्रगतिवादी काव्य का महत्व

इस इकाई के आरंभ में छायावादोत्तर काव्य के अंतर्गत जिन काव्य प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है उनका महत्व यह है कि वह राष्ट्रीय आंदोलन के तीव्र होते हुए ज्वार को अभिव्यक्ति देते हैं, तो दूसरी ओर वह उस युग के युवा वर्ग के उल्लास, उमंग, जीवनोन्मुखी दृष्टि का परिचय भी देते हैं। परन्तु इस काव्य की सीमा यह है कि वह युग के जटिल यथार्थ में निहित अंतर्विरोधों की ओर दृष्टिपात नहीं करता, न ही उस युग की व्यापक जन आकांक्षा को वाणी देता है। रूप और शिल्प की दृष्टि से लोकप्रिय माध्यमों को अपनाने के बावजूद नये प्रयोगों की ओर रूझान कम है।

इसके विपरीत प्रगतिवाद का एक काव्य प्रवृत्ति के रूप में और व्यापक साहित्यिक आंदोलन के रूप में ऐतिहासिक महत्व है। प्रगतिवाद ने कविता को अपने समय के यथार्थ से, यथार्थ-बोध के अनेक रूपों से जोड़ा और कविता और राजनीति के बीच ऐसा घनिष्ठ संबंध विकसित किया जिससे आगे की कविता भी लाभान्वित हुई। प्रगतिवाद ने कविता संबंधी अवधारणा बदली और अपने समय के तीखे सवालों की गूँज कविता में पैदा की। प्रगतिवाद ने एक नये ही संदर्भ में "कविता किस के लिए" जैसा सवाल उठाया। प्रगतिवाद अपनी ऐतिहासिक भूमिका के लिए साहित्य में स्थायी महत्व का विषय हो गया है।

प्रगतिवाद ने साहित्य के रचना-संसार का विस्तार किया। कविता का संसार अधिक यथार्थ प्रामाणिक, व्यापक और विश्वसनीय लगने लगा। कविता की अंतर्वस्तु और रचनाविधान में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। उपेक्षित जान पड़ने वाले विषयों, चरित्रों को काव्यात्मक प्रतिष्ठा मिली। कविता ने प्रत्यक्ष जीवन, लोक रूपों, लोकप्रचलित छंदों का नया उपयोग किया और नयी संभावनाएँ खोजीं।

**बोध प्रश्न**

9) कोष्ठकों में दिए गये शब्दों में से उपयुक्त शब्द चुनकर वाक्य पूरा करें।

क) प्रगतिवादी कवियों ने काव्य लय को ..... दी है।
(एकरसता/विविधता)

ख) भावुकता केदार के यहाँ ..... का पर्याय है।
(सरलता/आत्मीयता)

ग) शमशेर विचारधारा की दृष्टि से ..... है।
(भाववादी/मार्क्सवादी)

घ) मुक्तिबोध की लंबी कविताएँ ..... दृष्टि से वाचन नहीं हैं।
(सांस्कृतिक/राजनीतिक)

10) प्रगतिवादी काव्य की भाषागत विशेषताओं का लगभग पाँच पंक्तियों में उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

अभ्यास

5) प्रगतिवादी काव्य के ऐतिहासिक महत्व का 50-60 शब्दों में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 24.11 सारांश

- इस इकाई में हमने छायावाद के बाद की कुछ प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों का परिचय दिया है। छायावाद के उत्तरकाल में राष्ट्रीय भावना, प्रेम और मस्ती तथा हास्य-व्यंग्य की जिन प्रवृत्तियों का उदय हुआ था, उन्हें बाद में छायावादोत्तर काव्य के नाम से जाना गया। राष्ट्रीय आंदोलन के तीव्र होते ज्वार से उत्पन्न इस काव्य में उस युग की परिस्थितियों और युवा वर्ग की आकांक्षाओं का प्रतिबिंब नजर आता है। इकाई को पढ़ने के बाद आप छायावादोत्तर काव्य कालीन परिस्थितियों और उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों की विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं।

- छायावादोत्तर काव्य की भाषा सहज, सरल और बोलचाल के नजदीक है तथा गीतात्मकता की ओर इसका अधिक झुकाव है। बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखन लाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, दिनकर आदि की राष्ट्रीय उद्‌बोधन तथा बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, आदि के प्रेम और मस्ती से ओतप्रोत गीतों ने अपार लोकप्रियता अर्जित की। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप छायावादोत्तर काव्य की शिल्पगत विशेषताओं और प्रमुख कवियों का संक्षिप्त विवरण दे सकते हैं।

- प्रगतिवाद केवल काव्य प्रवृत्ति नहीं व्यापक काव्यांदोलन या साहित्यिक आंदोलन है। प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य शब्द का प्रयोग 1936 के आसपास हुआ जब प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित हो चुका था पर साहित्य में 1930 के बाद ही यह रूझान प्रकट होने लगा था जिसके पीछे बदली हुई राजनीतिक-सामाजिक वास्तविकता थी। अंतर्वस्तु की दृष्टि से प्रगतिवाद में ऐतिहासिक चेतना, सामाजिक यथार्थ-दृष्टि, परिवेश या प्रकृति के प्रति लगाव, जीवन के प्रति स्वीकृति का भाव, मानवीय संबंधों में समानता का आग्रह और भविष्योन्मुखी दृष्टि का महत्व है। इस इकाई को पढ़ने के बाद प्रगतिवाद की उपर्युक्त प्रवृत्तियों की विशेषताएँ बता सकते हैं।

- शिल्पविधान की दृष्टि से प्रगतिवाद में यथार्थबोध के अनुरूप नये रूपों की खोज, जीवन की हलचल से भरी भाषा, लोकरूपों या छंदों का आवश्यकतानुसार उपयोग, सहजता का शिल्प आदि महत्वपूर्ण है। प्रगतिवाद के प्रमुख कवि हैं– नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, मुक्तिबोध और त्रिलोचन। प्रगतिवाद के इन प्रमुख कवियों का काव्य उसकी संपन्नता का प्रतीक है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप प्रगतिवाद की शिल्पगत विशेषताएँ बता सकते हैं और उनके प्रमुख कवियों के काव्य का संक्षिप्त परिचय दे सकते हैं।

## 24.12 शब्दावली

**फासीवाद:** एक दक्षिणपंथी राजनीतिक दर्शन है जो यह विश्वास करता है कि राज्यसत्ता पर नियंत्रण किसी शक्तिशाली तानाशाह का हो। इसमें अंधराष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया जाता है और विरोधियों का दमन किया जाता है।

**बोल्शेविक:** इस शब्द का प्रयोग उस राजनीतिक प्रणाली और विचारों को समझाने के लिए किया जाता था जो रूस में क्रांति से पूर्व लेनिन और उनके सहयोगियों ने प्रस्तुत की थी और 1917 की क्रांति के बाद जिसे सोवियत संघ में अमली रूप दिया गया।

**वर्ग चेतना:** प्रत्येक समाज वर्गों में विभाजित होता है। जैसे, पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और सर्वहारा (मजदूर) वर्ग। व्यक्ति का वह सोच जो किसी वर्ग विशेष के अनुरूप हो, वर्ग चेतना कहलाती है।

**वास्तव बोध:** किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति या विचार का तथ्यपरक ज्ञान।

**वस्तुपरक निरीक्षण:** किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति या विचार की वास्तविक सत्ता को जाँचना।

**सॉनेट:** चौदह पंक्तियों की एक विशेष गठन की कविता जिसमें कि कुछ पंक्तियों की निश्चित विधि में तुक मिलती है।

## 24.13 उपयोगी पुस्तकें


डॉ. रामविलास शर्मा: **मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984।

डॉ. रामविलास शर्मा: **रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि,** वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990।

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव: **शब्द और मनुष्य,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988।

डॉ. नामवर सिंह: **आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ,** लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

डॉ. प्रेमशंकर: **हिंदी स्वच्छंदतावादी काव्य,** मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।

डॉ. नगेन्द्र (सं.): **हिंदी साहित्य का इतिहास,** नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नयी दिल्ली।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी: **आधुनिक हिंदी कविता,** राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।


## 24.14 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) क) ✓ ख) × ग) × घ) ×
2) क) छायावाद ख) छायावादोत्तर ग) छायावाद घ) छायावादोत्तर
3) द्रष्टव्य 24.2.2
4) क) ✓ ख) × ग) × घ) × ङ) ✓
5) i) हृदयगत भावनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति
   ii) राष्ट्रीय चेतना और प्रणय भावना की अभिव्यक्ति
   iii) अभिव्यक्तिमूलक सादगी और सहज कथन-भंगिमा
6) क) ऐतिहासिक ख) वर्गचेतना प्रधान ग) सामाजिक यथार्थबोध घ) यथार्थवादी
7) देखिए 24.7.3
8) देखिए 24.6.2
9) क) विविधता ख) आत्मीयता ग) मार्क्सवादी घ) राजनीतिक
10) द्रष्टव्य 24.8.1

**अभ्यास**

1) i) राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति के साथ स्वयं भी संघर्ष में भाग लिया
   ii) सच्चाई और भावावेश
   iii) राष्ट्र के प्रति गहरी समर्पण भावना और बलिदान की इच्छा
   iv) जनता की वास्तविक दीन-हीन दशा का चित्रण
   v) अतीत के गौरव की प्रतिष्ठा
2) इकाई 23 का भाषा संबंधी अंश और इस इकाई 24 का उपभाग 24.4.1 का अध्ययन कीजिए और लिखिए।
3) द्रष्टव्य, उपभाग 24.6.3
4) द्रष्टव्य, उपभाग 24.6.1
5) द्रष्टव्य भाग 24.10

# इकाई 25 प्रयोगवाद एवं नयी कविता

## इकाई की रूपरेखा


25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि
  25.2.1 प्रगतिवाद और प्रयोगवाद
  25.2.2 प्रयोगवादकालीन परिस्थितियाँ
  25.2.3 प्रयोगवाद का अभिप्राय
25.3 प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
  25.3.1 विचारधारा से मुक्ति
  25.3.2 सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण
  25.3.3 व्यक्तिवाद
  25.3.4 यथार्थ-दृष्टि
25.4 प्रयोगवाद की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ
  25.4.1 काव्य-भाषा
  25.4.2 छंद और लय
  25.4.3 प्रतीक और बिंब
25.5 प्रमुख प्रयोगवादी कवि
25.6 नयी कविता की पृष्ठभूमि
  25.6.1 प्रयोगवाद और नयी कविता
  25.6.2 नयी कविता कालीन परिस्थितियाँ
  25.6.3 नयी कविता का अभिप्राय
25.7 नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
  25.7.1 व्यक्ति-स्वातन्त्र्य
  25.7.2 आस्था और अनास्था
  25.7.3 औद्योगिक सभ्यता
  25.7.4 अनुभूतिपकरता
  25.7.5 प्रकृति-प्रेम
25.8 नयी कविता की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ
  25.8.1 काव्य-भाषा
  25.8.2 छंद और लय
  25.8.3 प्रतीक और बिंब
25.9 नयी कविता के प्रमुख कवि
25.10 सारांश
25.11 शब्दावली
25.12 उपयोगी पुस्तकें
25.13 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 25.0 उद्देश्य

हिंदी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम 03 के खंड 7 से संबंधित इस इकाई में आधुनिक हिंदी काव्य से संबंधित दो प्रमुख काव्यधाराओं–प्रयोगवाद और नयी कविता का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रयोगवाद और नयी कविता के उद्‌भव की पृष्ठभूमि बता सकेंगे;
- प्रयोगवाद और नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सकेंगे;
- प्रयोगवाद और नयी कविता की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ बता सकेंगे; तथा

- प्रयोगवाद और नयी कविता से संबंधित प्रमुख कवियों और उनकी प्रमुख काव्य रचनाओं का परिचय दे सकेंगे।

## 23.1 प्रस्तावना

हिंदी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम 03 के अंतर्गत आप हिंदी साहित्य के इतिहास का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। इस खंड में आपने अब तक आधुनिक हिंदी काव्य की दो प्रमुख धाराओं छायावाद और प्रगतिवाद का अध्ययन कर लिया है। इनके अतिरिक्त छायावाद के तत्काल बाद उभरी राष्ट्रवादी-स्वच्छंदतावादी काव्य प्रवृत्तियों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर चुके है। छायावाद से प्रगतिवाद तक के इस विकास के बाद हिंदी काव्य की धारा फिर एक नयी दिशा की ओर मुड़ी। इस नये उभार को प्रयोगवाद कहा गया।

प्रयोगवाद का आरंभ कब और क्यों हुआ? यह काव्यधारा अपने पूर्व की काव्यधाराओं से किन अर्थों में भिन्न थी? वस्तु और रूप दोनों दृष्टियों से इस काव्य की क्या विशिष्टताएँ हैं इन सभी बातों का अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे। हम आपको यह भी बतायेंगे कि इस काव्यधारा के प्रमुख कवि कौन-कौन हैं और उनका क्या योगदान है? प्रयोगवाद के बाद हिंदी में "नयी कविता" नामक काव्यधारा का उदय हुआ। प्रयोगवाद और नयी कविता के अंतः संबंधों को चर्चा करते हुए हम उपर्युक्त सभी पहलुओं की चर्चा नयी कविता के संदर्भ में भी करेंगे।

आशा है इस इकाई को पढ़ने के बाद नयी कविता तक के हिंदी काव्य के विकास की एक पूर्ण तस्वीर आपके सामने आ चुकी होगी। इससे अगली इकाई में आप नयी कविता के बाद के हिंदी काव्य के विकास का अध्ययन करेंगे। भारतेंदु युग से लेकर समकालीन कविता तक का विकास इस बात का द्योतक है कि इस अवधि में हिंदी कविता में तेजी से बदलाव आये हैं। अंतर्वस्तु, रूप, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से हिंदी कविता लगातार बदलती और विकसित होती रही है। यह विकास इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से तत्कालीन स्थितियों में आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है क्योंकि हिंदी कविता उन्हीं स्थितियों के बदलाव को ही किसी-न-किसी रूप में व्यक्त करती रही है।

## 25.2 प्रयोगवाद की पृष्ठभूमि

हिंदी के प्रख्यात कवि अज्ञेय के संपादन में "तार सप्तक" नाम का एक काव्य-संग्रह सन् 1943 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में सात कवियों की कविताएँ संग्रहीत थीं—गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द जैन, रामविलास शर्मा और स्वयं अज्ञेय। जब यह संग्रह-प्रकाशित हुआ था, तब इनमें से अज्ञेय को छोड़कर शेष सभी कवि प्रगतिवादी विचारधारा से प्रभावित थे, कुछ तो सीधे-सीधे अपने को कम्युनिस्ट कहते थे। अज्ञेय भी प्रगतिवादियों से बहुत दूर नहीं थे। इसके बावजूद इस संग्रह से काव्य में प्रयोग की चर्चा आरंभ हुई। इसका कारण था—इस पुस्तक की अज्ञेय द्वारा लिखित "भूमिका"।

अज्ञेय ने "तार सप्तक' 'की भूमिका में लिखा था कि "संग्रहीत कवि सभी कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि उन्होंने काव्य का सत्य पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को पाते हैं। वे किसी स्कूल के नहीं है, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं राहों के अन्वेषी।" अज्ञेय के इन कथनों से "प्रयोगवाद" और "प्रयोगशीलता" की चर्चा होने लगी। "दूसरा सप्तक" में अज्ञेय द्वारा यह कहे जाने के बावजूद कि "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप इष्ट या साध्य है।" प्रयोगवाद शब्द रूढ़ हो गया।

सन् 1947 में अज्ञेय के संपादन में "प्रतीक" नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ

हुआ। इसके बाद से लगातार प्रयोगवाद की चर्चा होती रही, यद्यपि अज्ञेय ने दूसरा सप्तक (1951) की भूमिका में प्रयोग के वाद से इंकार किया, इसके बावजूद यह शब्द रूढ़ हो गया। इस प्रकार प्रयोगवाद का आरंभ तार सप्तक (1943) से नहीं बल्कि "प्रतीक" (1947) के प्रकाशन से माना जाना चाहिए। वैसे भी 46-47 से पहले तक प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील कवियों के बीच वैसी खाई नहीं थी, जैसी बाद में देखी गयी। 1946-47 के बाद ही प्रगतिशील कवियों-लेखकों और गैर प्रगतिशील कवियों-लेखकों के बीच मतभेद बढ़ा और प्रयोगवाद प्रगतिवाद के विपरीत रूप-पक्ष पर बल देता हुआ आगे बढ़ा।

## 25.2.1 प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

प्रतीक (1947) के प्रकाशन के समय प्रगतिशील कहे जाने वाले कई कवियों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन होने लगा था। नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, नरेन्द्र शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर आदि कुछ ऐसे ही प्रगतिशील कवि थे। इन कवियों ने इस प्रक्रिया में प्रगतिवाद पर दो आरोप लगाये—एक तो यह कि प्रगतिवाद साहित्य का संकीर्णतावादी आंदोलन है जो लेखकों की स्वतंत्रता का अपहरण कर उसे खास विचारधारा के घेरे में बांध देता है। दूसरा आरोप यह लगाया गया कि प्रगतिवाद साहित्य के रूप व कला पक्ष की उपेक्षा करता है तथा विषय-वस्तु के संबंध में भी संकीर्ण दृष्टिकोण रखता है। अज्ञेय प्रगतिवाद की सामूहिकता के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक बनकर आगे आये। अतः जब 'प्रतीक' का प्रकाशन आरंभ हुआ तो वे सभी पुराने प्रगतिशील कवि जो प्रगतिवाद से असंतुष्ट थे तथा वे नये कवि जो अभी अपनी दिशा निर्धारित नहीं कर पाये थे अज्ञेय और 'प्रतीक' के इर्द-गिर्द इकट्ठे होने लगे। इस प्रकार अज्ञेय प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक बनकर उभरे।

अज्ञेय ने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के अंतर को स्पष्ट किया है। अज्ञेय के अनुसार मानव के प्रति दो दृष्टिकोण मिलते हैं। एक में मानव-व्यक्ति पर आग्रह है अर्थात् व्यक्ति के रूप में मनुष्य केन्द्र में है, दूसरे में, मानव सामाजिक इकाई के रूप में है। पहले में विषय पर आग्रह है, साथ ही सौन्दर्य और रूप विधान के प्रतिमानों को स्वीकार करते हुए चलती है। जबकि दूसरे का आग्रह विषय पर नहीं विषय की स्थिति पर है और वह रूप-विधान की परवाह नहीं करता। अज्ञेय के कथन का तात्पर्य यह है कि प्रगतिवाद में विषय के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण रहता है और कला-पक्ष की उपेक्षा रहती है जबकि प्रयोगवाद में रचना का कलात्मक उद्देश्य कभी संदिग्ध नहीं रहता।

वस्तुतः प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ से साहित्य को संपृक्त करते हुए उसे संघर्ष का माध्यम बनाता है जबकि प्रयोगवाद साहित्य के रूप संबंधी नवीन प्रयोगों पर बल देता है तथा साहित्य के सामाजिक पक्ष की उपेक्षा करता है। प्रगतिशील आंदोलन और साहित्य का संबंध राष्ट्रीय स्वाधीनता से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है। जबकि प्रयोगवाद शुद्ध रूप से एक साहित्यिक काव्य आंदोलन था। उसकी प्रतिबद्धता किसी विशेष विचारधारा से नहीं थी और काव्य के कलापक्ष के प्रति इसमें आग्रह अधिक था।

## 25.2.2 प्रयोगवादकालीन परिस्थितियाँ

साहित्य में प्रयोगवाद की प्रवृत्ति के उदय का क्या कारण है? प्रगतिवाद का आंदोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से घनिष्ठ रूप से जुड़ा था, लेकिन जब आजादी हासिल हो गयी तो मध्यवर्ग के सम्मुख कोई ऐसा आदर्श नहीं रहा जो उन्हें किसी बाह्य सामाजिक आदर्श से जोड़ पाता। देश के नव-निर्माण ने उनमें नवीन आकांक्षाओं को जगाया। सामूहिकता की भावना के शिथिल पड़ने के साथ व्यक्तिवाद ने जोर पकड़ना शुरू किया। दूसरी ओर विश्व पैमाने पर अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी शिविर और सोवियत संघ के नेतृत्व में समाजवादी शिविर के बीच बढ़ते तनाव ने भी लेखकों के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दौरान साम्राज्यवादी देशों ने कम्युनिस्ट देशों और मार्क्सवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रचार किया। इस प्रचार ने लेखकों और बुद्धिजीवियों को भी प्रभावित किया। इस बात को प्रमुखता दी जाने लगी कि व्यक्ति की स्वतंत्रता ही सर्वोत्तम मूल्य है। साम्यवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। समाजवादी देशों में व्यक्ति को कोई स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वहाँ लोकतंत्र और मानव मूल्य सुरक्षित नहीं है। प्रयोगवाद के उदय में इन परिस्थितियों ने भी अपनी भूमिका निभाई। प्रयोगवाद के

उदय का एक कारण यह भी था कि प्रगतिवादी आंदोलन में धीरे-धीरे संकीर्णतावादी दृष्टिकोण का प्रवेश होने लगा। जीवन के व्यापक अनुभवों की बजाए कुछ खास तरह के जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा। कलात्मक श्रेष्ठता की बजाए प्रचार को अधिक प्रश्रय दिया गया। इस स्थिति ने नये कवियों-लेखकों में असंतोष उत्पन्न किया। उन्होंने नये मार्ग की तलाश आरंभ की। प्रयोगवाद इसी नये सोच का वाहक बनकर प्रवर्तित हुआ।

### 25.2.3 प्रयोगवाद का अभिप्राय

"तार सप्तक" की भूमिका में अज्ञेय ने काव्य को प्रयोग का विषय माना था। उनके इस कथन से ही काव्य में प्रयोग को लेकर चर्चा बढ़ने लगी और धीरे-धीरे प्रगतिवादी काव्य से भिन्न कविताओं को प्रयोगवादी कविता कहा जाने लगा। लेकिन इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि प्रयोगवादी कवि केवल प्रयोगशीलता को ही काव्य का धर्म मानते हैं। काव्य के कला पक्ष और रूप-पक्ष पर बल देते हुए भी प्रयोगवाद सिर्फ काव्य का कलावादी आंदोलन नहीं है बल्कि इससे अधिक यह काव्य के क्षेत्र में नये विचारों और मतों का वाहक भी है। अज्ञेय ने कहा था, "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं।" अज्ञेय के इस कथन में केवल प्रयोग को वाद मानने से ही इंकार नहीं है बल्कि किसी विचारधारा विशेष के प्रति प्रतिबद्धता को भी वे अनावश्यक मानते हैं। अज्ञेय का मानना है कि काव्य में किसी विचारधारा के प्रति आग्रह से व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है। धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेवनारायण साही आदि कवियों–समीक्षकों की दृष्टि में भी "प्रयोगशील कविता कई अर्थों में टेकनीक और अभिव्यंजना का आंदोलन है"।

अज्ञेय यह मानते हैं कि प्रयोग दोहरा साधन है। "एक तो उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अच्छी तरह अभिव्यक्ति कर सकता है"। अज्ञेय एवं अन्य लेखकों के उपर्युक्त कथनों से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं:

क) प्रयोगवाद में विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का आग्रह नहीं है।
ख) प्रयोगवाद में विषयवस्तु की अपेक्षा रूप और शिल्प को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है।
ग) प्रयोग का संबंध नयी विषय-वस्तु की खोज से भी है और उस विषय-वस्तु को प्रेषित करने के ढंग से भी है।

अगर हम उपर्युक्त बातों पर गौर करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि प्रयोगवाद काव्य में नये दृष्टिकोण को लेकर सामने आया जो पूर्ववर्ती काव्य-धारा-प्रगतिवाद से भिन्न था।

## 25.3 प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रयोगवाद का उदय प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में हुआ इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रयोगवाद समाज की तुलना में व्यक्ति को, विचारधारा की तुलना में अनुभव को, विषयवस्तु की तुलना में कलात्मकता को श्रेयस्कर मानता। प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए हमें उपर्युक्त बातों को दृष्टि में रखना चाहिए। प्रयोगवाद के स्वरूप को समझने के लिए हम उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर विचार करेंगे।

### 25.3.1 विचारधारा से मुक्ति

प्रख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने "वाद के विरुद्ध विद्रोह" को प्रयोगवाद की सर्वप्रथम विशेषता माना है। स्वयं अज्ञेय ने कहा था "प्रयोग का कोई वाद नहीं है।" प्रयोगवादी कवियों का मानना था कि कोई भी वाद या विचारधारा मनुष्य को सत्य तक नहीं पहुँचा सकती। राजनीतिक पक्षधरता को वे अनावाश्यक मानते हैं। अज्ञेय के अनुसार "हमारा जन्म लेना ही पक्षधर होना है"। जीवन-संघर्ष में वह किसी बाह्य सत्य, किसी वैज्ञानिक

दर्शन की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते। उनका प्रश्न है कि जिस विचार-दर्शन के सहारे हम जीवन-पथ पर चलने का निर्णय करते हैं वह कब तक हमें सहारा देगा। उसका कितना भरोसा किया जा सकता है

यह जो दिया लिये तुम चले खोजने सत्य, बताओ
क्या प्रबंध कर चले
कि जिस बाती का तुम्हें भरोसा
वही जलेगी सदा
अकम्पित, उज्जवल, एकरूप, निर्धूम?

(साधना का सत्य, कितनी नावों में कितनी बार)

## 25.3.2 सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण

डॉ. नामवर सिंह ने "सत्य के लिए निरंतर अन्वेषण" को प्रयोगवाद की दूसरी विशेषता माना है। जब एक बार प्रयोगवादी कवि ने विचारधारा से अपने को अलग कर लिया तब सत्य को जानने के लिए निरंतर अन्वेषण आवश्यक हो गया। अज्ञेय ने "दूसरा सप्तक" की भूमिका में कहा था, "प्रयोग दोहरा साधन है, क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।"

अज्ञेय के विचारों का तात्पर्य यह है कि प्रयोगवादी कवि उस सत्य की भी खोज करता है, जिसे वह काव्य में व्यक्त करना चाहता है और उस माध्यम की भी खोज करता है जिसके द्वारा सत्य व्यक्त होता है। इस प्रकार सत्य का अन्वेषण प्रयोगवाद की एक प्रमुख विशेषता है। प्रयोगशीलता की पहचान इसी प्रवृत्ति में अंतर्निहित है।

## 25.3.3 व्यक्तिवाद

प्रयोगवादी कवियों ने व्यक्ति के एकांत महत्व पर विशेष बल दिया है। नदी के द्वीप कविता में अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के संबंधों पर विचार किया है। उनके अनुसार व्यक्ति द्वीप के समान है जो काल रूपी नदी के बीच दृढ़ता से अवस्थित रहता है, जो समाज रूपी भूखंड की तरह नदी को गंदला नहीं करता। "नदी के द्वीप" कविता में व्यक्ति और समाज अलग-अलग हैं। उनकी अन्य कई कविताओं में भी व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व पर बल दिया गया है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति यह आग्रह मध्यवर्ग की मानसिकता की अभिव्यक्ति है जो वैयक्तिक असंतोष से उपजी है। छायावाद में भी मध्यवर्ग का ही व्यक्ति केंद्र में था परन्तु वहाँ उसकी चेतना उर्ध्वमुखी थी, वह आत्म विकास की ओर अग्रसर था उसकी व्यक्ति-चेतना सामंती रूढ़ियों और बंधनों से मुक्त होना चाहती थी। प्रगतिवाद ने इस मध्यवर्ग के व्यक्ति को समाज से और सामूहिक चेतना से जोड़ा। इसके कारण मध्य वर्ग के व्यक्ति में व्यक्तिवादिता का उदय नहीं हुआ। परन्तु प्रयोगवादी दौर में मध्यवर्ग का असंतोष सामाजिक धरातल पर व्यक्त होने की बजाए वैयक्तिक धरातल पर व्यक्त हुआ। समाज से कटा हुआ व्यक्ति केवल अपने दर्द को व्यक्त करने लगा। आशा और विश्वास की जगह निराशा और अनास्था ने ले ली। इस प्रकार प्रयोगवादी कविता में व्यक्ति की भावनाएँ ही प्रमुख होती चली गयीं।

## 25.3.4 यथार्थ-दृष्टि

प्रयोगवादी कविता में भावुकता की बजाए बौद्धिकता का आग्रह अधिक है। जीवन के यथार्थ को रंगीन, मोहक और भावमय रूप में प्रस्तुत करने की बजाए प्रयोगवाद ने उसे सहज और साधारण रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि प्रयोगवादी कवि का जीवनानुभव बहुत सीमित था, परन्तु यह सीमित अनुभव यथार्थपरक रूप में ही व्यक्त हुआ। इसका उदाहरण हम प्रकृति और नारी संबंधी कविताओं में देख सकते हैं।

छायावादी और प्रयोगवादी कविता में नारी-चित्रण की तुलना करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि "छायावादी कवि प्रायः प्रकृति की मोहक पृष्ठभूमि में अथवा सुंदर प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से नारी की छाया-प्रतिमा निर्मित करते रहे, लेकिन प्रयोगवादी कवि ने यहाँ भी अप्सरामयी नारी को स्वप्नस्थित गरिमामय पद से उतारते हुए सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया।" अज्ञेय आधुनिक युग के साधारण व्यक्ति को यौन-वर्जनाओं का पुंज मानते हैं। शायद यही कारण है कि प्रयोगवाद में प्रेम की अभिव्यक्ति कहीं-कहीं प्रकृतवाद के धरातल पर हुई है। यह अवश्य है कि प्रयोगवादी कविताओं में प्रेम भावुकतापूर्ण ओर लिजलिजे रूप में व्यक्त नहीं हुआ है बल्कि बौद्धिक धरातल पर व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए "हरी घास पर क्षण भर" कविता में अज्ञेय प्रेमाभिव्यक्ति करते हुए सामाजिक वास्तविकता को नहीं भूलते। प्रेम की भावना का एक आयाम यह भी है कि व्यक्ति प्रेम में डूबकर दुनिया की सुधबुध खोने की बजाय वह समाज के प्रति उदात्त और जीवन के प्रति अधिक संघर्षशील बने। गिरिजाकुमार माथुर की "तैतीसवीं वर्षगांठ" में यही भावना व्यक्त हुई है। कवि कहता है कि उम्र की इस मीनार पर केवल प्रिय का प्यार ही शक्ति देता है जिससे कि संसार के जुल्म से लड़ा जा सके। कवि अपनी प्रिया से कामना करता है:

लाल आंचल से पसीना पोंछ दो
बाल पतली उंगलियों से ओंछ दो
उम्र की सारी थकान उतार दो
देह पर हथियार नये संवार दो।

प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति-चित्रण में भी इसी यथार्थ-दृष्टि का परिचय दिया है। प्रकृति की सूक्ष्म गतिविधियों को उसके रूप, रस, स्पर्श, गंध और स्वर के अनुभवों को शब्दबद्ध करने की कोशिश करते हैं। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में हम प्रकृति के विभिन्न रूप देख सकते हैं।

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे,
भोर का नभ
राख से लीपा हुआ चौका।
(अभी गीला पड़ा है।)
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गयी हो
स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो।
और.....
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है।

(उषा: शमशेर)

---

**बोध प्रश्न**

**निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए और अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।**

1) **प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में कुछ अंतर नीचे बताये गये हैं। इनमें जो अंतर सही नहीं हो उनके आगे ( × ) का चिह्न लगाइए।**

   क) प्रगतिवाद में समाज केन्द्र में होता है जबकि प्रयोगवाद में व्यक्ति। ( )

   ख) प्रगतिवाद में कला पक्ष का अधिक महत्व होता है जबकि प्रयोगवाद में विषय-वस्तु का। ( )

   ग) प्रगतिवाद में व्यक्ति की समस्याओं की प्रधानता होती है जबकि प्रयोगवाद में व्यक्ति की समस्याओं का चित्रण नहीं होता। ( )

घ) प्रगतिवाद आंदोलन का संबंध स्वाधीनता संघर्ष से था जबकि प्रयोगवाद केवल साहित्यिक आंदोलन रहा। ( )

2) निम्नलिखित विशेषताओं में से जो प्रयोगवाद पर लागू न हो, उनके आगे ( × ) का चिह्न लगाइए।

क) प्रयोगवाद मार्क्सवाद के प्रति पक्षधरता का समर्थक है।
ख) प्रयोगवाद में "वाद" का आग्रह नहीं है। ( )
ग) प्रयोगवाद की कविता में शिल्प पक्ष पर विशेष ध्यान रखा जाता है। ( )
घ) प्रयोगवाद में सत्य की सतत खोज पर अधिक बल दिया जाता है। ( )

3) प्रयोगवाद में व्यक्ति के प्रति दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए। उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

1) प्रयोगवादी कविता का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ और ये परिस्थितियाँ पूर्व से किन रूपों में भिन्न थीं। लगभग 100 शब्दों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 25.4 प्रयोगवाद की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ

प्रयोगवाद में वस्तुपक्ष की अपेक्षा रूप-पक्ष पर अधिक बल दिया गया है, यह पहले कहा जा चुका है। अज्ञेय ने भी कहा था कि प्रयोगवादी कविता में सौंदर्य पक्ष और रूप-विधान उत्कृष्ट होता है। किंतु हम यह भी बता चुके हैं कि प्रयोगवाद केवल कलापक्ष पर ही जोर नहीं देता बल्कि अंतर्वस्तु की दृष्टि से भी वह पहले की कविताओं से भिन्न है। इस भिन्नता को निश्चय ही हम भाषा और शिल्प दोनों स्तरों पर भी देख सकते हैं।

### 25.4.1 काव्य-भाषा

प्रयोगवादी काव्य की भाषा छायावाद से भिन्न तो है ही, वह प्रगतिवादी कविता से भी भिन्न है। छायावादी कविता की भाषा में कोमलता और सुकुमारता के गुण थे तो प्रगतिवादी कविता में पहली बार कविता की भाषा को बोलचाल के निकट लाने की कोशिश की गयी। प्रयोगवाद में शब्द-प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार प्रयोगवादी कवियों की भाषा अधिक सहज और सरल बनी। उसमें अधिक पारदर्शिता और संप्रेषणीयता आई। भाषा में गेयता और आलंकारिता कम हुई। सभी प्रयोगवादी कवियों की

भाषा एक-सी नहीं है। अज्ञेय की भाषा आरंभ में दुरूह और बौद्धिक अधिक थी, बाद में भाषा बोलचाल के नजदीक आई। गिरिजाकुमार माथुर की भाषा में गेयता का तत्व अधिक रहा है। आरंभ में उनकी भाषा पर छायावाद का असर देखा जा सकता है। बाद में उनकी कविता की भाषा में बोलचाल का ज्यादा स्वाभाविक रूप दिखाई देता है। शमशेर के शब्द प्रयोग यद्यपि सरल हैं परन्तु अर्थ की दृष्टि से अधिक गहन हैं। वे सिर्फ़ शब्दों तक ही अपनी कविता के अर्थ को नहीं बांधते बल्कि उसमें आगे उनकी कविता में शब्दों के बीच के मौन अंतराल में काव्यार्थ छिपा होता है।

### 25.4.2 छंद और लय

छदबद्ध कविता से मुक्ति का आरभ छायावाद के समय से ही हो गया था, लेकिन गद्य और पद्य की भाषा के मूल में अंतर क्या हो, यह लगातार विवाद का विषय रहा है। कविता पहले छंद से मुक्त हुई, फिर तुक से, फिर शब्द की लय से। अज्ञेय ने काव्य को "शब्द" माना है। उनके अनुसार ध्वनि, छंद, लय आदि के सभी प्रश्न शब्द में से निकलते और शब्द में विलय होते हैं। अज्ञेय कविता में किसी-न-किसी रूप में गेय तत्व को आवश्यक मानते हैं।

डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि "छायावाद-युग में जो मुक्तछद वैकल्पिक था, वह प्रयोगवादी कविता का मुख्य स्वर हो गया। मुक्तछंद को ही विशेष रूप से अपनाने के कारण प्रयोगवादियों ने इसमें नये-नये स्वरों और नयी-नयी लयों के प्रयोग किये। छायावाद में प्रायः रोला और घनाक्षरी की लय पर ही मुक्तछंद लिखे गये, लेकिन प्रयोगवाद में सवैया तथा अन्य प्राचीन छंदों की लय को मुक्त ढंग से प्रयोग किया गया।"

प्रयोगवादी कवियों ने गीत भी लिखे हैं लेकिन डॉ. नामवर सिंह के विचार में "छायावादी गीतों की तुलना में प्रयोगवादी गीत कम मोहक और अधिक सपाट प्रतीत होते हैं"। विशेष रूप से अज्ञेय के गीत में लय की रक्षा अंत तक नहीं हो पाती। गिरिजाकुमार माथुर में अज्ञेय की तुलना में गेयता अधिक है परन्तु अर्थ दृष्टि से वह गहनता नहीं है जो अज्ञेय में है।

### 25.4.3 प्रतीक और बिंब

अज्ञेय काव्य में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं। उनके अनुसार "कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब वैसा करना बंद कर देता है तब जड़ हो जाता है– या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बंद करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।" अज्ञेय प्रतीक को सत्यान्वेषण का साधन मानते हैं उनकी चर्चित कविता 'सोन-मछली' इसका श्रेष्ठ उदाहरण है:

हम निहारते रूप:
कांच के पीछे हांफ रही है मछली।
रूप–तृषा भी
(और कांच के पीछे)/
है जिजीविषा

(अरी ओ करुणा प्रभामय)

प्रयोगवादी कविता में प्रतीक "लाक्षणिक वक्रता" से आगे बढ़कर साकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। अज्ञेय के यहाँ प्राकृतिक प्रतीकों का अधिक प्रयोग है। यद्यपि उनमें विविधता कम है। भारत भूषण अग्रवाल और गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में प्रायः परंपरागत प्रतीकों का ही प्रयोग हुआ है। इनके यहाँ प्रतीकों के प्रयोग में किसी गहरी सर्जनात्मकता और वैचारिक ऊर्जा के दर्शन नहीं होते। शमशेर के प्रतीक अधिक दुरूह हैं जबकि मुक्तिबोध में मिथकीय, प्राकृतिक और आधुनिक जीवन से लिये गये विभिन्न तरह के प्रतीकों का प्रयोग मिलता है।

काव्य-बिंब का संबंध भाषा की सर्जनात्मक शक्ति से है तथा इसका निर्माण मनुष्य के ऐन्द्रिक बोध का ही प्रतिफल है। शब्द, भाव और विचार के अमूर्त संकेत तो हैं लेकिन इन अमूर्त संकेतों में यह शक्ति भी होती है कि वह अमूर्त संकेतों के माध्यम से एक मूर्त चित्र

निर्मित कर सकता है। यही बिंब निर्माण की प्रक्रिया है। प्रयोगवादी कविता बिंब-निर्माण की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। अज्ञेय के यहाँ बिंब निर्माण की प्रवृत्ति अधिक है। परंतु उनके यहां प्रकृति संबंधी बिंब अधिक है, सामाजिक जीवन से लिये गये बिंब कम हैं। मुक्तिबोध के यहाँ मानव-स्थितियों से जुड़े बिंब अधिक हैं। मुक्तिबोध नये तरह के बिंबों का अधिक प्रयोग करते हैं। अज्ञेय के काव्य-बिंब प्रायः सामान्य और सरल होते हैं लेकिन वह कभी-कभी उनके द्वारा जीवन की किसी ऐसे समस्या को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करते हैं जो उतनी सरल और सामान्य नहीं होती। अज्ञेय की अपेक्षा शमशेर के यहाँ सौन्दर्य-बिंबों का रूप अधिक संश्लिष्ट और सूक्ष्म है। उन्होंने कई कविताओं में प्रकृति के बिंबों को अपनी भावनाओं के साथ इस तरह अंतर्ग्रथित किया है कि वह केवल् वस्तु का चाक्षुष बिंब न होकर कवि का मानसिक प्रतिबिंब बन जाता है, ऐसा मानसिक प्रतिबिंब जिसमें स्वयं कवि का "मैं" घुलामिला रहता है। उदाहरण के लिए "एक पीली शाम" कविता को लिया जा सकता है:

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शांत
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा-सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)

(कुछ कविताएँ)

## 25.5 प्रमुख प्रयोगवादी कवि

आरंभ में "तार सप्तक" की चर्चा करते हुए हमने लिखा था कि यद्यपि अज्ञेय ने प्रयोग की चर्चा "तार सप्तक" (1943) में आरंभ की थी परंतु "तार सप्तक" को प्रयोगवाद की शुरुआत का आधार नहीं बनाया जा सकता। प्रयोगवाद को विधिवत् मान्यता "प्रतीक" (1947) और "दूसरा सप्तक" (1951) से मिली और इन दोनों के प्रकाशन के केन्द्र में अज्ञेय रहे, इसलिए अज्ञेय को प्रयोगवाद का प्रवर्त्तक भी माना जाता है। वैसे भी अब तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अज्ञेय की अवधारणाओं का प्रयोगवाद से गहरा संबंध है। अज्ञेय के अतिरिक्त जिन कवियों को प्रयोगवादी माना जाता रहा है, उनमें प्रमुख हैं: गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमि चन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता आदि। इन कवियों में सभी प्रयोगवाद की उपर्युक्त अवधारणों से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध और शमशेर में प्रयोगशीलता की ओर झुकाव तो रहा परन्तु उन्होंने "विचारधारा के प्रति विद्रोह" कभी नहीं किया। बल्कि वे हमेशा मार्क्सवादी कवि के तौर पर ही पहचाने गये।

**अज्ञेय (1911-1987)** को प्रयोगवाद का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। प्रयोगवादी काव्य की जो भी विशेषताएँ और सीमाएँ हैं उन्हें श्रेष्ठ रूप में अज्ञेय के काव्य में देख सकते हैं। अज्ञेय का पहला काव्य-संग्रह "भग्नदूत" 1933 में प्रकाशित हुआ। चिंता (1942) और इत्यलम् (1946) तक की कविताओं में प्रयोगवादी रूझान बहुत साफ उभरकर सामने नहीं आया था। लेकिन 1949 में प्रकाशित "हरी घास पर क्षण भर" में प्रयोगवाद को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। अज्ञेय की आरंभिक कविताओं पर छायावाद का प्रभाव भी देखा जा सकता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार " मुक्ति और जीने की लालसा या कहें स्वातन्त्र्य की खोज ही अज्ञेय के काव्य की सही जमीन है।" अज्ञेय की कविताओं में प्रकृति के प्रति विशेष लागव के दर्शन होते हैं। उनके अधिकांश प्रिय प्रतीक भी प्राकृतिक हैं जैसे नदी, तट, मछली, सागर, चिड़िया, चाँदनी, इन्द्रधनुष, साँझ आदि। इसके विपरीत उनकी कविताओं में शहरी जीवन के प्रति गहरी वितृष्णा के दर्शन भी होते हैं। औद्योगिक बस्ती, साँप, हवाई यात्रा, ऊँची उड़ान, बड़े शहर का एक साक्षात्कार, पश्चिम के समूह जब, हिरोशिमा आदि कविताओं में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के प्रति उनके गहरा अलगाव

को व्यक्त करने वाली कविताएँ हैं। अज्ञेय ने अपनी कविताओं में काव्य सत्य पर विचार किया है। जिजीविषा और सत्य की निरंतर खोज उनकी कविताओं के प्रिय विषय रहे हैं। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं बावरा अहेरी (1954), इन्द्रधनु रौंदे हुए ये (1957), अरी ओ करूणा प्रभामय (1959), आंगन के पार द्वार (1961), कितनी नावों में कितनी बार (1967), आदि।

अज्ञेय ने काव्य संबंधी समस्याओं पर निरंतर लेखन किया है। त्रिशंकु (1945), आत्मनेपद (1960) और हिंदी साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य (1967), में उनके साहित्य संबंधी लेखों को संग्रहीत किया गया है।

**गिरिजाकुमार माथुर (1919):** ने काव्य-यात्रा की शुरुआत "मंजीर" (1941), स की थी। उनके काव्य की जमीन प्रेम और सौन्दर्य है। नाश और निर्माण (1946), धूप के धान (1955), जो बंध न सका (1968) उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं। नारी प्रेम और प्रकृति प्रेम उनकी कविताओं के मुख्य विषय हैं। गेयता उनके काव्य की खास पहचान है। वे काव्य में नाद-सौन्दर्य को प्रमुख स्थान देते हैं। अज्ञेय की तरह उनकी सौन्दर्य-चेतना सामाजिक जीवन से निरपेक्ष नहीं है। प्रेम और सौन्दर्य दोनों ही संसार के बीच आकार लेते हैं। उनकी कविता में दैहिकता अधिक है, कल्पनाशीलता कम है। प्रयोगवादी कवियों में रूमानियत का सबसे अधिक प्रभाव गिरिजाकुमार माथुर पर ही रहा है। नयी कविता के दौर तक आते-आते उनमें यह रूमानियत कम हुई है।

**भारतभूषण अग्रवाल (1919-1975):** का प्रथम काव्य-संग्रह "छवि के बंधन" (1941) पर छायावाद का और दूसरा काव्य संग्रह "जागते रहो" (1942) पर प्रगतिवाद का प्रभाव था। तीसरा संग्रह मुक्तिमार्ग (1947) में उन्होंने अपना अलग रास्ता खोजा। भारतभूषण अग्रवाल की कविताओं में मुख्यतः दर्द की अभिव्यक्ति हुई है अपनी भी और जगत् की भी। इस दर्द की अभिव्यक्ति कहीं त्रासदी रूप में तो कहीं व्यंग्य रूप में है। प्रयोग की प्रवृत्ति भारतभूषण अग्रवाल में भी है लेकिन उनकी कविताएँ वक्तव्य प्रधान अधिक है। प्रतीक भी सामान्य और सरल है। कविता में भावनाओं की गहराई या जटिल वैचारिकता का अभाव है। उनके अन्य प्रमुख काव्य संग्रह हैं: "ओ अप्रस्तुत मन" (1959), "अनुपस्थित लोग" (1965), "एक उठा हुआ हाथ" (1970) तथा "उतना वह सूरज है" (1977) आदि।

**श्री नरेश मेहता (1924):** प्रयोगवाद के अन्य प्रमुख कवि हैं। इन पर भी आरंभ प्रगतिवाद का प्रभाव था। नरेश मेहता की कविता में भी प्रकृति के प्रति गहरे लगाव के दर्शन होते हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति अपने विविध रूपों में आती है। नदी, झील, आकाश, बादल, सूरज, चाँद, चिड़िया, फूल, वसंत, पहाड़, घाटी, सावन आदि कई रूपों में प्रकृति उनकी कविताओं में मौजूद है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार, "नरेश जी की कविता में असंख्य प्रकृति चित्रों को देखकर लगता है जैसे कवि मन पर प्रकृति का जादू हो। जहाँ भी प्राकृतिक दृश्य आते हैं उनका वर्णन कवि बड़े उल्लास के साथ करता है। नरेश मेहता की कविता में, उषा, धूप और किरन का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। "दूसरा सप्तक" में नरेश मेहता की कविताएँ संकलित हैं। "संशय की एक रात" (1962) प्रसिद्ध काव्य रचना है। "समय देवता" उनकी लंबी कविता है। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं "वन पाखी ! सुनो !!" (1957), "बोलने दो चीड़ को" (1961), "मेरा समर्पित एकांत" (1962)।

**शमशेर और मुक्तिबोध दोनों का संबंध प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता तीनों से रहा है। इन तीनों कवियों में यद्यपि प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति काफी मुखर रही है। परन्तु वैचारिक दृष्टि से इन्हें प्रयोगवादी नहीं कहा जा सकता।**

**शमशेर बहादुर सिंह (1911):** यद्यपि वैचारिक दृष्टि से मार्क्सवादी कवि है, परन्तु उनका कवि सौन्दर्यवादी है। शमशेर में प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक है। उनकी कविता में सूक्ष्म और संश्लिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। उनका झुकाव अमूर्तन की ओर अधिक है यही कारण है कि कहीं-कहीं उनकी कविता दुरूह भी हो जाती है। लेकिन परिष्कृत बिंब, उत्कृष्ट शिल्प और आत्मीयता का भाव उनकी कविताओं को असामान्य भी बनाता है। शमशेर भी "दूसरा सप्तक" के कवि हैं। इसके अतिरिक्त उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं: कुछ कविताएँ (1959), कुछ और कविताएँ (1961), चुका भी हूँ नहीं मैं (1975)

**मुक्तिबोध (1917-1964):** आत्म संघर्ष के कवि हैं। उनकी कविताएँ उनके आत्म संघर्ष का ही प्रतिफलन है लेकिन यह आत्म संघर्ष बाहरी संघर्ष से उत्प्रेरित है, इसके पीछे वैयक्तिक आकांक्षा या अहम का भाव नहीं है। मुक्तिबोध वस्तुतः तीखे सामाजिक अनुभवों के कवि हैं। सामाजिक संघर्ष ही उनके आत्म संघर्ष का कारण है। सामाजिक यथार्थ उनकी कविताओं में "अंधेरे" के रूप में मौजूद है। अंधेरा उनकी कविताओं में बार-बार भिन्न-भिन्न रूपों में आता है। यथार्थ उनके यहाँ भयावह खबर की तरह है। उनकी कविताएँ प्रायः बहुत लंबी होती हैं जिनमें सामाजिक यथार्थ और आत्म संघर्ष मिलकर ऐसी फैंटेसी का निर्माण करती हैं जो हिंदी कविता की अमूल्य निधि है। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं—'चाँद का मुंह टेढ़ा है' और 'भूरी-भूरी खाक धूल'।

**बोध प्रश्न**

4) प्रयोगवाद की काव्य भाषा की निम्नलिखित विशेषताओं में से जो सही न हो उन पर (X) का चिह्न लगाइए।

क) कोमलता और सुकुमारता प्रयोगवाद की काव्य भाषा की प्रमुख पहचान है। ( )
ख) प्रयोगवाद की काव्य भाषा बोलचाल के अधिक नजदीक है। ( )
ग) प्रयोगवाद की भाषा छायावादी काव्य भाषा के अधिक नजदीक है। ( )
घ) प्रयोगवाद की भाषा में आलंकारिता की प्रवृत्ति कम है। ( )

5) निम्नलिखित कथन में से जो सही हो उसके आगे (✓) और जो गलत हो उसके आगे (✗) का चिह्न लगाइए।

क) प्रयोगवाद की कविता मुक्त छंद की कविता है। ( )
ख) प्रयोगवाद में प्रतीक लाक्षणिक वक्रता तक सीमित है। ( )
ग) अज्ञेय की कविताओं में सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति अधिक हुई है। ( )
घ) मुक्तिबोध आत्म संघर्ष के कवि हैं। ( )
ङ) नरेश मेहता की कविता में प्रकृति पूर्णतः अनुपस्थित है। ( )

**अभ्यास**

2) अज्ञेय और मुक्तिबोध की काव्यगत विशेषताओं की निम्नलिखित आधार पर तुलना कीजिए।

क) विचारधारा की दृष्टि से

.....
.....
.....

ख) सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से

.....
.....
.....

ग) बिंब की दृष्टि से

.....
.....
.....

## 25.6 नयी कविता की पृष्ठभूमि



नयी कविता का आरंभ कब से हुआ, इसके बारे में स्वयं नयी कविता के कवि भी आपस में सहमत नहीं हैं। कुछ कवि आलोचक, प्रयोगवाद और नयी कविता को अलग-अलग

काव्यधारा मानते हैं, जबकि कुछ के अनुसार प्रयोगवाद का ही विकास नयी कविता के रूप में हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा नयी कविता की शुरुआत "नयी कविता" नामक पत्रिका के प्रकाशन से मानते हैं जिसके प्रथम अंक का प्रकाशन सन् 1954 ई. में हुआ था। गिरिजाकुमार माथुर प्रयोगवाद और नयी कविता को अलग-अलग कृत्रिम वर्गों में देखना असंगत मानते हैं। उनके अनुसार प्रयोगवाद और नयी कविता आधुनिकता की भिन्न स्टेज है। तीसरा सप्तक (1959) की भूमिका में अज्ञेय प्रयोगवाद या प्रयोगशीलता शब्दों की अपेक्षा नयी कविता शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते हैं।

नयी कविता के उदय पर विचार करने से पूर्व हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि 1947 में उत्पन्न काव्यधारा 1954-55 तक आते-आते विलुप्त क्यों होने लगी। हिंदी साहित्य में प्रयोगवाद की धारा बहुत दूर तक न चल सकी। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए समीक्षक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा कि "कुल मिलाकर प्रयोगवाद ने अधिक बल कविता के शिल्प विधान पर दिया था। अनुभूतियों के क्षेत्र में भी उसने कुछ नवीनता का संचरण किया। परन्तु समस्त जीवन के संबंध में उसका अपना कोई सुस्पष्ट दृष्टि कोण नहीं था। यह भी सही है कि प्रयोगवाद के लिए यह बहुत इष्ट न था। अंततः वह अनुभूतियों के चित्रण तथा शिल्प-विधान के क्षेत्र में एक प्रयोग ही था। अतः उसकी सार्थकता भी इसी रूप में है। प्रयोगवाद का हमारे इतिहास में स्थायी होना कुछ स्पृहणीय न था। इतने लंबे समय तक प्रयोग की स्थिति रहना प्रवृत्तिगत अस्थिरता का द्योतक होता"।

## 25.6.1 प्रयोगवाद और नयी कविता

प्रयोगवाद और नयी कविता का संबंध जटिल नहीं है। प्रगतिवाद के उत्तरकाल में जब काव्यक्षेत्र में ऐसी प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं जो काव्य की सामाजिक भूमि की बजाए व्यक्ति की स्वानुभूति पर अधिक बल देती थी, जो काव्य में वस्तु-पक्ष की बजाए रूप-पक्ष पर बल देती थी, जो काव्य की किसी बनी बनाई शैली का अनुसरण करने की बजाए नये प्रयोगों पर बल देती थी, ऐसी स्थिति में प्रगतिवाद के बढ़ते अंतर्विरोधों के साथ ही इन प्रवृत्तियों ने अपना प्रभुत्व बढ़ाना शुरू किया। ये ही प्रवृत्तियाँ बाद में प्रयोगवाद के रूप में जानी जाने लगी। आरंभ में प्रयोग की चर्चा का अर्थ प्रगतिवाद का विरोध नहीं था। इसीलिए "तार सप्तक" के प्रकाशन से लेकर "प्रतीक" के प्रकाशन के बीच के दौर में प्रयोगों की चर्चा होते हुए भी इसने वाद का रूप-ग्रहण नहीं किया था। लेकिन जब अज्ञेय ने "प्रतीक" का प्रकाशन आरंभ किया और उसके माध्यम से प्रगतिवाद का विरोध किया जाने लगा, तब प्रयोगवाद की चर्चा प्रयोगवाद की विरोधी काव्य-प्रवृत्ति के रूप में होने लगी। अज्ञेय आरंभ से ही प्रयोगवाद शब्द को उचित नहीं मानते थे। उन्होंने 1952 में इलाहाबाद से प्रसारित रेडियो वार्ता में प्रथम बार "नयी कविता" शब्द का प्रयोग किया। 1954 में "नयी कविता" (संपादक: जगदीश गुप्त) पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ तो "नयी कविता" शब्द प्रचलित हो गया। "नयी कविता" आंदोलन के सूत्रधार कवियों-आलोचकों (जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा) ने अपनी काव्य-सृजन की परंपरा का संबंध प्रयोगवाद तथा अज्ञेय से जोड़ा तथा मार्क्सवाद और प्रगतिवाद का विरोध किया।

"नयी कवितावादी" आरंभ में अपनी कविता को प्रयोगवाद और अज्ञेय से जोड़ने में गर्व महसूस करते थे, लेकिन धीरे-धीरे वे अपने काव्य को प्रयोगवाद के साथ जोड़ते हुए भी उससे भिन्न व विशिष्ट बताने लगे तथा बाद में अपनी विशिष्टता पर अधिक बल देने लगे।

## 25.6.2 नयी कविताकालीन परिस्थितियाँ

हमने प्रयोगवादकालीन परिस्थितियों की चर्चा करते हुए लिखा था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवादी शिविर और समाजवादी शिविर के बीच बढ़ते तनाव का असर तत्कालीन लेखकों और बुद्धिजीवियों पर भी पड़ रहा था। इन दोनों शिविरों के बीच बढ़ते तनाव ने शीतयुद्ध को जन्म दिया। इस दौर में ऐसे सांस्कृतिक और साहित्यिक संगठनों ने जन्म लिया जिन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा और समाजवादी देशों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। यह कहा गया कि मार्क्सवाद हर तरह की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। समाजवादी देशों में न जनता को न ही बुद्धिजीवियों-लेखकों को स्वतंत्रता प्राप्त है। यह भी

कहा गया कि पूंजीवाद और समाजवाद तथा वाम और दक्षिण जैसे भेद आज अनावश्यक है। व्यक्ति की स्वतंत्रता सर्वोच्च मूल्य है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति को लेकर भी नये लेखकों और कवियों में असंतोष का भाव था। प्रगतिवादी लेखकों ने तो स्वतंत्रता को अधूरा बताया ही था, नयी कवितावादी भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति से असंतुष्ट थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य सत्ता जिन वर्गों के हाथ में आई उससे जनता की समस्याओं का समाधान संभव नहीं था। स्वतंत्र भारत में जनता का असंतोष बढ़ा, देश में आर्थिक विषमता बढ़ी और बेरोजगारी पनपी। असंतुलित विकास हुआ तथा राष्ट्रीय एकता और बाहरी दबावों की समस्याओं का विस्तार हुआ। इस राष्ट्रीय स्थिति ने मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को निराश और कुंठित किया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले शीतयुद्ध ने उन्हें दिग्भ्रमित भी किया। नयी कविता का आंदोलन इसी पृष्ठभूमि में उदित हुआ।

### 25.6.3 नयी कविता का अभिप्राय

यह विवाद का विषय रहा है कि नयी कविता नाम से जानी जाने वाली कविता किन अर्थों में नयी है और इस काल की कविता को ही नयी कविता कहना कहाँ तक उचित है। जबकि क्या यह सच नहीं है कि छायावादी कविता भी अपने से पूर्ववर्ती काव्यरूपों से नयी ही थी। अगर नयी कविता का तात्पर्य यह है कि वह पूरी तरह से नयी है और उसमें अपने पूर्ववर्ती काव्यरूपों की कोई छाया नहीं है तो यह कहना भी सही नहीं है। नयी कविता पर प्रगतिशील और प्रयोगवाद ही नहीं बल्कि छायावाद के प्रभाव को भी स्वीकारा गया है।

डॉ. जगदीश गुप्त इस बात पर बल देते हैं कि "कविता में नवीनता की उत्पत्ति सच्ची कविता लिखने की आकांक्षा से ही होती है"। नयी कविता को परिभाषित करते हुए अनुभूति की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया। अज्ञेय ने अनुभूति की विशिष्टता को महत्वपूर्ण माना तो गिरिजाकुमार माथुर ने अनुभूति की साधारणता को ही विशिष्ट माना है। डॉ. जगदीश गुप्त ने नयी कविता को "अपने युग की नयी वास्तविकता के अनुरूप' बताया। धर्मवीर भारती ने नयी कविता को पुराने और नये मानव मूल्यों के टकराव से उत्पन्न तनाव की कविता कहा है। नयी कविता में व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना भी प्रबल रही। मुक्तिबोध के अनुसार नयी कविता की अपनी कोई विशेष दार्शनिक धारा या विचारधारा नहीं रही। उनके अनुसार नयी कविता मूलतः एक परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव हृदय की पर्सनल सिचुएशन की कविता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि नयी कविता की कोई सुनिश्चित परिभाषा प्रस्तुत करना असंभव है। यहाँ तक सही है कि संपूर्ण नयी कविता का संबंध अपने युग के यथार्थ से है लेकिन इस यथार्थ को व्यक्त करने वाली भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। इनमें कई दृष्टियाँ एक दूसरे से नितांत विरोधी भी हैं। नयी कविता पर विचार करते हुए जहाँ एक ओर इस बात को ध्यान में रखना होगा कि उसका संबंध तत्कालीन यथार्थ से है वहीं उसमें अंतर्निहित विभिन्न दृष्टियों, काव्याभिरुचियों एवं कवि की वैयक्तिक क्षमताओं को भी ध्यान में रखना होगा।

## 25.7 नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

जैसा कि कहा जा चुका है नयी कविता पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राष्ट्रीय परिस्थितियों का प्रभाव था। इस दौर में पश्चिम में अस्तित्ववाद जैसे नये दर्शन की लोकप्रियता बढ़ी। आधुनिकतावाद की भी व्यापक चर्चा होने लगी। नयी कविता के रचनाकारों पर इन दोनों विचारधाराओं का प्रभाव भी पड़ा। युद्धों की विभीषिका ने यूरोप के जन-जीवन को पूरी तरह से झकझोर दिया। मृत्यु और विनाश का भय जीवन की वास्तविकता बन गया तो इसके कारण लोग भोगवाद की ओर भी प्रवृत्त हुए। विश्व बाजार की होड़ और युद्धों की जघन्यता के बीच व्यथित को यह लगने लगा कि सत्य केवल मृत्यु है शेष सब कुछ मिथ्या है। आस्था, मूल्य, समाज,

आदर्श, भविष्य सब मिथ्या है। अस्तित्ववाद के उपर्युक्त सोच का असर नयी कविता के रचनाकारों पर भी दिखाई देता है।

आधुनिकतावाद का संबंध पूँजीवादी विकास से है। पूँजीवादी विकास के साथ उभरे नये जीवन मूल्यों एवं नयी जीवन-पद्धति को आधुनिकतावाद की संज्ञा दी जा सकती है। आधुनिकता ने जहाँ एक ओर स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे मानव मूल्य दिये, वहीं दूसरी ओर औद्योगिक सभ्यता और मशीनीकरण ने कई नयी समस्याएँ भी उत्पन्न कर दी। मशीनों के सामने व्यक्ति अपने को निरूपाय समझने लगा। शहरीकरण और भीड़भाड़ ने मनुष्य को अकेला कर दिया। उपर्युक्त परिस्थितियों और सोच ने नयी कविता की विषयवस्तु को निर्धारित करने में अहम भूमिका निभाई।

नयी कविता पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव रहा है। नयी कविता में वस्तुतः दो तरह की धारा रही है एक धारा जो अस्तित्ववाद-आधुनिकतावाद से प्रभावित थी, दूसरी धारा जो मार्क्सवाद से प्रभावित थी। कई नये कवि ऐसे भी थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से कोई पक्ष ग्रहण नहीं किया।

## 25.7.1 व्यक्ति-स्वातंत्र्य

व्यक्ति-स्वातंत्र्य नयी कविता की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। नयी कविता आंदोलन के दौरान नये कवियों ने नये मनुष्य की प्रतिष्ठा का नारा दिया। यह नया मनुष्य कैसा हो, इसको लेकर उनमें तीव्र मतभेद था। कोई इसे लघु मानव (लक्ष्मीकांत वर्मा) की संज्ञा दे रहा था तो कोई इसे सहज मानव (विजयदेव नारायण साही)। कोई इसे स्वतंत्रता का असली प्रवक्ता बता रहा था तो कोई इसे भीड़ से घिरा अकेला और एकाकी। लेकिन यह मानव मध्यवर्ग का ही प्रतिनिधि था। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने को व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का प्रबल पक्षधर मानता था। समाज की मृत मान्यताओं और रूढ़ियों से घिरा यह व्यक्ति अपने को हीन, दीन, अकेला, कुंठित, पीड़ित और उपेक्षित समझता था। यह "भीड़ से घिरा" परन्तु "अपने निजी विवेक के प्रति अत्याधिक सजग" था। नयी कविता में इसी व्यक्ति-विशेष की आशाओं-निराशाओं, आस्थाओं-अनास्थाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

मध्यवर्गीय व्यक्ति की स्वतंत्र इयत्ता का प्रतिपादन सभी कवियों ने एक ढंग से नहीं किया है। लक्ष्मीकांत वर्मा के यहाँ व्यक्ति की एकांतप्रियता के प्रति विशेष आग्रह है। व्यक्ति की लघुता के महत्व का प्रतिपादन भी उन्होंने अपनी कविताओं में किया है। डॉ. धर्मवीर भारती के अनुसार वैयक्तिकता और सामूहिकता दोनों ही असत्य और छल है। इसलिए सामूहिकता के छल में व्यक्ति अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को खोए, इससे कहीं बेहतर है कि वह अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करें। डॉ. भारती अपने काव्य-नायक को पराजित, उत्पीड़ित, टूटा हुआ, जर्जर, कुंठित और त्रासदी झेलते हुए एक अकेले शहीद के रूप में पेश करते हैं।

नयी कविता में भीड़ बनाम अकेला व्यक्ति का विवाद भी प्रमुख रहा है। लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि कवियों ने भीड़ बनाम व्यक्ति के द्वंद्व को कविता में व्यक्त किया है। भीड़ के मुकाबले में खड़े व्यक्ति को उससे अलग और लघु भी मानते हैं। जनता की भीड़ समझना और व्यक्ति की कथित लघुता को महिमामंडित करना मध्यवर्गीय व्यक्ति के व्यक्तिवादी सोच का ही तार्किक परिणाम है। परन्तु नयी कविता के दौर में ही जन के प्रति पूर्ण आस्था की अभिव्यक्ति हम मुक्तिबोध की कविता में देख सकते हैं। रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह की कविता में जनता के प्रति वैसा अनादर व्यक्ति नहीं हुआ है जैसा इन कई अन्य नये कवियों में देखते हैं।

## 25.7.2 आस्था और अनास्था

नयी कविता के दौरान आस्था का प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा। नये कवियों का कहना था कि हमारा काव्य अगर अनास्थावादी लगता है तो इसलिए कि आज की सच्चाई यही है। उनके अनुसार, नयी कविता वादों, विचारधाराओं, रूढ़ियों, सामूहिक निर्णयों पर झूठी आस्था का विरोध करती है। वह नियतिवादी भविष्य के भ्रम जालों और आशा के झूठे जंजालों पर

विश्वास नहीं करती। नयी कविता व्यक्ति के अपने विवेक पर आस्था व्यक्त करती है, क्योंकि व्यक्ति का विवेक ही उसे सही दिशा दे सकता है न कि बाह्य सत्य। धर्मवीर भारती निजी विवेक के अतिरिक्त आस्था का और कोई बाह्य आधार नहीं स्वीकारते। "अंधायुग" का प्रत्येक पात्र आस्थाविहीन है। किसी को भी भविष्य पर भरोसा नहीं है। मनुष्य का भविष्य उन्हें मृत नज़र आता है, केवल आत्महत्या ही उन्हें दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति तथा शासन में व्यक्त होती नज़र आती है:

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में,
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन-व्यवस्था में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।

(अंधायुग)

कुँवरनारायण ने "आत्मजयी" में भी आस्था-अनास्था का प्रश्न उठाया है। "आत्मजयी" में उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों से संघर्ष को जिस परिणति तक पहुँचाया है उससे यही सिद्ध होता है कि वह व्यक्ति के बाह्य संघर्ष को आत्मचेतन स्तर पर हल कर लेना चाहते हैं। नये कवियों में सभी इतने आस्थाविहीन नहीं है। मुक्तिबोध की कविता इस बात का प्रमाण है। अज्ञेय के यहाँ भी परंपरा के प्रति एक आदर भाव मिलता है जिसे हम "असाध्य-वीणा" में देख सकते हैं।

## 25.7.3 औद्योगिक सभ्यता

पूँजीवादी विकास में तकनीकी प्रगति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इसने बड़े उद्योगों की स्थापना को संभव बनाया, जिसके कारण बड़े-बड़े नगर बसे। पारिवारिक ढाँचे, सामाजिक संबंधों, जीवन मूल्यों में ऐसे परिवर्तन हुए जिसकी कल्पना इससे पहले के मनुष्य ने नहीं की थी। ये परिवर्तन सकारात्मक भी थे और नकारात्मक भी। बढ़ते औद्योगीकरण और मशीनीकरण ने मनुष्य को भावात्मक स्तर पर अकेला और असहाय बनाया, स्वार्थी और लोभी भी बनाया। इसलिये कवियों ने औद्योगिक सभ्यता की आलोचना भी की। अज्ञेय की ऐसी कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यंत्र व्यक्ति को केवल सुविधाएँ ही नहीं देता, वह व्यक्ति से उसकी संवेदन-शक्ति भी छीन लेता है। कुंवरनारायण के शब्दों में "पहियों और पंखों वाली इस बेसिर पैर की सभ्यता में" यह पता लगाना मुश्किल है कि यहाँ आदमी मशीन को चला रहा है या मशीन आदमी को। और तब ऐसे में मनुष्य की जो तस्वीर उभरेगी वह कुछ-कुछ ऐसी होगी:

अपने ही हथियारों से घबराया मानव
पत्थर का देव और लोहे का दानव
यह युग
अपनी ही ताकत से हारा मनुष्य
अपने अतीत को दुहराता अंधा भविष्य
शहरों का कूड़ा झोंपड़ियों में फैलाया
अपनी जरूरतों को कोड़ों से पिटवाया
इंसान। मगर बेजान। मकानों-सा ढहाता
अपने से दूर पास बस्ती के रहता
सभ्यता। लगी नाखूनों पर पालिश जैसे
हम ठाठ फकीरी। बिकता जो पैसे-पैसे

(परिवेश: हम-तुम)

नगरीय जीवन की आलोचना अज्ञेय के अतिरिक्त लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, विपिन कुमार अग्रवाल, सर्वेश्वर की कविताओं में भी है। साही के यहाँ शहरी जीवन की आलोचना संवेदनात्मक धरातल पर की गई है। इन कवियों की कविताओं में जीवन के प्रति जिस ऊब, खीझ, निराशा और कुंठा की अभिव्यक्ति हुई है उसके मूल में शहरी जीवन की विषमताएँ हैं। मुक्तिबोध ने भी शहरी जीवन की वास्तविकता को उजागर किया है, लेकिन इसके लिए वे विज्ञान और मशीन को नहीं बल्कि "शोषण की सभ्यता के

नियमों'' को दोषी ठहराते हैं, जिसके ''सियाह चक्रव्यूह'' में मनुष्य के प्राण फंसे हुए हैं।

### 25.7.4 अनुभूतिपरकता

नयी कविता में अनुभूति की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया है। अज्ञेय यह मानते हैं कि संसार की अनुभूतियाँ और घटनाएँ साहित्यकार के लिए मिट्टी है, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। लेकिन नये कवि अनुभूति की विशिष्टता पर विशेष बल देते हैं। इन कवियों के लिए अनुभूति की विशिष्टता का अर्थ किसी नवीन अनुभव से नहीं बल्कि अनुभव को अभिव्यक्त करने के नये अंदाज से है। इसे ही वे सौन्दर्यानुभूति भी कहते हैं।

किसी कवि का सौन्दर्य बोध दूसरे कवि से किस रूप में भिन्न है इसका पता उन कवियों के विषय चयन से लेकर भाववस्तु की अभिव्यक्ति के उपकरणों के चयन तक से लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अज्ञेय मूलतः प्रकृति सौन्दर्य के कवि हैं और आरंभ से ही जनरव से दूर प्रकृति के वैविध्यमय रूपों के सौन्दर्य को विभिन्न कोणों, रूपों एवं रंगों में बांधते रहे हैं। शमशेर एवं केदारनाथ सिंह भी प्रकृति और प्रेम के कवि हैं, लेकिन उनकी प्रकृति कविताओं में जन-जीवन का निषेध नहीं है। इन तीनों कवियों में यद्यपि सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति प्रधान है। सामाजिक जीवन को प्रधानता से अभिव्यक्त करने वाले कवियों के भिन्न जीवन-दर्शन के कारण उनकी कविताओं में भी भिन्नता नजर आती है। धर्मवीर भारती और रघुवीर सहाय के जीवन दर्शन की भिन्नता ने उनके काव्य के स्वरूप को दूर तक प्रभावित किया है, यही अंतर मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय में देखा जा सकता है। कहने का अर्थ यही है कि प्रत्येक कवि के सौन्दर्य-बोध के अंतर के मूल में उन कवियों की जीवन दृष्टि, सौन्दर्याभिरुचि, सामाजिक यथार्थ से संपृक्ति, कलात्मक क्षमता आदि का हाथ रहता है।

नयी कविता में क्षण बोध की चर्चा भी विशेष रूप से हुई है। काल एक अनंत प्रवाह है और क्षण उसकी लघुतम इकाई। अज्ञेय क्षण को काल का प्रतिनिधि मानते हैं। ''एक क्षण: क्षण में प्रवहमान व्याप्त संपूर्णता।'' नये कवि मानते हैं कि व्यक्ति क्षण का ही अनुभव करता है और वही विशिष्ट अनुभव है। एक क्षणिक अनुभव भी महत्वपूर्ण हो सकता है। व्यापक यथार्थ से क्षण पर अधिक बल देने के कारण नये कवि इतिहास का विरोध भी करते हैं। वे इतिहास को बोझ की तरह मानते हैं।

### 25.7.5 प्रकृति-प्रेम

प्रकृति संबंधी कविताएँ प्रायः सभी नये कवियों ने लिखी हैं। लेकिन प्रकृति के संबंध में इन कवियों का दृष्टिकोण छायावाद से भिन्न है। छायावादी कवि प्रकृति की ओर उन्मुख हुआ था– एक नये भावबोध के साथ। यह भावबोध था– स्वतंत्रता। जिस समाज में छायावादी कवि रहता था, वहाँ बंधन ही बंधन थे। लेकिन स्वयं उसके हृदय में स्वतंत्रता का बीजारोपण हो चुका था। स्वतंत्रता और स्वच्छंदता की प्रतीति उसे समाज में तो नहीं प्रकृति में होती थी। इसलिए प्रकृति की उन्मुक्तता में उसे अपने हृदय की उन्मुकता के दर्शन होते थे। लेकिन नये कवि के सम्मुख दासता और बंधन की ऐसी जकड़न नहीं थी। देश स्वतंत्र हो चुका था, पुराने मूल्य टूट रहे थे। देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा था। लेकिन इस औद्योगीकरण ने प्रकृति के उन्मुख सौन्दर्य को मानव-जीवन से दूर कर दिया था। प्रकृति और मानव के बीच की दूरी को नये कवियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण किया। अज्ञेय के प्रकृति लगाव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। लेकिन उनके काव्य में प्रकृति चित्रण समाज निरपेक्ष अधिक है। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, कुंवरनारायण, हरिनारायण व्यास आदि कवियों ने भी प्रकृति चित्रण के लिए सामान्य जीवन के अनुभव जगत से बिंब ग्रहण किये हैं। श्री साही की प्रवृत्ति भी शहरी जीवन से जुड़े प्रकृति रूप की ओर है लेकिन सर्वेश्वर के प्रकृति गीतों का गहरा संबंध ग्रामीण जीवन से है।

रघुवीर सहाय ने अपनी प्रकृति कविताओं में केवल प्रकृति के बिंब ही प्रस्तुत नहीं किये हैं बल्कि वह अपने मन पर प्रकृति के किसी रूप विशेष के प्रभाव को भी व्यक्त करते हैं। ''पानी के संस्मरण'' कविता में उन्होंने विभिन्न काल खंडों में पानी के भिन्न-भिन्न स्मृति बिंबों को प्रस्तुत किया है।

कौंध: दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर: घना ताल: ऊपर झुकी आम की डाल
बयार: खिड़की पर खड़े, आ गयी फुहार
रात: उजली रेती के पार, सहसा दिखी शांत नदी गहरी
मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं।

(सीढ़ियों पर धूप में)

केदारनाथ सिंह के यहाँ भी प्रकृति का कोई एक दृश्य-चित्र नहीं कौंधता बल्कि कई दृश्य-चित्र एक के बाद एक मानस पटल पर उतरते चले जाते हैं। जिन्हें कवि काव्यबद्ध करता है। केदारनाथ सिंह की प्रकृति कविताओं में कृषक चेतना के दर्शन होते हैं। शमशेर बहादुर सिंह और मुक्तिबोध के प्रकृति काव्य के संबंध में आप पहले पढ़ चुके हैं।

---

**बोध प्रश्न**

6) निम्नलिखित प्रश्नों के दिये गये उत्तरों में से जो सही उत्तर हों, उन को कोष्ठक में लिखिए:

i) नयी कविता का आरंभ
   क) "तार सप्तक" से माना जाता है।
   ख) "प्रतीक" के प्रकाशन से माना जाता है।
   ग) "नयी कविता" के प्रकाशन से माना जाता है।
   घ) 1947 से माना जाता है। ( )

ii) नयी कविता पर
   क) स्वातन्त्र्योत्तर राष्ट्रीय स्थितियों का प्रभाव पड़ा।
   ख) शीतयुद्ध का प्रभाव पड़ा।
   ग) अस्तित्ववाद का प्रभाव पड़ा।
   घ) उपर्युक्त तीनों का प्रभाव पड़ा। ( )

7) निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत, बताइए।
   क) नयी कविता व्यक्ति-स्वातंत्र्य की पक्षधर कविता है। ( )
   ख) नयी कविता में क्षण के अनुभव को महत्वपूर्ण माना गया है। ( )
   ग) अज्ञेय की कविता में प्रकृति समाज सापेक्ष रूप में व्यक्त हुई है। ( )
   घ) नये कवियों ने औद्योगिक सभ्यता का विरोध किया है। ( )

**अभ्यास**

3) नयी कविता में प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 25.8 नयी कविता की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ

नयी कविता आंदोलन छायावादी और प्रगतिशील आंदोलनों से भिन्न था। जैसा कि डॉ. नामवर सिंह का मानना है, छायावाद के सभी कवि एक ही तरह की "व्यापक भावभूमि' पर तथा प्रगतिवादी एक ही तरह की "व्यापक विचारभूमि" पर अवस्थित थे, लेकिन नयी कविता के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। विचारों और अनुभूतियों के स्तर पर दो भिन्न ध्रुवों पर रहने वाले कवि भी नयी कविता आंदोलन में शरीक थे। लेकिन काव्य के रूप और शिल्प की दृष्टि से उनमें ऐसा ध्रुवीकरण नहीं था। नये कवि काव्य की प्रचलित शैलियों और रूढ़ माध्यमों में परिवर्तन चाहते थे। परिवर्तन की यह आकांक्षा, नये जीवन-मूल्यों और जीवन स्थितियों से जुड़ी थी। इसने नयी कविता को नये शिल्प और नयी भाषा की खोज की ओर प्रवृत्त किया।

### 25.8.1 काव्य-भाषा

जगदीश गुप्त ने खड़ी बोली की विकास परंपरा पर विचार करते हुए नयी कविता के भाषागत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार, खड़ी बोली का विकास अन्य भाषाओं के अनुकरण द्वारा हुआ। छायावाद युग में भाषा में सृजनशीलता का प्रथम बार सक्रिय विकास हुआ। उत्तर छायावादी गीतकार खड़ी बोली को बोलचाल के निकट लाए, प्रगतिवाद ने उसे गेयता के रोमांटिक वातावरण से निकालकर सहसा सड़कों और पंगडंडियों पर चलने को मजबूर किया। प्रयोगवाद ने शब्द प्रयोग की विविध चेष्टाओं द्वारा उसकी अर्थवत्ता को संवर्धित किया तथा नयी कविता ने उत्तराधिकार में प्राप्त समस्त प्रभावों के प्रति सजगता व्यक्त करते हुए शब्दार्थ की आंतरिक अन्विति पर आधारित एक ऐसा सौन्दर्यबोध विकसित किया जिसमें खड़ी बोली का खड़ापन बाधक न होकर साधक तत्व बन गया। जगदीश गुप्त का मानना है कि नयी कविता में गद्य और पद्य की भाषा इतनी अधिक निकट आ गई है कि दोनों की विभाजक रेखा कहीं-कहीं सर्वथा विलुप्त होती हुई दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में, नयी कविता बोलचाल की भाषा के निकट है। नयी कविता के प्रायः सभी कवियों ने इसे स्वीकार किया है।

नयी कविता की भाषा को बोलचाल की भाषा के नजदीक मानते हुए उसे सृजनात्मक स्वरूप प्रदान करने की प्रक्रिया के संबंध में उनमें मतभेद है। अज्ञेय अपने पूर्ववर्ती भाषा प्रयोगों से संतुष्ट नहीं थे और उनमें सर्जनशीलता की संभावना नजर नहीं आई। इसीलिए वे कहते हैं:

> ये उपमान मैले हो गये हैं।
> देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच
> कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

इससे स्पष्ट है कि अज्ञेय नयी काव्यभाषा तलाश करना चाहते हैं। अज्ञेय तद्भव शब्दावली का अधिक प्रयोग करते हैं। उनकी कई श्रेष्ठ रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। बास, सौंधी, मिट्टी, असाढ़ बासन, हिया जैसे प्रयोग काफी मिलते हैं। अज्ञेय ने काव्यभाषा में मौन के महत्व को भी स्वीकार किया है। "एक मौन ही है जो अब भी नयी कहानी कह सकता है"। मौन से तात्पर्य है जो कविता में नहीं कहा गया परन्तु जो सांकेतिक रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

नये कवियों के बोलचाल की भाषा एक-सी नहीं है। बोलचाल की भाषा का जो रूप भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं में है वह रघुवीर सहाय के यहाँ नहीं है। भवानी प्रसाद मिश्र का आदर्श है—"जिस तरह हम बोलते हैं/उस तरह तू लिख"। सरल और सहज भाषा लिखना आसान नहीं है। नये कविता की काव्यभाषा मूलतः उनकी काव्य-प्रवृति से निर्धारित हुई है। काव्य-प्रवृति में बदलाव के साथ भाषा में भी आया है। गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है। नयी कविता में बिंब निर्माण की प्रवृति के साथ-साथ विचार-वक्तव्यों की प्रवृति भी रही है। इन दोनों में भाषा रूप अलग मिलता है। बिंब निर्माण में भाषा का अधिक सर्जनात्मक रूप मिलता है। विचार वक्तव्यों की दृष्टि से धर्मवीर भारती के "अंधायुग" की भाषा अधिक

सर्जनात्मक है। शमशेर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह की काव्यभाषा के रूप अलग-अलग है परन्तु उन्होंने भाषा का सर्जनात्मक इस्तेमाल किया है। रघुवीर सहाय की भाषा में निजता के साथ-साथ सरलता और सहजता है। केदारनाथ सिंह की काव्य-चेतना मूलतः गीतकार की है, साथ ही बिंबात्मकता की ओर अधिक झुकाव होने के कारण उनकी भाषा पारदर्शी दर्पण की तरह चमकीली उजली है।

## 25.8.2 छंद और लय

नयी कविता ले मुक्त छंद पर अधिक बल दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि नयी कविता में गद्यात्मकता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। रामस्वरूप चतुर्वेदी का मानना है कि कविता में तुक या छंद हो या न हो लेकिन लय अवश्य होनी चाहिए। अगर लय नहीं है तो कविता के गद्य होने की पूरी संभावना है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अनुसार कविता की लय छंद की लय.या शब्द की लय से अनुशासित हो यह आवश्यक नहीं है। नये कवियों ने शब्द की लय की बजाय "अर्थ की लय" को महत्वपूर्ण माना है। जगदीश गुप्त के अनुसार, "जिस प्रकार ध्वनि अथवा शब्द खंडों का फिर-फिर कर आना क्रमिक रूप से लय के विभिन्न प्रकारों को जन्म देता है, उसी प्रकार अर्थ खंडों का क्रमिक, ग्रंथित आवर्तन-प्रत्यावर्तन अर्थ की लय के विविध रूपों की सृष्टि करता है।"

अर्थ की लय पर बल देने वाले रचनाकारों ने संगीत पक्ष की उपेक्षा की है तथा संगीत से मुक्त कविता को "शुद्ध कविता" कहा है। लेकिन केदारनाथ सिंह की कविता संगीत तत्व से न केवल प्राणवान् हुई है बल्कि अर्थवान् भी। रघुवीर सहाय ने संगीत के महत्व को स्वीकारते हुए 'आत्महत्या के विरुद्ध' में कहा है कि संगीत आधुनिक संवेदना का एक आवश्यक अंग है।

## 25.8.3 प्रतीक और बिंब

नयी कविता में प्रतीक का महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ. केदारनाथ सिंह के अनुसार प्रतीक स्वयं गौण होता है, मुख्यता उस "दिशा" की होती है जिधर वह संकेत करता है। प्रतीक का एक पक्ष बराबर परंपराजीवी और समाज-स्वीकृति-सापेक्ष होता है। कोई भी नया प्रतीक अपने इच्छित की प्राप्ति के लिए एक ऐतिहासिक प्रवाह की अपेक्षा रखता है। वह निरंतर प्रयुक्त होते-होते ही नियम, अर्थ और निश्चित आकार ग्रहण करता है। नये कवियों ने पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग भी काफी किया है। मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, कुंवरनारायण, दुष्यंत कुमार, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि की कविताओं में वेदों, उपनिषदों, महाभारत, रामायण तथा अन्य पौराणिक ग्रंथों से प्रसंगों एवं पात्रों का प्रतीक रूप में लिया है। "संशय की एक रात" काव्य में नरेश मेहता ने रामकथा का उपयोग युद्ध और शांति के संदर्भ में किया है, लेकिन इस प्रसंग की प्रस्तुति आधुनिक ही है। इसी तरह धर्मवीर भारती के "अंधायुग" के कृष्ण, युयुत्सु, अश्वत्थामा, आधुनिक मानव और मूल्यों के ही प्रतीक हैं। कुंवरनारायण के "आत्मजयी" का नचिकेता आधुनिक आदर्शवादी मध्यवर्गीय व्यक्ति है। लेकिन इन सारे प्रतीकों को जिन कथानकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है, वे पौराणिक होते हुए भी कवि का दृष्टिकोण, उसका परिप्रेक्ष्य तथा उसकी व्याख्या पौराणिक नहीं है। नये कवियों ने प्रकृति और जीवन के विविध रूपों से भी प्रतीक ग्रहण किये हैं।

प्रतीकों का प्रयोग नये कवियों में उनकी प्रवृत्तियों के अनुकूल हुआ है। उदाहरण के लिए लघुमानव या मध्यवर्ग के व्यक्ति के महत्व को स्थापित करने के लिए उसकी "लघुता की श्रेष्ठता" को स्थापित करने के लिए वैसे ही प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। गिरिजाकुमार माथुर के यहाँ व्यक्ति "बौने" के रूप में है:

हम सब बौने हैं, मन से, मस्तिष्क से भी
भावना से, चेतना से भी
बुद्धि से, विवेक से भी
क्योंकि हम जन हैं
साधारण हैं
हम नहीं हैं विशिष्ट

(बौनों की दुनिया, जो बध नहीं सका)

लक्ष्मीकांत वर्मा यहाँ। व्यक्ति "भेड़ " के रूप में हैं तो श्रीकांत वर्मा के यहाँ "काकरोच" के रूप में हैं।

नये कवित बिंब को कितना महत्वपूर्ण मानते थे यह डॉ. केदार नाथ सिंह के वक्तव्य से स्पष्ट है जिन्होंने कहा था कि "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिंब-विधान पर "। डॉ. केदारनाथ सिंह ने बिंब की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा कि "बिंब वह शब्द-चित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है "। नयी कविता में बिंब-विधान की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। केदारनाथ सिंह की कविताओं में प्रकृति-बिंबों का सुंदर प्रयोग मिलता है। उनके यहाँ प्रकृति-बिंब ऐन्द्रिक विलास के लिए नहीं बल्कि प्रायः किसी मानवीय अनुभूति को अभिव्यंक्त करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जैसे "अपनी छोटी बच्ची के लिए एक नाम" शीर्षक कविता में धूप के बिंब के माध्यम से बच्चे के प्रति पिता की ममत्व भावना को अभिव्यक्ति मिली है–

ओस भरे
कांपते गुलाब की टहनी पर
तितली के पंखों-सी सटी हुई
धूप !
एक नाम है हल्का सा
मेरे बेस्वाद खुले होंठों पर
तेरे लिए

(अभी बिल्कुल अभी)

काव्य बिंबों में मानव जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति केदारनाथ सिंह, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा आदि कवियों के काव्य में है लेकिन सभी कवियों में यथार्थ का स्वरूप और स्थितियाँ एक-सी नहीं हैं, यथार्थ का फलक इन कवियों के यहाँ व्यापक है, यद्यपि मध्यवर्ग के जीवन यथार्थ की प्रधानता भी है। कई कवियों ने काव्य बिंब को ऐन्द्रिक बोध की सीमाबद्धता से मुक्त कर उसे व्यापक अर्थवता भी प्रदान की है। अंत में, यह कहा जा सकता है कि नयी कविता को उत्कृष्ट रूप देने में उनके नवीन और संश्लिष्ट काव्य-बिंबों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

## 25.9 नयी कविता के प्रमुख कवि

पचास के आसपास लेखन आरंभ करने वाले कवि नयी कविता आंदोलन से मुख्य रूप से जुड़े थे। परंतु अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल को भी नयी कविता आंदोलन के अंतर्गत शामिल किया जाता है। नयी कविता में सक्रिय कवियों में से सभी एक-से नहीं थे। अगर उनमें शमशेर, मुक्तिबोध, जैसे प्रतिबद्ध मार्क्सवादी कवि थे, तो अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता जैसे प्रयोगवादी कवि। लक्ष्मीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा जैसे नये कवि भी थे जिन्होंने मार्क्सवाद और प्रगतिवाद का दृढ़तापूर्वक विरोध किया तो केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय आदि पर शीतयुद्ध का प्रभाव औरों की अपेक्षा काफी कम था। आमतौर पर "दूसरा सप्तक" और "तीसरा सप्तक" के कवियों को नयी कविता में शामिल किया जाता है, लेकिन भवानीप्रसाद मिश्र भी है जिन पर नयी कविता की काव्यगत प्रवृत्तियों का सबसे कम प्रभाव है। हम यहाँ पर नयी कविता से जुड़े कुछ ऐसे प्रमुख कवियों की चर्चा करेंगे जिनकी हमने पूर्व की किसी धारा के अंतर्गत चर्चा नहीं की है।

**धर्मवीर भारती जन्म (1926 ई.):** नयी कविता के प्रमुख कवियों में से हैं। उन्होंने पद्य के अतिरिक्त गद्य भी लिखा है। काव्य में उनका गीतिनाट्य "अंधायुग" सर्वाधिक चर्चित रचना है, जिसमें "महाभारत" के अठारहवें दिन की घटनाओं को कथा का आधार बनाया गया है। "कनुप्रिया" डॉ. भारती द्वारा रचित खंडकाव्य है जिसमें राधा-कृष्ण के प्रेम को कथा का आधार बनाया गया है। "ठंडा लोहा" और "सात गीत वर्ष" उनके चर्चित काव्य

संग्रह हैं। डॉ. भारती की कविताएँ "दूसरा सप्तक" में भी संग्रहीत की गयी हैं। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार, "भारती का रचनाकार एक अर्थ पाने के लिए बेचैन है और इसके लिए वह किसी नयी भावभूमि की खोज करना चाहता है"। भारती ने अपने काव्य द्वारा "अंधे संशय, दासता, पराजय से मानव भविष्य को बचाने के लिए मानवीय संभावनाओं की खोज" की है। इसके लिए उन्होंने मिथकों की नयी व्याख्याएँ की हैं। धर्मवीर भारती ने नारी प्रेम और प्रकृति के संबंध में भी कविताएँ लिखीं हैं। प्रकृति और नारी-प्रेम दोनों के प्रति उनकी दृष्टि रूमानी है। "अंधायुग" को छोड़कर उनके प्रायः संपूर्ण काव्य की भाषा पर रूमानीपन का प्रभाव देखा जा सकता है।

**कुंवरनारायण (जन्म 1927):** के काव्य को विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने "बृहतर जिज्ञासा का काव्य" कहा है। वस्तुतः कुंवरनारायण ने अपने काव्य में ऐसे सवालों को उठाया है जिनका संबंध मुनष्य के संपूर्ण अस्तित्व से है। उनका खंड काव्य "आत्मजयी" इसका ज्वलंत उदाहरण है जिसमें नचिकेता की कथा के माध्यम से जीवन-मृत्यु के शाश्वत प्रश्नों पर विचार किया गया है। कुंवरनारायण की प्रवृत्ति चिंतन की ओर अधिक है इसलिए उनकी काव्य-भाषा में भी हम यह बात देख सकते हैं। "आत्मजयी" के अतिरिक्त उनके महत्वपूर्ण काव्य-संग्रह हैं: चक्रव्यूह (1956), परिवेश: हम-तुम (1961)। कुंवरनारायण की कविताएँ "तीसरा सप्तक" में भी संग्रहीत हैं।

**रघुवीर सहाय (1929-1990):** नयी कविता के उन कवियों में हैं जिनका प्रभाव समकालीन कविता पर सबसे अधिक पड़ा है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार रघुवीर सहाय का काव्य-संसार मामूली, अभावग्रस्त और उपेक्षित जिंदगी का संसार है"। उनकी कविताओं में बदलाव की बड़ी-बड़ी बातें तो नहीं हैं परन्तु वे हमारे समकालीन यथार्थ को तल्खी और संवेदना के साथ पेश करते हैं। रघुवीर सहाय की कविताएँ संकीर्ण अर्थों में राजनीतिक नहीं हैं। किसी मत विशेष के प्रति आग्रही न होने के बावजूद उनकी कविताएँ प्रबल रूप से जनपक्षीय हैं। भाषा को भी उन्होंने नया तेवर दिया है। व्यंग्य, सपाटबयानी और बिंबात्मकता तीनों का उन्होंने सर्जनात्मक प्रयोग किया है। उनके प्रमुख संग्रह हैं: सीढ़ियों पर धूप में (1960) आत्महया के विरुद्ध (1967), हँसो हँसो जल्दी हँसो (1975) लोग भूल गये हैं (1982)। रघुवीर सहाय की कविताएँ "दूसरा सप्तक" (1951) में भी संग्रहीत हैं।

**सर्वेश्वर दयाल सक्सेना (1927):** की कविता यात्रा में कई मोड़ आये हैं। आरंभ में उन पर नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा का प्रभाव था, बाद में वे प्रगतिशील काव्यधारा की ओर झुके। सर्वेश्वर की कविताओं में एक प्रकार की निजता और आत्मीयता हमेशा रही है। वे सामाजिक जागरूकता के कवि हैं और सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पक्षों को अपनी कविताओं का विषय बनाते हैं परन्तु संवेदना और विचार दोनों दृष्टियों से उनकी कविताओं में वह गहराई नहीं आ पाई है जो हम रघुवीर सहाय की कविताओं में पाते हैं। सर्वेश्वर की कविताएँ अधिक सरल और संप्रेषणीय हैं, परन्तु यह सरलता कई बार सपाटता में भी बदल जाती है। सर्वेश्वर "तीसरा सप्तक" (1959) के कवि हैं। उनकी विभिन्न रचनाओं का पहला संग्रह 'काठ की घंटियाँ' (1959) है जिस में भी कविताएँ संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त गर्म हवाएँ (1969), जंगल का दर्द (1976) आदि प्रमुख काव्य संग्रह हैं।

**केदारनाथ सिंह (1932):** भी तीसरा सप्तक के कवि हैं। तीसरा सप्तक के अतिरिक्त उनकी कविताएँ "अभी बिल्कुल अभी" संग्रह में संकलित हैं जो 1960 में प्रकाशित हुआ था। इसके बीस साल बाद 'जमीन पक रही है' (1980) नामक नया काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ है। परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार, "केदारनाथ सिंह का काव्य संसार आज के भारतीय समाज के प्रति गहरी संवेदनात्मक उन्मुखता या लगाव प्रमाणित करने वाला संसार है। केदारनाथ सिंह भी उन कवियों में हैं जिन पर नयी कविता की नकारात्मक प्रकृतियों का प्रभाव लगभग न के बराबर रहा है। यही कारण है कि केदारनाथ सिंह आज भी उतने ही सक्रिय, सृजनशील और सार्थक नज़र आते हैं। केदारनाथ सिंह की काव्य यात्रा धीरे-धीरे नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा से मुक्ति होती हुई जनपक्षीय प्रगतिशील धारा की ओर बढ़ती रही है। केदारनाथ सिंह बिंबों को काव्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण मानते रहे हैं। काव्य-भाषा की दृष्टि से भी उनकी कविता में ताजगी, सरलता, पारदर्शिता और सर्जनात्मकता के दर्शन होते हैं। उनके नवीनतम काव्य संग्रह हैं: यहाँ से देखो और अकाल में सारस।

UGHI-103/493

**श्रीकांत वर्मा (1931-1986):** का पहला काव्य संग्रह "भटका मेघ" (1957) है जिसमें कवि का धरती और मनुष्य के प्रति लगाव व्यक्त हुआ है। लेकिन बाद के संग्रहों में इनमें व्यक्तिवादी प्रवृत्ति प्रबल होती गई है। मध्यवर्ग व्यक्ति की आत्मबद्धता, निराशा, विफलता, पराजय और अपराधबोध के भावों को श्रीकांत वर्मा ने अपनी कविताओं में अत्यंत तीखेपन से व्यक्त किया है। श्रीकांत वर्मा के काव्य में वक्तव्य और सपाटबयानी की प्रमुखता है जो नयी कविता के बाद के काव्य की प्रमुख विशेषता है। भटका मेघ के अतिरिक्त प्रमुख काव्य संग्रह हैं: दिनारंभ (1967), माया-दर्पण (1967), जलसाघर (1973), मगध, गरूड़ किसने देखा है (1987)।

---

**बोध प्रश्न**

8) नयी कविता की भाषा की निम्नलिखित विशेषताओं में से जो सही हो उस पर (✓) का चिह्न लगाइए।

क) नयी कविता की भाषा बोलचाल की भाषा के आदर्श को स्वीकारती है। ( )
ख) नयी कविता की भाषा में रोमानियत का प्रभाव अधिक है। ( )
ग) नयी कविता की भाषा में बिंब-विधान पर अधिक बल दिया जाता है। ( )
घ) नयी कविता की भाषा छायावाद के अधिक नजदीक है। ( )

9) नयी कविता में प्रयुक्त पौराणिक प्रतीकों की विशेषता लगभग पाँच पंक्तियों में व्यक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

10) नयी कविता के कुछ प्रमुख कवियों और कविता पुस्तकों के नाम नीचे दिये गये हैं। जो कविता पुस्तक जिस कवि द्वारा रचित हो उस पर सही निशान लगाइए।

| पुस्तक का नाम | कवि का नाम |
|---|---|
| 1) आत्महत्या के विरुद्ध | क) केदारनाथ सिंह |
| 2) भटका मेघ | ख) धर्मवीर भारती |
| 3) अभी बिल्कुल अभी | ग) श्रीकांत वर्मा |
| 4) चक्रव्यूह | घ) रघुवीर सहाय |
| 5) अंधायुग | ङ) कुंवरनारायण |

**अभ्यास**

4) नयी कविता में व्यक्ति और समाज के द्वंद्व को किस रूप में ग्रहण किया गया है। स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 25.10 सारांश



- इस इकाई में आपने प्रयोगवाद और नयी कविता नामक काव्य-प्रवृत्तियों का अध्ययन किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य की ये दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। प्रगतिवाद के बाद

उभरी इन काव्य-प्रवृत्तियों का संबंध तत्कालीन परिस्थितियों से है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मध्यवर्ग में उभरी आकांक्षाओं, आशाओं और निराशाओं की अभिव्यक्ति ही इन काव्य प्रवृत्तियों में दोनों काव्य धाराओं पर यद्यपि व्यक्तिवादी अंतर्मुखी काव्य-प्रवृत्तियों का प्रभाव अधिक है, लेकिन इन धाराओं में ऐसे कवि भी सक्रिय रहे हैं जिन पर न केवल व्यक्तिवादी विचारधाराओं का प्रभाव नहीं था, वरन् जिन्होंने इनका दृढ़तापूर्वक विरोध भी किया। शमशेर और मुक्तिबोध इनमें प्रमुख हैं।

प्रयोगवाद का आरंभ "प्रतीक" (1947) के प्रकाशन से और नयी कविता का आरंभ "नयी कविता" (1954) पत्रिका के प्रकाशन से माना जाता है। प्रयोगवाद में विषयवस्तु की अपेक्षा कविता के कलापक्ष पर विशेष बल दिया गया। किसी विचारधारा विशेष के प्रति पक्षधरता को अनावश्यक माना गया तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता के महत्व को स्वीकार किया गया। प्रयोगवादी कवि का कविता संसार यद्यपि मध्यवर्ग के जीवनानुभवों तक ही सीमित था, परन्तु उसने अपने सीमित अनुभवों को संवेदनात्मक ढग से प्रस्तुत किया। प्रकृति के प्रति भी उसमें गहरा लगाव था। नारी के प्रति उसकी दृष्टि यथार्थपरक थी। प्रयोगवाद ने भाषा में बोलचाल को और छदमुक्तता पर बल दिया। उसका आग्रह बिबात्मकता की ओर था। प्रयोगवाद का प्रवर्तक अज्ञेय को माना जाता है। गिरिजाकुमार माथुर, भारत्भूषण अग्रवाल, शमशेर, मुक्तिबोध, नरेश मेहता आदि प्रमुख प्रयोगवादी कवि हैं।

नयी कविता प्रयोगवाद का विकास है। यद्यपि नये कवियों ने काव्य को प्रयोग का विषय नहीं माना परन्तु व्यक्ति की स्वतंत्रता वाद-विशेष का विरोध नयी कविता की भी विशेषता रहा है। यह अवश्य है कि नयी कविता में प्रगतिशील धारा का भी प्रभाव रहा है और कई कवियों पर व्यक्तिवाद का प्रभाव रहा है। नयी कविता पर शीतयुद्धीय विचारधाराओं का विशेष असर था। इसी कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जनता को भीड़ समझना, मानव की लघुता को महिमामंडित करना, वैयक्तिक अनुभूति को ही प्रमाणिक मानना, इतिहास और परंपरा की बजाय क्षण के बोध को ही सार्थक समझना, नयी कविता की खास पहचान है। नयी कविता पर अस्तित्ववाद और आधुनिकतावाद का भी असर रहा है। शिल्प की दृष्टि से नयी कविता में बोलचाल की भाषा, बिंबात्मकता, पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग, अर्थ की लय आदि का विशेष आग्रह रहा है। नयी कविता में यद्यपि अनास्था, निराशा, विफलता, कुंठा, टूटन जैसे भावों की प्रधानता रही है। परन्तु यह हमारे सामाजिक यथार्थ की ही मध्यवर्गीय अभिव्यक्तियाँ थीं। मुक्तिबोध जैसे कवि कम थे, जिन्होंने इन मध्यवर्गीय भावनाओं पर आत्मसंघर्ष द्वारा विजय प्राप्त की। नयी कविता ने कई प्रमुख कवि और काव्य पुस्तकें दी हैं। अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध के अतिरिक्त धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, विजयदेवनारायण साही, जगदीश गुप्त, बालकृष्ण राव, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, दुष्यंत कुमार, श्रीकांत वर्मा, हरिनारायण व्यास, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त इकाई को पढ़ने के बाद आप प्रयोगवाद और नयी कविता की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों और शिल्पगत विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं।

## 25.11 शब्दावली

**कलावाद:** कला, कला के लिए का सिद्धात अर्थात् जो कलाकार यह मानता हो कि कला की रचना का अन्य कोई बाहय उद्देश्य नहीं होता।

**मानव-मूल्य:** मानव मूल्य उन नैतिक मानों को कह सकते हैं जो मनुष्य के लिए आदर्श रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

**व्यक्तिवाद:** एक ऐसा सिद्धांत जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्यों और विश्वासों में पूर्ण स्वतंत्रता देने का समर्थन करता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति के जीवन में राज्य और समाज के हस्तक्षेप का विरोधी होता है।

**प्रकृतवाद**: कला और साहित्य का एक ऐसा सिद्धांत जिसका मानना है कि लोगों को और वस्तुओं को ठीक उसी रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिस रूप में वे वास्तव में हैं न कि आदर्श या अप्रकृत रूप में।

**रोला और घनाक्षरी**: छंद के प्रकार।

**लाक्षणिक वक्रता**: शब्द के सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ से उत्पन्न वक्रता जिसके कारण काव्य में विशेष अर्थ व्यक्त होता है।

**अंतर्ग्रीथत**: गुंथा हुआ।

**स्पृहणीय**: जिसकी इच्छा की जाये।

**आधुनिकतावाद**: आधुनिकतावाद से संबंधित सिद्धांत अर्थात् जो पूँजीवादी विकास से पूर्व के विचारों और मान्यताओं से भिन्न हो तथा आधुनिक जीवन से उत्पन्न हुए हों।

**अस्तित्ववाद**: यूरोप में उत्पन्न एक आधुनिक दार्शनिक मत जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के अनुभव महत्वपूर्ण होते हैं और प्रत्येक अपने कार्यों के लिए स्वयं उत्तरदायी होता है।

**नियतिवाद**: एक ऐसा दार्शनिक मत जिसके अनुसार व्यक्ति अपने कार्यों के लिए स्वतत्र नहीं है, उसके कार्य बाह्य स्थितियों से निर्धारित होते हैं।

**आंतरिक अन्विति**: आंतरिक संबद्धता। शब्दार्थ की आंतरिक अन्विति का अर्थ है शब्द और अर्थ की ऐसी संबद्धता जो स्वाभाविक लगे।

**अर्थ-खंडों का क्रमिक ग्रंथित आवर्तन-प्रत्यावर्तन**: तात्पर्य यह है कि कविता में प्रयुक्त शब्दों से जो अर्थ व्यक्त होते हैं, उनमें क्रमबद्धता हो तथा उनमें आवर्तन के कारण अर्थ में लय उत्पन्न हो।

## 25.12 उपयोगी पुस्तकें


अज्ञेय (संपादक): **तार सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।

अज्ञेय (संपादक): **दूसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।

अज्ञेय (संपादक): **तीसरा सप्तक**, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली।

नामवर सिंह: **आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ**, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

नामवर सिंह: कविता **के नये प्रतिमान**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

डॉ. रामविलास शर्मा: **नयी कविता और अस्तित्ववाद**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

अज्ञेय (संपादक): **आधुनिक हिंदी साहित्य**, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली।

नगेन्द्र (संपादक): **हिंदी साहित्य का इतिहास**, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नयी दिल्ली।

डॉ. रामदरश मिश्र: **हिंदी कविता: आधुनिक आयाम**, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।


## 25.13 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) क) ✓ ख) × ग) × घ) ✓
2) क) × ख) ✓ ग) ✓ घ) ✓
3) देखिए उपभाग 25.3.3
4) क) × ख) ✓ ग) × घ) ✓

5) क) ✓ ख) × ग) × घ) ✓ ङ) ×
6) i) ग ii) घ
7) क) ✓ ख) ✓ ग) × घ) ✓
8) क) ✓ ख) × ग) ✓ घ) ×
9) देखिए उपभाग 25.8.3
10) 1) घ 2) ग 3) क 4) ङ 5) ख

**अभ्यास**

1) देखिए उपभाग 25.2.2
2) संकेत: क) अज्ञेय व्यक्तिवादी और मार्क्सवाद विरोधी जबकि मुक्तिबोध मार्क्सवादी
   ख) अज्ञेय सामाजिक यथार्थ का चित्रण कम करते हैं जबकि मुक्तिबोध की कविताओं का यह केन्द्रीय विषय है।
   ग) अज्ञेय मुख्यत: प्रकृति से बिंब चुनते हैं जबकि मुक्तिबोध प्रकृति के साथ-साथ सामाजिक जीवन से भी बिंब चुनते हैं।
3) देखिए उपभाग 25.7.5
4) देखिए भाग 25.7

# इकाई 26 समकालीन हिंदी काव्य

## इकाई की रूपरेखा


26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 समकालीन कविता की पृष्ठभूमि
  26.2.1 नयी कविता और समकालीन कविता
  26.2.2 समकालीन परिस्थितियाँ
  26.2.3 समकालीन कविता की प्रमुख धाराएँ
26.3 समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
  26.3.1 साठोत्तरी कविता
  26.3.2 प्रगतिशील-जनवादी कविता
  26.3.3 नवगीत-परंपरा
26.4 समकालीन कविता की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ
  26.4.1 काव्य-भाषा
  26.4.2 शिल्प-पक्ष
  26.4.3 प्रतीक और बिंब
26.5 समकालीन कविता के प्रमुख कवि
26.6 सारांश
26.7 उपयोगी पुस्तकें
26.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 26.0 उद्देश्य

हिंदी साहित्य के इतिहास से संबंधित इस पाठ्यक्रम के खंड 7 की यह अंतिम इकाई है। इसमें नयी कविता के बाद की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- हिंदी की समकालीन कविता की पृष्ठभूमि बता सकेंगे;
- समकालीन कविता की प्रमुख काव्य प्रवृत्तियों का परिचय दे सकेंगे;
- समकालीन कविता की प्रमुख शिल्पगत विशेषताएँ समझा सकेंगे; और
- समकालीन कविता से जुड़े प्रमुख कवियों और उनकी प्रमुख रचनाओं के बारे में बता सकेंगे।

## 23.1 प्रस्तावना

इस खंड की आपने अब तक तीन इकाइयाँ पढ़ ली हैं जिनमें आपने छायावाद, छायावादोत्तर काव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के बारे में जानकारी हासिल की है। आपने अनुभव किया होगा कि छायावाद से नयी कविता तक हिंदी कविता में जीवन दृष्टि, विषय वस्तु, काव्य-रूप और काव्य-भाषा सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। छायावाद से प्रगतिवाद तक की काव्य-यात्रा की प्रमुख प्रेरणा राष्ट्रीय आंदोलन था। जबकि प्रयोगवाद और नयी कविता का जन्म इनसे भिन्न स्थितियों के बीच हुआ। प्रयोगवाद प्रगतिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा था। उसने काव्य में प्रयोग पर अधिक बल दिया। प्रयोगवाद के दौरान कविता समाज सापेक्ष होने की बजाए व्यक्ति-उन्मुख हुई। नयी कविता ने भी

व्यक्ति की स्वतंत्रता और अनुभवपरकता पर बल दिया परन्तु इस काव्यधारा में प्रगतिशील और समाजोन्मुख काव्य प्रवृत्ति भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी।

नयी कविता की उपर्युक्त दोनों धाराओं-व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी तथा प्रगतिशील का विकास हम समकालीन कविता में देख सकते हैं। हिंदी में समकालीन कविता जैसी कोई काव्य-प्रवृत्ति नहीं है। नयी कविता के बाद के दौर में उभरे विभिन्न काव्यांदोलनों, काव्यधाराओं और काव्य प्रवृत्तियों को ही यहाँ सुविधा के लिए समकालीन कविता कहा गया है। नयी कविता का काल प्रायः सन् 1959-60 तक माना जाता है। इस प्रकार इस इकाई में पिछले तीन दशकों की हिंदी कविता की विकास यात्रा का परिचय दिया जाएगा।

नयी कविता के बाद उभरी काव्य प्रवृत्तियों का नयी कविता से क्या संबंध था? वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने इन प्रवृत्तियों को जन्म दिया? इन काव्य-प्रवृत्तियों की क्या विशेषताएँ हैं तथा इस दौर के प्रमुख कवि कौन-कौन से हैं? आदि विभिन्न पक्षों का उल्लेख इकाई में किया गया है। इकाई को पढ़ने से आपके सम्मुख समकालीन कविता की पूरी तस्वीर उभर आएगी।

## 26.2 समकालीन कविता की पृष्ठभूमि

"तीसरा सप्तक" का प्रकाशन 1959 में हुआ था। आमतौर पर इस अवधि तक नयी कविता का काल माना जाता है। नयी कविता के बाद के दौर की कविता को क्या नाम दिया जाए, यह विवाद का विषय रहा है। सन् 1960 के बाद के दौर में नयी कविता की व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी काव्यधारा ही और अधिक तीव्रता के साथ विकसित हुई। यद्यपि इस दौर में उभरे कवियों ने अपने को पूर्व की काव्यधाराओं से अलगाया था। लेकिन साठ के बाद के पहले दशक की कविता जिसे साठोत्तरी कविता नाम भी दिया गया है, अपने को कई नामों और आंदोलनों से व्यक्त करती है। अकविता, विद्रोही कविता, बीट कविता, सनातन सूर्योदयी कविता, युयुत्सावादी कविता, नूतन कविता, सहज कविता, विचार कविता आदि विभिन्न नामों के साथ सातवें दशक में युवा कवि नये तेवर और नयी भंगिमा के साथ उभर रहे थे परन्तु इनमें से एक भी नाम और आंदोलन हिंदी काव्य परंपरा में स्थायी महत्व प्राप्त नहीं कर सका। ये सभी काव्यांदोलन क्षणजीवी प्रमाणित हुए। परन्तु महत्व इस बात का नहीं है। अलग-अलग नामों और घोषणाओं के साथ जो नये काव्यांदोलन उभर रहे थे, वे सारी भिन्नताओं के दावों के बावजूद एक सी काव्य दृष्टि और विचार दृष्टि का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। सर्वस्वीकृत प्रवृत्तिगत नाम के अभाव में हम भी सातवें दशक की इस युवा कविता को साठोत्तरी कविता कहेंगे।

सन् 1967-68 में भारतीय परिस्थितियों में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे, उनका प्रभाव हिंदी कविता पर भी पड़ा और साठोत्तरी कविता की व्यक्तिवादिता, निषेधना, पराजय-भाववाद आदि से कवि धीरे-धीरे मुक्त होने लगा और उसके बदले एक नयी आशा और उत्साह का उदय हुआ। हिंदी कविता का यह दौर अत्यंत महत्वपूर्ण है यद्यपि '75 के बाद इस कविता के तेवर में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। समकालीन कविता के इस विकास क्रम की पृष्ठभूमि पर आइए, विस्तार से चर्चा करें।

### 26.2.1. नयी कविता और समकालीन कविता

नयी कविता पर विचार करते हुए हमने लिखा था कि नयी कविता पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की विश्व परिस्थितियों और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की राष्ट्रीय परिस्थितियों का असर था। विश्व युद्ध में हुए भयावह विनाश ने यूरोप को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। मृत्यु और विनाश का भय जीवन की वास्तविकता बन गया था। इसके कारण मध्यवर्ग में भोगवाद की प्रवृत्ति बढ़ी। विश्व बाजार की होड़ और युद्धों की जघन्यता के बीच व्यक्ति को यह लगने लगा कि सत्य केवल सत्य है शेष सब कुछ मिथ्या है। आस्था, आदर्श, मूल्य, प्रगति, भविष्य सभी कुछ मिथ्या है। इस सोच ने लोगों को स्वार्थ-प्रेरित और आत्म केन्द्रित बनाया।

इस दौर में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा भी लगाया गया। इसके पीछे मार्क्सवाद विरोध की भावना भी थी। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के बारे में यह धारणा प्रचलित थी कि इन देशों में व्यक्ति को किसी प्रकार की स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं है। इसलिए मार्क्सवाद विरोध व्यक्ति स्वातंत्र्य के नारे में बदल गया। लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्रता की यह माँग मध्यवर्ग के व्यक्ति की ही माँग थी, जो शेष जनता को "भीड़" के रूप में देखता था और अपने को उससे घिरा पाता था। समाजवाद विरोध ने इस मध्यवर्गीय व्यक्ति को विचारधारा से भी मुक्त कर दिया और कवि केवल निजी विवेक को ही अंतिम सत्य बताने लगा। नये कवि का मानना था कि व्यक्ति का विवेक ही उसे सही दिशा दे सकता है न कि कोई बाहरी सत्य। नयी कविता में औद्योगिक सभ्यता की भी तीव्र आलोचना थी। बढ़ते औद्योगीकरण और मशीनीकरण ने मनुष्य को भावात्मक स्तर पर अकेला और असहाय बनाया, स्वार्थी और लोभी भी। भारत में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुए विकास ने मध्यवर्ग के संवेदनशील मन पर गहरा असर डाला। किसी समाजोन्मुख चिंतन के अभाव में इस दौर का कवि अपने आसपास की सारी समस्याओं का कारण औद्योगिक विकास को ही मानने लगा। नयी कविता में मनुष्य की निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार नयी कविता की व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी धारा ने जो रास्ता अपनाया उसी का विकास (या पतन) हम साठोत्तरी कविता में देख सकते हैं।

साठोत्तरी कविता में यह व्यक्तिवाद और प्रबल हुआ। निजी विवेक में भी कहीं-न-कहीं चिंतन और सोच की संभावना निहित थी, जबकि साठोत्तरी कविता ने "विवेक से विदाई" का नारा दिया। इस दौर के कवियों के लिए भी जनता भीड़ ही रही वरन् इस "भीड़" के प्रति उसकी घृणा और नफरत और अधिक तीव्र रूप में व्यक्त हुई। साठोत्तरी कविता में भोगवाद यौन-जुगुप्सा में बदल गया। नारी मात्र देह रह गयी। कवियों में पराजय और निषेध की भावना ही प्रबल थी। आस्था, आशा और आदर्श जैसे शब्द कविता से लुप्त हो गये थे। व्यक्तिवाद के प्रबल आग्रह ने कवियों को छोटे-छोटे गुटों में बदल दिया। नित नये आंदोलन बनने और टूटने लगे। कविता के क्षेत्र में संपूर्ण अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई। यह अराजकता कविता की भाषा, रूप और शिल्प में भी व्यक्त होने लगी। कविता कवि की मानसिक प्रतिक्रियाओं की वाहक मात्र रह गयी। प्रयोग के नाम पर कविता और भाषा दोनों से खिलवाड़ किया जाने लगा। ऐसे काव्य-बिंबों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा जो केवल जुगुप्सा उत्पन्न करते थे। इन युवा कवियों ने विद्रोही तेवर के साथ अपनी कविता को "एंटी-पोइट्री" या अकविता नाम दिया। नयी कविता की व्यक्तिवादी आधुनिकतावादी धारा की इस परिणति के कारण तत्कालीन परिस्थितियों में निहित थे।

## 26.2.2 समकालीन परिस्थितियाँ

सन् 1947 में भारतीय राजसत्ता की स्थापना जिस आशा, उत्साह और उमंग के साथ हुई थी, वह जल्दी ही धूल-धुसरित होने लगी। बढ़ती बेरोजगारी, भूखमरी, सूखा, बाढ़ आदि ने आम लोगों के जीवन के कष्टों को बढ़ाया ही, कम नहीं किया। इसका असर छोटे नगरों और कस्बों में रहने वाले युवाओं पर भी पड़ा। प्रगति और विकास का जब कोई फल दिखाई नहीं दिया तो उनका विचलित होना स्वाभाविक था। एक तरह की मोहभंग की स्थिति इसे कहा जा सकता है। इन परिस्थितियों को बदलने वाली शक्तियाँ भी निस्तेज थीं। देश में वामपंथी और प्रगतिशील आंदोलन अपने अंतर्विरोधों के कारण बिखर गया था। ऐसे में युवा मन जल्दी ही निराशा, पराजय और नकारवाद की गिरफ्त में आ गया। कस्बों और छोटे नगरों में रहने वाले युवा कवि जब महानगरों में आकर रहने लगे तो उन्हें एक नये आश्चर्यलोक के दर्शन हुए। महानगर में फैली संपन्नता, विलासिता और चमक-दमक ने उसे चकाचौंध कर दिया। अपने कस्बे के गतिहीन जीवन और महानगर की इस रफ्तार भरी जिंदगी को वह सहज ही जज्ब नहीं कर पाया। इस अंतर्विरोध को समझने की बजाय उसे यहाँ और वहाँ दोनों ही जीवन निरर्थक लगने लगे। एक इसलिए कि वह उसकी मध्यवर्गीय पहुँच से परे था और दूसरा इसलिए कि वह उसकी आकांक्षाओं से अत्यंत अल्प था। ऐसे में सब कुछ को नकारने के विद्रोही तेवर अपनाते हुए हर चीज़ को और अपने-आपको भी निरर्थक मानने और बताने लगा। विचार, प्रेम, आस्था, संघर्ष आदि शब्द उसे गाली की तरह लगते थे।

सातवें दशक की यह मानसिकता उस दौर के मध्यवर्ग की मनःस्थिति को व्यक्त करती है

लेकिन यह कोई स्थायी चीज नहीं थी। 1962 में चीन के साथ संघर्ष और 1965 में पाकिस्तान के साथ लड़ाई ने स्थितियों को और बदतर बनाया। शासक पार्टी कांग्रेस की लोकप्रियता कम होने लगी। जनता का असंतोष विभिन्न जन आंदोलनों के माध्यम से व्यक्त होने लगा। 1967 के चुनावों में लोकसभा में कांग्रेस को मामूली-सा बहुमत प्राप्त हुआ और कई राज्यों में विरोधी दलों की संयुक्त सरकारें बनीं। पश्चिम बंगाल और केरल में वामपंथी सरकारें स्थापित हुईं। देश के कुछ हिस्सों में नक्सलवादी आंदोलन के रूप में सशस्त्र विद्रोह भी हुए। बहरहाल, सातवें दशक की समाप्ति तक सारे देश में जगह-जगह जनता का असंतोष और परिवर्तन की आकांक्षा जनांदोलनों के रूप में व्यक्त हो रही थी। इसका असर युवा कवियों पर पड़ने लगा था। जनांदोलनों में उन्हें नयी आशा और नये भविष्य के सपने उगते नजर आने लगे। उनकी कविता को एक नया प्रेरणा संसार मिला। वे पराजय और नकारवाद के चंगुल से मुक्त होकर जनता की अपराजेय शक्ति के गीत गाने लगे। ऐसे समय इन कवियों को काव्य परंपरा के रूप में प्रगतिवाद का स्मरण आना स्वाभाविक था। आश्चर्य यह था कि नागार्जुन, त्रिलोचनशास्त्री, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर आदि प्रगतिवादी कवि ही नहीं रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह जैसे नये कवि भी इस निराशा और हताशा के दौर में भी जीवन की आस्था और संघर्ष की कविता लिख रहे थे। लेकिन व्यक्तिवादी-पराजयवादी स्वर इतना प्रबल था कि उसके शोर में ये कविताएँ हाशिए पर चली गईं। लेकिन बदली परिस्थितियों ने एक बार फिर इस प्रगतिशील-जनवादी धारा को काव्य परंपरा के केन्द्र में स्थापित किया।

1975 तक क्रांति और परिवर्तन का स्वर मुखर से मुखरतर होता गया। कवियों को लग रहा था कि बस क्रांति तो उनके दरवाजे पर दस्तक दे रही है लेकिन तभी देश में आपातकाल की घोषणा हो गई। राजनीतिक गतिविधियाँ ठप्प पड़ गईं, जनांदोलन लुप्त हो गये, चारों ओर सन्नाटा और आतंक का साम्राज्य छा गया। कवियों के लिए यह अकल्पनीय स्थिति थी। लेकिन इस बार वह निषेधवाद और पराजय-भावना से ग्रस्त होने से बचा रहा। क्रांति का स्वर तो लुप्त हो गया परन्तु जनता में आस्था और परिवर्तन की आकांक्षा बरकरार रही। 1977 में हुए घटनाचक्र ने एक बार फिर उसे उत्साहित किया, परन्तु इसके बाद के लगभग डेढ़ दशक में राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन तो होते रहे परन्तु जनता की बदहाली में कोई परिवर्तन नहीं आया बल्कि बढ़ती सांप्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रीयतावाद ने राष्ट्रीय एकता और अखंडता के सामने ही गंभीर चुनौती खड़ी कर दी। आज हिंदी कविता इन स्थितियों के प्रति अधिक सजग है, उसका चिंतन अधिक प्रौढ़ और उसकी अभिव्यक्ति अधिक संतुलित और सकारात्मक है। आगे हम हिंदी कविता के इसी विकास-क्रम का परिचय प्राप्त करेंगे।

## 26.2.3 समकालीन कविता की प्रमुख धाराएँ

**साठेत्तरी कविता:** नयी कविता ने काव्य रचना के जो मुहावरे और सरोकार अपनाये थे, वह सन् 60 तक आते-आते रूढ़ होने लगे। अधिकांश कवि एक सा कथ्य, एक सी भाषा, बिंब, प्रतीक, शैली आदि दोहराने लगे। जाहिर है, इस स्थिति को तोड़ना आवश्यक हो गया। 1960 के आसपास उभरे युवा कवियों ने नयी कविता की रूढ़िबद्धता से भिन्न मार्ग खोजने की कोशिश की। सातवें दशक में सामने आये कवियों ने लघु पत्रिकाओं के माध्यम से अपने को व्यक्त करना शुरू किया। हर लघु पत्रिका के साथ एक नया काव्यांदोलन जन्म ले रहा था। नये काव्यांदोलन के घोषणा पत्र तैयार हो रहे थे। अकविता, सनातन सूर्योदयी कविता, युयुत्सावादी कविता, विद्रोही कविता, नूतन कविता, बीट कविता, नंगी कविता, ठोस कविता, सहज कविता, विचार कविता आदि लगभग पचास कविता आंदोलनों की चर्चा डॉ. जगदीश गुप्त ने अपने लेख "किसिम-किसिम की कविता" में की है।

1963 में जगदीश चतुर्वेदी ने "प्रारंभ" का संपादन किया था जिसमें पहली बार ऐसी कविताएँ संग्रहीत हुई थीं जो नयी कविता से भिन्न एक नयी प्रवृत्ति की सूचक थी। जगदीश चतुर्वेदी के ही संपादन में 'अकविता' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके प्रवेशांक में लिखा गया था—"आज का कवि परंपरागत रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध है और उसका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परंपरा से मुक्त भी और निस्संग भी। परिवर्तित सौन्दर्यबोध के कारण आज का कवि पिछली परंपराओं को नकार कर अपना संपूर्णतया पृथक् मार्ग भी खोजने में रत है। आधुनिक मनोवृत्ति की इसी

अनिवार्यता को हम "अकविता" के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कर रहे हैं।" (डॉ. हरदयाल की पुस्तक "हिंदी कविता की प्रकृति" से उद्धृत पृ. 137) इस कथन से स्पष्ट है कि साठोत्तरी दौर के कवि भी अपने को अपने से पूर्व की काव्यधारा से भिन्न मानते थे और एक नये मार्ग की खोज पर बल दे रहे थे। परन्तु क्या ये भिन्न-भिन्न काव्यांदोलन एक सी जीवन दृष्टि और काव्य मूल्य से प्रेरित नहीं थे? स्वयं जगदीश चतुर्वेदी ने लिखा है, "नई कविता से इतर जिस काव्य-संवेदना का प्रारंभ इस दशक की कविता में हुआ, वह युगांतकारी और समय-सापेक्ष है ..... इस दशक में अस्वीकृति के विभिन्न स्वर कई काव्यांदोलनों के नाम से मुखरित हुए और उन निषेधात्मक काव्याभिव्यक्तियों ने पिछले कई दशकों से चली आ रही काव्य-संवेदना में आमूल परिवर्तन किया।"

"काव्य संवेदना में आमूल परिवर्तन" की जो बात जगदीश चतुर्वेदी ने कही है, वह किस हद तक साठोत्तरी कविता पर लागू होती है यह विवाद का विषय है, परन्तु महत्वपूर्ण है उस दौर में उपजे क्षणजीवी काव्यांदोलनों की एकता की पहचान। निश्चय ही साठोत्तरी कविता की केन्द्रीय विशेषता "निषेधात्मकता" को माना जा सकता है। इसलिए हम यहाँ अकविता, ठोस कविता, बीट कविता आदि "किसिम-किसिम" नामों से प्रचलित इस साठोत्तरी कविता को एक ही काव्य-प्रवृत्ति की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां मानकर विचार करेंगे। इस काव्य प्रवृत्ति की विशेषताओं की चर्चा हम आगे के भागों में करेंगे।

**प्रगतिशील-जनवादी कविता:** 1967 के बाद बदली परिस्थितियों का प्रभाव कवियों पर भी पड़ रहा था। जहाँ एक ओर पुराने प्रगतिशील कवि नयी ऊर्जा और तेजस्विता के साथ सामने आ रहे थे, वहीं रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर आदि नये कवि अधिक जनोन्मुखी और सकारात्मक रचनाधर्मिता का परिचय दे रहे थे। धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी जैसे साठोत्तरी दौर के कवियों पर भी इस नये प्रगतिशील-जनवादी उभार का असर दिखाई दे रहा था। आठवें दशक में सामने आने वाले अधिकांश कवि तो इस उभार से प्रभावित और प्रेरित थे ही। यह नयी प्रगतिशील-जनवादी कविता चौथे-पांचवें दशक के प्रगतिवाद का अनुकरण मात्र नहीं था। यह काव्यधारा भी अपनी प्रेरणा जन आंदोलनों से ले रही थी परन्तु जीवन-यथार्थ, काव्य रूप, शैली आदि की दृष्टि से यह नितांत भिन्न काव्यधारा थी। इसकी विशिष्टताओं की चर्चा हम आगे करेंगे।

**नवगीत परंपरा:** छायावाद से प्रगतिवाद तक कविता लिखने के साथ-साथ गीत लिखने की परंपरा भी अबाध रूप से चलती रही। परन्तु प्रयोगवाद और नयी कविता में गैर रूमानियत पर इतना अधिक बल दिया गया कि गीत लेखन की परंपरा लगभग अवरूद्ध हो गयी। छठें दशक के अंत तक आते-आते कुछ गीतकारों ने "नयी कविता" की तरह "नवगीत" का नारा दिया। नवगीत की यह परंपरा छायावाद की रूमानी धारा से भिन्न थी। परन्तु इसने हिंदी काव्य परंपरा को अधिक प्रभावित नहीं किया। यह अवश्य है कि नवगीत की यह परंपरा बाद के दशकों में भी चलती रही और कविता के क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों का असर भी नवगीत परंपरा पर पड़ा और आठवें दशक में जनवादी गीत की भी सुदृढ़ धारा दिखाई देने लगी। नवगीत की इस परंपरा पर लोकगीतों का असर था। नवगीत की विशेषताओं की चर्चा भी हम आगे करेंगे।

इस प्रकार, समकालीन कविता को हम उपर्युक्त तीन काव्यधाराओं में अभिव्यक्त होता पाते हैं।

---

**बोध प्रश्न**

1) साठोत्तरी हिंदी कविता में नयी कविता की किस धारा का विकास हुआ?

.....

.....

2) इसके उदय के क्या कारण थे? लगभग तीन-चार पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) 1967 के बाद भारतीय परिस्थितियों में क्या परिवर्तन हुए? तीन-चार पंक्तियों में बताइए?

.....

.....

.....

.....

**अभ्यास**

1) नयी कविता और साठोत्तरी कविता की संक्षिप्त तुलना कीजिए। उत्तर पाँच पंक्तियों में लिखिए।.

.....

.....

.....

.....

.....

## 26.3 समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

समकालीन कविता के तीन दशकों में हिंदी कविता का एक स्वरूप नहीं रहा, यह हम कह चुके हैं। लेकिन जहाँ से हमारे अध्ययन की शुरुआत होती है, वहाँ समकालीन कविता पर मुख्य रूप से नयी कविता की आधुनिकतावादी-व्यक्तिवादी काव्यधारा का ही असर था। इस धारा को कई नाम दिये गये। अकविता या "ऐंटी पोइट्री" इनमें प्रमुख था। अकविता अर्थात् ऐसी कविता जो परंपरागत कविता की एंटी या विरोधी है या परंपरागत अर्थ में कविता नहीं है। विरोधी होकर भी यह कविता भी अंततः कविता ही थी। फिर अकविता भी नाम सबको स्वीकार्य नहीं था और किसी ने इसे ठोस कविता, किसी ने विद्रोही कविता और किसी ने विचार कविता आदि नाम दिया। नाम की इस अराजक स्थिति से इस दौर की कविता को साठोत्तरी कविता कहना ज्यादा समीचीन है।

### 26.3.1 साठोत्तरी कविता

साठोत्तरी दौर की कविता परंपरा से असंपृक्त नहीं थी। "अकविता" पत्रिका के प्रवेशांक में कहा गया था–"आज का कवि परंपरागत रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध है और उसका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परंपरा से मुक्त भी है और निस्संग भी। परिवर्तित सौन्दर्यबोध के कारण आज का कवि पिछली परंपराओं को नकार कर अपना संपूर्णतया पृथक् मार्ग भी खोजने में रत है। आधुनिक मनोवृत्ति की इसी अनिवार्यता को हम "अकविता" के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास कर रहे हैं। नये कवि ने जिस बृहत्तर परिवेश में नवीन काव्य-रचना के विविध प्रयोग किये हैं, उनका दिग्दर्शन कराना ही हमारा अभीष्ट है।" (डॉ. हरदयाल की पूर्वोक्त पुस्तक से उद्धृत पृ. 137)

उपर्युक्त कथन पर विचार करें ता हम देख सकते हैं कि अकविता के कवि भी लगभग वे ही बातें कह रहे थे जो उससे पूर्व प्रयोगवाद और नयी कविता के व्यक्तिवादी कवि कह रहे थे। साठोत्तरी कविता की प्रवृत्तिगत विशेषताओं से स्पष्ट हो जाएगा कि वह कविता किन अर्थ में अपनी पूर्ववर्ती कविताओं से भिन्न है।

**विचारों से विदाई:** विचारधारा और राजनीति का विरोध नयी कविता की भी विशेषता रही है। 'अकवियों ने भी राजनीतिक विचारों से प्रेरित कविता का विरोध किया।' प्रारंभ (1963) की भूमिका में जगदीश चतुर्वेदी कहते हैं–"राजनीतिक विचारों पर काव्य रचने का जमाना लद चुका, समाज का द्रष्टा कवि आज मानवीय चेतना के बौद्धिक स्तरों को

प्रतिभासित कर रहा है। यह कहने में मुझे कोई अड़चन नहीं कि किसी भी कुंठित या ग्रस्त राजनीतिक विचारधारा में हमारा विश्वास नहीं है। व्यक्ति सत्ता तथा अनुभूत सत्य ही हमारे काव्य का, और दूसरे शब्दों में हमारे जीवन का धार्मिक दर्शन हैं। हमारे सामाजिक आदर्श हमारी अपनी बौद्धिक चेतना से ही अनुप्राणित हैं।" (पूर्वोक्त, पृ. 138) जगदीश चतुर्वेदी के इस कथन में भी विचारधारा का निषेध और स्वविवेक पर बल दिया गया है परन्तु कविता के स्तर पर तो विचार का भी निषेध ही है। इन कवियों ने लोकतंत्र, देशप्रेम, क्रांति, परिवर्तन, प्यार आदि हर उस विचार और भावना का मजाक उड़ाया जो मनुष्य के मनुष्य होने का एहसास कराती है।

कुछ लोग मूर्तियां बनाकर/फिर
बेचेंगे क्रांति की (अथवा षड्यंत्र की)
कुछ और लोग/सारा समय
कसमें खायेंगे/लोकतंत्र की

(श्रीकांत वर्मा, माया दर्पण)

देश एक लंगड़ाता वृद्ध मरीज·····देश-प्रेम एक अय्याशी का
दिया हुआ महामंत्र। दुखती है कोई कनपटी की नस और
बाजुओं में रक्तपात की इच्छा पनपने लगती है।

(जगदीश चतुर्वेदी, निषेध)

मुझे तानाशाही से लगाव है, जनतंत्र के रिरियाते गीदड़ से नहीं।

(जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहंता)

उपर्युक्त काव्यांशों को पढ़ने से साफ हो जाएगा कि इस दौर के कवि के लिए लोकतंत्र, राजनीतिक परिवर्तन, देश-प्रेम आदि का कोई मतलब नहीं था, वह इन पर सोचने से भी उकता चुका था:

पर जब सभी कुछ
ऊल ही जलूल है
सोचना फिजूल है·····

मध्यवर्ग के कवि के इस सोच का कारण क्या था? लगता है भारत की राजनीतिक-सामाजिक स्थिति में आए ठहराव ने उसे हताश और निराश बना दिया था। लेकिन यह हताशा कुछ-कुछ ओढ़ी हुई-सी भी लगती है क्योंकि इसमें एक तरह की शहीदाना मुद्रा है। यहाँ विपरीत स्थितियों को स्वीकार करने की मुद्रा है, न कि उससे संघर्ष कर बदलने की। परन्तु इस स्वीकार को पाखंड की तरह शहीदाना अंदाज में लिया गया है। कैलाश वाजपेयी की ही एक कविता "परास्त बुद्धिजीवी का वक्तव्य" इन कवियों की मानसिकता का सही प्रतिनिधित्व करती है।

न हमारी आंखे हैं आत्मरत
न हमारे होठों पर शोकगीत
जितना कुछ ऊब सके ऊब लिए
हमें अब किसी भी व्यवस्था में डाल दो

(जी जायेंगे)

शहादत और विद्रोह की इस मुद्रा में वस्तुतः पराजय-भावना ही अंतर्निहित है।

**व्यर्थताबोध:** राजनीति और व्यवस्था से यह विचारहीन विद्रोह जो पराजय-भावना के कारण कवियों को धीरे-धीरे व्यर्थताबोध की ओर ले गया है। इन कवियों का यथार्थ के प्रति रवैया सिनिकल, आत्मग्रस्त और निजी फ्रस्ट्रेशन का रूप लिये हुए है। यथार्थ के प्रति इसी रवैये ने इन कवियों की चेतना को और अकेला और असहाय बनाया है जिसे न तोड़ पाने की विवशता के कारण वे उसे अपनी नियति मान लेते हैं। यही कारण है कि इन

कवियों की प्रतिक्रियाओं में उनका विषादग्रस्त "मैं" हर क्षण मौजूद रहता है और कई बार तो यह "मैं" ही विलाप करता रहता है और विलाप के वस्तुगत कारण लुप्त हो जाते हैं।

मैं हँसता हूँ,गाता हूँ
रोता हूँ, चीखता हूँ
प्यार करता हूँ गालियाँ देता हूँ
लेकिन हर स्थिति में
वैसा का वैसा ही रह जाता हूँ
जैसे मैं मुर्दों के बीच हूँ।

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

इस कविता में विरोध का स्वर व्यंग्य के रूप में था, लेकिन साठोत्तरी कविता में व्यंग्य का स्थान ऊब ने ले लिया। इसके मूल में समाजगत वास्तविकता से कवियों का मानसिक अलगाव है।

चारों तरफ शोर है
चारों तरफ भरापूरा है
चारों तरफ मुर्दनी है
भीड़ और कूड़ा है
हर सुविधा
एक ठप्पेदार अजनबी उगाती है
हर व्यस्तता
और अधिक अकेला कर जाती है

(गिरिजा कुमार माथुर)

**भीड़ के बीच घिरा अकेलापन:** नयी कविता के कवियों की तरह इस दौर का कवि भी जनता को भीड़ के रूप में देखता है। कवि इसके मूल में महानगरीय चेतना को मानते हैं। जगदीश चतुर्वेदी लिखते हैं "हममें से अधिकांश कवि महानगरों या नगरों में रह रहे हैं। नगरों का जीवन यांत्रिक हो गया है। व्यस्तता में लीन एक अजीब-सी उमस और अजनबियत तथा अकेलेपन की भावना हममें घर करती जा रही है"। अकविता के अधिकतर कवि यद्यपि रहते तो महानगरों में थे परन्तु यहाँ आने से पहले वे छोटे शहरों और कस्बों के वासी थे। इसलिए इन कवियों के इस दावे के बावजूद की उनकी चेतना महानगरीय है और कविता गैर रोमानी, कविता को पढ़ते हुए कवियों की "मूल कस्बाई भावुकता उनके तथाकथित महानगर-बोध के सामने संयमित या तनावपूर्ण न होकर दरअसल और अधिक सतही और लिजलिजी हो गई है"। (अशोक वाजपेयी, फिलहाल)

महानगर का आतंक ही इन कवियों को अन्य से काट देता है। वह अपने चारों ओर की दुनिया को भीड़ समझता है और जाहिर है भीड़ से कोई संवाद स्थापित नहीं किया जा सकता:

कभी-कभी बहुत अजीब लगता है
कि मैं–
किसी मसीहा की तरह
अपने हाथों में
दिशा-संकेत संभाले
भीड़ के साथ
दौड़ता जाता हूँ
जबकि मैं जानता हूँ
कि भीड़ की आंखें नहीं होती
केवल आवाज़ होती है।

(कुमार विकल)



भीड़ के प्रति यही दृष्टिकोण साठोत्तरी कविता में व्यक्त हुआ है। सवाल यह है कि समाज जो जटिल संरचना है तथा मनुष्य उसकी एक इकाई उसको भीड़ के रूप में देखना कहाँ

उचित है क्योंकि भीड़ से न संवाद संभव है न लगाव। इससे तो व्यक्ति केवल अलगाव ही महसूस कर सकता है।

**नारी के प्रति पतनोन्मुखी दृष्टिकोण:** अकविता के इस दौर में स्त्री के प्रति सम्मान की भावना प्रायः कम हो गई है, वह केवल शरीर और भोग्या बन कर उपस्थित हुई है। इस कविता में नारी का जो रूप उभरता है, उसमें नारी के प्रति न तो आदर की भावना है, न उसकी पीड़ा के प्रति सहानुभूति। इसमें न तो प्रेम का रूमानी भाव है न प्रिय के बिछोह की पीड़ा। अगर कुछ है तो केवल नारी देह का उपभोग। जहाँ नारी जीवन की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ नारी पुरुष की वासना को तृप्त करने वाले साधन के रूप में या बच्चों को पैदा करने वाली मशीन के रूप में। और अगर नारी किसी भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए व्यक्त हुई है तो वह भी विकृत रूप में। जहाँ स्त्री मां, बेटी, बहन, पत्नी, मित्र के रूप में नहीं केवल वेश्या के रूप में या शारीरिक वासना को तृप्त करने वाले साधन के रूप में हो वहाँ कवि नारी जीवन के यथार्थ दर्द को कैसे अनुभव कर सकता है।

1) कुछ स्त्रियाँ प्रेम करती हैं
वर्दी से
बाकी
नामर्दी से (श्रीकांत वर्मा)

2) कवियों की झूठ में लिपटी हुई
वेश्या-मां
अपनी संतानों का स्वर्ग देख रही हैं।

(श्रीकांत वर्मा)

स्त्री को पुरुष की संपत्ति के रूप में ही नहीं वरन् पुरुष के सामूहिक उपभोग की वस्तु के रूप में देखना पूंजीवादी समाज की विकृत मनोदशा का भी प्रभाव है। नारी के प्रति यह भावना मध्ययुगीन समाज की मनोवृत्ति से भी अधिक विकृत और जुगुप्सोत्पादक है।

**निषेधात्मकता:** साठोत्तरी कविता चूंकि विचारधारा, राजनीति, मूल्य-व्यवस्था सभी का निषेध करती है इसलिए इसे हम निषेध की कविता भी कह सकते हैं। डॉ. हरदयाल इस सर्वनिषेध की प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "जिस तरह सातवें दशक का कवि राजनीति को अस्वीकार करता है उसी तरह वह भावुकता, आदर्शवादिता, प्रेम, नैतिक, मूल्यों इत्यादि के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है। मूल्यों के प्रति यह संदेहवाद. यह निषेध आम आदमी के जीवन में व्याप्त दिखाई देता है, कवि ने तो उसे केवल अभिव्यक्ति दी है जिस समाज में "लाभ" और "पद" सबसे बड़े मूल्य बन गये हों, जिस समाज में बेईमानी, रिश्वतखोरी, भाई-भतीजावाद, सिफारिश, गुंडागर्दी इत्यादि को सम्मान मिलने लगा हो, उसमें यदि रचनाकार में निषेधात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं होता तो यह आश्चर्य की बात होगी।" (डॉ. हरदयाल, हिंदी कविता की प्रकृति, पृ. 139)।

जहाँ हर यात्रा का अर्थ दुर्घटना है
और अस्पतालों में मृत्यु अधिक निश्चित है
जहाँ धूर्त होना/अतिरिक्त गुण और बेईमानी
प्रामाणिक हो चुकी है
दोहरा व्यक्तित्व, पाखंड, चाटुकारिता
प्रचार, पक्षपात और उलझन/जहाँ के सर्वमान्य मूल्य हैं।
जहाँ सत्य शब्द का/उच्चारण
अब केवल अर्थी ले जाने में होता है
गाली ही अब जहाँ एक मात्र भाषा है
ताश के पत्तों पर/अब जहाँ निर्माण होता है
और लोग/कागज़ पर मिनिटों में फसलें उगाते हैं
अब जहाँ घड़ियाँ/व्यक्तिगत सुविधा के अनुसार चलती है
और जहाँ पानी तक/शुद्ध नहीं मिलता है।
जहाँ। फिल्म अभिनेता/संस्कृति के रक्षक हैं
और बुद्धिजीवी अय्याश हैं

जहाँ जड़ मुर्ख हैं/रचयिता विधान के और
कुछ विदुषक शासन चलाते हैं।

(कैलाश वाजपेयी, सक्रांत)

उस समय के हालात की इस तस्वीर ने इन कवियों में आक्रोश तो पैदा किया परन्तु यह किसी सकारात्मक परिणति की ओर जाने की बजाय "विनाश की तीव्र आकांक्षा के रूप में" अभिव्यक्त हुआ:

मैं प्रेम जैसे अभिशप्त रोग को मुट्ठी में भरकर
आग में झोंक देना चाहता हूँ
मैं आस-पास के घरों में एक हाहाकार मचाना चाहता हूँ
-एक अनिर्दिष्ट व्याघात।
मैं तमाम यात्राओं को दुर्घटना में बदलना चाहता हूँ।

(जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहंता)

## 26.3.2 प्रगतिशील-जनवादी कविता

नयी कविता का परिचय देते हुए हमने बताया था कि उसी दौर में शमशेर बहादुर सिंह, गजानन माधव मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह आदि कवियों की कविताओं पर नयी कविता की आधुनिकतावादी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नहीं था। इन कवियों के काव्य में जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्त हुआ। इसी दौर में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शील, त्रिलोचनशास्त्री जैसे कवि भी थे जो निरंतर प्रगतिशील काव्य की रचना में रत थे, परन्तु जिनकी रचनाशीलता कविता के केन्द्र में न रहकर हाशिए पर चली गई थी। 1967 के बाद बदली परिस्थितियों ने एकबार फिर कविता में वामपंथी रूझान को उभारने में मदद की। इस दौर में जिसे कोई सत्तारोत्तरी कविता का दौर तो, कोई नववाम या न प्रगतिवाद या जनवाद नाम देता है, ने कविता को भी दूर तक प्रभावित किया। हम इसे प्रगतिशील-जनवादी कविता का दौर कहेंगे। इस दौर ने अकविता के कई कवियों को जनवादी-प्रगतिशील कविता की ओर मोड़ा। इनमें धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, मंगलेश डबराल, कुमार विकल, इब्बार रब्बी आदि प्रमुख थे। इसी दौर में रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह आदि नयी कविता के कवि भी इस नयी प्रगतिशील जनवादी कविता के और निकट आये। इस कविता को हम दो चरणों में बांट सकते हैं।

प्रथम चरण हम सातवें दशक से उत्तरार्द्ध और आठवें दशक के पूर्वार्द्ध को कह सकते हैं जब कविता का उदय हुआ है और इस पर अकविता के सोच और मुहावरों का काफी असर था।

दूसरा चरण आठवें दशक के उत्तरार्द्ध से अब तक का है जब इस कविता में उग्रवादिता कम हुई है और स्वर अधिक संयमित और संतुलित हुआ है। यहाँ हम इन दोनों चरणों की विशेषताओं का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

**प्रथम चरण:** सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में हुई राजनीतिक घटनाओं का असर कवियों और बुद्धिजीवियों के भावबोध पर भी पड़ा। दो दशकों के कांग्रेस के सत्ता पर एकाधिकार को पहली बार सशक्त चुनौती दी गई थी और कई राज्यों में विपक्षी दलों की सरकारें बनीं। केरल और पं. बंगाल में वामपंथी सरकारें अस्तित्व में आईं। जगह-जगह राजनीतिक परिवर्तन के लिए उग्र जनांदोलन फूट पड़े। इन सब का असर हिंदी के कवियों पर भी पड़ा। व्यवस्था का अंध विरोध जो साठोत्तरी कविता की विशेषता था, उस विरोध को अब तक दिशा मिलने लगी। नक्सलबाड़ी के आंदोलन के प्रभाव में कई युवाओं को परिवर्तन और क्रांति अपनी दहलीज पर दस्तक देती सुनाई देने लगी। क्रांति की इस गहार में परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा साफ झलक रही थी। इस परिवर्तन की आकांक्षा के पीछे देश की बदतर स्थितियाँ थीं जिसके प्रति ये कवि गहरे आक्रोश से भरे थे। इसका उदाहरण हम धूमिल की कविता में देख सकते हैं:

अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है

जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है
दरअसल, अपने यहाँ जनतंत्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है

(धूमिल, पटकथा, संसद से सड़क तक)

धूमिल की आलोचना का यह स्वर अकविता से काफी मिलता जुलता है। परन्तु धूमिल इस आलोचना तक ही अपनी कविता को सीमित नहीं रखते बल्कि उस आम आदमी के दर्द को भी वे अपनी कविता का विषय बनाते हैं जो अकविता में सिरे से ही गायब है:

..... पेशेवर हाथों और फटे हुए जूतों के बीच
कहीं-न-कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टांके पड़ते हैं
जो जूते से झांकती हुई अंगुली की चोट छाती पर
हथोड़े की तरह सहता है।

(मोचीराम)

इस दौर में कविता के प्रति विश्वास की भी वापसी हुई है जो अकविता में लुप्त हो गई थी। रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध कविता "आत्महत्या के विरुद्ध" में इसी विश्वास की अभिव्यक्ति निम्नलिखित शब्दों में हुई है:

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा
न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अंदर एक कायर
टूटेगा टूट
मेरे मन टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ टूट।

कविता का यह आत्मसंकल्प निश्चय ही उस परिवर्तन का परिणाम है जो सातवें दशक के उत्तरार्द्ध और आठवें दशक में दिखाई दे रहा था। इन कवियों का नारी संबंधी दृष्टिकोण भी अकवियों से भिन्न और मानवीय था। हाँ, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी आदि कवियों के यहाँ स्त्री के प्रति वही अकविता वाला शब्दाडंबर विद्यमान रहा।

प्रगतिशील-जनवादी कविता के विकास पर मुक्तिबोध का भी काफी असर रहा, जिनका 1964 में देहांत हो गया था और सातवें दशक के अंत में जिनका काव्य लोगों के सामने पहुँच रहा था।

**दूसरा चरण:** अतिक्रांतिकारिता और अकविता के बड़बोलेपन का प्रभाव आपात्काल के साथ प्रायः समाप्त हो गया। क्रांति जो दरवाजे पर दस्तक देती सी लगती थी, आपातकाल ने उस स्वप्न से कवियों को जगा दिया और यथार्थ की ठोस भूमि पर ला खड़ा किया। प्रगतिशील कविता यथार्थवादी कविता होती है। प्रथम चरण की कविता में भी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति हुई परन्तु उस पर अकविता के व्यक्तिवाद और भाववाद का असर भी था। परन्तु अब कविता यथार्थ के अधिक नजदीक आई।

इस कविता को जनवादी कविता भी कहा गया क्योंकि आपात्काल के अनुभव ने कवियों को लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रति जागरूक बनाया। उन्हें प्रतीत हुआ कि जो भी लोकतंत्र उन्हें प्राप्त है, बोलने की आजादी, वोट देने की आजादी, अपने विचार व्यक्त करने की आजादी इसकी रक्षा भी आवश्यक है। क्योंकि अगर यह आजादी ही सुरक्षित नहीं रही तो परिवर्तन के लिए संघर्ष भी संभव नहीं होगा। इसलिए इस दौर में कविता में जनवाद की रक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, दुष्यंतकुमार की कविताओं में भी जनवाद पर मंडराते खतरे की प्रतिध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं:

बीस बरस बीत गये
लालसा मनुष्य की तिल-तिल कर मिट गयी

× × ×

रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मरते हुए लोगों का झुंड
तिल-तिल खिसकता है शहर की तरह

× × ×

मैं क्या कर रहा था जब मैं मरा
मुझसे ज्यादा तो तुम जानते लगते हो
तुमने लिखा मैंने कहा था स्वाधीनता
शायद मैंने कहा था बचाओ

(रघुवीर सहाय, हंसो, हंसो जल्दी हंसो)

रघुवीर सहाय ने उस आतक की भयावहता का चित्र खींचा है जो लोगों की स्वाधीनता छीनने वाली सत्ता के दमन से उत्पन्न होता है:

हंसों तुम पर निगहा रखी जा रही है
हंसों अपने पर न हंसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जाएगी और तुम मारे जाओगे

(रघुवीर सहाय, पूर्वोक्त)

इस दौर की कविता में केवल दमन और आतंक के ही चित्र नहीं है वरन् आशा और विश्वास के भी चित्र हैं।

सूर्योदय
औचक से घट जाने वाली
अनायास घटना नहीं
क्षण-क्षण/टूटना है अंधेरों का
तार-तार
बूंद-बूंद/घुलना है चुप-चुप
कटना है उजास का

(मनमोहन, सूर्योदय)

यहाँ सूर्योदय जीवन के अंधकार के बीच आशा का उदय है परन्तु इस आशा के स्वर में बड़बोलापन नहीं है। आठवें-नवें दशक की जनवादी कविता ने राजनीतिक यथार्थ से आगे जाकर जीवन की छोटी-छोटी सच्चाइयों को भी अपनी कविता का विषय बनाया। घर-परिवार, उसका संघर्ष, अपने परिवेश से जुड़ी छोटी-छोटी सच्चाइयाँ। स्त्रियों के जितने संघर्षशील और करूण चित्र इस दौर की कविता में मिलते हैं उतनी किसी अन्य दौर की कविता में नहीं। असद ज़ैदी की प्रसिद्ध कविता ''बहनें'' में स्त्रियों के दुःख भरे संसार की करूण तस्वीर उभर आती है।

लकड़ियां हैं हम लड़कियां
जब तक गीली हैं धुआं देंगी पर इसमें
हमारा क्या बस? हम
पलीतियां हैं तुम्हारे घर की, भाई, पिता
मां देखो हम पलीतियां हैं

× × ×

हम सूख जाएंगी
हम खड़खड़ाएंगी इस धरती पर सन्नाटे में
मोखों में चूल्हों पर दोपहरियों में
अपना कटोरा बजाएंगी हम हमारा कटोरा
भर देना-मोरियों पर पानी मिल जाता है कुनबे वालो

पर घूरों पर दाना नहीं मिलता
हमारा कटोरा भर देना।

इस दौर की कविता की विशेषता यह है कि इसमें जीवन अपनी पूर्णता में आया है। पेड़, चिड़िया, पहाड़, बच्चे तो हैं ही इसके साथ जीवन को संघर्ष के वे विविध रूप जिनमें कवि उस मानवीय संवेदना को ढूंढ़ता है जो हमारे जीवन से लुप्त होती जा रही है।

### 26.3.3 नवगीत परंपरा

नवगीत समकालीन हिंदी कविता की महत्वपूर्ण विधा है। डॉ. रवीन्द्र भ्रमर के अनुसार "इसकी रूपरेखा छठे दशक के उत्तरार्द्ध में तैयार की गयी। उस समय "नयी कविता" के कतिपय दुराग्रही पक्षधरों द्वारा प्रगीत काव्य का व्यापक विरोध किया जा रहा था। गीत सर्जना को युगबोध और युगाभिव्यक्ति के नितांत प्रतिकूल घोषित कर दिया गया था। ऐसी विषम परिस्थिति में, कुछ जागरूक रचनाकारों ने "नवगीत" का उद्घोष किया। उत्तरछायावाद युग के नितांत वैयक्तिक, रोमानी और सपाट गीतों से एकदम हटकर, लोकचेतना और लोकधुनों के संस्पर्श से उन्होंने गीतिकाव्य को नयी गरिमा और नयी अर्थवत्ता प्रदान की। "डॉ. भ्रमर के इस कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने "नयी कविता" की प्रतिक्रिया में ही "नवगीत" की बात कही। लेकिन यह सही है कि तब से गीतों की एक स्वतंत्र धारा के रूप में बराबर होती रही। नवगीत के प्रारंभिक दौर के प्रमुख गीतकारों में शंभूनाथसिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, ओम प्रभाकर, उमाकांत मालवीय आदि प्रमुख हैं।

डॉ. रवीन्द्र भ्रमर ने नवगीत को परिभाषित करते हुए लिखा है, "लोकधर्मी अनुभूतियाँ, लोकगीतों की अंतवर्ती लयचेतना, वर्तमान जीवन के द्वंद्व और संघर्ष की रागात्मक कलाभिव्यक्ति, भाषा के मुहावरे और छंदों की ताजगी, नवजीवन से लिये गये अप्रस्तुत और बिंब-नवगीत को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि नवगीत ने अपना संबंध जीवन के संघर्ष और लोकधर्मी अनुभूतियों से जोड़ा। गीत को केवल नारी सौन्दर्य और स्त्री-पुरुष प्रेम का वाहक बनाने की बजाए इन गीतकारों ने जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों और स्थितियों को गीतों में बांधने की कोशिश की।

सन् 70 के आसपास उभरी नयी जनचेतना का असर कविता के साथ-साथ गीतों पर भी पड़ा। इस दौर में गीतों की विषयवस्तु में भी परिवर्तन हुआ। अब किसानों-मजदूरों और आम आदमी के दुःख दर्द और संघर्ष के गीत गाये जाने लगे। गीतों को हर तरह की रोमानियत से मुक्त कर उनको जीवन के यथार्थ से जोड़ा गया।

भूमे पर, मन पर, बदन पर
है अमावस का बसेरा
चंद लोहे की छड़ों में
बंद है युग का सवेरा।

(रमेश रंजक)

नवगीत की एक प्रमुख विशेषता है उसे लोक परंपरा से जोड़ना। लोक गीत लोक भावना का प्रतिबिंब होता है। लोकगीत की जीवंतता, सहज संप्रेष्णीयता और सरलता को अपनाकर जनवादी नवगीत को नयी शक्ति और ऊर्जा प्राप्त हुई। इन गीतकारों ने प्रचलित लोकगीतों और लोक धुनों का प्रयोग नये कथ्य और नये रूप में किया है। उदाहरण के लिये होली के लोकगीत का नया रूप देखिए:

रंग के भाग ठिठोली लिखी है
रूप के भाग में चीर
अपने तो भाग, मजूर के भाग है
भाल पै स्याम लकीर

(रमेश रंजक)

लोकगीतों में जो तलस्पर्शी आत्मीयता होती है उसी आत्मीयता के कारण ये गीत काफी लोकप्रिय हुए। इस दौर के जनचेतना संपन्न गीतकारों में रमेश रंजक, हरीश भादानी, माहेश्वर तिवारी, शलभ श्री रामसिंह, अश्वघोष, कांतिमोहन, नचिकेता, गोरख पांडेय आदि प्रमुख हैं।

**बोध प्रश्न**

4) साठोत्तरी कविता की कुछ प्रमुख विशेषताएँ लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

5) साठोत्तरी कविता में निषेधात्मकता के क्या कारण थे, दो-तीन पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....
.....
.....

6) प्रगतिशील-जनवादी कविता के प्रथम चरण की कुछ प्रमुख विशेषताएँ बताइए? उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

7) नवगीत से क्या तात्पर्य है? समझाइए।

.....
.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

2) प्रगतिशील-जनवादी कविता के दोनों चरणों की विशेषताओं की तुलना कीजिए। उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....

3) साठोत्तरी कविता और जनवादी कविता में नारी संबंधी दृष्टिकोण की तुलना कीजिए। उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....
.....
.....

## 26.4 समकालीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ

समकालीन हिंदी कविता के शिल्प पक्ष पर विचार करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कथ्य की तरह इसका शिल्प भी अलग-अलग प्रवृत्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त हुआ है। साठेत्तरी कविता की भाषा और रूप वही नहीं है जो बाद की प्रगतिशील जनवादी कविता का है। यही बात नवगीत परंपरा पर लागू होती है। वह एक ओर अपनी समकालीन कविता से तो भिन्न है ही स्वयं नवगीत की भाषा में सातवें और आठवें दशक में अंतर नज़र आता है। भाषा, छंद, गीत, मुक्तक, प्रतीक, बिंब आदि क्षेत्रों में इस काव्य के वैविध्य का संक्षिप्त परिचय आगामी पृष्ठों पर प्राप्त करेंगे।

### 26.4.1 काव्य-भाषा

नयी कविता के प्रमुख कवि डॉ. केदारनाथ सिंह ने कविता में बिंब विधान पर बल दिया था। परंतु साठेत्तरी कविता में वक्तव्यों पर अधिक बल दिया जाने लगा। कवि अपने आसपास के यथार्थ से उपजने वाली अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही कविता में वक्तव्य के रूप में प्रस्तुत करने लगा। इस वक्तव्य प्रधानता का नतीजा यह हुआ कि कविता में बात कहने के ढंग पर अधिक बल दिया जाने लगा।

पेट और प्रजातंत्र के बीच
आदमी दरार की तरह खड़ा है
और बवंडर/हर दरवाज़े पर/पर्दे की तरह पड़ा है।

(लीलाधर जगूड़ी)

मुझे तानाशाही से लगाव है, जनतंत्र के रिरियाते गीदड़ से नहीं।

(जगदीश चतुर्वेदी)

उक्त काव्यांशों में कवि का बल ऐसे चमत्कारिक वक्तव्य पर है जो शब्दों के ज़ोर पर पाठक को प्रभावित करे। इस चमत्कारिकता के लिए कवियों ने कई बार स्त्री-देह और स्त्री-पुरुष के शारीरिक संबंधों का भी इस्तेमाल किया है। इस तरह का प्रयोग प्रायः जुगुप्सा पैदा करने वाला है। राजकमल चौधरी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी जैसे कवि भी इस नकारात्मक असर से नहीं बच सके हैं।

वक्तव्य प्रधान इस भाषा को सपाटबयानी का नाम दिया गया है। इस सापाटबयानी का कवियों ने सृजनात्मक प्रयोग भी किया है। ऐसा प्रयोग हम रघुवीर सहाय, धूमिल, राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन आदि कवियों में देख सकते हैं। सपाटबयानी का अर्थ है बात को इतने सीधे और सहज रूप में कहा जाए कि वह सपाटता में ही असरदार बने।

एक मेरी मुश्किल है जनता
जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग
जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है

(रघुवीर सहाय)

कविता/शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है।"

(धूमिल)

लेकिन समकालीन कविता में सपाटबयानी का ही उपयोग नहीं किया गया है, भाषा का सर्जनात्मक इस्तेमाल करने के लिए उसके अन्य औजारों का भी उपयोग किया गया है। सातवें दशक में भाषा में चमत्कार प्रधान वक्तव्य की जो प्रवृत्ति थी, वह आठवें दशक के

उत्तरार्द्ध की कविता में काफी कम हो गई। कथ्य की तरह ही भाषा भी जीवन के अधिक नजदीक आई और बिना बड़पोलेपन के वह सहज ढंग से अपनी बात कहने में अधिक समर्थ बनी। मंगलेश डबराल की कविता "एक स्त्री" में स्त्री के जीवन के यथार्थ की जो सहज तस्वीर पेश की गई है, वह तस्वीर ही स्त्री की दशा पर इतना कुछ कह जाती हैकि कवि को अलग से कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं।

सारा दिन काम करने के बाद
एक स्त्री याद करती है
अगले दिन के काम

एक आदमी के पीछे
चुपचाप एक स्त्री चलती है
उसके पैरों के निशान पर
अपने पैर रखती हुई
रास्ते-भर नहीं उठती निगाह

× × ×

रात को आंखें बंद किए हुए
एक स्त्री सोचती है
समय बीत रहा है
समय बीत जायेगा आँख बंद किये हुए।

(मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन)

सातवें दशक का कवि भाषा से गोली का काम लेना चाहता था परंतु आठवें दशक के उत्तरार्द्ध तक आते-आते कवि को एहसास हो गया कि भाषा से गोली का काम लेना ज्यादती है, परंतु अगर भाषा का सोच-समझकर इस्तेमाल किया जाए तो बिना चमत्कार और आडंबर के भी वह अपने मकसद को पूरा करने में समर्थ हो सकती है।

## 26.4.2 शिल्प पक्ष

साठोत्तरी कविता में सपाटबयानी के असर का परिणाम यह हुआ कि उसमें गद्यात्मकता का अत्यधिक समावेश हुआ। कहीं-कहीं तो यह पहचानना मुश्किल हो गया कि यह गद्य है या पद्य। कविता में लय और संगीतात्मकता बिल्कुल लुप्त हो गई। भाव और विचार में भी नवीनता न होने के कारण काव्य पंक्तियाँ अर्थहीन वक्तव्य मात्र रह गई।

मैंने दोस्तों के लिए समय बहुत बरबाद किया पर दोस्त न मिले
जो मिले वह घटिया थे साथ छोड़ गये
या मैं खुद हो गया अन्यमनस्क।
परिवार और परिजन हमेशा सिखाते रहे ढोंग
और बढ़ती रही खीझ और रह गया अकेला और निरुपाय
स्वयं के बाल नोचता हुआ।

(इतिहासहंता)

कविता में ऐसे कथन जो मात्र सामान्य कथन हो और उनकी प्रस्तुति में भी कोई नवीनता न हो तो उन्हें कविता मानना कठिन होगा। सरलता का अर्थ साधारणता नहीं है। सामान्य कथन को भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इसे हम निम्नलिखित वाक्यांश में देख सकते हैं।

यह जमीन हर साल
और कठोर होती जाती है
पेड़ हर साल तक कुछ कम फल देते हैं
बच्चे दिखते हैं और भी दुबले
उनके मां-बाप कुछ और कातर
मौसम बदल रहा है

(मंगलेश डबराल)

साठोत्तरी कविता में आरंभ में वक्तव्य प्रधानता और गद्यात्मकता का जोर रहा परंतु धीरे-धीरे समकालीन कविता ने अपना मुहावरा ढूंढ़ने की कोशिश की और कविता की भाषा को कविता के अनुकूल बनाया। इस दौर की कविता में निहित संवेदना, तनाव और संघर्ष की स्थितियाँ ही उसमें एक खास तरह की लय पैदा करती है। आठवें दशक के बाद की कविता में व्यंग्य, करुणा, संघर्ष और तनाव तो है परंतु हताशा, टूटन और कुंठा नहीं है न कवि का आत्मदया उत्पन्न करने की कोशिश करता है। यद्यपि कविता में अब भी "मैं" मौजूद है परंतु वह कहीं अधिक सहज है और कवि अपने इस "मैं" से बाहर जाकर भी यथार्थ को देखने और व्यक्त करने की कोशिश करता है। कवि का बल यथार्थ में निहित उस सच्चाई और संवेदना पर होता है जिसे वह कविता द्वारा व्यक्त करना चाहता है। वह अगर एक शब्द से भी संभव है तो कवि उस एक शब्द से ही संपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए इब्बार रब्बी की कविता "कंडक्टर" का निम्नलिखित अंश ले सकते हैं। यहाँ "सुनसान" शब्द से ही खास तरह की लय कविता में उत्पन्न हो गई है जो पाठक को उस संवेदना बिंदु पर ले जाता है जहाँ तक कवि पाठक को ले जाना चाहता है:

सुनसान घर कंडक्टर का
गंदी बस्ती में
सुनसान है उसका प्रेम
सुनसान उसकी रोटी
सुनसान उसकी पत्नी
सुनसान उसका बच्चा
सुनसान है उसका अतीत

कविता के उपुर्यक्त अंश को पढ़ने से आप महसूस करेंगे कि "सुनसान" शब्द की बार-बार आवृत्ति कविता में खास असर पैदा करती है और पाठक कंडक्टर की उस मनोदशा से तादात्म्य कर लेता है जो उक्त पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

समकालीन कविता की एक प्रमुख विशेषता है लंबी कविताओं का लेखन। वैसे तो आधुनिक हिंदी कविता में लंबी कविता की रचना का आरंभ छायावाद से होता है परंतु सातवें आठवें दशक में कई महत्वपूर्ण लंबी कविताएँ लिखी गईं जिनमें कथातत्व की प्रधानता रही है। इन कविताओं में नाटकीय स्थितियों के द्वारा तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को उजागर किया गया है। इन लंबी कविताओं में नागार्जुन की "हरिजन गाथा", त्रिलोचन की "नगई महरा", धूमिल की "पटकथा", सौमित्र मोहन की "लुकमान अली", लीलाधर जगूड़ी की "बलदेव खटिक" और रघुवीर सहाय की "आत्महत्या के विरुद्ध" प्रमुख हैं।

समकालीन कविता में संवेदना का यही तत्व उसे कविता बनाता है भले ही राग, छंद और संगीत का तत्व उसमें न्यूनतम हो परंतु इसी दौर में नवगीत परंपरा ने छंद, राग और संगीत के तत्व की कविता में न केवल रक्षा की वरन् गीत परंपरा में नये प्रयोग कर उसका विकास भी किया।

गीत का सौंदर्य उसके पढ़ने में नहीं सुनने में है इसलिए यह आवश्यक है कि गीतों में अनुभव की जटिलता की तरह शिल्प की जटिलता भी नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः वही गीत सफल हो सकता है जिसमें शब्द, राग, लय और स्वर का सफल संयोजन हो। नवगीत में यद्यपि प्रेम, शृंगार आदि रोमानी भावबोध के भी गीत मिलते हैं परंतु इस दौर के गीतों की पहचान उनके यथार्थ की अभिव्यक्ति में है इसलिए गीतों की भाषा, छंद और रूप में भी परिवर्तन आया है। परंतु आरंभिक नवगीतकारों में वही जीवन दृष्टि मिलती है जो नयी कविता और अकविता के कवियों में थी। इनके गीतों में भी आत्मनिर्वासन, ऊब, उदासी, अकेलापन, टूटन और बिखराव की अभिव्यक्ति हुई है। वीरेन्द्र मिश्र कहते हैं:

खंडकाव्य जैसा जीवन भोगा
एक शब्द, एक गीत क्या होगा
भूखी आकांक्षा को तुम केवल चाशनी न दो

(वीरेन्द्र मिश्र)





या बालस्वरूप राही के निम्नलिखित गीत-अंश में लगभग उसी शब्दावली में राजनीति की

भर्त्सना की गई है जिनमें अकविता का कवि करता था:

हर जुलुस कुछ नारों का अनुगामी है
भीड़ों का कोई व्यक्तित्व नहीं होता
सबसे अधिक सुनी जाती हैं अफवाहें
बहुमत में सच का अस्तित्व नहीं होता

(बाल स्वरूप राही)

गीतों में वैसा ही पराजय-भावना हम निम्नलिखित अंश में देख सकते हैं:

जलती न कोई आग है
छिड़ता न कोई राग है
केवल सुलगती है चिता
इस गीत के आकाश में

(वीरेन्द्र मिश्र)

लेकिन गीतों में व्यक्त इस पराजय भावना, टूटन, निराशा का एक सामाजिक पक्ष भी है। इसीलिए आठवें दशक में बदली परिस्थितियों का असर गीतों पर भी पड़ा और उन्होंने अपने गीतों को गरीब और मेहनतकश जनता के दु:ख दर्द से जोड़ा। ऐसा करते हुए उनकी कविता की भाषा और तेवर में भी परिवर्तन आया। आरंभ में अति उग्रता का स्वर भी कविता की तरह गीतों में भी व्यक्त हुआ। नचिकेता के गीत के निम्नलिखित अंश को देखिए:

कुचली आंखों में अब भी है
लाल लपट मौजूद
संसद से सड़क तक
चलो, बिछा दें अब बारूद
बहुत दिनों तक खेली है
सत्ता ने छुई-मुई

(नचिकेता)

लेकिन रमेश रंजक, हरीश भादानी, माहेश्वर तिवारी, अश्वघोष, कांतिमोहन आदि के स्वर में अधिक संयम और ऊर्जा दिखाई देती है। आठवें दशक के गीतों में यथार्थ की सीधी-सहज अभिव्यक्ति भी है। जैसे–

गिरवी हैं सारी उम्मीदें
दिल का चैन रात की नींदें
कर्ज़ पसीने पर हावी है आँखें चढ़ी थान की
इतनी भर जिंदगी बची इंसान की

(रमेश रंजक, किरन के पांव)

इस दशक के गीतों की प्रमुख विशेषता है उनका लोक तत्व। इन गीतों में कथ्य, रूप और राग सभी लोकगीतों से प्रेरित हैं परंतु दृष्टि और संवेदना इस युग के अनुकूल है। रमेश रंजक ने इस दृष्टि से अत्यंत सुंदर प्रयोग किये हैं। उन्होंने ग्रामीण जीवन से संबंधित विभिन्न प्रसंगों को आधार बनाकर उसी राग और भाषा में गीत लिखे हैं, परंतु संवेदना और दृष्टि के कारण उसका अर्थ अधिक विस्तृत और गहन हो गया है। निम्नलिखित गीत अंश में राज-मजूरिन का चित्र देखिए–

गारे के पांय, पसीने को अंचरा
सीस में धूल के बाल
सजनवा! हमको न चावे गुलाल

(रमेश रंजक, इतिहास दुबारा लिखो)

समकालीन कविता के शिल्प पक्ष की चर्चा करते हुए हिंदी ग़ज़लों की चर्चा भी आवश्यक है। उर्दू की इस महत्वपूर्ण विधा में हिंदी में भारतेंदु के समय से ही प्रयोग होते रहे हैं, परंतु इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दुष्यंत कुमार का है जिन्होंने आठवें दशक में कई ग़ज़लें लिखीं। उनकी ग़ज़लों का कथ्य रूमानी नहीं वरन यथार्थवादी है और उस समय के हालात

का सच्चा आईना है। खास बात यह है कि उसकी भाषा में बोलचाल की हिंदी की मिठास है और ग़ज़ल के शिल्प पर उनका ज़बर्दस्त अधिकार है।

कहां तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।
यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए
न हो, कमीज़ तो पांवों से पेट ढंक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं, इस सफ़र के लिए

(दुष्यंत कुमार, साये में धूप)

दुष्यंत कुमार के बाद भी हिंदी में ग़ज़लें लिखी जाती रहीं जिनमें रामकुमार कृषक, कांतिमोहन, ब्रजमोहन, नईम, आदि कई नाम लिये जा सकते हैं परंतु फिर किसी को वैसी लोकप्रियता नहीं मिली।

### 26.4.3 प्रतीक और बिंब

साठोत्तरी कविता यद्यपि वक्तव्य प्रधान थी परंतु कवियों ने बिंबों और प्रतीकों का यथावसर प्रयोग किया। सातवें दशक के कवियों पर तो सपाटबयानी ही हावी रही परंतु बाद के कवि अवश्य बिंब-विधान की ओर उन्मुख हुए। जहाँ तक प्रतीकों का सवाल है इस दौर की अलग-अलग प्रवृत्तियों के प्रतीक भी अलग-अलग थे। अकविता के कवियों के प्रतीक उनकी मनोवृत्ति को व्यक्त करने वाले थे। पराजय भावना, आत्मनिर्वासन, कुंठा, टूटन, आत्मदया, हताशा आदि मनोभावों को व्यक्त करने वाले ही प्रतीक उन्हें अधिक प्रिय थे। "रात का उड़ता हुआ निःश्वास/सो गया है/मैथुनों में रत/भग्न आंखों में उलूकों को (जगदीश चतुर्वेदी) इन पंक्तियों में रात, मैथून, भग्न आँख, उलूक ये सभी वस्तुतः उसी मनोभावों के प्रतीक हैं जो साठोत्तरी कविता की विशेषता रहा है। **परकटा पक्षी, कोढ़ की** तरह छाई हुई चापलूसी, देश एक **लंगड़ाता वृद्ध मरीज़, अंधेरी गुफाओं** में भटकता रहा, हम सब नपुंसक हैं, इन **कीड़ों** से **मानव पिंडों** के लिए, जनतंत्र के **रिरियाते गीदड़** से नहीं—ऐसी अनगिन पदांश उद्धृत किये जा सकते हैं और उनमें प्रयुक्त प्रतीकों से अनुमान लगाया जा सकता है कि साठोत्तरी कविता में किस तरह के प्रतीक प्रयुक्त होते थे। परकटा पक्षी, कीड़े, नपुंसक, गीदड़, अंधेरी गुफा, कोढ़ आदि उस दौर की मध्यवर्ग की मनोदशा को व्यक्त करते थे जो बाह्य यथार्थ की प्रतिक्रिया से उपजी थी। उन्हें हर तरफ जुगुप्सा और घृणा का ही माहौल नज़र आता था। प्यार, विश्वास, आशा, गतिशीलता आदि शब्द उन्हें अर्थहीन लगते थे। लेकिन आठवें दशक की कविता में प्रतीकों में परिवर्तन आया। परिवर्तन आशा और आश्वस्ति की भावना ने उनकी भाषा पर भी असर डाला। इसे हम रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, धूमिल आदि की तत्कालीन कविता में देख सकते हैं और उन नये कवियों में तो देख हीं सकते हैं जो नये भावबोध और जीवन दृष्टि को लेकर सामने आ रहे थे। धूमिल की कविता "प्रौढ़ शिक्षा" के निम्नलिखित अंश में प्रयुक्त प्रतीक आशा और संघर्ष को व्यक्त करते हैं—

**लालटेन** की लौ जरा और तेज़ करो
उसे **यहाँ पेड़** में गड़ी हुई **कील** से
लटका दो/हाँ—अब ठीक है
आज का **सबक** शुरू करने से पहले
मैं एक बार फिर वह सब बतलाना चाहूँगा
जिसे मैंने कल कहा था
क्योंकि पिछले **पाठ** का दुहराना
हर नयी शुरुआत में शरीक है

(धूमिल, संसद से सड़क तक)

धूमिल ने जिसे शब्दों से नये परिचय की संज्ञा दी है वही हमें आठवें-नवें दशक की कविता में दिखाई देता है। कुमार विकल की कविता का निम्नलिखित अंश देखिए। यहाँ जीवन का मामूली-सा बिंब किस तरह शक्तिवान बन कविता में परिवर्तित हुआ है—

सुन, छोटी जगीरो के दुःख छोटे होते हैं

बड़ी जगीरो के दुःख बहुत-बहुत बड़े होते हैं–
बच्चों की रोती आँखों में
चमक सी कौंध जाती है
जब जगीरो मज़बूत हाथों से
अपने डिब्बे को आगे सरकाती है
और उसकी आँखों में
कई स्टोव एक साथ जल उठते हैं

(कुमार विकल, रंग खतरे में हैं)

इन बिंबों में जीवन का मर्मस्पर्शी चित्र है। इनमें न चमत्कार है न शब्दाडंबर। कवि सीधे-सरल शब्दों में अपने जीवनानुभवों को शब्दों में बांध देता है और एक ऐसा जीवंत चित्र खड़ा कर देता है, जो न केवल हमारे हृदय को छूता है वरन् हमें एक नये अर्थ से भी साक्षात्कार कराता है। अरूण कमल की "उर्वर प्रदेश" कविता का निम्नलिखित अंश देखिए–

खोलता हूं खिड़की
और चारों ओर से दौड़ती है हवा
मानो इसी इंतजार में खड़ी थी पल्लों से सट के
पूरे घर को जलभरी तसली-सा हिलाती
मुझसे बाहर मुझसे अनजान
जारी है जीवन की यात्रा अनवरत
बदल रहा है संसार

(अरूण कमल)

समकालीन कविता की एक और विशेषता है कविता में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग। नागार्जुन, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय और अब नये युवा कवि भी कविता में ऐसे व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग करने लगे हैं जो आम आदमी के प्रतिनिधि रूप में कविता में उपस्थित होते हैं।

ऊपर हमने कुमार विकल की कविता का अंश उद्धृत किया है जिसमें जगीरो एक ऐसा ही नाम है। त्रिलोचन शास्त्री का नगई महरा, सौमित्र मोहन का लुकमान अली, लीलाधर जगूड़ी का बलदेव खटिक और रघुवीर सहाय का रामदास ऐसे ही नाम हैं।

"लुकमान अली" कविता का एक अंश देखिए–
लुकमान अली के लिए स्वतंत्रता उसके कद से केवल तीन इंच बड़ी है
वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है
वह चाहता है कि पाँचवें आम चुनाव में बौनों का प्रतिनिधित्व करें
उन्हें टाफियाँ बाँटे
जाति और भाषा की कसमें खिलाए

(सौमित्र मोहन: लुकमान अली तथा अन्य कविताएँ)

समकालीन हिंदी कविता की विविधता और कलात्मक संपन्नता हिंदी काव्य परंपरा को और समृद्ध बनाएगी।

## 26.5 समकालीन कविता के प्रमुख कवि

समकालीन हिंदी कविता की विभिन्न धाराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कई महत्वपूर्ण कवियों के काव्यांशों का उद्धरण हमने इकाई में दिये हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख कवियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

साठोत्तरी हिंदी कविता में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले प्रमुख कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार और गंगाप्रसाद विमल प्रमुख हैं। इन तीनों कवियों को विजय के नाम से भी जाना जाता है। इन कवियों ने ही अकविता आंदोलन की शुरुआत की थी। इनके

अतिरिक्त जिन कवियों ने अकवितावादी काव्य रचना की उनमें श्रीकांत वर्मा, सौमित्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, मुद्राराक्षस, राजकमल चौधरी प्रमुख हैं।

**जगदीश चतुर्वेदी** अकविता के प्रवर्तक भी माने जा सकते हैं। कविता में निषेधवादी प्रवृत्ति का प्रबल आग्रह उनकी कविताओं में रहा है। "प्रारंभ (1963), विजप (1967), इतिहासहंता (1970), निषेध (1972) और "डूबते इतिहास की गवाह" में (1980) में संकलित अधिकांश कविताएँ अकविता की निषेधवादी-पराजयवादी भावना का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी कविताओं में यौन-बिंबों का प्रयोग अधिक है और ऐसे प्रतीक हैं जो टूटे और पराजित व्यक्ति की मनोदशा को व्यक्त करते हैं।

**राजकमल चौधरी** की कविता पर लिखते हुए विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा था स्त्री, मृत्यु और स्वाधीनता राजकमल की कविता के तीन बुनियादी सरोकार हैं। यौन प्रसंग और यौन प्रतीक और बिंब उनकी कविता में अतिरंजना की हद तक आते हैं। मृत्यु भी पराजय भावना का ही प्रतिनिधित्व करती है परंतु स्वाधीनता की आकांक्षा राजकमल को अकविता के दायरे से बाहर लाती है और उन्हें अपने समय का एक महत्वपूर्ण कवि बनाती है। "कंकावती" राजकमल की विवादास्पद कविता है तो "मुक्ति प्रसंग" उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा का उत्कर्ष है।

**धूमिल (1936-1975)** की भी राजकमल चौधरी की तरह अल्पायु में मृत्यु हो गई। धूमिल की कविता सातवें दशक के युवा वर्ग के आक्रोश और विक्षुब्धता का प्रतिनिधित्व करती है। उनकी कविता में अपने परिवेश में व्याप्त मूल्यहीनता, ढोंग, पाखंड और अमानवीय स्वार्थपरता का निर्मम भंडाफोड़ किया है। उनकी लंबी कविता "पटकथा" इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। "संसद से सड़क तक" (1972) और 'कल सुनना मुझे' उनके महत्वपूर्ण काव्य संग्रह हैं।

**सौमित्र मोहन (जन्म 1938)** अकविता दौर के महत्वपूर्ण कवि हैं तथा सातवें दशक की कविता में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग कर उन्होंने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। "लुकमान अली" सातवें दशक की बहुचर्चित लंबी कविता रही है जिसमें "घृणा", वितृष्णा", रतिक्रीड़ा और आध्यात्मिक अभिसंधियों के विरुद्ध आक्रामक काव्यानुभव हरकत करते दिखाई देते हैं।" सौमित्र मोहन के प्रमुख काव्य संग्रह हैं–"चाकू से खेलते हुए" (1972) और "लुकमान अली" तथा अन्य कविताएँ (1978)। निषेध (1972) में भी उनकी कविताएँ संकलित हैं।

**लीलाधर जगूड़ी** अकविता से जनवादी कविता की ओर संक्रमण करने वाले प्रमुख कवि हैं। जनवाद की ओर उन्मुख होने पर भी उन पर अकविता का असर बना रहा। उनकी कविता का संसार भी वही है जो इस दौर के कवियों का रहा है परंतु संवेदना के धरातल पर उनकी कविताएँ अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ पाती। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं–"नाटक जारी है", "इस यात्रा में", "रात अब भी मौजूद है", "बची हुई पृथ्वी" और "घबराए हुए शब्द"। "बलदेव खटिक" उनकी प्रसिद्ध लंबी कविता है।

नवगीत और जनवादी गीत परंपरा ने भी कई महत्वपूर्ण कवि दिये। नवगीत ने शंभुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, रवींद्र भ्रमर, ओम प्रभाकर, ठाकुर प्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, उमाकांत मालवीय आदि प्रमुख हैं।

**शंभुनाथ सिंह** जनवादी गीतकारों में सबसे उल्लेखनीय नाम है: रमेश रंजक। रमेश रंजक के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण कवि हैं: हरीश भादानी, कांति मोहन, अश्वघोष, माहेश्वर तिवारी, गोरख पांडेय, नचिकेता, ब्रजमोहन, रामकुमार कृषक, पुरुषोत्तम प्रतीक आदि।

**रमेश रंजक** ने गीतों में नये-नये प्रयोग भी किये हैं। कथ्य, भाषा, भाव, राग और स्वर सभी दृष्टियों से उनके गीत पूर्णता का एहसास कराते हैं। लोकगीतों का शिल्पगत प्रयोग तो उनका अनूठा है। उनके गीत संग्रह हैं: किरन के पाँव (1970), हरापन नहीं टूटेगा (1974), गीत विहग उतरा (1969), मिट्टी बोलती है (1976) तथा इतिहास दुबारा लिखो (1977)।



सातवें-आठवें दशक में कई कवियों ने अपनी रचनात्मक ऊर्जा द्वारा हिंदी कविता को समृद्ध किया इनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री आदि प्रगतिशील कवि, रघवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, प्रयाग शुक्ल आदि नयी

कविता दौर के कवि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सातवें-आठवें दशक में अपना लेखन शुरू करने वाले कवि भी हैं जिनमें अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, कमलेश, गिरधर राठी, विनोद कुमार शुक्ल, चंद्रकांत देवताले, कुमार विकल, ज्ञानेंद्रपति, मंगलेश डबराल, इब्बार रब्बी, श्रीराम वर्मा, सोमदत्त, ऋतुराज, राजेश जोशी, मनमोहन, विष्णु नागर, असद ज़ैदी, अरुण कुमल, उदयप्रकाश, आलोक धन्वा आदि प्रमुख हैं।

**अशोक वाजपेयी** समकालीन हिंदी कविता में अशोक वाजपेयी एक महत्वपूर्ण नाम है। इनकी कविता पर न तो साठोत्तरी कविता की निषेधवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव है और न ही प्रगतिशील जनवादी कविता का। अशोक वाजपेयी मूलतः निजी अनुभवों के कवि हैं। इन अनुभवों में जीवन के राग-विराग व्यक्त हुए हैं। उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं: "शहर की अब भी संभावना है" और "एक पतंग अनन्त में"।

**कुमार विकल:** कुमार विकल पर आरंभ में अकविता का असर रहा, परंतु बाद में वे जीवन के वैविध्यमय यथार्थ को व्यक्त करने की ओर प्रवृत्त हुए। कुमार विकल की कविताओं में आम आदमी के जीवन संघर्ष की संवेदनशील तस्वीर मिलती है जिसमें बड़बोलापन नहीं है। उनके प्रमुख काव्य संग्रह हैं: "एक छोटी सी लड़ाई" और "रंग खतरे में हैं"।

**मंगलेश डबराल की कविता पर टिप्पणी करते हुए डॉ. परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं** "मंगलेश डबराल की कविता में दुःख और थकान के, उदासी और निराशा के अनुभव अनेक रूपों में मौजूद हैं पर मंगलेश उन कवियों में नहीं हैं जो एक तरह के आत्ममोह के रंग में इन अनुभवों को ग्रहण करते हैं। इनके पीछे जो ठोस सामाजिक कारण–तर्क काम कर रहे हैं, मंगलेश उनके प्रति भी अधिक सूक्ष्म स्तर पर समीक्षाशील दिखाई देते हैं"। मंगलेश डबराल के अब तक दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं–**पहाड़ पर लालटेन और घर का रास्ता।**

**असद ज़ैदी:** असद ज़ैदी आठवें दशक के समर्थ कवियों में से हैं। इनकी कविताओं में कस्बे निम्नमध्यमवर्ग के जीवनानुभवों से लेकर महानगर की कठोर स्थितियों तक के चित्र मिलते हैं। बहनें उनकी प्रसिद्ध कविता हैं जिनमें स्त्रियों की करुण सामाजिक स्थिति के द्वारा उनके जीवन यथार्थ का सूक्ष्म अवलोकन किया गया है। उनके अब तक दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं: **बहनें तथा अन्य कविताएँ और कविता का जीवन।**

**इब्बार रब्बी:** इब्बार रब्बी की कविताओं का संसार मध्यवर्ग का है परंतु उनकी खास विशेषता है व्यक्तिगत अनुभवों को सार्वजनिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत करना। वे किसी रूढ़ और प्रचलित मुहावरे में अपनी कविता को नहीं बाँधते बल्कि अत्यंत सरल और अप्रचलित ढंग से अपनी बात कह जाते हैं। उनके प्रमुख संग्रह हैं: घोषणा पत्र (1981) और लोगबाग (1985)।

---

**बोध प्रश्न**

8) साठोत्तरी हिंदी कविता (अकविता) की भाषा की दो विशेषताएँ लिखिए।

.....

.....

9) पूर्व की गीत परंपरा से नवगीत किस अर्थ में भिन्न है? दो पंक्तियों में बताइए।

.....

.....

10) सपाटबयानी से क्या तात्पर्य है? दो पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

अभ्यास

4) हिंदी नवगीत परंपरा में लोकगीतों के प्रभाव का विवेचन कीजिए। उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5) समकालीन हिंदी कविता में प्रतीकों के प्रयोग की विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 26.6 सारांश

- इस इकाई में आपने समकालीन हिंदी कविता का अध्ययन किया है। इस दौर की शुरुआत हमने नयी कविता के बाद के सातवें दशक की कविता से की है। सातवें दशक की कविता जिसे अकविता सहित कई नाम दिये गये हैं, हमने साठोत्तरी कविता कहा है। सातवें दशक की इस कविता की विशेषता यह है कि यह युवा वर्ग की उस मानसिकता का प्रतिबिंब है जो मोहभंग के कारण बनी थी। इसमें आत्मनिवार्सन, पराजय भावना, सर्वनिषेधवाद, टूटन आदि भावना का प्राबल्य रहा है। सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में बदली राजनीतिक स्थितियों से कवियों की मानसिकता में परिवर्तन हुआ और वे सर्वनिषेधवाद और पराजय भावना की मनः स्थिति से उभरे और सामाजिक यथार्थ की यथार्थवादी चित्रण की ओर अग्रसर हुए। आरंभ में अतिक्रांतिकारिता और बड़बोलेपन का आग्रह रहा, परंतु आपात्काल के अनुभव ने कवियों के स्वर को अधिक संयमित और संतुलित बनाया।
- समकालीन कविता में हम तीन काव्यधाराओं को देख सकते हैं– साठोत्तरी कविता या जिसे हम अकविता भी कह सकते हैं, प्रगतिशील जनवादी कविता और नवगीत परंपरा। अकविता मूलतः व्यक्तिवादी कविता है जिसमें कवियों ने तत्कालीन स्थितियों से निराश होकर अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को वाणी दी है। विचारधारा का विरोध, राजनीति का विरोध, व्यर्थता बोध, स्त्रियों के प्रति कुंठित मनोवृत्ति, जनता को भीड़ समझना और निषेध की प्रवृत्ति–इस कविता की खास पहचान है।
- सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में बदली परिस्थितियों से उपजी नयी काव्य प्रवृत्ति ने अपना संबंध प्रगतिवाद से जोड़ा। इसलिए इस धारा को प्रगतिशील–जनवादी काव्यधारा नाम दिया गया। आरंभ में इन कवियों ने राजनीतिक परिवर्तन की आकांक्षा को काव्य का विषय बनाया परंतु बाद में वे जीवन के व्यापक यथार्थ के चित्रण की ओर उन्मुख हुए। इन कवियों ने काव्य में यथार्थवाद पर बल दिया और आम आदमी के दुःख-दर्द, संघर्ष, आकांक्षा और भविष्य को अपनी कविता का विषय बनाया।
- प्रयोगवाद और नयी कविता के कारण काव्य में गीतों का महत्व कम हो गया था। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सातवें दशक के आरंभ में "नवगीत" का आंदोलन आरंभ हुआ। यह गीत परंपरा शृंगार, प्रेम और भक्ति की बजाय सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हुई। आरंभ में इस पर अकविता की निषेधवादी प्रवृत्ति का भी असर रहा परंतु आठवें दशक में गीत भी प्रगतिशील–जनवादी काव्यधारा की तरह जनोन्मुखी बने।

- समकालीन हिंदी कविता में बिंबात्मकता की बजाय सपाटबयानी पर बल दिया गया। यद्यपि इसके कारण कविता में गद्यात्मकता का आग्रह बढ़ा। लेकिन आठवें दशक में कविता ने बिंबात्मकता आदि को भी अपनाना आरंभ किया। भाषा में भी शब्दाडंबर की बजाय यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया गया। यद्यपि इस दौर की कविता अधिकांशतः मुक्तक या छोटी ही है परंतु इस दौर में कुछ महत्वपूर्ण लंबी कविताएँ भी लिखी गईं। प्रतीकों के प्रयोग में साठोत्तरी कविता ने अपने कथ्य और दृष्टिकोण के अनुकूल वैसे ही यौनपरक, स्त्री देह आदि से संबंधित प्रतीक चुने जबकि बाद की कविता में प्रतीकों का क्षेत्र अधिक व्यापक हुआ।
- समकालीन दौर के गीतों ने छंद आदि की दृष्टि से कई नये प्रयोग किये परंतु इसकी मुख्य विशेषता है–लोकगीतों की परंपरा को आत्मसात कर उसका विकास करना। इस दृष्टि से इस दौर में कई महत्वपूर्ण प्रयोग हुए।
- समकालीन हिंदी कविता को समृद्ध बनाने में प्रगतिवादी; और नयी कविता दौर के कवि भी सक्रिय रहे जिनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, त्रिलोचन शास्त्री आदि प्रमुख हैं। मुक्तिबोध का साहित्य तो प्रेरक के रूप में मौजूद था ही। नयी कविता दौर के रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा आदि ने भी इस दौर में महत्वपूर्ण लेखन किया। इनके अतिरिक्त इस दौर के प्रमुख कवि हैं–जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, प्रयाग शुक्ल, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, विनोद कुमार शुक्ल, ऋतुराज, अशोक वाजपेयी, आलोक धन्वा, कुमार विकल, अरुण कमल, इब्बार रब्बी, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, मनमोहन, विष्णु नागर आदि। गीतकारों में शंभूनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, वीरेंद्र मिश्र, उमाकांत मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, ठाकुरप्रसाद सिंह, रमेश रंजक, हरीश भादानी, माहेश्वरी तिवारी आदि प्रमुख हैं।

  इकाई को पढ़कर आप समकालीन हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों और शिल्पगत विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।

## 26.7 उपयोगी पुस्तकें

डॉ. हरदयाल: **हिंदी कविता की प्रकृति**, सरस्वती प्रेस, नयी दिल्ली, प्रथम संसकरण: 1988।

डॉ. परमानंद श्रीवास्तव: **समकालीन कविता का यथार्थ**, हरियाणा अकादमी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण: 1988।

डॉ. राजकुमार शर्मा: **कविता की रचना-यात्रा**, लोकालोक प्रकाशन साहिबाबाद, गाज़ियाबाद, प्रथम संस्करण: 1984।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी: **समकालीन हिंदी कविता**, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।

## 26.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) साठोत्तरी हिंदी कविता में नयी कविता की व्यक्तिवादी-आधुनिकतावादी धारा का विकास हुआ।

2) इसके उदय के कारण उस समय की परिस्थितियों में निहित थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के दौरान मध्य वर्ग ने जो इच्छाएँ और स्वप्न संजोए थे वह पूरे नहीं हुए इसने उन्हें मोहभंग की स्थिति में ला खड़ा किया। इस स्थिति से उभरने के लिए सकारात्मक स्थितियाँ भी मौजूद नहीं थीं।

3) 1967 में पहली बार कांग्रेस के एकाधिकार को चुनौती दी जा सकी थी। इसने जनांदोलनों को संगठित करने में मदद पहुँचाई। इसने मध्यवर्ग और विशेषकर साहित्यकारों को प्रेरित किया।

4) द्रष्टव्य, उपभाग 26.3.1

5) साठोत्तरी कविता में निषेधात्मकता का कारण था– पराजय भावना और नैराश्य। कवियों को यह विश्वास हो चला था कि कोई सकारात्मक परिवर्तन संभव नहीं है। सभी चिारधारा और राजनीतिक संगठन एक से हैं और वे लोगों की स्वतंत्रता के विरुद्ध हैं। इसी मनोवृत्ति ने निषेधवाद को बढ़ावा दिया।

6) द्रष्टव्य: उपभाग 26.3.2

7) द्रष्टव्य: उपभाग 26.3.3

8) संकेत: सपाटबयानी और बड़बोलापन (शब्दाडंबरता)

9) संकेत: सामाजिक यथार्थ के चित्रण की प्रधानता।

10) बात को सीधे-सरल ढंग से कह देना अर्थात् अभिधा पर बल।

**अभ्यास**

1) संकेत: नयी कविता में व्यक्तिवादीधारा और अकविता की विशेषताओं की तुलना कर सकते हैं: विचारधारा के संबंध में दृष्टिकोण, राजनीतिक संबंधी दृष्टिकोण, जनता को भीड़ समझना, नारी के प्रति रवैया–ये कुछ बिंदु तुलना के हो सकते हैं।

2) संकेत: 1) कथ्य में परिवर्तन: राजनीति पर प्रथम चरण में अधिक आग्रह जबकि दूसरे चरण में व्यापक सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति पर बल।
   2) नारी संबंधी दृष्टिकोण में अंतर।
   3) भाषागत तुलना।

3) स्वयं लिखिए। संकेत: उपभाग 26.3.1 व 26.3.2 में दिये गये नारी संबंधी विचारों का अध्ययन कीजिए।

4) द्रष्टव्य, उपभाग 26.4.2

5) द्रष्टव्य, उपभाग 26.4.3

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड

# 8

## आधुनिक हिन्दी गद्य

इकाई 27
कथा साहित्य: कहानी एवं उपन्यास 527

इकाई 28
नाट्य साहित्य 552

इकाई 29
निबंध एवं अन्य गद्य विधाएँ 581

इकाई 30
हिन्दी आलोचना का विकास 604

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

डॉ. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ. रामसिंह तोमर
28, पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांति निकेतन
प. बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिंदी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

**पाठ लेखक**
डॉ. वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता
चंडीगढ़
डॉ. नीलम फ़ारूकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय

**संकाय सदस्य**
डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. जवरीमल पारख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम
डॉ. नीलम फ़ारूकी

**संयोजक एवं संपादक**
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
(खंड संयोजक)
डॉ. पूरनचन्द टंडन
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
} पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव (मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991
UGHI-103/524
ISBN-81-7091-587-2
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

# खंड 8 का परिचय

यह हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 का आठवाँ खंड है। यह खंड चार इकाइयों (इकाई 27 से 30) में विभाजित है। खंड 7 में आप आधुनिक हिन्दी काव्य के विषय में पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत खंड में आप आधुनिक हिन्दी गद्य के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

इकाई 27 कथा-साहित्य से सम्बद्ध है, जिसमें उपन्यास, कहानी एवं उपन्यास के उद्भव और विकास की विस्तृत जानकारी दी गई है। प्रमुख कथाकारों का परिचय भी इस इकाई में दिया गया है।

इकाई 28 नाट्य साहित्य के विषय में है। इस इकाई में आप नाट्य साहित्य के इतिहास तथा हिन्दी नाटक के विकास के बारे में पढ़ेंगे।

इकाई 29 निबंध एवं अन्य गद्य विधाओं पर आधारित है। इसमें निबंध के विकास की जानकारी दी गई है तथा अन्य गद्य विधाओं के अंतर्गत संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-साहित्य तथा रिपोर्ताज़ का विवेचन किया गया है।

इकाई 30 हिन्दी आलोचना तथा उसके विकास से संबंधित है। इस इकाई में शुक्ल-पूर्व, शुक्ल युग तथा शुक्लोत्तर युग की आलोचना के विषय में विस्तृत जानकारी दी गई है।

इस प्रकार यह खंड सम्पन्न होता है। प्रत्येक इकाई में बोध प्रश्न तथा अपेक्षित उत्तर अथवा संकेत भी दिए गए हैं। अतिरिक्त अध्ययन सामग्री की दृष्टि से उपयोगी पुस्तकों के नाम भी सुझाए गए हैं।

# इकाई 27 कथा साहित्य: कहानी एवं उपन्यास

इकाई की रूपरेखा


27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 कथा साहित्य : उपन्यास
  27.2.1 पृष्ठभूमि
27.3 हिन्दी उपन्यास का उद्भव
27.4 हिन्दी उपन्यास का विकास
  27.4.1 पूर्व प्रेमचन्द युग
  27.4.2 प्रेमचन्द युग
  27.4.3 उत्तर प्रेमचन्द युग
27.5 स्वातंत्र्योत्तर युग
  27.5.1 सामाजिक उपन्यास
  27.5.2 समाजवादी यथार्थवाद के उपन्यास
  27.5.3 ऐतिहासिक उपन्यास
  27.5.4 आंचलिक उपन्यास
  27.5.5 मनोवैज्ञानिक उपन्यास
  27.5.6 प्रयोगशील उपन्यास
  27.5.7 आधुनिकता बोध के उपन्यास
27.6 कथा साहित्य : कहानी
  27.6.1 पृष्ठभूमि
  27.6.2 हिन्दी कहानी का उद्भव
27.7 हिन्दी कहानी का विकास
  27.7.1 पूर्व प्रेमचन्द युग
  27.7.2 प्रेमचन्द-प्रसाद युग
  27.7.3 उत्तर प्रेमचन्द युग
  27.7.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी
27.8 प्रमुख कथाकार
  27.8.1 प्रेमचन्द
  27.8.2 जयशंकर प्रसाद
  27.8.3 यशपाल
  27.8.4 वृंदावन लाल शर्मा
  27.8.5 जैनेन्द्र
  27.8.6 अज्ञेय
  27.8.7 उपेन्द्रनाथ अश्क
  27.8.8 विष्णु प्रभाकर
  27.8.9 भीष्म साहनी
  27.8.10 अमृतलाल नागर
  27.8.11 फणीश्वरनाथ रेणु
  27.8.12 नागार्जुन
  27.8.13 मोहन राकेश
  27.8.14 मन्नू भंडारी
27.9 सारांश
27.10 शब्दावली
27.11 उपयोगी पुस्तकें
27.12 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 27.0 उद्देश्य

अब आप हिन्दी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम- 3 के खंड 8 का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसमें आपको हिंदी कथा साहित्य के उद्भव और विकास से परिचित कराया जाएगा। इसे पढ़ने

के बाद आप :

- हिंदी उपन्यास के उद्भव और विकास को रेखांकित कर सकेंगे,
- हिंदी कहानी के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाल सकेंगे, तथा
- प्रमुख कथाकारों का परिचय प्रस्तुत कर सकेंगे।

## 27.1 प्रस्तावना

हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम के खंड 8 की इकाई 27 के अंतर्गत पहले हम कथा साहित्य का अध्ययन करेंगे। इसमें पहले हिन्दी कथा साहित्य: उपन्यास की पृष्ठभूमि दी जायेगी। तत्पश्चात् उपन्यास के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुए कथा साहित्य: कहानी की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करेंगे। और फिर कहानी के उद्भव और सम्पूर्ण विकास यात्रा का परिचय प्राप्त करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान जायेंगे कि उपन्यास और कहानी का जन्म आधुनिक काल में हुआ। विभिन्न परिस्थितियों का सामना करते हुए दोनों विधाएं समय-समय पर अपने स्वरूप को बदलती रहीं, किन्तु जन-जीवन के साथ उनका नाता गहरा रहा। यही कारण है कि आज भी उपन्यास और कहानी हिन्दी साहित्य की सबसे अधिक लोकप्रिय विधाएं हैं।

आपकी रुचि कथा-साहित्य में उत्तरोत्तर बढ़ती रहे इसीलिए इकाई के अंत में कुछ प्रमुख कथाकारों व उनकी रचनाओं का परिचय भी दिया गया है।

## 27.2 कथा साहित्य : उपन्यास

### 27.2.1 पृष्ठभूमि

आज जिस साहित्यिक विधा को उपन्यास क नाम से अभिहित किया जाता है, वह नितान्त आधुनिक है। कुछ पूर्वाग्रही प्रकृति के लोग इसका सम्बन्ध भी सुदूर अतीत मे जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। उनका कहना है कि रामायण, महाभारत और प्राचीन महाकाव्यो मे ऐसे कितने ही 'नल दमयन्ती', 'सती-सावित्री' जैसे उपाख्यान मिलते हैं जो उपन्यास के निकट प्रतीत होते हैं। ऐसे लोग उपन्यास की परम्परा को संस्कृत साहित्य से जोड़कर 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी' को भारत का प्रथम उपन्यास मानते हैं। इतना ही नहीं, वे 'दण्डी' के 'दशकुमार चरित' में भी औपन्यासिकता खोजने का प्रयत्न करते हैं। हमें इस वाद-विवाद में न पड़कर केवल इतना ही स्वीकार करना है कि इन रचनाओं में जहाँ कहीं भी औपन्यासिकता के दर्शन होते हैं वह मात्र संयोग है। आज के उपन्यास का रचना-विधान नितान्त भिन्न है। संस्कृत साहित्य से उपन्यास की परम्परा को जोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपन्यास नाम की कोई विधा नहीं थी। अतः यह स्पष्ट है कि अन्य आधुनिक गद्य विधाओं के समान हिन्दी उपन्यास का आरम्भ भी भारतेन्दु युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हुआ। यहां एक बात स्मरण रखना अति आवश्यक है कि इस उपन्यास नामक विधा का जन्म सबसे पहले यूरोप में हुआ था। इसका कारण वहाँ की औद्योगिक-क्रान्ति थी जिसके फलस्वरूप महानगर बने। इन महानगरों में एक ऐसी वैचारिक क्रान्ति आई जिसने मध्य वर्ग को जन्म दिया। इसी मध्यवर्ग की कथा-गाथा का चित्रण करने के लिये ही यूरोप में उपन्यास नामक विधा ने रूप लिया। और यही उपन्यास समय के साथ इतना लोकप्रिय और महत्वपूर्ण हो गया कि इसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाने लगा।

## 27.3 हिन्दी उपन्यास का उद्भव

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो चुका था। उनकी

शिक्षा नीति से प्रभावित होकर जो प्रदेश सबसे पहले अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क में आए उनमें उपन्यासों का प्रचलन अपेक्षाकृत पहले हुआ। यही कारण है कि हिन्दी की अपेक्षा बंगला साहित्य में उपन्यासों की रचना पहले हुई और आगे चलकर हिन्दी उपन्यास पर उनका पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा। इतना ही नहीं प्रारम्भिक काल में कितने ही बंगला उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी किया गया।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास किसे माना जाये। हिन्दी गद्य का विकसित रूप सामने आते ही उपन्यासों की रचना होने लगी। सन् 1877 में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' उपन्यास लिखा और उसके बाद सन् 1882 में लाला श्री निवासदास ने 'परीक्षा गुरु'। 'भाग्यवती' में नारी शिक्षा और उपदेश से अधिक कुछ नहीं है। जबकि 'परीक्षा गुरु' में उपदेशात्मकता के साथ-साथ समस्त औपन्यासिक तत्वों का समावेश भी है। इसलिए 'परीक्षा गुरु' को ही हिन्दी साहित्य का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

तो आइये, अब उपन्यास की विकास यात्रा का कुछ परिचय प्राप्त करें।

## 27.4 हिन्दी उपन्यास का विकास

हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यासों का जन्म सुधारवादी भावनाओं की क्रोड़ में हुआ। इस समय देश में समाज के नैतिक उत्थान और सांस्कृतिक परंपराओं की रक्षा के लिए कई आंदोलन चल रहे थे। इसीलिए प्रारम्भिक उपन्यासों में दो प्रकार की रचनाएं सामने आती हैं—उपदेशात्मक तथा मनोरंजन प्रधान। इसके साथ ही एक दूसरी धारा अनूदित उपन्यासों की रही जिसमें अंग्रेज़ी, उर्दू, बंगला आदि भाषाओं में लिखे उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किये गए।

भारतेन्दु से लेकर अब तक के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का नाम सर्वोपरि है। अतः हम प्रेमचन्द को ही उपन्यास की विकास यात्रा का केन्द्र बिन्दु मानकर सम्पूर्ण विकास क्रम को समझने का प्रयत्न करेंगे। अध्ययन की सुविधा के लिए हम हिन्दी उपन्यास को चार युगों में विभाजित कर सकते हैं—

1) पूर्व प्रेमचन्द युग
2) प्रेमचन्द युग
3) उत्तर प्रेमचन्द युग
4) स्वातंत्र्योत्तर युग

### 27.4.1 पूर्व प्रेमचन्द युग

आपने भारतेन्दु युग में विकसित गद्य-विधाओं के बारे में पढ़ा है और यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग का जनक हम भारतेन्दु को ही मानते हैं। आपने उनके नाटक साहित्य के बारे में पढ़ा और काव्य व साहित्य की अनेक विधाओं में उनके योगदान का परिचय प्राप्त किया। अपने जीवन काल में उन्होंने 'कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' नाम से एक उपन्यास भी लिखना शुरू किया था किन्तु वह अधूरा ही रह गया। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने एक मराठी उपन्यास 'पूर्ण प्रकाश' और 'चन्द्र प्रभा' का अनुवाद भी किया था। इसके बाद उपन्यासों की एक लम्बी कड़ी दृष्टिगत होती है जिसमें कई प्रकार के मौलिक और अनूदित उपन्यासों की रचना हुई।

भारतेन्दु के समय में ही श्रीनिवास दास ने 'परीक्षा गुरु' नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास लिखा था जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। इसमें पहली बार औपन्यासिक तत्वों का कुछ समावेश किया गया था इसीलिए इसे हिन्दी का पहला उपन्यास स्वीकार किया जाता है। इस रचना में दिल्ली के एक सेठ पुत्र की कहानी है जो कुसंगति में पड़ जाता है। अन्त में एक सज्जन मित्र द्वारा उसका उद्धार होता है। इस उपन्यास में उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रधान है। अतः हम इसे एक सुधारवादी उपन्यास कह सकते हैं। इसके बाद भी कुछ

छुट-पुट प्रयत्न होते रहे। ठाकुर जगमोहन सिंह का 'श्यामा स्वप्न', रत्नचंद प्लीडर, का 'नूतनचरित', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजय एक सुजय', राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू', बालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' आदि उपन्यास इसी समय में लिखे गए। ये सभी उपन्यास सामाजिक कहे जा सकते हैं।

इसके बाद उपन्यास सर्जना का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी सब प्रकार के उपन्यास रचे जाने लगे। यदि ऐसा कहा जाए कि उपन्यासों की एक बाढ़ सी आ गई तो अत्युक्ति न होगी किन्तु प्रमुख नाम केवल तीन हैं / –किशोरी लाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी।

किशोरी लाल गोस्वामी ने अकेले ही 65 उपन्यासों की रचना की और सब प्रकार के उपन्यास लिखे। गोपाल राय गहमरी ने दर्जनों जासूसी उपन्यासों की रचना की। देवकीनन्दन खत्री हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास लेखक थे जिनके तिलस्मी उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम मच गई। 'चन्द्रकान्ता संतति' उनका प्रसिद्ध उपन्यास है। कहते हैं इस उपन्यास को पढ़ने के लिये बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी। इन उपन्यासों में घटनाओं के साथ कल्पनाशीलता की प्रधानता थी। इससे जनता का मनोरंजन तो खूब हुआ किन्तु कलात्मक तुष्टि नहीं। इसी समय अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास लिखे जिनका महत्व केवल भाषायी स्तर का है। लज्जा राम मेहता ने कुछ आदर्शवादी उपन्यासों की रचना की।

इन मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ विभिन्न भाषाओं यथा अंग्रेजी, उर्दू, बंगला, मराठी आदि से उपन्यासों के अनुवाद किये जाने की परम्परा भी चलती रही। इन उपन्यासों का हिन्दी के औपन्यासिक रचना-विधान पर विशेष प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपन्यास साहित्य का आरम्भ भले ही सामान्य स्तर का रहा किन्तु इसका उत्तरोत्तर विकास बड़े ही उत्साहजनक वातावरण में हुआ। आलोचकों का कथन है कि हिन्दी में जितने उपन्यास इस युग में रचे गये, परवर्ती किसी युग में नहीं।

### 27.4.2 प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास की परम्परा में एक महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को काल्पनिकता तथा तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी के इन्द्रजाल से निकालकर मानव जीवन की यथार्थ समस्याओं से सम्बद्ध किया। इस समय देश में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। गांधी जी राजनीतिक क्षेत्र में जो कार्य कर रहे थे प्रेमचन्द ने वही कार्य साहित्यिक क्षेत्र में किया। उनके उपन्यासों में सर्वत्र गांधीवादी नीतियों को प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने हमेशा शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। समाज में दृष्टिगत अनेक समस्याओं यथा विधवा विवाह, वेश्या समस्या, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, अवैध प्रेम, जाति-भेद आदि को वाणी दी। वे समाज का परिसंस्कार करना चाहते थे इसलिए उनका दृष्टिकोण प्रायः आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी रहा।

प्रेमचन्द ने दो प्रकार के उपन्यास लिखे / –राजनीतिक और सामाजिक। 'प्रेमा' और 'वरदान' उन दिनों के उपन्यास हैं जब वे नवाबराय के नाम से उर्दू में लिखा करते थे। 'सेवासदन' कलात्मक दृष्टि से प्रथम प्रौढ़ उपन्यास है जिसमें मध्यमवर्ग की विडम्बना को दिखलाकर वेश्या समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है। 'प्रेमाश्रम' में ग्रामीण जीवन की समस्याओं का चित्रण करते हुए किसानों की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। 'रंगभूमि' में शासक वर्ग के अत्याचार का चित्रण है। 'कर्मभूमि' एक राजनीतिक-सामाजिक उपन्यास है जिसमें जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना व्यक्त हुई है। 'प्रतिज्ञा' की समस्या विधवा-विवाह से जुड़ी हुई है। 'गबन' में आभूषणों की लालसा के दुष्परिणाम को चित्रित किया गया है। 'कायाकल्प' पुनर्जन्मवाद से सम्बद्ध है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को बतलाते हुए विमाता की समस्या को अंकित किया गया है। 'गोदान' में किसान और मजदूर के शोषण की करुण कथा कही गई है। यह उपन्यास मुंशी प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें समस्या को उठाकर गांधीवादी ढंग से उसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया। यह उपन्यास सर्वथा एक यथार्थवादी उपन्यास है। प्रेमचन्द ने सर्वदा आदर्शवाद और यथार्थवाद में एक अद्भुत सन्तुलन बनाकर रखा।

उन्होंने वर्ग-वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक-असमानता, पूंजीवादी संस्कृति और बूर्ज्वा मनोवृत्ति के विरुद्ध अपने उपन्यासों के माध्यम से एक ऐसा जनमत तैयार किया जिससे देश में प्रगतिशील समाज की स्थापना हो सके। इस प्रकार प्रेमचन्द ने उपन्यास साहित्य को प्रौढ़ता ही नहीं दी अपितु अपने समकालीन रचनाकारों का मार्ग दर्शन भी किया।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों में बहुत से नाम उल्लेखनीय हैं यथा जयशंकर प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवतीचरण वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी आदि।

जयशंकर प्रसाद ने केवल तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल', 'तितली' एवं 'इरावती'। 'इरावती' उनका अधूरा उपन्यास है। 'कंकाल' में उन्होंने स्त्री-पुरुष की प्रेम-समस्या पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से विचार किया। 'तितली' में अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया गया है। इस प्रकार प्रसाद का दृष्टिकोण प्रेमचन्द से नितान्त भिन्न था। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज और सामाजिक समस्याओं को प्रमुखता दी किन्तु प्रसाद ने व्यक्ति और उसकी वैयक्तिक समस्याओं को विभिन्न सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में देखा है। आगे चलकर जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास लिखे। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जैनेन्द्र के उपन्यास 'परख', 'सुनीता' और 'कल्याणी' तथा इलाचन्द्र जोशी के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में 'सन्यासी' को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

चतुरसेन शास्त्री ने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे किन्तु वृन्दावनलाल वर्मा ने केवल ऐतिहासिक उपन्यासों के आधार पर ख्याति अर्जित की। 'झांसी की रानी' इनका प्रसिद्ध उपन्यास है। इसी समय भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' भी विशेष रूप से चर्चित हुआ।

प्रेमचन्द युग का अध्ययन करते हुए आपने देखा कि इस काल में उपन्यास नामक विधा ने पहले से कहीं अधिक विकास किया। इस युग में अधिकांशतः मौलिक उपन्यासों की रचना हुई तथा उपन्यासकारों में पहले से कहीं अधिक कलात्मक संयम दिखाई दिया। इस युग के वर्ण्य विषयों में भी विविधता है। सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गए। समाज में जैसे-जैसे परिवर्तन आता रहा वैसे-वैसे उपन्यासकारों की चिन्तनधारा अपने युग के यथार्थ से प्रभावित होती रही। यदि प्रेमचन्द गांधीवादी धारा से प्रवाहित रहे तो ऐतिहासिक उपन्यासकार प्राचीन सांस्कृतिक गौरव की रक्षा में लगे रहे एवं मनोवैज्ञानिक व मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकार पाश्चात्य चिन्तकों–फ्रायड, एडलर, आदि के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं में व्यक्ति की कुण्ठाओं का चित्रण करते रहे।

### 27.4.3 उत्तर प्रेमचन्द युग

प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को जो ठोस आधारभूमि दी उससे इस विधा के विकास की चौमुखी राहें खुल गईं। इस समय द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो चुका था और पाश्चात्य साहित्य में दो प्रभावशाली विचारधाराएं प्रचलित हो रही थीं–फ्रायडवादी सिद्धान्तों से प्रभावित मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणवादी और दूसरी मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रगतिवादी उपन्यास धारा। इनका समानान्तर विकास प्रेमचन्द के समय में ही हो गया था। प्रेमचन्द का 'गोदान' तथा जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास इस कथन की पुष्टि करते हैं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों द्वारा एक प्रगतिशील समाज की स्थापना अवश्य करना चाहते थे किन्तु उन्होंने इसके लिए न तो कोई मार्क्सवादी झण्डा ही गाड़ा और न ही नारेबाज़ी की जैसा कि आगे चलकर यशपाल ने किया। हिन्दी में यशपाल को मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रगतिवादी औपन्यासिक धारा का प्रवर्तक माना जाता है। इनके उपन्यासों में से 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' इसी कोटि के उपन्यास हैं। इनमें इनकी साम्यवादी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है। 'दिव्या' यशपाल का एक ऐतिहासिक उपन्यास है किन्तु इसमें भी इनकी चिंतन पद्धति समाजवादी ही है। इसी धारा में आगे चलकर रांगेय राघव ने 'घरोंदे' तथा 'हुजूर' उपन्यासों की रचना की। इनका दृष्टिकोण प्रगतिवादी था। इन उपन्यासों में इन्होंने आर्थिक वैषम्य और शोषण आदि विभिन्न समसामयिक विकृतियों पर चोट की। राहुल सांकृत्यायन ने जीने के लिए

यौधेय' और 'सिंह सेनापति' लिखे। इसके अतिरिक्त रामेश्वर शुक्ल अञ्चल व नागार्जुन ने कई उपन्यास लिखे जिनमें पूंजीवादी संस्कृति के प्रति आक्रोश प्रकट किया गया है।

फ्रायड के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर जैनेन्द्र 'परख', 'सुनीता और त्यागपत्र उपन्यास पहले ही लिख चुके थे। इस युग में प्रकाशित उनके उपन्यास—'कल्याणी' 'सुखदा, विवर्त' 'व्यतीत' 'जयवर्धन' आदि में यह प्रवृत्ति मनोविज्ञान, दार्शनिकता और वैयक्तिकता आदि के माध्यम से विविध रूप में उभरी। उनके नारी पात्र यदि एक ओर समाज की मर्यादाओं को बनाये रखना चाहते हैं, तो दूसरी ओर अपने अस्तित्व की पहचान भी कराना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आत्म-पीड़न के अतिरिक्त उनके पास कोई राह शेष नहीं रहती। यही कारण है कि उनके पात्र समाज को न तोड़कर स्वयं टूटते हैं।

इसी कड़ी में आगे चलकर अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' लिखकर हिन्दी उपन्यास में एक नया मोड़ उपस्थित किया। कथ्य, शिल्प और भाषा के स्तर पर यह एक नवीन प्रयोग था। इस उपन्यास का मूल मंतव्य शेखर के व्यक्ति की खोज और शेखर के 'व्यक्ति' का साक्षात्कार है।

इसी समय पूर्व प्रेमचन्द युग से चली आ रही ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को वृन्दावनलाल वर्मा ने आगे बढ़ाया। भले ही इन्होंने प्रेमचन्द युग में लिखना आरम्भ कर दिया था किन्तु इनकी लेखनी अबाध गति से चलती रही। इन्होंने 'कचनार', 'मुसाहिबजू', कुंडली-चक्र', 'प्रत्यागत', माधव जी सिंधिया', और 'मृगनयनी' आदि कई उपन्यास लिखे। 'मृगनयनी' इनका सर्व प्रसिद्ध उपन्यास है। राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव, निराला, चतुरसेन शास्त्री तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। राहुल के 'वोल्गा से गंगा', चतुरसेन शास्त्री के 'वैशाली की नगरवधू' और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ने विशेष ख्याति अर्जित की।

सामाजिक समस्याओं पर लिखने वाले उपन्यासकारों में उग्र, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, भगवती प्रसाद वाजपेयी, विष्णु प्रभाकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी समय उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने उपन्यासों में नगरों में बास कर रहे मध्यमवर्गीय सामाजिक जीवन की अनेक कुंठाओं का सशक्त ढंग से चित्रण किया। 'गिरती दीवारें' इनका प्रसिद्ध उपन्यास है। यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासों में यह उपन्यास अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

इस प्रकार औपन्यासिक दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। प्रेमचन्द के पश्चात् समाजवादी यथार्थवाद को चित्रित करने वाले उपन्यासकारों में यशपाल, मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में अज्ञेय, ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, सामाजिक उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा और यथार्थवादी उपन्यासकारों में उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई।

इस युग के उपन्यासों में विषय-वैविध्य है। भाषा और शिल्प के धरातल पर भी कई नवीन प्रयोग मिलते हैं।

विभिन्न उपन्यासकारों ने इस युग में उपन्यास की विधा को समृद्ध एवं विकसित किया। इसी प्रक्रिया के विकसित रूप को आप अगले चरण में देखेंगे।

**बोध प्रश्न**

1. हिन्दी का प्रथम उपन्यास कौन-सा है? ठीक उत्तर के सामने [✓] का चिन्ह लगायें।
   (क) कुछ आप बीती कुछ जग बीती [ ]
   (ख) सौ अजान एक सुजान [ ]
   (ग) परीक्षा गुरु [ ]
   (घ) भाग्यवती [ ]

2. वह कौन सा उपन्यास है जिसे पढ़ने के लिये लोगों ने हिन्दी सीखी?

.....

3. प्रेमचन्द के चार प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम लिखो।
   (क) .....
   (ख) .....
   (ग) .....
   (घ) .....

4. निम्नलिखित उपन्यासकारों तथा उपन्यासों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित कीजिए–

| | |
|---|---|
| देवकीनन्दन खत्री | चित्रलेखा |
| यशपाल | शेखर एक जीवनी |
| जैनेन्द्र | चंद्रकान्ता संतति |
| अज्ञेय | परख |
| उपेन्द्रनाथ अश्क | दादा कामरेड |
| भगवतीचरण वर्मा | मृगनयनी |
| वृन्दावनलाल वर्मा | गिरती दीवारें |

## 27.5 स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वाधीनता के पश्चात् भारतवासियों को एक साथ कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। सत्ता का बदल जाना, आर्थिक विपन्नता, हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य के भयंकर हिंसक परिणाम, विभाजन की विभीषिका–इन सबसे साधारण जनता त्रस्त हो उठी। ऐसी स्थिति में जबकि चारों ओर अंधकार था, रचनाकारों में एक नया भावबोध उत्पन्न हुआ जो घोर सामाजिक और अपूर्व जिजीविषा का भाव लिए हुए था। अतः इस समय हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई देता है। आपके अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हें प्रवृत्यात्मक वर्गों में विभाजित किया जा रहा है–यथा सामाजिक, समाजवादी यथार्थवाद, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक, प्रयोगशील, आधुनिकता-बोध आदि।

### 27.5.1 सामाजिक उपन्यास

सामाजिक समस्याओं पर लिखने वाले उपन्यासकारों में आप बहुत से लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय पहले प्राप्त कर चुके हैं जैसे–पाण्डेय, बेचन शर्मा उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उदयशंकर भट्ट, सियारामशरण गुप्त, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क। आगे चलकर अमृतलाल नागर भी इसी कड़ी में जुड़ गये और उपन्यास के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया।

यहां केवल प्रमुख उपन्यासकारों को ही ले रहे हैं जो निरन्तर उपन्यास लिखने में प्रवृत्त रहे जैसे भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर।

भगवतीचरण वर्मा ने इस काल में कई उपन्यास लिखे–टेढ़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दांव, भूले बिसरे चित्र, रेखा, सीधी सच्ची बातें और सबहिं नचावत राम गोसाईं। 'चित्रलेखा' के पश्चात् 'भूले बिसरे चित्र' इनकी सर्वाधिक सशक्त रचना है।

उपेन्द्रनाथ अश्क अपने लेखन को सशक्त बनाने में सतत प्रयत्नशील हैं। उनके उपन्यासों में 'गिरती दीवारें' सर्वोत्तम है, जो मध्यमवर्गीय नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की प्रेरणा देता है। 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्हीं कंदील' इस उपन्यास के अगले खण्ड हैं और अपने आप में पूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त 'गरम राख', 'बड़ी-बड़ी आंखें', 'पत्थर-पत्थर', बांधो न नाव इस ठांव' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

इस युग के सामाजिक उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का विशेष स्थान है। 'प्रेमचन्द के बाद उन्हें यथार्थवादी चेतना का प्रमुख उपन्यासकार कहा जा सकता है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल', 'बंद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'मानस का रूप', 'शतरंज

के मोहरे', 'नाच्यो बहुत गोपाल', 'खंजन नयन', 'सुहाग के नूपुर', 'करवट और पीढ़ियां' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में इतिहास, पुरातत्व और आधुनिकता का सुन्दर समावेश मिलता है। 'बूंद और समुद्र' इनका सफल एवं बहुचर्चित उपन्यास है। 'बूंद और समुद्र क्रमशः व्यक्ति और समाज के प्रतीक हैं। इसमें भारतीय समाज के विभिन्न रूपों, रीति-नीतियों, आचार-विचारों, जीवन-दृष्टियों, मर्यादाओं, टूटती और निर्मित होती व्यवस्थाओं के अनगिनत चित्र हैं। इस उफनते हुए समुद्र में व्यक्ति अर्थात् बूंद की क्या स्थिति है यही इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण इस उपन्यास में जिस रोचक शैली में किया गया है, उसने इसे एक विशिष्ट औपन्यासिक कृति बना दिया है। 'मानस का हंस' में गोस्वामी तुलसीदास, और 'खंजन नयन' में सूरदास के जीवन-वृत्त को जिस प्रकार उन्होंने एक सफल औपन्यासिक व्यक्तित्व प्रदान किया है वह निश्चय ही अपूर्व है।

## 27.5.2 समाजवादी यथार्थवाद के उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर काल में अश्क और नागर के साथ-साथ यशपाल ने अपनी विशिष्ट मार्क्सवादी विचारधारा के कारण अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित किया। 'अमिता' और 'दिव्या' को छोड़कर उनके शेष उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद का चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों के नाम 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' आदि इस बात की पुष्टि करते हैं कि वे क्रान्तिकारी दल से संबंधित थे और मार्क्सवादी विचारधारा का उन पर गहरा प्रभाव था। स्वतन्त्रता के पश्चात् लिखे जाने वाले उपन्यासों में 'झूठा सच' ने विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह उपन्यास दो भागों में लिखा गया—'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य'। इस उपन्यास में उन्होंने जीवन के विविध रूपों, समस्याओं और जटिलताओं को विस्तार से चित्रित किया है। पहला भाग देश के विघटन को प्रस्तुत करता है, इसलिए अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक, यथार्थ और मार्मिक बन पड़ा है। डॉ. नगेन्द्र 'झूठा सच' को हिन्दी का महाकाव्यात्मक उपन्यास मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मनुष्य का रूप' 'बारह घंटे' और 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास लिखे। 'मनुष्य के रूप में परिवर्तनशील मानवीय रूप के मूल में आर्थिक समस्या की भूमिका स्वीकार की गई है और 'मेरी तेरी उसकी बात' में भारत के स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का चित्रण किया गया है।

यशपाल की परम्परा के उपन्यासकारों में राहुल सांकृत्यायन का 'सिंह सेनापति' और 'वोल्गा से गंगा,' नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरूण के बेटे', 'दुख मोचन', रांगेय राघव के 'घरौंदा', 'सीधा सादा रास्ता', 'कब तक पुकारू', और 'मुर्दों का टीला', भैरवप्रसाद गुप्त का 'मशाल', 'गंगा मैया' और 'सती मैया का चौरा', अमृतराय का 'बीज', 'नागफनी का देश', और 'हाथी के दांत', विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रायः इन सभी उपन्यासों में वर्ग वैषम्य और आर्थिक शोषण का चित्रण किसी न किसी रूप में प्रभावशाली ढंग से किया गया है।

## 27.5.3 ऐतिहासिक उपन्यास

यद्यपि हिन्दी में यह धारा बहुत प्रखर नहीं है फिर भी पूर्व प्रेमचन्द युग से चली आ रही है। पहले के उपन्यास ऐतिहासिक न होकर केवल इतिहास नामधारी थे। इस क्षेत्र को प्रतिष्ठित करने वाले हैं—वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य चतुरसेन शास्त्री। इनमें से वृन्दावन लाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री प्रेमचन्द युग में ही अपने नाम को प्रतिष्ठित कर चुके थे। वृन्दावनलाल वर्मा की 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी', चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू' अत्यन्त सुगठित रचनायें हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के अतिरिक्त 'चारुचन्द्र लेख', 'पुनर्नवा और 'अनामदास का पोथा' की रचना की। यशपाल का 'दिव्या' और 'अमिता', भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' भी ऐतिहासिक उपन्यास है जिनके विषय में पहले चर्चा की जा चुकी है।

## 27.5.4 आंचलिक उपन्यास

स्वातंत्र्योत्तर काल में एक नई धारा सामने आई। कुछ उपन्यासों में केवल प्रदेश विशेष की संस्कृति को उसके सजीव वातावरण में प्रस्तुत किया गया। इस दिशा में फणीश्वरनाथ

रेणु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमें बिहार प्रदेश की संस्कृति का सजीव चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें', और 'मनुष्य', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारू', नागार्जुन का 'बलचनमा' तथा 'वरुण के बेटे', देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये', रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर, शैलेश मटियानी का 'होल्दार', शिवप्रसाद मिश्र का 'बहती गंगा', 'टूटता हुआ', विवेकी राय का 'सोना माटी', 'समर शेष है', महत्पवूर्ण उपन्यास हैं।

आजकल हिन्दी में नगर और ग्रामीण आंचल से संबंधित अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं। इन उपन्यासों की सर्वप्रमुख विशेषता है प्रादेशिक तथा स्थानीय रंग।

## 27.5.5 मनोवैज्ञानिक उपन्यास

मनोवैज्ञानिक–मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में बाह्य संघर्ष की अपेक्षा व्यक्ति के अन्तःसंघर्ष का चित्रण किया जाने लगा। उपन्यासकार व्यक्ति के अवचेतन, तथा उपचेतन की परतें खोलने लगा। आपने पहले पढ़ा कि इस दिशा में पश्चिम के विचारकों–फ्रायड, युग, एडलर आदि ने जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के चिन्तन को प्रभावित किया।

फलस्वरूप इलाचन्द्र जोशी ने बाद के उपन्यासों–'जिप्सी', 'जहाज का पंछी', आदि में भी व्यक्ति की दमित वासनाओं, कुण्ठाओं आदि का चित्रण किया और जैनेन्द्र ने 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' आदि में नारी-पुरुष के प्रेम की समस्या का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण किया। अज्ञेय पर फ्रायड, टी. एस. इलियट और डी. एच. लारेंस का भी प्रभाव रहा। अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' के बाद स्वातंत्र्योत्तर युग में 'नदी के द्वीप और 'अपने-अपने अजनबी' लिखा। इस उपन्यास में मनोविज्ञान और अस्तित्ववाद का सुन्दर समन्वय है। या यों कहा जाए कि इसमें अस्तित्ववादी दर्शन सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उभारा गया है। भाषा शिल्प और रूप-विन्यास के धरातल पर इस उपन्यास की बहुत चर्चा हुई। 'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है। इसमें समस्या स्वतन्त्रता के वरण की है जो संत्रास, अकेलेपन, मृत्यु-बोध, अजनबीपन आदि से सहज ही जुड़ जाती है। अज्ञेय ने इसमें अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है। शेखर में व्यक्ति का अपने से साक्षात्कार मुख्य था। उसकी खोज स्वातंत्र्य की खोज के साथ-साथ एक व्यक्तित्व की खोज भी थी। 'नदी के द्वीप' एक व्यक्तित्व की खोज न होकर चार व्यक्तियों की खोज है, इनकी अलग-अलग भूमिकाएं हैं किन्तु इनका आपस में टकराव इन्हें एक-दूसरे के साथ जोड़ता है।

इसी धारा में आगे चलकर डॉ. देवराज ने अपने उपन्यासों 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' आदि में शिक्षित मध्यमवर्ग के करुण यथार्थ का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया।

## 27.5.6 प्रयोगशील उपन्यास

कविता में नये प्रयोगों के साथ-साथ कहानी और उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग किये जा रहे हैं। पूर्ववर्ती लेखकों ने अपने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था। इस दौर में कहानी का महत्व नहीं रहा। परिणामस्वरूप क्रिया-कलाप के प्रति सचेत एवं तराशे हुए पात्र भी नहीं रहे। इन उपन्यासों में ज़िन्दगी पूरी तरह विश्लेषित न होकर चेतन प्रवाह के साथ जुड़ गयी। अतः प्रतीकों के माध्यम से बात की जाने लगी। यही कारण है कि शिल्प के धरातल पर भी कई नये प्रयोग किये जाने लगे हैं। धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे. गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं।

धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवां घोड़ा' में अलग-अलग कहानियां किस्सागो के व्यक्तित्व से जुड़कर उपन्यास बन जाती हैं। इसकी रचना आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हुई है। प्रभाकर माचवे के 'परन्तु', 'सांचा' आदि उपन्यासों में न तो कोई व्यवस्थित कथानक है और न चरित्र निर्माण। लेखक ने चेतना प्रवाह शैली में पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करके नवीन मूल्यों की तलाश की है। रुद्र की 'बहती गंगा' में काशी नगरी के पिछले दो सौ वर्षों के जीवन-प्रवाह को सत्रह तरंगों (कहानियों) में अंकित किया गया है। सिरीधर गोपाल ने 'चांदनी के खण्डहर' में केवल चौबीस घंटों की कथा को समूचे उपन्यास का विषय बनाया है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'सोया हुआ जल' में एक यात्री-निवास में

ठहरे हुए यात्रियों की रात की ज़िन्दगी का वर्णन है। यह उपन्यास चेतना प्रवाह शैली और सिनेरियो टेकनीक में लिखा गया प्रतीकात्मक उपन्यास है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' और ख्वाजा बदी उज्ज़मां का 'एक चूहे की मौत' भी अनेक प्रकार की विसंगतियों का चित्रण करने वाले प्रयोगशील उपन्यास हैं।

## 27.5.7 आधुनिकता बोध के उपन्यास

औद्योगीकरण, बौद्धिकता के अतिरेक, यन्त्रीकरण, दो महायुद्ध तथा अस्तित्ववादी चिन्तन के फलस्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसका प्रतिबिम्ब सभी साहित्यिक विधाओं में देखा जा सकता है। आज का उपन्यासकार व्यक्ति की खोज में संलग्न है। उसके लिए आदमी और उसका अस्तित्व महत्वपूर्ण है। इसकी झलक तो हमें इससे पहले लिखे गए कुछ उपन्यासों में भी मिल जाती है किन्तु उनमें अभिव्यक्ति का स्तर वैसा नहीं रहा जैसा कि मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे में' और 'न आने वाला कल' तथा अन्तराल में नज़र आता है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' में आस्थाविहीन समाज और अनिश्चिय की स्थिति में लटके हुए इन्सान का चित्रण है। 'न आने वाला कल' का नायक सब कुछ को अस्वीकार कर एक निषेधात्मक स्थिति में जा पहुंचा है। पर यह अस्वीकार उसे कहीं भी ले जाने में असमर्थ है। अन्त में जड़ जीवन जीने की सड़ांध ही उसकी नियति हो जाती है।

निर्मल वर्मा का 'वे दिन' आधुनिक संवेदना से सम्पन्न उपन्यास है। यह द्वितीय महायुद्ध के बाद की मानव-नियति को खोजता है। 'लाल टीन की छत' भी इनका एक और उपन्यास है जहां व्यक्ति के 'होने', और 'जीने' में एक बड़ा भारी द्वन्द्व है। 'वे दिन' के सभी पात्र इसी द्वन्द्व में जीते हैं। निर्मल वर्मा ने उन्हें निकट से पहचानने की चेष्टा की है। राजकमल चौधरी का 'मछली मरी हुई' समलैंगिक यौनाचार में लिप्त स्त्रियों की कहानी है। श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार' महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स', कृष्ण बलदेव वैद का 'उसका बचपन', कमलेश्वर का 'डाक बंगला', 'काली आंधी', 'एक सड़क सत्तावन गलियां' आधुनिकता बोध के उपन्यास हैं। गिरिराज किशोर का 'लोग' श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' भीष्म साहनी का 'झरोखे', 'कड़ियां', 'तमस', 'वासंती', 'भैय्यादास की माड़ी' सामाजिक व्यंग के स्तर पर लिखे गए आधुनिकता बोध के उपन्यास हैं। मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' और 'महाभोज' प्रसिद्ध उपन्यास हैं। कृष्णा सोबती ने 'मित्रो मर जानी', 'डार से बिछुड़ी' और 'ज़िन्दगी नामा' लिखकर महानगरीय जीवन यथार्थ की पहचान करवाई।

इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे उपन्यासकार हैं जो निरन्तर उपन्यास लेखन में जुटे हैं जिनमें से प्रमुख हैं गोविन्द मिश्र, रवीन्द्र कालिया, नरेन्द्र कोहली, राजेश शर्मा, मृदुला गर्ग, मणि मधुकर, ममता कालिया, निरुपमा सेवती, पंकज बिष्ट, अब्दुल विस्मिल्लाह, श्रवण कुमार गोस्वामी, संजीव आदि।

**बोध प्रश्न**

5) स्वातंत्र्योत्तर युग की प्रमुख प्रवृत्तियां लिखिए। (पांच पंक्तियों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

6) निम्न उपन्यासों के रचनाकारों के नाम लिखें–

(क) झूठा सच.....

(ख) बूंद और समुद्र .....

(ग) मैला आंचल.....

(घ) शेखर एक जीवनी.....

(ङ) आपका बंटी.....

(च) राग दरबारी.....

(छ) तमस .....)

7) निम्नलिखित उपन्यासों में से कौन से उपन्यास मनोवैज्ञानिक हैं और कौन से समाजवादी यथार्थवाद से संबंधित हैं ?

(क) बोल्गा से गंगा .....)
(ख) नदी के द्वीप .....)
(ग) परख .....)
(घ) झूठा सच .....)
(ङ) सती मैया का चौरा .....)
(च) जहाज़ के पंछी .....)

## 27.6 कथा साहित्य : कहानी

### 27.6.1 पृष्ठभूमि

कथा कहने और सुनने की प्रवृत्ति आदिम काल से चली आ रही है। आपने भी न जाने कितनी कथाएं कही और सुनी होंगी। किन्तु आज आप जिस 'कहानी' नामक विधा के विषय में पढ़ने जा रहे हैं उसका उद्भव बीसवीं शताब्दी की देन है। भले ही कहानी का स्रोत खोजने वाले कभी इसे पंचतन्त्र, हितोपदेश, जातक-कथा, और ईसप की महान कहानियों से जोड़ने का प्रयास करते हैं तो कभी ऋग्वेद के संचार सूक्तों, उपनिषदों की रूपक-कथाओं, रामायण और महाभारत के उपाख्यानों से। इतना ही नहीं, वे इसका सम्बन्ध बेताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी से जोड़कर मध्य देशों की अरबी-फारसी में लिखी अलिफ़-लैला, हज़ार दास्तान, गुलिस्ता-बोस्तां से जोड़ते हुए प्रसिद्ध लोक-कथाओं शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूं तक पहुंच जाते हैं। इन कथाओं में विलक्षण कल्पना, घटना-जाल, चमत्कार, प्रश्नोत्तर, जिज्ञासा, संघर्ष, जय-विजय आदि का अद्भुत चित्रण मिलता है। सारांश यह कि कहानियों के आरम्भ की परंपरा अति प्राचीन है। कालक्रम एवं परिस्थितियों के अनुसार इसका स्वरूप बदलता रहा। कहानी को समय-समय पर विभिन्न नामों से पुकारा जाता रहा—कथा, आख्यान, आख्यायिका, गल्प आदि।

### 27.6.2 हिन्दी कहानी का उद्भव

इन सभी स्वीकृतियों के बाद इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि आज जिस रूप में कहानी लिखी जा रही है वह परम्परागत कदापि नहीं है। उसका स्वरूप नितान्त भिन्न है। जिस प्रकार आधुनिक युग में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं यथा नाटक, उपन्यास, निबंध, समालोचना आदि का सूत्रपात हुआ उसी प्रकार से कहानी का जन्म अंग्रेज़ी की 'शार्ट-स्टोरी' से हुआ।

अब प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी की पहली कहानी किसे माना जाए। अन्य आधुनिक गद्य-विधाओं के समान आधुनिक कहानी का प्रवर्तन भारतेन्दु युग में ही हुआ। कुछ विचारक इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। इसमें किस्सागोई के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसके बाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का स्वप्न' और भारतेन्दु की 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नामक कहानियां सामने आईं। इनमें कहानी नाम का कोई तत्व उपलब्ध नहीं होता। इन्हें कथात्मक शैली के निबन्ध कहा जा सकता है। इसी समय पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से बंगला, मराठी और गुजराती में भी इन कहानियों के अनुवाद होने लगे। इन अनुवादों ने ही हिन्दी साहित्यकारों को कहानी लेखन के लिए प्रेरणा दी। यहीं से हिन्दी की मौलिक कहानी ने स्वरूप लिया। द्विवेदी युग के बारे में आप विस्तार से पढ़ चुके हैं। आपको स्मरण होगा कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' नामक पत्रिका का संपादन किया था। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष में ही किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी छपी। और इसके बाद 'बंग महिला' की 'दुलाई वाली' रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। इन कहानियों को हम प्रयोगशील कहानियां कह सकते हैं जिनमें कहानीकारों ने

विदेशी या बंगला साहित्य के प्रभाव में आकर हिंदी में कहानी लिखने का प्रयास किया था। अब माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिंदी की पहली कहानी माना जाता है, जो 1901 में प्रकाशित हुई थी।

## 27.7 हिन्दी कहानी का विकास

1900 से लेकर आज तक कहानी लेखन का क्रम उत्तरोत्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। आपके अध्ययन की सुविधा के लिये हम इसे चार भागों में विभाजित करते हैं–

1) पूर्व प्रेमचन्द युग
2) प्रेमचन्द-प्रसाद युग
3) उत्तर-प्रेमचन्द युग
4) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी

### 27.7.1 पूर्व प्रेमचन्द युग

इस काल को हिन्दी कहानी का शैशव काल कहा जा सकता है। इस काल की प्रतिनिधि कहानियों के विषय में अभी ऊपर आपको बताया है–किशोरी लाल गोस्वामी की इन्दुमती, रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', बंग महिला की 'दुलाई वाली' और माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी'। इसी समय कुछ और कहानियां भी प्रकाश में आईं–किशोरीलाल गोस्वामी की 'गुलबहार', मास्टर भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल', वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखी बंध भाई' आदि। इनमें किसी प्रकार की प्रौढ़ता दिखाई नहीं देती।

### 27.7.2 प्रेमचन्द-प्रसाद युग

पुरानी कथा कहानियां घटना वैचित्र्य के द्वारा मनोरंजन तो कर देती थीं किन्तु शिक्षित जनता को प्रभावित नहीं कर पाती थीं। पाश्चात्य कहानी कला से परिचित होते ही हिन्दी में कलापूर्ण कहानियों की सृष्टि होने लगी। सौभाग्य की बात है कि अपने प्रारम्भिक काल में ही कहानी को प्रेमचन्द और प्रसाद जैसी दो ऐसी रचनाशक्तियां मिलीं जिन्होंने हिन्दी कहानी में एक युगान्तरकारी परिवर्तन किया। इन दोनों रचना-शक्तियों का क्षेत्र अलग था। एक कहानी को समाज के व्यापक सन्दर्भों से जोड़ रही थी और दूसरी व्यक्ति की प्रतिष्ठा को रेखांकित कर रही थी।

प्रेमचन्द की कुछ कहानियां पहले उर्दू की 'जमाना' पत्रिका में (1907) प्रकाशित हुई। इसके साथ ही 'सरस्वती' में उन्होंने हिन्दी में कहानियां लिखनी आरम्भ कीं। 'सौत', 'पंच परमेश्वर', 'बूढ़ी काकी', 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर' उसी समय की कहानियां हैं। कहानी साहित्य में प्रेमचन्द का प्रवेश सर्वथा युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्यिक जगत में आते ही कल्पना को यथार्थवाद की ओर उन्मुख कर दिया। वह जनता के सुख-दुख में भाग लेने वाले कलाकार थे। इसलिए उनकी कहानियों में समस्त भारतीय समाज मुखरित हो उठा। स्वाधीनता की लड़ाई, संयुक्त परिवार में विघटन, जातीय एकता, किसानों की समस्याएं, अछूतोद्धार, विधवा समस्या, औद्योगीकरण, साम्प्रदायिक द्वेष, सामाजिक रूढ़ियां, धर्म, जाति और परम्परा से संबंधित अनेक विषय उनकी कहानियों में आकार लेने लगे। उन्होंने लगभग 300 कहानियां लिखीं जिनमें से प्रमुख कहानियां मानसरोवर के आठ भागों में संकलित हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'पूस की रात', 'ठाकुर का जुँआ' और 'कफन' उनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं।

सन् 1911 में जयशंकर प्रसाद की 'ग्रन्थि' कहानी 'इन्दु' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। इससे हिन्दी कहानी में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। प्रसाद मूलतः कवि थे अतः उनकी कहानियों में छायावाद की मूल प्रवृत्ति 'वैयक्तिकता' की सूक्ष्म प्रतिच्छाया दिखाई देती है। अधिकांश कहानियों में वैयक्तिक सुख-दुःख वैयक्तिक द्वन्द्व का चित्रण मिलता है। 'आकाशद्वीप', 'पुरस्कार', 'मछुआ', 'ममता' आदि इसी प्रकार की कहानियां हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल'–प्रसाद की कहानियों के संकलन हैं।

इस काल के अन्य कहानी लेखकों में प्रमुख हैं—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी। इन्होंने तीन कहानियां लिखीं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का कांटा', और 'उसने कहा था'। इनका नाम केवल एक कहानी 'उसने कहा था' से ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और सुदर्शन प्रेमचन्द परम्परा के कहानीकार हैं। इन्होंने प्रेमचन्द की भांति ही अपने आस-पास से कहानियों के विषय चुने। कौशिक की 'ताई' और सुदर्शन की 'हार की जीत' प्रसिद्ध कहानियां हैं।

इसी काल में राधाकृष्ण दास और विनोद शंकर व्यास ने प्रसाद की तरह भाव प्रधान कहानियां लिखीं। चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न युगों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित अनेक मार्मिक कहानियों की रचना की। 'उग्र' ने परम्परा से हटकर विद्रोह का स्वर समर्थन किया। वृन्दावनलाल वर्मा ने प्रमुखतः ऐतिहासिक कहानियां लिखीं।

इस युग के अन्य प्रमुख कहानीकार हैं—भगवती प्रसाद वाजपेयी, राहुल सांकृत्यायन, सुभद्रा कुमारी चौहान, उषा देवी मित्रा आदि।

हिन्दी कहानी के विकास की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। प्रसाद और प्रेमचन्द की रचना प्रक्रिया ने हिन्दी कथा साहित्य में दो निश्चित धाराओं को स्वरूप दिया—व्यक्ति और समाज। आगे चलकर प्रसाद की इस व्यक्तिवादी चिन्तनधारा को जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने और प्रेमचन्द की समाजवादी चिन्तनधारा को यशपाल, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन और अमरकान्त ने आगे बढ़ाया।

### 27.7.3 उत्तर प्रेमचन्द युग

उपन्यास का विकास पढ़ते हुए आपने यह जाना कि इस युग में दो प्रमुख प्रवृत्तियों ने सम्पूर्ण साहित्य को प्रभावित किया—मनोवैज्ञानिक और समाजवादी यथार्थवाद। इनके प्रेरक थे फ्रायड एवं कार्ल मार्क्स। हिन्दी कहानी पर भी इन दोनों चिन्तकों का विशेष प्रभाव दिखाई देता है।

प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद हिन्दी कहानी को नया आयाम देने वालों में जैनेन्द्र का नाम प्रमुख है। उन्होंने कथावस्तु को सामाजिक धरातल से ऊपर उठाकर व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। 'खेल, 'अपना-अपना भाग्य', 'नीलम देश की राजकन्या', 'पाज़ेब' आदि में जैनेन्द्र ने व्यक्ति मन की शंकाओं, प्रश्नों तथा आन्तरिक गुत्थियों को अंकित किया है। इसके अतिरिक्त अधिकांश कहानियों का मुख्य विषय नारी है। यह नारी पतिव्रत्य की चारदीवारी से बाहर निकलकर मुक्ति की सांस लेना चाहती है। 'जाह्नवी', 'रत्नप्रभा', 'प्रतिभा', 'दो सहेलियां', 'प्रमिला', 'मानरक्षा' आदि की गणना इसी सन्दर्भ में रेखांकित की जा सकती है।

इलाचन्द्र जोशी ने कथा-साहित्य में व्यक्तिवाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उनका चिन्तन जैनेन्द्र से भिन्न है। वह मानव मन की गहराइयों में झांककर व्यक्ति-मन के भीतर दमित वासनाओं तथा कुण्ठाओं का विश्लेषण करते हैं। उनकी कहानियों के अधिकांश पात्र चोर, जुआरी, लंपट, मद्यप और हत्यारे हैं। ये सभी पात्र किसी न किसी हीन-भावना के शिकार होते हैं। 'आहुति', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'दुष्कर्मी' आदि इसी प्रकार की कहानियां हैं।

अज्ञेय, प्रेमचन्द परवर्ती कथा-साहित्य के प्रमुख कहानीकार हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्ति-चरित्र को प्रधानता दी है। उनकी यह धारणा है कि व्यक्ति को नैतिक निर्णय की क्षमता से सम्पन्न करके ही समाज का नैतिक धरातल ऊंचा किया जा सकता है। अतः व्यक्ति-स्वातंत्र्य आवश्यक है। वह समाज का अध्ययन व्यक्ति के माध्यम से करते हैं और समाज की गली-सड़ी, खोखली मान्यताओं के बदले व्यक्ति के भीतर स्थित दृढ़तर मान्यताओं को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हैं। इनके चिन्तन पर देशी और विदेशी चिन्तकों का प्रभाव है। यदि केवल उनके कहानी सम्बन्धी चिन्तन पर दृष्टि डाली जाये तो वह पश्चिमी दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन से प्रभावित दिखयी देते हैं। अज्ञेय का प्रथम कहानी संग्रह 'त्रिपथगा' 1931 में प्रकाशित हुआ था : रोजी उनकी प्रसिद्ध कहानी है।

इस व्यक्तिवादी धारा के साथ ही इस समय यशपाल ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से समाज में फैली सब प्रकार की कुरूपताओं का पर्दाफ़ाश किया। उनके कथ्य का क्षेत्र इतना व्यापक रहा कि समाज की कोई भी विकृति उनकी आंखों से ओझल नहीं हुई। उनकी दृष्टि मार्क्सवादी थी अतः उनका लक्ष्य एक ही रहा—सामाजिक वैषम्य का उद्घाटन करना। इनके कहानी संग्रहों—'पिंजड़े की उड़ान', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', तर्क का तूफान', 'भस्मावृत्त', 'चिंगारी', 'अभिशप्त', 'फूलों का कुरता', 'उत्तमी की मां', 'सच बोलने की भूल' और 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूं' आदि उल्लेखनीय हैं। 'मक्रील', 'वो दुनिया', 'गण्डेरी' 'पराया सुख', 'करवा का व्रत' उनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। इनमें समस्या कोई भी हो नारी के शोषण की या पुरुष के शासन की, वर्ग वैषम्य की या आर्थिक विषमता की, धर्म सम्बन्धी मिथ्या विश्वासों की या समाज में फैले भ्रष्टाचार की पात्र उनकी विचारधारा के अनुरूप स्वरूप लेते रहे। इस प्रकार प्रत्येक कहानी में उनका समाजवादी चिन्तन ही प्रमुख रहा है।

इस समाजवादी परम्परा पर आगे चलकर राहुल, रांगेय राघव, नागार्जुन ने सशक्त कहानियां लिखीं। विष्णु प्रभाकर और उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी इसी समय कहानी के क्षेत्र में अपना नाम स्थापित किया। इनके पात्र मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग से संबंधित हैं। विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' और उपेन्द्रनाथ अश्क की 'डाची' दोनों कहानियां हिन्दी कथा-साहित्य की चर्चित कहानियां हैं। इनकी कहानियों में व्यक्ति एवं समाज दोनों ही प्रमुख रहे। सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को प्रश्रय देने वाले कहानीकारों में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, के नाम महत्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक परम्परा की कहानियों में वृन्दावनलाल वर्मा प्रमुख हैं।

इस प्रकार इस युग में हिन्दी कहानी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को पार करते हुए वहां पहुंच गई जहां से इसके श्रेष्ठ रूप के दर्शन होने लगते है

## 27.7.4 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी

यह वह समय था जब देश स्वतन्त्र हो चुका था। सत्ता कांग्रेस के हाथ में थी। संविधान निर्मित हो चुका था। गणतन्त्र के आलोक में संवेदनशील कथाकार सत्ता के स्थानान्तरण को पहचान रहे थे। विभाजन के साथ जुड़े हुए संहार, ध्वंस और सामूहिक हत्याओं ने मानवीय मूल्यों का जो विघटन किया उसे यशपाल, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, जैनेन्द्र और बाद में मोहन राकेश तथा भीष्म साहनी ने चित्रित किया। इन्हीं दिनों अज्ञेय का 'शरणार्थी' नामक संग्रह प्रकाशित हुआ। इन सब—में उस काल के निम्न मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय जीवन के वास्तव में बाह्य पक्ष का चित्रण था। इसके भीतर जो मानसिक ध्वंस गांवों, कस्बों, नगरों, महानगरों आदि में झेला जा रहा था, उसकी स्थिति ही दूसरी थी। इसी समय एक विशेष प्रकार का बोध कहानी में उभर रहा था जिसे आंचलिक बोध का नाम दिया गया। इसी के समान्तर शहरीकरण की कठिनताओं से उत्पन्न हुआ एक दूसरा बोध था—नगर तथा महानगरीय बोध।

इस प्रकार कहानी के क्षेत्र में एक साथ कई मोड़ आ रहे थे। अधिकाश कहानीकार जीवन-वास्तव से जुड़ने की चेष्टा कर रहे थे। किन्तु कुछ नवीन प्रयोग भी हो रहे थे। कहानी के वस्तु विधान और शिल्प-विधान दोनों में इस बदलाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

सन् 1950 के बाद कहानियों में व्यक्तिवादी स्वर प्रमुख होने लगा। मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढ़कर अस्तित्ववादी दर्शन ने जीवन के बुनियादी सवालों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। स्वतन्त्रता से प्राप्त होने वाले सुख की कल्पना शीघ्र ही विच्छिन्न हो गई। व्यक्ति एक तरह का कटाव और अलगाव महसूस करने लगा। मानवीय मूल्यों का सर्वथा ह्रास होने लगा किन्तु फिर भी जीवन के प्रति आस्था बाकी थी।

अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण किया। 'रोज़', पहाड का धीरज', 'हीली बोन की बत्तखें' कहानियां नये यथार्थ पर आधारित हैं। उन्होने बिम्बों,प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण द्वारा कहानियों को अर्थ के विभिन्न स्तर दिये। त्रिपथगा, परम्परा 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', 'अमर बल्लरी ये तेरे प्रतिरूप इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं। आगे चलकर

निर्मल वर्मा, रामकुमार, उषा प्रियंवदा की कहानियों ने इस अस्तित्ववादी चिंतन को एक नया मोड़ दिया।

यशपाल ने भी इस बदलाव की स्थिति को बड़ी गहराई से महसूस किया। उनकी अधिकांश कहानियां सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। उन्होंने अपनी कहानियों के माध्यम से आर्थिक, नैतिक, धार्मिक, सैक्स-विषयक समस्याओं का चित्रण करके सामाजिक वैषम्य पर प्रबल प्रहार करने की चेष्टा की। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विषय में भी उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी रहा। वह समाज में नारी को पुरुष के समान अधिकार दिलाना चाहते थे इसलिए स्त्री की आत्म-निर्भरता में विश्वास रखते थे। इस विषय में उन्होंने बहुत सी कहानियां लिखीं जिनमें 'करवा का व्रत' कहानी उल्लेखनीय हैं।

यशपाल के बाद भीष्म साहनी, अमरकान्त, ज्ञानरंजन, बदी उज्जमा, काशीनाथ सिंह ने इस विचारधारा को बल दिया।

विष्णु प्रभाकर ने भी अपनी चिन्तन धारा को बदला। कहानी के क्षेत्र में उनका विकास अप्रत्याशित है। 'धरती अब भी घूम रही है', उनकी सबसे अधिक चर्चित कहानी है। जून 1987 की सारिका में छपी कहानी 'एक आसमान के नीचे' विष्णु प्रभाकर की कथा-यात्रा में एक मील का पत्थर है। इसमें सुन्दर कलात्मक रचाव है जो देश और विदेश के परिवेश को समेटे हुए है। उनके कई संकलन 'आदि और अन्त', 'रहमान का बेटा', 'जिंदगी के थपेड़े', 'संघर्ष के बाद', 'द्वन्द्व', 'मेरा वतन', 'धरती अब भी घूम रही है', 'खिलौने', 'पुल के टूटने से पहले', 'मेरी प्रिय कहानियां' आदि प्रकाशित हो चुकी हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियों में अत्यधिक विविधता है। उनकी कहानियों में भी प्रेमचन्द की भांति सभी वर्गों के पात्र हैं किन्तु अधिकांशतः मध्यमवर्गीय एवं निम्नवर्गीय पात्रों का यथार्थ चित्रण मिलता है। 'डाची' उनकी प्रसिद्ध कहानी है। इसमें मानवीय करुणा की जो सहज अविरल धारा प्रवाहित होती है वह बेजोड़ है। 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' उनकी चुनींदी कहानियों का संकलन है। अश्क जी ने प्रायः सभी कथा-धाराओं में योगदान दिया। इन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्ति और समाज दोनों को ही प्रमुखता दी।

इसी समय कहानी में एक दूसरी विचारधारा भी पनप रही थी जहां हिन्दी कथाकार कहानी के पुराने कलेवर से मुक्ति पाने के लिये और नये अनभव संसार सें स्वयं को जोड़ने के लिए एक नयी चेतना तलाश रहः था।

## नयी कहानी

सन् 1955 में 'कहानी' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। नवीन चेतना की खोज करने वाले कहानीकारों को इस दौर को आगे बढ़ाने का अवसर मिला। उन्होंने 1956-57 में इसका नाम 'नयी कहानी' रख दिया। अब कहानी में नये सन्दर्भों की खोज होने लगी। उलझनपूर्ण मोड़ और चमत्कारपूर्ण चरम सीमाओं की अपेक्षा आन्तरिक अन्विति पर बल दिया जाने लगा। जीवन की पहचान कहानीकार के लिये महत्वपूर्ण हो गई। अब वह अपनी अनुभूति की सघनता के लिये नये-नये बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग करने लगा।

नयी कहानी के प्रवर्तकों में से प्रमुख नाम हैं—मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा। इनकी कहानियों के कथ्य में विविधता है। अधिकांश कहानियां कथाकारों के अपने जीवनानुभव से प्रेरित हैं। गांव का ठहरा हुआ जीवन हो या नगर-महानगर की भागमभाग अथवा पहाड़ की शान्त निःस्तब्धता, वहां रहने वाले पात्र स्थितियों के अनुरूप स्वतः रूप लेते चले जाते हैं। 'मलबे का मालिक', 'मिस पाल', 'खाली', 'आखिरी सामान', 'आर्द्रा', 'एक और जिन्दगी', 'उसकी रोटी', राकेश की चर्चित कहानियां हैं। अधिकांश कहानियां निम्न मध्यवर्ग व मध्यवर्ग से संबंधित हैं। इनमें मूल्यों के विघटन, अकेलेपन, संत्रास और व्यक्ति की अपनी अस्मिता के प्रश्न को भी रेखांकित किया गया है। इन सभी में गहरी मानवीय संवेदना है। कमलेश्वर की 'देवा की मां', 'तलाश', 'राजा निरबंसिया', 'जो लिखा नहीं जाता', 'दुखभरी दुनिया', 'खोयी हुई दिशाएं' आदि कहानियां आम आदमी की टूटन, घुटन, बिखराव, यातना व मजबूरी का चित्रण करती हैं। राजेन्द्र यादव ने सामान्य व्यक्तिगत अनुभवों को नये-नये सामाजिक सन्दर्भों में ढालकर बहुत सी कहानियां लिखीं। इनमें 'खुशबू', 'टूटना', 'भविष्य के

आसपास मंडराता अतीत', 'जहां लक्ष्मी कैद है', प्रसिद्ध हैं।

मन्नू भण्डारी और उषा प्रियंवदा ने अपनी कहानियों में जीवन की जटिल और गहरी सच्चाइयों का साक्षात्कार करने की चेष्टा की। भले ही दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है। मन्नू भण्डारी सामाजिकता को महत्व देती है तो उषा प्रियंवदा वैचारिकता को। किन्तु दोनों अपने जीवनानुभवों को एक ऐसी प्रामाणिक सच्चाई के साथ सामने रखती हैं कि रचना प्राणवान हो जाती है। मन्नू की 'यही सच है', 'ऊंचाई' और उषा प्रियंवदा की 'कितना बड़ा झूठ', 'मछलियां' इसी प्रकार की कहानियां हैं। वातावरण को उसकी सम्पूर्ण संवेदना के साथ उभारने में शिवानी को विशेष सफलता मिली है। आगे चलकर कृष्णा सोबती, ममता कालिया, मालती जोशी, सुधा अरोड़ा, मृदुला गर्ग, निरुमता सेवती, मृणाल पाण्डे आदि अन्य कई कहानी लेखिकाओं ने विकास की परंपरा में विशेष सहयोग दिया।

निर्मल वर्मा एक लम्बे अरसे तक यूरोप में रहे। पाश्चात्य साहित्य से जुड़कर इनकी कहानी ने सर्वथा अलग स्वरूप ले लिया। अधिकांश कहानियां व्यक्ति-सत्य की है इनमें अस्तित्व की खोज व तलाश है। 'लंदन की एक रात', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'परिन्दे' इनकी श्रेष्ठ कहानियां हैं। रामकुमार, महेन्द्र भल्ला, कृष्ण बलदेव वैद, प्रयाग शुक्ल इसी कोटि के कहानीकार हैं।

## ग्रामांचल की कहानियां

इन कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु, शेखर जोशी और विवेकी राय के नाम मुख्य हैं। इनकी कहानियों में जो गांव की मिट्टी की सोंधी महक और गांव के लोगों का जीवन देखने को मिलता है, वह अपूर्व है। रेणु की 'तीसरी कसम' और शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' अत्यन्त प्रभावपूर्ण कहानियां हैं। रांगेय राघव, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी आदि कहानीकारों ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। इस प्रकार कहानी को कितने ही मोड़ों से गुज़रना पड़ा इसीलिए समय-समय पर उसे नये नामों से भी संबोधित किया जाता रहा यथा—नयी कहानी, समान्तर कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, अचेतन कहानी, सक्रिय कहानी आदि। आज कहानी के क्षेत्र में रूप विषयक पुरानी धाराणायें टूट चुकी हैं। केवल जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति ही महत्वपूर्ण है। कहानी अब बिम्बों और प्रतीकों से भी मुक्त हो चुकी हैं। कहानी के समुचित विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान भी महत्वपूर्ण है।

## परवर्ती कहानी का बदलता स्वरूप

सन् 60-65 के बाद की लिखी गई कहानियों में अधिक उग्रता और निर्ममता है। ये कहानियां प्रायः उन लेखकों की हैं जिन्होंने स्वतंत्र भारत का क्रूर यथार्थ अपनी आंखों से देखा। इनमें से उल्लेखनीय हैं—दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, काशीनाथ सिंह, रमेश उपाध्याय और गोविन्द मिश्र।

स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को चित्रित करने वाली कहानियां ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनिता औलक, दीप्ति खण्डेलवाल, राजी सेठ, मृणाल पांडे आदि ने लिखीं।

इस दौर में उभरने वाले विद्रोह और आक्रोश ने कहानी को एक सपाटबयानी दी। कहानी का रूपबन्ध बदल गया। उसमें तत्वों की कोई प्रधानता नहीं रही। वह बिम्बों और प्रतीकों से भी मुक्त हो गई। अब निबन्ध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी आदि विधाएं भी कहानी में सम्मिलित हो गयीं। परिणामस्वरूप कहानियों में जीवन यथार्थ को निसंग रूप से अभिव्यक्त करने की क्षमता आई।

**बोध प्रश्न**

8) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
   (क) हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी .....है।
   (ख) पंच परमेश्वर .....की प्रसिद्ध कहानी है।
   (ग) प्रसाद की पहली कहानी .....'इन्दु' पत्रिका में छपी।

(घ) ..... चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी है।

(ङ) त्रिपथगा ..... का कहानी संग्रह है।

9) सत्य कथन पर[ ✓ ]का चिन्ह लगायें–

(क) प्रेमचन्द का चिन्तन मनोवैज्ञानिक था। [ ]

(ख) प्रसाद ने समाजवादी कहानियां लिखीं। [ ]

(ग) अज्ञेय ने समाज का अध्ययन व्यक्ति के माध्यम से किया। [ ]

(घ) जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक कहानियां लिखीं। [ ]

10) निम्नलिखित कहानीकारों तथा कहानियों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित कीजिए–

| | |
|---|---|
| प्रेमचन्द | रोज़ |
| जयशंकर प्रसाद | करवा का व्रत |
| जैनेन्द्र | कफ़न |
| अज्ञेय | आकाशदीप |
| यशपाल | पाजेब |

## 27.8 प्रमुख कथाकार

अभी आपने हिंदी उपन्यास और कहानी की संक्षिप्त रूपरेखा का परिचय प्राप्त किया। अब हम प्रमुख कथाकारों का परिचय देने जा रहे हैं।

### 27.8.1 प्रेमचन्द (1880-1936)

प्रेमचन्द का जन्म उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नगर वाराणसी से लगभग छह किलोमीटर दूर लमही नामक ग्राम में 31 जुलाई 1880 ई. को हुआ। उनका पहला नाम धनपतराय था। बाल्यावस्था से ही उनकी उपन्यास और कहानियां आदि पढ़ने में विशेष रुचि थी। उनकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' अपने समय की प्रसिद्ध उर्दू पत्रिका 'ज़माना' में सन् 1907 में छपी थी। बाद में उन्होंने हिन्दी में प्रेमचन्द के नाम से लिखना शुरू किया।

उन्होंने अपने जीवन काल में लगभग 300 कहानियां और 13 उपन्यासों की रचना की।इसके अतिरिक्त उन्होंने नाटक, निबन्ध, जीवनी, सामयिक विषयों पर लेख आदि भी लिखे। किन्तु उनकी ख्याति का मूलाधार कथा साहित्य ही है। उन्हें हिन्दी कथा-साहित्य का सम्राट कहा जाता है।

प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व भारतेन्दु युग में कथा-साहित्य का आरम्भ हो चुका था। इस समय केवल घटना-प्रधान तिलस्मी, जासूसी एवं ऐय्यारी उपन्यासों की ही रचना की जाती थी। प्रेमचन्द ने कहानी और उपन्यास को कोरी कल्पनाओं के क्षितिज से उतारकर जीवन यथार्थ के साथ जोड़ दिया। उन्होंने घटना के स्थान पर चरित्र को महत्व दिया और जीवन की वास्तविक समस्याओं को केन्द्र में रखा। प्रायः उनके उपन्यासों का लक्ष्य समाज-सुधार था। उनके अधिकांश उपन्यासों और कहानियों में सामाजिक विकृतियों पर चोट की गई है। स्वाधीनता की लड़ाई, संयुक्त परिवार में विघटन, जातीय एकता, किसानों की समस्याएं, अछूतोद्धार, विधवा समस्या, देशी रियासतों की समस्याएं, औद्योगीकरण, साम्प्रदायिक द्वेष, समाज के रूढ़िग्रस्त रिवाज, जाति-धर्म और परम्परा अनेक ऐसे कोण हैं जिन्हें प्रेमचन्द की लेखनी ने अपना विषय बनाया। इससे यह ज्ञात होता है कि वे अपने समसामयिक क्रूर और निर्मम समाज के साथ निरन्तर एक साहित्यिक लड़ाई लड़ते रहे।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सेवासदन प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प निर्मला एक 'कर्मभूमि', 'गोदान' प्रमुख हैं। 'मंगलसूत्र' इनका अधूरा उपन्यास है । इन सभी में निम्न निम्नमध्य एवं मध्यवर्ग की चेतना को अभिव्यक्ति दी गई है इनका दायित्व आदर्शान्मुख यथार्थवादी रहा।

उपन्यासकार क समान प्रेमचन्द एक सघन एवं सशक्त कहानीकार भी हैं। वे ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध थे अतः अधिकांश कहानियां गांव की ज़िन्दगी की उपज हैं। किन्तु उनके आसपास का परिवेश भी स्वतः मूर्त हो उठा है। उनकी अधिकांश कहानियों में सामाजिक कुरीतियों के प्रति सुधार का आग्रह, पराजय-पतन के प्रति आदर्श की प्रतिष्ठा और दुःखी पीड़ित मानवता के प्रति अथाह संवेदना का प्राधान्य मिलता है। 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी', 'कफ़न' और 'पूस की रात' और 'ठाकुर का कुआँ' इनकी प्रसिद्ध कहानियां हैं। प्रेमपचीसी, सप्त सरोज, प्रेम पूर्णिमा, प्रेम द्वादशी, प्रेम पीयूष, प्रेम-प्रतिमा, पंच प्रसून, सप्त सुमन, प्रेम प्रमोद, प्रेम चतुर्थी इनकी कहानियों के संकलन हैं। उनकी प्रतिनिधि कहानियां मानसरोवर के आठ भागों में संकलित हैं। इन कहानियों को पढ़कर प्रेमचन्द के समसामयिक युग की धड़कन को महसूस किया जा सकता है।

प्रेमचन्द सच्चे अर्थों में विकासोन्मुख सामाजिक जीवन के चितेरे थे। निश्चय ही उन्हें हिन्दी साहित्य का मूर्धन्य लेखक स्वीकार किया जा सकता है।

## 27.8.2 जयशंकर प्रसाद (1889-1937)

जयशंकर प्रसाद का जन्म वाराणसी के प्रसिद्ध धनी परिवार में सन् 1889 में हुआ। इनके पिता देवी प्रसाद साहित्य में रुचि रखते थे। साहित्यकारों का जमघट उनके घर में लगा ही रहता था। अतः बाल्यावस्था से ही इन पर वही संस्कार पड़ने लगे। छोटी आयु में ही यह कविता करने लगे। प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य उनके गंभीर, अध्ययन, चिन्तन और मनन का प्रतिफलन है।

प्रसाद मूलतः कवि थे किन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने नाटक, उपन्यास, कहानियां और निबन्ध भी लिखे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कवि व प्रमुख नाटककार माने जाते थे। कहानीकार के रूप में उन्हें विशेष ख्याति मिली।

उन्होंने केवल तीन उपन्यास लिखे। कंकाल, तितली और इरावती। इरावती उनका अधूरा उपन्यास है। वे भारत की सांस्कृतिक परम्परा एवं गौरवशाली मर्यादा के पोषक थे किन्तु विभिन्न सामाजिक समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था। 'कंकाल' में प्रसाद ने समाज के पीड़ित-शोषित वर्गों, यौन दुर्बलताओं, जाति-भेद एवं धार्मिक पाखण्डों आदि का यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया है। 'कंकाल' के माध्यम से वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हों और अपने दायित्व का वहन स्वयं करें। 'तितली' उपन्यास में अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया गया है। इसमें प्रेम के उच्च आदर्श की स्थापना की गई है।

उपन्यास की अपेक्षा प्रसाद को कहानी के क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त हुई। इन्होंने कुल मिलाकर 69 कहानियां रचीं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आंधी' और 'इन्द्रजाल इनके प्रकाशित कहानी संग्रह हैं।

हिन्दी कहानी की विकास यात्रा में प्रेमचन्द की भांति जयशंकर प्रसाद की एक निश्चित भूमिका है। उनकी कहानियों में व्यक्ति-मन के भावजगत में निहित प्रेम, करुणा, सहानुभूति, ईर्ष्या आदि वृत्तियों को चित्रित किया गया है। साथ ही व्यक्ति मन के भीतरी द्वन्द्व को भी उभारने की चेष्टा की गई है। उनके पात्र प्रेम और सौन्दर्य की चेतना लेकर अवतरित होते हैं। नारी पात्रों की सृष्टि में प्रसाद अद्वितीय हैं। इनके नारी पात्र निश्छल प्रेम, त्याग और बलिदान से पाठकों के मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं। 'आकाशदीप' की 'चंपा', 'पुरस्कार की मधूलिका' ऐसे ही नारी पात्र हैं। इस प्रकार प्रसाद का कथा-साहित्य मूलतः व्यक्ति मन के मंथन का परिणाम कहा जा सकता है।

## 27.8.3 यशपाल (1903-1976)

हिन्दी साहित्य में रूसो, वाल्टेयर और कार्ल मार्क्स के चिन्तन से प्रभावित जो समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों की धारा चली, यशपाल उस धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका मूल उद्देश्य सामाजिक वैषम्य का उद्घाटन करना है। अतः वे अपनी रचनाओं द्वारा इस विषमता के और पहलुओं (यथा धार्मिक, आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक) पर प्रहार करते चले जाते हैं।

उपन्यासकार के रूप में उन्होंने सामाजिक चेतना को अपने चिन्तन का विषय बनाया। इसमें मानव-विकास के चिन्तन और चेतना की ऐतिहासिकता विद्यमान है। इसी आधार पर उन्होंने मानव मात्र के धर्म, भाग्य एवं ईश्वर सम्बन्धी विश्वासों पर प्रश्न-चिन्ह लगाया और इन्हें पूंजीवादी सत्ता की देन मानकर इनका खण्डन किया।

'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें यशपाल ने गांधीवादी, पूंजीवादी और उग्रवादी विचारों का विरोध करके समाजवादी चिन्तन का समर्थन किया है। 'दिव्या', अमिता इनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं। झूठा सच (दो भाग) देश के विभाजन की समस्या पर लिखा एक बृहद् उपन्यास है। इस उपन्यास को यशपाल का कीर्ति-स्तम्भ माना जा सकता है। 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास भारत के स्वतन्त्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर काल के सामाजिक, राजनीतिक जीवन पर आधारित है। 'बारह घंटे' इनका एक भिन्न प्रकार का उपन्यास है।

यशपाल का कहानीकार अपने सम्पूर्ण परिवेश के प्रति सजग है। वे प्रगतिवादी विचारधारा के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। वह कहानी के माध्यम से मानव समाज की विकृतियों पर चोट करके, समाज में फैली कुत्सित घृणित प्रवृत्तियों को उभार कर उनके प्रति घृणा का भाव पैदा करके स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं।

'पिंजड़े की उड़ान', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', 'तर्क का तूफ़ान', 'भस्मावृत्त चिंगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'उत्तमी की मां', 'सच बोलने की भूल', 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूं' आदि यशपाल के पसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

## 27.8.4 वृन्दावन लाल वर्मा (1889-1969)

वृन्दावन लाल वर्मा ने प्रेमचन्द-युग से उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था। हिन्दी में शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना-परम्परा को आरम्भ करने का श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त है। उनके सामाजिक उपन्यासों में मानव-मनोविज्ञान और मानवीय संवेदनाओं को समझने एवं अभिव्यक्त करने का प्रयास दिखाई देता है। 'संगम', 'लगन', 'प्रत्यागत' और 'कुण्डली चक्र' इनके सामाजिक उपन्यास हैं। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'अहल्याबाई', 'माधोजी सिंधिया', 'भुवन विक्रम' आदि ऐतिहासिक उपन्यास हैं। अधिकांश उपन्यासों में बुंदेलखण्ड के अतीत गौरव को चित्रित किया गया है।

उपन्यासों के समान वर्मा जी की कहानियों को भी पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है। कहानियों का परिवेश अधिकतर ऐतिहासिक है।

## 27.8.5 जैनेन्द्र (1905-1989)

जैनेन्द्र मूलतः व्यष्टि-बोध के साहित्यकार हैं। उन्होंने प्रेमचन्द की सामाजिक दुनिया से हटकर व्यक्ति-मन की भीतरी गहराइयों में झांका। उनका सम्पूर्ण कथा-साहित्य व्यक्ति की व्यथा व व्यक्ति के आत्म-पीड़न से पूरित है क्योंकि वे यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति ही वह आधार बिन्दु है जिस पर समस्त जीवन की भित्ति स्थापित है। उन्होंने प्रेमचन्द-युग में ही हिन्दी उपन्यास को नई दिशा देने का सफल प्रयास किया। उन्होंने व्यापक सामाजिक जीवन को अपने उपन्यासों का विषय न बनाकर व्यक्ति-मन की शंकाओं, उलझनों और गुत्थियों का चित्रण किया है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी उपन्यास को सामाजिक यथार्थ ही नहीं मनोवैज्ञानिक यथार्थ के क्षेत्र में भी प्रवेश करने की राह दिखाई। परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, जयवर्धन, व्यतीत, विवर्त, सुखदा, मुक्तिबोध, दशार्क, अनाम स्वामी, अनन्तर आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

जैनेन्द्र के आगमन से हिन्दी कहानी-क्षेत्र में भी एक नवीन युग का उदय हुआ। उनकी अधिकांश कहानियां मनोविश्लेषणात्मक हैं। हिन्दी कहानी को उन्होंने एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। 'फांसी', 'स्पर्द्धा', 'एक रात', 'वातायन', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'दो चिड़ियां', 'उद्भ्रान्त' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी संकलन हैं। इनकी समस्त कहानियां 'जैनेन्द्र की कहानियां' में क्रमशः सात और दस भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

जैनेन्द्र की कहानियां सामाजिक परिवेश से सम्बन्ध रखते हुए भी सामाजिक यथार्थ की कहानियां न होकर व्यक्ति के अन्तर्मन और व्यक्ति के भीतरी यथार्थ की कहानियां हैं। अतः व्यष्टि-बोध के सन्दर्भ में जैनेन्द्र के कथा संसार को निश्चय ही एक विशिष्ट और अलग कथा-संसार की शुरुआत माना जा सकता है।

## 27.8.6 अज्ञेय (1911)

इनका जन्म सन् 1911 में कसया (देवरिया) में हुआ था। बी.एससी. तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् इन्होंने अंग्रेजी तथा हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया। संस्कृत साहित्य में भी इनकी विशेष रुचि थी। उनका जीवन यायावरी और क्रान्तिकारी रहा। यही कारण है कि वे किसी एक व्यवस्था से जुड़कर नहीं रह सके। हिन्दी साहित्य में वह कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, निबन्धकार तथा आलोचक के रूप में प्रख्यात हैं।

अज्ञेय, प्रेमचन्द परवर्ती साहित्य के प्रतिनिधि कथाकार हैं। इनका जीवन-दर्शन पाश्चात्य सिद्धान्तों विशेषतः फ्रायड और अस्तित्ववाद से प्रभावित है। ये प्रभाव उनके उपन्यासों में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। 'शेखर एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास में एक नया मोड़ आया। कथ्य, शिल्प और भाषा की दृष्टि से यह परम्परा से हटकर एक नवीन प्रयोग था। इसका मूल उद्देश्य था मुख्य पात्र शेखर की स्वतन्त्रता की खोज, व्यक्तित्व की खोज। 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी' इनके अन्य उपन्यास हैं। 'नदी के द्वीप' में एक व्यक्ति का अपने से साक्षात्कार मुख्य नहीं अपितु अलग-अलग पात्रों के व्यक्तित्व की खोज प्रमुख है। 'अपने-अपने अजनबी' में दर्शन, मनोविज्ञान और अस्तित्ववाद का सुन्दर समन्वय है। इनके कहानी-सृजन में युग की प्रायः समस्त प्रवृत्तियां अपनी सम्पूर्ण विशिष्टताओं के साथ प्रतिबिम्बित हुई हैं। भारतीय समाज की रूढ़िवादिता, शोषण, वर्तमान विश्व में व्याप्त संघर्ष सभी को लेकर उन्होंने अनेक मार्मिक कहानियां लिखीं। उनका प्रथम कहानी संग्रह 'त्रिपथगा' 1931 में छपा था। इनका चिन्तन बौद्धिक एवं दार्शनिक है और दृष्टि व्यक्तिपरक। इसलिए क्रान्तिकारी और विभाजन की कहानियों को छोड़कर शेष रचनाओं में उनकी दृष्टि व्यक्तिवादी तथा आत्मकेन्द्रित है। अज्ञेय अपने अनुभूत सत्य की व्याख्या बिम्बों व प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। कथा-विधान की पटुता, स्थिति की पहचान और व्यक्ति-जीवन की क्षण की अनुभूति का जो कौशल अज्ञेय में है, वह निश्चय ही अपूर्व है। कई बार कोई ऐसा ही अनुभूत क्षण कहानी का रूप धारण कर लेता है जो पाठक के मन में अनायास ही एक गहरा प्रभाव छोड़ देता है। 'रोज़' कहानी इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'कोठरी की बात', 'जयदोल', 'कड़ियां', 'परम्परा', 'त्रिपथगा', 'अमर वल्लरी', 'परम्परा', 'शरणार्थी', 'ये तेरे प्रतिरूप' आदि उनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

## 27.8.7 उपेन्द्रनाथ अश्क (1910)

उपेन्द्रनाथ अश्क प्रेमचन्द के समय से लिखते चले आ रहे हैं। वे भी पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में सन् 1933 से हिन्दी में लिखना शुरू किया। गत पचास वर्षों में हिन्दी साहित्य ने जो प्रगति की है उसके विकास की रेखा अश्क जी के साहित्य में स्पष्ट दिखाई देती है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, संस्मरण, निबंध सभी विधाओं में लिखकर ख्याति प्राप्त की है।

हिन्दी उपन्यास में निम्नमध्य और मध्यवर्गीय परिवारों के संस्कारों का जैसा यथार्थ चित्रण उपेन्द्रनाथ अश्क ने किया है, वह बेजोड़ है। 'गिरती दीवारें' उनका प्रसिद्ध उपन्यास है। यह उपन्यास मध्यवर्ग की विवशता का चित्रण करते हुए कई प्रकार की मध्यवर्गीय नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की प्रेरणा देता है। 'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्हीं कन्दील' तथा 'बांधो न नाव इस ठांव', इसी कड़ी में लिखे गए उपन्यास हैं जिन्हें 'गिरती दीवारें' के अगले खण्ड कहा जा सकता है। सितारों के खेल, गर्म राख, बड़ी-बड़ी आंखें, पत्थर-अल-पत्थर इनके अन्य उपन्यास हैं।

कहानी के क्षेत्र में भी अश्क का योगदान महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियों में सब प्रकार के विषय हैं और पात्रों में भी वैविध्य है। कथ्य में यथार्थ का विश्लेषण है। कुछ कहानियों में संवेदना इतनी गहरी है कि पाठक के मन पर चिरकाल तक इसका प्रभाव रहता है। 'डाची' इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी स्वीकार की जाती है। 'काले साहब', 'जुदाई की शाम का गीत',

'बैंगन का पौधा', 'दो धारा', 'पिंजरा',.'छींटे', 'पाषाण', 'निशानियां', 'अंकुर', 'चरवाहे' 'पलंग', 'आकाशचारी', 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल', इनके कहानी संग्रह हैं। इनकी श्रेष्ठ कहानियों का एक संकलन 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' भी प्रकाशित हो चुका है।

## 27.8.8 विष्णु प्रभाकर (1912)

विष्णु प्रभाकर विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न कलाकार हैं। यद्यपि इन्होंने हिन्दी साहित्य में नाटक, एकांकी आदि लिखकर विशेष ख्याति अर्जित की तथापि वे स्वयं को मूलतः कथाकार ही मानते हैं। पिछले पचास सालों से वे निरन्तर लिखते चले आ रहे हैं।

विष्णु प्रभाकर का अपने उपन्यासों में व्यक्त दृष्टिकोण स्वस्थ मानवतावादी एवं सृजनात्मक है। जीवन के स्वस्थ भाव-जगत से कथा-सूत्रों को चुनकर उन्होंने स्वस्थ व्यवहार दृष्टि से ही उसको विकसित किया है। इनके 'तट के बन्धन', 'निशिकांत', 'ढलती रात', 'स्वप्नमयी' उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'आवारा मसीहा' नामक रचना में इन्होंने औपन्यासिक शैली में बंगला कथाकार शरतचन्द्र के जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश डाला है। इस रचना के कारण उन्हें हिन्दी जगत में विशेष ख्याति मिली।

विष्णु प्रभाकर ने तीन सौ से भी ऊपर कहानियां लिखी हैं। कहानी के क्षेत्र में उनका विकास अप्रत्याशित है। यही कारण है कि वे पुरानी और नयी दोनों पीढ़ियों में समान रूप से लोकप्रिय हैं। उनके कई कहानी संकलन 'आदि और अन्त', 'रहमान का बेटा', 'जिंदगी के थपेड़े', 'संघर्ष के बाद', 'द्वन्द्व', 'मेरा वतन', 'धरती अब भी घूम रही है', 'खिलौने', 'पुल टूटने से पहले', 'मेरी प्रिय कहानियां' आदि प्रकाशित हो चुके हैं। 'धरती अब भी घूम रही है', उनकी सबसे अधिक चर्चित कहानी मानी जाती है। 'एक आसमान के नीचे' कहानी विष्णु प्रभाकर की कथा-यात्रा में एक मील का पत्थर है।

## 27.8.9 भीष्म साहनी (1915)

भीष्म साहनी प्रेमचन्द की परम्परा के कथाकार हैं। वे सामाजिक सोद्देश्यता और प्रयोजन के साहित्य में विश्वास रखते हैं। किन्तु उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त उन्हें नाटक लेखन में भी विशेष सफलता मिली है। 'झरोखे', 'कड़ियां', 'तमस', 'बासंती' और 'मैय्यादास की माड़ी' इनके उपन्यास हैं। उपन्यासों में उनकी कला में निरन्तर निखार आया है।

भीष्म साहनी की कहानियों में मूलतः मध्यवर्ग की विभिन्न समस्याओं का यथार्थ चित्रण मिलता है। प्रायः वे किसी न किसी सामाजिक विडम्बना पर प्रहार करते हैं। व्यंग्य और करुणा इनकी कहानियों के प्रमुख गुण हैं। बिम्बों और प्रतीकों के बिना सीधे-सादे सरल ढंग से पाठक के हृदय को द्रवित कर देते हैं। 'भटकती राख', 'भाग्य रेखा', 'पहला .ठ', 'पटरियां' और 'वाङ्चू' इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं।

## 27.8.10 अमृतलाल नागर (1916-1990)

स्वतन्त्रता के पश्चात् नवीन युग के उपन्यासकारों में नागर जी का नाम उल्लेखनीय है। इन्हें यथार्थवादी चेतना का प्रमुख उपन्यासकार कहा जाता है। वे व्यक्ति और समाज दोनों को साथ लेकर चलते हैं। इनके उपन्यासों में इतिहास, पुरातत्व और आधुनिकता का सुन्दर समावेश मिलता है। 'महाकाल' बंगाल में पड़ने वाले अकाल की पृष्ठभूमि पर आधारित इनका सर्वप्रथम उपन्यास है। 'नवाबी मसनद' और 'सुहाग के नूपुर' इनके दो ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'सेठ बांकेमल' सामाजिक व्यंग्य है। 'ये कोठेवालियां' वेश्या जीवन पर आधारित है। इसके अतिरिक्त 'बूंद और समुद्र' 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'एकदा-नैमिषारण्ये', 'मानस का हंस', 'खंजन नयन' और 'सात घूंघट वाला मुखड़ा', 'अग्नि गर्भा', 'करवट' 'पीढ़ियां' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।



अमृतलाल नागर यथार्थवादी लेखक हैं इसलिए कहानियों में मध्यवर्गीय संस्कारों और मनोवृत्तियों का उद्घाटन बड़े सहज रूप में कर लेते हैं।

### 27.8.11 फणीश्वरनाथ रेणु (1921)

फणीश्वरनाथ रेणु स्वातंत्र्योत्तर काल के सशक्त कथाकार हैं। इन्होंने हिन्दी में सही अर्थों में आंचलिक उपन्यास लिखे। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामांचलों के विशद चित्र देखने को मिलते हैं। 'दीर्घ तपा', 'कितने चौराहे', और 'जुलूस' बाद के उपन्यास हैं।

रेणु की सामाजिक चेतना नए-नए अंचलों की खोज में संलग्न रही। उनकी अधिकांश कहानियों में बिहार के गांवों का चित्रण मिलता है। ग्राम्य जीवन में जो नवीन मूल्य आ रहे हैं और प्रगतिशीलता के जो चिन्ह छिपे पड़े हैं उन्हें उभारने का रेणु ने विशेष प्रयत्न किया है। उनकी शैली में अपूर्व प्रवाह और एक मादक संगीत है। 'तीसरी कसम', कहानी इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'ठुमरी' और 'एक श्रावणी दोपहर की धूप' इनके कहानी संग्रह हैं।

### 27.8.12 नागार्जुन (1910)

नागार्जुन हिंदी साहित्य के सशक्त कथाकार और कवि हैं। उनका असली नाम वैद्यनाथ मिश्र है। "नागार्जुन" और "यात्री" उनके साहित्यिक नाम हैं। उनका जन्म तरौनी (ज़िला दरभंगा, बिहार) में 1910 में हुआ था। ये प्रगतिवादी विचारधारा के लेखक और कवि हैं। उनके उपन्यासों में प्रमुख हैं: रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नयी पौध, बाबा बटेसर नाथ, दुखमोचन और वरुण के बेटे। इन औपन्यासिक रचनाओं में नागार्जुन सामाजिक समस्याओं से जूझते दीख पड़ते हैं। जनपदीय संस्कृति और लोक-जीवन उनकी कथा-सृष्टि का चौड़ा फलक है। उन्होंने कहीं तो आंचलिक परिवेश में किसी ग्रामीण परिवार के सुख-दुःख की कहानी कही है, कहीं मार्क्सवादी सिद्धांतों की झलक देते हुए सामाजिक आंदोलनों का समर्थन किया है।

### 27.8.13 मोहन राकेश (1925-1972)

मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर युग के सजग कलाकारों में प्रमुख हैं। नाटक के क्षेत्र में इन्हें विशेष ख्याति मिली। किन्तु इसके साथ ही वे एक सफल उपन्यासकार व कहानीकार भी माने जाते हैं। इन्होंने अपने युग की धड़कन को पहचाना और उसे अपने साहित्य में रूपाकार किया। उनकी रचना दृष्टि का सीधा सम्बन्ध आसपास जिए जा रहे जीवन के साथ तथा इस जीवन की विडम्बनाओं को झेलते हुए व्यक्ति के साथ रहा। किन्तु इस व्यक्ति को उन्होंने एक कटी हुई इकाई के रूप में कभी नहीं देखा क्योंकि वह व्यक्ति अपने समाज का एक अविभाज्य अंग है। 'अंधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों का शिल्प एवं कथ्य के धरातल पर अलग-अलग महत्व है।

मोहन राकेश को नई कहानी का प्रवर्तक माना जाता है। इनकी पहली कहानी 'दोराहा' सन् 1947 में सरिता में छपी थी। इसके पश्चात् उन्होंने बहुत सी कहानियां लिखीं और निरन्तर नये संदर्भों की खोज की। इनकी कहानियों में कथ्य के नये-नये कोण उभरकर आते हैं और शिल्प के साथ गुंफित होकर संवेदना के स्तर पर बहुत बड़ी बात कह जाते हैं। 'इन्सान के खण्डहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी', 'फौलाद का आकाश', इनके प्रकाशित कहानी संग्रह हैं।

### 27.8.14 मन्नू भण्डारी (1931)

आज की महिला लेखिकाओं में मन्नू भण्डारी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में जीवन की जटिल और गहरी सच्चाइयों का साक्षात्कार करने की चेष्टा की। 'आपका बंटी' और 'महाभोज', इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'एक इंच मुस्कान' नामक उपन्यास की रचना इन्होंने अपने पति राजेन्द्र यादव के साथ मिलकर की।

मन्नू भण्डारी ने अपनी कहानियों में नारी के इर्द-गिर्द बुने नैतिकता के जाल और प्रतिष्ठित सामाजिक मान्यताओं को तोड़ने की चेष्टा की। उन्होंने नारी के मौलिक व्यक्तित्व का अन्वेषण कर उसे यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी कहानियों में पुराने प्रेम-तिकोन को भी एक नयी दृष्टि दी। 'यही सच है' और 'ऊंचाई' नामक कहानियां इसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। 'यही सच है', 'एक प्लेट सैलाब', 'तीन निगाहों

की एक तस्वीर', इनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

**बोध प्रश्न**

11. निम्नलिखित में से जो उपयुक्त एवं संगत नहीं, उसके आगे [ x ] चिन्ह लगायें–

(क) नयी कहानी के प्रवर्तक थे–

i) मोहन राकेश [ ]
ii) कमलेश्वर [ ]
iii) राजेन्द्र यादव [ ]
iv) उपेन्द्रनाथ अश्क [ ]

(ख) निम्नलिखित लेखकों की कहानियों में सामाजिक चेतना है–

i) यशपाल [ ]
ii) अज्ञेय [ ]
iii) भीष्म साहनी [ ]
iv) अमरकान्त [ ]

(ग) ग्रामांचल कहानियों के लेखक हैं–

i) रेणु [ ]
ii) शैलेश मटियानी [ ]
iii) शिवप्रसाद सिंह [ ]
iv) निर्मल वर्मा [ ]

12. निम्न उपन्यासों के रचनाकारों के नाम लिखो–
बासंती, बूंद और समुद्र, बड़ी-बड़ी आंखें, आपका बंटी, गढ़ कुंडार।

.....
.....
.....
.....
.....

13. हिन्दी कहानी से संबंधित आन्दोलनों के नाम लिखो।

.....
.....
.....
.....
.....

14. (क) प्रेमचन्द की पांच प्रसिद्ध कहानियों के नाम लिखो।

.....
.....
.....
.....
.....

(ख) यशपाल के चार उपन्यासों के नाम लिखो।

.....
.....
.....
.....

(ग) मन्नू भण्डारी की दो प्रसिद्ध कहानियों के नाम लिखो।

.....
.....

## 27.9 सारांश

आपने हिन्दी कथा साहित्य: उपन्यास एवं कहानी की इस इकाई को ध्यानपूर्वक पढ़ लिया होगा। इस अध्ययन से आपने भली-भांति जान लिया होगा कि उपन्यास और कहानी दोनों कथा-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु दोनों का स्वरूप भिन्न है। हिन्दी साहित्य में पहले उपन्यास का विकास हुआ और बाद में कहानी का। इसके पश्चात् दोनों धाराएं समानान्तर चलती रहीं। बहुत से लेखक ऐसे हैं जिन्होंने उपन्यास भी लिखे और कहानियां भी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर आज तक कथा-साहित्य ने कितना विकास किया, कितनी बार नये-नये मोड़ लिये और आज कैसे साहित्य की यह विधा हमारे जन-जीवन से जुड़ी हुई है इसका आपको भली भांति ज्ञान हो गया होगा।

आपने उपन्यास का विकास पढ़ते हुए यह जान लिया होगा कि प्रारंभिक उपन्यासों में घटना, चमत्कार और कौतूहल का प्राधान्य था। तत्पश्चात् जीवन-यथार्थ का निरूपण और व्यक्ति चरित्र की अनेक परतों का उद्घाटन महत्वपूर्ण हो गया। आज उपन्यास जीवन के सच्चे स्वरूप का चित्रण करने में प्रयत्नशील है।

कहानी के उद्भव के समय ही दो धाराएं स्पष्ट दिखाई देने लगीं—एक सामाजिक जीवन का उद्घाटन करने वाली और दूसरी व्यक्ति-सत्य का। किन्तु समय के साथ सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने वाली धारा ही बलवती रही। यहां तक कि नई कहानी में प्रामाणिक अनुभूति का महत्व दिया गया। आज कहानी-जीवन का एक सच्चा दस्तावेज़ मानी जाती है।

## 27.10 शब्दावली

**क्रोड़:** गर्भ

**जिजीविषा:** जीने की इच्छा

**प्रवृत्यात्मक:** प्रवृत्ति के अनुसार

**मद्यप:** नशा करने वाला

**व्यष्टि:** वैयक्तिक

## 27.11 उपयोगी पुस्तकें

हिन्दी साहित्य का इतिहास—संपादक डॉ. नगेन्द्र
हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां—डॉ. शिवकुमार
बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य: नये सन्दर्भ—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय।
हिन्दी साहित्य का इतिहास: रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां: जयकिशन प्रसाद
हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास (द्वि. खण्ड)—डॉ. तिलकराज शर्मा।

## 27.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. परीक्षा गुरु
2. चन्द्रकांता संतति

3. (क) सेवासदन, (ख) ग़बन, (ग) निर्मला, (घ) गोदान

4. देवकीनन्दन खत्री – चन्द्रकान्ता संतति
   यशपाल – दादा कामरेड
   अज्ञेय – –शेखर एक जीवनी
   उपेन्द्रनाथ अश्क – गिरती दीवारें
   भगवतीचरण वर्मा – चित्रलेखा
   वृन्दावनलाल वर्मा – मृगनयनी

5. सामाजिक, सामाजिक यथार्थवाद, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आंचलिक, प्रयोगशील, आधुनिकता बोध।

6. (क) यशपाल
   (ख) अमृतलाल नागर
   (ग) फ़णीश्वर नाथ रेणु
   (घ) अज्ञेय
   (ङ) मन्नू भण्डारी
   (च) श्रीलाल शुक्ल
   (छ) भीष्म साहनी

7. (क) समाजवादी यथार्थवाद
   (ख) मनोवैज्ञानिक
   (ग) मनोवैज्ञानिक
   (घ) समाजवादी यथार्थवाद
   (ङ) समाजवादी यथार्थवाद
   (च) मनोवैज्ञानिक

8. (क) मिट्टी भर टोकरी
   (ख) प्रेमचन्द
   (ग) ग्राम
   (घ) उसने कहा था
   (ङ) अज्ञेय

9. (ग)
   (घ)

10. प्रेमचन्द कफ़न
    जयशंकर प्रसाद आकाशदीप
    जैनेन्द्र पाजेब
    अज्ञेय रोज़
    यशपाल करवा का व्रत

11. (क) उपेन्द्रनाथ अश्क
    (ख) अज्ञेय
    (ग) निर्मल वर्मा

12. बासंती – भीष्मसाहनी
    बूंद और समुद्र – अमृतलाल नागर
    बड़ी-बड़ी आंखें – उपेन्द्रनाथ अश्क
    आपका बंटी – मन्नू भण्डारी
    गढ़ कुंडार – वृन्दावनलाल वर्मा

13. नयी कहानी, समांतर कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, अचेतन कहानी, सक्रिय कहानी।

14. (क) पंच परमेश्वर, बूढ़ी काकी, शतरंज के खिलाड़ी, कफ़न, पूस की रात।
    (ख) दादा कामरेड, दिव्या, झूठा सच, बारह घंटे।
    (ग) 'यही सच है', 'उंचाई'।

# इकाई 28 नाट्य साहित्य

रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 हिंदी नाटक का उदय
28.3 प्रसाद पूर्व हिंदी नाटक
28.3.1 भारतेंदु युगीन नाटक
28.3.2 द्विवेदी युगीन नाटक
28.4 प्रसाद युगीन हिंदी नाटक
28.4.1 प्रसाद के नाटक
28.4.2 प्रसाद के समकालीन
28.5 प्रसादोत्तर स्वतंत्रता पूर्व हिंदी नाटक
28.6 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक
28.7. नाटक विधा के विभिन्न रूप
28.7.1 हिन्दी गीति नाट्य
28.7.2 हिन्दी एकांकी
28.7.3 रेडियो नाटक
28.7.4 नुक्कड़ नाटक
28.8 नाटक और रंगमंच
28.8.1 स्वतंत्रता पूर्व हिंदी रंगमंच का विकास
28.8.2 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच का विकास
28.9 सारांश
28.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.11 बोध-प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 28.0 उद्देश्य

आप हिंदी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय पाठ्यक्रम के अंतर्गत हिंदी नाट्य साहित्य का परिचय प्राप्त करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- हिंदी नाट्य साहित्य का विवरण प्रस्तुत कर सकेंगे,
- हिंदी नाटकों में पनपी विभिन्न प्रवृत्तियों की विशेषताएं बता सकेंगे,
- गीति नाट्य क्या हैं—यह बता सकेंगे,
- हिंदी एकांकी के विकास का वर्णन प्रस्तुत कर सकेंगे,
- हिंदी नाटकों में जो नयी विधाएं विकसित हो रही हैं—जैसे रेडियो नाटक, दूरदर्शन नाटक और नुक्कड़ नाटक, उनकी विशेषताएं बताते हुए उनके विकास का विवरण दे सकेंगे, तथा
- हिंदी रंगमंच के विकास के बारे में बता सकेंगे।

## 28.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई 27 में आपने हिंदी कथा साहित्य (कहानी एवं उपन्यास) के बारे में पढ़ा। इस इकाई में हम आपको हिंदी नाट्य साहित्य के इतिहास के बारे में बतायेंगे। इस इकाई के अध्ययन से आप तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में हिंदी नाटक का विकास जान पायेंगे।

नाटक दृश्य काव्य है। इसका अर्थ यह है कि नाटक का आनंद पढ़कर भी लिया जा सकता है और देखकर भी। नाटक का लेखन रंगमंच पर उसकी प्रस्तुति के लिए होता है।

हिंदी में नाट्य विधा का विकास बहुत पुराना नहीं है। रंगमंच का विकास तो और भी नया है। इस इकाई में हम आपको नाटक और रंगमंच दोनों का विकास बताएंगे। इस इकाई में आप प्रमुख नाटककारों और उनके नाटकों की जानकारी भी प्राप्त कर सकेंगे।

हिंदी नाटकों में जो नयी विधाएं विकसित हो रही हैं—जैसे रेडियो नाटक और नुक्कड़ नाटक, इनके बारे में भी आपको बताया जायेगा। नाटक की एक प्रमुख विधा एकांकी के विकास का भी परिचय दिया जाएगा।

## 28.2 हिंदी नाटक का उदय

हिंदी नाट्य साहित्य का आरंभ आधुनिक काल (लगभग 19वीं शताब्दी) से हुआ है। हिंदी से पूर्व संस्कृत और प्राकृत की समृद्ध नाट्य परंपरा थी लेकिन हिंदी नाटकों का विकास आधुनिक युग में ही संभव हो सका। इसका कारण शायद यह था कि संस्कृत नाटकों के युग के बाद रंगमंच का विकास न हो सका।

मध्यकाल में लीलाओं—रासलीला, रामलीला, नौटंकी आदि का उदय होने से जन-नाटकों का प्रचलन बढ़ा। इन जन-नाटकों या लीलाओं में गीत और नृत्य की अधिकता रहती थी और गद्य का बहुत कम प्रयोग होता था। बीच-बीच में किसी एक व्यक्ति द्वारा पात्र-परिचय दिया जाता था तथा घरेलू ढंग का कामचलाऊ रंगमंच हुआ करता था। ये लोक नाटक जन-समूह के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

आधुनिक काल से पूर्व सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के लगभग कुछ ऐसे नाटक भी उपलब्ध हैं जो ब्रजभाषा में रचित हैं। ये नाटक दो प्रकार के हैं। (1) मौलिक और (2) अनूदित। मौलिक नाटकों में प्राणचंद चौहान का "रामायण महानाटक", कृष्ण जीवन लछिराम का "करूणाभरण", उदय कवि का "हनुमान नाटक", महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद रघुनंदन" और गोपाल चंद्र गिरधरदास का "नहुस" नाटक हैं। इनमें "आनंद रघुनंदन" के अतिरिक्त शेष सभी नाटक पद्यात्मक और वर्णनात्मक हैं। केवल "आनंद रघुनंदन" (1700 ई.) नाटक गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में है। यह हिंदी नाटक साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। क्योंकि इसके अंतर्गत राम का संपूर्ण जीवन संक्षेप में चित्रित है। कथोपकथन, रंगसंकेत, अंक विभाजन, आदि के प्रयोग के कारण रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिंदी का प्रथम मौलिक नाटक कहा है।

इन सभी ब्रजभाषा नाटकों पर संस्कृत नाट्य साहित्य की स्पष्ट छाप नज़र आती है। संस्कृत नाटकों की तरह ही इनकी कथावस्तु का आधार धार्मिक पौराणिक आख्यान हैं। इन नाटकों में पद्यात्मक संवाद अधिक हैं। पौराणिक गाथाओं में शृंगारिक भावना का प्रयोग इस युग की मूल मनोवृत्ति प्रतीत होती है। भले ही आज की दृष्टि से ब्रजभाषा नाटक "नाट्य" की सभी मांगों और रीतियों को पूरा न करते हों, किंतु वे हिंदी नाटक का "पूर्व रूप" अवश्य कहे जा सकते हैं। हिंदी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उनके द्वारा हिंदी साहित्यकारों के हृदय में नाटक को कलात्मक एवं विकसित स्वरूप देने की कामना निरंतर बनी रही।

दूसरी ओर अनूदित नाटकों में मुख्यतः महाराज यशवंत सिंह द्वारा अनूदित "प्रबोध चंद्रोदय", नेवाज़ कवि का "शकुंतला नाटक" और सोमनाथ माथुर का "माधव विनोद" इत्यादि हैं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पारसी थियेट्रिकल कंपनियां अस्तित्व में आ चुकी थीं और इनका प्रमुख उद्देश्य विभिन्न नाटकों द्वारा जनता का मनोरंजन करना था। इनके नाटकों के कथानक कभी रामायण-महाभारत से, कभी पारसी प्रेमकथाओं से और कभी अंग्रेजी नाटकों "हैमलेट", "रोमियो जूलियट" आदि से लिये जाते थे। इनमें बचकाने नृत्य, स्थान-स्थान

पर गीत, शेरो-शायरी, ग़ज़ल आदि का समावेश रहता था। ऐसा ही नाटक अमानत द्वारा लिखित "इंदरसभा" (1853 ई.) है। इसकी भाषा हिंदी-उर्दू मिश्रित है। "आपेरा" के समान इस नाटक का अधिकांश भाग गीतों से भरा पड़ा है। गीतों में ब्रजभाषा अवधी और खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में संवादों का समावेश है तथा प्रत्येक पात्र रंगमंच पर आकर अपना परिचय स्वयं देता है। उस जमाने में यह नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ और हिंदी नाट्य जगत पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसें नाटकों द्वारा उत्पन्न कलाहीन और असंस्कृत वातावरण से क्षुब्ध होकर भारतेंदु ने हिंदी नाटक को साहित्यिक और कलात्मक रूप देने का प्रयास किया। उनके द्वारा स्थापित की गयी नाटक और रंगमंच की परम्परा को ही जयशंकर प्रसाद ने नया स्वरूप और नयी दिशा प्रदान की। चूंकि हिंदी साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रसाद का अमूल्य योगदान रहा है, उन्हें ही केंद्र में रखकर अध्ययन की सुविधा के लिए हिंदी नाट्य-साहित्य को हम विभिन्न युगों में बांट सकते हैं —

- प्रसाद पूर्व हिंदी नाटक (भारतेंदु युगीन नाटक, द्विवेदी युगीन नाटक)
- प्रसाद युगीन हिंदी नाटक
- प्रसादोत्तर स्वतंत्रता पूर्व हिंदी नाटक
- स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक

**बोध प्रश्न**

**नोट:** नीचे दिये गये प्रश्नों का सही उत्तर दीजिये और अपने उत्तर इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से मिलाइये।

1. हिंदी नाटकों से पूर्व नाटकों की कुछ विशेषताएं नीचे बतायी गयी हैं, उनमें से कौन सी विशेषता उन पर लागू नहीं होती?
   (क) कथावस्तु का आधार धार्मिक-पौराणिक आख्यान हैं।
   (ख) इन नाटकों का मूल उद्देश्य जन सामान्य को जागृत करना, उसमें आत्म-विश्वास जगाना था।
   (ग) इन नाटकों में पद्यात्मक संवाद अधिक हैं।
   (घ) घरेलू ढंग का कामचलाऊ रंगमंच हुआ करता था।
2. हिंदी नाट्य-साहित्य को कितने युगों में बांट सकते हैं?
   (क) .....
   (ख) .....
   (ग) .....
   (घ) .....

**अभ्यास**

1. हिंदी नाट्य-साहित्य के आरंभ के बारे में अधिक-से-अधिक दस पंक्तियों में लिखें।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 28.3 प्रसाद पूर्व हिंदी नाटक

प्रसाद युगीन नाटकों पर चर्चा से पहले प्रसाद पूर्व लिखे गये हिंदी नाटकों पर बात करना आवश्यक हो जाता है। इन्हें दो प्रमुख काल खंडों में विभाजित किया जा सकता है:–

- भारतेंदु युगीन नाटक
- द्विवेदी युगीन नाटक

### 28.3.1 भारतेंदु युगीन नाटक (1850 से 1900 ई.)

भारतेंदु युग हिंदी नाट्य-साहित्य का प्रथम चरण है। यह युग परिवर्तनशीलता का युग संपूर्ण भारतीय समाज राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिवर्तनों के दौर से गुज़र रहा था। एक ओर ऐसा वर्ग था जो प्राचीनता और रूढ़िवादिता, धार्मिक अंधविश्वासों, कुरीतियों, छुआछूत आदि के खिलाफ़ था तथा देश में ब्रिटिश-शासन होने के कारण फैल रही पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति आदि से बहुत अधिक प्रभावित हो रहा था। दूसरी ओर ऐसा वर्ग भी था जो नवीनता और पाश्चात्य प्रभाव का घोर विरोधी था। साहित्य क्षेत्र में बंगला साहित्य समृद्धि पर था, अंग्रेजी साहित्य का परिवर्तनशील और विकसित स्वरूप भारतीयों के सामने उभर रहा था और संस्कृत साहित्य की मज़बूत आधारशिला विद्यमान थी। अतः आवश्यकता थी नयी मान्यताएं, नये आदर्श स्थापित करने, तथा सृजनात्मक दृष्टिकोण की नींव डालने की। यही कार्य भारतेंदु ने किया। हिंदी नाट्यकला के प्रवर्त्तक के रूप में भारतेंदु ने जो नेतृत्व किया, उसकी छाया में नाटककारों का एक मंडल साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुआ। अनेक तो भारतेंदु के सम्पर्क से उत्साहित होकर ही नाटककार बने। भारतेंदु युग के नाटकों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ ही जनसामान्य को जागृत करना, उसमें आत्मविश्वास जगाना था। यही कारण है कि इनमें सत्य, न्याय, त्याग, उदारता जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम ज़गाने, पुराण और इतिहास के अनुकरणीय पात्रों के प्रति समाज को आकृष्ट करने और पश्चिम के ग़लत प्रभावों से समाज को बचाये रखने का प्रयास भी इन नाटकों में हुआ है।

भारतेंदु काल में रचित नाटकों को विषय एवं प्रवृत्ति भेद के आधार पर पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रतीकात्मक और प्रहसन–इन वर्गों में रखा जा सकता है। सबसे अधिक संख्या पौराणिक नाटकों की है, जिनके कथानक कृष्ण, राम और अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं।

भारतेंदु युग के कुछ उल्लेखनीय नाटक हैं–देवकीनंदन खत्री कृत "सीताहरण" (1876), शीतला प्रसाद त्रिपाठी का "रामचरितावली", भारतेंदु का "चंद्रावली", "सत्यहरिशचंद्र" "भारत दुर्दशा", श्री निवास दास कृत "प्रहलाद चरित्र" (1888) "रणधीर प्रेममोहिनी" (1877), बालकृष्ण भट्ट का "नलदमयंती स्वयंवर" (1895) "नया रोशनी का विष" (1884), राधाचरण गोस्वामी का "अमर सिंह राठौर" (1895), राधाकृष्ण दास का "दुखिनी बाला" (1892)। इस युग में प्रतीक नाटक अधिक नहीं लिखे गये। कमला चरण मिश्र का "अद्भुत नाटक" (1885), रतनचंद का "न्याय सभा" (1892), और शंकरानंद कृत "विज्ञान" (1897) नाटक उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में भावों एवं मनोवृत्तियों को ही पात्रों का रूप दिया गया है।

भारतेंदु युग में प्रहसन अधिक संख्या में लिखे गये। इन प्रहसनों में हास्य-व्यंग्य पूर्ण शैली में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक कुरीतियों, कुप्रथाओं, और अंधविश्वासों का मज़ाक उड़ाया गया है। उदाहरण के लिए, देवकीनंदन त्रिपाठी कृत "जय नारसिंह की", "कलजुगी जनेऊ", "वेश्या विलास", राधाचरण गोस्वामी के "बढ़े मुंह मुंहासे" और "तन मन धन गुसाईं जी के अर्पन" तथा भारतेंदु कृत "वैदिकी हिंसा हिसा न भवति" (1873) और "अंधेर नगरी" (1881)।

भारतेंदु युग के नाटकों में चरित्र-सृष्टि में प्राचीन और नवीन शैलियों का सामंजस्य दिखाई

देता है। जो नाटक संस्कृत नाट्य शैली से प्रभावित हैं उनके पात्र आदर्श आधारित हैं। जबकि नवीन शैली में लिखे गये नाटकों में पात्र जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नज़र आते हैं।

शिल्प की दृष्टि से इस युग के नाटयकारों ने तो प्राचीन नाट्य शास्त्र की जटिलता से अपने को आबद्ध ही किया है, और न ही अंग्रेज़ी परंपरा की नकल ही उतारी है। उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। नाटक अंकों में विभाजित हैं। पाश्चात्य ट्रेजेडी की पद्धति पर दुखांत नाटक लिखने की परंपरा का आरंभ स्वयं भारतेंदु ने ही किया था। उनका "नीलदेवी" नाटक तथा श्री निवासदास का "रणधीर प्रेममोहिनी" नाटक दुखांत है।

शैली की दृष्टि से भी इस युग के नाटक विविधता लिये हुए हैं। व्यंग्यात्मक शैली में लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों का प्रयोग बड़ी सुंदरता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए "भारत दुर्दशा" नाटक। इस युग के नाटकों में कथोपकथन और भाषा का स्वरूप पात्रानुकूल है। यद्यपि संस्कृत नाटकों के लंबे या काव्यात्मक संवादों का प्रभाव इन पर भी पड़ा है। कथोपकथनों के मध्य कहीं-कहीं मुहावरों, लोकोक्तियों, सूक्तियों, संस्कृत श्लोकों तथा अवधी, ब्रजभाषा के कवित्त और छंदों का प्रयोग भी किया गया है। भारतेंदु युगीन नाटकों में जहां एक ओर बोल-चाल की सरल और जनभाषा का प्रयोग है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक भाषा का भी प्रयोग किया गया है।

अनूदित नाटक–हिंदी नाट्य-साहित्य की समृद्धि के लिए इस युग के नाटककारों ने संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी भाषाओं के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किये। संस्कृत भाषा से भवभूति और कालिदास के नाटकों के अनुवाद अधिक हुए। इनमें लाला सीताराम द्वारा "मालविकाग्निमित्र"; राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा "अभिज्ञान शाकुंतल" तथा अम्बिकादत्त व्यास द्वारा "वेणीसिंहार" का अनुवाद सफल और सुंदर माना जाता है। क्योंकि इनमें मूल नाटकों के सौंदर्य और प्रभाव को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

बंगला से सबसे अधिक अनुवाद माइकेल मधुसूदन के नाटकों के हुए। इसके अतिरिक्त द्विजेंद्रलाल राय, मनमोहन बसु, राजकिशोर डे, और द्वारिकानाथ गांगुली के नाटकों का भी अनुवाद किया गया। इस युग में बंगला से हिंदी में अनुवाद करने वालों में रामकृष्ण वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। कुछ अनूदित नाटक इस प्रकार हैं, "कृष्ण मुरारी", "वीर नारी", "विद्या सुंदर", "पद्मावती" आदि।

अंग्रेज़ी से सर्वाधिक अनुवाद शेक्सपियर के नाटकों के हुए। ये नाटक हैं "मर्चेंट ऑफ़ वेनिस" (वेनिस का व्यापारी), "दी कामेडी ऑफ़ एरर्स" (भ्रमजालक), "रोमियो जूलियट" (प्रेम लीला), "मैकबेथ" आदि।

भारतेंदु युग के प्रमुख नाटककार हैं–भारतेंदु हरिश्चंद्र, श्री निवास दास, पं. बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास और अम्बिकादत्त व्यास। इन सभी नाटककारों ने भारतेंदु का ही अनुसरण किया है।

भारतेंदु इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार थे। उन्होंने अपने कई नाटकों का मंचन स्वयं किया और भूमिका भी अदा की। निम्नलिखित कारणों से भारतेंदु को हिंदी का प्रथम नाटककार, युग प्रवर्त्तक स्वीकार करना पड़ता है–

- पहली बार उन्होंने हिंदी गद्य में अनेक विषयों के मौलिक नाटकों की रचना की तथा कथानक के क्षेत्र में वे अनेकरूपता और विविधता लाये।
- पहली बार शिष्ट हास्य-व्यंग्य प्रधान प्रहसन लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया।
- पहली बार भारतीय जीवन की यथार्थता के विविध नवीन पक्षों का उद्घाटन किया। तथा विकास की ओर अग्रसर नयी प्रवृत्तियों का चित्रण किया।
- पहली बार हिंदी रंगमंच की स्थापना का प्रयास किया।
- अनेक भाषाओं से नाटकों का सुंदर अनुवाद किया।
- संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी नाट्य कला का समन्वय कर हिंदी की स्वतंत्र नाट्य कला की नींव डाली।

भारतेंदु ने अनूदित और मौलिक दोनों मिलाकर लगभग सत्रह नाटकों का सृजन किया। ये नाटक हैं–"विद्यासुंदर" (सन् 1868), "रत्नावली" (1868), "पाखंड विडम्बन"

(1872), "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" (1873), धनंजय विजय (1873), "प्रेम जोगिनी" (1874), "सत्य हरिश्चंद्र" (1875), "गुप्तराक्षस" (1875), "कर्पूर मंजरी" (1876), "विषस्य विषामौषधम्" (1876), "श्री चंद्रावली" (1876), "भारत दुर्दशा" (1876), "भारत जननी" (1877), "नीवदेवी" (1880), "दुर्लभबंधु" (1880), "अंधेर नगरी" (1861), "सतीप्रताप" (1884)। उपर्युक्त नाटकों में "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति", विषस्य विषमौषधम्", "अंधेर नगरी", "भारत दुर्दशा", "नीलदेवी", "प्रेमजोगिनी", "चंद्रावली" और "सती प्रताप" मौलिक नाटक हैं।

इस प्रकार अनेक बाधाओं, कांठनाइयों और विरोधों के बीच भारतेंदु ने हिंदी नाटक की नींव डालने का दुर्लभ कार्य किया, उसे एक निश्चित रूप प्रदान किया। अपने नाटकों में कला की ऊंचाइयों को न छू पाने पर भी हिंदी नाटक का स्वरूप निर्माण किया। उनकी निर्भीकता, अदम्य साहस और उनका "सुधारक" रूप हिंदी नाट्य साहित्य में अपनी अमिट छाप छोड़ गया।

## 28.3.2 द्विवेदी युगीन नाटक (1990 से 1925 ई.)

हिंदी के मौलिक साहित्यिक नाटकों की दृष्टि से भारतेंदु के बाद एक ठहराव सा आ गया। उनके परवर्ती नाटककारों में कोई भी इतनी विशिष्ट प्रतिभा और नाटकीय कौशल से सम्पन्न न था जो इस युग में भारतेंदु के स्थान को ग्रहण करता। जबकि तत्कालीन परिस्थितियों से टक्कर लेने के लिये भारतेंदु जैसे व्यक्तित्व की ही अपेक्षा थी। विविध आंदोलनों के कारण नाटककारों का मन-मस्तिष्क प्रचार और सुधार भावना की ओर लगा हुआ था। दूसरी ओर पश्चिमी विचारधारा तथा नाट्यकला संबंधी मान्यताओं की जो बाढ़ आ रही थी, उसके अनुकूल नाट्य रचना न हो सकी। भारतेंदु ने हिंदी रंगमंच की स्थापना का जो कार्य आरंभ किया, वह भी आगे न बढ़ सका। परिणामस्वरूप जनता व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों में अधिक रूचि लेने लगी।

द्विवेदी युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचकारी आदि विभिन्न विषयों पर नाटक लिखे गये। कुछ प्रहसन भी लिखे गये। ये सभी नाटक राष्ट्रीय चेतना और समाजसुधार की भावना से लिखे गये। पौराणिक नाटकों में पौराणिक आख्यानों और चरित्रों के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति ही झलकती है। नाट्य कला का विकास इनमें नहीं मिलता और अभिनय तत्व भी नहीं के बराबर है। इस युग के कुछ नाटक हैं—बनवारी लाल का "कंसवध" (1909), नारायण सहाय का "रामलीला" (1911), लक्ष्मीप्रसाद का "उर्वशी" (1910), जयशंकर प्रसाद का "करूणालय" (1912), "राज्यश्री" (1915), बद्रीनाथ भट्ट का "कुरुवन दहन" (1915), "चंद्रगुप्त" (1915), वृंदावनलाल का "सेनापति ऊदल" (1909), प्रतापनारायण मिश्र का "भारत दुर्दशा", भगवती प्रसाद का "वृद्ध विवाह" (1905), मिश्रबंधु का "नेत्रोन्मीलन" (1915) आदि।

द्विवेदी युग में पारसी रंगमंच को दृष्टि में रखकर रोमांचकारी नाटक भी लिखे गये। इनकी विषयवस्तु फ़ारसी प्रेमाख्यानों और पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। ये नाटक "कोरस" से आरंभ होते थे और प्रमुख कथा के समानान्तर एक "प्रहसन" भी चलता था जो दर्शकों को हंसाने या फिर मूल नाटक की भावधारा में परिवर्तन करने के लिये प्रयुक्त होता था। इन नाटकों की भाषा पहले उर्दू-फ़ारसी मिश्रित हुआ करती थी। बाद में साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियां "रौनक", सैयद मेंहदी हसन" "अहसान", नारायण प्रसाद "बेताब", आगा मोहम्मद "हश्र" और राधेश्याम कथावाचक प्रमुख हैं।

द्विवेदी युगीन प्रहसनों में बद्रीनाथ भट्ट का "चुंगी की उम्मीदवारी" (1912), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का "उलटफेर" (1918) और "नोक झोंक" (1918) उल्लेखनीय हैं।

अनूदित नाटक—इय युग में संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला भाषा से कुछ नाटकों के अनुवाद भी किये गये हैं। संस्कृत से श्री सदानंद अवस्थी ने "नागानंद" (1906), लाला सीताराम ने "मृच्छकटिक" (1913) और कविरत्न सत्य नारायण ने "उत्तर रामचरित" का अनुवाद किया। अंग्रेज़ी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार मोलियर के नाटकों का अनुवाद अंग्रेज़ी के माध्यम से किया। बंगला भाषा से बृजनंदन.

सहाय ने कुछ नाटकों का अनुवाद किया। इन अनूदित नाटकों में मूल नाटकों की आत्मा सुरक्षित नहीं रह सकी है।

द्विवेदी युग के नाटक पारसी थियेटर के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों पर भी पारसी थियेटर का प्रभाव है।

**बोध प्रश्न**

3) किन कारणों से भारतेंदु हरिश्चंद्र को हिंदी का प्रथम नाटककार स्वीकार किया जाता है। कोई चार कारण बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारतेंदु काल में रचित नाटकों के विषय एवं प्रवृत्ति के आधार पर कितने भेद हो सकते हैं?

.....

.....

5) कुछ नाटककारों के नाम नीचे दिये गये हैं। उनमें से भारतेंदु युग के नाटककारों पर सही[ ✓ का निशान लगाइये।

(क) बालकृष्ण भट्ट [ ]
(ख) लक्ष्मीनारायण मिश्र [ ]
(ग) सुदर्शन [ ]
(घ) श्रीनिवास दास [ ]
(ङ) राधाचरण गोस्वामी [ ]

## 28.4 प्रसाद युगीन हिंदी नाटक (सन् 1901-1937)

भारतेंदु के बाद हिंदी नाटक की गति में जो शिथिलता आ गयी थी, जयशंकर प्रसाद के आगमन से नाटक की सर्वथा नयी दिशा उदित हुई। इस समय देश में राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन विकसित हो रहा था। व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की लहर जन-जन में फैल रही थी। राष्ट्रीय चेतना और देश भक्ति की भावना प्रबल होती जा रही थी। भारत के अतीत की गौरव गाथा लोगों को संघर्ष की प्रेरणा दे रही थी तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त बुराईयों को भी खत्म करने की इच्छा बलवती होती जा रही थी। जयशंकर प्रसाद के मन पर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव था। एक ओर राष्ट्रीय प्रेम, दूसरी ओर भारत के अतीत की पुनर्खोज की इच्छा और तीसरी ओर वर्तमान की दुर्बलताओं से लड़ने का साहस उनके नाटकों की प्रेरणा बने।

इस युग के नाटककारों ने भारतेंदु युग की पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाट्य-धाराओं को अपनाया तो अवश्य लेकिन इस युग के नाटकों की विषयवस्तु का क्षेत्र अधिक विशाल था। ऐतिहासिक नाटकों के कथानक हिंदू और बौद्ध इतिहास से लिये गये। इतिहास संबंधी नवीन तथ्यों को कल्पना के मिश्रण से आकर्षक और प्रभावशाली बनाकर इस युग के नाटकों में प्रस्तुत किया गया। इतिहास के बीच ही उन्होंने नाटकों में प्रेम और सौंदर्य के मधुर चित्र खींचे। इस क्षेत्र में उनकी जीवन दृष्टि रोमांटिक होते हुए भी संयमित रही। ऐतिहासिक कथाओं के द्वारा वर्तमान जीवन की सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का चित्रण किया गया। प्रसाद ने "ध्रुवस्वामिनी" के प्राचीन कथानक में ऐतिहासिकता और

कल्पना के माध्यम से जो आधुनिक नारी की गहन समस्या, संबंध-विच्छेद और पुनर्विवाह की समस्या को प्रस्तुत किया, उसमें उनकी प्रगतिशील दृष्टि नज़र आती है। इस युग के नाटक हैं—मैथिलीशरण गुप्त का "तिलोत्तमा", और "अनघ", सुदर्शन का "अंजना" दयानंद विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" का "भीष्म", गोविंदवल्लभ पंत का "वरमाला" पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", का "महात्मा ईसा", जगन्नाथप्रसाद मिलिंद का "प्रताप प्रतिज्ञा", सेठ गोविंद दास का "हर्ष", प्रेमचंद का "कर्बला" आदि।

इस युग में नाटक की यथार्थवादी धारा की भी नींव पड़ी। जिनमें जीवन के विविध पक्षों का यथार्थ चित्रण गंभीरता पूर्वक किया जाने लगा। इस वर्ग में प्रेमचंद का "संग्राम", जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का "मधुर मिलन", और जमुनादास मेहरा का "पाप का परिणाम" नाटक उल्लेखनीय हैं।

भारतेंदु युग तक प्रहसनों के विषय पाखंडी, धूर्त लोग थे किंतु इस युग में प्रहसनों में मध्यमवर्गीय स्थिति को, सरकारी चापलूसों को और कौंसिल की मेम्बरी करने वाले लोगों को तथा पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति को हास्य-व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया। जी.पी. श्रीवास्तव रचित "उलटफेर", "गड़बडझाला", गोविंदवल्लभ पंत का "कंजूस की खोपड़ी", बद्रीनाथ भट्ट का "मिस अमरीकन", "विवाह विज्ञापन", सुदर्शन का "ऑनरेरी मजिस्ट्रेट" तथा "उग्र" का "चार बेचारे" आदि प्रहसन उल्लेखनीय हैं।

प्रसाद युग के नाटककारों ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतीय रसात्मक पद्धति के साथ, पाश्चात्य की सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक पद्धति को भी अपनाया। और उन्होंने पात्रों का चयन जीवन के व्यापक क्षेत्र विभिन्न जाति, वर्ग व्यवसाय, विचार, वृत्ति और प्रवृत्ति से किया।

प्रसाद युग के नाटकों के संवाद पात्रों के सूक्ष्म चरित्र के उद्घाटक और कथानक को गतिशील बनाने में सहायक हैं। लेकिन संवाद योजना में अनेक स्थलों पर लम्बे-लम्बे कथोपकथन आये हैं और कहीं-कहीं संवाद अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गये हैं। स्वगत कथनों का प्रयोग बार-बार किया गया हैं। यद्यपि पात्रों के द्वंद्व और चरित्र की मनोदशाओं के चित्रण के लिये इनका प्रयोग बड़े ही सटीक ढंग से हुआ है तो भी सभी स्वगत-कथन नाटकोपयोगी नहीं हैं। इस युग के नाटकों में पद्यात्मक अंशों की भी प्रचुरता है।

प्रसाद युगीन नाटकों की भाषा सशक्त है। पात्र खड़ी-बोली का प्रयोग करते हैं और विषय की गहनता के आधार पर उनकी भाषा में परिवर्तन आता है। विशेषकर प्रसाद ने भाषा का प्रयोग भावों के अनुसार किया है, पात्रों के अनुसार नहीं। उनकी भाषा में कलात्मकता और सजीवता है। शब्दों द्वारा चित्र अंकित करने में प्रसाद अद्वितीय हैं। अलंकारों के प्रयोग से जहां भाषा में लाक्षणिकता, वैचित्र्य, चित्रमयता और मूर्तिमत्ता के दर्शन होते हैं, वहां इनकी अधिकता से भाषा कहीं-कहीं बोझिल भी हो जाती है।

प्रसाद युग की नाट्य शैली न तो पाश्चात्य पद्धति पर दुखांत है और न भारतीय पद्धति के अनुसार सुखांत ही। उन्होंने दोनों नाट्य शैलियों का सुंदर समन्वय कर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। इस युग में हिंदी नाटक संस्कृत के प्रभाव से काफी हद तक मुक्त हो गये थे। अंक तथा दृश्य विभाजन में पाश्चात्य शैली को अपनाया गया।

**अनुदित नाटक**—पूर्व युग के समान इस युग में अनुवादों की परम्परा भी चलती रहीं। ये अनुवाद संस्कृत, अंग्रेज़ी और बंगला नाटकों से ही हुए। प्रथम बार हिंदी नाटकों का ध्यान भास के नाटकों की ओर आकर्षित हुआ। भासकृत "स्वप्नवासवदत्तम" का हिंदी में अनुवाद मैथिली शरण गुप्त ने किया। "प्रतिमा नाटक" और "पंचरात्र" के अनुवाद भी हुए। लेकिन इन अनुवादों में मूल नाटकों की स्वाभाविकता नहीं रही। इस युग में बंगला नाटकों के हिंदी अनुवाद का अधिक महत्व है। द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों में "राणा प्रताप", "नूरजहां", "शाहजहां", "चंद्रगुप्त", "मेवाड़ पतन" आदि उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों के अनुवादकों में रामचंद्र वर्मा और रूपनारायण पांडेय विशेष उल्लेखनीय हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गिरीश घोष के नाटकों के अनुवाद भी हुए।

इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी के कई नाटक अनूदित हुए। शेक्सपियर के "ओथेलो", "जूलियस-सीज़र" के अनुवाद रायबहादुर सीताराम ने किये। जॉन गाल्सवर्दी के "स्ट्राइक" और "जस्टिस" का अनुवाद प्रेमचंद ने "हड़ताल" तथा "न्याय" नाम से किया। साथ ही

टॉल्सटॉय और मॉरिस मैटरलिंक के नाटकों के भी अनुवाद हुए।

### 28.4.1 प्रसाद के नाटक

हिंदी नाटकों को नया आयाम प्रदान करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को ही है।

- पहली बार प्रसाद के प्रयास से हिंदी नाटक भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों, राष्ट्रीय भावनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा आधुनिक समस्याओं से युक्त हुए।
- इन सबके साथ रोमांटिक दृष्टिकोण तथा असाधारण भावुकता एवं रंगीन कल्पना से प्रभावशाली बनाकर नाटकों की रचना की गयी।
- प्रसाद ने आदर्श पात्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व देकर सिद्ध किया कि पात्र मानव भी हो सकते हैं और दानव भी।
- बाह्य संघर्षों के साथ-साथ पात्रों के मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत कर उनको मानवीय रूप दिया।
- प्रथम बार नारी चरित्रों की इतनी सुंदर, करुणामयी, वेदनामयी, कर्तव्यनिष्ठ अवतारणा हुई।
- उन्होंने साधारण, सस्ते गीतों के स्थान पर उत्कृष्ट काव्यात्मक, रसपूर्ण गीतों को स्थान दिया जिनसे उच्चकोटि की शास्त्रीय राग-रागनियों की स्थापना हुई।
- प्रसाद ने सात्विक मनोरंजन के साथ पहली बार हिंदी नाटकों को हास्य-व्यंग्य तथा ऊपरी भाव-प्रदर्शन के स्थान पर गहरी अंतर्वेदना, भावों के उतार-चढ़ाव और मानवीय संवेदना से युक्त किया।

रचनाक्रम के अनुसार प्रसाद के नाटक इस प्रकार हैं–
"सज्जन" (1910-11 ई.), "कल्याणी परिणय" (1912), "करुणालय" (1913) प्रसाद का नवीन नाट्य प्रयोग जो इससे पूर्व हिंदी-साहित्य में नहीं मिलता। यह बंगला के गीतिनाट्य से प्रभावित है। "प्रायश्चित" (1914), "राज्यश्री" (1915), "विशाल" (1921), अजातशत्रु (1922), "कामना" (1923-24-प्रतीक नाटक), "जनमेजय का नागयज्ञ" (1923), स्कंदगुप्त (1928), "एक घूंट" (1929-पहला हिंदी एकांकी), "चंद्रगुप्त" (1931) और "ध्रुवस्वामिनी" (1933)।

आभनेता की दृष्टि से प्रसाद के अधिकांश नाटकों पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। घटना विस्तार, दृष्यों का बाहुल्य, लंबे दार्शनिक संवाद, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत कथनों की भरमार, काव्यात्मकता और गीतों की अधिकता, जटिल दृश्य-विधान, वर्जित दृश्यों की अवतारणा आदि के कारण उनके नाटक अभिनय में दुरूह हो गये हैं। इनके लिये विकसित एवं समृद्ध मंच अपेक्षित है।

वैसे रंगमंच के अनुकूल गुण भी इनके नाटकों में मिलते हैं, जैसे संवादों में निहित नाटकीय तत्व। इनके अंकों के आरंभ और अंत विशेष आकर्षक और रोचक हैं। पटाक्षेप संबंधी निर्देश तथा लघु अभिनय संकेत भी प्रायः प्रसाद के नाटकों में मिलते हैं।

### 28.4.2 प्रसाद के समकालीन

प्रसाद के समकालीन नाटककारों में जो विशेष उल्लेखनीय हैं, वे हैं–आगा हश्र "कश्मीरी", नारायण प्रसाद "बेताब", बलदेव प्रसाद मिश्र, सुदर्शन और जी.पी. (गंगा प्रसाद) श्रीवास्तव।

आगा हश्र का अपने युग के रंगमंचीय नाटककारों में प्रमुख स्थान है। वे न्यूएलफ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी में नाटक लेखक और अभिनेता थे। पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक परिवेश पर उन्होंने अनेक नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों में कौतूहल, विस्मय और नाटकीयता के तत्व मौजूद हैं। उर्दू में इनके लगभग 16 नाटक हैं। उर्दू नाटकों के साथ-साथ हिंदी नाटकों को भी वे सफलतापूर्वक पारसी रंगमंच पर लेकर आये। हश्र ने हिंदी में "सूरदास", "गंगा अवतरण", "बनदेवी", "सीतावनवास", "श्रवण कुमार", "भीष्म प्रतिज्ञा", "आंख का नशा" आदि नाटक लिखे। अनुवाद के क्षेत्र में भी वे काफी सफल रहे। उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया।

नारायण प्रसाद "बेताब" अपने युग के ख्याति प्राप्त नाटककारों में थे। रंगमचीय नाटक

लिखने में उन्हें सफलता मिली। इन्होंने सर्वप्रथम उर्दू में नाटक लिखे, बाद में हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा मे लिखने लगे। हिंदी में उन्होंने "महाभारत", "रामायण", "पत्नीप्रताप", "कृष्ण सुदामा", "गणेश जन्म" और "शकुंतला" आदि नाटकों की रचना की। पौराणिक कथाओं से ही इन्होंने नाटकों की वस्तु का चयन किया। इनका महाभारत नाटक खूब प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने "शकुंतला" नाटक पृथ्वी थियेटर्स के लिए लिखा था, जिसका सफल मंचन किया गया। इनके द्वारा लिखी गयी फिल्में अपने समय में काफी प्रसिद्ध हुईं।

डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र (1898) ने पौराणिक आख्यानों और राष्ट्रप्रेम पर आधारित नाटक लिखे। मिश्र जी ने विशुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली का प्रयोग अपने नाटकों में किया है। कहावतों और मुहावरों का भी उपयुक्त प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। संवाद छोटे-छोटे, प्रवाहपूर्ण और चुटीले हैं। पद्यात्मक संवाद भी मधुर हैं। इनके नाटक आदर्श प्रधान हैं। वे मानव समाज को उच्च चरित्र के निर्माण की प्रेरणा देते हैं। अंकों और दृश्यों की योजना परम्परागत है। इनके नाटक हैं—"शंकर दिग्विजय" (1923), "असत्य संकल्प" (1928), "वासना वैभव" (1928), "समाज सेवक" (1923) और "मृणालिनी परिणय" (1932)।

सुदर्शन प्रसाद युग के सफल नाटककार हैं। इन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नाटकों की रचना की है। उनके अधिकांश नाटक अभिनेय हैं। सुदर्शन प्रसिद्ध फिल्म लेखक भी हैं। इनका "सिंकदर" नाटक प्रकाशित होने से पूर्व मिनर्वा-मूवीटोन बंबई द्वारा सोहराब मोदी के निर्देशन में चित्रपट पर सफलता से प्रदर्शित किया गया था। "धूपछांह" भी प्रकाशित होने से पूर्व फिल्मीकृत हो गया था। वैसे इन्होंने अपने नाटकों में साहित्य और रंगमंचीय कला के सामंजस्य का अच्छा प्रयास किया है। इनके अन्य नाटक हैं—"दयानंद" (1917), "अंजना" (1922) और "ऑनरेरी-मजिस्ट्रेट" (1927)।

जी.पी. श्रीवास्तव (1890) का प्रसाद युग के प्रहसन लेखकों में प्रमुख स्थान है। इन्होंने प्रसिद्ध फ्रांसीसी हास्य-लेखक मोलियर के प्रहसनों का हिंदी में रूपांतर किया और बाद में उन्हीं को आदर्श मानकर हिंदी में कई मौलिक प्रहसन लिखे। श्रीवास्तव जी के प्रहसन समाज सुधार की भावना से पुष्ट हैं। इनमें सामाजिक कुरीतियों एवं पारिवारिक विषमताओं को बड़े व्यापक रूप से उभारा गया है। ढोंगी सुधारकों, नेताओं, सूदखोरों, पूंजीपतियों, डाक्टरों, वकीलों, पदलोलुप व्यक्तियों, नयी सभ्यता में रंगे स्त्री-पुरुषों पर गहरे व्यंग्य किये गये हैं। भाषा हास्य के उपयुक्त चलती हुई और चुस्त है। श्रीवास्तव जी ने अपने युग में शुद्ध हास्य नाटकों की सृष्टि कर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। अतः उनके प्रहसनों का ऐतिहासिक महत्व है।

**बोध प्रश्न**

6. प्रसाद युगीन नाटकों के कोई चार मुख्य विधायक तत्व बतायें:
   (क) .....
   (ख) .....
   (ग) .....
   (घ) .....

7. हां/नहीं में उत्तर दीजिए:
   (क) स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, सूरदास, ये सभी नाटक प्रसाद के लिखे हुए हैं। हां/नहीं
   (ख) प्रसाद के अधिकांश नाटकों में भाषा क्लिष्ट है। हां/नहीं
   (ग) बाह्य संघर्ष के साथ-साथ पात्रों के मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत करने में प्रसाद सक्षम नहीं हैं। हां/नहीं
   (घ) प्रसाद ने हिंदी नाटकों को प्रेम की भावुक तथा मानवीय संवदेना से मुक्त किया। हां/नहीं
   (ङ) प्रसाद के नाटक रंगमंचीय दृष्टि से सफल हैं। हां/नहीं

8. खाली स्थान में सही नाटककार का नाम लिखिए:
   (क) पृथ्वी थियेटर्स के लिए "शकुन्तला" नाटक लिखने वाले नाटककार थे। .....

(ख) ..... न्यूएलफ्रेड थियेट्रीकल कम्पनी में नाटक लेखक और अभिनेता थे।
(ग) ..... के नाटक "सिकंदर" और "धूपछांह" पर फिल्म बनी थी।
(घ) प्रसाद युग के प्रमुख प्रहसन लेखक हैं .....

## 28.5 प्रसादोत्तर स्वतंत्रता पूर्व हिंदी नाटक (1937-1947)

प्रसाद युग के बाद हिंदी नाटकों का नवयुग प्रारंभ होता है। नाटक विषय और शिल्प दोनों दृष्टि से और भी अधिक समृद्ध और विकसित हुए। यह युग कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। अब राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में किसान और मज़दूर जनता भी शामिल हो गयी थी। उनके संगठन बन चुके थे। अब जीवन में भावना की बजाय बुद्धि का महत्व अधिक हो गया था। आदर्श का स्थान यथार्थ ने ले लिया था। इस युग तक आते-आते रामलीला, नौटंकी आदि का प्रचार काफ़ी कम हो गया। पारसी रंगमंचीय नाटक भी उतने अधिक लोकप्रिय नहीं रहे क्योंकि सिनेमा का प्रभाव जनता पर अधिक पड़ रहा था। ऐतिहासिक नाटक इस काल में भी लिखे गये। राष्ट्रीय भावनाओं और चेतना को अधिक प्रश्रय दिया गया। पौराणिक नाटकों के प्रति जनरुचि कम होती गयी और अपने चारों ओर की समस्याओं, समसामयिक विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। विदेशी साहित्य का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। विशेषकर इब्सन, बर्नार्ड शॉ, ओ'नील आदि का अनुसरण किया जा रहा था। इन नाटककारों ने नाटक के क्षेत्र में यथार्थवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया। परिणामस्वरूप हिंदी नाट्य साहित्य में समस्या नाटकों का सूत्रपात हुआ जिसके प्रमुख प्रवर्तक लक्ष्मीनारायण मिश्र थे। इब्सन और बर्नार्ड शॉ ने प्रचलित परम्पराओं पर चोट कर बौद्धिक क्रांति का बीज बोया था। इस तरह साहित्य में आदर्श और भावना की अपेक्षा यथार्थ और बुद्धि तत्व का प्रवेश हुआ। इसी बुद्धि तत्व का हिंदी नाटकों में प्रयोग मिश्र जी की देन है।

इस युग के नाटकों में नवीन तकनीक और कला के दर्शन होते हैं। अब नाटकों को अधिक स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति बढ़ती दिखाई देती है। गीत योजना, लंबे संवादों, अनावश्यक प्रसंगों, अधिक पात्रों के स्थान पर सधे और छोटे संवाद, कम पात्र तथा गठी हुई कथा का समावेश हो गया है। अब पांच अंकों के स्थान पर अधिकांश नाटक तीन अंकों के होने लगे और नाटकों में दृश्य विभाजन पर कम ध्यान दिया गया।

इस युग में पात्र वास्तविक जीवन से ग्रहण किये गये हैं। पौराणिक एवं ऐतिहासिक पात्रों को आधुनिक जीवन संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक नाटकों में यथार्थ जीवन के जीवंत चरित्रों को स्थान मिला है। पात्रों में मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वन्द्व के चित्रण की ओर भी ध्यान दिया गया है। इस युग के प्रमुख नाटककार हैं

सेठ गोविंददास, उदय शंकर भट्ट, गोविंदबल्लभ पंत, रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेंद्रनाथ अश्क आदि।

सेठ गोविंददास ने सवा सौ से अधिक नाटकों की रचना की है और विषय-वस्तु तथा शिल्प-विधान के क्षेत्र में विविध प्रयोग भी किये हैं। इनके नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक विषयों से सम्बद्ध हैं। कार्यव्यापार, नाटकीयता, कौतूहल, भाषा, संवाद आदि की दृष्टि से "कुलीनता" (1940) और "शेरशाह" (1945) ऐतिहासिक नाटक प्रभावशाली और सशक्त हैं। अन्य नाटक हैं—"सुख किसमें" (1940) "दलित कुसुम" (1942), "कर्ण" (1946), "भूदान यज्ञ" (1954) आदि।

उदयशंकर भट्ट (1898-1966) आधुनिक नाटककारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके प्रारंभिक नाटकों के कथानक ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों से लिये गये हैं। बाद में उन्होंने सामाजिक जीवन की ज्वलंत समस्याओं को लेकर भी नाटक लिखे। उनके गीति नाटक, प्रतीक नाटक, रेडियो रूपक, एकांकी आदि की प्रयोगशीलता दर्शनीय है। उनके कुछ प्रमुख नाटक हैं—"विद्रोहिणी अम्बा" (1935), "सगर विजय" (1937), "दाहर" (1933), "मत्स्यगंधा" (1937), "विश्वामित्र" (1938), "राधा" (1941-तीनों गीति

नाट्य हैं "कमला" (1939) उनका समस्या नाटक है। इसमें आधुनिक समाज की उलझनों और मानव चरित्र की जटिलताओं का अंकन हुआ है।

गोविंदबल्लभ पंत (1898) ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और हास्य प्रधान नाटकों की रचना की। उनके कुछ नाटक हैं–"वरमाला" (1925), "ययाति" (1951), "सिंदूर बिंदी" (1943), "अंगूर की बेटी" (1937), "राजमुकुट" (1935), "अंत:पुर का छिद्र" (1940)।

प्रसाद के बाद हिंदी नाट्य परम्परा में लक्ष्मीनारायण मिश्र (1903) का प्रमुख स्थान है। समस्या नाटकों के क्षेत्र में उन्हें विशेष ख्याति मिली है। ये नाटक प्रसाद की भावुकता और रोमांटिक दृष्टि की प्रतिक्रिया का परिणाम हैं। समस्या नाटकों का दृष्टिकोण जीवन की यथार्थवादी चेतना के प्रति भावुक न होकर बुद्धिवादी हो गया। व्यक्ति की समस्या को लेकर प्रथम बार नाटक लिखे गए। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति के अंत:स्तल में दबी स्वच्छंद काम चेतना, दमित होने पर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। अत: व्यक्ति की समस्याओं का, उसके अंतर्द्वन्द्व का, उलझनों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाटकों में आरंभ हुआ। सबसे पहले लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ही बुद्धिवाद के द्वारा आज की नयी वैयक्तिक समस्याओं का विश्लेषण करना आरंभ किया। "सिंदूर की होली" (1933), "आधी-रात" (1936), "राजयोग" (1933) "सन्यासी" (1930), "राक्षस का मंदिर" (1931), "मुक्ति का रहस्य" (1932) आदि अनेक समस्या नाटकों की रचना की। मिश्रजी ने प्रेम विवाह और काम की समस्याओं का प्रतिपादन भी किया है। नारी समस्या को लेकर कई समस्या नाटक लिखे। इसके अलावा उन्होंने पौराणिक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे। ये कुछ नाटक हैं–"नारद की वीणा" (1946), "चक्रव्यूह" (1953), "दशाश्वमेघ" (1950) "वितस्ता की लहरें" (1953)।

डॉ. रामकुमार वर्मा (1905) मूलत: एकांकीकार हैं लेकिन उन्होंने कुछ नाटकों की भी रचना की है–"विजय पर्व" (1956), "नाना फ़डनवीस" (1964), "सारंगस्वर" (1970), ऐतिहासिक तथा "पृथ्वी का स्वर्ग" (1971) सामाजिक नाटक हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी (1908) ने अपने नाटकों के लिये प्रमुख रूप से मुग़ल कालीन भारत की कथावस्तु को अपनाया है और इसके माध्यम से हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। नाटकीय गतिशीलता की दृष्टि से "उद्धार" (1949), "स्वप्न भंग" (1940), "कीर्ति स्तम्भ" (1955) और "प्रकाश स्तंभ" (1954) उत्कृष्ट हैं। "स्वर्ण विहान" सामाजिक नाटक हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क हिंदी के ख्यातिप्राप्त नाटककार हैं। उनके नाटकों का रचनाकाल 1937 ई. से आरंभ होता है। अश्क जी ने एक ओर हिंदी नाटक और रंगमंच को आधुनिक शिल्प-विधान से सुसज्जित किया, तो दूसरी ओर सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत कर नाटक को वर्तमान-जीवन से जोड़ा।

इनमें सामाजिक नाटकों में मध्यवर्गीय समाज की रूढ़ियों, परंपराओं, उच्च-मध्य वर्गीय परिवारों के खोखलेपन, विषमताओं, यौन कुंठाओं, घुटन, असंतोष, शिक्षित युवक-युवतियों के असंतुलित दाम्पत्य जीवन आदि का मनोवैज्ञानिक और यथार्थपरक विश्लेषण किया गया है। "भंवर" व्यैक्तिक समस्या नाटकों की श्रेणी में आता है। यह नाटक नाटककार के चरित्र-मनोविज्ञान के गूढ़ अनुभव से निर्मित हुआ है।

तकनीक की दृष्टि से अश्क जी के नाटकों में पर्याप्त विविधता है। उन्होंने समय-समय पर अनेक नये प्रयोग किये हैं। "छठा बेटा" स्वप्न नाटक के रूप में, "क़ैद" लघु नाटक, "अंजोदीदी" मनोवैज्ञानिक नाटक और "पैंतरे" फिल्मी झांकी के रूप में उल्लेखनीय हैं। अश्क जी उत्कृष्ट नाटककार होने के साथ ही सफल अभिनेता और निर्देशक भी हैं। इसी कारण उनके नाटकों में विस्तृत रंग निर्देश प्राप्त होते हैं। उनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। अश्क जी का योगदान हिंदी नाटक और रंगमंच के लिये एक विशेष उपलब्धि है।

**बोध प्रश्न**

9. प्रसादोत्तर स्वतंत्रता पूर्व हिंदी नाटकों की तीन प्रमुख प्रवृत्तियां एवं उनके प्रमुख नाटककार बताइये:

| | प्रवृत्ति का नाम | लेखक का नाम |
|---|---|---|
| (क) | ..... | ..... |
| (ख) | ..... | ..... |
| (ग) | ..... | ..... |

10. समस्या नाटक से आप क्या समझते हैं, इसके जनक कौन हैं? उनके कुछ समस्या नाटक बताइये।

.....
.....
.....
.....
.....

## 28.6 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक (1947 से आज तक)

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ बदली परिस्थितियों का प्रभाव लेखकों पर भी पड़ा। नव निर्माण की आकांक्षा और नये युग की ओर बढ़ते कदमों ने जहां लोगों में उत्साह और आशा का संचार किया। वहीं इस दिशा में बढ़ती असफलताओं ने लोगों को निराश और कुंठित भी किया। इन परिस्थितियों का असर सबसे अधिक मध्य वर्ग पर पड़ा। इस दौर में अधिकांश नाटक मध्यवर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं और विडंबनाओं को ध्यान में रखकर लिखे गये। नये युग के साथ जो नयी राजनीतिक-सामाजिक स्थितियां बन गयी थीं, उनसे उभरी समस्याओं को भी नाटकों का विषय बनाया गया। सरकारी प्रोत्साहन के कारण रंगमंच के विकास का प्रभाव भी नाट्य रचना पर पड़ा और कई तरह के नये प्रयोग किये गये। रेडियो के व्यापक प्रसार ने रेडियो नाटकों की रचना को भी बढ़ावा दिया। विषय की दृष्टि से इस युग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि नाटक लिखे गए। मुख्य बात यह है कि पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक में समस्या आधुनिक ही होती थी।

इस काल में पौराणिक कथानकों को लेकर गीति-नाट्यों की रचना भी शिल्पगत दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस अवधि में वस्तु और शिल्प की दृष्टि से जिन महत्वपूर्ण पौराणिक नाटकों की रचना हुई, निम्नलिखित हैं–

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "सूर्यमुख" (1968), "कलंकी" (1971), "मिस्टर अभिमन्यु" (1971), रांगेय राघव का "स्वर्ग भूमि का यात्री" (1951), आचार्य चतुरसेन का "गांधारी" (1950), "पृथ्वीनाथ शर्मा का "उर्मिला" (1950), सीताराम चतुर्वेदी का "शबरी" (1953), "सीता परित्याग" (1964), जगदीश चंद्र माथुर का "दशरथ नंदन" (1974) तथा गीति नाट्य शैली में डॉ. धर्मवीर भारती का "अंधायुग" (1955) और दुष्यंत कुमार का "एक कंठविषपायी" (1963) उल्लेखनीय पौराणिक नाटक हैं।

स्वातंत्र्योत्तर ऐतिहासिक नाटकों में नवीनता है, मनुष्य के नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की उनमें झलक है। उदाहरण के लिये जगदीश चंद्र माथुर का कोणार्क (1951), "शारदीया" (1959) मोहन राकेश का "आषाढ़ का एक दिन" "लहरों के राजहंस" नाटक हैं। विष्णु प्रभाकर का "समाधि" नाटक आदि। इन नाटकों की विशेषता यह है कि काल्पनिक होते हुए भी वे अपने ऐतिहासिक रूप को बनाये रखते हैं। इस काल के ऐतिहासिक नाटकों में मौर्य, गुप्त, मुगल काल, अंग्रेज़ी शासन के इतिहास को नाटक की कथावस्तु में ग्रहण किया गया है। अधिकतर संस्कृति प्रधान ऐतिहासिक नाटक हीं लिखे गये। किंतु कुछ जीवनी परक नाटकों की भी रचना की गयी। जैसे भीष्म साहनी का

"हानूश" (1977), "कबीरा खड़ा बाजार में" (1981), तथा मणि मधुकर का "इकतारे की आंख" (1980)।

स्वातंत्रता के बाद सबसे अधिक सामाजिक नाटकों का सृजन हुआ। इन नाटकों की कथावस्तु का आधार निर्धनता, बेकारी, स्त्री-स्वातंत्र्य, प्रेम का नया रूप, नैतिक मूल्य आदि बने। उच्च मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय परिवारों का चित्रण सफलता पूर्वक किया गया। कुछ नाटक स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर भी लिखे गये। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक नाटकों पर मुख्य रूप से कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्रभाव पड़ा है। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के द्वारा पात्रों की मानसिक दशा का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

स्वतंत्रता के बाद सामाजिक नाटकों द्वारा समाज में घटने वाली घटनाओं और समस्याओं को तो प्रस्तुत किया ही गया, साथ ही तत्कालीन परिवेश को भी रूपायित किया गया। इसके फलस्वरूप चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के दिनों में ज्ञान देव अग्निहोत्री का "नेफा की एक शाम", और शिवप्रसाद सिंह का "घाटिया गूंजती हैं" जैसे नाटक आस्तित्व में आये। किंतु स्वतंत्रता के बाद विभिन्न समस्याओं को लेकर जो सामाजिक नाटक लिखे गये, वे लक्ष्मीनारायण मिश्रा के समस्या नाटकों की परम्परा में नहीं आते। मिश्र जी पर बुद्धिवाद का प्रभाव है, उनकी अपनी शैली है। मिश्र जी के बाद यह परम्परा आगें नहीं बढ़ सकी। बुद्धिवाद की रुक्षता के स्थान पर संवेदना पूर्वक समस्या का चित्रण किया जाने लगा। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक नाटक समाज की घटनाओं को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने लगे। इस कोटि के सामाजिक नाटकों में उल्लेखनीय हैं–

भगवती चरण वर्मा का "रुपया तुम्हें खा गया"; डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "अंधा कुआं" (1955), "सुंदर रस", "तोता मैना", "रक्तकमल" (1960), "रातरानी" (1966), विष्णु प्रभाकर का "डाक्टर", "युगे-युगे क्रांति"; नरेश मेहता का "खंडित यात्राएं", "सुबह के घंटे"; मोहन राकेश का "आधे-अधूरे"; मन्नू भंडारी का "बिना दीवारों के घर", ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "माटी जागी रे", "वतन की आबरू", विनोद रस्तोगी का "नये हाथ", "आज़ादी के बाद", "बर्फ की मीनार" इत्यादि।

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक नाटकों की दूसरी धारा विभिन्न प्रतीकों को लेकर नाटक लिखने लगी। इन नाटकों में प्रतीकों का निर्वाह ठीक से नहीं हो पाया है तथा ये कमोबेश रूप में ही प्रतीक हैं। इस शैली के नाटक हैं–डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "मादा कैक्टस", "सूखा सरोवर", "दर्पण", "अंधा कुआं", "सुंदर रस", "मिस्टर अभिमन्यु, "कर्फ्यू", डॉ. शंभूनाथ सिंह का "धरती और आकाश", "अकेला शहर", ज्ञानदेव अग्निहोत्री का "शतुरमुर्ग", ललित सहगल का "हत्या एक आकार की" और आलोक शर्मा का "चेहरों का जंगल"। इन नाटकों में समाज की विभिन्न समस्याओं को प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया गया है किंतु ये अपने परिवेश में मूलतः सामाजिक नाटक ही हैं।

इस काल में नाटकों के अंक-दृश्य विभाजन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। नाटक प्रायः तीन अंकों के होने लगे, अच्छे रंगमंचीय नाटकों में दृश्य विभाजन की परम्परा समाप्त हो गयी। इससे उनका अभिनय एक ही दृश्यबंध पर सुगमता पूर्वक किया जा सकता है। पात्रों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती गयी। संवादहीन, कथाहीन नाटक भी लिखे जाने लगे जैसे 'चेहरों का जंगल'।

स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रमुख नाटककारों में जगदीशचंद्र माथुर, मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल आदि हैं जिन्होंने हिंदी नाटकों को नयी दिशा दी। जगदीशचंद्र माथुर ने नाटक को रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचना-स्तर पर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। स्वतंत्रता के पश्चात् उनके ऐतिहासिक नाटक "कोणार्क" से आधुनिक नाट्य आंदोलन का प्रारंभ होता है। इसमें इतिहास के साथ मानवीय अंतः संघर्षों का नियोजन हुआ है। माथुर जी ने अपनी कल्पना द्वारा उड़ीसा के प्रसिद्ध कोणार्क मंदिर के निर्माण और विध्वंस की घटना को नाटक का आधार बनाया है। "शारदीया" माथुर जी का दूसरा ऐतिहासिक नाटक है जो 19वीं शताब्दी के मराठा इतिहास से सम्बद्ध है। "पहला राजा" में पौराणिक उपाख्यान के माध्यम से समकालीन जीवंत स्थितियों का चित्रण है। माथुर जी के सभी नाटक अभिनेय हैं। सुव्यवस्थित कथानक, कौतूहल, सशक्त चरित्र, मार्मिक

संवाद, सरस और प्रवाहपूर्ण भाषा इनके नाटकों को अभिनेय बनाते हैं।

साहित्यिक गुणवत्ता और उत्कृष्ट अभिनेयता दोनों दृष्टियों से उच्चकोटि के नाटक लिखने में मोहन राकेश का योगदान अत्यंत उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने नाटकों में बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में, व्यक्ति के निजी संबंधों, स्त्री-पुरुष के रिश्तों की विडंबना को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। "आषाढ़ का एक दिन" तथा "लहरों के राजहंस" ऐतिहासिक नाटक हैं किंतु इनमें ऐतिहासिक कथानकों की पुनरावृत्ति न होकर, ऐतिहासिक पात्रों को नये जीवन संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है। "आषाढ़ का एक दिन" का कथानक महाकवि कालिदास से संबंधित है। परंतु कालिदास के बहाने राज्याश्रय और वैयक्तिक रिश्तों की टकराहट को विषय बनाया गया है।

"लहरों के राजहंस" में राग-विराग और श्रेय-प्रेय के द्वंद्व को उभारकर चिंरतन आध्यात्मिक प्रश्न को नये संदर्भ में उठाया गया है। इसका कथानक अश्वघोष के "सौंदरनंद" पर आधारित है।

गौतम बुद्ध का सौतेला भाई कपिलवस्तु का राजकुमार नंद अपनी अनिंद्य सुंदर पत्नी के प्रति बहुत आसक्त है लेकिन साथ ही बुद्ध के प्रति, यानी आध्यात्मिकता के प्रति भी उसका मन आकर्षित है। नाटकीय संघर्ष की स्थितियां इन दो व्यक्तियों और दो विरोधी जीवन-दर्शनों की टकराहट से उत्पन्न होती हैं। यह चिरंतन द्वंद्व ही नंद को आधुनिक मनुष्य के त्रासदी के निकट ले आता है।

आधे-अधूरे (1969) मोहन राकेश का तीसरा नाटक है जो उनकी विकास-यात्रा की अगली मंज़िल का सूचक है। इसमें इतिहास के आधार को छोड़कर तत्कालीन समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास है। वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडम्बनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रहकर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है। नाटककार ने संत्रास के मूल कारणों की खोज की है। यह विडंबना आर्थिक और मनोवैज्ञानिक है। सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से पास-दूर आते-जाते बाहर जाकर भी वापस लौटने की नियति से बाध्य हैं। इस वजह से नाटक में पूरे समय तनाव बना रहता है। इसकी भाषा और कथोपकथन में अद्भुत संयम है जो यथार्थ को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत कर सकता है। भाषा, लय और नाटकीय संयम तनाव को गहराते जाते हैं।

मोहन राकेश के सभी नाटक रंगमंचीय संभावनाओं से पूर्ण हैं। उनके नाटक भारत भर में तथा अन्य कई स्थानों पर सफलतापूर्वक मंचित हो चुके हैं। आकाशवाणी के विभिन्न केंद्रों से अनेक भारतीय भाषाओं में इनका प्रसारण भी हुआ है। इनके नाटकों में दिये गये विस्तृत रंग-निर्देश भी अभिनय में सहायक हैं। बीच-बीच में ध्वनि प्रभावों तथा प्रकाश योजना द्वारा भी नाटकीय सौंदर्य में वृद्धि हुई है। इस प्रकार मोहन राकेश के नाटकों द्वारा हिंदी नाटक और रंगमंच को विकास की नयी दिशा मिली है।

सातवें दशक में पौराणिक चरित्रों को लेकर जिन महत्वपूर्ण नाटकों की रचना हुई, उनमें सुरेंद्र वर्मा का "सूर्य की अंतिम किरण से पहली किरण तक", "आठवां सर्ग", "द्रोपदी", गिरिराज किशोर का "प्रजा ही रहने दो", दया प्रकाश सिन्हा का "कथा एक कंस की", नरेंद्र कोहली का "शंबूक की हत्या" (1975) शंकर शेष का "एक और द्रोणाचार्य", लक्ष्मीकांत वर्मा का "एक ठहरी हुई ज़िंदगी" और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का "राम की लड़ाई" प्रमुख हैं। पौराणिक पात्रों के सहारे आज की स्थिति के आकलन से नये मूल्यों की तलाश आसान हो गयी है। एक ओर सामाजिक विसंगतियां मुंह फैलाये खड़ी हैं, दूसरी ओर हैं उनसे जूझता मानव और सबको समेटते हुए पौराणिक चरित्र।

एक और द्रोणाचार्य का एक उदाहरण देखिए "क्योंकि उनके पास शक्ति थी। व्यवस्था उसकी पीठ थपथपाती..... याद है जब तुमने विरोध की भाषा अपनायी, सत्ता ने तुम्हारे अस्तित्व पर तीव्र हमला किया। कभी प्रलोभन देकर, कभी आतंक जमाकर। इसलिये विरोध मत करो। सब विरोध बकवास है। यदि व्यवस्था तुम्हें अपने इशारे पर भौंकने वाला कुत्ता बनाना चाहती है तो भौंकते पिल्लों को जन्म दो। चंदू और युधिष्ठिर मत पैदा करो, राजकुमार और दुर्योधन पैदा करो....."

आधुनिक हिंदी नाटकों की एक महत्वपूर्ण धारा नाट्य रचना के क्षेत्र में दिखायी पड़ती हैं, वह है

असंगत (एब्सर्ड) नाटकों की। असंगत नाटको में जीवन की विसंगतियों को मनमाने ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के हिंदी नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर असंगति है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मानवीय जीवन और मूल्यों का विघटन होने लगा था। अनास्था, अमानवीयता ने मानव जीवन की व्यर्थता का बोध कराया जिससे मानव अपने को असहाय समझने लगा। इन्हीं स्थितियों में एब्सर्ड नाट्य रचना का प्रारंभ हुआ।

वस्तुतः एब्सर्ड नाटककार का मुख्य उद्देश्य परंपरागत मूल्यों के प्रति अनास्था प्रकट करना और उन्हें तोड़ना है। इस प्रकार एब्सर्ड नाटक को कहीं से भी प्रारंभ कर कहीं भी अंत किया जा सकता है। एब्सर्ड नाटक में सब कुछ अर्थहीन, निरर्थक, असंगत, असंबद्ध होता है। संपूर्ण कार्यव्यापार बेतुके संवादों और हरकतों से संचालित होता है।

हिंदी में एब्सर्ड नाट्य रचना क्षेत्र में बहुत अधिक विकास नहीं हो पाया है किंतु कुछ नाटककारों ने एब्सर्ड नाटकों की रचना की है जैसे—मणि मधुकर का "रस गंधर्व" (1973) मुद्राराक्षस का "मरजीवा", "योर्स फेथफुली", "तिलचट्टा", "तेंदुआ", लक्ष्मीकांत वर्मा का "रोशनी एक नदी है" (1974), सत्यव्रत सिन्हा का "अमृत पुत्र" और काशीनाथ सिंह का "धोआस" (1982) महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये प्रस्तुत हैं "रोशनी एक नदी है" का यह अंश—

> मैं ही जुलूस हूं ..... अकेला मैं ..... क्योंकि बाकी सब भाग गये ..... जो भागे नहीं, वे घायल हालत में जहाँ-तहाँ पड़े हैं, लेकिन ..... मैं यहाँ तक आ गया हूं। ..... यहां तक, लेकिन यहां तक आना और न आना दोनों ही बराबर हैं। अब यहां तक अकेले चला आना भी निरर्थक लगता है ..... शायद रास्ते में गोली खाकर मर जाना ज्यादा सार्थक था। यहां तो कोई नहीं है। सारी की सारी जगह वीरान, उजाड़ पड़ी है ..... किसे आवाज दूं ..... कौन सुनेगा मुझे ..... कौन सुनेगा मेरी आवाज़ "।

आधुनिक काल में कुछ जनवादी नाटकों की भी रचना हुई। इन नाटकों में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का "बकरी" (1974) एक उल्लेखनीय कृति है। "बकरी" आम आदमी का सामाजिक व्यंग्य नाटक है। नाटककार ने इसे नौटंकी और पारसी थियेटर की शैली में बांधा है। नाटक में जनता के शोषण को दिखाया है।

इस काल में कुछ अन्य सामाजिक नाटक लिखे गये जो वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में हैं— मोहन राकेश का "पैर तले की ज़मीन" रमेश बक्षी का "देवयानी का कहना है" (1972) "तीसरा हाथी", हमीदुल्ला का "दरिंदे" (1975), मृदुला गर्ग का "एक और अजनबी" (1978), मृणाल पांडे का "जो राम रचि राखा" (1983)।

**अनूदित नाटक:** इस काल में अनेक नाटक हिंदीतर भाषाओं से अनूदित हुए। इस काल के अनूदित नाटकों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि आज हमारा नाट्य साहित्य विश्व-साहित्य के सम्पर्क में आकर समृद्ध बनने का प्रयास कर रहा है।

आसबोर्न, ज्याँपाल सार्त्र, ब्रेख्त, सेम्युएल बेकेट, जींद के नाटकों का प्रभाव हमारे यहां के नाट्य साहित्य पर पड़ा है। ब्रेख्त के नाटक "काकेशियन चाक सर्कल" का हिंदी अनुवाद "खरिया का घेरा" कार्लबेवर के निर्देशन में प्रस्तुत किया गया। विलियम हैनले के नाटक "स्लोडास आन ए किलिंग ग्राउंड" का हिंदी अनुवाद "मकड़ी का जाला" सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया गया।

हिंदीतर नाट्यकारों में बादल सरकार के बंगला नाटक "बाक़ी इतिहास" (सन् 1969), "पगला घोड़ा" (1974), विज तेंदुलकर के मराठी नाटक "अमीर" (1960), "उसकी जात" (1969), "खामोश अदालत जारी है" (1973), "घासीराम कोतवाल" (1974), "बेबी" (1976), "गिधाड़े" (1976), "एक ज़िद्दी लड़की" (1977), "सखाराम बाइंडर" (1978), "दंभद्वीप" (1979), "जाति ही पूछो साधु की" (1981), "कमला" (1982), पु.ल. देशपांडे का मराठी नाटक "कस्तूरी मृग" (1960), गिरीश करनाड के कन्नड़ नाटक "मोहम्मद तुगलक" और "हयवदन" (1973) जयंत दलवी का गुजराती नाटक "बैरिस्टर" (1980), गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे का नाटक "उध्वस्त धर्मशाला" आदि का अनुवाद हिंदी में हुआ है और ये नाटक सफलतापूर्वक मंचित किये गये हैं।

**बोध प्रश्न**

11. निम्नलिखित विशेषताओं में से स्वातंत्र्योत्तर युगीन नाटकों की विशेषताओं पर सही (✓) का निशान लगाइये:

(क) भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता। [ ]
(ख) मनोवैज्ञानिक स्तर पर चारित्रिक विकास। [ ]
(ग) नायक-प्रतिनायक द्वंद्व के स्थान पर परिवेश की द्वंद्वात्मक स्थिति का चित्रण। [ ]
(घ) गीत और स्वगत कथनों की भरमार। [ ]
(ङ) साहित्यिक भाषा (लिखित शब्द) के स्थान पर बोलने के शब्द का प्रयोग। [ ]

12. एब्सर्ड नाट्य रचना का प्रारंभ जिन स्थितियों में हुआ, उनमें से किन्हीं दो का उल्लेख करें:

i) .....
.....
ii) .....
.....

13. किन्हीं चार एब्सर्ड नाटककारों के नाम और उनका एक-एक नाटक बतायें।

i) .....
ii) .....
iii) .....
iv) .....

**अभ्यास**

2. प्रसाद युगीन और स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में पायी जाने वाली विशेषताओं और नवीनताओं का उल्लेख अधिक से अधिक 20 पंक्तियों में करें।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 28.7 नाटक विधा के विभिन्न रूप

आधुनिक हिंदी नाट्य साहित्य नये-नये प्रयोगों का साहित्य है। हिंदी नाटक में जहां वस्तुगत नवीन उपलब्धियां हुई हैं, वहां उसमें शैली-शिल्प के नये प्रयोग भी हुए हैं। हिंदी नाटक ने पाश्चात्य विचारधाराओं को, दृष्टिकोण को, तकनीक को अपनाया है और अपने आपको बदलते हुए युग-जीवन के अनुरूप ढालकर समृद्ध किया है। आज का हिंदी नाटककार यह अच्छी तरह अनुभव कर रहा है कि जीवन की नित्य प्रतिदिन की झांकी, मानव चरित्र की झलक, स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करना कितना आवश्यक है। इस स्वाभाविकता को लाने, मानव-जीवन की विविधता-विषमता को अभिव्यक्ति देने और हिंदी नाटको को रंगमंचीय बनाने के लिए नाटकों के रचना-विधान में परिवर्तन आया। इन नये प्रयोगों को इस रूप में देखा जा सकता है–(1) गीति नाटय, (2) एकांकी, (3) रेडियो नाटक और (4) नुक्कड़ नाटक।

### 28.7.1 हिन्दी गीति नाट्य

हिंदी नाट्य साहित्य में गीति नाट्य एक नया प्रयोग है, इसका उल्लेख करना भी यहां आवश्यक है। यह एक ऐसी नयी विधा है जिसमें गीति तत्व होने के साथ-साथ भावना की तथा अंतःसंघर्ष की प्रमुखता रहती है। इसमें काव्य तत्व का प्रयोग अनुभूति की तीव्रता लाने के लिए होता है। यहां कविता नाट्य तत्व से नियमित रहती है। जयशंकर प्रसाद का "करुणालय" (1913) हिंदी का पहला गीति नाट्य है। यह बंगला के गीतिनाट्य से प्रभावित है।

प्रसाद युग में ही मैथिलीशरण गुप्त ने "अनघ" (1928) और हरिकृष्ण प्रेमी ने "स्वर्णविहान" (1930) गीति नाट्य लिखे हैं–ये नाट्य कला की दृष्टि से उतने स्तरीय नहीं हैं।

प्रसाद के बाद स्वतंत्रता से पूर्व भगवती चरण वर्मा का "तारा", उदयशंकर भट्ट के "मत्स्यगंधा" (1937), "विश्वामित्र" (1938) और "राधा" गीति नाट्य उल्लेखनीय हैं। भट्टजी के गीति नाट्यों में उनकी काव्यकला, नाटकीय संघर्ष और प्रतीकात्मकता का सुंदर समन्वय मिलता है। इसके अतिरिक्त भट्टजी के गीति नाट्यों में "अशोक वन वंदिनी", "संत तुलसीदास", "गुरुद्रोण का अंतर्निरीक्षण", "अश्वत्थामा" और "नहुष निपात" भी उल्लेख्य हैं। वस्तुतः इस काल में गीति नाट्य के सर्वप्रमुख लेखक भट्ट जी ही हैं।

सुमित्रानंदन पंत के गीति नाट्य "शिल्पी", "रजत शिखर" और "सौवर्ण" में संगृहीत हैं। सेठ गोविंद दास कृत "स्नेह या स्वर्ग" (1946) यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित है। सिद्धनाथ कुमार के पांच गीति नाट्य "सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य नाटक" में संगृहीत हैं–"सृष्टि की सांझ", "लौहदेवता", "संघर्ष", "विकलांगों का देश" और "बादलों का शाप"।

गीति नाट्य परम्परा में डॉ. धर्मवीर भारती के योगदान का विशेष महत्व है। उनके "अंधा युग" (1955) गीति नाटय ने हिंदी गीति नाट्य परम्परा को एक नया मोड़ दिया। यह पहला गीति-नाटक है जो सफलतापूर्वक रंगमंच, रेडियो पर अभिनीत एवं प्रसारित हो चुका है। पहली बार इसमें नाटक और काव्य की विशेषताओं का समन्वय दिखाई देता है। धर्मवीर भारती ने महाभारत की कथा को आधार बनाया है। इस कथा के माध्यम की वैचारिक, राजनीतिक ऊपर सामाजिक समस्याओं को प्रतिपादित किया है। इस नाटक ने युद्ध की विभीषिका द्वारा युद्ध विरोधी विचारों को सामने लाने का भी महत्वपूर्ण काम किया। दुष्यंत कुमार का "एक कंठ विषपायी" (1963) भी इसी परंपरा का गीति नाट्य है। गिरजा कुमार माथुर द्वारा रचित "पृथ्वी कल्प" (1960) में भी मानव मूल्यों के विघटन का चित्रण किया गया है।

संशय की एक रात' (1962) नरेश मेहता का गीति नाट्य है। इसका मूल आधार राम के हृदय में उत्पन्न यह संशय है कि रावण द्वारा अपहृता सीता के लिये युद्ध करें या न करें। युद्ध के पक्ष-विपक्ष में नरेश मेहता ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध के अनिवार्यता पर बल दिया गया है। जहां तक शिल्प का प्रश्न है, वह

विस्तृत और संश्लिष्ट होने के कारण नाटकीय गति और सौदर्य में बाधक है। ''उत्तर प्रियदर्शी'' (1967) अज्ञेय द्वारा रचित गीति नाट्य है इसका कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक है

भारतभूषण अग्रवाल कृत गीति नाट्य ''अग्निलीक'' (1976) में सीता निर्वासन प्रसंग लिया ,गया है । राम एक परम्परा पूजक, पुरातन पंथी के रूप में और सीता एक शोषित उत्पीड़ित, तर्कशीला, सजग नारी के रूप में चित्रि है । सीता के बलिदान से राम के हृदय पर अग्निलीक अंकित हो जाती है और उनका जीवन दर्शन बदल जाता है । अभिनेयता की दृष्टि से यह सफल नहीं कहा जा सकता है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल कृत ''सूखा सरोहर'' एक लोकगाथा पर आधारित गीति नाटक है इसमें शासक के सत्ता लोलुप और कर्तव्य विमुख होने से, प्रेम के अभाव में जीवन के सरोवर के सूखने की बात कही गयी है । मूल्यों के विघटन की समस्या को प्रतीको के माध्यम से दर्शाया गया है।

ये गीति नाटय, शैली, शिल्प और अभिनेयता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है ।

## 28.7.2 हिन्दी एकांकी

नाट्य इतिहास के आधुनिक युग में एकांकी एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित हुआ । इसकी विशेषताएं रहीं:

- सम्पूर्ण नाटक की एक ही अंक में समाप्ति ।
- एक खंड, स्थिति या संवेदना का प्रस्तुतीकरण ।
- एक ही मूल कथानक ।
- कथा में प्रभाव की सघनता और तीव्रता ।
- कम पात्र, गौण पात्र नगण्य ।
- स्थान, कार्य और समय की एकता ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के ''अंधेर नगरी'' ''विषस्यविषमौषधम'', ''वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'' आदि नाटक एक अंक में समाप्त होने वाली रचनाएं हैं । बद्रीनाथ भट्ट का ''रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छिना'', रूप नारायण पांडेय का ''मूर्ख मंडली'', बेचन शर्मा उग्र का ''चार बेचारे'', सुदर्शन का ''आनरेरी मजिस्ट्रेट'' आदि भी एक अंकीय नाट्य कृतियां हैं । इन लघुनाटकों में प्राचीन परम्परा का प्रभाव भी दिखायी पड़ता है । किंतु आज हम जिसे एकांकी नाटक कहते हैं, उसका स्वरूप इस परंपरा से बहुत भिन्न है ।

हिंदी एकांकी का प्रारंभ जयशकर प्रसाद के ''एक घूंट'' (1929) से माना जाता है। इसमें एकांकी की तकनीक का पूरा निर्वाह किया गया है । हिंदी में पाश्चात्य एकांकी के शिल्प से प्रभावित एकांकी नाटकों की रचना 1930 के दशक से होने लगी । हिंदी में एकांकी परम्परा को विकसित करने का श्रेय डॉ. रामकुमार वर्मा को दिया जाता है । उनका पहला एकांकी ''बादल की मृत्यु'' 1930 ई. में प्रकाशित हुआ । इसके बाद, वे निरंतर एकांकी रचना करते रहे ।

### एकांकी नाटक की सामान्य प्रवृत्तियां

हिंदी एकांकी का उदय उस समय हुआ जब देश में स्वतंत्रता-आंदोलन पूरी तरह ज़ोरों पर था । एकांकी की विषय-वस्तु भी अन्य साहित्यिक विधाओं की भांति अपने समय की आवश्यकताओं से प्रेरित थी । इस दौर के एकांकी नाटकों में भी देश प्रेम, राष्ट्रीय भावना और समाज सुधार आदि को विषय बनाया गया था । इसके लिए ऐतिहासिक कथानकों का सहारा लिया गया । दूसरी ओर सामाजिक समस्याओं के लिए तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को विषय बनाया गया । इतिहास आधारित एकांकी नाटकों में प्राचीन इतिहास और साहित्य के उन प्रसंगों को चुना गया जिनसे देश की प्राचीन गरिमा का पता चले तथा साहस, बलिदान, शौर्य और त्याग जैसे सद्गुणों से जनमानस उद्वेलित हो सके । रामकुमार वर्मा के ''शिवाजी'' ''औरंगज़ेब की आख़िरी रात'', ''चारुचित्रा'', ''विक्रमादित्य'', ''पृथ्वीराज की आंखें'', जगदीश चंद्र माथुर का ''कलिंग विजय'', डॉ. सत्येंद्र का ''कुणाल'', चतुरसेन के ''पन्नाधाय'', ''हाडा रानी'', तथा हरिकृष्ण प्रेमी कृत ''मान का

मंदिर", "मालव प्रेम" आदि एकांकी नाटकों में इतिहास के उन प्रसंगों को कथानक का विषय बनाया गया जो तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय चेतना को मजबूत बना सकें।

चौथे और पांचवे दशक में समस्यामूलक हिंदी एकांकी नाटक अधिक लिखे गये। इन एकांकियों में युगीन समस्याओं को प्रस्तुत करके उनके समाधान भी खोजे जाने लगे थे। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित भारतीय समाज में नयी समस्याएं उठ खड़ी हुईं। एक ओर प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं के प्रति विद्रोह भाव जाग रहा था तो दूसरी ओर नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व, प्रेम और विवाह की समस्याएं तथा विकृत कुंठाएं समाज और व्यक्ति को घेरने लगी थीं। यद्यपि 1936 में भुवनेश्वर प्रसाद का "कारवां" एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुका था जिसमें समाज की कुंठाजन्य विकृतियों और यौन समस्या को उभारा गया था लेकिन ये प्रकाश में नहीं आ पाया। भुवनेश्वर पर इब्सन और बर्नार्ड शॉ का प्रभाव पड़ा। भुवनेश्वर सर्वथा नयी तकनीक और दृष्टि लेकर हिंदी एकांकी क्षेत्र में आये। राष्ट्रीय आंदोलन और गांधीवादी विचारधारा के प्रभाव से अहिंसा, साम्प्रदायिकता, जाति उत्थान जैसी समस्याओं के समाधान में भी एकांकी नाटकों का सृजन किया गया।

इस युग के एकांकीकारों ने समाज की सूक्ष्म कमजोरियों को देखा, समझा, पहचाना और उसका समाधान प्रस्तुत किया। उदयशंकर भट्ट ने "सेठ लाभचंद", "दस हज़ार", "उन्नीस सौ पैंतीस" आदि एकांकियों में मध्यवर्गीय बाह्य आडम्बरों पर चोट की है। "नेता" एकांकी में उन्होंने स्वार्थी राजनीतिक व्यक्तियों पर गहरा व्यंग्य किया है। उपेंद्रनाथ अश्क ने अपने "जोंक" एकांकी में सामाजिक परंपराओं से जोंक की तरह चिपके हुए व्यक्तियों का चरित्र उजागर किया है। भगवती चरण वर्मा कृत "सबसे बड़ा आदमी" में भी इसी का चित्रण है। नये और पुराने संस्कारों का टकराव अश्क कृत "सूखी डाली" और उदय शंकर भट्ट कृत "बीमार का इलाज" एकांकियों में दिखायी पड़ता है।

राजनीति के क्षेत्र में चुनाव पद्धति से उत्पन्न विकृतियों को अश्क के "अधिकार का रक्षक" एकांकी में चित्रित किया गया है। इस तरह युगीन समस्याएं केवल प्रेम और विवाह से ही जुड़ी हुई नहीं हैं, वरन् नयी-पुरानी विचारधारा के संघर्ष, व्यक्ति की स्वतंत्रता, टूटते संयुक्त परिवार, राजनीति, मज़दूर आंदोलन आदि विविध विषयों से संबंधित हैं।

इस युग के एकांकी नाटकों में कथानक स्थूल से निरंतर सूक्ष्म की ओर अग्रसर हुए हैं। मनोद्वंद्व के सूक्ष्म चित्रण के साथ ही एकांकियों के शिल्प में सांकेतिकता को महत्व मिलने लगा। गणेश प्रसाद द्विवेदी के "सुहाग बिंदी", "दूसरा उपाय ही क्या है", "वह फिर आयी थी" एकांकी नाटकों में नारी और पुरुष मन की गहराई का चित्रण मिलता है और शिल्प की बारीकी के दर्शन होते हैं।

एकांकी में जैसे-जैसे कथानक और शिल्प में बारीकी आती गयी, वैसे-वैसे आदर्श के स्थान पर यथार्थवादी प्रवृत्तियां अधिक उभरकर सामने आती गयीं। चंद्रगुप्त विद्यालंकार के "मनुष्य की कीमत", "भेड़िये", "नवप्रभात" आदि एकांकियों में समाज और राष्ट्र की विविध समस्याओं का अंकन यथार्थवादी ढंग से किया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी एकांकी निरंतर विकास की ओर अग्रसर है। इस काल के कुछ एकांकी नाटकों में इतिहास पर आधारित कथानक लिये गये। इन कथानकों का उद्देश्य इतिहास के तथ्यों को ही प्रकट करना नहीं था, वरन इतिहास के माध्यम से वर्तमान संदर्भों को प्रस्तुत करना था। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के "ताजमहल के आंसू", "जहांनारा का स्वप्न", "नूरजहां की एक रात", "वरुण वृक्ष का देवता" आदि एकांकी नाटकों में प्रतिशोध, करुणा आदि का मनोविश्लेषण मिलता है। विनोद रस्तोगी मध्यकालीन इतिहास द्वारा नारी के शौर्य और बलिदान की गौरवगाथा प्रस्तुत करते हैं, जैसे "आज मेरा विवाह है" "जालवी विजय", "कसम कुरान की", "काला दाग", "दो चांद" आदि एकांकी।

हिंदी एकांकी ने रंगमंच को भी एक कलात्मक रूप दिया। विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, और डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल के एकांकी नाटकों में समाज की विद्रूपताओं और समस्याओं का गहरा अंकन मिलता है। मोहन राकेश कृत "अंडे के छिलके" एकांकी में पुरानी और नयी पीढ़ी के जीवन-मूल्यों की टकराहट को दर्शाया गया है तथा मानव मन की ग्रंथियों और कुंठाओं को खोला गया है। विष्णु प्रभाकर कृत "ये रेखाएं ये दायरे" एकांकी में परिवार नियोजन की समस्या उठायी गयी है तथा "आंचल और आंसू" में बहुपतित्व की समस्या

पर प्रकाश डाला गया है। सेक्स के विकृत रूप को लेकर भी कई एकांकी रचे गये। सत्येंद्र शरत् के "गुडबाई अनीता", "एस्फोडेल" और "प्रतिशोध" में काम समस्या और उससे उत्पन्न तनाव का चित्रण मिलता है। राजनीतिक गुटबंदी और शासन-तंत्र के खोखलेपन को लेकर भी कई एकांकी नाटक रचे गये। अवसरवादी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की स्वार्थपरता, धांधलेबाज़ी और अनुशासनहीनता देश की बर्बादी का कारण बनती है, सरकारी दफ्तरों का माहौल—ये बातें एकांकी का विषय बने हैं। विष्णु प्रभाकर का "कांग्रेस मैन बनो", राजेंद्र कुमार शर्मा के "अफसर" और "एक दिन की छुट्टी" एकांकी इसी तरह के हैं।

आज का हिंदी एकांकी नाटक प्रयोगशील है। इसमें कथ्य, रंगमंचीय शिल्प, संघर्ष, संवाद, पात्रों के मनोविश्लेषण आदि से संबंधित नये-नये प्रयोग किये गये हैं। आज का एकांकी नाटक मंच की अपेक्षा करके चलता है। इसमें प्रकाश और रंग संयोजन की कुशलता की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

### 28.7.3 रेडियो नाटक

रेडियो के अस्तित्व में आ जाने से रेडियो नाटक का चलन बढ़ने लगा। रेडियो माध्यम की विशेषता ही यही है कि इसके सहारे नाटक के पास श्रोताओं को पहुंचने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् नाटक स्वयं ही श्रोताओं के पास पहुंच जाता है। रेडियो नाटक आंखों से देखा तो नहीं जाता कानों से सुना जाता है। इसीलिए रेडियो नाटकों में अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त साधन है ध्वनि। रेडियो नाटक की कथा इस तरह रची जाती है कि उसकी सफल अभिव्यक्ति भाषा, ध्वनि और संगीत के द्वारा हो सके। रेडियो नाटक की कथा ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, रहस्यात्मक, काल्पनिक सभी प्रकार की होती है। स्वगत कथन, फ्लैश बैक, स्वप्न दृश्य आदि रेडियो नाटक में आसानी से आ सकते हैं।

यद्यपि रेडियो के माध्यम से नाटकों का प्रसारण बहुत समय से होता रहा है, पर रेडियो नाटकों का स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही विकास हुआ है। रेडियो से प्रसारित होने वाला पहला हिंदी नाटक चतुरसेन शास्त्री का "राधाकृष्ण" (1937) माना जाता है। 1947 से पहले के रेडियो नाटकों में विषय की दृष्टि से पुराण, इतिहास और रोमांस की प्रधानता रही। इनका उद्देश्य केवल हल्का मनोरंजन था। 1940 ई. से उपेन्द्रनाथ अश्क ने रेडियो के लिये लिखना प्रारंभ किया। उनके अनेक प्रसिद्ध एकांकी पहले रेडियो पर ही प्रसारित हुए। 1941 ई. से शिवदान सिंह चौहान, चंद्रकिरण सौमरिक्सा, चिरंजीत की रचनाएं भी रेडियो से प्रसारित होने लगीं। कुछ वर्षों बाद गिरिजाकुमार माथुर ने भी रेडियो के लिये लिखना प्रारंभ कर दिया। रेडियो नाटक के इसी प्रारंभिक दौर में चंद्रकिशोर जैन का रेडियो नाटक "विषकन्या" बहुत प्रसिद्ध हुआ। बाद में डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया।

प्रारंभिक रेडियो नाटकों का विषय इतिहास, सामाजिक जागरण, राष्ट्र निर्माण एवं सांस्कृतिक उत्थान रहा। कल्पना, आदर्श एवं सुधार की प्रवृत्तियां रेडियो नाटक का मुख्य अंग बनीं। इस तरह के नाटकों में प्रमुख हैं—

विष्णु प्रभाकर— "उपचेतना का छल", "सड़क", "सांप और सीढ़ी"।
चिरंजीत— "दादी मां जागी", "महाश्वेता", "खज़ाने का साम्य"।
रेवतीसरण शर्मा— "कल", "आग", "राख और रोशनी"।
मोहन राकेश— "रात बीतने तक", "आषाढ़ का एक दिन", "कंवारी धरती", "दूध और दांत"।
अमृतलाल नागर— "चक्करदार सीढ़ियां और अंधेरा", "गूंगा", "उतार चढ़ाव"।
विनोद रस्तोगी— "अंधेरा", "मिलन और पांव"।
सिद्धनाथ कुमार— "वे अभी कँवारी हैं", "वातायन खोलो", "रंग और रूप"।
भारतभूषण अग्रवाल— "महाभारत की सांझ", "अजंता की गूंज" और "खाई बढ़ती गयी"।
लक्ष्मीकांत वर्मा— "आदमी का ज़हर", "रबड़ का बबुआ", "परतों की आवाज़"।

चीनी (1962) और पाकिस्तानी (1965) आक्रमण के बाद भावनात्मक एकता और राष्ट्रीय

भावना से ओतप्रोत रेडियो नाटक प्रसारित हुए। पूरे दशक में राष्ट्रीय भावना मूलक रेडियो नाटक अधिक लिखे गये। कुछ नाटकों पर विज्ञान का प्रभाव भी देखा जा सकता है। इस दशक के मुख्य रेडियो नाटक हैं--

मुद्राराक्षस– "हंसी के दायरे", "दो चेहरे अंधेरे में", "काला आदमी", "उसका अजनबी", "लाईहरोबा"।
चिरंजीत– "तस्वीर उसकी", "काल कूप का काल चक्र"।
विष्णुप्रभाकर– "नीली छतरी", "लहरें और साये", "तीसरा व्यक्ति"।
डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल– "जंगल", "फिर बताऊंगा"।
भैरव प्रसाद गुप्त– "प्यानो और सोने का पिंजड़ा"।

सातवें दशक के बाद हिंदी रेडियो नाटकों में महानगरीय बोध, स्त्री-पुरुष के बदलते संबंध एवं विघटित जीवन मूल्यों से उत्पन्न जटिलताओं को अभिव्यक्ति मिली। आज के हिंदी नाटक मानव मन की गहराइयों में बैठने की क्षमता रखते हैं। इस काल के कुछ प्रमुख रेडियो नाटक हैं:-

मुद्राराक्षस– "काले सूरज की शवयात्रा", "कोलतार"।
चिरंजीत– "नया जन्म", "चक्रव्यूह", "ऊंचे पर्वत ऊंचे लोग"।
विष्णु प्रभाकर– "कुएं", चट्टान से चट्टान तक"।
मणिमधुकर– "अजनबी", "देशनिकाला", "ज़ाकिया अंजुम"।
के.पी. सक्सेना– "वो जो मैं नहीं हूं", "खुशबुएं क़ैद हैं"।

इनके अतिरिक्त "कोई एक किरण" (डॉ. सिद्धनाथ कुमार), "काले लबादों का शहर" (राजेन्द्र प्रसाद), "ज़िंदगी खत्म नहीं होती" (रेवतीशरण शर्मा), "चंद टुकडे औरत तथा परछाइयों का जंगल" (गिरीश बख्शी), "अपने अपने अजनबी" (मृदुला गर्ग), "रेडियो खराब हो गया", तथा "एक अनाम नाटक" (सुरेश सेठ) आदि रेडियो नाटक भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इस नये नाट्य रूप ने साहित्य में अपने आप को स्वतंत्र और समृद्ध विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया, कथ्य और शिल्प के नये-नये प्रयोग किये। आज उसके विविध प्रकार हैं–रूपक, फैंटेसी, डाक्यूमेंटरी, रेडियो रूपांतर, प्रहसन, झलकी आदि।

### 28.7.4 नुक्कड़ नाटक

नुक्कड़ नाटक आधुनिक युग की देन है। भारत में नुक्कड़ नाटक के उदय का श्रेय "इप्टा" (भारतीय जननाट्य संघ–इंडियन पीपुल्स थियेटर) को है। सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के प्रोत्साहन से इप्टा ने जनसाधारण की समस्या को, भावनाओं को नाटकों में वाणी दी और अपना पहला प्रदर्शन 1942 ई. में जनता के बीच जाकर किया।

दरअसल, भारत में रंगमंच, थियेटर बड़े शहरों में ही पाये जाते हैं और सर्वसाधारण का उन तक पहुंचना आसान नहीं होता। नाटक देखना उनके लिये महंगा पड़ जाता है। रंगमंचीय नाटक देखने के लिए टिकिट लेना हर एक के लिये संभव नहीं होता। रंगमंचीय नाटक में तमाम व्यवस्थाएं करनी पड़ती हैं, जैसे लाइटिंग व्यवस्था, वेशभूषा, मेकअप, फिर नाटक के प्रचार-प्रसार का कार्य जिसमें काफी मेहनत, समय और पैसे की आवश्यकता होती है। इन परेशानियों को देखते हुए आम जनता तक नाटक पहुंचाने के उद्देश्य से नुक्कड़ नाटक का उदय हुआ। इस तरह के नाटकों के प्रदर्शन के लिये किसी विशेष रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। सार्वजनिक पार्क, बाज़ार, बस स्टॉप, गली-मोहल्ले और औद्योगिक क्षेत्र नुक्कड़ नाटकों की रंगशालाएं कहे जा सकते हैं। इन रंगशालाओं के लिए बहुत अधिक पैसा नहीं चाहिये। लाइटिंग-व्यवस्था, मेकअप, वेशभूषा आदि की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। ये नाटक दिन में भी खेले जा सकते हैं। हां, केवल जनता के प्रति प्रतिबद्ध कलाकार ही इस क्षेत्र में आगे आने का साहस कर सकते हैं।

इस तरह जनता की भावनाओं को अभिव्यक्ति देने वाले लोकप्रिय माध्यम के रूप में नुक्कड़ नाटक का उदय हुआ है। कई राज्यों में यह किसानों, छात्रों, मेहनतकश ग़रीब तबके के लोगों की आवाज़ के साथ आवाज़ मिलाने के माध्यम के रूप में उभरा है। भारतीय नुक्कड़

नाटक प्राचीन नाटकों, लोकनाटकों और पश्चिमी रंगमंच से समान रूप से प्रभाव ग्रहण करता रहा है। आज के नुक्कड़ रंगकर्मी इसके विशिष्ट आकारगत स्वरूप के बारे में अधिक सजग हैं। वे अब एक नयी अभिनय शैली, नयी नाटकीय संरचना, नये लेखन कौशल, एक नये ढंग के प्रशिक्षण, संगीत, काव्य और समूहगान के एक नये इस्तेमाल और मंच प्रबंधन के नये तरीकों के बारे में सोचने लगे हैं।

नुक्कड़ रंगमंच यद्यपि अभी अपने शैशव काल में है लेकिन आम जनता की रोज़मर्रा की समस्याओं को उठाने की वजह से तथा जीवंतता और अनौपचारिक रूप के कारण इसने काफी लोकप्रियता हासिल की है। आज कई शौकिया नुक्कड़ नाट्य दल सामने आ चुके हैं, जो खुद सामूहिक रूप में अपने नाटक लिख रहे हैं या दूसरे क्षेत्रों और भाषाओं की रचनाओं का खुलकर रूपांतर और अनुवाद कर रहे हैं। नुक्कड़ नाटक के विकास में सफ़दर हाशमी, असग़र वजाहत, रमेश उपाध्याय, स्वयं प्रकाश, गुरुशरण सिंह, शिवराम और राजेश जोशी का योगदान सराहनीय है। रमेश उपाध्याय का "राजा की रसोई" और "गिरगिट" (चेखव की कहानी का रूपांतरण), शिवराम का "जनता पागल हो गयी है" तथा गुरुशरण सिंह का "जंगीराम की हवेली", नाटक काफी चर्चित हुए और कई बार खेले गये। जन नाट्य मंच, नई दिल्ली के जिन नक्कड़ नाटकों से सफ़दर हाशमी जुड़े रहे, उनमें उल्लेखनीय हैं–

"मशीन" (1978), "गांव से शहर तक" (1978), "राजा का बाजा" (1979) "अपहरण भाई चारे का" (1986) और "हल्ला बोल"। अकेले जन नाट्य मंच ने गत दस वर्षों में नब्बे शहरों में अलग-अलग 22 नाटकों की 4300 प्रस्तुतियां की हैं जिन्हें 25 लाख से ऊपर दर्शकों ने देखा है। ऐसे समय में जब सामुदायिक मनोरंजन के सभी रूप तेज़ी से ग़ायब होते ही रहे हैं, नुक्कड़ नाटक ऐसी कला को पुनर्जीवित कर रहा है, जिसका आनंद ढेर सारे दर्शक उठा सकते हैं।

**बोध प्रश्न**

14. गीति नाट्य की कोई तीन प्रमुख विशेषताएं बतायें।
    i) .....
    ii) .....
    iii) .....

15. कोई चार नाम बतायें जिन्होंने गीति नाट्य लिखे हैं।
    i) .....
    ii) .....
    iii) .....
    iv) .....

16. कोई ऐसे चार विषय बतायें जिन्हें एकांकी नाटकों में स्थान दिया गया हो।
    i) .....
    ii) .....
    iii) .....
    iv) .....

17. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर हां/नहीं में दें।
    i) रेडियो नाटक स्वयं श्रोताओं तक पहुंचता है। हां/नहीं
    ii) रेडियो नाटक की अभिव्यक्ति भाषा, ध्वनि और संगीत के द्वारा दर्शायी जाती है। हां/नहीं
    iii) रेडियो नाटक का विकास स्वतंत्रता से पूर्व ही हो चुका था। हां/नहीं
    iv) नुक्कड़ नाटक के उदय का श्रेय इप्टा को जाता है। हां/नहीं
    v) नुक्कड़ नाटक के लिये विशेष रंगमंच की आवश्यकता होती है। हां/नहीं
    vi) जन-जन तक नाटक पहुंचाने और उसके माध्यम से उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये नुक्कड़ नाटक का अविर्भाव हुआ। हां/नहीं

## 28.8 नाटक और रंगमंच

नेमिचंद्र जैन के कथन के अनुसार–"रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षकों का रंजन करके ही सम्पूर्ण और सफल होता है और अपना उद्देश्य पूरा करता है।" नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक हैं। रंगमंच के अभाव में नाटक के दृश्य होने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह नाटक का सम्पूर्ण कथा विन्यास, उसका अंकों एवं दृश्यों में विभाजन तथा उसके अंतर्गत दृश्य विधान आदि की पृष्ठभूमि में रंगमंच ही निहित रहता है।

### 28.8.1 स्वतंत्रता पूर्व हिंदी रंगमंच का विकास

ऐसी कोई शक्तिशाली भारतीय नाट्य-परम्परा उस समय हिंदी रंगमंच के सामने न थी जिसे वह अपने प्रेरणा स्रोत के रूप में ग्रहण करता। परंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हिंदी रंगमंच से पूर्व भारत में कोई नाट्य परंपरा ही नहीं थी। विकास और इतिहास की दृष्टि से संस्कृत-नाट्य परम्परा काफी प्राचीन थी। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्यकला के विभिन्न अंशों पर विचार करने के साथ-साथ रंगमंच और उसकी कला का भी विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत नाटकों की रचना अधिकतर रंगमंच पर अभिनीत किये जाने की दृष्टि से होती थी। मध्यकाल में रासलीला, रामलीला, नौटंकी आदि का उदय होने से जनरंगमंच का प्रचलन बढ़ने लगा लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में इसका विकास भी संभव न हो सका।

आधुनिक युग में संपूर्ण भारत में बंगाली रंगमंच ही सर्वप्रथम अस्तित्व में आया। व्यावसायिक होते हुए भी इस रंगमंच की दृष्टि में कला और साहित्य का अपूर्व समन्वय हुआ था।

**पारसी रंगमंच:** 1870 ई. से पारसी रंगमंच का आविर्भाव हुआ। 1867-68 में "विक्टोरिया नाटक मंडली", 1870 में "एल्फिंसटन नाटक मंडली", 1871 में "एलफ्रेड नाटक मंडली", 1874-75 में "ओरिजनल विक्टोरिया नाटक मंडली" और 1876 में "एम्प्रस विक्टोरिया नाटक मंडली" की स्थापना हुई थी।

इन थियेट्रिकल कंपनियों की कोई सुनिश्चित नाट्य-शैली नहीं थी। कथानकों का चुनाव कभी फ़ारसी प्रेम-कथाओं से, तो कभी रामायण-महाभारत से और कभी अंग्रेज़ी नाटकों "हेमलेट", "रोमियो-जूलियट" से या फिर कभी-कभी जन प्रचलित कथाओं– "पूरनभगत", "गोपीचंद" आदि से किया जाता था। कथानक चाहे कैसा भी हो, मुख्य उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन करना होता था। पारसी रंगमंच की अतिनाटकीयता और धन कमाने के सीमित उद्देश्य के कारण इनके नाटकों में अश्लील भाव-भंगिमाएं, बचकाने नृत्य, स्थान-स्थान पर गीत योजना और चमत्कारी दृश्यों द्वारा जनता का सस्ता मनोरंजन इनकी पहचान बन गया। हिंदी रंगमंच और सामान्य जनरुचि के लिये ये नाटक ठीक नहीं थे लेकिन इन सीमाओं के बावजूद पारसी रंगमंच का अपना महत्व है। इसने हिंदी नाटकों को लोकप्रिय बनाने में भूमिका अदा की। इसी के कारण हिंदी रंगकर्मी निजी रंगमंच के प्रति सजग हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 1935 तक अपने रंगमंचीय जादू से बांधे रखना पारसी थियेटर के ही प्रभाव का कमाल था।

**अव्यावसायिक रंगमंच:** इसी दौर में अन्य कई अव्यावसायिक रंगमंच भी स्थापित हुए। हिंदी रंगमंच के विकास में सर्वप्रथम अव्यावसायिक रंगमंच का उल्लेख भारतेंदु युग में मिलता है। भारतेंदु युग में अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई। बनारस, कानपुर और लखनऊ में अव्यावसायिक नाटक मंडलियों की स्थापना हुई। इन मंडलियों को प्रोत्साहन देने के लिये कई नाटकों में भारतेंदु ने स्वयं अभिनय भी किया।

पं. माधव शुक्ल, बालकृष्ण भट्ट, महादेव भट्ट, गोपाल दत्त त्रिपाठी, बृजचंद्र, कृष्णदास आदि ने अव्यावसायिक नाट्य मंडलियां स्थापित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। "काशी नागरी नाटक मंडली", "भारतेंदु नाटक मंडली", कलकत्ता में "हिंदी नाट्य समिति" और "हिंदी नाट्य परिषद" ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों का

UGHI-103/575

प्रदर्शन कर नाटक और रंगमंच को जीवन से जोड़ने का प्रयास किया। धीरे-धीरे ये नाटक मंडलियां अर्थाभाव और आपसी मतभेद के कारण खत्म हो गयीं।

पारसी रंगमंच के ह्रास के बाद सन् 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। इस संगठन के प्रोत्साहन से भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) का गठन किया गया और इसने अपना पहला प्रदर्शन बम्बई में सन् 1942 में किया। इप्टा ने हिंदी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं में नाटकों को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इप्टा ने नाटकों का मंचन जनता के बीच किया और ऐसे नाटक अधिक खेले जिनमें गरीब जनता के दुख-दर्द को विषय बनाया गया हो।

उस दौर में सरवालकर का "दादा" और सरदार जाफ़री का "यह किसका खून है" नाटक महत्वपूर्ण थे। इस प्रकार जिस सामाजिक सोद्देश्य कथावस्तु की तलाश थी, वह रंगमंच को प्राप्त हो गयी। मानवीय संवेदना रंगमंच के माध्यम से सशक्त रूप में प्रस्तुत होने लगी। रंगविधान के साथ सोद्देश्य नाट्य चेतना की यह लहर अखिल भारतीय स्तर पर फैलाने का वास्तविक कार्य "भारतीय जन-नाट्य संघ" ने ही किया। लेकिन सन् 1950 ई. के बाद भारतीय जन नाट्य संघ का वह प्रभाव नहीं रहा।

**पृथ्वी थियेटर्स:** सन् 1944 में पृथ्वीराज कपूर ने "पृथ्वी थियेटर्स" की स्थापना की। यह पारसी रंगमंच से प्रभावित होने पर भी उससे बहुत भिन्न था और इसने किसी न किसी रूप में प्रगतिशील नाट्य परंपरा से अपने को जोड़े रखा। यह मानव जीवन को यथार्थ रूप में प्रकट करने में सफल रहा। पृथ्वीराज कपूर का सशक्त अभिनय हिंदी रंग जगत में विशेषकर उल्लेखनीय है। "पृथ्वी थियेटर्स" में अभिनीत प्रमुख नाटक हैं – दीवार, शकुंतला, पठान, गद्दार, आहुति, कलाकार, "पैसा और किसान"। अंत में घाटे की वजह से और पृथ्वीराज की लगातार अस्वस्थता की वजह से सन् 1960 में इसे बंद कर दिया गया।

## 28.8.2 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच का विकास

सन् 1947 के आसपास महानगरों बम्बई, दिल्ली के अतिरिक्त उपनगरों बनारस, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद आदि में भी रंगमंचीय वातावरण क्रियाशील हो रहा था। अनेक छोटी-बड़ी नाट्य संस्थाएं मूल नाटक या अनुवादों का अभिनय प्रस्तुत करने लगी थीं। साथ ही साहित्यिक नाटकों का भी सृजन होने लगा था। प्रतिष्ठित घरों की महिलाओं ने अभिनय में भाग लेना आरंभ कर दिया था। जनसाधारण का भी ध्यान अभिनय कला की ओर आकृष्ट हुआ। वस्तुतः दिल्ली के रंगमंच ने अभिनय प्रदर्शन और रंगमंचीय गतिविधि को नया मोड़ दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार का ध्यान कलाओं के विकास की ओर आकर्षित हुआ और उसको समृद्ध बनाने के लिये भारत सरकार ने "संगीत नाटक अकादमी" की स्थापना की।

राजधानी के रंगमंचों में उल्लेखनीय हैं– श्री आर्ट्स क्लब, दिल्ली आर्ट थियेटर, लिटिल थियेटर ग्रुप, दिल्ली, इंद्रप्रस्थ थियेटर, यांत्रिक, कला साधना मंदिर, रंगमंच नामक संस्था। इसके अलावा अग्रदूत, अंकिता, अभियान, छायानट, प्रयोग, सृजन आदि संस्थाएं दिल्ली में उभर रही हैं।

सन् 1959 ई. में संगीत नाटक अकादमी की ओर से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा) और एशियन थियेटर इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। अब नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा, शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय का एक स्वायत्त संगठन बन गया है। इसमें तीन वर्ष की नाटक संबंधी शिक्षा प्रदान की जाती है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ एक्टिंग, सिनिक डिज़ाइन, कास्ट्यूम डिज़ाइन, लाइटिंग, मेकअप, थियेटर आर्किटेक्चर का अध्ययन कराया जाता है। साथ ही डायरेक्शन, स्टेजक्राफ्ट और स्कूल ड्रामेटिक्स का विशेष अध्ययन कराया जाता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा) के विद्यार्थियों द्वारा समय-समय पर नाटकों का अभिनय प्रदर्शन भी किया जाता है। इसके पास अपना "ओपेन एयर थियेटर" भी है। इसके भूतपूर्व निदेशक अब्राहम अलकाज़ी ब.व. कारंत और बृजमोहन शाह विशेष उल्लेखनीय हैं।

22 दिसंबर, सन् 1955 को कलकत्ता में "अनामिका" की स्थापना हुई। इसके निदेशकों में

श्यामानंद जालान, प्रतिभा अग्रवाल, बद्री तिवारी, कृष्ण कुमार और शिवकुमार जोशी उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता में ही सन् 1966 में "अदाकार" की स्थापना हुई। इसके निदेशक और संस्थापक हैं–कृष्णकुमार।

कलकत्ता में "संगीत कलामंदिर" (1945) ने अपने नाटकों का प्रदर्शन सन् 1963 में आरंभ किया। इसके निर्देशक बद्रीप्रसाद तिवारी हैं।

बम्बई में सत्यदेव दुबे के निर्देशन में चलने वाली नाट्य संस्था "थियेटर यूनिट", जयपुर का रवीन्द्र रंगमंच, कानपुर की संस्था दर्पण, इलाहाबाद का प्रयाग रंगमंच, वाराणसी की नागरी नाटक मंडली, श्री नाट्यम् आदि नाट्य संस्थाएं हिंदी रंगमंच के उत्थान में सक्रिय योग दे रही हैं।

**बोध प्रश्न**

18. रंगमंच के विकास को क्रमबद्ध करें। अपने उत्तर इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाये।

    (क) पारसी रंगमंच का आविर्भाव
    (ख) बंगाली रंगमंच का अस्तित्व
    (ग) थियेट्रीकल कंपनियां
    (घ) हिंदी रंगमंच
    (ङ) अव्यावसायिक रंगमंच

19. हिंदी रंगमंच के उत्थान में जो नाट्य संस्थाएं सक्रिय योग दे रही हैं, उनमें से किन्हीं चार के नाम बताइये।

    i) .....
    ii) .....
    iii) .....
    iv) .....

## 28.9 सारांश

इस इकाई को आपने ध्यान पूर्वक पढ़ा होगा। इसे पढ़ने के बाद अब आप हिंदी नाट्य-साहित्य का विवरण प्रस्तुत कर सकेंगे। हिंदी नाट्य-साहित्य का आरंभ लगभग 19वीं शताब्दी से हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिये हिंदी नाट्य साहित्य को विभिन्न युगों में बांटा गया। प्रसाद पूर्व हिंदी नाटकों में भारतेंदु युगीन और द्विवेदी युगीन नाटक आते हैं। हिंदी नाट्य कला के प्रवर्त्तक के रूप में भारतेंदु ने जो नेतृत्व किया, उसे जयशंकर प्रसाद ने आगे बढ़ाया। पहली बार प्रसाद के प्रयास से हिंदी नाटक भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों, राष्ट्रीय भावनाओं, ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा आधुनिक समस्याओं से युक्त हुए। प्रसाद के बाद स्वतंत्रता से पहले समस्या नाटकों का सूत्रपात हुआ जिसके प्रवर्त्तक लक्ष्मीनारायण मिश्र के बारे में भी आपने पढ़ा। स्वतंत्रता के बाद के युग में हिंदी नाटकों में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिसकी विस्तृत चर्चा इस इकाई में की गयी है।

इन्हीं वस्तुगत और शैली-शिल्पगत नये-नये प्रयोगों ने नाटक विधा के विभिन्न रूपों को जन्म दिया। गीति नाट्य, एकांकी के विकास का वर्णन भी आप प्रस्तुत कर सकेंगे। इस इकाई में रेडियो नाटकों की भी संक्षिप्त चर्चा की गयी है। श्रव्य के माध्यम से इस विधा ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाया है। इस माध्यम ने ध्वनि प्रभाव और संगीत की सहायता से श्रोताओं की काल्पनिक शक्ति को सशक्त बनाने में सहायता की और नाट्य विधा को उल्लेखनीय ऊँचाइयों तक पहुंचाया।

इसी से जुड़ी हुई दूरदर्शन नाटकों की विधा भी धीरे-धीरे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना रही है। इसमें श्रव्य के साथ-साथ दृश्य का भी सशक्त समावेश हुआ है। भविष्य में इससे नाट्य साहित्य को बहुत सी आशाएं हैं।

आधुनिक नाट्य विधाओं में नुक्कड़ नाटकों का गिना जाना अब अनिवार्य हो गया है। इप्टा ने इसका आरंभ किया था और तब से इस विधा में विभिन्न नाटक लिखे और खेले जाते रहे। शिवराम, गुरुशरण सिंह, असग़र वजाहत और राजेश जोशी के अतिरिक्त सफ़दर हाशमी का इसमें महत्वपूर्ण योगदान है।

हिंदी नाट्य इतिहास के साथ-साथ रंगमंच का इतिहास भी जुड़ा हुआ है क्योंकि इनका चोली-दामन का साथ है। भारतेंदु के प्रयासों से शुरू हुआ अव्यावसायिक रंगमंच स्वतंत्रता के बाद तक निरंतर नये-नये प्रयोगों से जुड़ा रहा। रंगमंच को आगे बढ़ाने में संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा) ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। विभिन्न शहरों में अनेक नाट्य संस्थाएं किस प्रकार इनके उत्थान में प्रयासरत हैं, यह भी आपने जान लिया होगा।

## 28.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें


| | | | |
|---|---|---|---|
| ओझा डॉ. दशरथ | : | आज का हिंदी नाटक: प्रगति और प्रभाव | राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली। |
| कथूरिया डॉ. सुंदरलाल | : | समसामयिक हिंदी नाटक: बहुआयामी व्यक्तित्व | साहित्यकार प्रकाशन, दिल्ली। |
| नगेंद्र (सम्पादक) | : | हिंदी साहित्य का इतिहास | नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली। |
| चौहान डॉ. रामगोपाल सिंह | : | आधुनिक हिंदी साहित्य (1947-1962) | विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। |
| गिरीश डॉ. रस्तोगी | : | हिंदी नाटक: सिद्धांत ग्रंथम और विवेचन | रामबाग, कानपुर। |
| वार्ष्णेय डॉ. लक्ष्मीसागर | : | द्वितीय महायुद्धोत्तर साहित्य का इतिहास | राजपाल एंड सस, कश्मीरी गेट, दिल्ली। |
| वर्मा डॉ. हरिशचंद्र गुप्त डॉ. रामनिवास | : | हिंदी साहित्य का इतिहास | मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक। |
| शुक्ल डॉ. सुरेशचंद्र नीलम मसंद | : | हिंदी नाटक और नाटककार | पुस्तक संस्थान, कानपुर। |
| जननाट्यमंच, दिल्ली | | सफ़दर | राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली। |


## 28.11 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1. (ख)
2. (क) प्रसाद पूर्व हिंदी नाटक (भारतेंदु युगीन, द्विवेदी युगीन)

(ख) प्रसाद युगीन हिंदी नाटक
(ग) प्रसादोत्तर स्वतंत्रता पूर्व हिंदी नाटक
(घ) स्वातंत्रयोत्तर हिंदी नाटक

3. (क) पहली बार भारतेंदु ने हिंदी गद्य में विविध विषयों के मौलिक नाटकों की रचना की।
(ख) पहली बार शिष्ट हास्य-व्यंग्य प्रधान प्रहसन लिखने की परम्परा का सूत्रपात किया।
(ग) संस्कृत बंगला और अंग्रेजी नाट्य कला का समन्वय कर हिंदी की स्वतंत्र नाट्य कला की नीव डाली।
(घ) पहली बार हिन्दी रंगमंच की स्थापना का प्रयास किया।

4. पांच भेद किये जा सकते हैं--
i) पौराणिक
ii) ऐतिहासिक
iii) सामाजिक
iv) प्रतीकात्मक
v) प्रहसन।

5. (क) (घ) (ड)

6. (क) भारत के अतीत की गौरवमयी अनुभूति का आधुनिक संदर्भों में चित्रण।
(ख) प्रेम की भावुक तथा मानवीय संवेदना।
(ग) उच्च आदर्शों के प्रति अनुराग।
(घ) शैली-शिल्प की स्वच्छंदता।

7. (क) नहीं (ख) हां (ग) नहीं (घ) हां (ड) नहीं।

8. (क) नारायण प्रसाद "बेताब"
(ख) आगा हश्र "कश्मीरी"
(ग) सुदर्शन
(घ) गंगा प्रसाद श्रीवास्तव

9.

| | |
|---|---|
| (क) भावना की बजाय बुद्धि तत्व प्रमुख | लक्ष्मीनारायण मिश्र |
| (ख) यथार्थवादी प्रवृत्ति | उदयशंकर भट्ट |
| (ग) मनोवैज्ञानिक विवेचन | उपेन्द्रनाथ अश्क |

10. प्रसाद युग की भावुकता और आदर्श के प्रतिक्रिया स्वरूप यथार्थ और बुद्धि तत्व का हिन्दी नाटकों में प्रवेश हुआ। व्यक्ति की समस्याओं का विश्लेषण बुद्धि के द्वारा किया जाने लगा। इस तरह समस्या नाटकों का सूत्रपात हुआ जिसके प्रमुख प्रवर्त्तक लक्ष्मीनायारण मिश्र हैं। उनके कुछ समस्या नाटक हैं - "सिंदूर की होली" "आधी रात" "सन्यासी" "राक्षस क मंदिर "मुक्ति का रहस्य" आदि।

11. (ख) (ग) (ड)

12. i) द्वितीय महायुद्ध के बाद मानवीय जीवन और मूल्यों का विघटन होने लगा।
ii) अनास्था, अमानवीयता से मानव जीवन की व्यर्थता का बोध हुआ।
इन्हीं स्थितियों में एब्सर्ड नाटकों का प्रारंभ।

13.

| | |
|---|---|
| i) मणिमधुकर | रसगंधर्व |
| ii) मुद्राराक्षस | तिलचट्टा |
| iii) लक्ष्मीकांत वर्मा | रोशनी एक नदी है |
| iv) काशीनाथ सिंह | धोआस |



14. i) काव्य ii) भावना iii) आंतरिक द्वंद्व।

15. i) धर्मवीर भारती ii) दुष्यंत कुमार iii) भारत भूषण अग्रवाल iv) लक्ष्मीनारायण लाल

16. i) देशप्रेम ii) समाज सुधार iii) यौन समस्या iv) जाति उत्थान।
17. i) हां ii) हां iii) नहीं vi) हां v) नहीं vi) हां।
18. i) ख ii) क iii) ग iv) ङ v) घ।
19. i) नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा ii) यांत्रिक iii) अनामिका iv) थियेटर यूनिट।

**अभ्यास**

1. देखें भाग 28.2
2. विद्यार्थी स्वंय करें।

# इकाई 29 निबंध एवं अन्य गद्य विधाएं

**इकाई की रूपरेखा**

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 हिंदी निबंध का विकास
29.2.1 शुक्ल पूर्व युग
29.2.2 शुक्ल युग
29.2.3 शुक्लोत्तर युग
29.3 संस्मरण – रेखाचित्र
29.4 जीवनी – आत्मकथा
29.5 यात्रा साहित्य – रिपोर्ताज
29.6 सारांश
29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 29.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम आपको हिंदी निबंध के विकास तथा अन्य गद्य विधाओं से परिचित करायेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- हिंदी निबंध के विकास का विवरण प्रस्तुत कर सकेंगे,
- हिंदी निबंध की विकास परंपरा के विभिन्न चरणों की विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे,
- हिंदी गद्य की अन्य विधाओं का रचनात्मक वैशिष्ट्य बता सकेंगे, तथा
- हिंदी गद्य की विधाओं, संस्मरण–रेखाचित्र, जीवनी–आत्मकथा, यात्रा साहित्य–रिपोर्ताज में अंतर कर सकेंगे।

## 29.1 प्रस्तावना

ऐच्छिक पाठ्यक्रम-3 की यह 29वीं इकाई है जो हिंदी निबंधों तथा गद्य की अन्य विधाओं–संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आत्मकथा, यात्रा साहित्य और रिपोर्ताज के इतिहास से संबंधित है। ये सभी साहित्य की नयी विधाएं हैं और पत्र-पत्रिकाओं के बढ़ते प्रसार ने इन्हें लोकप्रिय बनाया है। इनकी शुरुआत उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए निबंध विधा बड़ी कारगर थी अत भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन लेखकों ने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए इस विधा का सहारा लिया। भारतेंदु युग के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी युग में "सरस्वती" पत्रिका के माध्यम से निबंधो का विकास हुआ। किंतु शुक्ल युग मे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने निबंधों को प्रौढ रूप प्रदान किया। निबंधों में गहन वैचारिकता और विश्लेषण के तत्वों का समावेश हुआ। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने एक नयी शैली विकसित की जो ललित निबंध के नाम से जानी जाती है। इन सबकी जानकारी इस इकाई मे दी जाएगी जिससे हिंदी निबंध के विकास क्रम में आए महत्वपर्ण परिवर्तनों और उनकी विशिष्टताओ को आप समझ सकें। इसके साथ गद्य की अन्य विधा में संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी आत्मकथा यात्रा साहित्य और रिपोर्ताज की विशेषताओं के बारे मे भी बताया जाएगा।

## 29.2 हिंदी निबंध का विकास

साहित्य रूप की दृष्टि से हिंदी में निबंध का जन्म और विकास आधुनिक युग की देन है। साहित्य के अनेक रूपों के साथ निबंध रूप का आविर्भाव अनेक कारणों से हुआ – राष्ट्रीय जागरण, देश प्रेम, व्यक्ति स्वातंत्र्य, अन्तर्राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक मशीनों का प्रयोग (औद्योगिक क्रांति), आवश्यकताओं की वृद्धि, गद्य का प्रचलन, मुद्रण कला का प्रचार पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और अंग्रेज़ी साहित्य का संपर्क आदि। इन सब कारणों से निबंध रचना को विशेष प्रोत्साहन मिला क्योंकि इस विधा के माध्यम से लेखक अपनी बात पाठकों तक सीधे पहुंचा सकता था। हिंदी निबंध की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। निबंध की आरंभिक परंपरा में भारतेंदु युग के लेखकों का विशेष महत्व है क्योंकि उन्होंने विषय, शैली और भाषा तीनों स्तरों पर निबंधों में नये प्रयोग किए किंतु निबंधों का प्रौढ़ रूप द्विवेदी युग में ही प्राप्त हुआ। इस दौर में जहां एक ओर भाषा का मानक रूप निर्मित हुआ, वहीं दूसरी ओर चिंतन में प्रौढ़ता और शैली में परिष्कार भी हुआ। हिंदी निबंध के विकास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का केंद्रीय महत्व रहा है। उन्होंने विचार, शैली और भाषा तीनों स्तरों पर हिंदी निबंध को उच्च स्तरीय स्वरूप प्रदान किया। जिस प्रकार हिंदी नाटक और कविता के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष महत्व रहा है, उसी प्रकार हिंदी निबंध के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विशेष महत्व है। इसलिए हिंदी निबंध के विकास के केंद्र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल को मानते हुए हम उसे तीन युगों में बाँट सकते हैं–

1) शुक्ल-पूर्व युग (1850 से 1920)
2) शुक्ल युग (1920 से 1940)
3) शुक्लोत्तर युग (1940 से आज तक)

### 29.2.1 शुक्ल-पूर्व युग (सन् 1850 से 1920)

हिंदी नाटक की ही भांति हिंदी निबंध लेखन की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 1868 ई. में "कवि वचन सुधा" का प्रकाशन आरंभ किया। इसके प्रकाशन ने हिंदी में साहित्यिक लेखन को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। बाद में स्वयं भारतेंदु ने "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" और "बाला बोधिनी" पत्रिका की भी शुरुआत की। भारतेंदु युग के ही कई अन्य लेखकों ने भी कई पत्र-पत्रिकाएं शुरु कीं। इनमें प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रकाशित "ब्राह्मण", बालकृष्ण भट्ट का "हिंदी प्रदीप", बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन का, "आनंद कादंबिनी", श्रीनिवासदास का "सदादर्श" आदि प्रमुख हैं। उस युग में लिखे गए निबंध प्रायः इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे।

वैसे हिंदी में निबंध लेखन की शुरुआत कब हुई और पहला निबंध कब लिखा गया और किसने लिखा, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। आमतौर पर माना जाता है कि बालकृष्ण भट्ट हिंदी निबंध के जनक हैं।

**भारतेंदु युग (1875-1900):** भारतेंदु युग के निबंधों की मूल प्रेरणा अपने समाज के नैतिक और राजनीतिक जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की भावना है। इसलिए इस युग के निबंधकारों ने समाज सुधार, राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, अतीत-गौरव का प्रेम, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश आदि को अपने निबंधों का विषय बनाया है। यद्यपि उस समय विदेशी शासन के विरुद्ध जन आंदोलन शुरू नहीं हुए थे, इसलिए लेखकों ने अंग्रेज़ी शासन के प्रति भक्ति भावना भी दिखलाई है, लेकिन राष्ट्र के विकास की चिंता और उसके प्रति प्रेम भी बराबर व्यक्त हुआ है। भारतेंदु युग के निबंधकारों ने इन विषयों के अतिरिक्त ऐसे विषयों पर भी निबंध लिखे जिनमें उनकी जिंदादिली और विनोदवृत्ति झलकती है। जैसे–"आँख", "नाक", "कान", "भौं", "धोखा", "बुढ़ापा" आदि विषयों पर निबंध लिखे गए। भारतेंदु युग के लेखकों की मूल प्रवृत्ति मनोविनोद की थी, इसलिए वे गंभीर से गंभीर विषय को हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में सजीव बनाकर प्रस्तुत करते थे। उनके निबंधों में गंभीर विवेचन का प्रायः अभाव मिलता है लेकिन वे रससिक्त, चुटकी और चिकोटी से भरे पड़े हैं। व्यक्तित्व का सहज समावेश होने के कारण इस दौर के निबंधों की प्रमुख विशेषता आत्मनिष्ठता है।

भारतेंदु युग में हिंदी भाषा का कोई मानक रूप नहीं बना था। व्याकरण की दृष्टि से वह निर्दोष नहीं कही जा सकती। लेकिन बात को प्रभावशाली ढंग से कहना वे जानते थे, विशेषकर भाषा के माध्यम से व्यंग्य और विनोद की सृष्टि करने में वे माहिर थे। मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग से इस युग के निबंधों की भाषा प्राणवान बन गयी है। उनके पास व्यापक शब्द भंडार हैं। तत्सम, तद्भव शब्दों के साथ अरबी–फ़ारसी–उर्दू शब्दों की बहुतायत है। कुछ निबंध तो पूर्णतः उर्दू शैली में लिखे गए हैं। प्रायः उनकी शैली निष्कर्ष निकालकर शिक्षापूर्ण निर्देश और उपदेश देने की है।

इस युग के प्रमुख निबंधकारों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी "प्रेमधन", लाला श्रीनिवासदास, अंबिकादत्त व्यास, बालमुकुंद गुप्त, जगमोहन सिंह, केशवराम भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) साहित्य में युगप्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने इतिहास, पुरातत्व, धर्म, समाज-सुधार, जीवनी, यात्रा वर्णन, भाषा आदि विषयों पर व्यंग्यात्मक शैली में निबंध लिखे। विषयों की विविधता उनके विस्तृत अध्ययन और व्यापक जीवनानुभवों का परिणाम थी। उनके निबंधों में जहां इतिहास, धर्म, संस्कृति और साहित्य की गहरी जानकारी का परिचय मिलता है, वहीं देशप्रेम, समाज सुधार की चिंता और गौरवशाली अतीत के प्रति निष्ठा का भाव भी प्रकट होता है। "भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है", "लेवी प्राण लेवी" और "जातीय संगीत" में राष्ट्र के प्रति उनकी गहरी निष्ठा व्यक्त हुई है तो "स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन", "पाँचवें पैगम्बर", "क़ानून ताजीरात शौहर", "ज्ञात विवेकिनी सभा", "अंग्रेज़ स्तोत्र", "कंकड़ स्तोत्र" जैसे निबंधों में उनकी राजनीतिक चेतना के साथ ही व्यंग्य-विनोद की क्षमता का पता लगता है। भारतेंदु के निबंधों की भाषा में उर्दू, संस्कृत और बोलचाल की हिंदी के शब्दों का प्रयोग हुआ है। "क़ानून ताजीरात शौहर" की भाषा उर्दूनिष्ठ है, एक उदाहरण देखिए:

> "जो शौहर अपनी जोरु से लड़ना चाहे या लड़े या ग़ैर शख़्स जो उससे लड़ता हो, उसकी इमदाद करे तो उसको किसी क़िस्म की क़ैद की सज़ा दी जायेगी लेकिन अगर अदालत की राय में यह जुर्म संगीन मालूम हो तो हब्सदवाम बअबूर दरयायशोर की सज़ा देने का भी अदालत को अख़्तियार है "।

उपर्युक्त अंश की भाषा उर्दूनिष्ठ है और इसमें व्यंग्य-विनोद भी है। भाषा के एक अन्य रूप का उदाहरण भी देखिए:

> "भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मगण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है।इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाश होते हैं, किंतु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके हेतु मैंने यह सोचा कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जायें "।
>
> (जातीय संगीत: भारतेंदु)

उपर्युक्त अंश में संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है लेकिन भाषा सहज है। एक बात जो ध्यान देने की है वह यह कि भाषा के प्रति भारतेंदु का दृष्टिकोण यथार्थवादी था। इस तथ्य का पता हमें उनके पहले उदाहरण से चलता है जिसमें कि क़ानून संबंधी विषय का वर्णन है। चूंकि उस समय अदालतों की भाषा उर्दूनिष्ठ थी, भारतेंदु के निबंध की भाषा भी उर्दूनिष्ठ है।

**बालकृष्ण भट्ट (1844-1914):** इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं। उन्होंने लगभग एक हज़ार निबंध लिखे हैं। बालकृष्ण भट्ट ने बत्तीस वर्षों तक "हिंदी प्रदीप" निकाला। उन्होंने समाज, साहित्य, धर्म, संस्कृति, रीति, प्रथा, भाव, कल्पना सभी क्षेत्रों से विषयों का चयन किया है। भट्ट जी के निबंधों में हास्य-विनोद के साथ कल्पना, भावना और वैचारिकता भी पायी जाती है। उनकी भाषा प्रायः बोलचाल के समीप है। उनमें हिंदी के अतिरिक्त उर्दू, अंग्रेज़ी, संस्कृत के शब्दों का काफ़ी प्रयोग हुआ है जिससे भाषा कहीं-कहीं बोझिल हो गयी है। उन्होंने "चारुचरित्र" "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है"

"चरित्रपालन", "प्रतिभा", "आत्मनिर्भरता" जैसे विचारात्मक निबंध, "आंसू", "मुग्ध माधुरी", "पुरुष अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं", "प्रेम के बाग़ का सैलानी" आदि भावात्मक निबंध, "संसार–महानाट्य शाला", "चन्द्रोदय", "शंकराचार्य" और "नानक" जैसे वर्णनात्मक निबंध, "आँख", "कान", "नाक", "बातचीत" जैसे सामान्य विषयों तथा "इंगलिश पढ़े सो बाबू होय", "दंभाख्यान", "अकिल अजीरन रोग" जैसे व्यंग्य-विनोदपरक निबंध लिखे। सामाजिक समस्याओं पर लिखे गये निबंध हैं–"बालविवाह", "स्त्रियां और उनकी शिक्षा", "महिला स्वातंत्र्य" आदि।

**प्रतापनारायण मिश्र (1856-1894):** इनका हिंदी निबंध के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें तीखे व्यंग्य और विनोद की वृत्ति थी, जिसका उल्लेख स्वयं रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में किया है। इनकी भाषा में "व्यंगपूर्ण वक्रता" की मात्रा अधिक है। इसके लिये वे लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। मिश्र जी ने जहां एक ओर "भौं", "बुढ़ापा", "होली", "धोखा", "मरे को मारे शाहमदार", जैसे विनोद और सूझपूर्ण निबंध लिखे हैं, वहाँ दूसरी ओर "शिवमूर्ति", "काल", "स्वार्थ", "विश्वास", "नास्तिक" जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलायी है।

**बालमुकुंद गुप्त (1865-1907):** भारतेंदु युग के प्रतिभावान निबंधकार हैं। इन्होंने द्विवेदी युग में भी महत्वपूर्ण लेखन किया है। गुप्त जी ने "बंगवासी" और "भारतमित्र" पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इन पत्रिकाओं के माध्यम से ही उनके निबंध प्रकाशित हुए। उनके निबंधों में गहन चिंतन, तीखा व्यंग्य, और मीठी हँसी का समावेश मिलता है। "शिवशंभु का चिट्ठा" के आठों चिट्ठे उनकी देशभक्ति की भावना के द्योतक तो हैं ही, व्यंग्य और गहरी विचारशीलता के भी परिचायक हैं। इनके निबंधों का संग्रह "गुप्त निबंधावली" नाम से प्रकाशित हुआ है।

**द्विवेदी युग (1900 से 1920):** हिंदी निबंध का द्वितीय उत्थान द्विवेदी युग में "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" तथा "सरस्वती" के प्रकाशन से प्रारंभ होता है। इस युग में राष्ट्रीय चेतना और अधिक परिपक्व हो चुकी थी। यह युग राष्ट्रीय जागृति, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, अतीत गौरव, सांस्कृतिक नवजागरण तथा भाषा के परिष्कार का युग है। अतः इस युग में निबंधों में विषयों की विविधता, विचारों की गंभीरता और भाषा की शुद्धता और व्याकरण सम्मतता मिलती है। उधर राष्ट्रीय परिस्थितियों ने संपूर्ण युग को गंभीरता, उत्तरदायित्व तथा सोद्देश्यता से ऐसा बोझिल बना दिया कि व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, राग-रस आदि की मात्रा कम होती गयी। इस युग के निबंध पत्र-पत्रिकाओं में अधिक प्रकाशित हुए। इनमें "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (1897), "सरस्वती" (1900), "समालोचक" (1902), "इंदु" (1909), "मर्यादा" (1910), "प्रभा" (1913) आदि प्रमुख हैं।

इस युग के निबंधकारों में बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्याम सुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, सरदार पूर्णसिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, माधवप्रसाद मिश्र आदि प्रमुख हैं।

**महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938):** महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मूलतः विचारात्मक निबंध लिखे लेकिन उनमें तात्विक विश्लेषण और सूक्ष्म चिंतन का अभाव है। द्विवेदी जी को इस बात की चिंता सबसे अधिक थी कि हिंदी पाठक की ज्ञान-पिपासा को कैसे तृप्त किया जाये। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उपलब्ध नयी और उपयोगी जानकारी उस तक कैसे पहुंचाई जाये और सबसे बढ़कर उसमें हिंदी माध्यम से सोचने की क्षमता का विकास कैसे किया जाये। इसके लिये उन्होंने कहानी, निवेदन, उपदेश, संदेश, निर्देश, प्रमाण, उदाहरण, तथ्य का उल्लेख आदि बहुविध उपयोगी एवं रोचक पद्धतियों से निबंध का प्रारंभ, विकास और समापन करते हुए पाठकों को नूतन सामग्री दी। 1903 में "सरस्वती" के संपादकत्व का कार्यभार संभाला और 1920 तक इस कार्य में लगे रहे। द्विवेदी जी ने "सरस्वती" के माध्यम से हिंदी भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता और नवीनता प्रदान की। "उन्होंने अनेक प्रकार के उपयोगी, ज्ञान विषयक, ऐतिहासिक, पुरातत्व तथा समीक्षा संबंधी निबंध लिखे। उन्होंने गद्य की अनेक शैलियों का प्रवर्तन तथा भाषा का संस्कार किया। अंग्रेज़ी के "बेकन" के निबंधों का अनुवाद भी "बेकन विचार-रत्नावली" के नाम से प्रस्तुत किया, जिससे हिंदी के अन्य अनेक लेखकों को निबंध लिखने की प्रेरणा मिली।" (हिंदी साहित्यकोश: भाग 2, सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा)।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के समीक्षात्मक निबंधों में "कवि और कविता", "साहित्य की महत्ता", वर्णनात्मक निबंधों में "एक योगी की साप्ताहिक समाधि" और "अद्भुत इंद्रजाल" आदि प्रमुख हैं। युगव्यापी नीरसता से अलग हटकर उन्होंने कुछ ऐसे निबंध भी लिखे जिनमें विचारों के ऊपर लालित्य का रंग चढ़ गया है। साधारण विषय को भी गंभीर स्तर तक उठाने और गूढ़ अर्थों के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। "दण्डदेव का आत्मनिवेदन" इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

**पंडित माधव प्रसाद मिश्र :** द्विवेदी युग के प्रभावशाली लेखक थे। उन्होंने "सुदर्शन" का सम्पादन किया था। भारत की प्राचीन संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। राष्ट्र के उत्थान और जनसाधारण के आर्थिक तथा नैतिक विकास की हार्दिक लालसा उनके मन में थी। इस दृष्टि से "श्री पंचमी" शीर्षक निबंध उल्लेखनीय है, एक उदाहरण देखिए–

> "जो रुपये लेकर पतित से पतित पुरुष को भी धर्मात्मा और वर्णसंकर या शूद्र को क्षत्रिय बना सकते हैं, धर्म-व्यवस्था के नाम से अधर्म और रक्त से भरी व्यवस्था दे सकते हैं और जो एक दरिद्र निस्संबल पर धर्मात्मा पुरुष के गिड़गिड़ाने और हा-हा खाने पर भी बिना टका लिये चार-पांच पंक्ति लिखना मूर्खता समझते हैं, उन अर्थ-पिशाच पापियों को इस सारस्वतोत्सव में लेखनी-पूजन का क्या अधिकार है?"

(माधव प्रसाद मिश्र निबंधमाला, तृतीय खंड, पृष्ठ 6)

उपर्युक्त उदाहरण में भाषा संस्कृतनिष्ठ है। लेकिन मिश्र जी की भाषा में प्रचलित मुहावरों और बोलचाल के शब्दों से व्यंजना-शक्ति बढ़ गयी है।

मिश्र जी की शैली ओज और प्रवाह से पूर्ण है। उसमें सर्वत्र भाषण का-सा आरोह और अवरोह दिखायी पड़ता है। विवेचन के प्रसंगों में भी राग-तत्व की प्रधानता है।

मिश्र जी ने कुछ ऐसे निबंध भी लिखे हैं जिनका संबंध मनोविकारों और गार्हस्थिक समस्याओं से है। इनमें शास्त्रीय निरूपण कम है, अनुभव और व्यवहार का सहारा अधिक लिया गया है। कुछ चिंतनपरक निबंध भी हैं जैसे–"सब मिट्टी हो गया"। त्यौहारों और पर्वों पर उनके निबंध भावपूर्ण और कल्पना के सौंदर्य से सम्पन्न बने–"होली", "रामलीला", "व्यासपूजा", "श्रीपंचमी" आदि। शोध और अनुसंधान के क्षेत्र में उनकी खंडन-मंडनपूर्ण शैली प्रभावपूर्ण थी। "बेवर का भ्रम" इसका अच्छा उदाहरण है।

**बाबू श्यामसुंदरदास:** के अधिकांश निबंध आलोचनात्मक हैं। उनके विषय प्रायः साहित्यिक और सांस्कृतिक रहे। इनमें विचारों और भावों का प्रवाह निरंतर जारी रहता है। उनके विवेचन में जितना विस्तार मिलता है, उतनी गहराई नहीं। इसके दो कारण हैं–पहला, तो यह कि वे लेखक होने के साथ-साथ वक्ता भी थे। उनके निबंधों को पढ़ने से व्याख्यान का-सा आभास होता है। दूसरा कारण यह है कि वे हिंदी भाषा और साहित्य के अभावों को दूर करना चाहते थे। इसलिए एक ही विषय के गहन विवेचन के बजाय अनेक विषयों पर व्यापक विचार कर लेना वे अधिक उपयोगी समझते थे।

श्यामसुंदरदास की भाषा संस्कृतनिष्ठ और प्रवाहपूर्ण थी। बोलचाल अथवा उर्दू के शब्दों का व्यवहार उन्होंने कम ही किया है। उनके विचारात्मक निबंधों में व्यास-शैली के दर्शन होते हैं जैसे–"भारतीय साहित्य की विशेषताएं" निबंध में।

**सरदार पूर्ण सिंह (1881-1931):** द्विवेदी युग के ऐसे लेखक हैं जो केवल छह निबंधों के बल पर श्रेष्ठ निबंधकार माने गये। उनके निबंध नैतिक और सामाजिक विषयों से सम्बद्ध हैं। इनके निबंधों में प्रचलित प्रणाली से भिन्न, जो पद्धति विचारों की व्यंजना के लिये अपनायी गयी, वह सर्वथा मौलिक और रूपात्मक विकास की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। ललित निबंध की जो धारणा आज प्रचलित है, उसका प्रत्यक्ष रूप इनके तीन निबंधों–"आचरण की सभ्यता", "मजदूरी और प्रेम" तथा "सच्ची वीरता" में मिल जाती है। शेष तीन निबंध हैं–"कन्यादान", "पवित्रता", "अमेरिका का मस्त जोगी वाल्ट हिवटमैन"। ये निबंध हिंदी भाषा की स्थायी एवं मूल्यवान निधि हैं। इनमें व्यक्तित्व की सहज अनुभूति और शैलीगत लालित्य मिलता है।

सरदार पूर्ण सिंह की भाषा संकेत सम्पन्न और भाव-व्यंजक है। संतुलित शब्द विन्यास और वाक्य संगठन निबंध के लालित्य को बढ़ाते हैं।

**चंद्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1920):** इतिहास, संस्कृति, साहित्य और भाषा के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने इन्हीं विषयों पर खोजपूर्ण (गवेषणापूर्ण) और गंभीर निबंध लिखे। उनके निबंधों में गंभीरता के साथ सरल व्यंग्य विनोद, पांडित्य के साथ बौद्धिक सरसता और प्राचीनता के साथ नवीनता का अद्भुत सामंजस्य दिखायी देता है। "कछुआ धर्म" (विचार प्रधान) और "मारेसि मोहि कुठाँव" (भाव प्रधान) में आग्रह सामयिकता और तात्कालिक कर्त्तव्य का ही है।

गुलेरी के निबंध उनके व्यक्तित्व की सजीवता से ओत-प्रोत हैं। उनकी भाषा अधिकतर चलते हुए शब्दों से बनी है। केवल प्रसंगवश पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। किसी विशेष प्रकार के शब्द-समूह पर उनका आग्रह नहीं था। वे छोटे-छोटे वाक्य लिखते थे लेकिन उन्हें भावपूर्ण बना देते थे।

**पद्मसिंह शर्मा:** इनके निबंध आलोचनात्मक थे। निबंध मुख्यतः साहित्यिक विषयों अथवा व्यक्तियों पर लिखे गये हैं। इनके निबंधों के संग्रह "पद्मपराग" और "पद्ममंजरी" नाम से प्रकाशित हुए। किसी सामान्य विषय को लेकर चिंतन तथा कल्पना के सहारे उसमें जान डाल देना उनके लिये आसान था।

शर्मा जी की भाषा में प्रचलित बोली के मुहावरे, शब्द तथा उर्दू-फारसी और अंग्रेजी के शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है। वे अवसर के अनुकूल छोटे-छोटे वाक्यों में सफाई के साथ अपनी बात कह जाते हैं। विचारों में उलझन और दुरूहता नहीं दिखती। उन्होंने ऐसी भाषा का विकास किया जो आलोचना अथवा निबंध को भी कहानी तथा उपन्यास की तरह सरस बना सके।

## 29.2.2 शुक्ल युग (1920 से 1940)

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध क्षेत्र में पदार्पण करने से निबंध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी युग में विषय-विस्तार और गद्य भाषा का परिष्कार तो पर्याप्त हुआ किंतु उस काल में उतनी विश्लेषण बुद्धि से काम लेने और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी। इस युग में गद्य की भाषा में सृजनात्मक प्रयोग का कार्य आरंभ हुआ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गद्य भाषा को निखारने और जटिल से जटिल विषय, विचार और भाव को सफलता पूर्वक प्रस्तुत करने का उल्लेखनीय कार्य किया। यह वह दौर था जब कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद और काव्य के क्षेत्र में छायावादी कवि सक्रिय थे। इनका स्पष्ट प्रभाव निबंध लेखन पर पड़ा। स्वयं छायावादी कवियों और प्रेमचंद ने विभिन्न विषयों पर निबंध लिखे। छायावादी कवियों की गद्य भाषा में सरसता, भाव प्रवणता, कल्पनाशीलता आदि गुण दिखायी देते हैं। प्रेमचंद जी के गद्य लेखन में स्पष्टता, तार्किकता, सरलता और सहजता के गुण हैं। इस युग की गद्य भाषा पर इन दोनों तरह के लेखन का प्रभाव पड़ा। इस युग के निबंधकारों में देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावनाओं के साथ व्यापक मानवीय दृष्टिकोण भी रहा है।

शुक्ल युग में रचना विन्यास की दृष्टि से एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। निबंध को जिस प्रकार उपयोगी विषयों पर लिखे गये लेखों से अलग किया गया, उसी प्रकार रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, यात्रा आदि अन्य साहित्यिक विधाओं से भी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि "द्विवेदी युग की अपेक्षा इस युग में संरचनात्मक दृष्टि से निबंध के अधिक स्पष्ट लक्षण निर्मित हुए और लेखकों तथा आलोचकों के बीच इस विषय की सही धारणा विकसित हुई।" (हिंदी वाङ्मय: बीसवीं शती: संपादक डॉ. नगेन्द्र)।

शुक्ल युग के निबंधकारों में रामचंद्र शुक्ल, गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, निराला, महादेवी वर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रेमचंद, राहुल सांस्कृत्यायन, रामनाथ सुमन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं।



आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884-1941): इस युग के प्रतिनिधि निबंधकार हैं। शुक्ल जी ने विभिन्न विषयों पर निबंध लिखे जो "चिंतामणि" के तीन भागों में संकलित हैं। उनकी

प्रवृत्ति गंभीर विवेचन और तीखे व्यंग्य की रही है। यही कारण है कि निबंधों में उनका चिंतक और मानवतावादी रूप उभरा है। उन्होंने "भय", "क्रोध", "श्रद्धा" और भक्ति" "घृणा", "करुणा", "लज्जा" और ग्लानि", "लोभ और प्रीति", "ईर्ष्या", "उत्साह" आदि विभिन्न मनोभावों पर दस निबंध लिखे जिनमें उन्होंने इन मनोभावों के सामाजिक पक्ष का विश्लेषण किया। शुक्ल जी ने साहित्य के गंभीर पक्षों पर भी लिखा। ऐसे निबंधों में गंभीर चिंतन, सैद्धांतिक विवेचना और तर्कपूर्ण व्याख्या तो मिलती ही है, भावुक हृदय के दर्शन भी होते हैं जैसे–"कविता क्या है", "साधारणीकरण", "व्यक्ति–वैचित्र्यवाद", "रसात्मक बोध के विविध रूप", "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था"।

शुक्ल जी हिंदी भाषा की अपनी प्रकृति के बेजोड़ पारखी थे। शब्द और अर्थ के पास्परिक संबंधों को वे अच्छी तरह समझते थे। शुक्ल जी ने विचारों के संप्रेषण के लिये संस्कृत, फ़ारसी-उर्दू और बोलचाल की शब्दावली अपनायी है। उन्होंने लोकोक्तियों, मुहावरों तथा लक्षणाओं के नूतन एवं बहुविध प्रयोगों द्वारा एक ओर हिंदी गद्य को व्यंजक बनाया और दूसरी ओर चित्र-विधान में सहायता देने वाली समर्थ भाषा का निर्माण किया। शुक्ल जी ने विषय, भाषा और शैली सभी दृष्टियों से हिंदी निबंधों को उत्कृष्ट बनाया।

**बाबू गुलाबराय (1888-1963):** का निबंध साहित्य इस युग में इसलिए उल्लेखनीय है कि वह मुख्यतः आत्मपरक और व्यंग्यमूलक होने के साथ-साथ लेखक के पांडित्य और जीवनदर्शन की छवि भी प्रस्तुत करता है। उनके निबंधों में गंभीर चिंतन तो मिलता ही है, आत्मीयतापूर्ण व्यंग्य-विनोद भी उनमें देखा जा सकता है। इसके प्रमाणस्वरूप उनके दो निबंध संग्रह सामने रखें जा सकते हैं–"फिर निराशा क्यों" और "मेरी असफलताएं"। पहले संग्रह में विचार और तत्व चिंतन की प्रधानता है, सामाजिक दायित्व और राष्ट्रीय एवं वैयक्तिक आचारमूलक प्रश्न उठाये गये हैं, अंतर्वृत्तियों की मनोवैज्ञानिक छानबीन है। उधर दूसरे संग्रह में हास्य, रससिक्त आत्माभिव्यंजन, और व्यंग्य-विनोद से निबंधों को लालित्य पूर्ण बनाया गया है।

गुलाबराय जी की भाषा में प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है। संस्कृत, उर्दू देशज, अंग्रेज़ी शब्द सहज रूप में ग्रहण किए गए हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का भी धारावाहिक प्रयोग किया गया है।

**माखनलाल चतुर्वेदी:** तन, मन और प्राण से पूर्णत. राष्ट्रीय थे। उनकी रचनाओं में अनुभूति-प्रवणता अवश्य हैं, किंतु विषय के वस्तुगत विवेचन की उपेक्षा नहीं हुई है। वे तथ्यों, घटनाओं और वस्तु रूपों के प्रति पाठकों में रागात्मक चेतना जगाकर उन्हें कर्म की ओर अग्रसर करना चाहते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भाव का आश्रय लिया और ज्ञान को उसकी छाया में विकसित किया। रागतत्व की प्रधानता के कारण उनका गद्य लयात्मक, लालित्यपूर्ण और प्रवाहयुक्त बन गया है। "साहित्यदेवता" संग्रह में रसपूर्ण, आत्माभिव्यंजक निबंध हैं। चतुर्वेदी जी ने अप्रस्तुत योजना (प्रतीकात्मक अर्थ) का आश्रय लेकर भाषा को बिम्ब-विधायिका बना दिया है।

उनकी गद्य शैली भावावेग से विचारों को प्रस्तुत करती है। अतः वाक्य-विन्यास भी कहीं बहुत लंबा, कहीं मध्यम आकार का तथा कहीं अत्यंत छोटा हो जाता है। उनकी भाषा में तत्सम, तद्भव शब्दों के अतिरिक्त फ़ारसी, उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

**राहुल सांस्कृत्यायन:** बहुभाषाविद्, पर्यटक, साहित्यकार, अन्वेषक और पुरातत्ववेत्ता थे। उनके पुरातत्वविषयक निबंध "पुरातत्व निबंधावली" में प्रकाशित हैं। "साहित्य निबंधावली" में भाषा और साहित्यविषयक निबंध संकलित हैं। उनके यात्रा विवरणों को उत्कृष्ट निबंधों की कोटि में रखा जा सकता है।

राहुल जी विषय के जानकार और ज्ञानी थे। इस कारण वे अपने निबंधों में नये-नये तथ्यों का समावेश करते थे। राहुल जी ने अपने निबंधों में तत्कालीन विषयों को ग्रहण किया। "मातृभाषाओं का प्रश्न", "प्रगतिशील लेखक", "हमारा साहित्य", "भोजपुरी", आदि निबंध बहुचर्चित समस्याओं को छेड़ते हैं। उनमें निबंधकार की अपनी तर्क-पद्धति और चिंतन-प्रक्रिया दिखायी देती है।

वर्णनात्मक निबंधों में सहज-स्वाभाविक प्रवाह निखर कर सामने आ गया है। उन्होंने अपनी समृद्ध भाषा में मानव जीवन और प्रकृति के अनेक पदार्थों—गली, चौराहा, सड़क, भीड़, शोरगुल, वीरान, लता, कुंज, उद्यान, जंगल, सागर, सरिता, पर्वत, मरुभूमि, घाटी, टोकरी आदि का रससिक्त चित्रण किया है।

राहुल जी का गद्य लोकोन्मुखी था। जनता की जबान पर चलने वाले शब्द उन्हें प्रिय थे। अंग्रेजी के परिवर्तित और प्रचलित शब्दों का व्यवहार भी खुलकर करते थे।

**सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला"**: महाकवि के रूप में तो विख्यात हैं ही, किंतु गद्य के क्षेत्र में भी उनका योगदान कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने अनेक प्रभावशाली निबंध लिखे जो "प्रबंध पद्म", "प्रबंध प्रतिमा", "चयन", "चाबुक" आदि निबंध संग्रहों में संकलित हैं। ये निबंध मुख्यतः काव्य, साहित्य और हिंदी भाषा की अपनी समस्याओं से सम्बद्ध हैं।

निराला जी के निबंधों में ध्यान आकर्षित करने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण बात है उनका अक्खड़ व्यक्तित्व जो किसी परिस्थिति में समझौते के लिये लाचार नहीं होता। उनके निबंधों में आत्माभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं।

एक विलक्षण बात यह है कि उनके निबंध भावुकता और कल्पना से दूर हैं। उनकी गद्य शैली यथार्थवादी है। वे अपने अनुभवों को सामान्य किंतु चुस्त भाषा में बिना किसी लाग-लपेट के कह देते हैं। पद्य की तरह गद्य में भी वे वितरण, तथ्य कथन या अर्थ निरूपण से संतुष्ट नहीं होते वरन् अप्रस्तुत विधान के आश्रय से उसे चित्रित कर देते हैं।

उनकी भाषा छोटे-छोटे वाक्यों से बनी है। उनके शब्द, लोकोक्तियाँ, मुहावरे ग्रामीण परिवेश से लिये गये हैं। इस तरह जनभाषा का प्रयोग उन्होंने किया है।

### 29.2.3 शुक्लोत्तर युग (1940 से आज तक)

द्विवेदी युग और शुक्ल युग के निबंध अधिकाधिक गंभीर, साहित्यिक, विवेचनापूर्ण और तर्कसंकुल हो गये। इनमें न तो भारतेंदु-युगीन निबंधों की-सी वैयक्तिता है और न भावना की तरलता। यद्यपि छायावादी कवियों के निबंधों में व्यक्तित्व और आत्मीयता की झलक पायी जाती है किंतु अधिकतर आत्मपरकता और ज़िंदादिली का अभाव रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शुक्ल युग के बाद के दौर में एक बार फिर निबंधों में वैयक्तिता का समावेश हुआ और वह विचारों को प्रकट करने का प्रमुख एवं सशक्त माध्यम बना है। उसका आकार भी छोटा हुआ है। भाषा बोलचाल की-सी होने लगी है। उसमें तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव और देशी शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा है। निबंध के विषयों में विविधता बढ़ने लगी है।

शुक्ल युग के बाद के दौर में निबंध लेखन की कई शैलियों ने अपनी अलग पहचान बनायी। इस युग में तीन प्रमुख शैलियों ने निबंध लेखन को उत्कर्ष पर पहुंचाया। ललित निबंध, व्यंग्य निबंध और वैचारिक निबंध शैलियां। अब आगे हम इन शैलियों और उनके निबंधकारों का अध्ययन करेंगे।

**वैचारिक निबंध**: शुक्ल जी के बाद भी हिंदी वैचारिक निबंधों की परंपरा बराबर बनी रही। इस दौर के वैचारिक निबंधों में विचार की स्पष्टता और तर्कपूर्ण चिंतन के साथ विचारधारात्मक आग्रह भी व्यक्त हुए। जैनेन्द्र कुमार, डॉ. संपूर्णानंद, रामविलास शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, नगेंद्र आदि के निबंधों से उनकी वैचारिक दृष्टि का परिचय मिलता है। इन निबंधकारों ने अपने निबंधों के लिये समसामयिक विषय चुने।

**जैनेंद्र कुमार**: प्रसिद्ध कथाकार तो हैं ही, निबंध के क्षेत्र में भी उन्होंने ख्याति अर्जित की। उन्होंने सांस्कृतिक, नैतिक और राजनीतिक चिंतन को अपनी विशिष्ट शैली में विवेचनात्मक निबंधों के रूप में प्रस्तुत किया। कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर अथवा साक्षात्कार (इंटरव्यू) की पद्धति भी अपनायी है। उनके निबंधों की खास विशेषता यह है कि वे समस्या के दार्शनिक पहलू को लेकर चलते हैं और जीवन के किसी बड़े सत्य से जोड़ देते हैं। इनके निबंध पाठक को एकाएक किसी सुस्पष्ट निर्णय तक नहीं पहुंचाते, बल्कि उसे चक्करदार मार्ग से ले जाकर उलझनपूर्ण स्थिति में छोड़ देते हैं। इनके निबंध "समय और हम" पुस्तक में संकलित हैं।

**डॉ. संपूर्णानंद:** के निबंधों में दार्शनिक विवेचन है, लेकिन उनमें जटिलता नहीं है। "शिक्षा की समस्या" उनका विचार प्रधान निबंध है।

**डॉ. रामविलास शर्मा:** के निबंधों में प्रेमचंद और शुक्ल जी दोनों की विशेषताएं मौजूद हैं। उनमें दो टूक बात कहने की प्रवृत्ति है इसीलिए उन्हें निष्कर्ष तथा निर्णय पर पहुंचने की जल्दी रहती है और बेचैनी भी। उनकी निबंध शैली तीक्ष्ण व्यंग्य से बनी है। भाषा विश्लेषणात्मक किंतु सरल और सहज है। उन्होंने ज़्यादातर साहित्यिक विषयों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं लेकिन कुछ निबंध उन्होंने राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर भी लिखे हैं। ऐसे निबंध "विराम चिह्न" में संकलित हैं।

**डॉ. नगेंद्र:** ने अपने निबंधों में मुख्यत: काव्यशास्त्र और साहित्य के गंभीर विषयों को निरूपण के लिए चुना है। किंतु साहित्यिक प्रवृत्तियों, शैलियों, कवियों तथा लेखकों पर भी उन्होंने अलग-अलग निबंध लिखे हैं। नगेंद्र जी ने निबंधों के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये हैं। उन्होंने न केवल उनके कलेवर को निखारा-संवारा है, वरन् उनकी प्रणा-चेतना को भी अधिक शक्तिशाली बनाया है। कहीं विवेचना, कहीं संवाद, कहीं गोष्ठी, कहीं स्वप्नजन्य चित्र-विधान, कहीं पत्र लेखन और कहीं आत्मविश्लेषण का आश्रय लेकर उन्होंने अपने निबंध साहित्य को विविध कलात्मक प्रयोगों से संवारा है। उनकी निबंध रचना में तर्क और भावना का सुंदर संतुलन दिखायी पड़ता है। नगेंद्र जी की भाषा प्रौढ़, प्रांजल, संस्कृतनिष्ठ मानक हिंदी है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी की अपनी प्रकृति के अनुरूप है। वे शब्दों के पारखी और अच्छे प्रयोक्ता हैं। उनके प्रमुख निबंध संग्रह हैं—"विचार और विवेचन" (1944), "विचार और अनुभूति" (1949), "आस्था के चरण" (1969) आदि।

**ललित निबंध:** ललित निबंध में लालित्य अर्थात् सरस शैली के उत्कर्ष पर विशेष बल होता है। निबंधकार अपने भावों और विचारों को इस रूप में प्रस्तुत करना चाहता है जो सरस, अनुभूतिजन्य, आत्मीय और रोचक लगे। जिसमें भाषा शुष्क न हो बल्कि उसमें कल्पना लेता, सहजता और सरसता हो। ललित निबंधकार गहरे विश्लेषण, उबाऊ वर्णन, जटिल वाक्य-रचना से बचता है। ललित निबंधों में रचनाकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है।

**आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी:** का ललित निबंधकारों में प्रमुख स्थान है। उनके निबंधों में मानवतावादी जीवनदर्शन और भावुक हृदय के दर्शन होते हैं। वे अध्ययनशील प्रवृत्ति के थे। उन्होंने संस्कृत के प्राचीन साहित्य के साथ-साथ पालि, अपभ्रंश और बंगला भाषाओं के साहित्य तथा मध्यकालीन हिंदी साहित्य का व्यापक अध्ययन किया था, लेकिन उनकी दृष्टि आधुनिक थी। इसीलिए उनके निबंधों में पांडित्य के साथ-साथ नवीन चिंतन-दृष्टि भी मिलती है। द्विवेदीजी ने अपनी रचना को विचारों से बोझिल होने नहीं दिया बल्कि भावानुकूलता के आवेग में विचारों को प्रस्तुत कर उसे नया रूप प्रदान किया है। खूबी यह है कि विचार, तर्क और भाव के गठाव में कहीं भी बिखराव और शैथिल्य नहीं आ पाता। जिस प्रकार शुक्ल जी ने विवेचनात्मक निबंधों का स्वरूप संगठित किया था, उसी प्रकार द्विवेदी जी ने अपनी विशिष्ट रचना प्रणाली द्वारा व्यक्तिपरक निबंधों का स्वरूप संगठित किया। उनके निबंधों की भाषा लचीली है। वे देशज शब्दों के साथ संस्कृत के प्रचलित और अप्रचलित शब्दों का सामंजस्य भी बैठा लेते हैं। उनका वाक्य-विन्यास भी ललित एवं भावपूर्ण गद्य के अनुरूप है। उनके प्रमुख निबंध-संग्रह "अशोक के फूल", "विचार और वितर्क", "कल्पलता" आदि हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त ललित-निबंधकारों में विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, विवेकी राय आदि प्रमुख हैं।

**विद्यानिवास मिश्र:** संस्कृत भाषा और साहित्य के विद्वान हैं। किंतु लोक संस्कृति और लोक साहित्य में भी वे गहरी पैठ रखते हैं। इसलिए उनके निबंधों में पांडित्य (शास्त्र ज्ञान) के साथ-साथ लोक संस्कृति का भी सम्मिलन हुआ। निबंधों की शैली भावपूर्ण और काव्यमय है तथा भाषा भी वैसी ही काव्यमय और सरस है। भाषा में संस्कृत के ललित शब्दों का प्रयोग हुआ है। "छितवन की छाँह" से एक उदाहरण प्रस्तुत है—



"छितवन के सौंदर्य में लपट नहीं, आँच नहीं, छलकता हुआ मधुर रस नहीं, मंजरित

कलकंठ नहीं और पुलक-स्पर्श नहीं, छितवन में है ..... गंध, शुद्ध गंध, मिश्रित गंध और पवित्र गंध, वह भी छितवन के एक-एक फूल में अलग-अलग नहीं, उसके समूचेपन में एक साथ है, अविभाज्य और अविकल। .....छितवन पार्थिव शरीर के यौवन का प्रतीक है, उसकी समस्त मादकता का, उसकी सामूहिक चेतना का, उसके निश्शेष आत्मसमर्पण और उसके निश्चल और शुभ्र अनुराग का।"

विद्यानिवास मिश्र के प्रमुख निबंध संग्रह हैं– "मेरे राम का मुकुट भीग रहा है", "तुम चंदन हम पानी", "तमाल के झरोखे से", "संचारिणी", "लागौ रंग हरि" आदि।

**व्यंग्य निबंध:** हिंदी में व्यंग्य निबंधों का प्रारंभ भारतेंदु युग में हुआ था। उस दौर में स्वयं भारतेंदु ने तथा प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि ने कई व्यंग्य निबंध लिखे, लेकिन बाद में व्यंग्य निबंध लिखने की परंपरा शिथिल हो गयी। यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू गुलाब राय, रामविलास शर्मा आदि के निबंधों में व्यंग्य और विनोद का भाव दिखायी पड़ता है किंतु अधिकांश निबंधकारों में वह बात नहीं थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद व्यंग्य निबंध के नये युग की शुरुआत हुई। इसका श्रेय हरिशंकर परसाई को है जिन्होंने व्यंग्य को एक स्वतंत्र साहित्य-रूप की तरह प्रतिष्ठित किया।

व्यंग्य निबंधकार प्रायः समसामयिक विषयों पर लिखता है और उन्हें अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाता है। वह सामाजिक या राजनीतिक समस्या को अपने निबंध में उठाता है, लेकिन वह उसका न तो वैचारिक दृष्टि से विवेचन करता है और न ही उसका भावात्मक वर्णन करता है। वह समस्या की गहराई में जाकर उसके अंतर्विरोधी पहलुओं को उद्घाटित करता है, जो सामान्यतः हमारी पकड़ में नहीं आ पाते या हमारी नज़रें उन्हें देख नहीं पातीं। वह उन अंतर्विरोधों को ऐसे प्रस्तुत करता है जिससे कि उससे नया अर्थ व्यंजित हो। यह अर्थ सहज नहीं होता, उसमें एक तरह का बांकपन होता है। इसके लिये रचनाकार एक विशेष प्रकार की हास-परिहास की शैली अपनाता है। वह ऐसे शब्दों का चयन करता है जो व्यंग्य को ध्वनित करें। वह वाक्यों को इस रूप में संगठित करता है कि उससे व्यंग्य को व्यक्त करने वाला अर्थ निकले। स्वस्थ व्यंग्य से पाठक को एक नयी दृष्टि मिलती है और उसमें सामाजिक राजनीतिक जागरूकता आती है। रुढ़ियों, अंधविश्वासों आदि पर लिखे गये निबंधों से पाठक को सामाजिक सोद्देश्यता का संदेश भी मिलता है। हिंदी व्यंग्य लेखकों में हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्र नाथ त्यागी, प्रभाकर माचवे, गोपाल प्रसाद व्यास, बरसाने लाल चतुर्वेदी आदि प्रमुख हैं। डॉ. नामवर सिंह का "बकलम खुद" इस दृष्टि से उल्लेखनीय रचना है।

**गोपाल प्रसाद व्यास** के निबंधों में शुद्ध हास्य का रूप मिलता है। इनके निबंधों में पारिवारिक जीवन की असंगतियों और युग-जीवन की विकृतियों का उपहास उड़ाया गया है और उन पर व्यंग्य भी किया गया है। "मैंने कहा", "कुछ सच कुछ झूठ", "तो क्या होता" और "हलो-हलो" इनके निबंध संग्रह हैं।

**प्रभाकर माचवे:** के निबंधों में आदर्शों का ढोल पीटने वाले लोगों की स्वार्थपरता, अश्लीलता की पोल खोली गयी है, परंतु भाषा में संयम सर्वत्र विद्यमान है। अनेक स्थलों पर भाषा के लाक्षणिक प्रयोग अनूठे बन पड़े हैं जो हास्य के साथ चिंतन भी प्रस्तुत करते हैं–"अभाव में भाव तो बढ़ता ही है", "कुछ भी हो लंगड़ा पलायनवादी नहीं हो सकता", "आप चाहे सुर या असुर कहें, ससुर नहीं कह सकते" इत्यादि। "खरगोश के सींग", "बेरंग" और "तेल की पकौड़ियाँ" इनके निबंध संग्रह हैं। माचवेजी का व्यंग्य पैना और व्यंजक है।

**हरिशंकर परसाई:** के निबंध सोद्देश्य हैं जिनके पीछे स्पष्ट वैज्ञानिक दृष्टि है जो समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, दम्भ, अवसरवादिता, अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता, नौकरशाही, शासन के ढीलेपन आदि पर तीव्र प्रहार करती है और व्यक्ति को सचेत रहने की प्रेरणा देती है। परसाईजी के निबंधों में प्रशासनिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि विषयों पर आकर्षक व्यंग्यों की सृष्टि हुई है। "आंगन के बैंगन" निबंध का एक अंश प्रस्तुत है–

"बर्दाश्त तब नहीं हुआ जब परिवार की एक तरुणी ने कहा–अच्छा तो है। बैंगन खाये

भी जा सकते हैं। मैंने सोचा, हो गया सत्यानाश। सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया"।

हरिशंकर परसाई के निबंध संग्रह हैं—"तब की बात और थी", "भूत के पाँव पीछे", "बेईमानी की परत", "पगडंडियों का ज़माना", "सदाचार का तावीज़", "शिकायत मुझे भी है", "ठिठुरता हुआ गणतंत्र", "सुनो भाई साधो", "निठल्ले की डायरी" आदि।

**बरसाने लाल चतुर्वेदी:** कृत "मिस्टर चोखेलाल" संग्रह में 39 निबंध हैं जिनमें हास्य और व्यंग्य का पुट है। इन निबंधों में जीवन के सामान्य क्रियाकलापों की उन घटनाओं के द्वारा हास्य की सृष्टि की गयी है जो नित्य प्रति हमें प्रभावित करती रहती हैं। भाषण झाड़ने की बीमारी, अभिनेता अथवा नेता बनने की चाह, झूठी हमदर्दी, जोरू की गुलामी, चाटुकारिता जैसे विषयों को अपने निबंधों में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है।

शुक्लोत्तर युग में साहित्यिक, भावप्रवण, चिंतनप्रधान उच्चकोटि के निबंध लिखने वाले लेखकों में "अज्ञेय", कन्हैयालाल मिश्र "प्रभाकर", शिवप्रसाद सिंह, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आदि प्रमुख हैं।

हिंदी निबंध लेखन की परंपरा अत्यंत समृद्ध है। लेकिन इधर के वर्षों में इस क्षेत्र में नये लेखकों का आगमन बहुत कम हुआ है। ललित, भावात्मक, विचारात्मक निबंध लेखन की प्रवृत्ति में कमी आयी है और जो लिख भी रहे हैं, वे पुरानी पीढ़ी के ही लेखक हैं। नये लेखकों की निबंध लेखन के प्रति यह उदासीनता चिंताजनक है।

**बोध प्रश्न**

1. निम्नलिखित विशेषताएं किस युग के निबंधों पर लागू होती हैं? उस युग और उसके दो प्रमुख निबंधकारों के नाम बताइए। अपने उत्तर इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलाइये।

   (क) ज़िंदादिली और विनोदवृत्ति

   युग का नाम .....

   निबंधकार का नाम (i) .....

   (ii) .....

   (ख) वैचारिक गंभीरता और भाषा के परिष्कार का कार्य

   युग का नाम .....

   निबंधकार का नाम (i) .....

   (ii) .....

   (ग) गहन वैचारिक विश्लेषण और व्यापक मानवीय दृष्टिकोण

   युग का नाम .....

   निबंधकार का नाम (i) .....

   (ii) .....

2. निम्नलिखित निबंधकारों के निबंधों की कोई दो विशेषताएं बताइए—

   (क) हरिशंकर परसाई

   .....

   .....

   (ख) राहुल सांस्कृत्यायन

   .....

   .....

(ग) विद्यानिवास मिश्र

.....

.....

(घ) रामविलास शर्मा

.....

.....

4. हिंदी निबंधों के विकास में महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान के कम से कम दो पक्षों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

**अभ्यास**

1. ललित निबंधों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए हिंदी ललित निबंध परंपरा का परिचय दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

बीसवीं शती भारतीय जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रयोगों की शती है। अंग्रेजी भाषा के साहित्य के अध्ययन से जहाँ हिंदी साहित्य जगत में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध और आलोचना के क्षेत्र में नयी-नयी प्रवृत्तियाँ ग्रहण की गयीं वहाँ अनेक नयी विधाएँ भी प्रकाश में आयीं। उनमें संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-साहित्य और रिपोर्ताज़ प्रमुख हैं। ये सभी विधाएं परस्पर घुली-मिली हैं और इनमें विभाजक-रेखा खींचना बड़ा कठिन है।

## 29.3 संस्मरण – रेखाचित्र

हिंदी में इन साहित्य रूपों—संस्मरण और रेखाचित्र का प्रचलन आधुनिक युग में पश्चिमी प्रभाव और उसके वातावरण में हुआ है। संस्मरण का अर्थ है सम्यक् (पूर्णरूपेण) स्मरण अर्थात् जब लेखक सहज आत्मीयता तथा गंभीरता से अपने या किसी अन्य व्यक्ति के जीवन में बीती किसी घटना अथवा दृश्य का स्मरण कर उसका वर्णन करता है तो उसे

संस्मरण कहते हैं। संस्मरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है। किंतु इतिहासकार के वस्तुपरक रूप से वह बिल्कुल अलग है। संस्मरण लेखक अपने निजी अनुभव को विशिष्ट व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा क्रियाकलापों के चित्रण के माध्यम से व्यक्त करता है। उसके वर्णन में अपनी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टि से शैली में वह निबंधकार के समीप है। संस्मरण लेखक यदि अपने बारे में लिखता है तो उसकी रचना "आत्मकथा" के निकट होगी, यदि अन्य व्यक्तियों के विषय में लिखे तो "जीवनी" के निकट। इन दो प्रकार के संस्मरणों को अंग्रेजी में क्रमशः "मेमायर्स" तथा "रैमिनिसेंसिज़" कहते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि संस्मरण में लेखक किसी विषय या व्यक्ति के जीवन के किसी अंश की प्रभावमयी अभिव्यक्ति स्मृति के आधार पर करता है।

रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण और सजीव अंकन है। अंग्रेजी में जिसे स्कैच कहा जाता है, उसके लिए हिंदी में "रेखाचित्र", "व्यक्तिचित्र", "शब्द चित्र" शब्दों का प्रयोग होता है। रेखाचित्र में तटस्थता, संक्षिप्तता एवं तीखापन अधिक होता है। ये ही विशेषताएं उसे अन्य साहित्य-रूपों से अलग करती हैं। रेखाचित्र की विशेषता विस्तार में नहीं, तीव्रता में होती है। रेखाचित्र पूर्णचित्र नहीं है—वह व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का एक निश्चित दृष्टि बिन्दु से प्रस्तुत किया गया प्रतिबिम्ब है, जिसमें विवरण कम रहता है लेकिन तीव्र संवेदनशीलता रहती है। रेखाचित्र के लिए संकेत सामर्थ्य भी बहुत आवश्यक है—रेखाचित्रकार शब्दों और वाक्यों से परे भी बहुत कुछ कहने की क्षमता रखता है। रेखाचित्र के लिए उपयुक्त विषय का चुनाव भी महत्वपूर्ण है—इसकी विषयवस्तु ऐसी होनी चाहिए, जिसे विस्तृत वर्णन और रंगों की अपेक्षा न हो। जैसे चाँदनी रात में ताजमहल की शोभा को रेखाचित्र में बांधा जा सकता है, पर शाहजहाँ और मुमताज़ महल की प्रेमकथा को रेखाचित्र की सीमा में बांध सकना कठिन है। रेखाचित्रों को अनेक वर्गों में रखा जा सकता है— व्यक्ति प्रधान, वस्तु प्रधान, हास्य-व्यंग्य प्रधान, मनोवैज्ञानिक आदि।

इसके आधार पर अब आप संस्मरण और रेखाचित्र में कुछ हद तक अंतर कर पाएंगे:

- संस्मरण लेखक व्यक्ति के रूपाकार, वेशभूषा, भावभंगिमा आदि को भी संस्मरण में लेता है लेकिन उसका उद्देश्य उस व्यक्ति की महत्ता को उजागर करना होता है। जबकि रेखाचित्र में रेखाचित्रकार का ध्येय बाह्य रूपरेखा का शब्दांकन मात्र होता है किंतु उस रूपांकन से ही वह चित्रित व्यक्ति अथवा वस्तु की आंतरिक झलक प्रस्तुत कर देता है।

- संस्मरण लेखक के लिए वर्णित व्यक्ति या घटना के साथ तादात्म्य होना ज़रूरी है जबकि रेखाचित्रकार के लिए यह आवश्यक नहीं है।

- संस्मरण लेखक जहाँ भावुकता में बहकर संस्मरण को विस्तार दे सकता है, वहाँ रेखाचित्रकार गिने-चुने शब्दों और वाक्यों से ही अपना काम चला लेता है।

- संस्मरण लेखक जहाँ व्यक्ति के चरित्र के किसी एक पहलू को अंकित करता है, वहाँ रेखा चित्रकार व्यक्ति के समग्र जीवन की झांकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

वैसे संस्मरण में रेखाचित्र के और रेखाचित्र में संस्मरण के गुण अक्सर आ ही जाते हैं। अब हम इन विधाओं को उनके ऐतिहासिक विकास क्रम में देखें।

हिंदी में संस्मरण का जन्म पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। "सरस्वती", "माधुरी" "सुधा", "विशाल भारत" आदि में साहित्य सेवियों, समाज सुधारकों, राजनीतिक महापुरुषों के संस्मरण निकलते रहते थे। हिंदी का पहला संस्मरण सन् 1907 ई. में बालमुकुंद गुप्त द्वारा प्रताप नारायण मिश्र पर लिखा गया माना जाता है। इसके कुछ दिन बाद गुप्त जी द्वारा लिखित "हरिऔधजी के संस्मरण" नाम से एक अन्य पुस्तक का उल्लेख मिलता है, जिसमें पंद्रह संस्मरण संकलित हैं। इनमें रेखाचित्र भी हैं। गुप्तजी ने हरिऔध की रूपरेखा देते हुए लिखा है—



"वे बड़ी रंगीन तबियत के आदमी थे। यदि कोई "आदाब अर्ज़" कर देता तो पचासों

बार घूम-घूम कर देखने लगते। मन में फूले न समाते। उनकी आँखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा चढ़ा रहता"।

(हिंदी वाङमय · बीसवीं शती, सं. डॉ. नगेंद्र, पृ. 362)।

बालमुकुंद गुप्त के बाद बाबू श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन के स्वभाव की प्रमुख विशेषताएं बताते हुए एक रेखाचित्र-प्रधान संस्मरण लिखा।

सन् 1928 में श्री रामदास गौड़ ने श्रीधर पाठक और रायदेवी प्रसाद पूर्ण जैसे साहित्यकारों के संस्मरण लिखे। सन् 1929 से 1937 ई. में कई संस्मरण लेखक हुए।

आचार्य रामदेवजी ने "मेरी जीवन कथा के कुछ पृष्ठ" नाम से स्वामी श्रद्धानंद के संस्मरण लिखे। अमृतलाल चक्रवर्ती ने बालमुकुंद गुप्त के साहित्यिक जीवन पर प्रकाश डालने वाले संस्मरण लिखे। इलाचंद्र जोशी का "मेरे प्रारंभिक जीवन की स्मृतियाँ" संस्मरण जिसमें उन्होंने अपने ही विषय में लिखा। इसी तरह बनारसीदास चतुर्वेदी, रूपनारायण पाण्डेय, मोहनलाल महतो "वियोगी", गोपालराम गहमरी, महावीर प्रसाद द्विवेदी के संस्मरण प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। इन संस्मरणों में सामाजिक और राजनीतिक जीवन की झांकियां भी मिलती हैं। ये संस्मरण कभी तो संस्मरण लेखक के जीवन के बारे में होते हैं और कभी किसी व्यक्ति के जीवन की विशेषताओं को ही प्रकाशित करते हैं।

संस्मरण लेखन का यह आरंभिक रूप था। इसे साहित्यिक सौंदर्य प्रदान किया आचार्य पद्म सिंह शर्मा ने, जिन्होंने महाकवि अकबर इलाहाबादी के संस्मरण अत्यंत रोचक शैली में लिखे। "पद्म पराग" नामक इनके ग्रंथ में ये संस्मरण संगृहीत हैं।

बीसवीं शती के तृतीय दशक के अंतिम वर्षों में ही रेखाचित्रों की धूम मची। सन् 1939 ई. में "हंस" के रेखाचित्रांक ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इसमें हिंदी के अतिरिक्त बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़, उर्दू आदि भाषाओं के लेखकों के रेखाचित्र हैं। सन् 1946 ई. में प्रकाशित "मधुकर" के रेखाचित्रांक में विदेशों के सुंदर रेखाचित्र तो हैं ही, सम्पादक बनारसीदास चतुर्वेदी की उपयोगी भूमिका भी है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने संस्मरण और रेखाचित्र की दिशा में काफ़ी काम किया है। उनके संस्मरण और रेखाचित्रों में देश-विदेश के साहित्यकार, पत्रकार, समाजसेवी, क्रांतिकारी और राजनीतिज्ञ अपने दुर्लभ मानवीय गुणों के लिए विद्यमान हैं। उन्होंने देशभक्ति और राष्ट्रीयता को प्रमुखता दी है। रोचकता, सरलता और वार्तालाप शैली इनकी रचनाओं की मुख्य विशेषता है। उनके "संस्मरण" (सन् 1952 ई.), "हमारे आराध्य" (सन् 1952 ई.), "रेखाचित्र" (सन् 1953 ई.), "सेतुबंध" (सन् 1962 ई.) आदि संस्मरण और रेखाचित्र संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं।

प. श्रीराम शर्मा हिंदी के समर्थ संस्मरण-रेखाचित्र लेखक हैं। वे शिकार साहित्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। जहाँ उन्होंने जनसामान्य के चित्रण में उनकी ईमानदारी, त्याग और सेवा भावना को उभारा है, वहाँ जीव-जन्तुओं के स्वभाव का अंकन इस तरह किया है कि अंतर्बाह्य प्रत्यक्ष हो उठता है। "बोलती प्रतिमा" (सन् 1967 ई.) "प्राणों का सौदा" (सन् 1939 ई.), "बयालीस के संस्मरण", "जंगल के जीव" (सन् 1949 ई.), "वे जीते कैसे हैं" (सन् 1957 ई.) आदि उनके संस्मरण और रेखाचित्र हैं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का नाम भी संस्मरण लेखकों में गौरव के साथ लिया जाता है। उनके संस्मरणों में रेखाचित्र के तत्व विशेष रूप से घुले-मिले हैं। "सावनी समा" (सन् 1938 ई.), "टूटा तारा" (1940 ई.) और "सूरदास" (सन् 1940 ई.) उनके संस्मरण हैं। निम्न वर्ग के पात्रों के जीवन में मानवता की खोज और हिंदी उर्दू मिश्रित चुभती हुई भाषा-शैली राजा साहब के संस्मरणों की विशेषता है।

महादेवी वर्मा के संस्मरण हिंदी साहित्य की अक्षय निधि हैं। "अतीत के चलचित्र" (सन् 1941 ई.), "स्मृति-की रेखाएं", (सन् 1943 ई.) और "पथ के साथी" (सन् 1956 ई.) उनके संस्मरण संग्रह हैं, जिनमें यथास्थान रेखाचित्र भी सजे हुए हैं। महादेवी जी ने स्वयं को स्मृति पात्रों के साथ एकाकार कर दिया है जिससे उनके संस्मरण अधिक आकर्षक हो

गये हैं। "अतीत के चलचित्र" में रामा, मारवाड़ी सेठ की विधवा पतोहू, विमाता के अत्याचार का शिकार बिंदा, अवांछित बालक की विधवा माता, गुरुभक्त घीसा, वेश्या माँ की सती पुत्री, कुंभकार बदलू, पर्वत कन्या लछमा आदि ग्यारह समाज-पीड़ित व्यक्तियों की करुण कथाएं हैं जबकि "स्मृति की रेखाएं" में भक्तिन, चीनी फेरी वाला, पर्वत-पुत्र, जंधिया और अनमिया, ठकुरी बाबा, बिबिया, गुंठीया आदि उपेक्षित एवं पीड़ित पात्रों का रेखांकन हैं। ये सभी पात्र महादेवी जी की लेखनी का स्पर्श पाकर व्यक्तित्वपूर्ण हो उठे हैं। इनके साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों का भी मार्मिक अंकन हुआ है जिससे पूरे समाज का चित्र सामने आ जाता है।

"पथ के साथी" में अपने समकालीन साहित्यकारों पंत, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान और सियाराम शरण गुप्त के संस्मरण संकलित हैं। इनमें चित्रित व्यक्तियों की मधुर स्मृतियां तो हैं ही, साथ ही उन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा-परखा भी गया है। इनमें उनका रेखाचित्रकार विशेष रूप से सजग रहा है। उदाहरण के लिए सुभद्राकुमारी चौहान का यह रेखांकन देखिए–

> "मंझोले कद तथा उस समय की देहयष्टि में ऐसा कुछ उग्र या रौद्र नहीं था, जिसकी हम वीरगीतों की कवयित्री में कल्पना करते हैं। कुछ गोल मुख, चौड़ा माथा, सरल भृकुटियाँ, बड़ी और भावस्नाता आँखें, छोटी सुडौल नासिका, हँसी को जमाकर गढ़े हुए से होठ और दृढ़ता सूचक ठुड्डी·····सब कुछ मिलाकर एक अत्यंत निश्चल, कोमल, उदार व्यक्तित्व वाली भारतीय नारी का ही पता देते थे पर उस व्यक्तित्व के भीतर जो बिजली का छंद था, उसका पता तो तब मिलता था जब उनके और उनके निश्चित लक्ष्य के बीच कोई बाधा आ उपस्थित होती थी।"

इन संस्करणों और रेखाचित्रों में महादेवीजी की भाषा प्रांजल, संस्कृतनिष्ठ और कवित्वपूर्ण है। बीच-बीच में ग्रामीण बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी स्वाभाविक रूप से आ गये हैं। शैली में भावुकता और गांभीर्य का पुट है।

रेखाचित्र और संस्मरण लिखने में रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम आदर से लिया जाता है। उन्होंने "लालतारा" (1938 ई.), "माटी की मूरतें" (1946), "गेहूँ और गुलाब" (1950), संग्रहों में संस्मरण और रेखाचित्र दिये हैं। बेनीपुरी जी की भाषा हल्की-फुल्की, चुलबुली और निर्झर के समान वेगवती है लेकिन गाम्भीर्य को बनाए रखने में सक्षम है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर संस्मरण लिखने की कला में पारंगत हैं। उनके संस्मरण और रेखाचित्रों के अनेक संग्रह निकल चुके हैं, जिनमें "ज़िंदगी मुस्कराई" (1953 ई.), "बाजे पायलिया के घुंघरू" (1957 ई.), "महके आंगन-दहके द्वार" (1963 ई.) आदि प्रमुख हैं। राजनीतिक जीवन के अनेक पक्ष उनके संस्मरणों द्वारा उजागर हुए हैं। भाषा में सादगी और प्रवाह है।

रेखाचित्र विधा में प्रमुख साहित्यकार हैं–प्रकाशचंद्र गुप्त। इनके रेखाचित्र सही मायने में रेखाचित्र ही हैं। छोटे-छोटे वाक्य, सरल शब्द, सहानुभूतिपूर्वक चित्रण के अलावा इनके रेखाचित्र आकार में लघु हैं। संस्मरण का तत्व इनके रेखाचित्रों में कम है। इनके प्रमुख रेखाचित्र संग्रह हैं–"रेखाचित्र" (1940 ई.), "पुरानी स्मृतियाँ" (1947 ई.) और "विशाख" (1957 ई.)।

रेखाचित्र लेखकों में विनयमोहन शर्मा का नाम महत्वपूर्ण है। सब रेखाचित्र उनके संपर्क में आये व्यक्तियों और पदार्थों के हैं। इनकी भाषा बड़ी सजीव है। वाक्य छोटे-छोटे और चुभते हुए हैं। यत्र-तत्र हास्य-व्यंग्य के भी छींटे हैं। "रेखाएं और रंग" (1967) संग्रह में इनके रेखाचित्र संकलित हैं।

इनके अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर, डॉ. नगेंद्र, रामधारी सिंह "दिनकर", प्रेमनारायण टण्डन, उपेंद्रनाथ "अश्क", देवेंद्र सत्यार्थी, हरिवंश राय बच्चन, सत्यजीवन वर्मा, रायकृष्णदास आदि ने भी संस्मरणों और रेखाचित्रों की रचना की है।

**बोध प्रश्न**

5. रिक्त स्थानों में उपयुक्त शब्द भरिए:
   i) जब लेखक किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण और सजीव अंकन करता है तो उसे ..... कहते हैं।
   ii) संस्मरण लेखक यदि अपने बारे में लिखता है तो उसकी रचना .....के निकट होगी तथा अन्य व्यक्तियों के विषय में लिखे तो.....के निकट होगी।
   iii) हिंदी का पहला संस्मरण सन् 1907 ई. में .....द्वारा लिखा माना जाता है।

6. संस्मरण में लेखक की निजी प्रतिक्रिया का महत्व है और रेखाचित्र में तटस्थ चित्रण का। आप इसी प्रकार रेखाचित्र और संस्मरण में कोई अन्य दो अंतर बताइये।

   i) .....
   .....
   ii) .....
   .....

## 29.4 जीवनी – आत्मकथा

जीवनी और आत्मकथा मिलती-जुलती विधाएं हैं, लेकिन इनमें अंतर है। जीवनी का मतलब है किसी विशिष्ट व्यक्ति का सांगोपांग चित्रण अर्थात् जन्म-तिथि-क्रम से घटनाओं को माध्यम बनाकर किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में लिखना। जबकि आत्मकथा का लेखक अपने जीवन के बारे में स्वयं लिखता है। आत्मकथा का नायक लेखक स्वयं होता है जबकि जीवनी का नायक लेखक न होकर, कोई अन्य व्यक्ति होता है।

आत्मकथा में लेखक अपने अतीत का विश्लेषण करता है, उसमें एक ओर आत्म-निरीक्षण या आत्म-परीक्षण होता है और दूसरी ओर अतीत की स्मृतियों को फिर से जीवित करना होता है। इसीलिए आत्मकथा को "आत्मचरित" या "आत्मकहानी" भी कहा जाता है। लेकिन इसके लिए सामग्री संचयन नहीं करना पड़ता। जीवनी लिखने के लिए प्रामाणिक जानकारी की आवश्यकता होती है जिसे विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है–

i) उस विषय या उससे संबंधित विषयों पर लिखित पुस्तकों या लेखों से,
ii) चरितनायक के पत्रों, डायरी और साक्षात्कार विवरणों से,
iii) चरितनायक के समकालीनों के संस्मरण से,
iv) चरितनायक से संबंधित स्थानों की यात्रा से प्राप्त तथ्यों से,
v) स्वयं चरितनायक के उसकी कृतियों और उत्सव-आयोजनों में व्यक्त उद्गारों से।

जीवनी और आत्मकथा में कुछ समानताएं भी हैं। जीवनी और आत्मकथा लिखने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि व्यक्ति के जीवन की सभी घटनाएं ली जाएं, किंतु इनमें हृदय को छूने वाली अथवा जीवन में मोड़ लाने वाली घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिए। इनमें चरितनायक के जीवन की प्रामाणिक और तथ्यपरक जानकारी देनी होती है। इसलिए कल्पना और मनगढंत बात के लिए इनमें कोई स्थान नहीं होता। घटनाएं उसी क्रम में आनी चाहिए जिस क्रम में वे घटी हों। आत्मकथा और जीवनी यदि प्रभावपूर्ण शैली में लिखी गई हों तो वे उपन्यास की भांति रोचक हो सकती हैं।

जीवनी लेखन का कार्य हिंदी में आधुनिक युग में पश्चिम के संपर्क से ही हुआ। साहित्य की अन्य विधाओं की भांति भारतेंदु युग से ही इसका आरंभ माना जा सकता है। भारतेंदु युग की उल्लेखनीय रचनाएं हैं–भारतेंदु कृत "चरितावली", "बादशाह दर्पण", "पंच पवित्रात्मा" और "उत्तरार्ध भक्तमाल", रमाशंकर का लिखा "नेपोलियन बोनापार्ट का

जीवन-चरित्र", कार्तिक प्रसाद कृत "मीराबाई का जीवन-चरित्र" और "छत्रपति शिवाजी का जीवन-चरित्र", बालमुकुंद गुप्त की लिखी "प्रतापनारायण मिश्र की जीवनी"। ईसाई मिशनरियों ने भी कुछ जीवनियां लिखीं। कुछ जीवनियों के अनुवाद भी हुए, किंतु इस युग के जीवन चरित्रों में शुष्क वर्णन मात्र हैं। उनमें परिस्थितियों का वह विश्लेषण नहीं जो चरितनायक को ऊपर उठाता है।

द्विवेदी युग में जीवनी-साहित्य में कुछ विकास हुआ। यह युग सुधारवादी युग कहा जाता है। नैतिकता के समर्थक स्वामी दयानंद की जीवनियां विशेष रूप से लिखी गयीं, साथ में आर्य समाज के सिद्धांतों का प्रचार किया गया। कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—रामविलास शारदा कृत "आर्य धर्मेन्दु जीवन महर्षि" (1901 ई.), दयाराम लिखित "दयानंद चरितामृत" (1904 ई.), मन्मथनाथ गुप्त रचित "गुरुनानक", रामनारायण मिश्र कृत "महात्मा ईसा", सुंदरलाल लिखित "हज़रत मुहम्मद और बलदेव उपाध्याय कृत "शंकराचार्य"।

द्विवेदी युग की समाप्ति के साथ-साथ महात्मा गांधी का प्रभाव जनमानस पर बढ़ रहा था स्वतंत्रता आंदोलन गति पकड़ रहा था। ऐसे में ऐतिहासिक और राजनीतिक जगत की विभूतियों के जीवन-चरित लेखन को भी गति मिली। इस दृष्टि से देवीप्रसाद मुंसिफ़ के "मानसिंह", "उदयसिंह", "जसवंत सिंह", "महाराणा प्रताप सिंह" और "महाराणा संग्राम सिंह" जीवन-चरित उल्लेखनीय हैं। अन्य ऐतिहासिक कृतियां हैं—बाबू सम्पूर्णानंद की "सम्राट हर्षवर्द्धन", "सम्राट अशोक", रामनारायण दूगड़ कृत "पृथ्वीराज-चरित्र", कार्तिक प्रसाद की लिखी "अहिल्याबाई" और जीवन लाल प्रेम कृत "गुरुगोविंद सिंह"।

राजनीतिक क्षेत्र में सबसे अधिक जीवनियां महात्मा गांधी की मिलती हैं। इनमें मुकुंदीलाल वर्मा की "कर्मवीर गांधी", सम्पूर्णानंद की "धर्मवीर गांधी", और राजेन्द्र प्रसाद लिखित "चम्पारण में महात्मा गांधी", उल्लेखनीय हैं। कुछ अन्य महत्वपूर्ण जीवनियां हैं—मन्मथनाथ शुक्ल की "चंद्रशेखर आज़ाद", सीताराम चतुर्वेदी की "महामना मालवीय", छविनाथ पांडेय कृत "नेताजी सुभाष", देवराज मिश्र लिखित "राजर्षि टण्डनजी", रामवृक्ष बेनीपुरी कृत "जयप्रकाश नारायण", देवदत्त शास्त्री कृत "जमनालाल बजाज तथा बलराज मधोक कृत "श्यामाप्रसाद मुखर्जी" आदि।

साहित्यकारों की जीवनियां अपेक्षाकृत कम लिखी गयी हैं। प्रेमचंद की जीवनी "कलम का सिपाही" शीर्षक से उनके पुत्र अमृतराय ने लिखी है। प्रेमचंद के गुण-दोषों का विवेचन तो किया ही गया है लेकिन इसकी भाषा शैली प्रेमचंद की-सी ही है। रामविलास शर्मा लिखित "निराला की साहित्य साधना" दो भागों में प्रकाशित है। औपन्यासिक शैली के कारण यह जीवनी अत्यंत रोचक है। शांति जोशी ने सुमित्रानंदन पंत की जीवनी लिखी है। बंगला के प्रसिद्ध कथाकार शरतचंद्र पर "आवारा मसीहा" नाम से विष्णु प्रभाकर ने जो जीवनी लिखी है, वह उल्लेखनीय है। इसी प्रकार भगवती प्रसाद सिंह लिखित महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की जीवनी "मनीषी की लोकयात्रा" भी महत्वपूर्ण है।

विदेशी महापुरुषों की भी जीवनियां लिखी गई हैं। इनमें चंद्रशेखर शास्त्री की "सम्राट जार्ज षष्ठ" (1937 ई.), द्वारका प्रसाद शर्मा कृत "राबर्ट क्लाइव (1938 ई.), लक्ष्मण प्रसाद भारद्वाज कृत "इटली का तानाशाह मुसोलिनी" (1940 ई.), त्रिलोकीनाथ लिखित "स्तालिन" (1940 ई.), अनंत प्रसाद विद्यार्थी की "चर्चिल"(1942 ई.), रामवृक्ष बेनीपुरी की "कार्ल मार्क्स" (1951 ई.) और राहुल सांस्कृत्यायन कृत "माओ चे तुंग" (1957 ई.) प्रमुख हैं।

हिंदी की पहली आत्मकथा जैन कवि बनारसीदास की "अर्द्धकथा" मानी जाती है जो सन् 1941 की रचना है। यह पद्य में लिखी गई है। आधुनिक युग में इस विधा की शुरुआत भारतेंदु हरिश्चंद्र ने "कुछ आप बीती कुछ जग बीती" से की। उसी समय "निज वृतांत" शीर्षक से अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी आत्मकथा लिखी। स्वामी श्रद्धानंद लिखित आत्मकथा "कल्याण पथ का पथिक" भी तभी की है।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता की भावना बलवती होती गयी और पाश्चात्य-साहित्य से सम्पर्क बढ़ता गया, आत्मकथा विधा को अधिक गंभीरता से लिया जाने लगा। प्रेमचंद ने "हंस" पत्रिका का आत्मकथांक निकाल कर इस विधा को एक आंदोलन का रूप प्रदान कर दिया। बाबू

श्यामसुंदर दास ने "मेरी आत्मकहानी" (सन् 1941 ई.) नाम से कथात्मक शैली में अपनी आत्मकथा लिखी। इनके बाद राहुल सांस्कृत्यायन की "मेरी जीवन यात्रा" (सन् 1946 ई.) प्रकाश में आयी। उनकी आत्मकथा में प्राचीन साहित्य की शोध के लिए की गई दुर्गम प्रदेश की यात्राओं, लगातार विकसित और परिवर्तित होती हुई विचारधाराओं की जानकारी के साथ-साथ विदेश के विश्वविद्यालयों में भारत की विद्या के अध्ययन अध्यापन की परिस्थितियों के बारे में बताया गया है। इसके बाद वियोगी हरि की आत्मकथा "मेरा जीवन प्रवाह" (सन् 1948 ई.) प्रकाशित हुई। इसकी भाषा-शैली शुद्ध साहित्यिक है किंतु सरसता का अभाव है।

शांतिप्रिय द्विवेदी की "परिव्राजक की प्रजा" और यशपाल की "सिंहावलोकन" आत्मकथाएं 1952 में प्रकाश में आयीं। सन् 1958 ई. में सेठ गोविंददास ने "आत्म-निरीक्षण" नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने "मेरी अपनी कथा" में अपने निबंधकार, कथाकार और अध्यापक जीवन पर प्रकाश डाला है। इनकी आत्मकथा में कहानी जैसी रोचकता है। पांडेय बेचन शर्मा "उग्र" की "अपनी खबर", चतुरसेन शास्त्री की "मेरी आत्मकहानी" (1963 ई.), वृंदालाल वर्मा की "अपनी कहानी" (1970 ई.), हरिवंश राय बच्चन की "क्या भूलूं क्या याद करूं" और "नीड़ का निर्माण फिर" आत्मकथाएं अपना अलग स्थान रखती हैं।

आत्मकथा की विधा को प्रतिष्ठित करने में अनूदित ग्रंथों का विशेष योगदान रहा। महात्मा गांधी की आत्मकथा (सन् 1927 ई.) सुभाष बोस की "तरुण के स्वप्न" (सन् 1935 ई.), जवाहर लाल नेहरू की "मेरी कहानी" (सन् 1939 ई.), सर्वपल्ली राधाकृष्णन की "सत्य की खोज" (सन् 1948 ई.), कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की "आधे रास्ते और सीधी चट्टान" (सन् 1951 ई.) बंगला, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं से हिंदी में अनूदित की गयी हैं। हिंदी में ही राजेंद्र बाबू ने अपनी "आत्मकथा" (सन् 1947 ई.) लिखी थी। इन सभी राजनेताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व और पश्चात् के भारत की राजनीतिक गतिविधि और आंदोलनों का वर्णन किया है। साथ ही देश की सामाजिक स्थिति, ग़रीबी और रूढ़ियों से जकड़े लोगों का चित्रण किया है।

**बोध प्रश्न**

7. जीवनी लिखने के लिए प्रामाणिक जानकारी उस विषय या उससे संबंधित विषयों पर लिखित पुस्तकों या लेखों से मिलती है। आप ऐसे ही चार अन्य स्रोत बताइए।

   i) .....

   ii) .....

   iii) .....

   iv) .....

8. रिक्त स्थानों में उपयुक्त शब्द भरिए:

   i) जीवनी किसी ..... की लिखी जाती है।

   ii) आत्मकथा ..... की लिखी जाती है।

   iii) भारतेंदु युग की जीवनियों के वर्णन ..... है।

   iv) रामविलास शर्मा लिखित ..... जीवनी औपन्यासिक शैली के कारण रोचक बन पड़ी है।

   v) आवारा मसीहा जीवनी के लेखक .....हैं।

   vi) हिंदी की पहली आत्मकथा जैन कवि बनारसीदास की ..... मानी जाती है।

   vii) "क्या भूलूं क्या याद करूं" तथा "नीड़ का निर्माण फिर" आत्मकथाओं के लेखक .....हैं।

## 29.5 यात्रा साहित्य – रिपोर्ताज

आदिकाल से मनुष्य में एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर जाने की प्रवृत्ति रही है। यद्यपि

उसकी यात्रा का उद्देश्य अलग-अलग हो सकता है--कभी जीविकोपार्जन के लिए तो कभी नवीन बातों की जानकारी के लिए, कभी व्यापार, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए। जिस किसी उद्देश्य से यात्रा की गयी हो, मनुष्य अपनी यात्राओं के वर्णन के माध्यम से अन्य लोगों को भी अपनी यात्रा संबंधी स्वानुभूतियों से परिचित कराना चाहता है। इसलिए जब लेखक अपनी यात्रा के दौरान देखे गए स्थानों का वर्णन करता है तो उसे यात्रावृत्त या यात्रा-साहित्य कहते हैं। लेखक वर्ण्य-विषय का वर्णन आत्मीयता तथा निजता के साथ करता है। जिस विषय का वह वर्णन करता है, उसके साथ उसका जुड़ाव होता है तथा उसके जीवन-संदर्भ भी उसमें आते हैं। आत्मीयता तथा निजता का यह गुण निबंध शैली की भी विशेषता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि यात्रावृत्त का वर्णन निबंध जैसा होता है। फिर भी यात्रावृत्त निबंध नहीं है, क्योंकि इसमें तो यात्रा के दौरान देखे गये स्थानों का वर्णन होना चाहिए।

यात्रावृत्त लेखक अपनी यात्रा के दौरान देखे गये स्थानों का वर्णन प्रायः स्मृति के आधार पर करते हैं, इसलिए किसी अच्छे यात्रावृत्त में संस्मरण की छाप भी होती है फिर भी यात्रावृत्त और संस्मरण एक-दूसरे से भिन्न हैं। यात्रावृत्त में समय तथा स्थान का उल्लेख अनिवार्य रूप से होता है किंतु संस्मरण में स्थान तथा समय का उल्लेख अनिवार्य नहीं। यात्रावृत्त में यात्रा के दौरान देखे गये स्थानों, दृश्यों अथवा घटनाओं से जुड़ी सामयिक स्मृतियों का वर्णन होता है, जबकि संस्मरण में स्थायी एवं अमिट स्मृतियों का वर्णन किया जाता है। यात्रावृत्त लेखक यात्रा के वर्णन में स्थान, दृश्य, घटना तथा व्यक्ति आदि से संबंधित कटु एवं मधुर स्मृतियों का चित्रण कर सकता है।

भारतेंदु-युग से पहले मध्ययुग में यात्रा-ग्रंथ उपलब्ध हैं, जैसे--गुसाईंजी का "वन यात्रा" (1553 ई.), रामसहायदास का "वन यात्रा परिक्रमा" (1834 ई.) और अज्ञात लेखक का "बृज चौरासी कोस वन यात्रा" (1843 ई.), श्रीमती सुदानि का "बद्री यात्रा कथा" (1831 ई.), और वाचस्पति शर्मा का "बदीनारायण सुगम यात्रा" (1909 ई.)। ये सभी यात्रा वर्णन चम्पू शैली में लिखे गये हैं और शैली वर्णनात्मक है।

भारतेंदु युग में यात्रा-साहित्य की ओर भी लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। स्वयं भारतेंदु ने अपने द्वारा संपादित पत्रिकाओं में कई यात्रा-वृत्तांत लिखे। उनमें "सरयू-पार की यात्रा", "मेहदावल की यात्रा", "लखनऊ की यात्रा", "हरिद्वार की यात्रा", "वैद्यनाथ की यात्रा" आदि प्रमुख हैं। भारतेंदु ने अपने यात्रा वृत्तांत में प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ रीति-रिवाज़, खान-पान, बोलचाल आदि का भी वर्णन किया है। बालकृष्ण भट्ट का "कतिकी का नहान" और "गया यात्रा" तथा प्रतापनारायण मिश्र का "विलायत यात्रा" वृत्तांत उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों के प्रयत्नों से यात्रा-साहित्य आगे बढ़ा और यात्रा-साहित्य के ग्रंथों का मुद्रण भी होने लगा। परिणामस्वरूप कई यात्रा ग्रंथ प्रकाश में आए--श्रीमती हरदेवी लिखित "लंदन यात्रा" (1883 ई.), भगवानदास वर्मा कृत "लंदन की यात्रा" (1884 ई.), दामोदर शास्त्री का "मेरी पूर्व दिग्यात्रा" (1885 ई.) और "मेरी दक्षिण दिग्यात्रा" (1886 ई.), लाला कल्याणचंद कृत "केदारनाथ यात्रा" (1890 ई.), देवी प्रसाद खत्री का "रामेश्वर यात्रा" (1893 ई.), तोताराम वर्मा का "ब्रज-विनोद" (1888 ई.) और पं. विभु मिश्र का "ब्रज यात्रा" (1894 ई.)। कुल मिलाकर भारतेंदु युग में विदेश यात्राओं और तीर्थ यात्राओं के वर्णन की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है।

भारतेंदु-युग का यात्रा-साहित्य द्विवेदी युग में विकास की ओर अग्रसर हुआ। एक ओर तत्कालीन प्रमुख पत्रिकाओं--"सरस्वती", "मर्यादा", "इंदु", "गृहलक्ष्मी" आदि में विविध क्षेत्रों के यात्रा-वृत्तांत प्रकाशित हुए तो दूसरी ओर कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ भी सामने आये। इस अवधि में प्रकाशित साहित्यिक यात्रा में विदेश-यात्रा, देश-यात्रा और तीर्थ-स्थान-यात्रा तीनों प्रकार के ग्रंथी प्रकाश में आये। विदेश यात्रा-वृत्तांतों में दर्शनीय स्थानों की झांकी के साथ औद्योगिक विकास तथा सामाजिक स्वतंत्रता पर लेखकों ने विशेष ध्यान दिया है। ऐसा राष्ट्रीय चेतना के प्रबल होने की वजह से हुआ। कुछ प्रमुख यात्रा-ग्रंथ हैं--ठाकुर गदाधर सिंह का "हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा" (1903 ई.), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का "अमेरिका-दिग्दर्शन" (1911 ई.), गोपालराम गहमरी का "लंका यात्रा का विवरण" (1912 ई.), जवाहर लाल नेहरू का "रूस की सैर" (1926 ई.), राहुल सांस्कृत्यायन का "तिब्बत में सवा बरस" (1933 ई.), "मेरी लद्दाख यात्रा" (1939 ई.),

UGHI-103/599

सत्येंद्र नारायण का "दक्षिण भारत की यात्रा" (1935 ई.), प्रो० मनोरंजन का "उत्तराखंड के पथ पर" (1936 ई.)।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का विश्व-भर के देशों से सांस्कृतिक संबंध स्थापित हुआ। अब यात्रा-वृत्तांत केवल मनोरंजन, समाज-सुधार या तीर्थ-यात्रा की दृष्टि से नहीं लिखे गये वरन् उनमें सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि प्रधान हो गयी। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण उच्चकोटि के आलोचक, कथाकार, कवि, नाटककार, अभिनेता आदि विदेश गये। उन्होंने भावुकतापूर्ण आलंकारिक शैली और बौद्धिकतापूर्ण विश्लेषणात्मक शैली में देश-विदेश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक स्थितियों को उजागर किया। शैली की दृष्टि से अब पत्र, डायरी और दृश्य या स्थानों की चित्रात्मकता की ओर विशेष झुकाव हो रहा है। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में चित्रात्मक भाषा का प्रयोग किया जा रहा है। अब वर्णन की अपेक्षा प्रभाव, प्रतिक्रिया और संवेदना का अंकन किया जा रहा है। कुछ उल्लेखनीय कृतियां हैं—राहुल सांस्कृत्यायन की "किन्नर देश में" (1948 ई.), "दार्जिलिंग पश्चिम" (1950 ई.), "रूस में 25 मास" (1952 ई.) यशपाल की "लोहे की दीवार के दोनों ओर" (1953 ई.), अक्षय कुमार जैन की "दूसरी दुनिया" (1965 ई.), डॉ. नगेंद्र की "तंत्रालोक से यंत्रालोक" तथा "अप्रवासी की यात्राएं"।

अज्ञेय की "एक बूंद सहसा उछली" हिंदी-यात्रा-साहित्य का गौरव है। इसमें उन्होंने स्विट्जरलैंड, बर्लिन, पेरिस आदि के दर्शनीय स्थानों के साथ वहाँ के कवियों और लेखकों की भेंट का विवरण दिया है जिससे पूर्व-पश्चिम की दृष्टि स्पष्ट होती है। अज्ञेय की ही स्वदेश—यात्रा की कृति "अरे यायावर रहेगा याद" (1953 ई.) में आसाम से लेकर पश्चिम सीमा प्रांत तक की यात्रा का मार्मिक वर्णन मिलता है।

मोहन राकेश की "आखिरी चट्टान तक" (1959 ई.) पुस्तक में समस्त भारत की यात्रा का आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन मिलता है।

प्रभाकर माचवे कृत "गोरी नज़रों में हम" (1964 ई.) में पूर्व-पश्चिम की चिंतन-पद्धति का वर्णन मिलता है। निर्मल वर्मा ने "चीड़ों पर चांदनी" (1964 ई.) में बर्लिन, कोपेन हेगन, आइसलैंड, पेरिस, बियाना आदि का वर्णन कर वहां के लेखकों—ब्रेख्त, काफ्का, सार्त्र आदि की भी चर्चा की है।

डॉ. हरिवंश राय बच्चन की "प्रवास की डायरी" (1972 ई.) में इंग्लैंड के लोगों के आचार-विचार, रीति-नीति आदि पर मज़ेदार प्रक्रियाएं हैं।

इस तरह हिंदी यात्रा-साहित्य दिन पर दिन विकसित हो रहा है और इसमें विषय और शैली दोनों दृष्टियों से वैविध्य आया है।

यात्रा-साहित्य से मिलती-जुलती एक अन्य विधा है 'रिपोर्ताज़"। लेकिन दोनों में अंतर है। रिपोर्ताज़ में वर्ण्य विषय का आंखों देखा और कानों सुना मार्मिक वर्णन होता है। इसमें घटनाओं के तथ्यात्मक वर्णन को कलात्मक ढंग से व्यक्त किया जाता है। "रिपोर्ताज़" फ्रेंच भाषा का शब्द है तथा अंग्रेजी के "रिपोर्ट" शब्द से इसका संबंध है। किसी घटना के यथातथ्य विवरण को "रिपोर्ट" कहते हैं जो प्रायः समाचार पत्रों के लिये लिखी जाती है। रिपोर्ट के साहित्यिक और कलात्मक रूप को हम "रिपोर्ताज़" कह सकते हैं। रिपोर्ताज़ लिखने की परंपरा द्वितीय महायुद्ध के समय आरंभ हुई थी।

रिपोर्ताज़ लेखक प्रायः युद्ध, महामारी, अकाल, बाढ़ आदि के दुष्परिणामों की आँखों-देखी जानकारी देता है लेकिन उसका उद्देश्य केवल सूचना देना नहीं होता। वह तो महामारी, बाढ़, अकाल, युद्ध आदि से उत्पन्न विषम स्थितियों से लाभ उठाने वाले मुनाफ़ाखोरों की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहता है। मानव जीवन के विकास में सहायक जीवन-मूल्यों के ह्रास पर चिंता प्रकट कर पाठकों को इनके विषय में सोचने पर बाध्य करता है। रिपोर्ताज़ लेखक विनाशकारी घटना और पात्रों के अमानवीय कार्यों का वर्णन करने पर भी संवेदना के साथ मानवीय पहलू को उजागर करता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि जब कोई समाचार केवल समाचार नहीं रहता, वरन् मानव-मूल्यों से जुड़कर साहित्य की स्थायी संपत्ति बन जाता है तब उसे "रिपोर्ताज़" कहते हैं। शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय,

प्रभाकर माचवे, लक्ष्मीचंद जैन, धर्मवीर भारती, उपेंद्रनाथ अश्क, श्रीकांत वर्मा, फणीश्वरनाथ "रेणु", रामनारायण उपाध्याय, भदंत आनंद कौल्यासन, शिवसागर मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, भगवतशरण उपाध्याय आदि लेखकों ने विभिन्न विषयों पर रिपोर्ताज़ों का सृजन किया। रांगेय राघव की "तूफानों के बीच" (1946 ई.) कृति में बंगाल के अकाल पीड़ित क्षेत्रों के हृदयद्रावक वर्णन मिलते हैं। प्रकाशचंद्र गुप्त द्वारा रचित "स्वराज्य भवन", "अलमोड़े का बाजार" और 'बंगाल का अकाल" आदि महत्वपूर्ण रिपोर्ताज़ हैं।

**बोध प्रश्न**

9. यात्रा साहित्य और रिपोर्ताज़ में क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

10. निम्नलिखित पुस्तकों के सही लेखक बताइए:

| | |
|---|---|
| (क) लखनऊ की यात्रा | अज्ञेय |
| (ख) रूस की सैर | राहुल सांस्कृत्यायन |
| (ग) रूस में 25 मास | पं. जवाहर लाल नेहरू |
| (घ) अरे यायावर रहेगा याद | भारतेंदु |
| (ड.) चीड़ों पर चांदनी | मोहन राकेश |
| (च) आखिरी चट्टान तक | निर्मल वर्मा |

## 29.6 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ गये होंगे कि निबंध साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। निबंध में लेखक अपने भावों और विचारों को प्रभावशाली भाषा और शैली के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकता है।

हिंदी निबंधों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। इसे समझने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल को हिंदी परंपरा का केंद्रीय व्यक्तित्व मानकर उसे तीन युगों में विभाजित किया गया—शुक्ल पूर्व युग, शुक्ल युग और शुक्लोत्तर युग। आपको इन युगों की विशेषताओं और प्रमुख निबंधकारों की विशेषताओं की जानकारी मिली होगी।

हिंदी गद्य की अन्य विधाओं—संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, यात्रा-साहित्य और रिपोर्ताज़ की विशिष्टताओं और उनके सूक्ष्म अंतर को भी इस इकाई में स्पष्ट किया गया है। संस्मरण में लेखक किसी व्यक्ति, स्थान या घटना की स्मृतियों को प्रस्तुत करता है। जबकि रेखाचित्र में लेखक अपने संपर्क में आए किसी व्यक्ति के जीवन चरित्र का खाका प्रस्तुत करता है। जीवनी में किसी अन्य व्यक्ति का जीवन-चरित्र होता है जबकि आत्मकथा में लेखक अपने जीवन के बारे में लिखता है। यात्रावृत्त में लेखक किसी स्थान विशेष की यात्रा का वर्णन प्रस्तुत करता है जबकि रिपोर्ताज में लेखक आंखों देखी और कानों सुनी घटना का तथ्यपरक किंतु मार्मिक वर्णन करता है। अब आप इन विधाओं में अच्छी तरह अंतर कर पाएंगे।

## 29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

डॉ. नगेंद्र (सम्पादक) — **हिंदी वाङ्मय बीसवीं शती:** विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। प्र.सं. 1972, मूल्य 100 रुपये।

डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान : आधुनिक हिंदी साहित्य (1947-1962): विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा प्र.सं. 1965।

डॉ. हरिश्चंद्र वर्मा : हिंदी साहित्य का इतिहास: मंथन
डॉ. रामनिवास शुन्त : पब्लिकेशन्स, रोहतक प्र.सं. 1982, मूल्य 140 रुपये।

## 29.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1. (क) भारतेंदु युग– i) भारतेंदु हरिश्चंद ii) प्रतापनारायण मिश्र।
   (ख) द्विवेदी युग– i) महावीर प्रसाद द्विवेदी ii) सरदार पूर्ण सिंह।
   (ग) शुक्ल युग– i) रामचंद्र शुक्ल ii) गुलाबराय।

2. (क) हरिशंकर परसाई
   i) सोद्देश्य व्यंग्य सृष्टि
   ii) भाषा पैनी और व्यंग्य व्यंजक
   iii) वैज्ञानिक दृष्टि

   (ख) राहुल सांस्कृत्यायन
   i) पांडित्य
   ii) दो टूक बात कहने के हिमायती (स्पष्टवादी)
   iii) रसपूर्ण भाषा-शैली

   (ग) विद्यानिवास मिश्र
   i) लोकसंस्कृति और साहित्य का प्रभाव
   ii) पांडित्य
   iii) काव्यमय भाषा

   (घ) रामविलास शर्मा
   i) विश्लेषणात्मकता
   ii) दो टूक ढंग से अपनी बात कहना
   iii) बोलचाल की भाषा

3. शुक्ल युग के निबंधों की भाषा पर छायावादी कवियों की गद्य भाषा की-सी सरसता, भावप्रवणता, कल्पनाशीलता आदि गुण पाए जाते हैं तथा प्रेमचंद की गद्य भाषा की-सी स्पष्टता, तार्किकता, सरलता, और सहजता के गुण भी हैं। लोकोक्तियों, मुहावरों, लक्षणाओं के नूतन प्रयोग से भाषा सशक्त बनी।

4. i) भाषा का परिष्कार
   ii) निबंध लेखन को प्रोत्साहन

**बोध प्रश्न**

5. i) रेखाचित्र ii) आत्मकथा, जीवनी
   iii) बालमुकुंद गुप्त

6. i) संस्मरण लेखक व्यक्ति के चरित्र के किसी एक पहलू को लेता है जबकि रेखाचित्रकार व्यक्ति के समग्र जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है।
   ii) संस्मरण में विस्तार होता है, रेखाचित्र में संक्षिप्तता।
   iii) संस्मरण में तथ्यपरकता होती है, रेखाचित्र में कल्पना का पुट भी हो सकता है।

**बोध प्रश्न**

7. i) चरितनायक के पत्रों, डायरी और साक्षात्कार से।
   ii) चरितनायक के समकालीनों के संस्मरण से।
   iii) चरितनायक से संबंधित स्थानों की यात्रा करने से प्राप्त तथ्यों से।
   iy) चरितनायक द्वारा कृतियों में अथवा उत्सव आयोजनों में व्यक्त उद्गारों से।

8. i) अन्य ii) स्वयं iii) शुष्क
iv) निराला की साहित्य साधना v) विष्णु प्रभाकर
vi) अर्द्धकथा vii) हरिवंशराय बच्चन

9. यात्रा साहित्य में यात्रा के दौरान देखे गये स्थानों का दृश्यों या घटनाओं, व्यक्तियों का वर्णन स्मृति के आधार पर किया जाता है जबकि रिपोर्ताज़ में वर्ण्य विषय का आंखों देखा और कानों सुना तथ्यपरक किंतु मार्मिक वर्णन होता है।

10. क) भारतेंदु ख) पं. जवाहरलाल नेहरू
ग) राहुल सांस्कृत्यायन घ) अज्ञेय
ङ) निर्मल वर्मा च) मोहन राकेश

**अभ्यास**

1. देखिए उपभाग 29.2.3 का ललित निबंध अंश।

# इकाई 30 हिन्दी आलोचना का विकास

## इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 हिंदी आलोचना का विकास
30.3 शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना
30.3.1 भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना
30.3.2 भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना
30.3.3 द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना
30.4 शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना
30.5 शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना
30.5.1 स्वच्छंदतावादी
30.5.2 ऐतिहासिक
30.5.3 मार्क्सवादी
30.5.4 मनोविश्लेषणात्मक
30.5.5 नयी समीक्षा
30.6 शब्दावली
30.7 सारांश
30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 30.0 उद्देश्य

इकाई 30 हिंदी आलोचना के क्रमिक विकास से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आलोचना का अर्थ और साहित्य के लिये उसका महत्व स्पष्ट कर सकेंगे, तथा
- तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हिंदी साहित्य पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कर पायेंगे,
- विभिन्न युगों में आलोचना की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों को रेखांकित कर सकेंगे
- हिंदी आलोचना के विकास में प्रमुख आलोचकों के योगदान की चर्चा कर पायेंगे।

## 30.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य की विभिन्न गद्य-विधाओं के विकास और उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन आप पिछली इकाइयों में कर चुके हैं। इस इकाई में हम आपको हिंदी आलोचना के इतिहास से परिचित करवा रहे हैं। आलोचना को समालोचना और समीक्षा भी कहा जाता है। डॉ. गुलाबराय का कथन है–

> "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करने में योग देना है"।

इस तरह आलोचना, साहित्य की व्याख्या करती है, उसके गुण-दोष बताती है, उसके निर्माण की दिशा निर्धारित करती है।

हम आपको बता दें हिंदी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। रीतिकाल का रीतिबद्ध साहित्य रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है और लक्षणों के उदाहरण रूप में रचा गया है। दरअसल, उस समय विवेचना गद्य में नहीं पद्य में की जाती थी। यह माध्यम विवेचन-विश्लेषण के लिये उतना उपयुक्त नहीं था। साहित्य को देखने समझने की दृष्टि बदली तो उसके मूल्यांकन की कसौटी भी बदलती गयी। आलोचना में जो युगांतर आया, उसे प्रमुखतः तीन युगों में हम बांट सकते हैं—शुक्ल पूर्व युग, शुक्ल युग और शुक्लोत्तर युग। इस इकाई में इन तीनों युगों की विस्तृत चर्चा हम कर रहे हैं ताकि आपको हिंदी आलोचना के क्रमिक विकास की जानकारी मिल सके।

## 30.2 हिंदी आलोचना का विकास

हिंदी आलोचना का प्रारंभ भी गद्य की अन्य विधाओं के साथ ही साथ भारतेंदु युग यानी आधुनिक युग से हुआ है। इस युग में मुद्रण कला का विकास हुआ, राजनीतिक जागृति आयी और पत्र-पत्रिकाओं का लगातार प्रकाशन हुआ। अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क से लोगों को नयी-नयी जानकारियां मिलीं। स्कूल-कालेजों में हिंदी पढ़ायी जाने लगी। अध्यापकों को साहित्य सृजन की नवीन प्रेरणा मिली जिसके फलस्वरूप गद्य में पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे गद्य की तमाम विधाओं का विकास हुआ। गद्य का विकास भी आधुनिक आलोचना के उद्भव और विकास का सहायक कारण बना। आलोचना के विकास में पाश्चात्य साहित्य और बौद्धिक जागृति प्रधान कारण थे। उस समय एक-एक विषय पर इतनी पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं कि सबको पढ़ना संभव न था। अतः पाठक अच्छी पुस्तकों की उपादेयता को आंकने लगा। इसी से उसमें आलोचना की प्रवृत्ति पैदा हो गयी।

हिंदी साहित्य को युगीन परिस्थितियों ने नये आयाम और नये संदर्भ दिये, फलतः आलोचना के पुराने मानदंड अपर्याप्त दिखायी देने लगे और पाश्चात्य समीक्षा साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके हिंदी आलोचना ने नये युग में प्रवेश किया। आलोचना के प्रारंभिक काल में निंदा-स्तुति की अधिकता रही। भारतेंदु काल की आलोचना में भी यही हुआ। इस युग के बाद पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयत्नों से हिंदी आलोचना का स्वरूप कुछ और अधिक व्यवस्थित और सुनियोजित हुआ। हिंदी आलोचना में विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति तेज़ी से बढ़ी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना को शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसलिये हिंदी आलोचना के विकास के केंद्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को मानते हुए हम उसे तीन युगों में बांट सकते हैं—

1) शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना (1850 से 1920 ई.)
2) शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना (1920 से 1940 ई.)
3) शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना (1940 से आज तक)

## 30.3 शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना

जैसा कि हमने पहले चर्चा की हिंदी आलोचना की विधिवत् शुरुआत भारतेंदु युग से हुई थी। किंतु इससे पहले भी भक्ति और रीति युग में आलोचना के क्षेत्र में अनेक प्रयास दिखायी पड़ते हैं। अतः शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना के विकास को दरअसल तीन युगों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा—

- भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना
- भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना
- द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

## 30.3.1 भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना

भारतेंदु से पूर्व भक्ति और रीति युग में आलोचना के क्षेत्र में प्रयास हुए हैं। भक्ति काल में भक्ति का प्रभाव इतना प्रबल है कि वहां अलग से काव्य-सिद्धांतों की चर्चा प्रायः नहीं हुई है। भक्त कवियों के लिये काव्य रचना ईश्वर भक्ति का साधन है इसलिये जहां ईश्वर है वहां उत्तम काव्य भी है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा भक्तिकाल के ये सभी भक्त कवि इसी आदर्श को मानते हैं। यद्यपि तुलसीदास ने "सुरसरि सम सब कहं हित होई" तथा "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" कह कर काव्य के प्रति अपनी सजगता भी प्रकट की है। वैसे इस काल में भक्तों के जीवन, विचार, भक्ति से परिचित कराने वाले ग्रंथ लिखे जाने लगे थे जिन्हें 'वार्ता-साहित्य' के नाम से जाना जाता है। भक्त कवियों की कविता के संबंध में भी कहीं-कहीं विचार हुआ है। काव्य के वर्ण्य विषय और शैली संबंधी विशेषताओं के अतिरिक्त काव्य के जन-साधारण पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उल्लेख हुआ है किंतु इनमें प्रशंसात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। "भक्तमाल" में सूर के संबंध में इसी तरह विचार किया गया है।

उक्ति चोज अनुप्रास बरन — अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्बाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुण रूप रसना पर कासी।।

(भक्तकाल पृष्ठ 161)

इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने सूर की भक्ति और कविता पर प्रसंगवश जो कुछ भी कहा है, उसमें आलोचना के तत्व निहित हैं।

रीतिकाल में मौलिक विचारों की प्रवृत्ति तो है किंतु गूढ़ चिंतन और विषय के शास्त्रीय एवं यथार्थ ज्ञान का अभाव है। इसका कारण यही हो सकता है कि उस काल में गद्य रचना की पुष्ट परंपरा नहीं थी। रीतिकाल का कवि पहले काव्य के अंगों का लक्षण देता था और बाद में स्वरचित कविताओं को उदाहरण स्वरूप रख देता था। कुछ आचार्यों ने अपने काल के अन्य कवियों की कविताओं का भी उदाहरणों में उपयोग किया है। इस काल में रीति-ग्रंथ बहुत लिखे गये। आचार्यों ने प्रायः काव्य के सभी अंगों पर स्थूल रूप से विचार प्रकट किये। इस युग में संस्कृत समीक्षा शास्त्र की कई शैलियों का अनुकरण किया गया। अनेक कवियों का काव्य शास्त्रीय विवेचन तो आचार्यत्व की कोटि तक पहुंच गया। ऐसे कवियों में प्रमुख हैं—आचार्य केशवदास, चिंतामणि, कृपाराम, पद्माकर, भिखारीदास, देव, घनानंद, मतिराम, बिहारी आदि। इनमें आलोचना की दो विशिष्ट धाराओं को देखा जा सकता है—

- अलंकारवादी
- रसवादी

अलंकारवादी धारा के प्रवर्त्तक केशवदास हैं तो रसवादी धारा के प्रवर्त्तक देव, मतिराम और बिहारी।

हिंदी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य केशवदास माने जाते हैं। संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के कारण उन्होंने अलंकार शास्त्र का निरूपण हिंदी में सफलता पूर्वक किया। उन्होंने "रसिक प्रिया" और "कवि प्रिया" में अलंकार शास्त्र के प्रायः सभी विषयों का प्रतिपादन किया। "रसिक प्रिया" का विषय रस है, इसमें शृंगार को ही प्रधानता दी गयी है। केशवदास रचित "रामचंद्रिका" छंदों, अलंकारों और अन्य काव्य-अंगों के उदाहरणों का संग्रह है, साथ ही इसके माध्यम से कवि ने प्रबंध काव्य के शास्त्रीय रूप का भी एक उदाहरण हिंदी साहित्य के सामने रखा है।

चिंतामणि, कुलपति, श्रीपति, दास और प्रतापसिंह जैसे आचार्यों ने संस्कृत समीक्षा के अनुकरण पर ग्रंथों की रचना की। ये सभी आचार्य अलंकारवादी धारा के प्रतिनिधि हैं। इस धारा में चिंतामणि रचित "कवि-कुल-कल्पतरु" और "काव्य विवेक" सेनापति का "काव्य कल्पद्रुम", श्रीपति का "काव्य सरोज", प्रतापसिंह कृत "काव्यविलास" तथा देव रचित "शब्द रसायन" उल्लेखनीय है। कवि इस सत्य रससूक्ति रस के हैं लेकिन अलंकार शौर्य से भी जाना जाता है।

रसवादी धारा के आचार्यों ने शृंगार रस और नायिका भेद को प्रधानता दी। इस शैली की विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें हैं–केशवदास की "रसिक प्रिया", देव कृत "भावविलास", "रस विलास", दास की "रस निर्णय", पद्माकर रचित "जगद्विनोद", मतिराम की "रसराज" तथा बिहारी की "बिहारी सतसई"।

रीतिकाल में पद्यबद्ध टीकाएं भी लिखी गयी हैं। इनकी विशेषता आलोच्य वस्तु के अर्थ को अधिक स्पष्ट करना है किंतु काव्य में निहित सौंदर्य का निर्देश नहीं हुआ है। हां, राजस्थान की कृति "क्रिसन रूक्मिणी री बेलि" की कई टीकाएं लिखी गयी हैं। इनमें अलंकार निर्देश और काव्य सौष्ठव का विश्लेषण हुआ है। कुछ टीकाएं राजस्थानी गद्य में भी लिखी गयीं।

रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग भी किया लेकिन गद्य का सम्यक विकास उस समय तक न होने के कारण अधिक सफलता नहीं मिल सकी। वंशीधर और दलपति ने केशव, गंग, बिहारी, मतिराम आदि के छंदों के उदाहरण दिये और अलंकार युक्त अंशों का निर्देश कर दिया। इन्होंने भी गद्य का प्रयोग किया। रीतिकालीन समीक्षा के आदर्श के अनुकूल शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढ़ उदाहरण है सरदार कवि कृत "मानस रहस्य"। यह ग्रंथ सूत्र-शैली में लिखा गया है तथा सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं का इसमें सुंदर प्रयोग हुआ है। इसमें रामचरित मानस की व्याख्या की गयी है। कहीं-कहीं गद्य में भी विवेचन किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

> "निज कर भूसन राम बनाये, सीताहि पहिराये प्रभुसादर" "यहां राम जानकी परस्पर आलंबन, विभाव कटाक्षादि, अनुमान हर्ष संचारी, रति स्थायी यामे शृंगार है।"

आलोचना का आधार युगीन साहित्यिक अपेक्षाएं होती हैं। भक्तिकालीन और रीतिकालीन आलोचना के मानदंड आधुनिक साहित्य की आलोचना के लिये पर्याप्त न थे। अतः आलोचना को विकसित करना ज़रूरी हो गया। अब देखें भारतेंदु युग में आलोचना का क्या स्वरूप रहा।

## 30.3.2 भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना

भारतेंदु युग जन-जागरण का युग था। इस युग में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्य, दर्शन और चिंतन के क्षेत्र में समस्त भारतीय जन-मानस में एक नवीन क्रांति आयी। इस युग के साहित्य में वैचारिक अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम गद्य ही हो सकता था। अतः गद्य की अनेक विधाएं नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध की तरह आलोचना का भी विकास हुआ। साहित्य का उपयोगितावादी दृष्टिकोण स्वीकार किया जाने लगा। साहित्य में सुरुचि, नैतिकता और बौद्धिकता को प्रधानता मिलने लगी। भारतेंदु युग की आलोचना में इन्हीं तीन तत्वों को प्रमुखता दी गयी। राष्ट्र-प्रेम इस काल के साहित्य की प्रधान विशेषताओं में है। अतः आलोचनाओं में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाया गया। जुलाई-अगस्त सन् 1898 ई. में "हरिश्चंद्र चंद्रिका" के एक उपन्यास की आलोचना हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर की गयी है जिसमें जातियों के पारस्परिक मेल का समर्थन किया गया है।

भारतेंदु युग में अधिकांश आलोचनाएं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही विकसित होती रहीं। "हरिश्चंद्र मैगज़ीन", "हरिश्चंद्र चंद्रिका", "भारत मित्र", "सार सुधा निधि" "ब्राह्मण" आदि पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखित लेख और टिप्पणियों से आलोचना दृष्टि का विकास हुआ। इस युग में एक ओर जहां पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाज कल्याण को दृष्टि में रखकर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों में विश्वास करने वाले कुछ विद्वान पिंगल, नायिका भेद, रस निरूपण और अलंकार विवेचन में लगे हुए थे। डॉ. नगेंद्र के अनुसार इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं की प्रधानता रही–

1) रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परंपरा की सैद्धांतिक आलोचना।
2) ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली– गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना।
3) इतिहास ग्रंथों तथा कवि-परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना।

पहले वर्ग के अंतर्गत पिंगल, अलंकार, रस, सम्पूर्ण काव्यशास्त्र पर लक्षण ग्रंथों की रचना

की गयी। उदाहरण के लिए जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत "छंद प्रभाकर" (1894 ई.) और जगन्नाथ दास रत्नाकर रचित "घनाक्षरी-नियम रत्नाकर" (1897 ई.) इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगल ग्रंथ हैं। कुछ महत्वपूर्ण अलंकार ग्रंथ हैं—लछिराम कृत "रावणेश्वर कल्पतरु" (1892 ई.) और बिहारी लाल रचित "अलंकारदर्श" (1897 ई.)। रस ग्रंथों में साहब प्रसाद सिंह रचित "रस रहस्य" (1887 ई.) और प्रतापनारायण सिंह का "रस कुसुमाकर" (1894 ई.) उल्लेखनीय हैं। इसमें लक्षण खड़ी बोली गद्य में दिये गये हैं। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर लिखा गया जानकी प्रसाद का ग्रंथ "काव्य सुधाकर" (1886 ई.) उल्लेखनीय है।

द्वितीय वर्ग की आलोचनाओं में टीकाएं हैं, जिनमें कुछ प्रमुख हैं—"बिहारी सतसई" पर की गयी लल्लू लाल जी की टीका "लाल चंद्रिका" (1819 ई.) जो ब्रजभाषा प्रभावित खड़ी बोली गद्य में है तथा "बिहारी सतसई" पर ही प्रभुदयाल पांडेय ने भी 1896 ई. में खड़ी बोली गद्य में एक अच्छी टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कहीं-कहीं काव्य गुणों के संकेत मिल जाते हैं।

तृतीय वर्ग के अंतर्गत दो इतिहास ग्रंथ इस काल में लिखे गये—शिव सिंह सेंगर रचित "शिवसिंह सरोज" (1878 ई.) और जार्ज ग्रियर्सन लिखित "द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नार्दन हिंदुस्तान" (1889 ई.) इन इतिहास ग्रंथों में दिये गये कवि परिचयों में आलोचना के तत्व नहीं के बराबर हैं। इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों और कवियों के आलोचनात्मक परिचय "हिंदी प्रदीप" पत्रिका में प्रकाशित होते रहे।

दरअसल भारतेंदु युग में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओं में ही आधुनिक आलोचना का रूप दिखायी पड़ता है। "आनंद कादंबिनी" पत्रिका की "संयोगिता स्वयंवर" और "बंग विजेता" तथा "हिंदी प्रदीप" पत्रिका की "सच्ची समालोचना" इस शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं।

भारतेंदु युग के मुख्य आलोचक हैं—भारतेंदु, बदरीनारायण चौधरी "प्रेमधन" और बालकृष्ण भट्ट।

**भारतेंदु हरिश्चन्द्र:** भारतेंदु हरिश्चन्द्र को अन्य गद्य विधाओं के साथ ही आलोचना की विधिवत शुरुआत का श्रेय भी दिया जाता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र संबंधी महत्वपूर्ण कृति "नाटक" (1883 ई.) की रचना कर आधुनिक हिंदी आलोचना का प्रारंभ किया। इस निबंध में लगभग साठ पृष्ठों में नाटक का शास्त्रीय विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह निबंध यद्यपि संस्कृत नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर लिखा गया है किंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन नाट्य शास्त्र की जानकारी दी गयी है। साथ ही युग प्रवृत्ति का ध्यान रखकर प्राचीन जटिल शास्त्रीय नियमों से छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है—

"संस्कृत नाटक की भांति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

भारतेंदु जी ने संस्कृत साहित्य से ब्रज साहित्य तक का गहन अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत और हिंदी के आचार्यों और कवियों—कालिदास, रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदंताचार्य वल्लभाचार्य तथा सूरदास पर जीवन-वृत्तांतीय आलोचना प्रस्तुत की और जगह-जगह अपनी तुलनात्मक दृष्टि का भी परिचय दिया। इस प्रकार भारतेंदु ने अपने समकालीन लेखकों को आलोचना की ओर प्रवृत्त किया।

**बदरीनारायण चौधरी "प्रेमधन":** भारतेंदु मंडल के लेखकों में बदरीनारायण चौधरी "प्रेमधन" का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने श्रीनिवासदास रचित "संयोगिता स्वयंवर" नाटक और गदाधर सिंह लिखित "बंग विजेता" उपन्यास के हिंदी अनुवादों की विस्तृत आलोचना "आनंद कादम्बिनी" पत्रिका में की थी। इसी से व्यावहारिक हिंदी आलोचना का सूत्रपान माना जाता है। इन्होंने अपनी आलोचना में पुस्तक के गुण-दोषों का तटस्थ और साहित्यिक लिए प्रयोग किया है।

**बालकृष्ण भट्ट**– भट्ट जी ने संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने संस्कृत के अनेक कवियों एवं आचार्यों–भवभूति, कालिदास, श्रीहर्ष क्षेमेन्द्र, वाराहमिहिर, आनंदवर्द्धन, भट्टनारायण, राजशेखर, बाणभट्ट, विल्हण, वाल्मीकि, व्यास गोवर्धनाचार्य और जयदेव के जीवन वृत्तांत प्रस्तुत करते हुए आलोचना लिखी और स्थान-स्थान पर उनकी साहित्यगत प्रवृत्तियों में साम्य-वैषम्य दर्शाकर अपनी तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया। उनकी आलोचना का माध्यम "हिंदी प्रदीप" पत्रिका थी जिसका सम्पादन वे स्वयं करते थे।

भट्ट जी ने सैद्धांतिक विवेचन का उपयोग व्यावहारिक आलोचना में किया है। वे रचना की समीक्षा के मानदंड का उल्लेख सिद्धांतों के रूप में पहले कर देते हैं, फिर उसी आधार पर कृति का मूल्यांकन करते हैं। भट्ट जी की "सच्ची समालोचना" इसका सुंदर उदाहरण है। उन्होंने "नीलदेवी", "परीक्षा गुरु", "संयोगिता स्वयंवर" तथा "एकांतवासी" आदि कृतियों पर जो व्यावहारिक आलोचनाएं लिखी हैं वे उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी कवि के परिचय में तो तटस्थ, गंभीर और विश्लेषणात्मक हैं लेकिन पुस्तकों की आलोचना में कहीं-कहीं मीठी चुटकियां भी ले लेते हैं। उनकी शैली व्यंग्य-प्रधान है।

इस प्रकार भारतेंदु काल के समीक्षकों का ध्यान काव्य के अत्यंत बाह्य और स्थूल रूप पर ही था। काव्य के भीतर भाव-जगत में प्रविष्ट होकर उन्होंने विश्लेषण नहीं किया। लेकिन इतना ज़रूर है कि नयी समीक्षा के भावी विकास का पूर्वाभास भारतेंदु काल में मिलने लगा था। आगे द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना को नया और विस्तृत स्वरूप मिला।

## 30.3.3 द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना

हिंदी आलोचना को विकसित करने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान सराहनीय है। उन्हीं की देखा-देखी द्विवेदी युग के अन्य लेखक भी आलोचना की ओर अग्रसर हुए। द्विवेदी युगीन हिंदी आलोचना में धीरे-धीरे अधिक तर्क शक्ति, विचार क्षमता और सद्विवेकिनी शक्ति ने प्रवेश करना शुरू किया। भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों के अध्ययन और चिंतन के फलस्वरूप आलोचना की दृष्टि बहुत कुछ वैज्ञानिक होने लगी। पुस्तकीय समीक्षा से परे हिंदी आलोचना की कई महत्वपूर्ण पद्धतियां द्विवेदी युग में विकसित हुई। इस युग में "सरस्वती" के अतिरिक्त "माधुरी", "वीणा", "विशाल भारत", "साहित्य समालोचक", "मर्यादा" आदि पत्रिकाओं ने आलोचना के विकास में बहुत योग दिया। द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना के पांच रूप मिलते हैं–

1) शास्त्रीय आलोचना
2) तुलनात्मक आलोचना
3) अनुसंधानपरक आलोचना
4) परिचयात्मक आलोचना
5) व्याख्यात्मक आलोचना

प्रथम वर्ग की शास्त्रीय आलोचना में संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण-ग्रंथ लिखने की परंपरा है जो रीतिकाल से चली आ रही थी। इस प्रकार की आलोचनाओं में जगन्नाथ प्रसाद भानु कृत "काव्य प्रभाकर" (1910 ई.) तथा "छंद सारावली" (1917 ई.) और लाला भगवानदीन रचित "अलंकार मंजूषा" (1916 ई.) महत्वपूर्ण हैं। जगन्नाथ प्रसाद ने अंग्रेजी में भूमिका लिखी है और हिंदी के पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय भी दिये हैं। लाला भगवानदीन ने हिंदी अलंकारों की समुचित जानकारी देने के साथ ही साथ फ़ारसी, अरबी और अंग्रेज़ी अलंकारों का भी उल्लेख किया है।

तुलनात्मक आलोचना द्विवेदी युग की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। इस क्षेत्र में पं.पद्मसिंह शर्मा का नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा 1907 ई. में तुलनात्मक आलोचना का आरंभ किया। मिश्र बंधुओं (पं. गणेश बिहारी, श्याम बिहारी तथा शुक्रदेव बिहारी) द्वारा रचित "हिंदी नवरत्न" (1910 ई.) में भी तुलनात्मक आलोचना को महत्व दिया गया। लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

अनुसंधान परक आलोचना का विकास "नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1897) के प्रकाशन से

हुआ। शोधपरक आलोचना के उल्लेखनीय आलोचक हैं—मिश्र बंधु, श्यामदास, जगन्नाथ दास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी। मिश्र बंधु रचित "मिश्र बंधु-विनोद" (1913 ई.) में कवियों के जीवन-वृत्तों के साथ उनकी कृतियों की जानकारी तथा उनके काव्य के संबंध में अपना मत प्रकट किया गया। आगे चलकर चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने जयपुर से "समालोचक" (1902 ई.) पत्र निकाला जो मुख्यतः आलोचना का पत्र था। इस पत्र से हिंदी आलोचना का स्तर ऊंचा हुआ।

परिचयात्मक आलोचना में "सरस्वती" के माध्यम से स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखी गयी आलोचनाएं हैं। द्विवेदी जी ने विषय विवेचन के साथ ही भाषा संबंधी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। यह कार्य उन्होंने अपनी समालोचना द्वारा ही किया। उन्होंने "समालोचना-समुच्चय" नाम से अलग से भी अपना एक निबंध संग्रह प्रकाशित किया जिसमें ज्ञान-विज्ञान तथा प्राचीन काव्य से संबंधित उनके कई महत्वपूर्ण लेख संग्रहीत हैं। उन्होंने अपनी आलोचना में उन्हीं कृतियों को महत्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावना फैला रही थीं। द्विवेदी जी संस्कृत के कालिदास, भवभूति, भक्तिकाल के सूर-तुलसी तथा आधुनिक हिंदी के भारतेंदु तथा मैथिलीशरण गुप्त के प्रशंसक थे। उनका आलोचनात्मक ग्रंथ "हिंदी कालीदास की आलोचना" (1901 ई.) हिंदी में आलोचना-साहित्य की किसी कवि पर पूरी तरह विचार करने वाली पहली पुस्तक मानी जाती है।

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोच्य विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखा जाता है तथा नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और सौंदर्यपरक मूल्यों के आधार पर विशद और गंभीर विवेचन किया जाता है। बालकृष्ण भट्ट ने "हिंदी प्रदीप" में "नील देवी", "परीक्षा गुरु" और संयोगिता स्वयंवर" की गंभीर आलोचना करके इस पद्धति को मज़बूत किया। बालमुकुंद गुप्त ने "हिंदी बंगवासी" में "अश्रुमती" नामक बंगला नाटक के हिंदी अनुवाद (मुंशी उदित नारायण कृत) की आलोचना द्वारा इस परंपरा को आगे बढ़ाया। किंतु आलोचना की इस गंभीर शैली का पूर्ण विकास आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया।

इस तरह द्विवेदी युग में आलोचना के दो प्रतिमान मुख्य रहे—एक तो परंपरागत शास्त्रीय दृष्टि जिसके आधार पर आलोच्य कृति के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता था और उसे उत्कृष्ट या हीन बताया जाता था। दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के प्रभाव को ध्यान में रखकर उसे श्रेष्ठ या हीन सिद्ध करती थी।

**बोध प्रश्न**

1. आलोचना की शुरुआत के मुख्य कारण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को केन्द्र में रखते हुए हिंदी आलोचना को कौन-कौन से युगों में बांटा गया?

.....

.....

.....

3. शुक्ल पूर्व युगीन हिंदी आलोचना को कौन-कौन से तीन वर्गों में विभक्त किया गया?

.....

.....

.....

4. भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में लिखी गयी तीन-तीन आलोचना पुस्तकों के नाम बतायें।

.....
.....
.....
.....

**अभ्यास**

1. शुक्ल पूर्व युग की हिंदी आलोचना की प्रमुख प्रवृत्तियां 15 पंक्तियों में स्पष्ट कीजिये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

## 30.4 शुक्ल युगीन हिंदी आलोचना

वास्तव में हिंदी आलोचना का पूर्ण रूप शुक्ल युग में ही निखर पाया और इसका श्रेय इस युग के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। शुक्ल युग से पूर्व दोष-दर्शन, गुणकथन, निर्णय और तुलना जैसे स्थूल तत्वों को प्रमुखता दी जाती थी पर आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना में विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction) जैसे तत्वों को प्रमुखता दी जिनमें आलोचक की तटस्थता का तत्व भी निहित था। कवि विशेष के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही उसके काव्य की मूल प्रवृत्तियों और उसमें निहित शाश्वत तत्वों की छानबीन भी की गयी। कृति को देशकाल सापेक्ष रखकर परखा गया और मानवीय मूल्यों को प्रमुखता दी गयी। इतना ही नहीं संस्कृत काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों के प्रकाश में नये पश्चिमी काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों को भी स्थान दिया गया। समीक्षा की इस नयी परिपाटी को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही है इसीलिये इस युग को शुक्ल युग के नाम से अभिहित किया गया।

इस युग में समीक्षा के लिये जो मानदंड और शैली अपनायी गयी उनमें प्रमुख है–

- सुरुचि और नैतिकता
- शास्त्रीयता
- कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन
- तुलना और निर्णय
- देशकाल की समीक्षा

**सुरुचि और नैतिकता:** इस युग के आलोचकों ने साहित्य की नैतिक उपयोगिता को स्वीकार किया और वे कला में उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा के हिमायती रहे। नीति के उपदेश की वृत्ति के अनुकूल इन आलोचकों ने मुक्तक और गीत की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्ता दी। इन आलोचकों ने माना कि साहित्य जीवन की व्याख्या है। साधारणीकरण का सिद्धांत भी उन्होंने स्वीकार किया। यही वजह रही कि इस युग में केशव, कबीर और रीतिकालीन कवियों का महत्व कम माना गया। जायसी की अपेक्षा कबीर के रहस्यवाद को तथा तुलसी की तुलना में सूर को कम आंका गया। हालांकि बाद में शुक्लजी ने सूर संबंधी अपनी मान्यताओं का खंडन किया।

**शास्त्रीयता:** इस कोटि की आलोचना की विशेषता है काव्य-शास्त्र के अनुसार चलना। इस युग के आलोचकों ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार के तत्वों का उपयोग किया है लेकिन शुक्लजी की तरह वे समन्वय नहीं कर सके। उन्होंने रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का भी उपयोग किया तथा साथ ही कल्पना, अनुभूति आदि पाश्चात्य तत्वों को भी ग्रहण किया। बाबू श्यामसुंदर दास में भी दोनों परंपराएं अलग-अलग हैं (साहित्यालोचन)।

हिंदी में कहानियों, नाटकों उपन्यासों, और निबंधों पर इस युग में शास्त्रीय समालोचना बहुत कम हुई। उपन्यासों की आलोचना में वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, उद्देश्य आदि तत्वों का पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार हुआ है जैसे, जनार्दन प्रसाद झा "द्विज" रचित "प्रेमचंद की उपन्यास कला"। कहानी और निबंधों के संग्रहों की भूमिकाओं में भी इन विधाओं की तात्विक समीक्षाएं हुई हैं। डॉ. श्रीकृष्ण लाल, शिलीमुख आदि के कहानी संग्रहों की भूमिकाएं इसके अच्छे उदाहरण हैं। वैधानिक समालोचना (जिसमें शास्त्रीय तत्वों का आरोप किया गया हो) का सबसे सुंदर उदाहरण पं. धर्मेन्द्र ब्रहमचारी द्वारा लिखित "महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास" है जिसमें रस, अलंकार की दृष्टि से तो विचार किया ही गया है, पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों से भी जांचा-परखा है। इस युग में शास्त्रीय समीक्षा के कुछ अच्छे उदाहरण हैं--प्रेमनारायण टंडन का "गोदान और गबन"
डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का "प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन"
डॉ. सत्येन्द्र रचित "प्रेमचन्द की कहानी कला"।

**कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन:** शुक्ल युग के आलोचकों ने आलोच्य कवियों की रचनाओं के अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व को समझने समझाने का प्रयत्न किया। वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलंकार नियोजन, चरित्र कल्पना, जीवन की व्याख्या आदि का विश्लेषण करके कवि की सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन करना ही आलोचक का मुख्य ध्येय हो गया। इसके अतिरिक्त कवि की कृतियों के आधार पर उसी चिंतन-धारा का अध्ययन भी किया, जैसे डॉ. रामकुमार वर्मा लिखित "कबीर" और डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल कृत "निर्गुण सम्प्रदाय" संबंधी आलोचना।

शुक्ल युग में आलोचना की एक और पद्धति सामने आयी (मनोवैज्ञानिक) जिसमें कवि के व्यक्तित्व और कलाकृति में अभिन्न संबंध स्थापित किया गया। इस पद्धति में आलोचक कवि के व्यक्तित्व का वह अंश स्पष्ट कर देता है जिससे कवि को अपनी विशेष विचारधारा और भावात्मकता के लिये सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "तुलसीदास" के विवेचन में इस पद्धति को अपनाया। डॉ. सत्येन्द्र ने "गुप्त जी की कला" पर इसी दृष्टि से विचार किया।

इस युग में चरितमूलक आलोचना के भी फुटकर प्रयास हुए। इसमें कवि द्वारा कथित अंतरंग प्रमाणों के आधार पर जीवनी का अध्ययन किया जाता है।

**तुलना और निर्णय:** ये दोनों पद्धतियां आरंभ से ही चली आ रही थीं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियों पर इसी तरह की आलोचना हुई हैं। शुक्ल जी कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानते हैं पर उनमें प्रेम की व्यंजना नहीं मिलती अतः शुक्ल जी की दृष्टि से जायसी का रहस्यवाद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है। लेकिन बाबू श्यामसुंदर दास को यह मान्य नहीं। इस प्रकार इन दोनों आलोचनाओं में तुलना और निर्णय स्पष्ट है। कृष्ण बिहारी मिश्र (देव और बिहारी) और भगवनादीन (बिहारी और देव) ने तुलनात्मक आलोचना पद्धति अपनायी।

**देशकाल की समीक्षा**: साहित्य को उसकी परिस्थितियों में रखकर आंकने की आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात शुक्ल जी ने ही किया। उन्होंने सूर, तुलसी आदि कवियों के महत्व को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर आंका। "हिंदी शब्द सागर" की भूमिका में शुक्लजी ने हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं उन्होंने कवियों एवं काव्यधाराओं के देशकाल पर विचार किया। इस युग के आलोचकों ने भी इस ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का उपयोग किया। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण की कविता को देशकाल की परिस्थितियों में रखकर उस पर विचार किया।

शुक्ल युग के प्रमुख आलोचक हैं गुलाबराय, बाबू श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण "सुधांशु", विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डॉ. रामकुमार वर्मा आदि।

**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना क्षेत्र में प्रवेश करते ही सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया—साहित्यिक रुचि में परिवर्तन। इससे पूर्व हिंदी के आलोचक रीति साहित्य को ही उपयुक्त मानते थे। शुक्ल जी ने पूरी साहित्यिक परम्परा का पुनर्गठन किया। उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना के माध्यम से हिंदी कवियों का जो क्रमिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया, वह उनके समय की बदली रुचि का प्रमाण है। शुक्ल जी ने लोकमंगलकारी रूप को साहित्य के मूल्यांकन का आधार बनाया और पहली बार मूल्यांकन के मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उन्होंने प्राचीन भारतीय तथा पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों का गहन अध्ययन कर समन्वयवादी आलोचना सिद्धांतों की रचना की। शुक्ल जी ने "कविता क्या है" (सरस्वती 1908), "साहित्य" (सरस्वति 1914), "काव्य में रहस्यवाद" आदि निबंधों से सैद्धांतिक समीक्षा का सूत्रपात किया। "चिंतामणि" में संकलित निबंधों से उनके व्यापक अध्ययन और गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है।

शुक्ल जी ने हिंदी में पहली बार रस-विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। रस मीमांसा में रस के शास्त्रीय विवेचन की मौलिक व्याख्या की। उन्होंने रस को काव्य की आत्मा तो माना, परन्तु रस की परम्परागत व्याख्या उन्हें मान्य न थी। उन्होंने अपने रसवाद में अनुभूति को सर्वोपरि महत्व देकर उसे लोकमानस से जोड़ा। वे अनुभूति प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य समझते थे। उनकी अनुभूति आत्माभिव्यक्ति प्रधान अनुभूति से भिन्न थी। उनका मानना था कि "लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।" इस प्रकार उन्होंने साधारणीकरण की पुनः प्रतिष्ठा की। रसवादी, नीतिवादी और लोकमंगलवादी होने के कारण शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी के काव्य सौष्ठव का उद्घाटन किया, किन्तु कबीर, रीतिकाल और छायावाद के कवियों को उचित महत्व न दे सके। इसी तरह प्रबंध काव्य को उन्होंने श्रेष्ठ माना और मुक्तक काव्य तथा गीतात्मकता को उनका उतना समर्थन नहीं मिल पाया।

शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी— व्यापक और सजग दृष्टि। अपने समय के हर साहित्यिक विवाद की तरफ उनका ध्यान जाता था। और वे अपनी राय भी देते थे। जितनी लगन से वे प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य का विवेचन करते थे। उतना ही ध्यान आधुनिक साहित्य और विषयों पर भी देते थे। तभी तो काव्य के अतिरिक्त अपने समय के गद्य-साहित्य की सभी पद्धतियों और प्रवृत्तियों को समझ कर उन्होंने इतिहास में उसका विवेचन किया।

निबंध की विवेचना में उन्होंने लिखा—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"

आचार्य शुक्ल के प्रमुख ग्रंथ हैं—"जायसी ग्रंथावली" (1925 ई.), भ्रमरगीतसार (1926 ई.), "गोस्वामी तुलसीदास" (1933 ई.), "हिंदी साहित्य का इतिहास" (1929 ई.)।

**बाबू श्याम सुंदरदास**: बाबू श्याम सुंदरदास का शुक्ल जी के समकालीन आलोचकों में प्रमुख स्थान है। इन्होंने भी आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। बाबूजी ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में कार्य किया लेकिन शुक्ल जी की तरह वे दोनों का

समन्वय नहीं कर सके। "साहित्यालोचन" ग्रंथ की रचना उन्होंने एम.ए. के विद्यार्थियों को विषय की अधिकाधिक जानकारी देने के लिये की। इस ग्रंथ में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय करके साहित्य समीक्षा को उदार बनाया। बाबूजी का सिद्धांत प्रतिपादन शास्त्रीय एवं तर्क संगत है। उन्होंने कवियों की प्रामाणिक जीवनी अद्वितीय ढंग से प्रस्तुत की। उन्होंने रस और अलंकार के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि नवीन विधाओं का भी विवेचन किया। नाटक पर उन्होंने "रूपक रहस्य" की रचना की।

"कबीर ग्रंथावली की भूमिका", "हिंदी साहित्य का इतिहास" तथा "भारतेंदु हरिश्चंद्र", उनकी व्यावहारिक आलोचना के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त बाबूजी ने पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से आलोचनात्मक लेख भी लिखे। "नागरी प्रचारिणी" पत्रिका में तो उनके लेख बराबर ही प्रकाशित होते रहे। प्राचीन पुस्तकों के शोध कार्य का विवरण भी इसी पत्रिका के माध्यम से देते रहे जो कम महत्व नहीं रखता। इस प्रकार बाबूजी ने हिंदी के आलोचना शास्त्र को स्वतंत्र रूप से विकसित करने का प्रयत्न किया और इस दिशा में कार्य करने के लिये अध्यापकों और शोधार्थियों को प्रोत्साहित किया।

**गुलाबराय:** गुलाबराय ने "साहित्य संदेश" नामक आलोचनात्मक पत्रिका का सम्पादन करके हिंदी आलोचना के प्रचार-प्रसार में काफी योग दिया। उन्होंने शिक्षा के उपयोग की दृष्टि से "सिद्धांत और अध्ययन" तथा "काव्य के रूप" ग्रंथों की रचना की। उन्होंने छायावाद के दार्शनिक रूप को भी स्पष्ट किया।

लक्ष्मीनारायण **"सुधांशु":** लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत कला के साथ भाव सत्ता को भी महत्व दिया। उन्होंने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर काव्य सिद्धांतों की परख "जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत" (1942 ई.) ग्रंथ में की।

**विश्वनाथ प्रसाद मिश्र":** मिश्र जी का मध्ययुगीन काव्य की साफ-सुथरी टीकाओं के लिये तत्कालीन आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान है। "वाङ्मय विमर्श", "बिहारी की वाग्विभूति", "हिंदी साहित्य का अतीत" और "हिंदी का सामयिक साहित्य" ग्रंथों की रचना द्वारा मिश्र जी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया।

तीसरे दशक की आलोचना के विकास में छायावादी कवियों का भी उल्लेखनीय योगदान है। छायावादी काव्य पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के लगाये गये आरोपों के जवाब में छायावादी कवियों ने अपनी कविता के बचाव में जो आलोचनाएं लिखीं, उनका बड़ा महत्व है। उन्होंने आलोचना को नयी दिशा देने के लिये प्राचीन शास्त्रवादी साहित्यिक मूल्यों का विरोध तो किया ही, नयें मूल्यों के प्रश्न भी खड़े किये।

सबसे पहले सुमित्रानंदन पंत ने "पल्लव" (1927 ई.) और "वीणा" (1929) की भूमिकाओं में रीतिकाल से द्विवेदी युग तक की कविता की कमियां बताते हुए छायावादी कविताओं की वकालत की। जयशंकर प्रसाद ने 1936 ई. में "हंस" के अनेक अंकों में काव्य की आलोचना विषयक निबंध लिखे जिसका संकलन बाद में "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" (1939 ई.) शीर्षक से हुआ। इन निबंधों में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, इस नाटकों में रस का स्थान, रंगमंच, यथार्थवाद, छायावाद आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट किये। प्रसाद ने छायावाद की आलोचना से संबंधित तीन काम किये--छायावाद को भारतीय चिंतन परंपरा से विकसित माना, छायावाद को मात्र शैली चमत्कार न मानकर उसका संबंध अनुभूति, चमत्कार से जोड़ा, तथा छायावादी कविता के सौंदर्य में निहित शिवत्व के दर्शन कराये।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने "पंत और पल्लव" (1927 ई.) शीर्षक निबंध माला की कविताओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया। "परिमल की भूमिका" (1930 ई.) में निराला जी ने मुक्त छंद के विवेचन द्वारा हिंदी में एक नये छंद शास्त्र की स्थापना की। इतना ही नहीं छायावाद के संदर्भ में अपने विरोधियों को उत्तर देने के लिये अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे जिनमें भाषा, छंद, तुक, लय, समसामयिकता, सार्वदेशिकता, स्थानीयता आदि को लेकर अनेक मौलिक प्रश्न उठाये जो भावी आलोचना के लिये मार्गदर्शक बने।

महादेवी ने भी "सांध्यगीत" (1936 ई.) की भूमिका में छायावाद और रहस्यवाद की व्याख्या का प्रयत्न किया। "साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध" उनके स्फुट लेखों का संग्रह है।

छायावाद के समर्थकों में नंददुलारे वाजपेयी, अवध उपाध्याय, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, शांतिप्रिय द्विवेदी, रामनाथ लाल "सुमन" और डॉ. नगेन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं।

**बोध प्रश्न**

5. हिंदी आलोचना में आचार्य शुक्ल को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। उन्होंने हिंदी आलोचना को कौन-सी नयी प्रवृत्तियां दी– चार पंक्तियों में लिखिये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

6. निम्नलिखित पुस्तकों के सही लेखक बताइए

| | | |
|---|---|---|
| i) | प्रेमचंद की उपन्यास कला | डॉ. रामकुमार वर्मा |
| ii) | कबीर | जनार्दन प्रसाद झा |
| iii) | रस मीमांसा | बाबू श्यामसुंदर दास |
| iv) | साहित्यालोचन | आचार्य रामचंद्र शुक्ल |
| v) | देव और बिहारी | डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा |
| vi) | प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन | कृष्ण बिहारी मिश्र |

## 30.5 शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना अपने युग के प्रभावों को ग्रहण करती हुई विकसित होती रही। दो विश्व युद्धों का विनाशकारी प्रभाव पश्चिमी देशों में दिखायी पड़ने लगा था। यूरोप में वैज्ञानिकता और भौतिकता के व्याप्त होने से नैतिक मूल्यों का विघटन होने लगा था। वहां भोगवादी और अर्थवादी मूल्यों को महत्व दिया जाने लगा। फ्रायडवादी, मार्क्सवादी और अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर पड़ने लगा। विश्वव्यापी इन चिंतन धाराओं से भारत भी अछूता नहीं रह सका। भारत के जीवन में भी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का कुछ सीमा तक विघटन हुआ। फलस्वरूप साहित्य में संघर्ष चेतना की अभिव्यक्ति के लिये तरह-तरह के प्रयोग किये जाने लगे। हिंदी आलोचना भी उन्हीं के अनुरूप ढलती गयी और शुक्लोत्तर युग में आलोचना अनेक धाराओं में विकसित हुई–

- स्वच्छंदतावादी समीक्षा
- ऐतिहासिक समीक्षा
- मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा
- मार्क्सवादी आलोचना
- नयी समीक्षा

### 30.5.1 स्वच्छंदतावादी समीक्षा



छायावाद के साहित्यिक विश्लेषण के लिए स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति

की शुरुआत हुई। इस नयी समीक्षा के मानदंड के तत्वों का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से हुआ। साथ ही अंग्रेजी की रोमांटिक कविता तथा रोमांटिक क्रिटिसिज्म के अध्ययन का भी इस पर प्रभाव पड़ा। छायावादी काव्य में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता से व्यक्तिवादी साहित्य चेतना का जन्म हुआ। इसलिये स्वच्छंदतावादी आलोचकों ने प्राचीन सिद्धांतों से अलग हटकर काव्य में सूक्ष्म-सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न किया। आलोचकों ने उपादेयता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन न कर आनंद को प्रधानता दी। इस समीक्षा में जीवन के प्रति एक ऐसा भावमय दृष्टिकोण है जो अनुभूति को केन्द्र में रखकर विकसित होता है। स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति के प्रतिनिधि आलोचक हैं—पं नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र और पं. शांतिप्रिय द्विवेदी। छायावाद के मूल्यांकन के प्रश्न पर इन आलोचकों ने आचार्य शुक्ल का विरोध किया था।

**पं. नंददुलारे वाजपेयी :** पं. नंददुलारे वाजपेयी छायावादी के समर्थ आलोचक और स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति के प्रतिनिधि समालोचक रहे। वाजपेयी ने द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में आलोचना क्षेत्र में प्रवेश किया था। तब "सरस्वती" आदि पत्रिकाओं के माध्यम से उनकी आलोचनाएं प्रकाशित होती रहती थीं। डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी की आलोचना की दो प्रधान विशेषताएं बतायी हैं— कलाकार की अन्तर्वृत्तियो का अध्ययन तथा कलाकृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। वाजपेयी जी ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता तथा शुक्ल जी के प्रबंधकाव्यवाद, मर्यादावाद और नैतिकवाद से हिंदी समीक्षा को मुक्त किया। उन्होंने काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों का विवेचन भी किया। उन पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धांतों का पर्याप्त प्रभाव था, इस कारण उन्होंने भारतीय रसवाद के सिद्धांत की व्याख्या भारतीय साहित्यशास्त्र के रूढ़ शब्दों में नहीं की। वाजपेयी जी ने रसानुभूति संबंधी अलौकिकता को अस्वीकार किया और कला मात्र के आनंद को रस नाम से अभिहित किया। वाजपेयी जी को छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाओं की गंभीर और विस्तृत समीक्षा का श्रेय जाता है।

वाजपेयी जी के प्रधान समीक्षा ग्रंथ हैं— "हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी", "जयशंकर प्रसाद", "सूर संदर्भ की भूमिका", "आधुनिक साहित्य", "महाकवि सूरदास", और "नया साहित्य नये प्रश्न"।

**डॉ. नगेन्द्र :** डॉ. नगेन्द्र भी स्वच्छंदतावादी एवं सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के आलोचक हैं। उन्होंने समीक्षा का आरंभ छायावाद पर स्फुट निबंध से किया। "हंस" (1937 ई.) में उनका पहला निबंध जो सुमित्रानंद पंत पर था प्रकाशित हुआ। छायावादी काव्य की अन्तर्मुखी साधना, सौन्दर्य चेतना और कलात्मकता के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। "सुमित्रानंदन पंत (1938 ई.) पुस्तक में पंत जी की कविताओं में मनोदशाओं का उन्होंने सुंदर चित्रण किया है। धीरे-धीरे वे व्यावहारिक आलोचना से सैद्धांतिक आलोचना की ओर आकृष्ट हुए। "रीतिकाव्य की भूमिका" तथा "देव और उनकी कविता" (1946 ई.) से इसका स्पष्ट आभास मिलता है। अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं के लिये उन्होंने विविध विषय चुने हैं—काव्य, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र आदि। उन्होंने मध्ययुग से आधुनिक युग तक के कृतिकारों की समीक्षा की है। किंतु वे मुख्य रूप से आधुनिक काव्य के आलोचक हैं। उनके कुछ निबंधों में फ्रायडीय प्रभाव की झलक मिलती है। इसलिये उन्होंने मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएं की हैं। किंतु डॉ. नगेन्द्र मूलतः रसवादी आलोचक हैं। "रस सिद्धांत" (1964 ई.) में उन्होंने रस का पूरा विवेचन कर उसकी पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। साहित्य को वे आत्माभिव्यक्ति मानते हैं इसलिये अनुभूति तत्व को विशेष मान्यता देते हैं।

डॉ. नगेन्द्र आधुनिक साहित्य और समसामयिक आंदोलनों से भी जुड़े रहे। जहां उन्होंने "कामायनी के अध्ययन की समस्याएं" (1962 ई.) ग्रंथ लिखा वहीं वे समय-समय पर नयी कविता, उपन्यासों और कहानियों की भी आलोचना करते रहे हैं। "नयी समीक्षा: नये संदर्भ" (1970 ई.) में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। पाश्चात्य काव्य शास्त्र के नये सिद्धांतों की जानकारी देने के लिये उन्होंने "काव्य बिंब" (1967 ई.) की रचना की। डॉ. नगेन्द्र की समीक्षा में भारतीय और पाश्चात्य तत्वों पर विचार हुआ है। वे रस, अलंकार आदि पूर्वी तथा आवेग, कल्पना चिंतन, अनुभूति, बिंब आदि पाश्चात्य तत्वों के आधार पर समीक्षा करते हैं।

उन्होंने हिंदी आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से विकसित किया है। इस प्रकार डॉ. नगेन्द्र ने हिंदी आलोचना में दो कार्य किये—एक तो भारत और पश्चिम के आलोचना शास्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। यहां तक कि अनुवादों के माध्यम से सामग्री सुलभ करायी। दूसरे छायावाद के शिल्प पक्ष की सूक्ष्मताओं को उजागर किया।

**पं. शांतिप्रिय द्विवेदी:** द्विवेदी जी ने मुख्यतः छायावादी साहित्य पर ही विचार किया है। वे छायावाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वाले समीक्षक थे। वे काव्य से जीवन की प्रेरणा प्राप्ति को महत्व देते हैं। उन्होंने इस ओर संवेदनीयता को काव्य के उद्देश्य में स्थान दिया है। द्विवेदी जी ने छायावादी काव्य के विकास में गांधीवाद और प्रथम विश्व युद्ध की परिस्थितियों को सहायक माना है। "हमारे साहित्य निर्माता" (1932 ई.) "कवि और काव्य" (1937 ई.) तथा "साहित्यिकी" (1938) उनके प्रमुख ग्रंथ हैं।

द्विवेदी जी ने "इतिहास के आलोक" निबंध में वर्तमान कविता के क्रम विकास का तथा "छायावाद और उसके बाद" निबंध में साहित्य के विकास का अध्ययन किया है जिसमें उनके वैयक्तिक चिंतन की झलक है।

## 30.5.2 ऐतिहासिक समीक्षा

आधुनिक समीक्षा के आरंभ से ही ऐतिहासिक समीक्षा के दर्शन होते हैं। भारतेंदु, पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र बंधुओं में ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति पायी गयी है। ऐतिहासिक समीक्षक युग-चेतना के प्रभावों के साथ ही यह भी अध्ययन करता है कि किसी रचना ने जाति के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में कितना योगदान किया है। किसी भी साहित्यकार या रचना को युग और जाति से अलग करके नहीं देखा जा सकता। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने "विश्व साहित्य" और "हिंदी साहित्य विमर्श" नामक ग्रंथों में साहित्य और देशकाल का संबंध बताया है। लेकिन कवियों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर विचार करने के प्रथम वैज्ञानिक प्रयास शुक्ल जी की समीक्षा में हुए हैं। पर शुक्ल जी ने कवियों को साहित्य की धारा में रखकर नहीं देखा। वास्तव में ऐतिहासिक समीक्षा के समाजशास्त्रीय रूप का विकास परवर्ती काल में पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा ही हुआ।

**हजारी प्रसाद द्विवेदी:** हजारी प्रसाद द्विवेदी मुख्यतः शुक्ल संस्थान के आलोचक थे पर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के कारण वे शुक्ल जी से भिन्न थे। उनकी समीक्षा शैली शुरू से ही स्वच्छंदतावादी एवं ऐतिहासिक रही जिसमें मानवतावादी और समाजवादी मूल्य भी जुड़े हुए थे। हिंदी साहित्य की भूमिका (1940 ई.) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए बताया कि किसी रचनाकार का स्थान निर्धारण उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय पृष्ठभूमि के आधार पर करना चाहिये। अर्थात् किसी रचना के अध्ययन के लिये रचनाकार का अध्ययन और रचनाकार के अध्ययन के लिये उसके जीवन परिवेश और परंपरा का अध्ययन आवश्यक है। द्विवेदी जी की पहली पुस्तक "सूर साहित्य" (1936 ई.) में छायावादी भावुकता की प्रधानता थी किन्तु "कबीर" (1942 ई.) में उनका प्रायोगिक (व्यावहारिक) दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ। उन्होंने कबीर को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक परंपरा के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा। कबीर के भाषागत वैशिष्ट्य पर भी सबसे पहले उन्हीं की दृष्टि गयी।

द्विवेदी जी मानव को जीवन के सभी प्रयत्नों का लक्ष्य मानते थे। "अशोक के फूल" निबंध संग्रह में संकलित उनके एक निबंध का शीर्षक है—"मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है"। "हिंदी साहित्य" (1952 ई.) में तथा अन्य स्थानों पर भी उन्होंने सूर, तुलसी आदि का मूल्यांकन मानवतावादी दृष्टि से किया। प्रेमचंद का आकलन भी इसी दृष्टि से हुआ। मनुष्यता को उन्होंने साहित्य और रस का पर्याय माना।

द्विवेदी जी ने काव्य ही नहीं, काव्यशास्त्र को भी ऐतिहासिक दृष्टि से परखा और उसकी व्याख्या की। उनकी सैद्धांतिक मान्यताएं "साहित्य का मर्म" में सामने आयीं। द्विवेदी जी का महत्व साहित्य के मूल्यों को बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है।

### 30.5.3 मार्क्सवादी आलोचना

सन् 1936 ई. में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता करते हुए प्रेमचंद ने साहित्य के युगानुकूल नये उद्देश्य स्पष्ट किये। इस प्रकार हिंदी में प्रगतिशीलता का एक नया दौर शुरू हुआ और उसके अनुसार आलोचना के क्षेत्र में भी नयी मान्यताएं प्रकट होने लगीं।

इस अवधि के साहित्य पर कार्ल मार्क्स की विचारधारा का प्रमुख प्रभाव रहा। सिद्धांतवादी आलोचकों ने भी मार्क्सवाद को आधार बनाया। मार्क्स के जीवनदर्शन के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं में विरोधी तत्वों का संघर्ष होता रहता है। उस संघर्ष के फलस्वरूप विभिन्न पदार्थों, उनकी शक्तियों और अस्तित्वों का लगातार विकास होता रहता है। इसी को मार्क्स के "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" से भी जाना जाता है। मार्क्स का मानना था कि समाज में पूँजीपति और सर्वहारा इन दो विरोधी शक्तियों के बीच द्वन्द्व चल रहा है।

मार्क्सवादी दर्शन का प्रमुख उद्देश्य जनता के भौतिक अभावों और दरिद्रता को दूर कर समाज में समानता लाना है। इसलिये मार्क्सवादी विचारधारा के मानने वाले साहित्यकारों ने कला को जनसाधारण तक पहुंचाने के लिये शोषित और पीड़ित मानव को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया। प्रगतिशील साहित्यकार पूंजीवादी संस्कृति के विरोध और जनवादी संस्कृति के निर्माण की कामना लेकर आगे बढ़े। जिससे श्रमिक क्रांति के भावों को मजबूती मिली, विश्व बंधुत्व, नारी समानता और स्वतंत्रता तथा बौद्धिकता की भावना को बल मिला। सामाजिक यथार्थवाद और मानवतावाद के आदर्श को लेकर चलने वाले इस प्रगतिशील साहित्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिये अलंकार गौण हो गये जिससे प्रगतिवादी काव्य सरल हुआ। नये-नये सरल छंद इसकी विशेषता बन गये।

मार्क्सवादी आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त और डॉ. रामविलास शर्मा अग्रणी हैं।

**शिवदान सिंह चौहान:** शिवदान सिंह चौहान ने मार्च 1937 ई. के "विशाल भारत" में सबसे पहले "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें प्रगतिशील साहित्य के सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया। उनके अनुसार प्रगतिशील शक्ति वह है जो न केवल संसार को स्पष्ट करती है बल्कि उसे परिवर्तित करने में भी बराबर लगी रहती है। वे प्रगतिशीलता को वर्ग-गुट, देशकाल, पार्टी आदि की सीमाओं से आंकना उचित नहीं समझते थे। जो साहित्य जीवन के यथार्थ को गहराई और कलात्मक सच्चाई के साथ प्रतिबिम्बित करता है, वही प्रगतिशील साहित्य है। उनका मानना था कि प्रगतिशील कवि जरूरी नहीं कि मार्क्सवादी ही हो, वह गांधीवादी भी हो सकता है। "आलोचना के सिद्धांत" और "हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष" इनकी मुख्य रचनाएं हैं।

चौहानजी "हंस" और "आलोचना" पत्रिकाओं के संपादक रहे। उनके आरंभिक निबंध "प्रगतिवाद" (1946 ई.) में संकलित हैं। उनके आलोचनात्मक निबंधों के तीन संकलन "साहित्य की परख" (1947 ई.), "साहित्यानुशीलन", तथा "आलोचना के मा॰ (1958 ई.) प्रमुख हैं जिनमें पुस्तक समीक्षाएं और सैद्धांतिक निबंध भी हैं।

**प्रकाशचंद्र गुप्त:** प्रकाशचंद्र गुप्त ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के विवेचन के साथ हिंदी साहित्य की पुरानी परंपरा और समसामयिक साहित्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया। उनकी आलोचना सुबोधता, सरलता और शालीनता के गुणों से युक्त है। उनके तीन प्रमुख निबंध संकलन हैं—"आधुनिक हिंदी साहित्य: एक दृष्टि" (1952 ई.), "हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा" (1953 ई.) और "साहित्यधारा" (1956 ई.)।

**डॉ. रामविलास शर्मा:** डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावादी काव्य और उसमें विशेषकर निराला के साहित्य की व्याख्या से आलोचना-कार्य आरंभ किया। रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद पर भी किया गया आलोचना कार्य महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना", "प्रेमचंद" और "निराला की साहित्य साधना" (1968 ई.) हिंदी आलोचना की उपलब्धियां हैं। रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धांतों का केवल सैद्धांतिक प्रतिपादन ही नहीं किया वरन् मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिंदी साहित्य की

परंपरा की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। इतना ही नहीं उन्होंने बाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के साहित्य का भी विश्लेषण किया। "आदिकाव्य", "साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या: कालिदास", तथा "भवभूति की करुणा" उनकी उल्लेखनीय आलोचनाएं हैं।

शुक्ल जी के आलोचक व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी व्यापक और सजग दृष्टि। अपने समय के हर साहित्यिक विवाद की तरफ उनका ध्यान जाता था। और वे अपनी राय भी देते थे। जितनी लगन से वे प्राचीन और मध्ययुगीन काव्य का विवेचन करते थे, उतना ही ध्यान आधुनिक साहित्य और विषयों पर भी देते थे। तभी तो काव्य के अतिरिक्त अपने समय के गद्य साहित्य की सभी पद्धतियों और प्रवृत्तियों को समझ लेना चाहिए।

### 30.5.4 मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के सिद्धांत के अनुसार काव्य-सृजन कवि के सामाजिक दायित्व का परिणाम नहीं, वरन् उसकी प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित है। काव्य के पात्र, वर्ण्य-विषय, शैली आदि सभी वस्तुओं पर दमित इच्छाएं अथवा प्रभुत्व की कामना और जीवित रहने की इच्छा की अभिव्यक्ति ही कला-कृति के स्वरूप का निर्धारण करती है। इस तरह मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा में कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गयी। अतः रचना को ठीक-ठीक समझने के लिए रचनाकार के व्यक्तित्व को समझना आवश्यक समझा गया।

दरअसल पश्चिमी आलोचक फ्रायड, एडलर और युंग ने साहित्य प्रेरणा के तीन सिद्धांतों की चर्चा की—काम-वासना (दमित इच्छाएं), प्रभुत्व की कामना तथा जीवित रहने की इच्छा। इन सिद्धांतों ने पश्चिमी जगत में तहलका मचा दिया। इसने हिंदी साहित्य को भी प्रभावित किया। हिंदी में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय" और पं. इलाचंद्र जोशी के उपन्यास इसी विचारधारा से प्रभावित हैं।

यूँ तो मनोविश्लेषणवादी समीक्षा-शैली के दर्शन शुक्लजी से लेकर परवर्ती काल के सभी आलोचकों में होते हैं। पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएं हिंदी में कम हैं। नगेंद्र जी ने मनोविश्लेषणवादी साहित्य सिद्धांतों के आधार पर हिंदी-साहित्य का थोड़ा-बहुत मूल्यांकन भी किया है लेकिन वे मूलतः नूतन रसवादी हैं। मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी और देवराज उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं।

**सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय"**: अज्ञेय जी ने विशेषतः एडलर (प्रभुत्व कामना) को अपनाया। इनका समन्वित रूप ही उन्होंने ग्रहण किया। उन्होंने अपने "त्रिशंकु" नामक निबंध संग्रह में "प्रभुत्व कामना" और "क्षतिपूर्ति" के सिद्धांतों को स्पष्ट किया। अज्ञेय जी ने "त्रिशंकु" के निबंध "कला का स्वभाव और उद्देश्य" में लिखा है—"हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है, उसे एक नयी उपयोगिता सिखायी है। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा। पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी।"

उल्लेखनीय है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा के साथ-साथ अज्ञेय जी ने बाद में नयी समीक्षा का सूत्रपात किया।

**पं. इलाचंद्र जोशी**: जोशी जी के कला-विवेचन में भी फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों का उपयोग हुआ। जोशी जी ने काव्य का चरम लक्ष्य सौंदर्य माना जिसमें मंगल भावना भी निहित है। वे मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का उद्देश्य यह अध्ययन करना मानते हैं कि किस कलाकार के व्यक्तित्व में स्वस्थ-साहित्य सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है। इस तरह जोशी जी ने सामंजस्य के सिद्धांत पर बहुत जोर दिया। काव्य का उद्देश्य वे जीवनी-शक्ति प्रदान करना मानते हैं। इसलिए छायावाद की विलासिता और पलायनवादी प्रवृत्ति के तथा प्रगतिवाद के मग्न यथार्थ के घोर विरोधी रहे। जोशी जी ने "साहित्य-सर्जना" (1940 ई.), "विवेचना" (1948 ई.), "साहित्य संतरण" (1953 ई.) "विश्लेषण" (1954 ई.), और "साहित्य-चिंतन" (1955 ई.) में संगृहीत निबंधों में मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी।

### 30.5.5 नयी समीक्षा

1950 के बाद हिंदी आलोचना का विकास नये संदर्भों में नयी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सही दिशा में अग्रसर हुआ। नयी आलोचना से पूर्व किसी कृति को आंकने और परखने के लिये जो तरीके अपनाये जा रहे थे, वे मुख्यतः आलोचना के अपने मानदंड के आधार पर थे। किंतु नयी आलोचना में कृति को ही आधार बनाया गया। अतः प्रचलित पद्धतियां जैसे रसवादी, ऐतिहासिक, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी स्वतः धूमिल पड़ गयीं। हालांकि नयी पद्धति भी पश्चिम से ही ली गयी जहां रैनसम, राबट पन वारेन, ब्लैकमर और टेट आदि लेखक इस क्षेत्र में प्रयोग कर रहे थे। नयी आलोचना में रचना की संगति पर विशेष ध्यान दिया गया। रचना के ताने-बाने, उसके रचाव के साथ-साथ उसकी मूल्यगत प्रासंगिकता को भी मद्देनज़र रखा गया। इससे आलोचना कृति की तह तक पहुंच सकी।

"व्यक्ति स्वातंत्र्य" के सिद्धांतों को लेकर, साहित्य की जो धारा इस काल में विकसित हुई और उसके जिन मूल्यांकन सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ, उन्हें इस वर्ग में रखा गया। उसे "नयी कविता" या "नवलेखन" के वज़न पर "नयी आलोचना" नाम दिया गया। इस वर्ग के आलोचकों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य को जीवन का सर्वोच्च मूल्य स्वीकार कर साहित्य की नयी मर्यादाओं की स्थापना की। उनका मानना है कि सामाजिकता ने व्यक्ति की चेतना को कुंठित कर दिया। अपनी "कमजोरी", "अनुपयोगिता" और "लघुता" के एहसास से वह अपनी शक्ति और सामर्थ्य खोकर समूह और समाज का दास बन गया है। व्यक्ति को इस दासत्व से मुक्ति प्राप्त कर अपने "अस्तित्व" की प्रतिष्ठा करनी है जो बौद्धिक जागरूकता से ही संभव है। यही साहित्य की नयी मर्यादा है। मानवीय मूल्य, बौद्धिकता, आधुनिकता, क्षण के महत्व, सृजनात्मकता, विषय की उपेक्षा, काव्य का महत्व एवं कलाकार के अंतर्मन की परख आदि साहित्य-मूल्यों के साथ ही नये समीक्षक ने काव्य में लय के प्रश्न को भी उठाया।

हिंदी आलोचना में नयी आलोचना के प्रयास "अज्ञेय" से शुरू हुए और इसे आज तक आलोचकों ने न केवल अपनाया बल्कि उसे नयी दिशा और नये आयाम भी दिये हैं। "अज्ञेय" के अतिरिक्त जो अन्य आलोचक इस पद्धति से जुड़े, उनमें से कुछ प्रमुख की चर्चा हम इस इकाई में कर रहे हैं।

**सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय"**: "अज्ञेय" ने हिंदी आलोचना में नयी कविता के आस्वाद और मूल्यांकन के लिये नया आधार तैयार किया। उन्होंने "तीसरा सप्तक" की भूमिका में कवियों की आलोचना को कर्म की ओर प्रवृत्त किया। "अज्ञेय" ने अपनी कविता की व्याख्या के साथ ही अपने कुछ समकालीन कवियों की समीक्षाएं भी लिखीं। इतना ही नहीं काव्य तथा साहित्य संबंधी कुछ सैद्धांतिक स्थापनाएं भी कीं। आधुनिक हिंदी–कविता के संकलन "पुष्करिणी" की भूमिका में उन्होंने जो आधुनिक कविता की विस्तृत आलोचना की है वह उल्लेखनीय है।

"अज्ञेय" ने आरंभ में फ्रायड और एडलर के मनोविश्लेषण से प्रभावित होकर मनोविश्लेषणवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था किंतु बाद में आगे चलकर उसे छोड़ दिया। उनके परवर्ती विचारों के लिये "आत्मनेपद" (1960 ई.) और "हिंदी साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य" (1967 ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। "अज्ञेय" ने "प्रयोग" पर विशेष बल दिया। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों क्षेत्रों में प्रयोग को नया स्वरूप दिया। काव्य में उन्होंने "प्रतीक" के महत्व पर भी बल दिया। उन्होंने अपनी आलोचना द्वारा नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्यांकन के प्रतिमान भी तय किये।

**गजानन माधव मुक्तिबोध**: नये कवियों में काफी तेज और गहरी आलोचना दृष्टि रखने वाले कवि थे–गजानन माधव मुक्तिबोध। वे एक जागरूक रचनाकार थे। यूँ तो वे मार्क्सवादी विचारधारा के थे। कायदे से उनकी गणना मार्क्सवादी आलोचकों में की जानी चाहिए किंतु नयी कविता के मूल्यांकन को लेकर वे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों से अलग थे। उन्होंने आधुनिक लेखक की रचना-प्रक्रिया की जटिलता का विश्लेषण किया है। यह नयी आलोचना को मुक्तिबोध की मुख्य देन है। "एक साहित्यिक की डायरी" (1964 ई.) "नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध" (1964 ई.) और "नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र" (1971 ई.) उल्लेखनीय हैं।

मुक्तिबोध ने व्यावहारिक समीक्षाएं भी लिखी हैं। "कामायनी एक पुनर्विचार" में "कामायनी" का उन्होंने इसी दृष्टि से विश्लेषण किया है।

**गिरिजा कुमार माथुर :** गिरिजा कुमार माथुर ने नयी कविता के शिल्प पक्ष के साथ-साथ सैद्धांतिक पक्ष पर भी विचार किया है। उनके आलोचनात्मक निबंधों का संकलन "नयी कविता: सीमाएं और संभावनाएं" (1966 ई.) नाम से प्रकाशित हुआ। कविता की आलोचना उन्होंने "अस्वीकृति का नवोन्मेष" नामक निबंध में लिखी। गिरिजा कुमार के आलोचनात्मक लेखों से आधुनिक भाव-बोध का वैज्ञानिक पक्ष उजागर होता है।

**शमशेर बहादर सिंह :** कवि शमशेर बहादुर सिंह ने "हंस" और "नया साहित्य" पत्रिकाओं में काफी दिनों तक समकालीन कृतियों की समीक्षाएं लिखीं, जिनका संकलन "दो आब" (1947 ई.) नाम से प्रकाशित हुआ। इन समीक्षाओं में "तार सप्तक" की समीक्षा उल्लेखनीय है। "मुक्तछंद" निबंध में भी महत्वपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है।

**धर्मवीर भारती :** धर्मवीर भारती प्रयोगशील नयी कविता के पक्षधर थे। उन्होंने नयी कविता के मूल्यों को सैद्धांतिक स्तर पर स्थापित किया है। उनकी उल्लेखनीय कृतियां हैं—"साहित्य और मानव मूल्य" (1960 ई.) और "पश्यंति" (1969 ई.)।

**नलिन विलोचन शर्मा :** नलिन विलोचन शर्मा अति प्रयोगशील "प्रपद्यवाद" के प्रर्वतक माने जाते हैं। उनके आलोचनात्मक लेखों का संग्रह "दृष्टिकोण" नाम से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने "साहित्य का इतिहास-दर्शन" नामक ग्रंथ भी लिखा।

**नेमिचंद्र जैन :** नेमिचंद्र जैन ने कविता, उपन्यास, नाटक आदि सभी क्षेत्रों में आलोचनाएं लिखीं हैं किंतु कथा-समीक्षा और नाट्य-समीक्षा में उन्हें विशेष ख्याति मिली। "अधूरे साक्षात्कार" (1966 ई.) पुस्तक में उन्होंने समकालीन उपन्यासों पर महत्वपूर्ण आलोचना लिखी। इसी प्रकार "रंग-दर्शन" (1967 ई.) में नाटक-रंगमंच की विवेचना की गयी है।

**लक्ष्मीकांत वर्मा :** लक्ष्मीकांत वर्मा ने मानवीय संवेदना को साहित्य में सर्वोपरि माना है। उनकी "नयी कविता के प्रतिमान" (1957 ई.) पुस्तक को नयी कविता पर पहली आलोचना पुस्तक माना जाता है।

उपर्युक्त सभी कवि आलोचक थे लेकिन इस दौर के कुछ शुद्ध आलोचक भी हैं। जिन्होंने नये साहित्य के भावबोध और भाषा-संवेदना की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इनमें डॉ. नामवरसिंह, डॉ. रघुवंश और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी उल्लेखनीय हैं।

**डॉ. नामवर सिंह :** डॉ. नामवरसिंह की आलोचना समाजवादी जीवन दृष्टि और नयी कविता के भाव बोध को लेकर चली है। इसीलिए उन्हें प्रगतिवादी आलोचकों में भी गिना जाता है और नये आलोचकों में भी। उन्होंने नयी कविता को सहानुभूति से परखा है।

नामवर सिंह की पुस्तक "छायावाद" (1954 ई.) में छायावादी कविता के छाया-चित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन किया गया है। इस पुस्तक में कुल 12 अध्याय हैं। विभिन्न अध्यायों के अधिकांश शीर्षक छायावादी कविता की पंक्तियों के टुकड़े हैं। "प्रथम रश्मि", "केवल मैं केवल मैं", "जागो फिर एक बार" आदि शीर्षकों से स्पष्ट है कि विवेचन में छायावादी काव्य-वस्तु से सैद्धांतिक निष्कर्ष तक पहुंचा गया है।

डॉ. नामवर सिंह ने "कविता के नये-प्रतिमान" (1968 ई.) में नयी कविता के संदर्भ में काव्य-मूल्यों का प्रश्न उठाया है। काव्य-समीक्षा से हटकर साहित्यिक-मूल्यों को स्पष्ट करने का प्रयास उन्होंने अपनी पुस्तक "इतिहास और आलोचना" में संकलित निबंधों में किया है। इसके अतिरिक्त "इतिहास का नया दृष्टिकोण" (1952 ई.) और "हिंदी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार" (1962 ई.) नामक निबंधों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से हिंदी साहित्य के इतिहास की पुनर्व्याख्या की गयी है। इन निबंधों के माध्यम से उन्होंने मूल्यपरक आलोचना और साहित्यिक इतिहास के बीच संबंध स्थापित किया है।

इतना ही नहीं, नामवरसिंह जी ने कथा-समीक्षा के स्तर को भी काव्य-समीक्षा के स्तर तक उठाया। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक "कहानी-नयी कहानी" (1964 ई.) महत्वपूर्ण है।

**डॉ. रघुवंश :** डॉ. रघुवंश ने अपनी पुस्तक "साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य" (1956 ई.) में आधुनिक साहित्य के वैचारिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट किया है।

**डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी :** डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने "नवलेखन" (1951 ई.), "भाषा और संवेदना" तथा "अज्ञेय और आधुनिक रचनाशीलता" (1958 ई.) द्वारा नये साहित्य का विवेचन किया है और भाषिक विश्लेषण ही प्रस्तुत किया है।

इन तमाम आलोचकों के साथ-साथ कई अन्य आलोचक भी सक्रिय हैं—डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. विजयदेव नारायण साही, डॉ. शंभुनाथ सिंह, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त, डॉ. देवीशंकर अवस्थी, डॉ. इंद्रनाथ मदान, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, डॉ. रमेश कुंतल मेघ आदि। इन नये आलोचकों द्वारा हिंदी आलोचना में साहित्य को जांचने-परखने के लिये नये मूल्य विकसित हुए, विश्लेषण की नयी प्रणाली बनी, नयी भाषा का विकास हुआ।

**बोध प्रश्न**

7) शुक्लोत्तर युग में आलोचना की जो प्रमुख नयी पद्धतियां आयीं—वे कौन-सी थीं?

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

8) शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चंद्र गुप्त और डॉ रामविलास शर्मा की दो-दो कृतियों के नाम लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9) नयी आलोचना के कोई चार प्रमुख आलोचकों के नाम लिखें।

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

**अभ्यास**

2) मार्क्सवादी आलोचना, मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा और नयी आलोचना पद्धतियों की मुख्य प्रवृत्तियां लगभग 15-20 पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 30.6 शब्दावली

**मानवीय मूल्य** : वे व्यक्ति मूल्य जो समाज-मूल्य के विरोधी न होकर उनके पोषक हों। ज़ाहिर है जो मानवता के पोषक हों।

**मानवतावादी** : मानववाद एक प्रमुख विचारधारा है जिसके अनुसार मनुष्य ही मनुष्य का प्रतिमान है, कोई दिव्य सत्ता नहीं। इस विचारधारा को मानने वाले मानववादी कहलाये। उनका मानना है कि मनुष्य में जो पाशविक है और जो दिव्य है, उन दोनों के मध्य में कुछ ऐसा है जो पूर्णतः मानवीय है और उसी को नैतिकता, कला, सौंदर्यबोध तथा अन्य आचार-विचार का प्रतिमान मानना चाहिए।

**यथार्थवाद** : साहित्य की एक विशिष्ट चिंतन-पद्धति, जिसके अनुसार कलाकार को अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करना चाहिए।

**साधारणीकरण** : आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।

## 30.7 सारांश

इस इकाई में आपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हिंदी-आलोचना के क्रमिक विकास का अध्ययन किया। आपने पढ़ा कि किस प्रकार तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों से लोगों में जागृति आयी। मुद्रण कला के विकास से अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ायी जाने लगी। पाश्चात्य साहित्य का भी प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अन्य गद्य विधाओं के साथ आलोचना की भी शुरूआत आधुनिक युग यानी भारतेंदु युग से हुई। आपने यह भी जाना कि भारतेंदु युग में आलोचना केवल गुण-दोष विवेचन तक ही सीमित रही लेकिन द्विवेदी युग में हिंदी आलोचना में अधिक तर्कशक्ति और विचार क्षमता ने प्रवेश किया। हिंदी आलोचना को वैज्ञानिक आधार शुक्ल युग में ही मिला। उसमें विश्लेषण की प्रवृत्ति भी आयी। इस तरह आपने देखा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिंदी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा। यही कारण है कि हमने हिंदी आलोचना का विकास केंद्र आचार्य रामचंद्र शुक्ल को मानते हुए उसे तीन युगों में बाटा—

1) शुक्ल पूर्व हिंदी आलोचना 2) शुक्लयुगीन हिंदी आलोचना
3) शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना।

आपने पढ़ा कि शुक्लोत्तर युग में समीक्षा की अनेक नयी पद्धतियां अपनाई जाने लगीं क्योंकि युगीन साहित्य को समझने के लिए आलोचना के पुराने मानदंड काफी नहीं थे। इन पद्धतियों में प्रमुख हैं—स्वच्छंदतावादी, ऐतिहासिक, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणात्मक और नयी आलोचना।

आलोचना की विभिन्न पद्धतियों और प्रवृत्तियों को अपनाने वाले आलोचकों के प्रयासों की संक्षेप में जानकारी भी इस इकाई में दी गयी। कुल मिलाकर हिंदी साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना के मूल्यांकन में भी प्रगतिशील परिवर्तन हुए हैं किंतुअभी आलोचना को विभिन्न नये आयामों की आवश्यकता है।

## 30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें


| | | |
|---|---|---|
| नंद दुलारे वाजपेयी | : आधुनिक साहित्य | : भारती भंडार, इलाहाबाद। |
| डॉ. नगेंद्र (सम्पादक) | : हिंदी वाङ्मय बीसवीं शती | : विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। प्र.सं. 1972, मूल्य 100 रु०। |
| डॉ. भगवत्स्वरूप मिश्र | : हिंदी आलोचना उद्भव और विकास | : साहित्य सदन, देहरादून, प्र.सं. 1972। |
| डॉ. मक्खनलाल शर्मा | : हिंदी आलोचना का इतिहास | : प्रेमशील प्रकाशन दिल्ली। प्र.सं. 1986, मूल्य 100 रुपये। |
| डॉ. रमेश तिवारी | : आलोचना के तीन आयाम | : संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1989, मूल्य 70 रुपये। |
| विश्वनाथ त्रिपाठी | : हिंदी आलोचना | : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1970, दि.सं. 1982, मूल्य 40 रुपये। |


## 30.9 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न**

1) आलोचना की शुरूआत के प्रमुख पांच कारण थे—

   i) मुद्रण कला का विकास
   ii) राजनीतिक और बौद्धिक जागृति
   iii) एक विषय पर अनेक पुस्तकों का होना
   iv) पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव
   v) गद्य का विकास

2) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को केंद्र में रखते हुए हिंदी आलोचना को तीन युगों में बांटा गया है—

   i) शुक्ल पूर्व युगीन आलोचना
   ii) शुक्लयुगीन आलोचना
   iii) शुक्लोत्तर युगीन आलोचना

3) शुक्ल पूर्व युगीन हिंदी आलोचना को जिन तीन वर्गों में विभक्त किया गया, वे हैं—

   i) भारतेंदु पूर्व हिंदी आलोचना

ii) भारतेंदुयुगीन हिंदी आलोचना
iii) द्विवेदीयुगीन हिंदी आलोचना

4) भारतेंदु युग की तीन आलोचना पुस्तकों के नाम हैं–
"नाटक", "संयोगिता स्वयंवर", "सच्ची समालोचना"।

द्विवेदी युग की तीन आलोचना पुस्तकें हैं–
"हिंदी नवरत्न", "काव्य प्रभाकर", "देव और बिहारी"।

5) आलोचना में शुक्लजी ने विश्लेषण, विवेचन और निगमन जैसे तत्वों को प्रमुखता दी। काव्य की मूल प्रवृत्तियों और उसमें निहित शाश्वत तत्वों की खोजबीन को महत्ता दी। कृति को देशकाल सापेक्ष रखकर परखने का आह्वान किया। काव्य में मानवीय मूल्यों को प्रमुखता दी गयी।

6) i) जनार्दन प्रसाद झा ii) डॉ. रामकुमार वर्मा
iii) आचार्य रामचंद्र शुक्ल iv) डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

7) i) स्वच्छंदतावादी समीक्षा ii) ऐतिहासिक समीक्षा
iii) मार्क्सवादी आलोचना iv) मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा
v) नयी समीक्षा

8) शिवदान सिंह चौहान : i) साहित्य की परख
ii) आलोचना के मान

प्रकाशचंद्र गुप्त : i) आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि
ii) हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा

डॉ. रामविलास शर्मा : i) प्रेमचंद
ii) निराला की साहित्य साधना

9) i) सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन "अज्ञेय"
ii) गजाजन माधव मुक्तिबोध
iii) लक्ष्मीकांत वर्मा
iv) डॉ. नामवर सिंह

**अभ्यास**

1) स्वयं करें

2. स्वयं करें।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड
9

## साहित्य एवं उसके अंग

इकाई 31
साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन 631

इकाई 32
रस का अर्थ, उसके विभिन्न अंग एवं काव्य में महत्व 671

इकाई 33
शब्द शक्ति 699

इकाई 34
बिम्ब, प्रतीक एवं कल्पना तत्व 721

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति


डॉ भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

डॉ राम सिंह तौमर
पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन
पं बंगाल

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डॉ. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

डॉ. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

डॉ. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

डॉ. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. डॉ. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय


## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

### पाठ लेखक


प्रो. आनन्द प्रकाश दीक्षित
पुणे

डॉ. सुन्दर लाल कथूरिया
प्राध्यापक, आत्माराम सनातमधर्म कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. रमेश गौतम
प्राध्यापक, रामजस कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ. पूरन चन्द टण्डन
प्रवक्ता, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली


### संकाय सदस्य


डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. जवरी मल पारख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम
डॉ. नीलम फारूकी


### खंड संयोजक एवं संपादक


डॉ. पूरन चन्द टण्डन


### पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक


श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
डॉ. पूरन चन्द टण्डन


## सामग्री निर्माण


श्री बालकृष्ण मेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

श्री एम.पी. शर्मा
संयुक्त कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय



सितम्बर, 199 (पुनर्मुद्रण)



© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991



ISBN-81-7091-642-9



सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।



UGHI-103/628

# खंड 9 का परिचय

हिन्दी में ऐच्छिक पाठ्यक्रम 3 के अंतर्गत आप "हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य-परिचय" विषय का अध्ययन कर रहे हैं। अभी तक आठ खंडों में आप हिन्दी साहित्य के इतिहास, प्रमुख कवि या साहित्यकार तथा उनकी कृतियों आदि के विषय में गहन विवेचन कर चुके हैं। इतिहास लेखन, लेखन-परम्परा, काल-विभाजन, नामकरण, प्रमुख प्रवृत्तियाँ तथा प्रमुख साहित्यकार और उनकी कृतियों के विषय में भी आपने व्यापक अध्ययन किया। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के समस्त साहित्य-इतिहास की यात्रा तय करने के बाद अब आप "साहित्यशास्त्र" के कुछ महत्वपूर्ण अंगों का विवेचन खंड 9 और 10 में करेंगे।

यह नवाँ खंड "साहित्यशास्त्र" संबंधी चार इकाइयों को संजोए है। इसमें "साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन", "रस का अर्थ, उसके विभिन्न अंग एवं काव्य में महत्व", "शब्दशक्ति", तथा "बिम्ब, प्रतीक और कल्पना" जैसे गंभीर शास्त्रीय एवं तार्किक विषयों का विश्लेषण किया जा रहा है।

इस खंड की प्रथम इकाई (संख्या 31) "साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन" है। इस इकाई में साहित्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ तथा वाङ्मय और साहित्य में अंतर बताते हुए साहित्य का इतिहास एवं काव्य से संबंध बताया गया है। साहित्य पर संस्कृत, हिन्दी एवं पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ बताते हुए निष्कर्ष दिया गया है। तद्दोपरान्त प्रयोजन और हेतु की चर्चा करते हुए दोनों में अंतर बताया गया है। अंत में साहित्य के प्रयोजन को संस्कृत, हिन्दी एवं पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं सहित विवेचित करते हुए समाहार किया गया है।

खंड की दूसरी इकाई (संख्या 32) "रस का अर्थ, उसके विभिन्न अंग एवं काव्य में महत्व" है। इस इकाई में "रस" का समग्रतः विवेचन करते हुए रस की परिभाषा, अर्थ, एवं उसका स्वरूप बताया गया है। रसः लक्षण की विस्तृत व्याख्या तथा रस निष्पत्तिः को स्पष्ट किया गया है। फिर रस के विभावादि अंगों का विवेचन करते हुए संचारी भावों के संबंधों पर आधारित भावोदय, भावसन्धि आदि स्थितियों की व्याख्या की गई है। इसके बाद रस-संख्या तथा उनके लक्षण-उदाहरण एवं भेदोपभेद सहित विस्तृत विश्लेषण किया गया है। अंत में रस-मैत्री तथा रस विरोध की विवेचना करते हुए काव्य में रस के महत्व को भी स्पष्ट किया गया है।

तीसरी इकाई (संख्या 33) "शब्द शक्ति" विषय पर है। इस इकाई में शब्द शक्ति का अर्थ और उसके प्रकार बताते हुए अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के सभी भेदोपभेद की लक्षण-उदाहरण सहित विवेचना की गई है। अंत में समाहार करते हुए शब्द शक्तियों की महत्ता भी बतायी गयी है।

चौथी और अंतिम इकाई (संख्या 34) "बिम्ब, प्रतीक एवं कल्पना तत्व" पर है। इस इकाई में सर्वप्रथम बिम्ब से अभिप्राय तथा उसकी परिभाषा बताते हुए काव्य बिम्ब की विशेषताओं को स्पष्ट किया गया है। फिर बिम्ब के आधारभूत प्रेरक तत्व बताकर उनका वर्गीकरण और गुणों की विवेचना भी की गई है। इसके बाद "प्रतीक" का महत्व, स्वरूप-विस्तार एवं परिभाषा को भारतीय एवं परिचात्य दृष्टि से स्पष्ट करते हुए प्रतीकवाद, प्रतीक की विशेषताएँ तथा प्रतीकों के वर्गीकरण एवं प्रयोग पर भी सविस्तार चर्चा की गई है। इकाई के अंतिम भाग में कल्पना के महत्व, उसके स्वरूप और विशेषताओं की समीक्षा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का विश्लेषण किया गया है। कल्पना के भेद तथा कल्पना के विस्तार पर भी विचार किया गया है।

इस प्रकार यह खंड सम्पन्न होता है। इस खंड की प्रत्येक इकाई में बोध प्रश्न, तथा अन्य उपयोगी पुस्तकों की सूची भी दी गई है। अपेक्षानुसार शब्दावली भी स्पष्ट की गई है। खंड से संबंधित कुछ वीडियो और ऑडियो कार्यक्रम भी तैयार किए गए हैं। आशा है आप इन कार्यक्रमों से भी लाभान्वित हो सकेंगे। हमें विश्वास है कि पाठ्यक्रम की यह प्रस्तुति इस गंभीर विषय को आपके समक्ष सहज एवं स्पष्ट रूप से रख सकी है।

# इकाई 31 साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन

## इकाई की रूपरेखा


31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 साहित्य का विशिष्टार्थ
31.3 'साहित्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ
31.4 वाङ्मय और साहित्य
31.5 'साहित्य' शब्द का इतिहास और काव्य से उसका संबंध
31.6 साहित्य की परिभाषाएँ
  31.6.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ
  31.6.2 हिन्दी विद्वानों की परिभाषाएँ
  31.6.3 पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ
31.7 परिभाषाओं का समाहार और परिभाषा
31.8 प्रयोजन और हेतु: पारस्परिक अंतर
31.9 साहित्य का प्रयोजन
  31.9.1 संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन
  31.9.2 हिंदी विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन
  31.9.3 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन
31.10 समाहार
31.11 सारांश
31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
31.13 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर


## 31.0 उद्देश्य

आप हिंदी के ऐच्छिक पाठ्यक्रम 3 के खंड 9 की यह पहली इकाई पढ़ने जा रहे हैं। इस इकाई में 1) साहित्य की परिभाषा दी गयी हैं और 2) उसके प्रयोजन बताये गये हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- 'साहित्य' शब्दं की व्युत्पत्ति और उनके आधार पर साहित्य शब्द के अनेक अर्थों को बता सकेंगे,
- साहित्य, वाङ्मय तथा काव्य के आपसी संबंध और अंतर को समझा सकेंगे,
- देश-विदेश के विद्वानों की परिभाषाओं का परिचय प्राप्त करेंगे और सार रूप में यह बता सकेंगे कि साहित्य की स्वरूपगत विशेषताएँ क्या हैं,
- साहित्य की रचना का उद्देश्य क्या है? रचनाकार किस फल की प्राप्ति की इच्छा से साहित्य की रचना करता है, अथवा साहित्य की रचना के उपरांत रचनाकार को क्या उपलब्धि होती है? यह बता सकेंगे,
- यह बता सकेंगे; कि साहित्य के अध्ययन से सामाजिक या सहृदय को क्या लाभ होता है, अथवा वह साहित्य को क्यों पढ़ता, देखता अथवा सुनता है; तथा
- भारतीय एवं विदेशी दृष्टि की समानता-असमानता के आधार पर साहित्य को परिभाषित कर सकेंगे।

## 31.1 प्रस्तावना



हिंदी ऐच्छिक पाठ्यक्रम 3 के इस खंड 9 के अन्तर्गत यह 31 वीं इकाई है। इसमें दो प्रश्नों पर विचार किया गया है: 1—साहित्य की परिभाषा, और 2—साहित्य का प्रयोजन। विद्वानों

ने साहित्य की परिभाषा के लिए कई आधार ग्रहण किये हैं। ये आधार हैं: i) व्याकरण तथा कोश के आधार पर 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति करके उसका अर्थ निर्धारित करना, ii) सामान्य व्यवहार में उक्त शब्द का प्रचलन जिन अर्थों में हो रहा हो उनमें से विशिष्ट संदर्भ में अर्थ-निश्चय करना, iii) उद्दिष्ट के गुण-धर्म अथवा तत्वों का आकलन करना, तथा iv) साहित्य के उद्देश्य, प्रभाव अथवा परिणाम को ध्यान में रखकर उनका निर्देश करना। प्रस्तुत प्रसंग में 'साहित्य' शब्द का इन सभी दृष्टियों से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों की साहित्य-विषयक उक्तियों को आधार बनाकर भी यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि साहित्य की सर्वमान्य या मौलिक विशेषताएँ कौन-सी हो सकती हैं।

भारतीय रचना-परंपरा में काव्य का स्थान ही पहले आता है। गद्य और उसकी अन्यान्य विधाओं का विकास परवर्ती काल में हुआ। संस्कृत में श्रव्य तथा दृश्य, दोनों को काव्य मानने के अतिरिक्त कथा-आख्यायिका के लिए प्रयुक्त ललित गद्य को भी काव्य की ही संज्ञा दी गयी थी। 'साहित्य' शब्द का प्रयोग बहुत बाद में काव्य के पर्याय के रूप में ही हुआ। अतएव काव्य की परिभाषाएँ ही 'साहित्य' के लिए भी स्वीकार कर ली गयीं। गद्य के विविध रूपों का विकास होने पर निबंध तथा आलोचना जैसे विचारात्मक और विवेचनात्मक लेखन के लिए भी, काव्य के लिए प्रयुक्त संकुचित अर्थ को त्यागकर 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत किया जाने लगा। 'साहित्य' से गद्य और पद्य, दोनों प्रकार के ललित लेखन का बोध कराया जाने लगा। आधुनिक काल में अंग्रेज़ी के 'लिटरेचर' शब्द के प्रभाववश 'साहित्य' की सीमा और अधिक विकसित हुई और उससे ज्ञान-विज्ञान के किसी भी विषय के ज्ञान कराने वाले अथवा सूचना देने वाले लेखन और परंपरया से चले आते मौखिक सर्जन का अर्थ ग्रहण किया जाने लगा। इस प्रकार साहित्य वाङ्मय मात्र का अर्थ देने लगा और ललित या सर्जनात्मक रचना के दो प्रकार—भेद मान लिये गये: लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य। साहित्य के अपने विशिष्टार्थ के निश्चय करने और उसे परिभाषित करने में इन सभी पक्षों की उपादेयता है। भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों ने शब्द तथा अर्थ के संयोजन की अन्यान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए साहित्य को परिभाषित किया है। उन परिभाषाओं का आकलन साहित्य के सर्वमान्य स्वरूप से परिचित होने में हमारी सहायता करता है।

मनुष्य के हर कार्य के पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य रहता है। हर कार्य का कोई-न-कोई परिणाम, फल या प्रभाव होता है, जो कभी केवल कर्ता से संबंधित होता है, कभी किसी दूसरे व्यक्ति से संबंधित रहता है और कभी दोनों से एक-सा संबंधित होता है। साहित्य का भी इसी प्रकार एक या एकाधिक उद्देश्य, परिणाम, फल या प्रभाव होता है, जिसे पारिभाषिक अर्थ में साहित्य का प्रयोजन कहा जाता है। इन प्रयोजनों के भी कर्तागत, सहृदयगत अथवा उभयगत नाम से तीन भेद होते हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रयोजनों में से कुछ लुप्त या गौण हो जाते हैं और कुछ स्थिर, सार्वदेशिक और सार्वकालिक बने रहते हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों ने ऐसे अनेक प्रयोजनों का निर्देश किया है, जिनमें से कुछ सर्वमान्य कहे जा सकते हैं। ये प्रयोजन भी साहित्य को परिभाषित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। आपको इन सभी दृष्टियों को ध्यान में रखकर अध्ययन करना है।

## 31.2 साहित्य का विशिष्टार्थ

आप अब तक अनेक विषयों का अध्ययन करते आये हैं। गणित, इतिहास, भूगोल, दर्शन, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान, भौतिकी आदि अनेक विषयों का नाम आपने सुना है और उनमें से कुछ से परिचित भी हुए हैं। इन सभी विषयों की अपनी-अपनी विद्या-शाखाएँ भी हैं। उक्त विषयों को आप विज्ञान, समाजशास्त्र, और वाणिज्य नामक विद्या-शाखाओं में बाँटते हैं। परंतु इन शाखाओं के अंतर्गत आपने कभी किसी से साहित्य को भी सम्मिलित किये जाते नहीं सुना होगा। इनमें से किसी भी विषय को आपने कभी साहित्य जान या मानकर नहीं पढ़ा होगा। साहित्य की अपनी अलग ही एक विद्या-शाखा है। इसे कला-शाखा या आर्ट्स भी कहते हैं। परंतु चित्र, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं को इससे कुछ अलग बताने के लिए उनसे संबंधित शाखा को 'फाइन आर्ट्स' की संज्ञा दी जाती है। अतएव दो बातें बहुत स्पष्टतया स्मरणीय हैं: 1) पश्चिम में 'साहित्य' को यद्यपि कला ही माना गया है तथापि अन्य कलाओं से उसे अभिव्यक्ति के माध्यम और कौशल आदि के

आधार पर किंचित् अलग भी रखा गया है। 2) जिसे आप 'साहित्य' के रूप में अपने अध्ययन या चिंतन का विषय बनाते रहे हैं, वह है काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, संस्मरण, रेखाचित्र, निबंध, आलोचना आदि, और इसी अर्थ में हमें और आपको उसका प्रयोग अभीष्ट है। यही उसका विशिष्टार्थ है, जो उसे अन्यान्य प्रकार के लेखन से अलग करता है।

## 31.3 'साहित्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

किसी शब्द का अर्थ जानने अथवा विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप कई ढंग अपना सकते हैं या कई आधार ग्रहण कर सकते हैं। जैसे: 1) व्याकरण, 2) कोश, 3) आप्तकथन, 4) सामान्य व्यवहार, 5) विषय-विशेष के गुण-धर्म और 6) उस विषय के फल या प्रयोजन को आधार बनाकर किसी शब्द का अर्थ या किसी विषय का स्वरूप जाना और निश्चित किया जा सकता है। व्याकरण से किसी शब्द की मूल धातु और उसमें लगने वाले प्रत्यय अथवा उपसर्ग को जानकर उस शब्द की रचना और उसके मूलार्थ को जाना जा सकता है। शब्दकोश देखकर शब्द के भिन्न अर्थों की जानकारी होती है और प्रसंग देखकर यह समझ लिया जा सकता है कि प्रसंग-विशेष में उसका अर्थ क्या है या अनेक अर्थों में से वहाँ कौन-सा है। आप्त-कथन से तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्ति के कथन से है जिसके ज्ञान के प्रति यह विश्वास हो कि वह जो कहे या बतायेगा वह जानकारी सही या सत्य होगी। ऐसे व्यक्ति से पूछकर भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है या विषय का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार कभी हमारे-आपके व्यवहार में साधारणतः प्रचलित अर्थ से भी अर्थ-ज्ञान हो जाता है और कभी जिस विषय का ज्ञान अभीष्ट होता है, उसके कुछ विशेष गुणों या उसकी कुछ विशेषताओं को देखकर या कभी दूसरों पर पड़नेवाले उसके प्रभाव अथवा उससे मिलनेवाले फल या परिणाम को देखकर भी उस वस्तु या विषय का स्वरूप जाना जा सकता है और उसके आधार पर उसकी कोई एक विशिष्ट संज्ञा निश्चित की जा सकती है। 'साहित्य' शब्द से हम या आप कौन-सा अर्थ ग्रहण करें या उसे किस रूप में समझें, इस संबंध में भी ये आधार ही सहायक हो सकते हैं। उनमें से, अन्य आधारों के रहते, यहाँ आप्त-कथन की तो आवश्यकता नहीं है। शेष का उपयोग 'साहित्य' शब्द का अर्थ और उसकी परिभाषा अथवा प्रयोजन निश्चित करने के समय किया जायेगा। आइए पहले व्याकरण से व्युत्पन्न शब्द और उसके अर्थ को समझें।

आपको अभी बताया गया कि किसी शब्द का अर्थ जानने के लिए व्याकरण को आधार बनाकर उसकी मूल धातु के साथ प्रत्यय या उपसर्ग के योग से उस शब्द के व्युत्पन्न या निर्मित रूप तक पहुँचते हैं और उसके अनुरूप उसका अर्थ निश्चित करते हैं। यही उसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ और उसका मूल अर्थ भी होता है। विद्वानों ने 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की है, अतएव उसके अर्थों में भी थोड़ी-बहुत भिन्नता है।

'साहित्य' शब्द संस्कृत शब्द 'सहित' में 'ष्यञ्' प्रत्यय का योग होने से बना है। सहित + ष्यञ् = साहित्य। 'सहित' की भी कई व्युत्पत्तियाँ और अलग-अलग अर्थ हैं। एक अर्थ है—दो या दो से अधिक वस्तुओं का साथ-साथ होना। अतएव भाव या वस्तु-स्थिति तथा कर्म की दृष्टि से 'साहित्य' के दो अर्थ माने गये। 1) जब शब्द और अर्थ एक-साथ हों, उस स्थिति का नाम है—साहित्य। यह 'सहित' शब्द की भाववाचक संज्ञा है। 2) जहाँ या जिसमें शब्द और अर्थ को एक-साथ धारण किया गया हो, वह रचना है— साहित्य। दोनों अर्थों में अंतर यह है कि पहले में केवल शब्द और अर्थ की एकत्र स्थिति या होने की सूचना दी गयी है और दूसरे में उस कर्म या रचना को ही साहित्य कहा गया है जिसमें शब्द तथा अर्थ एक-साथ विद्यमान हैं अथवा धारण किये गये हैं। इस अंतर के कारण ही पहले अर्थ को 'भावपरक' और दूसरे को 'कर्मपरक' कहा जाता है। संस्कृत में इसे ही 'सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम्' कहा है।

आपने देखा कि 'साहित्य' में मूल शब्द है 'सहित'। इस 'सहित' शब्द की भी विद्वानों ने कई प्रकार से व्युत्पत्ति की है। यथा, 1) स + हित, 2) सह + हित तथा 3) सम् + हित। इन तीनों में 'हित' शब्द मुख्य है। कुछ विद्वान् 'हित' शब्द को मूल धातु 'धा' के साथ 'क्त' प्रत्यय के योग से निष्पन्न मानते हैं। 'धा' ही परिवर्तित होकर 'हि' का रूप धारण कर लेती है, जिससे 'हित' रूप बनता है। इसके अनुसार स + हित का अर्थ होगा—धारण या पोषण

करने की योग्यता के साथ, और 'साहित्य' का अर्थ होगा—वह रचना जो शब्द और अर्थ को धारण करती या उनका पोषण करती है। या जिसमें अच्छी प्रकार धारण करने या पोषण करने का भाव विद्यमान हो, वह रचना है 'साहित्य'। अथवा जैसा कि कहा गया है: 'सहितस्य भावः साहित्यम्' के अनुसार इसका भावपरक अर्थ होगा—सहित अथवा संयुक्त या सहयोग से अन्वित होने का भाव है—साहित्य।

'धा' धातु का एक और अर्थ है—जड़ना, रखना या स्थापित करना। इसके अनुसार 'साहित्य' वह रचना है जो शब्द के माध्यम से रचयिता के अर्थ को सहृदय, भावक या पाठक अथवा श्रोता या दर्शक के मन में स्थापित या उस तक संप्रेषित कर देती है। वह संप्रेषित अर्थ उसके मन में अपनी जगह बना लेता है।

यदि कुछ विद्वानों के अनुकूल 'हित' शब्द की व्युत्पत्ति 'हि' धातु में 'क्त' प्रत्यय के योग से मानें तो इसका एक दूसरा ही अर्थ होगा। 'हि' का अर्थ है—उत्तेजित करना, प्रसन्न करना या ठेलना। अतएव 'साहित्य' उस रचना को कहेंगे जो रचयिता के अभिप्रेत अर्थ को उसके पाठक या भावक अथवा सहृदय के हृदय तक आगे बढ़ाती है या उसे उत्तेजित अथवा प्रसन्न करती है। संप्रेषण के अतिरिक्त इस अर्थ में रचना द्वारा सहृदय के हृदय का उत्तेजन या उसका प्रसन्न होना भी स्वीकार कर लिया गया है।

आपने अनेक बार पढ़ा होगा कि 'हित' का अर्थ 'कल्याण', 'भलाई' या 'मंगल'। अतएव 'सहित' का एक अर्थ होगा—'कल्याण-सहित', 'मंगलकारी' या 'भलाई के साथ'। 'हितेन सह—सहितम्—तस्य भावः साहित्यम्' उक्ति के अनुसार हित या मंगल करनेवाली कृति या रचना को 'साहित्य' कहा जाएगा। आगे चलकर साहित्य के प्रयोजनों की चर्चा में आप जानेंगे कि यह हित अनेक प्रकार का होता है और इसकी व्याप्ति व्यक्ति-मात्र से लेकर जीव-मात्र तक अथवा व्यष्टि से लेकर समष्टि तक हो सकती है। अभी केवल इतना और याद रखिए कि 'सहित' शब्द की एक और व्युत्पत्ति की जाती है। वह है, सम् अथवा समंतात् + हित, अर्थात् सम्यक् या चतुर्मुखी अर्थात् पूर्ण हित। इस व्युत्पत्ति से भी साहित्य के मंगलकारी रूप का ही संकेत मिलता है। अंतर इतना ही है कि स + हित व्युत्पत्ति में बताये गये मंगल को यहाँ विशेषीकृत करके 'पूर्ण' अथवा सभी प्रकार से' किये जानेवाले या होनेवाले हित के साथ जोड़ दिया गया है।

उक्त सभी व्युत्पत्तियों पर ध्यान दें तो 'साहित्य' शब्द के कई अर्थ सामने आते हैं। ये हैं:

1) शब्द और अर्थ के एक-साथ होने का भाव या उस स्थिति का नाम है, 'साहित्य'।
2) शब्द और अर्थ को एक-साथ धारण करनेवाला कर्म है, 'साहित्य'।
3) शब्द और अर्थ को भली प्रकार धारण या पोषण करनेवाली रचना को 'साहित्य' कहते हैं।
4) वह रचना 'साहित्य' कहलाती है जो शब्द के माध्यम से रचयिता के अभिप्रेत अर्थ को सहृदय के मन में स्थापित कर देती , और उसके मन को उत्तेजित या प्रसन्न करती है। तथा
5) कल्याणकारिणी अथवा पूर्णतया हितकारिणी या मंगलविधायिनी शब्दार्थमयी रचना ही 'साहित्य' कहलाती है।

अब तक आप समझ गये होंगे कि हर व्युत्पत्ति के अनुसार 'साहित्य' का महत्वपूर्ण और अनिवार्य लक्षण हैं, उसमें शब्द तथा अर्थ का परस्पर सहयोग और पोषण होना और उसका अतिरिक्त लाभ है रचयिता के अभिप्रेत अर्थ का सहृदय के मन तक संप्रेषित होना, उसके मन को उत्तेजित और प्रसन्न करना तथा व्यष्टि से लेकर समष्टि तक के लिए कल्याणकारी अथवा मंगलविधायी होना। दूसरे शब्दों में 'साहित्य' वह शब्दार्थमयी रचना है जिसमें शब्द तथा अर्थ एक-दूसरे के सहयोग में रहकर परस्पर पोषण करते हुए रचयिता के अभिप्रेत अर्थ को सहृदय के मन तक संप्रेषित करें और उसके मन को उत्तेजित तथा प्रसन्न करने के अतिरिक्त व्यष्टि-समष्टि के लिए मंगलकारी सिद्ध हों।

व्युत्पत्तिपरक अर्थों और उनके आधार पर अभी बताई गयी परिभाषा पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि इनमें 'साहित्य' की दो प्रकार की विशेषताएँ एक-साथ मिल गयी हैं। इन्हें हम 1) रूपगत अथवा अंतरंग और 2) प्रयोजनापरक अथवा बहिरंग कह सकते हैं। शब्दार्थ के सहयोग और पोषण संबंधी विशेषता पहले प्रकार की अथवा रूपगत कही जायेगी। बिना शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का कोई रूप या स्वरूप ही नहीं बनता, इसलिए इन्हें उसकी

अनरंग विशेषता भी कहा जा सकता है। शेष विशेषताएँ साहित्य के किसी न किसी प्रयोजन की ओर इंगित करती हैं और सबको ये एक-सी मान्य हों न हों, इस विषय में विवाद हो सकता है, इसलिए उन्हें प्रयोजनपरक वर्ग के अंतर्गत मानना उचित होगा। साहित्य का स्वरूप निर्धारित करने में इनकी भी बड़ी उपयोगिता है। फिर भी क्योंकि इनके संबंध में विवाद है कि इनमें से किसे माना जाय या किसे न माना जाय, अतएव इन्हें बहिरंग कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। संप्रेषण की स्थिति अवश्य ऐसी है कि उसे अंतरंग और बहिरंग दोनों वर्गों में रखा और उभयपद कहा जा सकता है। रचना शब्दार्थमयी है तो अनिवार्यतः दूसरे लोग उसका अर्थ भी ग्रहण करेंगे ही। शब्दार्थ की सार्थकता ही तभी है जब उसे दूसरे समझें। अतएव संप्रेषण शब्दार्थ का आंतरिक या उनमें निहित गुण है, किंतु यह भी आवश्यक है कि रचयिता स्वयं भी इस बात का ध्यान रखे कि उसकी अभिव्यक्ति की सफलता इसी बात में है कि उसकी बात दूसरों तक पहुँच सके। इसके लिए उसे प्रयत्न भी करना पड़ता है। इस दृष्टि से संप्रेषण अभिव्यक्ति का प्रयोजन भी है। रचनाकार दूसरों तक अपनी बात पहुँचाकर सन्तोष-लाभ करता है। प्रयोजनपरक होने के कारण ही यह बहिरंग भी है। प्रयोजन के विषय में आपको आगे कुछ विस्तार से जानने का अवसर मिलेगा। यहाँ अभी स्वरूपगत शब्दार्थ के विषय में कुछ और बातें जान लें।

## 31.4 वाङ्मय और साहित्य

'साहित्य' में शब्द और अर्थ के परस्पर सहयोग की आवश्यकता पर जो बल दिया गया है, उसी प्रसंग में आप शायद यह जानना चाहेंगे कि शब्द और अर्थ तो हम जो कुछ बोलते-लिखते हैं, उस सबमें होता है, फिर उस सबको ही हम 'साहित्य' क्यों नहीं कहते? यदि आपमें यह जिज्ञासा है तो सहज और उचित ही है।

आपको स्मरण होगा कि हमने 'साहित्य' के विशिष्ट अर्थ की चर्चा के समय इस बात का संकेत किया था कि शब्द और अर्थ तो हमारे-आपके लिखने-बोलने में और अनेक विद्या-शाखाओं में प्रयुक्त होते हैं, पर 'साहित्य' की अपनी एक विशेष सीमा है जिससे उसकी अलग पहचान बनती है। यह पहचान भी शब्द तथा अर्थ के विशेष प्रयोग के कारण है। इसी विशेषता की खोज करते-करते हमारे देश के प्राचीन विद्वान् शब्द और अर्थ के भिन्न संबंधों को रेखांकित करने में समर्थ हुए थे और उन्होंने उसी के आधार पर अन्यान्य विधा-भेदों को जाना-समझा था। यह एक बड़ी रोचक कहानी है कि हमने इस भेद को कैसे और कब समझा और पृथक् विशेषता के लिए हम कैसे नये शब्दों का प्रयोग करते चले।

सच तो यह है कि हमारे देश में एक शब्द पुराकाल से ही प्रचलित चला आ रहा है। वह शब्द है—वाङ्मय। जो कुछ भी वाक् या वाणीमय है, अर्थात् शब्दार्थमय है, वह सब 'वाङ्मय' है। वाक् या वाणी का अर्थ केवल बोलने की शक्ति या शब्द ही नहीं है, बल्कि उसमें अर्थ भी स्वाभाविक रूप से सन्निहित है। सरस्वती वाग्देवी है, इसका अर्थ यह कि वह केवल शब्दोच्चार की देवी ही नहीं है बल्कि शब्द तथा अर्थ की और समस्त विद्या की देवी है। इसी प्रकार जो कुछ शब्दार्थमय है, वह सब 'वाङ्मय' है। चाहे वह वेद हो या शास्त्र, आयुर्वेद हो या दर्शन, इतिहास हो या पुराण, काव्य-रचना हो या गद्य-रचना, सब 'वाङ्मय' ही है। इस प्रकार 'साहित्य' भी 'वाङ्मय' ही है।

'साहित्य' शब्द का 'वाङ्मय' के अर्थ में प्रयोग करना वस्तुतः उसका व्यापक अर्थ में प्रयोग करना है। व्यापक अर्थ से किसी विशेष शब्द की पृथक् विशेषता का पता नहीं चलता। इस पृथकता को बताने और उसकी विशेषता को रेखांकित करने के लिए ऐसे शब्दों के प्रयोग में जो परिभाषा या लक्षण का काम दें, सावधानी बरतनी पड़ती है। इसके लिए शब्द के अर्थ की सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। इसे ही शब्द का सीमित या संकुचित अर्थ में प्रयोग करना कहते हैं। अतएव जब हम भाषा-विशेष में निबद्ध काव्य, नाटक, उपन्यास आदि की ओर संकेत करना चाहते हैं, तब 'वाङ्मय' शब्द के स्थान पर 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करते हैं और 'साहित्य' को 'वाङ्मय' के अंतर्गत आनेवाले अन्य भाषा-निबद्ध रूपों से अलग करते हैं। यह 'साहित्य' शब्द का विशिष्टार्थक किंतु सीमित या संकुचित प्रयोग है। इस प्रकार इस शब्द के दो अर्थ-प्रयोग हुए: 1) व्यापक और 2) संकुचित। संकुचित अर्थ को

'पारिभाषिक' भी कह सकते हैं। इसी पारिभाषिक अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

व्यापक अर्थ को त्याग कर संकुचित अर्थ को ग्रहण करने की आवश्यकता क्यों हुई, इसका रहस्य यह है कि हमारे यहाँ के विचारकों ने ज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी हैं: 1) वेद, 2) शास्त्र तथा 3) काव्य। वेद के अंतर्गत वेदोपनिषद् की गणना की गयी है और उन्हें शब्द-प्रधान माना गया है। शब्द-प्रधान का अर्थ है कि उनमें प्रयुक्त शब्दों की ऐसी महिमा है कि वे मंत्र जैसी शक्ति रखते हैं और उन्हें न तो किसी अन्य शब्द से बदला ही जा सकता है और न उनके उच्चारण में ही प्रमाद किया जा सकता है। वैसा होते ही अर्थ का अनर्थ हो जायगा और उसका विपरीत प्रभाव होगा। इसी प्रकार शास्त्र अर्थात् दर्शन, व्याकरण, राजनीति आदि में अर्थ की प्रधानता है, अर्थात् उनमें पर्याय शब्दों का परिवर्तन करने से अर्थ को कोई हानि नहीं पहुँचती और लेखक का मुख्य लक्ष्य इसी बात पर रहता है कि उसकी बात स्पष्टतया सब समझ लें। वह अपनी बात को सुंदर या सरस बनाकर कहे, इस बात की आवश्यकता भी उसे नहीं होती। वह इसीलिए जैसे एक ओर वेद से भिन्न होता है वैसे ही दूसरी ओर काव्य से भी भिन्न होता है। काव्य इन दोनों से इस बात में भिन्न होता है कि उसमें शब्द और अर्थ दोनों ही महत्वपूर्ण होते हैं। इसी कारण उसे शब्दार्थ-प्रधान अथवा उभय-प्रधान माना गया है। इसी भिन्नता को निरूपित करने के लिए काव्य अथवा साहित्य के संकुचित अर्थ पर बल दिया गया है।

आप जानते ही हैं कि शब्दों के अर्थ का ज्ञान लोक-व्यवहार अथवा उसके सामान्य प्रयोग से भी होता है। अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाववश आजकल 'साहित्य' शब्द का और भी व्यापक अर्थ में व्यवहार होने लगा है। अंग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' का जिस व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है, उसी अर्थ में 'साहित्य' भी प्रयुक्त किया जाने लगा है। 'लिटरेचर' 'लैटर्स' शब्द से बना है और उसका अर्थ है, वर्णमयी रचना। यह शब्द हमारे यहाँ के 'वाङ्मय' का समानार्थी है। फिर भी हम 'वाङ्मय' शब्द का वैसा व्यापक और शिथिल प्रयोग नहीं करते जैसा अंग्रेजी में 'लिटरेचर' शब्द का होता आ रहा है। अंग्रेजी में काव्य आदि से लेकर औषधियों के विज्ञापनों, सूचीपत्रों, किसी महकमे से संबंधित सूचनात्मक लेखन आदि तक के अर्थ में 'लिटरेचर' शब्द व्यवहृत हो रहा है। उदाहरण के लिए, किसी औषधि बनानेवाले कार्यालय के प्रतिनिधि से डाक्टर या कोई सामान्य व्यक्ति पूछ सकता है: 'आपके पास (अमुक) कार्यालय का 'लिटरेचर' है?' 'डाबर या वैद्यनाथ का साहित्य' कहने से औषधियों का उत्पादन करनेवाली डाबर अथवा वैद्यनाथ नामक संस्थाओं की ओर से प्रकाशित औषधियों के सूचीपत्र, विज्ञापन-पत्र आदि का अर्थ ही अभिप्रेत है, काव्य, नाटक आदि नहीं। काव्य, नाटक आदि के लिए जब भी 'लिटरेचर' या 'साहित्य' शब्द का प्रयोग होगा तो वह सदैव संकुचित और पारिभाषिक अर्थ में ही होगा।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि, 'साहित्य' शब्द का प्रयोग दीर्घकाल तक भाषा-निबद्ध लिखित रूप के लिए ही होता रहा, किंतु जब से विदेशी विद्वानों ने लोक-प्रचलित मौखिक गीतों, आख्यानों, प्रबन्धों, लोकोक्तियों, मुहावरों, लोक-कथाओं तथा प्रेम-कथानकों आदि का संग्रह करना और उन्हें लिखित या मुद्रित रूप देना आरंभ किया है, तब से इस सबके लिए भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। अंग्रेजी में इसे 'फ़ोक लिटरेचर' और हिन्दी में इसे 'लोक-साहित्य' कहा जाता है। मौखिक परंपरा में चले आये गीतों आदि में काल की गति के साथ बहुत-कुछ घट-बढ़ जाता है। 'लोक-साहित्य' का संग्राहक उसके उन सब रूपों का संग्रह करके उसे लिखित और निश्चित रूप दे देता है। हमारे यहाँ वेद इसी श्रुत परंपरा में चले आ रहे थे, इसीलिए उन्हें 'श्रुति' की संज्ञा दी गयी थी। जब लेखन का आरंभ हुआ और उन्हें भी ताड़पत्र आदि पर लिखकर सुरक्षित कर लिया गया, तब भी उनका प्रचलित नाम 'श्रुति' ही बना रहा। 'साहित्य' के रूप में वह 'वैदिक साहित्य' कहलाया। उसे 'लोक-साहित्य' इसलिए नहीं कहा गया, क्योंकि लोक-साहित्य के समान न तो अपढ़ व्यक्तियों के उसे रचा और न वैसे समाज तक ही उसका प्रचार रहा। उनके विषय में तो यह मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं और उनमें महान ज्ञानी ऋषि-मुनियों का ज्ञान संचित है। वे लिखे तो केवल इसलिए नहीं जा सके क्योंकि उनके समय तक लेखन-कला का आरंभ ही नहीं हुआ था। इसके विपरीत 'लोक-साहित्य' लेखन और मुद्रण की सुविधा के होने पर भी केवल मौखिक रूप में प्रचलित होता रहता है। हिन्दी में 'आल्हा' वीर-काव्य, 'चनैनी' प्रेम-प्रबंध आदि 'लोक-साहित्य' के ही रूप हैं।



इसी प्रसंग में आपको यह भी याद दिला दें कि पहले बताया जा चुका है कि कोश भी किसी शब्द का अर्थ जानने में हमारी सहायता करते हैं। 'साहित्य' के संबंध में भी एक उदाहरण

ले सकते हैं। प्रसिद्ध 'शब्द-कल्पद्रुम' नामक शब्द-कोश में 'मनुष्यकृत श्लोकमय क्रियाविशेष को साहित्य' कहा गया है। यहाँ भी 'साहित्य' शब्द का व्यापक अर्थ में ही प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। मनुष्यकृत श्लोकमय रचना तो आयुर्वेद या ज्योतिर्विज्ञान की भी हो सकती है। आयुर्वेद आदि के अनेक ग्रंथ श्लोकबद्ध ही हैं। इतना अवश्य है कि यदि अपोरुषेय माने जानेवाले वेदों को अलग रखें और श्लोकमय होने का अर्थ काव्यादि के जैसा श्लोकमय होना माने, केवल पद्यबद्ध होना नहीं, तो इसका काव्य आदि के अर्थ में संकचित अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

लगता है अब आप कुछ थकान का-सा अनुभव कर रहे हैं। सोच रहे हैं कि बात कुछ उलझ-सी गयी हैं। चले तो थे व्युत्पत्ति की बात करने, पर उससे काफ़ी दूर निकल आये। आरंभ में ही इस प्रसंग में 'आप्त-कथन' से प्राप्त होनेवाले अर्थ की अनावश्यकता तो बता दी गयी थी, पर व्याकरण की बात करते-करते हम और आप व्यवहार और शब्दकोश के क्षेत्र में पहुँच गये। शंकित न हों, थोड़ा विश्राम कर लें। सोचकर देखें, अब तक आपने कितना कुछ जान लिया है। आपको याद है कि आपने 'साहित्य' शब्द की कई प्रकार की व्युत्पत्ति और उनसे निष्पन्न अर्थों को जान लिया है। उन्हीं अर्थों के आधार पर आपने उसकी परिभाषा भी जान ली है। साहित्य में शब्द और अर्थ के महत्व से भी आप परिचित हुए हैं। उसके व्यापक और संकुचित अथवा पारिभाषिक अर्थ-भेद को भी आपने ग्रहण कर लिया है और उसके साथ ही व्यापक रूप में उसी के समानार्थी एक और शब्द 'वाङ्मय' से भी आप परिचित हो गये हैं। 'साहित्य' के कोशगत और व्यवहारगत अर्थों तक भी आपकी पहुँच हो चुकी है। पर हम जान रहे हैं कि आपकी शंका अभी दूर नहीं हुई है। आप सोच रहे हैं कि हमने 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति में, वैसे किसी शब्द के वहाँ न रहते हुए भी, शब्द और अर्थ को कहाँ से खोज लिया? और यह भी कि साहित्य की बात कहते हुए हमने एकाध बार 'काव्य' शब्द का प्रयोग क्यों किया? पर याद रखिए, हम भटके नहीं हैं। हमें अपना पाठ बहुत अच्छी तरह याद है, आप भी अपना पाठ दुहरा डालिए। चलिए, कुछ अभ्यास ही करें।

**बोध प्रश्न 1**

1) नीचे कुछ कथन दिये जा रहे हैं। इनमें कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाइये:

   i) काव्य या साहित्य में शब्द और अर्थ प्रधान होते हैं। ( )

   ii) शास्त्र में अर्थ प्रधान नहीं होता। ( )

   iii) वेद अर्थ-प्रधान रचना है। ( )

   iv) साहित्य शब्द का 'वाङ्मय' के अर्थ में प्रयोग करना वस्तुतः उसका व्यापक अर्थ में प्रयोग करना है। ( )

   v) वेद श्रुत परम्परा में चले आ रहे थे, इसीलिए उन्हें 'श्रुति' की संज्ञा दी गई थी। ( )

2) नीचे लिखे अर्थ 'साहित्य' की किन-किन व्युत्पत्तियों से निष्पन्न हुए हैं? दो-दो पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए:

   क) हितकारी रचना को साहित्य कहते हैं।

   .....

   .....

   ख) 'साहित्य' उस रचना को कहेंगे जो रचयिता के अभिप्राय को सहृदय के मन तक सम्प्रेषित करती है।

   .....

   .....

   ग) साहित्य वह कर्म है जो शब्द तथा अर्थ को एक-साथ धारण करता है।

   .....

   .....

3) साहित्य के 'व्यापक' और संकुचित अर्थ से क्या अभिप्राय है? दोनों के उदाहरण देकर लगभग बारह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) 'साहित्य' के समानार्थी शब्द लिखिए और उनका अर्थ लगभग पन्द्रह पंक्तियों में समझाइये.

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) नीचे लिखे वाक्यों की खाली जगहों में दिये गये शब्दों में से सही शब्द लिखिए:

क) शब्द और अर्थ को एक-साथ धारण करना साहित्य की ..... विशेषता है।

रूपपरक/प्रयोजनपरक

ख) 'साहित्य' अपने विशिष्ट अर्थ में 'वाङ्मय' का पर्यायवाची ..... ।

है/नहीं है

ग) संकुचित अर्थ में 'साहित्य' में राजनीतिशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, तर्कशास्त्र तथा दर्शन आदि की गणना ..... की जानी चाहिए।

नहीं/भी

## 31.5 'साहित्य' शब्द का इतिहास और काव्य से उसका संबंध

अभी कुछ देर पहले आपके मन में यह शंका उठी थी कि व्युत्पत्ति बताते हुए हमने मूल धातु का वह अर्थ न होते हुए भी शब्द तथा अर्थ को न जाने कहाँ से लाकर जोड़ दिया। दूसरे आप यह भी जानना चाहते रहे होंगे कि कभी-कभी हमने 'साहित्य' शब्द के स्थान पर 'काव्य' शब्द का प्रयोग क्यों किया है? इस रहस्य की कुंजी वस्तुतः या तो काव्य के पास है या इतिहास के पास। आइये, उसे खोजें।

जिस प्रकार व्यक्ति के अथवा किसी जाति, धर्म या देश के आरंभ और विकास का कालक्रम से एक इतिहास होता है। उसी प्रकार शब्दों का भी एक इतिहास होता है कब, किसने, किस अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग किया और वह शब्द भिन्न अर्थों को ग्रहण करता हुआ अन्ततः किस अर्थ में रूढ़ हो गया, इसका भी बड़ा रोचक इतिहास हो सकता है। 'साहित्य' शब्द का भी अपना इतिहास है।

भारत में काव्य, और साहित्य के लक्षण तथा नियमों आदि का विवेचन करनेवाले शास्त्र को क्रमशः क्रियाकल्प, अलंकारशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र का अभिधान दिया गया है। काव्य के दृश्य तथा श्रव्य दो भेदों में से दृश्य अर्थात् नाट्य के विवेचक शास्त्र को नाट्यशास्त्र कहा गया है और श्रव्य का विवेचन करनेवाले शास्त्र को अलंकारशास्त्र। काव्य-रचना से संबंधित विवेचन के कारण सबसे प्राचीन नाम क्रियाकल्प को काव्यक्रियाकल्प भी कहा गया है। इन सब नामों में 'साहित्यशास्त्र' नाम सबसे बाद का अथवा परवर्ती है। आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय के अनुसार यह अभिधान मध्ययुग में दिया गया[1]।

बताया जाता है कि 'साहित्य' शब्द का काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में सर्वप्रथम प्रयोग राजशेखर (10वीं शती ई.) ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में किया था। उन्होंने लिखा है: 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'। साहित्य को विद्या मानकर उन्होंने उसमें शब्दार्थ के सहभाव या सहयोग को आवश्यक तत्व के रूप में लक्षित कराया था। वैसे उनसे भी पहले आचार्य आनंदवर्धन (9वीं शती ई.) अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में 'शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे (4-6) कहकर इस शब्द का उल्लेख कर चुके थे। परंतु उन्होंने वहाँ उसका प्रयोग काव्य के लिए नहीं बल्कि काव्य-प्रक्रिया के विषय में किया था। आगे चलकर भोजराज (11वीं शती ई.–पूर्वार्ध) ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कंठाभरण' में तथा आचार्य क्षेमेंद्र (11वीं शती ई.–उत्तरार्ध) ने अपने ग्रंथ 'सुवृत्त तिलक' में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'काव्य' के अर्थ में ही किया। इससे प्रतीत होता है कि 'साहित्य' शब्द के साथ शब्दार्थ का संबंध दो आधारों पर हुआ: 1) राजशेखर की स्वीकृति के कारण तथा 2) अन्यान्य आचार्यों की ओर से काव्य को ही साहित्य मानने के कारण।

भोजराज के लगभग समकालिक आचार्य कुंतक (11वीं शती ई.–पूर्वार्ध) ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में काव्य के लिए ही साहित्य शब्द का प्रयोग करते हुए साहित्य में शब्द तथा अर्थ के सहभाव की विशेषताओं को उद्घाटित किया है। एकमात्र आचार्य रुय्यक (11 वीं शती ई.–मध्यभाग) ही ऐसे दीख पड़ते हैं जो काव्य और साहित्य के बीच भेद करते हैं। उन्होंने 'साहित्य मीमांसा' नामक अपने ग्रंथ में ऐसी उक्ति जिसमें शब्दार्थ का केवल सम्मिलन दिखाई पड़ता है, को 'साहित्य' कहा है और उसके उदाहरण में शास्त्र के आख्यान को प्रस्तुत किया है। काव्य को वे साहित्य का परिष्कृत रूप मानते हैं।

इस इतिहास का सार इतना ही है कि भले ही 'साहित्य' शब्द का प्रचलन बाद में हुआ हो, भारतीय आचार्यों ने इसे काव्य के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। स्वाभाविक है कि काव्य की परिभाषा में ही उन्हें 'साहित्य' की परिभाषा के तत्व दीख पड़े, अतएव उन्होंने उन्हें साहित्य के साथ जोड़ दिया। शब्द और अर्थ, दोनों उसी से लिये गये। यही है वह रहस्य जिसकी हमें और आपको खोज थी।

---

1) देखें 'भारतीय साहित्यशास्त्र'–प्रथम खंड, पृ. 5

## 31.6 साहित्य की परिभाषाएँ

'साहित्य' को काव्य के अर्थ में प्रयुक्त करने के कारण और उसकी परिभाषा के तत्वों को अपना लेने के कारण, आपके लिए यह विचारणीय हो जाता है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर की गयी परिभाषा से अलग यह भी परीक्षा करें कि क्या उसकी और भी कोई परिभाषा हो सकती है या देश-विदेश के विचारकों ने जो परिभाषाएँ की हैं, उनका अध्ययन करके क्या आप कोई ऐसी परिभाषा कर सकते हैं जिससे साहित्य का स्वरूप और भी स्पष्ट हो। इसके लिए आप तीन आधार ग्रहण कर सकते है: 1) संस्कृत आचार्यों के कथनों का, 2) हिन्दी के विद्वानों के कथनों का और 3) विदेशी, विशेषतः अंग्रेजी, विद्वानों के कथनों का। आइए, क्रमशः इनका परिचय प्राप्त करें और हो सके तो अपनी परिभाषा भी निश्चित करें।

### 31.6.1 संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ

जैसा कि आपको अभी बताया गया है, राजशेखर ने साहित्य को ऐसी विद्या माना है जिसमें शब्द तथा अर्थ का 'यथावत् सहभाव' रहता है। 'यथावत् सहभाव' से उनका अभिप्राय क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। शब्द और अर्थ को या उनके सहित होने को 'काव्य' तो बहुत समय से कहा जा रहा था। छठी शती ई. के मध्य के आसपास आचार्य भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" कहकर दी थी और तभी से शब्दार्थ युक्त रचना को काव्य कहनेवाले आचार्यों का तांता लग गया। अंतर इतना ही है कि इनमें से कुछ ने कभी 'सहितौ' शब्द को छोड़ दिया, जैसे रुद्रट ने नवीं शती ई. के आरंभकाल में अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में केवल "ननु शब्दार्थौ काव्यम्" ही कहा। कुछ ने शब्दार्थ को ही सामान्यतः काव्य मानते हुए भी उस शब्दार्थ को गुणों तथा अलंकारों से युक्त बताकर उसकी सामान्य शब्द और अर्थ से भिन्नता व्यक्त की। जैसे, आचार्य वामन (8वीं शती ई. के अंत अथवा 9वीं शती ई. का आरंभ) ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' ग्रंथ में कहा: "काव्य शब्दोऽयं गुणालंकार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते"। दूसरी ओर कुछ आचार्यों ने शब्द के स्थान पर 'पदावली' शब्द को रखकर "अभीष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य" कहा। उदाहरण के लिए, आचार्य दण्डी (7वीं शती उत्तरार्ध) के 'काव्यादर्श' नामक ग्रंथ में "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" कहकर इसी ओर निर्देश किया है। मम्मट (11वीं शती ई.—उत्तरार्ध) आदि कुछ आचार्यों ने भले ही काव्य की दोषहीनता, गुण युक्तता और अलंकारमयता अथवा कभी-कभी अलंकार के न होने को भी उसके लक्षण में जोड़ दिया, किंतु शब्दार्थ का उन्होंने त्याग नहीं किया। आचार्य मम्मट की अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में दी गयी काव्य की परिभाषा "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"। से यह बात स्पष्ट है। इसी प्रकार भले ही आचार्य विश्वनाथ (14वीं शती ई.—पूर्वार्ध) ने 'साहित्यदर्पण' ग्रंथ में 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' कहकर रसमय वाक्य को काव्य कहा हो, पर वाक्य में भी शब्दार्थ तो रहता ही है बल्कि सार्थक शब्द-समूह को ही वाक्य कहते हैं, अतएव उन्हें भी शब्दार्थ की उपस्थिति ही अभीष्ट है। 'रसगंगाधर' के लेखक पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शती ई.—मध्य) भी इसी श्रेणी के आचार्य हैं जो शब्दार्थ को स्वीकार तो करते हैं पर उन्हें बलाबल और विशेषता की दृष्टि से कुछ भिन्न प्रकार से रखकर 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं'—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" उनकी ही प्रसिद्ध उक्ति है।

सारांश यह कि काव्य में शब्दार्थ की उपस्थिति की प्राथमिक आवश्यकता तो सभी मानते हैं, किंतु वे निरंतर इस खोज में भी रत रहे हैं कि काव्य में, अथवा स्वयं शब्दार्थ में ही, और क्या विशेषताएँ होनी चाहिए कि वह काव्य कहलाने लगे। काव्य में इसके लिए गुण, अलंकार, रस और रमणीयता आदि विशेषता पर बल दिया गया, पर शब्द तथा अर्थ के परस्पर बलाबल या सहयोग का अर्थ नहीं खुल पाया। इसे विशदतया स्पष्ट किया आचार्य कुंतक ने। कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रंथ के आरंभ में ही 'साहित्य के अर्थ रूपी सुधा-सिन्धु के सार के उन्मीलन[1]' या उद्घाटन की प्रतीज्ञा करके इस बात की ओर संकेत कर दिया है कि उक्त ग्रंथ में वे जिस काव्य की शास्त्रीय विवेचना कर रहे हैं उसे वे दूसरे शब्दों में साहित्य ही मानते हैं। काव्य में उन्हें अन्य बातों के अतिरिक्त शब्दार्थ की

1) साहित्यार्थ सुधा-सिन्धोः सारमुन्मील्यामहम। व.जी. पृ 01

संहितता स्वीकार है ही, अतएव वह साहित्य के विषय में भी उतनी ही स्वीकार्य है। 'साहित्य' की परिभाषा में इन दोनों अर्थात् शब्द तथा अर्थ की स्वीकृति के साथ-साथ कुंतक ने इस रहस्य को भी खोल दिया है कि इनके सहित होने का अर्थ क्या है? उनके शब्दों में "साहित्य शब्दार्थ-युगल की ऐसी सृष्टि है जिसमें इनमें से किसी एक की भी दूसरे की अपेक्षा न्यूनता या अतिरिक्तता अथवा घट-बढ़ नहीं होती और ऐसा होने के कारण जो मनोहर तथा शोभाशाली हुआ करती है[2]"। अभिप्राय यह कि कुंतक के विचार से शब्द तथा अर्थ की सहितता अथवा उनके सहभाव, जिसे राजशेखर ने 'यथावत् सहभाव' कहकर छोड़ दिया था का संकेत इस बात की ओर है कि वे दोनों परस्पर होड़ करते हुए-से और तुल्य बल वाले हों।

हो न हो, ऐसा कहते हुए कुंतक के सामने यह बात अवश्य स्पष्ट रही होगी कि कोई रचना शब्द-प्रधान होती है, कोई अर्थ-प्रधान परंतु काव्य ही एकमात्र ऐसा है कि वह उभयात्मक या शब्दार्थ-प्रधान होता है। आपको याद होगा, कि हमने इन तीन स्थितियों की चर्चा पहले की है। कुछ आचार्यों ने इनकी प्रधानता-अप्रधानता का निरूपण अन्य प्रकार से भी किया है। आचार्य महिमभट्ट (11वीं शती ई.—मध्य अथवा अंत) शास्त्र को 'शब्दप्रधान', इतिहास को 'अर्थ-प्रधान' और काव्य को 'शब्दार्थ-युगल-प्रधान' मानते हैं। पर वे कुंतक के बाद के हैं। कुंतक के पूर्व भी इस प्रकार की धारणा रही होगी, ऐसा लगता है।

कुंतक के कथन का अभिप्राय वस्तुतः यह था कि व्यवहार में प्रायः ऐसा होता है कि कभी जिस बात को हम कहना या अभिव्यक्त करना चाहते हैं वही इतनी हल्की होती है कि उसे प्रभावशाली बनाने के लिए हम या तो गुरु-गंभीर, कठिन और दुरूह शब्दों का प्रयोग करके काम निकालते हैं या शब्दों की नादात्मकता और उनके अलंकरण का सहारा लेकर हम उसके गंभीरता तथा सौंदर्य के अभाव की पूर्ति करने लगते हैं। कभी-कभी हमारा कथ्य बहुत महत्वपूर्ण होता है, किंतु उसकी ठीक और सही अभिव्यक्ति के लिए हमें शब्द ढूंढे नहीं मिलते। हम सार्थक और भावानुकूल शब्दों का प्रयोग नहीं कर पाते। दूसरे शब्दों में, कभी या तो अर्थ की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिलते और' भाषा शिथिल, लचर, संस्कारहीन और भाव या विचार के संप्रेषण में सहायक न बनकर विघ्नकारी और पिछड़ी हुई-सी बनी रह जाती है, या कभी-कभी रचनाकार भाषा के चमत्कार और उसकी कलात्मकता में ही इतना उलझ जाता है कि मूल कथ्य को पूरी गंभीरता से व्यक्त ही नहीं कर पाता। एक की तुलना में दूसरे का कमजोर पड़ना ही न्यूनता है और अधिक प्रभावशाली हो जाना ही अतिरिक्त होना है। कुंतक साहित्य को इन दोनों स्थितियों से बचाकर शब्द तथा अर्थ को परस्पर 'अन्यून' और 'अनतिरिक्त' अर्थात् तुल्य-बल बनाना चाहते हैं।

शब्द अथवा अर्थ में से जब कोई भी एक दूसरे से कम या अधिक प्रभावशाली हो जाता है तब रचना या अभिव्यक्ति का संतुलन नष्ट हो जाता है। उस समय सहृदय का ध्यान इनमें से किसी एक पक्ष पर ही जा पाता है। वह पूरी रचना का अखंड भाव से आस्वाद नहीं ले पाता। यह जितनी रचयिता की असमर्थता का द्योतक है, उतना ही रचना की कमजोरी भी है। शब्द और अर्थ या भाषा और कथ्य की परस्पर अनुकूलता और उनका परस्पर सामंजस्य ही उनका 'सहित' होना है। इसी प्रकार रचना का इस सामंजस्य से युक्त होना ही उसका शब्दार्थ को-'धारण' करना है। यह सामंजस्य रचना को सार्थकता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, भाषा कथ्य अर्थात् भाव या विचार का 'पोषण' करती है और उससे रचना का अखंड प्रभाव पड़ता है। रचना का पूर्ण प्रभाव-शाली होना ही उसका 'पुष्ट होना है। इसीलिए यदि व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को ग्रहण करते हुए यह कहा गया है कि जो रचना शब्द और अर्थ को भली प्रकार या सम्यक्तया धारण और उनका पोषण करती है, वह 'साहित्य' कहलाती है, तो ठीक ही कहा गया है। कुंतक ने उसी को और विशद रूप में प्रस्तुत किया है तथा उसकी मनोहरता तथा शोभाशालिता का उल्लेख करके उसके सुंदर और आह्लादक स्वरूप को भी प्रकट कर दिया है।

शब्द तथा अर्थ के इस 'सामंजस्य' या 'सहित' भाव को महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' के मंगलाचरणात्मक श्लोक में 'वाक् तथा अर्थ की सम्पृक्ति' बताया है और उनकी सामंजस स्थिति को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए उसे शिव-पार्वती के

2) साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यांसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्व मनोहारिव्यवस्थितिः।। व.जी., 1/17

सामजस रूप में उपमित किया है। जैसे जगन्माता पार्वती तथा जगत्पिता परमेश्वर या शिव एक-दूसरे के पूरक अर्धांग बने हुए है और शिव की कल्पना पार्वती से अभिन्न भाव से 'अर्धनारीश्वर' के रूप में ही की जाती है, उसी प्रकार काव्य या साहित्य में शब्द तथा अर्थ भी एक-दूसरे के पूरक होकर परस्पर अविभक्त भाव से सम्पृक्त, जुड़े या समंजस रूप में मिले हुए रहते हैं। महाकवि का यह श्लोक इस संदर्भ में बड़े काम का है। इसे याद कर लेना चाहिए:

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपतये ।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

और साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने विवेचन में मूल व्युत्पत्तिपरक अर्थ का ही अनसरण किया है।

## 31.6.2 हिंदी विद्वानों की परिभाषाएँ

'साहित्य' हिन्दी के विद्वानों के विचार का विषय भी रहा है। परंतु आधुनिक काल के पूर्व उसकी परिभाषा आदि पर ध्यान नहीं दिया गया। आधुनिक काल में गद्य के प्रवर्तन और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप अन्य विषयों पर विचार के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप पर भी विचार किया जाने लगा तो अन्यान्य पक्षों से विचार करते हुए उसकी अनेक परिभाषाएँ भी सामने आने लगीं। इससे पहले कि उन विद्वानों की परिभाषाओं पर विचार करें, प्रसंगतः यह जान लें कि महाकवि कालिदास की उक्ति के सदृश ही, किंतु भिन्न उपमा के बल पर, हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने भी शब्द तथा अर्थ की ऊपरी तौर पर दीखनेवाली भिन्नता और उनकी अंतरंग अभिन्नता का इन शब्दों में वर्णन किया है:

गिरा-अरथ जल-बिचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।।

अर्थात् गिरा या वाणी अथवा शब्द और अर्थ का काव्य (या साहित्य) में इस प्रकार का अंतरंग और गहन संबंध होता है, जिस प्रकार का जल और वीचि या लहर का आपसी संबंध होता है। लहर जल में ही उठती है, किंतु स्थिर जल में वह दिखाई नहीं देती। वस्तुतः तो जल और लहर, दोनों एक ही हैं। जल का हिलना, हिलोर लेना ही लहर का उठना है। व्यवहार में केवल समझने-समझाने के लिए उन्हें अलग-अलग बताया जाता है। इसी प्रकार काव्य में भी कथ्य वाणी या शब्द के माध्यम से ही व्यक्त होता है। कहना उचित होगा कि शब्द में ही कथ्य अंतर्निहित रहता है। केवल व्यवहार-दृष्टि से उन्हें अलग-अलग समझाया जाता है।

तात्पर्य यह कि व्यवहार रूप में काव्य या साहित्य शब्द और अर्थ, इन दो का योग या मेल होता है। पारमार्थिक रूप में दोनों की अखंड सत्ता होती है। शब्द के साथ अभिप्रेत अर्थ और अभिप्रेत अर्थ के साथ-साथ उपयुक्त शब्द सिद्ध रचनाकार के सामने आप से-आप उपस्थित होते रहते हैं। कहा भी गया है कि ऋषियों तथा आप्तपुरुषों की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ आप से-आप दौड़ लगाता चला आता है: ऋषीणां पुनराधानां वाचमऽर्थोनुधावति।

गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति को छोड़ दें तो फिर आधुनिक काल में आकर ही हिन्दी के विद्वानों की ओर से साहित्य को परिभाषित करने का प्रयत्न हुआ दिखायी देता है। यह प्रयत्न भी कई बार किसी विषय का विवेचन करते हुए उसके संबंध से ही हुआ है। अतएव अलग-अलग प्रसंगों में कभी-कभी एक ही विद्वान् की अलग-अलग परिभाषाएँ मिल जाती हैं। आपको दो-चार मख्य रूप से प्रचलित परिभाषाओं पर ध्यान देना और उनको याद रखना चाहिए।

इस क्रम में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध रही है: "ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है"।

बाबू श्यामसुंदरदास अलग-अलग स्थानों पर साहित्य की परिभाषाएँ यों देते हैं:

1) "किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं, जब जो कुछ उसमें लिखा गया है, वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है"।

2) "मानव-मस्तिष्क के पोषण के लिए भाव राशि के संचित भण्डार को साहित्य कहते हैं"।

3) "समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है"।

इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शक्ल ने भी तीन अलग परिभाषाएँ दी हैं:

1) "सुप्त भावों को जगाने और चमत्कारपूर्ण अनुरंजन करने की शक्ति" का स्रोत है साहित्य।

2) "जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और साहित्य जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति।"

3) "साहित्य किसी जाति की वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है।"

बाबू गुलाबराय यदि साहित्य को 'समाज का हित संपादन करनेवाला' मानते हैं तो पं. रामदहिन मिश्र भी उसकी प्रयोजन-परक परिभाषा करते हुए कहते हैं:

"जिस साहित्य में मानव-मस्तिष्क को समृद्ध करने की शक्ति नहीं या जिस साहित्य में वह अचूक मंत्र नहीं, जो फूंक मारते ही पस्त पड़ी हुई जाति को ठोकर खाये हुए सर्प के समान क्षुब्ध कर देता है या जिस साहित्य में उदास, विशद तथा भव्य भावों का अभाव हो या जिस साहित्य में चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण नहीं, या जिस साहित्य में ऐसे भाव नहीं जिनसे वह एक देश, एक जाति और एक काल का होने पर भी सार्वदेशिक, सार्वजातिक और सार्वकालिक हो या जिस साहित्य में जीवन में जीवन डाल देने की शक्ति नहीं अथवा जो साहित्य नूतन विचारों या नूतन तथ्यों से शून्य हो, वह साहित्य, साहित्य नहीं है।"

"साहित्य की कोटि में वहीं वाङ्मय आ सकता है, जो किसी न किसी अंश में उपर्युक्त प्रयोजनों की सिद्धि में सहायक हो। साहित्य यदि आनंद-दान करके दिल की भूख मिटाता है, तो मानव-मस्तिष्क को उर्वर बनाकर ज्ञान की वृद्धि भी करता है। इन्हीं बातों से साहित्य, साहित्य संज्ञा को प्राप्त होता है।"

उक्त परिभाषाओं पर क्रमशः विचार करें तो पायेंगे कि हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अधिकांशतः साहित्य की प्रयोजनपरक परिभाषा प्रस्तुत करने पर टिका रहा है। 'शब्दार्थौ सहितौ' अंश पर उनका ध्यान न हो, ऐसा नहीं है। परंतु उसी का बार-बार उल्लेख करना उन्हें बहुत अभीष्ट नहीं रहा, क्योंकि वह उन्हें मूलतः मान्य ही था। उन्होंने सूचीपत्र और विज्ञापन-पत्र आदि के अर्थ में भी साहित्य को ग्रहण नहीं किया। साहित्य को या तो उन्होंने व्यापक अर्थ में ग्रहण करके उसके अंतर्गत समस्त ज्ञान-राशि को समेट लिया, अथवा उसे काव्य तथा उपन्यासादि के लिए प्रयुक्त किया है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को ज्ञान-राशि का संचित कोश मानकर उसमें गद्य-पद्य, काव्य, कोश, व्याकरण, इतिहास आदि जिनसे भी ज्ञान प्राप्त होता है उन सबको एकत्र स्वीकार कर लिया है और इसीलिए उसे उनका 'संचित कोश' कहा है। यह एक प्रकार से 'वाङ्मय' के अर्थ में ही 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करना और उसे व्यापक धरातल पर ग्रहण करना कहा जायेगा। बाबू श्यामसुंदरदास की उक्त पहली परिभाषा में 'साहित्य या काय' कहकर दोनों को पर्याय रूप में रखा गया है और पश्चिम के प्रभाववश उससे 'कला' के उद्देश्यों की पूर्ति को आवश्यक माना गया है। पश्चिम में काव्य को कला के अंतर्गत ही स्वीकार किया गया है। भारत के समान उसे 'विद्या' नहीं कहा गया है। 'कला के उद्देश्यों की पूर्ति' वाक्यांश से बाबू श्यामसुंदरदास की प्रयोजनपरक दृष्टि का संकेत मिलता है। अपनी दूसरी परिभाषा में वे 'भाव-सामग्री' पर बल देते हैं और उसकी उपयोगिता 'मानव-मस्तिष्क का पोषण' करने में मानते हैं। 'संचित भंडार' शब्दावली आचार्य द्विवेदी के कथन 'संचित कोश' का ही शब्दांतर मात्र है। यह भी उनकी प्रयोजनपरक दृष्टि का ही परिणाम है। अंतर इतना ही है कि यहाँ 'भाव-सामग्री' से 'मानव मस्तिष्क के पोषण' का संबंध प्रदर्शित करके बाबूजी ने साहित्य में भाव—और विचार—की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया है तथा उससे हमारे ज्ञान-वर्धन और विवेक-सम्पन्न होने के प्रयोजन की सिद्धि को भी रेखांकित कर दिया है। आचार्य द्विवेदी की परिभाषा का अनुवाद होकर भी यह परिभाषा उससे कुछ अधिक स्पष्ट है।

बाबू जी की तीसरी परिभाषा 'साहित्य मानवता का दर्पण है' पश्चिम की उक्ति 'साहित्य समाज का दर्पण है' का अनुवाद प्रतीत होती है। यह वस्तुतः साहित्य की कोई परिभाषा नहीं है बल्कि साहित्य पर समाज या मानवता के प्रभाव को अंकित करनेवाली उक्ति है। इससे यह समस्या हल नहीं होती कि साहित्य किसे कहा जाय। इससे इतना ही प्रतीत होता है कि साहित्य में जो कुछ व्यक्त किया जाता है वह उस समाज के क्रिया-कलाप, संस्कार, विचारादर्श आदि की प्रतिछवि मात्र है जिसमें उसका रचयिता रहता है। श्यामसुंदरदास जी ने 'समाज' शब्द के स्थान पर 'मानवता' शब्द का प्रयोग करके इस समाज को व्यापकता प्रदान की है और साहित्य को मानव-मात्र की बाहय परिस्थितियों के साथ-साथ उनकी आंतरिक संस्कारशीलता से स्पष्ट रूप से ज़ोड़ दिया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की पहली परिभाषा में साहित्य के दो प्रयोजन बताये गये हैं: 1) सुप्त भावों को जगाना और 2) चमत्कारपूर्ण अनुरंजन करना। अतएव यह प्रयोजनपरक परिभाषा है। भाव हमारे हृदय में पहले से वासना रूप से स्थित रहते हैं। जब जैसी परिस्थिति होती है, वे ही विद्यमान भाव किसी की क्रिया देखकर या साहित्य पढ़-सुन कर यथावसर जाग उठते हैं या व्यक्त हो जाते हैं। वासना रूप में वे अव्यक्त या सुप्त रहते हैं। साहित्य हमारे इन भावों को इस प्रकार जगाता या व्यक्त कराता है कि मनुष्य-मनुष्य के प्रति ही नहीं बल्कि जीव-मात्र से भी आगे बढ़कर समस्त चराचर के प्रति रागात्मक संबंध में बंध जाता है या पात्र या चरित्र के अच्छे या बुरे आचरण के अनुकूल या प्रतिकूल किसी भाव का अनुभव करता है। साहित्य का मुख्य काम इन भावों का अनुभव जगाना है। दूसरे, साहित्य को पढ़ने-सुनने आदि से सहृदय को विलक्षण प्रकार की प्रसन्नता या उसके कौतूहल की शांति प्राप्त होती है। इन दोनों में से कुछ भी न हो तो ऐसी रचना को साहित्य नहीं मानना चाहिए।

दूसरी परिभाषा के अनुसार शुक्ल जी साहित्य को जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति मानते हैं। जगत् नाना भाव-रूपात्मक है और वह ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं। ब्रह्म ही जगत् के माध्यम से साहित्य में अभिव्यक्त होता है, नये-नये रूप धारण करता है। ब्रह्म नाना रूपों में जगत् में अपनी कला का प्रदर्शन करता है। वैसे ही साहित्य में जगत् के नाना रूप नयें नये ढंग मे उपस्थित होते रहते हैं। केवल प्रतिबिम्बित नहीं होते। वह जगत् का दर्पण-मात्र नहीं है। उसके क्रिया-कलाप तथा घटना आदि की नयी संघटनात्मक रचना है जिसमें ब्रह्म के सत्य स्वरूप की तरह जीवन का सत्य निहित रहता है। शुक्ल जी की यह परिभाषा पश्चिम की धारणा से कुछ आगे बढ़ी हुई और दार्शनिक है। किन्तु तीसरी परिभाषा में शुक्ल जी साहित्य को एक विशेष सीमित परिवेश में रखकर देखते हैं। वे उसका संबंध जाति-विशेष से जोड़ते हैं। व्यापक रूप में किसी भी देश या जाति का साहित्य हमारे लिए साहित्य ही रहता है, किंतु विशेष स्थितियों में हम भारतीय, अंग्रेजी, जर्मन या फ्रैंच आदि विशेषण लगाकर भी साहित्य को एक विभाजित दृष्टि से देखते हैं। चूंकि साहित्य समाज और जगत् से प्रभावित होता है, इसलिए उसमें देश-काल में बंटे हुए समाज या जगत् की भी अभिव्यक्ति हुआ करती है। अतएव शुक्ल जी साहित्य को जाति-विशेष की 'वाणी की वह अखंड परंपरा' मानते हैं जिसमें एक ओर तो जाति-विशेष के जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा की शक्ति होती है और दूसरी ओर वह 'जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। "दूसरे शब्दों में साहित्य मे शुक्ल जी की दो अपेक्षाएँ हैं: 1) उसमें, जिस जाति का वह साहित्य हैं उसकी जीवन-पद्धति, जीवन-मूल्य, संस्कारशीलता आदि की अभिव्यक्ति परंपरागत रूप से इस प्रकार होती रहनी चाहिए कि उसके आधार पर उस जाति-विशेष की अलग पहचान बन सके और यह ज्ञान रहे कि अन्यान्य जातियों के बीच उस जाति की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह सदैव जीवंत बनी रह सकती है ओर नवीनता को ग्रहण करके भी वह दूसरी किसी जाति में विलीन नहीं हो जाती। 2) परंपरा का निर्वाह उसमें हो पर रूढ़ता न हो। जैसे-जैसे जगत् का विकास होता चलता है, वैसे-वैसे उस उस साहित्य में भी विकास होना रहे। काल-परिवर्तन के साथ जो भी नयी विचारधाराएँ, नवीन जीवन-पद्धतियाँ अथवा नवीन वैज्ञानिक उपलब्धियाँ आगे आयें साहित्य उन्हें इस तरह आत्मसात् करे कि उनका मेल अथवा उनकी संगति उस जाति की पूर्व-परंपरा के अनुकूल हों और उस जाति के विकास में सहायक हो। वस्तुतः शुक्ल जी की यह परिभाषा साहित्य के सामान्य स्वरूप का निरूपण नहीं करती। यहाँ उनका उद्देश्य जातीय-साहित्य की परिभाषा करना रहा है।

पं. रामदहिन मिश्र की परिभाषा में साहित्य को 'वाङ्मय' के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है, किंतु उसके कुछ विशेष प्रयोजनों का निर्देश करके 'वाङ्मय'के व्यापक स्वरूप को सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया है। मिश्र जी का उद्देश्य भी गुलाबराय जी की तरह ही साहित्य को हितकारी मानना है, परंतु वे उससे आगे आनंददान, सार्वदेशिकता, सार्वजातिकता तथा सार्वकालिकता के गुण और नित-नूतनता को और जोड़ देते हैं। कुल मिलाकर मिश्र जी साहित्य के जिन प्रयोजनों पर बल देते हैं, वे हैं:

1) मानव-मस्तिष्क की उर्वता तथा उसके ज्ञान में वृद्धि करना,
2) निराश और निर्बल बनी जाति में साहस और शक्ति का संचार करना,
3) उदास और भव्य भावों को व्यक्त करना,
4) चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण करना,
5) जाति, देश और काल की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी सार्वकालिक, सार्वजातिक और सार्वदेशिक होना,
6) नवीन विचारों और नूतन तथ्यों को आत्मसात् करके विकसित होना, तथा
7) आनंद-दान करके दिल की भूख मिटाना।

अर्थात् हृदय तथा मस्तिष्क या बुद्धि दोनों के लिए साहित्य उपयोगी होता है।

स्मरण रखना चाहिए कि जब हम यह विचार करते हैं कि साहित्य कैसा होना चाहिए, तब उसकी प्रयोजनपरक परिभाषाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। जब हम पहले से चले आये किसी साहित्य को साहित्य कहते हैं और उसके आधार पर परिभाषा करना चाहते हैं, तब समाज की तत्कालीन स्थिति के मेल में उसे रखकर देखते और कहते हैं: "साहित्य समाज का दर्पण है।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में इसी बात को कुछ दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है: "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिंब होता है।" इस प्रकार के कथन हमें केवल वस्तुस्थिति से परिचित कराते हैं। यह बताते हैं कि साहित्य के पढ़ने-सुनने से यह जाना जा सकता है कि किस काल में किसी जाति की क्या स्थिति थी और वह क्या सोच-कर रही थी। इससे इस बात का पता नहीं चलता कि हम साहित्य कहें किसे? अतएव इस प्रकार के कथन साहित्य की परिभाषा नहीं माने जा सकते।

साहित्य की परिभाषा या तो इस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर की जा सकती है, या उसके प्रयोजनों के सहारे। एक तीसरी रीति भी है: साहित्य के तत्वों या उसके गुण-धर्म के आधार पर उसकी परिभाषा की जाय। उदाहरण के लिए प्राचीन काल में जब संस्कृत में काव्य के रूप में ही सारा साहित्य लिखा जा रहा था, तब काव्य के तत्वों की खोज करते हुए आचार्यों ने शब्दार्थ के अतिरिक्त रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि या औचित्य को उसके तत्वों के रूप में स्वीकार किया था। इनमें से भी काव्य को एक शरीर मानकर अलंकार या रीति को उसके बाह्य तथा रस, वक्रोक्ति, ध्वनि को अलग-अलग आचार्यों ने आत्मा मानकर उनमें से किसी एक को उसकी अंतरंग तत्व माना था। इसलिए काव्य की परिभाषाओं में इन तत्वों का यथायोग्य समावेश भी किया गया। परंतु हिन्दी में गद्य के विविध रूपों के प्रचलन और विकास के साथ-साथ विदेशी विद्वानों के लेखन और विचारों का प्रभाव भी जैसे-जैसे पड़ता गया, वैसे-वैसे साहित्य के लिए भी नये तत्वों का नामकरण किया गया। विद्वानों ने मुख्यतः चार तत्वों को स्वीकार किया। ये तत्व हैं: 1) भावतत्व, 2) बुद्धि तत्व, 3) कल्पना तत्व और 4) शैली तत्व।

इन चारों का ही काव्य या साहित्य में महत्व है। इनमें परस्पर सहितता या सामंजस्य हो तो श्रेष्ठ साहित्य की रचना होती है। परंतु विद्वान् इनमें से किसी को गौण और किसी को प्रधान मानते हैं। परिणामतः साहित्य की परिभाषाओं में भी थोड़ा-बहुत अंतर आता रहता है। आइए, इन तत्वों को पहले समझ लें।

**1) भाव तत्व:** भाव को भारतीय आचार्यों ने काव्य का मूल विधायक तत्व माना है। उसी के आधार पर रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। ये एक प्रकार के मनोविकार हैं। अपने जीवन-व्यापार में समाज में रहते हुए हम ऐसी अनेक स्थितियों का सामना करते हैं जो किसी न किसी रूप में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद या आशा-निराशा से संबंधित होती हैं। हमारा मन स्थिति के अनुसार विशेष संवेदना का अनुभव करता है। ये संवेदनाएँ ही हमारे संस्कारों में पचकर हमारे किसी विशेष भाव या मनोविकार में परिणत हो जाती हैं। इनका संबंध मनुष्य की रागात्मकता से हैं। भावों के सहारे ही मनुष्य शेष सृष्टि के साथ अपने संबंध का अनुभव करता है। इन्हीं भावों का सन्निवेश रचनाकार घटनाओं, पात्रों,

परिस्थितियों और चरित्रों के माध्यम से अपनी रचना में करता है, जिसे पढ़-सुन या देखकर सहृदय उन भावों का गहन अनुभव करता हुआ उस कृति का रस लेता और आनंद का अनुभव करता है। इसी भाव-जनित रस के कारण सहृदय कृति-विशेष में तल्लीन हो जाता है।

**2) कल्पना तत्व:** रचनाकार अपनी साहित्य-सृष्टि के लिए सामग्री अर्थात् पात्र, घटनाएँ आदि तो इसी दृश्य जगत् से ग्रहण करता है, पर उन्हें ज्यों की त्यों प्रस्तुत नहीं कर देता। वह देखी हुई वस्तु की फोटो नहीं उतारता। उसका केवल अनुकरण नहीं करता। बल्कि रचनाकार में एक ऐसी विलक्षण शक्ति होती है जिससे वह इन देखी हुई वस्तुओं के भिन्न-भिन्न योग और रूपांतर से नये-नये रूप रच डालता है। यह शक्ति ही उसकी कल्पना-शक्ति या भारतीय विचारकों के शब्दों में 'प्रतिभा' कहलाती है। उसी के आधार पर रचयिता अमूर्त भावों को भी मूर्त रूप प्रदान कर देता है। उसकी कल्पना के बल से भाव मूर्त ही नहीं सुंदर भी बन जाते हैं। कल्पना का भावों से घनिष्ठ संबंध है। वह स्वयं या तो भावों को उद्‌बुद्ध करके उन्हें परिपक्वता तक ले जाकर रस में परिणत करने में सहायक होती है, या भाव ही हमारे मन में अनेक प्रकार की कल्पना को जन्म देते हैं और इस प्रकार रचयिता नये-नये रूपाकार प्रस्तुत करके अपनी रचना को दूसरों की रचना से विलक्षण, अद्‌भुत या अपूर्व बनाया करता है। भावरहित कल्पना की ऊँची उड़ान, जिसे अंग्रेजी में फैंसी और संस्कृत में ऊहा कहा गया है, कितनी भी चमत्कारक क्यों न हो, सहृदय के हृदय को प्रभावित या रसमग्न नहीं करती। अतएव भाव और कल्पना का सहयोग साहित्य के लिए आवश्यक है।

**3) बुद्धि तत्व :** रचना के सुचारु संगठन के लिए बुद्धि तत्व का बहुत महत्व है। बहुत से विद्वान् तो काव्य में बुद्धि की प्रधानता के ही पक्षपाती हैं। अधिक न भी हो तो भी, इतना तो सही है कि बुद्धि तत्व रचना में औचित्य का नियामक और भावों तथा कल्पना का नियंत्रक बनकर काम आता है। वर्ण्य-विषय का कितना विस्तार या संकोच किया जाय, घटनाओं का संयोजन किस प्रकार हो कि भावों को प्रभावशाली बनाया जा सके, वर्णन करते समय देश-काल आदि का ध्यान रखकर किन बातों को रखा जाय और किन्हें छोड़ दिया जाय, आदि बातों का निर्वाह इसी बुद्धि तत्व के बल पर होता है। सहृदय रचना को सहज ही ग्रहण कर सके, उसे तर्क-वितर्क में न फंसना पड़े, इसके लिए रचना को बुद्धिग्राह्य और बुद्धि-सम्मत, दोनों ही होना चाहिए। इस दृष्टि से बुद्धि तत्व का भी अपना महत्व है।

**4) शैली तत्व :** रचना को किस रूप में अथवा आकार-प्रकार में संवारकर प्रस्तुत किया जाय, इस बात का संबंध उसके अभिव्यक्ति या रूप-पक्ष से है। इसी प्रस्तुतीकरण के प्रकार को शैली कहा जाता है और साहित्य में शैली तत्व का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसे ही अभिव्यक्ति तत्व अथवा रूप तत्व भी कहा जाता है। इसे साहित्य का बाह्य-रूप माना गया है। भाव यदि काव्य या साहित्य की आत्मा है तो शैली उसका शरीर है। जैसे आत्मा का निवास शरीर में होता है अतएव शरीर का होना आवश्यक है, वैसे ही भाव तथा कल्पना की सार्थकता भी तभी सिद्ध होती है जब उन्हें शैली-रूप में बांध दिया जाय या उनकी किसी विशेष रूप में अभिव्यक्ति की जाय। यह अभिव्यक्ति हर मनुष्य की अपनी-अपनी या पृथक् ढंग की होती है। इसलिए शैलियाँ भी अनंत हैं। रचना की संप्रेषणीयता में शैली भी बड़ी सहायता करती है। भारतीय आचार्यों ने रीति, वृत्ति और गुणों का विचार करते हुए इसी शैली का विचार किया है। पश्चिम में भी शैली के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है और शैली का संबंध रचनाकार के व्यक्तित्व से माना गया है। रचयिता के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उसकी शैली भी होती है। इसीलिए कहा गया है: शैली ही व्यक्ति है (style is the man) शैली ही भाव, बुद्धि और कल्पना, तीनों तत्वों को संगठित रूप में साहित्य में ढालती है। छंद, अलंकार, प्रतीक, बिंब, गेयता और प्रवाह आदि को भी शैली से ही संबंधित माना जाता है। अतएव भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस तत्व का अत्यधिक महत्व है।

इन तत्वों पर ध्यान रखकर यदि साहित्य की परिभाषा की जाय तो इस प्रकार की परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं:

1) "आकर्षक भाषा-शैली में सरस भावों की अभिव्यक्ति ही 'साहित्य' है।"

2) "व्यक्ति अथवा मानव-जाति की चित को रस-मग्न कर देनेवाली कल्पनाओं आंतरिक तथा बाह्य अनुभूतियों और विचारों का लिपिबद्ध रूप है 'साहित्य'।"

किंतु इसके पूर्व कि साहित्य की कोई एक संगठित परिभाषा देने का प्रयत्न करें, पाश्चात्य विद्वानों के मतों को जान लेना लाभकर होगा। आगे हम उनकी परिभाषाओं की ही थोड़ी चर्चा कर रहे हैं।

## 31.6.3 पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ

पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ तो अनेक हैं, पर उनमें से जो सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं तो कुछ प्रतिनिधि विचार सामने आ सकते हैं। अतएव कुछ परिभाषाएँ लें:

1) सर्वश्रेष्ठ विचारों की लिपिबद्ध अभिव्यक्ति 'साहित्य' है।
—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका।

2) भव्य विचारों का संग्रह 'साहित्य' कहलाता है। —इमर्सन।

3) मनुष्य-मात्र में परस्पर भावात्मक संबंध स्थापित करने का साधन है 'कला' (अतः साहित्य भी)। —लियो तोलसतोय।

4) साहित्य (पुस्तकों की) वह समष्टि है जिसे मनुष्य आनंद की प्राप्ति के लिए अथवा उस भावना-भरित संस्कृति के लिए जो सभ्यता के लिए आवश्यक है, पढ़ते हैं और पढ़ते चले जाते हैं। —फार्ड मेडक्स।

5) साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम से की जानेवाली जीवन की अभिव्यक्ति है।
—हेनरी हडसन।

6) काव्य (या साहित्य) कल्पना तथा मनोवेगों के माध्यम से की जानेवाली जीवन की व्याख्या है। —हेनरी हडसन।

7) काव्य (या साहित्य) मूलतः जीवन की आलोचना है। —मैथ्यू आर्नल्ड।

8) साहित्य समाज का दर्पण है। —अज्ञात।

9) साहित्य युगीन सामाजिक दबावों की अभिव्यक्ति है। —अज्ञात।

आपने ध्यान दिया हो तो आपको ज्ञात हुआ होगा कि अभी-अभी लियो तोल्सतोय, हेनरी हडसन तथा मैथ्यू आर्नल्ड के नाम से जो परिभाषाएँ दी गई हैं वे वस्तुतः कला और काव्य की परिभाषाएँ हैं पर क्योंकि परिचय में काव्य और साहित्य को कला के अंतर्गत माना गया है तथा काव्य साहित्य का प्रतिनिधि रूप अथवा उसका पर्याय रहा है, इसलिए हमने अपनी ओर से उन परिभाषाओं को साहित्य के लिए भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार यदि उक्त सारी परिभाषाओं को मिलाकर देखें तो साहित्य के मुख्य लक्षण इस प्रकार बताये जा सकते हैं:

1) सर्वश्रेष्ठ या भव्य विचारों की लिपिबद्ध अभिव्यक्ति और उसका संग्रह, 2) मनुष्य-मात्र में परस्पर भावात्मक संबंध का साधन, 3) आनंद की प्राप्ति, 4) संस्कृति के ज्ञान का साधन, 5) भाषा के माध्यम से कल्पना तथा मनोवेगों के सहारे की जानेवाली जीवन की अभिव्यक्ति, व्याख्या या आलोचना, तथा 6) रचयिता के युग की सामाजिक चेतना और उसके परिवेश का प्रतिबिंब उभारनेवाला दर्पण (है साहित्य)।

उक्त सभी लक्षण भी प्रयोजनपरक ही हैं। केवल पहले को उनसे कुछ भिन्न माना जा सकता है, किंतु उसमें भी सर्वश्रेष्ठ तथा भव्य विशेषणों के प्रयोग से प्रयोजनपरकता का संकेत कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है। इन सभी का आधार ग्रहण करके साहित्य की एक संगठित परिभाषा प्रस्तुत करें तो कहा जायेगा कि:

"साहित्य भाषा के माध्यम से की गयी सर्वश्रेष्ठ तथा भव्य विचारों, कल्पना तथा मनोभावों की वह समन्वित तथा लिपिबद्ध अभिव्यक्ति या संग्रह है जो रचयिता के अपने युगीन परिवेश और तत्कालीन चेतना को दर्पण की भाँति प्रतिबिंबित ही नहीं करती बल्कि उसकी व्याख्या अथवा आलोचना भी करती है और मनुष्यमात्र में परस्पर भावात्मक संबंध की स्थापना करती हुई मानवीय संस्कृति का ज्ञान भी कराती है और आनंद-लाभ का साधन भी है।"

## 31.7 परिभाषाओं का समाहार और परिभाषा

आपने अब तक साहित्य के विषय में अनेक प्रकार से ज्ञान प्राप्त किया है। उसकी व्युत्पत्ति, कोशगत अर्थ, संस्कृत, हिन्दी तथा विशेषतः अंग्रेजी विद्वानों की ओर से की गयी उसकी परिभाषा के आधार पर उसकी विशेषताओं अथवा अनिवार्य लक्षणों के अतिरिक्त आपने उसके तत्वों और उसके आधार पर की गयी परिभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। आइए, इन सबका समाहार करते हुए अपनी ओर से साहित्य की एक परिभाषा निश्चित करने का प्रयत्न करें।

आपको स्परण होगा कि हमने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार एक परिभाषा निश्चित की थी: "साहित्य वह शब्दार्थमयी रचना है जिसमें शब्द तथा अर्थ एक-दूसरे के सहयोग में रहकर परस्पर पोषण करते हुए रचयिता के अभिप्रेत अर्थ को सहृदय के मन तक संप्रेषित करें और उसके मन को उत्तेजित तथा प्रसन्न करने के अतिरिक्त व्यष्टि-समष्टि के लिए मंगलकारी सिद्ध हो।"

इसके अतिरिक्त हिन्दी विद्वानों ने जिन विशेषताओं को साहित्य का स्वरूप निश्चित करने में आवश्यक माना था, उनका विस्तृत परिचय भी आप पा चुकें हैं। उनके आधार पर कोई परिभाषा नहीं दी गयी थी, अतएव उन विशेषताओं को ही यहाँ एक बार फिर स्मरण कर लें। वे हैं:

ज्ञान-राशि का संचय, कला के उद्देश्यों की पूर्ति, भाव-राशि का संचय, मस्तिष्क का पोषण, मानवता के लिए दर्पण, समाज का हित-संपादन, निराश जाति का उद्‌बोधन, उदात्त, विशद तथा भव्य भावों का संग्रह, चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण, सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता तथा सार्वजनीनता, प्राण-स्फुरण की शक्ति, नूतन विचार तथा नूतन तथ्यों की उपस्थिति अथवा उनका प्रवर्तन, सुप्त भावों का जगाना, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन करने की शक्ति, जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति, वाणी की अखंड परंपरा में जाति-विशेष की अलग पहचान, विकासमान विचार, तथा जनता की चितवृत्ति का प्रतिबिंबन।

विचार करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि इन विशेषताओं में से कई केवल शब्दांतर के कारण ही अलग जान पड़ती है। उन्हें एक ही विशेषता के अंतर्गत समाहृत किया जा सकता है। ज्ञान-राशि का संचय, मस्तिष्क का पोषण, नूतन विचार तथा नूतन तथ्यों की उपस्थिति, उनका प्रवर्तन, तथा विकासमान विचार को एक ही वर्ग में बुद्धि-तत्व के अंतर्गत रखा जा सकता है। भाव-राशि का संचय, उदात्त, विशद तथा भव्य भावों का संग्रह, सुप्त भावों का जगाना, जगत् के नाना भावों की अभिव्यक्ति को भावतत्व में लिया जा सकता है। कला के उद्देश्यों की पूर्ति, चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण तथा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन का संबंध कल्पना तथा शैली तत्व से है। मानवता के लिए दर्पण तथा जनता की चितवृत्ति का प्रतिबिंबन, दोनों को यथार्थता में समाविष्ट किया जा सकता है। निराश जाति का उद्‌बोधन, प्राण-सफुरण की शक्ति, वाणी की अखंड परंपरा में जाति-विशेष की अलग पहचान, तीनों साहित्य की प्रेरक शक्ति तथा जाति की अस्मिता की रक्षा की भावना से संबधित हैं। व्यापक रूप में ये तीनों समाज के हित-संपादन के ही विभिन्न रूप हैं। किंतु इनसे जाति-विशेष की पहचान अथवा उसके संस्कारों की रक्षा का संबंध होने से यह तथ्य भी सामने आता है कि साहित्य प्रत्येक जाति या समाज के संबंध से भिन्न रूप धारण करता है। उसकी कुछ आशा-आकांक्षाएँ अन्यदेशीय साहित्य से भिन्न भी हो सकती हैं। इस सत्य को भूलना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जातीयता की इस सीमा के होते हुए भी साहित्य में यह गुण होना ही चाहिए कि उसे किसी भी देश और काल में सहृदय-सामान्य ग्रहण कर सके और उसका आस्वाद ले सके। अतएव सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता तथा सार्वजनीनता उसके लिए आवश्यक है।

सारांश यह कि इस प्रकार के अंतर्भाव और विशेष स्वीकृति के बाद उक्त विशेषताओं को सामान्यतः जिन शीर्षकों में उपस्थित किया जा सकता है, वे हैं:

1) बुद्धि तत्व, 2) भाव तत्व, 3) कल्पना तत्व, 4) शैली तत्व, 5) यथार्थता, 6) प्रेरक शक्ति 7) जातीय अस्मिता की रक्षा और हित-संपादन, तथा 8) सार्वकालिकता, सार्वदेशिकता तथा सार्वजनीनता। इनमें से चार तत्वों को हमने पहले भी स्वीकार किया ही

है, अतएव उनका समाहार भी यहीं हो जाता है। आपसे यह बात भी अब तक छिपी हुई नहीं रही है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर हमने जो परिभाषा सबसे पहले की है उसमें बताए गये लक्षण "मन को उत्तेजित तथा प्रसन्न करने के अतिरिक्त व्यष्टि-समष्टि के लिए मंगलकारी" होना भी क्रमशः भाव तत्व, प्रेरक शक्ति, और हित-संपादन के ही अंतर्गत आ जाता है। मन भावों के द्वारा उत्तेजित या प्रेरित होता है। किसी विषय के प्रति हमारा जैसा या जितना भाव होता है, हमारी मानसिक और शारीरिक क्रियाएँ भी उसी के अनुरूप, तीव्र या मंद, हुआ करती हैं। हमारे आचार्यों ने भावों की इसी प्रेरक तथा उत्तेजक शक्ति को परखकर रसों से गुणों-प्रसाद, ओज और माधुर्य आदि—का संबंध बताया है और उनके कारण हमारे चित का क्रमशः विकास, दीप्ति और द्रुति अवस्था का वर्णन किया है। 'प्रसन्नता' भी प्रसाद तथा माधुर्य गुण पर निर्भर है और विकास तथा द्रुति नामक स्त्री -दशा से संबंधित है। अतएव भाव तत्व के अंतर्गत ही मानी जा सकती है। किंतु यदि 'प्रसन्नता' को 'चमत्कारपूर्ण अनुरंजन' या 'आनंद' के अर्थ में ग्रहण करें तो क्योंकि चमत्कार में अद्भुत या विलक्षणता का भाव रहता है और वह रचयिता की विचित्र कल्पना या ऊहा और अलंकार-प्रयोग से उपस्थित होता है, अतएव उसे कल्पना तथा शैली तत्व में गृहीत किया जा सकता है अथवा यदि उसे रस के विलक्षण के रूप में माना जाय तो साहित्य के समग्र प्रभाव के रूप में उसे अलग से भी स्वीकार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'मन को उत्तेजित करना' और 'मंगलकारी होना' को क्रमशः भाव तत्व तथा हित-संपादन में अंतर्भूत करते हुए केवल प्रसन्नता या आनंद को अलग से जोड़ा जा सकता है। किंतु इसका समावेश भी विदेशी विद्वानों की परिभाषाओं को उल्लेख करते हुए तीसरे लक्षण, अर्थात् आनंद की प्राप्ति में कर दिया गया है। उनकी ओर से कथित अन्य सभी लक्षण अभी बताये गये लक्षणों से भिन्न नहीं है। तोल्सतोय कथित 'मनुष्यमात्र से परस्पर भावात्मक संबंध-स्थापन' यद्यपि भाव तत्व का ही सहज परिणाम मात्र है, तथापि इस पर विशेष बल देना चाहें तो पूर्वोक्त आठ विशेषताओं में नौवीं विशेषता 'आनंद' के साथ दसवीं विशेषता 'मनुष्य-मात्र में परस्पर भावात्मक संबंध-स्थापन' की भी गणना की जा सकती है। इस प्रकार अब आप व्युत्पत्तिपरक अर्थ की आधार ग्रहण करते हुए उक्त दस विशेषताओं के समावेश के साथ अपनी एक परिभाषा तैयार कर सकते हैं। यथा,

साहित्य 'वाङ्मय'का वह विशेष रूप, मनुष्य की वाणी की वह गद्य अथवा पद्यमय लिपिबद्ध—अथवा लोकप्रचलित मौखिक परंपरा में गृहित—कलात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें शब्द तथा अर्थ परस्पर स्पर्द्धा करते हुए एक-दूसरे के पोषक और परस्पर अविभाज्य बनकर संपृक्त होते हैं और उनके माध्यम से रचयिता यथार्थ जगत् का प्रतिबिंबन, प्रत्यंकन तथा आलोचन करता हुआ बुद्धि, भाव, कल्पना तथा शैलीगत विशेषताओं का इस प्रकार समन्वय और निर्वाह करता है कि उससे न केवल उसका अभिप्राय संप्रेषित होता है बल्कि जाति-विशेष की परंपरागत अस्मिता की रक्षा, उसके आत्मविकास के लिए प्रेरणा, विविध प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति तथा व्यष्टि समष्टि का हित-संपादन होने के अतिरिक्त मनुष्य-मात्र में पारम्परिक भावात्मक संबंध की स्थापना भी होती है और इसकी कृति जातीय होकर भी सार्वजनीन, सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बनकर एक विलक्षण आनंद की सृष्टि करती है।"

इस परिभाषा में सभी प्रकार की विशेषताएँ सम्मिलित कर ली गयी हैं तथा यह किसी भी परिभाषा के लिए आवश्यक गुण, दोष-रहितता, से भी संपन्न है। परिभाषा के दो विशेष दोष होते हैं: 1) अव्याप्ति और 2) अतिव्याप्ति। या तो परिभाषा ऐसी होती है कि उसमें कुछ न कुछ छूट जाता है और जिन प्रमुख रूपों को उसके अंतर्गत आना चाहिए उन सबको वह नहीं समेट पाती, अथवा कोई परिभाषा ऐसी बना दी जाती है कि जो रूप अथवा विशेषताएँ उसके अंतर्गत न आकर किसी अन्य वस्तु, रूप या विधा में पायी जाती है वह परिभाषा उन पर भी लागू हो जाती है। अर्थात् उससे मूल विषय का सही और सच्चा ज्ञान नहीं हो पाता। इनमें से पहले प्रकार की परिभाषा अव्याप्ति-दोष से दूषित होती है और दूसरी अतिव्याप्ति-दोष दूषित। यह परिभाषा दोनों दोषों से मुक्त है।

**बोध प्रश्न 2**

आपने अब तक साहित्य की परिभाषा के विषय में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। नीचे कुछ बोध प्रश्न दिये जा रहे हैं। इन्में ध्यानपूर्वक पढ़िए और उनका उत्तर दीजिए। ऐसा करने से आपको ज्ञात हो सकेगा कि अब तक आपने जो पढ़ा है, उसे ठीक-ठीक समझा है या नहीं। अगर आप किसी प्रश्न का ठीक और सही उत्तर न दे पायें तो पाठ को फिर पढ़िए और सही उत्तर की खोज कीजिए।

1) नीचे लिखे कथनों में से कुछ सही हैं और कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाकर स्पष्ट कीजिए:

क) शब्द-प्रधान रचना का नाम साहित्य है। ( )

ख) साहित्य भाषा के माध्यम से कल्पना तथा मनोवेगों के सहारे की जानेवाली जीवन की अभिव्यक्ति, व्याख्या या आलोचना है। ( )

ग) 'वाङ्मय' और 'साहित्य' पर्याय शब्द हैं। जो कुछ 'वाङ्मय' में परिगणित होता है, वह सब विशिष्ट अर्थ में गृहित 'साहित्य' में भी समाविष्ट है। ( )

घ) आकर्षक भाषा-शैली में सरस भावों की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। ( )

ङ) साहित्य जातीय होते हुए भी सार्वजातीय, सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक होता है। ( )

2) नीचे लिखी उक्तियों के सामने लिखे गये नामों में से उस नाम पर सही (√) का चिह्न लगाइये जिसकी वह उक्ति है:

क) शब्दार्थयो थावत् सहभावेन विद्या साहित्यविधा। (मम्मट/रामचन्द्र/राजशेखर)

ख) साहित्य शब्दार्थ-युगल की ऐसी सृष्टि है जिसमें इनमें से किसी एक की भी दूसरे की अपेक्षा न्यूनता अथवा अतिरिक्तता नहीं होती और ऐसा होने के कारण जो मनोहर तथा शोभाशाली होती है। (रूद्रट/कुंतक/महिमभट्ट)

ग) ज्ञान-राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है।
(महावीर प्रसाद द्विवेदी/रामदहिन मिश्र/श्यामसुंदर दास)

घ) समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। (इमर्सन/गुलाबराय/श्यामसुंदर दास)

ङ) काव्य मूलत: जीवन की आलोचना है।
रामचंद्र शुक्ल/मैथ्यू आर्नल्ड/श्यामसुंदर दास)

3) साहित्य में कितने तत्व माने गए हैं? लगभग दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

4) रामदहिन मिश्र की दृष्टि में साहित्य को साहित्य की संज्ञा किन प्रयोजनों की सिद्धी में सहायक होने पर दी जा सकती है? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5) कुंतक ने साहित्य में शब्द तथा अर्थ को परस्पर अन्यून तथा अनतिरिक्त बताया है। नीचे उसके कारण दिये गये हैं। बताइये कि इनमें से कौन सा कारण गलत है:

क) वैसा होने से साहित्य मनोहर और शोभाशाली बनता है।

ख) शब्द तथा अर्थ के अन्यून तथा अनतिरिक्त होने से रचयिता का सही और ठीक अभिप्राय सहृदय तक संप्रेषित हो पाता है।

ग) वाङ्मय के अन्यान्य भेदों से साहित्य की भिन्नता प्रतिपादित की जा सकती है।

घ) साहित्य और काव्य के बीच अंतर सिद्ध किया जा सकता है।

6) दिये गये कारणों में से सही कारण को बताइये: साहित्य समाज का दर्पण भी है, उसकी व्याख्या भी ओर आलोचना भी, क्योंकि:

क) दर्पण में केवल प्रतिबिंब झलकता है जबकि साहित्य युगीन समाज के यथार्थ को भी चित्रित करता है और उसके स्वरूप का ज्ञान कराते हुए उसके गुण-दोष भी बताता चलता है।

ख) साहित्यकार समाज का ही अंग है। समाज में जो कुछ घटित होता है, उसे तो वह ग्रहण करता ही है, पर अपनी बुद्धि और कल्पना के बल से वह उसकी संगति को भी स्पष्ट करता है और उसमें क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या किया जाना चाहिए, क्या नहीं किया जाना चाहिए का निर्देश भी करता है।

ग) साहित्य का मूल भाव ही है हित सहित होना।

घ) साहित्य को सामाजिक परिवेश के दबाव अवश्य प्रभावित करते हैं, किन्तु साहित्यकार की वैयक्तिक स्वतंत्रता उनका विरोध करती है।

## 31.8 प्रयोजन और हेतु : पारस्परिक अंतर

अब तक आपने अनेक बार 'प्रयोजन' और 'प्रयोजनपरक' शब्दों को पढ़ा और यह जाना कि साहित्य की प्रयोजनपरक परिभाषा भी की जाती है। इससे आप इतना तो समझ गये होंगे कि साहित्य में फल, परिणाम, किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि या साहित्य के प्रभाव के अर्थ में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार किया गया है। 'प्रयोजनपरक' का अर्थ है, जो प्रयोजन को ध्यान में रखकर हो। साहित्य से क्या सिद्धि संभव है या हम उससे किस परिणाम की आशा या आकांक्षा करते हैं, इस बात को ध्यान में रख कर जब साहित्य की परिभाषा की जाती है तब उसे 'प्रयोजनपरक' परिभाषा कहते हैं। इससे आपने यह भी जान लिया है कि विद्वानों की दृष्टि में साहित्य के अनेक प्रयोजन हैं तथा और भी हो सकते हैं। देश-विदेश के साहित्यशास्त्र में प्रयोजन का भी विवेचन किया जाता रहा है। उसके परिणामस्वरूप कुछ विशेष प्रयोजनों को शास्त्र-सम्मत मानकर उनका परिचय दिया जाता है। उन्हें आप जानें इससे पहले 'प्रयोजन' के विशिष्ट अर्थ को दूसरे शब्द के संदर्भ में भी समझ लीजिए। यह शब्द है 'हेतु'।

सामान्य व्यवहार में 'प्रयोजन' और 'हेतु', दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे, 'आपके यहाँ आने का क्या प्रयोजन है?' वाक्य में 'प्रयोजन' शब्द के स्थान पर 'हेतु' शब्द को रखकर उसी अर्थ में यह भी कहा जा सकता है: "आप यहाँ किस हेतु आये हैं?" अथवा "आपका यहाँ आने का क्या हेतु है?" ऐसा कहने से अर्थ में कोई अंतर नहीं आता, या जो अंतर आता है वह इतना सूक्ष्म है कि आपकी पकड़ में नहीं आ पाता। काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र चूंकि शास्त्र हैं अतएव शब्दों के विशिष्ट अर्थों का निश्चय करके उनका पारिभाषिक रूप में प्रयोग करता है। आपको उसी पारिभाषिक अर्थ में शब्दों का प्रयोग समझना-सीखना है।

'हेतु' का अर्थ है, कारण। 'प्रेरक कारण' कहें तो बात और भी स्पष्ट होगी। जो कारण रचना करने की प्रेरणा देता है, वह है 'हेतु'। वह कारण रचयिता के लिए उसका स्वभाव-सिद्ध या उसके लिए सहज कारण है, जिसमें कोई फल-कामना नहीं होती। शक्ति, निपुणता और अभ्यास, तीन हेतु रचना के प्रेरक कारण हैं। पर जिन कारणों के साथ फल-कामना का योग होता है अर्थात् जब रचयिता किसी प्रकार की पहले ही इच्छा करने लगता है कि उसे अमुक प्रकार का लाभ मिले और तब रचना में प्रवृत होता है तो उस कारण को 'प्रयोजन' कहते हैं। इन दोनों का अंतर कैसे, और किसलिए का अंतर है। रचना कैसे की जाती है? इसका पता 'हेतू' देता है और रचना 'किसलिए' या 'क्यों' की जाती है? यह है 'प्रयोजन'

'प्रयोजन' अथवा उद्देश्य, फल या परिणाम, का संबंध रचयिता से भी होता है और सहृदय से भी। रचयिता किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर रचना कर सकता है। उसका कोई पूर्व-निश्चित उद्देश्य न रहा हो तो भी उसे रचना के प्रचारित होने के बाद उसका कोई फल मिल सकता है। यह रचयिता की दृष्टि से दो स्थितियाँ हैं। इसी प्रकार सहृदय की भी अपनी एक अलग स्थिति है। वह भी किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर रचना को पढ़ता या सुनता अथवा उसका मंचन देखता है। हो सकता है कि कभी-कभी रचयिता और सहृदय, दोनों को एक-से फल की प्राप्ति हो। यह भी हो सकता है कि रचयिता को एक प्रकार की सिद्धि हो और सहृदय को किसी दूसरे प्रकार की। अतएव प्रयोजनों के तीन प्रकार अथवा तीन वर्ग बन सकते हैं: 1) रचयितागत, 2) सहृदयगत तथा 3) उभयगत।

## 31.9 साहित्य का प्रयोजन

आप देखते हैं कि सामान्यतः हमारे हर काम का कोई न कोई प्रयोजन या उसके फल की इच्छा होती है। इच्छा हुए बिना, कर्म में रत होना प्रायः संभव नहीं होता। मनुष्य का कोई न कोई मनोरथ होता ही है। उसी की पूर्ति के लिए वह कार्य करता है। भारतीय दृष्टि से मनुष्य की प्रधानतः त्रिविध एषणाएँ या इच्छाएँ होती हैं: 1) पुत्रैषणा, 2) वित्तैषणा तथा 3) लोकैषणा। वह अपना कुल चलाने के लिए तथा वृद्धावस्था में आत्म-सुरक्षा के लिए पुत्र की कामना करता है। अपना पेट भरने और अधिकाधिक सम्मानजनक और सुविधापूर्ण जीवन जीने के लिए वित्त अथवा धन की कामना करता है। अपना यश फैलाने और मृत्यु के बाद भी अपना स्मरण बनाये रखने के लिए लोक की इच्छा करके उसके हित अथवा उपयोग के लिए काम करता है। जैसे मनुष्य मात्र त्रिविध कामनाएँ करता है, वैसे ही साहित्यकार भी साहित्य की रचना किसी न किसी उद्देश्य से ही करता है। सहृदय भी किसी उद्देश्य से ही उसे पढ़ता-सुनता-देखता है। यह भी हो सकता है कि रचयिता का जो उद्देश्य न रहा हो उसे उसकी भी सिद्धि फलरूप में हो जाय। पर निष्प्रयोजन कर्म या रचना का होना असंभव भले ही न हो कठिन अवश्य है। कुछ विद्वान् इस विचार के भी हैं तो कि रचना निष्प्रयोजन होती है, पर अधिकांश का मत साहित्य का कोई न कोई प्रयोजन होता है, इसी के पक्ष में है। वे प्रयोजन कौन से हैं, इसे भी भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से जानना उचित होगा। आइए, उन्हें जानें।

### 31.9.1 संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन

संभव है आपने सुना या पढ़ा हो कि भरतमुनि का प्रसिद्ध ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' हमारे यहाँ अब तक उपलब्ध साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में पहला ग्रंथ है। उसमें उन्होंने एक तो यह बताया है कि नाट्य-प्रयोग में दुःखार्त, श्रमार्त, शोकार्त तथा तपस्वी जनों को विश्राम मिलेगा। दूसरे उन्होंने नाट्य को धर्म, यश, आयुष्य, हित, बुद्धि-विवर्धन तथा अंततः लोकोपदेशकारक बताया है[1]। अर्थात् उससे ये फल मिलेंगे।

[1] "दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानाम् तपस्विनाम्।
विश्रांतिजनन काले नाट्यमेतद्भविष्यति ।।१/११४।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हित बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।।१/११५।।

भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों ने श्रव्य-काव्य के संदर्भ में शास्त्र की जिस विचार-परंपरा का प्रवर्तन किया उसमें आचर्य भामह[1] ने यदि 'काव्यालंकार' ग्रंथ में 'साधु-काव्य' की रचना अथवा उसके अध्ययन के परिणामस्वरूप सात प्रयोजनों की सिद्धि मानी तो आचार्य वामन[2] 'काव्यालंकारसूत्र' में प्रीति और कीर्ति मात्र से ही संतुष्ट दिखायी पड़े। दूसरी ओर आचार्य रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में इनकी संख्या बढ़ाकर नौ कर दी। भामह ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों के अतिरिक्त कला-निपुणता; प्रीति और कीर्ति को भी स्वीकार किया था। रुद्रट ने चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साथ युगांतस्थायी जगद्व्यापी यश, दुर्गा आदि की स्तुति से प्राप्त धन, विपत्ति-विनाश, असाधारण आनंद तथा आप्त-कामना को और जोड़ दिया। सचाई यह है कि भामह-कथित कीर्ति ही यहाँ यश तथा प्रीति ही यहाँ आनंद के रूप में उपस्थित है और दुर्गादि की स्तुति से प्राप्त अर्थ तथा आप्त-कामना चतुर्वर्ग में समाहित हैं। इस प्रकार भामह-कथित प्रयोजनों में रुद्रट केवल एक की वृद्धि करते हैं। वह है, विपत्ति-विनाश। वामन की प्रीति और कीर्ति तथा दंडी-कथित यश-प्राप्ति भी भामह स्वीकार कर चुके हैं। रह जाता है दंडी कथित ज्ञान, जिसे भामह-कथित कला-वैचक्षण्य से अलग भी मान सकते हैं क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार कला के क्षेत्र से अधिक है। इस प्रकार भामह-कथित सात प्रयोजनों में ज्ञान-प्राप्ति तथा विपत्ति-विनाश को और जोड़कर प्रयोजनों की संख्या नौ मानी जा सकती है।

आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में 'सहृदयहृदयाह्लाद' पर बल दिया तो आचार्य कुंतक[3] ने 'धर्मादि-साधन' तथा 'आह्लादकारिता' पर। राजशेखर[4] ने कवि-दृष्टि से 'अक्षय कीर्ति को और सहृदय-दृष्टि से आनंद-प्राप्ति को प्रयोजन माना। ये सब भी भामह-कथित प्रयोजनों में पहले से ही समाविष्ट हैं।

आचार्य भामह के बाद वस्तुतः यदि किसी आचार्य के बताये हुए प्रयोजन बहुप्रचलित और सर्वमान्य हुए तो वे हैं आचार्य मम्मट[5], जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' में पूर्वकथित प्रयोजनों को समेटते हुए अपनी ओर से प्रयोजनों को नवीन रूप दिया। उनकी दृष्टि में ये प्रयोजन हैं: यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतर की क्षति अर्थात् अमंगल या अनिष्ट अथवा विपत्ति का विनाश, सद्यः अर्थात् तुरंत प्राप्त होनेवाला अलौकिक आनंद और कांता-सम्मित मधुर तथा प्रिय उपदेश। मम्मट ने भामह-कथित काम तथा मोक्ष को सर्वथा छोड दिया है। व्यवहार-ज्ञान के अंतर्गत ज्ञान तथा कला-निपुणता को भी रख सकते हैं, यद्यपि ज्ञान का क्षेत्र व्यवहार-ज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है और कला-निपुणता भी व्यवहार-ज्ञान की सीमा का अतिक्रमण करती हुई चलती है। शिवेतर-क्षति विपत्ति-विनाश को अपने में समाहित करती है। सद्यः परनिर्वृत्ति और प्रीति को एक ही माना जा सकता है, यदि प्रीति को आनंद के अर्थ में ग्रहण किया जाय। आचार्यों ने वैसा किया भी है। रुद्रट ने उसी को असाधारण आनंद और आनंदवर्धन तथा कुंतक ने आहलाद नाम दिया है। सर्वथा नया प्रयोजन है तो वह है: 'कांतासम्मिततयाउपदेश'। आचार्य मम्मट ने काव्यपाठ के साथ ही उत्पन्न होनेवाले सातिशय आनंद—सद्यः परनिर्वृत्ति—को सभी प्रयोजनों में शीर्षस्थानीय अथवा मौलिभूत महत्व दिया है और कहा है: 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनंतरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलित-वेद्यांतरमानंदम्'। अर्थात् समस्त प्रयोजनों में सर्वश्रेष्ठ है आनंद जो रसास्वादन के साथ उत्पन्न या अनुभवगम्य होता है और इसका अनुभव होते है। शेष समस्त ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान आपसे आप तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार मम्मट इस अलौकिक आनंद को मुख्य प्रयोजन मानते हैं। स्पष्ट है कि अन्य प्रयोजन इसकी तुलना में गौण वर्ग में रखे जायेंगे। इस प्रकार उन्होंने प्रयोजनों के मुख्य और गौण नामक दो वर्ग मान लिये हैं। गौण प्रयोजन अनेक हो सकते हैं पर उनमें से मम्मट ने जिनका उल्लेख किया है, वे हैं—यश, अर्थ, व्यवहार-जान, विघ्न-नाश तथा-कांता-सम्मित उपदेशदान। काव्य नीतिशास्त्र के समान केवल रूखा-सूखा उपदेश नहीं देता, बल्कि मधुर बनाकर तथा सरस ढंग से उपदेश देता है, पर यह भी गौण प्रयोजन ही है।

---

1. धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्तिं प्रीति च साधुकाव्य निबंधनम् (निवेदणम)। काव्यालंकार। १/२ ।
2. काव्यंसद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीति कीर्ति हेतुलात्। १/५ ।
3. धर्मादिसाधनोपायः सुहुमारक्रनोदितः।
   काव्यबन्धे हृदयाहलादकारक।। १/३ ।।
4. यस्येत्थं धीः प्रगल्भा स्नपयति सुकदेस्तस्य कीर्तिजगति।
5. काव्यं यशसेऽ र्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृत्त कान्तासम्मिततगोपदेश युजे।। १/२ ।।

अब यदि भरतमुनि से लेकर आचार्य मम्मट तक के आचार्यों के मतों का सार संचय करें तो कुल प्रयोजन-संख्या इस प्रकार होगी:

1) धर्म, 2) अर्थ, 3) काम, 4) मोक्ष, 5) यश, 6) आयुष्य, 7) हित, 8) बुद्धि-विवर्धन अथवा ज्ञान-वर्धन, 9) लोकोपदेश अथवा व्यवहार-ज्ञान 10) कला-निपुणता, 11) अमंगल अथवा विपत्ति का विनाश, 12) कांतासम्मित उपदेश, तथा 13) प्रीति अथवा विलक्षण आनंद।

## 31.9.2 हिन्दी विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन

कवियों के साक्ष्य को आधार मानें तो उक्त सभी प्रयोजन किसी-न-किसी रूप में उनके द्वारा स्वीकृत मिल जायेंगे। गोस्वामी तुलसीदास में तो एक-साथ इन सबका समावेश उनके 'रामचरितमानस' महाकाव्य में मिल जायेगा। किंतु जिस प्रयोजन ने सबसे अधिक ध्यान आकर्षित किया, वह है 'हित' और 'स्वांतःसुख'। दोनों देखने में एक-दूसरे के विरोधी से लगते हैं, परंतु वस्तुतः गोस्वामी जी के लिए इनमें वैसा भेद नहीं है। इनके संबंध में उनकी उक्तियाँ क्रमशः इस प्रकार हैं:

1) कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकर हित होई।

2) स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा। भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।।

'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में ही ये दोनों उक्तियाँ आती हैं। गोस्वामी जी पहली उक्ति में कीर्ति, भणिति अर्थात् कथन या काव्य रचना तथा ऐश्वर्य, तीनों सभी भले लगते हैं या

सार्थक कहे जा सकते हैं, जब उनसे गंगा के समान सबका या सार्वजनीन हित होता हो। यह सार्वजनीन हित ही है जिसे आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने गोस्वामी जी का मुख्य लक्ष्य माना और उसे 'लोकमंगल' का नाम दिया। यह प्रयोजन 'साहित्य' शब्द के मूलगत व्युत्पत्तिपरक अर्थ में निहित है भी। 'स्वांतः सुख' की सीमा ऊपरी तौर पर व्यक्तिगत-सी जान पड़ती है और लगता है कि मंगलाचरण में 'स्वांतःसुख' की बात करनेवाला कवि आगे चलकर लोकमंगल की बात कैसे करता है? जिसे अपना सुख प्यारा है, वह दूसरे का सुख और हित कहाँ देखता है? परंतु ध्यान देने पर प्रतीत होगा कि गोस्वामी जी के ये कथन आत्म-विरोधी नहीं हैं। गोस्वामी जी अन्यत्र भी कहते हैं: "परहित सरिस धरम नहिं भाई।" अर्थात् परहित उनकी दृष्टि में धर्माचरण का अंग है और राम कथा धर्म की रक्षा और लोकहित करनेवाली है और उन्हें बहुत प्रिय है—इतनी कि उसके कहने-सुनने से उन्हें आंतरिक सुख-स्वांतःसुख—प्राप्त होता है। एक प्रकार से रामकथा के माध्यम से लोकहित की सिद्धि में ही तुलसीदास जी का अपना अंतःकरण भी सुख का अनुभव करता है। इसलिए उनके 'स्वांतःसुख' में केवल व्यक्तिनिष्ठता ही नहीं है बल्कि 'परांतःसुख' अथवा समाजनिष्ठता भी उतनी ही मिली हुई है, जिसके कारण 'स्वांतःसुख' और 'परहित' एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

अन्य हिन्दी कवियों और रीतिकालीन लक्षण-ग्रंथ के लेखकों ने भी काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, किंतु वह प्रायः शास्त्रोक्त पूर्व प्रयोजनों की ही पुनरावृत्ति है। आधुनिक काल में आकर बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के आग्रहवश तथा विदेशी साहित्य के अध्ययन के प्रभाव से पूर्व-कथित मोक्ष जैसे प्रयोजनों का त्याग हो गया और कुछ नये प्रयोजनों को स्थान मिल गया। आगे हम इन्हीं का निर्देश कर रहे हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 1) ज्ञान-विस्तार और 2) मनोरंजन को साहित्य का उद्देश्य मानते थे, पर जैसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'मनोरंजन' तथा 'आनंद' को 'लोकमंगल' और 'उदात्तता' की तुलना में कुछ हल्का और प्रायः भ्रामक मानते रहे, वैसे ही राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी केवल मनोरंजन में ही कवि-कर्म की सिद्धि नहीं मानी, बल्कि 'उचित उपदेश' को उसके मर्म के रूप में स्वीकार किया। उनके शब्दों में:

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'लोक-हृदय में विद्यमान तम-पुंज का नाश' अर्थात् ज्ञान-प्रसार और व्यवहार-ज्ञान को तथा 'अलौकिक आनंद' की प्राप्ति को ही प्रयोजन बताया। श्री जयशंकर प्रसाद श्रेय और प्रेय तथा मनोरंजन आनंद और शिक्षा के साथ सबसे बढ़कर 'आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति' को मानते रहे तो श्री सुमित्रानंदन पंत 'स्वांतः सुख' और 'लोकहित' को प्रयोजन मानकर चले। 'आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति' से प्रसाद जी का अभिप्राय यह है कि मनुष्य जीवन से अनुभव ग्रहण करता चलता है। उन अनुभवों से वह जीवन-सत्य को प्राप्त करता है। सत्य श्रेय पूर्ण होता है। शास्त्र या विज्ञान इस श्रेय सत्य का तर्क वितर्क और विश्लेषण द्वारा नीरस ज्ञान के रूप में अनुभव कराता है। इसके विपरीत काव्य में यह तर्क वितर्क, विश्लेषण और विकल्प नहीं होता। कलाकार अपने अनुभव सत्य को आत्मा की मूल-शक्ति की असाधारण अवस्था में संकल्पात्मक या निश्चित रूप में सहसा प्रिय या सुंदर बनाकर व्यक्त करता है। इसीलिए काव्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने साहित्य का प्रयोजन 'मानव-स्वभाव की स्वच्छंदता' और 'समाजनिष्ठता' के मूल को मानते हुए कहा: "साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छंद मानव-स्वभाव में उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।"

प्रगतिवाद के आरंभ के साथ मानवतावाद का दौर आया और सामाजिक यथार्थ का चित्रण निम्न और पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति, सामाजिक क्रांति का आह्वान, सामंतवादी और पूंजीवादी मूल्यों के साथ-साथ खोखले आदर्शवाद का खंडन और प्राचीन धार्मिक विश्वासों पर कुठाराघात जैसे प्रयोजन सामने आये और पुराने स्वीकृत प्रयोजन अस्वीकृत होते चले गये। मार्क्सवादी दृष्टि नयी-नयी धाराओं में बंटकर भी जैसे-जैसे साहित्य में जड़ पकड़ती गयी, वैसे-वैसे ये प्रयोजन भी स्थिर होते गये और अभी भी नये बल के साथ इस धारा के साहित्य के विकसित होने से इन प्रयोजनों का भी प्रचार-प्रसार हो रहा है। उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद ने इसी प्रगति की दिशा में विचार करते हुए बहुत पहले ही मनोरंजन को अत्यंत हेय प्रयोजन बताया था। उन्होंने कहा है: 'साहित्य का उद्देश्य हमारा मनोरंजन

करना नहीं है। यह काम तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का है। साहित्यकार का पद इनसे बहुत ऊँचा है। वह हमारे विवेक को जागृत करता है, हमारी आत्मा को तेजोदीप्त बनाता है।' अपने लेखने में प्रेमचंद उन प्रयोजनों को लेकर चले हैं, जिनका उल्लेख इस धारा के संबंध में अभी किया गया है।

प्रेमचंद का 'विवेक को जागृत करना' तथा 'आत्मा को तेजोदीप्त करना', ऐसे दो प्रयोजनों का सुझाव है जो विवेचन के अभाव में प्राचीन स्वीकृत प्रयोजनों से बहुत भिन्न प्रतीत नहीं होते। जब तक 'विवेक को जागृत' करने का अर्थ श्रद्धा-विश्वास के त्याग के साथ बुद्धिवाद को स्वीकार करना और 'आत्मा को तेजोदीप्त' करने का अर्थ अमान्य मूल्यों के विरुद्ध संघर्षशील होना न किया जाय, तब तक उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं होता।

इस धारा के प्रति सहानुभूति रखनेवाले तथा रवींद्रनाथ और बंगला साहित्य से प्रभावित आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में प्रेमचंद की 'आत्मा को तेजोदीप्त' करने की भावना तथा प्राचीन संस्कृत पंडितों की उक्ति 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' अथवा बंग-भाषा के कवि की उक्ति कि 'सबके ऊपर मनुष्य ही एकमात्र सत्य है' का समन्वय ही दीख पड़ता है। साहित्य की परिभाषा देते समय पं० रामदहिन मिश्र की जो उक्ति आपको बताई गयी थी, उसे द्विवेदी जी की इस उक्ति से मिलाइये तो आपको दोनों में बहुत कम अंतर मिलेगा:

'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसे परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'

द्विवेदी जी का उक्त कथन जितना साहित्य की परिभाषा प्रस्तुत करता है उतना ही वह उसके प्रयोजनों का निर्देशक भी है। साहित्य के इन प्रयोजनों को कभी स्पष्ट रूप में और कभी 'मनुष्य-मात्र की मंगल-भावना', 'जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि', 'सत्वस्थता' 'जीवन की व्याख्या' आदि कहकर सूत्र-रूप में द्विवेदी जी स्वीकार करते रहे हैं। साथ ही 'लोकोत्तर आनंद' को भी स्वीकार करके चले हैं। वे रवींद्रनाथ की पद्धति पर 'निखिल जगत् के साथ एकत्व या आत्मीयता के अनुभव' तथा 'विशुद्ध आनंद' की प्राप्ति को साहित्य का प्रयोजन मानते हैं।

किंतु हिन्दी में प्रयोगशीलता पर बहुत अधिक बल देने के कारण प्रयोगवादी कहलाने वाले श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' साहित्य को समाज से जोड़ते हुए और संप्रेषण को उसकी बुनियादी समस्या मानते हुए भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करते। वे साहित्यकार के व्यक्ति-स्वातंत्र्य को मुख्य मानते हुए उसे 'संपूर्ण मानवता' के प्रति उत्तरदायी मानते हैं, प्रगतिवाद की तरह किसी वर्ग-विशेष तक उसकी दृष्टि की सीमा नहीं मानते। वे भी यह मानते हैं कि साहित्य का 'प्रयोजन सबसे अधिक मनुष्य के साथ है।' किन्तु किसी एक वर्ग के मनुष्य के साथ नहीं, बल्कि मानव-मात्र के साथ। लेखक मनुष्य-मात्र के 'संवेदन का विस्तार कर सकता है। दोनों पक्ष के संवेदन का जिन्हें सुविधाएँ मिली हैं उनके भी और जिन्हें नहीं मिली हैं उनके भी। और उस विस्तार से वह समाज में यह जो सपत्व का एक मूल्य है उसको और अधिक मूल्यवान बना सकता है और दोनों पक्षों को ऐसी प्रेरणा दे सकता है कि वे उसके निकटतर आते जायें—उसे प्रतिष्ठित करके उसमें जियें।

दूसरे, 'अज्ञेय' मानते हैं कि 'अच्छे साहित्य से समाज बदलाता है' पर वे यह नहीं मानते, जैसा कि आज 'क्रांति' के पक्षधर मानते हैं कि 'क्रांति' या परिवर्तन के लिए या समाज को बदलने के लिए साहित्य होता है। 'साहित्य समाज को अंदर से बदलता है, 'इसलिए कि उससे मूल्यों की एक पहचान आती है।' अतएव साहित्य का उद्देश्य किसी प्रकार का प्रचार या क्रांति करना नहीं है। संक्षेप में, 'अज्ञेय' साहित्य का प्रयोजन मनुष्य-मात्र के संवेदन का विस्तार करके सबके बीच समत्व की स्थापना करना मानते हैं। परंतु यह प्रयोजन साहित्य का स्वभाव-सिद्ध प्रयोजन है, बाहर से आरोपित नहीं।

सारांश यह कि हिन्दी में द्विवेदी काल तक भले ही प्राचीन आचार्यों को मान्य प्रयोजनों को ही दुहराया गया, पर छायावाद काल से कुछ नये प्रयोजन भी प्रस्तुत किये गये, जो दृष्टि-भेद के कारण किसी को मान्य रहे और किसी को नहीं। इनमें क्रमशः 'स्वानुभूति की

अभिव्यक्ति', 'मानव-स्वभाव की स्वच्छंदता और समाज के प्रति अनुकूलता', 'सामाजिक यथार्थ का चित्रण', 'निम्न और पीड़ित वर्ग के प्रति सहानुभूति जगाना', 'सामाजिक क्रांति का आह्वान', 'सामंतवादी तथा पूंजीवादी मूल्यों तथा आदर्शवाद का खंडन', 'प्राचीन धार्मिक विश्वासों पर कुठाराघात', 'मनुष्य की श्रेष्ठता की स्वीकृति' तथा 'मनुष्य-मात्र के संवेदन का विस्तार करके समत्व भावना को जागृत करना' की गणना की जा सकती है और प्राचीनकाल से मान्य अन्य पूर्वकथित प्रयोजनों के साथ इन्हें जोड़ा जा सकता है। इससे वह भी स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के प्रयोजनों की कोई अंतिम सीमा नहीं है। उनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है।

आप सोच रहे होंगे कि साहित्य से रचयिता को अथवा उसके साथ-साथ सहृदय को भी कुछ प्रयोजनों की सिद्धि तो हो सकती है, पर मोक्ष, आयुष्य, शिवेतरक्षति अथवा अमंगल-विनाश की सिद्धि कैसे होती है? साहित्य में चूंकि जीवन के अनेक मूल्यों तथा आदर्शों का समावेश होता आया है और उसमें जातिगत शील, आचार आदि प्रतिफलित होते हैं, इसलिए जीवन धारण कराने की शक्ति के कारण उससे धर्म की, रचयिता को आ धयदाता, शासन, पुरस्कार-समितियों, पत्र-पत्रिकाओं, संचार माध्यमों तथा प्रकाशकों से अर्थ या धन की, साहित्य में प्रकट किये गये भावों और नाना चरित्रों के अनुभव और उनकी अभिव्यक्ति से इच्छा या काम की सिद्धि और परितृप्ति तो होती है और उसमें सहृदय भी सहभागी हो सकता है, जैसे प्राचीन ग्रंथों के संपादन-गायन-विवेचन-विश्लेषण से आजकल अनेक आलोचकों की आजीविका चल रही है, या साहित्य पढ़ने से वह भी अपनी दमित अथवा सहज इच्छाओं की परितृप्ति का अनुभव करके आप्त-काम हो जाता है। मोक्ष की कल्पना धार्मिक विश्वासों के युग की है और मध्यकाल अथवा उससे प्रभावित चिंतन से आगे नहीं बढ़ पाती। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' तथा पौराणिक आख्यानों को भक्ति पण्डित करके काव्य-रूप देनेवाले रचनाकारों की रचनाओं में माहात्म्य-कथन के अंतर्गत उनके पाठक को मोक्ष-लाभ का विश्वास दिलाया गया है, पर आधुनिक बौद्धिक युग में इसे स्वीकार करना संभव नहीं है। जिन रचनाओं में आश्रयदाता की प्रशंसा मात्र है, जो लौकिक शृंगार के काव्य हैं अथवा जिनमें वीरता का वर्णन किया गया है, जो नीति-परक रचनाएँ हैं, ऐसी भक्ति-विरहित रचनाओं से तो प्राचीनकाल में भी मोक्ष की सिद्धि मानना संभव नहीं रहा होगा। इसी प्रकार आयुष्य का भी साहित्य-रचना से कोई सीधा संबंध नहीं है। शिवेतरक्षति के उदाहरण भी ऐसे ही काव्यादि हो सकते हैं, जो धार्मिक और भक्त्यात्मक हों। कहते हैं कि 'सूर्यशतक' की रचना करने से मयूर कवि का कुष्टरोग, तथा 'हनुमानबाहुक' की रचना करने से गोस्वामी तुलसीदास का बाहुशूल दूर हो गया था। इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जाते हैं। पर इनका संबंध भी भक्ति या स्तुति से ही है। बहुत से पाठक और धार्मिक व्यक्ति आज भी इस भावना से ऐसी रचनाओं का पाठ किया करते हैं। अन्य प्रकार की रचनाओं से शिव या कल्याण की सिद्धि तो हो सकती है, वह भी तब जबकि उनसे नैतिकता का परिपोष होता हो, किंतु किसी उपन्यास, कहानी या निबंध अथवा शृंगारिक काव्य की रचना या पाठ से रचनाकार या पाठक का अथवा किसी जन-समाज के अमंगल का विनाश होता नहीं सुना गया। जो लोग साहित्य के लिए नैतिक मूल्यों के निर्वाह को आवश्यक नहीं मानते या नैतिकता को साहित्य का एक अनिवार्य अंग स्वीकार नहीं करते, उनके लिए तो मंगल की सिद्धि का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि रचना-मात्र से उक्त प्रयोजनों की सिद्धि नहीं होती और जिनसे होती भी हो उनसे भी मोक्ष जैसी सिद्धि का, जिसका इस लोक से कोई संबंध ही नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ तक कि यश तथा अर्थ भी सभी को सभी रचनाओं से प्राप्त नहीं होता। अनेक रचनाएँ यों ही काल के गाल में समा जाती हैं।

'साहित्य' शब्द के मूल में ही हित की भावना विद्यमान है। उससे अहित नहीं होता। जिस रचना से अहित होता प्रतीत हो, नैतिक मूल्यों में गिरावट आती हो, भेद-भाव उत्पन्न होता हो, चरित्र दूषित होता हो, आदि, वह रचना साहित्य नहीं मानी जा सकती। हित एक व्यापक संज्ञा है, जिसके अंतर्गत उदात्तता, उत्थान, विवेक-वर्धन, ज्ञान-वर्धन आदि अनेक बातें आ जाती हैं। साहित्य से इनकी सिद्धि भी होती ही रहती है। अतएव 'हित-साधन' साहित्य का अनिवार्य प्रयोजन है।

साहित्य में अनेक प्रकार के विवरण, अनेक विषयों का परिचय, प्रकृति और मनुष्य-प्रकृति का चित्रण, वस्तुओं और दृश्यों का आकलन, ऐतिहासिक-पौराणिक तथा मिथकीय कथाओं का निर्वाह और शिल्पादि कलाओं का ज्ञान संचित रहता है। इससे सहृदय की बुद्धि का, उसके विवेक का वर्द्धन होता है। साथ ही करणीय-अकरणीय, कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध

भी होता है जिससे लोकोपदेश अथवा व्यवहार-ज्ञान की भी सिद्धि होती है। रचना के संयोजन-संगठन की भी एक कला है। पाठक या सहृदय को अन्य वर्णित कलाओं के ज्ञान के अतिरिक्त साहित्य-रचना-कला का भी ज्ञान होता है और उसके रचयिता को तो अधिकाधिक निपुणता प्राप्त करने का अवसर रहता ही है। इन सबको हम ज्ञान-वर्धन के अंतर्गत ही मानते हैं।

उपदेश को कोई सहज ही सुनने को तैयार नहीं होता। बात-बात में किसी को हर समय उपदेश ही दिया जाय तो वह खीझ जाता है और विद्रोह कर उठता है। उपदेश की शास्त्रोक्त तीन शैलियों में से साहित्य में 'कांतासम्मित उपदेश' को ही स्वीकार किया गया है। कारण यह कि 'प्रभुसम्मित उपदेश' राजा अथवा अपने से बड़े व्यक्ति की ओर से होने के कारण आदेशात्मक होते हैं, जिनका पालन करना ही पड़ता है। दूसरे, 'सुहृदसम्मित उपदेश' मित्र की ओर से किसी को समझाने में काम आता है। मित्र अपने मित्र को अनेक प्रकार से भला-बुरा समझाकर इष्ट कार्य में लगाता है। यहाँ शब्द नहीं अभिप्राय ही मुख्य होता है और उसका पालन करना धर्म माना जाता है। अतएव वह भी टाला नहीं जाता। तीसरे प्रकार का उपदेश 'कांतासम्मित उपदेश' है, जो अधिप्राप को सरस और मधुर बनाकर उपस्थित करता है, जैसे सत्पत्नी अपने पति को भावी अनिष्ट या गलत और बुरे कामों से बचाने के लिए अपने हृदय का सारा रस उड़ेलकर मधुर वचनों से उसे समझाती-बुझाती है। यह समझाना-बुझाना समर्पित भाव से किया गया दिशा-निर्देश है, आदेश या आज्ञा नहीं है। जैसे कोई रोगी कटु औषध को भी मधु में लिपटी होने पर सरलता से ग्रहण कर लेता है, वैसे ही पत्नी के मधुर उपदेश के समान साहित्य में दिये गये उपदेश को पाठक या सहृदय भी सरलता से सीख और समझ लेता है। जैसे, बिहारी के दोह को पढ़कर मिर्जा राजा जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रति अपनी आसक्ति को त्यागकर अंतःपुर से बाहर आ गये थे।

प्राचीन आचार्यों ने जिन्हें मान्यता दी उनके अतिरिक्त आधुनिक काल में जो प्रयोजन बताये गये हैं उनमें सामाजिक दृष्टि की प्रधानता है। वे समाज, वर्ग अथवा जाति या राष्ट्र के हित में विचार से बताये गये हैं और हित की ही अनेकरूपता को व्यक्त करते हैं। छायावादियों ने जिस 'स्वानुभूति' या 'आत्मानुभूति' पर बल दिया वह रचनाकार की ओर से रचना-प्रेरणा की स्वीकृति ही अधिक है। प्रकारांतर से वही प्रयोजन भी है। रचयिता अपनी अनुभूतियों के घनीभूत हो जाने पर विवश हो जाता है कि वह उन्हें अभिव्यक्त करे, किसी से कुछ कहे। इस रूप में आत्मानुभूति उसकी रचना के लिए अथवा, कहना ठीक होगा, रचना-कर्म के लिए प्रेरणा बन जाती है। साथ ही रचयिता किसी अन्य उद्देश्य का ध्यान न करके केवल अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए और कहकर अपना चित्त हल्का करने के लिए रचना करके संतुष्ट रह सकता है। ऐसी स्थिति में वही उसका प्रयोजन भी बन जाती है।

स्परण रखना चाहिए कि बताए गये प्रयोजनों में से कोई एक ही किसी रचना से सिद्ध होता हो। रचना का कोई एक प्रयोजन भी हो सकता है और उससे अनेक या एकाधिक कई प्रयोजनों की सिद्धि भी हो सकती है। रचनाकार का लक्ष्य तो प्रायः कोई एक या दो ही हुआ करता है, पर उसे और सहृदय को अन्य प्रयोजनों की सिद्धि भी हो सकती है। महान् कवियों के काव्य से एक-साथ अनेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं। उसकी रचनाएँ स्वयं उनके लिए तथा सहृदय के लिए भी समान रूप से फलदायी सिद्ध होती हैं। कह सकते हैं कि उन रचनाओं की स्थिति उन फूलों जैसी होती है जिन्हें गोस्वामी जी ने अंजलि में भरे हुए होने पर दोनों हथेलियों के लिए समान रूप से सुगंधिकारक बताते हुए कहा है: "अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोई।।"

वस्तुतः रचनाकार का एकमात्र लक्ष्य तो रचयिता, स्रष्टा या कवि कहलावा ही है। अपने कर्म की सफलता और उस कर्म में सिद्धहस्त कहलाने की साध तो सबको होती है। उसी में उनको जीवन की सार्थकता प्रतीत हुआ करती है। उसी में अन्यान्य प्रयोजन आपसे-आप सिद्ध हो जाते हैं। भारतीय आचार्यों का कथन है कि ऐसा कोई शिल्प या शास्त्र नहीं है, ऐसी कोई विद्या या कला नहीं, है, जो काव्य का अंगभूत नहीं है। काव्य अथवा साहित्य में सब किसी न किसी रूप में समा जाते हैं, उसके सहायक बनते हैं।

न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगं, अहो भारो महान् कवेः।।"

अतएव सब कुछ को समाहित कर लेनेवाले काव्य या साहित्य में स्वाभावतः अन्यान्य प्रयोजन भी समाहित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्रष्टा का गौरव तो इसी बात में है कि वह केवल अपने स्रष्टा रूप की अधिकाधिक सफलता का यत्न करे और उसी को

अपना एकमात्र लक्ष्य बनाये। इसीलिए महाकवि कालिदास को ललक थी तो एक ही बात की कि वे कवि अर्थात् स्रष्टा कहलायें। उन्हें डर था तो यही कि शायद वे इसमें कृतकार्य न हों और लोग उनकी हंसी उड़ायें। इसीलिए उन्होंने कहा था "मंदः कवियशः प्रार्थी गमिष्यामि उपहास्यताम्।।" रघुवंश। उनकी इस उक्ति का अर्थ यह कि यदि रचनाकार अपने रचना-कर्म में सफल हुआ तो प्रथित यश का भागी बनता है। ऐसे यश का जो दिक्काल का अतिक्रमण करके उसे कालजयी बना देता है और देश-देशांतर में उसकी ख्याति केवल उसके जीवन-काल में ही नहीं फैलती, मरणोपरांत भी उसकी कीर्ति दिग्दिगंत में फैलती रहती है।

गोस्वामी जी का लक्ष्य दूसरा ही है। एकमात्र कविता करना या कवि कहलाना उनका लक्ष्य नहीं है। वे उसके साथ-साथ राम-पद-नेह को जोड़कर चलते हैं, राम-भक्ति को प्राथमिकता देते हैं। इसलिए रामकथा से प्राप्त होनेवाले चतुर्वर्ग फल, लोकमंगल आदि पर भी उनका ध्यान जमा रहता है। केवल कविता की दृष्टि से कोई उनकी रचना को देखे तो उनको संदेह नहीं लगता कि वह उस पर हँसेगा। हँसे, उन्हें चिंता नहीं। महाकवि कालिदास की-सी ही बात कहकर भी वे उनसे रामभक्ति के कारण अपने को अलग कर लेते हैं और फिर भी कालजयी होकर जीते हुए दोनों का फल प्राप्त कर लेते हैं। बड़ी विनय के साथ उनका कथन है:

> कबित रसिक न राम-पद नेह। तिन्ह कहं सुखद हास रस एह।।
> भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हंसिबे जोग हंसे नहिं खोरी।।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों तक का लक्ष्य यह रहा कि मुख्यतः तो वे कवि ही कहे जायें, पर यदि ऐसा न हो पाये तो भी उनको, और उनके सहृदय पाठक को, हानि न हो और उनकी उक्ति को राधा-कन्हाई के सुमिरन के रूप में ही उपयोगी मान लिया जाय। "जौ तौ सुकवि रीझिहैं तौ तौ कविताई, नतरु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।" भक्त-कवि सूरदास ने तो कहीं कोई ऐसा दावा ही नहीं किया, फिर भी उनका यश दोनों रूपों में फैला और उन्हें कालजयी बना गया। कबीरदास ज्ञान की या भक्ति की बातें करते रहे और समाज-सुधार का दम भरते रहे, पर अपनी उसी सरलता में सहज ही कवि सिद्ध हो गये। तात्पर्य यह कि साहित्य के प्रयोजन एक ही समय में अनेक भी हो सकते हैं और रचनाकार तथा सहृदय दोनों को उनकी सिद्धि हो सकती है, भले ही रचयिता को एक प्रकार की और सहृदय को दूसरे प्रकार की सिद्धि हो, और एकमात्र कवि-कर्म ही प्रयोजन बना रहे तो उसमें सहज ही अन्यान्य प्रयोजन भी समाहित हो जाते हैं।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बताये गये प्रयोजनों में कुछ लौकिक हैं और कुछ आध्यात्मिक। उदाहरण के लिए, अर्थ लौकिक है और मोक्ष आध्यात्मिक या पारलौकिक 'सद्यः परनिर्वृति' भी लोक से विलक्षण ही मानी गयी है। रचनाकार की चरम सफलता अलौकिक आनंद' की परिणति में मानी गयी है। स्रष्टा का प्रयोजन है रचना-कर्म की पूर्णता तक पहुँचकर सचमुच सर्जक होने का गौरव प्राप्त करना, और उसकी सहज परिणति या उसका फल है 'अलौकिक आनंद'। एक से दूसरे की सिद्धि होती है, अतएव दोनों ही प्रयोजन में परिगणित है। 'अलौकिक आनंद' सहृदयगत प्रयोजन है और रचनाकार भी जब सहृदय की भूमिका में उपस्थित होता है तब उसे भी इसकी सिद्धि होती है। रचना करते समय सर्जक की भूमिका में वह कवि कहलाने के यश अथवा कवि-कर्म या रचना-कर्म का ही मुख्य प्रयोजन बनाकर चलता है।

### 31.9.3 पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजन

भारतीय विद्वानों के बताये हुए प्रयोजनों के साथ ही आपको विदेशी विद्वानों के मतों को जानना भी आवश्यक प्रतीत होगा। अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त इन प्रयोजन संबंधी मतों पर भी आइए संक्षेप में विचार कर लें, तब देखेंगे कि अंततः किस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

पश्चिम में कला को लेकर उठे हुए विविध वादों का प्रभाव भारतीय साहित्य-चिंतन पर भी पड़ा है। पश्चिम में काव्यादि को भी कला ही माना गया है, अतएव उन पर भी उन वादों को लागू किया जाता है, जो कला के विषय में प्रचलित होते हैं। वहाँ प्रचलित कुछ वाद या धारणाएँ इस प्रकार हैं:

1) कला कला के लिए, Art for arts sake

2) कला जीवन के लिए, Art for lifes sake
3) कला जीवन से पलायन के लिए, Art for an escape from life
4) कला जीवन में प्रवेश के लिए,
5) कला सेवा के लिए,
6) कला आत्मानुभूति के लिए,
7) कला आनंद के लिए,
8) कला मनोरंजन के लिए,
9) कला सर्जन की पूर्ति की आवश्यकता के लिए।

पश्चिम में 18वीं शती से लेकर 20वीं शती ईसवी के बीच अनेक काव्य-सिद्धांतों और वादों का जन्म हुआ। इनमें मुख्य हैं: शास्त्रवाद, स्वच्छंदतावाद कलावाद, नीतिवाद, सौष्ठववाद, मनोवैज्ञानिक और समाजवादी विचारधारा। इनमें से प्रमुख दो धारणाओं का विकास हुआ: 1) साहित्य की सौंदर्यवादी तथा आनंदवादी धारणा तथा 2) साहित्य की मानववादी तथा उपयोगितावादी धारणा। पहली धारणा का विकास उन विचारकों की ओर से हुआ जो साहित्य तथा कला के सर्जन में कल्पना को महत्व देते हुए यह मानते रहें कि कल्पना से ही सौंदर्य का और सौंदर्य से आनंद का जन्म होता है और साहित्य तथा कला में यह सौंदर्य तथा आनंद ही मुख्य हैं। इस दृष्टिकोण का विकास कलावाद के रूप में हुआ, जिसे स्वच्छंदतावादियों से विशेष बल मिला। दूसरी धारणा के अंतर्गत सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों के समावेश पर बल देते हुए साहित्य तथा कला के मानवतावादी-उपयोगितावादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया और उससे मानव-कल्याण अथवा लोक-मंगल की प्रतिष्ठा को आवश्यक माना गया। टाल्सटाय का विश्वप्रेम और विश्व-करुणा का सिद्धांत इसी मत का पोषक है और नीतिवादी तथा समाजवादी धारा का संबंध भी इसी धारणा से है। इस प्रकार, मुख्यतः दो वर्गों में ही साहित्य के उक्त प्रयोजनों को भी रखा जा सकता है। एक, वह वर्ग जो साहित्य को कला के लिए, कला जीवन से पलायन के लिए, कला आनंद के लिए, कला मनोरंजन के लिए तथा कला सर्जन की आवश्यकता के लिए को मानता है और स्वच्छंदतावाद में विश्वास रखता हुआ साहित्य तथा कला के लिए आचार तथा नैतिकता को आवश्यक नहीं मानता। दूसरा, जो साहित्य अथवा कला को जीवन की उन्नति तथा नैतिक सदाचार का पोषक मानता है और लोक-मंगल में विश्वास रखता हुआ कला जीवन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए, कला सेवा के लिए, आदि में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से अंततः साहित्य अथवा कला के दो ही प्रयोजन रह जाते हैं: 1) कला कला के लिए और 2) कला जीवन के लिए। इस बात को ध्यान में रखकर ही उक्त वादों का परिचय प्राप्त करना चाहिए।

### 1) कला कला के लिए

इस मत के पोषक वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड तथा ए.सी. ब्रैडले आदि माने जाते हैं। नीतिवादी तथा कला को जीवनोपयोगी समझने के विरुद्ध इस वाद का जन्म हुआ। सौंदर्य-जन्य आनंद को ही चरम मूल्य माननेवाले इन कलावादियों ने कला अथवा काव्य को किसी नैतिक मूल्य से बांधना अथवा कला और काव्य को जीवन के निर्माण के लिए उपयोगी मानना उचित नहीं समझा और नैतिकता आदि को उनका बहिरंग मूल्य माना। काव्य का अंतरंग मूल्य उनकी दृष्टि में कल्पनात्मक अनुभव या सौंदर्यानुभव था।

इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक आस्कर वाइल्ड ने काव्य-कला का सर्वश्रेष्ठ कला मानते हुए घोषित किया: "काव्य सदाचार अथवा दुराचार का प्रतिपादन करनेवाली कोई पुस्तक नहीं है। महत्वपूर्ण इतना ही है कि कोई रचना अच्छे ढंग से लिखी गयी है या बुरे ढंग से। कलाकार में चारित्रिक सहानुभूति की भावना अक्ष्य है। संपूर्ण कला पूर्णतः अनुपयोगी होती है। "दूसरी ओर ब्रैडले महोदय काव्य को स्वयं अपना ही साध्य मानते हुए कल्पनात्मक अनुभव को काव्य अथवा कला का प्रयोजन और आंतरिक तत्व मानते हैं। काव्य मानव-हित का विरोधी नहीं है, किंतु नैतिकता आदि को उसमें कलात्मक रूप धारणा करके ही उपस्थित होना पड़ता है। अतएव काव्य को धर्म, संस्कृति, शिक्षा, वासना-परिष्कार, धर्म, ज्ञान, उच्च आदर्श आदि की दृष्टि से न देखकर मुख्यतः उसके कलात्मक रूप को ही देखना चाहिए। अन्य सभी प्रयोजन उसके लिए गौण हैं। वे कला की कसौटी नहीं हैं। ब्रैडले की यह बात महत्वपूर्ण है अन्यथा नैतिक आदि मूल्यों के आधार पर देखें तो उन्हें प्रस्तुत

करनेवाला कोई काव्य कलात्मक न होने पर भी किसी कलात्मक काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ मान लिया जा सकता है। पर यह भी सच है कि जीवन के इन मूल्यों के बिना केवल कलात्मकता के बल पर भी कोई कृति श्रेष्ठ नहीं हो सकती, बल्कि कभी-कभी कलात्मकता की आड़ में अनैतिकता और अश्लीलता के प्रचारित हो जाने का भी भय रहता है। कला और जीवन-मूल्यों में समन्वय बना रहे और जीवन-मूल्य काव्य के माध्यम से कलात्मक रूप में ही उपस्थित हों, इसी बात को ध्यान में रखकर हमारे यहाँ ''कांतासम्मित उपदेश'' को भी प्रयोजन माना गया है।

**2) कला जीवन के लिए**

कला को जीवन के लिए उपयोगी मानकर सुंदर के साथ शिव के मेल को आवश्यक मानने के कारण इस सिद्धांत की नींव पड़ी। जीवन और कला का गहरा संबंध है और कला अथवा काव्य केवल जीवन की प्रतिच्छवि ही अंकित नहीं करता या केवल जीवन की व्याख्या ही नहीं करता बल्कि उसके सामने आदर्श उपस्थित करके उसका मार्ग-निर्देश भी करता है। मैथ्यू आर्नोल्ड, कार्लाइल, मिल्टन, एबर क्रांबी आदि इसी मत के समर्थक हैं। आर्नोल्ड ने नैतिकता के प्रति विद्रोही काव्य को स्वयं जीवन के प्रति भी उपेक्षापूर्ण बताया है। काव्य में नैतिकता न होना जीवन की उपेक्षा करना है। कार्लाइल तो कलावादी रचनाकार को मार्ग-भ्रष्ट करनेवाले खल प्राणी और उसकी रचना को असत्य का भण्डार मानता है। मिल्टन की दृष्टि में भी वही सच्ची कला है जो अपनी कलात्मकता से जन-जीवन को लोकादर्श की ओर मोड़ सके।

यह सिद्धांत काव्य या साहित्य को जीवन का प्रेरक मानता है, उससे अपेक्षा करता है कि वह जीवन में उत्साह और ऊर्जा का संचार करके निराशा और चिंता आदि से हमें मुक्त रखे। मार्क्सवाद की सामाजिक दृष्टि भी इसी सिद्धांत के अनुकूल है और टाल्सटाय का सिद्धांत भी इसी दृष्टि की उपज है।

**3) कला जीवन से पलायन के लिए**

**4) कला जीवन में प्रवेश के लिए**

उक्त दोनों वादों की आधारभूमि भी सामाजिक ही है। दोनों एक-दूसरे के विलोम-सिद्धांत के रूप में हैं, इसलिए इनका वर्णन एक साथ करना ठीक होगा।

यथार्थवादी दृष्टि जीवन के कटु यथार्थ का चित्रण करती है। ऐसे संसार से बहुत बार छुटकारा पाने की इच्छा होती है जिसमें हमें कटुता, अभाव, चिंता, बुराई, चरित्रहीनता, द्वेष आदि घेरे रहते हैं। उनसे ऊबकर अथवा उनका सामना करने से घबराकर मनुष्य नहीं अन्यत्र सुख और आनंद या विश्राम की खोज करता या करना चाहता है। साहित्यकार इसके लिए अपने साहित्य का सहारा ढूंढता है और उसमें ऐसे कल्पित चरित्रों, घटनाओं और परिणामों की योजना करता है जो उसे और उसके पाठक को किसी कल्पनालोक में ले जाकर उनके मन को थोड़ी देर के लिए इस संसार के दुःखों से मुक्त-सा कर देते हैं और उसके मन को उससे अपूर्व शांति का अनुभव होता है। कल्पना और आदर्श का मिश्रण करके वे जीवन के सुखद और सुंदर चित्र अंकित करते हैं। पाठक अपने वास्तविक जीवन में जिन बातों की पूर्ति नहीं कर पाता, साहित्य के माध्यम से उसे उनकी उपलब्धि थोड़ी देर के लिए हो जाती है। उसकी कल्पना भी इस जीवन से हटकर किसी कल्पित आदर्शलोक का सुख अनुभव करने लगती है। संघर्षमय और वास्तविक जीवन से इस तरह हटकर किसी कल्पित आदर्शलोक में ही सुख की खोज करना जीवन से पलायन करना कहलाता है और इस दिशा में ले जानेवाले साहित्य को पलायनवादी कहते हैं। जो लोग आदर्श को सदा पलायन ही मानते हैं और इससे जीवन-संघर्ष और कर्म में प्रवृत्ति होने में विश्वास नहीं करते, वे उससे मिलनेवाली उस शक्ति और ऊर्जा तथा जीवन-परिष्कार की संभावनाओं को अनदेखी करते हैं जो 'रामचरितमानस' जैसे ग्रंथों से मिलती है और उन्हें भी पलायनवादी मान लेते हैं। वस्तुतः अच्छाई और बुराई के बीच से उभरते किसी आदर्श चरित्र का ऐसा अंकन करना जो अंततः बुराई पर विजय पाता हो, पलायनवादी होना नहीं है। केवल सुखात्मक, सुंदर और आनंददायक लोक की कल्पना करना अथवा ऐसे चरित्र खड़े करना जिनमें कहीं कोई कमी या बुराई दिखायी ही न देती हो, ही पलायनवादी साहित्यकार और साहित्य का लक्षण है। इसके विपरीत जो साहित्य हमें जीवन में शक्ति देता है, जिससे जीवन की ओर प्रवृत्ति होती है वह जीवन में प्रवेश के लिए है, ऐसा कहा जा सकता है। पलायनवादी साहित्य व्यक्तिनिष्ठ हो सकता है, जबकि दूसरे प्रकार का साहित्य समाजनिष्ठ होता है।

### 5) कला सेवा के लिए

सामाजिकता को किसी देश-काल-वर्ग आदि की सीमा में न बांधकर जब लेखक मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाकर संपूर्ण मानव-समाज की सेवा को एक नैतिक और धार्मिक उत्तरदायित्व की तरह अंगीकार कर लेता है और उसी के प्रचार के लिए साहित्य की रचना करने लगता है तब वह कला को सेवा के लिए प्रयोज्य बना रहा होता है। ऐसा साहित्यकार मानव-सेवा के किसी-न-किसी सिद्धांत की धारणा लेकर चलता है, जैसे टाल्सटाय चलते थे। वे उस अति उदार ईसाई दृष्टिकोण के समर्थक थे जो मानता है कि किसी ने यदि आपके एक गाल पर थप्पड़ मारा है तो आप दूसरा गाल भी उसके सामने कर दें और कहें कि इस पर भी मारिए। उसका प्रतिरोध न करें, आत्मरक्षा या संघर्ष का प्रयत्न न करें। इससे दूसरे व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन होगा और मानवता का प्रसार होगा। परंतु जीवन के यथार्थ में ऐसे आदर्श ठहर नहीं पाते और मनुष्य को इस सद्भाव को स्वीकार करते हुए भी बार-बार उस भूमिका को ग्रहण करना पड़ता है जहाँ वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सके और आत्मरक्षा तथा आत्मोन्नति के उपाय काम में ला सके। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने टाल्सटाय के इस प्रकार के मत को एकांगी इसीलिए बताया है।

### 6) कला आत्मानुभूति के लिए

साहित्य हो या कला का कोई अन्य भेद, रचनाकार की अपनी अनुभूति पर ही आश्रित है। वह जो अनुभव करता है और जिसे अपने मन में रचा-बसा कर भाव तथा भावना का रूप देता है, वह उसकी अभिव्यक्ति भी करना चाहता है या कभी-कभी वह अनुभूति इतनी गहरी, घनी और तीव्र होती है कि वह उसकी अभिव्यक्ति साहित्य या किसी अन्य कला के माध्यम से किये बिना नहीं रह पाता। ऐसा करके वह एक प्रकार से अपने मन की ही गहरी परतें खोल रहा होता है और अपने-आप को ही जानने का या आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न कर रहा होता है। स्वाभाविक है कि चूंकि उसकी अनुभूति समाज से ही आयी है, अतएव वह आत्मानुभूति को व्यक्त करते हुए भी उसे समाज-सापेक्ष रीति से ही व्यक्त करता है। उसकी अनुभूति पूरे समाज की प्रतिनिधि होती है। पर कभी-कभी वह नितांत वैयक्तिक भी हो सकती है। कभी-कभी रचयिता समाज की चिंता से मुक्त रहकर केवल निजीपन में विभोर रहता है। इस प्रकार की आत्मानुभूति गीतों में व्यक्त होती है। हमारे यहाँ के छायावादी और पश्चिम के स्वच्छंदतावादी जिस आत्मानुभूति को स्वीकार करके चले वह काव्य की स्वतः स्फूर्ति और कल्पना पर बल देती है। एक प्रकार से यह रचना पर किसी बाहरी दबाव और किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर की गयी तैयारी की स्वीकृति का विरोध करती है और रचनाकार को इस बात की स्वतंत्रता देती है कि उसने जब जो कुछ संसार में अनुभव किया है और उसका प्रभाव उसके मन पर छा गया तथा स्मृति बनकर अवशिष्ट रह गया है, वही जब किसी क्षण में आवेग के साथ बाहर आ जाता है तो रचना रूप धारण कर लेती है। इसी में रचना की सार्थकता है, या उसका इतना ही प्रयोजन है। इससे रचनाकार को भी आनंद का अनुभव होता है और पाठक भी उस अनुभूति में रमण करके आनंद-लाभ करता है।

### 7) कला आनंद के लिए अथवा कला मनोरंजन के लिए

काव्य अथवा साहित्य का मुख्य प्रयोजन प्राचीन आचार्यों ने हमारे यहाँ भी आनंद की प्राप्ति माना था। पश्चिम में भी यह धारणा प्रचलित है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने काव्य में वर्णित विभावादि को लौकिक कारण-कार्य आदि से भिन्न मान कर काव्य से प्राप्त होनेवाले आनंद को भी विलक्षण आनंद माना था। उसे उन्होंने 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा अर्थात् काव्य से मिलनेवाला आनंद योगियों आदि को ब्रह्म की अनुभूति से प्राप्त होनेवाले आनंद का सहोदर या सगा भाई जैसा है। वह एकदम ब्रह्मानंद तो नहीं है, पर गुण तथा तत्व में वैसा ही है। दूसरे, अलंकार को ही काव्य में साध्य मानने वाले कुछ आचार्य ऐसे भी हुए जिन्होंने शब्द-चातुरी और शब्द-चमत्कार पर ही बल दिया और उनसे किसी भाव या रस की पुष्टि पर ध्यान नहीं दिया। इनके लिए काव्य मनोरंजन की वस्तु बन गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन चमत्कारवादियों की खूब खबर ली है।

भारतीय आचार्यों को मान्य आनंद-प्राप्ति के समान ही पश्चिम में भी इस धारणा का पोषण करने वाले अनेक विद्वान् हुए हैं। अरस्तू उनमें सर्वप्रमुख हैं जो काव्य ही नहीं कला-मात्र का प्रयोजन विशुद्ध और उदात्त भावात्मक आनंद को मानते हैं। वहाँ के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसां का मत भी उनके इस मत से मिलता-जुलता है। अरस्तू इस अनुभूतिक्षण

को स्वतः पूर्ण उल्लास की वह अवस्था मानते हैं जो परमानंद का आदर्श-क्षेत्र है। अरस्तू के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने इस आनंदविधान को कभी प्लेजर, कभी जोय, कभी डिलाइट और कभी हैपीनेस या सुप्रीम हैपीनस की संज्ञा दी। इन शब्दों में से प्लेजर में मनोरंजन का भाव भी वर्तमान है। वस्तुतः मनोरंजन आनंद की अपेक्षा कुछ हल्का पड़ता है, जिसमें कौतूहल या चमत्कार की सृष्टि होती है। भारतीय आचार्य काव्य को कलाओं से भिन्न मानते थे, अतएव उन्होंने कलाओं का प्रयोजन तो मनोरंजन को स्वीकार किया है, परंतु काव्य का प्रयोजन ब्रह्मानंद सहोदर-रूप आनंद को ही माना है। पश्चिम में काव्य की गणना भी कलाओं में होने के कारण मनोरंजन और आनंद दोनों की काव्य के संदर्भ में भी स्वीकृति हुई है।

**9) कला सर्जन की पूर्ति की आवश्यकता के लिए**

पश्चिम में कला तथा काव्य की सर्जन-प्रक्रिया की खोज बड़े जोर-शोर से की गयी है। मनोविज्ञान का भी इसमें विशेष योगदान रहा है। उसी प्रक्रिया में यह भी माना जाता है कि कलाकार में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा विशेष रचनात्मक शक्ति होती है। वह जो कुछ अनुभव करता है उसे नये-नये रूपों में ढालने, दूसरों से अलग अपनी विशेषता को किसी न किसी नयी वस्तु का निर्माण करके प्रदर्शित करने की उसमें बलवती इच्छा होती है। वह सृष्टि किये बिना रह ही नहीं सकता। अन्य व्यक्ति जैसे अपनी शक्ति किसी दूसरे कामों में लगाते हैं, उसी प्रकार कलाकार कला की सृष्टि में अपनी शक्ति को लगाता है। वह उसकी एक आंतरिक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति किये बिना वह रह ही नहीं सकता। इस प्रकार उसे एक अनिवार्यता मानने के कारण इसके आधार पर कला कला के लिए सिद्धांत को भी स्वीकृति और पोषण मिलता है। क्योंकि यदि कला सर्जन की पूर्ति की आवश्यकता है ही तो वह पूरी की ही जायगी और उसी में उसका प्रयोजन पूरा हो जायगा। अतएव कला का कला के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

पाश्चात्य जगत में प्रचलित इन वादों को हम मुख्यतः तीन वर्गों में रख सकते हैं। कला जीवन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए तथा कला सेवा के लिए का संबंध वस्तुतः जीवन से है जो लोकपक्ष को अथवा हितवादी दृष्टि को लेकर समष्टि के कल्याण की भावना का पोषक है और शिवं की आराधना करता है। कला जीवन से पलायन के लिए, कला आनंद या मनोरंजन के लिए तथा कला कला के लिए सिद्धांत का पक्ष आनंद का व्यक्ति निष्ठ पक्ष है। दूसरे शब्दों में यह सुंदरं की आधारभूमि है। और तीसरा पक्ष है सत्यं का जिसके अंतर्गत आत्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार के लिए तथा सर्जन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, सिद्धांत आते हैं। रचनाकार अपने अनुभव से जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, जो सत्य उसकी अनुभूति बनकर अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे विवश कर देता है, इन दोनों सिद्धांतों में उसी को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज के सत्यं शिवं की सुंदर सृष्टि है साहित्य। अथवा साहित्य का प्रयोजन है सत्यं शिवं सुंदरं की समन्वित आराधना करना।

## 31.10 समाहार

अब तक यह स्पष्ट हो चुका होगा कि साहित्य के प्रयोजनों की देश-काल भेद से लम्बी तालिका बनाई जा सकती है। उसे रचनाकार और सहृदय की दृष्टि से कुछ सीमा तक बांटा भी जा सकता है और कुछ प्रयोजन ऐसे हैं जिन्हें दोनों से संबंधित होने के कारण एक तीसरी श्रेणी अर्थात् 'उभयगत' के अंतर्गत भी रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रयोजनों के प्रति तीन प्रकार की दृष्टियाँ हो सकती हैं, जो कला या साहित्य को व्यक्ति, समाज और कला की दृष्टि से सत्यं, शिवं, सुंदरं से जोड़ती है। सत्य और शिव दोनों ही लोकहितकारी हैं। इस प्रकार दो ही मुख्य प्रयोजन रह जाते हैं: लोकहित या लोकमंगल और सौंदर्य। हित का पक्ष तो साहित्य की शाब्दिक व्युत्पत्ति से भी समर्थित है। सौंदर्य का पक्ष आनंद को ही चरम प्रयोजन स्वीकार करता है। इसलिए दो ही प्रयोजन मुख्य रह जाते हैं: 1) लोक कल्याण और 2) सौंदर्य-जनित आनंद। लोकोपदेश, लोक-व्यवहार, हित अथवा कांता-सम्मित उपदेश, धर्म, अमंगल-विनाश को लोक-कल्याण का ही पक्ष मानना उचित है। यह समाजगत है। दूसरी ओर आनंद या सौंदर्य की धारणा व्यक्तिगत पक्ष से संबंधित है जिसके अंतर्गत अर्थ, काम, मोक्ष, यश, आयुष्य, बुद्धिवर्धन, प्रीति, कला-विचक्षणता का समावेश हो जाता है। वैसे कला-विचक्षणता, प्रीति और काम ही इनमें मुख्य हैं। शेष

कथित प्रयोजन अन्य साधनों से भी प्राप्त या सिद्ध हो सकते हैं और उनको प्रयोजन मानकर चलना कभी-कभी कला को हानि भी पहुँचा सकता है। जैसे, साहित्य या कला यदि अर्थ-प्राप्ति के लिए ही निर्मित हो तो अत्यंत लोभवश अथवा आश्रयदाता की इच्छा को ही अनुसरणीय मानने के कारण अधिक उत्पादन और प्रचारात्मक हो जाने पर उसका स्तर गिर सकता है। काम भी असंयमित होकर साहित्य को अधोगामी बना सकता है। यों आनंद भी निरपेक्ष स्थिति में जब लोक-कल्याण से विरहित होकर उपस्थित होता है तो जीवन के लिए उपयोगी नहीं रह जाता और मनोरंजन के समान ही विलास की चीज़ बन जाता है।

आनंद के साथ लोककल्याण को ध्यान में रखकर ही साहित्य की श्रेष्ठता और महानता में अंतर किया जाता है। रचना की महानता इस बात में है कि उसमें उक्त दोनों पक्षों का समन्वय हो, एक-साथ दोनों प्रयोजन उससे सिद्ध होते हों। किंतु श्रेष्ठ रचना वह है जिसमें लोक-कल्याण की भावना प्रमुख हो। सूरदास तथा गोस्वामी तुलसीदास की रचना इसीलिए महान रचनाएँ मानी जाती हैं, क्योंकि उनमें दोनों प्रयोजनों की सिद्धि की क्षमता है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में सूरदास की रचना गोस्वामी जी की रचना की तुलना में फिर भी लोकरंजनात्मक ही है, जबकि गोस्वामी जी की रचना 'रामचरितमानस' लोकरक्षात्मक है। इसीलिए वे गोस्वामी जी की रचना को श्रेष्ठ भी मानते हैं।

भारतीय आचार्यों का एक पक्ष जो आनंद को ही शीर्षस्थ या मौलिभूत प्रयोजन मानता है, लोक-कल्याण को भी आनंद में ही समेट लेता है। यह पक्ष आनंद को इसलिए मानता है कि वह साहित्य से सात्विकता और मनोविकारों के परिष्कार तथा उनकी उदात्तता की सिद्धि में विश्वास करता है। रस-सिद्धांत को मानने वाले आचार्यों ने काव्य के श्रवण अथवा दर्शन से सहृदय के चित्त में उठी हुई भावनाओं का रजोगुण तथा तमोगुण से मुक्त होकर सात्विक प्राप्त करने और राग-द्वेष से रहित अवस्था में वर्ण्य-विषय में तल्लीन होने की स्थिति को विश्रांतिकारण और आनंदमय बताया है। उनकी दृष्टि में उच्च और परिष्कृत मानवीय संवेदनाओं अथवा उदात्त भावनाओं का आनंद ही वास्तविक आनंद है, जो अपनी प्रकृति में लोक से विलक्षण है। अतएव आनंद के ही अंतर्गत वे लोक-कल्याण, विश्व-बंधुत्व और विश्व-प्रेम आदि को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार आनंद से ही लोक-कल्याण की भी सिद्धि होने से वही अर्थात् आनंद ही एकमात्र प्रयोजन रह जाता है। आनंद के बिना लोक-कल्याण नीरस है और अन्य साधनों से प्राप्त हो सकता है और लोक-कल्याण के बिना आनंद मात्र विलास बनकर रह जाता है।

## 31.11 सारांश

इस पाठ में आपने दो बातें पढ़ी हैं: 1) साहित्य की परिभाषा और 2) साहित्य का प्रयोजन। परिभाषा प्रस्तुत करने के कई आधार भी आपने जाने। ये आधार हैं: व्युत्पत्ति, सामान्य व्यवहार, तत्व-विवेचन तथा उद्देश्य या प्रयोजन। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी या विदेशी विद्वानों की ओर से दी गयी परिभाषाओं पर भी आपने ध्यान दिया और अंत में साहित्य की एक सुसंगत परिभाषा से भी आपका परिचय हुआ। प्रयोजन के विवेचन में आपने काव्यशास्त्रीय शब्दावली में 'हेतु' और 'प्रयोजन' का अंतर समझ लिया है। संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के विद्वानों के बताये प्रयोजनों को प्रधान और गौण, व्यक्तिनिष्ठ और समाजनिष्ठ, सर्जकगत, सहृदयगत और उभयगत आदि भेदों में किस प्रकार बाँटा जा सकता है, इसे भी आपने समझ लिया है। इस सब अध्ययन से आपने अनुभव किया होगा कि व्युत्पत्ति के आधार पर साहित्य की जो विशेषताएँ दिखाई देती हैं, उसके प्रयोजनों का समाहार भी उन्हीं को लेकर हुआ है।

आइए, बहुत संक्षेप में पूर्व-विवेचित मुख्य बातों को स्मरण कर लें:

साहित्य में शब्द तथा अर्थ का सहित नाम आवश्यक है। 'सहित' शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ हैं और इसी कारण उसके कई अर्थ हैं। इसी शब्द से भावपरक तथा कर्मपरक, दो प्रकार के अर्थों में, 'साहित्य' शब्द को ग्रहण किया जाता है। व्युत्पत्ति से साहित्य शब्द की दो प्रकार की विशेषताएँ भी सामने आती हैं। एक, रूपगत अथवा अंतरंग और दूसरे, प्रयोजनपरक अथवा बहिरंग। अंतरंग विशेषता के अनुसार साहित्य में शब्दार्थ की स्थिति, उसके धारण और पोषण का संकेत मिलता है और बहिरंग के अंतर्गत संप्रेषण, भावोत्तेजन, आनंद-दान और मंगल-विधान का समावेश है।

व्युत्पत्ति के अतिरिक्त लोक-व्यवहार में मान्य अर्थ में भी साहित्य के स्वरूप का ज्ञान होता है। भारत में 'वाङ्मय' तथा अंग्रेजी में लिटरेचर' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। परंतु पारिभाषिक या विशिष्ट अर्थ में 'साहित्य' इन दोनों शब्दों का पर्याय मात्र नहीं है, बल्कि संकुचित या सीमित रहकर काव्य तथा उसी के समान गद्य तथा पद्यमयी सर्जनात्मक और ललित रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता है। मुख्यतः इस शब्द का प्रयोग पहले भाषा तथा लिपिबद्ध रचनाओं के लिए होता था, पर आधुनिक काल में पश्चिम में मौखिक परंपरा में प्रचलित ऐसी रचनाओं आदि को भी साहित्य के अंतर्गत ही स्वीकार किया जाने लगा। उसे 'लोक-साहित्य' की संज्ञा दी जाती है।

साहित्य में शब्द तथा अर्थ का सहित भाव क्यों माना गया जबकि इस शब्द में इन दोनों शब्दों का योग नहीं है? इसके लिए भारतीय आचार्यों की काव्य-परिभाषाओं को ही उत्तरदायी माना जा सकता है। आरंभ में इस प्रकार की रचनाओं के लिए, चाहे वे गद्य में हो या पद्य में अथवा गद्य-पद्यमय हों या संवादमय, 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। 'साहित्य' शब्द बाद में प्रचलित हुआ। काव्य का लक्षण-निर्देश करते हुए आचार्यों ने शब्द तथा अर्थ के सहित होने का अर्थ खोलने का प्रयत्न किया। आचार्य कुंतक इनमें सर्वाधिक सफल रहे। उन्होंने काव्य में शब्द तथा अर्थ की परस्पर अन्यूनता तथा अनतिरिक्तता पर बल देकर दोनों को परस्पर-स्पर्धी ही नहीं बताया काव्य के लक्षण में उस आनंददायी तत्व को भी सहृदयहृदयाल्हाद के रूप में अनिवार्य बताया जिसका संकेत साहित्य शब्द की व्युत्पति से भी मिलता था। उन्हीं के बताये हुए अर्थ में साहित्य शब्द का ग्रहण होने लगा तथा उसमें शब्द तथा अर्थ का सामंजस्य स्वीकार कर लिया गया। हिंदी के विद्वानों ने आधुनिक काल में पश्चिम के प्रभाववश साहित्य की अनेक नयी परिभाषाएँ समय और प्रसंग के अनुसार की, जिनमें उनका ध्यान प्रयोजनपरकता पर ही अधिक टिका रहा। इससे साहित्य के बहुत से नये प्रयोजन भी सामने आये। पश्चिम में विवेचित काव्य-तत्वों के आधार पर भी साहित्य की परिभाषा करना संभव है। वे परिभाषाएँ भी मूल व्युत्पतिपरक अर्थों के समीप बैठती हैं, क्योंकि उनमें भी भाषा-शैली अर्थात् शब्दार्थ संयोग तथा रस और भाव की अभिव्यक्ति अर्थात् संप्रेषण और आनंद के समावेश की संभावनाएँ बनी हैं। पश्चिमी विद्वानों की परिभाषाओं के कारण साहित्य की प्रयोजनपरक दृष्टि ही पनपी, किंतु उनका समाहार व्युत्पति तथा तत्वपरक अर्थों में बहुत कुछ हो जाता है।

इस पाठ का दूसरा भाग साहित्य के प्रयोजन में संबंधित है। 'हेतु' और 'प्रयोजन', दोनों अलग हैं। 'हेतु' प्रेरक कारण हैं और 'प्रयोजन' रचना के उद्देश्य, फल या परिणाम की ओर इंगित करते हैं। 'प्रयोजन' में फल की इच्छा का योग रहता है। ये तीन प्रकार के होते हैं: रचयितागत, सहृदयगत और उभयगत। संस्कृत आचार्यों ने चतुर्वर्ग से लेकर आनंद तक अनेक लौकिक और अलौकिक प्रयोजन बताये हैं। आचार्य मम्मट-वर्णित प्रयोजन सर्वाधिक मान्य और प्रचलित हुए। हिंदी में आधुनिक काल में आकर काव्य के आधारभूत सिद्धांतों के परिवर्तन के साथ साथ पुराने प्रयोजनों में से कुछ छूट गये और कुछ नये जुड़ गये। ऐसा विश्लेषण, धार्मिक विश्वास की कमी और बौद्धिकता की ओर झुकाव के कारण हुआ। वैज्ञानिकता और विदेशी चिंतन का प्रभाव भी इसके लिए उत्तरदायी है। प्रयोजनों की स्वीकृति के पीछे दोनों दृष्टियाँ कार्य करती रहीं: वैयक्तिक भी और सामाजिक भी। मुख्यतः सामाजिक दृष्टि का बोलबाला रहा। पश्चिम में काव्य को भी कला ही माना गया है, अतएव कला के विषय में जो वाद प्रचलित हुए उनमें दो मुख्य दृष्टियाँ पनपी। 1) कला की निरपेक्ष सत्तावादी वैयक्तिक आनंदवादी दृष्टि और 2) कला की जीवन सापेक्ष सामाजिक और लोकहितवादी दृष्टि। इनके अंतर्गत आनेवाले मुख्यतः नौ वाद हैं, जिनकी धारणाओं को सौंदर्य-जनित आनंद और लोक-कल्याण में जोड़कर भारतीय शिवं सुंदरं सत्यं के अंतर्गत लाया जा सकता है। भारतीय दृष्टि से लोक-कल्याण और आनंद, दोनों के समन्वय से काव्य या साहित्य महान् बनता है। काव्यत्व की कसौटी सौंदर्य है और श्रेष्ठत्व की कसौटी लोक-कल्याण। वस्तुतः भारतीय दृष्टि से आनंद की जो उदात्त कल्पना की गयी है, उसे देखते हुए लोक-कल्याण भी आनंद में ही समाहित माना जायेगा। भारतीय आचार्यों ने इसीलिए अन्य प्रयोजनों को गौण मानते हुए आनंद को ही सफलप्रयोजनमौलिभूत माना है। पर आनंद शब्द का कभी-कभी हल्का और विनोद अथवा मनोरंजनपरक अर्थ ले लिया जाता है, वैसा मानने पर काव्य या साहित्य के केवल विलास की सामग्री रह जाने का भय उत्पन्न होता है। इसलिए उक्त दोनों प्रयोजनों को मानना अथवा आनंद के व्यापक रूप पर ही ध्यान रखकर उसे श्रेष्ठ प्रयोजन मानना उचित है। इसका अर्थ यह है कि अन्य प्रयोजन भी धारणा का प्रयोजन होते हैं, वे या तो उन्हीं में सम्बन्धित हैं या यदि उन्हें अलग से माना जाये

तो वे इनकी अपेक्षा गौण मात्र हैं । इन दोनों प्रयोजनों की मान्यता साहित्य के व्युत्पतिपरक अर्थ के अनुकूल भी है।

**बोध प्रश्न 3**

1) नीचे लिखे वाक्यों में से एक सही है और शेष गलत हैं। सही वाक्य पर (√) चिह्न लगाइये :

   i) साहित्य के प्रयोजन या तो रचयितागत होते हैं या उभयगत।

   ii) समाज ही साहित्य के प्रयोजनों को निश्चित करता है।

   iii) साहित्य के तीन प्रकार के प्रयोजन होते हैं। एक वे जिनका संबंध रचनाकार से होता है, दूसरे, वे जिनका केवल सहृदय से संबंध होता है और तीसरे, वे जिनका दोनों से संबंध होता है।

   iv) साहित्य के प्रयोजनों का सीधा संबंध कलात्मकता से है।

2) नीचे 'कांतासम्मित उपदेश' को प्रयोजन मानने के कारण दिये गये हैं। उनमें से जो एक कारण पूर्णतया सही है उसके सामने सही का (√) चिह्न लगाइये :

   i) मधुर होने के कारण सहजग्राह्य होता है।

   ii) हितकारक होता है।

   iii) समर्पण भाव और मधुरता से मिश्रित यह उपदेश भी होता है, इसलिए यह काव्य के स्वरूप के अधिक अनुकूल है।

   iv) मम्मट की यह एक मौलिक देन है।

3) 'कला कला के लिए' वाद के पोषकों के एक से अधिक नाम नीचे दिये गये हैं। सही व्यक्तियों के नामों पर (√) चिह्न अंकित कीजिए :

   i) आचार्य भामह

   ii) वाल्टर पेटर

   iii) कार्लाइल

   iv) ए.सी. ब्रैडले

4) 'कला जीवन के लिए' प्रयोजन के समान जीवन तथा समाज से संबंधित अन्य प्रयोजनों को नीचे लिखे में से चिन्हित कीजिए:

   i) कला मनोरंजन के लिए।

   ii) लोकोपदेश के लिए।

   iii) सेवा के लिए

   iv) जीवन से पलायन के लिए।

   v) सर्जनात्मक आवश्यकता के लिए।

**अभ्यास 1**

1) आचार्य भामह के बताये हुए प्रयोजनों को लगभग तीन पाक्तयों में लिखिए और उन्हें प्रयोजनों के प्रकार-भेद के अनुकूल वर्गीकृत कीजिए।

.....

.....

.....

2) साहित्य के वे कौन से प्रयोजन हो सकते हैं जो इस शब्द की व्युत्पत्ति के अर्थ का भी द्योतन करा सकें और अधिकांश प्रयोजनों को अपने में समाहित कर लें? पाँच-छह पंक्तियों में कारण लिखिए।

.....

.....

3) आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को किसने प्रयोजन माना है और उसका अर्थ क्या है। पाँच-छह पंक्तियों में लिखिए।

4) साहित्य के प्रयोजनों में मानवतावादी दृष्टि को किस विचारक ने अपनाया है? भारतीय तथा पश्चिमी प्रयोजनों में से कौन-कौन से प्रयोजन उसके मेल में हैं? कम से कम पन्द्रह पंक्तियों में समझाइये :

5) साहित्य की रचना का क्या प्रयोजन है? भारतीय तथा पश्चिमी दोनों दृष्टियों से बताइये और उनकी तुलना कीजिए। लगभग पच्चीस पंक्तियों में लिखिए :

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6) पाँच पंक्तियों में बताइये कि साहित्य के श्रवण–अध्ययन आदि से सहृदय या सामाजिक को क्या लाभ होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

## 31.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आपकी सहायता के लिए नीचे कुछ उपयोगी पुस्तकों के नाम दिये जा रहे हैं। उन्हें पाठ पढ़ने के बाद पढ़िए। याद रखिए किसी एक ही पुस्तक में सब बातें इतने विस्तार से नहीं भी मिल सकतीं, अतएव एक से अधिक पुस्तकें पढ़िए और उन्हें पढ़कर फिर से पाठ को पढ़िए, ताकि भिन्न शब्दावली में और कभी-कभी भिन्न क्रम से लिखी गयी बातों को ठीक से समझ सकें :

1) **काव्यशास्त्र**–डा. भगीरथ मिश्र, प्रका. विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी।

2) **काव्यशास्त्र की रूपरेखा**–डा. रामदत्त भारद्वाज, प्रका. सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।

3) **भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांत**–डा. कृष्णदेव शर्मा, प्रका. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

4) **समीक्षा सिद्धांत**–डा. रामप्रकाश प्रका. आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली।

5) **काव्यशास्त्र**–डा. कृष्णदत्त अवस्थी तथा प्रो. यतींद्रनाथ तिवारी, प्रकाशन प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर।

6) **हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा**–डॉ. शिवनाथ पाण्डेय; के.एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।

## 31.13 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) √
   ii) ×
   iii) ×
   iv) √
   v) √

2) क) 'हितने सह–सहितम्–तस्य भावः साहित्यम्' अथवा सह + हित।

   ख) स + हित ← स + हि + क्त←स + धा+क्त। 'धार' जोड़ना, रखना, स्थापित करना।

   ग) सहित+यञ=साहित्य। 'सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम्'।

3) विशिष्ट तथा पारिभाषिक अर्थ को त्यागकर जब शब्द-विशेष का प्रयोग विस्तृत अर्थों में किया जाने लगता है जिससे उस शब्द से अभिप्रेत वस्तु की विशेषता की अलग पहचान नहीं रह पाती और अन्य बहुत सी वस्तुओं का बोध भी उसी से होने लगता है, तब शब्द 'व्यापक' अर्थ ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत बहुत सी वस्तुओं के बीच से जब किसी वस्तु-विशेष के लिए ही किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है और उससे किसी दूसरी वस्तु का बोध नहीं होता, तब शब्द-विशेष का प्रयोग 'संकुचित', 'सीमित' या 'पारिभाषिक' अर्थ में हुआ माना जाता है। उदा 'साहित्य', शब्द अपने विशिष्ट, संकुचित या पारिभाषिक अर्थ में काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध, आदि रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता है, किंतु कभी-कभी 'वाङ्मय' अथवा अंग्रेजी 'लिटरेचर' शब्द के समानांतर उसका प्रयोग विज्ञापन के पर्चे, सूचीपत्र, औषध-सूची आदि तक के लिए भी हाने लगता है। यह उसका व्यापक रूप में प्रयोग होता है।

4) 'साहित्य' के समानार्थी संस्कृत शब्द हैं: काव्य और वाङ्मय तथा अंग्रेजी का शब्द है 'लिटरेचर'। आरंभ में काव्य ही प्रचलित था और पद्य अथवा गद्य में रचित श्रव्य या दृश्य, सभी रचनाएं काव्य कहलाती थीं। इन्हीं के लिए बाद में राजशेखर ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग किया। 'काव्य' की परिभाषा करते हुए भामह आदि ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर उसमें शब्द तथा अर्थ के सहित होने को ही उसकी विशेषता और पहचान बताया। यहीं से 'सहित' शब्द का आधार ग्रहण करके राजशेखर ने 'शब्दार्थियोः यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' कहकर साहित्य में काव्य की विशेषता को ही आरोपित कर दिया। 'वाङ्मय' शब्द संस्कृत में वाणी अर्थात् शब्द तथा अर्थ के व्यापार के लिए पहले से ही प्रचलित था। किंतु उसके अंतर्गत काव्य, शास्त्र तथा वेदोपनिषद् आदि सब ग्रहण किये जाते थे। अंग्रेज़ी 'लिटरेचर' शब्द का अर्थ भी वर्णमय रचना है, अतएव उसका भी 'वाङ्मय' के समान व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया, किंतु साथ ही काव्यादि के अर्थ में उसका 'संकुचित' प्रयोग भी रूढ़ हो गया।

5) i) रूपपरक
   ii) नहीं है
   iii) नहीं

**बोध प्रश्न 2**

1) i) ×
   ii) √
   iii) √
   iv) ×
   v) √

2 i) राजशेखर
ii) कुंतक
iii) महावीरप्रसाद द्विवेदी
iv) श्यामसुंदर दास
v) मैथ्यू आर्नाल्ड

3) चार
i) भाव तत्व
ii) बुद्धि तत्व
iii) कल्पना तत्व तथा
iv) शैली तत्व

4) i) मानव मास्तिक की उर्वरता
ii) मानव के ज्ञान की वृद्धि
iii) निराशा और निर्बल जाति में साहस और शक्ति का संचार
iv) उदात्त और भव्य भावों की अभिव्यक्ति
v) चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण
vi) जाति, देश तथा काल की विशेषताओं की रक्षा करते हुए भी सार्वकालिक, सार्वजातिक और सार्वदेशिक होना
vii) नवीन विचारों और नूतन तथ्यों की आत्मसात् करके विकसित होना
viii) आनंद-दान करके दिल की भूख मिटाना।

5) "घ" गलत है।

6) "क" तथा "ख" सही हैं।

**बोध प्रश्न 3**

1) iii) सही है।
2) iii) सही है।
3) वाल्टर पेटर और ए.सी. ब्रैडले।
4) ii) तथा iii) है।

**अभ्यास 1**

1) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला-निपुणता, प्रीति और कीर्ति। रचयितागत—कीर्ति, सहृदयगत—कला-निपुणता तथा प्रीति, उभयगत—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष।

2) लोक-कल्याण और आनंद। व्यक्ति और समाज ऐसी दो इकाइयां हैं जिनसे सभी प्रकार के कार्य-व्यापारों का संबंध है। 'साहित्य' भी उन्हीं से संबंधित है, अतएव उसके प्रयोजन भी इन्हीं दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। लोक-कल्याण में चतुर्वर्ग-प्राप्ति से लेकर हितकारक या जीवन और मानवता के लिए माने जाने वाले तथा आनंद के अंतर्गत कीर्ति से लेकर व्यक्ति के लिए सुखदायी अथवा उसकी स्वतंत्रता के विधायक सब प्रयोजन आ सकते हैं। आनंद के उदास रूप में तो लोक-कल्याण भी समाहित, हो जाता है।

3) जयशंकर प्रसाद ने।

आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का अर्थ है कि रचनाकार व्यक्ति रूप में रचनाकार जीवन से अनुभव ग्रहण करता हुआ उनमें निहित मूल सत्य तक पहुंचता है। यह सत्य कल्याणकर होता है। काव्य में इसी सत्य को प्रिय या चारु अथवा सुंदर बनाकर प्रस्तुत किया जाता है।कलाकार अपनी आत्मा की मनन-शक्ति से शास्त्र या विज्ञान में किये जानेवाले तर्क-वितर्क के बिना ही इस सत्य को नीरस ज्ञान के रूप में अनुभव न करके सहसा उसकी चारूता या सुन्दरता की अनुभूति करता हैं और कला या काव्यादि के रूप में उसे अभिव्यक्ति दर्शाना या अनुभूति ही करना चित्र है

विदेशियों में टाल्सटाय ने तथा भारतीयों में रवींद्रनाथ ठाकुर तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी दृष्टि को अपनाया है।

भारतीय आचार्यों ने साहित्य को हितकारी मानकर उसी में लोकमंगल के अंतर्गत मानवतावादी दृष्टि का कुछ परिचय दिया है। टाल्सटाय का मानवतावाद या रवींद्रनाथ और हजारीप्रसाद द्विवेदी का विश्व-बंधुत्व, विश्वप्रेम तथा मनुष्य की श्रेष्ठता की स्वीकृति और मनुष्य-मात्र के संवेदन का विस्तार करके समत्व भावना को जागृत करना केवल हित या लोक-मंगल से भिन्न है। टाल्सटाय का मानवतावाद सेवा-भाव और समर्पण पर बल देता है। रवींद्रनाथ का विश्व-बंधुत्व तथा विश्वप्रेम हमारे यहां के 'वसुधैव कुटुंबकम्' सिद्धांत के मेल में है और द्विवेदी जी को मान्य समत्व भावना पर उसी का प्रभाव है, पर यह धारणा हमारे यहां दर्शन के क्षेत्र में रही है, साहित्य के प्रयोजनों में इसका इस रूप में उल्लेख नहीं हुआ। मनुष्य की श्रेष्ठता का उल्लेख भी ऐसा ही है। आधुनिक काल में प्रचलित मानववाद का ही एक रूप मार्क्सवादी चिंतन है जिसके परिणाम-स्वरूप साहित्य में प्रगतिवादी धारा का आरंभ और प्रचलन हुआ। पर इस धारा में वर्ग-हीनता और समत्व के भाव तक पहुंचने के लिए जिस क्रांति और वर्ग-विशेष के हित को ही प्रमुख माना जाता है, उसके कारण यह धारा भी टाल्सटाय औ रवींद्र नाथ द्विवेदी जी की धारणाओं से कुछ भिन्न पड़ती है। "कला जीवन के लिए" का उपयोग भी मानवतावाद के पक्ष में किया जा सकता है।

साहित्य की रचना के अनेक प्रयोजन हैं। भारतीय आचार्यों ने जीवन के जो लक्ष्य माने हैं, साहित्य के प्रयोजनों में उनकी भी गणना की है। समय के साथ जैसे-जैसे चिंतन बदलता गया साहित्य के लक्ष्य या प्रयोजनों में भी परिवर्तन आता गया। पश्चिम में कला के अनेक वादों का प्रचलन हुआ जिससे वहाँ प्रयोजनों में अंतर आया। भारत में जीवन की सापेक्षता में विचार करते हुए लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों के समन्वय का प्रयत्न किया गया और एक आचार्य ने एक साथ दोनों प्रकार के प्रयोजन बताये। पश्चिम में जीवन की सापेक्षता के साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य और जीवन-निरपेक्षता के आधार पर भी कला के प्रयोजन बताये गये। वहाँ अधिक ध्यान रचनाकार के प्रयोजनों पर रहा जबकि भारत में उसके अतिरिक्त सहृदय का भी निरंतर ध्यान रखा गया। आरंभ में भरतमुनि ने लोकहित को ध्यान में रखकर नाट्य के प्रयोजनों में दुःखी श्रमित और शोक से आर्त जनों को विश्रांति देने को इंकार किया और उसके साथ धर्म, यश, आयुष्य, हित, बुद्धिवर्द्धन तथा लोकोपदेश को भी सम्मिलित कर लिया। बाद में भामह आदि ने धर्म के साथ अर्थ, काम तथा मोक्ष को मिलाकर पूरे चतुर्वर्ग को समेट लिया और कला-निपुणता, अलौकिक आनंद या प्रीति विपत्ति या अमंगल का विनाश आदि को भी जोड़ लिया। आचार्य मम्मट ने इन सबके समाहार परिष्कार की दृष्टि से एक संतुलित तालिका उपस्थित की जिसमें यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, शिवेतर-क्षति, सद्यःपरनिर्वृत्ति अथवा अलौकिक आनंद तथा कांता-सम्मित उपदेश की ही स्वीकृति दी। आधुनिक काल में हिंदी के विद्वानों में मनोरंजन, स्वानाभूति या आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानवतावादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया। इन पर विशेषतः पश्चिम के कला संबंधी वादों का प्रभाव रहा, जिनमें या तो जीवन-सापेक्षता में कला को जीवन के लिए उसकी व्याख्या या आलोचना के लिए, सेवा के लिए जैसे प्रयोजन सामने आये या जीवन-निरपेक्षता और व्यक्ति-स्वातंत्र्य को ध्यान में रखकर कला जीवन से पलायन के लिए, आनंद के लिए, मनोरंजन के लिए जैसे प्रयोजन प्रस्तुत किये गये। वस्तुतः लोकमंगल तथा आनंद, दो ही प्रयोजन मुख्य हैं, शेष गौण हैं। भारतीय दृष्टि से तो आनंद ही सर्वोपरि है। उसी में हित और सौंदर्य भी समाहित हैं।

साहित्य के श्रवण या अध्ययन से सहृदय को अनेक लाभ होते हैं, जिन्हें प्रयोजन नाम से जाना जाता है। हित-साधन, बुद्धिवर्द्धन, उपदेश-ग्रहण, व्यवहार-ज्ञान, कलाओं में निपुणता, शिवेतर-क्षति, अलौकिक आनंद, विवेक की जागृति, आत्मा की तेजोदीप्तता, अस्मिता की रक्षा, समत्व भावना का विकास, समाजिकता और मानवतावादी दृष्टि का विकास मुख्य प्रयोजन हैं जिनकी सिद्धि सहृदय को होती है।

# इकाई 32 रस का अर्थ, उसके विभिन्न अंग एवं काव्य में महत्व

**इकाई की रूपरेखा**

32.0 उद्देश्य
32.1 प्रस्तावना
32.2 रस का अर्थ, स्वरूप तथा लक्षण
32.3 रस लक्षण की व्याख्या और रस-निष्पत्ति
32.4 रस के भावादि अंग अथवा तत्व
32.4.1 विभाव
32.4.2 अनुभाव
32.4.3 संचारी भाव
32.4.4 स्थायी भाव
32.5 संचारी भावों के संबंधों पर आधारित स्थितियाँ
32.5.1 भावोदय
32.5.2 भावसन्धि
32.5.3 भावशबलता
32.5.4 भावशान्ति
32.5.5 भावाभास
32.5.6 रसाभास
32.6 रस-संख्या अथवा रस के भेद (लक्षण उदाहरण एवं भेदोपभेद)
32.6.1 श्रृंगार रस (संयोग एवं वियोग)
32.6.2 हास्य रस
32.6.3 करुण रस
32.6.4 रौद्र रस
32.6.5 वीर रस
32.6.6 भयानक रस
32.6.7 वीभत्स रस
32.6.8 अद्भुत रस
32.6.9 शान्त रस
32.6.10 वात्सल्य रस
32.6.11 भक्ति रस
32.7 रस मैत्री एवं रस-विरोध
32.8 काव्य में रस का महत्व
32.9 सारांश
32.10 शब्दावली
32.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
32.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 32.0 उद्देश्य

**यह इकाई काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण विषय "रस" के विवेचन-विश्लेषण से सम्बद्ध है। रस को साहित्य का प्रमुख अंग माना जाता है। अतः रस संबंधी इस इकाई के अध्ययन से आप–**

- रस के अर्थ,स्वरूप तथा लक्षण को स्पष्ट कर सकेंगे,
- रस-लक्षण की व्याख्या करते हुए रस निष्पत्ति को समझा सकेंगे,
- रस के भावावि अेगों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- संचारी भावों के संबंधों पर आधारित भायोदय, भावसंधि आदि स्थितियों की समीक्षा कर सकेंगे,
- रस संख्या बताते हुए रस के सभी भेदों के लक्षण-उदाहरण बता सकेंगे,

- रस-मैत्री एवं रस-विरोध पर विचार कर सकेंगे, तथा
- काव्य में रस की भूमिका एवं उसके महत्व को समझा सकेंगे।

## 32.1 प्रस्तावना

रस-भावना का आरंभ आनन्द की अनुभूति से माना जाता है। इसीलिए परमात्मा को सत्कर्म माना जाता है और वह रस है। उसी की प्राप्ति पर जीवत्मा आनन्दमय होता है। परमात्मा रस रूप ही है और वही आनन्द प्रदान करने वाला है। यही कारण है कि काव्यरस को भी "ब्रहमास्वाद सहोदर" कहा जाता है। परमात्मा के लिए तो कहा भी गया है--"रसो वै स:"।

जीवन में भी रसत्व और नीरसत्व की चर्चा बराबर होती रहती है। मनुष्य को जीवन में अनेक विषय और पदार्थ प्रिय हैं। उन पदार्थों की प्राप्ति मनुष्य को आन्नद प्रदान करती हैं। किन्तु वह आनन्द अस्थायी रहता है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति के कुछ क्षण ही हर्षदायक होते हैं। स्थिति और परिस्थति बदलने पर मानव नये अभीष्ट की अभिलाषा करने लगता है। पर यह भी सत्य है कि ऐसा सांसारिक आनन्द व्यक्तिगत सीमाओं से बंधा है। इसीलिए एक व्यक्ति के लिए आनन्दप्रद वस्तु अन्य व्यक्तियों के लिए भी आनन्दप्रद ही हो यह आवश्यक नहीं। जबकि काव्यानन्द सर्वजनीन, सार्वकालिक एवं शाश्वत सत्य है। मंच पर अभिनीत राम-वनवास, लक्ष्मण-मूर्छा, श्रवण-मृत्यु, कृष्ण की माखन-लीला आदि दृश्य सभी दर्शकों को समान रूप से आत्म-विभोर करते हैं। राष्ट्रकवि की ओजपूर्ण कविताएँ तथा हास्य-कवियों की गुदगुदाती फुलझड़ियाँ हर वर्ग और हर कोटि के श्रोताओं को आनन्दित करती हैं।

अत: जिस प्रकार जीवन को जीवंत बनाने के लिए रस की अनिवार्यता निर्विवाद है, उसी प्रकार काव्य या साहित्य को भी आह्लादकारी बनाने के लिए रस की अपार महत्ता है। यह "रस" रूपी आह्लादकारी अलौकिक (लोकोत्तर) आनन्द काव्य-शरीर में आत्म-तत्व बनकर विराजित होता है। इसलिए लोकोत्तर आनन्द विहीन रचना को काव्य नहीं माना जाता। भारतीय काव्य शासत्र की एक लम्बी परम्परा है। इसमें आदि आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक अनेक आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने रस को काव्य के मूलभूत तत्व में रूप में स्वीकारा और स्थापित किया है। संस्कृत आचार्यों में भरत, अभिनवगुप्त, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ और हिंदी के आचार्यों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय तथा डॉ. नगेन्द्र आदि ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अलंकार रीति ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि में से सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग (तत्व) रस को ही माना।

इसी कारण साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन का विवेचन करने क बाद हम इस खंड में सर्वप्रथम "रस" जैसे अत्यंत महत्वपूर्ण काव्यांग का विवेचन-विश्लेषण कर रहे हैं। यह इस खंड की दूसरी इकाई है। इसके बाद की दो इकाइयों में आप शब्द शक्तियों की तथा बिम्ब, प्रतीक एवं कल्पना की विस्तृत समीक्षा कर सकेंगे। इस इकाई में रस के अर्थ, स्वरूप, लक्षण भावादि अंग तथा विभिन्न स्थितियों के साथ-साथ रस-संख्या और उनके लक्षण-उदाहरणों का विश्लेषण भी कर सकेंगे। रस-मैत्री एवं रस-विरोध की व्याख्या करते हुए काव्य में रस की महत्ता को भी स्थापित कर सकेंगे। तो आइये, सर्वप्रथम रस के अर्थ स्वरूप एवं लक्षण पर विचार करें।

## 32.2 रस का अर्थ, स्वरूप तथा लक्षण

"रस" शब्द रस्+अच् के योग से बना है जिसका कोशगत अर्थ है: सार (इक्षु रस, कुसुमरस आदि), जल, अम्ल, मधुर, कटु आदि छह रस, रसायन, विष, दूध, अमृत, स्वाद, पारद, आनन्द आदि। काव्यशास्त्रीय अर्थ में "रस" का प्रयोग उस "आनन्द" के अर्थ में होता है जो काव्य श्रवण या नाट्य दर्शन से आविर्भूत होता है। यह अनिर्वचनीय तथा लोकोत्तर आनन्द होता है। इसीलिए "रस" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा भी गया है–**"रस्यते आस्वाद्यते इति रस:।"** अर्थात् जिसमे आस्वाद मिले वही रस है। इसी प्रकार

तैत्तिरीयोपनिषद् में रस को ब्रह्मानन्द का पर्याय (समानार्थी) भी कहा गया है "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।" अर्थात् जिस प्रकार एक ब्रह्मयोगा साधक को साधना के चरम बिन्दु पर पहुँच कर होने वाली आत्मानन्द की अनुभूति अनिवर्चनीय एवं आलौकिक है, उसी प्रकार काव्यास्वाद अथवा काव्यानन्द भी लोकोत्तर एवं "गूंगे के गुड़" की भांति केवल अनुभूति का विषय है।

**स्वरूप तथा लक्षण:**

साहित्यदर्पण कार (आचार्य विश्वनाथ) ने रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे अखण्ड, स्वयंप्रकाश, आनन्दस्वरूप, चिन्मय, वैद्यान्तर स्पर्श शून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा है–

सत्वोद्रेकादखण्ड स्व प्रकाशनन्द चिन्मयः ।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः ।।
लोकोत्तर चमत्मकार प्राणः कैश्चित् प्रभातृभिः ।
स्वाकारवद भिन्नत्रेनायमास्वाद्यते रसः ।।

अर्थात् सत्व के प्राबल्य से सहृदयों को जिस रस का आस्वाद मिलता है वह रस "**अखण्डरूप**" है। विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से निष्पन्न होने वाले इन रसांगों का पृथक्-पृथक् अनुभव असंभव है। क्योंकि ये तीनों परस्पर संवलित होकर ही रसरूप में आते हैं और तभी आनन्दात्मक अनुभूति प्रदान करते हैं। अतः रसास्वाद **अखण्ड** है।

रस "**स्वयंप्रकाश**" है अर्थात् उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य किसी तत्व की आवश्यकता नहीं। रस "**चिन्मय**" है से तात्पर्य है कि वह सचेतन और प्राणवान आनन्द है, जड़ नहीं। रस "**वेद्यान्तरस्पर्शशून्य**" है, अर्थात् जिस समय रस-रूप आनन्द की अनुभूति होती है उस समय किसी अन्य प्रकार के ज्ञान का स्पर्श या दखल नहीं होता। रस में हम पूरी,तरह से डूब जाते हैं। रस "**ब्रह्मास्वादसहोदर**" है का अर्थ है, ब्रह्मानन्द की कोटि का है, किन्तु ब्रह्मानन्द नहीं है। ब्रह्म से तदाकार करने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, वैसा ही है, पर वह नहीं है। "**लोकोत्तरचमत्कारप्राण**" एवं "**आनन्दमय**" है, अर्थात् रस लौकिक या भौतिक आनन्द नहीं अपितु अलौकिक असाधारण अथवा इस लोक से परे या ऊपर का आनन्द है। वह बाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त आनन्द से पूर्णतः भिन्न है। यहीं "**चमत्कारपूर्ण**" आह्लाद है। अर्थात्, यही चित्र का विस्तार या मनोविकास है। यही चमत्कार रस रूप अनुभव का प्राण-तत्व है। और इसका केवल आस्वाद ही किया जा सकता है। इसलिए कहा जाता है– "**आस्वाद्यत्वात् रसः**"।

अतः आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस ज्ञान द्वारा ग्राह्य या प्राप्य नहीं वह तो अनुभूति से ही प्राप्त है। अतः रस और विभावादि समूह में कार्यकारण संबंध नहीं। ये तो परस्पर अभिन्न तथा पूर्णतः अनुभवगम्य है। रस प्रतीति के बाद की स्थिति है अतः वह "नित्य" वस्तु भी नहीं। रस प्रत्यक्ष या परोक्ष की वस्तु भी नहीं। अतः वह तो केवल अनिर्वचनीय तत्व है।

अब इसे कविता या साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सहज रूप में देखें तो कहेंगे कि "सहृदय" पाठक, श्रोता (या दर्शक) जब किसी पुस्तक, हृदय, चलचित्र, नाटक या मंचन आदि को पढ़ने, सुनने या देखने के बाद अनायास ही यह कह उठता है कि–"स्वाद आ गया" अथवा "रस आ गया" तो उसका तात्पर्य उस पुस्तक, नाटक, दृश्य, चलचित्र या मंचित घटना से उपलब्ध होने वाले "आस्वाद" से ही होता है। वह उस आस्वाद को अनुभव (महसूस) तो करता है किन्तु वाणी द्वारा यथावत् वर्णन नहीं कर सकता (या पाता) कि उसने क्या कैसा और कितना अनुभव किया है? यही अनिर्वचनीय तृप्ति काव्यानन्द या "रस" कहलाती है। इसीलिए इसे "गूंगे के गुड़" की भांति केवल अनुभूति का विषय कहा या माना जाता है।

## 32.3 रस लक्षण की व्याख्या और रस-निष्पत्ति

भारतीय-काव्यशास्त्र में रस पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने वाले अनेक आचार्य हुए हैं। उनमें सर्वप्रमुख एवं सबसे पुराने आचार्य भरत-मुनि माने जाते हैं। आदि आचार्य भरत मुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रंथ में दृश्य-काव्य (नाटक) संबंधी सिद्धांत निर्धारित करते हुए कहा है कि—नाटक को देखने से जो आनन्द मिलता है उसे ही "रस" कहते हैं। काव्य के पठन-श्रवण में भी उसी प्रकार का रस प्राप्त होता है। आचार्य भरत मुनि ने रस के संदर्भ जो सूत्र (परिभाषा) प्रस्तुत किया बाद के आचार्यों ने उसे ही घुमा-फिराकर अपने शब्दों में प्रस्तुत किया। आज भी रस-संबंधी विचारों में आचार्य भरत का मत ही अधिक प्रामाणिक एवं मान्य है। रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने रस-लक्षण इस प्रकार दिया है—

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगा द्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात्, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। उल्लेखनीय है कि भरत मुनि ने "विभाव", "अनुभव" और "व्यभिचारी भाव" के अतिरिक्त "स्थायीभाव" का भी पृथक् रूप से उल्लेख किया है। अतः सम्पूर्ण रूप से रस-व्याख्या को दृष्टि में रखते हुए उनका कहना या मानना है कि "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से उद्‌बद्ध होने वाले स्थायीभाव को रस कहते हैं।"

आचार्य भरत मुनि के इस रस-सूत्र में दो महत्वपूर्ण तथा विचारणीय शब्द आए हैं—"संयोग" एवं "निष्पत्ति"। इन दोनों शब्दों पर बहुत शास्त्रार्थ हुआ। बहुत से शास्त्रविद् आचार्यों ने इन शब्दों को व्याख्यायित या विश्लेषित करने का प्रसाय किया। यों यह एक इतर समस्या या प्रश्न है परन्तु अत्यंत संक्षिप्त रूप में हम यह भी जान लें कि इन दो शब्दों को लेकर जो विचारविमर्श हुआ, उससे क्या सार प्राप्त हुआ। दरअसल भरत मुनि के इस रस-सूत्र से कुछ प्रश्न उठे, जिनमें कहा गया कि—विभाव, अनुभाव और संचारीभाव का "संयोग" किसके साथ और किस रूप में होता है? "निष्पत्तिः" से क्या तात्पर्य है? तथा रस की यह निष्पत्ति किसमें—काव्य में, पात्रों में, अभिनय करने वाले अनुकर्त्ताओं में, श्रोता, पाठक या दर्शक आदि सहृदय सामाजिक में या अन्य किसी में होती है। इन प्रश्नों की विस्तृत विवेचना करने वाले चार प्रमुख आचार्य हैं—भट्टलोल्लट, आचार्य, शंकुक, भूटटनायक तथा अभिनवगुप्त। यों इन चारों के मत-मतांतरों की अति विस्तृत समीक्षा की जा सकती है किन्तु यहाँ हम संक्षेप तथा सारांश में इनके विवेचन-विश्लेषण को प्रस्तुत कर रहे हैं—

### भूटलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत मुनि के रस-लक्षण के संदर्भ में कहा कि "निष्पत्ति" का अर्थ है "उत्पत्ति"। उनका कहना है कि रस की उत्पत्ति काव्य में वर्णित दुष्यन्त, लक्ष्मण, सीता, हरिशचन्द्र, शकुन्तला या राम आदि पात्रों में होती है। जब उस मूल काव्य को अनुकर्त्तागण अभिनय रूप में प्रस्तुत करते हैं तो हम इन अनुकर्त्ताओं (अभिनेताओं) में मूल पात्रों (राम, सीता, दुष्यन्त आदि) का "आरोप" कर लेते हैं। अर्थात्: उन अभिनेताओं को ही मूल पात्र मान लेते हैं। मूल पात्रों के व्यापार तथा अनुभूतियों कीअभिनेताओं के व्यापार एवं अनुभूतियाँ बन जाती हैं। अतएव रस की स्थिति उन्हीं मूल पात्रों में होती है। आचार्य लोल्लट ने "संयोग" की व्याख्या करते हुए माना कि "संयोग" का अभिप्राय उत्पाद्य-उत्पादक-संबंध से है। अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव रस के उत्पादक है तथा रस उत्पाद्य है।

### आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद

आचार्य शंकुक ने भूटटलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए "निष्पत्ति" का अर्थ "अनुमिति" माना। उनका कहना है कि जब हम किसी अनुकर्त्ता (अभिनेता) को किसी मूलपात्र राम, सीता, दुष्यन्त आदि का अनुकरण (अभिनय) करते हुए देखते हैं तो हम यह अनुमान कर लेते हैं कि वही (अनुकर्ता ही) मूल पात्र (रामादि) है। ठीक वैसे ही जैसे हम किसी चित्र में अंकित आकृतियों को देखकर कह देते हैं कि "श्रीकृष्ण गीता का उपदेश दे रहे हैं अथवा "श्री राम लक्ष्मण मूर्छा पर विलाप कर रहे हैं"। अर्थात् अनुमान द्वारा हम अनुकरण को ही वास्तविक मान लेते हैं। यही काव्य के संबंध में भी घटता है। "संयोग" से इनका तात्पर्य है—अनुमाप्य-अनमापक संबंध। अर्थात् विभाव अनुभाव और संचारी-भाव

अनुमान करने वाले अनुमापक हैं और रस अनुमानित किया जाने वाला अनुमाप्य तत्व हैं।

**भट्टनायक का भुक्तिवाद**

"आचार्य भट्टनायक ने–निष्पत्ति" का अभिप्राय "भुक्ति" अर्थात् "भोग" माना है। इनका कहना है कि रस का उपभोग वास्तव में वह "सहृदय" करता है जो काव्य का श्रवण-पाठन अथवा दर्शन आदि करता है क्योंकि मूलपात्र तो उस समय उपस्थित ही नहीं होता और अनुकर्ता का उद्देश्य केवल कला-प्रदर्शन करना होता है। काव्य का अध्येता जब भी काव्य का आस्वादन करता है तो उसका निजत्व अथवा अहंभाव उसमें खो जाता है और काव्य में वर्णित घटना या विषय से प्रभावित होकर उसका हृदय "रस" का भोग करने लगता है। इसलिए भट्टनायक "सयोंग" का अर्थ "भोज्य-भोजक-संबंध से लगाते हैं।"

**अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद**

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भुक्तिवाद को स्वीकारते हुए ही उसकी विशद व्याख्या प्रस्तुत की। "निष्पत्ति" से उनका अर्थ है–"अभिव्यक्ति"। उनका मानना है कि प्रत्येक सामाजिक में रति, हास, शोक, क्रोध उत्साह आदि स्थायी भाव संस्कारजन्य होते हैं जो विविध कारणों से अव्यक्त रहते हैं। या कहें कि दबे रहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी, भाव के संयोग से वे अव्यक्त स्थायीभाव व्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं का आनन्दानुभावं "रस" है। ठीक वैसे ही जैसे मिट्टी में गंध स्थायी है परन्तु पानी पड़ने से वह बाहर आ जाती है। अतः रस उत्पन्न अथवा अनुमानित नहीं अभिव्यक्त होता है। इसलिए आचार्य अभिनवगुप्त ने "संयोग" का अर्थ बताया–व्यंग्य-व्यंजक संबंध।

**निष्कर्षतः** आचार्य लोल्लट ने अपने विवेचन में मूल पात्रों को महत्व दिया जिनका काव्य-रचना अथवा अभिनय या पठन-श्रवण में कोई अस्तित्व ही नहीं होता। जबकि काव्य का आस्वादन करने वाले दर्शक, श्रोता या पाठक इसमें उपेक्षित हो गए। फिर किसी एक व्यक्ति "मूलपात्र" की अनुभूतियों का आरोप किसी अन्य व्यक्ति (अनुकर्त्ता) पर करना भी संगत नहीं जान पड़ता। उपयोग कोई करे और आस्वाद कोई अन्य पाए, यह भी संभव नहीं। अतः इस सिद्धांत में दोष बहुत रहे।

आचार्य शंकुक के "अनुमान" से भी वास्तविक अनुभूति नहीं मानी जा सकती। चित्रांकित आकृति का चलना, घूमना, बोलना, सोचना या करना संभव नहीं है। सोच लेने से कोई लखपति या "कंगाल" नहीं हो जाता। अतः इस सिद्धांत में भी पर्याप्त दोष है।

भट्टनायक के भुक्तिवाद में सामाजिक को महत्व दिया गया, इसीलिए पहले के दोनों सिद्धांतों की तुलना में इसे अधिक महत्व मिल सका। इसमें पहली बार रसानुभूति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गई। केवल अस्पष्टता है तो भोज्य-भोजक संबंध में। किन्तु फिर भी यह मान्यता अपेक्षाकृत अधिक संगत रही।

किन्तु अभिनवगुप्त की मान्यता को सभी सिद्धानों ने स्वीकृति प्रदान की। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से "रस-निष्पत्ति" की यही व्याख्या सर्वथा उपयुक्त मानी गई। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के "साधारणीकरण" को भी स्वीकार किया। साधारणीकरण (साधारण + च्वि + कृ + ल्युट्) का अर्थ है–सामान्यीकरण अथवा असाधारण या असामान्य को साधारण या सामान्य बना देना। अर्थात् रस-निष्पत्ति की वह स्थिति जिसमें दर्शक या पाठक अभिनय देखकर या काव्य पढ़कर उससे (अनुकर्त्ता या अभिनेता से ही नहीं, कृति एवं कृतिकार से भी) तादात्म्य स्थापित करता हुआ उसका पूरा-पूरा रसास्वादन करता है।

रस की इस व्याख्या में विभाव, अनुभाव संचारीभाव एवं स्थायीभाव जैसे कुछ पारिभाषिक शब्द भी आए हैं। अतः रस के इन भावादि अंगों (तत्वों) की विश्लेषणात्मक किन्त संक्षिप्त समीक्षा कर लेना भी यहाँ अनुचित न होगा।

**बोध प्रश्न 1**

1. नीचे कुछ कथन दिये गये हैं। इनमें कुछ सही हैं कुछ गलत। उपयुक्त चिन्ह लगाइए–



   i) काव्य शास्त्रीय अर्थ की दृष्टि से "रस" का प्रयोग उस आनन्द" के अर्थ में नहीं होता जो काव्य-श्रवण या नाट्य दर्शन से आविर्भूत होता है।

ii) आदि आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक अनेक आचार्यों ने रस को काव्य के मूलभूत तत्व के रूप में स्वीकारा है। ( )

iii) काव्यानन्द सार्वजनिक सार्वकालिक एवं शाश्वत सत्य है। ( )

iv) रस ब्रह्मानन्द की कोटि का नही स्वयं ब्रह्मानन्द है। ( )

v) स्थायीभाव भक्त विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग के उद्बुद्ध होता है तभी रस कहलाता है। ( )

2. रस क्या है? इसके स्पष्टता का मापनको लगभग दस पंक्तियों में लिखिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. आचार्य विश्वनाथ द्वारा दिए गए रस-लक्षण में रस को क्या-क्या बताया गया है? लगभग दस पंक्तियों में लिखिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. आदि आचार्य भरत मुनि के रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए उसकी व्याख्या लगभग पाँच पंक्तियों में कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

5. रस-निष्पत्ति विषयक विवेचन में अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद की समीक्षा लगभग दस पंक्तियों में कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6. उत्पत्तिवाद अनुमितिवाद एवं भक्तिवाद का अंतर लगभग दस पंक्ति में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 32.4 रस के भावादि अंग अथवा तत्व

भरत मुनि के रस-सूत्र के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि रस सामग्री में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) भाव तथा स्थायीभाव का महत्वपूर्ण स्थान है। लोक-व्यवहार में रति आदि स्थायी भावों या चित्त वृत्तियों के मनोविकारों के जो कारण, कार्य और सहकारी स्थायी होते है वे ही नाटक या काव्य में विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव कहलाते है। ये ही रस के हेतु हैं और ये सभी मूलतः "भाव" के ही विविध रूप हैं। "भाव" ही रस का उद्गम है। "रस" मूल है और इसी से सभी भाव प्रकट होते हैं। वही "भाव" पुनः रस रूप फल और बीज का आधार बनते हैं। अर्थात् जैसे बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से फूल और फल उत्पन्न होते हैं और इन्हीं फल-फूलों से पुनः बीज प्राप्त होते हैं। ठीक वैसे ही रस और भावों के साथ भी घटता है। "बीज वृक्ष-न्याय को पुष्ट करने वाले इन रस-तत्वों को भी विश्लेषित कर लें तो अनुचित न होगा।

### 32.4.1 विभाव

"विभाव" (वि+भू+घ) शब्द के पर्याय रूप में "कारण", निमित्त या "हेतु" आदि शब्द देखे जाते हैं। अतः जो निमित या कारण काव्यादि में हृदय की अनुभूतियों को तरंगित करते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। या कह सकते हैं कि "रति" आदि विशेष प्रकार के मनोविकारों (स्थायी भावों) के उत्पन्न होने में जो कारण होते या बनते हैं उन्हें "विभाव" कहा जाता है।

रति आदि स्थायी एवं व्यभिचारी भाव सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में अत्यंत सूक्ष्मता से सदैव स्थिर होते हैं। भावों को ये आस्वादन योग्य बनाते हैं अतः रस के उत्पादक (कारण) होने से इनको विभाव कहा जाता है।



किसी भी निमित्त भाव के दो पक्ष आवश्यक होते हैं–एक वह जिसके प्रति भाव प्रवृत्त होता है और दूसरा वह जिसके हृदय में भाव उत्पन्न अथवा संचारित होता है। इस दृष्टि से प्रथम

पक्ष को "आलम्बन" तथा दूसरे पक्ष को "आश्रय" कहा जाता है। इन दोनों के मध्य भाव-प्रवृत्ति के कारण को तीव्रता प्रदान करने वाले उपकरणों को "उद्दीपन" कहा जाता है। अतः विभाव के ये तीन प्रकार इस तरह से हैं–

**आलम्बनः** "आलम्बन" (आ+लम्ब्+ल्युट्) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है आधार या सहारा। जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव उत्तेजित या जाग्रत होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। जैसे, श्रृंगार-रस में रति रूप स्थायी भाव के नायक-नायिका आलम्बन होते हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन इस प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे लक्ष्मण-मूर्छा के समय राम उन्हें अपनी गोद में लिये बैठे हैं तथा सुग्रीव-हनुमान आदि शोक संतप्त हैं। ऐसे में लक्ष्मण आलम्बन हैं।

**आश्रयः** जिसमें रस जाग्रत होता है उसे काव्यशास्त्र में आश्रय कहा जाता है। अर्थात् जो आलम्बन के प्रति प्रवृत्त होता है, वही आश्रय कहलाता है। उदाहरणार्थ यदि नायिका आलम्बन है तो नायक "आश्रय" होगा और नायक आलम्बन होगा तो नायिका आश्रय होगा। ऊपर के लक्ष्मण मूर्छा वाले उदाहरण में रामादि आश्रय हैं।

**उद्दीपनः** उद्दीपन (उद्+दीप-जलाना+णिच्+ल्युट्) से तात्पर्य है बढ़ाना। ये रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करने वाले भाव हैं इसीलिए इन्हें उद्दीपन विभाव कहा जाता है। आलम्बन की चेष्टाओं को अधिक तीव्र और प्रभावशाली बनाने वाला "वातावरण" सुन्दर वेषभूषा आदि की रचना, पुष्प वाटिका, एकान्त स्थल, सुन्दर केलिकुन्ज, कोयलादि का मधुर स्वर, चन्द्रोदय तथा शीतल सभी आदि रति को उद्दीप्त करने (बढ़ाने) वाले कारण हैं। उल्लेखनीय है कि ये स्थायी भाव के उत्पादन कारण नहीं, केवल उद्दीपन हैं। परन्तु इनका उद्दीप्त होना भी अत्यंत आवश्यक है।

## 32.4.2 अनुभाव

अनुभाव (अनु+भू+णिच्+घञ्) का अर्थ है–प्रभाव, महिमा, दृढ़संकल्प या दृढ़विश्वास आदि। भावों का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली आश्रय की चेष्टाओं को अथवा स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले भावों को "अनुभाव" कहा जाता है। ये चेष्टाएँ कई बार अनजाने में, स्वतः ही हो जाती हैं जिन पर आश्रय का कोई वश नहीं चलता। तथा कुछ चेष्टाएँ शरीर वाणी अथवा वेश-विन्यास आदि से भी प्रकट होती हैं। अतः इस आधार पर अनुभाव दो प्रकार के होते हैं–सात्विक अनुभाव तथा कायिक अनुभाव।

**सात्विक अनुभावः** ये वे भाव हैं जो सत्व से स्वतः उत्पन्न होते हैं। अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से रहित मन और उस सत्व से उत्पन्न स्वतः संभूत चेष्टाएँ ही सात्विक कहलाती हैं। ये आठ प्रकार के माने जाते हैं–स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु (कंपकपाहट), वैवर्ण्य अश्रु और प्रलय आदि। जैसे हर्ष की प्रबलता या भय और शोकादि के कारण शरीर का निश्चेष्ट या स्तम्भित होना, भय या लाज से शरीर में पसीना (स्वेद) आना, भय से रोमांच होना, आवाज उखड़ना, क्रोध से कंपित होना, शोक या चिन्ता से वैवर्ण्य (रंग उड़ना) होना, अश्रु छलकना अथवा अचेकत (प्रलय) या मूर्च्छित आदि होना।

**कायिक अनुभावः** आश्रय द्वारा आलम्बन को प्रभावित करने के लिए या उससे प्रभावित होने के परिणामस्वरूप, जानबूझकर प्रयत्नपूर्वक की गई चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहा जाता है। जैसे खाने-पीने की चेष्टा करना, चिल्लाना, भागना या भौंह चढ़ाना आदि।

## 32.4.3 व्यभिचारी (संचारी) भाव

वि+अभि+चर्+घञ् अथवा सम+चर्-णिनि से बने ये शब्द समानार्थी हैं। संचारी का अर्थ है संचरण करने वाले। आलम्बन और उद्दीपन की उपस्थिति से आश्रय के हृदय में होने वाली हलचल अनेक भावों को जन्म देती है। ये भाव जल में उठते-मिटते बुलबुलों के समान होते हैं जो स्थायी नहीं रहते। एक ही स्थिति में कई भाव उभरते और मिटते हैं तथा कई भाव भिन्न परिस्थितियों में अवसरानुकूल उत्पन्न होते या विलीन होते हैं। ये ही व्यभिचारी या संचारी कहलाते हैं। ये संचारी भाव 33 माने गए हैं जो कि रस-निष्पति में सहायक सिद्ध होते हैं–अमर्ष, अपस्मृति, अवहित्था, असूया, आलस्य, आवेग, उत्सुकता, उन्माद, उग्रता, ग्लानि, गर्व, चिंता, चापल्य, जड़ता, त्रास, दैन्य, धैर्य, निद्रा, निर्वेद, मति, मद, मरण (मूर्छा) मोह, विबोध, विषाद, वितर्क, व्रीड़ा व्याधि, शंका, स्मृति, स्वप्न, श्रय और हर्ष। यों इनकी संख्या और भी अधिक हो सकती है क्योंकि संचारी भाव चित्र की

अस्थिर वृत्तियां ही हैं और चित्रवत्तियाँ असंख्य भी हो सकती हैं। परन्तु ये 33 चित्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं और बहुत सी चित्रवृत्तियों का अन्तर्भाव भी इन्हीं में हो जाता है। इनके विषय में अत्यंत विस्तार से चर्चा की जा सकती है, किन्तु यह चर्चा आपके लिए आवश्यक नहीं। अतः इतना ही जानना पर्याप्त है कि ये संचारी भाव 33 होते हैं और ये किन्हीं विशिष्ट स्थितियों में एकत्र भी होते हैं या किसी एक संचारी भाव के कारण दूसरे संचारी का प्रभाव क्षीण भी हो जाता है। कई बार किसी संचारी भाव का अभाव भी हो जाता है और परिणामतः भावोदय, भावसन्धि आदि स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनकी चर्चा हम अगले प्रसंग में करेंगे। यहाँ स्थायी भाव का विश्लेषण करना अभी शेष है। संचारी भावों के नाम याद करने की दृष्टि से आप इस पद्य को कंठस्थ कर सकते हैं–

"गर्व, ग्लानि, मति, मोह, मरण, मद, श्रम, शंका, स्वप्न, स्मृति, हर्ष।
धृति, निद्रा, निर्वेद, असूया, अपस्मार, अवहित्थ, अमर्ष।।
जाड्य, चपलता, चिन्ता, व्रीड़ा, व्याधि, विबोध, वितर्क, विषाद।
दैन्य, त्रास, आवेग, उग्रता, उत्सुकता, आलस, उन्माद।।

## 32.4.4 स्थायी भाव

स्थायी (स्था+णिनि+यक्) का अर्थ है टिकने वाला या स्थित रहने वाला। अतः जो भाव चिरकाल तक चित्र में स्थिर रहता है एवं जिसे विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से संबंध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है। उस आनन्द के मूलभूत भाव को स्थायी भाव कहा जाता है।

जल में तरंगों के समान मनुष्य के हृदय में भी अनेक भाव उदय और शांत होते रहते हैं किन्तु उनमें से कई भाव मूल रूप में सदा के लिये बने रहते हैं। उनकी स्थिति सर्वदा अक्षुण्ण रहती है। चाहे अन्य कोई भी भाव साथ ही उद्‌बुद्ध हो जाए पर उन मूल भावों में कोई अंतर नहीं आता। ये मूल भाव अन्य सभी भावों को अपने भीतर विलीन कर लेते हैं और रस की अभिव्यक्ति तक बराबर बने रहते हैं। यही वह मूल भाव है जो विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोजन से रस-रूप में परिणत भी होता है। ये मूल भाव प्रत्येक रस के पृथक होते हैं तथा सजातीय या विजातिय (उनकी चर्चा हम इकाई के अंत में रसमैत्री एवं रस विरोध में करेंगे) भावों से पराभव भी नहीं होते। संस्कृत में इसके लिए कहा भी गया है–

अविरूद्धा विरूद्धा वा यं तिरोधातुमक्ष्माः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संयतः।

साहित्यदर्पण, 3/174 आचार्य विश्वनाथ

अतः स्पष्ट है कि संचारी भावों की स्थिति क्षणिक या अस्थिर होगी और स्थायी भाव की स्थिति सदैव बनी रहती है। एक उदाहरण से और स्पष्ट हो सकेगा–"कल्पना कीजिए कि किसी भयानक तथा घहराए जंगल में हम अपनी राह से भटक गए हैं। घोर अंधेरी रात में तरह-तरह के भयावह तथा आदमखोर जानवरों की आवाजें आस-पास गूंज रही हैं। तेज शमशीर सी हवा और झूमते हुए वृक्षों से पत्तों की आवाजें हमें और भयभीत करती हैं। वृक्ष पर भय-कातर पक्षी पूरी ताकत से चहचहा रहे हैं। इस परिवेश में हमारा उत्साह भी साथ छोड़ रहा है और हम राह की तलाश में घबराए से, हैरान-परेशान भटक रहे हैं कि तभी अचानक एक सर्प सामने आकर खड़ा हो जाता है और हमारा पसीना छूटने लगता है। हम आतुर होकर दौड़ना ही चाहते हैं कि किसी झाड़ी से उलझकर वहीं गिर जाते हैं और मूर्छित हो जाते हैं।"

इस पूरे घटना-प्रसंग में शंका, आवेग, उत्साह, जड़ता, मति तथा मूर्छा आदि अनेक संचारी भावों की स्थिति से हमें गुजरना पड़ता है। कभी कोई संचारी हावी हो जाता है तो कभी कोई। बदलते भी रहते हैं परन्तु एक भाव इस पूरी घटना में ऐसा है जो विद्यमान रहता ही है। वह है "भय" यही स्थायीभाव है। यह भयानक रस का मूलभाव है।

रसों की संख्या या रस-भेद का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन हम आगे करेंगे परंतु यहाँ यह स्पष्ट रहे कि प्रत्येक रस का अपना एक स्थायी भाव होता है जो कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से निष्पन्न (अभिव्यक्त) होता है। आचार्यों ने परंपरा से नौ रसों की कल्पना करते हुए नौ स्थायी भाव माने हैं। अतः प्रत्येक रस एवं उसके स्थायीभाव को

जान लेना तो यहाँ उचित होगा ही, रसों के वर्ण (रंग) देवताओं के विषय में भी जान लेना ठीक रहेगा–

| रस | स्थायी भाव | वर्ण (रंग) | देवता |
|---|---|---|---|
| श्रृंगार | रति | श्याम | विष्णु |
| हास्य | हास | श्वेत | प्रमथ |
| रौद्र | क्रोध | रक्त | रूद्र |
| करूण | शोक | कपोत | यम |
| बीभत्स | जुगुप्सा | नील | महाकाल |
| भयानक | भय | कृष्ण | काल |
| वीर | उत्साह | गौर | महेन्द्रदेव |
| अद्‌भुत | विस्मय | पीत | ब्रहम |

आचार्य भरत मुनि ने इन आठ रसों के स्थायी भाव, वर्ण एवं देवताओं की परिकल्पना की। आगे चलकर शास्त्रचिंतकों ने "शान्त" एवं "वात्सल्य" रस की संकल्पना भी प्रस्तुत की। शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद को माना गया तथा वात्सल्य रस का स्थायीभाव स्नेह (वत्सल) को स्वीकारा गया। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने "भक्ति" रस की चर्चा करते हुए ग्यारहवें रस को स्थापना की। भक्ति का स्थायी भाव ईश्वर-विषयक-प्रेम को स्वीकारा गया।

आगे भी कुछ विद्वत बंधुओं ने "निन्दा-रस", "बुद्धि रस", और "ऊब रस" आदि की कल्पना की किन्तु इन्हें मान्यता न मिल सकी। अतः आज कुल ग्यारह रसों को सर्वसम्मति से मान्यता प्राप्त है तथा इनके स्थायी भाव इस प्रकार हैं–

**रति (श्रृंगार)**– नारी और पुरुष का एक दूसरे के प्रति "प्रेम" कहलाने वाला मनोविकार "रति" स्थायीभाव कहलाता है। रति कामदेव वह उन्मुखता है जो प्रिय वस्तु के प्रति हुआ करती है।

**हास (हास्य)**: हास मूलतः चित्त का विकास है। और यह विकास वाणी, रूप आदि की विकृतियों के दर्शन से उत्पन्न होता है। वेश-भूषा के विकास से भी यह पैदा होता है। अतः इस प्रकार के विकार अथवा चित्त को विकसित करने वाली वाणी सुनकर जब हृदय खिल उठता है तो हास स्थायीभाव कहलाता है।

**शोक (करूण)**: प्रिय मरण अथवा प्रिय-वस्तु विनाश के कारण उत्पन्न हृदय की व्याकुलता या बेचैनी जैसे मनोविकार ही "शोक" स्थायीभाव कहलाते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रिय जन के मरण से ही शोक प्रकट होता है विछोह से नहीं। विछोह से तो "रति" अभिव्यक्ति पाती है।

**क्रोध (रौद्र)**: यह मनोविकार असाधारण अपराध, विवाद तथा उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से प्रकट होता है।

**उत्साह (वीर)**: किसी सत्कार्य की सम्पन्नता के लिए पराक्रम, दान, शक्ति शौर्य, दया आदि के रूप में प्रदर्शित उमंग नामक मनोविकार "उत्साह" स्थायीभाव कहलाता है।

**भय (भयानक)**: किसी ऐसी घटना, वस्तु, जानवर या विषय को देखकर या सुनकर जिससे कोई अनिष्ट और अनर्थ होने की शंका हो, मन में जो घबराहट रूपी मनोविकार प्रकट होता है वहीं "भय" स्थायीभाव कहलाता है।

**जुगुप्सा (बीभत्स)**: यह विस्मयजनित घृणा का वह भाव है जो किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन आदि से प्रकट होता है। अर्थात् कुरूप, कल्मित, या निकृष्ट वस्तु जिसे देखकर घृणा उत्पन्न हो, वही "जुगुप्सा" स्थायी भाव को प्रकट करती है।

**विस्मय (अद्‌भुत)**: विस्मय आश्चर्य, अचरज, या अचम्भे को कहते हैं। अलौकिक या असाधारण वस्तुओं, घटनाओं, दृश्यों को देखने या सुनने से उत्पन्न लेने वाला स्थायीभाव विस्मय (अचरज) कहलाता है

**निर्वेद या शम (शान्त)**: संसार की नश्वरता और अनित्यता का जो ज्ञान होता है, उससे सांसारिक विषयों के प्रति उत्पन्न होने वाला (वैराग्य) रूपी मनोविकार "निर्वेद" स्थायीभाव कहलाता है।

**वत्सल या स्नेह (वात्सल्य)**: बच्चों के प्रति स्नेह ही वात्सल्य है। अतः अल्पायु के मासूम शिशुओं के स्वाभाविक मोहक-व्यवहार से हृदय में जो सहज स्नेह उमड़ता है वही "वत्सल" या "स्नेह" स्थायीभाव कहलाता है।

**ईश्वर-विषयक-प्रेम (भक्ति)**: भक्ति रस का स्थायी भाव ईश्वर विषयक रति को माना जाता है।

इन ग्यारह स्थायीभावों से पुष्ट होने वाले रसों का विवेचन हम आगे करेंगे। अब संचारी भावों के संबंधों पर आधारित भावोदय, भावसन्धि आदि स्थितियों की संक्षिप्त समीक्षा भी कर लें

## 32.5 संचारी भावों के संबंधों पर आधारित स्थितियाँ

विभिन्न संचारीभावों के किसी विशिष्ट स्थिति में एकत्र होने, उनमें उत्कर्ष आने या परस्पर-प्रभाव से क्षीण अथवा लोप होने जो स्थितियाँ पैदा होती हैं वे छह प्रकार की होती है। यहाँ इन पाँचों का परिचय प्रस्तुत है

### 32.5.1 भावोदय

जब एक भाव के सहसा शान्त होते ही दुसरे भाव का चमत्कारपूर्ण ढंग से उदय होता है तो "भावोदय" कहलाता है। यथा, जयचंद का यह कथन दृष्टव्य है जिसमें "विषाद" भाव की शान्ति होकर "उत्साह" भाव का उदय हो रहा है–

हाथ जोड़ बोला साश्रु नयन महीप यों-
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तेरी मैंने पाप सिंधु में,
अब खेऊंगा उसे धार में कृपाण की।।

### 32.5.2 भावसन्धि

जहाँ दो भाव साथ-साथ वर्णित हों वहाँ भावसन्धि होती है। जैसे प्रिय के बिछुड़ने के कारण "विषाद" तथा पितृ-गृह जाने के कारण "हर्ष" भाव का एक साथ वर्णन यहाँ किया गया है अतः भावसन्धि है–

पिय बिछरन को दुसह दुख हरष जात म्यौमार।
दुरयोधन लौ देखिमति, तजत प्राण इहि बार।।

### 32.5.3 भावशबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा भाव आये और से सभी समान रूप से चमत्कारपूर्ण हों, वहाँ भावशबलता होती है। राजा जनक के हृदय में क्रमशः हर्ष, व्याकुलता, भय और चिन्ता आदि भावों का चमत्कारिक संचार होने से यहाँ भावशबलता है–

बहसिहि देखि हरषै हियो राम देखि कुम्हिलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिन्त चित्र डोलाय।।

### 32.5.4 भावशान्ति

जहाँ किसी एक कारणवश उत्पन्न भाव किसी अन्य कारण से शान्त हो जाये, जहाँ भावशान्ति होती है, जैसे, लक्ष्मण मूर्छा के इस प्रसंग में हनुमान के अगमन पर राम के विलाप से उत्पन्न विषाद भाव की शान्ति हुई–

प्रभु-प्रलाप सुनि कान विकल भए बानरनिकर।
आइ गएउ हनुमान जिमि करूना यहु बीरबस।।

### 32.5.5 भावाभास

जहाँ किसी भाव की वास्तविक स्थिति न हो, उसका आभास मात्र हो। जैसे मनुष्य की छाया "मनुष्य" नहीं। उसी प्रकार भाव की छाया मात्र भाव नहीं "भावाभास" कहलाती है। इसे भाव का अनौचित्यपूर्ण वर्णन भी कह सकते हैं। इस उदाहरण में क्रोध का जो कारण दिया गया है वह न्योयोचित कारण नहीं अतः भावाभास है–

दरपन में निज छाँह संग, लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह।।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण देखिए–

प्रीति करै तू बांवरे, अनचाहत के संग।
दीपक के मन कछु नहीं, जल जल मरै पतंग।।

### 32.5.6 रसाभास

रस के अनौचित्यपूर्ण वर्णन में रसाभास पाया जाता है। जैसे सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन "अनौचित्य" कहलाता है उसी तरह धर्म, सामाजिक-व्यवस्था या लोक-मर्यादा के विरूद्ध पूज्य गुरु जनों या माता-पिता पर क्रोध करना, गुरु पत्नी या विमाता आदि के प्रति पूज्य भाव के स्थान पर प्रेम-भाव रखना, पूजनीय व्यक्ति के प्रति उपहास-भाव रखना आदि अनोचित्य पूर्ण व्यवहार कहलाते हैं। यदि साहित्य में इस प्रकार का अनुचित वर्णन किया गया हो तो वहाँ "रसाभास" होता है। यह "रसाभास" प्रत्येक रस में हो सकता है। यक्ष कवि केशव का यह उदाहरण जिनमें चन्द्रबदना तथा मृगलोचना नायिकाएँ उन्हें "बाबा" कहकर पुकारती हैं और वृद्ध केशव का परनायिका-अनुराग "श्रृंगार-रसाभास" में बदल जाता है–

केसव केसनि अस करी, बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी "बाबा" कहि-कहि जाहिं।।

इस प्रकार ये स्थितियाँ संचारी भावों के परस्पर संबंधों पर आधारित होकर उभरती हैं।

**बोध प्रश्न 2**

1. नीचे कुछ विषय दिए गए हैं। इन्हें पाँच-पाँच पंक्तियों में व्याख्यायित कीजिए–

   i) विभावः

   .....
   .....
   .....
   .....
   .....

   ii) अनुभावः

   .....
   .....
   .....
   .....
   .....

   iii) व्यभिचारी भावः

   .....

.....

.....

.....

.....

2. स्थायी भाव किसे कहते हैं तथा ये कितने माने जाते हैं? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. निम्नलिखित प्रश्नों में प्रत्येक के सामने तीन-तीन विकल्प दिए गए हैं उनमें सही विकल्प को उचित चिह्न से स्पष्ट कीजिए।

i) भट्टलोल्लट का सिद्धांत भुक्तिवाद/उत्पत्तिवाद/अनुमितिवाद था।

ii) व्यंग्य-व्यंजक, संबंध की संकल्पना शंकुक/भट्टनायक/अभिनवगुप्त ने दी।

iii) सात्विक और कायिक संचारीभाव/विभाव/अनुभाव/चेष्टाओं के सूचक हैं।

iv) रौद्र रस का स्थायीभाव उत्साह/क्रोध/भय है।

v) विस्मय करूण/हास्य/अद्भुत रस का स्थायीभाव है।

4) नीचे दिए गए स्थायीभावों की तीन-तीन पंक्तियों में व्याख्या कीजिए–

i) शोक

.....

.....

.....

ii) रति

.....

.....

.....

iii) भय

.....

.....

.....

.....

iv) निर्वेद

.....

.....

5. "भावोदय" और "भावशबलता" में क्या अंतर है? लगभग पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

'रस भाव" क्या है? उदाहरण देकर लगभग आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 32.6 रस-संख्या अथवा रस के भेद (लक्षण-उदाहरण एवं भेदोपभेद)

पहले स्थायी भावों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि मूलतः आचार्यों ने आठ स्थायी भावो की कल्पना की थीऔर फिर धीरे-धीरे वह संख्या ग्यारह हों गई। अतः उसी परिप्रेक्ष्य में टाल क्रम ग्यारह रसो का लक्षण-उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन करेंगे। ये ग्यारह रस इस प्रकार है–श्रृंगार (रनराज), हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, वत्सल, तथा भक्ति रस।

### 32.6.1 श्रृंगार रस (संयोग एवं वियोग)

सर्वत्र व्यक्ति प्रभाव के कारण साहित्याचार्यों में श्रृगार को "रसराज" की संज्ञा प्रदान की है। श्रृंगार रस का स्थायीभाव "रति है और यह सर्वाधिक प्रभावशाली होता है,। सभी प्राणियों में रति भाव मौजद रहता है। और सभी रसों में उसका सब से अधिक प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

"श्रृंगार" शब्द श्रृंग+आर के संयोग से बना है।श्रृंग का अर्थ है "कामोद्रेक" अथवा "काम की वृद्धि" तथा "आर" का अर्थ है प्राप्ति। अतः श्रृंगार का अर्थ हुआ "कामवृद्धि" की प्राप्ति।

अतः विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त होने वाला दंपति (पति-पत्नी) का रति स्थायी भाव श्रृंगार कहलाता है। श्रृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका, उद्दीपन चन्द्रज्योत्सना, चन्दन का लेप, भ्रमर-गुञ्जार आदि, अनुभाव भ्रू-भंगिमा, कटाक्ष आदि तथा उग्रता, मरण, आलस्य एवं जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारी भाव इसके पोषक होते हैं। रति इसका स्थायी भाव होता है।

दंपति के मिलन और वियोग की अवस्था में अनुभाव तथा संचारी भाव भिन्न होते हैं पर स्थायी भाव रति ही रहता है। इस आधार पर श्रृंगार रस के दो भेद होते हैं–

1. संयोग (सम्भोग) श्रृंगार
2. वियोग (विप्रलम्भ) श्रृंगार

1. **संयोग श्रृंगार:** दंपति के परस्पर दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आलिंगन या संलाप आदि द्वारा उद्बुद्ध "रति" नामक मनोविकार "संयोग श्रृंगार" कहलाता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

कंकन किंकनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सुन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहूँ कीन्ही।।
अस कहि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भये नयन चकोरा।।
भये बिलोचन चारू अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीयसोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा।।

यहाँ रामचरितामानस के पुष्पवाटिका प्रसंग में राम आश्रय हैं, सीता आलम्बन विभाव, कंकन, किंकनि और नुपूर की ध्वनि उद्दीपन विभाव हैं। निर्निमेष नेत्रों से देखना अनुभाव तथा हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से राम की सीताविषयक रति श्रृंगार रस में अभिव्यक्त हुई है।

**इसी प्रकार अन्य उदाहरण देखिए:**

i) आयो विदेस से प्राण-पिया "मतिराम" अनंद बड़ाई अलें लै।
लोगनि को मिलि आँगन बैठि धरी ही सगरो घर पेखै।
भीतर भौन के द्वार खरी सुकुमार तिया तनुकम्प बिसेखै।
घूँघट में पट-ओर किये पर ओट किये पति को मुख देखै।

–मतिराम

ii) मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि एक रात
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छायी थी ।
गमक रही थी केतकी की गन्ध चारों ओर
झिल्ली झनकार वहीं मेरे मन भायी थी ।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से
चंचला भी चमकी घनाली घहरायी थी ।
चौंक देखा मैंने चुप कोने में खड़े थे प्रिय
माई मुख लज्जा उसी छाती में छिपायी थी ।

–साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

2. **वियोग श्रृंगार:** जब नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ हो, किन्तु परस्पर मिलन न हो तब वहाँ "विप्रलम्भ" या वियोग श्रृंगार होता है। इसका स्थायी भाव भी "रति" है। प्रस्तुत है पति के परस्पर दर्शन, श्रवण, आलिंगल अथवा संलाप आदि के अभाव में उद्बुद्ध रति स्थायी भाव को पुष्ट करता वियोग-श्रृंगार का यह उदाहरण–

निसदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।
दृग अंजन लागत नहिं कबहुं उर कपोल भये कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी उर बिच बहत पनारे।।
सुरदास प्रभु अम्बु बढ़्यों हैं। गोकुल तेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं श्याम घन सुन्दर विकल होत अतिभारे।।

–सूरदास

यहाँ कृष्ण आश्रय विभाव और गोपियां आलम्बन विभाव है। वर्षा ऋतु उद्दीपन विभाव है। गोपियों का रोना, आहें भरना आदि अनुभाव है और आवेग, चिंता, विषाद, जड़ता आदि संचारी भाव है। इनके संयोग से रति की पूर्णता वियोग श्रृंगार में परिणत हुई है।

**अन्य उदाहरण देखिए**

i) पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवां हम लोग।।

ii) जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों कवित्त गुन्यों करैं।

आलम जौन से कुंजन में करी केलि जहां अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुनयो करैं।

—आलम

iii) उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि कोकिल, कीर, शिखी सब है सुन चातक की रट पीव कहाँ?
अब भी सब साज-समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि, जा पहुंचे सुधि-संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ।

—यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

दंपति का वियोग कई कारणों से हो सकता है। इस दृष्टि से वियोग (विप्रलम्भ) श्रृंगार के **चार भेद** किए गए हैं—

1. **पूर्वराग:** नायक-नायिका के रूप सौन्दर्य आदि के श्रवण या दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की वह दशा जो उनके समागम से पूर्व हुआ करती है, पूर्वराग विप्रलम्भ कहलाती है। यथा—

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने ।।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई ।।
सुमिरि सीय नारदबचन उपजी प्रीति पुनी-मीत ।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ।।

सखी के मुख से राम के रूप-सौन्दर्य को सुनकर सीता के हृदय में राम के दर्शन की अभिलाषा जाग्रत हुई है। यहाँ सीता आश्रय, राम आलम्बन, सखी मुख से राम-सौन्दर्य का वर्णन सुनना उद्दीपन विभाव तथा चकितबिलोकति आदि अनुभाव और औत्सुक्य, हर्ष, स्मृति, चपलता आदि संचारी भाव हैं। अतः यहाँ पूर्वराग विप्रलम्भ श्रृंगार है।

2. **मान:** जब दंपति में से कोई एक मान अथवा हठ वश दूसरे से रूठ बैठता है तो उस समय का वियोग "मान" कहलाता है। यथा—

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनति करती हूँ तुम से बात न बिगड़े मेरी ।
यदि वे चल आए हैं इतना तो दो पद उनको है कितना ?
क्या भारी वह, मुझको जितना पीठ उन्होंने फेरी ।

—यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त

इसमें यशोधरा आलंबल है। पीठ फेरना उद्दीपन, विनति करना आदि अनुभाव और अमर्ष आदि संचारी भाव है। इन सभी से मान विप्रलम्भ की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

3. **प्रवास:** कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रमवश नायक का देशांतर गमन "प्रवास" कहलाता है। उससे उत्पन्न वियोग को ही "प्रवास-विप्रलम्भ" कहा जाता है। यथा—

मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।
आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग
आठ पहर चौंसठी घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान ।

—साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ उर्मिला आश्रय है, प्रवासी लक्ष्मण आलम्बन है, आँखों में प्रियतम की मूर्ति उद्दीपन विभाव है। भोगों का परित्याग तथा स्वामी का ध्यान करना आनुभाव है और स्मृति, जड़ता और सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से उर्मिला का लक्ष्मण विषयक रतिभाव प्रवास विप्रलम्भ में परिणत होता है।



4. **करूण:** प्रेमी या प्रेमिका जब किसी दैवी विपत्ति के कारण वियोगावस्था में आ जाते हैं तो "करूण" विप्रलम्भ होता है। यथा—

इन दुखिया अखियांन को सुख सिरज्योई नाहिं ।
देखे बनै न देखते। बिन देखें अकुलाहिं ।।

**–बिहारी**

यहाँ नायिका मानो दैवी अभिशाप के कारण प्रियतम के दर्शन नहीं कर पाती। जब नायक सामने होता है तो उसकी आंखें ऊपर इस लिए नहीं उठतीं क्योंकि गुरुजन या परिवारजन आदि वहाँ हैं तथा जब नायक सामने नहीं होता, तब भी आंखें व्याकुल रहती हैं।

वियोग श्रृंगार के इन भेदों के अतिरिक्त विरह काल में आश्रय की स्थिति के आधार पर वियोग की दस दशाएँ भी मानी गई हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं–अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। इनमें "गुणकथन" नामक वियोगदशा वास्तव में अनुभाव है और शेष सभी दशाएँ संचारी भाव हैं।

## 32.6.2 हास्य रस

सहृदय के हृदय में स्थित "हास" नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह हास्य रस का रूप ग्रहण कर लेता है। हास्य रस के आलम्बन विभाव-विकृत आकार, वाणी, वेश-भूषा आदि हैं। उद्दीपन हैं–आलम्बन की हास्यजनक चेष्टाएँ। अनुभाव हैं–ओष्ठ, नासिका और कपोलों का स्फुरण, आँखों का मिचना आदि और संचारी भाव है– आलस्य, निद्रा, स्वप्न, तन्द्रा, असूया, प्रबोध, अश्रु, हर्ष, चपलता आदि। उदाहरण प्रस्तुत है–

हँसि हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
पाहुनी जे आईं हिमाचल के उछाह में।
कहै पद्माकर सु काहू सों कहै को कहा
जोई जहां देखैं सो हँसेई तहां राह में।
मगन भये हू हँसें नगन महेस ठाड़े,
औरो हँसैं एहू हँसै हँसी के उछाह में।
सीस पर गंगा हँसैं भुजन भुजंगा हँसैं
हाँसी ही को दंगा भयौ नंगा के विवाह में।।

**–पद्माकर**

यहाँ नग्न महादेव आलम्बन विभाव है। उनका नग्न रूप, विचित्र स्वरूप आदि उद्दीपन विभाव है, लोगों का हँस-हँस कर भागना, लोट-पोट होना आदि अनुभाव हैं, हर्ष, चपलता, उत्सुकता, आदि संचारी भाव हैं इन सभी के संयोग से "हास" स्थायी भाव "हास्य रस" में परिपक्व हुआ है।

**अन्य उदाहरण–**

i) एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ।
उसने कहा अपर कैसा? वह उड़ गया स-पर है।।
उत्तेजित हो पूछा उसने उड़ा? अरे वह कैसे ?
"फड़" से उड़ा दूसरा, बोली, उड़ा देखिए "ऐसे"।

**–नूरजहाँ, गुरू भक्तसिंह**

ii) पिल्ला लीन्हे गोद में, मोटर भई सवार ।
अली भली घूमन चलीं, किये समाज-सुधार।
किये समाज-सुधार, हवा योरूप की लागी ।
शुद्ध विदेशी चाल-ढाल सों मति अनुरागी ।।
मियां मचावें शोर करें अब तोबा-तिल्ला ।
पूत धाय के गोद, खिलावें बीवी पिल्ला ।

## 32.6.3 करूण रस

सहृदय के हृदय में स्थित "शोक" नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ संयोग हो जाता है तो वह करूण रस का रूप ले लेता है। इस रस की उत्पत्ति बन्धु विनाश आदि अनिष्ट से होती है। अतः प्रिय व्यक्ति की मृत्यु आदि इसके

आलंबन विभाव हैं। श्मशान, दाह-कर्म, प्रिय गुण स्मरण, चित्र दर्शन आदि उद्दीपन हैं। रोना, सिसकना, हा-हाकार मचाना, अश्रु बहाना आदि अनुभाव हैं। विषाद, रूदन ग्लानि अपलपार ( बेहोशी ) आदि संचारी भाव हैं।

उदाहरण देखिए

अभी भी मुकुट बंधा था माथ
हुए कल ही हल्दी के साथ ।
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल
हाय रूक गया यहीं संसार ,
बना सिन्दूर आज अंगार

-पन्त

यहाँ पति वियोग आलम्बन हैं और विधवा आश्रय। पति की वस्तु में का दर्शन, हल्दी के हाथ आदि उद्दीपन हैं। रूदन आदि अनुभाव तथा चिन्ता, विषाद आदि संचारी भाव हैं। इनसे ही शोक स्थायी भाव करूण रस में परिणत होता है।

अन्य उदाहरण

i) "हा स्वामी! कह ऊंचे रव से,
दहके सुमन्त्र मानो दव से।
अनुचर अनाथ से रोते थे,
जो 'ये अधीर सब होते थे।

—साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

ii) "झांसी की रानी" के लिए कही गयी यह उक्ति:
यहीं कहीं पर बिखर गई वह
मरन विजय-माला सी।
उसके फूल यहां संचित हैं,
है यह स्मृति-शाला सी।।

## 32.6.4 रौद्र रस

शत्रु अथवा विरोधी की अनुचित चेष्टाओं अथवा उसके द्वारा किए गए अनुचित कार्यों से उत्पन्न क्रोध का वर्णन रौद्र रस कहलाता है। मान-भंग, अपकार, गुरुजन-निन्दा आदि से भी यह प्रकट होता है। इसके स्थायी भाव "क्रोध" का जब विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचार भाव से संयोग होता है तो वह रौद्र रस का रूप ले लेता है। इसके आलम्बन हैं अपराधी अथवा शत्रु। उद्दीपन विभाव हैं शत्रु के कटु वचन, अपमान-चेष्टा, अवज्ञा, अपराध आदि। आश्रय के नेत्र लाल होना, अधर फड़फड़ाना, भौंहे तरेरना, दाँत पीसना; ओंठ चबाना आदि अनुभाव हैं। गर्व, उग्रता अमर्ष आदि संचारीभाव हैं। यथा—

श्री कृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे ।
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे ।
मुख बाल रवि सम लाल होकर काल-सा बोधित हुआ ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहां क्या काल ही क्रोधित हुआ ।

यहाँ "क्रोध" स्थायी भाव है। अर्जुन "आश्रय" है। जयद्रथ "आलंबन" है। श्रीकृष्ण के वचन उद्दीपन विभाव है। करतल युग्ल मलना, मुख बाल रवि सम लाल होना "अनुभाव" हैं। जलना, आवेग, चंचलता, उग्रता आदि संचारी भाव है।

अन्य उदाहरण

i) रे नृप बालक काल बस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम, त्रिपुरारि धनु, विदित सकल संसार।।

ii) भीम कहै प्यारी! सारी कौरवन नारिन कौं,
रिक्त बेस-भूसा मुक्त-केसा करि डारौंगों ।

चंड भुज-दंडन में प्रचंड या गदाकौं लै,
मंडल भ्रमाय सिंहनाद कै प्रचारौगो।

## 32.6.5 वीर रस

सहृदय के हृदय में स्थित "उत्साह" नामक स्थायी भाव का जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से संयोग हो जाता है तो वह वीर रस का रूप ग्रहण कर लेता है।

उत्साह की अभिव्यक्ति भी भिन्न-भिन्न रूपों में होती हैं। शत्रु का उत्कर्ष देखकर उसे युद्ध में पराजित करने का उत्साह पराक्रम के रूप में व्यक्त होता है। किसी दीन, असहाय और बेसहारा प्राणी की सहायता या सेवा करने का उत्साह दया के रूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार दान-रूप में और आस्तिकता, भक्ति आदि के उद्धार के लिए दिखाए गए उत्साह की अभिव्यक्ति धर्म के रूप में भी प्रकट होती है। उत्साह के इन्हीं आधारों को ध्यान में रखकर वीर रस के चार भेद माने गए–

1) युद्धवीर
2) दानवीर
3) दयावीर
4) धर्मवीर

वीर रस का स्थायी भाव "उत्साह" है। शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि आलम्बन विभाव है। शत्रु का पराक्रम, याचक की दीन दशा आदि उद्दीपन है। रोमाञ्च, आदर सत्कार, गर्वीली वाणी, दया के शब्द आदि अनभाव हैं तथा गर्व, धृति, स्मृति, हर्ष, उग्रता, रोमांच आदि संचारी भाव हैं।

**एक-एक उदाहरण दृष्टव्य है–**

**युद्धवीर** मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत मानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा जानो मुझे ।
है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं ।।

**–जयद्रथ वध**

**दानवीर** जो संपति सिव राकनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ।।

**दयावीर** ऐसे बेहाल बिबाइना सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये,
हाय महा दुख पायौ सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये,
देखि सुदामा की दीन दसा करूना अरिकै करूनानिधि रोये,
पानी परात कौ हाथ छुऔ नहिं नैनन के जल सों पग धोये ।

**धर्मवीर** और जे टेक धरी मन माँहि न छाँडिहौं कोऊ करौ बहुतेरौ
धाक यही है युधिष्ठिर की धन धाम तजौ पै न बोलन फेरौ,
मातृ सहोदर औ सुत नारि जु सत्य बिना तिहिं होय न बेरौ
हाथी तुरंगम औ वसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरौ।

इस अंतिम उदाहरण में युधिष्ठिर का धर्म विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी भाव है, धर्म ग्रंथों से सत्य और धर्म की महत्ता का श्रवण करना आलम्बन विभाव है। दूसरे सत्यवादी धर्मात्माओं द्वारा अपने प्रण का पालन उद्दीपन विभाव है। युधिष्ठिर के ये वाक्य अनुभाव हैं तथा गर्व, हर्ष, धृति मति आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से "उत्साह" नामक स्थायी भाव "धर्मवीर" नामक रस में परिपक्व हुआ है। इस प्रकार अन्य तीन उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।

## 32.6.6 भयानक रस

विभाव, अनुभाव और व्यक्तिवादी भावों के संयोग से अभिव्यक्त "भय" स्थायीभाव से भयानक रस की निष्पत्ति होती है। भय उत्पन्न करने वाली वस्तु या व्यक्ति को देखने-सुनने से भय की सृष्टि होती है। शेर, चीता, अजगर, बली-शत्रु भयंकर स्थान या

दृश्य आदि–इसके आलंबन हैं। हिंसक जीव की गर्जन या दहाड़, फुंकार, निर्जनता आदि उद्दीपन विभाव हैं। कंप, स्वेद, रोमांच, रूदन आदि अनुभाव हैं तथा व्यग्रता, चिन्ता, मूर्छा, त्रास, दीनता आदि इसके संचारी भाव हैं। यथा–

नभ ते झपटत बाज लखि, भूल्यों सकल प्रपंच ।
कम्पित तन व्याकुल नयन, लावक हिल्यो न रंच ।।

यहाँ पर लावक (लावा) पक्षी आश्रय है। उसके हृदय में स्थित भय रूपी स्थायी भाव उद्बुध हुआ। भय के जाग्रत होने का कारण बाज है अतः वह आलम्बन है। बाज का झपटना आलम्बन की क्रियाएँ हैं और यही उद्दीपन है। लावा पक्षी का कांपना, व्याकुल होना, स्थिर पड़े रहना आदि अनुभाव हैं। दैन्य आदि व्यभिचारी हैं। अतः भयानक रस की पूर्ण निष्पत्ति हो रही है।

**अन्य उदाहरण–**

i) एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय ।
विकल बटोही बीच ही, पर्‌यो मूरछा खाय ।

ii) लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न संभारहीं ।
छूटे बार, बसन उधारे, धूम-धुअ-अंध,
कहैं बारे बूढ़े "बारि बारि" बार-बारहीं।
हय हिहिनात भागे जात, घहराज गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं ।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
"तात तात! तौसियत, झौंसियत झारहीं ।

**–कवितावली**

## 32.6.7 वीभत्स रस

इसका स्थायी भाव "घृणा" है। श्मशान, लहू, चर्बी, हड्डी, लाश, सड़े-गले पदार्थ, दुर्गंध आदि आलंबन हैं। कीडों का बिलबिलाना, कुत्तों की छीना-झपटी, मक्खियों का भिन भिनाना, गिद्ध, कौओं का मांस नोचना चिता का धू-धू जलना आदि उद्दीपन विभाव हैं। नाक सिकोड़ना, भू-भू करना, घृणा से मुँह फेरना आदि अनुभाव हैं। जी मिचलना, बेहोशी, ग्लानि व्याधि, जड़ता और वैवर्ण्य आदि संचारी भाव हैं। अतः रुधिर, मज्जा, पीक हड्डी या अन्य गन्दी घृणित वस्तुओं को देखने से जिस रस की उत्पत्ति होती है उसे वीभत्स रस कहते हैं। यथा–

फाड़ि नखन शव आंतड़िन, रूधिर मवाद निकारि ।
लेपति अपने मुखन पै हरीत प्रेतगन नारि ।।

यहाँ पर शव आलम्बन है। अंतड़ियों को चीरना, मवाद आदि उद्दीपन हैं। आवेग संचारी भाव है।

**अन्य उदाहरण–**

i) सिर पर बैठ्यो काग, आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार, अतिहि आनंद उर धारत ।।
गीध जाँघ को खोदि खोदि के माँस उभारत ।
स्वान अंगुरिन काटि काटि कै खात विदारत ।।

ii) कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई ।
एक लगाई जाति एक ही राख बहाई ।।
बिबिध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति ।
कहुं चरबी सौं चटचटाति कहुं दह दह दहकति ।।

## 32.6.8 अद्भुत रस

किसी असाधारण, अलौकिक, आश्चर्यजनक वस्तु, घटना, या व्यक्ति को देखकर हृदय में स्थित "विस्मय" (आश्चर्य) स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है तो अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है। इसका स्थायी भाव विस्मय है। आश्चर्यजनक वस्तु, अलौकिक घटना, असामान्य दृश्य आलंबन विभाव है। विचित्रता, अदभुतता, असाधारण घटना आदि उद्दीपन हैं। हक्का-बक्का जाना, स्वर भंग होना आदि अनुभाव हैं तथा जड़ता, आवेश, शंका, चिंता, वितर्क आदि संचारी भाव हैं। यथा–

अखिल भुवन चर अचर सब हरिमुख में लखि मातु ।
चकित भई गद् गद वचन, विकसित दृग पुलकातु ।।

यहाँ माता आश्रय है। हरिमुख आलम्बन है। उसमें चर-अचर सहित सम्पूर्ण भुवनों का दर्शन उद्दीपन विभाव है। चकित होना, गदगद होना, रोमांच होना अनुभाव है तथा हर्ष, और सुक्य आदि संचारी भाव है। इन सभी के संयोग से "विस्मय" स्थायी भाव अद्भुत रस में परिणत हुआ है।

**अन्य उदाहरण–**

i) लीन्हो उखारि पहारू विसाल चल्यो तिहि काल बिलंबु न लायो ।
मारूतनंदन मारूत को, मन को, खगराज को बेगु लजायो ।

ii) अमर बेल बिनु मूल की प्रतिपालत है ताहि,
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिए काहि ।

iii) अम्बर में कुन्तल जाल देख
पद के नीचे पाताल देख
मुठ्ठी में तीनों काल देख
मेरा स्वरूप विकराल देख
सब जन्म मुझी से पाते हैं
फिर लौट मुझी में आते हैं ।

**–रश्मिरथी, दिनकर**

## 32.6.9 शान्त रस

"निर्वेद" सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति वैराग्य का सूचक है। यही शान्त रस का स्थायीभाव है। अतः निर्वेद स्थायीभाव जब तत्व ज्ञान, गुरूपदेश अथवा बहुजनहिताय आत्मचिंतन से जागृत होता है तो उस समय मनुष्य की भावनाओं में आलौकिक शान्ति का संचार होता है। इसी का वर्णन "शांत रस" कहलाता है।

निर्वेद (विरक्ति) स्थायीभाव है। सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के प्रति उदासीनता, विरक्ति, परमार्थ-चिन्तन आलम्बन विभाव है। महात्माजनों का दर्शन, उपदेश, देवालय एवं तीर्थ की यात्रा। वेदों-शास्त्रों का श्रवण मनन आदि उद्दीपन है। अश्रु बहना, रोमांच होना, गृहत्याग कर वन जाना अनुभाव है और मति, स्मरण, उद्वेग, हर्ष आदि संचारी हैं।

यथा–

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग,
हा! लोभ-मोह में लीन योग,
भूले हैं अपना अपरिणाम ।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम ।

**–यशोधरा, मैथिलीशरण गुप्त**

संसार की क्षण भंगुरता का ज्ञान यहां आलम्बन विभाव है। लोगों का लोभ और मोह में लीन होना तथा कुपरिणाम (अपरिणाम) भूलना उद्दीपन विभाव है। सिद्धार्थ द्वारा "ओ क्षणभंगुर भव राम-राम" आदि कहे गए शब्द अनुभाव हैं तथा निर्वेद, स्मृति, मति आदि संचारी भाव हैं।

अन्य उदाहरण

i) झूठे सुख को कहैं, मानत हैं मन मोट ।
जगत चबैना काल का, कछु मुख में कछु गोद।।

—कबीर

ii) हाथी न साथी, न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँ कौ नाम बिलै हैं,
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहै हैं ।
"केशव" काम कौ राम विसारत और निकाम ते काम न ऐहैं,
चेत रे चेत अजौं चित्त अन्तर अंतक लोक इकेलौ ही जैहैं ।

—केशव

## 32.6.10 वात्सल्य रस

वत्सल या वात्सल्य रस का स्थायी भाव "स्नेह" है जो माता-पिता का अपने पुत्रादि पर नैसर्गिक रूप से होता है। शिशुओं, बच्चों के मुस्कराने, तुतलाने, किलकारियाँ भरने, घुटनों के बल चलने, रूठने या मचलने आदि से आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। इसी से मनुष्य के भीतर का "स्नेह" स्थायीभाव जागृत होता है। इसके ही परिपाक को "वात्सल्य रस" कहते हैं।

"स्नेह" स्थायी भाव है तो बालक-बालिका आलम्बन है। बालक की चेष्टाएँ, तुतलाना, किलकारियाँ भरना आदि-उद्दीपन हैं। बालक को देखकर पुलकित होना, उसे चूमना, गले लगाना, गोद में लेना आदि अनुभाव हैं। हर्ष, आवेग, उन्माद, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। यथा—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरून चलत रेनु मंडित मुख दधि-लेप किये ।
चारू कपोल लोल लोचन, गोरोबन तिलक दिये ।
लट लटकनि मनो चल सधुरा गन मादक मदहि पिये ।

—सूरदास

यहाँ कृष्ण आलम्बन हैं। आश्रय विभाव यशोदा अथवा अन्य परिजन हैं। घुटनों के बल बालकृष्ण का चलना, धूल से सना शरीर, दधियुक्त मुख, लहराती लटें आदि उददीपन हैं। माता या परिजनों का सुख अनुभव करना, चूमना आदि अनुभाव हैं। उत्सुकता, गर्व, चापल्य, मोह और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

अन्य उदाहरण—

i) कबहूँ ससि भागन आदि करै, कबहू प्रतिबिंब निहारि हरैं ।
कबहूँ रूरताल पकाय के नाचत मानु. सबै मन मोद मरैं ।

ii) सुत मुख देख जसोदा कली ।
हरषिते देखि दूध की बतियां प्रेम गमन तन की सुधि भूल ।
बाहिर ते तब नन्द बुलायों देखौं धौं सुन्दन सुखदाई ।
तनक तनक सी दूध दसुलियां देसौ नैन सफल करौ आई ।

## 32.6.11 भक्ति रस

भक्ति रस की भी अब स्वतंत्र सत्ता मानी जाने लगी है। ईश्वर-विषयक रति ( प्रेम ) इसका स्थायी भाव है। ईश्वर, राम, कृष्ण, अवतार आदि आलम्बन हैं। सत्संग, समुण रूपों का सौन्दर्य, ईश्वर के अदभुत कार्य, उसके अद्वितीय गुण आदि उद्दीपन हैं। नेत्रों का विकसित होना, गदगद होना या रोमाच आदि होता अनुरूप है तथा हर्ष ,औत्सुक्य, निर्वेद, गव, आदि संचाी भाव हैं। यथा—

मैं तो साँवरे के रंग राची ।
करि सिंगार बांधि पग घूंघरन, लोकलाज तजि नाची ।
गई कमति लई साधु की संगति भरातरूप भई साँची ।
गाय-गाय हरि के गुन निपदित, काल ब्याल से बाची।

—मीरा

यहाँ मीरा आश्रय है और श्रीकृष्ण आलम्बन है। श्री कृष्ण का साँवला-सलोना रूप उद्दीपन विभाव है। नाचना, हरि के गुण गाना, भक्ति की याचना करना आदि अनुभाव है तथा मति, निर्वेद, हर्ष आद संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से मीरा का श्रीकृष्ण विषयक प्रेम "भक्ति रस में परिणत हुआ है।

**अन्य उदाहरण–**

राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर।।

## 32.7 रस-मैत्री एवं रस-विरोध

रसों की परस्पर मैत्री एवं विरोध की दृष्टि से यह देखा जाता है कि किसी काव्य या साहित्य रचना में कौन-कौन से रस एक साथ आ सकते हैं और किन रसों का एक साथ आना अनुचित है। यथा, वीरकाव्य में रौद्र, वीर, वीभत्स, एवं भयानक आदि अनेक रसों का एक साथ समावेश भी हो सकता है। कृष्ण संबंधी काव्य में वत्सल,श्रृंगार, अद्भुत एवं हास्य आदि रसों का समन्वय भी संभव है। किन्तु श्रृंगार रस के साथ शान्त या करूण रस का आना अनुपयुक्त माना जाता है। अतः इस आधार पर रस-संबंधों की जो स्थिति विचारी गई है, वह इस प्रकार है–

**रस-मैत्री–** वीर, अद्भुत एवं रौद्र रस परस्पर मित्र माने जाते हैं। इसी प्रकार श्रृंगार और अद्भुत, भयानक और वीभत्स तथा हास्य और श्रृंगार में भी परस्पर मित्रता स्वीकारी जाती है। इन परस्पर मित्रता वाले रसों की एक साथ अवस्थिति उचित मानी गई है।

**रस-विरोधः** विरोधी रसों के जो समुच्चय कहते हैं. वे इस प्रकार हैं–

i) श्रृंगार रस के विरोधी रस : करूण, रौद्र वीर, वीभत्स।
ii) हास्य रस के विरोधी रस : करूण और भयानक ।
iii) करूण रस के विरोधी रस : हास्य और श्रृंगार ;
iv) रौद्र रस के विरोधी रस : श्रृंगार और भयानक ।
v) वीर रस के विरोधी रस : भयानक और शान्त ।
vi) शान्त रस के विरोधी रस : श्रृंगार, वीर, रौद्र, शान्त और हास्य ।
vii) वीभत्स रस के विरोधी रस : श्रृंगार रस ।
viii) भयानक रस के विरोधी रस : वीर, हास्य, शान्त, श्रृंगार और रौद्र ।

इसी प्रकार इस विरोध को आलम्बन-विरोध, आश्रय-विरोध, तथा नैरन्तर्य विरोध के रूप में भी देखा जा सकता है।

## 32.8 काव्य में रस का महत्व

वाल्मीकि रामायण से ही यह प्रगट सत्य है कि काव्य का ही नहीं महाकाव्य का प्रतिपाद्य भी रस ही है। बाद के आचार्यों ने भी इस सार्वभौमिक सत्य को स्वीकारा तथा काव्य-शरीर की कल्पना करते हुए अलंकार, छन्द शब्दशक्ति, बिम्ब, प्रतीक, रीति, वक्रोक्ति एवं औचित्य आदि को काव्य शरीर के बाह्य अंग माना तथा रस-ध्वनि को "काव्य-आत्मा स्वीकार किया। यहाँ तक भी कहा गया कि रसयुक्त रचना ही काव्य है। जिस रचना को पढ़-सुन अथवा अभिनीत-रूप में देखकर हमारा हृदय तन्मय हो जाता है, हम आत्म-विभोर होकर अपना "अपनत्व" भूल जाते हैं और उस रचना के विषय-तत्व, पात्र एवं लेखक आदि से तादात्म्य स्थापित करते हुए इस कदर साधारणीकृत हो जाते हैं कि व्यायाम हृदय एवं मुख से सही उच्चारित होता है- कितनी "स-रस" एवं उत्कृष्ट रचना "व-रस" संबन्ध का दाता भी "रस" ही है।

ये हम जान चुके हैं कि रस संख्या कैसे नौ से ग्यारह हुई। प्रत्येक रस के स्थायी भाव हमारे हृदय में सुप्तावस्था में रहते हैं तथा परिस्थिति अनुसार उद्दीप्त होकर संचारियों से पुष्ट होते हैं और अभिव्यक्ति पाते हैं। इस दृष्टि से रस का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी उभर कर आता है। भावों और मनोवेगों की महत्ता एवं भूमिका को भी मानव-जीवन में नकारा नहीं जा सकता। रति, शोक, उत्साह, भय, घृणा आदि ये मनोवेग सुख परक एवं दुखपरक होते हैं। इसी आधार पर ये ग्राह्य अथवा अग्राह्य भी होते हैं। इन्हीं से हमारी क्रियाओं को गति प्राप्त होती है और इन्हीं के कारण हमारे भाव परिवर्तित संवर्द्धित एवं उदात्त बनते हैं। अतः रस वास्तव में मनोवेगों का आस्वादन ही है। इस आस्वादन में भावना प्रधान रहती है। वास्तव में रस की मनोवैज्ञानिकता की पुष्टि "सहृदय" के कारण ही होती है।

आदि आचार्य "भरत" ने तो यहाँ तक कहा है कि "रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं हो सकता।" अग्नि पुराण में भी "रस को ही काव्य-जीवन माना गया है–"वाग्वैदग्ध्यप्रधानडपि रस एवात्र जीवितम्।"

काव्यशास्त्रीय परम्परा के जो आचार्य काव्य-आत्मा अलंकार, रीति या वक्रोक्ति को मानते हैं, वे भी "रस" की महत्ता को अस्वीकार नहीं कर पाते। रीति को काव्यात्मा मानने वाले आचार्य वामन भी रस में चमत्कार दीप्ति को स्वीकारते हुए कहते हैं–

"दीप्तिः रसत्वं कांतिः।"

ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा से तो रस को और भी श्रेष्ठता प्राप्त हुई। ध्वनिकार तो मानते भी हैं कि ध्वनि उत्तम काव्य है और उस उत्तम काव्य का भी उत्कृष्टतम रूप रस-ध्वनि है। अतः ध्वनिसिद्धांत में रस की व्यापकता भले ही न हो, पर उसे श्रेष्ठता तो प्राप्त है ही। अतः समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र के विकास पर दृष्टिपात करने से यही स्पष्ट होता है कि पूरे संस्कृत साहित्य में रस का महत्व धीरे-धीरे सर्वमान्य होता गया और रसात्मक-काव्य सर्वोत्कष्ट काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। हिंदी काव्यशास्त्र की पूरी परम्परा भी इसी मत को पुष्ट करती है। अतः समग्रतः कह सकते हैं कि काव्य-रसास्वाद जीवन की संवेदना को स्वच्छ और तीव्र बनाता है, उसे निखारता और व्यापक करता है तथा उसकी सार्थकता और कृतकृत्यता की अनुभूति प्रदान करता है। "रसास्वादन" ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है और जीवन को चरम लक्ष्य "आनन्द" तक ले जाता है। इसी लिए उसे "रसो वै सः" कहकर परमात्मा के संयोग का साधन भी माना जाता है। यही धारणा रस को "अलौकिक" ठहराती है।

## 32.9 सारांश

रस-संबंधी विस्तृत एवं विश्लेषणात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने वाली इसी इकाई के गहन अध्ययन से आप जान सके कि–

- रस आनन्द स्वरूप है और इसीलिए उसे "ब्रह्मास्वाद सहोदर" कहा जाता है।
- जिस प्रकार जीवंतता के लिए सरसता अनिवार्य है उसी प्रकार काव्य या साहित्य को आह्लदकारी बनाने के लिए रस की भी अपार महत्ता है। इसीलिए कहा जाता है कि "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः" अर्थात् जिसमें आनन्द मिले वही रस है।
- आचार्य भरत ने रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है–"तत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः" अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से जब स्थायीभाव पुष्ट होता है तो रस की अभिव्यक्ति होती है।
- रस निष्पत्ति के संदर्भ में लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक के सिद्धांत की अपेक्षा अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वसम्पति से स्वीकारा गया।
- आलम्बन, उद्दीपन एवं आश्रय आदि विभावों की स्थिति क्या है, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायीभाव की रस-परिपाक में महत्वपूर्ण भूमिका है।
- स्थायी भावों की संख्या रसों की संख्या के परिप्रेक्ष्य में नौ से ग्यारह हुई और उनके वर्ण एवं देवता कौन-कौन माने जाते हैं?
- संचारी भावों के संबंधों के आधार पर भावोदय, भावसंधि, भावशब्लता, भावशान्ति,

भावाभास एवं रसाभास आदि की स्वरूपगत स्थिति एवं भूमिका क्या है।

- नौ पारंपरिक तथा दो नवस्वी कृत रसों में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग भाव की पुष्टि कैसे होती है तथा लक्षण एवं उदाहरण क्या-क्या हो सकते हैं?
- रस-मैत्री एवं रस-दोष के आधार पर रसों की स्थिति क्या होनी चाहिये तथा कौन-कौन से रस परस्पर मित्र अथवा शत्रु हैं, तथा
- जिस "रस" को विद्वानों ने "काव्यात्मा" कहलाने का अधिकारी माना वह काव्य और जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रसास्वादन ही जीवन की पूर्णता प्रदान करता है और जीवन को चरम-लक्ष्य "आनन्द" तक ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

**बोध प्रश्न 3**

1) "श्रृंगार" रस किसे कहते हैं? लक्षण-उदाहरण सहित लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) "करूण रस" का लक्षण तथा उदाहरण लगभग आठ पंक्तियों में दीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) वीर रस की परिभाषा और उसके भेद बताते हुए किसी एक का लगभग आठ पंक्तियों में उदाहरण दीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भक्ति रस और वात्सल्य-रस का अंतर लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) निम्नलिखित विषयों पर पाँच-पाँच पंक्तियां लिखिए–

i) रस मैत्री

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रस-विरोध

.....

.....

.....

.....

.....

6) काव्य में रस का क्या महत्व है? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 32.10 शब्दावली

**सार्वकालिक:** जो सभी कालों में या हर समय मौजूद रहे।

**आह्लाद:** हर्ष, आनन्द, खुशी।

**लोकोत्तरः** इस संसार से ऊपर का अर्थात् अलौकिक।

**अनिर्वचनीयः** जिसका वर्णन न किया जा सके अर्थात् वर्णनातीत।

**चित्तवृत्तियाँः** चित्त की अवस्था, मन के भाव।

**मनोविकारः** मन के विकार या दोष।

**अक्षुण्णः** अखंडित, अभग्न।

**निष्पन्नः** जिसकी निष्पत्ति हो चुकी हो।

**अनौचित्यपूर्णः** पूरी तरह से अनुचित या नामुनासिब।

**उद्‌बुद्धः** जगा हुआ या जगाया हुआ, उद्‌दीप्त या विकसित।

**औत्सुक्यः** उत्सुकता।

**निर्निमेषः** टकटकी लगाकर अर्थात् बिना पलक झपके हुए।

## 32.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**काव्य कल्प द्रुम (भाग-I),** सेठ कन्हैया लाल पोद्‌दार, अनुपम प्रकाशन, पटना।

**काव्यरस : चिन्तन और आस्वाद,** डॉ. भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

**रस सिद्धांत का पुनर्विवेचन,** डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

**रस सिद्धांत : आक्षेप और समाधान** डॉ. सुन्दर लाल कथूरिया, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली।

**काव्यांग विवेचन,** डॉ. भगीरथ मिश्र एवं डॉ. बलभद्र तिवारी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

**काव्य सिद्धांत,** डॉ. ओम प्रकाश शर्मा "शास्त्री", आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली।

## 32.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

i) ×
ii) √
iii) √
iv) ×
v) √

2. देखिए, भाग, 32.2
3. देखिए, भाग, 32.2
4. देखिए, भाग, 32.3
5. देखिए, भाग, 32.3
6. देखिए, भाग, 32.3

**बोध प्रश्न 2**

1.) i) देखिए, भाग, 32.4.1
ii) देखिए, भाग, 32.4.2
iii) देखिए, भाग, 32.4

2. देखिए भाग, 32.4.4

3. i) उत्पत्तिवाद
   ii) अभिनवगुप्त
   iii) अनुभाव
   iv) क्रोध
   v) अद्‌भुत
4. i), ii), iii), और iv) के लिए देखिए, भाग, 32.4.4
5. देखिए, भाग 32.5.1. एवं 32.5.3
6. देखिए, भाग, 32.5.6

**बोध प्रश्न 3**

1. देखिए, भाग, 32.6.1
2. देखिए, भाग, 32.6.3
3. देखिए, भाग, 32.6.5
4. देखिए, भाग, 32.6.10 एवं 32.6.11
5. देखिए, भाग, 32.7
6. देखिए, भाग, 32.8

# इकाई 33 शब्द-शक्ति

## इकाई की रूपरेखा

33.0 उद्देश्य
33.1 प्रस्तावना
33.2 शब्द-शक्ति का अर्थ और उसके प्रकार
33.3 अभिधा
35.3.1 संकेतग्रह
33.3.2 वाचक शब्दों के प्रकार
33.4 लक्षणा
33.4.1 लक्षणा के भेद
33.4.2 रूढ़ा लक्षणा और उसके भेद
33.4.3 प्रयोजनवती लक्षणा और उसके भेद
33.5 व्यंजना
33.5.1 व्यंजना के भेद
33.5.2 विशेषताओं के आधार पर आर्थिक व्यंजना के भेद
33.6 सारांश
33.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
33.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 33.0 उद्देश्य

आधार पाठ्यक्रम के चौथे खंड में आप शब्द और मुहावरों के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। वहाँ शब्दों के विषय में आपको जो जानकारी दी गयी थी वह व्याकरणिक थी। ऐच्छिक हिन्दी की इस इकाई में आप एक अन्य दृष्टि से शब्दों और उनसे प्राप्त होने वाले अर्थों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे। यह दृष्टि काव्यशास्त्रीय है। अतः इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शब्द-शक्ति का अर्थ बता सकेंगे तथा उसकी परिभाषा लिख सकेंगे,
- शब्द-शक्ति के भेदों का उल्लेख कर सकेंगे,
- शब्द के तीन प्रकारों—वाचक, लक्षक और व्यंजक को समझ सकेंगे,
- वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को बता सकेंगे,
- शब्द की अभिधा शक्ति का परिचय दे सकेंगे,
- शब्द की लक्षणा शक्ति का परिचय दे सकेंगे तथा उसके भेदोपभेदों का उल्लेख कर सकेंगे,
- व्यंजना को समझा सकेंगे,
- व्यंजना के भेदोपभेदों का उल्लेख कर सकेंगे,
- अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के काव्यात्मक उदाहरण समझा सकेंगे।

## 33.1 प्रस्तावना

मनुष्य के जीवन में शब्दों का बहुत महत्व है। शब्द-प्रयोग के बिना सारी सृष्टि गूंगी हो जाएगी। अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए मनुष्य शब्दों और उनसे बनने वाले वाक्यों का प्रयोग करता है। अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे सार्थक होते हैं। आम जीवन में ही नहीं, साहित्य में भी शब्दार्थ का महत्व है। कवि के काव्य की रचना भी शब्द के बिना संभव नहीं। हम अपने जीवन में या

कवि अपने काव्य में जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उनमें से कई शब्द अनेकार्थी होते हैं। कई बार शब्दों का प्रयोग इस रूप में भी कर दिया जाता है कि कोशगत अर्थ से हमारा काम नहीं चलता। जब तक हम जीवन अथवा काव्य में प्रयुक्त शब्द का ठीक-ठीक अर्थ नहीं जान लेते, तब तक वक्ता अथवा कवि का वास्तविक भाव या अभिप्राय हमारे पल्ले नहीं पड़ता। दैनिक जीवन में तो बात जैसे-तैसे निभ भी जाती है, पर काव्य में उसके सही अर्थ को जाने बिना हमारा काम नहीं चलता और हमें कदम-कदम पर कठिनाई का सामना करना पड़ता है। आपने अपने जीवन में कई बार इस कठिनाई का अनुभव किया होगा। इस कठिनाई से छुटकारा पाने के लिए शब्द-शक्तियों की जानकारी आवश्यक है। आइए, शब्द-शक्तियों के विषय में जानकारी प्राप्त करें। यह इस पाठ्यक्रम के नवें खंड की तीसरी इकाई हैं। इससे पहले आप इसी खंड में साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन का विवेचन कर चुके हैं। रस के अर्थ, उसके विभिन्न अंग तथा महत्व को भी जान चुके हैं। अब इस इकाई में शब्द शक्ति की समीक्षा करने के बाद आप इस खंड की अगली तथा अंतिम इकाई में बिम्ब, प्रतीक एवं कल्पना का विवेचन करेंगे।

## 33.2 शब्द-शक्ति का अर्थ और उसके प्रकार

शब्द के साथ अर्थ का संबंध बहुत पुराना है, शाश्वत है। जिस प्रकार जल और उसकी तरंगे एक-दूसरे से अभिन्न हैं, उसी प्रकार शब्द और उसका अर्थ भी एक दूसरे से अभिन्न हैं। अर्थयुक्त या सार्थक होना शब्दों की एक प्रमुख विशेषता है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध की चर्चा दार्शनिकों और व्याकरणों ने पहले की। काव्यशास्त्र के आचार्यों को यह चिन्तन उन्हीं से परंपरा के रूप में प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने आगे बढ़ाया। शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है—इस विषय पर विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों ने शब्द की शक्तियों की कल्पना की है। उनके अनुसार शब्द में ऐसी कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है, जिसके द्वारा वह किसी-न-किसी अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होता है। जिस शक्ति के द्वारा शब्द में अन्तर्निहित यह अर्थ प्रकट होता है, उसे 'शब्द-शक्ति' कहते हैं। सरल शब्दों में **शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को 'शब्द-शक्ति' कहते हैं।** शब्द-शक्ति के बिना शब्दार्थ का ज्ञान संभव नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने शब्द-शक्ति को **शक्ति व्यापार** या **वृत्ति** के नाम से भी पुकारा है, पर अब इन नामों के बजाए **'शब्द-शक्ति'** ही अधिक प्रचलित एवं मान्य है।

### शब्द-शक्ति के प्रकार

आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द-शक्तियों पर विचार करते समय हमारे सामने तीन चीज़े आती हैं—1. शब्द 2. शब्द का अर्थ और 3. उस अर्थ को जानने का साधन। शब्द कारण है और उसका अर्थ कार्य। इस कार्य तक पहुँचने का साधन हैं शब्द-शक्तियाँ। इस साधन के बिना शब्द तथा अर्थ के संबंध को समझना या शब्द के निहित अर्थ-संपत्ति को पहचानना कठिन है।,

### शब्द-शक्तियों का आधार : तीन प्रकार के शब्द

शब्द-शक्तियों के उपरिलिखित तीन भेदों का आधार हैं शब्द। ये भी तीन प्रकार के हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक। जिन शब्दों के सुनने से ही उनके अर्थ का ज्ञान हो जाता है उन्हें वाचक शब्द कहा जाता है। वाचक शब्द का अर्थ जानने के लिए वस्तुओं के विषय में जानकारी का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वाचक शब्द का अर्थ वस्तुओं के संबंध-ज्ञान पर आधारित है। उदाहरण के लिए 'गाय' कहते ही आपके सामने गाय नामक पशु का चित्र उपस्थित हो जाता है, जिसकी जानकारी आपको पहले से है। गाय कहते ही गाय के चित्र का आपकी आँखों के सामने उपस्थित होना वस्तुओं के विषय में आपके संबंध-ज्ञान से ही संभव होता है। **वाचक शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को 'वाच्यार्थ' या 'अभिधेयार्थ' कहते हैं।** इसे मुख्यार्थ भी कहा जाता है। शब्दकोश में शब्दों के जो अर्थ दिये रहते हैं वे उस शब्द के मुख्यार्थ ही होते हैं।

व्यावहारिक जीवन में कभी-कभी कुछ शब्दों का प्रयोग इस रूप में भी कर दिया जाता है कि शब्द के मुख्य अर्थ से काम नहीं चलता—उसमें बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसी स्थिति में हमें उस शब्द का कोई अन्य अर्थ ग्रहण करना पड़ता है जो मुख्य अर्थ से

किसी-न-किसी रूप में संबद्ध होने पर भी उससे भिन्न होता है। इस प्रकार हमें जो अर्थ प्राप्त होता है उसे **'लक्ष्यार्थ'** या **लाक्षणिक अर्थ** कहते हैं तथा जिस शब्द से इस प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है उसे **लक्षक शब्द** कहते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वाचक शब्द हमेशा वाचक ही नहीं रहता। कभी-कभी वह लक्षक भी हो जाता है। शब्द का वाचक या लक्षक होना उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए आप 'गाय' शब्द को ही लें। जब कोई कहता है कि 'गाय काली है' तो आप समझ लेते हैं कि यहाँ 'गाय' वाचक शब्द है और इसका अर्थ है दूध देने वाला एक पशु विशेष। इसके विपरीत जब कोई यह कहता है कि 'हमारी लड़की तो गाय है गाय', तो 'गाय' का प्रयोग पशु-विशेष के अर्थ में नहीं रहता। यहाँ मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित हो जाती है तथा आपकी उससे संबद्ध कोई दूसरा अर्थ खोजना पड़ता है। तब आप कहने वाले के अभिप्राय को इस रूप में ग्रहण कर लेते हैं कि जैसे गाय सीधी-सादी और पवित्र होती है वैसे ही यह लड़की भी सीधी-सादी और पवित्र है। यहाँ 'गाय' लक्षक शब्द में प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ है सीधी-सादी एवं पवित्र। गाय शब्द का यह अर्थ **'लक्ष्यार्थ या 'लाक्षणिक अर्थ'** है। इस प्रकार आप यह समझ सकते हैं कि **लक्षक शब्द से प्राप्त होने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ या लाक्षणिक अर्थ कहते हैं।**

कुछ शब्दों का प्रयोग इस रूप में किया जाता है कि न तो वाच्यार्थ से आपका काम चलता है, न लक्ष्यार्थ से ही। उस शब्द का अर्थ उन दोनों से ही भिन्न होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अध्यापक किसी वज्र मूर्ख छात्र से यह कहे कि 'तुम तो साक्षात् बृहस्पति का अवतार हो', तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह छात्र वास्तव में देवताओं का गरु है या उनके गुरु बृहस्पति के समान विद्वान् हैं। इसके विपरीत उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि वह छात्र वज्र मूर्ख या निरा बुद्धू है। इस प्रकार **जो शब्द वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं उन्हें 'व्यंजक' शब्द कहते हैं और इस शब्द के द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं।**

**बोध प्रश्न 1**

1) शब्द शक्ति से आप क्या समझते हैं? लगभग आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नलिखित अवधारणाओं में प्रत्येक पर सात-आठ पंक्तियाँ लिख कर स्पष्ट कीजिए

i) वाच्यार्थ

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) लक्ष्यार्थ

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) व्यंग्यार्थ

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनें कुछ सही हैं तथा कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगा कर स्पष्ट कीजिए–

i) अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए मनुन्य जिन शब्दों का प्रयोग करता है, वे सार्थक होते हैं। ( )

ii) वाचक शब्द से प्रकट होने वाले अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। ( )

iii) शब्द और अर्थ में कारण-कार्य संबंध होता है। ( )

iv) व्यंजक शब्द वे होते हें जो वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं। ( )

v) शब्द का वाचक या लक्षक होना उसके प्रयोग पर निर्भर नहीं करता। ( )

## 33.3 अभिधा

शब्द की अग्रिम या प्राथमिक शक्ति 'अभिधा' है। शब्द की जिस शक्ति से संकेतित, प्रसिद्ध या मुख्य अर्थ का बोध हो, उसे अभिधा कहते हैं। मुख्यार्थ का बोध कराने के कारण उसे मुख्या भी कहते हैं। और स्पष्ट शब्दों में अभिधा के द्वारा शब्द के सामान्य या लोकप्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान होता है।

### 33.3.1 संकेत ग्रह

शब्द के संकेतित, प्रसिद्ध या मुख्यार्थ का ज्ञान कैसे हो इसके लिए साहित्य शास्त्रियों ने अनेक साधन बताये हैं। शब्द के संकेतित अर्थ को सुनिश्चित करने के इन साधनों या उपायों को 'संकेतग्रह' कहते हैं। 'संकेतग्रह' के ही द्वारा शब्द तथा अर्थ के संबंध का ज्ञान होता है। संकेतग्रह के आठ साधन बताये गये हैं जो इस प्रकार है–व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्यशेष तथा विवृति। आइए अब 'संकेतग्रह' के इन साधनों को कुछ विस्तार से समझें।

**1. व्याकरण**—किसी शब्द की निर्मिति कैसे हुई है, वह कैसे व्युत्पन्न हुआ है, इसका ज्ञान व्याकरण के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में कौन-सा शब्द किस धातु (प्रकृति) से बना है तथा उसमें कौन-सा प्रत्यय लगा है, इसका ज्ञान व्याकरण से ही हो सकता है। बहुत से शब्दों का अर्थ प्रकृति-प्रत्यय के इसी ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान व्याकरण से ही संभव है। उदाहरण के लिए 'वैयाकरण' का अर्थ होगा 'व्याकरण को जानने वाला' या इसी प्रकार 'सांसारिक' का अर्थ होगा 'संसार में उत्पन्न'। इन शब्दों के इस अर्थ की जानकारी का आधार व्याकरणशास्त्र है।

**2. उपमान**—उपमान का अर्थ है समानता। इसे सादृश्य भी कहते हैं। इसमें संकेतग्रह के लिए किसी जानी-पहचानी वस्तु को बताकर मिलती-जुलती किसी अन्य वस्तु का ज्ञान कराया जाता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए किसी को नील गाय का ज्ञान कराने के लिए यह कहा जाए कि जैसे गाय वैसे ही नीलगाय। नीलगाय का ज्ञान कराने के लिए यहाँ उपमान या सादृश्य का सहारा लिया गया है।

**3. कोश**—कुछ शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ हमें ज्ञात नहीं होता। ऐसे शब्दों के अर्थ की जानकारी के लिए हमें कोश की सहायता लेनी पड़ती है। मान लीजिए कि हमने यह वाक्य पढ़ा—मार को भगवान शिव ने जलाया। यहाँ 'मार' का अर्थ जानने के लिए हमें शब्दकोश की सहायता लेनी पड़ेगी, तभी यह स्पष्ट होगा कि 'मार' का अर्थ है कामदेव।

**4. आप्तवाक्य**—किसी बालक को प्रारंभ में उसके माता-पिता या गुरुजनों से ही शब्दार्थ का बोध होता है। ये प्रामाणिक व्यक्ति हैं और बालक इनके कथनों को ठीक मानता है। सीधे शब्दों में आप्तवाक्य का अर्थ है प्रामाणिक या अधिकारी व्यक्ति का कथन। उदाहरण के लिए यदि किसी शिशु को उसकी माँ गाय दिखाकर यह कहे कि यह गाय है तो शिशु उस पर विश्वास कर गाय का बोध ग्रहण करता है। इस प्रकार आप्तवाक्य भी अर्थबोध का एक साधन है।

**5. व्यवहार**—व्यवहार भी संकेतग्रहण का एक साधन है। छोटे-छोटे शिशु अपने माता-पिता के व्यवहार से अनेक वस्तुओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

**6. प्रसिद्ध पद (शब्द) का सान्निध्य**—जब किसी शब्द के साथ कोई प्रसिद्ध पद (शब्द) रहता है, तो उसी के कारण शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि 'रामकृष्ण आ रहे हैं' तो यहाँ कृष्ण के साथ होने से रामकृष्ण का अर्थ होगा बलराम, न कि सीतापति राम।

**7. विवृति**—विवृति का अर्थ है—व्याख्या, विवरण, स्पष्टीकरण या टीका। इसके अन्तर्गत किसी अन्य समानार्थक शब्द का समावेश भी है और खुलासे का भी। उदाहरण के लिए 'पट' के समानार्थक 'वस्त्र' से इस शब्द की विवृति की जा सकती है।

**8. वाक्यशेष**—जब किसी वाक्य के किसी शब्द का संकेत (अर्थ ग्रहण) किसी अन्य वाक्य पर निर्भर करता है तो वहाँ वाक्यशेष माना जाता है। उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि 'वसंत में सब शस्यों के पत्ते गिर जाते हैं, पर जौ फैले रहते हैं' तो यहाँ 'जौ' का संकेतग्रह 'वाक्यशेष' के आधार पर होगा।

## 33.3.2 वाचक शब्दों के प्रकार

आप जान चुके हैं कि अभिधा शक्ति का संबंध वाचक शब्दों के साथ है। अभिधा शक्ति के द्वारा जिन शब्दों के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उन्हें वाचक कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

**1. रूढ़**—वे शब्द जिनका विश्लेषण संभव नहीं होता तथा जिनका अर्थ-बोध समुदाय-शक्ति के द्वारा होता है, रूढ़ शब्द कहलाते हैं। कहने का भाव यह है कि रूढ़ शब्द समूचे ही अर्थ प्रकट करते हैं—इनकी न तो व्युत्पत्ति संभव होती है, न इनके टुकड़ों का पृथक्-पृथक् अर्थ ही। गढ़, घोड़ा, पेड़, पौधा, दण्ड आदि ऐसे ही रूढ़ शब्द हैं।

**2. यौगिक**—वे शब्द जिनका विश्लेषण संभव हो तथा जिनके प्रत्येक अवयव का पृथक् अर्थ भी हो, यौगिक कहलाते हैं। ये शब्द प्रवृति और प्रत्यय के योग से निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम 'भूपति' शब्द को देखें तो पायेंगे कि इसमें भू का भी अर्थ है

और पति का भी। भू का अर्थ है धरती तथा पति का अर्थ है स्वामी। इन दोनों के योग से इस शब्द का अर्थ होगा धरती का स्वामी, और राजा धरती का स्वामी होता है, अतः भूपति का अर्थ हुआ राजा। यह यौगिक शब्द है। इस प्रकार के कुछ और शब्द हैं–दिवाकर, सुधांशु, नरेश, रमेश, उमेश आदि।

**3. योगरूढ़**–वे शब्द जिनकी संरचना यौगिक शब्दों की तरह हो पर जो अर्थबोध में रूढ़ शब्दों के समान हो अर्थात् जिनका अर्थ रूढ़ हो, समूचा और अखण्ड हो, योगरूढ़ कहलाते हैं। कहने का भाव यह है कि इन शब्दों की निर्मिति तो प्रकृति और प्रत्यय के योग से होती है पर इनका अर्थज्ञान समुदाय-शक्ति के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए यदि हम 'वारिज' शब्द को देखें तो इसकी व्युत्पत्ति होगी 'वारि + ज' अर्थात् जल में जन्म लेने वाला या उत्पन्न। यदि इस शब्द को यौगिक मानें तो इससे सीपी, घोंघे, शंख, मेंढक, मछली आदि का भी बोध होने लगेगा, पर इस शब्द का अर्थ है कमल, जो रूढ़ है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से यौगिक होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से यह रूढ़ है, अतः यह योगरूढ़ है। जलज, अम्बुज, पंकज, पीताम्बर, घनश्याम, पशुपति आदि ऐसे ही योगरूढ़ शब्द हैं।

रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का कविजन अपनी रचनाओं में सौन्दर्य की सृष्टि के लिए निर्बाध प्रयोग करते हैं। कभी-कभी, कुछ ऐसे काव्यात्मक उद्धरण भी दिखलायी पड़ जाते हैं कि जिनमें एक साथ ही रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग हुआ रहता है। ऐसा एक उदाहरण देखिए–

नूपुर सिंजित चारु, अरुन बरन **अम्बुज** सरिस ।
भुज मृनाल अनुहार, बदन **सुधाकर** सम रुचिर ।।

इसमें 'नूपुर' शब्द रूढ़, 'सुधाकर' यौगिक तथा 'अम्बुज' योगरूढ़ है। उक्त सोरठा में इन तीनों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। यह अभिधा का काव्यात्मक उदाहरण है। अभिधा में सौन्दर्य का अभाव नहीं है। अनेक महाकवियों ने अपनी काव्यात्मक रचनाओं में शब्द की इसी शक्ति से अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि की है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के सुप्रसिद्ध गीत **'दोनों और प्रेम पलता है'** की निम्नांकित पंक्तियाँ इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं–

बचकर हाय! पतंग करे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?

निश्चय ही इन पंक्तियों की रमणीयता का आधार शब्द की अभिधा शक्ति है। हिन्दी-कविता ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है।

**बोध प्रश्न 2**

1) अभिधा की परिभाषा तथा उदाहरण देते हुए लगभग पाँच पंक्तियाँ लिखिए

.....

.....

.....

.....

.....

2) साहित्यशास्त्रियों ने कौन-कौन से संकेत ग्रह माने हैं? नामोल्लेख करते हुए लगभग दस पंक्तियों में विवेचन कीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित वाचक शब्दों को चार-पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए

i) यौगिक

.....

.....

.....

.....

.....

ii) योगरूढ़

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 33.4 लक्षणा

मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखने वाले अन्य अर्थ का बोध हो उसे लक्षणा कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के लिए तीन शर्तें अनिवार्य बतायी हैं– 1. मुख्यार्थ; 2. मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध; 3. रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

**1. मुख्यार्थ-बाध**–अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए मुख्य अर्थ में बाधा पड़ना लक्षणा की पहली शर्त है; अर्थात् वक्ता जिस अर्थ को प्रकट करना चाहता हो उसका मुख्यार्थ से विरोध होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त शेर है' में पशु रूप शेर के मुख्यार्थ में स्पष्ट रूप से बाधा है; क्योंकि देवदत्त चार टांगों वाला एक हिंस्र पशु नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत वाक्य का अर्थ होगा–'देवदत्त वीर है'। यही अन्य अर्थवक्ता का अभीष्ट अर्थ है।

**2. मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध**–मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर जिस अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है उसमें और मुख्यार्थ में किसी-न-किसी प्रकार का संबंध अत्यन्त आवश्यक है। जैसे, देवदत्त और शेर वीरता का गुण समान होने के कारण दोनों में सादृश्य-संबंध है।

**3. रूढ़ि या प्रयोजन**–मुख्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ के द्योतन में या तो रूढ़ि काम करती है या फिर कोई प्रयोजन। उदाहरणार्थ, देवदत्त को शेर कहने में वक्ता का मुख्य प्रयोजन उसकी अतिशय वीरता को बताना है।

**लक्षणा शक्ति जिस अर्थ का बोध कराती है उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं और जो शब्द इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करते हैं उन्हे लाक्षणिक या लक्षक पद कहते हैं यह आप पहले ही जान चुके हैं**

### 33.4.1 लक्षणा के भेद

लक्षणा के संबंध में ऊपर जो तीन बातें बतायी गयी हैं, उनमें से तीसरी बात में लक्षणा के दो कारणों–रूढ़ि और प्रयोजन का उल्लेख है। इसी आधार पर लक्षणा के दो मुख्य भेद स्वीकार किये गये हैं: (1) रूढ़ा लक्षणा और (2) प्रयोजनवती लक्षणा।

### 33.4.2 रूढ़ा लक्षणा और उसके भेद

**रूढ़ा लक्षणा**–जहाँ किसी रूढ़ि अथवा अति प्रसिद्धि के कारण कोई शब्द किसी लक्ष्यार्थ का बोध कराता है, वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। रूढ़ि का अर्थ है प्रचलन, रीति या प्राचीन परंपरा। इसे अति प्रसिद्धि भी कह सकते हैं। जब कोई शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़कर किसी अन्य विशिष्ट अर्थ में प्रचलित हो जाता है तब उसे रूढ़ शब्द कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि 'महेश चौकन्ना है' तो यहाँ 'चौकन्ना' रूढ़ शब्द है। 'चौकन्ना' का मुख्यार्थ है 'चार कानों वाला' पर महेश चार कानों वाला नहीं है, अतः यहाँ मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है। यहाँ 'चौकन्ना' का अर्थ 'अतिरिक्त रूप से सावधान' कारण यह है कि दो कान वाले की अपेक्षा चार कान वाला विशेष या अधिक सावधान होगा। यहाँ 'चौकन्ना' इसी अर्थ में अर्थात् विशेष सावधान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार 'चौकन्ना' रूढ़ा लक्षणा का उदाहरण है।

#### रूढ़ा लक्षणा के भेद

आप जान चुके हैं कि रूढ़ शब्दों पर आधारित लक्षणा रूढ़ा लक्षणा कही जाती है। इसके दो भेद हैं–गौणी और शुद्धा। आइए, इनके विषय में जानकारी प्राप्त करें।

**1. गौणी रूढ़ा लक्षणा**–गौणी रूढ़ा लक्षणा में दो बातें अपेक्षित हैं– 1. गुण का सादृश्य अर्थात् समानता और 2. रूढ़ि। कहने का भाव यह है कि इसमें मुख्यार्थ के गुणों के सदृश (समान) गुण मिलते हैं तथा वह अर्थ रूढ़ भी हो जाता है, इसीलिए इसे गौणी रूढ़ा लक्षणा कहते हैं। इस लक्षणा में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध होता है तथा यह लक्ष्यार्थ रूढ़ि के आधार पर निकलता है। ऊपर आप 'चौकन्ना' को देख चुके हैं। वह गौणी रूढ़ा-लक्षणा का ही उदाहरण है। आइए, इसका एक और उदाहरण देखें–

अपने अंग के जानि कै जोबन-नृपति **प्रबीन**।
स्तन, मन, जैन, नितंब को बड़ौ इजाफ़ा कीन।।

**–बिहारी लाल**

प्राचीन काल में प्रबीन (तत्सम प्रवीण प्र + वीणा) उस व्यक्ति को कहा जाता था जो वीणा बजाने में चतुर होता था। बाद में यह शब्द उस व्यक्ति के लिए रूढ़ हो गया जो अन्य कार्यों के करने में भी चतुर हो। प्रस्तुत दोहे में 'प्रबीन' का अर्थ 'चतुर' इसी रूढ़ि के कारण है। मुख्यार्थ 'कुशल वीणा-वादक' और लक्ष्यार्थ 'चतुर नृपति' में 'चातुर्य' का गुण समान होने के कारण सादृश्य-संबंध है। अतः यहाँ 'प्रबीन' का चतुर अर्थ गौणी रूढ़ा लक्षणा के कारण ही सभव हो सकता है।

**2. शुद्धा रूढ़ा लक्षणा**–शुद्धा रूढ़ा लक्षणा में गुणों के सादृश्य की अपेक्षा नहीं होती। इसमें गुण अथवा सादृश्य से भिन्न संबंध अपेक्षित हैं। कहने का भाव यह है कि जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध तथा रूढ़ि हो, वहाँ शुद्ध रूढ़ा लक्षणा होती है। जैसे–

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब **ब्रज** बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै खरै लजाने लाल।।

यहाँ 'ब्रज' का अर्थ है 'ब्रजवासी'। किसी प्रदेश के वासियों के लिए उस प्रदेश का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं। अतः यहाँ रूढ़ि है। पुनः मुख्यार्थ 'ब्रज प्रदेश' और लक्ष्यार्थ 'ब्रजवासी' में सादृश्य संबंध न होकर उससे भिन्न आश्रय-आश्रयी भाव संबंध है। प्रदेश आश्रय है और उसके निवासी आश्रयी (आश्रय में रहने वाले) हैं। ऐसी स्थिति में 'ब्रज' का अर्थ 'ब्रजवासी' शुद्धा रूढ़ा लक्षणा के बल पर ही संभव हो सका है। 'जागा जागा पंजाब वीर', 'कलिंग साहसी है' आदि शुद्धा रूढ़ा लक्षणा के ही कुछ और उदाहरण हैं।

## 33.4.3 प्रयोजनवती लक्षणा और उसके भेद

**प्रयोजनवती लक्षणा**—जहाँ किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। लाक्षणिक शब्द के प्रयोग की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि वाचक शब्द के प्रयोग द्वारा संभव नहीं होती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जहाँ मुख्यार्थ में बाधा हो और लक्ष्यार्थ के ग्रहण में कोई प्रयोजन भी निहित हो, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए यदि कहें—'गंगायां घोषः' अर्थात् 'गंगा पर घर है— तो यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होगी। कारण यह कि घर नदी के प्रवाह पर नहीं हो सकता, अतः मुख्यार्थ में बाधा है। ऐसी स्थिति में लक्ष्यार्थ होगा 'गंगा के किनारे पर घर' और इस लक्ष्यार्थ के पीछे शीतलता, पवित्रता आदि की प्रयोजन है। वक्ता कहना चाहता है कि जो शीतलता, पवित्रता गंगा नदी में है, वही इस घर में भी है।

आइए अब प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों पर विचार करें।

### 34.4.3 प्रयोजनवती लक्षणा के भेद

सादृश्य या समानता के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद किये गये हैं—गौणी प्रयोजनवती लक्षणा तथा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा। इस विभाजन का मूलाधार सादृश्य हैं। इसके लिए एक अन्य प्रचलित शब्द 'उपचार' भी है अर्थात् 'सादृश्य' कहें या 'उपचार', बात एक ही है। यहाँ सादृश्य या उपचार को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। जहाँ दो अत्यंत भिन्न पदार्थ एकता का आभास देने लगते हैं और उस सादृश्यातिशय के कारण उनके भेद की ओर ध्यान नहीं जाता वहाँ सादृश्य या उपचार माना जाता है। जहाँ सादृश्य या उपचार के आधार पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता था वहाँ गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त किसी अन्य संबंध के आधार पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है वहाँ शुद्धा होती है। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के प्रथम दो भेद है—गौणी और शुद्धा। प्रयोजनवती गौणी के फिर दो भेद किये गये हैं—सारोपा और साध्यवसाना। प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद हैं—सारोपा, साध्यावसाना, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के कुल छह भेद हैं जिन्हें नीचे दिये गये रेखाचित्र की सहायता से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

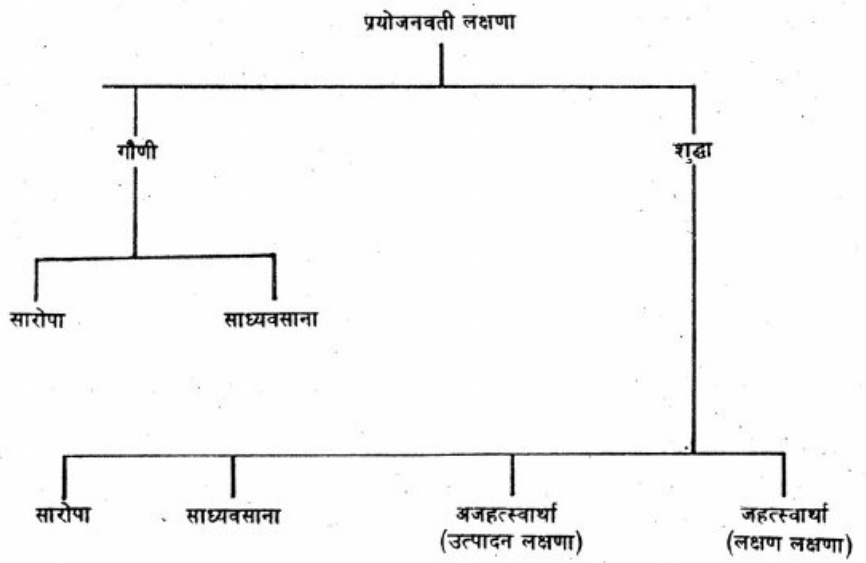


आइए, अब प्रयोजनवती लक्षणा के इन भेदों के विषय में विस्तार से ज़ानें। पद के प्रयोग की आवश्यकता तभी पड़ती है जब अभीष्ट प्रयोजन का बोध वाचक शब्द के द्वारा असम्भव हो उठता है। प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेद हैं:

**1. प्रयोजनवती गौणी सारोपा**—लक्षणा के इस भेद को समझने के लिए पहले 'आरोप' का अर्थ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। पृथक् पृथक् उपादान करते हुए विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) के प्रभेद वर्णन को 'आरोप' कहते हैं। इसमें विषय और विषयी की

एकरूपता प्रतीत होती है। प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजन को बताने के उद्देश्य से मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध के आधार पर आरोपपूर्वक अर्थात् विषय और विषयी दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान करते हुए लाक्षणिक पद का प्रयोग किया गया हो। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

अति आनन्द उमंगि अनुरागा ।
चरन-सरोज पखारन लागा ।।

इन पंक्तियों में 'चरन' विषय और 'सरोज' विषयी का पृथक्-पृथक् शब्दों से उपादान करते हुए उनके प्रभेद का वर्णन है। अतः सारोपा है। कोमलता, रक्ताभा आदि विषय और विषयी, दोनों के ही एक समान गुण हैं। अतः सादृश्य-संबंध के कारण गौणी हुई। राम के चरणों की अतिशय मृदुता को बताना कवि का मुख्य प्रयोजन है। अतः प्रयोजनवती है। कुल मिलाकर 'चरन-सरोज' में प्रयोजनवती गौणी सारोपा लक्षणा है।

**2. प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना**–इस लक्षणा को समझने के लिए भी 'अध्यवसान' को समझना अनिवार्य है। जब 'विषय' अर्थात् उपमेय का पृथक निर्देश न किया जाय और फिर भी 'विषयी' अर्थात् उपमान के साथ उसका अभेद वर्णन हो तब उसे अध्यवसान कहते हैं। इसमें उपमान उपमेय को अपने से सर्वथा लीन कर लेता है। अतः उसके पृथक् उपादान की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

जहाँ प्रयोजन-विशेष के कथन की लालसा से, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध बनाये रखकर, वक्ता ने विषय का पृथक् कथन न किया हो, वहाँ प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना होती है। जैसे

आचार्य! देखो तो नया वह सिंह सोते से जगा।

**–जयद्रथ–वध, मैथिलीशरण गुप्त**

यहाँ पर 'सिंह' विषय ने 'अभिमन्यु' विषयी का सर्वथा अध्यवसान कर लिया है। साथ ही दोनों का अभेद वर्णन भी है। अतः साध्यवसाना है। मुख्यार्थ 'शेर' और लक्ष्यार्थ 'अभिमन्यु' में वीरता का गुण समान होने के कारण सादृश्य-संबंध हुआ। अतः गौणी है अभिमन्यु की अतिशय वीरता की व्यंजना विशेष प्रयोजन है। अतः प्रयोजनवती है। समग्रतः यहाँ 'सिंह' में प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना लक्षणा कार्य कर रही है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है और वह यह है कि गौणी सारोपा रूपक अलंकार का और गौणी साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति अलंकार का मूल है।

**3. प्रयोजनवती शुद्ध सारोपा**–इसमें प्रयोजनपूर्ण आरोप होता है और वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्येतर संबंध होता है जैसे–

मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदारन हार।

यहाँ पर कवि ने यदुपति को अपनी सम्पत्ति बताया है, अर्थात् 'यदुपति' पर सम्पत्ति का आरोप है। इस प्रकार विषय 'यदुपति' और विषयी 'सम्पति' का पृथक-पृथक कथन होने और दोनों में अभेद वर्णन होने से सारोपा है। यदुपति ही कवि की सम्पत्ति के मूल कारण है अतः कार्य-कारण-संबंध होने से यहाँ शुद्धा है। यदुपति को ही अपना सर्वस्व बताना कवि का मुख्य प्रयोजन है, अतः प्रयोजनवती है। स्पष्ट है कि यहाँ पर प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा लक्षणा है।

**4. प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना**–इसमें उपमान में उपमेय का अध्यवसान हो जाता है। प्रयोजन तो रहता ही है। साथ ही मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध होता है। प्रस्तुत है एक उदाहरण–

जनलोचन आनंद बसत ब्रज-बीथिन के बीच।

इस उदाहरण में 'जनलोचन आनंद' कृष्ण का उपमान है, उपमेय कृष्ण का कथन किये बिना ही उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन होने से साध्यवसाना है। शुद्धा यहाँ इसलिए है कि 'संसार के लोगों के नेत्रों का आनन्द' रूप वाच्यार्थ और 'संसार के लोगों के नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले कृष्ण रूप लक्ष्यार्थ में कार्य-कारण-संबंध है। कृष्ण में संसार के लोगों को अतिशय आनन्द प्रदान करने की क्षमता का उद्घाटन कवि का प्रमुख प्रयोजन है।

अतः प्रस्तुत उदाहरण के 'जनलोचन आनंद' में प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का चमत्कार है।

**5. प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था**—यहाँ प्रयोजन तथा सादृश्येतर संबंध यथावत् विद्यमान रहते हैं। अन्तर केवल यह होता है कि लाक्षणिक पद स्वार्थ (मुख्यार्थ) का सर्वथा त्याग नहीं करता। इसीलिए इसे अजहत्स्वार्था नाम दिया गया है—अ + जहत् + स्वार्था = स्वार्थ का त्याग न करना। यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में स्वार्थ अर्थात् मुख्यार्थ का भी ग्रहण किये रहता है, उसे एकदम छोड़ता नहीं है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्ति द्रष्टव्य है—

फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता ।

**-निराला**

यहाँ 'फूटी कौड़ी' का लक्ष्यार्थ है तुच्छ धन। इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति में 'फूटी कौड़ी'' ने अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया है। अतः यहाँ पर अजहत्स्वार्था है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणवत संबंध होने के कारण शुद्धा है। प्रयोजन है अतिशय निर्धनता का बोध। इन्हीं सब कारणों से यहाँ प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था है।

अजहत्स्वार्था का एक अन्य नाम उपादानलक्षणा भी है। इसे उपादानलक्षणा इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यहाँ पर 'स्वार्थ' रूप उपादान का ग्रहण होता है।

**6. प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था**—यहाँ भी प्रयोजन तो होता ही है, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य से भिन्न संबंध भी होता है, किन्तु विशेषता यह है कि यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है। एक उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत लक्षणा को सहज ही समझा जा सकता है—

मैंने चाहे कुछ इसमें विष अपना डाल दिया हो ।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है ।।

**—भारतीय आत्मा**

यहाँ 'चरणों ही का जूठन' के मुख्यार्थ में बाधा है, अतः इसका लक्ष्यार्थ हुआ 'कृपा'। इस लक्ष्यार्थ के द्योतन में लाक्षणिक पदों ने अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर दिया है। इसीलिए यहाँ जहत्स्वार्था हुई। सामीप्य-सबंध के कारण शुद्धा है तथा अतिशय विनम्रता का बोध प्रयोजन है। स्पष्ट है कि 'चरणों ही का जूठन' में यहाँ प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था लक्षणा सक्रिय है।

इसी का दूसरा नाम लक्षणलक्षणा है। 'लक्षणा' का अर्थ है 'स्वार्थ का त्याग'। यहाँ लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में स्वार्थ का तग कर देता है, इसीलिए इसे लक्षणलक्षणा के नाम से भी जाना जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के सभी भेदों के सन्दर्भ में इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ प्रयोजन सदैव व्यंग्य होता है इसीलिए व्यंग्य की गूढ़ता और अगूढ़ता को ध्यान में रखकर काव्य प्रकाशकार ने प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद कर दिये हैं। उनके अनुसार जहाँ व्यंग्य काव्यमर्मज्ञ सहृदय के द्वारा ही समझा जा सके वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ पर व्यंग्य सहज ही समझ में आ जाय वहाँ अगूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है।

**विपरीतलक्षणा**—कुछ विद्वानों ने लक्षणा का एक अन्य भेद विपरीतलक्षणा स्वीकार किया है। विपरीतलक्षणा में लाक्षणिक पद मुख्यार्थ से एकदम विपरीत अर्थ देता है। यदि किसी दुष्ट व्यक्ति से कह दिया जाय कि 'तुम बड़े भले आदमी हो' तब वैपरीत्य-संबंध के आधार पर इसका अर्थ होगा—'तुम बड़े दुष्ट आदमी हो'। विपरीतलक्षणा सदैव काकु पर आधारित होती है।

वस्तुतः लक्षणा के इस भेद को स्वीकार करने में कोई औचित्य नहीं है; क्योंकि विपरीतलक्षणा में लाक्षणिक पद अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है, अतः यह जहत्स्वार्था ही है।

**बोध प्रश्न 3**

1) आचार्य मम्मट ने लक्षणा की तीन शर्तें अनिवार्य बताई हैं। इनमें से "मुख्यार्थ बाध" को चार-पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

2) लक्षणा शब्द शक्ति के भेद-उपभेदों का उल्लेख करते हुए लगभग पन्द्रह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित विषयों को उदाहरण सहित लगभग सात-आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

i) गौणी रूढ़ा लक्षणा

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) शुद्धा रूढ़ा लक्षणा

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) प्रयोजनवती लक्षणा क्या है? परिभाषा तथा उदाहरण देते हुए उसके प्रमुख भेदों का दस पंक्तियों में नामोल्लेख कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

**अभ्यास–1**

i) रूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत आपने 'चौकन्ना' शब्द पढ़ा है। इस प्रकार के कुछ और शब्दों की सूची तैयार कीजिए।

ii) शुद्धा रूढ़ा लक्षणा के कुछ उदाहरण आप इकट्ठे कीजिए।

## 33.5 व्यंजना

शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना कहते हैं।

'व्यंजना' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'अञ्जु' धातु से निष्पन्न है। इस धातु का अर्थ है देखना, प्रकट करना। अतएव व्यंजना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है वह शक्ति जो विशेष रूप से देख सके अर्थात् दूर के अर्थ को उद्भासित कर सके। अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना में अर्थ-द्योतन की विशेष क्षमता होती है। व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिए पाठक या श्रोता को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, इसीलिए वह अधिक चमत्कारप्रद और आनन्ददायक होता है। यही कारण है कि व्यंग्य-काव्य को सर्वश्रेष्ठ काव्य माना गया है।

व्यंजना से प्रतीयमान अर्थ को व्यंग्यार्थ, और इस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को व्यंजक शब्द कहते हैं।

### 33.5.1 व्यंजना के भेद

व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं– 1. शाब्दी, और 2. आर्थी। आर्थी के पुनः दो भेद– 1. अभिधामूला, और 2. लक्षणामूला। लक्षणामूला के फिर दो भेद हो जाते हैं–1. अजहत्स्वार्थ मूला, और 2. जहत्स्वार्था।

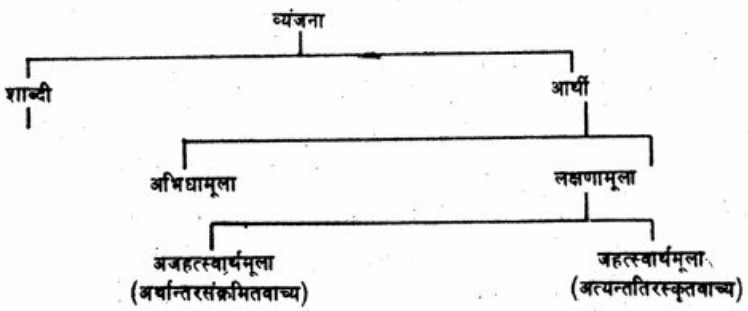

**शाब्दी व्यंजना**—जहाँ व्यंगार्थ किसी विशेष शब्द पर निर्भर करता है वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है।

शाब्दी व्यंजना अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग-स्थलों में ही पायी जाती है। व्यंजक शब्द के स्थान पर उसका समानार्थी शब्द रख देने से शाब्दी व्यंजना का सारा चमत्कार लुप्त हो जाता है।

बिहारी के निम्नांकित दोहे में शाब्दी व्यंजना का चमत्कार देखते ही बनता है—

चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।।

इस दोहे का सामान्य अर्थ है—राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरजीवी हो; इनका पारस्परिक प्रेम गम्भीर क्यों न हो, क्योंकि इन दोनों में घटकर कौन है—यदि एक वृषभानु—जैसे महापुरुष की पुत्री हैं तो दूसरे बलराम—जैसे प्रभावशाली पुरुष के भाई। इस अर्थ के बाद भी 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों का कुछ अन्य अर्थ झांक रहा है। 'वृषभानुजा' की दो व्युत्पत्तियाँ हैं—वृषभानु + जा तथा वृषभ + अनुजा, और इन व्युत्पत्तियों के आधार पर वृषभानुजा के अर्थ हैं, राधा और गाय। ऐसे ही 'हलधर' के भी दो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं—एक तो हल को शस्त्र के रूप में धारण करने वाले बलराम, और दूसरे हल को खींचने वाला बैल। ऐसी स्थिति में व्यंग्यार्थ हुआ कि राधा और कृष्ण की जोड़ी चिरकाल तक जीवित रहे। इन दोनों में गम्भीर प्रेम का होना भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक तो गाय है और दूसरा बैल का भाई अर्थात् बैल।

यदि प्रस्तुत दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दों को रख दिया जाय तो उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो पाती जो इस समय हो रही है।

शाब्दी व्यंजना और श्लेष अलंकार में भेद है—श्लेष अलंकार में शब्द के विभिन्न अर्थों पर समान दृष्टि रहती है जबकि शाब्दी व्यंजना में प्रधानता तो वाच्यार्थ की रहती है, व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए करायी जाती है।

व्यंजक शब्दों को नियत अर्थों में केन्द्रित करने के लिए प. रामदहिन मिश्र ने तेरह आधारों की चर्चा की है—संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश काल और व्यक्ति।

**आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंगार्थ शब्द पर निर्भर न होकर अर्थ पर निर्भर हो वहाँ आर्थी व्यंजना होती है। यहाँ व्यंजक शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी व्यंग्यार्थ की निर्बाध प्रतीति होती रहती है।

आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं—1. अभिधामूलक, और 2. लक्षणामूलक।

**अभिधामूलक**—जहाँ मुख्यार्थ-बोध के तुरन्त बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाय वहाँ अभिधामूलक आर्थी व्यंजना होती है।

गूंजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान—
'भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह!'

—साकेत, मैथिलीशरण गुप्त

यह उस समय का वर्णन है जब कुटिल दासी मन्थरा ने सरलहृदया और राम के प्रति ममतामयी कैकेयी के हृदय में सन्देह के बीज बोकर उसके अन्दर एक विकट उलझन पैदा कर दी। कैकेयी इस उलझन में इतनी फंस गयी कि उसे ही वास्तविक समझ बैठी। प्रस्तुत पंक्तियों को पढ़ते ही मुख्यार्थ स्पष्ट हो जाता है और इस मुख्यार्थ के स्पष्ट होते ही 'कैकेयी के हृदय की न सुलझने वाली उलझन'—रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः यहाँ पर अभिधामूला व्यंजना है।

**लक्षणामूला**—जहाँ लक्ष्यार्थ-बोध के बाद व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ लक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

लक्षणा के प्रसंग में बताया जा चुका है कि लक्षणा के छह भेदों में प्रयोजन का बोध व्यंजना से ही होता है, क्योंकि लक्षणा तो लक्ष्यार्थ का बोध कराकर विरत हो जाती है। प्रयोजन की प्रतीति कराने का लक्षणा में सामर्थ्य ही नहीं होता। सारोपा और साध्यवसाना के गौणी और शुद्धा से बने चार भेद अलंकारों में परिणत हो जाते हैं अतः वे व्यंजना के भेदों की सीमा में नहीं आ सकते। शेष बचते हैं, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। ये ही व्यंजना के मूल हैं, क्योंकि प्रयोजन-रूप व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिए यहाँ लक्षणा का सहारा लिया जाता है। अतः लक्षणामूला आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं— 1. अजहत्स्वार्थलक्षणामूला, और 2. जहत्स्वार्थलक्षणामूला।

**1. अजहत्स्वार्थलक्षणामूला**—जहाँ व्यंजक मुख्यार्थ का पूर्णतः त्याग किये बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है वहाँ अजहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

अजहत्स्वार्थलक्षणामूला को 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' भी कहा जाता है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि यहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर (अन्य अर्थ) रूप लक्ष्य अर्थ में संक्रमित (परिवर्तित) हो जाता है; अपने आप भी रहता है, किन्तु परिवर्तित रूप में। 'रामचरितमानस' के निम्नांकित दोहे में अजहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना की सुन्दर झलक देखी जा सकती है—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ ।
जौं मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आइ ।।

यहाँ राम जटायु से कह रहे हैं कि हे तात! तुम स्वर्ग में जाकर पिता से सीता-हरण की बात मत कहना। यदि मेरा नाम राम है तो स्वयं रावण अपने पूरे कुल के सहित स्वर्ग पहुँचकर इस बात की सूचना देगा। इस प्रसंग में राम वक्ता हैं और वे स्वयं अपने लिए कर रहे हैं कि 'यदि मैं राम हूं'। श्रोता जब सामने उपस्थित हो तब वक्ता के द्वारा अपना उल्लेख करना निरर्थक-सा जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'राम' के मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है और तब लक्षणा से इसका अर्थ निकलता है, खर-दूषण आदि का हन्ता वीर राम। यहाँ राम की वीरता व्यंग्य है और इस व्यंग्यार्थ में अजहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना काम कर रही है। अजहत्स्वार्था यह इसलिए है कि यहाँ पर 'राम' पद ने अपने मुख्यार्थ 'दशरथपुत्र राम' का सर्वथा त्याग नहीं किया है।

2. **जहत्स्वार्थलक्षणामूला**—जहाँ व्यंजक शब्द व्यंग्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर देता है वहाँ जहत्स्वार्थलक्षणामूला आर्थी व्यंजना होती है।

इस व्यंजना का एक अन्य नाम 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' भी है। इसका कारण यह है कि यहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' से अंगद की रावण के प्रति इस उक्ति को लिया जा सकता है—

कह अंगद सलज्ज जग माहीं ।
रावन तोहि समान कोउ नाहीं ।।

परस्त्री सीता का अपहरण करने वाले रावण को 'सलज्ज' (लज्जावान्) कहना एकदम असंगत है। ढीठ रावण को समझाते-समझाते अंगद खीझ उठा है और उसकी यह उक्ति उसकी इसी खीझ का परिणाम है। स्पष्ट ही वह रावण को 'लज्जावान्' नहीं कह सकता। अतः मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित हो रही है और ऐसी स्थिति में वैपरीत्य-संबंध से 'सलज्ज' का अर्थ 'निर्लज्ज' लक्षणा से प्रतीत होता है। वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग होने से यहाँ जहत्स्वार्था है। व्यंग्यार्थ है रावण की निर्लज्जता का पराकाष्ठा जो पराई स्त्री का हरण करने के बाद भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रहा है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ की प्रतीति के बाद ही हो रही है। अतः यहाँ लक्षणामूला व्यंजना हुई। जो लक्षणा यहाँ सक्रिय है वह है जहत्स्वार्था, अतः प्रस्तुत उदाहरण में जहत्स्वार्थलक्षणामूला व्यंजना की प्रवृत्ति है।

## 33.5.2 विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के भेद

विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के सामान्यतः दस भेद किये गये हैं। इन भेदों के आधार हैं— 1. वक्ता, 2. बोद्धव्य (जिससे बात की जाय), 3. वाक्य, 4. अन्यसन्निधि, 5. वाच्य (वक्तव्य), 6. प्रस्ताव (प्रकरण), 7. देश, 8. काल, 9. काकु (कण्ठध्वनि), और 10. चेष्टा।

**1. वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ कवि अथवा कविकल्पित वक्ता के कथन की विशेषता से व्यंग्यार्थ की प्रतीती होती है वहाँ वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

जुवति जोन्ह में मिलि गई नैंकु न होती लखाइ ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली संग जाई ।।

—बिहारी

शुक्लाभिसारिका नायिका की एक अन्तरंग सखी दूसरी सखी से नायिका के विषय में कहती है कि यह युवती अपने गौर वर्ण के कारण चाँदनी में इतनी अधिक मिल गयी है कि किंचिन्मात्र भी लक्षित नहीं हो रही है। उसकी भ्रमर—जैसी सखी जो सकेत-स्थल पर उसे अभिसार कराने के लिये जा रही है, उसके शरीर की सुगंध के डोरे के सहारे ही उसके साथ चली जा रही है।

यहाँ 'सौधे के डोरे' के द्वारा नायिका के पद्मिनी कोटि के होने की व्यंजना है; क्योंकि पद्मिनी कोटि की नायिका के अनेक लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है कि उसके शरीर से कमल-जैसी सुगन्ध आती है। यह व्यंग्यार्थ वक्ता के कथन (सौंधे कै डोरे) से निकलता है, अतः यहाँ पर वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**2. बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ बोद्धव्य अर्थात् श्रोता की विशेषता से व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ बोद्धव्य वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

गुरुजन पर बस तुम पिया गमन करत मधुकाल ।
हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनिहौ सब मो हाल ।।

नायक गुरुजनों का आदेश मानकर परदेस जा रहा है। वसन्त ऋतु का समय है। नायिका नहीं चाहती कि वह परदेस जाये, किन्तु वह उसके परदेस-गमन को रोक भी नहीं सकती। ऐसी स्थिति में वह उससे केवल इतना कहती है कि उसके जाने के बाद उसे उसके (नायिका के) हाल का स्वयं पता चल जायेगा।

यहाँ 'सुनिहौ सब मो हाल' में व्यंजना है कि नायक के परदेस-गमन के बाद नायिका जीवित नहीं बचेगी। इस व्यंग्यार्थ को श्रोता (नायक) भली प्रकार समझ रहा है, अतः यहाँ पर बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**3. वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—आर्थी व्यंजना के इस भेद में व्यंग्यार्थ वाक्य को कहने के ढंग से ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' के 'नारद-मोह' प्रसंग में जब नारद विश्वमेहिनी को प्राप्त करने के लिए भगवान् विष्णु से उनके रूप की याचना करते हैं तब भगवान् विष्णु उनसे कहते हैं—

जेहि विधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार ।
सोइ हम करण न आन कछु, वचन न मृषा हमार ।।

भगवान विष्णु के इस कथन को नारद भ्रमवश अपने पक्ष में मान बैठे—उन्होंने समझ लिया कि अब तो भगवान् विष्णु अपना रूप मुझे दे ही देंगे। किन्तु भगवान् विष्णु की उक्ति में जो व्यंग्यार्थ निहित है, वह यह है कि हे नारद! यदि मैं अपना रूप दे दूंगा तो तुम मायाजाल में फंस जाओगे जो तुम्हारे—जैसे तपस्वी के लिए ठीक नहीं है। इसलिए मैं तुम्हें ऐसा रूप (बन्दर का रूप) दूंगा जिससे तुम्हारा मंगल हो। यह व्यंग्यार्थ भगवान् विष्णु के द्वारा वाक्य के कहने के ढंग पर आधारित है। इसीलिए यहाँ वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**4. अन्यसन्निधिवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—इस व्यंजना में एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा समझे की स्थिति होती है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति तीसरे व्यक्ति की समीपता (अन्यसन्निधि) से होती है। उदाहरण के लिए यह दोहा द्रष्टव्य है—

सौंप्यो सब गृहकाज मोहिं अरी! निरदई सास ।
सांझ समय में छिनक अलि! मिलत कहूं अवकास ।।



पारकीया नायिका अपने प्रेमी के घर जाकर प्रेमी की उपस्थिति में उसकी पत्नी से कहती है कि ऐ सखि! निर्दयी सास ने मुझे घर का सारा काम-काज सौंप रखा है, इसलिए दिन तो

सारा ही काम-धन्धे में व्यतीत हो जाता है, सन्ध्याकाल में कहीं जाकर मुझे थोड़ा-सा अवकाश मिल पाता है।

यहाँ पर प्रेमी की पत्नी तो समझती नहीं है, किन्तु प्रेमी समझ जाता है कि नायिका उसे सन्ध्याकाल में बुला रही है। यही उक्त दोहे का व्यंग्यार्थ है। इसीलिए इस दोहे में अन्यसन्निधिवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**5. वाच्य अथवा वक्तव्य से उत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंग्यार्थ का मूलाधार वाच्य या वक्तव्य (कही जाने वाली बात) होता है वहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'जयद्रथ-वध' में अभिमन्यु के वध के उपरान्त उसकी पत्नी उत्तरा विलाप करती हुई कहती है—

मैं हूं वही जिसको किया था विधिविहित अर्द्धांगिनी ।
भूलें न मुझको नाथ! मैं हूं अनुचरी चिरसंगिनी ।।

शोक के इस प्रकरण में प्रयुक्त 'विधिविहित अर्द्धांगिनी' 'अनुचरी' और 'चिरसंगिनी' शब्दों से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि अभिमन्यु को साथ उत्तरा को भी ले जाना चाहिए था। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति उत्तरा के वक्तव्य से हो रही है, अतः यहाँ पर वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**6. प्रस्ताव या प्रकरण से उत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ व्यंग्यार्थ प्रस्ताव या प्रकरण पर आधारित होता वहाँ प्रस्तावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्म के नाते।।

इस पद्य में भगवान बुद्ध के द्वारा चुपचाप घर छोड़ देने के कारण विक्षब्ध यशोधरा के हृदय के उद्‌गार हैं जिनका व्यंग्यार्थ यह है कि यदि भगवान् बुद्ध यशोधरा से कहकर जाते तो वह उनके पवित्र कार्य में बाधा नहीं बनती अपितु उन्हें प्रसन्नतापूर्वक विदा देती। उनका चुपचाप चला जाना ठीक नहीं हुआ।

उक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति भगवान् बुद्ध के गृह-त्याग के प्रकरण के कारण हो रही है। यदि यह प्रस्ताव या प्रकरण न होता तो प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। इसीलिए उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**7. देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—यह व्यंजना वहाँ होती है जहाँ स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। बिहारी का निम्नांकित दोहा इस व्यंजना का सुन्दर निदर्शन है—

सनु सूक्यौं, बीत्यौं बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजौं, धरि धरहरि जिय नारि।।

दोहे का सामान्य अर्थ है—यद्यपि सन सूख गयी है, कपास भी समाप्त हो चुकी है, यहाँ तक कि ऊख भी उखाड़ ली गयी है तथापि अरहर अब भी हरी-भरी है; अतः हे नारी! तू अपने हृदय में धैर्य धारण कर।

वस्तुतः यहाँ पर अनुशयाना नायिका (वह नायिका जो संकेत-स्थलों के नष्ट हो जाने से दुःखी हो जाती है) को उसकी सखी धैर्य बंधाते हुए कहती है कि खेतों मे यदि सन, कपास और ऊख उखड़ भी गये तो भी कोई बात नहीं है, अभी खेतों में हरी-हरी अरहर तो खड़ी हुई है अतः अरहर के खेत ही तेरे लिए संकेत-स्थल का काम करेंगे। यही दोहे का व्यंग्यार्थ है और इस व्यंग्यार्थ का ज्ञान स्थान (अरहर के खेतों) से होता है अतः यहां पर देशवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**8. कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—समय की विशेषता के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ-बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

बैठि रहो अति सघन बन पैठि सदन-तन मांह ।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह ।।

—बिहारी

नायिका नायक से कहती है कि इस जेठ की दुपहरी में तुम कहाँ जा रहे हो? आओ, थोड़ा घाम का निवारण कर लो। इस दुपहरी को देखकर तो छाया भी छाया चाह रही है—वह भी सघन वन में बैठ रही है और घरों में प्रवेश कर रही है (दोपहर के समय वनों के वृक्षों की और घरों की भित्तियों की छाया इतनी छोटी हो जाती है कि वह वृक्षों और भित्तियों में ही समायी जान पड़ती है)।

वास्तव में नायिका यहाँ पर स्वयंदूतिका है जो जेठ की दुपहरी के बहाने नायक को घर में बुलाकर उसे अभिसार का निमन्त्रण दे रही है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'जेठ की दुपहरी' के द्वारा हो रही है, अतः यहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**9. काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—काकु का अर्थ है कंठ = ध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि। जहाँ व्यंग्यार्थ काकु पर आधारित हो वहाँ काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है। जब राम वन्य जीवन की कठोरता और सीता की सुकुमारता का आख्यान करते हुए सीता से वन न चलने का अनुरोध करते हैं तब सीता काकु का अवलम्ब लेकर (राम से कहती है—

मैं सुकुमारि नाथ बन जागू। तुम्हहिं उचित तप मो कहुं भोगू।।

सीता के इस काक्वाक्षिप्त कथन का व्यंग्यार्थ है कि केवल मैं ही सुकुमार नहीं हूँ, आप भी सुकुमार हैं। यदि आप वन जा सकते हैं तो मैं भी वन जा सकती हूं। तपस्या केवल आपके ही लिए नहीं, मेरे लिए भी उचित है। पति और पत्नी का साथ सुख और दुःख की हर स्थिति में होता है। अतः आपके साथ मैं भी वन चलूँगी। इस व्यंग्यार्थ का बोध सीता की कथन-भंगिमा पर आधारित है। अतः यहाँ काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**10. चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—जहाँ चेष्टा अर्थात् हाव-भाव आदि के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होता है। जैसे—

कंज नयनि मंजनु किए, बैठी व्यौरति बार ।
कच-अंगुरि-बिच दीठि है, चितवति नंदकुमार ।।

—बिहारी

कमलनयनी नायिका स्नान करने के बाद बैठी हुई अपने बाल सुलझा रही है। उसने कंघी से बालों को अपने मुँह के आगे डाल रखा है। इन्हीं बालों के बीच अपनी उंगलियों को डालकर और अपने नेत्रों के सामने से बालों को हटाकर कनखियों से नायक को देख रही है।

नायिका के द्वारा बालों के बीच में उंगलियों को डालकर नायक को कनखियों से देखने से नायक के प्रति उसके प्रेम की व्यंजना हो रही है। इस प्रेम-रूप व्यंग्यार्थ का पता नायिका की उक्त चेष्टा से चलता है, अतः दोहे की दूसरी पंक्ति में चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना काम कर रही है।

**11. अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना**—कभी-कभी एक ही उदाहरण में वक्ता, श्रोता, प्रकरण आदि अनेक विशेषताओं के आधार पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे—

यहि काल रसाल बसन्त अहो! कुसुमायुध बान चलावतुही ।
फिरि धीर समीर सुगन्धित हूं तरुनीन अधीर बनावतुरी
वन मंजुल-बंजुल-कुंज बनी, सजनी! ये थनी ललचावतुरी!
नहिं पास पिया, करिए जु कहा? अब तू ही तो क्यों न ।

—बतावतुरी

नायिका की यह उक्ति अपनी सखी से है। यहाँ 'बसन्त' के कथन से कालवैशिष्ट्य, 'मंजुल-बंजुल-कुंज से देशवैशिष्ट्य, नायिका के कारण वक्तृवैशिष्ट्य, सखी के प्रति कथन के कारण बोद्धव्यवैशिष्ट्य, 'कुसुमायुध बान चलावतु' से वाच्यवैशिष्ट्य आदि अनेक प्रकार की विशेषताएँ हैं, और इन सारी विशेषताओं के आधार पर नायिका की कामातुरता की व्यंजना है। इस प्रकार एक ही उदाहरण में अनेक विशेषताओं के बल पर उक्त व्यंजना होने के कारण यहाँ अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना है।

**बोध प्रश्न 4**

1) व्यंजना किसे कहते हैं? परिभाषा तथा उदाहरण देकर व्यंजना के प्रमुख भेद उपभेदों का नामोल्लेख लगभग दस पंक्तियों में कीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना में क्या अंतर है? उदाहरण देकर लगभग आठ पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) काकुवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना का उदाहरण देते हुए पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

5) चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना को उदाहरण सहित पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

6) विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के ग्यारह भेदों का नामोल्लेख कीजिए–

अभ्यास 2

i) अभिधामूला आर्थी व्यंजना के कुछ उदाहरण छाँटिए।

ii) जहत्स्वार्थलक्षणामूला के कुछ उदाहरण आप स्वयं तलाश कीजिए।

## 33.6 सारांश

हम यह मानकर चल रहे हैं कि इस इकाई को आपने ध्यान से पढ़ा होगा। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान गये हैं कि–

- शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को 'शब्द शक्ति' कहते हैं।
- शब्द की तीन शक्तियाँ हैं–अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।
- शब्द की जिस शक्ति से संकेतित, प्रसिद्ध या मुख्य अर्थ का बोध होता है, उसे अभिधा कहते हैं।
- मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखने वाले अन्य अर्थ का बोध हो, उसे लक्षणा कहते हैं।
- लक्षणा के सामान्य रूप से आठ भेद किये गये हैं। पहले इसके दो भेद है–रूढ़ा और प्रयोजनवती। रूढ़ा के पुनः दो भेद हैं–गौणी और शुद्धा। प्रयोजनवती गौणी के फिर दो भेद हैं–सारोपा और साध्यवसाना। प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद हैं–सारोपा, साध्यवसाना, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। इस वर्गीकरण को इस रेखाचित्र से समझा जा सकता है।

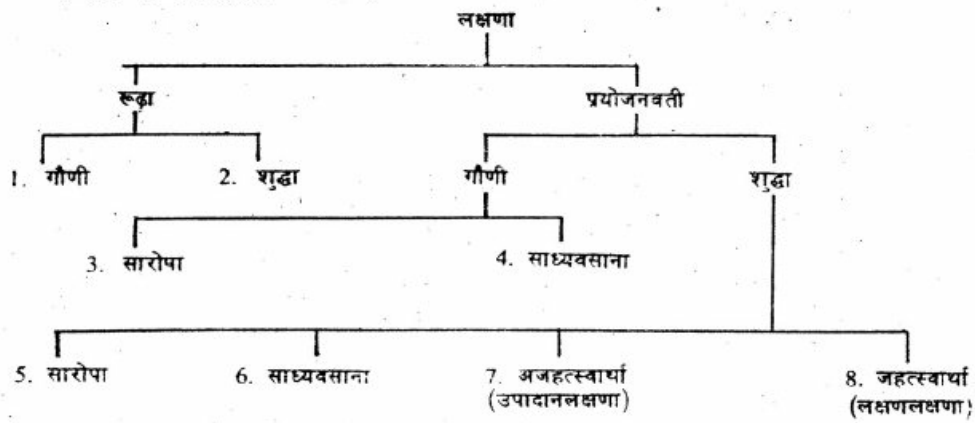

- शब्द की जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना कहते हैं।
- व्यंजना के दो प्रमुख भेद हैं—शाब्दी आर्थी। आर्थी व्यंजना के अभिधामूला और लक्षणामूला नामक दो भेद हैं। लक्षणामूला के पुनः दो भेद है—अजहत्स्वार्था (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य) और जहत्स्वार्था (अत्यंततिरस्कृतवाच्य)।
- वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य आदि की विशेषताओं के आधार पर आर्थी व्यंजना के दस और भेद भी स्वीकार किये गये हैं

## 33.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें


1) **हिन्दी साहित्य कोश**, भाग 1, प्रधान संपादक धीरेन्द्र वर्मा।
2) **भारतीय साहित्यशास्त्र कोश**, डा. राजवंश सहाय 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।
3) **भारतीय काव्यशास्त्र**, डा. रामानंद शर्मा, विनोद पुस्तक भंडार, आगरा।
4) **काव्यांग दर्पण**—डा. विजय बहादुर अवस्थी, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली।
5) **हिन्दी काव्य शास्त्र की परम्परा**; डॉ. शिवनाथ पाण्डेय; के.एल. पचौरी प्रकाशन, दिल्ली।


## 33.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए, भाग 33.2
2) i) देखिए, भाग 33.2
   ii) देखिए, भाग 33.2
   iii) देखिए, भाग 33.2
3) i) √
   ii) ×
   iii) √
   iv) √
   v) ×

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए, भाग 33.3
2) देखिए, भाग 33.3.1
3) i) देखिए, भाग 33.3.2
   ii) देखिए, भाग 33.3.2

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए, भाग 33.4
2) देखिए, भाग 33.4 (33.4.1, 33.4.2, 33.4.3)
3) i) देखिए, भाग 33.4.2
   ii) देखिए, भाग 33.4.2
4) देखिए, भाग 33.4.3.

**बोध प्रश्न 4**

1) देखिए, भाग, 33.5 (33.5.1, 33.5.2)
2) देखिए, भाग, 33.5.1
3) देखिए, भाग, 33.5.2
4) देखिए, भाग, 33.5.2
5) देखिए, भाग, 33.5.2
6) देखिहए, भाग, 33.5.2

**अभ्यास 1 और 2**

**उत्तर तैयार करने के बाद छात्र काउंसिलर को दिखायें।**

# इकाई 34 बिम्ब, प्रतीक एवं कल्पना तत्व

## इकाई की रूपरेखा


34.0 उद्देश्य
34.1 प्रस्तावना
34.2 बिम्ब : अभिप्राय एवं परिभाषा
34.3 काव्यबिम्ब की विशेषताएँ
34.4 बिम्ब के आधारभूत प्रेरक तत्व
34.5 बिम्ब का वर्गीकरण (भेद)
  34.5.1 ऐन्द्रिय बिम्ब
  34.5.2 अनुभूति परक बिम्ब
  34.5.3 सृजन प्रेरक बिम्ब
  34.5.4 अभिव्यंजना की दृष्टि से बिम्ब-भेद
34.6 बिम्ब के गुण
34.7 प्रतीक : महत्व
34.8 प्रतीक का स्वरूप-विस्तार एवं परिभाषा
  34.8.1 भारतीय दृष्टि
  34.8.2 पाश्चात्य दृष्टि
34.9 प्रतीकवाद
34.10 प्रतीक की विशेषताएँ
34.11 प्रतीकों का वर्गीकरण
34.12 प्रतीकों का प्रयोग
34.13 कल्पना : महत्व
34.14 कल्पना का स्वरूप और विशेषताएँ
  34.14.1 भारतीय मत
  34.14.2 पाश्चात्य मत
34.15 कल्पना के भेद
  34.15.1 स्वैर कल्पना
  34.15.2 प्रतिभा
  34.15.3 कल्पना
34.16 कल्पना का विस्तार
34.17 शब्दावली
34.18 कुछ उपयोगी पुस्तके
34.19 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 34.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत साहित्य शास्त्र सम्बन्धी पाश्चात्य काव्य प्रतिमानों के अध्ययन से आप:

- बिम्ब; प्रतीक और कल्पना के स्वरूप को बता सकेंगे।
- काव्य प्रतिमान के रूप में इनके उपयोग को समझा सकेंगे।
- काव्यालोचन के संदर्भ में आधुनिक पाश्चात्य सिद्धांतों की समीक्षा कर सकेंगे।
- काव्य के आंतरिक उपादनों के रूप में बिम्ब, प्रतीक और कल्पना के रूप को बता सकेंगे, तथा
- कविता की रचना प्रक्रिया में तीनों के अंतर्सम्बन्ध का विवेचन कर सकेंगे।

## 34.1 प्रस्तावना

यह इकाई साहित्य शास्त्र के पश्चिमी प्रतिमानों से संबंधित है। इसमें आपका परिचय काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण उपादानों से कराया जाएगा। इस इकाई में बिम्ब, प्रतीक और कल्पना के अर्थ, स्वरूप, विशेषताओं, भेद और काव्य क्षेत्र में इनके उपयोग तथा महत्व पर विचार किया जाएगा। वैसे तो बिम्ब, प्रतीक और कल्पना का व्यवहार भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है। परन्तु साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक पश्चिमी आलोचना में ही ये सैद्धांतिक विवेचन विश्लेषण का विषय बने। काव्य के ये तीनों प्रतिमान अन्तः संबंधों से जुड़े हैं। कवि कल्पनाजीवी है और उसकी कविता कल्पना व्यापार। कवि-कल्पना को बिम्बों का प्रेरक तत्व माना गया है। कवि की चित्र-विधायिनी शक्ति कल्पना को भाव-गर्भित चित्रों अर्थात् बिम्बों में परिणत करती है। बिम्ब ही कालान्तर में रूढ़ होकर प्रतीकों में बदल जाते हैं। प्रतीक जातीय चेतना के संवाहक बनकर कविता को सांस्कृतिक मूल्यवत्ता प्रदान करते हैं। अतः विम्ब, प्रतीक और कल्पना साहित्य के महत्वपूर्ण उपादान हैं जिनका इस इकाई में स्वरूपगत परिचय कराया जाएगा। इससे पहले की इकाइयों में आप साहित्य की परिभाषा एवं प्रयोजन तथा रस एवं शब्दशक्ति का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं यह इस खंड की अंतिम इकाई है।

## 34.2 बिम्ब : अभिप्राय एवं परिभाषा

बिम्ब कविता में वर्णित भाव-गर्भित शब्द-चित्र है जिसे काव्य का अनिवार्य और महत्वपूर्ण उपादान माना गया है।। कविता के शिल्प-पक्ष से संबंधित इस आधुनिक काव्य-सिद्धांत में भावों को कवि के कल्पना और पाठक के भावन व्यापार में आकार देने की अपूर्व क्षमता का निदर्शन मिलता है। बिम्ब का जन्म कवि की अनुभूति से तब होता है जब वह अपनी रगात्मक कल्पना से अनुप्राणित हो कर उसे रूपाकार करता है। कवि कल्पना में बिम्ब निर्माण की अपूर्व क्षमता निहित रहती है क्योंकि उसकी ऐन्द्रिक संवेदना राग-सम्पृक्त होकर बिम्ब का रूप धारण करती है। काव्यशिल्प के इस उपकरण के बिना काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति और उसका संप्रेषण प्रभावकारी नहीं बन पाता।

आधुनिक पश्चिमी काव्यालोचन में बिम्ब को काव्य-कसौटी का मुख्य आधार स्वीकार किया गया है और यह अंग्रेजी शब्द "इमेज़" (IMAGE) का पर्याय है। अंग्रेजी में "इमेज" से मानसिक प्रतिकृति, मानस प्रत्यक्ष सचेष्ट समृति या किसी वस्तु की सदृशता आदि अर्थों का बोध होता है। और हमारे यहाँ यह शब्द छाया, प्रतिच्छाया प्रतिकृति, प्रतिच्छवि, प्रतिबिंबित तथा प्रत्यंकित रूप चित्र आदि शब्दों का समानार्थी है। सामान्यतः काव्य-बिम्ब को एक कल्पना-चित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसमें रंग और रेखाओं के अतिरिक्त भावों का सन्निवेश रहता है। पश्चिमी काव्यशास्त्री लौंगिनुस की दृष्टि में बिम्ब का उद्देश्य अभिभूत करना है। उनके अनुसार—जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं उसे साक्षात देख रहे हैं और अपने श्रोताओं के आगे भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं—बिम्ब है। बिम्ब के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली कुछ परिभाषाएँ अवलोकनीय हैं। शब्दकोश में बिम्ब किसी पदार्थ के बाह्य रूप की कृत्रिम अनुकृति है[1]।

- "बिम्ब किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की प्रतिकृति है। एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो।" (वेब्सटर्स थर्ड न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी) अतः बिम्ब साम्य के धरातल पर एक पदार्थ के लिए अन्य मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग है।

- बिम्ब स्मृति अथवा कल्पना में उपस्थित चित्र या प्रतिकृति है जिसका दृष्टिगम्य होना आवश्यक नहीं हैं।

"Image is A picture or representation (not necessarily visual) in the imagination or memory".— Chamber's Twentieth, Century *Dictionary—Page 527*



1. Image is Artificial imitation of the external form of an object.
(Shorter Oxford Dictionary; Page 604)

फिर भी बिम्ब अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है। बिम्ब संबंधी मूल अवधारणा इसी तथ्य पर टिकी है कि इसमें कल्पना एवं स्मृति के संयोग से भावों को मूर्तता प्रदान की जाती है। काव्यजगत से पूर्व मनोवैज्ञान में बिम्ब का विशद् विवेचन हो चुका था। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में बिम्ब को मानसिक पुनर्रचना (Moral Reproduction) स्वीकार किया गया है जो अतीत के संवेदनात्मक अनुभवों का पुनः प्रत्यक्षीकरण है। मनोविज्ञान में बिम्ब को इन्द्रियबोध से अभिन्न माना गया जिसमें कल्पना और स्मृति आवश्यक रूप से जुड़ी होती है। मनोवैज्ञानिक सी.डब्ल्यू. ब्रे कहते हैं–"बिम्ब वे सचेतन स्मृतियाँ हैं, जो मूल प्रेरक की अनुपस्थिति में किसी पूर्व-प्रत्यक्ष (अतीत अनुभव) को पूर्णतः अथवा अंशतः उत्पन्न करती हैं[1]।

अतः बिम्ब एक प्रकार की मानविक प्रतिकृति अथवा मनस्-चित्र है और "काव्य बिम्ब" शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी (विशिष्ट) मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।" काव्य बिम्ब : डॉ नगेन्द्र पृ. 5.

काव्य जगत में बिम्ब सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने वाले विद्वानों में सी.डी. लेविस, एजरा पाउंड, टी.ई, ह्यूम, रिचर्ड एलडिंगटन मुख्य हैं। लेविस के अनुसार – काव्य बिम्ब, न्यूनाधिक रूप में एक संवेदनामक (ऐन्द्रिय) शब्द चित्र है जो एक सीमा तक रूपात्मक होता है और अपने संदर्भ में मानवीय अनुभूतियों से आप्लावित रहता है। साथ ही बिम्ब विशेष काव्यात्मक संवेग को पाठक तक संप्रेष्ति भी करता है।

## 34.3 काव्यबिम्ब की विशेषताएँ

काव्य बिम्ब के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों द्वारा अनेकानेक परिभाषाएँ दी गई हैं जिनसे काव्य-बिम्ब की निम्न विशेषताएँ उजागर होती हैं:

1. बिम्ब शब्दों के माध्यम से व्यक्त एक भाव-चित्र है। अतः इसमें चित्रात्मकता का अनिवार्य गुण निहित रहता है।
2. बिम्ब में भाव या संवेग की **अनुप्रेरणा** रहती है। इस रूप में बिम्ब एक ऐसा शब्द चित्र है जो ऐन्द्रिय संवेदना को जागृत करता है।
3. बिम्ब का उद्देश्य चित्रण-शक्ति द्वारा पाठक या श्रोता के कल्पना अथवा भाव-संसार में भावोत्पादन एवं **भावोद्वेलन** करना है।
4. बिम्ब का निर्माण कल्पना से होता है। कवि की भावानुभूति से अतीतानुभव या स्मृतियाँ अविच्छिन्न हैं और स्मृति कल्पना से जुड़ी होती है। अतः बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया में कल्पना के साथ-साथ स्मृति आवश्यक उपकरण बनकर उपस्थित रहती है।
5. बिम्ब अमूर्त भावों एवं विचारों के मूर्तरूप प्रदान करता है।
6. बिम्बों में भावों के आंतरिक सौंदर्य की साम्यता के आधार पर अभिव्यक्ति होती है। इसलिए साम्य-सौंदर्य बिम्ब की मूलभूत विशेषता है।
7. कतिपय विद्वानों ने बिम्ब को एक अलंकरण के रूप में भी स्वीकार किया है जो भाषा के शाब्दिक प्रयोग से भिन्न एक आलंकारिक प्रयोग है। किन्तु बिम्ब अलंकार की भांति काव्य की बाह्य साज-सज्जा का उपकरण मात्र ही नहीं बल्कि काव्यानुभूति से उसके गहन संबंध को भी नकारा नहीं जा सकता।

विभिन्न परिभाषाओं में गर्भित बिम्ब की उल्लिखित विशेषताओं से स्पष्ट है कि बिम्ब के माध्यम से कवि अपने गहरी रागात्मक संवेदना, उदात्त-भावना और कल्पना को हम एक प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित करता है। बिम्ब के द्वारा कवि रागात्मक कल्पना को चित्रमय बनाकर प्रस्तुत करता है।

"The poetic image's more or less sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with an undernote of some human emotion in its context, but also charged with and releasing in to the reader a special poetic emotion or passion"

*— The Poetic Image : C.D. Lewis : Page 22*

1 Images are conscious memories which reproduce a previous perception, in whole or in part, in the absence of original stimulus to the perception' *Encyclopaedia Britanica : Vol. 12, Page 103.*

## 34.4 बिम्ब के आधारभूत प्रेरक तत्व

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यात्मक-बिम्ब निर्माण में भावानुभूति कवि की सृजनात्मक कल्पना, स्मृतिजन्य ऐन्द्रिय अनुभवों का संयोग होता है। और कवि की सामर्थ्य के अनुसार चित्रमयी सार्थक भाषा बिम्ब को अस्तित्व में लाती है। कवि का अनुभव-जगत और भाव लोक बड़ा विस्तृत है जहाँ से वह काव्य के विषय चुनता है। 'अपने व्यापक सांसारिक अनुभवों के आधार पर ही अपनी कविता में कवि उनकी अर्थात् भाव, अनुभूति और स्मृतिविषयक अनुभवों की पुनप्रस्तुति करता है। कवि जब अपनी सृजनात्मक कल्पना के माध्यम से अनुभूतियों (भाव) का चित्रण अपने मानसिक चित्रों के सामान्तर करता है तभी बिम्ब का जन्म होता है। बिम्ब का प्रत्यंकन कवि के मानस लोक में होता है। स्मृति कवि के पूर्व अनुभवों को जगृत करके बिम्ब की सृष्टि करती है। इसलिए बिम्ब को कवि के आवेगमय ऐन्द्रिय क्षणों की उत्पत्ति माना जाता है, जहाँ उसके भाव और कविता का वर्ण्य तदाकार हो जाते हैं। कवि के आवेगमय क्षणों से संयुक्त होकर ही बिम्ब का सौंदर्य निखरता है। बिम्ब के इस सौदर्य को सार्थक-शब्द मूर्त रूप प्रदान करते हैं। अव्यक्त भावानुभूति और कवि के मानस पटल पर अंकित चित्र को आकार देने में भाषा की सार्थक चित्र शक्ति का विशेष योग होता है जिसके अभाव में बिम्ब निर्माण संभव नहीं। अतः कहा जा सकता है कि भाव, कल्पना, स्मृति एवं ऐन्द्रिकता बिम्ब के मूल प्रेरक तत्व हैं और सार्थक भाषा उसका शरीर।

## 34.5 बिम्ब का वर्गीकरण (भेद)

बिम्बों का वर्गीकरण विस्तृत फलक पर करने के बहुत से प्रयास हुए हैं किन्तु बिम्ब प्रकारों का पूर्ण समावेश न होने के कारण वे वर्गीकरण पूर्ण और आदर्श नहीं माने गए। वैसे भी बिम्ब को खण्डित करके उसे विभिन्न खांचों (भेदों) में बाँटकर देखना उसके सौंदर्य को नष्ट करने की ही चेष्टा है। इसीलिए बिम्बवाद के जनक सी.डी. लेविस का मानना है कि बिम्ब काव्य की रचना-प्रक्रिया से इतने घनिष्ठ रूप में संयुक्त होते हैं कि उनहें कविता से अलग करके उसके भेद-प्रभेदों की चर्चा करना उचित नहीं। फिर भी रूप, कार्य विषयवस्तु और ऐन्द्रिय आधारों पर साहित्यक संदर्भ में विद्वानों द्वारा बिम्ब के अनेकानेक भेद किए गए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि साहित्य से पूर्व मनोविज्ञान में बिम्ब विश्लेषण का आधार बने। मनोविश्लेषण शास्त्र में बिम्ब के दो भेद स्वीकार किए गए—स्वप्न बिम्ब और आद्य बिम्ब। मनोविज्ञान में यह वर्गीकरण युक्तिसंगत माना गया। पाश्चात्य और आधुनिक हिन्दी अलोचकों ने अपनी-अपनी विशिष्ट दृष्टि से बिम्ब का विभाजन किया। आधुनिक हिन्दी समालोचक डॉ. नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'काव्य-बिम्ब' में पश्चिमी और भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतों का समाहार करते हुए बिम्बों का एक मान्य वर्गीकरण करने का प्रयास किय। डॉ. नगेन्द्र ने बिम्ब की आधारभूत विशेषतओं की दृष्टि से निम्न वर्ग माने:

1. ऐन्द्रिकता के आधार पर बिम्ब के पाँच भेद हैं (1) दृश्य (2) श्रव्य (3) स्पृश्य (4) घ्रातव्य तथा (5) रस्य या आस्वाद्य बिम्ब।
2. सर्जक कल्पना के आधार पर स्मृति और कल्पित दो प्रकार के बिम्ब माने गए और इन्हीं के समानान्तर लक्षित तथा उपलक्षित भेद हुए।
3. प्रेरक अनुभूति के आधार पर सरल, मिश्र, जटिल तथा पूर्ण समाकलित बिम्ब भेद हुए। यहाँ डॉ. नगेन्द्र ने खंडित बिम्बों का उल्लेख भी किया है।
4. काव्यार्थ की दृष्टि से एकल (मुक्तक) तथा संश्लिष्ट (निबद्ध) दो प्रकार के बिम्ब हैं।
5. काव्य के आधार पर वस्तुपरक या यथार्थ और रोमानी या स्वच्छन्द बिंब कल्पित हुए। दूसरे रूप में घटना तथा प्रकरण बिम्ब भी डॉ. नगेन्द्र ने माने। यह धर्गीकरण पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया।

बिम्बों का कोई भी वर्गीकरण पूर्ण नहीं माना गया क्योंकि अलोचकों द्वारा किया गया वर्गीकरण उनकी व्यक्तिगत धारणाओं पर आधारित है। बिम्ब के आधारभूत प्रेरक तत्वों तथा भावानुभूति चित्रमयता, ऐन्द्रिकता और साम्य दृष्टि आदि अनिवार्य विशेषताओं को

ध्यान में रखते हुए ही बिम्ब के भेदों का निर्धारण होना चाहिए। बिम्ब भेद निम्न दृष्टि से समझे जा सकते हैं:

### 34.5.1 ऐन्द्रिय बिम्ब

पंच ज्ञानेन्द्रियों की स्थूल एवं सूक्ष्म संवेदना पर आधृत यह बिम्ब भेद हैं जिसमें ऐन्द्रिय संवेदन के आधार पर बिम्ब निर्माण एवं उसका संप्रेषण होता है। ऐन्द्रिय बोध और दृश्य बोध बिम्ब की दो अनिवार्य विशेषताएँ हैं। ऐन्द्रिय धरातल पर बिम्ब मानस-प्रत्यक्ष होता है। उसका यह प्रत्यक्षीकरण चाक्षुष भी हो सकता है, श्रव्य भी तथा अन्य इन्द्रियों द्वारा संवेदित भी। यह बात और है कि दृश्यात्मकता की अनिवार्य विशेषता के कारण कई विद्वानों द्वारा बिम्ब को संपूर्णतः एवं प्रमुखतः चाक्षुष ही माना गया है किन्तु बिम्ब की दृश्य विशेषताओं को चाक्षुष ज्ञान तक ही सीमित और संकुचित नहीं मानना चाहिए। बिम्ब के दृश्य और प्रत्यष बोध में सभी कर्मेन्द्रियों का संवेध समाहित है। पदार्थ, वस्तु, रूप और दृश्य आदि के वर्ण में कवियों ने चाक्षुष बिम्बों का निर्माण किया है। **चाक्षुष बिम्बों** का संबंध नेत्रों से है। सजीव चित्रात्मक वर्णन इन बिम्बों की विशेषता है। निम्न काव्य पंक्तियों में सुमित्रानन्दन पंत ने संवेदनयुक्त हृदय से भारत के ग्रामीण बच्चों का साकार चित्र (दृश्य या चाक्षुष बिम्ब्र) प्रस्तुत किया है:

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्णवसन,
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गवंई लड़के—भू के धन।
कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित
टहनी सी टांगे, बढ़ा पेट,
टेढ़े-मेढ़े, विकलांग घृणित।।

**श्रव्य बिम्ब** का संबंध कर्णेन्द्रिय से है। ध्वनि, स्तर, लय, नाद, तान आदि कर्ण प्रिय ध्वन्यात्मक संगति से श्रव्य बिम्ब का प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। वर्षाकालीन निम्न वर्णन प्रसंग में श्रौत-बिम्ब की सृष्टि की गई है:

झम झम झम झम, मेघ बरसते हैं सावन के
छम छम छम, गिरतीं बूंदें तरूओं से छन के,
दादुर टर टर करते, झिल्ली बजती झन झन
म्याऊँ म्याऊँ रे मोर, पिउ पिउ चातक के गन।

स्पष्ट है कि श्रव्य बिम्ब ध्वनिमूलक होते हैं जिसमें शब्दों की ध्वन्यात्मकता बिम्ब प्रभाव उत्पन्न करती है। इसी प्रकार स्पर्शिक संवेदानात्मक चित्रों से **स्पृश्य बिम्ब, रसन-संवेदन से आस्वाध** तथा घ्राण संवेदन से **घ्रात्वय** बिम्बों की कल्पना की जाती है।

### 34.5.2 अनुभूति परक बिम्ब

इन्हें **भाव-बिम्ब** कह कर भी संबोधित किया जा सकता है। अनुभूति की तीव्रता अथवा भावावेश के क्षणों में इन बिम्बों का सृजन होता है। ये बिम्ब मानस-प्रत्यक्ष होकर मानवीय संवेदना को उद्‌बुद्ध करते हैं। निम्न पंक्तियों में महादेवी वर्मा ने हृदय रूपी दीपक का सुन्दर भाव-बिम्ब प्रस्तुत किया है: —

उर का दीपक चिर स्नेह अतल,
सुधि लौ शत झंझा से निश्चल,
सुख से भीनी दुख से गीली
वर्ती सी सांस अशेष रही।

### 34.5.3 सृजन प्रेरक बिम्ब

सृजन प्रेरणा की दृष्टि से बिम्ब को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—(1) स्मृति बिम्ब (2) कल्पित बिम्ब। बिम्ब के उक्त दोनों प्रकार मनोविज्ञान के अंतर्गत आते हैं। स्मृति विषयक बिम्ब अतीत के विचारों एवं रागात्मक क्षणों से संयुक्त होते हैं। दूसरी ओर कल्पित बिंब विचारों से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं। मनोविश्लेषणशास्त्र के स्वप्न और

आद्यविम्ब इन बिम्बों की सृष्टि में सहायक बनते हैं, विशेषकर स्मृति बिंब में। स्मृति को बिम्ब निर्माण की केन्द्रीय धुरी माना गया है। अतीत के उत्तेजनापूर्ण रागात्मक क्षणों को जयशंकर प्रसाद इस रूप में स्मृति बिम्बित करते हैं:

"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन-घन-सघन बरसते-
इन आँखों की छाया भर थे।
सुरधनु रजि नब-जलधर से-
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।"

कवि कल्पना जीवी होता है और कल्पना से बिम्ब का अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध है। कल्पना बिम्ब परिवर्तनशील और स्थायी होते हैं और कल्पित बिम्बों का स्थान कोई अन्य ऐन्द्रिय बिम्ब नहीं ले सकता। प्रकृति के भव्य स्वरूप को देखकर कल्पनाशील कवि आकाश के धरती पर उतर आने का बिम्ब कल्पित करता है:—

"अंतरिक्ष का बिखरा वैभव
पृथ्वी पर संचित है,
इसीलिए यह कलिका नभ-छवि
ले भू पर कुसुमित है।"

### 34.5.4 अभिव्यंजना की दृष्टि से बिम्ब-भेद

अभिव्यक्ति-सौंदर्य की दृष्टि से बिम्ब के दो भेद माने जा सकते हैं—शब्द बिम्ब तथा अलंकृत बिम्ब। शब्द बिम्ब में कवि अमूर्त भावनाओं को सार्थक शब्दों द्वारा मूर्त आकार देता है। सार्थक शब्द यदि बिम्ब के लिए आवश्यक हैं तो इस कथन में भी सच्चाई है कि बिम्ब शब्दों को सार्थकता प्रदान करते हैं। शब्द बिम्ब अपनी संक्षिप्तता में कलात्मक सौंदर्य सम्पन्न होते हैं जिसमें कवि का अभिप्राय पूर्णरूपेण संप्रेषित हो जाता है। साम्य-सौंदर्य बिम्ब की महत्वपूर्ण विशेषता है। कवि साम्यमूलक अलंकारों उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सहायता से प्रभावकारी बिम्ब निर्माण करता है। प्रसाद ने निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से नायिका (कामायनी की श्रद्धा) के सौंदर्य का अलंकृत बिम्ब प्रस्तुत किया है:

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।.....

बिम्ब विधान के उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त काव्यार्थ, प्रबंध-विधान, काव्य दृष्टि, अभिव्यक्ति गठन मानव-प्रकृति, सांस्कृतिक-संदर्भों आदि अन्य अनेक स्रोतों की दृष्टि से बिम्ब के दशाधिक भेद किये गये हैं। अतः बिम्बों का विभाजन अत्यंत विस्तृत विषय है।

## 34.6 बिम्ब के गुण

बिम्ब काव्य का शरीर नहीं हृदय है। इसीलिए प्रो. लिविंग्स्टन का मानना है कि बिम्ब-विधान काव्य का अलंकरण मात्र नहीं, उसका आंतरिक तत्व है। वस्तुतः काव्य का उद्देश्य केवल अर्थग्रहण कराना नहीं अपितु काव्यगत भावों, वस्तुओं एवं व्यापारों का बिम्ब ग्रहण करना है। अतः बिम्बग्रहण काव्य का अनिवार्य गुण है। जो बिम्ब दृश्यत्व के साथ पाठक के ऐन्द्रिय संवेदन को जागृत कर सके और भावग्रहण में सहायक हों वही उत्कृष्ट बिम्ब माने जाते हैं। केवल चाक्षुष दृश्य उपस्थित करना ही बिम्ब का उद्देश्य नहीं, वह तो अनुभूति के संप्रेषण एवं उद्बोधन के साथ उसे विशेष रूपाकारता एवं सजीवता प्रदान करने में सहायक होते हैं। बिम्ब का कार्य अमूर्त संवेदानाओं को मूर्तित करना है। इस लिए भाषा की चित्र शक्ति बिम्बात्मकता की महत्वपूर्ण विशेषता है। बिम्ब में पूर्व क्षणों की स्मृति को जाग्रत करने की क्षमता को आवश्यक गुण माना गया है क्योंकि

कविता में बिम्ब विधान एक प्रकार की मानसिक मूर्तन की कला है जो भाव, चित्र और उपयुक्त शब्द चयन के सामंजस्य से ही संभव है। बिम्ब कवि-कल्पना को पाठक के मनोजगत में साकार भी करते हैं और कविता के अलंकरण का महत्वपूर्ण उपादान भी है। बिम्ब वस्तुजगत और भावजगत में संबंध स्थापन के साथ कवि द्वारा अनुभूत भावात्मक क्षणों की तीव्र आवेशमय अभिव्यक्ति में सहायक बनता है। अंत में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि बिम्ब काव्य को प्रभावोत्पादक और समृद्ध बनाते हैं।

**बोध प्रश्न 1**

1. बिम्ब के कोशगत अर्थ लिखिए। (तीन पंक्तियों में)

.....

.....

.....

2. पाँच पंक्तियों में बिम्ब के महत्व पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3. दस पंक्तियों में काव्य बिम्बों की प्रमुख विशेषताएँ उद्धृत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. बिम्ब के आधारभूत प्रेरक तत्व क्या है। पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

5. आठ पंक्तियों में ऐन्द्रिय आधार पर बिम्ब के भेद बताइये।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6. आठ पंक्तियों में बिम्ब के महत्वपूर्ण गुणों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 34.7 प्रतीक : महत्व

साहित्य में प्रतीक-विधान का महत्व अनुभूति को व्यवस्थित करने और भाव प्रसार में सहयोग देने का है। सामान्यतः प्रतीक अप्रस्तुत कथन की एक महत्वपूर्ण सांकेतिक पद्धति है। व्यंजनाश्रित होने के कारण यह भाव गोपन एवं भाव-प्रकाशन का समर्थ माध्यम है। इसीलिए कार्लाइल की धारणा थी कि प्रतीक में भाव गोपन के साथ भाव-प्रकाशन भी रहता है। प्रतीक का प्रयोग अनादि काल से ही संप्रेषण साधन के रूप में किया जाता है। देखा जाये तो प्रतीक अपने आप में ही प्रतीक है। गागर में सागर का, अर्थात् प्रतीक आकर्षक एवं चमत्कारपूर्ण पद्धति से सूक्ष्म, अमूर्त एवं व्यापक सौंदर्य को अपने में समाविष्ट कर लेता है। प्रतीक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रतीक भाषा को संपन्न, समृद्ध एवं साहित्यिक बनाते हैं। उनमें लक्षणा और व्यंजना शक्ति का वह चमत्कार है जिससे भाषा की लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता का विकास होता है। इसीलिए साहित्य में प्रतीक निर्माण की आवश्यकता तथा महत्ता का उल्लेख करते हुए अज्ञेय ने "आत्मनेपद" में यह स्पष्ट किया है कि कोई भी स्वस्थ काव्य साहित्य नये प्रतीकों की सृष्टि करता है और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब वह जड़ हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक को उपलक्षण के अत्यंत निकट माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीक का काव्योत्कर्ष में प्रमुख योग होने के साथ-साथ साहित्यिक अभिव्यक्ति में चमत्कार विधायक होने के कारण मानव की अभिव्यंजना शक्ति से घनिष्ठ संबंध है।

## 34.8 प्रतीक का स्वरूप–विस्तार एवं परिभाषा

प्रतीक का संबंध अभिव्यक्ति की संक्षिप्तता से जुड़ा हुआ है। यह अपनी संप्रेषण क्षमता के कारण साहित्य में विशेष सौंदर्य की सृष्टि करता है। स्थूल रूप से तो भाषा और शब्द को भी प्रतीक माना जा सकता है क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावात्मक या दृश्यात्मक सत्य को छिपाये रखता है, किन्तु प्रतीक व्यंजनात्मक और भावात्मक स्तर पर विशिष्ट शब्द-समूह का द्योतक है।

### 34.8.1 भारतीय दृष्टि

प्रतीक के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। प्रतीक शब्द का संबंध "प्रति" उपसर्ग से है, जो संज्ञा के साथ लगकर कभी असाम्यमूलक अर्थ देता है तो कभी साम्यमूलक। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है–अवयव, अंग, पताका, चिन्ह अथवा निशान। बाल गंगाधर तिलक ने "गीता रहस्य" में प्रतीक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देते हुए लिखा है कि प्रतीक शब्द प्रति–इक से निष्पन्न

हुआ है जिसका अर्थ है– अपनी ओर झुका होना। जब किसी वस्तु का कोई भाग पहले गोचर होता है और फिर आगे उसे वस्तु का ज्ञान हो तब उस वस्तु को प्रतीक कहते हैं। अमरकोष के अनुसार–"अंग प्रतीको ऽवयवोऽपवनोडय कलेवरम्! अर्थात् प्रतीक का अर्थ अंग अवयव एवं कलेवर के रूप में है। सद स्वार्थ पदार्थ लक्षण संग्रह में प्रतीक को कम से कम शब्दों में पूर्णता से परिभाषित करने का उपक्रम करते हुए "तदभिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वं प्रतीकत्वम्" कहा है, अर्थात प्रतीक बोध्य वस्तु से भिन्न होते हुए उस वस्तु का बोध कराता है।

प्रतीक के कोशगत स्वरूप को आधाररूपेण अपनाते हुए हिन्दी साहित्य में प्रतीक को परिभाषित करने का प्रायः सभी समीक्षकों एवं साहित्यकारों ने प्रयास किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक के स्वरूप पर अपनी दृष्टि का परिचय "चिन्तामणि" में इस प्रकार से दिया है–"किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत कर देती हैं। जैसे "कमल" माधुर्य पूर्ण कोमल सौंदर्य की भावना जाग्रत करता है। "कुमुदिनी शुभ्रहास की, "चन्द्र" मृदुल आभा की, "समुद्र" प्राचुर्य, विस्तार और गंभीरता की, आकाश सूक्ष्मता और अन्नतता की भावना जाग्रत करते हैं। इसी प्रकार सर्प से क्रूरता और कुटिलता का, "अग्नि" से तेज और क्रोध का, "वाणी" से वाणी और विद्या का, "चातक" से निस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है। "डॉ. सुधीन्द्र प्रतीक के अप्रस्तुत व्यंजना कौशल रूप को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि प्रतीक वस्तुतः अप्रस्तुत की समस्त आत्मा या धर्म या गुण का समन्वित रूप लेकर आने वाले अप्रस्तुत का नाम है। प्रतीक अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार ही है। डॉ. नित्यानन्द शर्मा प्रतीक की पहुँच अप्रस्तुत से लेकर प्रस्तुत पर्यन्त मानते हुए लिखते हैं कि अप्रस्तुत अनुपमेय, अगोचर अथवा अमूर्त का प्रतिनिधित्व करने वाले उस अप्रस्तुत या गोचर वस्तु विधान को प्रतीक कहते हैं जो देशकाल एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के कारण हमारे हम में अपने चिर साहचर्य के कारण किसी तीव्र आलोचना को जाग्रत करता है।

## 34.8.2 पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य चिन्तन में प्रतीक पर विशद दृष्टि से सोचा एवं लिखा गया है। अंग्रेजी में प्रतीक के लिए "सिम्बल" (Symbol) शब्द का प्रयोग किया गया है और उसके शाब्दिक अर्थ चिन्ह, संकेत, प्रतिरूप, प्रतिनिधि, प्रतिमा, मूर्ति एवं निशान आदि माने गए हैं। पाश्चात्य विद्वान अरनेस्ट केसर के अनुसार मूल रूप में प्रतीक का संबंध मन से रहता है। मनुष्य प्रतीकों की ही दुनिया में जीता है। उसकी भाषा संस्कृति, धर्म, कला सब संपूर्ण जीवन के अंग हैं और इन्हीं भिन्न तंतुओं से प्रतीक का ताना बाना खड़ा किया जाता है और मनुष्य के अनुभवों का एक लिपटा हुआ सुन्दर और अटूट जाल इन प्रतीकों के माध्यम से बुना जाता है। सिग्मन फ्रायड ने अपनी मनो-विश्लेषणात्मक दृष्टि से प्रतीक को देखा और उसके महत्व का आलकन करते हुए स्पष्ट किया है कि प्रतीक दमित वासनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करते हैं यही दमन की इछाएँ संवेगात्मक रूप में वेष बदल कर प्रतीकों के रूप में अपने को स्पष्ट करती हैं। मन में अचेतन ढंग से पड़ी हुई न जाने कितनी ही ऐसी अनेक बातें हैं जो अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम होती हैं और इनका स्वरूप साहित्य में उन्हीं रसों या रस-संदर्भ प्रतीकों के माध्यम से कवि की वाणी में अभिव्यक्ति पाकर साहित्यिक प्रतीकों का सृजन करती है।

अरबन प्रतीक को एक विशेष प्रकार का संकेत कहकर परिभाषित करते हैं–"Symbol may be best defined as a special kind of sign." टिण्डल संकेत एवं प्रतीकों में भेद मानते हुए कहते हैं कि–..... a sign is an exact referene to something definite and symbol is an exact reference to something indefinite. अर्थात संकेत किसी निश्चित वस्तु का निश्चित संदर्भ लिए होता है और प्रतीक किसी अनिश्चित वस्तु का निश्चित संदर्भ। लैंगर प्रतीक और संकेत को एक मानते हुए कहते हैं कि प्रतीक अनिवार्य रूप से एक ऐसा संकेत है जो किसी अर्थ का द्योतन करे। सारांशतः कहा जा सकता है कि प्रतीक किसी वस्तु विशेष या भाव समूहों का एक ऐसा संकेत है जो अगोचर एवं अतीन्द्रिय है, जिसका संपूर्ण रूप में मस्तिष्क में अनुभव किया जा सकता है।

## 34.9 प्रतीकवाद

साहित्य में प्रतीकवाद के प्रमुख प्रवर्तक प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि बोदलेयर, स्टीफेन मलार्मे, एडगर एलन पो, रेंबो तथा पाल माने जाते हैं। प्रतीकवादी आंदोलन के सूत्रपात का केन्द्र फ्रान्स माना जाता है। सन् 1886 ई. के आसपास यूरोप में प्रतीक के प्रयोग को लेकर एक क्रांतिकारी स्वर गूंजा और इस आंदोलन से कई साहित्यकार प्रभावित हुए जिनमें डब्ल्यू. बी. यीट्स (इंग्लैंड), स्टीफेन जार्ज (जर्मनी), एलेग्जेन्टर ब्लाक (रूस), वेलरी, जेम्स ज्वायस, गर्ट्रन स्टीन, जूनर लफोर्ड, रेनरी मेरिया रिलके, लफूर्ज आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने प्रतीकवादी विचारधारा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रतीकवादी कवियों की मान्यता है कि कोई एक घटना अथवा व्यक्ति जब तक कला के योग्य विषय नहीं बनाया जा सकता तब तक कि वह शाश्वत सत्य के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। यही कारण है कि प्रतीकवादियों ने उसे ही प्रिय माना जो उसकी चेतना को प्रिय लगे तथा संकेतात्मकता के द्वारा उनके मेधा को उद्‌बुद्ध कर उसमें जागरूकता भर दे। प्रतीकों द्वारा सूक्ष्म अर्थ की व्यंजना, सूक्ष्म अनुभूतियों की मार्मिक तथा ध्वन्यात्मक पद्धति द्वारा अभिव्यक्ति और संगीतात्मकता प्रतीकवादी आंदोलन की अन्य प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रतीकवादी आलंकारिक चमत्कारवाद, यथातथ्य वर्णन तथा कविता की व्याख्या के विरुद्ध थे। प्रतीकवादी कवियों और कलाकारों ने किसी भी काव्यकृति में निम्नलिखित पाँच तत्वों की अनिवार्यता को इस रूप में माना:

1. वह भावात्मक हो, क्योंकि उसका प्रयोजन एक भाव को व्यक्त करना है।
2. वह प्रतीकात्म हो, क्योंकि वह भाव को रूपाकार के माध्यम से प्रकट करेगी।
3. वह संश्लेशणात्मक हो, क्योंकि वह उन रूपाकारों को सामान्य प्रेषणीय उपकरण के रूप में घटित करेगी।
4. वह विषयपरक हो, क्योंकि उसमें विषय, विषय के रूप में न आकर कलाकार द्वारा गृहीत भाव संकेत के रूप में होगा और
5. वह अलंकरणात्मक हो क्योंकि उपर्युक्त विशेषताएँ ही आलंकारिक कला की विशेषताएँ हैं।

## 34.10 प्रतीक की विशेषताएँ

प्रतीक के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के चिन्तन को सार रूप में जानने के पश्चात् प्रतीक की जो मुख्य-मुख्य विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

1. **प्रतीक एक संप्रत्यीय चिन्ह:** प्रायः सभी विद्वानों ने प्रतीक को मूलतः एक चिन्ह माना है जो अपनी क्रियाशीलता में चिन्हत्व की सीमाओं को तोड़कर एक नया अर्थवान व्यक्तित्व विकसित कर लेता है। इस विषय में लैंगर ने ठीक ही कहा कि प्रतीक वस्तुओं की "प्राक्सी" नहीं है वरन् वस्तुओं के **संप्रत्ययों** के संवाहक हैं।
2. **मौन सम्भाषण:** प्रतीक की यह मुख्य विशेषता है कि वह मौन रह कर ही संप्रेषणीयता को प्रभावी बनाते हैं। टिण्डल ने प्रतीक को एक प्रकार का "गूंगा वार्तालाप" (DUMB DISCOURSE) कहा है। जो बात शब्द नहीं कह पाते प्रतीक उसे मौन रह कर ध्वनित करता है।
3. **गागर में सागर:** प्रतीक मित शब्दों में अमित भाव-व्यंजना की सामर्थ्य रखता है। प्रतीक के द्वारा कवि अपनी अकही भावनाओं को संकेतात्मक रूप से कहता है।
4. **व्यापक अर्थ बोध की संभावना:** प्रतीक के माध्यम से कलाकार अपनी अनुभूति को एक व्यापक अर्थ प्रदान करता है। वह अर्थ के एक सीमित और जड़रूप का अतिक्रमण कर एक विशाल धरातल प्रस्तुत करता है।
5. **सांकेतिक भावाभिव्यक्ति:** प्रतीक की शैली ही सांकेतिक है। वह अपनी इसी विशेषता के कारण साहित्य में एक अलग पहचान बनाते हैं।
6. **बिम्बों की रूढ़ अवस्था ही प्रतीक:** प्रतीक का अपरिपक्व रूप बिम्ब है और बिम्ब

की रूढ़ होकर प्रतीक बन जाते हैं। प्रतीक की यह विशेषता है कि वह प्रचालित बिम्बों को अपने में समेट कर जीवन्त और सार्थक बना देता है।

**रसास्वादन में सहायक:** प्रतीक अपनी संप्रेषणीयता के कारण साधारणीकरण का साधन है। प्रतीक के द्वारा कवि अपनी अनुभूति को एक विशिष्ट आकार प्रदान करता है जिसे पाठक अपनी प्रबुद्ध चेतना के द्वारा ग्रहण करता है। प्रतीक की सहायता से असाधारण भाव भी उसमें ढलकर साधारण हो जाते हैं। तब वह प्रतीक मात्र कवि का ही न होकर सामाजिक अथवा पाठक का अन्तः चेतना का एक अंग बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीक अपनी विशेषताओं के कारण साहित्य में बड़े समादृत हैं।

## 34.11 प्रतीकों का वर्गीकरण

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग कई प्रकार से देखा जा सकता है क्योंकि प्रतीक का स्वरूप विविध आयामी है। आधुनिक हिन्दी आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने प्रतीकों को तीन वर्गों में विभक्त किया है: (1) सृजन के प्रतीक (2) ध्वंस के प्रतीक तथा (3) काम या श्रृंगार के प्रतीक। इन्हीं तीन प्रतीक-वर्गों के अंतर्गत प्रतीक के विविध रूपों को समाविष्ट किया जा सकता है, जो इस प्रकार हैं:— **भावनात्मक प्रतीक, वेदनात्मक प्रतीक, प्राकृतिक प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, आध्यात्मिक प्रतीक, श्रृंगार प्रतीक** एवं **शब्द शक्ति के प्रतीक।**

## 34.12 प्रतीकों का प्रयोग

साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग आदिकाल से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप से किया जा रहा है। कवि की अनुभूति जब सान्द्र हो उठती है तब अनायास ही वह प्रतीकों के साम्राज्य में विचरण करते पहुँच जाती है। अपनी संवेदना को विशिष्ट संदर्भ के साथ साकारता और पूर्णता प्रदान करने के लिए कवि अपने ऐन्द्रिय अनुभवों के सहारे प्रतीकों की सृष्टि करता है और धीरे-धीरे प्रतीक इतने रूढ़ हो जाते हैं कि इन्हें ग्रहण करने में किसी भी प्रकार का आभास सामाजिक को नहीं करता पड़ता।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग तो अवश्य किया गया किन्तु उसका स्वरूप सीमित रहा क्योंकि आदिकालीन कविता का स्वर राजदरबारी और श्रृंगारी अधिक रहा। इस कारण इस काल में अभिधापरक काव्य का सृजन अधिक हुआ। अवश्य ही नायिका के सौंदर्य वर्णन में कवि ने पारंपरिक प्रतीकों का प्रयोग किया, जैसे—नायिका की सुन्दरता के लिए चन्द्रमुखी, नेत्रों की विशालता के लिए मृगनयनी आदि। परन्तु प्रतीकों का सशक्त रूप उस युग में नगण्य ही माना जाएगा। नाथों और सिद्धों की वाणी, जिसे "सन्ध्या भाषा" भी कहते हैं, में प्रतीकों का प्रयोग देखा जा सकता है। श्री नित्यानन्द शर्मा ने सिद्ध साहित्य के प्रतीकों को श्रृंगारी, पारिभाषिक, उलटबासियों से युक्त आध्यात्मिक संख्यामूलक विभागों में विभाजित किया है। नाथ पंथियों की हठसाधना का मूलाधार हठयोग ही है। अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को उन्होंने कूट प्रतीकों द्वारा साकार किया है। गोरखवाणी में प्रतीकात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है:

> वसती न सुन्यं, सुन्यं न वसती अगम अगोचर जैसा,
> **गगन शिखर** में बालक बोलै ताका नांव धर जुगे जैसा।

यहाँ पर गगन शिखर दशम द्वार या ब्रह्म रंध्र का प्रतीक है। नाथ पंथियों ने इसी प्रकार से **इड़ा पिंगला** नाड़ी के लिए गंगा-जमुना का प्रयोग किया है। इन्हें चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी भी कहा है। सुषुम्ना मार्ग के लिए खजूरी और कुण्डलनी के लिए मछली शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार से **अन्य प्रचलित प्रतीक हैं**— गंग, ग्रह मण्डल, विमल जल, औंधा कुवां, चादर आदि। नाथ पंथियों के प्रतीक उनके अनुभव, लोक जीवन तथा घरेलू वातावरण से संबद्ध हैं

भक्त कवियों के काव्य में बेजोड़ प्रतीकों की सार्थक सृष्टि देखी जा सकती है। प्रतीकों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग भक्तिकाल में हुआ। जीव, जगत, ब्रह्म ईश्वर, माया और इनसे

रागात्मक संबंधों की रहस्यमय अभिव्यक्ति में प्रतीकों की अपार संपदा का प्रयोग देखा जा सकता है। शब्द चयन में भी प्रतीकों की छटा इस युग के काव्य में दर्शनीय है। जीवात्मा परमात्मा के भेद एवं भेद विगलित रूप की स्थितियों को साकार करते हुए कबीर कहते हैं:—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है,
बहार भीतर पानी
फूटा कुम्भ जल जल ही समाना,
यह तथ्य कथ्यौ ग्यानी।

यहाँ **कुंभ** अंतः करण विशिष्ट जीव का और **जल** परमात्मा का प्रतीक है। आध्यात्मिक प्रतीक को कबीर ने अपने लोकानुभव द्वारा प्रस्तुत किया। इसी प्रकार, **सुहागिन** जीवात्मा का, **भरतार** परमात्मा का, **दीया** देह का एवं अंतःकरण का, **मैमन्त** मन का, **माली** काल का, **कली** जीव का, **बूंद** जीव का एवं **समुद्र** परमात्मा का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रतीकों की समृद्ध परंपरा संपूर्ण भक्तिकालीन साहित्य में व्याप्त है। प्रतीकों का प्रयोग रीतिकाल में अत्यंत अल्प है। इस काल में प्रयुक्त प्रतीक रूढ़ एवं काम (श्रृंगार) विषयक है।

आधुनिक साहित्य में नये-नये प्रतीकों की सृष्टि हुई। भारतेन्दु युग में प्रतीकों का स्वरूप राष्ट्रीय एवं व्यंग्यपरक रहा। द्विवेदी काल में प्रतीकों का रूढ़ प्रयोग अधिक देखने को मिला। यहाँ राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक प्रतीकों की झलक देखी जा सकती है। संसार की नश्वरता का बोध करवाते हुए मैथिलीशरण गुप्त "यशोधरा" में लिखते हैं:—

धूम रहा है कैसा चक्र
वह नवनीत कहाँ जाता है,
रह जाता है तक्र।"

उक्त काव्य पंक्तियों में **नवनीत** सार, आत्मा का और **तक्र** निस्सारता का प्रतीक है। प्राकृतिक प्रतीकों की सृष्टि कभी इस युग में देखी जा सकती है। छायावादी काव्य-संसार में प्रतीकों की सतरंगी छाया देखी जा सकती है। प्रसाद से लेकर पंत, निराला और महादेवी तथा अन्य छायावादी कवियों के काव्य जगत में प्रतीकों की नवीन सृष्टि हुई। छायावाद का संबंध प्रकृति से अभिन्नतः जुड़ा हुआ है प्राकृतिक प्रतीक का एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

निशा को धो देता राकेश,
चांदनी में जब पलकें खोल
कली से कहता था मधुमास,
बता दो मधु मदिरा का मोल।।

नई कविता में तो नये-नये प्रतीक गढ़े गये और उनका विविध मुखी प्रयोग हुआ। कहना होगा कि आज तो प्रतीक कवि की विवशता बन चुका है क्योंकि ज्यों-ज्यों कवि की अनुभूति विविध आयामी बनकर विकल होगी त्यों-त्यों वह प्रतीकों के अनन्त साम्राज्य में अपनी भावना का मार्ग खोजेगा कवि की संवेदनाओं का रूप अनन्त है और प्रतीकों की दुनिया भी अनन्त। अतः कहा जा सकता है कि प्रतीक कवि की एक प्रिय विवशता है।

**बोध प्रश्न 2**

1. साहित्य में प्रतीक का क्या महत्व है? सात-आठ पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. प्रतीक का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य शुक्ल की प्रतीक विषयक दृष्टि को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

3. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में प्रतीक का स्वरूप क्या है? सात-आठ पंक्तियों में स्पष्ट किजिए–

4. प्रतीकवादियों ने काव्यकृति में किन-पाँच तत्वों की अनिवार्यता स्वीकारी है? पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

5. प्रतीक की प्रमुख विशेषताओं को दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

6. डॉ. नगेन्द्र ने प्रतीकों को किन तीन वर्गों में बाँटा है तथा उनके अंतर्गत प्रतीकों के कौन-कौन से रूप समाविष्ट होते हैं?

7. भक्त कवियों ने अपने काव्य में किन-किन प्रतीकों का प्रयोग किया है? कोई एक उदाहरण देकर सात-आठे पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

**अभ्यास 1**

1. आधुनिक कविता में प्रयुक्त लगभग 20 प्रतीकों को अर्थ सहित स्पष्ट कीजिए।
2. भक्तिकालीन काव्य और आधुनिक काव्य के प्रतीक शब्दों वाले दो-दो उदाहरण खोजिए और उनके प्रतीकों के अर्थ लिखिए।

## 34.13 कल्पना : महत्व

कल्पना काव्य का एक अपरिहार्य और मूलभूत तत्व है। कल्पना ही कवि एवं सहृदय पाठक के मध्य संबंध स्थापित करने वाली अनिवार्य शक्ति है। कल्पना शक्ति के बल पर ही कवि अपनी अनुभूति को बाह्याकार प्रदान कर उसे सजीव बनाता है। कल्पना का महत्व काव्य के सभी रूपों में समान रूप से देखा जा सकता है। काव्य को पूर्णता प्रदान करने वाले तत्वों में अलंकारों, बिम्बों, प्रतीकों एवं अनुभूति का जितना भी योगदान है वह सब कल्पना की नींव पर आश्रित है। कवि की प्रतिमा कल्पना के पंखों का अवलम्ब ग्रहण कर ही ऊँची और विस्तृत उड़ान भरती है। कल्पना के महत्व को स्वीकार करते हुए पाश्चात्य विद्वान कॉलरिज ने उसे संगीतात्मक आनन्द कहा है। सोलजेर का मत है कि कल्पना ही के द्वारा विश्व के मूल भाव (Fundamental Idia) तक पहुँचा जा सकता है। भारतीय चिंतन में भी कल्पना को "सुखदान", "मनुज जीवन प्राण" कहा है तो निराला ने कविता को "कल्पना के कानन की रानी" कह कर उसकी प्रशस्ति गायी है। अतः कहा जा सकता है कि कवि की कल्पना शक्ति के बिना काव्य का निर्माण असंभव है।

## 34.14 कल्पना का स्वरूप और विशेषताएँ

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कल्पना के स्वरूप पर सविस्तार चर्चा की गयी है। भारतीय काव्यशास्त्र में कल्पना के लिए–"प्रतिभा", "सर्जनशीलता", एवं "शक्ति" शब्दों का व्यवहार किया जाता है। "काव्य हेतु" काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण भाग माना जाता है। प्रायः सभी काव्य-शास्त्रीय आचार्यों ने काव्य हेतु पर गहराई से चिंतन किया है।

### 34.14.1 भारतीय मत

काव्यशास्त्र के सर्वप्राचीन आचार्य भामह माने जाते हैं। इन्होंने काव्य-हेतुओं पर विचार करते हुए "प्रतिभा" पर विशेष बल दिया है। उसे काव्य का अनिवार्य कारण मानते हुए वे अपना मत इस प्रकार से देते हैं:–

"काव्यं तु जायते जातकस्यचित्प्रतिभावतः।"

भामह के ही समान आचार्य दण्डी ने भी कल्पना के लिए "प्रतिभा शब्द का व्यवहार किया है। दण्डी के अनुसार जन्मजात प्रतिमा के अभाव में जिस काव्य का सृजन किया जाता है वह निम्न कोटि का होता है। राजशेखर ने प्रतिभा के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। वे शक्ति को एक विशेष प्रकार का संस्कार मानते हैं। यह शक्ति ही प्रतिभा को विकसित करती है। प्रतीभा और कल्पना में शब्दों का ही अंतर है। राजशेखर प्रतिभा के दो भेद मानते हैं। एक है "कारयित्री प्रतिभा" जो कवि की होती है और दूसरी है "भावयित्री

प्रतिभा" जो सहृदय या पाठक से संबंधित है। राजशेखर के ही समान आचार्य मम्मट भी शक्ति को काव्य का बीज मानते हैं। भट्टनायक का "भावकत्व व्यापर" भी कल्पना शक्ति के अंतर्गत माना जाता है। इस विषय में डॉ. नगेन्द्र ने अपना मन्तव्य इस प्रकार से दिया है–"भावकत्व व्यापार का कारण है ...धुनिक शब्दावली में कल्पना तत्व का समावेश और कार्य है काव्य सामग्री का साधारणीकरण वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक ने कल्पना के तत्व को सर्वाधिक मुख्यता दी है। वे कल्पना को काव्य के प्रत्येक उचित चमत्कार का उद्गम मानते हैं तथा अलंकार का जीवन मानते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यक्त कल्पना संबंधी विचारों और मतों का प्रभाव हिन्दी काव्य शास्त्र में स्पष्टतः देखा जा सकता है। हिन्दी के विद्वान आलोचकों ने संस्कृत एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में व्यक्त कल्पना संबंधी अवधारणों को दृष्टि में रखते हुए अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं।

कल्पना तत्व विषयक विचारों का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग से ही हो चुका था। भारतेन्दु युग के समर्थ निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट का अपना विशिष्ट स्थान है। वे "कल्पना-शक्ति" नामक अपने निबन्ध में कल्पना के प्रतिभा और शक्ति युक्त रूप की चर्चा करते हुए लिखते हैं–"मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुणा अधिक हो सकती है पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी न किसी के अंतः करण में प्रारंभ से ही रहता है जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं।.....अंत को उसी सिद्धांत पर आकर ठहरता है कि यह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर प्रदत्त शक्ति (genius) है। कवियों का अपनी कल्पना शक्ति द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना अनुचित नहीं है।" भट्ट जी की कल्पना सम्बन्धी सोच का आधार पूर्णतः संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यक्त कल्पना संबंधी तत्वों पर निर्मित है। काव्य हेतुओं की चर्चा में संस्कृत काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने "प्रतिभा" और "शक्ति" विषयक व्यापक दृष्टि का जो परिचर दिया है भट्ट जी ने उसी से प्रभावित होकर कल्पना संबंधी विचार व्यक्त किए हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कल्पना के विषय में अपनी अवधारणा को भट्ट जी के विचारों के समान व्यक्त किया है–" कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की बड़ी जरूरत है। कविता के लिए उपज चाहिए। द्विवेदी जी का कल्पना विषयक चिंतन भी संस्कृत काव्य की परंपरा से जुड़ा हुआ है। अपने निबंध रसज्ञ-रंजन में वे स्पष्ट करते हैं कि कल्पना संस्कृत काव्यशास्त्र में चर्चित प्रतिभा का पर्याय है और वह ईश्वर प्रदत्त है और उसी की बदौलत कवि भूत और भविष्य को हस्तामलकवत् देखता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी रसवादी दृष्टि के आलोक में ही काव्यशास्त्रीय मानदण्डों को ग्रहण किया है। कल्पना को उन्होंने भाव की सहयोगिनी के रूप में माना है। वे कल्पना और भावुकता को कवि के लिए अनिवार्य मानते हैं। प्रतिमा और भावना को उसका पर्यायवाची मानते हैं। उनके अनुसार धर्मक्षेत्र में जो स्थान उपासना का है साहित्य क्षेत्र में वही स्थान कल्पना है।

## 34.14.2 पाश्चात्य मत

पाश्चात्य काव्य जगत में कल्पना को आवश्यक तत्वों में सर्वप्रमुख तत्व माना गया है। कल्पना के लिए "Imagination" और "Fancy" शब्दों का भी व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान कॉलरिज ने इन दोनों में सूक्ष्म अंतर माना है। कल्पना को पाश्चात्य काव्य जगत में भारतीय चिंतन से अधिक पुष्ट और व्यापक स्थान दिया गया। महाकवि शेक्सपियर उन्मत्त, प्रेमी और कवि इन तीनों का कल्पना से अविरल संबंध बतलाते हुए लिखते हैं–

"The lunatic, the lover and poet are of Imagination all Compact."

कल्पना के विषय में दार्शनिक कान्ट के विचार विशेष महत्वपूर्ण अर्थ रखते हैं। वे कल्पना के तीन प्रकार मानते हैं–

1. पुनर्निर्माण करने की शक्ति–The reproductive imagination
2. उद्भावना करने वाली कल्पना शक्ति–The Productive Imagination.
3. सौंदर्य बोध कराने वाली कल्पना–Aesthetic ideas

पाश्चात्य काव्य शास्त्र में कल्पना की विस्तृत अवधारणा देखने को मिलती है। कल्पना के विषय में प्रायः सभी पाश्चात्य समीक्षकों एवं साहित्यकारों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। इसी क्रम में कॉलरिज का नाम विशेष अर्थ रखता है। कल्पना सिद्धांत के साथ कॉलरिज का नाम अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कॉलरिज भी कान्ट के समान कल्पना को "Prime agent of perception" मानता है। कॉलरिज की कल्पना संबंधी विचारों की आधार भूमि एवं प्रेरणा का श्रेय जाता है वर्ड्स्वर्थ की एक कविता को। कॉलरिज ने वर्ड्स्वर्थ को हस्तलिखित प्रति से एक कविता पढ़ते हुए सुना। उस कविता में गहन भावना (deep feeling) और गंभीर विचार (profound thought) का अद्भुत सामंजस्य था। कविता की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और कल्पना की उब उड़ान के परिणाम स्वरूप काव्य में एक विशेष प्रकार के औदात्य का संचार कॉलरिज ने अनुभव किया। इस एक ही कविता के बार-बार पठन और मनन ने उनके कल्पना सिद्धांत को प्रेरणा दी। कॉलरिज ने इसी आधार पर कल्पना के तीन भेदों की स्थापना की है– (1) प्राथमिक कल्पना (Primary imagination) (2) विशिष्ट कल्पना (Secondary imagination) तथा ललित कल्पना (Fancy)। कॉलरिज कविता का कार्य पाठक की संपूर्ण आत्मा को सजग और क्रियाशील बनाना मानते हैं जो अपनी कल्पना शक्ति के जादुई प्रभाव से ऐसा कर पाता है। कल्पना के ही कारण विरोधी और विसंगत पदार्थों, विषय एवं विषयी, ससीम और असीम, मन और पदार्थ, विशिष्ट और सार्वभौम में सामंजस्य स्थापित हो पाता है।

कॉलरिज के कल्पना संबंधी विचारों से यही निषकर्ष निकलता है कि रूपाकार प्रदान करने वाली शक्ति होते हुए भी कल्पना रूपाकार (Form) से बड़ी है। कल्पना की समन्वयकारी शक्ति का प्रभाव प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है। जिसमें नैसर्गिक सहजबोध का विशेष महत्वपूर्ण योगदान है। सच्ची कलपना शक्ति में सार्वभौम सत्य की अभिव्यक्ति वर्तमान रहती है कॉलरिज के मतानुसार कल्पना में प्रतिबोधन (perception) तथा अवबोधन (understanding) के मध्य की दूरी को समाप्त करने की अद्भुत क्षमता का निवास है एवं कल्पना शक्ति मस्तिष्क को प्रकृति से और प्रकृति को मस्तिष्क से एक रूप (identify) करने में सहायक की भूमिका निर्वाहित करती है।

कॉलरिज ने कल्पना को फैंसी (Fancy) से पृथक माना है। वे मानव मन की सर्जनात्मक (creative) शक्ति से भिन्न संयोगात्मक (associative) तथा समुच्चयात्मक (aggregative) शक्ति को फैंसी मानते हैं। हिन्दी में फैंसी के अर्थ को व्यंजना देने वाले शब्द हैं–स्वच्छन्द कल्पना या स्वैर कल्पना तथा ललित कल्पना। फैंसी का उदाहरण देते हुए कॉलरिज लिखते हैं–

Full gently now she takes him by the hand: A lily prison'd in a goal of game or ivory in an alabaster band."

यहाँ एडोनिस के श्वते हाथों में वीनस के शुभ्र हाथ हैं, शुभ्रता को शुभ्रता घेरे हुए हैं। उसके लिए कवि ने लिली, हिम, हाथी दाँत तथा सेल खड़ी के बिम्बों को प्रस्तुत किया है। इसी बिम्ब के द्वारा कवि ने मात्र अलंकरण और आडम्बर को ही सृष्टि की है। कॉलरिज के समान हीगेल या टी.ई. हयूम भी "फैंसी" को कल्पना से भिन्न तथा हीन मानते हैं। हीगेल कल्पना की तुलना में फैंसी को "Passive" मानते हैं। शैले कविता की परिभाषा देते हुए कविता को कल्पना की अभिव्यक्ति कहते हैं– Poetry...mav be difined to be the Expression f the imagination" उनकी दृष्टि में कल्पना शक्ति के द्वारा कवि सजीव मानव से भी अधिक यथार्थ और अमर सृष्टि का निर्माण करने की क्षमता रखता है। शैले के अनुसार कल्पना की शक्ति का रूप द्रष्टव्य है–

But from these create he can forms more real than living man. Nurslings of immortality

कीट्स के अनुसार कल्पंना द्वारा कवि दो स्मृतियों को एक में रूपाकार करता है, सत्य का साक्षात्कार और सौन्दर्य का दर्शन करता है क्योंकि कल्पना वह शक्ति है जो अनुद्घाटित को उद्घाटित करती है, सत्य को उसके संपूर्ण आयामों में प्रकट करती है। सौन्दर्य के माध्यम से वह स्वयं को परम सत्ता से सान्निध्य में पाता है। कीट्स का निम्न कथ्य कल्पना के विषय में विशेष अर्थ की व्यंजना करता है–

"Beauty is truth, turth is beauty"

ऐलिजाबीथन युग में आते आते कल्पना का संबंध वायवी, स्वप्निल, अयथार्थ वस्तुओं के सृजन से माना जाने लगा–

"The Poet's pen gives to airy nothing a local halitaion one a name."

ब्लेक कल्पना को आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत और कवि को ईश्वर के समकक्ष मानते हैं-

"This world of imagination is the world of eternity... this world of imagination is infinite and eternal."

क्रोचे कल्पना को स्वतंत्र और सर्जनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कल्पना के द्वारा मानव सौन्दर्यनुभव करता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्र में कॉलरिज के ही समान आई.ए. रिचर्ड्स का विशेष स्थान है। आधुनिक समीक्षा जगत में रिचर्ड्स के महत्व को सभी ने स्वीकारा है तभी तो उनके विषय में यह कहा जाता है कि जो भी हवा बहती है वह डॉ. आई.ए. रिचर्ड्स को जानती है– "Every wind that belows knows DR. I.A. Richards." कल्पना सम्बन्धी उनके विचारों का स्वर कॉलरिज से मिलता जुलता है। स्वयं आई.ए. रिजर्ड्स यह मानते हैं कि –"...and except in the way of interpretation it is hard to add anything to what he has said." अर्थात् कॉलरिज ने जो कुछ कहा व्याख्या के अतिरिक्त उसमें कुछ जोड़ा ही नहीं जा सकता। रिचर्ड्स भी ललित कल्पना (Fancy) और कल्पना (imagination) में अन्तर मानते हैं। ललित कल्पना को हव आवृति के प्रचलित अर्थों पर रिचर्ड्स ने विस्तार से चर्चा की है जिसका साराशं यह है कि वे कल्पना का प्रयोग सजीव बिम्बों, सामान्यतः चाक्षुष बिम्बों की उत्पादिका के रूप में मानते हैं। आलंकारिक भाषा के प्रयोग में भी कवि कल्पना का सर्जनात्मक रूप विशेष कार्य करता है कल्पना की महत्ता उसके संप्रेषण व्यापार पर निर्भर करती हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कल्पना पर अविछिन्न रूप से कुछ न कुछं लिखा ही जाता रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि कल्पना का संबंध साहित्यकार के मानसिक जगत के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है कवि की अनुभूति कल्पना के आश्रय को प्राप्त कर अधिक जीवन्त और प्रभावी बन जाती है। यही कारण है कि कल्पना को भारतीय काव्यशास्त्र में "काव्य हेतुओं" पर विचार करते हुए उसे "शक्ति" एवं "प्रतिभा" के रूप में माना गया है। प्रतिभा की पहचान के लिए उसे "नवनवोनमेषशलिनी, अपूर्त वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा" कहा है। पुनः इसके भी कई भेदोपभेद किए हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि में कल्पना का एक स्वतंत्र अस्तित्व है। वह कल्पना (Imagination) के रूप में सीधे उभर कर आयी है। यहाँ कल्पना काव्य हेतुओं का एक अंग ही नहीं अपितु कवि और कवि के संसार की भी प्रमुख शक्ति के रूप में जानी जाती है। प्राश्चात्य चिंतन में विस्तृत दृष्टि से कल्पना के विविध रूपों और भेदों पर चर्चा की गयी है। जो सारांशतः इस प्रकार से है–

आधुनिक युग में कल्पना का संबंध कवि के अंतर एवं बाह्य जगत की उस वृत्ति विशेष से संबद्ध है जो कवि को वह सामर्थ्य प्रदान करती है जिसके द्वारा वह अपनी भाव सृष्टि को अभिनव रूप में अभिव्यक्त करता है। मुख्यतः कल्पना के तीन भेद स्वीकार किए जाते हैं. वे हैं–प्रतिभा, कल्पना और स्वैर कल्पना।

## 34.15 कल्पना के भेद

प्रतिभा, कल्पना की अपेक्षा अधिक व्यापक शक्ति है। कल्पना इस प्रतिभा शक्ति का एक अंग है और स्वैर कलपना (Fancy) का स्थान कल्पना से निम्न कोटि का है। स्वैर कल्पना का संबंध कवि के मानस की अपेक्षा उसके मस्तिष्क से अधिक रहता है। यही कारण है कि स्वैर कल्पना पाठक की प्रकृति के भौतिक रूप को अधिक प्रभावित करती है जबकि कल्पना का संबंध मानसिक शक्ति से है जो हमारी प्रकृति के शाश्वत तत्व को प्रभावित करती है।

कल्पना के इन तीनों ही रूपों की झलक साहित्य में देखी जा सकती है–

### 34.15.1 स्वैर कल्पना

स्वैर कल्पना का यह रूप कल्पना की पूर्ण अभिव्यक्ति में असमर्थ है। इसका आयाम सीमित रहता है। किसी समर्थ वस्तु को साकार करने की क्षमता इसमें क्षीण रूपेण रहती है। कवि प्रसाद की निम्न पंक्तियों में प्रिया की सुन्दरता का व्यक्त करने के लिए जिस कल्पना का

आश्रय ग्रहण किया गया है वह स्वैर कल्पना के ही अंतर्गत मानी जाती है–

चंचला स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी वैसी

### 34.15.2 प्रतिभा

प्रतिभा, कल्पना का अति सशक्त भेद है। प्रतिभा में कल्पना की उड़ान के साथ-साथ कवि कर्म की वह सामर्थ्य शक्ति भी देखी जा सकती है जिसका संबंध प्राप्त कर कल्पना इतनी भव्य बन उठती है। कवि प्रसाद की निम्न पंक्तियाँ इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं–

बांधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यो भरा हुआ हीरों से।
(आँसू)

यहाँ कवि की प्रतिभा शक्ति के समर्थ रूप को मूर्त देखा जा सकता है। नायिका के मुख चन्द्र वर्णन के साथ-साथ काली काली सुन्दर केश राशि का आभूषणों और मणियों से सुसज्जित रूप कवि ने साकार किया है। यह केवल कल्पना का चमत्कार ही न होकर कवि की प्रतिभा शक्ति का भी परिचायक है, जिसने सौन्दर्य को अपने शब्दों में ढालकर जीवंत और स्पृहणीय बना दिया है।

### 34.15.3 कल्पना

कल्पना के दो प्रमुख भेद स्वीकार किए जाते हैं–एक है पुनर्निमयिक कल्पना और दूसरी है रचनात्मक या विधायक कल्पना। पुनर्निमयिक कल्पना का आधार स्मृति है एवं रचनात्मक कल्पना पुर्वानुभूत वस्तुओं का नव सृजन करती है। रचनात्मक कल्पना के पाँच भेद समीक्षकों ने किए हैं–विभाव विधायक कल्पना, तद्भव कल्पना, अनुमानाश्रित कल्पना, सृजनात्मक कल्पना और मुक्त या दृच्छिकी कल्पना। रचनात्मक कल्पना में कवि कल्पना के द्वारा ऊँची उड़ान उड़ता है और यदृच्छा अर्थात् जैसी उसकी इच्छा करती है वह वैसे रचना संसार का निर्माण कर अपनी कल्पना का विस्तार करता है। पन्त की बादल कविता उस दृष्टि से द्रष्टव्य है–

ज्योत्सना के हिम, राशि के थान,
पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम
सलिल अनल के विरल वितान
व्योम पलक, जल खग, बहते पल
अम्बुधि की कल्पना महान।

कभी-कभी कवि एक कल्पना के पश्चात् दूसरी कल्पना का विस्तार कर जाता है इस प्रकार से कल्पना की एक श्रंखला सी बन जाती है। इसे तद्भव कल्पना भी कहते हैं जैसे–

आज वन में पिक, पिक में गान
विटप में कलि, कलि में सुविकास
कुसुम में रज, रज में मधु प्राण
सलिल में लहर, लहर में लास

## 34.16 कल्पना का विस्तार

काव्य और कल्पना साहित्य में एक-दूसरे के पूरक हैं। कवि की काव्य रचना शक्ति का आधार कल्पना पर अवलम्बित है। कारयित्री या सर्जनात्मक कल्पना के अभाव में कवि कर्म प्रभाव शून्य बन जाता है। कारयित्री प्रतिभा के अभाव में भावयित्री कल्पना, जिसका संबंध सहृदय पाठक से है वह भी एकांगी बनकर रह जाती है। अतः काव्य में दोनों ही

प्रकार की प्रतिभा या कल्पना का विस्तार हम देखते हैं। यह कल्पना ही कवि, सहृदय प्रभाता तथा अभिनेता में विद्यमान रहती है और इसी का प्रभाव विस्तार काव्य एवं नाटक में मिलकर सुखद आनन्द की सृष्टि करता है। कल्पना द्वारा ही लय, संगीत और अन्य का सम्मिश्रण होता है, तभी पाठक पर भी उसका समन्वित प्रभाव पड़ता है। कॉलरिज के कल्पना के इसी रूप को "संगीतात्मक आनन्द (Musical Delight) कहा है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कल्पना का विस्तार असीम है। यह कवि, प्रभाता (पाठक) एवं रसानुभूति में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

**बोध प्रश्न 3**

1. कल्पना के महत्व को पाँच पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. भारतीय विद्वानों के मतानुसार कल्पना की अवधारणा क्या है? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. पाश्चात्य विद्वान दार्शनिक कान्ट ने कल्पना के कौन से तीन प्रकार माने हैं?

.....

.....

.....

4. कॉलरिज के अनुसार कल्पना का स्वरूप क्या है? कल्पना और फैंसी में वे क्या अंतर मानते हैं? लगभग दस पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए–

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5. निम्नलिखित विषयों पर पाँच-पाँच पंक्तियाँ लिखिए–

i) स्वैर कल्पना

.....

.....

.....

.....

.....

ii) प्रतिभा

.....

.....

.....

.....

.....

iii) कल्पना

.....

.....

.....

.....

.....

6. नीचे कुछ कथन दिये गये हैं। इनमें कुछ सही है तथा कुछ गलत उपयुक्त चिह्न लगाइये।

i) भारतीय काव्यशास्त्र में कल्पना के लिए "प्रतिभा" तथा "शक्ति" शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं। ( )

ii) कल्पना ही कवि एवं सहृदय पाठक के मध्य संबंध स्थापित करने वाली अनिवार्य शक्ति है। ( )

iii) राजशेखर द्वारा माने गए प्रतिभा के भेदों में "कारयित्री प्रतिभा" का संबंध सहृदय या पाठक से है तथा "भावयित्री प्रतिभा का कवि से ( )

iv) कल्पना और भावुकता को कवि के लिए अनिवार्य मानने वाले आचार्य शुक्ल के अनुसार धर्मक्षेत्र में जो स्थान उपासना का है साहित्य क्षेत्र में वही स्थान कल्पना का है। ( )

v) कॉलरिज ने कल्पना के तीन भेद किये प्राथमिक कल्पना, विशिष्ट कल्पना तथा ललित कल्पना ( )

vi) क्राचे कल्पना को स्वतंत्र और सर्जनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं ( )

vii) प्रतिभा, कल्पना की अपेक्षा कम व्यापक शक्ति है। ( )

viii) स्वैर कल्पना, कल्पना की पूर्ण अभिव्यक्ति में पूर्णतः समर्थ है। ( )

7 नीचे दिए गए कथनों के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए सही विकल्प चुनिए–

i) अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करने में ..... पूर्णतः सक्षम है। (कल्पना, प्रतीक, बिम्ब)

ii) दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्राव्य तथा रस्स बिम्बों का विभाजन ..... के आधार पर किया गया है। (सर्जक कल्पना, प्रेरक अनुभूति, ऐन्द्रिकता)

iii) ..... का मानना है कि कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य नये प्रतीकों की सृष्टि करता है, और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है। (आचार्य शुक्ल, अज्ञेय, कार्लाइल)।

iv) जीव, जगत, ब्रह्म, माया और ईश्वर आदि से रागात्मक संबंधों की रहस्यमयी अभिव्यक्ति करने वाले अपार प्रतीक ..... साहित्य में उपलब्ध हैं। (भक्तिकालीन, आधुनिक, रीतिकालीन।)

v) मित शब्दों में अमित भाव-व्यंजना का सामर्थ्य ..... में ही मिलता है (कल्पना, बिम्ब, प्रतीक)

## 34.17 शब्दावली

**अनुप्राणित**– किसी के द्वारा जीवन में संचार किया जाना

**राग-सम्प्रक्त**– स्नेह से सिक्त

**प्रतिकृति**–कृति की छाया या प्रति के अनुकरण पर बनी हुई

**सदृशता**–के समान

**प्रतिच्छवि**–छाया, प्रतिबिम्ब

**अभिभूत**–डूबा हुआ या स्नात

**आप्लावित**–भरा हुआ

**अनुप्रेरणा**– किसी प्रेरणा के अनुसार

**भावोद्वेलन**– भावों का बार-बार उठना

**तदाकार**– उसी के आकार में समाहित अथवा एक हो जाना

**संश्लिष्ट**– कठिन

**यादृच्छिकी**–स्वेच्छा से

## 34.18 कुछ उपयोगी पुस्तकें


1. **काव्य बिम्ब**– डा. नगेन्द्र; नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
2. **पाश्चात्य समीक्षा दर्शन**– डा. जगदीश चन्द्र जैन, हिंदी प्रचारक संस्थान, लखनऊ।
3. **पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धांत और दर्शन**– डा. तारकनाथ बाली नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
4. **हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास**– डा. वीरेन्द्र सिंह, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।
5. **कल्पना तत्व**– शक्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली।
6. **काव्य बिम्ब और छायावाद**– सुरेन्द्र माथुर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।


## 34.19 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1. छाया, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, प्रतिच्छवि, प्रतिबिम्बित, प्रत्यंकित आदि।
2. देखिए भाग, 34.2
3. देखिए भाग, 34.3
4. देखिए भाग, 34.4
5. देखिए भाग, 34.5 तथा 34.5.1
6. देखिए भाग, 34.6

**बोध प्रश्न 2**

1. देखिए भाग, 34.7
2. देखिए भाग, 34.8 तथा 34.8.1
3. देखिए भाग, 34.8.2
4. देखिए भाग, 34.9
5. देखिए भाग, 34.10
6. देखिए भाग, 34.11
7. देखिए भाग, 34.12

**बोध प्रश्न 3**

1. देखिए भाग, 34.13
2. देखिए भाग, 34.14.1
3. पुनर्निमाण करने की शक्ति, उद्भावना करने वाली कल्पना शक्ति तथा सौन्दर्य बोध कराने वाली कल्पना
4. देखिए भाग, 34.14.2
5. i) देखिए भाग, 34.15.1
   ii) देखिए भाग, 34.15.2
   iii) देखिए भाग, 34.15.3
6. i) √
   ii) √
   iii) ×
   iv) √
   v) √
   vi) √
   vii) ×
   viii) ×
7. i) बिम्ब
   ii) ऐन्द्रिकता
   iii) अज्ञेय
   iv) भक्तिकालीन
   v) प्रतीक

**अभ्यास 1**

प्रश्न 1 और 2 के उत्तर स्वयं लिख कर काउंसिलर को दिखाएँ।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

# UGHI-103

हिन्दी साहित्य का इतिहास
एवं साहित्य परिचय

खंड
# 10
## छंद एवं अलंकार


इकाई 35
छंद एवं उसके भेद-I 747

इकाई 36
छंद एवं उसके भेद-II 761

इकाई 37
अलंकार एवं उसके भेद-I 778

इकाई 38
अलंकार एवं उसके भेद-II 787

## पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

प्रो. भ.ह. राजूरकर
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

प्रो. राम सिंह तोमर
28 पूर्वपल्ली
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांतिनिकेतन (पश्चिम बंगाल)

प्रो. भीमसेन निर्मल
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

प्रो. संसार चन्द्र
अवकाश प्राप्त आचार्य एवं
अध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
जम्मू विश्वविद्यालय
जम्मू

प्रो. अंबाशंकर नागर
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

प्रो. रमानाथ सहाय
आगरा

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

प्रो. बख्शीश सिंह
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

प्रो. वी.रा. जगन्नाथन (संयोजक)
निदेशक, मानविकी
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

**पाठ लेखक**
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
उज्जैन

श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
प्रवक्ता, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-68

डॉ. पूरनचन्द टण्डन
प्रवक्ता, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-68

**संकाय सदस्य**
डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. जवरीमल पारख
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. सत्यकाम
डॉ. नीलम फ़ारूकी

**संयोजन एवं संपादन**
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

**पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन**
डॉ. पूरनचन्द टंडन
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

## सामग्री निर्माण

श्री बालकृष्ण सेल्वराज
कुलसचिव
मुद्रण एवं प्रकाशन प्रभाग
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

सितम्बर, 1991 (पुनर्मुद्रण)

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1991

ISBN-81-7091-820-0

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

# खंड परिचय

यह हिन्दी ऐच्छिक पाठ्यक्रम-03 का दसवाँ तथा अंतिम खंड है। इस खंड में चार इकाइयाँ हैं–35 से 38। खंड 9 में आपने साहित्य एवं उसके अंग के अंतर्गत साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन, रस, शब्द शक्ति, बिंब, प्रतीक एवं कल्पना तत्व के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। प्रस्तुत खंड छंद एवं अलंकार से सम्बद्ध है। इस खंड में छंद की दो तथा अलंकार की दो इकाइयाँ हैं।

इकाई 35 और 36 छंद से सम्बद्ध है। इकाई 35 में छंद के स्वरूप पर विचार किया गया है। इकाई 36 में मात्रिक छंद, वर्णिक छंद, स्वच्छंद छंद तथा मुक्त छंद की विस्तृत विवेचना की गई है।

इकाई 37 और 38 अलंकार एवं उसके भेदों पर आधारित है। इकाई 37 में अलंकार का अर्थ, काव्य में महत्व तथा शब्दालंकारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इकाई 38 में अर्थालंकार के भेद तथा उभयालंकारों की विस्तृत चर्चा की गई है।

इस प्रकार इस खंड के साथ यह पाठ्यक्रम सम्पन्न होता है। प्रत्येक इकाई में बोध प्रश्न तथा अपेक्षित उत्तर अथवा संकेत भी दिए गए हैं। अतिरिक्त अध्ययन सामग्री की दृष्टि से उपयोगी पुस्तकों के नाम भी सुझाए गए हैं।

# इकाई 35 छंद एवं उसके भेद–I

## इकाई की रूपरेखा


35.0 उद्देश्य
35.1 प्रस्तावना
35.2 छंद शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति
35.3 छंद की परिभाषा एवं स्वरूप
35.4 छंद और काव्य का संबंध एवं प्रयोजन
35.5 छंदशास्त्र/व्याख्या और नियम
  35.5.1 अक्षर या वर्ण का स्वरूप : ह्रस्व और दीर्घ
  35.5.2 अनुस्वार युक्त वर्ण का दीर्घ या गुरु होना
  35.5.3 विसर्ग-युक्त वर्णों की दीर्घता
  35.5.4 हलन्त से पूर्व-वर्ण तथा ह्रस्व-वर्ण की दीर्घता
35.6 गति
35.7 यति अथवा विरति तथा विरति भंग
35.8 चरण
35.9 गण
35.10 तुक विचार
35.11 छंद के प्रकार
35.12 सारांश
35.14 बोध प्रश्नों के उत्तर


## 35.0 उद्देश्य

छंद एवं अलंकार जैसे महत्वपूर्ण साहित्यांगों का विवेचन करने वाले इस खंड की यह पहली इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप:

- छंद शब्द का अर्थ, उसकी व्युत्पत्ति तथा छंद की परिभाषा बता सकेंगे,
- छंद और काव्य के संबंध तथा प्रयोजन को स्पष्ट कर सकेंगे,
- छंद शास्त्र की व्याख्या करते हुए उसके नियमों को समझा सकेंगे,
- छंद गति तथा यति के स्थान एवं महत्व को समझा सकेंगे,
- चरण, गण एवं तुक के स्वरूप का विवेचन कर सकेंगे, तथा छंद के प्रकारों का विवेचन कर सकेंगे।

## 35.1 प्रस्तावना

ऐच्छिक पाठ्यक्रम तीन का यह अंतिमखंड है। इसमें चार इकाइयाँ हैं। पहली दो इकाइयों में आप छंद का विवेचन-विश्लेषण करेंगे। अन्य दो इकाइयों में आप अलंकारों की समीक्षा कर सकेंगे। छंद की दो इकाइयों में यह पहली इकाई है। साहित्य के अंगों में छंद का बहुत महत्व है। काव्य साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण विधा है और काव्य की सरलता का मूल आधार अगर भाव-तारल्य है तो उसका लययुक्त होना, उसकी संगीतात्मकता तथा सुव्यवस्थित क्रमबद्धता भी अत्यंत आवश्यक है। ये सब विशेषताएं काव्य को छंदबद्धता से ही प्राप्त होती है। लय, वर्ण अथवा मात्राओं के व्यवस्थित अनुपात से सुनियोजित काव्य ही अधिक प्रभावशाली, हृदयग्राही एवं स्थायी सिद्ध होता है। छंदों से ही काव्य में रमणीयता, तरलता और प्रवाहमयता आती है। इसी से काव्य गेय तथा संगीतात्मक भी बनता है।

अतः छंद-विवेचन संबंधी इस पहली इकाई में आप छंदशास्त्र के अर्थ, स्वरूप, महत्व आदि का विस्तृत विवेचन कर सकेंगे। छंद के नियमों का विश्लेषण करते हुए छंद के अंगों की समीक्षा भी आप इस इकाई में कर सकेंगे। इसी इकाई के अंत में छंद के मासिक, वर्णिक

आदि प्रकारों का विश्लेषण भी किया गया है। छंद संबंधी दूसरी इकाई में आप प्रमख छंदों के प्रकारों का विवेचन करते हुए लक्षण एवं उदाहरण सहित समीक्षा कर सकेंगे। तो आइये, छंद के अर्थ, व्युत्पत्ति, परिभाषा, उसके नियम तथा अंगों संबंधी विवेचन में सर्वप्रथम छंद के अर्थ एवं व्युत्पत्ति पर दृष्टि डालें।

## 35.2 छंद शब्द का अर्थ एवं व्युत्पत्ति

छंद शब्द काफी पुराना है—इतना पुराना कि सबसे अधिक प्राचीन ग्रंथ कहलाने वाले 'वेदों' का दूसरा नाम ही छंदस् है। जब वेदों को समझने के लिए एक अनुशासन के रूप में इसका व्यवस्थित रूप सामने आया तब वह छंद शास्त्र के रूप में जाना गया और उसकी भी गणना प्रसिद्ध छह वेदांगों के अंतर्गत होने लगी। वेदों को समझने के लिए जैसे व्याकरण, ज्योतिष, निरूक्त, कल्प आदि की जरूरत समझी जाती थी, उसी प्रकार छंद की भी। निष्कर्ष यह कि छंद बहुत पुराना शब्द और शास्त्र या अनुशासन है।

छंद को छंद इसलिए कहा जाता है कि वह **छादन** करता है—ढँकता है (यदाच्छादयन् तच्छंदसां छंदस्त्वम्)। ऊपर वेद की समझ को विकसित करने में जिस निरूक्त नामक अनुशासन की चर्चा की गई है उसमें भी कहा गया है—छंदांसि छादनात् अर्थात् **छादन** करने के कारण ही इन्हें छंद कहा जाता है। सवाल यह पैदा होता है कि वह किसका छादन करता है? शतपथ ब्राह्मण नाम की पुस्तक में एक कथा आई है कि जब देवगण मृत्यु से भयभीत हुए तब उससे बचने के लिए उन्होंने अपना छादन किया—अपने को ढँका। जिससे ढँका, वही छंद है। अर्थात् जिस वेद के सहारे देवता मृत्यु से अपने को बचा सके वही छंद है। पर यह वेद के लिए प्रयुक्त छंद शब्द का अर्थ हो सकता है।

हम यहाँ जिस रूप में छंद का विचार करने जा रहे हैं वह एक लय विशेष में पदों का बंधन है। इस दृष्टि से छंद का अर्थ है—**बंधन**। वास्तव में काव्य 'शैली' की दृष्टि से दो प्रकार का होता है—गद्यमय और पद्यमय। काव्य ही क्यों, पुराने जमाने में तो शास्त्र भी पद्यमय होते थे—गद्यमय तो होते ही थे। छापाखाने के प्रचार के कारण अब शास्त्र सुलभ हो जाता है। अतः अब उसे कण्ठस्थ करना उतना आवश्यक नहीं माना जाता। पुराने जमाने में कण्ठस्थ करने के लिए उसे लयविशेष के बंधन में बाँध दिया जाता था। इससे वह जल्दी ही याद हो जाता था। इस प्रकार पद्य को रचने के लिए जिन-जिन बंधनों या नियमों की आवश्यकता है उनका जिस अनुशासन में वर्णन होता है—उसे छंद-शास्त्र कहा जाता है। इस अनुशासन के रचयिता ऋषि के नाम पर इसे पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है।

लौकिक छंदों में दोषों का छादन या आवरण भी संभव है। पद्य में छंद दोषों का आच्छादन करते हैं। इसलिए भी हम चाहें तो इससे छंद कह सकते हैं। जिस तरह गद्य का अनुशासन व्याकरण करता है उसी तरह पद्य का अनुशासन छंद करता है। इस प्रकार यह पद्य का व्याकरण है। गद्य में व्याकरण संबंधी दोष का छादन नहीं होता—पद्य में थोड़ी छूट हो जाती है। उदाहरण लें—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय लक्ष्मी सी उदित हुई—कामायनी।

यहाँ उषा तीर बरसाती हुई उदित होनी चाहिए—बरसती हुई नहीं—पर पद्य में इतना चलत है। रीतिकाल में छंदों के बंधे हुए ढाँचों ने शब्दों का अंग भंग काफी किया है। इतना, कि कभी-कभी वे पहचान में नहीं आते। भूषण कवि के काव्य में यह स्थिति काफी देखने को मिलती है।

**छादन** और **बंधन** के अतिरिक्त "छंद" शब्द का एक तीसरा अर्थ भी है जो व्युत्पत्ति से निकलता है। कहा गया है कि एक धात् है—चांदी, जिसका अर्थ होता है—हाड़न, प्रसादन। चांदी का चंद होता है और "च" को (चदेरादेश्छ =) "छ" हो जाता है। इस प्रकार ल्हादन न करने के कारण भी छंद, छंद कहा जाता है। गोस्वामी तलसीदास ने—
वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि—में जिस छंद शब्द का प्रयोग किया है—उसका अर्थ "ल्हाद" ही है। इसीलिए सर्वोत्तम होने के कारण उसे अन्त में रखा गया है। इस प्रकार छंद शब्द के तीन अर्थ हुए छादन, बंधन और ल्हादन।

## 35.3 छंद की परिभाषा एवं स्वरूप

किसी भी शब्द का अर्थ हम दो प्रकार से पा सकते हैं—पहला है—व्युत्पत्ति और दूसरा है—प्रयोग या परिभाषा। अब, हम प्रयोग या परिभाषा की दृष्टि से इस छंद पर विचार करेंगे। प्रयोग में हम लय के अनुरूप पद विन्यास को छंद कहते हैं। इसीलिए छंद को वेद का पाद कहा गया है—चरण कहा गया है—"छंदः पादौतु वेदस्ण"। पद या चरण के बिना चलना संभव नहीं है। जगन्नाथ प्रसाद भानु ने छंद की परिभाषा इस प्रकार दी है—

मत्त वरण गति यति नियम, अंतहि समता वंद।
जा पद रचना में मिलें, भानु भनत स्वई छंद।।

अर्थात् मात्राओं या वर्णों की रचना, गति तथा यति (विराम) का नियम और चरणांत में समता जिस कविता में पाई जाय उसे छंद कहते हैं। भानु जी ने यहाँ कुछ विशेषताओं से युक्त कविता को ही छंद कहा है। वस्तुतः छंद एक लय विशेष के अनुरूप वर्ण या मात्राओं का नियम, बंधन या ढाँचा है जिसके लिए चरणांत में समता अनिवार्य नहीं है। उसमें गति और यति होनी चाहिए। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं जिसके बिना वह अपनी ही बंधन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है—"उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण में राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों में भी सौंदर्य भर देते हैं।" कुल मिलाकर पुनः कहा जा सकता है—निश्चित वर्णों या मात्राओं की विराम, गति, या यति आदि से बंधी हुई शब्द योजना को छंद कहते हैं।

## 35.4 छंद और काव्य का संबंध एवं प्रयोजन

छंद से काव्य का सौंदर्य समृद्ध होता है—छंद द्वारा उत्पादित नाद सौंदर्य कविता को दीर्घ जीवन प्रदान करता है। छंद के कारण कविता शीघ्र कंठस्थ हो जाती है और इस तरह हम में भी कविता करने की शक्ति आ जाती है। यों कवित्व की अभिव्यक्ति गद्य में भी होती है। अतः छंद का कविता से कुछ लोग अनिवार्यतः संबंध नहीं मानते। अरस्तू का कहना है—छंद कविता का अनिवार्य माध्यम नहीं है। सिडनी कहता है—छंद कविता का अलंकार मात्र है मूल तत्व नहीं। कॉलरिज का कहना है कि सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छंद के बिना भी हो सकती है। संस्कृत और हिंदी के तमाम आचार्यों ने जहाँ भी काव्य का लक्षण या स्वरूप लिखा है—वहाँ छंद को लक्षण में समाविष्ट नहीं किया है। ऐसे आचार्य अपवाद को ही मिलेंगे, जिन्होंने काव्य के लक्षण में छंद का समावेश किया है। इसीलिए जब यह धारणा रूढ़ होने लगी कि छंद और कविता पर्याय हैं तब निराला जैसे सिद्ध कवियों ने उसे तोड़ा। नई कविता के दौर में छंद और गति के अनुरूप संगीतमयता तक की अवहेलना हुई। दूसरी ओर यह भी कि एक ओर पद्यमय कविता करना चाहे और दूसरी ओर छंद का ज्ञान न हो—सर्वथा अनुचित है। रिचर्ड्स तथा इलियट आदि ने इसकी अर्थात् छंदों के ज्ञान की गहरी समझ पर बल दिया है। रूढ़ और बंधे-बंधाए छंदों से भावमयी कविता को मुक्ति दिलाने का आंदोलन हुआ—पर मुक्त छंद के प्रयोग के लिए लय की गहरी जानकारी आवश्यक समझी गई। निष्कर्ष यह है कि काव्य गद्य में लिखा जाता है—पर यदि पद्य में लिखा जाय तो लय की गहरी समझ आवश्यक है। पद्य कहते ही हैं छंदोबद्ध पदविन्यास को। अतः एक तरफ कविता लिखें और पद्यबद्ध लिखें और दूसरी ओर छंद का ज्ञान न हो—यह परस्पर विरोधी बात है।

अतः छंद या लय के अनुरूप पद-विन्यास से काव्य के सौंदर्य की वृद्धि होती है और उसमें दीर्घ जीविता आ जाती है।

**बोध प्रश्न 1**

1) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग तीन-चार पंक्तियों में दीजिए।

i) छंद शब्द की प्रमुख व्युत्पत्तियाँ बताते हुए उसका शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

ii) छंद किसका "छादन" करता है? लौकिक काव्य के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) जगन्नाथ प्रसाद भान् द्वारा दी गई छद की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iv) छंद और काव्य का परस्पर क्या संबंध है?

.....

.....

.....

.....

2) नीचे कुछ कथन दिये गये हैं। इनमें से कुछ सही हैं और कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाइये–

i) पद्य के लिए छन्द अनिवार्य है। ( )

ii) छंद छादन करता है ल्हादन नहीं करता। ( )

iii) अरस्तू का मानना है कि छंद कविता का अनिवार्य माध्यम है। ( )

iv) नई कविता के दौर में 'छंद और गीत के अनुरूप संगीतमयता' तर्क की अवहेलना हुई। ( )

v) छंद वास्तव में एक लय-विशेष में पदों का बंधन ही है। ( )

## 35.5 छंद शास्त्र : व्याख्या और नियम

ऊपर छंद की जगन्नाथ प्रसाद भान् द्वारा रचित परिभाषा दी गई है जिसमें अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हैं। आइए, हम उनमें से प्रत्येक ऐसे पद का आशय स्पष्ट करें और समझें।

### 35.5.1 अक्षर या वर्ण का स्वरूप : ह्रस्व और दीर्घ

व्याकरण में सामान्य रूप से प्रत्येक अक्षर अथवा वर्ण के दो रूप होते हैं–ह्रस्व और दीर्घ। जिन व्यंजन अक्षरों में अ, इ, उ तथा ऋ हैं–ह्रस्व एवं ए, ऐ, ओ और औ की गणना जहाँ की जाती हैं–दीर्घ। यह मोटे तौर पर मान लिया गया है कि ह्रस्व के उच्चारण में जितना समय लगता है दीर्घ के उच्चारण में उससे दगुना लगता है। उच्चारण में अपेक्षित काल-मान को मात्रा कहते हैं। जिनका उच्चारण होता है–वे अक्षर या वर्ण कहे जाते हैं। अक्षर या वर्ण स्वर और व्यंजन दोनों ही है–और दोनों के ही उच्चारण में समय लगता है पर छंद शास्त्र में मात्रा का संबंध (उच्चारण में काल-मान का संबंध) केवल स्वर से माना जाता है–व्यंजन से नहीं। व्याकरण में ह्रस्व और दीर्घ के अतिरिक्त एक लुप्त उच्चारण भी होता है–पर छंद शास्त्र में उसकी चर्चा नहीं की गई है। व्याकरण शास्त्र में इस उच्चारण में उपयोगी काल-मान को जहाँ ह्रस्व और दीर्घ कहा गया है वहीं छंद शास्त्र में उन्हें क्रमशः लघु और गुरु कहा गया है। लघु के लिए प्रतीक रूप में सरल रेखा या चिह्न–। और गरु के लिए वक्र रेखा या चिह्न–ऽ का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी छंद के लक्षणों में इनके लिए ल और ग का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है-उसे मात्रा कहते हैं। उदाहरण लें–

| | | |
|---|---|---|
| ।। ।। ।।<br>कर मर कर | = | छह मात्रा |
| ऽ ऽ ।<br>ना रा च | = | पाँच मात्रा |
| ऽ ऽ ऽ<br>ना रा जी | = | छह मात्रा |

ऊपर जिन स्वरों के लिए ह्रस्व और दीर्घ का प्रयोग बताया गया है उनके अतिरिक्त भी यथावत ह्रस्व और दीर्घ या लघु और गुरु का होना पाया जाता है। अतः उन्हें भी जानना आवश्यक है।

**दीर्घ या गुरु की छंद शास्त्र में व्यवस्था इस प्रकार है:**

(i) संयुक्त अक्षर के पहले वाला अक्षर (स्वर) दीर्घ माना जाएगा—जैसे, पथ्य। यहाँ थ् और य संयुक्ताक्षर है—इनके पूर्व है—प में प्रयुक्त "अ" अक्षर या स्वर। सो, यह यद्यपि ह्रस्व या लघु है, पर उच्चारणवश दीर्घ या गुरु ही माना जायगा। यदि पूर्व में दीर्घ स्वर है तब तो वह गुरु है ही, लघु भी हो—तो दीर्घ माना जाता है। हिन्दी में कुछ संयुक्ताक्षर ऐसे भी हैं—जिनसे पूर्व ह्रस्व स्वर दीर्घ उच्चारित नहीं होता—जैसे, कुल्हाड़ी, कुम्हार, नन्हें। इन प्रयोगों पर ध्यान दीजिए—यहाँ 'ल्ह', 'म्ह' तथा 'न्ह' संयुक्त वर्ण हैं पर इनके पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ या गुरु नहीं माने जाते क्योंकि 'ल्ह', 'म्ह' और 'न्ह' वास्तव में एक ही वर्ण हैं। इसी प्रकार सामासिक शब्दों पर भी विचार करना आवश्यक है। समास में दो शब्दों का मेल होता है। इसमें यदि परवर्ती शब्द का आद्य अक्षर होता है तब पूर्ववर्ती या पहले प्रयुक्त शब्द का अंतिम स्वर उच्चारण के अनुसार कभी दीर्घ और कभी ह्रस्व ही माना जाता है। उदाहरण के लिए एक सामासिक पद है— रामप्रसाद। इसमें दो शब्द हैं—"राम" और "प्रसाद"। परवर्ती शब्द "प्रसाद" में "प्र" (प् र्) का संयुक्ताक्षर है—इससे पूर्ववर्ती शब्द "राम" में "अ" या "म" ह्रस्व स्वर है। यहाँ यदि हमने उच्चारण परवर्ती संयुक्ताक्षर के उच्चारण पर बल दिया अर्थात् "राम प्रसाद"—जैसा उच्चारण किया—तब "राम" का म-वर्ण दीर्घ या गुरु माना जायेगा। यदि उच्चारण "रामप्रसाद" किया, तब म ह्रस्व ही रह जायेगा दीर्घ नहीं माना जायेगा। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ होता है—किन्तु यह नियम सभी जगह लागू नहीं होता। म्ह, ल्ह, न्ह भी संयुक्ताक्षर हैं पर इनका उच्चारण अशक्त है—अतः इनके पूर्ववर्ती ह्रस्व वर्ण दीर्घ नहीं होते, पर "सत्य" में "त्य" संयुक्ताक्षर का उच्चारण शक्त है—अतः "स" दीर्घ ही माना जायेगा। हिंदी की पुरानी कविता में और भी ऐसे संयुक्ताक्षर हैं—जिनका उच्चारण अशक्त होता है—न्य, ह्य द्य के साथ पत्याना का त्य भी है। इस प्रकार इस नियम (संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर दीर्घ होता है) का प्रयोग संयुक्ताक्षर के शक्त उच्चारण पर निर्भर करता है।

## 35.5.2 अनुस्वार-युक्त वर्ण का दीर्घ या गुरु होना

जैसे, हंस, कंस, सांधे। इन उदाहरणों में ह, क, स यद्यपि लघु या ह्रस्व उच्चारित है तथापि अनुस्वार युक्त होने के कारण इन्हें दीर्घ या गुरु ही कहेंगे। परंतु जहाँ अक्षर सानुस्वार न होकर अननासिक होगा—वहाँ ह्रस्व स्वर ही माना जायगा—जैसे—हँसना में 'हँ'। प्रायः छापाखाना वाले चन्द्रबिंद की जगह, (जो अनुनासिक का सूचक होता है) बिंदु का ही प्रयोग करते हैं। अतः उससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। प्रायः आलस्यवश लोग लेखन में भी चन्द्र बिंदु की जगह बिंद का ही प्रयोग कर देते हैं। अतः यह चिह्न नहीं, बल्कि उच्चारण से ही पता लगेगा कि कहाँ अनुस्वार उच्चारित हो रहा है और कहाँ अनुनासिक। इसका विवेक रखकर ही जहाँ सानुस्वार उच्चारण हो—वहाँ गुरु मानना चाहिए।

## 35.5.3 विसर्ग-युक्त वर्णों की दीर्घता

जैसे, प्रायः, अतः, फलतः तथा विशेषतः में प्रयुक्त "त" ह्रस्व है पर सविसर्ग होने से दीर्घ माना जायेगा।

## 35.5.4 हलन्त से पूर्व-वर्ण तथा ह्रस्व-वर्ण की दीर्घता

पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बताया ( देखिए-काव्यांग कौमुदी खंड 3 प्रकाश) कि हलन्त के या हल के पूर्व का वर्ण भी दीर्घ माना जाता है। जैसे श्रीमन-में "म" को दीर्घ माना जायेगा और न की मात्रा नहीं गिनी जायेगी। कारण वहाँ स्वर है ही नहीं।

छंद (वर्णवृत्त) के चरण के अंत में आवश्यकता पड़ने पर ह्रस्व वर्ण भी दीर्घ माना जाता है। उदाहरण लें–

दुखित हैं धनहीन, धनी सुखी
यह विचार परिष्कृत है यदि ।
मन, युधिष्ठिर को फिर क्यों हुई
विभावता भवताप विधायिनी ।

यहाँ दूसरे चरण में "यदि" का "दि" अक्षर चरण के अंत में होने के कारण दीर्घ माना जाता है, यह शेष तीन चरणों को देखने से साफ मालूम होता है। फलतः "यदि" का "दि" ह्रस्व होने पर दीर्घ ही माना जायेगा। कारण यहाँ दीर्घ मानने की आवश्यकता है अन्यथा लयभंग हो जाएगी। ब्रज और अवधी की पुरानी कविता में दीर्घ वर्ण को कहीं-कहीं ह्रस्व मानने का भी नियम है। इन भाषाओं में कुछ दीर्घ स्वरों (ए-ओ) को ह्रस्व उच्चारण करने की भी पद्धति है, उदाहरण लें–

अवधेस के द्वारे सकारे गए सुत गोद में भूपति ले विकसे।

यहाँ "रे" का "ए" ह्रस्व है। अथवा–

हरि कीजत तुम सों यहै, विनती बार हजार।
जेहि तेहिं भाँति डरो रहौ, परो रहौ दरबार।।

× × ×

रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पियावत मान बिनु।
जो विष देई बुलाय, मान सहित मरिवो भलो।।

अवधी–

कहहिं परसापर लोग लोगाई ।
बातैं सरल सनेह सुहाई ।

× × ×

ते पितु मातुधन्य जिन्ह जाए ।
धन्य सो नगरु जहाँ ते आए ।

इन उदाहरणों में काले शब्दों को देखें–उनमें प्रयुक्त ए और ओ ह्रस्व ही उच्चरित होते हैं। अवधी का एक दूसरा उदाहरण लें–

गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा ।।

इधर खड़ी बोली में जब से सवैया लिखी जाने लगी है–तब से इसमें भी दीर्घ को लघु करके पढ़ने की व्यवस्था करनी ही पड़ी है। जो लोग उर्दू छंदों का खड़ी बोली में प्रयोग करते थे–उनमें तो यह प्रवृत्ति बहुत अधिक थी–कारण, उर्दू के छंद भी एक प्रकार के वर्णवृत्त ही हैं–जो वजन पर चलते हैं। खड़ी बोली में यह नियम वर्णवृत्तों में ही हैं–मात्रा वृत्तों में नहीं जैसे–

उर्दू बाहर

निज देश की उन्नति का है सब भार इन्हीं पर ।
निज धर्म की रक्षा का है सब दार इन्हीं पर ।
इन्कार इन्हीं पर है तो इकरार इन्हीं पर ।
इनहीं पर रिआया भी है, सरकार इन्हीं पर ।

वर्ण वृत्त में देखें

वन बीच बसे थे फंसे थे ममत्व में, एककपोत कपोती कहीं ।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित नया नया नेह, नई नई कामना होती रही।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।

यहाँ काले अक्षरों में दीर्घ का ह्रस्वीमान स्पष्ट है।

## 35.6 गति

मत्त (मात्रा) वरण (वर्ण) के बाद आती है– **गति**। अब इसका आशय स्पष्ट करना है। वास्तव में पद्य की एक धारा या एक प्रवाह होता है–इस प्रवाह से हीन होकर पद्य की कोई सार्थकता नहीं होती। पद्य ही नहीं गद्य का भी एक प्रवाह होता है। इस प्रवाह में बाधा आने पर कहा जाता है कि भाषा में प्रवाह नहीं है। छंद-शास्त्र में यही प्रवाह गति है। इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है। वैसे प्रयास किया जाए तो नियम सब जगह निकाला जा सकता है। यह किया जा सकता है कि किस छंद में गद्य, मात्रा और वर्ण का कौन सा क्रम रखा जाय–तो प्रवाह या गति में कोई बाधा न आ सके। "घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर" नाम की एक पुस्तक है जिसमें इस बात पर पर्याप्त विचार किया गया है कि घनाक्षरी छंद की गति ठीक रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिए। प्रवाह या गति का भंग भी एक दोष है। इसे हतवृत्त या छंदोभंग कहा जाता है।

मंगल भवन अमंगलहारी ।
द्रवहु सो दशरथ विहारी
(गति ठीक है)

मंगल भवन अमंगल हारी ।
द्रवहु दशरथ सो अजिर विहारी
(गतिभंग है)

इस चौपाई के दूसरे चरण में मात्रा 16 होने पर ही प्रवाह भंग है। प्रवाह भंग होने से छंद का सारा सौंदर्य जाता रहता है।

दूसरा उदाहरण लें–

एक प्रभुता को धाम, सजे तीनों वेद काम,
रहे पंचानन षडानन राजी सर्वदा
सात बार आठौ जाय जाचक निवाजै नव,
अवतार विराजै कृपान ज्यौ हरीगदा ।। आदि

यह मनहरण कवित्त है। इसके प्रत्येक चरण में 16 और 15 के विराम से 31 अक्षर होते हैं। इस कवित्त में लक्षण घट जाता है, पर प्रत्येक चरण का उत्तरार्द्ध प्रवाह से रहित है विशेषतः दूसरे और चौथे चरण का।

## 35.7 यति अथवा विरति तथा विरति भंग

छंदों की लय को ठीक रखने के लिए यति और विरति का भी विधान होता है। इसमें यह बतलाया जाता है कि इस छंद की यति या विरति (विराम) इतने वर्णों या मात्राओं पर होती है। इस नियम का उल्लंघन करने पर लय बिगड़ जाती है और यह भी एक दोष होता है। जब एक चरण का शब्द कटकर दूसरे चरण में लगता हो तो यति भंग होता है। जब नियत विश्राम स्थान पर शब्द कट जाता हो और कटने पर ही विरति बनती हो–तो वहाँ **विरति भंग** होता है।

यतिभंग का उदाहरण लें–

कुसुम सा सुप्रफुल्लित बालिका–
हृदय भी न रहा सुप्रफुल ही
यह मलीन एकल्मस हो गया
प्रिय मकुंद प्रवास–प्रसंग से ।

इस छंद में "बालिका हृदय"–एक समास–पद है–समस्त पद है, परन्तु उसका 'हृदय" कटकर दूसरे चरण में चला गया है।

**विरतिभंग का उदाहरण :**

अकथ अपार भवपंथ के विलोकौ श्रम
हरन करन विजना से वरम्हाइयै ।
यहलोक परलोक सफल करन कोक,
नद से चरन हिये आनि के जुड़ाइयै ।
अलिकुल कलित कपोल ध्वाय ललित,
अनंद रूप सहित मों भूषण अन्हाइयै ।
पाप-तरु-भंजन विघन-गढ़-गंजन
भगत-मन-रंजन द्विरद-मुख गाइयै।।

इस छंद में जो कवित्त है—उसमें 16 और 15 वर्णों पर विरति देने का नियम है। इस कवित्त के दूसरे, तीसरे और चौथे चरणों में विराम या विश्राम होना चाहिए, पर वह नहीं है। दूसरे चरण में "कोकनद" एक शब्द है पर उसका एक अंश "नद" कटकर दूसरे में चला गया है। इसी प्रकार तीसरे और चौथे चरण में अनंद के अ और भगत के भ पर विश्राम होना चाहिए—पर पहले ही क्रम टूट गया है।

## 35.8 चरण

जैसे हम पाद या चरण के बल पर खड़े होते है वैसे ही छंद भी पाद या चरण के बल पर खडे होते हैं। प्रायः प्रत्येक छंद में चार चरण होते हैं—लिखते हुए भले ही दो पंक्तियों में लिख दिया जाय। वेदों में दो-तीन पदों के भी छंद है। दोहा, सोरठा, रोला सवैया आदि में चार चरण होते हैं। छप्पय, कुंडलिया में छह चरण होते हैं। इससे अधिक चरणों के भी छंद हैं और हो सकते हैं।

## 35.9 गण

जिस प्रकार मात्रावृत्तों में मात्रा का विचार किया गया है उसी प्रकार वर्ण वृत्तों में गण का विचार किया जाता है। यों मात्रिक छंदों में भी कहीं-कहीं गण की चर्चा आ जाती है पर इनमें गण की जानकारी के बिना भी काम चल सकता है। गण का अर्थ है, समूह। मात्रा वृत्तों में मात्राओं के समूह को गण कहते हैं। वर्ण वृत्तों में गण का सामान्यतः अर्थ है—तीन अक्षरों या वर्णों का समूह।

मात्रिक गण पाँच होते हैं—टगण, ठगण, डगण, ढगण और णगण। क्रमशः छह, पाँच, चार, तीन और दो मात्राओं के समूह के ये नाम दिए गए हैं। इतना स्पष्ट है कि मात्रिक गणों का रूप एक ही नहीं रह सकता। ज्यों-ज्यों मात्राएँ अधिक होती गईं उनके रूपों की संख्या भी बढ़ती गई। णगण का एक उदाहरण लें—इसमें दो गण होते हैं। इसका एक रूप तो यह होगा कि एक ही दीर्घ वर्ण दो मात्राओं का हो और दूसरा यह कि दो ह्रस्व वर्ण दो मात्राओं के हों—

पहले का उदाहरण है—नौ—ऽ
दूसरे का उदाहरण है—नव—।।

तीन मात्रा वाले ढगण के तीन रूप होंगे—

वारि—ऽ। नया ।ऽ नमक ।।।

चार मात्रा वाले गणों मे रूप की संख्या बढ़ने लगती है। डगण के पाँच रूप होंगे—

गाथा ऽऽ, तरना ।। ऽ, पड़ाव ।ऽ।, गालिब ऽ।।, मरकट ।।।।

इसी प्रकार पाँच मात्रा वाले मात्रागण के आठ और छह के तेरह रूप होंगे। इन मात्रिक गणों का उपयोग छंदों के लक्षण लिखने में होता है। कल्पना कीजिए कि किसी मात्रा छंद में यह लिखना हो कि तीन मात्राओं वाले शब्दों के बाद पाँच मात्रा वाला शब्द लिखना है—तो कहेंगे ठगण के बाद ढगण होगा। संक्षेप में लिखना हो तो यह भी कहेंगे कि ठ के बाद ढ रहेगा।

वर्ण वृत्त में गण तीन अक्षर के समूह को कहते हैं। इन गणों के आठ रूप होते हैं। वर्ण दीर्घ और ह्रस्व हो सकते हैं जिनका गण में समावेश होता है। इसके बोध के लिए हिंदी में एक सूत्र प्रचलित है–

"यमाता राजभान सलगा"

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| यगण | – | यमाता | – | ।ऽऽ | भगाना |
| मगण | – | मातारा | – | ऽऽऽ | हंगामा |
| तगण | – | ताराज | – | ऽऽ। | गराच |
| रगण | – | राजभा | – | ऽ।ऽ | भाइयो |
| जगण | – | जभान | – | ।ऽ। | विहार |
| भगण | – | मानस | – | ऽ।। | भीतर |
| नगण | – | नसल | – | ।।। | नहर |
| सगण | – | सलगा | – | ।।ऽ | गहरा |
| लघु और गुरु | | लगा | । | ऽ | गया |

इस सूत्र से जिस गण को जानना हो, उसके साथ आगे के दो वर्णों को ले लीजिए–फिर उसी वजन पर दीर्घ ह्रस्व के क्रम से तीन शब्दों का एक उदाहरणात्मक गण बना लीजिए। ऊपर की सारणी देखें। मान लें आपको यगण बनाना है तो सूत्र से य और आगे के दो वर्ण माता ले लें–अब यगण–यमाता के क्रम से वर्ण विचार करने पर बन जायगा। जैसा कि उदाहरण से स्पष्ट है।

भारतीय परम्परा में मंगल-अमंगल का विचार प्रत्येक संदर्भ में होता है। गणों और वर्णों के संबंध में भी इसका विचार किया जाता है। कुछ वर्ण भी शुभ-अशुभ माने जाते हैं और कुछ गण भी। स्वर सभी शुभ माने गये हैं। व्यंजन वर्णों में ङ, ञ, ज, ट, ठ, ड, ढ ण, य, फ, व, भ, म, र ल व, ष तथा ट को छोड़कर शेष शुभ हैं। आरम्भ में संयुक्ताक्षर अशुभ हैं। इन अशुभ वर्णों में से पाँच को **दग्धाक्षर** कहा गया है–जो अत्यंत अशुभ माने गये हैं। झ, म, र, ष तथा ह। यदि ये वर्ण देववाचक या मंगलवाचक शब्द के आदि में हो तो इनकी अशुभरूपता क्षीण पड़ जाती है।

वर्ण की भांति गण भी शुभ-अशुभ होते हैं। इनमें से अशुभगणों के संबंध में माना जाता है कि वे काव्य के आदि में न आयें। कुछ लोगों का तो विचार है कि अशुभगण किसी भी पद्य के आरम्भ में न आएँ पर कुछ लोगों का विचार है कि प्रकरण या ग्रंथ के आरम्भ में न आएँ। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि वर्ण वृत्तों में इस नियम का निर्वाह कठिन है। कारण यह है कि वर्ण वृत्त में कुछ गणों को आरंभ में रखने का नियम है। इसीलिए परिहार का रास्ता भी निकाल लिया गया और कहा गया कि यदि ये गण किसी देववासी या मंगलवासी के अंतर्गत आ गए तो प्रभाव क्षीण हो जाता है। नियम तो यह भी कर लिया गया कि ये सब नरकाव्य में विचारणीय हैं। देवकाव्य में नहीं। गणों के देवता और फल आदि का भी सविस्तार विचार है पर आप सबके लिए यह अनावश्यक है–अतः छोड़ा जा रहा है। म, न, भ तथा प गण शुभ हैं, ज न र तथा स गण अशुभ हैं।

## 35.10 तुक विचार

पद्यों के पदान्त के अक्षरों का नाम तुक है। इसे अलंकारों के संदर्भ में अन्त्यानुप्रास भी कहा जाता है। हिंदी में चरण के अंत में अक्षर-मैत्री का नियम है। यह प्रवृत्ति संस्कृत और प्राकृत भाषा में नहीं थी। अपभ्रंश में थी और संभवतः वहीं से हिंदी में आई है। इधर अंग्रेजी के ब्लैंकवर्स की देखा-देखी हिंदी में भी लोग तुक का परित्याग करने लगे हैं और अतुकांत कविता लिखने लगे हैं और कहते हैं कि उसके लिए छंद का ही बंधन काफी है। अब तो क्रमागत छंदों का भी बंधन छोड़ने लगे हैं और पद्य के लिए लयानुधावन ही काफी समझा जाने लगा है। नए लोग अब उससे भी आगे बढ़ रहे हैं और पद्य को मात्र पढ़ने की एक कला तक ही सीमित रखना चाहते हैं। इसका कारण अब जगत की स्थिति बताते हैं। बात यह है कि अंग्रेजी भाषा में वह नाद सौंदर्य नहीं है जो हमारी या इस तरह की और भाषाओं में है। काव्यगत सौंदर्य की वृद्धि में नाद सौंदर्य भी साधन है और उसकी वृद्धि में पढ़ने की कला (Reading art) ही नहीं, लय, छंद और तुकों की योजना भी है। अतः नाद सौंदर्य द्वारा भी काव्यसौंदर्य की वृद्धि यदि अपेक्षित है तो तुक का ग्रहण उचित है। अतुकांत कविता के

लिए जितना वर्णवृत्त अनुकूल पड़ते हैं उतना मात्रावृत्त नहीं। वैसे करने के लिए मात्रावृत्तों में भी अतुकांत रचना हुई है पर आकर्षक न होने से उसका यथोचित प्रचार नहीं हो पाया है। यही दशा छंदहीन और लयहीन कविता की है।

तुक का विचार तुकांत के स्वरों के आधार पर ही हो सकता है। अनुस्वार युक्त वर्ण भी उसी के अंतर्गत समझ लिए जाएंगे। स्वरों के आधार पर तुक तीन प्रकार के माने जाते हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट या अधम।

यदि पद्य के अंत में दो गुरु आ पड़ें तो पाँच मात्राओं का समस्वर होना उत्तम कहा जाता है, चार मात्राओं का समस्वर हो तो मध्यम और दो का हो तो अधम।

उत्तम : नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखतु न भूप कपट **चतुराई**।

मध्यम : बजहिं बाजने विविध **विधाना** प्रर प्रमोद नहीं जाइ **बखाना**।

अधम : राम सीय पद प्रीति घनेरी।
नितप्रति नूतन होई हमारी।।

इसी प्रकार यदि पद्य के अंत में ।S या S। आ जाय तो पाँच और चार मात्राओं की तुक उत्तम, तीन की मध्यम तथा दो एक की अधम है। यदि पद्य के अंत में दो (।।) लघु आ पड़ें तो चार मात्राओं की तुक उत्तम, दो की मध्यम और एक की अधम होती है।

रीतिकालीन कवि, आचार्य भिखारी दास ने इसी बात पर दूसरे ढंग से विचार किया है। उन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भी तीन-तीन भेद किए हैं। आचार्य पं. विश्वनाथ प्रसाद का विचार है कि ये भी उसी प्रकार की तीन श्रेणियाँ हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनके अनुसार सारणी इस प्रकार है—

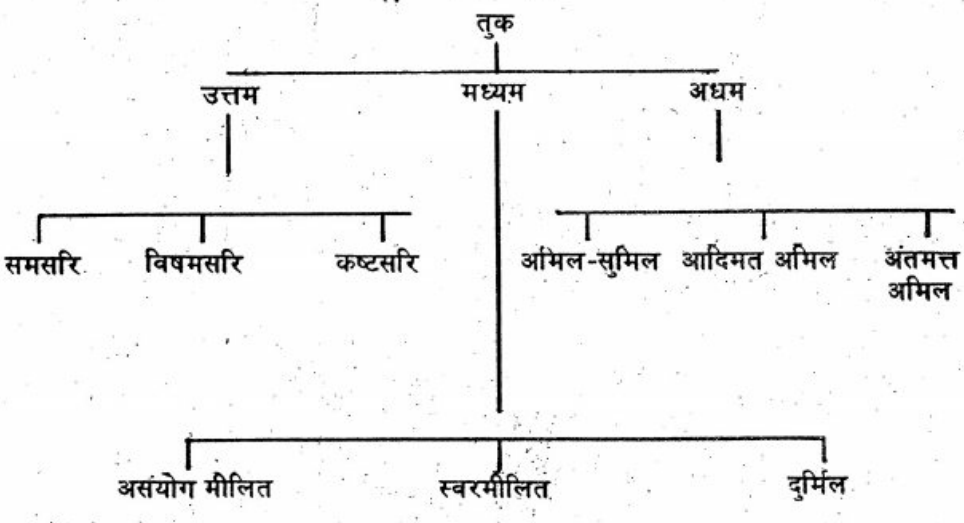


आचार्य भिखारी दास ने तुक के तीन ढंग के भेद और माने हैं—1-वीप्सा 2-यामकी और 3 लाटिया। इन सब बातों का विस्तार देखना हो तो पं. वि.प्र. मिश्र की काव्यांग कौमुदी का तृतीय खंड देखा जा सकता है। यहाँ आपके लिए इतनी ही जानकारी काफी है।

## 35.11 छंद के प्रकार

छंद इतना पुराना है कि वेदों का नाम ही छंदास पड़ गया है। उसमें छंद भी है, पद में वह लौकिक छंदों से भिन्न है—इसीलिए लौकिक काव्य में प्रयुक्त छंद लौकिक कहे जाते हैं। मतलब छंद दो प्रकार के हैं—वेदों में प्रयुक्त वैदिक छंद और लौकिक काव्य में प्रयक्त लौकिक छंद। लौकिक छंदों में भी वर्ण और मात्रा के विचार से दो प्रकार हैं—**मात्रिक** और **वर्णिक** छंद। मात्रिक छंद वे छंद है जिनमें अक्षरों या वर्णों की मात्राओं के अनसार नियम निर्धारित होते हैं। इसके पादों में वर्णक्रम ज्यादा हो सकते हैं पर मात्रा परस्पर होनी

चाहिए–पर यह अनावश्यक नहीं है कि कम ज्यादा हों ही। अभिप्राय यह है कि मात्रिक छंदों में मात्रा को ही ध्यान में रखकर नियम बनाए जाते हैं। वर्ण या अक्षरों को नहीं। इसी प्रकार वर्णिक वृत्त हैं जिनमें वर्ण या गण को दृष्टि में रखकर नियम बनाए जाते हैं। मुक्तक दंडक वर्णवृत्तों में वर्ण नियत होते हैं, गण नहीं–इसलिए उन्हें गण मुक्त होने से मुक्तक कहा जाता है। कुछ छंदों में चरण होते तो चार ही हैं पर उन्हें दो ही पंक्तियों में लिख दिया और अर्धसम। प्रायः प्रत्येक छंद में चार पंक्तियाँ रखी जाती हैं जिन्हें चरण या पाद कहा जाता है। कुछ छंदों में होते तो चरण चार ही हैं पर उन्हें दो ही पंक्तियों में लिख दिया जाता है। वहाँ प्रत्येक पंक्ति को दल कहते हैं। हिंदी में कुछ छंद छह पंक्तियों के भी होते हैं। ये प्रायः दो छंदों के योग से बनते हैं। एक के चार चरण चार पंक्तियों में और दूसरे के चार दो पंक्तियों में। छंद शास्त्र के पहले और तीसरे चरण को विषम और दूसरे तथा चौथे चरण को सम कहा जाता है।

हिंदी में मात्रिक विषम छंद नहीं होते। इसी प्रकार हिंदी में वर्णिक अर्धसम तथा वर्णिक विषम ये दोनों प्रकार के छंद भी नहीं होते।

इन सम छंदों (वर्णिक तथा मात्रिक) के भी दो-दो भेद होते हैं–साधारण और दण्डक। मात्रिक साधारण वृत्त उन्हें कहा जाता है जिनके प्रत्येक चरण में बत्तीस तक या उससे कम मात्राएँ हों–यदि इससे अधिक मात्राएँ होती हैं तो उन्हें दण्डक कहा जाता है। वर्णिक साधारण छंदों के प्रत्येक चरण में 26 या उससे कम वर्ण होते हैं। इनसे अधिक हों तो उन्हें दंडक संज्ञा मिलती है। 23 से 26 वर्ण तक के वृत्त प्रायः हिंदी में सवैया कहे जाते हैं। सारणी इस प्रकार है–

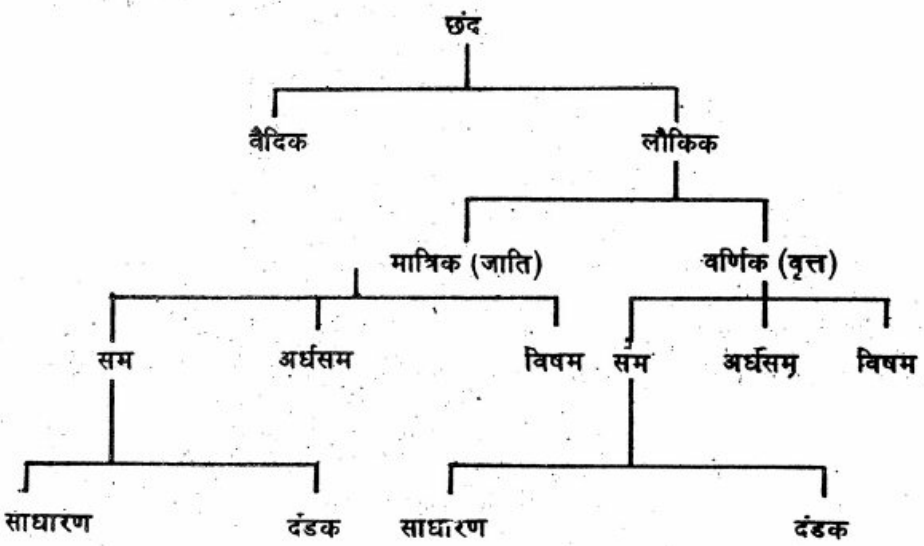


**बोध प्रश्न 2**

1) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

   i) मात्रा से आप क्या समझते हैं? सौदाहरण बताइए।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

   ii) ह्रस्व स्वर किन अवस्थाओं में दीर्घ या गुरु मान लिए जाते हैं। उदाहरण देकर स्पष्ट करें।

   .....

   .....

iii) मात्रा गण कितने प्रकार के होते हैं और उनका उपयोग कहाँ होता है?

iv) तुक से आप क्या समझते हैं? वह कितने प्रकार का होता है। भिखारीदास ने तुक के विषय में क्या कहा है?

2) नीचे कुछ कथन दिए गए हैं। इनमें कुछ गलत हैं तथा कुछ सही। उपयुक्त चिह्न लगाइये–

i) गति छंदगत प्रवाह को ही कहा जाता है। ( )
ii) अन्त्यानुप्रास और तुक में बहुत अन्तर होता है। ( )
iii) यति और विरति एक निश्चित स्थान पर गति का ठहराव है। ( )
iv) तुक मिलाने में शब्दों का अंग भंग करना अच्छा नहीं माना जाता है। ( )
v) गण तीन अक्षरों के समूह को कहतें हैं और इसके आठ रूप होते हैं। ( )

3) नीचे दिए गए शब्दों में गुरु और लघु पहचान कर कोष्ठक में चिह्न लगाइए–
राजा ( ), सत्य ( ), पत्याना ( ), हंगामा ( ), दुःखर ( ), अतः ( ), गया ( ), पीया ( ), चल ( ), पूजा ( ), जुआरी ( )।

4) निम्नलिखित उदाहरण में यति कहाँ भंग हो रही है? लगभग तीन पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

कुसुम सा सुप्रफुल्लित बालिका
हृदय भी न रहा सुप्रफुल्लही।

5) निम्नलिखित प्रश्नों के दो-दो पंक्तियों में उत्तर दीजिए–

i) मात्रिक छंद किसे कहते हैं?

ii) वर्णिक छंद किसे कहते हैं?

## 35.12 सारांश

इस प्रकार छंद एवं उसके भेद विषय संबंधी इस पहली इकाई के अध्ययन से आप जान सके कि छंद काव्य को सुरक्षित रखने वाला अद्वितीय साधन है। इससे एक-एक वर्ण और एक-एक शब्द का स्थान एवं क्रम निश्चित होने के कारण, काव्य में किसी अनर्थकारी परिवर्तन अथवा शिथिलता की संभावना ही नहीं रहती। यह काव्य को नियमित, नियंत्रित एवं संयमित ही नहीं करता उसमें संगीतात्मकता तथा क्रमानुकूल व्यवस्था ला कर प्रवाह एवं तारल्य भी लाता है। उसे प्रवाहमय बनाकर प्रभावी तथा हृदयग्राही बनाता है। छंदों के नियंत्रण से ही काव्य को स्पंदन कंपन एवं वेग मिलता है और उसी से निर्जीव अक्षरों में भी सजीवता आ जाती है। छंद और काव्य का संबंध अत्यंत घनिष्ट होता है। वही इसे रमणीय एवं गेय बनाते हैं। छंदों में वर्ण, मात्रा, यति, गति तथा गण और तुक आदि की निश्चित योजना ही काव्य को व्यवस्था प्रदान करती है। छंद शास्त्र के अपने ही कुछ नियम भी होते हैं जिनमें वर्ण का ह्रस्व एवं दीर्घ होना, अनुस्वार युक्त वर्ण का दीर्घ या गुरु होना, विसर्ग युक्त वर्णों का ह्रस्व से दीर्घ हो जाना तथा हलन्त से पूर्व वर्ण एवं ह्रस्व वर्ण का दीर्घ हो जाना प्रमुख हैं। छंद की मूल आत्मा लय और प्रवाह होते हैं। अतः छादन, आछादन, प्रवाह आदि अर्थों का सूचक छंद अपनी महत्ता के कारण ही विस्तृत-व्यापक होता गया और उसके मात्रिक-वर्णिक आधार पर कई भेद-उपभेद भी हो गए। इन भेद-उपभेदों की चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

## 35.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**काव्यांग विवेचन**, डॉ. भगीरथ मिश्र एवं डा. बलभद्र तिवारी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद

**काव्यांगदर्पण**, डॉ. विजय बहादुर अवस्थी, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली

**काव्य सिद्धांत**, डॉ. ओम प्रकाश शास्त्री, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली

**छंद प्रभाकर**, श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु

**छंद मंजूषा**, पं. रामशंकर शुक्ल रसाल

**काव्यांग कौमुदी**, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भाग 1, 2 तथा 3

## 35.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) i) देखिए, भाग 35.2
   ii) देखिए, भाग 35.2
   iii) देखिए, भाग 35.3
   iv) देखिए, भाग 35.4
2) i) √
   ii) ×
   iii) ×
   iv) √
   v) √

**बोध प्रश्न 2**

1) i) मात्रा उच्चारण में लगने वाले समय के मान को कहते हैं जैसे, ह्रस्व स्वर या उससे युक्त व्यंजन के उच्चारण में जो समय लगता है वह एक मात्रा का और उसमे दना लगे तो दो मात्रा का कहा जाता है। पहले को लघु कहते हैं और दूसरे को गरु। पहले का प्रतीक चिह्न सरल-रेखा (ब) है और दूसरे का वक्र (S) है। पहले का उदाहरण क और दूसरे का उदाहरण का है।

ii) ह्रस्व स्वर को किन अवस्थाओं में दीर्घ या गुरु कहा जाता है—विशेष विवरण मूल पाठ में देखें, सामान्यतः इस प्रकार है—

क) संयुक्ताक्षर का आधवर्ण—वक्र।
ख) अनुस्वार सहित वर्ण—कंस
ग) यदि वर्ण स्वयं दीर्घ हो—रा
घ) विसर्ग सहित लघुवर्ण—अतः
च) पादान्त का लघुवर्ग, यदि आवश्यक हो।

iii) 'गण' मात्रागण भी होते हैं और वर्णगण भी। गण कहते हैं समूह को। मात्रावृत्त में पाँच और वर्णवृत्त में आठ गण होते हैं। मात्रागण का उपयोग मात्रा वृत्त में गणना के लिए होता है।

iv) तुक एक प्रकार का अन्त्यानुप्रास है—जो काव्य सौन्दर्य में योग देने के कारण प्रशस्त परन्तु भरती मात्र का होने से उपेक्षणीय कहा जाता है। तुक मिलाने में शब्दों को अंग भंग करना भी अच्छा नहीं माना जाता।

2) i) √
ii) ×
iii) √
iv) √
v) √

3) ऽऽ, ऽ।, ।ऽऽ, ऽऽऽ, ऽ।, ।ऽ, ।ऽ, ऽऽ, ।।, ऽऽ

4) इस छंद में बालिका - हृदय एक समास शब्द है। इसमें "हृदय" शब्द कटकर दूसरे चरण में चला गया है। इससे प्रथम चरण में यति भंग हो रही है।

5) i) मात्रिक छंद वे होते हैं, जिनमें अक्षरों या वर्णों की मात्राओं के अनुसार नियम निर्धारित होते हैं।

ii) वर्णिक छंदों में वर्ण या गण को दृष्टि में रखकर नियम बनाये जाते हैं। अतः वर्णों की निश्चित संख्या एवं उनके विशिष्ट क्रम पर आधारित पद-रचना जहाँ होती है, वे वर्णिक छंद कहलाते हैं।

# इकाई 36 छंद एवं उसके भेद-II

## इकाई की रूपरेखा

36.0 उद्देश्य
36.1 प्रस्तावना
36.2 मात्रिक छंद
  36.2.1 सममात्रिक छंद
  36.2.2 अर्द्ध सममात्रिक छंद
  36.2.3 विषम मात्रिक छंद
  36.2.4 दंडक छंद
36.3 वर्णिक छंद
  36.3.1 समवर्णिक छंद
  36.3.2 दंडक छंद
36.4 स्वच्छंद छंद
36.5 मुक्त छंद
36.6 सारांश
36.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
36.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 36.0 उद्देश्य

आप हिंदी के दशम खण्ड की 36वीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसके पहले आप छंद के सम्बन्ध में कुछ आरम्भिक बातें, जो जानने योग्य हैं—जान चुके हैं। इस इकाई में आप मात्रिक और वर्णिक वृत्तों के भेदों को सौदाहरण जान पाएँगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- मात्रिक और वर्णिक छंदों के कुछ प्रचलित और आवश्यक भेदों का सौदाहरण विवेचन कर सकेंगे;
- दोनों के साधारण और दंडक जैसे–भेदों की भी सौदाहरण व्याख्या कर सकेंगे;
- नवागत छंदों–"स्वच्छन्द छंद" तथा "मुक्त छंदों" के स्वरूप बोध को भी उदाहरण सहित समझा सकेंगे; और
- आधुनिक युग में क्रमागत छंदों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में नये रचनाकारों ने और कहाँ-कहाँ तथा कौन-कौन से प्रयोग किये इसे भी बता सकेंगे।

## 36.1 प्रस्तावना

दशम खंड की 36 वीं इकाई के इस पाठ में मात्रिक और वर्णिक वृत्तों का सौदाहरण परिचय दिया जायेगा। हिंदी साहित्य का इतिहास **प्राचीन** (आदिकाल, मध्यकाल) और **आधुनिक**–दो खण्डों में भी बाँटा गया है। आधुनिक काल से पहले संस्कृत पिंगल शास्त्र के क्रमागत छंदों का तो प्रयोग होता ही था–प्राकृत, अपभ्रंश में विकसित नए छंदों जैसे–दोहा, चौपाई तथा उनके सम्बद्ध रूप, के भी प्रयोग होने लगे थे। तुकान्त छंदों का प्रयोग संस्कृत में नहीं है। इसकी जगह संस्कृत में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग है। इतना ही नहीं, मध्यकाल में दरबारी केन्द्रों में फारसी-उर्दू के शायर भी थे–अतः उनके संसर्ग से हिंदी में उर्दू बहरों का भी प्रभाव पड़ा। घनानन्द की रचनाओं में इसे देखा जा सकता है। रुबाइयाँ, गज़ल–तो हिंदी में काफी प्रयुक्त हुए। संस्कृत का मुख्य छंद वर्णवृत्त ही है–जो हिंदी की लोचदार प्रकृति के अनुकूल नहीं था–अतः मात्रिक छंदों का ही अधिक प्रयोग हुआ। आधुनिक काल में संस्कृत के वर्णवृत्त अधिक लिये गये मध्यकाल में कम। जहाँ लिया भी वहाँ गणक्रम के नियम के निर्वाह में शिथिलता देखी जाती है। बात यह है कि संस्कृत संयोगात्मक भाषा है

और हिंदी वियोगात्मक। अतः संस्कृत क वर्णवृत्तों के ढाँचे इसके प्रतिकूल पड़ते थे। पद साहित्य को ही लें—इस तरह की रचना संस्कृत में कहाँ होती थी? इस पद्धति के आविष्कार का श्रेय अपभ्रंश के बौद्धसिद्धों द्वारा लिखे गये चर्यापद को है। रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा संतों और भक्तों ने इसका प्रयोग अधिक किया। ये गेयपद भी किसी न किसी छंद में हैं। यह आवश्यक है कि इनमें एकाधिक छंदों का मिश्रण हो। टेक देकर गेय पद लिखने की प्रणाली भारतेन्दु ने चलाई—जिसकी प्रेरणा और प्रभाव छायावादी गीतों में भी दिखाई देता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी साहित्य और संगीत से भी लेखकों का सम्बन्ध हुआ—फलतः उसका भी प्रभाव पड़ा। Blank Verse तथा Free Verse—स्वच्छन्द छंद तथा मुक्त छंदों के प्रयोग चल निकले। इतना ही नहीं भारतेन्दु आदि ने तो कजली, फाग, लावनी आदि लोकधुनों का भी प्रयोग किया। इधर जीवन की गद्यमयता काव्य में भी छन्द और संगीत की स्थिति पर प्रभाव डालती है। इस इकाई में इन सभी पक्षों का आप विस्तृत विवेचन कर सकेंगे।

## 36.2 मात्रिक छंद

### 36.2.1 सममात्रिक छंद

हिंदी के समस्त मात्रिक छंद त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक, षष्ठमात्रिक, सप्तमात्रिक, तथा अष्टमात्रिक लय-खंडों पर चलते हैं। मात्रा के कल या कला भी कहते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख मात्रिक छंदों का लक्षण उदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत है—

**(i) उल्लाला**

यह मात्रिक समवृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में तेरह मात्राएँ होती हैं और अन्त में त्रिकल।

ऽ। ।ऽऽ ।। ।ऽ ।ऽ ।ऽऽ ऽ। ऽ
बात पुरानी उड़ गई, गया पुराना ढंग है 13+13
नई सभ्यता आ गई, चढ़ा नया अब रंग है 13+13

इस उदाहरण के प्रत्येक चरण में तेरह मात्राएँ हैं। अष्टक और पंचक के योग से इसका निर्माण होता है। प्रत्येक चरण की मात्राएँ ध्यान से गिनें—उनमें आठ और पाँच मात्राओं के क्रम से तेरह मात्राएँ मिलेंगी। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने की है कि प्रत्येक चरण में मात्राओं का एक ही ढंग से विन्यास नहीं है। कुल योग (8+5) तेरह होना चाहिए—क्रम चाहे जैसा हो। प्रथम चरण में पहले गुरु वर्ण है जबकि, दूसरे, तीसरे और चौथे में लघु वर्ण का विन्यास है। यद्यपि इस छंद में गुरु लघु के विन्यास का कोई नियम नहीं है तथापि ग्यारहवीं मात्रा लघु ही रहती है। एक दूसरा उदाहरण लें—

ऽऽ ।। ऽ ऽ। ऽ
मेरा सुत भी अन्त में 13
पड़ मघ के अध दन्त में 13
निकल न आवे हाथ से 13
फंसे न उसके साथ से 13

"उल्लाला तेरा कला, दशनन्तर इक लघु भला"

**(ii) चौपई**

इसके प्रत्येक चरण में 15 मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु-लघु रहते हैं। जैसे-

।।। ।ऽऽ ।। ।। ऽ।
पवन हिंडोले पर झुक झूल 15
मुसका मधुर मनोहर पर फूल 15
कोकिल कलरव में चुपचाप 15
ठगे जा रहे तुम क्यों आप 15

कहा भी गया है—"तिथि कल पौन चौपई मांहि। अंते गुरु लघु जहाँ सहांहि।।"

**(iii) चौपाई**

यह चौपई से भिन्न है। इसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं। तुकान्त में जगण (ISI) अथवा तगण (SSI) का निषेध है। अन्त में प्रायः दो गुरु वर्ण रखे जाते हैं। जैसे–

```
II  IISI  ISI  I  SS
```

बिनु सतसंग विवेक न होई।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।।
सत संगति मृदु मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला।।

इसके चरण के अन्त में दो गुरु वर्ण प्रायः रखे जाते हैं। इसके कारण गति ठीक रहती है। इसके दो चरणों को अर्द्धाली कहते हैं और चारों को मिलाकर चौपाई।

**(iv) रोला**

"रखिए कल चौबीस शंभु सरिता यति रोला"

इसके प्रत्येक चरण में 11-13 के विश्राम से 24 मात्राएँ होती हैं। जिस रोला के चारों चरणों में ग्यारहवीं मात्रा लघु हो उसे काव्य छंद कहते हैं। प्रायः इसके चरणांत में दो गुरु रखे जाते हैं परन्तु अन्त में चार लघु या भगण या सगण भी मिलते हैं–

```
II  SII  IISI  SI  SII  S  SII  = 24 मात्रा
```

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्यमुक्तामनि पोहरति।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।

अथवा

```
SI  ISS  SI  SI  S  II  S  SS
```

मान करूंगी आज मान के दिन तो बीते ।
फिर भी पूरे हुए सभी मेरे मन चीते ।
देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी ।
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी ।

**(v) गीतिका**

"रत्न रविकल धारिके लग अन्त रचिए गीतिका।"

14 + 12 = 26 मात्रा

इस छंद के प्रत्येक चरण में 14-12 के विराम से 26 मात्राएँ होती हैं। अन्त में लघु गुरु (IS) होते हैं। इसका नियम यह है कि तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ लघु रहें। अन्त में रगण (SIS) आ जाने से छंद मधुर हो जाता है।

```
SISII  S  ISSS  ISSS  IS  = 26
```

वीरमण्डल की महाविद्या महामाया नहीं ।
बालि की वनिता न समझो जीव की जाया नहीं ।
सत्य सागर सूरमा हरिचंद की रानी नहीं ।
आपने यह पांचवी तारा अभी जानी नहीं ।

**(vi) हरिगीतिका**

"शृंगार (16) भूषण (12) अंतलग जन गाइए हरिगीतिका।"

इसके प्रत्येक चरण में 28 मात्राएँ होती हैं। 16 और 12 पर विरति होती है। अन्त में लघु, गुरु की व्यंजना रहती है। इसकी मात्राओं का क्रम यों होना चाहिए – 2+3+4+3+4, 3+4+5। जहाँ चौकल हो–वहाँ जगण (ISI) कभी नहीं आना चाहिए। अन्त में रगण ही अच्छा होता है। 5, 12, 19 तथा 26 वीं मात्रा लघु रहे–तो इसकी गति ठीक रहती है।

ऽऽ। ऽ ।।ऽ ।ऽ ऽ ऽ।ऽ ऽ।। ।ऽ = 28
संसार की समर स्थली में धीरता धारण करो।
चलते हुए निज इष्ट पथ पर संकटों से मत डरो।
जीते हुए भी मृतक समरह तुम न केवल दिन भरो।
वर बीर बनकर आप अपनी विघ्न बाधाएं हरो।

(vii) **वीर (आल्हा)**

"वसु (8) वसु (8) तिथि (15) सानन्द सवैया यारो वीर पवांगो गाँव।" 16 और 15 मात्राओं के विराम से इसके प्रत्येक चरण में 31 मात्राएँ होती हैं। अन्त के गुरु लघु होते हैं।

।।। ।ऽऽ ।।ऽऽ ऽ ऽऽ।। ऽ ।।। ।ऽ। = 31
सुमिरि भवानी जगदम्बा का श्रीसारद के चरन मनाय।
आदि सरस्वति तुमका ध्यावौं, माता कंठ विराजौ आय।
जोति बखानौ जगदम्बा कै जिनकी कला बरनि न जाय।
सरद चंद सम आनन राजै अति छवि अंग अंग रहि छाय।

(viii) **त्रिभंगी**

"दस वसु वसु संगी, जन रस रंगी छन्द त्रिभंगी तब भलो"।

10 + 8 + 8 + 6 = 32

इस छन्द के प्रत्येक चरण में 32 मात्राएँ होती हैं। 10-8-8 तथा 6 पर विराम होता है। अन्त में गुरु होता है। इसके किसी चौकल में जगण (।ऽ।) कभी नहीं पड़ना चाहिए।

।। ।। ।। ।।ऽ ।।। ।ऽऽ ।।। ।ऽ ।। ऽ। ।ऽ = 32
जेहि पद सुर सरिता, परम पुनीता, प्रकट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज, जेहि पूजत अज, मम सिर धरेउ कृपाल हरी।
एहिं भांति सिधारी, गौतम नारी, बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा, सो वर पावा, गई पतिलोक अनंद भरी।

## 36.2.2 अर्द्ध सममात्रिक छंद

(i) **बरवै**

"विषमै **रविकल** बरवै, सम **मुनि साज**"
12 + 7 = 19

इस छंद के पहले और तीसरे विषम पदों में 12 मात्राएँ होती हैं और सम अर्थात् दूसरे और चौथे पदों में 7 मात्राएँ होती हैं। अन्त में जगण रोचक होता है। तुकान्त सम चरणों में मिलता है। इसमें जगण अच्छा होता है। जैसे–

।। ऽ।। ।। ऽ ।। ऽ। । ऽ। = 19
अब जीवन कइ है कपि, आस न कोई
कन गुरिया कइ मुंदरि कंगना होइ।।

(ii) **दोहा**

"जान विषम **तेरा** (13) कला, सम **शिव** (11) दोहा मूल।'

इस छंद के विषम अर्थात् प्रथम और तृतीय चरण में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। विषय के आरम्भ में नगण न हो। सम चरणों के अन्त में गुरु-लघु (ऽ।) होने चाहिए। उदाहरण–

ऽऽ ।। ऽऽ ।ऽ ऽऽ ऽ।। ऽ। 13 + 11 = 24
मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झांई परै, श्याम हरित द्युति होई

(iii) **सोरठा**

"सम तेरी विषमेश, दोहा उलटे सोरठा।"

यह दोहे का बिलकुल उलटा है। दोहे के समचरण सोरठे के विषम और दोहे के विषम चरण सोरठे के समचरण हो जाते हैं। इसके विषम चरण में ग्यारह-ग्यारह और समचरण में तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं। 11 + 13 = 24

।।।। ।। ।।ऽ। ।ऽ ।ऽ।। ऽ। ।।

रहिमन महि न सुहाई, अमी पियावत मान बिनु ।
वरु विष देइ बुलाइ, मान सहित मरिबो भलो ।।

अथवा

ऽ। ।ऽ। । ऽ। ऽ। ।।। ऽऽ। ।। = 11 + 13

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ ।।

## 36.2.3 विषम मात्रिक छंद

(i) **कुण्डलियाँ**

"दोहा रोला कुंडलित करि कुण्डलिया होइ।"

इसके दो चरणों में मात्राओं का एक-सा और शेष चार चरणों में भिन्न प्रकार से मात्राओं का विन्यास होता है। इसीलिए इसे विषम मात्रिक छंद कहते हैं। इसके प्रत्येक चरण में 24-24 मात्राओं के ही चरण होते हैं और कुल छह चरण होते हैं। आदि के दो चरणों में दोहा रहता है और शेष चार में रोला। यह तो स्पष्ट ही है कि दोहे के पहले और दूसरे चरण में क्रमशः तेरह और ग्यारह मात्राओं को मिलाकर कुल चौबीस चरण होते हैं। हाँ, यति तेरह और ग्यारह पर होती है—पर परवर्ती रोला के चारों चरणों में होती तो 24-24 मात्राएँ ही हैं—किन्तु उनमें यति ग्यारह और तेरह पर होती है। दोहे के आदि के कुछ शब्दों का रोले के चौथे चरण के अन्तिम शब्दों के साथ और दोहे के चौथे चरण के रोले के आदि से सिंहावलोकन होना आवश्यक है। कुंडलिया के पाँचवें चरण के पूर्वार्द्ध में प्रायः कवि का नाम होता है। उदाहरण—

ऽऽ ऽ ।। ।।। ऽ ।ऽ ऽ।ऽ ऽ। 13 + 11 = 24

दोहा—**लाठी** में गुन बहुत हैं, सदा राखिए संग।
गहरे नद - नाले जहां **तहां बचावै अंग** ।
।ऽ ।ऽऽ ऽ। ।।। ऽऽ ऽ ऽऽ
रोला—**तहां बचावै अंग** झपटि कुत्ता को मारे ।
दुश्मन दावागीर, ताऊ को मस्तक झारे ।
कह गिरिधर कविराय सुनो हो धुरि के वाठी
सब हथियारनि छाड़ि, हाथ में लीजे **लाठी** ।।

इसमें काले शब्दों पर ध्यान दें। दोहे के आदि का **लाठी** रोला के चौथे चरण में और दोहा के चौथे चरण के शब्द "**तहां बचावै अंग**" रोला के प्रथम चरण में आवृत्त हैं। पांचवें में कवि के नाम (गिरिधर कविराय) का उपयोग हुआ है। मात्राएँ सबमें चौबीस-चौबीस हैं। यति भेद है।

(ii) **छप्पयः**

रोला के पद चार मत्त चौबीस धारिए ।
उल्लाला पद दोय अंत माहि सुधारिए ।

कुण्डलियों की तरह इसमें भी छह चरण होते हैं। इसके पहले चार चरण रोला के होते हैं जिनमें चौबीस-चौबीस मात्राएँ होती हैं। अन्तिम दो चरणों में या तो 28-28 मात्राओं के उल्लाला छंद के दो दल होते हैं या 26-26 मात्राओं के उल्लाला के दो दल। उदाहरण—

ऽऽ।। ।।ऽ। ।।। ।। ।। ऽ।। ऽ

(i) नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है । 24
सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है । 24
रोला नदियाँ प्रेम प्रवाह, फूल तरि मंडन हैं । 24
बंदी जन खग वृंद, शेषफन सिंहासन हैं । 24

ISS IIS| ISI S IISS II SI S
उल्लाला करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस देश की । 28
हे मातृभूमि तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की । 28

×××

SI SIS IS SI IIS SS S
(ii) मीति मंजिनी भुजा, शक्ति दलिता आहों की । 24
रोला उमड़े उर की आग, दबा दारुण दाहों की । 24
शौर्य धैर्य की धरा, सपूती की शुचि शाला । 24
भाग्यचक्र की धुरी, विजय की मंजुल माला । 24
उल्लाला रणचंडी की संगिनी, विभीषिका की धार है । 26
काली की अवतार है, नहीं-नहीं तलवार है । 26

### 36.2.4 दंडक छंद

यहाँ तक साधारण मात्रिक छंदों के तीनों प्रकारों का वर्णन किया गया। बत्तीस मात्राओं तक के मात्रिक छंद 'साधारण' कहे जाते हैं—इससे अधिक मात्राओं के छंद 'दण्डक' कहे जाते हैं। दण्डक इसलिए कहे जाते हैं कि एक तो वे 'दण्ड' की तरह इतने लम्बायमान होते हैं कि उसे बोलने या पढ़ने में कर्त्ता को काफी देर तक साँस को सम्भालना पड़ता है। कहा गया है—

"बत्तीस कल तें अधिक पद, मत्ता दण्डक जानि।"

उदाहरण के लिये कररवा छंद को लिया जा सकता है। इसमें बत्तीस से अधिक 37 मात्राएँ होती हैं—

कल सैंतीसे वसु भानु वसु अंक यति
यों रचहु छंद, कररवा सुधारि ।

8,12,8 और 9 के विश्राम से इसमें 37 मात्राएँ होती हैं—अन्त में यगण (ISS) होता है। उदाहरण—

IS IIS| IIII IIS| IS SI II SI IIS| SS = 37
नमो नरसिंह, बलवंत नरसिंह प्रभो, संत हित काज, अवतार धारो।
खम्भ ते निकसि भू हिरणकश्यप पटक, झटक दै नखन, झट उर बिदारो।।
ब्रह्मरुद्रादि सिर नाय जब कहत, भक्त प्रह्लाद, निज गोद लीनो।
प्रीति सों चाहि दै राज सुख सहज सब नरायनदास बर अभय दीनो।।

इस प्रकार मात्रिक छंद के प्रमुख भेदों का विचार यहाँ समाप्त होता है।

## 36.3 वर्णिक छंद

### 36.3.1 समवर्णिक छंद

यहाँ वर्णवृत्तों पर विचार आरम्भ किया जाता है—

**(i) इन्द्रवज्रा**

"तात जगौ गावहु इन्द्रवज्रा"

यह वर्णवृत्त 11 अक्षरों का है। इसके प्रत्येक चरण में गणक्रम इस प्रकार होता है—

त SSI त SSI ज ISI गौ SS —11 वर्ण

SSI SS IIS IS S
आधार कोई जिसका नहीं है।
ता दुःख ही दुःख सब कहीं है।।
तू ही उन्हें आकर गोद लेती।
हे मृत्यु तू ही चिर शांति देती।।

ग्यारह वर्ण इस प्रकार हैं—आ, धा, र, को, ई, जि, स, का, न, हीं, है।

**(ii) उपेन्द्रवज्रा**

जती जगै गाय उपेन्द्रवज्रा।

जगण ।ऽ। तगण ऽऽ। जगण ।ऽ। तथा दो गुरु ऽऽ —11 वर्ण

इस छंद में भी वर्ण 11 ही होते हैं। प्रत्येक चरण में गणक्रम इस प्रकार होता है—ज त ज ग ग। वस्तुतः इन्द्रवज्रा के पहले अक्षर को लघु कर देने से उपेन्द्रवज्रा हो जाता है-

।ऽ। ऽऽ ।। ऽ। ऽ ऽ
बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै ।
परन्तु पूर्वापर सोच कीजै ।।
बिना विचारे यदि काम होगा ।
कभी न अच्छा परिणाम होगा ।।

**(iii) वंशस्थ**

सुजात वंशस्थविलं जताजरा।

इस वर्णवृत्त में कुल बारह वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में गणक्रम का विन्यास इस प्रकार है—ज ।ऽ। त ऽऽ। ज।ऽ। र ऽ।ऽ

।ऽ। ऽऽ ।।ऽ ।ऽ। ऽ = 12
सशांति आते उड़ते निकुंज में
सशांति जाते ढिग से प्रसून के
बने महा नीरव शांत संयमी ।
सशांति पीने मधु को मिलिंद ये ।

**(iv) भुजंगप्रयात**

यचौ युक्त नाना भजंगप्रयाता।
यगण चार ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ, ।ऽऽ

इसके प्रत्येक चरण में 12 अक्षर होते हैं। चार यगण का विन्यास होता है।

।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ ।ऽऽ
कहूं किन्नरी किन्नरी लै बजावैं
सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं
कहूं जक्षिनी याक्षिनी लै पढ़ावैं
नगीकन्यका पन्नगी को नचावैं।

**(v) द्रुत विलम्बित**

नभ भरी विधु भासन सुन्दरी

इसे भानुजी सुन्दरी कहते हैं और कहते हैं कि इसका दूसरा नाम द्रुतविलम्बित है। इसके प्रत्येक चरण में 12 वर्ण होते हैं। गणविन्यास का क्रम इस प्रकार है—
न ।।। भ ऽ।। भ ऽ।। र ऽ।ऽ

।। ।ऽ ।।ऽ ।।ऽ।ऽ = 12
मन रमा रमणी रमणीयता
मिल गई यदि ये विधियोग से
पर जिसे न मिली कविता सुधा
रसिकता सिकता सम है उसे ।

**(vi) वसंततिलका**

जानौ वसंततिलका तभजौजगौगा।



इस छंद के प्रत्येक चरण में त ऽऽ। भ ऽ।। ज।ऽ। ज ।ऽ। गग ऽऽ के क्रम से 14 वर्ण होते हैं।

ऽ ऽ। ऽ ।।। ऽ। ।ऽ ।ऽऽ = 14
रे क्रोध जो सतत अग्नि बिना जलाये ।
भस्मावशेष नर के तनु को बनावै ।
ऐसा न और तुझ-सा जगबीच पाया ।
हरि विलोक हम किन्तु न दृष्टि आया ।

(VII) **मालिनी**

न नमिय यह का हे मालिनी मूर्तिधन्या।

इस छंद के प्रत्येक चरण में 15 वर्ण होते हैं तथा 8-7 पर यति होती है। इसमें गण-विन्यास का क्रम इस प्रकार है–न ।।। न।।। म ऽऽऽ य ।ऽऽ य ।ऽऽ।

।।। ।।। ऽऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ
क्षितिज निकट कैसी, लालिमा दीखती है ।
यह रुधिर रहा है, कौन सी कामिनी का?
विहग विकल हो हो, बोलने क्यों लगे हैं?
सखी, सकल दिशा में, आग सी क्यों लगी है?

(viii) **शिखरिणी**

य म न स भ ला गा शिखरिणी।

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में 17 वर्ण होते हैं। 6-11 पर यति होती है। गण-विन्यास का क्रम इस प्रकार है–
य।ऽऽ म ऽऽऽ न।।। स।ऽऽ भ ऽ।। लग ।ऽ

।ऽ ऽऽ ऽ ऽ ।। ।। ।ऽ ऽ। ।।ऽ
किए जाने से भी फिर फिर सदा प्रश्न तुमसे
नहीं होते जी में कुपित तुम हे ग्रन्थ हमसे।
तथा शिक्षा देते, तुम नित विबना ताड़न हमें।
अतः हो क्यों प्यारे, फिर तुम हमारे न जग में।

(ix) **मन्दाक्रान्ता**

मंदाक्रांता, कर सुमति को, मा मनौ तात गा गा।

इस छंद के प्रत्येक चरण में 17 वर्ण होते हैं। 4-6 तथा 7 पर यति होती है। गणक्रम का विन्यास इस प्रकार होता है–

मऽऽऽ भ ऽ।। न।।। त ऽऽ। त ऽऽ। ग ऽ गऽ =17

ऽऽ ऽऽ ।। ।। ।ऽ ऽ ।ऽ ऽ। ऽऽ
तारे डूबे, तम टल गया, छा गई व्योम लाली।
पंछी बोले, तम चुर जगे, ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली, सकलतरु की, कुंज फूले सरों में
धीरे-धीरे दिनकर कढ़े, तामसी रात बीती।

(x) **शार्दूल विक्रीडित**

मैं साजौं सततै गुरु सुमिरि कै शार्दूलविक्रीडितै।

इस छंद के प्रत्येक चरण में 19 वर्ण होते हैं। 12 और 7 पर यति होती है। गणक्रम का विन्यास इस प्रकार है–

मऽऽऽ स ।।ऽ ज।ऽ। स ।।ऽ तऽऽ। त ऽऽ। गऽ

ऽ ऽ ऽ ।। ऽ।ऽ ।।।ऽ ऽ ऽ। ऽऽ। ऽ
प्राणी है यह सोचता समझता मैं पूर्ण स्वाधीन हूं।
इच्छा के अनुकूल कार्य सब मैं हूं साथ लेता सदा।
जाता है कहते मनुष्य वश में है काम कर्मादि के।
होता है घटना प्रवाह पतिता स्वाधीनता भंजिता।

(xi) **स्रग्धरा**

**मोरे भौने ययूयो, कहहु सुत अहै, कौन कें स्रग्धरैयों।**

इस छंद के प्रत्येक चरण में 21 वर्ण होते हैं। इसमें 7, 7, 7 पर यति होती है। गणक्रम का विन्यास इस प्रकार है– म ऽ ऽऽ र ऽ।ऽ भ ऽ।। न ।।। य ।ऽ

ऽ ऽऽ ऽ।ऽ ऽ ।।। ।।।ऽ ऽ ।ऽ ऽ ।ऽऽ
हे दुर्गे विश्वधात्री जननि भगवती हे शिवे हे भवानी।
मयि कल्याणि वाणी भवभयहरणी, चंडि चैलोवच रानी।
पा के भी हाथ माता, हम सब तुमसी, ईश्वरी शक्तिशाली।
होंगे संसार में क्या, न अब फिर सुखी, तोड़ दुःखार्ति जाली।

(xii) **सवैया**

वर्णिक वृत्तों में 22 से 26 वर्ण तक के वृत्त सवैया कहे जाते हैं। इसके कई भेद होते हैं।

बिना वर्णगणना यदि सवैया की पहचान करनी हो–तो उसका आरम्भ और अन्त देखना चाहिए। मत्तगयंद सुन्दरी और मकरंद–सवैयों के अन्त में दो गुरु होते हैं। मत्तगयंद भगण से सुन्दरी सगण से तथा मकरंद का आरम्भ जगण से होता है। मदिरा और दुर्मिल के अन्त में ऽ होता है। मदिरा भगण से और दुर्मिल सगण से प्रारम्भ होते हैं। सवैया के और भी भेद होते हैं–पर पचलित ये ही हैं।

(xiii) **मदिरा**

भा सत गूढ़ न मर्म तिन्ह जु पिये जग मे हमयी मदिरा।
सात भगण (ऽ।। × 7) = 21+ (ऽ) 1= 22 वर्ण।

ऽ। । ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।। ऽ ।।ऽ। ।ऽ । ।ऽ
सिंधु तर्‌यो उनको वनरा, तुम पै धनुरेख गई न तरी।
वानर बांधत सो न बंध्यौ, उन वनरिधि बांध के बाट करी।
श्री रघुनाथ प्रताप की बात, तुमहें दशकंठ न जानि परी।
ते लहु तू लहु पूंछ जरी जरी न, जरी-जरी लंक जराइ जरी।

(xiv) **मत्तगयंद या मालती सवैया**

भा सत गंग न तो सम मो अघ मत्तगयंदहि नास करैया।

सात भगण और दो गुरु ऽ।।× 7 + 2 (ऽऽ) = 23 वर्ण। इसके प्रत्येक चरण में 23 वर्ण होते हैं।

ऽ ।।ऽ ।। ऽ।।ऽ ।। ऽ। ।ऽ ।। ऽ ।। ऽऽ
या लकटी अरू कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुं सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाय चराइ बिसारौं।
खान कहैं इन नैनन तें ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।

(xv) **दुर्मिल**

सबसों करि नेह भजौ रघुनंदन भक्ति सदा लहिये।

इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण होते हैं–स।।ऽ× 8 = 24

।।ऽ ।। ऽ। ।ऽ ।।ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ। ।ऽ
सबसों करि नेह भजौ रघुनंदन राजत हीरन माल हिये ।
नवनील वपू कलपीत झंगा झलकैं अलकैं घुंघुरालि लिये ।
अरविंद समानन रूप मरंद अनंदित लोचन मृंग पिये ।
हिय में न बस्यो अस दुर्मिल बालक तो जग में फल कौन जिये।

(xvi) **सुन्दरी**

सबसों गहि पाणि मिलें रघुनंदन सुंदरि सीय लगी पद सासू
सगण ।।ऽ × 8 + एक गुरु (ऽ)= 25 वर्ण

इस छंद के प्रत्येक पाद में 25 वर्ण होते हैं।

।।ऽ ।। ऽ। ।ऽ ।।ऽ।। ऽ। ।ऽ ।।ऽ ।। ऽऽ
सबसों गहि पाणि मिले रघुनंदन भेंटि किया सबको सुख भागी।
जबहीं प्रभु पांव धरे नगरी महं ताछिन तें विपदा सब भागी।
लखि के विधुपूरण आनन मातु लह्यो मुद ज्यों मृत सोवत जागी।
यहि औसर की हरि सुन्दर मूरति धारिजपैं हिय में अनुरागी।

## 36.3.2 दंडक छंद

पहले कहा जा चुका है कि 26 वर्ण से अधिक वर्ण के चरण वाले वर्णवृत्त दंडक कहे जाते हैं। वस्तुतः दंडक के भी दो भेद होते हैं—साधारण और मुक्तक। साधारण दंडक गणबद्ध होते हैं जबकि मुक्तक गणमुक्त। इनमें कहीं-कहीं लघु अथवा गुरु की व्यवस्था होती है। कुसुमस्तबक साधारण दंड़क का और मनहरण मुक्तक दंडक के उदाहरण हैं।

### (i) कुसुमस्तबक

इस दण्ड़क के प्रत्येक चरण में 9 या इससे अधिक सगण (।।ऽ) रखे जाते हैं। यथा—

।।ऽ। ।ऽ ।।ऽ ।। ऽ
जगदम्ब! जरा करूणा कर दो,
।।ऽ ।। ऽ।। ऽ। ।ऽ ।। ऽ
निबली पर पीड़ित दीन दुखी हम हैं।
हम में भर दो दुख दारिद दारिणि!
शक्ति महेश्वरि हे! हम बेदम हैं ।।
मन मंदिर में बिकसे विमक्ता मति,
धीर बनें हम वीर शिरोमणि हों ।।
यह आरत भारत भारत हो
इसमें फिर वे रण शूर शिरोमणि हों ।।

### (ii) मनहरण

इसके प्रत्येक चरण में 31 वर्ण होते हैं। भानुजी ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

ऽऽ ऽऽ ऽ। ऽ।-।। ।। ।।ऽ। ऽ।।। ऽ। ऽ। ।।।। ऽ।ऽ
आठों जाम जेग राग, गुरु पद अनुराग, भक्तिरस प्याय संत मनहर लेत हैं।

8+ जाम 8+ योग 8+ राग 6+ 1 = ३१ वर्ण। 16 और 15 पर यति है। इसे कवित्त और धनाक्षरी भी कहते हैं। इसमें अन्त का वर्ण गुरु होता है। शेष के लिये गुरु लघु का नियम नहीं है—इसीलिए इसे मुक्तक कहते हैं। प्रायः इसके अन्त में तीन गुरु का एक पूर्ण शब्द नहीं पाया जाता। कवित्त में लय ही मुख्य है—इसीलिए निराला ने इसे तोड़कर लयानुरूप मुक्त छंद की सृष्टि कर डाली। इसका क्रम इस प्रकार भी होता है—भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और गुरू (ऽ) उदाहरण—

ऽ।। ।ऽ। ।। ऽ। ।।ऽ। ।। ऽ।ऽ ऽ ऽ। ।। ऽ।। ।ऽ ।ऽ
सुन्दर सुजान पर, मंद मुसकान पर, बांसुरी की तान पर, ठौरन ठगी रहै।
मूरति विशाल पर, कंचन-सी माल पर, हंसन-सी चाल पर, बाहिद पगी रहै।
भौंहें धनु यौन पर, लोने जुग रैन पर, शुद्ध रस बैन पर, वाहिद पगी रहै।
चंचल से तन पर, सांवरे बदन पर, नंद के नंदन पर लगन लगी रहै।

यहाँ तक हिंदी में प्रयुक्त क्रमागत मात्रिक और वर्णिक छंदों पर परिचय दिया गया। आगे, अंग्रेजी साहित्य के संपर्क से उद्भावित दो और छंदों—स्वच्छन्द और मुक्त छंद—का परिचय दिया जा रहा है। यों तो लोकधुनों के आधार पर भी कई छंद रचे गए और उनकी बहरों का प्रयोग भी हुआ परंतु, यहाँ उनका विवेचन अपेक्षित नहीं।

**बोध प्रश्न 1**

1) मात्रिक छंद से आप क्या समझते हैं? उदाहरण सहित पाँच-छह पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) वर्णवृत्त की परिभाषा लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) मात्रिक छंद कितने प्रकार के होते हैं? सभी प्रकारों के एक-एक छंद का नाम तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

4) नीचे कुछ छंदों के नाम दिये गए हैं। प्रत्येक के लक्षण एवं उदाहरण लिखिए।

i) सोरठा

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) गीतिका

.....

.....

.....

.....

.....

.....

iii) इन्द्रवज्रा

.....

.....

.....

.....

.....

iv) दुर्मिल

.....

.....

.....

5) नीचे कुछ कथन दिये गये हैं। इनमें से कुछ सही हैं और कुछ गलत। उपयुक्त चिह्न लगाइये--

i) उल्लाला वर्णिक छंद है। ( )

ii) छप्पय में रोला और उल्लाला का मिश्रण होता है। ( )

iii) सोरठा दोहे का उल्टा होता है। ( )

iv) मात्रिक दण्डक में 32 से कम मात्राएँ होती हैं। ( )

v) "मनहरण" वर्णिक मुक्तक दण्डक है। ( )

vi) मुक्त छंद में नियमों और रूढ़ियों से मुक्ति नहीं होती। ( )

vii) अतुकान्तता स्वच्छन्द छंद की अनिवार्य शर्त है। ( )

## 36.4 स्वच्छंद छंद

'मुक्तक' से हटकर जब 'प्रबन्ध' और 'प्रगीत' जैसे नवीन भाव और अभिव्यक्तियों के काव्य रूप आने लगे तो उसकी भावानुरूप प्रावाहिकता और संगीतमयता के लिये छंदों के क्रमागत ढाँचे अपर्याप्त पड़ने लगे। गीत के लिये प्रयुक्त 'पद' पद्धति 'प्रगीत' में अनुपयुक्त थी। प्रबन्ध में प्रवाह की रक्षा आवश्यक थी—अतः वहाँ तुक या अन्त्यानुप्रास को बाधक मानकर उपेक्षित किया जाने लगा। कविवर प्रसाद जी ने पहले-पहल अतुकान्त मात्रिक छंदों का प्रयोग किया—फिर तो अनेक लोगों ने इस पद्धति को अपनाया। इसी सन्दर्भ में 'स्वच्छन्द छंद' और 'मुक्त छंद' आविष्कृत हुए। 'स्वच्छंद छंद' को अतुकान्त छंद की पीठिका पर समझना होगा।

अतुकान्त छंद स्वच्छंद छंद का पर्याय नहीं है। अतुकान्त तो संस्कृत के वर्णवृत्त थे ही। धीरे-धीरे अपभ्रंश से आगत 'तुक' ने हिंदी में प्रयुक्त छंदों को इतना प्रभावित किया कि मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों तुकान्त हो गए। यहाँ तक कि तुकान्तता छंद का पर्याय बन गई। तुक जोड़ना और छंद लिखना एक ही बात हो गई। शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में लयात्मक पंचक (lambic Pentameter) के आधार पर Blank-verse का और माइकेल मधुसूदन ने पयार छंद के आधार पर अतुकान्त वर्णिक छंदों का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। उपाध्याय हरिऔध द्वारा प्रयुक्त अतुकान्त छंदों में वह पदान्तर प्रवाहिता (Run-on-Line) न थी—जिसके कारण 'स्वच्छन्द छंद' होता है। मैथिलीशरण गुप्त ने जब 'मेघनाद वध' का रूपान्तर किया तब उन्हीं की तरह पदान्तर प्रवाही छंदों का प्रयोग किया। गुप्तजी ने इसमें आधार बनाया—घनाक्षरी वर्णवृत्त को। इस भावछंद में घनाक्षरी के अन्तिम 15 वर्णों को लयाधार बनाया गया फिर मात्रिक छंदों में भी इसका प्रयोग आरम्भ हुआ—इसके प्रयोक्ता सियारामशरण गुप्त, प्रसाद और पन्त थे। यही अतुकान्त छंद स्वच्छंद छंद (Blank-verse) बना। इस प्रकार इसके तीन रूप हुए—एक क्रमागत अतुकान्त, दूसरा मुक्तक वर्णिक अतुकान्त और तीसरा मुक्त मात्रिक अतुकान्त। वस्तुतः परवर्ती दो भेद ही आधुनिक स्वच्छंद छंद के सन्दर्भ में उल्लेख्य हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वच्छंद छंद की पहली विशेषता हुई—पदान्तर प्रवाही पद्धति में भाव छंद या वाक्य छंद का निर्माण। श्री पत्तूलाल शुक्ल के शब्दों में— "अतुकान्त छंद में भावविस्तार भाषा के वाक्य को कई चरणों की अनिश्चित सीमा तक प्रवाहित करना 'पदान्तर प्रवाही' प्रयोग है। इस प्रयोग में भाव एक ही चरण में समाप्त न होकर अपनी अभिव्यक्ति की सीमा तक विस्तार ग्रहण करता है। भाव के प्रारम्भ से अन्त तक जितना पदांश सीमाबद्ध होता है—उसे 'भाव छंद' कहते हैं। भाव के अनुकूल पंक्ति के बीच में भी वाक्य की समाप्ति होती है।" निष्कर्ष यह कि स्वच्छंद छंद में:

i) अतुकान्तता के अतिरिक्त

ii) पदान्तर प्रवाहिता तथा

iii) भाव छन्दमयता--का होना आवश्यक है।

i) **अतुकान्त वृत्त**

देश कैलास के मूल में फूल-सा,
पूर्ण उत्फुल्ल था, आज तो म्लान है
और दो अश्रुधारा वही निमग्ना ।
सूर्यकन्यामयी, जहनुज्वालामयी ।

इसमें 'अतुकान्तता' है, एक चरण का वाक्य दूसरे चरण में आकर समाप्त होता है—अतः 'पदान्तर प्रवाहिता' भी है परन्तु 'भाव च्छंदमयता' नहीं है—इसलिए इसमें पद्य चाहे तुकान्त हो या अतुकान्त—लयात्मक आधार पर कोई फर्क नहीं पड़ा। अतः इसे अतुकान्तवृत्त तो कहा जा सकता है पर 'स्वच्छंद छंद' नहीं कहा जा सकता।

ii) **वर्णिक अतुकान्त (अगणात्मक समछंद में तुक मुक्ति)**

आपको याद होगा कि दंडक वर्णिक वृत्त में एक मुक्तक दंडक होता है—जहाँ गण का नियम नहीं होना—इस वर्ण में वे स्वच्छंद छंद आते हैं जो धनाक्षरी (16+15) के अन्तिम पन्द्रह वर्णों का चरण मानकर अतुकान्त रूप से निबद्ध किये गये हैं। इसकी पूर्वोक्त दो विशेषताएँ हैं—

क) पदान्तर प्रवाह का प्रयोग, तथा
ख) भावानुरूप पंक्ति के बीच में भी वाक्य समाप्ति।

उदाहरण लें—

| | |
|---|---|
| घर के निकट कुछ। पेड़-पौधे रोपे थे। | 15 वर्ण (8+7) |
| और बना ली थी एक। वाटिका-सी उसने। | —वही— |
| गोड़ती थी सींचती थी। आप वह उसको। | —वही— |
| पानी खींचती थी नित्य। प्रातः काल कूप से। | —वही— |
| दायें और बायें घूम। घूम झूम-झूम के। | —वही— |
| आता लूम लेता हुआ। पूर्ण घट नीचे से। | —वही— |
| पानी गहरे का रस। वह गुणशालिनी। | —वही— |
| राय रह जाता स्वेद। भाग वह जाता था। | —वही— |
| यों व्यायाम और काम। संग संग होते थे। | —वही— |

iii) **मात्रिक अतुकान्त**

कतिपय मात्रिक छंदों—पीयूषवर्ष, प्लवंगम तथा रोला आदि के आधार पर इस वर्ग में कई प्रयोग किये गये हैं। एक उदाहरण पन्त की 'ग्रन्थि' से लें। पीयूषवर्ष छंद का प्रयोग है। इस छंद का आधार सप्तक है। अतः छंद की तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु रहती है। सप्तक की निरन्तर आवृत्ति पदान्तर में सहायक होती है। चरणान्त में सप्तक के स्थान पर पंचक (पाँच मात्रा के वर्ण) ही रहता है—

शैवलिनि, जाओ मिलो तुम सिंधु से (7+7+5 - 19)
अनिल, आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर
उडुगणो, गाओ पवन वीणा बजा
कर हृदय, सब भाँति तुम कंगाल हो।

पीयूषवर्ष 19 मात्राओं का छंद होता है। मात्रिक छंद है ही। स्वच्छंद छंद में छंदोगत स्वच्छंदता का एक दूसरा आधार डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने बताया है। उनका कहना है कि स्वच्छंदतावाद के द्वितीय उत्थान (20 36ई.) में जब सचेतन कला की विजय हुई तब संगीत और चित्र व्यंजना के साथ भावों के बाह्य आवरण—छंद में भी परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन पन्त और निराला ने किये। परिवर्तन था—पदों की मात्राओं में स्वच्छंदता का। कभी-कभी प्रति एक या दो चरणों के बाद मात्राओं में परिवर्तन मिलता है जैसे—

| | |
|---|---|
| हाय, मेरा जीवन | — 11 मात्रा |
| प्रेम और आंसू के कन | — 13 मात्रा |
| आह, मेरा अक्षय धन | — 13 मात्रा |
| अपरिमित सुन्दरता औ मन | — 15 मात्रा |
| एक वीणा की मृदु झंकार | — 16 मात्रा |

इस प्रकार इन लोगों द्वारा प्रयुक्त इन अतुकान्त छंदों में कहीं तो एक ही पद्य में पाँच-छह प्रकार के छंद मिल जाते हैं—कहीं पद्य पर पद्य एक ही छंद में मिल जाता है। कहीं चार चरण के पद्य में एक चरण अन्य तीन चरणों से भिन्न कर दिया गया है, कहीं दो भिन्न छंदों को मिलाकर एक छंद कर दिया गया है। पहले यह सब कवि की इच्छा पर नहीं अपितु पूर्व निर्धारित नियमों के अनुरूप था—पर अब सब कुछ लयाधृत कवि की इच्छा पर निर्भर हो गया। डॉ. लाल के अनुसार इसी इच्छा या स्वच्छंदता के आधार पर इन छंदों को स्वच्छंद छंद कहा गया। यह सब निराला के मुक्त छंद से भिन्न है। आगे चलकर इस 'इच्छा' या 'स्वच्छंद' का मूल बताते हुए उन्होंने कहा है कि ऐसा करने का कारण भावगत संकुलता है। पहले लोग एक ही भाव का वर्णन करते थे और एक ही छंद में उसकी प्रकृति बांध लेते थे—छायावाद की भावोद्रिक्त भूमि पर कविगण कभी-कभी भाव सांकर्यवश छंद की विविधता कर देते थे अथवा कहा जा सकता है कि चेतना का अन्तःसूत्र छन्दोनृत्य का सूत्रधार था। इस इच्छा पर 'स्व' (अन्तश्चेतना या प्रातिम आवेश) का तंत्र था। इस स्वच्छन्दता में 'स्व' का 'छंद' था। स्वच्छंद छंद से उनके अनुसार कहीं-कहीं चरण को प्रभावशाली बनाने के लिये उसे छोटा भी कर दिया जाता था। उदाहरण लें—

आह, बचपन का कोमलगान
जरा का पीला पात
चार दिन सुखद चांदनी रात
और फिर अन्धकार अज्ञात।

निष्कर्ष यह कि चाहे डॉ. पुत्तूलाल हों या डॉ. लाल—दोनों ही 'स्वच्छंद छंद' की 'स्वच्छंदता' के लिये भाव और भावानुरूप लय को ही मानते हैं। डॉ. पुत्तूलाल भावप्रेरित पदान्तर प्रवाही मार्ग से निर्मित अतुकान्त छंद को स्वच्छंद छंद कहते हैं—जबकि डॉ. लाल भावप्रेरित स्वच्छंदता के कारण उसे स्वच्छंद छंद कहते हैं। तत्वतः दोनों ही अपने विवेचन को वस्तुमुखी रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। अतः दोनों के निरूपण से इसे समझने में सहायता मिलती है।

**सारांश**

भावप्रेरित पदान्तर प्रवाही अतुकान्त छंद ही स्वच्छंद छंद है। इस विधान के पीछे प्रातिम आवेश काम करता है। इसी प्रातिम आवेश से लय का निर्धारण होता है। वैसे नियम सर्वत्र—जहाँ प्रातिम आवेश में एकरूपता है— निकाला जा सकता है।

## 36.5 मुक्त छंद

इस छंद के आविष्कार का भी आधार प्रातिम भावावेश ही है—भावमय भूमि ही है। निराला जी के 'परिमल' की भूमिका को देखने से लगता है कि वह Blank verse का रूपान्तर अतुकान्त ही करना चाहते हैं—स्वच्छंद छंद नहीं। उनका कहना है—'मुक्ति का अर्थ है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखला बद्ध नियम कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है—अतः उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते—न उस काव्य को मुक्त काव्य (मुक्त छंद) कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त छंदों के उदाहरण दिये गये हैं—सब एक न एक सीमा में बंधे हुए हैं—एक-एक प्रधान नियम सब में पाया जाता है। गणवृत्तों में गणों की शृंखला है, मात्रिक वृत्तों में मात्रिक साम्य है—मुक्तक वर्णवृत्तों में अक्षरों की समानता है। निराला जी जैसा कि स्वच्छंदवादी मुक्त छंद या स्वच्छंद छंद के लिये कोई नियम का बन्धन नहीं मानते जबकि शास्त्रकार पुत्तूलाल सर्वत्र नियम निकालकर दिखा देने की प्रतिज्ञा करते हैं। बात दोनों ठीक हैं। कवि मुक्त उड़ता है—शास्त्रकार उसे नियमों में बांधता है।

निराला जी मुक्त छंद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं—"मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि पर रहकर भी मुक्त है—'परिमल' के तीसरे खंड में जितनी कविताएँ हैं—सब इस प्रकार की हैं। उनमें कोई नियम नहीं। केवल प्रवाह कवित्त छंद का-सा है। कहीं-कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है—वही उसे छंद सिद्ध करता है और नियम से मुक्त होना ही उसकी मुक्ति है। दोनों शर्तें जिनमें मिलें—वह मुक्त छंद है।" इस प्रकार निराला की दृष्टि में मुक्त छंद की अनिवार्य शर्त उसकी

प्रवाहमयता ही है। अतिरिक्त समस्त नियमों से रहित होने के कारण ही इसे 'मुक्त' भी कहा जाता है। रिचार्ड्स का कहना है कि कोई भी ऐसा रचयिता जो बढ़िया रचना प्रस्तुत करना चाहता है—उसके लिये कोई भी छंद मुक्त अथवा स्वच्छंद नहीं है। वास्तव में मुक्त छंद मूत रूप-विधान के प्रति एक विद्रोह है—जहाँ जड़ीभूत बाह्य एकता के विरुद्ध आन्तरिक अन्विति (Inner-unity) का आग्रह है। यह आन्तरिक अन्विति उसकी प्रवाहमयता है—जो प्रातिम आवेश में आता है। अतः अप्रतिम कवियों का मुक्त छंद सदोष गद्य है।

सारांश यह कि मुक्त छंद वह विषम छंद है जिसके चरणों की संख्या और विस्तार पूर्ण अनिश्चित एवं स्वतंत्र रहते हैं। केवल लयाधार आद्यन्त एक-सा रहता है। मुक्त छंद में भिन्न लयाधार नहीं होना चाहिए अन्यथा प्रवाह में बाधा होती है। मुक्त छंद के मर्मज्ञों का पक्ष है कि यदि उनका विन्यास गद्यवत, पद्यवत, छोटा-बड़ा कैसा भी कर दिया जाय पढ़ने पर (Art of Reading) लयाधार के कारण उसकी छन्दोमयता स्पष्ट ही व्यक्त हो जायेगी। यही लयाधार मुक्त छंद की विभाजक रेखा है—स्वरूपगत असाधारण विशेषता है। यह लय वर्ण अथवा मात्रा के नियम पर कहीं न कहीं अवश्य चलती है। अतः लयाधृत मुक्त छंद दो प्रकार का हो जाता है।

वर्ण नियम पर आधृत मुक्त छद का एक उदाहरण लें—जो घनाक्षरी या मनहर कवित्त को तोड़कर बनाया गया है। निराला कवित्त को हिन्दी का जातीय छंद कहते हैं और उसमें मुक्त छंद की सम्भावना देखकर उन्होंने उसका प्रयोग भी किया है। निराला का कण्ठ ही मुक्त छंद में ठीक उसी प्रकार फूटा है जैसे वाल्मीकि का लौकिक छंद में। उदाहरण—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी
स्नेह स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु-तरुणी
जुही की कली
दृगबंद किए, शिथिल पत्रांक में·····

छंद की लय स्पष्ट ही घनाक्षरी की है। यहाँ न मात्रा ही सम है और न तुक का प्रयोग है। यहाँ चरणों में भाव भी नहीं बंधे हैं अपितु भावानुकूल चरण विन्यास है। यहाँ भावावेश के अविच्छिन्न प्रवाह के साथ छंद की समाप्ति होती है न कि भाव को काट-काट तीन-चार घनाक्षरियों में कविता की गई है।

इस प्रकार यहाँ तक वर्णवृत्त तथा मात्रावृत्त के साथ स्वच्छन्द छंद और मुक्तक छंद का विचार किया गया।

**बोध प्रश्न 2**

1) साधारण और दंडक छंद से आप क्या समझते हैं? तीन पंक्तियों में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

2) अतुकान्त ही स्वच्छंद छंद है या अन्य कोई? लगभग चार पंक्तियों में अन्तर बताइये।

.....

.....

.....

.....

3) मुक्त छन्द और स्वच्छंद छंद में समानता और अंतर क्या है? लगभग पाँच पंक्तियों में बताइये।

.....

.....

.....

.....

4) स्वच्छंद छंद पर दस पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) मुक्त छंद पर दस पंक्तियाँ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

## 36.6 सारांश

छंद एवं उसके भेदों के विश्लेषण संबंधी इस इकाई के अध्ययन से आप जान सके कि काव्य में छंदों के क्या भूमिका होती है। मात्रिक एवं वर्णिक छंदों की लम्बी परम्परा रही है और उनमें से कतिपय प्रमुख छदों की लक्षण, उदाहरण एवं भेद-उपभेदों की व्याख्या आपने इस इकाई में की है। समय के अंतराल एवं आधुनिक युग के आगमन से पारंपरिक छंदों के साथ-साथ मुक्त एवं स्वच्छंद छंदों का भी आगमन हुआ और उन्होंने भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया।

कुल मिलाकर प्रमुख मात्रिक एवं वर्णिक छंदों के सम-अर्द्धसम एवं विषय आदि भेदों का विस्तृत विवेचन आपने किया। यों छंदों की संख्या बहुत बड़ी है और सभी छंदों का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन यहाँ अपेक्षित भी नहीं। कुछ प्रमुख एवं महत्वपूर्ण छंदों को ही इस इकाई में रखा गया है। पर छंद विवेचन संबंधी इन दोनों इकाइयों से यह स्पष्ट है कि छंद-विधान न तो कोरी तुकबन्दी है और न ही मात्रा एवं वर्णों का निश्चित संख्यानुसार परिगणन मात्र। भावानुकूल लय एवं प्रवाह ही छंद के वास्तविक स्वरूप के वाचक बनते हैं। यही कारण है कि छंद की संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से चली आती सुदीर्घ परम्परा आज भी विद्यमान है और उसका अपना ही महत्व भी है।



## 36.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**काव्यांग विवेचन**, डॉ. भगीरथ मिश्र एवं डॉ. बलभद्र बिहारी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

**काव्यांगदर्पण**, डॉ. विजय बहादुर अवस्थी, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली।

**काव्य सिद्धांत**, डॉ. ओम प्रकाश शास्त्री, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली।

**छंद प्रभाकर**, श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु।

**छंद मंजूषा**, पं. रामशंकर शुक्ल रसाल।

**काव्यांग कौमुदी**, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भाग 1, 2 तथा 3.

## 36.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) मात्रावृत्त वह वृत्त है जिसमें की संख्या नियत होती है। वर्णक्रम ज्यादा हो सकते हैं अथवा एक चरण में जिस क्रम से लघु-गुरु वर्ण आये हों—उसी क्रम से इसके में न आएं। उदाहरण लें—

राम रमापति कर धन लेहू —16 मात्रा — 12 वर्ण
खेंचत चाप मिटै सन्देहू —16 मात्रा — 10 वर्ण

चौपाई मात्रिक छंद है—यहाँ इस अर्धाली में मात्राएं समान हैं—पर वर्णक्रम ज्यादा हैं साथ ही अन्त में दोनों गुरु वर्ण समान हैं पर उससे पहले के असमान।

2) वर्णवृत्त में वर्ण गण में विभाजित रहते हैं और प्रत्येक चरण में उनकी संख्या नियत होती है—मात्रिक की तरह कम, ज्यादा नहीं हो सकती। दूसरे क्रमागत वर्णवृत्त सम ही होते हैं—अर्द्धसम या विषम नहीं। स्वच्छंद छंद या मुक्त छंद जब वर्णवृत्त के आधार पर बनते हैं तो वे विषम वर्णवृत्त कहे जा सकते हैं।

3) मात्रावृत्त के तीन प्रकार है—सम, अर्द्धसम तथा विषम। चौपाई सममात्रिक, दोहा अर्द्ध सममात्रिक तथा छप्पय और कुंडलिया विषममात्रिक छंद के उदाहरण हैं।

4) i) देखिए उपभाग 36.2.2
ii) देखिए उपभाग 36.2.1
iii) देखिए उपभाग 36.3.1
iv) देखिए उपभाग 36.3.1

5) i) ×
ii) √
iii) √
iv) ×
v) √
vi) ×
vii) ×

**बोध प्रश्न 2**

1) साधारण और दंडक—जैसे दो भेद मात्रावृत्त और वर्णवृत्त दोनों के होते हैं। 32 मात्राओं से अधिक होने पर मात्रिक दंडक और 26 वर्णों से अधिक चरण वाले वृत्त वर्णिक दंडक कहे जाते हैं।

2) अतुकान्त और स्वच्छंद छंद भिन्न हैं। अतुकान्त में पदान्तर प्रवाहित भी हो सकती है—पर वह भावछंद नहीं होता। प्रातिम आवेश के भावच्छंद के साथ पदान्तर प्रवाहिता स्वच्छंद छंद का लक्षण है।

3) निराला जी मुक्त छंद और स्वच्छंद छंद में स्वच्छंदता या मुक्ति का समान आधार मानते हैं और वह है—भावावेश का लयाधार। अन्य लोग स्वच्छंद छंद और मुक्त छंद में अंतर मानते हैं। स्वच्छंद छंद की अपेक्षा मुक्त छंद पढ़ने की कला पर निर्भर करता है।

4) देखिए भाग 36.4

5) देखिए भाग 36.5

# इकाई 37 अलंकार एवं उसके भेद-I

37.0 उद्देश्य
37.1 प्रस्तावना
37.2 अलंकार किसे कहते हैं?
37.3 काव्य में अलंकारों का महत्व
37.4 अलंकारों के प्रमुख भेद
37.4.1 शब्दालंकार
37.4.2 अर्थालंकार
37.4.3 उभयालंकार
37.5 शब्दालंकार के प्रमुख भेद
37.5.1 अनुप्रास
37.5.2 यमक
37.5.3 श्लेष
37.5.4 वक्रोक्ति
37.5.5 पुनरुक्त वदाभास
37.5.6 पुनरुक्तिप्रकाश
37.5.7 वीप्सा
37.6 सारांश
37.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
37.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

## 37.0 उद्देश्य

इकाई 35 तथा 36 में आप "छंद" के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। इस इकाई में आपको अलंकार के विषय से संबंधित जानकारी दी जाएगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- अलंकार का अर्थ तथा परिभाषा के संबंध में जानकारी प्राप्त करेंगे;
- काव्य में अलंकारों के महत्व एवं उनके विशेष स्थान के बारे में बता सकेंगे;
- अलंकार के प्रमुख भेदों को जान सकेंगे;
- प्रमुख शब्दालंकारों से परिचित हो सकेंगे; और
- किसी भी काव्य का वाचन करते समय उसमें प्रयुक्त शब्दालंकारों की पहचान कर सकेंगे।

## 37.1 प्रस्तावना

इकाई 35-36 में आप छंद के विषय में पढ़ चुके हैं। इकाई 37-38 में आप अलंकार के संबंध में जानकारी प्राप्त करेंगे। छंद काव्य को लयबद्ध करके शीघ्र ग्रहण करने योग्य बनाते हैं तथा अलंकार काव्य के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं। परन्तु अलंकारों की अति काव्य का मूल सौन्दर्य नष्ट कर देती हैं। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि सुन्दर नारी यदि आभूषण धारण कर ले तो उसका सौन्दर्य और अधिक बढ़ जाता है। परन्तु यदि वह आभूषणों से ही लद जाए तो वे भार स्वरूप हो जाते हैं तथा नारी का अपना सौन्दर्य उनके नीचे दब जाता है। इसके विपरीत यदि असुन्दर नारी आभूषण धारण कर अपनी शोभा वृद्धि करना चाहे तो वह और भी अधिक कुरूप लगेगी। उसी प्रकार अलंकार भी सुन्दर काव्य की शोभा वृद्धि करते हैं रसहीन कविता की नहीं। अतः यह बात स्पष्ट है कि अलंकार काव्य का सौन्दर्य वर्द्धन ही करते हैं, उसकी आत्मा नहीं हैं।

इस इकाई में हम अलंकार के अर्थ, काव्य में उसका स्थान, प्रमुख अलंकार तथा

शब्दालंकारों का विस्तृत विवेचन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप अलंकार से और अधिक परिचित हो सकेंगे।

## 37.2 अलंकार किसे कहते हैं?

अलंकार शब्द का मूल व्युत्पत्तिपरक अर्थ है–"अलंकरोतीति अलंकार" अर्थात् जो अलंकृत करे वह अलंकार है। अब आप जानना चाहेंगे कि "अलंकृत करना" क्या है? अलंकृत करने का अर्थ है शोभित करना, सौन्दर्य बढ़ाना। शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले तत्व जैसे सुन्दर आभूषण, वस्त्राभूषण आदि अलंकार की श्रेणी में आते हैं। जिस प्रकार आभूषण नारी के शरीर को सुसज्जित करते हैं तथा उसका सौन्दर्य वर्द्धन करते हैं उसी प्रकार अलंकार चमत्कार द्वारा काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। लौकिक अलंकार स्वर्ण के कटाव तथा जड़ाव से निर्मित किए जाते हैं। उसी प्रकार काव्य में प्रयुक्त अलंकारों में भी काव्य कौशल तथा चमत्कार होता है। चूँकि शब्दों के माध्यम से यह चमत्कार जल्दी पकड़ में आते हैं अतः प्राचीन कवियों ने शब्दालंकारों को प्रथम काव्य में स्थान दिया।

अलंकार का वास्तविक अर्थ तो आप अब समझ गए होंगे। आइए, अलंकार के बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करें। अलंकार साहित्य के सौन्दर्य का वर्द्धन करने वाले कारक हैं किन्तु उसकी आत्मा नहीं हैं। काव्य में उपयुक्त स्थान पर आने वाले अलंकार उसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य भर देते हैं। परन्तु यदि उन्हें हर जगह आवश्यकता न होने पर भी भर दिया जाए तो वे बोझ बन जाते हैं तथा साहित्य के सौन्दर्य को नष्ट कर देते हैं। इसी प्रकार चाहे सुन्दर साहित्य में अलंकार न भी हों तब भी उसके सौन्दर्य में अन्तर नहीं पड़ता है।

अतः अलंकारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाला साधन माना गया है, साध्य नहीं। यदि इन्हें साध्य मानकर काव्य रचना की जाए तो काव्य की शोभा वृद्धि के स्थान पर उसका ह्रास ही होगा। वस्तुतः काव्य शोभाकरान् धर्मालंकारान प्रचक्षते (आचार्य दण्डी) अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं।

## 37.3 काव्य में अलंकारों का महत्व

अलंकार को काव्य का आन्तरिक स्वरूप न समझ कर उसे केवल काव्य के सौन्दर्य का बाह्य साधन ही माना जाना चाहिए। यह सर्वविदित है कि काव्य में अलंकारों द्वारा ही आनन्द के उत्पादन का कार्य सम्पन्न किया जाता है और कवि के शब्द प्रयोगों के आधार पर कहीं-कहीं काव्य में मनोरंजन अथवा रोचकता भी उत्पन्न हो जाती है। प्राचीन काल से अब तक के सभी आचार्यों के मतों पर यदि एक विहंगम दृष्टि डाली जाए तो यह जानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि अलंकारों का महत्व यदि काव्य में सर्वोच्च नहीं होता तो इतना तो अवश्य होता है कि वह काव्य में उस गुण की सृष्टि करने में समर्थ हो जिसके कारण व्यक्ति बार-बार काव्य की ओर आकर्षित हो। कुशल कवि अलंकारों का प्रयोग करते समय इस तथ्य के प्रति सचेत रहता है कि काव्य पर अलंकार हावी न होने पाएँ तथा कवि का मूल भाव अलंकारों से संपृक्त होकर इस प्रकार आगे बढ़े कि श्रोता उससे प्रभावित भी हो जाए और उसे किसी अस्वाभाविकता का भी अनुभव न हो। अथवा श्रोता जब काव्य का रसास्वादन करता है तब उसे कवि के कथन के रूखे-सूखे आकाश की अपेक्षा नहीं होती अपितु वह सात रंगों से युक्त इन्द्रधनुष के नयनाभिराम रूप की कल्पना करके काव्य का आकांक्षी होता है। और कुशल कवि अपने काव्य में इस सतरंगें भाव सौन्दर्य की योजना अलंकारों के माध्यम से ही करता है। जब तक अलंकार का काव्य में समावेश नहीं किया जाता तब तक काव्य की शुष्कता दूर नहीं हो सकती।

नारी को प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य मिलता है, फिर भी वह अलंकारों का मोह नहीं त्याग पाती। इस भाव के पीछे उसका यह भी मनोविज्ञान होता है कि वह बाह्य सौन्दर्य की वृद्धि के साथ-साथ अपने आन्तरिक अहम् की भी तुष्टि कर लेती है और यह तुष्टि उसके मुखमंडल से प्रकट होकर उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को और अधिक बढ़ा देती है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि अलंकार काव्य की बाह्य शोभा की वृद्धि के कारक है तथापि यह कहने में संकोच

नहीं होता कि अलंकारों के प्रयोग से काव्य की आन्तरिक ध्वन्यात्मकता भी आकर्षक एवं रोचक रूप धारण करके सहृदय के कर्णों में मिठास घोल देती है।

काव्य में अलंकारों के स्थान एवं उनके महत्व पर विचार करते समय इस तथ्य पर विचार करना भी समीचीन हो जाता है कि क्या अलंकारों के आधिक्य से काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है? यह सर्वविदित है कि नारी के शरीर पर यदि अलंकारों का बोझ लाद दिया जाए तो वह सुन्दर लगने की अपेक्षा कुरुप लगने लगती है, उसका लावण्य आभूषणों की चमक-दमक में खो जाता है और उसका भड़कीलापन सहृदय में कुरुचि उत्पन्न कर देता है। इसलिए एक तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि काव्य रचना करते समय कवि अलंकार के संयमित प्रयोग के लिए सचेत रहे। अति सर्वत्र वर्जयेत् अर्थात् किसी भी वस्तु का आधिक्य उचित नहीं है। न तो शब्दों के माध्यम से इतना चमत्कार उत्पन्न कर दिया जाए कि काव्य का मूल भाव ही खो जाए और न ही जटिल अर्थों की इतनी अधिक योजना की जाए कि कवि का अभिप्रेत ढूंढ़ने पर भी न मिले। इसलिए सभी प्राचीन एवं नवीन आचार्य इस तथ्य पर एक मत हैं कि अलंकार चमत्कार अथवा कौतूहल के लिए ही न प्रयुक्त हों अपितु उनका प्रयोग काव्य के मूल भाव की रक्षा के लिए किया जाए तथा सहृदय का मनोरंजन भी हो जाए।

## 37.4 अलंकारों के प्रमुख भेद

आप अलंकार का अर्थ तथा काव्य में उसका महत्व जान चुके हैं। अब आइए, उनके वर्गीकरण के संबंध में जानकारी प्राप्त करें। अलंकारों को प्रमुख तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है:

1) शब्दालंकार
2) अर्थालंकार
3) उभयालंकार

यद्यपि हम इन विभेदों की विस्तृत जानकारी आगे प्राप्त करेंगे परन्तु इनका थोड़ा परिचय जानना आवश्यक है–

### 37.4.1 शब्दालंकार

जब शब्द के द्वारा काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो तो वहाँ शब्दालंकार होता है।

### 37.4.2 अर्थालंकार

जब चमत्कार तथा सौन्दर्य शब्दों या वाक्य के अर्थ में निहित हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है।

### 37.4.3 उभयालंकार

जब एक ही स्थान पर शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार में से दो या दो दो अधिक अलंकार उपस्थित हों तो वहाँ उभयालंकार होता है।

## 37.5 शब्दालंकार के प्रमुख भेद

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इन अलंकारों में शाब्दिक सौन्दर्य प्रमुख होता है। ये अलंकार शब्दों पर आधारित होते हैं। इनमें कुछ विशेष शब्दों द्वारा काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि की जाती है। ये विशेष शब्द काव्य में जिस सौन्दर्य का प्रतिपादन करते हैं वह उनके पर्यायवाची शब्दों द्वारा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम कहें कि:

"कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।"

यहां "कनक" शब्द में सौन्दर्य है। एक कनक स्वर्ण के लिए तथा एक धतूरे के अर्थ में

आया है। यदि हम यहाँ इन्हीं अर्थों वाले दूसरे शब्द रख दें तो काव्य में सौन्दर्य आ ही नहीं पाएगा। अतः शब्दालंकार में इन विशिष्ट शब्दों का अपना विशेष महत्व होता है।

काव्य में शब्दालंकार दो प्रकार से आ सकता है: (1) वर्ण सौन्दर्य द्वारा (2) शब्द या वाक्य सौन्दर्य के द्वारा। इस इकाई में हम जिन शब्दालंकारों की विवेचना करेंगे वे हैं—अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्त वदाभास, वीप्सा तथा पुनरुक्तिप्रकाश।

## 37.5.1 अनुप्रास

जब एक वर्ण या वर्ण समूह की दो या उससे अधिक बार आवृत्ति हो तो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे—

"चारु-चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही थीं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी, अवनि और अंबर तल में।"

ऊपर की पंक्ति में "च" वर्ण की आवृत्ति तीन बार हुई है। अतः यहाँ अनुप्रास अलंकार है।

"अनुप्रास" में जिन वर्णों की आवृत्ति होती है, उसका स्थान प्रत्येक शब्द में एक सा होना चाहिए। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में "च" वर्ण की आवृत्ति हुई है तथा वह प्रत्येक शब्द का पहला वर्ण है। यदि "च" वर्ण एक शब्द में पहले स्थान पर तथा दूसरे शब्द में दूसरे स्थान पर आता है तो यहाँ अनुप्रास अलंकार नहीं होता। एक अन्य उदाहरण देखिये—

"जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी
तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी ।"

उपर्युक्त उद्धरण के ऊपर वाली पंक्ति में "ब" वर्ण की दो बार आवृत्ति हुई है तथा वह शब्द का प्रथम वर्ण है। अतः यहाँ अनुप्रास है जबकि नीचे की पंक्ति में "न" वर्ण दो बार तो आया है किन्तु एक शब्द का तो वह दूसरा वर्ण है तथा दूसरे शब्द का पहला। अतः यहाँ अनुप्रास नहीं है।

**नोट :** केवल व्यंजनों की आवृत्ति होने पर ही अनुप्रास होता है, स्वरों की नहीं। अनुप्रास के पाँच भेद है—छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास। इनमें जिन तीन प्रमुख भेदों की चर्चा हम यहाँ करेंगे वे हैं— छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास एवं लाटानुप्रास।

**छेकानुप्रास**—जब एक या अनेक वर्णों की केवल एक बार आवृत्ति होती है अर्थात् वह दो बार आता है तब छेकानुप्रास होता है जैसे—

"भए प्रगट कृपाला, दीन दयाला, कौसल्या हितकारी।"
(तुलसीदास)

इस पंक्ति में "द" वर्ण दो बार आया है अतः यहाँ छेकानुप्रास है।

एक और उदाहरण—

"सोक बिकल अति सकल समाजू।

इस पक्ति में "कल" वर्ण समूह की आवृत्ति हुई है अतः यहाँ भी छेकानुप्रास है।

**वृत्यनुप्रास**—जब वृत्तियों के वर्णानुसार एक या अनेक वर्णों की एक से अधिक बार आवृत्ति हो तो वहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार होता है। वृत्तियाँ तीन है—उपनागरिका, परुषा एवं कोमला।

उपनागरिका वृत्ति— में "ट" वर्ण के अतिरिक्त सभी मधुर एवं सानुनासिक वर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए—

"तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

यहाँ "त" वर्ण पाँच बार आया है। अतः यहाँ उपनागरिका वृत्ति के वर्णानुसार वृत्यनुप्रास है।



परुषा वृत्ति— में "अ" वर्ण, कठोर वर्ण तथा संयुक्त वर्ण जैसे च्छ, ट्ठ आदि होते हैं। उदाहरण—

"झांक न झंझा के झोंके में,
झुककर खुले झरोखे से।"

यहाँ कठोर वर्ण "झ" की आवृत्ति हुई है। अतः परुषा वृत्ति के वर्णानुसार वृत्यनुप्रास है।

**कोमला वृत्ति**– में य्, र्, ल्, व्, स्, ह् व्यंजनों का प्रयोग होता है जैसे–

"होइ है, सोइ, जो राम रचि राखा।

यहाँ "र" वर्ण तीन बार प्रयुक्त हुआ है अतः यहाँ कोमला वृत्ति के वर्णानुसार वृत्यनुप्रास है।

**लाटानुप्रास**–उपर्युक्त दोनों अनुप्रासों में केवल वर्ण या वर्ण समूह की आवृत्ति होती है तथा वे किसी अर्थ को प्रकट नहीं करते अपितु निरर्थक होते हैं। किन्तु लाटानुप्रास में एक शब्द या वाक्य दो या उससे अधिक बार आता है जिनका अर्थ तो एक ही होता है किन्तु उनका अन्वय भिन्न होता है जैसे–

"पूत सपूत तो का धन संचय?
पूत कपूत तो का धन संचय?

यहाँ "सपूत" एवं "कपूत" को छोड़कर सभी शब्द दुबारा आये हैं। अन्वय करने पर इन पंक्तियों का भिन्न अर्थ है। यदि पुत्र सपूत हो तो धन संचय का लाभ नहीं क्योंकि वह स्वयं ही धन संचित कर लेगा। यदि पुत्र कपूत है तो भी धन संचय कर कोई लाभ नहीं क्योंकि धन का सही उपयोग न कर उसे गंवा देगा।

**बोध प्रश्न 1**

1) अलंकार किसे कहते हैं? (चार पंक्तियों में उत्तर दीजिये)

.....

.....

.....

.....

2) बताइये कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत। उचित चिह्न लगाइये (√ या ×)

क) अलंकार काव्य की आत्मा है। ( )
ख) अनुप्रास में स्वर तथा व्यंजन दोनों की आवृत्ति हो सकती है। ( )
ग) लाटानुप्रास अर्थालंकार है। ( )
घ) अलंकारों की भरमार न होने से काव्य, काव्य नहीं रहता। ( )

3) "अति सर्वत्र वर्जयेत" की अलंकारों के संदर्भ में पाँच पंक्तियों में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

## 37.5.2 यमक

जब एक या अनेक शब्दों की एक या एक से अधिक बार आवृत्ति हो तथा वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हों तो वहाँ यमक अलंकार होता है।

यमक अलंकार का एक बहुत प्रचलित उदाहरण है–

"कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
या खायं बौरांय जग, वा पाये बौराय।



उपर्युक्त उदाहरण में "कनक" शब्द दो बार आया परन्तु दोनों का अर्थ भिन्न है। एक "कनक" का अर्थ "धतूरा" है जो नशीला पदार्थ है। तथा दूसरा "कनक" स्वर्ण के अर्थ में आया है। यहाँ "कनक" शब्द की आवृत्ति हुई है तथा दोनों का अर्थ भिन्न है।

तथा एक अन्य उदाहरण देखिए:

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशव दास।"

इस पंक्ति में सूर शब्द की आवृत्ति हुई है। एक बार "सूर" कवि सूरदास के अर्थ में आया है तथा दूसरी बार सूर्य के अर्थ में। यहाँ सूर शब्द की आवृत्ति होने पर भी उनका अर्थ भिन्न है। अतः यहाँ भी यमक अलंकार है।

यदि पूरे शब्द की अपेक्षा शब्द के एक अंश की भी आवृत्ति हो, तो अर्थ भिन्न होने पर वहाँ भी यमक अलंकार ही होगा। जैसे–

"यों **परदे** की इज्जत **परदेशी** के हाथ बिकानी थी।"

ऊपरलिखित पंक्ति में प्रथम "परदे" स्वतंत्र शब्द है तथा उसका अपना अलग अर्थ है जबकि दूसरा "परदे" परदेशी शब्द का एक अंश है जिसका अलग से कोई अर्थ नहीं किन्तु यहाँ भी "परदे" शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक अलंकार है।

**यमक तथा लाटानुप्रास में अन्तर :** लाटानुप्रास में भी शब्दों या वाक्यों की आवृत्ति होती है किन्तु यमक तथा लाटानुप्रास में मूल अन्तर यह है कि यमक में शब्दों की आवृत्ति तो होती है परन्तु उनका अर्थ एक ही होता है भिन्न नहीं होता जबकि लाटानुप्रास में शब्द या वाक्य की आवृत्ति होने पर अन्वय करने पर उनका भिन्न अर्थ निकलता है।

## 37.5.3 श्लेष

"श्लेष" का अर्थ है चिपकना अर्थात् जब कोई शब्द एक बार ही प्रयुक्त हो परन्तु उसके दो या दो से अधिक अर्थ निकलें तब श्लेष अलंकार होता है। यमक में एक शब्द अनेक बार भिन्न-भिन्न अर्थों को लेकर प्रयुक्त होता है परन्तु श्लेष में एक ही शब्द में अनेक अर्थ छिपे होते हैं जैसे–

"पानी गये न ऊबरै, मोती, मानुष, चून।"

उपर्युक्त पंक्ति में "पानी" शब्द में श्लेष है। यहाँ "पानी" तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। " मोती के साथ कान्ति के अर्थ में, मनुष्य के साथ प्रतिष्ठा के अर्थ में तथा आटे के साथ जल के अर्थ में।" कान्ति के बिना मोती का सौन्दर्य नहीं, प्रतिष्ठा के बिना मनुष्य का आदर नहीं, तथा जल के बिना आटे का कोई अर्थ नहीं। अतः एक ही शब्द के अनेक अर्थ होने का कारण यहाँ श्लेष अलंकार है। इसी प्रकार एक और उदाहरण देखिये–

चरन धरत शंका करत भावत नींद न शोर ।
सुबरन को ढूँढ़त फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर ।

यहाँ पर–"चरन" एवं "सुबरन" में श्लेष है। दोनों ही तीन-तीन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। ये तीनों अर्थ क्रमशः कवि, व्यभिचारी एवं चोर के संदर्भों में है। आगे हम दोनों शब्दों की तीनों अर्थों में व्याख्या करेंगे।

सर्वप्रथम कवि के संदर्भ को ही लें। कवि काव्य की किसी भी पंक्ति के चरण की रचना करने से पहले सुवर्ण अर्थात् सुन्दर शब्द ढूँढता है और संशय में रहता है कि यह सही होगा या नहीं। उसे उस समय न तो निद्रा ही आती है तथा न ही शोर भाता है। यहाँ सुवर्ण से कवि का तात्पर्य सुन्दर शब्द से है।

व्यभिचारी भी बुरे कर्मों की ओर अग्रसर होते हुए प्रत्येक चरण (कदम) पर भय से शंकित होता रहता है। व्यभिचारी भी 'सुवर्ण' अर्थात् सौन्दर्य को ढूँढ़ता रहता है। यहाँ सुवर्ण से कवि का तात्पर्य सुन्दर रूप-रंग अर्थात् सौन्दर्य से है।

चोर भी चोरी करने हेतु तत्पर होते हुए हर चरण पर देख लिए जाने की शंका करता है। चोर का मूल ध्येय भी सुवर्ण अथवा स्वर्ण पाना होता है। यहाँ सुवर्ण से कवि का तात्पर्य स्वर्ण अथवा सोना से है।

## 37.5.4 वक्रोक्ति

वक्रोक्ति का अर्थ है–वक्र या टेढ़ी उक्ति। किसी वक्ता द्वारा कहे गये कथन में प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त किसी भिन्न अर्थ की कल्पना की जाए तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।



उदाहरण के लिए लक्ष्मी द्वारा पार्वती से कही यह उक्ति देखिए–

"भिक्षुक गो कित को गिरिजे? सो तो मांगन को बलिद्वार गयी री।

लक्ष्मी ने पार्वती से शिव के बारे में पूछा। शिव को ही उन्होंने "भिक्षुक" कहकर संबोधित किया किन्तु पार्वती ने विनोद में इस वाक्य का अन्य अर्थ लगाकर उसका उत्तर विष्णु के संदर्भ में दिया कि वह तो राजा बलि के द्वार पर भिक्षा माँगने हेतु गया है।

यहाँ लक्ष्मी द्वारा कहे गए कथन में प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त किसी भिन्न अर्थ की कल्पना की गई है, अतः यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है।

एक और उदाहरण–

प्यारी, काहे आज तुम वामा है वतरात,
हम तो है वामा सदा का अचरज की बात।

यहाँ नायक ने नायिका को वामा अर्थात् टेढ़ी कहा है। परन्तु नायिका ने वामा में स्त्री अर्थ की कल्पना कर नायक को उत्तर दिया कि वह तो वामा (स्त्री) है ही अतः यहाँ भी वक्रोक्ति अलंकार है।

## 37.5.5 पुनरुक्तवदाभास

जब दो शब्दों के अर्थ में पुनरुक्ति का आभास हो परन्तु वास्तव में पुनरुक्ति न होकर वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हों, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। जैसे–

"पुनि फिरि राम निकट सो गई"

उपर्युक्त पंक्ति में "पुनि" और "फिरि" एक ही अर्थ वाले शब्द जान पड़ते हैं परन्तु ध्यान से पढ़कर अर्थ किया जाए ता दोनों के अर्थ भिन्न हैं। "पुनि" का अर्थ है पुनः या दुबारा तथा "फिरि" का अर्थ है लौट कर।

अर्थात् जब भिन्न-भिन्न स्वर एवं व्यंजन वाले दो शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हुए प्रतीत हों किन्तु वास्तव में उनका अर्थ अलग-अलग हो तो वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।

**यमक एवं पुनरुक्तवदाभास में अन्तर :** पुनरुक्तवदाभास एवं यमक अलंकार में मूल अन्तर यह है कि यमक में एक ही स्वर व्यंजन वाले शब्द एक या एक से अधिक बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं परन्तु पुनरुक्तवदाभास में ऐसा नहीं है। इसमें भिन्न-भिन्न स्वर व्यंजन वाले दो शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तव में उनका अर्थ भिन्न होता है। आइए, हम उदाहरणों द्वारा समझें।

**यमक :** बसन देहु ब्रज में हमें, बसन देहु ब्रजराज।

यहाँ बसन दो बार प्रयुक्त हुआ है परन्तु दोनों का अर्थ अलग है पहला "बसन" 'रहने दो' अर्थ तथा दूसरा "बसन" 'वस्त्र' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

**पुनरुक्तवदाभास :** सुमन फूल खिल उठे, लखो, मानस में मन में

यहाँ "सुमन" तथा "फूल" और "मानस" तथा "मन" तथा मन एक ही अर्थ को वहन करते प्रतीत होते हैं परन्तु यहाँ वे भिन्नार्थों में प्रयुक्त हुए हैं सुमन का अर्थ है, पुष्प। फूल का अर्थ है–खिलना।
इसी प्रकार, मानस का अर्थ है मान सरोवर तथा मन का अर्थ है–मन।
अब आप स्पष्ट रूप से यमक एवं पुनरुक्तवदाभास में अन्तर समझ गए होंगे।

## 37.5.6 पुनरुक्तिप्रकाश

जहाँ शब्द की एक या एक से अधिक बार आवृत्ति हो परन्तु प्रत्येक बार अर्थ एक ही हो वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है। पुनरुक्तवदाभास में प्रयुक्त शब्द समान अर्थ का आभास देते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु उनका अर्थ प्रत्येक बार भिन्न होता है जबकि पुनरुक्तिप्रकाश में एक ही शब्द दो या दो से अधिक बार प्रयुक्त होकर अर्थ का सौन्दर्य-वर्द्धन करता है। यथा कृष्ण की मुरली गोपियों से कह रही है–

"मो पर रिस पावति है पुनि पुनि,
कछु, काहुहि बतरावति री।"

यहाँ 'पुनि' शब्द की आवृत्ति होने से अर्थ का सौन्दर्य बढ़ गया है।

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।"

यहाँ 'मधुर' शब्द के दो बार प्रयुक्त होने से अर्थ की कोमलता एवं सौन्दर्य में वृद्धि हो गयी है। अब आपको स्पष्ट हो गया होगा कि पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार में शब्दों की आवृत्ति शब्द चमत्कार के लिए नहीं अपितु एक ही अर्थ में होती है परन्तु इससे पूरी उक्ति के अर्थ का सौन्दर्य वर्द्धन हो जाता है।

### 37.5.7 वीप्सा

पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार की ही तरह वीप्सा में भी शब्दों की आवृत्ति होती है। किन्तु, यह आवृत्ति अर्थ का सौन्दर्य वर्द्धन करने के लिए नहीं अपितु मनोवेगों की तीव्रता को प्रकट करने के लिए होती है। अर्थात् मनोभावों को प्रकट करने के लिए शब्द की एक या एक से अधिक बार आवृत्ति हो तो वहाँ वीप्सा अलंकार होता है। मनोभावों से तात्पर्य है आतुरता, शोक, आश्चर्य, घृणा, उत्साह आदि। उदाहरण–

"अमत्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पथ हैं, बढ़े चलो बढ़े चलो।"

यहाँ "बढ़े चलो बढ़े चलो" वीरों के उत्साह वर्द्धन हेतु प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ वीप्सा अलंकार है।

**एक अन्य उदाहरण–**

सांझहि सेज सिंगार सब, सजे सजीली बाम ।
उझकि-उझकि झाँकति झुकति, अबहुं न आए स्याम ।।

यहाँ उझकि-उझकि के द्वारा नायिका के हृदय की आतुरता एवं व्याकुलता की अभिव्यक्ति की गई है। अतः यहाँ भी वीप्सा अलंकार है।

**बोध प्रश्न 2**

1) यमक तथा लाटानुप्रास में अन्तर बताइये। (चार पंक्तियों में)

.....

.....

.....

.....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति उचित शब्द छाँटकर कीजिए।

क) जब एक शब्द अनेक बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो तो वहाँ ..... अलंकार होता है।

(यमक, श्लेष, वीप्सा)

ख) जब कोई शब्द एक ही बार प्रयुक्त हो परन्तु उसके दो या दो से अधिक अर्थ हों तो वहाँ ..... अलंकार होता है।

(श्लेष, यमक, अनुप्रास)

3) बताइये कि निम्नलिखित पंक्तियों में कौन से अलंकार हैं।

क) राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे
ख) विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम, बतला दो! लाल मेरा कहाँ है?

## 37.6 सारांश

इस इकाई में आपने अलंकार का अर्थ, काव्य में अलंकारों का महत्व तथा अलंकार के प्रमुख भेदों के विषय में जानकारी प्राप्त की है। अब आप अलंकार के तीन प्रमुख भेद शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के विषय में जान गये हैं। इस इकाई में हमने आपको शब्दालंकार की विस्तृत जानकारी दी है। अर्थालंकार एवं उभयालंकार के विषय में आप अगली इकाई में पढ़ेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद अब आप:

- अलंकारों के अर्थ एवं काव्य में अलंकारों के महत्व की विवेचना कर सकते हैं,
- अलंकारों के तीन प्रभेदों के विषय में बता सकते हैं,
- प्रमुख शब्दालंकारों की उदाहरण सहित परिभाषा बता सकते हैं, और
- काव्य का वाचन करते समय उसमें प्रयुक्त शब्दालंकार छाँट सकते हैं।

## 37.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**काव्यांग दर्पण**, डॉ. विजय बहादुर अवस्थी, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली।

**काव्यांग विवेचन**, डॉ. भगीरथ मिश्र एवं डॉ. बलभद्र तिवारी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

**काव्य सिद्धांत**, डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री, आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली।

## 37.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) देखिए 37.2
2) क) × ख) × ग) × घ) ×
3) देखिए 37.3

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए 37:5.2
2) क) यमक ख) श्लेष
3) क) वीप्सा "राम जपु" की आवृत्ति भक्ति भाव की बढ़ अभिव्यक्ति के लिए की गई है।
   ख) श्लेष (यहाँ लाल शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है) (1) प्रिय कृष्ण (2) मणि।

# इकाई 38 अलंकार एवं उसके भेद-II

**इकाई की रूपरेखा**

38.0 उद्देश्य
38.1 प्रस्तावना
38.2 अर्थालंकार
38.3 अर्थालंकार के अंग
38.4 अर्थालंकार के भेद
38.4.1 साम्य मूलक अर्थालंकार
38.4.2 विरोध मूलक अर्थालंकार
38.4.3 अन्य अर्थालंकार
38.5 उभयालंकार
38.6 सारांश
38.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
38.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

## 38.0 उद्देश्य

इकाई 37 में आप अलंकार का अर्थ, काव्य में अलंकारों का महत्व, अलंकार के भेदों के संबंध में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। अलंकार के प्रमुख भेद के अंतर्गत आप शब्दालंकारों के बारे में भी जान चुके हैं। प्रस्तुत इकाई अलंकार के अन्य भेदों से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- प्रमुख अर्थालंकारों के लक्षण तथा उदाहरण के संबंध में बता सकेंगे;
- उभयालंकार के अर्थ तथा भेदों से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे; और
- काव्य वाचन करते समय उनमें प्रयुक्त अर्थालंकार एवं उभयालंकार पहचान सकेंगे।

## 38.1 प्रस्तावना

इकाई 37 में हमने "अलंकार एवं उसके भेदों" का उल्लेख किया तथा शब्दालंकार का विस्तार से विश्लेषण किया। आप यह जान चुके हैं कि जब काव्य में शब्द के द्वारा चमत्कार उत्पन्न हो तो वहाँ शब्दालंकार होता है तथा जब अर्थ के द्वारा काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है। इस इकाई में हम अर्थालंकार तथा उसके प्रमुख भेद, एवं उभयालंकार की चर्चा एवं विवेचना करेंगे। शब्दालंकार काव्य का बाहय सौन्दर्य है परन्तु अर्थालंकार आंतरिक। शब्दालंकार में यदि एक शब्द विशेष के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख दे तो काव्य सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा परन्तु अर्थालंकार में ऐसा नहीं है। इसमें उक्ति सौन्दर्य अर्थ में निहित होता है। अतः शब्द के हेर-फेर से भी सौन्दर्य में कमी नहीं आ पाती। यह अर्थगत सौन्दर्य युवती के लावण्य की तरह है। यदि उसके बाहयाभूषण उसके शरीर पर न फबें तो अच्छे नहीं लगते परन्तु उसका लावण्य सदैव मनोहारी होता है। इस इकाई में हम इन्हीं अर्थालंकारों का विश्लेषण करेंगे।

## 38.2 अर्थालंकार

जब सौन्दर्य किसी वाक्य के शब्दों की अपेक्षा उसके अर्थ में निहित हो तो वहाँ अर्थालंकार होता है। अब आप शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का अंतर समझ गए होंगे। शब्दालंकार में किसी शब्द विशेष में ही सौन्दर्य निहित होता है। यदि उस शब्द के स्थान पर उसका

पर्यायवाची अन्य शब्द रख दें तो वह सौन्दर्य नष्ट हो जाता है परन्तु अर्थालंकार में ऐसा नहीं है। यहाँ रमणीयता वाक्य में प्रयुक्त शब्द के अर्थ में होती है न कि शब्द में। यदि उसी अर्थ का प्रतिपादन करने वाला दूसरा शब्द भी वाक्य में रख दें तो भी अर्थ सौन्दर्य में कमी नहीं आती।

आइए, अब हम शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के उद्धरणों द्वारा उनके अंतर को समझें। इससे आपको अर्थालंकार को समझने में और भी सहायता मिलेगी। सर्वप्रथम हम शब्दालंकार का एक उद्धरण लेते हैं:

"**कनक कनक** तें सौगुणी, मादकता अधिकाय।
वा खायं बौराय जग, वा पाये बौराय।।"

यहाँ "कनक" शब्द में ही सौन्दर्य निहित है। एक "धतूरा" तथा दूसरा "स्वर्ण" के अर्थ में आया है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्ण में धतूरे से सौ गुना अधिक नशा होता है क्योंकि धतूरे को खाकर तो लोग नशे से पागल हो उठते हैं परन्तु स्वर्ण को तो पाकर ही पागल हो जाते हैं।

यहाँ यदि "कनक" के स्थान पर स्वर्ण तथा धतूरा शब्द रख दें तो उक्ति का सौन्दर्य नष्ट हो जाएगा। चूंकि यहाँ "कनक" शब्द में सौन्दर्य है अतः यहाँ शब्दालंकार है।

किन्तु, अर्थालंकार में ऐसा नहीं है। वहाँ पूरी उक्ति का सौन्दर्य उसके अर्थ में ही निहित होता है। यदि एक शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख दें, तब भी उक्ति सौन्दर्य में अंतर नहीं पड़ेगा। इसे "अर्थालंकार" के एक उद्धरण द्वारा समझें:

"मुख चन्द्र सा सुन्दर है।"

यहाँ मुख की उपमा चन्द्रमा से दी गई है तथा उसके अद्वितीय सौन्दर्य को बताया गया है। यदि हम इस उक्ति में चंद्र के स्थान पर "शशि" शब्द भी रख दें तो भी इस उक्ति के अर्थ में कोई अंतर नहीं आएगा। हम यह कह सकते हैं कि इस उक्ति का सौन्दर्य उसके अर्थ में निहित है न कि शब्द में। अतः स्पष्ट रूप से यहाँ अर्थालंकार है। अर्थालंकार के मूलतः तीन भेद हैं: साम्य मूलक, विरोध मूलक, अन्य संसर्ग मूलक। अब हम इन तीनों की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

1) **साम्य मूलक**: इस वर्ग में वे अलंकार आते हैं जो दो वस्तुओं के रूप, आकार या धर्म अथवा गुण की समता से सम्बद्ध हैं। चूंकि ये दो वस्तुओं के धर्म अथवा गुण की समता से सम्बद्ध होते हैं, इसीलिए इन्हें साधर्म्य-मूलक अलंकार भी कहते हैं। आइए, एक उदाहरण और लेकर उपर्युक्त कही गई बात को पुनः समझें:

उदाहरण के लिए एक पंक्ति लें:
"सीता का मुख चन्द्र मनोहर"

यहाँ सीता के मुख के रूप सौन्दर्य को चन्द्रमा के समान मनोहर बताया गया है। अर्थात् यहाँ दो वस्तुओं (सीता का मुख तथा चन्द्रमा) के रूप की समता बताई गई है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण ले सकते हैं:

"सीमा रहित अनंत गगन-सा
विस्तृत उसका प्रेम हुआ।"

यहाँ "उसके प्रेम" को सीमा रहित अनन्त गगन के समान विस्तृत बताया गया है। यहाँ स्पष्ट है कि गगन का गुण सीमा रहित होता है अतः प्रेम का गुण भी विस्तृत एवं सीमा रहित हुआ। चूंकि यहाँ दो पदार्थों (प्रेम एवं गगन) के गुणों में **समता स्थापित की गई है अतः यहाँ साम्य मूलक अर्थालंकार है।**

इनमें रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शना, प्रतीप, भ्रांतिमान, संदेह, स्मरण, अपह्नुति, समासोक्ति, अन्योक्ति आदि अर्थालंकार आते हैं। इस इकाई में हम कुछ मुख्य साम्य मूलक अर्थालंकारों की विवेचना करेंगे।

2) **विरोध मूलक** : ये अलंकार मूलतः विरोध पर आधारित हैं। यह विरोध दो वस्तुओं में गुण तथा क्रिया का हो सकता है। जैसे यदि हम कहें "या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहिं कोय। ज्यों-ज्यों बड़े स्याम-रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।" यहाँ गुण से गुण का विरोध प्रदर्शित है क्योंकि श्याम रंग में डूबने पर भी चित्त उज्ज्वल होता जाता है।

यहाँ प्रेम से भरे चित्त की गति के संबंध में बताया गया है कि जैसे-जैसे स्याम रंग, रंग में डूबता जाता है वैसे-वैसे ही उसमें उज्ज्वलता आती जाती है। यद्यपि स्याम रंग में डूबने पर तो चित्त सांवला होना चाहिए परन्तु यहाँ स्याम रंग से तात्पर्य श्याम के प्रेम में डूबने से है। उपर्युक्त पंक्ति एक गुण स्याम रंग का उज्ज्वल से विरोध दिखाया गया है।

इसके अंतर्गत विरोधाभास, असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, आदि अर्थालंकार आते हैं।

3) **अन्य अर्थालंकार**: साम्य तथा विरोध पर आधारित अलंकारों को छोड़कर अन्य अलंकार इस वर्ग में आते हैं। ये हैं:

क) जहाँ दो या दो से अधिक वस्तुओं का क्रमवार वर्णन किया जाए, वहाँ **शृखलामूलक अलंकार** होता है। उदाहरण के लिए:

"बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम कृपा बिनु सपने हुँ, जीव न लह विश्राम।।"

अर्थात् विश्वास के बिना भक्ति नहीं हो सकती, भक्ति के बिना राम द्रवित नहीं हो सकते, तथा राम की कृपा के बिना स्वप्न में भी जीव विश्राम नहीं पा सकता।

शृंखलाबद्ध अलंकार में एकावली, कारणमाला आदि अलंकार आते हैं।

ख) जब तर्क, लोक व्यवहार वाले वाक्यों द्वारा अथवा दो वाक्यों के विशेष संबंध द्वारा विशेषता दिखाई जाए तो वहाँ न्यायमूलक अलंकार होता है।

"अरुण बरण तिय चरण पर जाबक लख्यो न जाई"

अर्थात् लाल वर्ण के चरणों पर लाल रंग की मेंहदी (जाबक) एक रूप होने के कारण दिखाई नहीं देती। लोक व्यवहार में स्त्री के चरणों पर मेंहदी लगाने का प्रचलन है। न्यायमूलक अलंकारों में मीलित, यथासंख्य, परिसंख्य, काव्य लिंग आदि प्रमुख हैं।

ऊपर हमने अर्थालंकारों के विभेदों की चर्चा की है।

## 38.3 अर्थालंकार के अंग

अर्थालंकारों के चार अंग होते हैं। निम्नलिखित पंक्ति के आधार पर हम एक-एक अंग की विवेचना कर सकते हैं:

"मुख चन्द्रमा के समान है।"

1) **उपमेय** : वह मूल विषय जिसकी तुलना की जाए, उपमेय कहलाता है। जैसे मुख की तुलना चन्द्रमा से की गई है। यहाँ वर्णन का मूल विषय "मुख" है। अतः "मुख" उपमेय होगा।

2) **उपमान** : जिससे उपमेय की तुलना की जाती है वह उपमान कहलाता है। जैसे मुख की तलना चन्द्रमा से करने के कारण – "चन्द्रमा" उपमान है।

3) **साधारण धर्म** : उपमेय तथा उपमान, दोनों में उपस्थित वह गुण जिसके कारण दोनों में तुलना की जाए साधारण धर्म कहलाता है। उपरिलिखित पंक्ति में मुख तथा चन्द्रमा दोनों का समान गुण "सुन्दर" है, अतः "सुन्दर" साधारण धर्म है। इसी प्रकार यदि हम कहें:

"सागर-सा **गम्भीर** हृदय हो,"

तो यहाँ गंभीर ही साधारण धर्म है क्योंकि सागर तथा हृदय दोनों का समान गुण गम्भीर है।

4) **वाचक शब्द** : जिस शब्द के द्वारा उपमेय तथा उपमान में समानता बताई जाए, वह वाचक शब्द कहलाता है। जैसे उपर्युक्त वाक्य में "समान" शब्द के द्वारा मुख तथा चन्द्रमा की तुलना की गई है। अतः यहाँ "समान" वाचक शब्द है।

## 38.4 अर्थालंकार के भेद

### 38.4.1 साम्य मूलक अर्थालंकार

आइए, अब हम कुछ विशिष्ट साम्य मूलक अर्थालंकारों की चर्चा करें तथा उनके लक्षण, उदाहरण एवं समन्वय के विषय में जानकारी प्राप्त करें। आगे हम जिन विशिष्ट साम्य मूलक अर्थालंकारों की चर्चा करेंगे, वे हैं: उपमा, अनन्वय, प्रतीप, व्यतिरेक, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण, सन्देह, भ्रांतिमान, अतिशयोक्ति, तथा अर्थान्तरन्यास।

1) **उपमा:** साम्य मूलक अर्थालंकारों में उपमा का विशेष स्थान है। जब किसी वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना की जाए अथवा उसके समान बताया जाए तो वहाँ उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार में सामान्यतः अर्थालंकार के चारों अंग–उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द, आते हैं जैसे–

"नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा।"

इस पंक्ति में "नील गगन" उपमान, हैं, "हृदय" उपमेय है, "सा" वाचक शब्द है तथा "शान्त" साधारण धर्म। यहाँ उपमेय 'हृदय' की तुलना उपमान 'नील गगन' से की गई है।

उपमा अलंकार के दो भेद हैं–पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा। अब हम इन दोनों भेदों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

**पूर्णोपमा:** जब उपमा अलंकार के चारों अंग–उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म–उपमा में विद्यमान हों तब वहाँ पूर्णोपमा होती है। जैसे–

"पीपर पात सरिस मन डोला"

इस पंक्ति में "मन" उपमेय है, "पीपर पात" उपमान है, "डोला" साधारण धर्म है तथा "सरिस" वाचक शब्द है। यहाँ उपमा अलंकार के चारों अंग (उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक शब्द) विद्यमान हैं। अतः यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

एक और उदाहरण–

"सागर सा गम्भीर हृदय हो,
गिरि सा ऊँचा हो जिसका मन।
ध्रुव सा जिसका अटल लक्ष्य हो,
दिनकर सा हो नियमित जीवन।"

उपर्युक्त पद्यांश में हृदय, मन, लक्ष्य तथा जीवन उपमेय हैं, सागर, गिरि, ध्रुव तथा दिनकर उपमान हैं, "सा" वाचक शब्द है तथा गम्भीर, ऊँचा, अटल एवं नियमित साधारण धर्म है।

यहाँ भी उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं। अतः यहाँ पूर्णोपमा है।

**लुप्तोपमा:** यदि उपमेय, उपमान, वाचक शब्द अथवा साधारण धर्म में से किसी एक अंग या अनेक अंगों का उपमा में लोप हो तब वहाँ लुप्तोपमा होती है। जैसे यदि हम कहें कि:

"नेत्र कमल जैसे हैं।"

तो यहाँ पूर्ण उपमा न होकर लुप्तोपमा होगी क्योंकि यहाँ उपमेय "नेत्र", उपमान "कमल" तथा "जैसे" वाचक शब्द तो हैं परन्तु साधारण धर्म सुन्दर का लोप हो गया है अर्थात् उसे शब्द के माध्यम से बताया नहीं गया है। अतः यहाँ लुप्तोपमा हुई।

**बोध प्रश्न 1**

1) अर्थालंकार के प्रमुख तीन भेद कौन-कौन से हैं?

क) .....

ख) .....

ग) .....

2) "सागर सा गम्भीर हृदय हो" में उपमान तथा उपमेय बताइए।

.....

.....

3) "नैन मीन से हैं" में उपमा का कौन-सा अंग विलुप्त है।

.....

.....

**अभ्यास**

अर्थालंकार के अंगों को समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

**2) अनन्वय:** सामान्यतः उपमेय की उपमा उपमान से की जाती है किन्तु जब उपमेय के लिए कोई उपमान न मिले तथा उपमेय को ही उपमान कह दिया जाए तो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। अर्थात् उपमेय की उपमेय से ही तुलना की जाए तो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। जैसे–

अब यद्यपि दुर्बल भारत है।
पर भारत के सम भारत है।।

यहाँ भारत उपमेय के लिए कोई उपयुक्त उपमान न मिलने के कारण भारत को भारत के समान ही बता दिया गया है अर्थात् उपमेय "भारत" की उपमा उपमेय भारत से ही दी गई है। अतः यहाँ अनन्वय अलंकार है।

3) **प्रतीप:** प्रतीप का अर्थ है "उल्टा"। उपमान सदैव उपमेय से श्रेष्ठ होता है, परंतु जब उपमेय को उपमान से श्रेष्ठ बताकर उपमान का तिरस्कार किया जाए तो वहाँ प्रतीप अलंकार होता है। जैसे मुख को चन्द्रमा के समान कहा जाता है। यहाँ मुख उपमेय है तथा चन्द्रमा उपमान। यहाँ उपमेय से उपमान श्रेष्ठ है परन्तु यदि इसे उलटकर कहा जाए कि चन्द्रमा मुख के समान है तो यहाँ उपमान चन्द्रमा का तिरस्कार कर उपमेय को श्रेष्ठ बताया गया है। अतः यहाँ प्रतीप अलंकार है। उपमेय को उपमान से श्रेष्ठ बताकर उपमान का तिरस्कार कई प्रकार से किया जा सकता है जैसे–

1) उपमान को उपमेय के समान बताकर। जैसे 'मुख के समान चन्द्रमा'। यहाँ उपमान "चन्द्रमा" को उपमेय "मुख" के समान बताया गया है।

2) उपमान को उपमेय की तुलना के अयोग्य बताकर जैसे–

"सिय मुख समतापाव किमि?
चन्द बापरो रंक।

सीता के "मुख" को चन्द्रमा से श्रेष्ठ बताकर उपमान को अयोग्य सिद्ध किया गया है।

3) उपमान को उपमेय के समक्ष अनावश्यक बताकर। जैसे "मुख आलोकित जग करै, कहो चन्द्र केहि काम?" यहाँ उपमेय "मुख" ही जग में प्रकाश ला देता है तो "उपमान चन्द्रमा" की उपस्थिति का क्या काम अर्थात् चन्द्रमा की उपस्थिति अनावश्यक है।

4) जहाँ उपमेय के समक्ष उपमान की उपस्थिति निरर्थक मानी जाए। जैसे कहा जाए कि:

"काहे करत गुमान ससि। तव समान मुख मंज।"

यहाँ दो रूपक हैं–"प्रेम अतिथि" एवं "हृदय कपाट"। दूसरे रूपक का आधार पहला रूपक है अर्थात् पहला रूपक दूसरे के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः यहाँ परम्परित रूपक है।

4) **व्यतिरेक:** जब उपमेय को उपमान से किसी बात में बढ़ाकर अथवा उपमान को उपमेय से घटाकर वर्णन किया जाए तो वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है जैसे–

"गुण मयंक-सो है सखी। मधुर वचन सविशेष।

यहाँ उपमेय "मुख" को उपमान "चन्द्रमा" के समान बताया गया है परन्तु यहाँ "उपमेय" की एक ऐसी विशेषता बताकर जो उपमान में नहीं है, उपमेय का उत्कर्ष दिखाया गया है अर्थात् मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर तो है ही परन्तु मुख से मधुर वचन भी निकलते हैं। यह विशेषता चन्द्रमा में नहीं है अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। एक अन्य उदाहरण–

"सिय मुख सरद कमल जिमि, किमि कहि जाय?
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाय।"

अर्थात् शरद कमल के समान सीता का मुख नहीं कहा जा सकता, कारण कि शरद कमल तो रात्रि में मुरझा जाता है, जबकि सीता का मुख दिन-रात खिला रहता है। यहाँ उपमेय "सीता का मुख" के दिन-रात खिलने के विशेष संदर्भ को बताकर उपमान "शरद कमल" का अपकर्ष दिखाया गया है।

5) **रूपक:** जब उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाए अर्थात् जब उपमेय उपमान का रूप धारण कर ले तब रूपक अलंकार होता है, जैसे चरण-कमल। यहाँ उपमेय "चरण" ने उपमान "कमल" का रूप धारण कर लिया तो अर्थ हुआ कि चरण रूपी कमल अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं। यदि यही बात हम उपमा अलंकार के माध्यम से कहना चाहें तो कहेंगे कि कमल के समान चरण। यहाँ उपमेय "चरण" एवं उपमान "कमल" में भेद बना हुआ है। दोनों में एकरूपता नहीं है। परन्तु रूपक में यह भेद समाप्त हो जाता है।

रूपक के तीन प्रकार हैं: सांग, निरंग एवं परम्परित। आगे हम इन तीनों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

क) **सांग रूपक:** सांग का अर्थ है, अंग सहित। जहाँ उपमान का उपमेय पर अंगों सहित आरोप हो अर्थात् उपमेय और उपमान में एकरूपता स्थापित होने पर उनके अंगों में भी एकरूपता पाई जाए वहाँ सांग रूपक होता है। जैसे:

"उदित उदय-गिरि मंच पर, रघुबर बाल-पतंग।
विकसे सन्त सरोज सब, हरषे लोचन-भृंग।"

यहाँ बाल-पतंग अर्थात् "सूर्य" उपमान का उपमेय "रघुवर" पर आरोप है।साथ ही उपमेय के अंगों की उपमान के सभी अंगों से भी एकरूपता स्थापित की गई है अर्थात् उपमान "सूर्य" के उदयगिरि पर उदित होते ही कमल खिल उठते हैं तथा भ्रमर हर्षित हो जाते हैं। उसी प्रकार उपमेय "रघुवर" के मंच पर प्रकट होते ही सन्त खिल उठे तथा उनके नेत्र हर्षित हो गए। यहाँ उपमान (सूर्य) तथा उनके अंगों (उदयगिरि, कमल एवं भ्रमरों) की एकरूपता उपमेय (रघुवर) एवं उसके अंगों (संत, मंच तथा नेत्रों) से स्थापित की गई है अतः यहाँ सांग रूपक है।

ख) **निरंग रूपक:** "निरंग" अर्थात् बिना अंगों के। जब केवल उपमेय तथा उपमान में ही एकरूपता स्थापित की जाए तब निरंग रूपक अलंकार होता है। यह ध्यान देने की बात है कि यह एकरूपता उपमेय तथा उपमान के अंगों में स्थापित नहीं की जाती। उदाहरण के लिए,

"चरण-कमल बन्दो हरिराई।"

यहाँ उपमेय "चरण" को उपमान "कमल" के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कमल एवं चरण के अंगों में एकरूपता नहीं है। अतः यहाँ निरंग रूपक अलंकार है।

ग) **परम्परित रूपक:** परम्परित रूपक में ही दो रूपक होते हैं जिनमें एक रूपक दूसरे पर आधारित रहता है। उदाहरण के लिए:

"प्रेम-अतिथि है खड़ा द्वार पर,
हृदय कपाट खोल दो तुम।"



यहाँ दो रूपक हैं–"प्रेम अतिथि" एवं "हृदय कपाट"। दूसरे रूपक का आधार पहला रूपक है अर्थात् पहला रूपक दूसरे के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः यहाँ परम्परित रूपक है।

**बोध प्रश्न 2**

1) उपमा तथा रूपक अलंकार का अंतर स्पष्ट कीजिए। (तीन पंक्तियों में)

.....

.....

.....

2) सांग रूपक की परिभाषा उद्धरण सहित दीजिए। (चार पंक्तियों में)

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में से कौन-सी विशेषता अनन्वय अलंकार की है?
(सही उत्तर पर (√) का निशान लगाइए)।

क) उपमेय को उपमान से श्रेष्ठ बताया जाए।
ख) उपमान को उपमेय से श्रेष्ठ बताया जाए।
ग) उपमेय को ही उपमान कह दिया जाए।

4) निम्नलिखित पंक्तियों में कौन से अलंकार हैं:

1) नीलकमल
2) सीय बदन सम हिमकर नाहीं

6) **भ्रान्तिमान:** जहाँ पर सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का भ्रम हो तथा उपमेय को ही उपमान समझ लिया जाए वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है। जैसे–

"कपि करि हृदय बिचारि, दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार, हरषि उठि कर गहेउ।। (तुलसी)

हनुमान द्वारा गिराई गई "मुद्रिका" (उपमेय) को सीता ने "अंगारा" (उपमान) समझकर उठा लिया। यहाँ सीता को उपमेय "अंगठी" में सादृश्य के कारण उपमान (अंगारा) का भ्रम हो गया। यहाँ सादृश्य पीत वर्ण का है। अंगूठी भी पीले रंग की होती है, तथा अग्नि भी। अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

एक और उदाहरण:

"नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।"

नायिका के नाक का मोती उसके रक्तिम अधरों की कान्ति से लाल वर्ण का हो गया है तथा अनार का दाना भी लाल वर्ण का ही होता है। यहाँ शुक को उपमेय (नायिका के नाक के मोती) में उपमान (दाड़िम के दाने) का सादृश्य (रक्तिम वर्ण) के कारण भ्रम हो गया। अतः यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार है।

7) **उत्प्रेक्षा:** उपमेय और उपमान भिन्न होते हुए भी जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाए वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। अर्थात् जब हम कहते हैं कि "नेत्र कमल के समान हैं" तब नेत्र और कमल की एकरूपता संशय रहित होती है परन्तु यदि हम कहें कि "नेत्र मानो कमल हैं" तब यह निश्चय नहीं कि नेत्र कमल हैं ही। यहाँ हम केवल उपमेय "नेत्र" में उपमान "कमल" की संभावना ही कर रहे हैं अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार के वाचक शब्द मनु, जनु, मानो, जानो, निश्चय, मनहु, जानहुं, मेरे जान, इव आदि हैं। इन शब्दों या इनके पर्यायवाची शब्दों को पहचान कर आप उत्प्रेक्षा अलंकार सरलतापूर्वक बता सकते हैं। उदाहरण:

सोहत ओढ़े पीत-पट स्याम सलोने गात ।
मनहुं नीलमनि सैल पर, आतप परयो प्रभात । (बिहारी)



अर्थात् पीताम्बर ओढ़े श्रीकृष्ण का श्यामल शरीर ऐसा जान पड़ता है मानो प्रातःकालीन

सूर्य की किरणें नीलमणि पर्वत पर पड़ रही हों।

यहाँ उपमेय "श्रीकृष्ण का श्याम शरीर" में उपमान "नीलमणि पर्वत" की संभावना की गई है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा अलंकार के तीन भेद हैं–वस्तूत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा।

**वस्तूत्प्रेक्षा**– जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की संभावना की जाए वहाँ **वस्तूत्प्रेक्षा होती है।** जैसे उपर्युक्त उद्धरण में एक वस्तु "श्रीकृष्ण के शरीर" में दूसरी वस्तु "नीलमणि पर्वत" की संभावना की गई है। अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा है।

**हेतूत्प्रेक्षा**–जहाँ अहेतु में हेतु की संभावना की जाए अर्थात् कारण के न होने पर भी कारण की संभावना की जाए वहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उदाहरण के लिए–

"अरुण भए कोमल चरन, भुवि चलिबे ते मानु।"

पृथ्वी पर चलने के कारण कोमल चरण लाल हो गए हैं। यहाँ कोमल चरणों के लाल होने का कारण पृथ्वी पर चलना है जबकि वास्तव में कोमल चरण तो लाल हैं ही। कारण न होने पर भी यहाँ कारण की संभावना की गई है अतः यहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

**फलोत्प्रेक्षा**–जब फल न होने पर भी फल की संभावना की जाए अर्थात् जो उद्देश्य न हो उसे उद्देश्य मान लिया जाए वहाँ फलोत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे–

"बढ़त ताड़ को पेड़ यह, मनु चूमन आकाश।"

ताड़ के पेड़ की प्रकृति ही बढ़ते जाना है। वह आकाश चूमने के फल की इच्छा नहीं करता। परन्तु यहाँ आकाश चूमने के लिए बढ़ते जाना उसका उद्देश्य मान लिया गया है अतः यहाँ फलोत्प्रेक्षा अलंकार है।

8) **दृष्टान्तः** जब दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिंब भाव हो, अर्थात् जब एक बात कहकर उसी के समान दूसरी बात पहली बात के उदाहरण रूप में कही जाए तो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। जैसे रहीम का दोहा लें–

"बिगरी बात बनें नहीं, लाख करौ किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को, मथै न माखन होय।।"

यहाँ पहला वाक्य **उपमेय वाक्य** है तथा दूसरा **उपमान वाक्य। उपमेय वाक्य** से समानता रखने वाला **उपमान वाक्य उपमेय वाक्य** के उदाहरण के रूप में कहा गया है। इन दोनों के साधारण धर्म में पृथकता होने पर भी दोनों में भाव साम्य अर्थात् बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। अतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

दृष्टान्त अलंकार में मूलतः दो वाक्य होते हैं– **उपमेय वाक्य** तथा उपमान वाक्य। इन दोनों के साधारण धर्म अलग होते हुए भी उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है अर्थात् दोनों के "भाव" समान होते हैं।

9) **उदाहरणः** जब एक वाक्य कहकर उसके उदाहरण के रूप में दूसरा वाक्य कहा जाए तथा दोनों वाक्यों का साधारण धर्म भिन्न होने पर भी उनमें वाचक शब्द के द्वारा समानता दिखाई जाए तो वहाँ उदाहरण अलंकार होता है। ये वाचक शब्द जैसे, जिमि, ज्यों, आदि हैं। उदाहरण के लिए पुनः रहीम का दोहा लें:

"वे रहीम नर धन्य हैं पर उपकारी अंग।
बांटनवारे को लगे, ज्यों मेंहदी को रंग।।"

यहाँ वस्तुतः कवि कहना चाह रहा है कि वे मानव भी धन्य हैं जो परोपकारी के साथ रहते हैं। दूसरा वाक्य कवि ने प्रथम वाक्य के उदाहरण के रूप में कहा कि जैसे मेंहदी लगाने वाले के हाथों में भी मेंहदी का रंग लग ही जाता है उसी प्रकार परोपकारी की संगति में रहने वाला व्यक्ति भी धन्य है। यहाँ वाचक शब्द "ज्यों" के द्वारा दोनों वाक्यों में समान्ना प्रदर्शित की गई है। अतः यहाँ उदाहरण अलंकार है।



अब आपके मन में दृष्टान्त एवं उदाहरण अलंकार की समानता को लेकर प्रश्न उठ सकता है। यद्यपि ये दोनों अलंकार अभिन्न लगते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। दृष्टान्त में दोनों वाक्यों में ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव अर्थात् भाव साम्य रहता है तथा कोई वाचक शब्द नहीं होता,

जबकि उदाहरण अलंकार में दोनों वाक्यों का साधारण धर्म तो भिन्न होता है परन्तु वाचक शब्द के द्वारा उनमें समानता प्रदर्शित की जाती है। जैसे यदि हम कहें कि–

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान।।

यहाँ दोनों वाक्यों में भाव साम्य है। प्रथम वाक्य में कहा गया है कि अभ्यास करने से जड़मति भी सुजान हो सकता है तथा दूसरा वाक्य उसका प्रतिबिम्ब है कि रस्सी के बार-बार घिसने से पत्थर पर भी निशान पड़ जाता है। अतः स्पष्टतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है। अब यदि हम कहें कि–

"सबै सहायक सबल के, कोई न निबल सहाय।
पवन जगावत आग ज्यों, दीपहि देन बुझाय।।

यहाँ कवि कह रहा है कि सबल के सभी सहायक हैं, निर्बल का कोई नहीं। जैसे आग सबल है अतः पवन उसे और भी भड़काती है किन्तु दीपक छोटा एवं निर्बल है अतः वही पवन उसे बुझा देती है। यहाँ पहली पंक्ति के उदाहरण के रूप में दूसरा वाक्य कहा गया है तथा "ज्यों" वाचक शब्द द्वारा दोनों में समता दिखाई गई है अतः यहाँ उदाहरण अलंकार है।

10) **सन्देह**: जहाँ उपमेय में साम्य के कारण उपमान का संशय हो तथा उसकी निश्चितता संदिग्ध बनी रहे वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे चाँदनी रात में बड़े पेड़ को देखकर हमारे मन में यह संशय बना रहे कि यह पेड़ है या भूत तथा उसके भूत होने की निश्चितता संदिग्ध बनी रहे। उदाहरण के लिए–

"सारी बीच नारी है, कि नारी बीच सारी है,
कि सारी हीकि नारी है, कि नारी ही कि सारी है ?"

दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीरहरण करते समय जब द्रौपदी की साड़ी खत्म होने को नहीं आई तब मन में सन्देह उठा कि सारी में नारी है या नारी में सारी है अथवा सारी ही तो नारी नहीं हो गई है। यहाँ 'सारी' एवं 'नारी' में संशय है, अतः यहाँ सन्देह अलंकार है।

11) **अतिशयोक्ति**: जब प्रस्तुत की प्रशंसा अत्यंत बढ़ा-चढ़ाकर की जाए तथा लोक सीमा के बाहर की बात कही जाए तो वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

"इति आवत चलि जाति उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ।।"

यहाँ विरहिन नायिका की स्थिति उस हिंडोले जैसी हो गई है जो उसाँसों के आने जाने से छः हाथ इधर और छः हाथ उधर चली जाती है। यहाँ विरहिन नायिका की स्थिति को अत्यंत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति है।

12) **अर्थान्तर न्यास**: जहाँ पर किसी एक प्रस्तुत अर्थ का किसी अन्य अप्रस्तुत अर्थ से समर्थन किया जाए तो वहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार होता है। इसे दूसरी प्रकार कहा जा सकता है कि जब किसी सामान्य बात का विशेष बात से या विशेष बात का सामान्य बात से समर्थन किया जाए तो वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे:

"जो बड़ेन को लघु कहें, नाहिं रहीम घटि जाहिं।
गिरिधर, मुरलीधर कहे, कछु दुःख मानत नाहिं।।"

यहाँ एक सामान्य बात कही गई कि बड़ों को छोटा कहने पर बड़ों का सम्मान कम नहीं हो जाता। आगे दूसरी पंक्ति में इसी सामान्य बात का अर्थात् प्रस्तुत अर्थ का समर्थन एक विशेष बात अर्थात् अप्रस्तत अन्य अर्थ से किया गया कि गिरि जैसी ऊँची वस्तु को धारण करने वाले गिरिधर को मुरली धारण करने वाला कहने पर भी उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। अतः यहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार है।

## 38.4.2 विरोध मूलक अर्थालंकार



1) **विरोधाभास**: जब परस्पर दो विरोधी पदार्थों को एक साथ दिखाया जाए तथा उनमें

"विरोध न होने पर भी विरोध का आभास हो तो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। जैसे–

"मीठी लगे अँखियान लुनाई।"

नमक के खारेपन को लुनाई कहते हैं। यहाँ आँखों के लावण्य या खारापन के मीठा लगने की बात कही जा रही है। यहाँ परस्पर विरोधी पदार्थों (नमक तथा मीठा) को एक साथ दिखाया जा रहा है। यहाँ विरोध का केवल आभास मात्र है क्योंकि वह लावण्य सौन्दर्य को प्रदर्शित करता है तथा सौन्दर्य सदैव मनभावन होता है। अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

2) **असंगति:** जहाँ पर कारण तथा कार्य की स्थिति भिन्न-भिन्न हो अर्थात् कारण कहीं हो तथा उसका कार्य वहाँ न होकर कहीं और हो वहाँ असंगति अलंकार होता है। असंगति का अर्थ ही है संगति न बैठना। अतः कह सकते हैं कि जहाँ कारण एवं कार्य की संगति न बैठे वरन् दोनों अलग-अलग हों वहाँ असंगति होती है। इस अलंकार का एक अत्यंत चर्चित उद्धरण है:

"दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दरजनहिये, दई नई यह रीति ।।" (बिहारी)

यहाँ "दृग उरझना" अर्थात् प्रेम होना कारण है। यहाँ प्रेम तो प्रेमियों के बीच होता है किन्तु उसका कार्य अन्यत्र होता है जैसे कुटुंब टूट जाता है तथा दुर्जनों के हृदय में गांठ पड़ जाती है। चूंकि यहाँ कार्य कहीं हो रहा है तथा कारण अन्यत्र है अतः यहाँ असंगति अलंकार है।

3) **विभावना:** असंगति में कारण तथा कार्य दोनों होते हैं किन्तु अलग-अलग होते हैं, जबकि विभावना में कारण के बिना ही कार्य हो जाता है। जैसे पैरों के बिना चलना, कानों के बिना सुनना, जिहवा न होने पर भी बोलना आदि। यहाँ पैर, कान तथा जिहवा कारण हैं किन्तु उनके अभाव में भी चलना, सुनना तथा बोलना कार्य हो रहे हैं। अतः यहाँ विभावना है।

एक अन्य उदाहरण लें–

"नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस वन मोर।"

यहाँ पावस मोरों के नृत्य करने का कारण है किन्तु यहा कारण के अभाव में ही मयूरों का नृत्य (कार्य) हो रहा है। अतः यहाँ विभावना है।

4) **विशेषोक्ति:** विभावना में कारण के न होने पर भी कार्य होता है, किन्तु विशेषोक्ति में कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता। जैसे यदि कहा जाए कि "नैनों मे जल की सदैव वर्षा होती रहती है, तब भी प्यास नहीं बुझती।" यहाँ पर "नैनों मे जल बहना" कारण है तथा "प्यास बुझना" कार्य। कारण उपस्थित होने पर भी यहाँ कार्य नहीं हो पा रहा अतः यहाँ विशेषोक्ति है।

## 38.4.3 अन्य अर्थालंकार

1) **मीलित:** समान गुण धर्म वाले दो पदार्थ एक-दूसरे में अभिन्न रूप से मिल जाएँ तो वहाँ मीलित अलंकार होता है। जैसे:

"अरुन-बरन तिय चरन पर जावक लख्यो न जाइ।"

यहाँ पर समान गुण धर्म (लाल वर्ण) वाली दो वस्तुएँ– "तिय चरण" तथा "जावक" हैं। स्त्री का चरण भी लाल है तथा मेंहदी भी लाल है अतः लाल रंग के चरणों पर मेंहदी का रक्तिम वर्ण इतना घुल-मिल गया है कि दिखाई ही नहीं देता। अतः यहाँ मीलित अलंकार है।

2) **यथासंख्य:** जहाँ पर एक क्रम से किसी वस्तु या वस्तुओं का वर्णन किया जाए तथा उनसे सम्बद्ध अन्य वस्तुओं का वर्णन भी उसी क्रम से किया जाए तो वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है। जैसे:

"अमी, हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार ।
जियत मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ।।"

यहां अमृत, हलाहल तथा मद तीनों वस्तुएँ जिस क्रम से आई हैं उसी क्रम से उनके वर्ण तथा उनके प्रभाव का वर्णन है "अमृत" श्वेत, "हलाहल" श्याम तथा 'मद' रतनार वर्ण के होते हैं। अमृत ग्रहण करने वाले जीते हैं हलाहल ग्रहण करने वाले मरते हैं तथा मद पीने वाले नशे से झुक-झुक पड़ते हैं।

यहाँ जिस क्रम से वस्तुओं का वर्णन किया गया है, उसी क्रम से उनके वर्ण तथा प्रभाव का भी वर्णन है। अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार है।

3) **मानवीकरण:** इसे अंग्रेजी में पर्सोनिफिकेशन (Personification) भी कहते हैं। मानवीकरण का अर्थ है मानव के गुणों का आरोप। अमानव में ही मानवीय गुणों का आरोप किया जा सकता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जब अमानव में मानवीय गुणों का आरोप किया जाए तो वहाँ मानवीकरण अलंकार होता है। अमानव से तात्पर्य प्रकृति, पशु-पक्षी एवं निर्जीव पदार्थों से है। जैसे:

"हंसता है तो केवल तारा एक
गुंथा हुआ उन घुंघराले काले बालों से"
(सांध्य सुन्दरी, निराला)

यहाँ "तारा" अमानव है, परन्तु उसे मानव की भांति हंसता हुआ अंकित किया गया है। अर्थात तारा पर मानवीय गुण का आरोप है, अतः यहाँ मानवीकरण है।

एक अन्य उदाहरण–

बीती विभावरी जाग री,
अंबर पनघट में डुबो रही, तारा-घट उषा नागरी।
(जयशंकर प्रसाद)

यहाँ रात्रि बीतने का तथा उषा काल का दृश्य है। कवि ने उषा को एक युवती के रूप में चित्रित किया है जो अंबर रूपी पनघट में तारा रूपी घड़े को डुबो रही है।

उषा अमानव है। यहाँ प्रकृति पर मानवीय गुणों का आरोप किया गया है अतः यहाँ मानवीकरण अलंकार है।

4) **ध्वन्यर्थ व्यंजना:** जहाँ पर ऐसे शब्दों या वर्णों का प्रयोग किया जाए जिनके माध्यम से वर्णित वस्तु या प्रसंग का ध्वनि चित्र अंकित हो वहाँ **ध्वन्यर्थ व्यंजना** अलंकार होता है। जैसे–

"चरर मरर चूँ, चरर मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी।"

यहाँ भैंसागाड़ी के चलने का ध्वनि चित्र "चरर मरर चूँ" शब्दों के माध्यम से अंकित हो गया है।

एक अन्य चित्र देखिए–

"कंकन-किंकिनी नूपुर धुनि-सुनि,
कहत लखन सब राम हृदय गुनि।

यहाँ "कंकन किंकिनी" के माध्यम से कंकन और किंकिनी की ध्वनि का आभास मिलता प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ भी ध्वन्यर्थ व्यंजना अलंकार है।

## 38.5 उभयालंकार

कई बार एक ही स्थान पर दो या दो से अधिक अलंकार उपस्थित होते हैं। ऐसा होने पर वहाँ उभयालंकार होता है। जैसे:

आनन रहित सकल रस भोगी।
बिन बानी बकता बड़ जोगी।।



यहाँ पर विभावना तथा अनुप्रास, दोनों अलंकारों का सम्मिलन हो रहा है। "ब" की चार

बार आवृत्ति होने पर अनुप्रास है तथा कारण न होने पर भी कार्य हो रहा है अर्थात् मुख न रहने पर भी सब रसों का भोग करता है तथा बिना वाणी के बोलता है। अतः विभावना अलंकार है।

**बोध प्रश्न 3**

1) दृष्टान्त अलंकार की परिभाषा उद्धरण सहित दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) असंगति अलंकार तथा विभावना अलंकार का अतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्न उद्धरण में आए अलंकार बताइए:

i) दिसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह संध्या-सुन्दर परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।

ii) "जानि स्याम को स्याम घन
नाचि उठे बन मोर।"

## 38.6 सारांश

इस इकाई में आपने अलंकारों के अंतर्गत अर्थालंकारों एवं उसके प्रमुख भेद, तथा उभयालंकार की जानकारी प्राप्त की है। अब आप साम्य मूलक, विरोध मूलक तथा अन्य संसर्ग मूलक अर्थालंकारों के विषय में जान गए हैं। आप इनके उपभेदों का भी विश्लेषण कर सकते हैं।

## 38.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

**काव्यांग दर्पण**, डॉ. विजय बहादुर अवस्थी, दिल्ली पुस्तक सदन, दिल्ली।

**काव्यांग विवेचन**, डॉ. भगीरथ मिश्र एवं डॉ. बलभद्र तिवारी, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

**काव्य सिद्धांत**, डॉ. ओमप्रकाश शास्त्री, आर्य बुक डिपो, करोलबाग, नई दिल्ली

## 38.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

**बोध प्रश्न 1**

1) क) साम्य मूलक अर्थालंकार
ख) विरोध मूलक अर्थालंकार
ग) अन्य अर्थालंकार

2) सागर–उपमान
हृदय–उपमेय
3) साधारण धर्म (सुन्दर)
अभ्यास–देखिए 38.3

**बोध प्रश्न 2**

1) देखिए 38.4.1 का अंश 1 तथा 5
2) देखिए 38.4.1 का अंश 5
3) (ग)
4) (1) रूपक (2) प्रतीप

**बोध प्रश्न 3**

1) देखिए 38.4.1 का अंश 8
2) देखिए 38.4.2 के अंश 2 एवं 3
3) (1) मानवीकरण (2) भ्रान्तिमान